श्रीरूपकलादेव्यै नमः ☆ ☆ श्रीलक्ष्मणाय नमः ☆ ☆ श्रीहनुमते नमः

श्रीभरताय नमः

श्रीशत्रुघ्नाय नमः

* श्रीसीतारामाभ्यांनमः *

# मानस-पीयूष

( श्रीरामचरितमानस का सर्व सिद्धान्त समन्वित संसारमें सबसे बड़ा तिलक )

## तृतीय सोपान ( अरण्यकांड )

श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासजीकी रामायणपर काशीके सुप्रसिद्ध रामायणी श्री पं० रामकुमारजी, पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज ( व्यास ), श्रीरामायणी रामबालकदासजी, एवं श्रीमानसी वंदनपाठकजी आदि साकेतवासी महानुभावोंकी अप्राप्य और अप्रकाशित टिप्पणियाँ एवं कथाओंके भाव; बाबा श्रीरामचरणदासजी (श्रीकरुणासिंधुजी), श्रीसंतसिंहजी पंजाबी ज्ञानी, देवतीर्थ श्रीकाष्ठजिह्व स्वामीजी, बाबा हरिहरप्रसादजी (सीतारामीय), बाबा श्रीहरिदासजी, पांडे श्रीरामबख्शजी, श्री पं० शिवलाल पाठकजी, श्रीबैजनाथजी आदि पूर्व मानसाचार्यों टीकाकारोंके भाव; मानस राजहंस पं० विजयानंद त्रिपाठीजी तथा प० प० प्र० श्रीस्वामी प्रज्ञानानंद सरस्वतीके अप्रकाशित टिप्पण; आजकलके प्रायः समस्त टीकाकारोंके विशद एवं सुसंगत भाव तथा प्रो० श्रीरामदासजी गौड़ एम० एस-सी०, प्रो० लाला भगवानदीनजी, प्रो० पं० रामचन्द्रजी शुक्ल, पं० यादव-शंकरजी जामदार रिटायर्डसबजज, श्रीराजबहादुर लम-गोड़ाजी, श्रीनंगेपरमहंसजी ( बाबा श्रीअवधबिहारी दासजी) और बाबा जयरामदास दीनजी आदि स्वर्गीय तथा वेदान्तभूषण साहित्यरत्न पं० रामकुमारदासजी आदि आधुनिक मानसविज्ञोंकी आलोचनात्मक व्याख्याओं का सुन्दर संग्रह

तृतीय संस्करण

सम्पादक एवं लेखक

श्रीअंजनीनन्दनशरण

मानस-पीयूष कार्यालय, ऋणमोचनघाट, श्रीअयोध्याजी

श्रीजानकीजयन्ती सं० २०१५ ] 

श्रीतुलसीदासाय नमः ☆ ☆ श्रीरूपकलादेव्यै नमः ☆ ☆ श्रीहनुमते नमः

# आवश्यक निवेदन

'मानस-पीयूष' तिलकमें रुपयेमें लगभग बारह आना सामग्री अप्रकाशित टिप्पणियाँ हैं। साकेतवासी पं० रामकुमारजी, प्रो० श्रीरामदासगौड़जी, प्रो० श्रीलाला भगवानदीन ( 'दीन' जी ), पं० रामचरण मिश्र ( भयहरी, हमीरपुर ), श्री पं० रामवल्लभाशरणजी, मानसी श्रीवन्दनपाठकजी आदिके नामसे जो भाव इसमें दिये गए हैं वे प्रायः सब अप्रकाशित टिप्पणियाँ हैं। श्रीरामशंकरशरणजी, श्री पं०विजयानन्द त्रिपाठीजी, श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी, श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दसरस्वतीजी, वे० भू० पं० रामकुमारदासजी ( श्रीअयोध्याजी ) ने जो भाव मानस-पीयूषमें छपनेके लिये लिख भेजे थे, वे भी उनके नामसे इसमें छपे हैं। इसके अतिरिक्त जो उनकी टिप्पणियाँ पत्रिकाओंसे ली गई हैं, उनमें प्रायः पत्रिकाओंका नाम दे दिया गया है। प्राचीन प्राप्य और अप्राप्य टीकाओंके भाव हमने अपने शब्दोंमें लिखा है।

'मानस-पीयूष' में जो कुछ भी आया है उसका सर्वाधिकार 'मानस-पीयूष' को प्राप्त है। जिनकी वे टिप्पणियाँ हैं उनके अतिरिक्त किसीको भी इसमेंसे कुछ भी लेनेका अधिकार नहीं है।—यह लिखनेकी आवश्यकता इसलिये पड़ी कि पुस्तक-भंडार ( लहेरियासराय व पटना ) के व्यवस्थापक रायबहादुर-रामलोचनशरणने पं० श्रीकान्तशरणसे (विशिष्टाद्वैत) 'सिद्धान्त-तिलक' लिखवाकर प्रकाशित किया था, वह 'मानस-पीयूष' के प्रथम संस्करणकी ही चोरी थी। पटना उच्च न्यायालयके एक निर्णयसे उसका छपाना तथा विक्रय करना दण्डनीय निश्चित किया गया है। लेखकों एवं विद्वानोंको इस कारण इस सम्बन्धमें सतर्क होनेकी आवश्यकता है।

आज एकायक 'वेदोंमें रामकथा' नामक पुस्तक पढ़ते हुए उसके पृष्ठ ४२ पर पहुँचा तो 'कटु सत्य' शीर्षक लेख साहित्यिक चोरीके सम्बन्धका मिला। लेखक महोदय लिखते हैं—"बहुतोंको साहित्यिक चोरी करनेका चसका लग जाता है, किसीकी कविता उड़ा लेना साधारण बात हो चुकी है। त्यागी विरक्त साधु कहानेवालोंको तो ऐसी मनोवृत्ति सर्वथा पतित कर देती है। कुछ लोग तो अपने परिचितोंमें प्रतिष्ठा पानेके लोभसे दूसरोंकी पूरी पुस्तककी पुस्तक अपने नामसे प्रकाशित करके बेंचते या बाँटते हैं।" यह लिखकर फिर उन्होंने उसके कुछ प्रमाण भी दिये हैं।

लेखको पढ़कर मुझे आँखों देखी बात याद आ गई कि चोरी करनेवालोंको उसे छिपानेके लिये लज्जा छोड़कर एक झूठके लिये सैकड़ों झूठ बनाने और कहने पड़ते हैं, फिर भी क़लई खुल जाती है। मानस-पीयूषका दूसरा संस्करण सन् १९५६ में पूरा हो गया और सन् १९५७ के समाप्त होते होते बालकांडका तीसरा संस्करण प्रायः छप गया। जिनको चोरीकी लत है वे चोरी करेंगे ही, रुपयेवालोंसे कौन लड़ता फिरेगा। पर साहित्यज्ञ लोग जो Research Scholars हैं और होंगे वे पता लगा ही लेंगे।

—अञ्जनीनंदनशरण

श्रीगुरवे नमः

## अरण्यकांड 'मानस-पीयूष' का तृतीय संस्करण

प्रायः छः माससे इसका दूसरा संस्करण अप्राप्य हो गया था, जिससे हमें प्रेमियोंके अग्रिम मनी-आर्डर लौटा लौटा देने पड़े। श्रीहनुमत्-गुरु-कृपासे आज श्रीजानकी-जयन्ती-महोत्सवके समय यह तृतीय संस्करण प्रेमियोंकी सेवामें भेंट किया जाता है।

इसके द्वितीय संस्करण का एक परिशिष्टांक जनवरी सन् १६५७ में प्रकाशित हुआ था। वे परिशिष्टांकमें दिये हुए भाव इस तृतीय संस्करणमें यथोचित स्थानोंमें छपा दिये गए हैं। श्लोकोंको मूलग्रन्थोंसे पुनः मिलाकर देख लिया गया है। प्रूफ दो दो बार देखा गया है, फिर भी अशुद्धियोंका रह जाना संभव है। प्रेसकी असावधानीसे भी अशुद्धियाँ हो जाती हैं।

पूरी पुस्तकका इतना अधिक मूल्य होनेपर भी प्रेमियोंने इसे कैसा अपनाया यह इतनेसे ही स्पष्ट है कि सातों कांड पूरे होते ही इसके तृतीय संस्करणकी आवश्यकता आ पड़ी और पन्द्रह सोलह मासके भीतर बालकांड भाग १, भाग २, भाग ३ (क), अरण्य और सुंदरके तृतीय संस्करण प्रकाशित हो गए।

श्रीअयोध्याजी श्रीरामजीकी जन्मभूमि है—'जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि'। श्रीरामचरितमानसकी भी जन्मभूमि यही अवधपुरी है—"नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥', 'सब विधि पुरी मनोहर जानी। सकलसिद्धि प्रद मंगल खानी॥ बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा।...रामचरितमानस एहि नामा।' इसकी सर्वप्रथम टीका भी श्रीअयोध्याजी ही में हुई। महन्त श्री १०८ रामचरणदास, करुणासिंधुजी द्वारा १२ वर्ष में रची गई।

और, प्राचीन अर्वाचीन प्रायः समस्त टीकाओं, प्रसिद्ध रामायणीयों, मानस-मर्मज्ञों के अप्रकाशित टिप्पणियों, मानस-साहित्य-मर्मज्ञोंके प्रकाशित एवं अप्रकाशित लेखों, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, केवलाद्वैत मतानुयायियोंके भाव इत्यादिका आलोचनात्मक संकलन 'मानस-पीयूष' की जन्मभूमि भी यही पुरी है। यहीं इसका आरम्भ होकर इसकी पूर्त्ति भी हुई, यहीं प्रसिद्ध सन्त श्री १०८ पं० रामवल्लभाशरणजी द्वारा इसका नामकरण हुआ और इसके तीनों संस्करणोंका प्रूफ भी यहीं देखा गया तथा प्रकाशन भी यहाँ हुआ। छपाई कुछ अंशकी यहीं हुई, विशेष अंश श्रीरामचरितमानसके आचार्य भगवान् शंकरकी पुरीमें श्रीसीताराम प्रेस, श्रीशंकर मुद्रणालयमें छपा। यह एक अद्भुत Coincidence संयोग है। और साथ ही एक आश्चर्य और भी स्मरण हो आया कि प्रथम संस्करण प्रारम्भसे मासिक-पत्रिका रूपमें निकलनेका आरम्भ भी श्रीरामजयन्तीको ही हुआ। इस तरह 'मानस-पीयूष' की जन्मभूमि और जन्म-तिथि वही हैं जो श्रीरामजी और श्रीरामचरितमानसजीकी हैं तथा इसका नामकरण भी यहीं श्रीअयोध्याजीके परमप्रसिद्ध महात्मा पंडितद्वारा हुआ।

यह तिलक एक Encyclopœdia of Shri Ramcharit Manas Commentaries श्रीरामचरितमानसकी प्रकाशित एवं अप्रकाशित टीकाओं, टिप्पणियों, लेखों, कथाओं आदि का अपूर्व प्रायः आलोचनात्मक संग्रह है। जिसके जो भाव आदि हैं उसमें उसका नाम दे दिया गया है।

Encyclopœdia इनसाइक्लोपीडिया होनेके कारण हमने इसमें सभी साम्प्रदायिकोंने जो लिखा है उसे ज्योंका त्यों दे दिया है। जो जिस सम्प्रदायका हो वह अपने सम्प्रदायवालोंके लेखोंको पढ़कर आनन्द ले। साहित्यज्ञोंके लिये साहित्यकी पर्याप्त सामग्री 'मानस-पीयूष' में है। क्लिष्ट कल्पनाओं और आध्यात्मिक अर्थों और भावोंके प्रेमियोंके लिये भी इसमें काफ़ी मसाला है। श्रीरामभक्तोंके लिये श्री पं० रामकुमारजी साकेतवासीके विशद भाव जो 'टिप्पणी' अथवा 'पं० रा० कु०' शब्दसे लिखे गए हैं विशेष लाभदायक और रुचिकर होंगे। शंकायें और समाधान इसमें जितने हैं उतने प्रायः कहीं नहीं हैं और यदि हैं तो इसीकी चोरी होंगे। कितने ही मानस शास्त्रियोंने इसकी चोरी की है, ऐसा सुना गया है।

———

ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्यायै श्रीरूपकलादेव्यै

# प्रथम संस्करणका वक्तव्य

॥ श्रीः ॥

बालकांड और अयोध्याकांडकी हस्तलिखित प्रतियां पूज्यपाद श्रीमद्गोस्वामीजीके समयकी उपलब्ध होनेसे मानसके शुद्ध पाठके विषयमें बहुत सुगमता रही। इन दो कांडोंको छोड़ शेष ५ कांडोंकी कोई प्रतिलिपि गोस्वामीजीके समयकी उपलब्ध न होनेसे ठीक पाठ कौन है इसके निश्चय करनेमें अत्यन्त कठिनता जान पड़ती है।

१७०७ की लिखी हुई काशीराजकी प्रतिलिपिमें इन काण्डोंमें क्षेपक मिले हुए हैं। यह बात छपी हुई प्रतिसे स्पष्ट सिद्ध हो रही है। छपी हुई प्रति हस्तलिखित प्रतिके अनुसार नहीं छपी है। और कई मानस-विज्ञोंका सम्मत है कि छपी प्रति (रामायणपरिचर्या) के अरण्यकाण्डमें भी प्रक्षिप्त है। दूसरी प्रति १७२१ की है, श्रीभागवतदासजीके पास इसकी दो प्रतिलिपियाँ थीं जो उन्होंने स्वयं लिखीं और उस प्रतिसे मिलान कीं। यही प्रति पं० रामगुलाम द्विवेदीजी, छक्कनलालजी, वंदनपाठकजी, पं० रामकुमारजी इत्यादिकी समझिए। ये सब महानुभाव एक ही परिपाटी ( School ) के हैं।

पं० शिवलालपाठकजीके यहाँ परंपरासे आई हुई एक प्रतिलिपि कही जाती है, पर इसमें भी मेरी समझमें पंडितोंका हाथ लग चुका है। उसके शुद्ध पाठमें भी हमें संदेह है। ‡

खूब विचार करनेपर यही निश्चय किया गया कि इस ग्रंथमें श्रीभागवतदासजीकी हस्तलिखित प्रतिका पाठ रक्खा जाय जो श्रीसद्गुरुसदन, गोलाघाट, श्रीअयोध्याजीमें विराजमान् है और जिसके उतार लेने और छपानेकी आज्ञा भी संपादकको श्री १०८ स्वामी रामवल्लभाशरणजी महाराजने दे दी है। जहाँ पाठभेद है वहाँ पाठान्तर और उनपर विचार भी दिए गए हैं। कहीं-कहीं भागवतदासजीका पाठ उत्तम न समझकर नहीं लिया गया है।

अरण्यकांडकी प्रतियोंमें बड़ा गड़बड़ है। किसीने तो छठे दोहेके बाद नवीन अंक '१' से सातवाँ दोहा प्रारंभ किया है और किसीने वही पूर्वका सिलसिला कायम रक्खा है। गोस्वामीजीने कैसा रक्खा था यह निश्चय नहीं कहा जा सकता। संभव है कि बादको अरण्यकांडमें अयोध्याकी 'इति' मानकर उस स्थानसे नया अंक दिया गया हो।

'मानस-पीयूष' में दोनों अंक दिए गए हैं क्योंकि उदाहरण देनेमें दो बार एक ही अंक एक ही कांडमें आनेसे भ्रम और ढूँढ़नेमें कठिनाई होना बहुत संभव है। ❀

बाल और अयोध्याकांडोंकी लेखनशैली एक-सी है। उनमें प्रायः संयुक्ताक्षरोंका प्रयोग नहीं किया गया है। पर, अरण्यकांड आदिकी १७०७ और १७२१ दोनों प्रतिलिपियोंमें संयुक्ताक्षरोंका प्रयोग बहुत हुआ है। नागरीप्रचारिणी सभाने उसको बाल और अयोध्याकांडोंके अनुसार बहुत कुछ बना लिया है। पर 'मानस-पीयूष' में प्राचीन प्रतिलिपियोंके अनुसार ही पाठ ज्योंका त्यों रख देना उचित समझा गया। प्राचीन पाठोंको बदलकर अपनी बुद्धिके अनुसार मनमाना पाठ देना 'मानस-पीयूष' का अभीष्ट नहीं है। संभव है कि तुलसीके शब्दोंकी चोखाई आजके बहुतसे साहित्यिज्ञ भी न समझ सकें पर कल कोई ऐसा पैदा हो जो उसीको बता सके। जैसे एक फ़ारसी भाषाके कवि (हाफ़िज़···) के बारेमें कहा जाता है कि उनकी कवितामें एक जगह व्याकरणकी अशुद्धिपर एक पंडित मोलवीजी हँसे और उनसे जाकर उनकी अशुद्धि बताई। उन्होंने उत्तर दिया कि ये वाक्य गधेके हैं, मैं नहीं जानता था कि गधा भी व्याकरण जानता है नहीं तो यह ग़लती न होती। मोलवीसाहब बहुत लज्जित हुए। इसी प्रकार आज पूज्य कवि होते तो पाठका उत्तर देते, तो भी पं० रामकुमारजीके जहाँ तहाँके टिप्पणसे प्राचीन पाठोंकी मौलिकता सिद्ध है—जहाँ कि आधुनिक पंडितोंने अपनी बुद्धिके अभिमानमें पाठ बदल दिए हैं।

---

‡ स्नेहलताजीसे ज्ञात हुआ कि उसमें बहुत काटा-कूटी है।

❀ इस नवीन संस्करणमें हमने अथसे इति तक एक सिलसिलेसे एक ही संख्या दी है। प्रथम संस्करणमें सातवें दोहेसे जो नवीन अंक '१' से दिया गया था वह इस संस्करणमें नहीं दिया गया है।

'इत उत' मुहावरा है पर कई ठौर कविने 'इत इत' रखा है और उसमें गूढ़ भाव भरे हैं पर पंडितोंने न समझ-कर 'इत उत' कर दिया है। 'सीता बोला' को वैयाकरणियोंने 'सीता बोली' और 'मन डोला' को 'मति डोली' कर दिया'……'इत्यादि। 'मानस-पीयूष' ने प्राचीन ही पाठ दिया है और उसकी उपयुक्तता दिखाई है।

☞नोट और कोष्ठकांतर्गत लेख प्रायः संपादकीय टिप्पणी हैं।

कविका ठीक आशय कविके उसी शब्द या पदके अन्यत्र प्रयोगसे ही यथार्थ जाना जा सकता है, इसलिए उदाहरणोंके देनेकी आवश्यकता होती है। दूसरा लाभ इससे यह भी है कि पाठकोंको कविके अन्य ग्रंथोंका भी परिचय इससे होगा और उनमें भी उनकी रुचि बढ़ेगी।

जनताकी रुचि समानार्थी श्लोकोंकी ओर अधिक देखकर इस तिलकमें तुलनार्थ समानार्थी श्लोक भी दिए गए हैं। विशेषतः जहाँ इन श्लोकोंसे कठिन समस्यायें हल होती हैं वहाँ तो ये अवश्य ही विना विस्तारके भयके उद्धृत किये गये हैं। जिससे फिर संदेह नहीं रह जाता कि कौन अर्थ वा भाव ठीक है।

'मानस-पीयूषका' अभिप्राय केवल संग्रहका रहा है, वही प्रायः इसमें है। संग्रहको देखकर पाठक स्वयं विचार कर लें कि कौन अर्थ और भाव प्रसंगानुकूल हैं। संपादकको जो ठीक जँचता है प्रायः वही अर्थ प्रथम दिया जाता है। पर दूसरोंके लिए राह खुली रहती है; वे जिसे अच्छा समझें उसे चुन लें।

कथाएँ प्रामाणिक ग्रंथोंसे दी जाती हैं न कि टीकाओंसे। शब्दसागर आदिसे शब्दार्थ और तुलनात्मक श्लोक वाल्मीकीय, अध्यात्म आदि रामायणों, श्रीमद्भागवत, हनुमन्नाटक और पं० रामकुमारजी एवं श्रीमानसी-वंदनपाठकजीके संग्रह आदिसे एवं बाबू रणबहादुरसिंहकी टीकासे लिए गए हैं।*

☞अरण्य और अगले कांडोंमें 'टिप्पणी' से केवल पं० रामकुमारजीके साफ़ खर्रोंमें दिए गए भाव समझना चाहिए।

दीन—श्रीजनकसुताशरण शीतलासहाय

---

# द्वितीय संस्करणका आमुख

जब मानस-पीयूष बालकांडका यह अत्यन्त बृहत् संस्करण श्रीअयोध्याजीसे प्रकाशित होने लगा तब मेरे चित्तमें यह प्रेरणा हुई कि अन्य काण्ड भी इसी तरह फिरसे लिखकर छपवाए जायँ। प्रथम संस्करणमें पाठकोंको एक ही शब्द अथवा वाक्य वा विषयपर दिये हुए भावोंको स्वयं परिश्रम करके एकत्र करना पड़ता था। बालकांडके इस संस्करणमें वह परिश्रम उनका दूर कर दिया गया। एक शब्द वा वाक्यपर प्रायः समस्त व्याख्या एक ही जगह एकत्र दे दी गई है। साथ ही विषयसूची भी दे दी गई है जिससे जिज्ञासुओंको बहुत सहायता मिलेगी।

अरण्यकांडको भी उसी तरह प्रारम्भ किया गया। परन्तु लगभग आधा कांड लिख चुकनेपर मुझे मालूम हुआ कि काशी निवासी पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठीने 'सन्मार्ग' में 'श्रीरामगीता' पर विस्तृत टिप्पणी छपाई है। एक वर्षके पत्र व्यवहारमें मुझे 'सन्मार्ग' की वे प्रतियां प्राप्त हुईं। अतः उन टिप्पणियोंका समावेश मानस-पीयूषकी पाण्डुलिपिमें जैसे तैसे किया गया।

एक महाराष्ट्र संन्यासी प. प. प्र. स्वामी श्रीप्रज्ञानानन्दजी सरस्वती एप्रेल सन् १९५२ ई० के अन्तमें 'मानस-पीयूष' के नवीन संस्करणके स्थायी ग्राहक हुए। उनके पत्रसे मुझे अनुमान हुआ कि इन महात्माजीने श्रीरामचरितमानसका बहुत अच्छा अध्ययन किया है, अनुभवीसंत हैं और श्रीमद्गोस्वामीजीके बड़े प्रेमी हैं। इन्होंने मराठीमें चौपाई, दोहा और आर्याछन्दमें रामचरितमानसका रूपान्तर प्रकाशित किया। और भी कई पुस्तकें मराठीमें छपवाई हैं। मैंने उनको लिखा कि धनुर्यज्ञप्रकरण छप रहा है, यदि आप चाहें तो 'मानस-पीयूष' के लिए 'परशुराम' प्रसंगके चौपाइयोंपर भाव लिखकर भेजें। उन्होंने कृपा करके इसे स्वीकार किया। उनके भाव किसी टीका टिप्पणीमेंके नहीं हैं। यह आप स्वयं 'परशुराम-प्रसंग' में देखेंगे। उन टिप्पणियोंको देखकर मैंने उन्हें अरण्यकाण्डके 'श्रीरामगीता' तथा उसके आगे पूरे

---

*आगे चलकर यह टीका बहुत ही अप्रमाणिक सिद्ध हुई। अतः नवीन संस्करणमें उसके उद्धरण नहीं दिये गए।

कांडमें नोट्स देनेकी प्रार्थना की। ये नोट्स मेरे पास उस समय पहुँचे जब 'हितकारी प्रेस' फ़ैज़ाबादमें इस कांडके पंद्रह दोहे छप चुके थे। और सोलहवाँ दोहा कंपोज़ हो रहा था। अतः प्रूफ़ देखते समय मैंने उनके भेजे हुए भाव बीच बीचमें बढ़ाकर छपाया। इस कारण जिस शैलीका मैंने अनुसरण किया था उसका आद्योपान्त पालन नहीं हो सका है। दोहा १५ के पूर्वकी उनकी टिप्पणियाँ इस काण्डके अंतमें परिशिष्टमें दी जायेंगी।

सम्वत् १९८७ के पश्चात् भी यत्र-तत्र जो लेख पत्रिकाओंमें दृष्टिगोचर हुये उन्हें भी मैंने इस संस्करणमें दिये हैं। शरीरका स्वास्थ्य कई वर्षसे ठीक न रहनेसे पत्रिकाओं आदिका अवलोकन करनेका अवकाश नहीं मिला। इस लिये कुछ अधिक सेवा दास नहीं कर सका।

इस संस्करणमें मैंने फ़ोलियोंमें (हर पृष्ठके ऊपरी रूलके ऊपर) तथा उदाहरणोंमें जो दोहे चौपाइयोंके अंक दिये हैं उनका आशय यह है कि ये चौपाइयाँ इस दोहेकी हैं। जैसे, ३२-२ वा ३२ (२) संकेत है इस बातका कि यह दोहा ३२ की दूसरी चौपाई (अर्धाली) है। प्रत्येक दोहेके ऊपर पहले जो चौपाइयाँ होती हैं वे उसी दोहेकी चौपाइयाँ होती हैं, यह बात प्रथम संस्करणके लिखनेके समय मुझे मालूम न थी।

कतिपय प्रेमी इस काण्डमें श्रीसीताहरणकी कथा तथा श्रीरघुनाथजीका विरह-विलाप होनेसे इसको नहीं पढ़ते, न इसका पाठ करते हैं और न इसकी कथा कहते, कहलाते वा सुनते हैं। माधुर्योपासनामें यह भी ठीक ही है। जिनका मन माधुर्योपासनामें इतना तदाकार हो गया है कि वह इस कथाको सुनते ही यह भूल जाते हैं कि हरण श्रीसीताजीका नहीं हुआ है किन्तु 'माया-सीता' का हुआ है और शोक-विरह-विलाप 'जस काछिय तस चाहिय नाचा' न्यायके अनुकूल हो रहा है, उनके लिये उतना प्रसंग न सुनना, न पढ़ना उचित ही है। भक्तमालमें आवेशी राजा कुलशेखरजीकी कथा इसका प्रमाण है।

ऐसे परमानुरागी आवेशी भक्तोंके अतिरिक्त अन्य सभी वक्ताओं और श्रोताओं, पठन-पाठन करनेवालोंको विचार करना चाहिए कि मानसके सातों सोपान सुंदर हैं, सातों श्रीरामभक्तिकी सीढ़ियाँ हैं, श्रीरामभक्तिके मार्ग हैं। यह स्वयं गोस्वामीजीका सिद्धान्त है—'एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केरि पंथाना।७.१२९.३।' तृतीय सोपान (अरण्यकांड) की फलश्रुति है 'सकल कलिकलुषविध्वंसने विमलवैराग्यसंपादन नाम तृतीय सोपानः', 'रावनारि जसु पावन गावहिं सुनहिं जे लोग। रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग। दो० ४६।' इससे इस काण्डका महत्त्व कम नहीं है, वक्ताओंका इसमें आशीर्वाद है कि दृढ़ रामभक्ति प्राप्त होगी, विमल वैराग्य होगा। और चाहिए ही क्या?

अरण्यकाण्डके वैशिष्ट्यके सम्बन्धमें श्रीस्वामी प्रज्ञानानंद सरस्वतीजी लिखते हैं—

(१) 'अरण्यकाण्डमें मुख्यतः माया और उसके विनाशके मूल सहायक सद्गुरुका ही विवेचन किया गया है। इस काण्डमें अथसे इति तक जहाँ तहाँ मायाका ही दर्शन हमें होता है। जैसे—'मोहाम्भोधरपूग' मं. श्लो. १ में (यह माया ही तो है)। (२) माया शूर्पणखा। ('रुचिररूप धरि प्रभु पहिं जाई। बोली बचन बहुत मुसुकाई।१७.७।' तथा 'तब खिसिआनि राम पहिं गई। रूप भयंकर प्रगटत भई।१७.१६।' यह तो स्पष्ट राक्षसी माया है)। (३) माया-युद्ध। ('महि परत उठि भट भिरत मरत न करत माया अति घनी। दो० २० छंद।'—यहाँ तो 'माया' शब्द कविने स्वयं ही दिया है)। (४) मायानाथका माया-कौतुक। [ यथा 'सुर मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक कर्यो। देखहिं परस्पर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मर्यो।···करि उपाय रिपु मारे छन महँ कृपानिधान। दो० २०।' 'अति कौतुक' 'उपाय' (मोहनास्त्रका प्रयोग), 'क्षणभरमें १४००० मायावी राक्षसोंको मारना' माया है ]। (५) माया-सीता। ('इहाँ राम जसि जुगुति बनाई।२३.७', 'तुम्ह पावक महँ करहु निवासा', 'प्रभु पद धरि हिय अनल समानी॥ निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता।' यह सब चरित रावणको ठगनेके लिये रचा गया। और यह सीता भी मायाकी हैं; यथा 'पुनि माया सीता कर हरना')। (६) मायाका मृग। (यथा 'होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी। जेहि बिधि हरि आनौं नृपनारी।२५.२।' 'तब मारीच कपट मृग भएउ।···प्रगटत दुरत करत छल भूरी।···' इत्यादि सब राक्षसी माया है)। (७) मायाका संन्यासी। ('आवा निकट जती के बेषा।' राक्षसरूप छिपाकर सन्यासी बना सीताजीको ठगनेके लिए-'कह सीता सुनु जती गोसाईं।' फिर असली रूप धारण कर लिया—'तब रावन निज रूप देखावा।' मन चाहा रूप धारण कर लेना माया है)। (८)

माया विरह-शोक। (यथा 'बाहिज चिंता कीन्हि बिसेषी।३०.१।', 'आश्रम देखि जानकी हीना। भए बिकल जस प्राकृत दीना।'''एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी। मनहु महा बिरही अति कामी।३०.६-१६।' (९) सतीकृत माया-सीता-रूप। (दण्डकारण्यमें इसी समय सतीजी सीतारूप धारणकर श्रीरामजीके समीप गई थीं। यथा 'बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई।१.४९.७।''''पुनि पुनि हृदय बिचारु करि धरि सीता कर रूप।१.५२।'''सती कपट जानेउ सुरस्वामी।' (१०) माया कबंध। (यह गंधर्व था। शापसे कबंध हुआ, इस कारण इसे भी माया-कबंध कह सकते हैं)। (११) मायारूपी नारि। दो० ४३। नारी मायाका रूप है यह सिद्धान्त भी इसीमें है।

मोक्षदायिका सप्तपुरियोंमेंसे तीसरी पुरी 'माया' है और श्रीरामचरितमानसके सप्त सोपानोंमेंसे अरण्यकाण्ड भी तीसरा ही कांड है❀। महाकविसम्राट्शेखरने इस तीसरे कांडमें जहाँ-तहाँ मायाका दर्शन कराके कितनी कुशलतासे इसे मायापुरी चरितार्थ कर दिया है।

इसमें मायाका केवल दर्शन ही नहीं कराया है किन्तु मायासे छुटकारा पानेका साधन भी बताया है। यथा 'दीपसिखा सम जुवति तन मन जनि होसि पतंग। भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सतसंग। दो० ४६।' यह सिद्धान्तरूपसे कांडके अंतमें बताया गया है।

माया जालसे छुटकारा पानेके लिए जिन-जिन साधनोंकी आवश्यकता है उनकी चर्चा इस कांडके 'श्रीरामगीता' में श्रीरामजीने अपने श्रीमुखसे स्वयं की है।

(२) ४६ दोहोंके इस छोटेसे काण्डमें एकदम सोलह जगह उपदेश मिलते हैं। और एक विलक्षण बात यह है कि इनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे श्रीसीताजीका अथवा अन्य नारियोंका मूलसंबंध है जो निम्न तालिकासे स्पष्ट हो जायगा।

| | उपदेश | | |
|---|---|---|---|
| अनुक्रम | किसका | किसको | मूल हेतु ( श्रीसीताजी या नारीका संबंध ) |
| १ | श्रीनारदका | जयन्तको | श्रीसीताजीके चरणोंमें चोंच मारना |
| २ | श्रीअनुसूयाजीका | श्रीसीताजीको | इसमें श्रीसीताजी हैं ही और विषय भी नारिधर्म है। |
| ३ | श्रीअगस्त्यजीका | श्रीरामजीको | इससे सीताजी ही निशाचरकुलनाशका कारण होती हैं। |
| ४ | श्रीरामजीका | श्रीलक्ष्मणजीको | इसमें प्रथम मायाका ही प्रतिपादन होता है। श्रीसीताजी आदि शक्ति हैं ही और 'माया सब सिय-माया माहूं।' |
| ५ | शूर्पणखाका | रावणको | इसमें श्रीसीताजीका सौन्दर्य वर्णन ही रावणको प्रेरित करनेका मुख्य साधन है |
| ६ | श्रीरामजीका | श्रीसीताजीको | इसमें श्रीसीताजी श्रोता हैं। 'तुम्ह पावक महँ करहु निवासा' और माया सीताका पंचवटीमें स्थापित करना विषय है। |
| ७ | रावणका | मारीचको | श्रीजानकीजीको चुरा लानेमें सहायता करना विषय है। |
| ८ | मारीचका | रावणको | श्रीजानकीजीको चुरा लानेका विचार छोड़ देने इत्यादिके विषयमें। |
| ९ | जटायुका | रावणको | श्रीजानकीजीको छोड़कर कुशल घर जाना विषय है |
| १० | श्रीरामजीका | श्रीजटायुको | श्रीसीताहरणकी बात श्रीदशरथजीसे न कहनेके संबंधमें |
| ११ | श्रीरामजीका | कबंधको | यह शापजनित माया-शक्तिसे ही कबंध हो गया था |
| १२ | श्रीरामजीका | श्रीशबरीजीको | शबरी स्त्री है। भक्ति कही गई है जो स्त्रीलिंग है। |
| १३ | श्रीशबरीजीका | श्रीरामको | सीता-शोधमें क्या करना चाहिए यही विषय है। |
| १४ | श्रीरामजीका | श्रीलक्ष्मणजीको | कामदेवके प्रतापके वर्णनमें मुख्य बल 'नारि' है |

❀ मानस-पीयूष भाग १ पृष्ठ ४८ पर मं० श्लोक ७ में लिखा जा चुका है कि 'मोक्षदायिका' पुरियाँ भी सात ही हैं अतः सात श्लोक देकर जनाया है कि सातो काण्ड जीवोंकी मुक्ति देनेके लिये सप्त पुरियोंके समान हैं। इनका श्रवण, मनन, निदिध्यासन ही पुरीका निवास है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| १५ | श्रीरामजीका | देवर्षिनारदको | इसमें नारदजीका प्रश्न 'विश्वमोहिनी' (जो हरिमाया ही थी) से विवाह करनेके संबंधमें था और उसमें नारीका छः ऋतुओं के रूपकमें वर्णन है। |
| १६ | मानसकारका | मनको | उपदेश है 'दीपशिखा सम जुवति तन मन जनि होसि पतंग', 'भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सतसंग।' |

इस तालिकासे आपको स्पष्ट हो जायगा कि पन्द्रह उपदेशोंमें प्रत्यक्ष नारिजातिका संबंध ही मूल कारण वा प्रतिपादनका विषय है अथवा नारी वक्ता या श्रोता है। इन पन्द्रहोंमेंसे ग्यारहमें श्रीसीताजीका संबंध है, एकमें हरिमायाके प्रत्यक्षरूप विश्वमोहिनीका और तीनमें नारिका संबंध है। कबन्धकी कथामें प्रत्यक्ष नारिका संबंध अभी तक नहीं मिला।

इतने अल्प विभागमें उपदेशोंकी इतनी संख्या अन्य किसी भी कांडमें नहीं है।

(३) केवल इसी काण्डमें माया, ज्ञान, वैराग्य, जीव, ईश्वर और भक्तिका तात्त्विक विवेचन एकत्र हुआ है।

(४) इस काण्डमेंकी श्रवणादिक नवधा साधन भक्ति और सत्संगादि नवविधा भक्तिका उल्लेख और वर्णन क्रमशः मिलता है।

(५) इस ४६ दोहेके छोटेसे काण्डमें पाँच बार भक्तकृत भगवत्स्तुति है। इन स्तुतियोंमें भी ज्ञाननयनसे देखनेसे ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके लक्षण मिलते हैं।

(६) [श्रीरामजीका परात्परत्व उन्हींके मुखारविन्दसे प्रथम-प्रथम प्रायः इसी कांडमें बारंबार प्रकट हुआ। यथा 'जाते बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।', 'सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी', 'तब मम धर्म उपज अनुरागा', 'मम लीला रति अति मन माहीं', 'सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥ मम गुन गावत पुलक सरीरा।···तात निरंतर बस मैं ताके॥ बचन कर्म मन मोरि गति···तिन्हके हृदय कमल महँ करउँ सदा बिश्राम। दोहा १६।' 'तन तजि तात जाहु मम धामा।···जौं मैं राम···। दो० ३१।', 'दूसरि रति मम कथा प्रसंगा', 'चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान। दो० ३५।', 'मंत्र जाप मम···', 'सातवँ सम मोहि मय मय जग देखा। मो तें संत अधिक करि लेखा', 'मम भरोस हिय', 'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा।'—( दो० ३६ शबरी प्रसंग )। नारदजीके प्रसंगमें भी इसी तरह बहुतसे उदाहरण मिलते हैं जिनमेंसे दो एक ये हैं—'यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं।४३.१०।', 'तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह। दो० ४५।', 'गावहिं सुनहिं सदा मम लीला'। ऐश्वर्य श्रीसुतीक्ष्णजीके प्रसंगमें भी प्रकट किया गया है पर श्रीमुखसे उसका कथन केवल वर देनेमें ही पाया जाता है।]

(७) अरण्यकाण्डमें ही तीन प्रेमी भक्तोंको सद्गति मिली है। इन तीनमेंसे एक तो पक्षी था—'गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी।' इसको सारूप्य मुक्ति मिली। यथा 'गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा॥ श्याम गात बिसाल भुजचारी।३२.१-२।' दूसरी शबरी थी जो एक तो स्त्री और उसपर भी भीलनी थी। यथा 'अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी।३५.२।' इसको मोक्ष मिला—'तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे।।···जातिहीन अघ जन्ममहि मुक्त कीन्हि असि नारि। दो० ३६।' तीसरे भक्त थे शरभंग मुनि-। इनको भेद-भक्ति देकर इनका उद्धार किया गया। यथा 'रामकृपा बैकुंठ सिधारा। ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ ॥९.१-२।'

(८) पृथिवीको निशाचरहीन करने तथा रावणवधकी प्रतिज्ञा इसी काण्डमें श्रीरामजीके मुखारविन्दसे बाहर निकली है।

(९) रावणवध और सुरविमोचननाटककी 'नांदी' (श्रीगणेश) शूर्पणखाविरूपीकरणके निमित्तसे इसमें ही की गई है। इस नाटकका दूसरा अंक 'श्रीसीताहरण' भी इसमें ही है। बादके तीन काण्डोंमें शेष दो अंक समाप्त होते हैं; किष्किंधामें तीसरा और सुन्दर-लङ्का मिलकर चौथा अङ्क समाप्त कर देते हैं।

(१०) काण्डके आरंभमें गुरुलक्षणोंका उपक्रमसे और अन्तमें उपसंहाररूपसें वर्णन है। अन्तके दोहेमें भी

'सतसंग' शब्दसे गुरुका ही निर्देश है। मायारूपी नारिके फंदेसे छुटकारा पानेके लिए एक मात्र गुरुरूपी संतका संग ही सिद्धिरूप साधन है यह बताकर 'सोइ फल सिधि सब साधन फूला' यह सिद्धांत सिद्ध किया है।

'राम-चरित' में अरण्यकाण्डकी कथाका क्या महत्व है, यह राम-चरित-मानसमें अवगाहन करनेवाले भक्ति-प्राण भारतके जन-समुदायसे अपरिचित नहीं ? वस्तुतः रामकथाके मूल उद्देश्यकी प्राप्ति ही असंभव-सी हो जाती यदि अरण्य-कांडकी प्रमुख घटना सीताहरण न घटी होती। श्रीरामका अवतार ही सात्विक वृत्तिको आसुरी वृत्तिकी प्रबलतासे मुक्त करनेके लिए—देव-समुदायको रावणके त्राससे मुक्त करनेके लिए हुआ था। रावणका विनाश करनेके लिए उससे श्रीरामका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष विरोध करना आवश्यक था। अयोध्याके राजस वातावरणमें पले 'राम' को विश्वामित्रजी अपने आश्रममें ले जाकर और उन्हींके द्वारा महाराक्षसी ताड़काका वध कराकर इस बातका पूर्वाभास दे चुके थे कि 'राम' के सामने राज-वैभवका उपभोग उतना महत्वपूर्ण नहीं होना चाहिए जितना दिन-दिन बढ़ते हुए राक्षसोंका विनाश। और राक्षसोंका विनाश भी राजा होकर नहीं ही किया जा सकता था, क्योंकि राजाओंको सभी वर्गके व्यक्तियोंका सहयोग नहीं भी मिल सकता था। इस महाकार्यकी सिद्धि त्याग और तपस्यासे ही संभव थी। श्रीरामने परिस्थितियोंके संघात विशेषसे राज-वैभवका परित्यागकर वन-पथका अनुसरण तो कर लिया था, परन्तु उनके साथ जब तक उनकी माया-सीता थीं, तबतक वह शक्ति, वह तेज, वह पौरुष उनमें नहीं आ पाता जो महाराक्षस रावणका विनाश करनेके लिये आवश्यक था। अपने बाल्य जीवनमें विश्वामित्रके आश्रममें, फिर साकेतकी सीमा पारकर अरण्यपथपर अत्रि, शरभंग, सुतीक्ष्ण और कुंभज आदि ऋषियोंके आश्रमोंमें बारबार उन्हें राक्षसोंके विनाशकी प्रेरणा मिलती रही। सीताहरणकी घटना इस भावावेशको तीव्रकर देती है और 'श्रीराम' को कर्तव्य-पथकी ओर अग्रसर कर देती है। जीवनकी इस अतीव करुण घटनाका भार वहन करनेके लिए 'राम' और 'सीता' दोनोंको ऋषि मुनि कर्तव्यकी चेतावनी भी इसी काण्डमें देते चलते हैं। ऋषिपत्नी अनुसूयाने सीताजीको पातिव्रत्य धर्मकी शिक्षा पहले ही दे दी थी। फिर अरण्यकाण्डका वातावरण ही 'आरण्यकों' की भाँति भक्ति एवं विरागपूर्ण है। यह सब क्यों है ? इसका एक मात्र उत्तर है 'सीताहरण' नामक परम विषादमय घटनासे उद्भूत दुःखको सहन करनेकी 'राम' और 'सीता' को शक्ति देना। इसके अतिरिक्त अरण्यकाण्डकी आयोजना इस लिए भी की गई है कि अतिप्राकृत भगवान्को मानव-हृदयके और भी समीप लाया जाय। भगवान्के प्रति हमारे मनमें श्रद्धा हो सकती है, सहानुभूति नहीं। पर, महामानवके जीवनकी कमज़ोरियाँ जहाँ एक ओर हममें उसके प्रति श्रद्धाका संचार करती हैं वहीं हमारे हृदयको उसके समीप भी लाती हैं। हम उसके दुःखसे अभिभूत हो जाते हैं, हमारे नेत्रोंसे आँसुओंकी धारासी फूट चलती है। वह हमारी बुद्धि और हृदय दोनोंका आलम्बन बन जाता है। सीताहरणके बाद रामने जो विलाप किया वह कितना करुण, कितना मर्मस्पर्शी एवं भावप्रवण है यह मानसके पाठकोंसे अज्ञात नहीं ! लगता है करुण रस स्वयं साक्षात् हो गया हो ! हम रामको भगवान्के रूपमें नहीं देखते, उनके दुःखसे स्वयं भी अभिभूत होकर 'लता तरु-पंक्ति' से पूछनेसे लगते हैं कि 'सीता कहाँ गई ! तुम मौन क्यों हो ? अथवा क्या तुम मेरा उपहास कर रहे हो ? मृग ! तुम निश्चिन्त हो जाओ, अपनी प्यारी मृगीकी बात मान लो ! आज राम तुम्हारे पथकी बाधा न होगा"" इत्यादि।' (प० प० प्र०)।

काव्यत्वकी दृष्टिसे यहाँ उपदेश प्रधान तो है पर तुलसीकी सरस अवधीकी धारामें वह इस प्रकार खो गया है जैसे जलमें लवण। करुणरसका जो स्रोत यहाँ उमड़ पड़ा है, उसका जोड़ अन्य भाषा-साहित्योंमें मिलना संभव नहीं। कालिदासका अज-विलाप भी रामके विलापके सामने फीका पड़ जाता है। वहाँ एक राजा अपनी रानीके मर जानेपर रो रहा है, यहाँ भगवान् अपनी प्रेयसीके अनिश्चित भावीमें सहसा खो जानेपर। वहाँ जीवन पार मिलन झाँक रहा है, यहाँ उसमें भी संदेह है। भवभूति की 'एकोरसः करुण एव' की उक्ति वस्तुतः यहीं चरितार्थ होती है। महामानवके इस विलापमें हमारे हृदयका पूर्ण सहयोग है। 'भक्ति-पथ' का निरूपण, 'स्त्री कर्तव्य' का निरूपण आदि उपदेशात्मक अंग केवल भाषाके महत्वको बढ़ाते ही नहीं उसे गौरवान्वित भी करते हैं। भाषा उनकी भावोंकी चन्द्रकलासे यशोमंडित हो गई है। हरिऔधने जैसे तुलसीके विषयमें कहा है 'कविता करके तुलसी न लसे कविता लसी पर तुलसी की कला', वैसे ही यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि अरण्यकांडका भक्ति-विवेचन भाषाका रस, अलंकार क्या प्राण ही बन गया है।

इस काण्डकी चौपाइयाँ भाव-बोधित अधिक हैं, अलंकार बोधित कम ! इस प्रकार चाहे सिद्धान्त निरूपणकी दृष्टिसे हम देखें चाहे मानसकी कथामें योगकी दृष्टिसे, अरण्यकाण्ड 'रामचरित' का सबसे महत्वपूर्ण अङ्ग है । तुलसीकी प्रबंध-कल्पनामें इसका अनुपम स्थान है । इसके करुण-रस-प्रवाहसे स्नात तुलसीकी कला जितनी यहाँ निखरी है उतनी अन्यत्र नहीं ।

भक्त भक्ति भगवन्त गुरुकी जय !! जय जय 'माया मानुष रूपिणौ' श्रीसीतारामकी !!

एक मात्र आपका ही-

**श्रीअंजनीनन्दन शरण**

## कुछ संकेताक्षरोंका विवरण

अ० दी०=अभिप्राय दीपक
अ० मं०=अलंकारमंजूषा
क०=कवितावली
करु० =बाबारामचरणदासजीकी टीका
खर्रा=पं० रामकुकारजीके प्रथम नोट्स
गी०=गीतावली
गी० प्र० =मानसांक
द्वि०=पं० रामगुलाम द्विवेदी
पं०=पंजाबीजी
प० प० प्र०=स्वामी प्रज्ञानानंद सरस्वतीजीके अप्रकाशित टिप्पण
पु०रा०कु०, पु०रा० कु०, पुरुषोत्तमदत्तजीसे प्राप्त पं० रामकुमारजीकी हस्तलिखित टिप्पणी
पां०=मुं० रोशनलालकृत पांडेजीकी टीका
प्र०, रा० प्र०=बाबा हरिहरप्रसादजीकी टीका
मा० त० सु०=मानसतत्त्वसुबोधिनी टीका
मा० म० = मानसमयंक
मा० शं० म०=जंगबहादुरसिंहका मानसशङ्कामोचन
मा० शं० = श्रीमन्मानसशङ्कावली (श्रीधरमिश्र)
मा० सं० = मानसपीयूषका संपादक
मा० हं० = मानस हंस, जामदारजी
रा० प्र० श०=बाबा रामप्रसादशरणजी
वाल्मी०=वाल्मीकीय रामायण
वै०=बैजनाथजीकी टीका
वि०=विनयपत्रिका
वि० त्रि०=पं० विजयानंद त्रिपाठीजी
शिला=बाबा हरिदासजीकी टीका
☞=स्मरण रखने योग्य बात
☞१, २, ३, ४, ५, ६, ७, या बा०, अ०, आ०, कि०, सुं०, लं०, उ० जो चौपाइयोंकी संख्या के पहले रहते हैं वे क्रमशः बाल, अयोध्या आदि कांडोंके सूचक हैं ।

●

### तृतीय सोपान अरण्यकांड 'मानस-पीयूष' के संस्करण

| संस्करण | आकार | पृष्ठसंख्या | प्रकाशन काल | प्रेस जिसमें छपा |
|---|---|---|---|---|
| प्रथम | डेमाई अठपेजी | ४५२ | तुलसी संवत् ३०८ | श्रीसीताराम प्रेस, काशी |
| द्वितीय | २०×३०=८ | ३६०+ | आषाढ़ शु० १५ | हितकारी प्रेस, फैजाबाद |
| | | परिशिष्ट | सम्बत् २०१०, २६ जुलाई १९५३ | (बाबू रघुनाथ प्रसाद एडवोकेट) |
| तृतीय | ,, | ४२४+२४ | श्रीजानकीजयन्ती संवत् २०१५ | श्री शंकर मुद्रणालय, वाराणसी |

★

# तृतीय सोपान ( अरण्यकांड ) के प्रकरणोंकी सूची

## पूर्वार्ध



## अरण्यकांड उत्तरार्द्ध

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

# तृतीय सोपान (अरण्यकांड) के कुछ शब्दों और विषयों आदिकी तालिका

॥ श्रीः ॥

ॐ नमो भगवते श्रीमतेरामानन्दाचार्याय । श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ।
ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्यायै श्रीरूपकलादेव्यै । श्रीसन्तगुरुभगवच्चरणकमलेभ्यो नमः ।
ॐ नमो भगवते मङ्गलमूर्त्तये कृपानिधये गुरवे मर्कटाय श्रीरामदूताय सर्वविघ्नविनाशकाय क्षमामन्दिराय,
शरणागतवत्सलाय श्रीसीतारामपदप्रेमपराभक्तिप्रदाय सर्वसंकटनिवारणाय श्रीहनुमते ।
ॐ साम्बशिवाय नमः । श्रीगणेशाय नमः । श्रीसरस्वत्यै नमः ।
परमाचार्याय श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः ।

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

श्लोक—मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः[1] पूर्णेन्दुमानंददं
वैराग्याम्बुज-भास्करं ह्यघघन[2] ध्वान्तापहं तापहं ।
मोहांभोधर पूग[3] पाटन विधौ स्वः[4] संभवं शंकरं
वंदे ब्रह्मकुलं कलंकशमनं श्रीरामभूपप्रियं ॥१॥

अर्थ—धर्म्मरूपी वृक्षके मूल, विवेकरूपी समुद्रको आनन्द देनेवाले पूर्णचन्द्र, वैराग्यरूपी कमलके (को प्रफुल्लित करनेके लिए) सूर्य्य, पापरूपी घोर अन्धकारका निश्चय ही नाश करनेवाले, ( दैहिक, दैविक भौतिक तीनों ) तापोंके हरनेवाले, मोहरूपी बादलोंके समूहको विच्छिन्न करने ( तितर-बितर, छिन्न-भिन्न करने वा उड़ाने ) की विधिमें पवनरूप, शं (कल्याण) के करनेवाले, ब्रह्मकुल ( वा, ब्रह्मकुलके ) कलङ्कके नाशक, और राजा श्रीरामचन्द्रजीके प्यारे एवं जिनको राजा श्रीरामचन्द्रजी प्रिय हैं, उन श्रीशङ्करजीको मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

---

१ जलधे—भा. दा. । जलधेः—१७०४, को. रा. । २ घनं—भा. दा., रा. वा. दा., को. रा. । घन—१७०४, रा. प., गी. प्र. । ३ पुञ्ज—को. रा. । पूग—१७२१, १७६२, छ०, भा. दा., १७०४ । ४ श्वासं भवं—१७०४, रा. प्र., ना. प्र. । खे संभवं—वै. । स्वः संभवं—भा. दा., को. रा. । श्वासं भवं=दक्षिण वायुरूप और 'भव' नामवाले हैं । ख संभवं=आकाशसे उत्पन्न=वायु । यह पाठ श्रीरामगुलामद्विवेदीजीका है । ( रा. प्र. ) ।

नोट—१ पार्वतीजीका छठा प्रश्न है—'वन वसि कीन्हे चरित अपारा। १।११०।७।' इसका उत्तर अरण्य, किष्किन्धा और सुन्दरकाण्डोंमें वर्णन किया गया है। 'वन' शब्दका प्रयोग इन तीनोंमें विशेषरूपसे हुआ है परन्तु इस काण्डमें सबसे अधिक हुआ है। अतएव इस काण्डका नाम 'वनकाण्ड' (पं० शिवलाल-पाठकके मतानुसार) वा 'अरण्यकाण्ड' हुआ। (रा०प्र०श०)।

प्रत्येक काण्डका नामकरण किसी न किसी विशेष कारणसे हुआ है जिसमें उसके नायकका कोई न कोई विशेष सम्बंध है। किसी किसी कांडका नाम चरितके संबंधसे है और किसी किसीका स्थानके संबंधसे। बालकांडके नायक चारों कुमारोंके बालचरितपर बालकाण्डका नाम रक्खा गया है। अयोध्याकाण्ड इसलिये नाम पड़ा कि सारी घटनाएँ अयोध्याके राज्यके संबंधमें हुई हैं। अरण्य या वनकांड इसलिये कहा गया कि वनवासका सबसे अधिक समय दण्डकारण्यमें बीता। किष्किंधाकांडकी सारी घटनाएँ किष्किंधामें और लंकाकांडकी लंकामें हुई। सुन्दरकांडका नाम उस गिरिशिखरके नामसे पड़ा है जिसपरसे समुद्रलंघनके लिये श्रीहनुमान्‌जीने पहली छलाङ्ग मारी। राज्यसिंहासनपर बैठनेके बादकी कथाएँ उत्तरकांडमें हैं क्योंकि उत्तरका अर्थ ही है पीछेका। (श्रीगौड़जी)।

२—यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है। बा०मं०श्लो० ६ में श्रीरघुनाथजीकी वन्दना इसी छन्दमें की गई है। वहाँ इसका स्वरूप लिखा जा चुका है। इसके चारों चरणोंमें १६-१६ अक्षर होते हैं और मगण-सगण-जगण-सगण-दो तगण-अन्तका वर्णगुरु, यह उसका स्वरूप है। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि सातों काण्डोंके मङ्गलाचरणके आदि श्लोकमें मगण गणका ही प्रयोग हुआ है। अर्थात् सर्वत्र आदिके तीनों वर्ण गुरु ही हैं—वर्णानां, यस्यांके वा वामांके, मूलं धर्म, कुन्देन्दीवर, शान्तं शाश्वतं, रामं कामारिसेव्यं और केकी-कंठाभ। बालकांडमें कहा जा चुका है कि मगणका फल है 'श्रिय' कल्याणका विस्तार करना। वक्ता-श्रोता दोनों-के कल्याणके हितार्थ इस गणका सर्वत्र प्रयोग किया गया। विशेष बा०मं०श्लो० १ और श्लो०६ में देखिए।

टिप्पणी—१ 'मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधे···' इति। (क) धर्मपर वृक्षका आरोप करके शिवजीको उसका मूल कहा। जड़के बिना वृक्ष खड़ा नहीं रह सकता, सूख ही जाता है और केवल जड़के सींचनेसे पूरा वृक्ष हराभरा रहता है। वैसे ही यहाँ 'मूल' कहकर जनाया कि शिवजीके स्मरण एवं सेवासे धर्मकी उत्पत्ति, पालन और वृद्धि होती है, इसीसे सम्पूर्ण धर्म हरे-भरे रहते हैं। [नोट—शास्त्रोंमें धर्म चार प्रकारके कहे गए हैं—तप, शौच वा ज्ञान, दया और दान। ये ही धर्मके चार पैर माने गए हैं। यथा 'चारिउ चरन धरम जगमाहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं। ७।२१।' पुनः, धर्म = सुकृत, पुण्य। जितने धर्म्म हैं वे चारो चरणोंमें आ गए। करुणासिंधुजी धर्मसे भगवत्-भागवत-धर्मको लेते हैं। रा. प्र. कार लिखते हैं कि 'मूलं धर्मतरोः' कहनेका भाव है कि इसीसे तो ये 'वृषध्वज' हैं। धर्म सबका मूल है। पंचतत्व सबका कारण माने जाते हैं, उनका भी कारण धर्म है। शिवजी उस धर्मके भी मूल अर्थात् ध्वजा हैं। भाव यह कि पृथ्वी बहुतोंका आधार है, उसमें क्षमा और धारण आदि धर्म हैं। इसी तरह जलमें शैत्यादि, अग्निमें दाहकादि, पवनमें गति आदि और आकाशमें शब्द और स्वच्छता आदि धर्म हैं। इन सब धर्मोंके जो कारण हैं उनके भी जो उत्तरोत्तर कारण हैं उनके भी कारण शिवजी हैं। (ख) 'पूर्णेन्दुमानन्ददं' इति। पूर्णचन्द्रको देखकर समुद्र बढ़ता है, यथा 'राका ससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान। बढ़ेउ कोलाहल करत जनु नारि तरंग समान। ७।३।' विवेकको समुद्र और शिवजीको पूर्णचन्द्र कहकर जनाया कि शिवजीके दर्शनसे विवेककी वृद्धि होती है] पुनः भाव कि धर्मसे अघका नाश होता है, यथा 'चारिउ चरन धरम···पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं।' अघके नाशसे चित्तकी शुद्धि होती है तब विवेक होता है और विवेकसे आनंद होता है। ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिसे विषयोंसे सर्वथा वैराग्य होता है, यथा 'मोहमय कुहूनिसा बिसाल काल बिपुल सोयो खोयो सो अनूप रूप स्वप्न जूप रे। अब प्रभात प्रगट ज्ञानभानुके प्रकास बासना सराग मोह-द्वेष निबिड़ तम टरे॥ भागे मद मान चोर भोर जानि जातुधान काम क्रोध लोभ छोभ निकर अपडरे। देखत रघुबर प्रताप बीते संताप पाप ताप त्रिविधि प्रेम-आप

दूरही करे ॥ श्रवन सुनि गिरा गँभीर जागे अति धीर बीर बर बिराग तोष सकल संत आदरे ।" (वि० ७४)। (ग) 'विवेक जलधेः' इति । कर्मसें फल लगता है इसीसे धर्मको तरु कहा । ज्ञान अगाध है, उसका अन्त नहीं, अतः उसे समुद्र कहा । यथा 'गुर बिबेकसागर जगु जाना ।२।१८२।', 'ज्ञान अंबुनिधि आपुनु आजू ।२।२६३।' और गुरुको शंकररूप कहा ही है, यथा 'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्' ( १ मं० श्लो० ) । ( 'विवेक जलधेः पूर्णेन्दुमानंददं' का भाव कि बड़े-बड़े ज्ञाननिधान भी आपके दर्शन स्मरण सत्संगसे आनन्दको प्राप्त होते हैं । उनका ज्ञान वृद्धिको प्राप्त होता है) । (घ) 'वैराग्यम्बुज भास्करं' इति। वैराग्यसे संगदोष नहीं रह जाता, अतः उसे कमल कहा । यथा 'पदुमपत्र जिमि जग जल जाए ।२।३१७।' (जैसे कमल जलसे निर्लिप्त रहता है वैसे ही वैराग्यवान् विषयसे निर्लिप्त रहता है । सूर्य कमलको विकसित करता है । वैसे ही वैरागियोंके वैराग्यकी वृद्धि परमविरक्त श्रीशिवजीके स्मरण दर्शन आदि से होती है ) ।

२—'मूलं धर्म' 'वैराग्याम्बुज भास्करं' '' इति । (क) धर्मादिके क्रमका भाव यह है कि धर्मसे चित्त की शुद्धि होकर ज्ञान उत्पन्न होता है और धर्म्मसेही वैराग्यभी होता है, यथा 'धर्म तें बिरति० ।३.१६.१।' तब भक्ति होती है । यथा 'जानिअ तबहिं जीव जग जागा । जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥ होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा । तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥२.९३।' ज्ञान हुआ और वैराग्य न हुआ तो वह ज्ञान व्यर्थ है, यथा 'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु ।७.८९।', 'जैसे बिनु बिराग संन्यासी' । अतः धर्म, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति क्रमसे कहे । पुनः, (ख) इस मङ्गलाचरणमें कर्म, ज्ञान और उपासना तीनों क्रमसे कहे गए । 'मूलं धर्म तरोः' यह कर्म वा धर्म है, 'विवेक जलधेः' यह ज्ञान है और 'वैराग्याम्बुज०० रामभूपप्रियम्' यह भक्ति है, क्योंकि इसीसे श्रीरामचरणारविन्दमें अनुराग होता है ।

३—'अघ घन ध्वांतापहं तापहं' इति । (क) पहले धर्म, इन्दु और भास्कर (सूर्य्य) कहकर तब 'अघ घन०' कहनेका भाव कि धर्मसे अघका नाश, सूर्य्यसे अंधकारका नाश और चन्द्रसे तापका नाश होता है । पुनः [ चन्द्र और सूर्य्य दोनोंकी एक साथ उपमा देकर अधिक अद्भुत और अकथनीय जनाया । अति प्रकाशक और तापनाशक दोनों हैं । (रा० प्र०) । चंद्र और सूर्य दोनों हैं, यथा 'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर बचन मम । १.११५।', 'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी । मिटा मोह सरदातप भारी । १. १२० ।' वचनको रविकर और शशिकर कहकर जनाया कि आप रवि और शशि हैं । ] ध्वान्त=अन्धकार, यथा 'अंधकारो स्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः । ( अमर १.८.३ ) । अपहं=नाशक । ( ख ) अघहरं, यथा 'प्रातःकाल शिवं' ( नोट—सूर्य्य भगवान्के तीन रूप कहे गए हैं, यथा 'हरि संकर बिधि मूरति स्वामी' (वि० २) । उसीकी ओर यहाँ लक्ष्य है) । ( ग ) तापहं अर्थात् तीनों तापोंके नाशक हैं । यथा 'शुभांशु कलितांतं संतापहरं ततः शिवं ॥' शंकरजी पाप और तापके नाशक हैं ही जैसा कि "जरा जन्म दुःखौघतातप्यमानं । प्रभो पाहि आपन्नमामीश शंभो ।७.१०८।' इस विप्रस्तुतिसे स्पष्ट है । [( घ ) शिवजीको सूर्य कहा । सूर्य सघन अंधकारका सहज ही नाशक है । यथा "दिनकर के उदय जैसे तिमिर तोम फटत । वि० १२६ ।' इसीसे अघको सघन अंधकार कहा । भाव कि शिवजीके स्मरणसे कलिकलुषसमूह विना परिश्रम ही नष्ट हो जाता है । विशेषता यह है कि सूर्य तापहर्ता है पर शंकररूपी सूर्य तापही नहीं किन्तु दैहिक, दैविक और भौतिक तीनोंही तापोंको हर लेते हैं ]

४—'मोहांभोधर' '' इति । अम्भोदर=जलका धारण करनेवाला=मेघ । मोह ज्ञानको ढाँप लेता है (छिपा देता है) जैसे मेघ सूर्य्यको । यथा 'जथा गगन घन पटल निहारी । झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी । १.११७ ।' अतएव मोहको अम्भोधर कहा । [ ज्ञानको सूर्य कहा गया है, यथा 'जासु ज्ञान रवि भव निसि नासा । २.२७७.१ ।' 'ज्ञान भानुगत । ७.१२१ ।' पूग=समूह । पाटन=उड़ाने, छिन्न-भिन्न करने की । स्वः संभवम्=वायु । स्वर्=आकाश । संभव=उत्पन्न । स्वः संभवम्=आकाशसे जो उत्पन्न हुआ हो । वायु आकाशसे उत्पन्न माना जाता है । यथा "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः ।

त्तैत्ति. २।१।" अर्थात् उस परमात्मासे पहले आकाशतत्व उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायुतत्व। वायु मेघोंको उड़ा देता है, यथा 'मोह महा-घन-पटल प्रभंजन। ६.११४।' और शंकरजी मोहके नाशक हैं, यथा 'चिदानंद संदोह मोहापहारी। ७.१०८।' अतः शंकरजीको 'स्वः संभव' (पवन) कहा ] । शंकर = कल्याणकर्त्ता।

५—"ब्रह्मकुलं कलंकशमनं" इति। ब्रह्मकुल हैं और कलंकके नाशक हैं। अपने परम भक्त चन्द्रमाको अपने मस्तकपर धरके उसके गुरुतल्पगताका कलंक मिटा दिया और उसको जगद्वन्द्य बना दिया, यथा 'यमाश्रितो हि वक्रोऽपिचन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते। १. मं. श्लो.।'

नोट—३ 'ब्रह्मकुलं' के कई प्रकारसे अर्थ किए गये हैं। (१) ब्रह्मकुल=ब्रह्मरूप, ब्रह्म अर्थात् ईश्वरकोटि, यथा 'विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपं'। भाव कि ये ईश्वर हैं, जीव नहीं हैं—( वै० )। (२) कुल = देश, गोत्र सजातीय, भवन और तन। यथा 'कुल जनपदे गोत्रे सजातीये गणेऽपि च इति मेदिनी।' अर्थात् शंकरजीका देश, गोत्र, सजातीय आदि सब कुछ ब्रह्म ही है। ( पं० )। (३) ब्रह्म = ब्राह्मण, यथा 'मोहि न सुहाइ ब्रह्मकुल द्रोही'। ब्रह्मकुल = ब्राह्मण है कुल जिसका। (प्र०)। ब्रह्मकुलं कलंकशमनं = ब्राह्मणकुलके कलंकके नाश करनेवाले।—( करु०, पां० )। अर्थात् अपना ब्राह्मणत्व धर्म छोड़कर परधर्मपर चलना कलंक है उसको शङ्करजी नाश करदेते हैं यदि उनका भजन किया जाय, क्योंकि वे रामानन्य हैं—(करु०)। वा, भृगुजी ब्राह्मणकुलमें कलंक हुए कि उन्होंने भगवान्को लात मारी। वह कलंक इनके द्वारा मिटा क्योंकि ये भगवान्के परम भक्त हुए। ४—ब्रह्म = ब्रह्मा। ब्रह्माके कुलके हैं। इसतरह कि एक रुद्र ब्रह्मासे उत्पन्न हुआ। सृष्टिको बढ़ते न देख ब्रह्माजी भगवान्का चिन्तन करने लगे, उसी समय सनकादिक उत्पन्न हुए। ब्रह्माजीने उनको सृष्टि रचनेकी आज्ञा दी पर उन्होंने यह आज्ञा न मानी और वनको चल दिए। तब ब्रह्माजीको बहुत क्रोध हुआ। उसी तामसी वृत्तिके समय उनके ब्रह्माण्डसे एक नीलवर्ण बालक उत्पन्न हुआ जो बहुत रोया। इसीसे उसका नाम 'रुद्र' रखा गया। ग्यारह रुद्रोंमेंसे एक रुद्र यह है। अतः शिवजीको ब्रह्मा वा ब्राह्मणकुल कहा।

टिप्पणी—६ ( क ) 'श्रीरामभूपप्रियम्।' इति। अर्थात् चक्रवर्त्ती राजारूप प्रिय है, यथा 'अनुज जानकीसहित निरंतर। बसहु रामनृप मम उर अंतर। ६।११४।' पुनः भाव कि आप श्रीरामजीके प्यारे हैं, यथा 'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे। १।१३८।' तथा शिवजीको श्रीरामजी प्रिय हैं, यथा 'छमासील जे पर उपकारी। ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी।७।१०६।' इस तरह दोनोंमें अन्योन्य प्रेम दिखाया। [ (ख) 'श्रीरामभूपप्रियम्'=दाशरथि श्रीरामचन्द्रजीको जो प्रिय हैं और जिनको दाशरथि श्रीरामजी प्रिय हैं। यहाँ सतीके मोहके कारणका स्मरण दिलाते हुए, राजा रामचन्द्र और परतम परमात्मा रामकी एकताको पुष्ट भी कर रहे हैं। ( गौड़जी ) ] भूप शब्द देकर श्रीराम सगुणस्वरूपके उपासक जनाया।

नोट—४ रा० प्र० का मत है कि यहाँ "तरुके मूल कहनेसे पार्थिव, 'विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं' से जल ( तत्वका ) भाव, 'मोहाम्भोधर पूग''' भवं' में दक्षिण वायुसे पवनका भाव और 'ब्रह्म' अर्थात् वेद है कुल जिसका इति 'ब्रह्मकुल' से आकाशतत्वका भाव सूचित होनेसे सर्वकारणत्व सिद्ध हुआ। इस पक्षमें धर्मसे यज्ञादि धर्मका ग्रहण होगा।"

५ इस श्लोकमें श्रीशंकरजीके अष्टस्वरूपयुक्त मूर्त्तिकी वन्दना की गई है। 'पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु' ( अर्थात् पंचतत्व ), यज्ञकर्ता, सूर्य और चन्द्रमा ये ही उनके अष्ट स्वरूप हैं। यथा "भूर्जलं वह्निराकाशं वायुर्यज्वा शशी रविःइत्यष्टौ मूर्त्तयः शम्भोर्मङ्गलं जनयन्तु नः।" यहाँ धर्मसे यज्ञमूर्त्ति, तरुमूलसे पृथ्वीतत्वरूप, जलधेः तथा पूर्णेन्दुसे जलतत्वरूप (क्योंकि इन्दु जलमय है), पूर्णेन्दुसे चन्द्ररूप, भास्करसे सूर्यरूप, स्वः से आकाशरूप और स्वः संभवसे पवनतत्वरूप जनाया। सूर्य अग्नि (तेज) मय है अतः भास्करसे अग्नितत्वरूप भी जनाया। [ 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में कविसम्राट् कालिदासने भी अष्टमूर्तिसे मंगल किया है। यथा "या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या चहोत्री येद्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्। यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरितियया प्राणिनः प्राणवन्तः। प्रत्यक्षाभिः प्रसन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥ १. १।" अर्थात्

'भगवान् शंकरकी जो जलमयी मूर्ति ब्रह्माकी सर्वप्रथम सृष्टि है, जो अग्निमयी मूर्ति वैदिक विधानसे हवन की हुई सामग्रियोंको—जिन देवताओंको हवन की जाती उसे-उन उन देवताओंके पास पहुँचाती है, ईश्वरकी जो मूर्ति स्वयं होत्री अर्थात् यजमानस्वरूपा है, जो चन्द्रसूर्यात्मक दो मूर्तियाँ दिन तथा रात करती रहती हैं, श्रवणेन्द्रियका विषयीभूत शब्दोंका आश्रय, जो आकाशमयी मूर्ति सारे विश्वमें व्याप्त होकर विद्यमान रहती है, जो क्षितिमयी मूर्ति सब प्रकारके अन्नोंकी बीजस्वरूपा है और जिससे संसारके सब प्राणी जीवित रहते हैं, वह वायुमयी मूर्ति, ये जो प्रत्यक्ष दृश्यमान भगवान्‌की आठ मूर्तियाँ हैं, उन आठोंसे उपलक्षित प्रसन्न शिवजी आप लोगोंकी रक्षा करें ।' विष्णुपुराणमें अष्टमूर्तिके संबंधका श्लोक यह है—"सूर्यो जलं महीवायुवह्निराकाश-मेवच । दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः क्रमात् ।" ( वि० पु० १।८।८ ) ।

नोट—६ यहाँ टीकाकारोंने ये प्रश्न उठाकर कि—(१) "प्रथम शिवजीका मङ्गलाचरण क्यों कियागया ? (२) वृक्षके रूपकसे वन्दना प्रारंभ करनेका भाव क्या है ?" उनके उत्तर इसप्रकार दिए हैं—१ (क) शिवजी मानसके आचार्य्य हैं—(करु०) । पर इसमें यह शङ्का होती है कि यदि आचार्य्यभावसे प्रथम वन्दना हुई तो अगले काण्डोंमें भी क्यों यह क्रम न रखा गया ? इसका उत्तर किष्किंधाकाण्डमें दिया गया है । (ख) काण्डकी निर्विघ्न परिसमाप्तिके लिए प्रथम कल्याणदायक शंकरजीका मंगलाचरण हुआ और इसीसे 'शंकर' नामसे वन्दना की गई ।—(पं०, पु० रा० कु०) । इसमें भी वही शंका हो सकती है । (ग) वनकी उदासीन लीलाका वर्णन करना है; इसलिए उदासीनरूप और समर्थ जानकर शंकरजीकी प्रथम वन्दना की—(वै०) । (घ) प्रथम शिवजीकी वन्दना की क्योंकि इस काण्डमें भक्तिका उपदेश है और विना इनकी भक्ति वा प्रसन्नताके राम-भक्ति नहीं होती । यथा 'संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि ।७.४५।', 'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी । सो न पाव मुनि भक्ति हमारी ।१.१३८ ।' ( पं० रा० कु० ) ।

दूसरे प्रश्नका उत्तर—( क ) फलकी अभिलाषासे वृक्षके रूपकसे वन्दना प्रारंभ की । ( पु. रा कु. ) । (ख) वनमें मूल, फल, वृक्ष येही होते हैं और इसकाण्डमें उन्हें सर्वत्र मूल फलही भेंट (अर्पण) किए जायँगे अतएव इस वनकाण्डको मूल और तरुसे प्रारंभ किया । यथा 'दिये मूल फल प्रभु मन भाये' (अत्रि), 'कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहँ आनि' ( सबरी ), इत्यादि । पुनः, धर्म एवं वृक्षसे सुख मिलता है । इस वनयात्रामें प्रभुको और उनसे भक्तों एवं सुरनरमुनि सबको सुख प्राप्त हुआ है, यह सूचित करनेको आदिमें वृक्षका रूपक दिया । यथा—'रिषि निकाय मुनिवरगति देखी । सुखी भए० । ३.९ ।', 'सकल मुनिन्हके आश्र-मन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह ।९।', 'जाग न ध्यान जनित सुख पावा' (सुतीक्ष्णजी), 'सुखी भये मुनि बीती त्रासा । १४.१।', 'भगति जोग सुनि अति सुख पावा ।१७.१।' (लक्ष्मणजी), 'निज परम प्रीतम देखि लोचन सफल करि सुख पाइहउँ ।२६।' (मारीच), 'मन महुँ चरन वंदि सुख माना । २८.१६ ।' (रावण), 'मज्जन कीन्ह परम सुख पावा ।४१.१।' (श्रीरामजी) और अत्रि, शरभंग, अगस्त्य एवं सबरीजी इत्यादिका सुख तो प्रत्यक्ष और प्रसिद्ध ही है।

नोट—७ इस श्लोकमें धर्म, वैराग्य, माया (क्योंकि मोहकी सहायक यही है) और भक्ति इन सब बातों-को कहा । क्योंकि इस काण्डमें इनके विषयमें प्रश्न, उत्तर, वा उपदेश आए हैं । उदाहरण—(१) कबंधको धर्मोपदेश, यथा 'मोहि न सुहाइ ब्रह्मकुलद्रोही ॥'''।३३।''''कहि निज धर्म ताहि समुझावा' । (२) सबरी-जीसे नवधाभक्ति, यथा 'नवधा भगति कहौं तोहि पाहीं' । (३) लक्ष्मणजीसे, यथा 'तव मम धरम उपज अनुरागा । १६.७ ।' लक्ष्मणजीने सबके स्वरूप पूछे और प्रभुने कहे । (४) नारदजीको मायाका स्वरूप बताया । इत्यादि । अतः यह श्लोक वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण है ।

प० प० प्र०—१ अरण्यकाण्ड तीसरा कांड है और बालकांडके मङ्गलाचरणका तीसरा श्लोक 'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं''' ' यह है । यह श्लोक अरण्यकांडके विषयको सूचित करता है ।

कोई भी गुरु क्यों न हों वे हैं शंकरजीका ही रूप । गुरुजी शिवरूप हैं और शिवजी गुरुरूप हैं; यथा 'गुरुं शंकररूपिणम्', 'तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना', 'सिव सेवा कर फल सुत सोई । अविरल भगति

रामपद होई ।', 'शिव एव गुरुः साक्षाद् गुरुरेव शिवः स्वयम् । उभयोरन्तरं किंचिन्न द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ।' (सर्ववेदान्तसार संग्रह) । बा० मं० श्लोक ३ के 'यमाश्रितो हि वक्रोपि ···' का मिलान सर्ववेदान्तसार संग्रहके 'यमाश्रित्याऽश्रमेणैव परं पारंगता बुधाः' से कीजिए ।

धर्मसे कैसे विरतिकी प्राप्ति होती है यह अयोध्याकांडमें विशेषतः 'भरत चरित' से बताया, अतएव उस कांडके उपसंहारमें 'सीयरामपद प्रेम अवसि होइ भवरस बिरति' कहकर रामपद-प्रेम-प्राप्तिके लिये 'भवरसविरति' की आवश्यकता बताई । भवरस विरति=वैराग्य । अब इस कांडमें बताते हैं कि सद्गुरुरूपी शंकरजीकी संगति और कृपासे ही विश्वास, श्रद्धा, धर्म, वैराग्य और ज्ञान प्राप्त होकर मोहमायाका नाश होकर तब 'रामपदप्रेम होइ' । अतएव इस कांडके मंगलाचरणके प्रथम श्लोकमें 'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्' इस सिद्धान्तानुसार शंकरजीका मंगलाचरण करते हैं । प्रथम श्लोकके पदमें सद्गुरुका एक-एक मुख्य लक्षण यथाक्रम ध्वनित किया है और उसी क्रमसे सद्गुरुके सेवकोंको 'वक्र' होते हुए भी रामप्रेमतक सभी सुखदायक साधनोंकी प्राप्ति होती है । गुरुलक्षणोंका वर्णन केवल इसी कांडके उपक्रम और उपसंहारमें ध्वनित है, अन्यत्र कहीं एक स्थानमें नहीं है ।

२ 'मूलं धर्म तरोः' इति । श्रद्धा-बिना धर्म नहीं हो सकता, अतः श्रद्धा ही धर्मतरुका मूल है । श्रद्धाको भवानी और विश्वासको शिव कहा है । यथा 'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ' । श्रद्धा कैसे प्राप्त हो ? इसके लिये प्रथम सन्त सद्गुरुकी संगति करे । सेवा और श्रवणसे प्रथम विश्वास ( आस्तिक्य बुद्धि ) उत्पन्न होगा फिर विवेक और तब श्रद्धा । जब गुरु, शास्त्र और ईश्वरमें आस्तिक्य भाव होगा तो इस विश्वासरूपी शिवकी गोदमें श्रद्धा-भवानी आ जायँगी । अतः गुरुमें ही ये सब गुण होने चाहिएँ, उनमें न हुए तो शिष्यको कहाँसे प्राप्त होंगे ? अतः 'मूलंधर्मतरोः' गुरुके ये लक्षण कहे गए ।

३ 'विवेकजलधेः आनन्ददं पूर्णेन्दुम्' से सूचित किया कि गुरुरूपी पूर्णचन्द्रकी कृपा-किरणोंके आकर्षण तथा वचनामृतसे विवेकरूपी सागरकी वृद्धि होती है । भाव यह है कि शिष्यके विवेकको जागृतकर उसकी पूर्णवृद्धि करनेकी शक्ति गुरुमें होनी चाहिए । और, गुरुके सान्निध्य तथा दर्शनसे शिष्यको दिनोंदिन प्रसन्नताकी प्राप्ति होनी चाहिए ।

४ 'वैराग्याम्बुज भास्करम्'—यहाँ 'भास्कर' शब्दसे ज्ञानरूपी 'भास्' ( प्रकाश ) भी सूचित किया । भाव कि सद्गुरुरूपी भास्करके ज्ञानरूपी प्रकाशसे वैराग्य प्रकट होने लगता है । सद्गुरुरूपी सूर्यके वचनरूपी किरणोंके स्पर्शसे वह खिलता है । इससे बताया कि गुरुमें यह शक्ति चाहिए कि अपने आचरण तथा उपदेशसे शिष्यके हृदयमें वैराग्यको उत्पन्न कर दे ।

५ 'अघघनध्वान्तापहं' से सूचित किया कि 'गुरुमें शिष्यके पापकर्मोंके विनाश करनेकी शक्ति चाहिए । निष्काम बुद्धिसे ईश्वरार्पण करनेके लिये जो पुण्य कर्म किये जाते हैं उनसे पापका नाश होता है । अतः गुरुको चाहिए कि स्वयं इस प्रकारके पुण्यकर्मोंका आचरण करके शिष्यको पुण्यकर्मोंमें लगा दे ।

'तापहं'—सूर्यसे कमल खिलता और अन्धकार नष्ट होता है पर ताप बढ़ता है । गुरुरूप भास्कर इससे विलक्षण हैं, उनमें त्रितापोंके शमनकी दिव्य शक्ति होती है । अतः इससे बताया कि गुरुमें यह अद्भुत शक्ति होनी चाहिए ।

६ 'मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ स्वःसम्भवम्'—अंधकार नष्ट होनेपर भी मेघोंका अस्तित्व हो सकता है, सूर्यकिरणोंमें मेघोंके छिन्नभिन्न करनेकी शक्ति नहीं है, अतः यह रूपक करना पड़ा । वायुसे मेघ उड़ जाते हैं, यथा 'कबहुँ प्रबल बह मारुत जहँ तहँ मेघ बिलाहिं ।', 'प्रबल पवन जिमि घन समुदाई ।' अतः इस विशेषणसे सूचित किया कि गुरुमें मोहपटल हटानेकी भी शक्ति होनी चाहिए । 'शंकरम्' इति । पंचक्लेशोंका निवारण किये बिना 'शं' ( कल्याण ) हो नहीं सकता । अतः पंचक्लेशोंका निर्देश ऊपरके विवेचनमें कर दिया । अघमें अज्ञानसे लेकर रागद्वेषादि सबका अन्तर्भाव है । 'गुरु शंकररूपिणम्' हैं ही ।

७ 'ब्रह्मकुलं'—ब्रह्म=वेद। और रामायण वेदरूप है; यथा 'वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना'। श्रीरामनामामृत वेदरूपी समुद्र अर्थात् रामायणसे ही निकला है, अतः शिवजीने उसे ले लिया। यथा 'ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं…', 'रामायन सत कोटि महँ लिय महेस जिय जानि।'…इससे 'ब्रह्मकुल' का अर्थ हुआ रामनामकी परंपरा चलानेवाले। पुनः, ब्रह्म = वेद। और रामनाम वेदका प्राण है अर्थात् वेद ही है।—अतः गुरुजीमें नामनिष्ठा, राममंत्रानुष्ठानविधिके उपदेश देनेकी विधि इत्यादिका ज्ञान होना चाहिए।

८ 'कलंकशमनम्'—काम ही कलंक है, यथा 'अकलंकता कि कामी लहई', 'कामी पुनि कि रहहिं अकलंका'। पुनः मत्सर भी कलंक है, यथा 'मच्छर काहि कलंक न लावा।' षड्‌रिपुकी गणनाका क्रम यह है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर। आदिमें काम है और अन्तमें मत्सर। उपक्रमोपसंहारको कलंक कह देनेसे बीचवालोंको भी कलंक जनाया। इस विशेषणसे जनाया कि गुरुवचनमें ऐसा प्रभाव होना चाहिए कि कामक्रोधादि सभी कलंक शमन हो जायँ।

९ 'श्रीरामभूपप्रियम्'—इससे जनाया कि गुरुकी सगुणस्वरूप श्रीरामजीमें प्रेमलक्षणाभक्ति भी होनी चाहिए।

इस श्लोकमें कथित लक्षणोंका ही विस्तार दोहा ४५-४६ में है। श्रीरामगीताके सभी प्रश्नोंका बीज भी इसमें है।

**सांद्रानंद पयोद सौभग तनुं पीतांबरं सुंदरं**
**पाणौ बाण शरासनं कटि लसत्तूणीर-भारं वरं।**
**राजीवायत लोचनं धृत जटाजूटेन संशोभितं**
**सीता लक्ष्मण संयुतं पथिगतं रामाभिरामं भजे ॥२॥**

शब्दार्थ—सांद्र = घना, गहरा, निरंतर—'घनं निरंतरं सांद्रं इत्यमरः।३.१.६६।' पयोद = पय (जल) देनेवाले, जलद, मेघ। तूणीर = तर्कश। रामाभिरामं = आनन्द देनेवाले रामजी एवं रामा (श्रीसीताजी) को आनन्द देनेवाले। पथिगतं = जो पथिककी अवस्थामें प्राप्त हैं।=जो पथ (मार्ग) में प्राप्त हैं। 'पथि' शब्द 'पथिन्' की सप्तमीका एकवचन है। पथि=पथमें।

अर्थ—सघन (पूर्ण) आनन्द (स्वरूप) अर्थात् आनन्दघन, जलसे भरे हुए (श्याम) बादलोंके समान सुन्दर (श्याम) शरीरवाले, सुन्दर पीताम्बर धारण किये हुए, हाथोंमें धनुष और बाण लिए हुए, श्रेष्ठ (अक्षय) तर्कशके भारसे जिनकी कमर शोभित है (अर्थात् जो अक्षय बाणोंसे पूर्ण अक्षय तरकशको कटिमें कसे हैं), कमलदलके समान विशाल नेत्रवाले, (मस्तकपर) जटाओंका जूड़ा धारण किए हुए, अत्यन्त शोभायमान श्रीसीतालक्ष्मणजी सहित मार्गमें जाते हुए, आनन्दके देनेवाले श्रीरामचन्द्रजीको मैं भजता हूँ ॥२॥

गौड़जी—गोस्वामीजीको रामबटोहीका ध्यान परम प्रिय है, अतः वह अपने आराध्यदेवके प्रिय अपने आचार्य्य भगवान् शंकरकी वन्दना करके 'पथिगतराम' की आराधना करते हैं।

टिप्पणी—१ (क) अयोध्याकाण्डमें मुनिपट धारण करना कहा था पर यहाँ मङ्गलाचरणमें 'पीताम्बरं सुंदरं' कह रहे हैं। यहाँ पीताम्बर धारण किये हुए स्वरूपसे मङ्गल करना साभिप्राय है। वीर केसरिया जामा धारण करते हैं। इस काण्डसे राक्षसवध प्रारंभ हुआ है। अतः वीरका केसरियावस्त्र पहनना कहा। (ख) यहाँ वल्कल जो धारण किए हैं वे ही पीतवर्णके हैं—'वल्कलै पीत अम्बर' अर्थात् पीत वस्त्र है। यथा 'वलकल बिमल दकूल। २.६५।', 'वलकल बसन। २.६२।' (यही अर्थ यहाँ उचित है)।

नोट—१ (क) पंजाबीजी कहते हैं कि पीताम्बर भगवान्‌का एक नाम है, यथा 'पीताम्बरोऽच्युतः शार्ङ्गी विष्वक्सेनो जनार्दनः इत्यमरः। १.१.१९।' श्री पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज कहते हैं कि यहाँ ग्रन्थकार साक्षात् अपना अभीष्ट वर्णन कर रहे हैं, अतः 'पीताम्बर' कहा। पुनः, वाल्मीकिजीने भी वनकाण्डमें

किसी स्थानपर पीताम्बर धारण किए हुए लिखा है। वैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ ग्रन्थकारने ऐश्वर्य्य-माधुर्य्य-मिश्रितरूपका वर्णन किया है इसीसे पीताम्बरधर कहा। (ख) पं० शिवलालपाठकजी मयूखमें लिखते हैं कि 'अब प्रभुचरित सुनहु···', 'एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए' इत्यादि। इन सब वचनोंसे चित्रकूटमें रासका प्रसाद ( वा प्रासाद ) लक्षित होता है।

२ रामाबाबा (चित्रकूटवाले) का अनुभव है कि किसी कठिनाईके समय या जब ऐसी कोई घटना हो कि जिसमें प्राणान्तक कष्ट हो उस समय इस श्लोकका ध्यान करनेसे वह कठिनाई निश्चय टल जाती है और मृत्यु हुई तो मुक्ति तो है ही। ( श्रीदीनजी )।

३ ( क ) 'पाणौ बाण···राजीवायत लोचनं' इति। मिलान कीजिए—'पुरुषसिंह दोउ बीर चले हरषि मुनिभयहरन।···१.२०८। अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नील जलद तनु स्याम तमाला।। कटि पटपीत कसे वर भाथा। रुचिर चाप सायक दुहु हाथा।।' यह वीररसका स्वरूप है। ( ख ) 'सुंदरं' इति। श्रीरामजीकी सुन्दरताका क्या कहना ? वह सौंदर्य इसी कांडमें लोगोंने देखा है। शूर्पणखा और खरदूषण राक्षस भी इस सौंदर्यपर मुग्ध हो गए। दण्डकारण्यके ऋषि मोहित हो गए। मुनियोंके हृदय स्त्रीभावको प्राप्त हो गए।

टिप्पणी—२ 'कटिलसत्तूणीरभारं वरं' इति। (क) भाव यह कि सब भार अशोभित हैं पर तरकशका भार सुशोभित है; यथा 'सब सुंदर सब भूषनधारी। कर सर चाप तून कटि भारी।। २।२६८।' पुनः इससे जनाया कि यहाँसे अब ये बाण राक्षसों पर छूटेंगे। ( ख ) 'वरं' कहकर धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ जनाया। यथा मेघनादवाक्ये—'कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता ।।६।४६।' (नोट—'वरं' को तूणीर-भार' का विशेषण प्रायः अन्य सभी महानुभावोंने माना है। भाव यह है कि इसके बाण अमोघ हैं और यह तूण भी अक्षय है, यह कभी बाणोंसे खाली नहीं होता)।

३—'राजीवायत लोचन' से जनाया कि भक्तों के लिये सदा कृपासे पूर्ण रहते हैं। भक्तोंके दुःख या भय दूर करनेके सम्बन्धमें सर्वत्र 'राजीव' विशेषण दिया गया है। यथा 'राजिवनयन धरें धनुसायक। भगत बिपति-भंजन सुखदायक। १।१८ (१०)।' देखिये। पुनः, यथा 'चितइ कृपा करि राजिवनयना।' सु० ३५ (२) एवं ३२ (१) भी देखिए।

नोट—४ ( क ) यहाँ वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया गया है। ( ख ) मनुशतरूपाप्रकरणमें 'नील-सरोरुह, नीलमणि और नीलनीरधर श्याम' तीन उपमाएँ श्यामताकी दी थीं। यहाँ उनमेंसे केवल एक 'पयोद' की ही उपमा दी है। कारण कि यहाँ प्रभु मुनियों और भक्तोंके यहाँ जा जाकर सुख देंगे, यथा 'सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह। ६।' मणि और नीलकमल सर्वत्र सुलभ नहीं और मेघ सर्वत्र विचर-कर जगत्को जीवनदाता होते हैं। १।१४६ देखिए। ( ग ) वर्षा सबको सुखद है पर जवास झुलस जाता है, इसमें वर्षाका दोष नहीं। इसीप्रकार श्रीरामरूपी मेघद्वारा निशाचर-जवासका नाश समझो। यथा 'बरषि बिस्व हरषित करत, हरत ताप अघ प्यास। तुलसी दोष न जलद को, जो जल जरै जवास। दोहावली।३७८।'

५—'सान्द्रानंद०' इति। प्रथमचरणमें शृंगारकी शोभा कही। दूसरे चरणमें वीररसकी शोभा कही। तीसरे चरणमें शान्तरसकी शोभा कही। क्योंकि शृंगार-द्वारा शूर्पणखाको मोहित किया, वीररससे खरदूषण-का वध और शान्तरससे मुनियोंको सुख दिया। यथा 'जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सब के भय बीते। २१।१।' ( खर्रा )

प० प० प्र०—१ सान्द्रानन्दपयोद ही सुभग होता है। यथा 'भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा।' इससे श्रीशबरीजीकी भक्तिकी सूचना मिली।

२ प्रथम चरणमें शृङ्गाररसका वर्णन होनेसे बहुशः मधुराक्षरोंकी ही योजना की गई है। दूसरेमें वीर-रस होनेसे बहुसंख्यवर्ण ओज निर्माण करते हैं। प्रथम शृङ्गार फिर वीररसके वर्णनसे सूचित किया कि प्रथम शृङ्गारके चरित करेंगे तत्पश्चात् वीररसके। तीसरे चरणका राजीवनयन शृङ्गार और वीर दोनोंका

द्योतक है। इस तरह फिरसे शृङ्गारका निदर्शन करके जनाया कि विप्रलम्भ शृङ्गारके चरित किये जायँगे फिर कुछ वीररसका चरित होगा। इससे कबंध वध सूचित किया। 'धृतजटाजूटेन संशोभितं' से शान्तरस और भक्तिकी लीलायें ( शबरी तथा नारद प्रसंग ) सूचित कीं।

३ इस श्लोकका उपक्रमोपसंहार आनन्दसे ही ( 'सान्द्रानन्द', 'अभिराम' ) करके जनाया कि इस काण्डके आदि और अन्तमें आनन्द ही आनन्दकी वर्षा होगी। बीचमें कुछ आनन्दविरोधी चरित दृष्टिगोचर होंगे पर उनका उपसंहार आनन्दमें होगा।

नोट—६ ग्रन्थकारने अयोध्या, सुन्दर, लंका और उत्तरमें तीन-तीन श्लोकोंमें मङ्गलाचरण किया है पर अरण्य और किष्किंधा काण्डोंमें दो ही श्लोकोंसे मङ्गलाचरण किया, इसका कारण यह है कि अयोध्या-काण्डतक श्रीसीतारामलक्ष्मण तीनोंका साथ रहा इससे तीन श्लोकोंमें मङ्गल किया। अरण्यमें श्रीसीताजीका हरण हुआ, किष्किंधामें भी उनका पता नहीं चला कि वे कहाँ हैं। इससे इन दो काण्डोंमें एक-एक श्लोककी कमी हुई। सुन्दरकाण्डमें प्रथम उनका पता लगा और फिर लंका और उत्तरमें उनका साथ रहा। अतः तीनोंमें पुनः तीन श्लोकोंसे मङ्गलाचरण हुआ।

सोरठा—उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरिबिमुख न धर्मरति॥

अर्थ—हे उमा! रामगुण गूढ़ है। पंडित और मुनि उससे वैराग्य प्राप्त करते हैं और जो विशेष मूर्ख हैं, जो भगवद्विमुख हैं और जिनका धर्ममें प्रेम नहीं वे मोहको प्राप्त होते हैं।❀

टिप्पणी—१ इस काण्डके प्रारंभमें ही शिवजी पार्वतीजीको सावधान करते हैं कि इसी काण्डके चरित्रसे तुमको दण्डकारण्यमें मोह हुआ था, अब ख़बरदार रहना क्योंकि आगे सन्देहके बहुतसे चरित मिलेंगे; अब सन्देह न कर बैठना।

२—अयोध्याकाण्डमें किसीका सम्वाद नहीं है, इसीसे वहाँ किसीका सम्बोधन कविने नहीं दिया। और यहाँ आदिमें ही 'उमा' सम्बोधन दिया गया। कारण कि भरतचरितमें किसीको मोह नहीं है। वहाँ गोसाईं-जीने केवल प्रेमका ही वर्णन किया है, इसीसे वहाँ किसीका संवाद नहीं है। और श्रीरामचरितमें सबको सन्देह हुआ है अर्थात् सती, भरद्वाज और गरुड़ तीनोंको मोह प्राप्त हुआ। इसीसे यहाँ प्रथम छः दोहोंमें तीनों वक्ताओंने तीनों श्रोताओंका समाधान किया है। यथा 'उमा राम गुन गूढ़', 'सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता।३।२।८', 'सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना।३।२।६।' यहाँ उमाको ही प्रथम कहा क्योंकि इस काण्डमें इन्हींको मोह हुआ है। पुनः, भाव यह कि अयोध्याकाण्डके अन्तमें कहा है कि 'भरतचरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयरामपद प्रेम अवसि होइ भवरस बिरति। २।३२६।' अर्थात् भरतचरितके श्रवणसे अवश्य वैराग्य होता है। अब शिवजी कहते हैं कि वैसाही रामचरितको न जानो, यह गूढ़ है। इससे केवल मुनियों और पण्डितोंको वैराग्य होता है, सबको नहीं।

३—रामगुन गूढ़ पंडित मुनि...' इति। (क) गूढ़, यथा 'श्रोता बक्ता ज्ञाननिधि कथा राम कै गूढ़। किमि समुझौं मैं जीव जड़ कलिमल ग्रसित विमूढ़। १।३०।', 'चाहहु सुनइ रामगुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रश्न मनहु अति मूढ़ा। १।४७।४।' ( ख ) गूढ़ कहा क्योंकि चरित तो है वही एक, पर उसीसे किसीको तो मोह होता है और किसीको वैराग्य उत्पन्न होता है। मोह और वैराग्य परस्पर विरोधी बातें हैं, जहाँ वैराग्य है वहाँ मोह नहीं और जहाँ मोह है वहाँ वैराग्य नहीं, यह (गूढ़ता) दोनोंकी उत्पत्तिका कारण है। तात्पर्य यह कि गूढ़

❀ अर्थान्तर—"हे उमा! रामका गुण गूढ़ है अर्थात् गम्भीर है जिससे पंडित मुनि वैराग्य भी पाते हैंऔर मोह भी पाकर विशेष मूढ़ देख पड़ते हैं, जो हरिसे विमुख नहीं हैं और धर्ममें रत हैं—जैसे सती, गरुड़, नारद आदि"। ( पां० )

है इसीसे तो किसीको कुछ भासित होता है और किसीको कुछ, यदि गूढ़ न होता तो सबको एक-सा ही भासित होता। यहाँ 'प्रथम व्याघात अलङ्कार' है। (ग) गूढ़ = अति गुप्त आशययुक्त, जो बुद्धिमानों को भी कठिनतासे समझमें आता है। 'पावहिं बिरति' अर्थात् अन्य विषयिक प्रीतिसे विरक्त हो जाते हैं। पुनः, (घ) 'रामगुन गूढ़' का भाव कि जैसे नारद और ब्रह्माजी आदिके वचन हेतु आप छिपे हैं वैसे ही गुणको भी छिपाए हैं।—विशेष नोट १, २ में देखिये।

नोट—१ "गूढ़ उसको कहते हैं जो गुप्त हो, यथा 'बंदउँ परिजन सहित बिदेहू। जाहि रामपद गूढ़ सनेहू।' श्रीविदेहजी महाराज वात्सल्य भाव रखते हुए ऐश्वर्य माधुर्य दोनोंके यथार्थ ज्ञाता हैं; इसीसे कविने कहा कि 'जोग भोग महुँ राखेउ गोई।१.१७।' योगसे ऐश्वर्य और भोगसे माधुर्य झलकता है। ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों एक दूसरेके विरोधी हैं। माधुर्य देखकर ऐश्वर्यका पता ही नहीं चलता। उससे गरुड़जी, भुशुण्डिजी और सतीजीको मोह हो गया। इसी तरह ऐश्वर्यका स्मरण करके माधुर्यमें प्रवृत्ति ही नहीं होती। यथा 'सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद।१.५०।', 'खोजइ सो कि अज्ञ इव नारी।१.५१।' इन्हीं ऐश्वर्य और माधुर्य दोनोंमें छिपा होनेके कारण 'गूढ़' कहा। (रा० प्र० श०)।

२—इन शब्दोंसे यह भी जनाया कि यह भी सन्देह न करना कि जो स्वयं प्रिय परिजनके वियोगमें बिलख रहे हैं उनकी पादुका आज्ञा कैसे देती होगी? (खर्रा)।

टिप्पणी—४ 'पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख०' इति। (क) अब 'विमूढ़' का लक्षण बताते हैं कि ये हरिपदविमुख होते हैं और इनका धर्ममें प्रेम नहीं है, इसीसे इनको वैराग्य नहीं होता। धर्ममें तत्पर होते तब तो वैराग्य अवश्य ही होता, यथा 'धर्म ते बिरति०'। पुनः, भाव यह कि चाहे मूर्ख भी होनेपर यदि हरि-सम्मुख होते या धर्ममें प्रीति होती तो मोह न प्राप्त होता, यथा 'हरन मोहतम दिनकर कर से', 'जिमि हरिसरन न एकउ बाधा।४.१७।५।' पंडित = जिसमें सदसद्विवेक हो। यथा 'सदसद्विवेकिनी बुद्धिः पंडा'। मुनि = जो मनन किया करते हैं। अतः मुनि भी पण्डित हुए। [मानसमें 'पंडित' शब्द प्रायः १३ बार आया है। जिनमेंसे वक्ताओंके मतसे 'पंडित' के क्या लक्षण हैं यह स्पष्ट रीतिसे दो स्थलोंमें इस तरह बताया है—'सोइ सर्वज्ञ तज्ञ सोइ पंडित।'''जाके पदसरोज रत होई।७।४९।७,८।' (यह श्रीवशिष्ठवाक्य है), 'सोइ महि-मंडित पंडित दाता।'''रामचरन जाकर मन राता।७।१२७।१-२।' अर्थात् जिसका श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग हो वही 'पंडित' है। मानसमें यह विशेषण श्रीसुमन्त्रजी, श्रीदशरथजी, श्रीअयोध्यापुरवासियों तथा श्रीराम-जीके लिये एक-एक स्थलपर प्रयुक्त हुआ है। यथा 'तुम्ह पंडित परमारथ ज्ञाता। २।१४३।२।', 'महाराज तुम्ह पंडित ज्ञानी। २। १५०। ३।', 'सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी। ७।२१।८।', 'खरदूषन बिराध बध पंडित। ७। ५१। ५।' ] पुनः, (ख) 'विमूढ़', 'हरिबिमुख' और 'न धरमरति' से जनाया कि ज्ञान, उपासना और कर्म काण्डत्रय रहित हैं। जहाँ ज्ञान चाहिए वहाँ ये विमूढ़ हैं, जहाँ उपासना चाहिए वहाँ हरिविमुख हैं और जहाँ कर्म चाहिए वहाँ धर्ममें प्रीति ही नहीं। पुनः, (ग) भाव कि केवल मूढ़ हो तो उसे रामजी सँभा-लते हैं पर जिनमें श्रीरामसम्मुखता और धर्ममें प्रेम ये अन्य दो बातें नहीं हैं वे नहीं सँभाले जासकते। (ख) ऐसा ही अन्यत्र भी कहा गया है। यथा 'कामिन्ह कै दीनता देखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढाई॥ ३.३९. २।', 'गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुरहित दनुजबिमोहनसीला॥', 'असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जनसुखकारी॥ ७.७३.१।', 'राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥ (वाल्मीकिः)। २.१२७।'

प० प० प्र०—'पंडित मुनि पावहिं बिरति।''' इति। यहाँ तो मुनियोंको वैराग्यकी प्राप्ति चरित-से कह रहे हैं पर अन्यत्र यह वाक्य आये हैं—'सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ। ७। ७३।', 'देखि देखि आचरन तुम्हारा। होत मोह मम हृदय अपारा।७।४८।४।', 'राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे।२।१२७।७।' आपाततः देखनेसे इनमें परस्पर विरोध जान पड़ता है।

समन्वय इस प्रकार होता है कि ७। ७३ में मुनिको मोह होना कहा है, वहाँ 'पंडित' शब्द साथ में नहीं है। इस काण्डमें 'पण्डित मुनि' को विरतिकी प्राप्ति कही है। 'पण्डित' को 'मुनि' का विशेषण मानना चाहिए। ज्ञान होनेपर भी जो श्रीरामजीका भजन करते हैं वे ही पण्डित हैं। यथा 'यह विचारि पंडित मोहिं भजहीं। पायेहु ग्यान भगति नहिं तजहीं। ३। ४३। १०।', 'सोइ सर्वज्ञ तज्ञ सोइ पंडित।··· जाके पद-सरोज रति होई। ७। ४६। ७-८।'—इस तरह भाव यह है कि जो केवल मुनि (अर्थात् ज्ञानी) होते हैं (यथा 'बसहिं ज्ञानरत मुनि संन्यासी। ७। २८। ५।'), उनको भ्रम होता है।

वाल्मीकिजीके वाक्य २। १२७। ७ में 'जड़' और 'बुध' शब्द हैं। 'जड़' की व्याख्या मानसमें इस प्रकार है 'जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं। 'ते जड़' कामधेनु पय त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी। ७। ११५। १-२।' इस प्रमाणसे सिद्ध हुआ कि 'जड़' का विरोधी शब्द 'पंडित' है और पंडित तथा बुद्ध समानार्थक शब्द हैं। तथापि इस सोरठेके आधारपर 'बुध' में ज्ञान और भक्ति दोनोंका अस्तित्व मानना चाहिए। सारांश यह कि जो ज्ञान होनेपर भक्तिका त्याग नहीं करते और जो भक्ति प्राप्त होनेपर ज्ञानका त्याग नहीं करते उनको लीला देख सुनकर वैराग्य होता है।

अब रहा वशिष्ठवाक्य (७। ४८। ४)। वे पंडित (भक्त) और मुनि (ज्ञानी) दोनों हैं। तब उनको मोह क्यों होता है? गरुड़जी, नारदजी तथा भुशुण्डीजी भी तो ज्ञानी और भक्त थे, पर उनको भी मोह हुआ। इससे ऐसा जान पड़ता है कि जबतक ज्ञान और भक्ति दोनों जागृत रहते हैं तबतक गूढ़ चरितसे वैराग्य होता है और जब दोनोंमेंसे एक प्रबल होकर दूसरेको दबाता है तब मोह होता है। गरुड़जी तथा नारदजीमें, ज्ञानाहंकारसे भक्ति दब गई थी और भुशुण्डिजीमें भक्तिकी प्रबलतासे ज्ञान दब गया था।

प० प० प्र०—विमूढ़=विशेष मूढ़। शास्त्रज्ञ, बहुश्रुत, अधीत होनेपर भी जो मूढ़ है वह विमूढ़ है। मूर्खोंको न तो मोह ही होता है और न वैराग्य। यथा 'भूलहिं, मूढ़ न, चतुर नर। १। १६१।' इनका इतना अहित नहीं होता जितना ऐसे विमूढ़ोंका। 'दासबोध' ग्रन्थमें ऐसे लोगोंको 'पढ़त मूर्ख' कहा है और उनके लक्षण भी दिये हैं। 'धर्मरति' का अर्थ यहाँ ज्ञान अथवा वैराग्य है, यथा 'धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना', 'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु'। इस तरह 'पावहिं मोह···रति' का अर्थ हुआ कि 'शब्द-पण्डित शास्त्रज्ञ वादविवाद-पटु होनेपर भी यदि हरिभक्ति और वैराग्यरहित हैं तो वे विमूढ़ हैं उनको मोह अवश्य होगा।' इससे भक्तिके साथ ज्ञान और वैराग्यकी भी आवश्यकता बताई।

नोट—३ यहाँ श्रीपार्वतीजी पर कटाक्ष भी है। (वंदनपाठकजी)। यहाँ शिवजी पण्डित और मुनि दोनों हैं। इनको इस वनलीलासे वैराग्य हुआ, यथा 'एहि तन सती भेंट मोहि नाहीं'। जो किसीसे भगवत-सन्मुख होनेकी शिक्षा पाकर भी हरिसन्मुख न हो, वह मूढ़ है, यथा 'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना।४.६।' पुनः जिसकी धर्ममें प्रीति नहीं वह मूढ़ है। ये सब लक्षण सतीजीमें पाए जाते हैं। पतिव्रता होकर वे पतिके प्रतिकूल चलीं, न तो पति के वचनपर चलीं और न उनपर विश्वास ही किया—शिवजीने प्रणाम किया पर इन्होंने न किया, 'करेहु सो जतन विवेक विचारी' पतिकी इस आज्ञापर न चलीं, विश्वास न किया और परीक्षा लेने चलीं। सब लक्षण इनमें घटते हैं; अतः इन्हें मोह हुआ। (रा० प्र० श०)।

टिप्पणी—५ 'पंडित मुनि पावहिं बिरति।····' इति। श्रीजानकीहरणपर श्रीरामजीको विलाप करते देख पंडित मुनिको वैराग्य हुआ कि स्त्रीने रामको भी रुलाया तो उससे प्रीति करना कदापि उचित नहीं, और, विमूढ़को मोह हुआ कि स्त्रीके लिए राम भी रोये हैं अतः वह रखनेलायक वस्तु है।

नोट—४ इस सोरठेमें इस काण्डका चरित संक्षिप्त रीतिसे दरसाया गया है। अतः यहाँ 'मुद्रालंकार' भी है। आदिमें जयन्तका मोह और अन्तमें नारदका वैराग्य कहा ही है—(वै०)।

## श्रीपार्वतीजीका 'वन बसि कीन्हे चरित अपारा'—प्रकरण
## श्रीभुशुण्डीजीका 'सुरपति-सुत-करनी'—प्रकरण

**पुर नर+ भरत प्रीति मैं गाई । मति अनुरूप अनूप सुहाई ॥ १ ॥**

अर्थ—पुरवासियों और श्रीभरतजीकी उपमारहित सुन्दर प्रीति को मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार वर्णन किया ॥ १ ॥ ❀

नोट—१ 'पुरनर भरत' इति । पं० शिवलालजीका पाठ 'पुरजन' है । 'पुरनर' पाठ १७०४,१७२१, छ०, १७६२ इत्यादिमें है । इनसे अधिक प्राचीन कोई और पोथियाँ देखने में नहीं आईं । 'पुरजन' और 'पुरनर' पर्य्याय हैं । यहाँ 'नर' शब्द 'नर और नारि' दोनोंका उपलक्षक है । पुरनर = पुरलोग, पुरवासी, अवधपुरीके सभी स्त्री-पुरुष । गौड़जीके मतानुसार "पुर नर=पुर (अयोध्या) की, नर (लक्ष्मणजी) की ।" पुनः, पुरजन= पुर (अवध) का और जन (अवधवासियों) का । (मा० शं०) । =पुर, जन (शेषजी) एवं पुरजनका (मा. म.) । =पुरवासियोंका । और, अयोध्याकाण्डमें पुरवासियों और भरतजी दोनोंका ही प्रेम आदिसे अंत तक वर्णित है । पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनोंमें पुरनरप्रीति दिखाई गई और उत्तरार्द्धमें श्रीभरतजीका प्रेम दिखाया गया । अवधपुरीभरके जीवोंका भी प्रेम दरसाया गया है । इनके उदाहरण कुछ दिये जाते हैं, यथा—(१) 'करहिं प्रनाम नगर नरनारी । मुदित ब्रह्ममय वारि निहारी ॥ करि मज्जन मागहिं कर जोरी । रामचंद्रपद प्रीति न थोरी ॥', (२) 'लागति अवध भयावनि भारी । मानहु कालराति अँधियारी । घोर जंतु सम पुर-नर-नारी । डरपहिं एकहिं एक निहारी ॥ घर मसान परिजन जनु भूता । सुत हित मीत मनहुँ जमदूता । बागन विटप वेलि कुँभिलाहीं । सरित सरोवर देखि न जाहीं ॥ २.८३ ।', (३) भरतागमने—'श्रीहत सर सरिता वन बागा । नगर बिसेषि भयावनु लागा ।···। २.१५८ । हाट बाट नहिं जाइ निहारी । जनु पुर दह दिसि लागि दवारी ॥' रामबिना यह दशा थी और उनके आनेपर—'अवधपुरी प्रभु आवत जानी । भई सकल सोभा की खानी । ७.३ ।' 'पुर नरनारि मगन अति प्रीती । बासर जाहिं पलक सम बीती ॥', (४) 'रामदरस लगि लोग सब करत नेम उपवास । तजि तजि भूषन भोग सुख जिअत अवधि की आस ॥ अ० ३२२ ।' इत्यादि ।

अथ भरतप्रीति—(१) 'कुस साथरी निहारि सुहाई । कीन्ह प्रनाम प्रदच्छिन जाई ॥ चरनरेखरज आँखिन्ह लाई । बनइ न कहत प्रीति अधिकाई । २.१९९ ।', (२) 'सखा वचन सुनि विटप निहारी । उमगे भरत विलोचन वारी । करत प्रनाम चले दोउ भाई । कहत प्रीति सारद सकुचाई ॥ २.२३८ ।', (३) 'मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी । कबिकुल अगम करम मन बानी ॥ २.२४१ ।' 'अगम सनेह भरत रघुवर को । जहं न जाइ मन विधि हरि हर को । २.२४१ ।', (४) 'नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदय समात । मागि मागि आयसु करत राजकाज बहु भांति ॥ अ० ३२५ ॥' इत्यादि ।

पुरका प्रेम, यथा 'लागति अवध भयावनि भारी ।···।' ( उपर्युक्त ) । पशु ( घोड़े आदि ) और पक्षियोंका प्रेम उनकी दशा द्वारा दिखाया गया है ।

टिप्पणी—१ (क) 'पुरनर भरत प्रीति०' ऐसा कहकर पूर्व-काण्डसे इस काण्डका सम्बन्ध मिलाया । (ख) 'पुरनर' पद प्रथम दिया क्योंकि अयोध्याकाण्डमें भरतागमनके पूर्व आधे काण्डमें इन्हींका प्रेम दिखाया गया है और भरतागमनसे उत्तरार्द्धमें भरतप्रेमका वर्णन हुआ । अयोध्याकाण्डभर प्रेमसे भरा है । पुरवासियोंसे भरतजीका प्रेम अधिक जनानेके लिए इनको उनसे पृथक् करके यहाँ लिखा ।

---

❀ पाठान्तर—'पूरन' ( पां० ) । 'पुरजन'—( पं० शिवलालपाठक ) । 'पूरन' पाठसे पाँडेजी यह अर्थ करते हैं—'अनूप और सुहाई भरतकी प्रीतिसे पूर्ण अयोध्याकांडको०' । पुनः, इसका अर्थ यह होगा कि—'भरतजीकी परिपूर्ण प्रीति मैंने गाई' । बाबा हरीदासजी कहते हैं कि पूर्वार्द्धका संबंध 'मति अनुरूप' से है । भाव कि पूर्ण प्रीति मैंने नहीं गाई, मति अनुरूप उनकी पूर्णप्रीतिको कुछ गाया है । पूर्ण प्रीति, यथा 'सियराम प्रेम पियूष पूरन होत जनम न भरत को ।२.३२६।'

नोट—२ 'अयोध्याकांडके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में पुरवासियोंकी प्रीति और उत्तरार्धमें श्रीभरतजीकी प्रीतिका वर्णन है। श्रीरामचरितको छोड़कर इनके चरित्र वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी?' इस शंकाको उठाकर उसका उत्तर मा० अ० दी० कार लिखते हैं कि श्रीरामप्रेमकी सिद्धिकी प्राप्तिके हेतु ऐसा किया गया। यथा 'भरत चरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयरामपद प्रेम अवसि होइ…।' अयोध्याकांडमें श्रीभरतजी तथा श्रीअवधवासियोंमें श्रीरामप्रेम भरा हुआ दिखाया गया है परन्तु फलश्रुतिमें केवल 'भरत चरित' शब्द दिए गए थे, उसकी पूर्तिके लिए यहाँ भरतचरितके साथ 'पुरजन' का भी नाम दिया गया। इस प्रकार यह जनाया कि भरतजी मुख्य हैं, पुरजन गौण हैं। भरतजी तो श्रीराम-प्रेमकी मूर्त्ति ही हैं।

टिप्पणी—२ 'मैं गाई' इति। 'गाई' से जनाया कि जैसे प्रेमके चरित गाने योग्य हैं वैसे ही जीवों और भागवतोंका उज्ज्वलप्रेम और प्रेमरंगमें रँगा हुआ चरित भी गान करने योग्य है।

नोट—३ पंडितजीके एक पुराने खर्रेमें ऐसा लेख है कि 'इस कांडके आदिमें कविके 'मैं गाई' पदसे यह सिद्ध होता है कि अयोध्याकांडको गोसाईंजीने सब वक्ताओंसे पृथक् करके स्वयं गाया है। इसीसे इसमें किसीका संवाद नहीं रखा गया। दस हजार श्लोकका चौथाई अढ़ाई हजार (श्लोकोंका) वह कांड गुसाईंजीके हिस्से का है। इसीसे इस कांडको कविने सब कांडोंसे विलक्षण रचा है।' पर ऐसा जान पड़ता है कि यह मत उन्होंने बदल दिया इसीसे साफ खर्रेमें यह भाव न दिया। एवं पूर्व जो भाव उनका इस विषयमें ऊपर सोरठेमें लिखा गया उससे विरोध भी पड़ता है। पुनः, एक और खर्रेमें वे लिखते हैं कि "शिवजी कहते हैं कि मैंने अपनी मतिके अनुसार गाया है। मैं गवैयोंमें हूँ।" यह भाव गौड़जीके मतसे मिलता है। उनका मत इस विषयमें यह है कि—यहाँ "मैं" भगवान् शंकर अपने लिये कह रहे हैं। कवि अपने लिये नहीं कहता। इस बातको "उमा" सम्बोधन द्वारा सोरठेमें ही स्पष्ट कर दिया। "भरत प्रीति मति अनुरूप गाने" का एक़रार "ईश्वर" ही कर सकते हैं। "अगम सनेह भरत रघुबरको। जहँ न जाइ मन विधि हरि हर को", अतः शिवजीकी भी मति वहाँ तक जा नहीं सकती। हाँ, यह ईश्वरी शक्ति है कि "मति अनुरूप" कह सकते हैं। कविने तो बारंबार अपनी मतिकी असमर्थता बखानी है। यह कहना ठीक नहीं है कि अवधकांड गोस्वामीजीने सब वक्ताओंसे पृथक् करके गाया है। इसमें चारों वक्ता शामिल हैं, जिनमेंसे अन्तिम वक्ता, कविके गुरु ( मानसकार शंकरके मानसीशिष्य नरहरि ) के चरण-सरोजरजकी कृपासे कविने शिवजीके कहे विमलयशको मानसके अनुसार गाया है। बाबा रामप्रसादशरणजीका मत है कि 'मैं' से समझना चाहिए कि चारों वक्ता अपने-अपने श्रोताओंसे ऐसा कह रहे हैं।

टिप्पणी—३ 'मति अनुरूप' इति। (क) 'गाई' से यह सन्देह होता है कि विस्तारसे एवम् पूर्ण रीतिसे कही है। अतः उसके निवारणार्थ 'मति अनुरूप' पद दिया। अर्थात् उनके प्रेमका वर्णन पूर्णरूपेण कोई नहीं कह सकता, मैं कैसे कहता? हाँ, जैसी कुछ बुद्धि है वैसा कुछ कहा। (ख) 'मति अनुरूप कहूँगा या कहा' ऐसा कहना बड़ोंकी चाल है, रीति है। गोस्वामीजी, याज्ञवल्क्यजी, शिवजी, भुशुण्डिजी, विभीषणजी आदिने भी ऐसा ही कहा है। यथा 'मति अनुहारि सुबारि गुनगन गनि मन अन्हवाइ। सुमिरि भवानी संकरहि कह कवि कथा सुहाइ। १.४३।' (गोस्वामीजी), 'कहौं सो मति अनुहारि अब उमा-संभु संवाद।१.४७।' (याज्ञवल्क्यजी), 'तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी। १.११४।' (शंकरजी), 'नाथ जथामति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ। ७.१२३।' (भुशुण्डिजी), 'जौं कृपालु पूछेहु मोहि बाता। मति अनुरूप कहउँ हित ताता। ५.३८। (विभीषणजी)। (ग) इससे यह भी जनाया कि जैसे भगवच्चरित अथाह अतएव अकथनीय है वैसे ही भागवतचरित भी अगाध है, यथा 'सागर सीपि कि जाहिं उलीचे।२.२८३।' एवं 'जथामति भाषेउँ००। चरित सिंधु रघुनाथ कर थाह कि पावइ कोइ'।

४—'अनूप सुहाई' इति। दो विशेषण देकर प्रीतिके दो भाग किए। पुरनर प्रीति 'सुहाई' अर्थात् सुन्दर है और भरतप्रीति 'अनूप' है, यथा 'जहँ न जाइ मन बिधिहरिहर को', 'मुनि मन अगम जम नियम

संजम विषम व्रत आचरत को।' अथवा, (ख) दोनोंका ही प्रेम सुहावना और उपमारहित है। (प्र०, रा० प्र० श०)। [गौड़जी 'अनूप' का अन्वय 'गाई' के साथ करते हैं। मेरी समझमें दोनों विशेषणोंको 'प्रीति' और 'गाई' दोनोंके साथ लेना अधिक उत्तम होगा। (मा० सं०)। पुनः 'सुहाई' इससे कि 'कलिकाल तुलसीसे सठन्हि हठि राम सनमुख करत को।' (वि० त्रि०)]

**अब प्रभुचरित सुनहु अति पावन। करत जे बन सुर-नर-मुनि भावन ॥२॥**

अर्थ—अब प्रभु श्रीरामचन्द्रजीका वह अत्यन्त पवित्र, देवताओं, मनुष्यों और मुनियोंको भानेवाला चरित सुनो जो वे वनमें कर रहे हैं ॥२॥

टिप्पणी—१ 'अब' का भाव कि पूर्व भागवतचरित वा 'दासका' चरित कहा, अब 'प्रभु' का चरित कहते हैं। पुनः बालकांडमें माधुर्य्य और ऐश्वर्य्य कहा, अयोध्याकांडमें केवल माधुर्य्य कहा, अब इस काण्डमें ऐश्वर्य्य ही प्रधान रहेगा। अतः 'अब प्रभु०' कहा। (ख) 'प्रभु' शब्दको काण्डके आदिमें देकर जनाया कि इस काण्डमें प्रभुताके चरित कहे गए हैं। एवं यह कि इस काण्डमें 'प्रभु' शब्दका प्रयोग बहुत हुआ है। प्रभु= समर्थ। यहाँ यह शङ्का होती है कि 'क्या पूर्व विश्वामित्र-यज्ञ-रक्षा, धनुर्भङ्ग, परशुरामगर्वहरण आदि प्रभुत्वके चरित न थे?' इसका समाधान यह है कि वे चरित विश्वामित्रजीके साथमें रहनेके समय हुए। यद्यपि वे चरित ऐश्वर्य्यद्योतक थे तथापि वे माधुर्य्यका रंग लिए हुए थे और मुनिके प्रभावके कारण छिपे हुए थे। यथा 'केवल कौसिक-कृपा सुधारे।१.३५७।' और अब जयन्त खरदूषणादिके प्रसंगमें ऐश्वर्य्यका छिपानेवाला कोई साथ नहीं है। विशेषतः जयन्तके चरितकी समाई तो कहीं नहीं हो सकती।

नोट-१ (क) 'अब' में यह भाव है कि इससे पहिले जो चरित वर्णन किये गये हैं वह सब अयोध्याजीसे सम्बन्ध रखनेवाले थे और वनवासके आरम्भके ही थे। जब सबलोग लौट गये, तब बहुत कालतक श्रीरघुनाथजी चित्रकूटमें निवास करते रहे। वर्षोंका ठीक परिमाण नहीं दिया गया। परन्तु रहे कई बरस। अन्तमें अपने वनवासकी मर्यादाके भीतर जान पड़ता है कि भगवान्‌ने रासकी रचना की। देवताओंको यह रंग देखकर शुबहा (सन्देह) हुआ कि शायद हमारा काम भूल गये। वे घबराये। परन्तु किसीकी हिम्मत न पड़ी कि याद दिलावें। जयन्तने अपने मनसे मोहवश परीक्षा लेने और चेतावनी देनेका काम किया। सतीकी तरह परीक्षाकी विधिमें वह चूक गया। उसका फल पाया। इस तरहके नाना चरित चित्रकूटमें बसकर भगवान्‌ने किये। अन्तमें "होइहि भीर सबहि मोहि जाना" इसी विचारसे चित्रकूट छोड़कर आगे बढ़े। अत्रिजीसे विदा लेनेपर चित्रकूटका प्रकरण समाप्त होता है; इसीलिये उस स्थलपर फलश्रुति और चित्रकूटचरितोंका अन्त है। (गौड़जी)। (ख) बालकांडमें स्वतन्त्र ऐश्वर्यचरित भी है। जैसे, जन्मकालमें माता श्रीकौसल्याजीको दर्शन, फिर दूसरी बार अन्नप्राशन संस्कारके समय श्रीरंगमंदिरमें 'निज अद्भुत रूप अखंड। १।२०१।' का दर्शन। वशिष्ठजीसे पढ़ने गये तो 'अलप काल बिद्या सब आई। १।२०४।', धनुषयज्ञमें भी 'जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी। १।२४१।' इत्यादि। अतः बालकांडमें माधुर्य ऐश्वर्य है। अरण्यकांडमें श्री-विरहादि प्रकरणमें माधुर्य है परन्तु प्रधानता ऐश्वर्यकी है। (गौड़जी)। इस कांड में प्रधानतया प्रभुताके चरित कहे गए हैं; इसीसे यहांसे अब 'लषन', सिय' नामके बदले 'लछिमन', 'सीता' आदि ऐश्वर्यसंबन्धी नाम देंगे। (पं० रा० कु०)।

टिप्पणी—२ 'अति पावन' इति। (क) भरतचरितको परमपुनीत कह आए हैं, यथा 'परम पुनीत भरत आचरनू। २।३२६।'; अतएव प्रभुचरितको भी अतिपावन कहा। 'अति पावन', यथा 'पावनं पावनानाम्', 'पवित्राणां पवित्रोयं' अर्थात् जो पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाला है। (ख) यदि 'पावन' ही कहते तो भरतचरितकी अपेक्षा इस चरितमें न्यूनता जान पड़ती। इसीसे दोनोंको अत्यन्त पावन कहा। इस काण्डके अन्तमें केवल 'पावन' पद दिया गया है, यथा 'रावनारि जसु पावन गावहिं', क्योंकि वहाँ सन्देह उठनेकी कोई बात नहीं है। और यहाँ अभी-अभी भरतचरितको परमपुनीत कहा है इससे शंका हो सकती थी। (पुनः

'अतिपावन' प्रारम्भमें कहकर इसके कथन-श्रवणका भी वही फल जना दिया जो कांडके अन्तमें कहा है— 'रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग।') पुनः, भाव कि अन्य धर्म, तीर्थ, आदि 'पावन' हैं और यह प्रभुचरित 'अति पावन' है। पुनः, [ (ग) 'प्रभुचरित' और 'अति पावन' का भाव कि काव्यके नवों रसोंके नवरंग एकके उपरान्त एक अत्यन्त शोभा देते हैं। उसमें विचित्रता यह है कि रजोगुणकी झलक होतेहुए भी 'अति पावन' है; अर्थात् सत्वगुणवत् पवित्र करनेवाला है, अन्य किसी साधनसे इतनी पवित्रता कदापि सम्भव नहीं। (रा० प्र० श०)। पुनः, (घ) इस काण्डमें कितने ही अपावन पावन होंगे, जैसे गृद्ध, सबरी, आदि। अतः 'अति पावन' सहेतुक विशेषण है। (पां०)। पुनः, 'प्रभुचरित' का भाव कि अभीतक सेवकका चरित कहा अब प्रभुका कहते हैं। 'अति पावन' का भाव कि चित्रकूटमें बसते हुए जो चरित अबतक करते रहे (यथा 'एहि बिधि प्रभु बन बसहिं सुखारी। खग मृग सुर तापस हितकारी।२।१४२।३।') वे पावन थे। और अब खगमृगके स्थानमें नरका हित होने लगा, अतः यह अतिपावन है। अथवा, भक्तिका शृङ्गाररसके योगसे अत्यन्त उत्कर्ष हो उठता है, इसलिये 'अति पावन' कहा (वि० त्रि०)]।

३ (क) 'करत जे बन' इति।—प्रथम चौपाईमें 'पुर' शब्द आदिमें देकर उस चरितको अयोध्याकाण्डका जनाया और यहाँ दूसरीमें 'बन' पदसे अरण्यकांडका चरित जनाया। पुनः, 'बन' से यह भी जनाया कि जो चरित अब कहेंगे वह वनमें किए गए हैं। इस प्रकारसे 'बन' से चित्रकूटका भी ग्रहण हुआ, क्योंकि आगे जयन्त आदिका चरित कहा है जो चित्रकूटमें ही हुआ। यथा 'रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किये श्रुति सुधा समाना।३.३.१।' ['करत जे बन', इस वनचरितके सम्बन्धसे इस कांडका अरण्य नाम पड़ा। (पां०)] (ख) 'सुर नर मुनि भावन' इति। भाव कि सुर रजोगुणी, नर तमोगुणी और मुनि सतोगुणी होते हैं। तीनोंकी प्रकृति भिन्न-भिन्न है। तथापि प्रभुका यह चरित तीनोंको 'मनभावन' है। यह विचित्रता है, क्योंकि जो चरित्र राजसी और तामसी प्राणियोंको रुचता है वह सात्विकीको नहीं भाता, पर यह सबको भाता है। यथा 'जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सबके भय बीते। २१।१।' अतः सबको 'भावन' कहा। अथवा, (ग) रघुनाथजी यज्ञादि करते हैं यह सुरभावन है, पितृभक्तिरूपी धर्मका पालन करते हैं यह नरभावन है और मुनियोंकेसे आचरण और वेष धारण किए हुए मुनियोंकी रक्षामें तत्पर हैं, उनके यहाँ जा जाकर उनको सुख दे रहे हैं अतः मुनिभावन हैं—(यहाँ यज्ञसे मुनियोंके साथ यज्ञ हवन आदि जो करते हैं वह और राक्षसोंके साथ समरयज्ञ, दोनों अभिप्रेत हैं)।

नोट—२ (क) सुर-नर-मुनि तीनोंको निज स्वार्थ प्रिय है, यथा 'सुर नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती'। स्वार्थप्रिय होनेका कारण है मायासे मोहित होना। ये सब मायासे मोहित हैं, यथा 'सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहिं न मोह माया प्रबल'। प्रभुके वनचरितसे इन सबका स्वार्थ सिद्ध होगा, अतः सबको प्रिय कहा। (ख) 'भावन' कहकर उदाहरणमें जयन्तका उत्पात प्रारम्भ करते हैं। जयन्त इन्द्रका पुत्र है इसको 'प्रभु छाड़ेउ करि छोह', अतः इन्द्रादि सब सुरोंको भाया, नारद मुनिने उसको क्लेशसे बचनेका उपाय बताया। उसका दुःख दूर देख वे सुखी हुए—'परदुख दुख सुख सुख देखे पर'। और 'नर भावन' क्योंकि वनचरित श्रवण कथनका फल है कि 'रामभगति दृढ़ पावहीं बिनु बिराग जपजोग'। (रा० प्र० श०)

पुनः, जयन्तपर कृपा की, खरदूषणादिका वध किया, इत्यादि कारणोंसे 'सुर भावन', यथा 'हरषित बरषहिं सुमन सुर बाजहिं गगन निसान। २०।', सबरीजी और जटायु आदिकी गति देखकर 'नर भावन' और शरभङ्गजीकी गति, निशाचरहीन करनेकी प्रतिज्ञा और मुनियोंके आश्रमोंमें जाजाकर सबको सुख दिया, अतः 'मुनिभावन' है, यथा 'रिषिनिकाय मुनिवरगति देखी। सुखी भये निज हृदय बिसेषी। ९.३।'; 'निसिचरहीन करउँ महि'' 'सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह। ९।'

३—यहाँ तक चरितका माहात्म्य कहा। आगे चरित कहते हैं।

**एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए ॥३॥**

सीतहि पहिराए प्रभु सादर । बैठे फटिकसिला पर सुंदर† ॥४॥

शब्दार्थ—चुनि=चुनकर, तोड़कर। फटिक=स्फटिक मणि। यह श्वेत रंगका एक पारदर्शक पत्थर है।

अर्थ—एक बार सुन्दर फूलोंको चुनकर श्रीरामचन्द्रजीने अपने हाथोंसे आभूषण (गहने जैसे शीशफूल, नूपुर, बिछवे, गुलूबंद, कंकण, कड़े, चंद्रिका इत्यादि) बनाये ॥३॥ प्रभुने आदरपूर्वक सीताजीको पहनाये और सुन्दर स्फटिकशिलापर बैठे ॥४॥

नोट—१ (क) 'एक बार' से जनाया कि इस प्रकार शृङ्गार अनेक बार हुआ पर उनमेंसे एक ही बार ऐसा हुआ कि 'सुरपतिसुत…'। 'एक बार' का ऐसा प्रयोग पूर्व भी बहुत बार हुआ है। यथा 'एक बार भरि मकर नहाए। सब मुनीस आश्रमन्ह सिधाए। १।४५।३।', 'एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गए कुंभज रिषि पाहीं। १।४८।१।', 'एक बार आवत शिव संगा। १।६८।७।', 'एक बार तेहि तर प्रभु गयऊ। तरु बिलोकि उर अति सुखु भयऊ। १।१०६।४।', 'एक बार जननी अन्हवाए। करि सिंगार पलना पौढ़ाए। १।२०१।१।' इत्यादि। प्रायः १४ बार यह शब्द बालमें आया, अयोध्यामें इसका पर्याय 'एक समय' आया, यह शब्द नहीं आया। 'बनाए' बहुवचन क्रिया देकर जनाया कि प्रत्येक अंगके भूषण बनाए। 'सुहाए' से यह भी सूचित किया कि रंगबिरंगके सुन्दर फूल चुने गए जिसमें जिस भूषणमें जहाँ जिस रंगकी आवश्यकता हो वहाँ उसी रंगका फूल लगा सकें। (ख) 'एक बार चुनि कुसुम०' से श्रीरामजानकी-विहार सूचित किया जो चित्रकूटमाहात्म्यमें वर्णित है। बृहद्रामायणोक्त चित्रकूटमाहात्म्यमें ऐसा लिखा है—"चित्रकूटसमं नास्ति तीर्थं ब्रह्माण्डगोलके। यत्र श्रीरामचन्द्रोऽसौ सीतयासहितः सुधीः॥ विमलादि सखीयुक्तस्त्वणिमादि विभूतिभिः। सप्तावरण संयुक्ते मन्दिरे रत्नभूषिते॥ पर्वत्यान्तरा लेसौ विहारं कुरुते सदा…"। (ग) यह कथाप्रसङ्ग एकान्तसमयका है। यहाँ 'सादर' पद परमगोप्य-रहस्य-सूचक है, यथा 'सिय अंग लिखैं धातुराग सुमननि भूषन बिभाग तिलक करनि क्यों कहौं कलानिधान-की। माधुरी बिलास हास गावत जस तुलसिदास बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रानकी। गीतावली ३.४४।' वही समय शक्र-सुत-कथा-प्रसंगका है, यथा 'सुरपतिसुत धरि बायस बेषा।…'। उस समग्र पूर्वापर प्रसङ्गको पूज्य कविने सुन्दरकांड दोहा २७.५ में केवल 'शक्रसुतकथा' कहकर जनाया है। ( मा० त० सु० )। किन्तु वाल्मीकिजीने स्पष्टरूपसे कहा है; यथा 'अभिज्ञानं च रामस्य दद्या हरिगणोत्तम। क्षिप्तामिषीकां काकस्य कोपादेकाक्षिशातनीम्।४। मनः शिलायास्तिलको गण्डपार्श्वे निवेशितः। त्वया प्रनष्टे तिलके तं किल स्मर्तुमर्हसि।५। (सुं०स०४०)।' अर्थात् हे वानरोत्तम! तुम श्रीरामचन्द्रजीको उस काकके नेत्र फोड़नेवाली पहचान अवश्य बतलाना और कहना कि जब एक बार मेरा तिलक मिट गया था तब आपने मेरे गालोंपर मैनसिलका तिलक लगा दिया था, उसका भी स्मरण कीजिए। दीनजी कहते हैं कि नवलकिशोर प्रेसका छपा हुआ एक 'अवधविलास' नामक ग्रन्थ है। उसमें लिखा है कि रघुनाथजीने चित्रकूटमें ६६ रहस्य किए। अंतिम रहस्य आधा हो गया था कि जयन्तने विघ्न किया। वही आधा रास भगवानने कृष्णावतारमें पूरा किया। बैजनाथजी लिखते हैं कि किसी समय जयन्तकी स्त्री रासमें प्रभुको देखकर मोहित हो श्रीकिशोरीजीकी सखियोंमें मिलकर यहीं रह गई—यही देवाङ्गना तीर्थ प्रसिद्ध है। इसी ईर्ष्यासे जयन्त परीक्षा हेतु आया। मयूखमें पं० शिवलालजी कहते हैं कि सुरनरमुनि सब इस शृंगाररंगमें रँग गए पर यह शोभा और सुख जयन्तको अच्छा न लगा, इसी कारण वह विघ्न करनेको उद्यत हुआ।

प० प० प्र०—'एक बार…' इस कथनमें मुख्य हेतु शृङ्गारलीला-कथन करना नहीं है बल्कि जयन्तने

---

† १—'भादर' पाठ पाँड़ेजीका है। सब प्राचीन पोथियोंमें 'सुंदर' पाठ है। 'परभादर' एक शब्द मानकर 'शोभाके धारण करनेवाले' ऐसा अर्थ उन्होंने किया है। पंजाबीजी, करुणासिंधुजी और बैजनाथजीने भी 'परभादर' ही रखा है। अर्थात् कान्तिमान्। २—मिलान कीजिए वाल्मीकीयके "आबद्ध वनमालौ तौ कृतापीडावतंसकौ। भार्यापती तावचलं शोभयांचक्रतुर्भृशम्। २.८५.३१।" (प्रक्षिप्त है)।

जो कुछ किया उस समय श्रीरामजी क्या कर रहे थे, यह बताना ही मुख्य कारण है। 'सुहाए' अर्थात् कोमल, सुगन्धित, मनोहर, श्रीसीताजीके शरीरकान्तिके अनुकूल सौन्दर्य और सुख बढ़ानेमें समर्थ। 'निज कर बनाए'से सूचित किया कि ऐसी लीला श्रीलक्ष्मणजीकी अनुपस्थितिमें ही की जाती थी। 'राम' शब्द क्रीड़ाके सम्बन्धसे दिया।

टिप्पणी—१ (क) 'चुनि कुसुम''''पहिराए प्रभु' इति। श्रीरामजी 'तापस वेष विसेष उदासी' होकर वनवास कर रहे हैं, ऐसा ही कैकेयीका वरदान है। अतः वे राजसी भूषण-भोगोंका त्याग किए हुए हैं। इस कारण फूलोंके भूषण अपने हाथसे रचकर बनाते और सब सीताजीको पहनाते हैं। इनको प्रसन्न रखनेके लिये ऐसा करते हैं। ('कुसुम' कहकर वसन्तऋतु सूचित किया, क्योंकि कुसुम वसन्तमें फूलता है। स्वयं चुने क्योंकि भूषण बनानेवाला ही जान सकता है कि उसे किन-किन फूलोंकी कितनी आवश्यकता है। 'राम बनाए'से श्रीरामजीकी रसिकता, कलाज्ञान तथा शास्त्रनिष्ठा सूचित की। स्त्रियोंकी पूजा वस्त्रभूषणद्वारा करनेका शास्त्रविधान है। वि० त्रि०)। (ख) 'सुंदर' का अन्वय सबके साथ है। (ग) एक ओर तो कोमल, सुगन्धित, हलके फूल धारण कराना और दूसरी ओर कठोर शिलापर बैठना—यह दिखाकर जनाया कि आप कोमलता और कठोरता दोनोंको धारण किए हैं। सज्जनपर कोमल हैं और खलके लिए कठोर, यथा 'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि। चित खगेस रघुनाथ (राम) कर समुझि परै कहु काहि। ७। १९।' पुनः, यथा 'तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा' (अ०)। (घ) अ० १४०-१४२ में कहा था कि "नाह नेह नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी॥''''सीय लषन जेहि बिधि सुखु लहहीं। सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं॥''''जोगवहिं प्रभु सिय लषनहिं कैसे।", उसीको यहाँ चरितार्थ कर दिखाया कि अपने हाथों यह सेवा करके उनको अवधमिथिलाका सुख देते रहते हैं।

नोट—२ (क) पांडेजीका मत है कि पुष्पोंके भूषण पहनानेका भाव यह है कि रावण दो प्रकारसे प्रबल हैं। एक इससे कि वह अनादिशक्तिको इष्ट जानता है और दूसरे इससे कि शंकरजीको वह गुरु मानता है। अतः राजनीतिके अनुकूल श्रीरघुनाथजीने गंगा उतरकर शंकरजीकी पूजा कर उनको प्रसन्न किया और यहाँ श्रीजानकीजीको प्रसन्न कर रहे हैं। (ख) फूलोंके आभूषण धारण करानेमें यहाँ शृंगाररसकी पराकाष्ठा है। (रा०प्र०श०)। (ग) 'फटिकसिला' इति। गीतावलीमें इसका सुन्दर वर्णन है, यथा 'फटिकसिला मृदु बिसाल संकुल सुरतरु तमाल, ललित लता जाल हरति छबि बितान की। मंदाकिनि तटनि तीर मंजुल मृग बिहग भीर, धीर मुनि गिरा गँभीर सामगान की।१। मधुकर पिक बरहि मुखर, सुंदर गिरि निर्झर झर, जलकन घन छाँह, छन प्रभा न भान की। सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिबिधबाउ, जनु बिहार बाटिका नृप पंचबान की।२। बिरचित तहँ पर्नसाल, अति बिचित्र लषनलाल, निबसत जहँ नित कृपालु राम जानकी। निज कर राजीवनयन पल्लवदलरचित सयन प्यास परसपर पियूष प्रेम पान की।३।' (२.४९)। इसीसे 'सुंदर' विशेषण दिया। श्रीरामजीको अपना स्वामी जानकर शिलाएँ भी कठोरता छोड़ मृदुल हो गईं। पुनः श्रीसीतारामजीके निवाससे उसे सुन्दर कहा, यथा 'सो बनु सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति पावन पावन।''''सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू। २.१३९।'

प० प० प्र०—'सुंदर' इति। श्रीरामजी सान्द्रानन्दपयोद सौभगतनु' और सुन्दर पीताम्बर धारण किये हुए हैं। श्रीसीताजी तप्तकाञ्चनसन्निभा तेजस्वी गौरवर्णा हैं। स्फटिकशिलापर बैठनेसे श्याम, पीत और गौर वर्णोंके प्रतिबिंब तथा श्रीसीताजीके अंग-अंगपर चढ़ाये हुए चित्रविचित्र पुष्पाभरणोंके प्रतिबिंब जो शिलामें पड़े हैं उनसे वह कितनी सुन्दर प्रलोभनीय हो रही होगी यह तो 'सोइ जानइ जेहि नयनन्ह देखा'।

सुरपति-सुत धरि बायस बेषा। सठ चाहत रघुपति-बल देखा॥५॥
जिमि पिपीलिका सागर थाहा। महामंद मति पावन चाहा॥६॥

अर्थ—देवराज इन्द्रका पुत्र कौवेका वेष धरकर मूर्ख श्रीरघुपतिका बल देखना चाहता है॥५॥ जैसे

च्यूँटी समुद्रकी थाह लेना चाहे वैसे ही उस महानीचबुद्धि (जयन्त) ने उनके बलकी थाह पानी चाही ॥६॥

टिप्पणी—१ 'सुरपतिसुत धरि बायस बेषा' इति । (क) यहाँ उपदेश है । बुरा कर्म करनेवालेकी क्या गति होती है ! देखिए तो उसका दर्जा कि कहाँ तो समग्र देवताओंके राजाका पुत्र और कहाँ कौवेका रूप ! महात्माओंसे छल करनेकी बुद्धि करते ही 'सुरपतिसुत'-पदवीसे गिरकर इस दर्जेको पहुँचा, 'काग' हो गया—'मूढ़ मंदमति कारन कागा' । 'काग' कहलाया ।

२—'सुरपतिसुत' से जनाया कि—(क) एक तो दिव्य देहवाला, दूसरे इन्द्रका दुलारा, तीसरे इन्द्रके समान है । वायस पक्षियोंमें अधम है 'जाहि छुइ सुमति करहिं अस्नाना' । पुनः, (ख) सुरपति छली, मलिन और अविश्वासी, कौवेके समान आचरणवाला है, यथा 'काक समान पाकरिपु रीती । छली मलीन कतहुँ न प्रतीती ।२.३०२।', 'सरिस स्वान मघवान जुवानू ।२.३०२।'; उसीका यह पुत्र है। अतः काक वेष धारण किया ही चाहे । (ग) सुरपति छली है और इसने भी छल किया, यथा 'तासन आइ कीन्ह छल मूरख अवगुन गेह । ३.१।' आकाशवाणीसे जानकरभी कि परमात्माही रघुनाथ हुए हैं उसको प्रतीति नहीं है और मलिन है इसीसे इसने मलिन कर्म किया कि चोंच मारी । पुनः, भाव कि-(घ) अपने बाप इन्द्रके बलसे रामजीके बलकी परीक्षा करना चाहता है । [ रामचंद्रजीका बल जाँचना मामूली आदमीका काम नहीं था । यह सुरपतिका पुत्र था इससे यह जाँचनेके योग्य था । बड़ेसे बड़ा ही उनकी जाँच कर सकता है । इन्द्र या उसका और कोई नाम यहाँ दिया जाता तो यह खूबी न आती जो 'सुरपति' शब्दमें है । (दीनजी) ] (ङ) 'सुरपतिसुत' कहकर 'ऊँच-निवास नीच करतूती' इस सरस्वतीवाक्यको चरितार्थ किया । [ 'सुरपति' और 'रघुपति' शब्दोंको एकही चौपाईमें रखकर दिखाया कि 'सुरपति बसइ बाँह बल जाके' उन श्रीदशरथमहाराजके पुत्र रघुकुलावतंस श्रीरघुनाथजीके साथ इसकी ऐसी करनी कैसी बड़ी कृतघ्नता है । ( प० प० प्र० ) ]

३—'धरि बायस बेषा' । कौएका रूप क्यों धारण किया ? एक कारण ऊपर लिखागया । दूसरा, यह कि चाण्डालकर्म करने आया है, अतः चाण्डाल पक्षीका रूप धरा, यथा 'सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला । सपदि होहि पच्छी चंडाला । ७ । ११२ ।' जैसे लोमशजीने चाण्डालपक्षी होनेका शाप देते हुए भुशुण्डिजी को 'शठ' कहा, वैसेही यहाँ वक्ता लोग 'बायस बेष' धारण करनेके साथ इसे 'शठ' कहते हैं (मा० सं०) । पुनः, काक महामोहका स्वरूप है और सबसे बहुत सयाना है अतः काक बना । (रामसुधाग्रंथे) [मा०म०कार और कारण ये लिखते हैं—(क) भुशुण्डिजी काग हैं । वे रामजीके परम भक्त हैं । कदाचित् मेरा अपराध रामचन्द्रजी जान भी गए तो उनके नातेसे क्षमा करेंगे क्योंकि 'प्रनतकुटुंबपाल रघुराई' । वा, (ख) काग चिरजीवी होता है, इस शरीरमें मृत्युका भय नहीं । वा, (ग) जैसा कर्म करना हो उसके अनुकूल शरीर होना चाहिए। शरीर कोई और हो और कर्म उससे दूसरे शरीरका हो तो निन्दा होती है।—'लहइ निचाइहि नीच' । (घ) 'भवभंजनि पद तुंड रघु बपु धरि तुद केहि हेतु । जोग पित्रि लक्षन किधौं रक्षन को सिख देत । ३ ।' अर्थात् उसने अपने पिताका लक्षण ग्रहण किया अतः काक बना । अथवा, रघुनाथजी देवकार्यके लिये वनमें हैं और इसतरह निश्चिन्त होकर सो रहे हैं अतः उनको शिक्षा देनेके निमित्त चरणमें चोंच मारकर दिखाया कि वनमें इतनी निश्चिन्तताका फल यही होता है, आगेके लिये सावधान हो जाइए। (अ० दी०) ]

४—'सठ' कहा क्योंकि (क) छलसे बलकी परीक्षा चाहता है, कि अपना काम भी करलूँ और कोई पहचाने भी नहीं । यथा 'कपटसार सूची सहस बाँधि बचन परवास । करि दुराव चह चातुरी सो सठ तुलसीदास ।' वा, (ख) जो अथाह है, जो मन कर्म वचनसे भी सुनने समझने में नहीं आ सकता उसको (आँखोंसे) देखना चाहता है । वा, ( ग ) बुद्धि-विचारहीन है । मन्दोदरी-वाक्यसे मिलान कीजिए, यथा 'सुरपति सुत जानेउ बल थोरा' ।

५—बल देखने का कारण यह है कि 'समस्त देवता रावणवधकी प्रतीक्षा कर रहे हैं और रामचन्द्रजी तो रातदिन स्त्रीकी सेवामें लगे रहते हैं । संदेह हुआ कि ये ईश्वर कैसे हो सकते हैं ?' आदिमें जो कहा था

कि 'पावहिं मोह बिमूढ़' वही जयन्तको हुआ । मोहवश होकर उसने परीक्षा ली ।—( विशेष पिछली चौपाई-में लिखा गया है और आगे चौपाई ८ में भी गौड़जीकी टिप्पणी देखिए ) ।

६—"जिमि पिपीलिका सागर थाहा ।०" इति । अथाह बलको देखना चाहता है और वह भी काग-रूपसे, इसीपर सागर और च्यूँटीका उदाहरण देते हैं । जयन्त च्यूँटी सदृश है और रघुपति-बल समुद्र । यथा 'संकरचापु जहाज सागर रघुबरबाहुबल । १।२६१ ।', 'जाके रोष दुसह त्रिदोष दाह दूरि कीन्हें, पैयत न छत्री खोज खोजत खलक में । साहिषमती को नाथ साहसी सहसबाहु, समर समर्थ नाथ हेरिए हलक में ॥ सहित समाज महाराज सो जहाजराज, बूड़ि गयो जाके बल-बारिधि-छलक में···।क० ६।२५।' च्यूंटीकी उपमा देकर जनाया कि जैसे यह सर्वथा अशक्य है, वैसे ही जयन्त सर्वथा अशक्य है, जिस बलकी समस्त देवता दैत्य भी थाह नहीं पा सकते उसको भला यह क्या देखेगा ?—'देवाश्च दैत्याश्च०' । [ पुनः भाव कि जैसे एक हलोरेमें चींटीका पता नहीं वैसेही इसका पता न चलेगा । जहाँ मन बुद्धिका गमगुज़र नहीं वहाँ यह तनसे परीक्षा करना चाहता है । (खर्रा)] इसीसे 'महामंदमति' कहा । अत्यन्त मूर्ख और नीच विचारहीन बुद्धिवाला न होता तो ऐसा न करता । विशेष 'मूढ़ मंदमति कारन कागा' अगली चौपाई में देखिए ।

**सीताचरन चोंच हति भागा । मूढ़ मंदमति कारन कागा ॥ ७ ॥**

अर्थ—वह मूढ़, मन्दबुद्धिका कारण कौवा श्रीसीताजीके चरणोंमें चोंच मारकर भागा ॥ ७ ॥

गौड़जी—कौएने कई बार यह ढिठाई की होगी । परन्तु सरकारके जाग पड़नेके डरसे जगज्जननीने चोट सहली, निवारणके लिए एक अंगुली तक न उठायी ।—'सब तें सेवाधरमु कठोरा' ।

नोट—१ मा० म० कार का मत है कि 'चरण और चोंच दोनों मारे ।' ऐसा अर्थ करना चाहिए । कौआ चरण और चोंच दोनोंसे ही घाव करता है । चरण और चोंच दोनों मारे, इस अर्थमें कोई झगड़ा नहीं रह जाता, चाहे जहाँ मारा हो । अब प्रश्न यह होता है कि किस समय यह चरित हुआ ? करुणासिन्धु-जीका मत है कि रासविलास होचुकनेपर प्रातःकाल शिलापर सोगए थे, तभी यह चरित्र हुआ । श्रीसीताजीको चरण चोंच मारा, रामचन्द्रजीको नहीं, क्योंकि उसने सोचा कि उनको मारूँगा तो जानकीजी निवारण करेंगी ।

'सीताचरन चोंच०'

वाल्मीकिजीका मत है कि स्तनमें चोंच मारा । 'स तत्र पुनरेवाथ वायसः समुपागमत् । ततः सुप्तप्रबुद्धां मां राघवाङ्कात्समुत्थिताम् । २२ । वायसः सहसागम्य विददार स्तनान्तरे ॥ पुनः पुनरथोत्पत्य विददार स मां भृशम् । २३ । ततः समुत्थितो रामो मुक्तैः शोणितबिन्दुभिः ॥ २४ ॥' (५.३८) परन्तु शिवजीका मत है कि चरणमें चोंच मारा । अध्यात्म और आनन्दरामायणोंमें 'अंगुष्ठ' शब्द स्पष्ट दिया है । श्लोक इन दोनोंका एक ही है । केवल उत्तरार्द्धमें इतना फ़र्क है कि आनन्दरामायणमें 'सीतांगुष्ठ मृदु रक्तं' है और अध्यात्ममें 'मत्पादांगुष्ठमारक्तं' है । पहलेमें कविके वचन हैं, दूसरेमें सीताजीके वचन हैं जो उन्होंने हनुमान्‌जीसे कहे । अध्यात्म और वाल्मीकि दोनोंमें जयन्तकी कथा सुन्दरकाण्डमें है, अरण्यमें नहीं पर प्रसंग चित्रकूटकाही है । अध्यात्ममें महारानीजी कहती हैं कि उसी समय इन्द्रका पुत्र काकवेषमें वहाँ आया और मांसके लोभसे मेरे पैरके लाल-लाल अँगूठेको अपनी चोंच तथा पंजोंसे फाड़ डाला । तदनंतर जब श्रीरामचन्द्रजी जागे तो मेरे पैरमें घाव हुआ देखकर बोले । यथा 'ऐन्द्रः काकस्तदागत्य नखैस्तुण्डेन चासकृत । मत्पादांगुष्ठमारक्तं विददाराभिषा-शया ॥ ५४ ॥ ततो रामः प्रबुद्ध्याथ दृष्ट्वा पादं कृतव्रणम् ॥ ५५ ॥' ( अ० रा० सु० स० ३ )। जयदेवजीने भी ऐसा ही लिखा है । गोस्वामीजी शिवकथित रामचरितमानसकी कथा लिखते हैं । रा० प्र० आदि कई टीकाकारोंने वाल्मीकीयसे विरोधके भयसे 'सीताचरन' का अर्थ 'सीता आचरन' ऐसा पदच्छेद करके वाल्मीकिके मतानुसार अर्थ किया है । गौड़जी कहते हैं कि 'अँचरा पिलाना'=स्तन पिलाना । यह मुहावरा है । 'अंचल' का प्राकृतरूप 'आंचर' और 'अँचरा' दोनों है । अन्यत्र प्रयोगभी है 'दुहुँ आचरन्ह लगे मनि मोती' । इस प्रकार 'सीताचरन' का विच्छेद, 'सीता आचरन', इस प्रकार भी हो सकता है ।

☞ धन्य हैं गोसाईंजी कि जिन्होंने ऐसा पद यहाँ दिया जिससे अन्य ऋषियोंके मतका और विष्णु आदिके रामावतारोंके कल्पकी कथाओंका भी उसी शब्दमें सम्मान और समावेश हो जाता है।

प० प० प्र० का मत है कि यहाँ श्रीरामलक्ष्मणजीके भक्तोंका वैशिष्ट्य देखिए। जिन लक्ष्मणजीने कभी श्रीसीताजीके चरणोंके सिवा अन्य अंगोंपर एक बार भी दृष्टि नहीं डाली, उनके प्रेमी उपासक होकर श्रीमद्गोस्वामीजी चरणोंके अतिरिक्त किसी अन्य अंगका उल्लेख करते तो उनकी उपासनामें हीनता आ जाती। श्रीसीताजीके अंग-प्रत्यंगका वर्णन श्रीमानसमें कहीं भी नहीं मिलता। कृष्णोपासक इस मर्यादाकी ओर क्यों देखने लगे!

टिप्पणी—१ 'हति भागा' का भाव कि 'चोंच' मारकर भागकर दूर बैठ जाता था कि देखें क्या करते हैं। यह भाव आगे 'चला भाजि बायस भय पावा' से सिद्ध होता है। [ वाल्मी० ५.३८ के श्लोक १६ 'दारयन्स च मां काकस्तत्रैव परिलीयते' अर्थात् वह वहीं छिप जाता था, इससे भी यह भाव आ जाता है कि वह भागकर दूर बैठ गया। श्रीसीताजीके चरणोंमें चोंच मारी, इस तरह क्यों परीक्षा ली? यह सोचकर कि इनका अपराध करनेसे रामचन्द्रजी अपने पुरुषार्थमें कसर न करेंगे, जितना बल होगा सब लगा देंगे। (पं०)।

२—'मूढ़ मंदमति कारन कागा'। पहले चरणमें चोंच मारना कहकर दूसरे चरणमें उसका कारण कहा कि 'मूढ़ मंदमति' है। अपनी हानि लाभ न समझ पड़ी, अपने हाथों अपने मरणका उपाय रचा, अतः मूढ़ कहा। यथा 'जातुधान सुनि रावन बचना। लागे रचइ मूढ़ सोइ रचना। ५.२५।' रघुनाथजीका बल और प्रभुता नहीं जानी; अतः मतिमन्द कहा; यथा 'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जानि नहिं पाई।'; बल देखनेके लिये काक बना। (पुनः श्रीरामजी तो ऐसे सरल हैं कि चाहनेपर परीक्षा भी दे देते हैं जैसे सुग्रीवने जब 'दुंदुभि अस्थिताल' दिखाकर बालीका बल दिखाया तब 'बिनु प्रयास रघुनाथ ढहावा'। ऐसे प्रभुसे इसने कपट करके भगवत-भागवतापराध किया। पुनः 'लोकप होहिं बिलोकत जाके', 'जाकी कृपा कटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ' उनके चरणकमलोंको पाकर भी उनकी अलभ्य कृपा न प्राप्त करके उनपर प्रहार किया। अतः मूढ़ और मन्दमति कहा। वि० त्रि०)।

नोट—२ उस समय लक्ष्मणजी कहाँ थे, जो उन्होंने रक्षा न की? इसका उत्तर यह है कि यह एकान्त स्थल है, इससे लक्ष्मणजी यहाँ नहीं हैं। दूसरे, जयन्त इसीलिए कौआ बना कि इसका सब घरोंमें प्रवेश है, किसीको कुछ संदेह नहीं होगा। तीसरे लक्ष्मणजी फलफूल लेने गए होंगे। इत्यादि।

३—प्रथम चरणका अन्वय दो प्रकारसे होता है—'मूढ़ काग मन्दमतिके कारण'। २—मूढ़ और मंदमति कारण जो काग है अर्थात् मन्दबुद्धि ही जिसका कारण है वह काग। भाव यह कि मन्दबुद्धि न होता तो कौआ न बनता। वा, मन्दबुद्धिकी उत्पत्तिका स्थान है। पंजाबीजी अर्थ करते हैं कि जो मूढ़ है, मंदबुद्धि है और कारणमात्र जो काग बना हुआ है। बाबा हरीदासजी कहते हैं कि पक्षीको मूढ़ आदि न कहना चाहिए अतः कहा कि 'कारन कागा' अर्थात् यह वस्तुतः है तो जयन्त ही पर कारणसे काग बना है।

**चला रुधिर रघुनायक जाना। सींक धनुष सायक संधाना ॥८॥**

अर्थ—खून बह चला तब रघुनाथजीने जाना। धनुषपर सींकका बाण रखकर चलाया ॥८॥

❀ "चला रुधिर रघुनायक जाना" ❀

पु० रा० कु०—१ (क) 'जाना'। क्या? यह कि सुरपतिसुत है, बायस वेष धरकर बलकी परीक्षा लेने आया और उसीने इनके चरणमें चोंच मारी जिससे यह रुधिर निकला—यह सब जाना। (ख) 'जाना' पद देकर जनाया कि जानकीजीने स्वयं उनसे न कहा; ऐसा सुशील स्वभाव है। इसी प्रकार जब रघुनाथजीसे कौशल्या अम्बाजीने पूछा था कि 'को दिनकरकुल भयउ कृसानू। २.५४।' तब उनका सुशील स्वभाव देखिए कि उन्होंने भी स्वयं इसका उत्तर न दिया, सचिवसुतसे इशारा कर दिया तब उसने कैकेयीके वरदानका हाल कहा [वैसेही यहाँ सुरपतिकुलके नाशकका हाल श्रीसीताजीने न कहा। रामचन्द्रजीने स्वयं जान लिया क्योंकि वे 'रघु'

अर्थात् जीवमात्रके नायक अर्थात् स्वामी हैं। वाल्मी० सुं० स० ३८ से भी यह भाव सिद्ध होता है। यथा "केन ते नागनासोरु विक्षतं वै स्तनान्तरम्। २६। कः क्रीडति सरोषेण पञ्चवक्त्रेण भोगिना। वीक्षमाणस्ततस्तं वै वायसं समुदैक्षत। २७। नखैः सरुधिरैस्तीक्ष्णैर्मामेवाभिमुखं स्थितम्। २८।" रघुनाथजीने पूछा कि यह किसने किया? कौन पंचमुखवाले सरोष सर्पसे क्रीड़ा करना चाहता है? पर वे कुछ न बोलीं। उन्होंने स्वयं काकको, चोंचमें रुधिर लगा हुआ, देखा कि पास बैठा है। अध्यात्ममें भी ऐसा ही है—'केन भद्रे कृतं चैतद्विप्रियं मे दुरात्मना।५५। इत्युक्त्वा पुरतो पश्यद्वायसं मां पुनः पुनः।५६।' (सुं० सर्ग ३)]

पाँ०—रघुनाथजी जानकीजीकी गोदमें सिर रखे सो रहे थे, उसी अवसरमें जयन्तने चोंच मारी। परन्तु रघुनाथजीके जाग उठने, पतिकी निद्रा भंग होनेके भयसे उन्होंने अङ्ग न हिलाया। जब रुधिर बहकर पीठमें लगा तब जागकर उन्होंने जाना। 'जाना' श्लेष पद है। रुधिरका बहना और परीक्षार्थ आना दोनों जाना। (प्र०)।

प० प० प्र०—'रघुनायक' शब्द देकर जनाया कि एक साधारण पुरुषका भी कर्तव्य है कि कुलाङ्गनाकी इज्जतको रक्षा करे और अत्याचारीको दण्ड दे, तब भला रघुवंशी वीर, रघुकुलका स्वामी होकर एक रघुवंशीय सतीके साथ अत्याचार देखकर भी शान्त संन्यासीके समान बैठा रह जाय यह कब सम्भव है? उसे दण्ड अवश्य देंगे। इस शब्दसे यह भी जनाया कि रघुवंशी राजा शरणपाल भी होते हैं, शरणमें आने पर उसपर दया भी करेंगे।

नोट—१ यहाँ एक टीकाकारने यह सन्देह करके कि "चला" तो रुधिरके साथ सम्बद्ध है, रघुनाथजीने जाना तो क्या जाना? 'बैठे फटिकसिला पर सुंदर', इस पूर्वोक्त वचनसे रघुनाथजीके शयनकी तो संभावना ही नहीं है? अतएव यहाँ 'जाना' कि हमारी परीक्षा लेने आया है यही भाव है।" इसके उत्तर सुनिए—(१) वाल्मीकीय, अध्यात्म, आदि प्रायः सभीमें सीताजीकी गोदमें रघुनाथजीका सोना कहा गया है, यथा 'पर्यायेण च सुप्तस्त्वं देव्यंके भरताग्रज'—(वाल्मी० ५।६७।४), 'ततः समुत्थितो रामो मुक्तैः शोणितबिन्दुभिः' (५।३८।२४) और मदंके शिर आधाय निद्राति रघुनन्दनः।५३।' (अध्यात्मे ५।३)। (२) दीनजीका मत है कि "बैठे फटिकसिला०" वह प्रसंग वहींपर खत्म हो गया। उसके पश्चात् परीक्षा प्रसंग है। (३) गौड़जी लिखते हैं कि "बैठेकी बादकी घटनाओंको व्यंजनासे कथा द्वारा ही बताया गया है। इस घटनामें लक्ष्मणजीकी चर्चा नहीं है। वह कहीं गये थे। मयंककार कहते हैं कि कामदगिरिकी प्रदक्षिणाको गये थे। भगवान्‌को रुधिरके चलनेपर ही जयन्तकी ढिठाईका पता चला। बैठे होते तो उसकी हिम्मत ही क्यों पड़ती, पता चलनेकी तो बात ही क्या? सरकार श्रीजीकी गोदमें सिर रखकर सो रहे थे। यह एकान्तकी बात थी। इसका शब्दोंमें वर्णन अदबके खिलाफ़ समझकर व्यंजनासे काम लिया। "आचरन" को भी किस नजाकतसे "सीता" के साथ 'संधि' करके कैसा छिपाया है। बालक भक्त निःशंक चर्चा कर सकता है, परन्तु शिवजी ज्ञानी भक्त हैं वह 'चरन' से ऊँचे निगाह उठा नहीं सकते। अतः चरनके कहनेमें भी 'आचरन' किस खूबीसे छिपा है! जब रुधिर टपका सरकारके मुखारविन्दपर, तभी वह तुरन्त उठे। वह लेटे थे इसीलिये तरकश पीठमें बँधा न था। सींक धनुषपर चढ़ाकर ब्रह्मास्त्र चलाया।

टिप्पणी—१ "सींक धनुष सायक संधाना" इति। (क) जयन्त परीक्षा लेने आया है। श्रीरामजीने सींकका धनुष बनाकर उसपर सींकका बाण संधान किया। इसमें भाव यह है कि परीक्षा लेने आया है तो ऐसे बाणका भी अद्भुत प्रभाव देखकर उसको विश्वास हो जायगा कि मैंने बड़ी मूर्खता की कि इनके बलकी परीक्षा लेनी चाही, भला इनके असली बाण और बलकी महिमा कौन जान सकता है? पुनः, (ख) तुच्छ जानकर सींक ऐसी तुच्छ वस्तुका ही प्रयोग किया। पुनः, (ग) दिखाया कि काम पुष्पधनुष्बाणसे ही सारे ब्रह्माण्डको वश कर लेता है। यथा 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे।१।२५७' और हम सींकमात्रसे सारे भुवनोंको कँपा दे सकते हैं। पुनः, (घ) किंचित् ही बल दिखाना है, यथा 'सुरपति-

सुत जानेउ बल थोरा । ६।३५ ।' अतः सींकबाण चलाया । रघुनाथजीके बाण अमोघ हैं और जयन्तको मारना नहीं है, अतः शार्ङ्गबाण नहीं चलाया ।—(पं०) ।

नोट—१ सा० शं० कारका मत है कि "निज धनुष बाण निशाचरोंके लिए हैं । यह देवता है, इसके लिए देवबाण ही चाहिए । जयन्त भी देवता और ब्रह्मा भी देवता, ब्रह्माका बाण कुश है, अतएव कुशका बाण चलाया । पुनः, सारी सृष्टि ब्रह्माकी रची है । ब्रह्ममंत्रसे मंत्रित करके चलाया जिसमें ब्रह्मसृष्टिभरमें जा सके, कहीं जयन्तका पीछा न छोड़े" । पं० रा० व० श० जी कहते हैं कि यह विहारस्थल था, इसीसे यहाँ धनुष-बाण साथमें न था । त्रिपाठीजीका मत है कि इससे वह समझेगा कि रामजीने मुझे कौवा समझा, इसीसे सींकसे मुझे डरवाते हैं ।

२ श्रीरघुनाथजीने यह सींक (कुश) अपने कुशासनसे निकाली थी जिसपर वे लेटे हुए थे । उस कुशको ही उन्होंने ब्रह्मास्त्रमंत्रसे अभिमंत्रित करके उसपर फेंका । मंत्रित होनेसे वह प्रलयकालीन अग्निके समान जलता हुआ उस कौवेकी ओर बढ़ा । यथा 'स दर्भं संस्तराद्गृह्य ब्राह्मेणास्त्रेण योजयत् । स दीप्त इव कालाग्निर्जज्वालाभिमुखो द्विजम्' (वाल्मी० ५.३८।३०-३१) । पुनः, अध्यात्मे यथा 'तृणमेकमुपादाय दिव्यास्त्रेणाभियोज्य तत् । चिक्षेप लीलया रामो वायसोपरि तज्ज्वलम्'—(५.३.५७) । एक कारण सींकबाणका यह भी हो सकता है कि जब तिनकेसे काम चल सकता है तब भारी वस्तुसे काम न लेना चाहिए । जैसा पंचतंत्रमें कहा है ।—"तृणेन कार्य्यं भवतीश्वराणां किमङ्गवाग्हस्तवता नरेण ।।" अर्थात् जब तिनके द्वारा ही समर्थ लोगोंका काम होता है तब अंग, वाणी और हाथवाले मनुष्य द्वारा होना तो कोई बात ही नहीं । इससे जयन्तको मालूम हो जायगा कि सींकमें इतना बल है तब इनके बलकी थाह क्या मिल सकती है, ये क्या नहीं कर सकेंगे ?

दो०—अति कृपाल रघुनायक सदा दीन पर नेह ।
ता सन आइ कीन्ह छलु मूरख अवगुन गेह ।।१।।

अर्थ—अत्यन्त कृपालु रघुकुलके राजा जिनका दीनोंपर सदा स्नेह रहता है, उनसे भी अवगुणधाम मूर्ख जयन्तने आकर छल किया ।।१।।

टिप्पणी—१ (क) 'अति कृपाल०', यथा 'मान्य मीत सों हित चहै सो न छुवै छल छाँह । ससि त्रिसंकु कैकेइ गति, लखि तुलसी मन माँह ।' ( दोहावली ३२४ ) । (ख) 'सदा दीन पर नेह' और 'अति कृपाल' के साथ 'रघुनायक' पद दिया । रघुजी सर्वस्व दान करके मिट्टीके पात्रसे काम चलाते थे, उस समय भी उन्होंने दया और दीनपर प्रेम न छोड़ा था* और ये तो उनके भी स्वामी हैं । इनकी कृपालुताका क्या कहना ?

* श्रीरघुजी महाराजकी कथा इस प्रकार है कि इन्होंने एक बार विश्वजित यज्ञ कराया । इस यज्ञमें दिग्विजय किया जाता है और तत्पश्चात् यज्ञमें सर्वस्व दक्षिणा दिये जानेका विधान है । राजाने दक्षिणामें ब्राह्मणोंको सर्वस्व दे दिया, अपने पास कुछ न रक्खा । इसके पश्चात् वर्तन्तु ऋषिके शिष्य कौत्सजी श्रीरघुजीके पास गुरुदक्षिणाके लिये चौदह करोड़ स्वर्णमुद्रा माँगनेको आए । राजाने उनका पूजन सत्कार मिट्टीके पात्रोंद्वारा करके उनसे पूछा कि क्या आज्ञा है । ऋषि मृत्तिकापात्रोंसे पूजा देखकर ही निराश हो गए और बोले कि 'अब मैं क्या माँगू', अन्यत्र जाता हूँ । राजन् ! आपके कुलमें भक्ति चली आती है, आपके देनेमें संदेह नहीं, पर मुझे ही कुछ देर हो गई । मैं परिस्थिति देखकर जाता हूँ । राजाने कहा कि आप दो दिन यज्ञशालामें ठहरें, निराश जानेमें हमारा अपमान है । बताइये मैं क्या सेवा करूँ ? ऋषिके बतानेपर उन्होंने रात्रिमें रथमें प्रस्थान रख दिया कि प्रातः कुबेरपर चढ़ाई करेंगे । कुबेरको यह खबर हुई तो उन्होंने रात्रिमें ही मुद्राओंकी वर्षा कर दी । राजाने ऋषिसे कहा कि आप सब ले जायँ । (रघुवंश सर्ग ५) । रघु महाराजके जन्मपर भी पाँच उच्च नक्षत्र पड़े थे ।—रघुवंशकी यह कथा स्कन्दपुराणसे ली गई जान पड़ती है । भेद केवल इतना है कि स्कंदपुराणमें कौत्सको विश्वामित्रजीका शिष्य कहा है और रघुवंशमें वर्तन्तुका । संभव है कि यह भी उन्हींका एक नाम हो । कुबेरजीने दूतद्वारा रघुजीको संतुष्ट कर स्वर्णकी अक्षय वर्षा कर दी ।

इन्होंने अवधराज्यका सुख त्यागकर आर्त्त देवता, मुनि, पृथ्वी आदिके लिए उदासी वेष धारण कर वनके कष्ट सहे। पुनः, रघु = जीव। रघुनायक हैं, जीवमात्रके स्वामी हैं; उनसे छल किया। ( ग ) 'अति कृपाल' से दयालुता और 'रघुनायक' से 'लायकता' (योग्यता) जनायी, यथा 'पुनि मन वचन कर्म रघुनायक। चरन-कमल बंदौं सब लायक ।१.१८।' पुनः, कृपालुता और 'लायकता' दीनोंपर है, अतः 'दीनपर नेह' कहा, यथा 'येहि दरबार दीनको आदर रीति सदा चलि आई'। (वि० १६५)। ( यदि दीन होकर वह आता और बलमें सन्देह करता तो वे कृपापूर्वक उसे बलका परिचय करा देते पर उसने मूर्खतासे छल किया। छल तो उससे किया जाता है जिससे सरलतासे काम न निकले। वि० त्रि०)।

नोट—१ "अति कृपाल रघुनायक सदा दीनपर नेह" इति। संपूर्ण ब्रह्मांडोंकी मातेश्वरी श्रीकिशोरीजीके चरणोंमें मोहवश चोंचका प्रहार करनेपर भी महापराधी जयन्तको जीवनदान मिला—यह केवल दीन होकर शरणमें गिरनेपर—'अब प्रभु पाहि सरन तकि आएउँ'। श्रीसुतीक्ष्णजीने भी अपने भक्तिभावका गर्व एक तरफ़ रखकर दीनताका अवलंबन लिया है—'हे बिधि दीनबंधु रघुराया।' इत्यादि। [दीनतापूरित सुतीक्ष्णजी के शब्द प्रत्येक आर्त्तव्यक्तिको अपने हृदयपटलपर ख़ूब जमाकर जड़ लेने चाहिएँ।] मारीचके मारेजानेपर देवतोंने आपमें दीनबंधुता हीका दिग्दर्शन पाया।—'निज पद दीन्ह असुर कहुँ दीनबंधु रघुनाथ'। वालीने धर्मकी ओट ले अपना हनन अन्याय बताया पर जब उसका अन्याय प्रगटकर उसका मुँह श्रीसरकारने बंद कर दिया तब तो वह दीन होकर श्रीकरुणासिंधुके शरणागतवत्सल बानेकी याद दिलाने लगा। यह कहने भरकी देर थी वही भुजदंड जो उसे भूतल परसे उठा देनेको आतुर थे उसके शीशपर फिरने लगे। श्रीसरकारने उसे अजरअमर कर देनेकी इच्छा भी प्रकाशित की।...यह उसकी इस दीनताका ही परिणाम है कि उसने अपने सब मनोरथ पा लिए और हँसते-हँसते साकेतवासी हुआ। ☞ इससे श्रीरामजीके कृपापात्र बननेका नुसख़ा यहाँ बताया कि दीन बन जाओ, बस फिर वे दीनबन्धु तो हैं ही।

प० प० प्र०—इस काण्डमें 'कृपाल' 'दयाल' शब्दका प्रयोग जिस प्रमाणमें मिलता है इतने बड़े प्रमाणमें अन्यत्र नहीं मिलता। मायापुरीके मायाके जालसे छूटनेके लिये भगवान्‌की कृपाही एकमात्र अमोघ साधन है। [ 'दयाल' शब्द तो इस कांडमें एकही बार प्रायः देखा जाता है—'त्राहि त्राहि दयाल रघुराई। ३।२।११।' और 'कृपाल' शब्द पाँच बार आया है। हाँ, लंकामें 'कृपाल' चौदह बार और उत्तरमें सत्रह बार है। 'दयाल' शब्द लंकामें दो बार और उत्तरमें पाँच बार है। ( मा० सं० ) ]

टिप्पणी—२ 'कीन्ह छलु मूरख...' इति। ऐसे दीनोंके स्नेहीके साथ छल किया इसका कारण बताते हैं कि वह मूर्ख है, अवगुणधाम है। ये वक्ताओंके वचन हैं। वे कहते हैं कि जिसके निकट समस्त सुखोंकी प्राप्ति है वहाँ यह सब दुःखोंका पात्र स्वयं बना, इसका कारण "मूरख०" है।

> प्रेरित मंत्र ब्रह्मसर धावा। चला भाजि बायस भय पावा ॥१॥
> धरि निज रूप गएउ पितु पाहीं। रामबिमुख राखा तेहि नाहीं ॥२॥
> भा निरास उपजी मन त्रासा। जथा चक्र-भय रिषि दुर्बासा ॥३॥

शब्दार्थ—'प्रेरित' = प्रेरणा किया हुआ, चलाया हुआ।

अर्थ—ब्रह्मास्त्रमंत्रसे प्रेरित वह ब्रह्मबाण दौड़ा। कौवा भयभीत हो गया और भाग चला ॥१॥ अपना (असली) रूप धरकर वह पिताके पास गया। रामविरोधी होनेसे उसने उसको न रखा ॥२॥ तब वह निराश हो गया, उसके मनमें भय उत्पन्न हो गया जैसा दुर्वासा ऋषिको चक्रसे भय उत्पन्न हुआ था ॥३॥

टिप्पणी—१ 'प्रेरित मंत्र ब्रह्म सर' इति। (क) ब्रह्मास्त्रसे बड़ा अस्त्र नहीं है और इसकी गति सर्वत्र है। मंत्रसे प्रेरित करके सींकको चलाया, देखनेमें वह सींक ही दिखती है पर उसमें तेज ब्रह्मास्त्रका है. सींक होते हुए भी वह ब्रह्मसर ही है। ब्रह्मास्त्र की महिमा अपार है, यथा 'ब्रह्म अस्त्र तेहि साधा कपि मन कीन्ह विचार

जौं न ब्रह्मसर मानउँ महिमा मिटै अपार ।५.१८।' (ख) जैसे वह देखनेमें तो कौआ था और है जयन्त, वैसे ही यह देखनेमें सींक थी और है ब्रह्मसर । [ (ग) वाल्मीकीयमें भी 'ब्राह्मेणाऽस्त्रेण योजयत्' लिखा है। वह बाण प्रलयकालकी अग्निके समान जलता हुआ देख पड़ता था । श्लोक पूर्व आ चुका है । ]

२ 'धरि निज रूप'—अपना रूप धरकर गया जिसमें इन्द्र पहचान ले कि मेरा पुत्र है । पुत्रको देखकर रक्षा करेगा । पिताको पुत्र प्यारा होता है, यथा 'सुत की प्रीति प्रतीति मीतकी । (वि० २६८) । उसके समान दूसरा पालक नहीं, अतः 'पितु पाहीं' कहा ।

३ 'राम बिमुख राखा तेहि नाहीं'; यथा 'राम बिमुख थलु नरक न लहहीं ।२।२५२।' जब नरकमें भी उसको जगह नहीं मिलती तब भला स्वर्गमें कैसे रहनेको जगह मिले । पुनः यथा 'बरषा को गोवर भयेउ को चह को कर प्रीति । तुलसी तू अनुभवहि अब रामबिमुख की रीति ।' (दोहावली ७३) । पुनः इससे जनाया कि रामविमुखता ऐसा बड़ा पाप है कि नरक भी नाक सिकोड़ता है, यथा 'अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी । सुनि अघ नरकहु नाक सकोरी' ।

४ 'भा निरास उपजी मन त्रासा…' इति । (क) अभी तक पिताका भरोसा था, जब उसने शरणमें न रखा तब भयभीत हो गया और चिन्ता हुई, क्योंकि जब पिताने ही रक्षा न की तब और कौन करेगा ? पुनः यह कि वह देवताओंका राजा है, राजा ही न रक्षा कर सका तो प्रजा क्या रक्षा करेगी ? पुनः [यह भी अनुमान होता है कि रक्षा करनी तो दूर रही वह स्वयं इसे मारने चला इसीसे वह हताश हो गया—यह भाव आगेके 'मातु मृत्यु पितु समन समाना…' से निकलता है । पहले 'भय' ही था अब 'त्रास' हुआ ] (ख) यहाँ तक बलकी परीक्षा दी, बल देखने आया था, अतः बल दिखाया कि 'ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका' में गया, पर किसीने शरणमें न लिया ।

५ (क) 'जथा चक्र भय रिषि दुर्बासा' से दिखाया कि वहाँ तो विष्णुभगवान्का सुदर्शनचक्र था और यहाँ वही भय सींकबाणसे उत्पन्न हुआ, यह रघुनाथजीका प्रभाव दिखाया । ☞यहाँ उपदेश है कि भक्तका अपराध न करे, यथा 'जो अपराध भगत कर करई । रामरोष पावक सो जरई ।२.२१८।' राजा अम्बरीष क्षत्रिय थे । उनका अपराध करनेसे ब्राह्मण ( ऋषि दुर्वासा ) पर चक्र चला और ब्राह्मणको क्षत्रियके पैरोंपर गिराया । यहाँ श्रीसीताजीका अपराध किया तो देवराजके पुत्रपर ब्रह्मसरने धावा किया । पुनः, ( ख ) इस दृष्टान्तसे कालका भी नियम स्थिर हुआ । चक्र वर्षभरमें लौटा वैसे ही यहाँ जयन्तका पीछा एक सालतक बराबर ब्रह्मसरने किया । पूरी कथा अ० २१८ (७) में देखिये । पुनः, (ग) [प्र०---इस उदाहरणसे जनाया कि जिसका अपराध किया है उसीकी शरण जानेपर प्राण बचेंगे । वहाँ अंबरीषकी शरण जानेपर रक्षा हुई । यहाँ श्रीसीताजीकी कृपासे उसकी रक्षा हुई । ]

**ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका । फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका ।।४।।**
**काहू बैठन कहा न ओही । राखि को सकै राम कर द्रोही ।।५।।**

अर्थ—ब्रह्मलोक, शिवलोक आदि समस्त लोकोंमें थका हुआ, भय और शोकसे व्याकुल फिरा ।।४।। किसीने उसे बैठने तकको न कहा । ( इसका कारण वक्ता लोग कहते हैं कि ) श्रीरामजीके द्रोहीको कौन रख सकता है ? अर्थात् कोई नहीं । ५।।

नोट---१ जयन्तका प्रसंग इस कांडके आदिमें देकर अरण्यकांडकी कथा जना दी, उसका बीज यहाँ डाल दिया कि इसमें सीताहरण होगा और तब सुतीक्ष्णमुनिको रावणवधका पूर्ण विश्वास होगा । क्योंकि किंचित् अपराधसे देवराजके पुत्रका यह हाल हुआ तब त्रिलोकीका शत्रु सीताहरण करके कब बच सकता है ?

२ 'प्रेरित मंत्र ब्रह्मसर धावा ।…राखा तेहि नाहीं ।', 'ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका० ।' से मिलते हुए श्लोक ये हैं । यथा 'ततस्तं वायसं दर्भः सोऽम्बरेऽनुजगाम ह । अनुसृष्टस्तदा काको जगाम विविधां गतिम् ।३२। त्राणकाम

इमं लोकं सर्वं वै विचचार ह । स पित्रा च परित्यक्तः सुरैः सर्वैर्महर्षिभिः ।३३। त्रींल्लोकान्संपरिक्रम्य तमेव शरणं गतः ।३४।' (वाल्मी० ५.३८)। "भीतैश्च संपरित्यक्तः सुरैः सर्वैश्च वायसः । त्रींल्लोकान्संपरिक्रम्य त्रातारं नाधिगच्छति । वाल्मी० ५.६७.१४।', "अभ्यद्रवद्वायसश्च भीतो लोकान् भ्रमन्पुनः । इन्द्रब्रह्मादिभिश्चापि न शक्यो रक्षितुं तदा ।५८।" (अ० रा० ५.३)। अर्थात् वह कुश पक्षीके पीछे आकाशमें गया। बाण काकका पीछा करने लगा। रक्षाके लिये वह काक कई प्रकारसे चला। सब लोकोंमें वह फिर आया। उसके पिता तथा सभी महर्षियोंने उसका त्याग कर दिया। तीनों लोकोंमें घूमकर वह श्रीरामजीकी शरणमें आया। ३२-३४। सब देवताओंने डरकर उस कौएका परित्याग कर दिया। वह तीनों लोकोंमें घूम आया पर उसे कोई रक्षक न मिला।१४। वह भयभीत होकर भागता हुआ तीनों लोकोंमें फिरा किंतु जब इन्द्र और ब्रह्मादिसे भी उसकी रक्षा न हो सकी तब वह बहुत भयभीत हो गया.... ।५८,५९।'

टिप्पणी--१ (क) "ब्रह्मधाम सिवपुर०"। यथा "जौं खल भयेसि रामकर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही ।६.२७।" (ख) 'सब लोका' अर्थात् चौदहो भुवनों वा त्रैलोक्यमें। 'लोका' पद देकर जनाया कि 'रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी' इन अष्ट लोकपालोंके लोकोंमें भी गया और उनसे भी शरण माँगी कि आप सब लोकपाल कहलाते हैं, हमारा पालन कीजिए, मैं आपके लोकमें हूँ। इस शब्दसे वैकुण्ठ, महावैकुण्ठ, किन्नरलोक आदि सभी जना दिए। [प्र० स्वामीका मत है कि यहाँ सब 'लोका' कहकर आगे 'मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष० ।६।' इत्यादिमें उन लोकोंके नाम बता दिये हैं। 'मृत्यु' से मर्त्यलोक, 'पितु' से पितृलोक, 'समन' से यमलोक और 'सुधा' से इन्द्रलोक बताया। 'मित्र' से सूर्यलोक, 'बिबुधनदी' से ब्रह्मलोक क्योंकि गंगाजीकी प्रथमोत्पत्ति तो ब्रह्मलोकमें ही हुई और वहाँसे शिवजीके मस्तकपर आनेसे 'शिवलोक' भी इसीमें आ गया। इन्द्र और ब्रह्मलोकोंका उल्लेख करके सप्त स्वर्ग, यम और इन्द्रलोकोंके निर्देशसे अष्ट दिक्पालोंके लोकोंका निर्देश किया। अष्टदिक्पालोंमें सूर्य-चन्द्र-लोकोंका अन्तर्भाव न होनेसे सूर्य और पितृलोकोंका स्वतंत्र उल्लेख किया। शिवपुर इन सबसे अलग है अतः उसे स्वतंत्र लिखा।] (ग) ब्रह्मधाममें जानेका कारण यह भी होसकता है कि यह सींकास्त्र ब्रह्मास्त्रमंत्रसे अभिमंत्रित है, अतः ब्रह्मा अवश्य इसका निवारण करेंगे। शिवलोकमें इससे गया कि शिवजी संहारके देवता हैं, प्रलय करनेको समर्थ हैं, महामृत्युंजय हैं, मृत्युको हटा देते हैं, अतः वे अवश्य रक्षा करेंगे। (खर्रा)। (घ) 'श्रमित' क्योंकि करोड़ों योजन चला। चार प्रकारका दण्ड उसे हुआ। श्रम, व्याकुलता, भय और शोक। शोक कि बुरा किया अब जीता नहीं बच सकता। भय अस्त्रका कि यह जला डालेगा, छोड़ेगा नहीं।

२—"काहू बैठन कहा न ओही ।०" इति। (क) यहाँ यह शङ्का होती है कि प्रभुका वचन है कि "सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि। ते नर पावँर पापमय तिन्हहिं बिलोकत हानि ।५।४३।', यहाँ उस वाक्यका विरोध होता है ?' उत्तर यह है कि धर्मकी गति बड़ी ही सूक्ष्म है। ईश्वर, साधु और ब्राह्मणके विरोधीकी रक्षा करना अधर्म है। इनका रक्षक स्वयं भी विरोधी माना जाता है। इनके संबन्धमें शरणागत-पालन-धर्म अधर्म है। इसी कारण ग्रन्थकार भी रामविरोधीका यहाँ नाम नहीं लेते—'ओही' अनादरसूचक सर्वनामकाही प्रयोग उन्होंने किया है। (ख) प्रथम चरणमें कहा कि बैठनेको भी किसीने न कहा। जब बैठने तकको न कहा तब रखना तो बहुत दूर रहा। अतः यह कहकर तब कहा कि 'राखि०'। (ग) 'राखि को सकै रामकर द्रोही' से जनाया कि रामविरोधी सबका द्रोही है। जिसे अपनी भी वही दुर्दशा करानी हो वही रक्षाका साहस कर सके। यथा 'जौं खल भएसि रामकर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही ।६।२७।२।'

नोट--३ श्रीरामजी सर्वात्मा हैं, सबके प्रेरक हैं, यथा 'उर प्रेरक रघुबंसबिभूषन', 'प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम ।२।२९०।', 'विश्वात्मा' (वि० ५६), अतः इनका द्रोही जीवमात्रका द्रोही हुआ। इसीसे किसीने उसकी रक्षा न की, रक्षा तो दूर रही उसे बैठनेको भी न कहा। फिर यदि कोई रक्षा करना भी चाहता तो यह असंभव था, यथा "सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहि समर न जीतनिहारा ।२।१८९।७',

"देवाश्च दैत्याश्च निशाचरेन्द्र गंधर्वविद्याधरनागयक्षाः । रामस्य लोकत्रयनायकस्य स्थातुं न शक्ताः समरेषु सर्वे ॥ ४३॥
ब्रह्मा स्वयंभूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा । इन्द्रो महेंद्रः सुरनायको वा स्थातुं न शक्ता युधि राघवस्य ॥४४॥"
( वाल्मी० ५।५१ )। ( ये वाक्य श्रीहनुमान्‌जीके हैं। वे रावणसे कह रहे हैं ) हे निशाचरेन्द्र ! युद्धमें तीनों लोकोंके स्वामी श्रीरामजीके सामने देवता, दैत्य, गंधर्व, विद्याधर, नाग, यक्ष कोई भी नहीं ठहर सकते। और की कौन कहे चतुर्मुख ब्रह्मा, त्रिपुरान्तक तथा त्रिनेत्र रुद्र, सुरनायक महेन्द्र भी युद्धमें श्रीरामजीका सामना नहीं कर सकते।

नोट—४ पद्मपुराणमें शिवजीने कहा है कि वह कौआ भयसे पीड़ित हो तीनों लोकोंमें घूमता फिरा। जहाँ-जहाँ वह शरण लेनेके लिये जाता वहीं-वहीं वह भयानक अस्त्र तुरंत पहुँच जाता था। रुद्रादि समस्त देवता, दानव और मनीषी मुनि यही उत्तर देते थे कि 'हमलोग तुम्हारी रक्षा करनेमें असमर्थ हैं, यथा "तं दृष्ट्वा वायसं सर्वे रुद्राद्या देवदानवाः । न शक्ताः स्मो वयं त्रातुमिति प्राहुर्मनीषिणः ।२०२। अ० २४२ उत्तरखण्ड ।"; यह भाव 'बैठन कहा न ओही' में आ जाता है।

**मातु मृत्यु पितु समन समाना । सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना ॥ ६ ॥**
**मित्र करै सत रिपु कै करनी । ता कहुं बिबुधनदी बैतरनी ॥ ७ ॥**
**सब जगु ताहि अनलहु ते ताता । जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता ॥ ८ ॥**

शब्दार्थ—समन ( शमन ) = यम । हरिजान = हरिकी सवारी, गरुड़ । बिबुध = देवता, देव । बिबुध-नदी=सुरसरि, गंगा । बैतरनी=वैतरणी। यह एक प्रसिद्ध पौराणिक नदी है जो यमके द्वारपर मानी जाती है। कहते हैं कि यह नदी बहुत तेज बहती है, इसका जल बहुतही गर्म और बदबूदार है, और उसमें हड्डियां, लहू तथा बाल आदि भरे हुए हैं। यहभी मानाजाता है कि प्राणीको मरनेपर पहले यह नदी पार करनी पड़ती है, जिसमें उसे बहुत कष्ट होता है। परंतु यदि उसने अपनी जीवितावस्थामें गोदान किया हो तो वह उसी गौकी सहायतासे सहजमें पार उतर जाता है। पुराणोंमें लिखा है कि जब सतीके वियोगमें महादेवजी रोनेलगे, तब उनके आँसुओंका प्रवाह देखकर देवता लोग बहुत डरे और उन्होंने शनिसे प्रार्थना की कि तुम इस प्रवाहको ग्रहण करके सोख लो। शनिने इस धाराको ग्रहण करना चाहा, पर उसे सफलता नहीं हुई। अंतमें उसी धारासे यह वैतरणी नदी बनी। इसका विस्तार दो योजनका माना गया है।

अर्थ—हे विष्णु-यान गरुड़जी ! सुनिए। हे भ्राता ! सुनिए। जो रघुवीरसे विमुख है, उसके लिये उसकी माता मृत्यु, पिता यमराज और अमृत विषके समान हो जाते हैं। मित्र सौ शत्रुओंकी करनी करता है और सुरसरि (गंगा) उसे वैतरनी हो जाती है। सारा संसार ही उसे अग्निसे भी अधिक तप्त हो जाता है ।।६-८।।

टिप्पणी—१ नभ, जल और थल संसारमें ये तीन विभाग हैं, यथा 'जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना'। इस प्रसंगमें दिखाया कि तीनोंमें कहीं उसे जगह न मिली। 'गयेउ पितु पाहीं' अर्थात् स्वर्गमें गया, यह आकाश हुआ। 'ता कहुँ बिबुधनदी ···' से जल विभाग कहा और 'सब जगु···' से थल सूचित किया।

२—यहाँ रामविमुखकी गति कही। रामकृपापात्रकी व्यवस्था इसकी उलटी है, यथा 'गरल सुधा रिपु करइ मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई ॥···राम कृपा करि चितवा जाही ।५.५।' दोनोंका मिलान—

| श्रीराम-विमुख | श्रीरामकृपापात्र |
|---|---|
| १ जो रघुवीर विमुख | रामकृपा करि चितवा जाही |
| २ मातु मृत्यु | करौं सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी |
| ३ सुधा होइ विष | गरल सुधा |
| ४ मित्र करै सत रिपु कै करनी | रिपु करइ मिताई |

| | |
|---|---|
| ५ बिबुधनदी बैतरनी | गोपद सिंधु |
| ६ जग अनलहु ते ताता | अनल सितलाई |

इससे सिद्ध है कि रक्षा और नाशकी शक्ति किसी वस्तुमें नहीं है, प्रभुके अनुग्रह निग्रहमें ही है।

३ माताको मृत्यु और पिताको शमन कहकर जनाया कि मृत्यु और यमराज स्त्रीपुरुष हैं। ☞ यहाँ दिखाते हैं कि रामविरोधीको सब उलटे हो जाते हैं। माता बालकको जन्म देती है और उसका पालन-पोषण करती है; वही उसकी मृत्युका कारण हो जाती है। पिता पुत्रकी स्थिति मातामें करता है; वही यमकी तरह उसे यमलोकको पहुँचा देता है। अमृत अमरत्वगुण छोड़ प्राणघातक हो जाता है। मित्र शत्रुसे बचाता है, वही स्वयं अगणित शत्रुओंका अकेले ही काम करता है। तारनेवाली गंगा वैतरणीरूप कष्टदायक हो जाती है। संसार भरमें उसे संताप ही मिलता है, जहाँ भी पैर पड़ता है पैरमें फफोले पड़ जाते हैं। मिलान कीजिए—'भरद्वाज सुनु जाहि जब होइ बिधाता बाम। धूरि मेरु सम जनक जम ताहि ब्याल सम दाम। १.१७५।'

नोट—१ भुशुण्डिजी माता-पिता आदिके दृष्टान्त देकर कहते हैं कि ये सब बातें जयन्तपर बीतीं। माता शची मृत्युसम और पिता इन्द्र यमसमान कठोरचित्त हो गए। इससे जनाया कि पिताके पास जब गया तब माता भी वहाँ थी। सुधा-रूपी सारी विद्या (जिससे वह परीक्षाके लिए गया) विषरूपा हो गई। लोकपाल आदिको मित्र जानकर जिन-जिनकी शरण गया वे शत्रु हो गए, उन्होंने बैठने भी न दिया और गङ्गारूपिणी जानकीजी उसे बैतरणी तुल्य हो गईं। (पां०)। श्रीरामप्रसादशरणजीके मतानुसार जगज्जननी जानकीजी इसको मृत्युवत् हुईं ('जनमत मरत दुसह दुख होई', वैसा ही दुःख इसे भोगना पड़ा)। जगत्पितासे यमकीसी सांसति मिली। श्रीरामजानकीका दर्शन अमृत सो इसे विष हुआ। मंदाकिनी तटपर इसको वैतरणीवत् क्लेश हुआ। कैलाश आदि अत्यन्त शीतकर हैं, वहाँ भी सींक उसे जलाए डालती है। और, खर्रामें लिखा है कि रामजी सर्व अवतारोंमें श्रेष्ठ हैं। उनका बल देखनेका उद्यम सुधा सम था सो विष हो गया। मित्र सौ शत्रुकी करणी करता है, इत्यादि। पर त्रिपाठीजी लिखते हैं कि यहाँ जयन्तकी कायापलट विद्याने सौ शत्रुका काम किया। न उसे यह विद्या आती, न वह काक बनकर भगवतीपर प्रहार करता। शंकरजीकी जटामें सकलकलुषविध्वंसिनी गंगाजी सदा रहती हैं पर वे उसके पापका हरण न कर सकीं, वैतरणीरूप दिखाई पड़ीं।

२ ऐसा भी अनुमान किया जाता है कि यहाँ चारों वक्ताओंका कथन पृथक् पृथक् दिया गया है। 'सुनु हरिजाना' भुशुण्डिवाक्य; 'सुनु भ्राता' याज्ञवल्क्यवाक्य, यथा 'को शिव सम रामहि प्रिय भाई। १.१०४।' 'बिबुधनदी बैतरनी' ये शिववाक्य हैं गंगाके संबंधसे, और 'राखि को सकइ' यह गोस्वामिवाक्य है।

प० प० प्र०—मातु मृत्यु आदिके उदाहरण—कद्रू अपने पुत्रोंके नाशका कारण हुई। [जो हरिसम्मुख हो गए जैसे शेषादि वे बच गए। ( मा० सं० ) ] 'पितु समन'—रावण अपने पुत्रोंके मरणका कारण हुआ। [ विभीषण छोटा भाई पुत्र समान था—'तुम पितु सरिस भलेहि मोहि मारा'। वह हरिभक्त होनेसे बच गया। (मा० सं०)] 'सुधा होइ बिष'—सर्पोंने अमृत चाटा तो जिह्वा फटकर दो हो गई। 'मित्र···रिपु···'—बाली और सुग्रीवमें 'भाइहि-भाइहि परम सप्रीती' सो कैसे शत्रु हो गए! ( रामविमुख होनेसे बाली मारा ही गया )। बिबुध नदी = गंगा, मंदाकिनी। रामकथारूपी 'सरित पावन पाथ की', 'रामकथा-मंदाकिनी' राम-विमुखको वैतरणी समान दुःखद लगती है।

३ पंजाबीजीका मत है कि 'यहाँ भुशुण्डीजी गरुड़जीसे कहते हैं कि देखो प्रभुमें मोह करनेका फल; यह शक्रसुत है और तुम भगवान्‌के वाहन; अतः ऐसी असंभावना न करना। रामविमुखके संबंधमें भयदायक नीति दिखाते हैं, अतः आश्वासन हेतु 'भ्राता' संबोधन करते हैं।'

४ इसके बाद कुछ टीकाकारोंने निम्न दोहा दिया है जो क्षेपक है—

'जिमि जिमि भाजत सक्रसुत ब्याकुल अति दुखदीन।
तिमि तिमि धावत रामसर पाछे परम प्रबीन॥'

नारद देखा बिकल जयंता । लागि दया कोमल चित संता ॥९॥
पठवा तुरत राम पहिं ताही । कहेसि पुकारि प्रनत हित पाही ॥१०॥

अर्थ—श्रीनारदजीने जयन्तको व्याकुल देखा, सन्तोंका चित्त कोमल होता है, (अतः उन्हें) दया लगी। ॥९॥ (उन्होंने) उसको तुरंत श्रीरामजीके पास भेजा—'हे प्रणतजनहितकारी ! रक्षा कीजिये' ऐसा पुकारकर कहना एवं उसने तुरत पुकारकर कहा कि 'प्रणतहित पाहि मां' ॥१०॥

टिप्पणी—१ (क) 'नारद' (नार = ज्ञान । द = देनेवाले) नाम दिया क्योंकि उसको यथार्थ ज्ञान देंगे। नारं ज्ञानं ददातीति नारदः' । 'नारद देखा' से जनाया कि व्याकुल होनेसे उसने इन्हें नहीं देखा । 'लागि दया' अर्थात् उसका दुःख देखकर इनका चित्त पिघल गया, स्वयं दुखी हुए, उसपर दया आ गई कि इसका दुःख दूर करना चाहिए। यथा 'पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता । ७।१२५।८ ।', 'पर उपकार बचन मन काया । संत सहज सुभाउ खगराया । ७।१२१।१४ ।' 'संत' कहा क्योंकि दया लग आई, दया लगना संतस्वभाव है, यथा 'कोमल चित दीनन्ह पर दाया । ७।३७ ।' यह सन्तलक्षण कहा । ( ख ) भगवान्‌के कोपसे बचानेवाले भागवत ही हैं, दूसरे नहीं बचा सकते । प्रभुका वचन है 'मोतें संत अधिक करि लेखा । ३।३६।३ ।' नारदजीने उसे बचा लिया नहीं तो वह मरा ही था ।—'राम ते अधिक राम कर दासा । ७।१२० ।' यहाँ चरितार्थ हुआ । ( ग ) 'पठवा तुरत'से जनाया कि भागते हीमें उपदेश कर दिया, उसे रोका नहीं । ( घ ) 'कहेसि पुकारि०' इति । ब्रह्मसरसे बचनेके लिए शीघ्र बड़ी दूरसे आवाज़ दी, जोरसे पुकारकर ये वचन उच्चारण किए। यहाँ ग्रन्थकारने भी उसकी आतुरता अपने शब्दोंसे ही लक्षित कर दी है । इतनी जल्दी प्रभुकी शरणमें आ पुकारा कि नारदका उपदेश और उसका पुकारना ग्रंथकारने एक ही चरणमें लिखा । ( इस चरणमें मंत्र 'प्रणतहित पाहि' और विधि 'कहेसि पुकारि' दोनों ही बतला दिये । वि० त्रि० ) ।

नोट—१ द्वि० और भा० दा० ने 'कहेसि' पाठ दिया है । प्र० में 'कहेसु' है । इसीसे दो प्रकारसे अर्थ लोगोंने किए हैं । किसी किसीका मत है कि अन्तिम चरण नारदवाक्य है। अर्थात् जयंतको प्रभुके पास भेजा और यह कहा कि पुकारकर 'प्रणतहित पाहि मां' ऐसा कहना । क्योंकि आगे उसका जाकर त्राहि त्राहि करना लिखते हैं । मानसमें 'कहेसि' का अर्थ दोनों प्रकार आया है–कहना और कहा । और 'कहेसु' का अर्थ 'कहना' यही होगा । 'पठवा' पूर्ण क्रिया है अतः 'पुकारकर कहा' यह अर्थ अधिक संगत है। पहले दूरसे पुकारकर कहा, फिर पास जाकर चरण पकड़कर अत्यन्त दीन होकर शरण हुआ। अथवा, 'कहेसि' दोनोंमें लगा लें तो और भी अच्छा है । ( चौ० ११ भी देखिए ) । पं० रामकुमारजीने एक पुराने खर्रेमें लिखा है कि नारदने उपदेश किया कि रामजीके पास जाओ। दूरसे ही पुकारकर कहना जिसमें वे सुन लें कि तू शरण आया है । और नाम न लेना, 'प्रणतहित' ही नाम लेकर रक्षाकी प्रार्थना करना । अर्थात् कहना कि प्रणतका हित करना आपकी बान है, मैं अत्यंत 'नत' हूँ···।' कथाके लिए जो साफ़ किए हुए खर्रे हैं उनमें यह भाव नहीं है ।

२ जयन्तको मारना नहीं है और सबसे निराश होनेपर अब उसकी मरनेकी दशा हो रही है अतः नारदजीको प्रेरणा हुई तब वे बचानेके लिये आकर मिले—[ अथवा, नारद सर्वज्ञ हैं, जानकर आ मिले । ( वन्दन पाठकजी ) ] ।

३ पुकारनेसे मानरहित और दीन सूचित होगा । 'अभिमान गोविन्दहि भावत नाहीं', यही कारण है कि दासमें भी अभिमान देखतेहैं तो प्रभु तुरत उसे उखाड़ फेंकते हैं, यथा 'उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी ॥ बेगि सो मैं डारिहौं उखारी । पन हमार सेवक हितकारी ।१।१२९।' फिर भला अपराधी और विमुख अभिमानपूर्वक छल करे तो कब शरण पावेगा ? प्रभुने स्वयं कहा है कि 'मोहिं कपट छल छिद्र न भावा' । देवर्षि नारद प्रभुका स्वभाव जानते ही हैं कि दीन होकर शरणमें जानेपर प्रभु शरणागतका त्याग नहीं करते। यथा

'सब बिधि हीन दीन अति जड़ मति जाको कतहुँ न ठाँउ। आए सरन भजउँ न तजउँ तेहि यह जानत रिषिराउ। गी० ५।४५।' अतः 'कहेसि पुकारि' की शिक्षा उन्होंने दी और उसने वैसा ही किया। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि मानी विनय भी करता है तो दंभपूर्वक गुप्त ही। इसीसे 'पुकारकर' कहनेका आदेश किया, इससे अभिमान रहित दीन जान पड़ेगा। पुकारकर कहनेसे, मद मोह मान कपटको अवसर ही न मिलने पावे, यह सूचित किया।

४—पूर्व कहा गया है कि रामविरोधी होनेसे वक्ताओंने उसका नाम भी लेना अयोग्य समझा। पर यहाँ नारदके दर्शनपर कविने उसका नाम दिया। क्योंकि उनके दर्शनसे उसका पाप नष्ट हो गया, यथा 'संत दरस जिमि पातक टरई। ४.१७।' और अब वह प्रभुके सम्मुख होगा, उसकी विमुखता दूर होगी।

५--शिव ब्रह्मा आदिने ही यह उपाय उसे क्यों न बताया? क्या उनको सूझा नहीं? कुछ लोगोंका कहना है कि उन्हें सूझा ही नहीं। हो सकता है कि ऐसा ही हो, पर मेरी तुच्छ समझमें आता है कि शिवजीको अवश्य सूझा होगा पर उन्होंने प्रभुकी रुचि जानकर उपदेश न किया। जबतक वह परम भयातुर न होगा उसपर किसीकी शिक्षाका प्रभाव नहीं पड़ सकता, दूसरे वह प्रभुके बलकी पूर्ण परीक्षा भी नहीं पा सकता था जबतक जिसका-जिसका उसको बल-भरोसा था सबसे हताश न हो जाता। अतः, जबतक उसे इन्द्र, लोक-पाल, शिव, ब्रह्मा आदिका भरोसा बना रहा कि ये मेरी रक्षा अवश्य करेंगे, जबतक वह निरवलम्ब न हुआ, भय शोकसे व्याकुल और दीन न हुआ, तबतक शरणका उपदेश न दिया गया। जैसे शिवजीने गरुड़के बारेमें कहा है--"तातें उमा न मैं समुझावा। रघुपतिकृपा मरम मैं पावा॥ होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना।७.६२।" अर्थात् यह जानकर कि इन्होंने अभिमान किया है और प्रभु इनके अभिमानको मिटाना चाहते हैं, उन्होंने गरुड़को भुशुण्डीजीके पास भेजा, स्वयं उपदेश न किया।

पद्मपुराणके श्रीरामचरितमें श्रीब्रह्माजीने जयन्तको यह उपदेश किया कि "तू भगवान् श्रीरामकी ही शरणमें जा। वे करुणाके सागर और सबके रक्षक हैं। उनमें क्षमा करनेकी शक्ति है। वे बड़े ही दयालु हैं। शरणमें आए हुए जीवोंकी रक्षा करते हैं। वे ही समस्त प्राणियोंके ईश्वर हैं। सुशीलता आदि गुणोंसे सम्पन्न हैं और समस्त जीव-समुदायके रक्षक, पिता, माता, सखा और सुहृद हैं। उन देवेश्वर श्रीरघुनाथजीके चरणमें जा, उनके सिवा और कहीं भी तेरे लिये शरण नहीं है।" यथा "भो भो बलिभुजांश्रेष्ठ तमेवशरणं व्रज। स एव रक्षकः श्रीमान् सर्वेषां करुणानिधिः। २०३। रक्षत्येव क्षमासारो वत्सलश्शरणागतान्। ईश्वरः सर्वभूतानां सौशील्यादिगुणान्वितः।२०४।-रक्षिता जीवलोकस्य पिता माता सखा सुहृत्। शरणं व्रज देवेशं नान्यत्र शरणं द्विज। २०५।" ( प० पु० उ० २४२ )। मानसकल्पकी कथामें भेद है। यहां तो ब्रह्माजीने भी उसे बैठने तकको न कहा और वह सींकास्त्र उसके पीछे ऐसा लगा है कि वह उसे बड़ा उपदेश सुननेको अवकाशही क्यों देने लगा। संतशिरोमणि नारदजीने भागतेहीमें उसे बचनेका चुटकला चार शब्दोंमें दया करके बता दिया।--'कहेसि पुकारि प्रनतहित पाही'। बस इतनेसे उसने मानों प्राण पाए। दीनतापूर्वक उसी उपदेशके अनुसार चरण पकड़कर वह प्रभु की शरण हुआ।

आतुर सभय गहेसि पद जाई। त्राहि त्राहि दयाल रघुराई॥ ११॥
अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जानि नहिं पाई॥ १२॥
निज कृत कर्म्म जनित फल पायउँ। अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ॥ १३॥

शब्दार्थ--आतुर = घबड़ाया हुआ, व्याकुल; शीघ्र, यथा 'सर मज्जन करि आतुर आवहु। दीक्षा देउँ ज्ञान जेहि पावहु।६।५६।' 'तकि'=ताककर, उसका अवलंब या भरोसा करके।

अर्थ—भय और व्याकुलतासहित उसने शीघ्र जाकर चरण पकड़ लिए (और कहा)—हे दयालु! हे रघुराई! रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए॥११॥ आपका बल अतोल है, आपकी प्रभुता अतुलित है, मैं मंदबुद्धि

उसको नहीं जान पाया ॥१२॥ अपने किए हुए कर्मसे उत्पन्न फलको मैं पा गया। हे प्रभो! अब मेरी रक्षा कीजिये, मैं शरण तक कर आया हूँ ॥१३॥

गौड़जी—"पठवा ··· रघुराई" तक इकट्ठा अन्वय इस प्रकार होना चाहिये।—'ताहि पुकारि प्रणतहित! पाहि कहेसि' ( अस कहि ) तुरत राम पहिं पठवा। ( जयन्त ) पुकारि कहेसि 'प्रणतहित पाहि' (अरु) आतुर (तुरन्त) सभय जाइ पद गहेसि (अरु कहेसि) 'त्राहि! त्राहि! दयालु रघुराई' इत्यादि। इस अन्वयमें दीपदेहली न्यायसे 'कहेसि पुकारि प्रनत हित पाही' यह पद दो बार आता है। पहली बार 'कहेसि' का अर्थ है 'तू कहना' और यह विधि भी है। दूसरी वार 'कहेसि' का अर्थ है 'उसने कहा'। दोनों वाक्योंको एकमें ही कहनेमें अद्भुत चमत्कार है। शब्दशक्तिसे तथा दीपदेहली अलंकारसे वस्तु व्यंग्य है। भाव यह है कि नारदजीने ज्योंही युक्ति बतायी त्यों ही जयन्त उस युक्तिको काममें लाया। क्षणभर की भी देर न की।

टिप्पणी—१ (क) 'आतुर' इति। जैसे नारदजीने 'पठवा तुरत' वैसे ही यहाँ वह तुरत आया भी, यह 'आतुर' शब्दसे जना दिया। [ (ख) 'त्राहि त्राहि' में भय की वीप्सा है। अर्थात् भयके मारे उसने वारंवार 'त्राहि त्राहि' कहा। अथवा श्रीसीताराम युगल सरकारके विचारसे दो बार कहा। (रा० प्र०)। (यहाँ 'रघुराई' संबोधनसे दूसरे भावका खंडन होता है)। ( ग ) 'दयाल' का भाव कि आप मेरी करनी पर दृष्टि न कीजिए किंतु अपनी कारणरहित कृपालुताकी ओर देखिए। ( घ ) 'रघुराई' का भाव कि रघुकुलमात्र शरणागतपालक है और आप तो उसके राजा हैं, सब रघुवंशियोंमें श्रेष्ठ हैं, मैं आपकी शरणमें आया हूँ। अतएव आप मुझे शरण दें। पुन: भाव कि आप 'रघु' अर्थात् जीवमात्रके 'राजा' अर्थात् स्वामी हैं। मैं पामर जीव हूँ। अतः आपको मेरी रक्षा करनी उचित है। (रा० प्र०)] (ङ) यहाँ दिखाते हैं कि जयन्त मन, कर्म और वचन तीनोंसे प्रभुकी शरण गया। 'सभय' से मन, 'गहेसि पद' से कर्म और 'त्राहि···आयउँ' से वचन द्वारा शरणागति सूचित की। शरणागतिके आवश्यक सब अंश यहाँ जयन्तमें दिखाए—'सभय, आतुर गहेसि पद, त्राहि त्राहि दयाल रघुराई।'

नोट—१ पद्मपुराण उत्तरखंडमें लिखा है कि ब्रह्माजीका उपदेश पानेपर वह भयसे आतुर होकर भगवान् रामके आगे सहसा आकर गिरा। श्रीसीताजीने देखा कि जयन्त प्राणोंके संशयसे व्याकुल और दुखित सरणोन्मुख होकर प्रभुके सामने पड़ा है तब उन्होंने विनयपूर्वक कहा 'स्वामिन्! इसकी रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए।' (इतनेपर भी प्रभु कुछ न बोले तब) उन्होंने भगवान्के सामने गिरे हुए उस जयन्तके मस्तकको प्रभुके चरणोंपर रख दिया। तब दयासागरने उसे उठाकर अभयदान दिया और कहा कि जा। तब वह दोनोंको दंडवत् प्रणाम करके चला गया। यथा "इत्युक्तस्तेन बलिभुग्ब्रह्मणा रघुनन्दनम्। उपेत्य सहसा भूमौ निपपात भयातुरः।२०६। प्राणसंशयमापन्नं दृष्ट्वा सीताथ वायसम्। त्राहि त्राहीति भर्तारमुवाच विनयाद्विभुम्॥ २०७। पुरतः पतितं देवी धरण्यां वायसं तदा। तच्छिरः पादयोस्तस्य योजयामास जानकी॥ २०८॥ समुत्थाप्य करे नाथ कृपापीयूषसागरः। "तमाह वायसं रामो माभैरिति दयानिधिः। अभयं ते प्रदास्यामि गच्छ गच्छ यथा सुखम्॥ २१०॥ प्रणम्य राघवायाथ सीतायै च मुहुर्मुहुः।" (अ० २४२)—मानसकल्पकी कथासे इससे भेद है क्योंकि इसमें एक तो ब्रह्माजीके उपदेशसे जयन्त शरणमें आया, दूसरे बेहोश गिरा है, स्वयं त्राहि त्राहि भी नहीं किया। श्रीमहारानीजीकी कृपासे ही भगवान्ने उसको शरणागत मानकर उसको अभय कर दिया और कोई दंड भी न दिया।

परन्तु मानसकल्पकी कथामें इससे बहुत अंतर है। जो 'प्रनतहित पाही', 'गहेसि पद जाई', 'त्राहि त्राहि दयाल रघुराई'···'अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ', 'सुनि कृपाल···' और 'एक नयन करि तजा' से स्पष्ट है। मानसकथा वाल्मीकीय और अध्यात्मसे कुछ-कुछ मिलती है।

२ 'अतुलित बल···' इति। ( क ) 'सठ चाहत रघुपति बल देखा' उपक्रम है और 'अतुलित बल···' उसका उपसंहार है। [(ख) पूर्व परीक्षा ली थी। अब परीक्षक स्वयं स्वीकार करता है कि परीक्षा मिल गई कि अतुलित है। यह परीक्षकोंमें हेड अर्थात् सरदार है, इससे इतनेसे ही जान लिया कि अतुलित है। (दीनजी)]

(ग) बल अतुलित है क्योंकि एक सींक चलाई जिसने सारे ब्रह्माण्डको वेध डाला, उसमें यह अव्याहतगति देखी। प्रभुता अतुलित यह देखी कि आप तो चित्रकूटमें ही बैठे रहे तो भी ब्रह्मा शिवादिने मुझे अपने लोकमें बैठने भी न दिया।

नोट--३ 'मैं मतिमंद जानि नहिं पाई' इति। (क) भाव कि मंदबुद्धि होनेके कारण न जानता था, अब जाना। पहले मोह था कि स्त्रीको पुष्पाभरण पहना-पहनाकर प्रसन्न किया करते हैं, इनमें क्या बल होगा। पुनः, (ख) यह भी जनाया कि अज्ञानवश मैंने ऐसा किया, उसे क्षमा कीजिए, जैसे रामजीने परशुरामजीसे और उन्होंने रामजीसे कहा था, यथा 'छमहु चूक अनजानत केरी। १।२८२।', 'अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता। छमहु छमा-मंदिर दोउ भ्राता।१।२८५।'--[नोट--नृसिंह पुराणमें भी कहा है-'त्राहि त्राहि महाबाहो अज्ञानादपिकारितम्' अर्थात् मैंने यह अज्ञानवश किया है, मेरी रक्षा कीजिए ]

४ 'निज कृत कर्म जनित फल पायउँ।०' इति। (क) अर्थात् इसमें आपका किञ्चित् भी दोष नहीं है, सरासर मेरा अपराध है। जैसा किया वैसा फल पाया, यथा 'निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।२।९२।','जो जस करइ सो तस फल चाखा। २।२१९।४।', 'अब' का भाव कि कर्मजनित फल मिल गया, अब आप अपराध क्षमा करें, मुझे प्राणदान दें। (ख) 'प्रभु' का भाव कि चौदहों भुवनोंमें आप ही समर्थ हैं, कोई भी रक्षा न करसका पर आप रक्षा कर सकते हैं। आपका-सा सामर्थ्य किसीमें नहीं। यदि होता तो कोई न कोई अवश्य मेरी रक्षा करता। (ग) 'सरन तकि आएउँ'—अनन्यता द्योतित करनेके लिये कविने शरणका ताकना कहा। यथा 'तब ताकेसि रघुनायक सरना', 'आवै सभय सरन तकि मोही'। (वि० त्रि०)।

**सुनि कृपाल अति आरत बानी। एक नयन करि तजा भवानी॥ १४॥**

**सोरठा—कीन्ह मोहबस द्रोह जद्यपि तेहि कर बध उचित।**

**प्रभु छाड़ेउ करि छोह को कृपाल रघुबीर सम॥ २॥**

अर्थ—(शिवजी कहते हैं—) भवानी! कृपालु श्रीरघुनाथजीने उसके अत्यन्त आर्त्त (दुःखभरे) वचन सुनकर उसको एकाक्ष (एक आंखका) करके छोड़ दिया॥१४॥ उसने मोहवश द्रोह किया था। यद्यपि उसका बध ही उचित था तो भी प्रभुने कृपा करके उसे छोड़ दिया। रघुवीर श्रीरामजी के समान कौन दयालु है? (कोई भी नहीं)।

टिप्पणी—१ 'अति आरत बानी'। (क) 'त्राहि त्राहि दयालु रघुराई।''अब प्रभु पाहि' यही 'अति आर्त्त' वाणी है, यथा 'प्रनतपाल रघुबंसमनि त्राहि त्राहि अब मोहि। आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करैगो तोहि। ६।२०।' पुनः 'अति' का भाव यह कि श्रीरामजीके निकट थोड़ी भी दीनता हो तो वे उसे अत्यन्त मान लेते हैं, यथा 'सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पानी।४।१०।', 'सुनत बिनीत बचन अति कह कृपाल मुसुकाइ।' सु० ५९ देखिए।

२ (क) 'कीन्ह मोहबस द्रोह', यथा 'सोचिय गृही जो मोहबस करइ करमपथ त्याग। २।१७२।', 'करहिं मोहबस द्रोह परावा। ७।४०।'; भाव कि द्रोहका कारण मोह है। 'करि छोह' कहा क्योंकि उसके कहनेसे उसका नेत्र भंग किया। (ख) 'एक नयन करि तजा''जद्यपि तेहि कर बध उचित' इति। जयन्त भगवानके परीक्षार्थ आया और दक्षिण अँगूठा विदीर्ण किया, अतः उसकी दक्षिण आँख फोड़ी गई। इतना कहनेपर जान पड़ता है कि भवानीकी चेष्टासे उनको संदेह जान पड़ा कि जब एकाक्ष (काना) कर दिया तब कृपालुता कैसी? अतः उसीका समाधान तुरन्त शङ्करजीने किया। यह शंकरजीका फैसला हुआ। (दीनजी)।

३—इस प्रसंगभरमें श्रीरामजीका बल, कृपालुता, प्रभुत्व और शरणपालकता गुण दिखाए पर 'कृपा' गुणको प्रधानता दी है, यथा 'अति कृपाल रघुनायक सदा दीन पर नेह', 'सुनि कृपाल अति आरत बानी', 'प्रभु छाड़ेउ करि छोह को कृपाल रघुबीर सम'। आदि, मध्य और अंत तीनोंमें कृपा गुणका उल्लेख किया है।

टिप्पणी—४ 'प्रभु' और 'को कृपाल रघुवीर सम' का भाव यह कि जब क्रोध होता है तब शान्ति और कृपा नहीं रह जाती, जैसा परशुरामजीने कहा है—'मोरे हृदय कृपा कसि काऊ।१।२८०।' पुनः यथा 'क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥ ५।५८।' दूसरे, सामर्थ्य रहते हुए क्रोधीमें क्षमा दया प्रायः नहीं होती, यथा 'येहिके कंठ कुठार न दीन्हा। तौ मैं काह कोप करि कीन्हा। १।२७६।', और यहाँ श्रीरामजी प्रभु (समर्थ) हैं, रघुकुलमें श्रेष्ठ वीर हैं, तो भी जयन्तपर इतना कोप होनेपर भी कृपालु हुए।

५ जयन्तप्रसंगके द्वारा प्रभुने अपना बल और प्रताप सबको दिखाकर जना दिया कि सीताजीका अपराध करनेवाला बच न सकेगा। रावण इनका अपराध इसी काण्डमें करेगा। वह मारा जायगा। इसमें सन्देह नहीं। सुरनरमुनिको ढारस इस चरितसे होगा और मन्दोदरी आदिको भय।

[श्रीसीताजीने जयन्तके प्रसंगका स्मरण करानेके लिये हनुमान्‌जीसे कहा है कि उनसे कहना कि आप अस्त्रवेत्ताओंमें सबसे श्रेष्ठ हैं, बलवान् हैं और शीलवान् हैं। मेरे लिये एक काकपर जिन्होंने ब्रह्मास्त्र छोड़ा था, वे श्रीराम मेरा हरण करनेवाले रावणको कैसे क्षमा कर रहे हैं, अस्त्रोंका प्रयोग क्यों नहीं करते? यथा 'एवमस्त्रविदां श्रेष्ठः सत्त्ववाञ्छीलवानपि। १८। किमर्थमस्त्रं रक्षः सु न योजयसि राघव। ( वाल्मी० ५.६७ )।', 'मत्कृते काकमात्रे तु ब्रह्मास्त्रं समुदीरितम्। कस्माद्यो मां हरेत्त्वत्तः क्षमसे तं महीपते।....' ( वाल्मी० ५.३८.३६-४३ ); इससे यह सिद्ध होता है कि यह चरित यही सूचना देनेके लिए हुआ।]

प्र०—(क) 'एक नयन करि तजा'। इससे बाणकी अमोघता भी रही और उसको शिक्षा भी हुई। एक ही नेत्र फोड़ा क्योंकि अर्धाङ्गिनीजीका अपराध किया था। नेत्र ही फोड़ा, क्योंकि नेत्रसे ही देखकर चोंच मारी थी। मंदोदरीने भी ऐसा ही कहा है—'राखा जिअत आँखि गहि फोरा'। ( ख ) 'जद्यपि तेहि कर वध उचित०' अर्थात् वध-दंडके बदले एक अंगही भंग करके छोड़ दिया, न्याय और दया दोनोंकी मर्यादा रक्खी।

नोट—१ वाल्मीकीय एवं अध्यात्मसे स्पष्ट मालूम होता है कि प्रभुने उससे कहा कि ब्रह्मास्त्र अमोघ है, उपाय बताओ, तब दक्षिणनेत्र देकर उसने प्राणकी रक्षा की। यथा 'मोघं कर्तुं न शक्यं तु ब्राह्म' अस्त्रं तदुच्यताम् ।३६। ततस्तस्याक्षि काकस्य हिनस्ति स्म स दक्षिणम। दत्वा तु दक्षिणं नेत्रं प्राणेभ्यः परिरक्षितः।३७। (वाल्मी० ५.३८), '...रामस्तमिदमब्रवीत् ।५६। अमोघमेतदस्त्रं मे दत्त्वैकाक्षमितो व्रज। सव्यं दत्त्वा गतः काक...।६०।' अ० रा० ५. ३।' अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीने उससे कहा कि मेरा यह अस्त्र अमोघ है (निष्फल नहीं जा सकता)। अतः तू केवल अपनी एक आँख देकर यहाँसे चला जा। तब वह अपनी 'सव्य' आँख देकर चला गया। 'सव्य' का अर्थ प्रायः वाम ही लिया जाता है; इससे किसी-किसीने बायीं आँखका फोड़ना अर्थ किया। परन्तु कोशमें 'सव्य' का अर्थ 'दक्षिण' भी मिलता है, यथा 'सव्यं वामे च दक्षिणे इति अजयः।','सव्यं तु दक्षिणे वामे च प्रतिकूले च इति विश्वः।' इस तरह वाल्मीकीय और अध्यात्मकी एकवाक्यता हो जाती है। अथवा, यदि 'बायां नेत्र' अर्थ लें तो भाव होगा कि मतभेदके कारण गोस्वामीजीने दक्षिण या वाम कुछ न लिखकर 'एक नयन करि तजा कहा'। इससे सबके मतोंकी रक्षा हो गई। एक नेत्र फोड़नेके विषयमें महानुभावोंने अनेक कल्पनायें की हैं, यथा-(१) काकके एक ही नेत्र होता है, तेरे दो क्यों? (२) हम दोनोंको एक जाने और देखे। (३) जानकीजी सबको नेत्रवत् प्रिय हैं, यथा 'वधू लरिकिनी पर घर आईं। राखेहु नयन पलककी नाईं॥ १।३५५।' इति दशरथवाक्य, 'नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ०। २।५६।' और 'जोगवहिं प्रभु सिय लषनहिं कैसें। पलक बिलोचन गोलक जैसे। २।१४२।' नेत्रवत् प्रिय जानकीजीको कष्ट दिया अतः नेत्र फोड़ा।—(मा० म०, रा० प्र० श०)। (४) शृंगाररसमें वीभत्सरस किया, अतः नेत्र ही फोड़ा।—(करु०)। इत्यादि।

२ 'जद्यपि तेहि कर वध उचित' इति। जयन्तने परम प्रिया श्रीजानकीजीका अपराध किया, वह आततायी था, न्यायसे उसका वध उचित था। तथापि प्रभुने उसे छोड़ दिया, यह उनकी कृपालुता है। यही मत वाल्मीकिजीका भी है। यथा "वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत्। ५.३८.३५।" अर्थात् वधयोग्य होने पर भी उसकी रक्षा की। अ० रा० से स्पष्ट है कि आँख भी जो फोड़ी वह उसकी सम्मतिसे।

३ कृपालुता एक आँख फोड़नेमें भी है। एक आँख रहने पर भी दोनोंका काम एकसे ही हो जाता है और अंगोंमें यह बात नहीं है। एक पंख या एक पैर या चोंच काट डालनेसे सदा दुःख रहता।—(पं०)।

प्र० स्वामी इसका समाधान यों करते हैं—(१) 'रघुबीर' शब्दमें ही इस शंकाका उत्तर निहित है। श्रीरामजी 'रघुबीर', रघुकुलके सर्वोत्तम वीर हैं, संन्यासी नहीं हैं। 'क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम्। अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैव दूषणम्।' रघुकुल-नारिपर कोई अत्याचार करे और रघुवंशी राजा उसे दण्ड न दे तो यह उसके लिये पाप है। यथा 'अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्डयांश्चैवाप्य दण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति। मनु १२८।' जो राजा अपने धर्मपत्नीके अपराधीको विना दंडके छोड़ देता हो, वह प्रजाकी स्त्रियोंकी रक्षा क्योंकर करेगा? तब तो प्रजा सभीसे अनादृत हो जायगी। (२) श्रीरामजी जब धनुषपर बाण चढ़ाते हैं तब उसको कुछ न कुछ देना ही पड़ता है। परशुरामने तपसे प्राप्त किया हुआ अपना सब कुछ दिया है, यह वाल्मीकीयमें स्पष्ट कहा है। समुद्रनिग्रहके समय जब बाण चढ़ाया तब समुद्रपर कृपा करके उसके बताये हुये उत्तरतटवासी खलोंपर उसको चलाया।

४ 'को कृपाल रघुबीर सम' इस प्रसंगमें 'कृपाल' और 'रघुबीर' दोनों शब्द चरितार्थ हुए। पंचवीरता-युक्त होनेसे 'रघुबीर' नाम है। विद्यावीर, दानवीर, दयावीर, पराक्रमवीर और महावीर हैं। सींकास्त्रसे तीनों लोकोंमें कोई रक्षा न कर सका इससे विद्यावीर और महावीर दिखाया। शरण आनेपर प्राणकी रक्षा की इससे दयावीरता दिखाई। जीवमात्रकी रक्षाको एकमात्र हम ही समर्थ हैं, इस दृढ़ अनुसंधानका ही नाम कृपा है; यथा 'रक्षणे सर्वभूतानामहमेको परोविभुः। इति सामर्थ्यसंधानं कृपा सा पारमेश्वरी। भ० गु० द०।' जिस जयंतकी किसीने रक्षा न की उसकी रक्षा आपने की, यह कृपालुता है।

५ 'एक बार चुनि कुसुम सुहाए।१.३।' से 'प्रभु छाड़ेउ करि छोह···।२।' तक इति। श्रीरामप्रसादशरणजी कहते हैं कि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस कांडके प्रत्येक चरितमें नवों रसोंकी झलक है। इन चौपाइयोंमें भी यद्यपि प्रधान रूपसे शृङ्गार ही है तथापि इस प्रसंगमें नवों रसोंका अन्तर्भाव भी है। जैसे कि—(क) फूलोंके आभूषण धारण करानेमें शृङ्गारकी पराकाष्ठा है। (ख) भूषणोंके पहनाते समय मन्द मुसकानयुत कुछ छेड़छाड़ है, इसमें 'हास्य' है। (ग) जयन्तका इसी समय रंगमें भंग करना, चरणोंमें चोंच मारना और उससे रुधिरका स्राव होना 'बीभत्स' है। (घ) श्रीरामजीको उसपर क्रोध आना 'रौद्र' है। (ङ) सींकपर ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करके उसे लक्ष्य बनाया, यह 'वीररस' है। (च) बाणने बेतरह जयन्तका पीछा किया और उसके प्राणोंका गाहक हुआ। जयन्त भयातुर हो भागता फिरा। इसमें 'भयानक' रस है। (छ) बाण और जयंतमें दो अंगुलका ही बराबर बीच रहा, किंतु उसने जलाया नहीं, यह 'अद्भुतरस' है। (ज) शरण आनेपर दया आनेमें 'करुणा'। और, (झ) यह सब हो चुकनेपर भी चित्त का स्थिर बना रहना 'शान्तरस' है।

**रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किये श्रुति सुधा समाना ॥१॥**
**बहुरि राम अस मन अनुमाना। होइहि भीर सबहि मोहि जाना ॥२॥**
**सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीतासहित चले द्वौ भाई ॥३॥**

अर्थ—चित्रकूटमें बसकर श्रीरघुनाथजीने अनेक चरित किए जो कानोंको अमृत समान* (प्रिय) हैं ॥१॥ फिर श्रीरामजीने मनमें ऐसा विचार किया कि मुझे सभी जान गए, इससे भीड़ होगी ॥२॥ (अतः) सब मुनियोंसे बिदा कराके सीतासहित दोनों भाई (वहाँसे) चले ॥३॥

---

* 'श्रुति' का अर्थ वेद भी किया गया है। अर्थ—वेदके समान पवित्र और अमृतसदृश। वेदके अनुकूल और सुनने एवम् कल्याण करनेमें अमृत समान। यथा 'श्रुति सेतुपालक राम०'। वा, सुधासम जन्ममरणनाशक। वा, वेदोंमें साररूप जैसे समुद्रका सार अमृत वैसे ही वेदोंका सुधासाररूप यह चरित। यथा 'ब्रह्मांभोधि समुद्भवं··'।—(खर्रा)

टिप्पणी—१ 'रघुपति चित्रकूट बसि नाना…' इति । (क) वाल्मीकिजीसे प्रभुने जो कहा था कि 'तहँ रचि रुचिर परन-तृनसाला । बास करौं कछु काल कृपाला । २.१२६ ।', उसको चरितार्थ किया—'रघुपति चित्रकूट बसि०' । पुनः, मुनिने कहा था कि 'चित्रकूटगिरि करहु निवासू । तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू । २. १३२ ।', अतः 'चित्रकूट बसि नाना चरित किये…' । चित्रकूटनिवासका उपसंहार यहाँ है । (ख) 'नाना' अर्थात् किए तो बहुत पर हमने एक ही कहा । 'अब प्रभुचरित सुनहु अतिपावन । ३.१.२ ।' उपक्रम है और 'चरित किये श्रुति सुधा समाना' उपसंहार है । इस प्रसंगकी समाप्ति यहाँ की । यहाँ सूक्ष्मतः यह भी जनाया कि वे सब चरित शृङ्गाररसके हैं । [ वाल्मीकिजीके 'सब भाँति सुपासू' दिखलानेके लिये शृङ्गाररसका वर्णन किया । सीतानाथका विहारस्थल प्रमोदवन प्रसिद्ध है । चरित्रमें शृङ्गाररसके योगसे माधुर्य्यातिशय हो गया । इसलिये 'श्रुति सुधा समाना' कहा । अथवा अलौकिक रति ही वेदोंका सार है, इसमे 'श्रुति…' कहा ॥ (वि०त्रि०)]

२ 'मन अनुमाना । होइहि भीर…' इति । (क) भीड़ होनेका अनुमान होनेका कारण है । अवध-मिथिला-वासी देख गए हैं । किसी-न-किसी बहानेसे वे अवश्य आते-जाते रहेंगे । भीड़का पास रहना धर्म-विरुद्ध है । यह 'विशेष उदासी व्रत' के प्रतिकूल पड़ता है । (ख) अध्यात्मसे जान पड़ता है कि आसपासके नगरनिवासी दर्शनोंकी इच्छासे सदैव आया-जाया करते थे । [भावुक तो अवध-मिथिला-प्रान्तोंका जन-जन है । अब कोई श्रीअवधका नागरिक आकर अपनी महारानीको कुशसाथरीपर सोते देखकर आर्तक्रन्दन करने लगे । मिथिलाका कोई वृद्ध या युवक श्रीजानकीजीको अपनी पुत्री या बहिन मानकर उनके लिये शय्या वाहन आदिकी व्यवस्था करना प्रारम्भ कर दे, तो ऐसे भावुक भक्तोंको कैसे रोका जा सकेगा? परम संकोची मर्यादा पुरुषोत्तम कैसे उनके हृदयोंको निराश करके भग्न कर सकेंगे और उनका आग्रह मानकर वनवासी जीवनका निर्वाह कैसे शक्य है । अतः मार्ग ही एक रह गया कि किसीके आनेके पहले ही चित्र-कूटको छोड़ दिया जावे । (श्रीचक्रजी)] उस भीड़-भाड़को देखकर और अपने दण्डकारण्यके कार्यको भी विचारकर उन्होंने चित्रकूटको छोड़ दिया, यथा 'नागराश्च सदा यान्ति रामदर्शनलालसाः । चित्रकूटस्थितं ज्ञात्वा सीतयालक्ष्मणेन च । अ० रा० २.९.७७ । दृष्ट्वा तज्जनसंबाधं रामस्तत्याज तं गिरिम् ।' गीतावलीसे भी यही सिद्ध होता है । यथा 'काहू सों काहू समाचार ऐसे पाए । चित्रकूट ते राम लषन सिय सुनियत अनत सिधाए ॥ सैल सरित निर्झर बन मुनिथल देखि-देखि सब आए । कहत सुनत सुमिरत सुखदायक मानस सुगम सुहाए ॥…२।८८।' (ग) जयन्तप्रसंगसे सबका जानना कहा । सब जान गए कि ईश्वर हैं । अथवा, भाव कि यहाँ सब जान गए, अब जो नहीं जानते उनको चलकर दर्शन दें—यह कृपागुण है । (खर्रा, वंदन पाठकजी) । [ 'विश्राम सागर' में भी लिखा है कि अवधसे लोग बराबर आते-जाते थे । (दीनजी) ]

३ 'सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई' इति । (क) विदा होकर जाना शिष्टाचार है, यथा 'चलेउ पवनसुत बिदा कराई । ५.८.५ ।', 'मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी । १.४८.६ ।', 'गयेउ राउ गृह बिदा कराई । १.२१७.८ ।' पुनः, (ख) ऐसा करनेसे मुनियोंको संतोष होगा । पुनः, 'सकल' से मिलनेसे आपकी सरलता दिखाई जैसा आगे भी दिखाएँगे, यथा 'सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह । ९ ।' (घ) इस चौपाईसे नवीन प्रसंगका आरंभ जनाया । 'सुरपति सुतकरनी' प्रकरण समाप्त हुआ ।

## "प्रभु-अत्रि-भेंट-प्रकरण"

**अत्रि के आश्रम जब प्रभु गयऊ । सुनत महामुनि हरषित भयऊ ॥४॥**
**पुलकित गात अत्रि उठि धाए । देखि रामु आतुर चलि आए ॥५॥**

अर्थ—प्रभु जब अत्रिजीके आश्रममें गए तब वे महामुनि सुनते ही आनन्दित हुए ॥ ४ ॥ शरीर

पुलकित हो गया, श्रीरामचन्द्रजीको देखकर अत्रिजी उठ दौड़े । रामचन्द्रजी (मुनिको दौड़े आते हुए) देखकर बड़ी शीघ्रतासे चलकर आए ॥५॥

पु० रा० कु०—१ 'अत्रिके आश्रम जब प्रभु गयऊ' । ( क ) विदा होकर चित्रकूटसे चलनेमें माधुर्य्य-सम्बन्धी 'द्वौ भाई' पद दिया और यहाँ अत्रिजीके आश्रमपर पहुँचनेपर ऐश्वर्य्य सम्बन्धी "प्रभु" पद दिया । कारण यह कि इनको देखकर मुनि दौड़ेंगे, मुनिका इनमें प्रभु-भाव है । ( ख ) मुनिका आश्रम आधकोश तक है । कुटीसे आश्रमकी सीमा इतनी दूर है । 'आश्रय गयऊ' से जनाया कि सीमाके भीतर पहुँचे, अभी कुटी दूर है । ( ग ) चित्रकूट-रामघाटसे मुनिका आश्रम (सीमा) तीन कोस है और सीमासे कुटी आधकोस है । यह बीचकी नाप कविने साढ़ेतीन चौपाइयाँ देकर जना दी है । 'सीता सहित चले द्वौ भाई' से लेकर 'सादर निज आश्रम तब आने' तक ३॥ (साढ़े तीन) चौपाइयाँ बीचमें हैं । पहला 'आश्रम' सीमाका बोधक है और आगे जो पुनः 'आश्रम' शब्द आया है—'सादर निज आश्रम०', वह कुटीका बोधक है ।

( नोट—इसी प्रकार वाल्मीकिजीके आश्रमपर यह शब्द दो बार आया है, यथा 'वालमीकि आश्रम प्रभु आए । २.१२४.५ ।' और 'करि सनमान आश्रमहिं आने । २.१२५.२ ।' वहाँ भी यही दो अर्थ हैं । )

२ 'सुनत महामुनि हरषित भयऊ' । ( क ) कोलकिरातसे सुना होगा, यथा 'सब समाचार किरात कोलन्हि आइ तेहि अवसर कहे । २.२२६ ।' ( ख ) यहाँ भीतर ( मन ) का हर्ष कहा और आगे 'पुलकित गात' से बाहरका हर्ष कहा । हर्षका कारण 'सेवक सदन स्वामि आगमनू' है । भीतर बाहर दोनोंमें हर्ष छा गया । हर्ष और प्रेमके मारे स्वागतके लिये उठ दौड़े । यथा 'प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा । करत मनोरथ आतुर धावा । ३।१०।३ ।' ( सुतीक्ष्णजी ), 'सुनत अगस्ति तुरत उठि धाए । हरि बिलोकि लोचन जल छाए । ३।१२।६ ।' ( अगस्त्यजी ), 'समाचार पुरबासिन्ह पाए ॥ धाये धाम काम सब त्यागी । १।२२० ।' ( मिथिलावासी ) । ( ग ) अत्रिजी चित्रकूटके ऋषियोंमें सबसे प्रधान हैं, इसीसे अन्य सब ऋषियोंको 'मुनि' कहकर—'सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई', इनको 'महामुनि' कहा । अर्थात् और सब मुनि हैं और ये महामुनि हैं । यथा 'अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू । तात बिगत भय कानन चरहू ॥'''रिषिनायक जहँ आयसु देहीं । राखेहु तीरथजल थल तेही ॥ २।३०८ (५,७) ।' वाल्मीकिजीके 'अत्रि आदि मुनिबर बहु बसहीं । २।१३२।७ ।' से भी यही सिद्ध होता है । इनका नाम लिया औरोंको 'आदि''' से जना दिया ।

प० प० प्र०—अत्रि शब्द ही कहता है कि वे त्रिगुणातीत थे । सगुण परमात्मा मिलने आते हैं इतना सुनते ही दौड़े, इससे सगुण भक्तिकी पराकाष्ठा दिखाई । 'गयऊ' से सिद्ध है कि गोस्वामीजी तबतक मनसे रामाश्रममें ही रहे । भगवान् चले, उसके पश्चात् ये निकले और इनके पहले ही उधर जा पहुँचे । यह आगेके 'चलि आए' से स्पष्ट किया है ।

टिप्पणी—३ 'देखि राम आतुर चलि आए' । (क) उधर मुनिका प्रेमातुर होकर दौड़ना कहकर इधर प्रभुको भी अपने धर्ममें सावधान दिखाया । यथा 'सीलसिंधु सुनि गुर आगवनू । सिय समीप राखे रिपुदवनू ॥ चले सबेग राम तेहि काला । धीर धरमधुर दीनदयाला ॥ २.२४३ ।' (ख) मुनिका 'धावना' कहा और रामजीका 'आतुरता से चलकर आना' कहा । इनका दौड़ना न कहा, क्योंकि इनके साथ स्त्री है जो अत्यन्त सुकुमारी है जैसा अयोध्याकांडमें दिखाया जा चुका है । क० २।१०।११ देखिए । तो भी बहुत तेजीसे चले जिससे मुनिको अधिक श्रम न हो । [ (ग) मुनिको प्रभुके आगमनकी खबर मिली, अतः सुनकर दौड़ना कहा, पर किरात रामजीको खबर न दे सके कि मुनि आरहे हैं क्योंकि मुनि सुनतेही धाए और बीचमें जगह थोड़ी ही थी । इसीसे रामजीका देखकर आतुर होकर चलना कहा । अथवा, इधर खबर पहुँचानेका कोई प्रयोजन न था इससे इनको खबर न दी गई । (खर्रा) ]

प० प० प्र०—'चलि आए' इति । 'आए' से सूचित हुआ कि गोस्वामीजी ध्यानदृष्टिसे अत्रिजीके आश्रममें प्रभुके पूर्व ही पहुँच गए और वहाँसे देख रहे हैं कि भगवान् कब आते हैं, अतः 'आए' कहा ।

देखिए—'तब प्रभु भरद्वाज पहिं आए ।२।१०६।७', 'बालमीकि आश्रम प्रभु आए ।२।१२४।५', 'पुनि आए जहँ मुनि सरभंगा ।३।७।८' में भी 'आए' है, आगे 'मुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा ।३।१२।५', 'सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइ-जाइ सुख दीन्ह ।३।६।' इत्यादिमें 'आए' नहीं है। विशेष 'आइ नहाए सरितबर सिय समेत दोउ भाइ ।२।१३२।' में देखिए।

**करत दंडवत मुनि उर लाए । प्रेमबारि द्वौ जन अन्हवाए ॥ ६ ॥**
**देखि रामछबि नयन जुड़ाने । सादर निज आश्रम तब आने ॥ ७ ॥**

अर्थ—दण्डवत् करते ही मुनिने उनको हृदयसे लगा लिया और दोनों जनोंको अपने प्रेमाश्रुसे नहला दिया ।६। रामचन्द्रजीकी छवि देखकर नेत्र शीतल हुए; तब मुनि उनको आदरपूर्वक अपने आश्रममें लाए ।७।

टिप्पणी—१ 'करत दंडवत मुनि उर लाए' इति । (क) यहाँ श्रीराम और मुनि दोनोंकी परस्पर आतुरता और प्रेम दिखाते आ रहे हैं। 'करत' शब्दमें भी वही भाव झलक रहा है। (ख) हृदयमें लगाते ही प्रेम उमड़ पड़ा, नेत्रोंसे प्रेमाश्रुप्रवाह ऐसा उमड़ा कि दोनों भाई (जो छातीसे लगे हुए थे) उससे नहा-से गए। यह अत्यंत प्रेमकी दशा है, यथा 'अति अनुराग अंब उर लाए । नयन सनेह सलिल अन्हवाए ।२।२४५।' (ग) यहां 'अन्हवाए' पद देकर जनाया कि प्रभुने माधुर्य्यमें मुनिको दंडवत् किया; पर वे ऐश्वर्य भावसे इनका षोड़शोचार पूजन करेंगे । उस पूजनका प्रारंभ यहीं कर दिया गया। [ (घ) यहां मुनिने रामजीकी माधुर्य्य-लीलाकी मर्यादा रक्खी, उनको हृदयसे लगाया पर स्वयं माथा न नवाया, न विनती ही की । आगे ऐश्वर्यके अनुकूल विनती और प्रणाम किया है और भक्तिका वरदान माँगा है। जहाँ जैसा चाहिए वहाँ वैसा किया। ( खर्रा ) ]

नोट—'करत दंडवत मुनि उर लाए' यह चरण ज्योंका त्यों श्रीभरद्वाज-मिलन प्रसंगमें भी है। यथा 'तब प्रभु भरद्वाज पहिं आए । करत दंडवत मुनि उर लाए ।२।१०६।७', 'करत दंडवत' शब्द आगे पंपासर पर भी आए हैं, यथा 'करत दंडवत लिये उठाई । राखे बहुत बार उर लाई ।३।४१।१०' (नारदजीको दंडवत करतेमें ही श्रीरामजीने उठा लिया )। यद्यपि श्रीवाल्मीकिजी तथा श्रीअगस्त्यजीका भी भाव ऐसा ही है तथापि उनके प्रसंगोंमें ऐसा नहीं हुआ है। यथा 'मुनि कहुँ राम दंडवत कीन्हा । आसिरबाद बिप्रबर दीन्हा । २।१२५।१', 'मुनि पद कमल परे दोउ भाई । रिषि अति प्रीति लिये उर लाई । ३।१२।१०'२।१२५।१। देखिए।

टिप्पणी—२ 'देखि रामछबि नयन जुड़ाने ।' इति । ( क ) सब भाइयोंमें श्रीरामजीकी छवि सबसे अधिक है। इसीसे 'रामछबि' देखकर नेत्रोंका शीतल होना कहा । यह मूर्त्ति ही ऐसी सुखदायी है। यथा "चारिउ सील रूप गुन धामा । तदपि अधिक सुखसागर रामा ॥१।१९८।", "भए मगन देखत मुख सोभा । जनु चकोर पूरन ससि लोभा ।१।२०७।५-६।" ( विश्वामित्रजी ), "पुनि चरनन्हि मेले सुत चारी । राम देखि मुनि देह बिसारी ॥", "दूरिहि ते देखे दोउ भ्राता । नयनानंद दानके दाता ।।५।४५।" ( ख ) 'जुड़ाने'से पूर्व ( दर्शन-बिना दर्शनके लिए ) संतप्त होना जनाया। यथा 'चितवत पंथ *रहेउँ दिन राती । अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती ।।८।३।' (शरभंगजी)। विशेष 'देखि राम छबि नयन जुड़ाने ।२।१२५।२।' और सुं० ४५ (३) में देखिए ।* (ग) 'नयन जुड़ाने' कहकर जनाया कि रामानुरागी रामको ही पाकर, उनका दर्शन करके, शीतल होते हैं, अन्य किसी पदार्थसे नहीं 'जुड़ाते'। [ (घ) खर्रा—(१) देखिए अत्रिके नेत्रसे चन्द्रमाका जन्म हुआ जो अत्यन्त शीतल है तो भी उससे शीतल न हुए, प्रभुके दर्शनसे ही शीतल हुए। ( २ ) मुनिने प्रभुको प्रेमजलसे शीतल किया और स्वयं उनकी छवि देखकर शीतल हुए। छवि समुद्र है, दर्शन जल है। यथा 'भरि लोचन छबिसिंधु निहारी । १।५० ।', 'जौं छबिसुधा पयोनिधि होई । १।२४७' नेत्रके प्रेमजलसे प्रभु

* खर्रा—सब शास्त्र अवलोकन करते करते, 'बाट जोहते' ( = राह देखते कि प्रभु आकर दर्शन दें ) एवम् तप आदि करनेसे संतप्त थे, अब शीतल हुए।

शीतल हुए और छबि-जलसे मुनि शीतल हुए। (३) स्वयं दोनोंको शीतल किया और आप शीतल हुए राम-छबिसे, क्योंकि 'चारिउ रूपसील गुनधामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा'। इत्यादि। ग्रन्थमें सर्वत्र जिन्हें दोनों भाइयोंका दर्शन हुआ उन्हें दोनोंके दर्शनसे आनन्द हुआ पर पीछे उनके नेत्र प्रभुही में लग गए।] (ङ) 'सादर निज आश्रम तब आने'। यथा गीतावल्याम्—'प्रेम पट पावँड़े देत सुअरघ विलोचन वारि' अर्थात् नेत्रोंके जलसे ही मानों सुन्दर अर्घ्य और प्रेम-पावँड़े देते हुए आश्रममें ले गए। ( सवरीप्रकरण )। प्रेमपट बहुत कोमल है, यथा 'जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा। २।२२०।'

**करि पूजा कहि बचन सुहाए। दिये मूल फल प्रभु मन भाए॥ ८॥**

**सो०—प्रभु आसन आसीन भरि लोचन सोभा निरखि।**
**मुनिबर परम प्रबीन जोरि पानि अस्तुति करत॥ ३॥**

शब्दार्थ—आसीन=विराजमान, बैठे हुए। प्रबीन (प्रवीण)=निपुण, चतुर।

अर्थ—पूजा करके सुहावने सुन्दर वचन कहकर उन्होंने प्रभुको 'मन भाये' कंदमूलफल दिए जिससे प्रभु प्रसन्न हुए।८। प्रभु आसनपर विराजे। नेत्र भरकर उनकी शोभा देखकर परम प्रवीण मुनिश्रेष्ठ हाथ जोड़कर स्तुति कर रहे हैं॥३॥

टिप्पणी—१ 'करि पूजा'—आगे टि० ३ में देखिए। 'कहि बचन सुहाये' अर्थात् कहा कि हमपर बड़ी कृपा की, हमारे बड़े भाग्य हैं कि आपने घर बैठे दर्शन दिए, अब हमारा आतिथ्य स्वीकार कीजिए। यथा 'मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा। १०।१२।' (अगस्त्यवाक्य), '...मुनिवर कहेउ अतिथि प्रेमप्रिय होहु। कंदमूलफलफूल हम देहिं लेहु करि छोहु।२।२१२।' (भरद्वाजः)। [पुनः, मूल फल देनेका भाव कि जो सत्कर्मादि किये थे, उन्हें इस बहाने समर्पण किया। ( रा० प्र० )। 'मन भाए' का भाव कि वही-वही फल दिये जिन्हें प्रभु बहुत चाहते पसंद करते थे। अथवा, फल मूल दिए जो प्रेमके कारण प्रभुको बहुत अच्छे लगे। अथवा, प्रभुने इच्छाभर भरपेट खाया, इससे 'मन भाए' कहा। ( पं० रा० व० श० )। वा, भक्तिपूर्वक अर्पण होनेसे 'मन भाए' कहा। प्र० स्वामी लिखते हैं कि वाल्मीकिजीके आश्रमतक कन्द-मूल-फलादिके खानेका स्पष्ट उल्लेख है। यहाँ 'दिये' अर्थात् महर्षिका देनाभर लिखा है, खाये या नहीं यह स्पष्ट नहीं किया गया। तथापि खाये न होंगे ऐसा प्रतीत होता है। श्रीशबरीजीके यहाँ केवल श्रीरामजीका खाना लिखा है। विशेष उस प्रसंगमें देखिए ]

२ 'भरि लोचन सोभा निरखि' इति। (क) 'प्रभु आसन आसीन' कहकर तब 'भरि लोचन...' कहनेका भाव कि जबतक षोडशोपचार पूजनमें लगे रहे तबतक उन सब कृत्योंके कारण प्रभुकी शोभा जी भरकर देखनेका अवकाश न था, जब उन कृत्योंसे छुट्टी मिली, तब नेत्रभर देखनेका अवकाश मिला। प्रभु आसनपर बैठे, मुनि सामने खड़े हुए एकटक शोभाको देख रहे हैं। 'भरि लोचन' पदसे जनाया कि इनको दर्शनकी अत्यन्त उत्कट लालसा थी। जहाँ-जहाँ कविने ऐसी अभिलाषा दिखाई है वहाँ-वहाँ यह पद प्रयुक्त किया गया है। जैसे, शिवजीको दर्शनकी अति अभिलाषा थी, यथा 'हृदय विचारत जात हर केहि विधि दरसनु होइ।... तुलसी दरसन लोभु मन डरु लोचन लालची।१।४८।' जब उनको दर्शन हुआ तब लिखते हैं कि 'भरि लोचन छबि सिंधु निहारी।१।५०।२।' [ इसी प्रकार विप्र ( भुशुण्डिजी ), अवधवासियों, मनुशतरूपाजी आदिकी दर्शनाभिलाषा बढ़ीचढ़ी दिखाकर उनके प्रसंगोंमें भी 'भरि लोचन' पद दिया है। यथा ( भुशुण्डि )—'राम-चरनबारिज जब देखउँ। तब निज जनम सफल करि लेखउँ। ७।११०।...भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा। ७।१११।'; ( अवधवासी )—'रामदरसबस सब नर नारी। जनु करिकरिनि चले तकि बारी। २।१८८।१।', 'रामदरसकी लालसा भरतसरिस सब साथ।२।२२४।'; अतः कहते हैं—'मंगल मूरति लोचन भरि भरि। निरखहिं हरषि दंडवत करि करि। २।२४६।'; (मनु)—'उर अभिलाष निरंतर होई।

देखिय नयन परम प्रभु सोई ।१।१४४।३।' अतः वे माँगते हैं कि 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु०।१।१४६।; इसी तरह देवताओंको शिवविवाहकी उत्कट लालसा होनेपर कहा है। यथा 'सकल सुरन्ह के हृदय अस संकर परम उछाहु। निज नयनन्हि देखा चहहिं नाथ तुम्हार बिवाहु ॥ १।८८। यह उत्सव देखिअ भरि लोचन। सोइ कछु करहु मदन-मद-मोचन ॥' पुनः [ (ख) 'भरि लोचन सोभा निरखि'' इति। भाव कि शोभा (समुद्र) को देख (पा) कर नेत्रोंमें भर लिया है। मिलान कीजिए शरभङ्गजीकी दशासे—'देखि राम मुखपंकज मुनिवर लोचन भृंग। सादर पान करत अति धन्य जनम सरभंग। ३।७।' पुनश्च यथा 'बहुरि राम छवि धाम बिलोकी। रहा ठठुकि एकटक पल रोकी।४।४५।', 'छवि समुद्र हरि रूप बिलोकी। एक टक रहे नयनपट रोकी। १।१४८।' आसन आसीन होने पर सब कृत्यसे सावकाश हुआ तब शोभाका भरपूर देखना कहा। ( खर्रा ) ]

२—'मुनिवर परम प्रवीन जोरि पानि अस्तुति करत' इति।—मुनिवरसे शास्त्रज्ञान निपुण और परम प्रवीणसे अनुभवज्ञान (अर्थात् विज्ञान) निपुण जनाया। पुनः, 'परम प्रवीण' कहा; क्योंकि प्रभुका परात्पर स्वरूप जानकर वैसी ही स्तुति कर रहे हैं। ['प्रवीण'=श्रीरामजीकी महिमा जानकर संशयोंको त्यागकर जो उनका भजन करे। यथा 'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रवीन ।७।१२२।' पुनः 'वीणा प्रगायति इति प्रवीणः।' ( अमर व्याख्या सुधा ) वीणा बजाते हुए जो भगवान्‌की स्तुति करे वह भी प्रवीण है। श्रीवचन है कि 'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद:।' (प० प० प्र०)। मानसमें यह शब्द प्रायः 'निपुण, कुशल वा चतुर' अर्थमें आया है। 'परम प्रवीन' शब्द प्रायः तीन बार और मानसमें आया है। यथा 'सोइ उपाय तुम्ह करेहु सब पुरजन परम प्रबीन। २।८०।', 'धीर धरम गति परम प्रबीना। ३।४५।६।', 'रामभगति-पथ परम प्रबीना। ७।६२।३।' पहलेमें श्रीअवधवासियोंके, दूसरेमें सन्तोंके और तीसरेमें श्रीभुशुण्डीजीके सम्बन्धमें आया है। यहाँ महर्षि अत्रिजीके लिये। धर्मगति और श्रीरामभक्तिमें परम कुशल होनेसे 'परम प्रवीन' विशेषण दिया गया। इसमें जो बातें होनी चाहिएँ सब आ गईं।] ब्रह्माके पुत्र हैं जैसे ब्रह्माजी स्तुति करते हैं वैसे ही ये भी स्तुति करते हैं, यथा "सुनि बिरंचि मन हरष तन पुलकि नयन बह नीर। अस्तुति करत जोरि कर सावधान मति धीर ।१।१८५।' बड़ेकी स्तुति हाथ जोड़कर की जाती है। 'जोरि पानि' से भी ऐश्वर्यभाव दिखाया, यथा 'कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करउँ अनंता'''।१।१९२।' ( कौशल्याजी कृत स्तुति ), 'गई भवानी भवन बहोरी। बंदि चरन बोली कर जोरी। १।२३५।' इत्यादि।

३—'करि पूजा' आदिमें कहकर 'अस्तुति करत' तक षोडशोपचार सूक्ष्मरीतिसे दिखाया। 'षोडशोपचार यथा "आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्। मधुपर्काचमनं स्नानं वस्त्रं चाभरणानि च ॥ सुगन्धं सुमनो धूपं दीपं नैवेद्य वंदनम्।" यहाँ—'सादर निज आश्रम तब आने' इत्यावाहनम्—( १ )। 'प्रभु आसन आसीन' इत्यासनम्—( २ )। 'प्रेम बारि द्वौ जन अन्हवाये' इतिस्नानं—( ३ )। 'दिये मूल फल प्रभु मन भाये' इति नैवेद्यम्—(४)। 'जोरि पानि अस्तुति करत' इति वन्दनम्—(५)। और 'करि पूजा' में अन्य सब उपचार भी जना दिए।

नोट—इसी प्रकार प० पु० उ० अ० २४२ में प्रायः सब प्रधान उपचारोंद्वारा श्रीरघुनाथजीका पूजन हुआ है। यथा "आसने सुशुभे मुख्ये निवेश्य सह सीतया। अर्घ्यं पाद्यं तथाचामं वस्त्राणि विविधानि च ॥ ।२१५। मधुपर्कं ददौ प्रीत्या भूषणं चानुलेपनम्।''' दिव्यान्नपानभक्ष्याद्यैर्भोजयामास राघवम् ।२१७। तेन संपूजितस्तत्र भक्त्या परमया नृपः।" अर्थात् श्रीअत्रिजीने श्रीजानकीजी सहित रघुनाथजीको आसनपर बैठाकर परम भक्तिके साथ अर्घ्य, पाद्य, आचमन, मधुपर्क, वस्त्र, आभूषण, चन्दन और दिव्य अन्नपानादि नैवेद्य इत्यादि द्वारा उनका सम्यक् प्रकारसे पूजन किया।

( नगस्वरूपिणी छन्द )

**नमामि भक्तवत्सलं कृपालु शील कोमलं । भजामि ते पदांबुजं अकामिनां स्वधामदं ॥ (१)**

अर्थ—भक्तवत्सल, दयालु और कोमल स्वभाववाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ । निष्कामभक्तोंको अपना धाम देनेवाले आपके चरणकमलोंको मैं भजता हूँ । (१)

नोट—१ (क) यह स्तुति नगस्वरूपिणी छन्दमें की गई है। इस वृत्तके चारों चरणोंमें ८, ८ अक्षर होते हैं और दूसरा, चौथा, छठा और आठवाँ वर्ण चारों चरणोंका गुरु होता है। इस काण्डमें ऐसे १२ छन्द आए हैं। नग पर्वतको कहते हैं। यहाँसे आगेकी यात्रामें बराबर पहाड़ और पहाड़ी वन मिलेंगे, यहींसे पहाड़की यात्रा प्रारम्भ हुई है, यह बात प्रथम ही स्तुतिको इस वृत्तमें देकर जना दी। (ख) मा० हं० कार लिखते हैं कि—अत्रिस्तव नगस्वरूपिणी अथवा प्रमाणिका छन्दमें रचित है। यह छन्द स्वयं ही बड़ा लोचवाला होता है। स्वामीजीने उसकी योजना करके अपने अत्रिस्तत्वको विशेष मोहकता प्राप्त कर दी है। प० प० प्र० लिखते हैं कि प्रामाणिक भक्तोंके लिये भगवान् क्या क्या करते हैं, उनके पारमार्थिक योग-क्षेमको कैसे चलाते हैं यह ठौर-ठौरपर यहाँ ध्वनित किया है। इस विचारसे यह स्तुति प्रमाणिका छन्दमें की गई। मानसकी मुख्य अट्ठाईस स्तुतियोंमें यह स्तुति अत्यन्त प्रलोभनीय है। इसके प्रत्येक तीसरी मात्रा-पर ताल आनेसे पढ़ने एवं गानेमें एक प्रकारकी मस्ती-सी आ जाती है। दोहा १ में जो सिद्धान्त 'अति कृपाल रघुनायक सदा दीनपर नेह' ग्रथित किया उसका ही विस्तार इस स्तुति तथा इस काण्डके बहुतसे प्रसंगोंमें हुआ है। अतएव प्रथम छन्दके प्रथम चरणमें इस सहज स्नेहका ही कथन महर्षिने किया है। (ग) स्तोत्र चार प्रकारके हैं, यथा 'द्रव्यस्तोत्रं गुणस्तोत्रं कर्मस्तोत्रं तथैव च । तथैवाभिजन स्तोत्रं स्तोत्रमेवं चतुर्विधम् ॥ इति मत्स्यपुराणे चतुश्चत्वारिंशदधिक शततमेऽध्याये ॥' (पु० रा० कु०)। (घ) नगस्वरूपिणी छन्दका भाव कि 'अचलता, गिरिकाननविहारी राम प्रतिपाद्य, और धराधर भूभारहरण-पालन-हेतु चले हैं' यह बात विना कहे भी कुछ-कुछ छंदसे ज्ञात होती है। जैसे स्रगधरा छन्दसे विना कहे माला निकलती है। (प्र०)।

टिप्पणी—१ (क) 'भक्तवत्सलं कृपालु शील कोमलं'। भक्तोंके लिए वात्सल्य, औरोंके लिए कृपालुता, यथा 'सब पर मोरि बराबरि दाया', और अपराधियोंके लिए शील और कोमलता ऐसी कि जयन्तका वध उचित था तो भी उसे छोड़ दिया। ( ख ) 'भक्तवत्सल' अर्थात् जैसे गौ को बछड़ा अत्यन्त प्यारा होता है वैसे ही आपको भक्त प्रिय हैं। पुनः, जैसे वह परबस चरने जाती है तो हंकारकर दौड़ती बच्चेके पास आती है और कभी-कभी खूंटा तक उखाड़कर उसके पास पहुँचती है, यथा 'जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गईं। दिन अंत पुर रुख स्रवतथन हुंकार करि धावत भईं ॥ ७.६।' वैसे ही आपको भक्त प्रिय हैं, यथा 'जेहि जनपर ममता अति छोहू। १।१३।६।', 'बालक सुत सम दास अमानी।', 'करउं सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी। ४।३।५-८।' इसीसे आप राज्यरूपी बन्धन छुड़ाकर हमको दर्शन देने आए, यथा 'नवगयंद रघुबीर मन राजु अलान समान। छूट जानि बन गवन सुनि उर अनंद अधिकान। २।५१।' विशेष 'भगतबछल प्रभुकृपानिधाना। १।१४६।८।' देखिए। भक्तवत्सलता भुशुण्डिजीके प्रसंगमें देखिए—'भगत बछलता प्रभु कै देखी। ७।८३।७।' पुनः, [ भक्तवत्सलका भाव कि हम बछड़ेके समान हैं। नित्य नैमित्तिकादि कर्मोंकी रस्सीमें बँधे हुए हैं। इससे आपके पास नहीं पहुँच सके और आप हमें कृतार्थ करनेको पहुँच ही गए। ( रा० प्र० )। पुनः, गौ अपने बछड़ेकी मलिनताका खयाल नहीं करती किन्तु मलिनताको चाटकर दूर कर देती है, इसी तरह जो प्रभुकी शरण आता है उसके दोषोंको दूर करके वे शुद्ध करते हैं—यह भी भाव 'भक्तवत्सल' पदमें है। ( पं० रा० व० श० )। पुनः, 'पुत्रादि स्नेहपात्रेऽभिला-षोस्यास्ति' ( अमरव्याख्यासुधा )। जिसको पुत्रादि स्नेहपात्रोंकी अभिलाषा होती है, उसे वत्सल कहते हैं। भगवान्के प्रिय पुत्र तो 'बालक सुत सम दास अमानी। ३।४३।' हैं। दीनोंके प्रति उनका अनन्य, अपार,

अगाध, अतुलनीय स्नेह रहता है। ( प० प० प्र० )। 'भजामि' का अर्थ है 'आश्रय लेता हूँ।' (प०प०प्र०)। 'कृपालु शील कोमलं'—भाव कि भक्तसे बिगड़ जानेपर भी क्रोध नहीं करते, बिगड़ी सुधार देते हैं। यथा 'अति दयाल गुरु स्वल्प न क्रोधा। पुनि पुनि मोहि सिखाव सुबोधा॥ एक सूल मोहि बिसर न काऊ। गुरु कर कोमल सील सुभाऊ।' ]

नोट—२ पदाम्बुजके भजनेका भाव वही है जो 'मुनिमन मधुप बसहिं जेन्ह माहीं।१।१४८।१।', 'करि मधुप मन मुनि जोगिजन जे सेइ अभिमत गति लहैं। १।३२४ छंद।', 'मुनि मन मधुप रहत जिन्ह छाए। १।३२७।२।', 'पदकमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना। १।२११ छंद।', 'रामचरन-पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजै न पासू। १।१७।४।', 'रामपदारविंद रति करत सुभावहिं खोइ। ७।२४।', 'मन मधुपहि पन कै तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं। वि० १०५।', 'सुमिरत रामचरन जिन्ह रेखा' (आ०), इत्यादिमें है। भाव कि इन चरणोंका ही सदा स्मरण, ध्यान, मानसिक पूजन करता हूँ, भौंरेकी तरह मेरा मन इन्हींमें लुब्ध रहता है, चरणचिह्नोंका ध्यान करता हूँ, इन्हीं चरणोंका यश गान करता हूँ। यथा 'जे पदसरोज मनोज अरि उर सर सदैव बिराजहीं। जे सकृत सुमिरत बिमलता मन सकल कलिमल भाजहीं। जे परसि मुनि बनिता लही गति रही जो पातकमई। मकरंद जिन्हको संभु सिर सुचिता अवधि सुर बर नई। ... १।३२४ छंद।', 'ध्वजकुलिस अंकुस कंज-जुत बन फिरत कंटक किन लहे। ७।१३ छंद।', 'स्याम बरन पद पीठ अरुन तल लसति बिसद नखश्रेनी। जनु रबिसुता सारदा सुरसरि मिलि चली ललित त्रिबेनी। अंकुस कुलिस कमल धुज सुंदर भवँर तरंग बिलासा। मज्जहिं सुर सज्जन मुनिजन मन मुदित मनोहर बासा। गी० ७।१५।'

टिप्पणी—२ (क) 'अकामिनां स्वधामदं' इति। अर्थात् कर्मकांडी कर्मोंके फलोंकी कामनायें त्यागकर अथवा उन्हें आपको समर्पण करके आपके धामको जाते हैं। पुनः, भाव कि निष्काम होकर चरणोंकी भक्ति करनेपर ही आप निजधाम देते हैं, अन्यथा नहीं। ( ख ) प्रथम श्लोकमें गुण कहा। ( ग ) 'स्वधामदं'—स्वधाम = निजधाम। [ धाम शब्द बड़ा उत्तम है। इसमें सभी तरहके धामों एवम् मोक्षोंका समावेश हो गया। विष्णु-अवतारसे वैकुण्ठ धाम, श्रीमन्नारायणावतारसे क्षीरशायी वैकुण्ठ और परात्पर परब्रह्म रामावतारसे साकेत धाम। पुनः, धाम = तेज; रावण कुम्भकर्णका तेज आपके तेजमें समा गया, यथा 'तासु तेज समान प्रभु आनन', 'तासु तेज प्रभु बदन समाना', (लं०)। यह भी 'धाम' है। पुनः, 'निज धाम' वह है जहाँसे फिर लौटना वा पुनरागमन नहीं होता, जहाँ सब संत जाते हैं। यथा 'पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं। ६।११५।', 'देहिं राम तिन्हहूँ निज धामा। ६।४४।', 'मम धामदा पुरी सुखरासी। ७।४।', 'तुम्हहू दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं। ६।१०३।' 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। गीता ८।२१।' इसीको योगिदुर्लभगति, परमगति आदि भी कहते हैं। यथा 'मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना।''' 'निज पद दीन्ह असुर कहुँ दीन-बंधु रघुनाथ। ३।२७।', '''गीध गयउ हरिधाम।'''।३२।'''। गति दीन्ही जो जाचत जोगी।', 'जोगि बृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई।''''हरिपद लीन भइ जहं नहिं फिरे। ३।३६।' इत्यादि ]

निम्न मिलानके प्रसंगोंसे इस स्तुतिमें आए हुए विशेषणोंके भाव स्पष्ट हो जायेंगे।

| श्रीअत्रिजी | श्रीमनुशतरूपाप्रकरण |
| --- | --- |
| नमामि भक्तवत्सलं | भगत बछल प्रभु कृपा-निधाना |
| भजामि ते पदांबुजं | पदराजीव बरनि नहिं जाहीं |
| निकाम श्याम सुन्दरं''' | { नील सरोरुह नीलमनि नीलनीरधर श्याम।<br>{ लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि-कोटि सतकाम |
| प्रफुल्ल कंज लोचनं | नव अंबुज अंबक छबि नीकी |

| | |
|---|---|
| प्रलंब बाहु विक्रमं | करिकर सरिस सुभग भुजदंडा |
| निषंग चाप सायकं | कटि निषंग कर सर कोदंडा |
| स्वभक्त कल्पपादपं | सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू |
| मनोज वैरि वंदितं अजादि देव सेवितं | बिधि हरि हर बंदित पद रेनू |
| पदाब्ज भक्ति देहि मे | सुत विषयक तव पद रति होऊ |

प० प० प्र०—इस छन्दमें अनुबंध चतुष्टय भी ध्वनित है। भक्तवत्सल भगवान्के 'पदाम्बुज' से विषय, 'भजामि' से भज्यभजक-भाव, 'अकामिनां' से पदाम्बुजके अधिकारी और 'स्वधामदम्' से प्रयोजन (फल) कहा। 'अकामिनां' से काम, क्रोध, लोभ रहित जनाया, क्योंकि काम होनेसे ही क्रोध और लोभ होता है। इस छन्दका अकामिनां शब्द अगले छन्दके 'निकाम श्याम सुन्दरं' का बीज है।

☞ इस स्तुतिमें भा० दा० जीने प्रायः 'श' की जगह 'स' ही दिया है। पर मानसपीयूषमें काशिराज एवं ना० प्र० आदिके अनुसार हमने 'श' रखा है।

**निकाम श्यामसुंदरं भवांबुनाथ मंदरं। प्रफुल्ल कंज-लोचनं मदादि दोष मोचनं॥ (२)**

अर्थ—अत्यन्त श्यामसुन्दर, भवसागर (को मथन करने) के लिए मन्दराचलरूप, पूर्ण खिले हुए कमलके समान नेत्रवाले, मद आदि दोषोंको छुड़ानेवाले हैं। (२)

टिप्पणी—१ 'निकाम श्याम सुंदरं···' इति। (क) यथा 'श्यामल गात प्रनत भय मोचन।५.४५.४।' निकाम = अत्यन्त। यथा 'कोपेउ समर श्रीराम चले बिसिख निसित निकाम।२०।' काम, प्रकाम और निकाम ये सब 'अत्यन्त' वाचक शब्द हैं। [पिछले चरणमें 'अकामिनां' से अधिकार कहा। अब इस चरणमें अधिकार-प्राप्तिका साधन बताते हैं। कामका बल स्त्री है—'कामके केवल नारि।' और स्त्रीमें उसका रूप ही आकर्षणका विषय है। अतः कहते हैं कि श्रीरामजी 'निकाम श्याम सुंदर' हैं। अखिल विश्वमें कोई ऐसा सुन्दर नहीं है। (नोट—श्रीरामके सौन्दर्यपर अन्यत्र कई स्थलोंपर लिखा जा चुका है)। अतः साधन यही है कि उनके सौन्दर्यमें मग्न हो जाओ, काम स्वयं भाग जायगा, फिर तो भगवान्को आतुर चले आते देखोगे। (प० प० प्र०)।] (ख) 'भवांबुनाथमंदरं' इति। भवांबुनाथ = भव + अंबुनाथ = भवरूपी समुद्र। 'मंदर' का भाव कि आपको किंचित् परिश्रम नहीं होता। अथवा, समुद्रके उत्तम पदार्थ देखने और प्राप्त करनेके लिए आप भवसागरको मथकर उसमेंसे भक्तरूपी रत्न निकालकर धारण करते हैं। [ मिलान कीजिए—'प्रेम अमिय मंदरु-बिरह भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर। २.२३८।' यहाँ भवसागरके मथनका भाव केवल यही है कि आप जीवोंको जन्ममरणादि दुःखसे मुक्त करनेवाले हैं। ] विशेष आगे नोटमें देखिए। ब्रह्माजी तथा त्रिपुरारि शिवजीने भी स्तुतिमें यह विशेषण दिया है। यथा 'भव बारिधि मंदर सब बिधि सुंदर···।१.१८६ छं.।', 'भववारिधि मंदर परमं दर। वारय तारय संसृति दुस्तर। लं० ११४ छं.।' इससे जनाया कि ब्रह्मा और शिवजी भी भवसे डरते हैं।

टिप्पणी—२ 'प्रफुल्ल कंज लोचनं···' इति। (क) लोचनके साथ मोचन कहकर जनाया कि आपके कृपाकटाक्षमात्रसे मदादि दोष छूट जाते हैं। (ख) इसी प्रकार 'श्यामसुंदर' के समीप 'भवांबुनाथ मंदरं' कहकर जनाया कि आपका श्यामल शरीर भवको छुड़ानेवाला है, यथा 'श्यामल गात प्रनत भय मोचन।' (ग) 'कंजलोचन' से कृपासे परिपूर्ण जनाया। (घ) यहाँ दूसरे श्लोकमें शृंगार कहा।

नोट—१ भव=इस संसारका वह भाग जो जीवके अन्तःकरणमें है। अर्थात् जिसपर जीवका ममत्व है, जिसको अपना समझकर वह उसके लाभालाभमें सुखी दुःखी बना रहता है। भवके लिए मंदररूप कहनेका भाव कि जीवके उस ममत्वको हृदयसे मथकर निकाल देते हो। (रा० प्र० श०)।

२—'मदादि दोष', ये वही मानसरोग हैं जिनका उ० १२१ (२९-३७) में वर्णन है। अर्थात् काम,

क्रोध, लोभ, मोह, ममत्व, ईर्ष्या, अहंकार, तृष्णा, कपट, दंभ, पाखंड, मत्सर इत्यादि । 'भवांबुनाथमंदरं मदादि दोषमोचनं', यथा 'मानमदमदनमत्सरमनोरथमथन मोहअंभोधिमंदर मनस्वी ।' ( वि० ५५ ) ।

प० प० प्र०—'भवांबुनाथ मंदरं' इति । मानसमें सागरमंथनका रूपक त्रिविध रूपोंमें आया है। समुद्रमंथनमें जड़ मंदर पर्वत मथानी, कूर्मभगवान् उसको थामनेवाले, देवासुर मथनेवाले होते हैं; पर भव-सागरमंथनके लिए 'कृपाल शील कोमल नितांत सुन्दर' श्रीरामजी मंदररूप तथा कूर्मभगवान् हैं । उनपर दृष्टि लगाये हुए विचार-सत्संगरूपी रज्जुसे ही मंथन करना चाहिए । इस मंथनसे अमृत ( मोक्ष, स्वधाम ) की प्राप्ति होगी । मथनेपर प्रथम जो हालाहल, सुरा और बड़वानल उत्पन्न होंगे उनसे रक्षाके लिये अन्य किसीके पास जानेकी आवश्यकता नहीं है, यह तीसरे और चौथे चरणसे जनाते हैं । मद मोह मत्सर ही हालाहल, सुरा और बड़वानल हैं। देखिए, काम-क्रोध-लोभ रहित होनेपर देवर्षि नारदको 'उर अंकुरेउ गर्वतरु भारी', 'जिता काम अहमिति मन माहीं ।' यही हालाहल है । अहंकारसे मोह होता है । मोह मदिरारूप है, जिसके पानमें कर्तव्याकर्तव्य ज्ञान आदि सब सद्गुणोंका नाश होता है ।—'मोह न अंध कीन्ह केहि केही ।' नारदजी इष्टदेवको ही दुर्वचन कह बैठे । बड़वानल = ताप = ज्वर । मत्सरको ज्वर कहा ही है, यथा 'जुग विधि ज्वर मत्सर अविवेका ।७.१२१.३७ ।' अतः मत्सर बड़वानल हुआ । इन तीनों दोषोंको श्रीरामजी कृपादृष्टिमात्रसे दूर कर देते हैं, यह अगले चरणोंमें कहा है ।

**प्रलंब बाहु विक्रमं प्रभोऽप्रमेय वैभवं । निषंग चाप सायकं धरं त्रिलोक नायकं । (३)**
**दिनेश वंश मंडनं महेशचाप खंडनं । मुनींद्र संत रंजनं सुरारिबृंद भंजनं ॥ (४)**

शब्दार्थ—अप्रमेय = जो प्रमाणसे अनुमान करके निश्चय न किया जा सके । जिसका अंदाजा नहीं हो सकता । मंडन = भूषण, शोभित करनेवाला ।

अर्थ—हे प्रभो ! आपकी लम्बी ( आजानु ) भुजाओंका पराक्रम अतुलनीय है और आपका ऐश्वर्य प्रमाण रहित है, आप तरकश और धनुषबाण धारण करनेवाले, तीनों लोकोंके स्वामी ॥३॥ सूर्य्यवंशके भूषित करनेवाले ( आभूषण ), महादेवजीके धनुषको तोड़नेवाले, मुनिराजों और सन्तोंको आनन्द देनेवाले, देवताओंके शत्रु असुरसमूहके नाशक हैं ॥४॥

नोट—१ (क) 'प्रलंब बाहु विक्रमं अप्रमेय वैभवं', यथा 'अतुलित भुज प्रताप बल धामः । १०.१५ ।' (सुतीक्ष्णजी) । (ख) 'प्रलंब बाहु'—प्रभुकी भुजाएँ घुटने तक लम्बी हैं, इसीसे आजानुबाहु कहलाते हैं । इन सब चरणोंका भाव यह है कि आप सदा भक्तों, सन्तों और मुनियों आदिकी रक्षामें तत्पर रहते हैं । बाहु ऐसी लम्बी और पराक्रमशाली हैं कि इनसे शत्रु किसी तरह बच नहीं सकता, उसपर भी आप अक्षय त्रोण-धनुष और बाण सदा धारण किए रहते हैं, भक्त-दुःख हरण करनेमें किंचित् विलम्ब नहीं सह सकते । पुनः, 'प्रलंब बाहु' भुशुण्डिजीके प्रसंगमें देखिए; यथा 'राम गहन कहँ भुजा पसारी ॥', 'जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा । तहँ भुज हरि देखउँ निज पासा ॥ ब्रह्मलोक लगि गयउँ मैं चितयउँ पाछ उड़ात । जुग अंगुल कर बीच सब रामभुजहि मोहि तात ॥ सप्तावरन भेद करि जहाँ लगे गति मोरि । गयउँ तहां प्रभु भुज निरखि व्याकुल भयउँ बहोरि । ७.७६ ।' एवं सुं० ४६ (२) में टिप्पणी देखिए । (ग) मिलान कीजिए—'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई । मैं मतिमंद जान नहिं पाई' । अभी अभी लोकको इसका प्रमाण मिल चुका है । अतः 'अप्रमेय वैभवं' कहा ।

प० प० प्र०—अकामिताके होनेपर उसमेंसे प्रादुर्भूत दोषोंका निवारण करके स्वधामकी प्राप्ति कर देना ऊपर कहा । इस प्रकार भक्तिरसामृत तो मिला तथापि उसके चुरानेवाले बहुत हैं । योग तो हुआ पर क्षेम भी चाहिए । श्रीरामजी क्षेम किस प्रकार वहन करते हैं यह अब कहते हैं । 'प्रलंब बाहु विक्रमं' से जनाया कि आपको कहीं जाना नहीं पड़ता, आपकी भुजाओंका विक्रम सर्वत्र कार्य कर सकता है । भुजायें

सर्वत्र व्यापक हैं, इससे दृष्टिका भी सर्वव्यापक होना सिद्ध हो गया क्योंकि बिना देखे भुजा भुशुण्डिजीका सर्वत्र पीछा कैसे करती ? 'प्रभोऽप्रमेय वैभवम्' से बताया कि आपके भक्तोंको योग-क्षेमकी चिन्ता और प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं। भगवान्‌का सम्पूर्ण ऐश्वर्य भक्तका है। अब रही शरीर प्राणोंके रक्षणकी बात वह 'निषंग चाप···' में बताते हैं।

नोट—२ 'त्रिलोक नायकं' कहकर 'दिनेशवंशमंडन' कहनेका भाव कि वे ही आप सूर्यवंशको भूषित करनेवाले हुए हैं। 'दिनेशवंश' कहनेका भाव कि यह वंश बड़ा प्रतापी, तेजस्वी, उदार और शरणपाल हुआ है, इसीसे आपने उसमें अवतार लिया जिसमें आपको कोई जान न पाये, सब दशरथ-नन्दन राजकुमार ही समझें। 'इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे। १.१५२.२।' तथा 'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं दिनकर बंस उदारा। १.१८७.२।' देखिए। 'महेश चाप-खंडनं' से त्रैलोक्यविजय-श्री सहित आदिशक्ति श्रीसीताजीका पाणिग्रहण कहा।

वि० त्रि०—सरकारके धनुषबाण अखण्ड दण्डायमानकाल तथा खण्डकालके प्रतीक हैं। निषंग खण्डकालोंका कोष है। यथा 'लव निमेष परमानु जुग बर्ष कल्प सर चंड। भजसि न मन तेहि राम कहँ काल जासु कोदंड।' अतः त्रिलोकनायक कहा। यहाँ तक नित्य दिव्यमूर्तिका वर्णन है।

पु० रा० कु०—१ (क) मुनींद्रसंतरंजन हैं, अतएव 'सुरारिवृन्दभंजन' हुए। उन्हींके लिए दुष्टोंका दलन करते रहते हैं, यथा 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे। गीता ४.८।', 'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे। ५.४८।', 'निसिचरहीन करउँ महि··· मुनिन्हके आश्रमन्ह जाइ जाइ सुख दीन्ह।९।' [ अत्रिजी ऐश्वर्यके उपासक हैं, अतः वे अगस्त्यजीकी भाँति यह नहीं कहते कि 'कीजै सकल मुनिन्ह पर दाया। ३.१३.१०।' (प० प० प्र०) ] (ख) त्रिलोकनायक हो, अतः लोकोंकी रक्षाके लिए धनुषबाण धारण किए हो। (ग) 'दिनेशवंशमंडन' का भाव कि यह वंश जगत्‌का भूषण है और आप उस वंशके भी भूषण एवं भूषितकर्त्ता हैं। (घ) 'महेशचाप' कहकर धनुषकी कठोरता दिखाई। जो किसीसे न टसका उसे भी आपने तोड़ डाला। (ङ) छन्द (३) में वीर स्वरूप और (४) में रामायण है।

२ (क) यहाँ भूत भविष्य वर्तमान तीनों दिखाए। त्रिलोकके स्वामी थे, वही वर्तमानमें रघुकुल-भूषण हुए और अब मुनियों सन्तोंको सुख देनेके लिए निशाचरोंका नाश करने जा रहे हैं, इत्यादि। (ख) सातों काण्डोंका चरित इन विशेषणोंद्वारा कहा गया है। 'भक्त वत्सल त्रिलोकनायक' से पूर्व मनुशतरूपा आदिका प्रसंग कहा। 'दिनेशवंशमंडनं', 'महेशचापखंडनं' से जन्मसे विवाह तक बालकाण्ड समाप्त किया। 'मुनीन्द्रसन्तरंजनं' से राज्यत्याग अयोध्याकांड हुआ, 'सुरारिवृन्द-भंजनं' से अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर और लंकाकी कथा रावणवध तक कही। तत्पश्चात् 'मनोजवैरिवंदितं अजादि देवसेवितं' से निशाचरनाशपर सबकी वन्दना एवम् रामराज्याभिषेक आदि कहे और 'विशुद्धबोधविग्रहं समस्त दूषणापहम्' से शान्त रामराज्य कहकर उत्तर रामचरित समाप्त किया। यथा 'रामराज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका। ७.२०।' [ (ग) श्रीबैजनाथजीका मत है कि भक्तवत्सलसे अवतारका कारण कहा, 'मुनीन्द्रसंतरंजनं' से चित्रकूट और दण्डकारण्यकी लीला अर्थात् अरण्यकांड हुआ। 'सुरारिवृन्दभंजनं' से रावणवधका उपाय एवं उसका वध अर्थात् किष्किन्धा, सुन्दर और लंकाकांड हुआ। आगे 'सशक्ति सानुजं' से राज्य, 'जगद्गुरुं' से अपने आचरणसे प्रजा आदिको उपदेश और 'अद्भुतं' से आदर्श राज्य एवं साकेतयात्रा, यथा 'बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम। प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निजधाम। १.११०।' इसी विषयपर रा० प्र० के भाव छंद ११, १२ में देखिए। ]

मनोजवैरिवंदितं अजादि देव सेवितं। विशुद्ध-बोध-विग्रहं समस्तदूषणापहं ॥ (५)

नमामि इंदिरापतिं सुखाकरं सतां गतिं। भजे सशक्ति सानुजं शचीपति प्रियानुजं ॥ (६)

अर्थ—कामदेवके शत्रु श्रीमहादेवजीसे वंदित, ब्रह्मादि देवताओंसे सेवित, विशेष निर्मल ज्ञानके विग्रह ( मूर्तिमान स्वरूप ) और समस्त दोषोंके नाशक आपको मैं नमस्कार करता हूँ ॥५॥ लक्ष्मीके पति, सुखकी खानि, सत्पुरुषोंकी ( एकमात्र ) गति आपको मैं नमस्कार करता हूँ। इन्द्राणीके पति इन्द्रके प्रिय छोटे भाई, आदिशक्ति श्रीसीताजी और भाई लक्ष्मणसहित आपको मैं भजता हूँ ॥६॥

टिप्पणी—१ (क) 'मनोजवैरिवंदितं अजादि-देव-सेवितं'—यहाँ शिवजी और ब्रह्मादिको निवृत्ति और प्रवृत्तिके भेदसे पृथक्-पृथक् कहा। 'अजादि देव सेवितं', यथा 'सुर बिरंचि मुनि जाके सेवक'। पुनः शिवजी सदा यश गाते रहते हैं, उनको कुछ काम नहीं है और अन्य सब देवताओंको अनेक काम दिए हैं जिनमें वे सब लगे रहते हैं, अतः देवताओंसे सेवित कहा। यथा 'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई। ६।२२।१।' पुनः भाव कि शिवजी ब्रह्मा-विष्णु-आदि सबसे वंदनीय हैं। यथा 'संकर-जगतबंद्य जगदीसा। सुरनरमुनि सब नावत सीसा॥ तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा। १।५०।६-७।', 'सिद्ध सनकादि योगीन्द्र वृन्दारका विष्णुविधिवन्द्य चरनारविन्दं।' ( वि० १२ )। सो आप उन शिवजीसे भी वंदित हैं। यथा 'कोसलेन्द्रपदकंजमंजुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ। ७ मं० २।' यहाँ मनोज वैरि ( कामारि ) विशेषण ( क्रियावाचक नाम ) देकर कामदेवको जलानेवाला पूरा प्रसंग स्मरण कराते हैं कि वहाँ ब्रह्मा विष्णु आदि सभी देवताओंने जाकर वन्दना की तब उन्होंने कहा था कि 'कहहु अमर आएहु केहि हेतू'। 'अजादि०' का भाव कि ब्रह्मा सृष्टिके रचयिता हैं और लोक-पालादि सभीके स्वामी हैं तथा सभीसे वंद्य हैं सो वे भी आपकी सेवा करते हैं। अर्थात् आप सबके स्वामी हैं, सब आपके सेवक हैं। (प्र०)। ख) 'विशुद्धबोधविग्रहं' अर्थात् भीतर बाहर विशुद्ध ज्ञान ही ज्ञानरूप हो जैसे स्वर्ण भीतर-बाहर सब स्वर्ण ही है, बोध ही देह है अर्थात् चिन्मय शरीर है। यथा 'शुद्ध बोधायतन सच्चिदानंदघन' (वि० ५५), 'ज्ञानघन सच्चिदानंदमूलं' ( वि० ५३ ), 'ज्ञान अखंड एक सीतावर', 'चिदानंदमय देह तुम्हारी' में जो भाव है वही 'बोधविग्रह' का है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतिः। (ग) 'विशुद्धबोधविग्रहं' कहकर तब 'समस्त दूषणापहं' कहा क्योंकि ज्ञान समस्त दूषणोंका नाशक है, यथा—'जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना। जिमि इंद्रियगन उपजें ज्ञाना। ४.१५।' इस श्लोकमें भी रामायण कही। 'विशुद्ध…' से यह जनाया कि आप मायाशबलब्रह्म नहीं हैं तथा सर्वविकाररहित हैं।

प० प० प्र०—१ अन्यत्र 'बिधि हरिहर बंदित पद रेनू' कहा है। पर यहाँ 'हरि' को न कहनेका कारण छन्द ६ में दिया है। 'मनोजवैरि' नाम देकर यह भी जनाया कि 'अकाम' होनेपर भी वे भजन करते हैं, इसी प्रकार जो कामादिरहित हैं उनको भी भजन करना चाहिए, यह उपदेश है।

२ 'विशुद्ध बोध विग्रहं…'—आप जन्मादि छः विकार, षडूर्मि, अवस्थाभेद, स्वगतादि भेद इत्यादि दोषोंके नाशक हैं, अतः आपमें ये दोष कहाँ ? निर्दोषका चिन्तन करनेसे निर्दोषता प्राप्त होती है। यथा 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः। गीता ५।१९।', 'मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते। भा० ११।' भगवद्विग्रह पंचभूतमय नहीं है। यथा 'अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य। भा० १०।१४।२ ब्रह्मस्तुति।'

टिप्पणी—२ (क) 'नमामि इंदिरापतिं सुखाकरं' इति। भाव कि आपको कुछ एक लक्ष्मीका ही सुख नहीं है वरन् आप समस्त सुखोंकी खानि हैं, आपके सुखके एक छींटा सीकर मात्रसे संसारभरका सुख है, यथा—'जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा। १.१९७.५।' [ पुनः, 'नमामि इंदिरापतिं' कहकर फिर 'भजे सशक्ति सानुजं' कहनेका भाव यह है कि श्रीपति आदि अन्य आपके रूपोंको मैं नमस्कारमात्र करता हूँ पर भजता श्रीसीतालक्ष्मणसंयुक्त आपको ही हूँ। अर्थात् यह रूप उपास्य है ]। (ख) [ 'सुखाकर' सुखकी खानि कहकर 'आनंदघन' जनाते हुए ब्रह्म जनाया—'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। तैत्ति० ३.६।' अर्थात् आनंद ही ब्रह्म है इस प्रकार निश्चयपूर्वक जाना। पुनः यहां 'सुखाकर'

कहा क्योंकि आगे इन्द्रका 'प्रिय अनुज' कहकर इन्द्रको सुखदाता हुए यह कहेंगे। 'सतांगतिं' सज्जनोंकी गति कहनेका भाव कि आप संतोंको अपना धाम देते हैं, उनके एकमात्र आश्रय हैं; यथा—'पुनि मम धाम पाइहहु जहां संत सब जाहिं। ६.११५।' 'सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः। वाल्मी० १.१.१६।' अर्थात् जैसे समुद्र नदियोंसे मिला करता है वैसे ही आप सज्जनोंसे मिला करते हैं (उनकी भीड़ सदा लगी रहती हैं क्योंकि आप ही उनके आश्रय हैं), 'परा त्वत्तोगतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते। वाल्मी० ३.६.२०।' अर्थात् इस पृथ्वीपर आपको छोड़ दूसरा रक्षक हम लोगोंको दिखाई नहीं पड़ता। (यह दण्डकारण्यके ऋषियोंने स्वयं प्रभुसे कहा है।—यह इस कांडका चरित सूचित करता है कि ऋषि आपकी शरण आएँगे और आप रक्षाकी प्रतिज्ञा करेंगे।] (ग) 'शचीपति प्रियानुजं'। अदिति के पुत्र इन्द्रादि हैं और उन्हींसे वामन अवतार हुआ, अतः भाई हुए। 'प्रिय' क्योंकि इन्द्रका राज्य जो बलिने छीन लिया था वह उससे भिक्षाद्वारा लौटाकर वामनजीने इन्द्रको पुनः दिया। प्रियत्वके कारण भीख मांगी। भाव कि वहां तो बलिसे राज्य लेकर इन्द्रको दिया था और यहां रावणवध करके इन्द्रादि को सुखी करोगे। 'अनुज' छोटे भाई को कहते हैं, यहाँ भगवान्‌का वामन अवतार इन्द्रके पीछे हुआ, अतः 'अनुज' कहा। वामनजीकी कथा अ० ३० (७) में देखिए। इस श्लोकमें द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत तीनोंका मत कहा। 'इन्दिरापतिं' से द्वैत, 'सुखाकरं सतांगतिं' से अद्वैत और 'सशक्ति सानुजं' से विशिष्टाद्वैत।

प० प० प्र०—'भजे सशक्ति सानुजं' इति। श्रीसीताजी ब्रह्मविद्या हैं, ऐसा स्कन्दपुराणमें कहा है। लक्ष्मणजी परम वैराग्य हैं। इन दोनोंकी कृपाके विना ज्ञानका कुछ उपयोग होता ही नहीं। श्रीरामजी केवल ज्ञातिस्वरूप हैं। अतः प्रथम पूजन श्रीलक्ष्मणजीका ही करना चाहिए। श्रीसीताजी उद्भवस्थितिसंहारकारिणी क्लेशहारिणी सर्वश्रेयस्करी हैं और लक्ष्मणजी 'लच्छनधाम रामप्रिय सकल जगत आधार' हैं, अतः दोनोंका भजन आवश्यक है।

पां०—'शचीपति प्रियानुज' में भाव यह है कि जैसे बलिको छलकर देवताओंकी रक्षा की थी वैसे ही रावणको छलकर देवरक्षाहेतु आपने यह नररूप धारण किया है। यही रावणके साथ छल है; क्योंकि उसको वर था कि देवतादिके हाथसे न मरे और मनुष्य ऐसा बली कहां कि उसे जीत सकता?

प० प० प्र०—'शचीपति प्रियानुजं' कहकर जनाया कि आपने आज ही नहीं किन्तु पूर्वकालमें भी वामनरूपसे अवतार लेकर सुररंजन कार्य किया था और करते आये हैं, यथा 'जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हहि नसायो।', 'वामन परसुराम वपु धरी' (६।१०६)।

खर्रा—'समस्तदूषणापहं' तक मनुप्रतिपादित रामजीकी वन्दना है। और 'नमामि इन्दिरापतिं' में विष्णु-अवतार रामकी वन्दना है।

वि० त्रि०—'इन्दिरापति' कहकर श्रीरामजीका राज्याभिषेक कहा; यथा 'राम वाम दिसि सोभति रमा-रूप गुन खानि। ७।११।'; 'सुखाकर' से रामराज्यकी सुखसंपदा कही, यथा 'रामराज कर सुख संपदा। बरनि न सकहिं फनीस सारदा।' 'सतां गतिं' से सन्तोंका दर्शनार्थ आगमन कहा, यथा 'नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा। दिन प्रति सकल अयोध्या आवहिं।' सरकार गुणातीत और भोग-पुरन्दर हैं, अतः शचीपति प्रियानुज कहा।

**त्वदंघ्रिमूल ये नराः भजंति हीन मत्सराः। पतंति नो भवार्णवे वितर्कवीचि संकुले। (७)**
**विविक्तवासिनस्सदा भजंति मुक्तये मुदा। निरस्य इंद्रियादिकं प्रयांति ते गतिं* स्वकं॥ (८)**

अर्थ—जो मनुष्य मत्सररहित होकर आपके चरणमूलको भजते हैं वे तर्क-वितर्क रूपी लहरोंसे परिपूर्ण (भरे हुए) संसारसागरमें नहीं गिरते॥७॥ सदा एकान्तवासी, इन्द्रियादिके विषयोंसे उदासीन, जो मुक्ति के लिए आनन्दपूर्वक आपको भजते हैं वे 'स्वकीय' गतिको प्राप्त होते हैं॥ ८॥

* भा० दा० और पं० रा० गु० द्वि० में 'गति स्वकं' पाठ है।

नोट—'अंघ्रिमूल'=चरणका मूल अर्थात् तलवे । तलवेमें ही चिह्न होते हैं जिनका ध्यान उपासक करते हैं । यथा—'पदराजीव बरनि नहिं जाहीं । मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं । जहाँ-जहाँ चरणोंका ध्यान कहा है वहाँ-वहाँ चिह्नका ही ध्यान अभिप्रेत है । रज भी तलवेकी होती है जिसको शिरोधार्य्य करते हैं और जिसकी वन्दना की जाती है, चरणामृत भी तलवेका ही उतारा जाता है, अतः 'भजन्ति' के सम्बन्धसे 'अंघ्रि-मूल' पद दिया । 'त्वदंघ्रिमूल ये नराः भजन्ति' अर्थात् सगुणोपासक । ['पतंति नो भवार्णवे' से सूचित किया कि साकेत, वैकुण्ठ आदि नित्य अविनाशी धाममें जाते हैं । 'अकामिनां स्वधामदं' के ही भावको 'भजंति हीन-मत्सरा पतंति नो भवार्णवे' से स्पष्ट किया । 'मत्सराः' से कामादि मत्सरान्त सब मानस रोगोंका ग्रहण है ।]

टिप्पणी—१ (क) 'त्वदंघ्रि' 'भजंति०० पतन्ति००' का भाव कि जो लोग मत्सरयुक्त हैं और जो आपका भजन नहीं करते वे भवसागरमें गिरते हैं । यथा 'बहु रोग बियोगन्हि लोग हये । भवदंघ्रि निरादरके फल ये ॥ भवसिंधु अगाध परे नर ते । पद-पंकज प्रेम न जे करते ॥ अति दीन मलीन दुखी नितहीं । जिन्हके पद-पंकज प्रीति नहीं ।७।१४।' मिलान कीजिए 'मोह जलधि बोहित तुम्ह भए । ७।१२५ ।' पुनः, इससे जनाया कि उपासक भवसमुद्रमें नहीं पड़ते, यथा 'यत्पादप्लवमेकमेवहि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां । १ मं० श्लो० ६ ।' (ख) यहां उपासकोंकी मुक्ति स्पष्ट न कही । इसका कारण यह है कि उपासक मोक्ष नहीं चाहते, यथा 'राम उपासक मोच्छ न लेहीं' । ( प्र० स्वामीका मत है कि 'अंघ्रिमूल' का अर्थ दक्षिण पदाङ्गुष्ठ लेना उचित होगा क्योंकि वही सर्वश्रेष्ठ गिना गया है । 'पदनख निरखि देवसरि हरषी ।' तथा 'नखनिर्गता मुनिबंदिता त्रैलोक्य पावन सुरसरी ।' में भी दक्षिणाङ्गुष्ठकी ही सूचना है ) । (ग) श्लो० ७ में चरणसेवाका फल कहा और ८ में भजनकी विधि कही । (घ) विविक्तवासिनः अर्थात् ज्ञानी आपका भजन इस प्रकार करके वैकुण्ठ को जाते हैं । (ङ) वितर्क बीचि संकुले', यथा 'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद । सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद । १।५०।' ... 'अस संसय मन भयउ अपारा'; यही और इसी प्रकारके सब संशय तर्कवितर्क हैं । एक तर्कपर दूसरी, दूसरीपर तीसरी इत्यादिका उठना लहरोंका उठना है । यथा 'संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता । दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता ।७.९३।६।' सागरमें नित्य नई तरंगें उठती रहती हैं, वैसे ही भवसागरमें तर्क-कुतर्करूपी लहरें उठा करती हैं जिनमें पड़कर प्राणी डूब जाते हैं । 'संकुल' कहा क्योंकि तर्क-वितर्क होनेपर उनका तांता चुकने नहीं आता इसीको बालकांडमें 'अपार' कहा है । (च) 'मुदा' का भाव कि आपकी सेवामें अपनेको भाग्यवान् मानते हैं, अतः हर्षपूर्वक करते हैं, लाचारी वा जबरईसे किसीके भयसे नहीं । (छ) 'गतिं स्वकं', यथा 'जीव पाव निज सहज सरूपा ।३६।८।' वा, गतिं स्वकं = आपका निज धाम । वा, मोक्ष—[ 'मुक्तये' के सम्बन्धसे यह 'गतिं स्वकं' मुक्ति हुई । पाँड़ेजी अर्थ करते हैं—आपकी निज गतिको प्राप्त होते हैं । यही अर्थ करुणासिंधुजीका है । पुनः 'गतिं स्वकं' = नित्य विग्रह मुक्ति पद । (वै०) । आत्मीय अर्थात् आत्मसंबंधी गति ] ।

वि० त्रि०—'त्वदंघ्रिमूल ... स्वकं' इससे भक्ति और मुक्ति दोनोंके लिये भजनका उपदेश देते हैं । 'त्वदंघ्रिमूल ...' में भक्ति और 'विविक्त ...' में मुक्ति कही । यथा 'राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं । अन-इच्छित आवै बरिआई ।' ये देहेन्द्रियोंको अपनेसे पृथक् मानते हुए अन्वय व्यतिरेकद्वारा स्वात्मगति अर्थात् कैवल्यको प्राप्त होते हैं ।

प. प. प्र.—१ 'विविक्तवासिनः सदा', 'भजंति मुक्तयेमुदा', 'निरस्य इंद्रियादिकं' इन तीन चरणोंसे बताया कि ज्ञानी लोग राजयोगद्वारा आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका प्रयत्न करते हैं । इन्द्रियादि अव्यक्तान्त समस्त तत्वोंका निरास करनेपर ही आत्मसाक्षात्कार होता है । 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः । कठ १।३।१०-११।'—इस रीतिसे इन्द्रियोंसे प्रारम्भ करके अव्यक्त तक एक एक तत्वका निरास करने पर 'सोऽहमस्मि' ( वृत्ति आवेगी ) । 'ब्रह्माहमस्मि' यह वृत्ति तैलधारावदविच्छिन्न रखेगा तब सबीज समाधि

प्राप्त होगी और पश्चात् निर्वीजसमाधि भी होगी। ऐसी समाधि होनेपर 'प्रयान्ति ते गतिं स्वकं।'

२ 'गतिंस्वकं—पुल्लिंग 'क' का अर्थ ब्रह्म या आत्मा है, नपुंसक लिंगमें 'क' का अर्थ सुख है। इस तरह स्वकं = अपनी आत्मा। = आत्मसुख। आत्मानुभव सुखकी प्राप्ति ही गति है।—'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद-भ्रम नासा। ७।११८।२।', 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, इहैव तस्य प्रविलीयन्ति कामाः। ( मुण्डक० )। यह कैवल्य मुक्ति या विदेह मुक्ति है। 'केवलता' श्रीरामजीका ही निर्गुण निराकार रूप है, यह अगले छंदमें बताते हैं। कैवल्य = केवली भाव; केवलरूपमें समा जाना। 'मुदा' शब्दसे हठ-योगका निरास किया, क्योंकि उसमें सब क्रियायें बलात्कारसे की जाती हैं।

३ इन छन्दोंमें सगुणोपासकोंका उल्लेख प्रथम करके बताया कि महर्षि अत्रिजी तथा वक्ता दोनों ही सगुणोपासक हैं—'सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। ६।१११।७।' गरुड़जीका झुकाव ज्ञानकी तरफ विशेष होनेसे उन्होंने 'ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता' ऐसा प्रश्न किया था तथापि भुशुण्डिजीको भक्ति विशेष प्रिय होनेसे उन्होंने 'भगतिहि ज्ञानहि नहि कछु भेदा', ऐसा कहा है।

**त्वमेक†मद्भुतं प्रभुं निरीहमीश्वरं विभुं। जगद्गुरुं च शाश्वतं तुरीयमेव केवलं॥ (९)**
**भजामि भाववल्लभं कुयोगिनां सुदुर्लभं। स्वभक्त कल्पपादपं समं सुसेव्यमन्वहं॥ (१०)**

अर्थ—आप एक (अद्वितीय), अद्भुत, समर्थ स्वामी, चेष्टा एवं इच्छारहित, ईश्वर, व्यापक, जगत्मात्र के गुरू और सनातन, तुरीयरूप ही और केवल हैं॥९॥ ( पुनः ) भावप्रिय, कुयोगियोंको अत्यन्त दुर्लभ, अपने भक्तोंके लिए कल्पवृक्षरूप, सबको समान ( समदृष्टि, विषमता रहित ), और निरंतर दिन प्रतिदिन सेवा करने योग्य ( सुस्वामी ) ऐसे आपको मैं निरंतर भजता हूँ॥१०॥

नोट—१ (क) 'एक' अर्थात् आपका-सा दूसरा कोई नहीं है, आपके समान आप ही हैं। 'अद्भुत' अर्थात् नाम रूप लीला सभी आपके विलक्षण और आश्चर्यजनक हैं। यथा 'आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा॥ बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥.... असि सब भांति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥ १।११७।', 'तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। ईशा० मन्त्र ५।' (वह आत्मतत्त्व चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर है और समीप भी है। वह सबके अन्तर्गत है और वही सबके बाहर भी है)। 'हरषित महतारी मुनिमन हारी अद्भुत रूप बिचारी। १।१९२।', 'जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहू न समाइ। सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ। ७।८०।' 'निरीह'—१।१३ (३) देखो। ईश्वर = षडैश्वर्य्ययुक्त। ( भाव कि निर्गुणरूपमें आप जगत्से विलक्षण हैं, सगुणरूपसे भी अद्भुत हैं, प्रभु होनेपर भी निरीह हैं और ईश्वर होनेपर भी विभु हैं, अतः सभी प्रकारसे आप अद्भुत हैं। वि० त्रि० )। 'जगद्गुरु' अर्थात् आपने किसीसे शिक्षा नहीं पाई न किसीके शिष्य हैं वरन् सृष्टिके रचयिता ब्रह्माको भी आपने ही वेद पढ़ाया जिस श्रुतिमार्गपर शङ्करजी स्वयं चलते हैं, यथा 'जौं नहिं दंड करउँ खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुतिमारग मोरा।' ( प्र० सं० )। पुनः 'गुरु' इति। ब्रह्मा, इन्द्र और वरुणादि देवोंको वेदोंद्वारा अधिकारोंका बोध करानेसे 'गुरु' नाम है। प्रमाण, यथा 'ब्रह्मेन्द्रवरुणादीनां गुरुर्वेदोपदेशनात्'। 'यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' ( श्वे० श्व० ६।१८ ), 'हरिगुरु वशगोस्मि' ( वि० पु० ), 'गुरुर्गुरूणां त्वं देव' ( अ० रा० २।२।२६ ) वसिष्ठजीने श्रीरामजीसे कहा है कि आप समस्त गुरुओंके भी गुरू हैं। पुनः, सर्वकालमें विच्छेदरहित ( एकरस रूपसे ) सबके गुरू होनेसे 'गुरु' कहा, यथा 'सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (पातंजलयोगसूत्र)। अथवा, संपूर्ण संप्रदायोंके प्रवर्तक आद्याचार्य होनेसे 'गुरु' नाम है, यथा 'सीतानाथ समारंभां रामानन्दार्य मध्यगामस्मदाचार्यपर्यन्तां

---

† भा० दा० की पोथीमें हरताल देकर 'तमेक' पाठ बनाया गया है। प्रायः अन्य सबोंमें 'त्वमेक' पाठ है। 'तमेक' का अर्थ होगा 'उन आपको जो' संस्कृतकी स्तुति मानें तो 'तं' विशेष उत्तम है।

वन्दे गुरु परंपराम् ।' पुनः सबसे अधिक होनेसे भी 'गुरु' नाम है। राजा बलिने कहा है कि आप हम सबोंको शिक्षा दिया करते हैं, अतः आप हम सबोंके परम गुरु हैं। यथा 'त्वं नूनमसुराणां नः पारोक्ष्यः परमो गुरुः ।' (भा० ८।२२।५)। (ग) शाश्वत = निरंतर, आदि-अंतरहित सनातन। = सदा एकरस अखंडरूप। (वै०)। [ जगद्गुरुके साथ शाश्वत भी कहकर जनाया कि आप ही अनादिकालसे सबके गुरु हैं। 'तुरीयं' इति। तुरीयावस्था चारों अवस्थाओंमें अन्तिम अवस्था है। भगवान् सदा उसी अवस्थामें रहते हैं। यह अवस्था स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन सबोंसे रहित है। (परात्पर—प० प० प्र०)। (घ) 'केवलं' इति। केवलके अर्थ 'तुरीयातीत' (प्र०), 'अपने स्वरूपमें स्थित' (गी० प्र०), निश्चित, एक, और संपूर्ण, यथा 'निर्णीते केवलमिति लिङ्ग त्वेककृत्स्नयोः। अमर ३।३।२०२।' अमरकोशके अनुसार भाव यह होगा कि आप 'संपूर्ण' हैं, निश्चित हैं। 'एक' शब्द स्तुतिमें आ चुका है अतः वह अर्थ यहाँ नहीं लिया जायगा। श्वे० श्व० उ० में भी कहा है। यथा 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। ६।११।' [ तुरीयका भजन जाग्रदवस्थामें कैसे संभव है, इसपर कहते हैं कि भाव आपको प्यारा है। जिस भावसे जो भजता है, उसके लिये वैसे ही हो जाते हैं। यथा 'जाकी माया बस बिरंचि सिव नाचत पार न पावै'। करतल ताल बजाइ ग्वाल जुवती सोइ नाथ नचावैं।'

नोट—२ (क) 'भाववल्लभ' अर्थात् आपको भाव ही प्यारा है, यथा 'सर्वभाव भज कपट तजि मोहि परमप्रिय सोइ। ७।८७।', 'भाववस्य भगवान सुखनिधान करुनाभवन। तजि ममता मद मान भजिय सदा सीतारमन। ७।९२।', 'प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं। ७।८२।' पुनः, 'बलि पूजा चाहत नहीं चाहै एक प्रीति। सुमिरत ही मानै भलो पावन सब रीति'—(विनय १०७)। अतः उपर्युक्त भुशुण्डि-उपदेशके अनुसार 'भजामि' कहा। (वि० त्रि०)। 'भाववल्लभ' से ध्वनित किया कि यदि केवल भाव हो, दूसरा कुछ भी अधिकार न हो, तो अन्य सब अधिकार भगवान् दे देते हैं। जो जिस भावसे स्मरण करता है उसको उस भावसे ही भगवान मिलते हैं। 'जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभुमूरति तिन्ह देखी तैसी। १।२४१।४।' देखिए। (प० प० प्र०) ]। (ख) 'कुयोगिनां सुदुर्लभं', यथा 'पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी। मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी। ६ ३३।', और 'मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग। ६. ६१।' कुयोगियोंको भगवान् अत्यंत दुर्लभ हैं, यथा 'योऽन्तर्हितो हृदि गतोऽपि दुरात्मनां त्वं' (भा० ३।१५।४६) अर्थात् जो आप सबके अन्तःकरणोंमें विराजमान रहते हुए भी दुष्टात्माओंकी दृष्टिसे ओझल रहते हैं। पुनश्च, यथा 'यथा निगूढं पुरुषं कुयोगिनः। भा० ४।१३।४८।' अर्थात् (सब प्रजा, मंत्री आदि शोकाकुल हो राजा अंगको खोजने लगे) जैसे कुयोगी लोग अपने हृदयोंमें किये हुए परमात्माको खोजते हैं (किन्तु उसे पा नहीं सकते)। पुनश्च, यथा 'अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्। भा० १।६।२२।' अर्थात् जिनकी वासनाएँ पूर्णतया शान्त नहीं हो जातीं उन कुयोगियोंको मेरा दर्शन अत्यंत दुर्लभ है। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'भजामि भाववल्लभं' के सन्दर्भसे 'कुयोगिनां' का अर्थ होगा—'जिनके हृदयमें भगवान्के साथ कोई भाव नहीं है, यद्यपि वे जप तप आदि साधन करते हैं'; कारण कि अकामिता, अमानिता आदि गुण साधनसे नहीं हो सकते, ये श्रीरामकृपासे ही होते हैं। 'कल्पपादप' अर्थात् उनकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करते हैं जैसे कल्पवृक्ष शत्रु मित्र उदासीन सबको अर्थ धर्म काम देता है। भक्तके लिए कल्पवृक्ष हैं और सबके लिए समान हैं—'सबपर मोरि बराबरि दाया', 'सब मम प्रिय सब मम उपजाये'। इससे भक्तपर विशेष समत्व दिखाया। और भाव पूर्व कई बार आ चुके हैं।

प० प० प्र०—'निरीहम्' विशेषण भी निर्गुण निराकार ब्रह्मका है; कारण कि नारायणोपनिषद्की श्रुति है कि 'पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति'।—'एकाकी न रमते सोऽकामयत बहुस्यां प्रजा सृजा इति।', यह इच्छा भी निर्गुण ब्रह्ममें नहीं है कारण कि 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।'

इस छन्दमें 'जगद्गुरु' का निर्देश करके गुरुकी आवश्यकता बताई।—'गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई। जो बिरंचि संकर सम होई।'

पु० रा० कु० — एकको दुर्लभ और दूसरेको कल्पवृक्ष कहनेसे विषमता पाई गई, अतः कहा कि 'सम' हैं। विशेष २।२१६।३-५ देखिए। 'सुसेव्य', यथा 'श्रुति सिद्धांत इहै उरगारी। राम भजिय सब काम बिसारी'''॥ प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही। मोहि से सठ पर ममता जाही।७।१२३।', 'समुझि मोरि करतूति कुल प्रभु महिमा जिय जोइ। जो न भजइ रघुबीर पद जग बिधि बंचित सोइ॥'—( अ० २९५ )। पुनः यथा विनये—'सुखद सुप्रभु तुम्ह सों जगमाहीं। श्रवन-नयन मन गोचर नाहीं' ( पद १७७ ), 'नाहिन और सरन लायक दूजो श्रीरघुपतिसम बिपति निवारन। काको सहज सुभाउ सेवकबस काहि प्रनत-पर प्रीति अकारन''' ( २०६ ), 'भजिबे लायक सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद दूजो नाहिन' ( २०७ ), 'ऐसेउ साहिबकी सेवासों होत चोर रे''' ( ७१ ), 'है नीको मेरो देवता कोसलपति राम'''तुलसीदास तेहि सेइय संकर जेहि सेव'—(१०७) इत्यादि देखिए। सुसेव्य हैं, अतः 'अन्वहं भजामि' कहा। [बैजनाथजी 'मन्वहं' का अर्थ करते हैं—'मन्व = क्रोध अर्थात् समग्र विकार। + हं = नाशक।' औरोंने 'सुसेव्यं + अन्वहं' ऐसा पदच्छेद करके अर्थ किया है। अन्वहं = अनु + अहन् = प्रत्येक दिन = निरंतर।]

पु० रा० कु०—'नमामि भाववल्लभं कुयोगिनां''' इति। भाव यह कि कुयोगियोंके भाव नहीं है और भक्तोंमें भाव होता है। अपने भावसे कुयोगी आपको नहीं पाते और संत अपने भावसे आपको पाते हैं; आप दोनोंको 'सम' हैं। श्लोक० ९ में निर्गुणस्वरूप कहा और १० में भगवत्-प्राप्तिकी सुगमता अगमता दिखाई।

**अनूप रूप भूपतिं नतोऽहमुर्विजा-पतिं। प्रसीद मे नमामि ते पदाब्जभक्ति देहि मे॥ (११)**

**पठंति ये स्तवं इदं नरादरेण ते पदं। व्रजंति नात्र संशयं* त्वदीय भक्ति संयुताः†॥ (१२)**

अर्थ—पृथ्वीकी रक्षा करनेवाला ( यह उदासी ) एवम् भूप ( राजा ) रूप जो उपमारहित है, पृथ्वीकी कन्या श्रीजानकीजीके पति श्रीरघुनाथजीको मैं प्रणाम करता हूँ। मुझपर प्रसन्न हूजिए, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। मुझे अपने चरण कमलोंकी भक्ति दीजिये। ११। जो मनुष्य इस स्तुतिको आदरपूर्वक पढ़ते हैं वे आपकी भक्तिसे संयुक्त होकर अर्थात् भक्ति सहित आपके पदको प्राप्त होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। १२।

नोट--१ 'भूपति' के दोनों अर्थ हो सकते हैं--एक तो राजाका रूप, यथा 'भूपरूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुजरूप देखावा'। ब्रह्माजीने स्तुति करके यों बर मांगा है,—'नृपनायक दे बरदानमिदं। चरनांबुज प्रेम सदा सुभदं। ६।११०।' शिवजीने भी 'अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अंतर।६।११४।' यह वर माँगा है। दूसरे, काननबिहारी धनुर्धारी रूप, यथा 'तदपि अनुज श्रीसहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी'। सुतीक्ष्णजीने स्तुतिमें 'काननचारी' और 'कोसलपति' दोनों शब्दोंका प्रयोग किया है—'जो कोसलपति राजिवनयना। करहु सो राम हृदय मम अयना'। पुनः, 'भूपति रूप' कहकर ऐश्वर्य्यरूपसे पृथक् माधुर्य्य द्विभुज नररूप दाशरथि रामकी वन्दना जनाई। २--'उर्विजापति' और 'भूपति' पद दिए क्योंकि पृथ्वीके दामाद हैं, अतः उसका भार उतारने जा रहे हैं। ३--खर्रा--भूपतिं अनूप रूप सबका कारण है। राजरूपसे भक्तिकी याचना की, फिर स्तुति पढ़नेवालोंके लिए भक्तिसहित भगवत् धामकी प्राप्तिके लिए याचना की। इसीसे अंतमें स्तवका माहात्म्य कहा।

पु० रा० कु०—१ (क) 'पठन्ति ये स्तवं००' यह स्तोत्रका फल कहा। (ख) 'व्रजन्ति नात्र संशयं त्वदीय०' इति।—भक्तियुत होनेपर फिर नीचे गिरनेका डर नहीं रह जाता, यथा 'जे ज्ञानमानविमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥ बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे। जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे॥ ७. १३।' (ग) इस स्तुतिमें तीन भाग किए हैं। 'भजामि', 'नमामि' कहकर प्रथम भागमें मनु-प्रार्थित मूर्त्तिका पूर्व स्वरूप अवतार कहा। दूसरे भागमें विष्णुभगवान्का अवतार स्वरूप कहा। और तीसरे भागमें राजकुमाररूपसे प्रार्थना करके जनाते हैं

* संशयं, † संयुताः—१७०४, गी० प्र०, भा० दा०। संयुतं-को० रा०।

कि दोनों आप ही हैं। (घ) राजा कहकर एवं जानकीपति कहकर तब वर माँगते हैं जिसमें मिलनेमें सन्देह न रहे। यथा 'नृपनायक दे वरदानमिदं। चरनांबुज प्रेम सदा सुभदं। बारबार वर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग। पदसरोज अनपायनी भक्ति०'। (ङ) १२ श्लोकों में यह स्तुति की गई। प्रथम श्लोकमें गुण वर्णन किये, दूसरे में शृंगार कहा, तीसरेमें वीर, चौथे पांचवेंमें रामायण कही, छठेमें द्वैत अद्वैत विशिष्टाद्वैत कहा, सातवें में चरणसेवाका फल, आठवेंमें भजनकी विधि, नवेंमें निर्गुण कहा, दशवेंमें भगवत्प्राप्तिकी सुगमता-अगमता दिखाई, ग्यारहवेंमें वर माँगा और बारहवेंमें स्तुतिका माहात्म्य कहा।

२ – प्रथम श्लोकमें ही कहा था कि 'भजामि ते पदाम्बुजं', अतएव अंत में वर मांगा कि 'पदाब्ज भक्ति देहि मे'। इस स्तुतिमें पदकमलका भजना कहकर फिर उनका माहात्म्य भी कहा 'त्वदंघ्रिमूल ये नरा००' और अन्तमें उन्हींकी भक्ति माँगी।—'चरन सरोरुह नाथ जनि कबहुँ तजइ मति मोरि'।

प्र०—'भक्तवत्सल' से अवतारके पूर्वकी कथा जनाई। पृथ्वी गोरूपसे शरण गई। उसकी पुकार सुनकर अवतार लिया। 'अद्भुत' से निर्गुण और 'श्याम' से सगुण भाव व्यंजित किए। 'प्रफुल्ल कंज लोचन' से अखण्डानन्द, 'प्रलंब' से नित्यवासुदेव मनुशतरूपाबेय द्विभुज परात्पर ध्वनित किया। 'त्रिलोकनायक धनुप धरं' अर्थात् त्रिलोकनाथ होते हुए भी आपही धनुषबाण धारण किए। 'मुनीन्द्रसंतरंजनं' से 'मुनिगन मिलन विसेप बन' और शरभङ्गादि मुनियोंका मनोरंजन जनाया। 'अजादि देव सेवितं' से जाम्बवान् आदि (ब्रह्मादिके अवतारों) से सेवित कहा। 'विशुद्धबोधविग्रहं' से अवधधामयात्रा और 'समस्तदूषणापहं' से उपासकोंको अप्रिय उत्तरकाण्डकी कथा संगृहीत है। इत्यादि।' [ पु० रा० कु० एवं वै० के भाव इसे विषयमें छन्द (३) (४) में लिखे जा चुके हैं ]

नोट—४ इस स्तुतिके संबंधमें मतभेद है कि यह संस्कृतकी है या भाषाकी। संस्कृतके पंडित इसको संस्कृत भाषाकी स्तुति माननेमें 'मुनीन्द्रसंतरंजनं' 'त्वदंघ्रिमूल ये नराः' 'गति स्वकं' 'पदाब्जभक्ति देहि मे' 'स्तवं इदं' 'नरादरेण', 'नात्र संशयं' इनमेंसे किसी शब्दमें लिङ्ग, किसीमें विभक्ति, किसीमें सन्धि आदि दोष बताते हैं। अतः इसको भाषाकी ही स्तुति मानना उचित समझते हैं। हां, इस स्तुतिमें संस्कृतके क्रिया पद और विभक्तियुक्त शब्दोंका विशेषरूपसे प्रयोग किया गया है; इसीसे इसे कोई-कोई संस्कृतकी स्तुति कहकर उपर्युक्त अशुद्धियोंको आर्षप्रयोग मानकर समाधान कर लेते हैं।

**दोहा—बिनती करि मुनि नाइ सिर कह कर जोरि बहोरि।**
**चरन सरोरुह नाथ जनि कबहुँ तजै मति मोरि ॥४॥**

अर्थ—मुनिने स्तुति करके माथा नवाकर फिर हाथ जोड़कर कहा—"हे नाथ! मेरी बुद्धि कभी आपके चरण कमलोंको न छोड़े'॥ ४॥

पु० रा० कु०—१ (क) पूर्व कहा है कि 'जोरि पानि अस्तुति करत'; अब यहां दुबारा हाथ जोड़ना कैसे कहा? उत्तर यह है कि स्तुति करके अन्तमें जब उसका फल कहने लगे तब कहा था कि 'पठन्ति ये स्तवं इदं'। 'इदं' से जान पड़ता है कि उँगलीसे इशारा करके फल कहा। अंगुल्यानिर्देश करनेसे करसंपुट छूट गया था। अथवा, जब मस्तक नवाया तब दोनों हाथ अलग हो गए। पुनः, 'बहोरि' का सम्बन्ध दोनों ओर है। हाथ जोड़नेमें और वर माँगनेमें। एकबार चरणोंकी भक्ति माँगी—'पदाब्जभक्ति देहि मे' और अबकी बार मांगते हैं कि चरण कमलको कदापि न छोड़ूँ (अर्थात् अचलता मांगी)।

(ख) खर्रा—जीवका स्वभाव मायावश ऐसा हो गया है कि 'कबहुँ देख जग धनमय रिपुमय कबहुँ नारिमय भासै' अर्थात् इन्हींके अनुसंधानमें दिनरात लगा रहता है. इससे उसकी बुद्धि मलिन बनी रहती है, यथा 'सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी ७.७१.६।', अतः माँगा कि मति आपके चरणोंमें लगी रहे। पुनः, (ग) तन इंद्रियाधीन, इन्द्रिय मनाधीन, मन बुद्धिके अधीन और बुद्धि आपके अधीन है, यथा 'उर प्रेरक रघुबंसबिभूषन'। अतः माँगा कि बुद्धिमें ऐसी प्रेरणा कीजिए कि चरण

कदापि न छोड़ै, क्योंकि चरणोंके छूटनेपर कहीं भी ठिकाना न मिलेगा; यथा 'इहै कह्यो सुत बेद चहूँ। श्रीरघुबीर चरन चिंतन तजि नाहिन ठौर कहूँ। वि० ८६।' (वि० त्रि० का मत है कि मुनिजी बुद्धि की प्रेरणाका वरदान माँगकर गायत्री जपके लक्ष्यकी ही सिद्धि चाह रहे हैं। गायत्रीकी उपासनामें बुद्धिकी प्रेरणा ही माँगी जाती है।) कृपासिद्धि चाही।

२—अत्रिजीकी स्तुति सुनी, उन्होंने वर माँगा। पर प्रभुने उत्तर न दिया। कारण कि प्रभु अपनी ओरसे माधुर्य्य ग्रहण किए हुए मर्यादाका पालन कर रहे हैं। आगे विदा माँगते समय आप कह रहे हैं 'आयसु होइ जाउँ बन आना।००सेवक जानि तजेउ जनि नेहू'। तब यहां स्पष्टरूपसे वर कैसे दें? पर मनसे ही वर देना समझ लेना चाहिये। जनकजी और भरद्वाजजीके प्रसंगोंमें भी ऐसा हुआ है और उत्तरकाण्डमें वशिष्ठजीके सम्बन्धमें भी चुप दिखाया है; पर जैसे वहां संतुष्ट होनेसे वर देना जनाया वैसेही यहां भी समझ लेना चाहिए। इसीसे कविने न दोहराया। जनक प्रसंग, यथा 'बारबार मागौं कर जोरें। मन परिहरै चरन जनि भोरें। सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे। पूरनकाम रामु परितोषे॥ १.३४२॥' भरद्वाज प्रसंग, यथा 'अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहजसनेहू।००। २.१०७। सुनि मुनिबचन राम सकुचाने। भाव भगति आनंद अघाने'। वशिष्ठ प्रसंग, यथा "नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु। जनम जनम प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥ ७.४९॥ अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आए। कृपासिंधुके मन अति भाए।"

नोट—१ किसी किसी का यह भी मत है कि प्रथम बार कुछ न कहा तब फिर हाथ जोड़कर मांगा तब प्रभुकी चेष्टासे उनकी प्रसन्नता जानकर वर देना समझ लिया। वाल्मीकीयसे पता चलता है कि अत्रिका प्रभुमें पुत्रभाव और अनुसूयाजीका सीताजीमें सुता भाव था। यथा—'तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत्प्रत्यपद्यत ।५।' (२।११७), 'प्रीतिं जनय मे वत्से दिव्यालंकार शोभिनी। २।११९.११।' अर्थात् 'भगवान् अत्रिने उनके साथ पुत्रका-सा व्यवहार किया।५। (अनुसूयाजीने कहा) बेटी! दिव्य अलंकारोंसे शोभित होकर मुझे प्रसन्न करो।११।' पुनश्च यथा—'सेयं मातेव तेऽनघ।२.११७.१२।' अर्थात् (मुनि श्रीरामजीसे कहते हैं कि) अनुसूया तुम्हारी माताके समान पूज्य हैं। प्रभु भाव-ग्राहक हैं, अतः 'एवमस्तु' कैसे कहते?

प० प० प्र०—१ (क) 'पठंति ये···' का अन्वय इस प्रकार कर लें कि 'त्वदीयं (त्वत्कृतं) इदं स्तवं ये नरा आदरेण पठन्ति ते (मम) भक्ति संयुता, (भूत्वा) पदं व्रजन्ति। अत्र संशय न।', तो भगवान्का वरस्वरूप अर्थ भी निकल सकता है। 'उरप्रेरक रघुबंसबिभूषन' होनेसे अत्रिजीकी वाणीहीसे मानों उन्होंने वर दिला दिया। (ख) जो भक्त ऐश्वर्यभावनासे भजते हैं वे ऐसा ही वर माँगते हैं। जब भगवान् भी ऐश्वर्य-भावमें रमते हैं तब 'तथास्तु' वा 'एवमस्तु' कह देते हैं। (ग) जब भक्त पूर्ण माधुर्योपासक रहता है तब वह कुछ माँगता नहीं। श्रीदशरथजी, श्रीविश्वामित्रजी, वाल्मीकिजी, जटायुजी और श्रीसुनयनाजी माधुर्योपासकोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। श्रीसुनयनाजीको अन्तमें रखनेका हमारा भाव यह है कि वे माधुर्यभावको भूलकर चरण पकड़कर रह गईं—'रही चरन गहि रानी'। विशेष भाव वहीं देखो।

नोट—२ इस दोहेमें एक भी चौपाई नहीं है। ऊपर सोरठामें भगवान् बैठे हैं और फिर छन्दसे ही स्तुतिका प्रारम्भ है। ऐसा करके कवि जना रहे हैं कि महर्षि अत्रिजीने मानों कमलका ही आसन दिया और स्तुति क्या कर रहे हैं, मानों प्रभुपर कमल ही कमल चढ़ाते जा रहे हैं। यह भाव इससे निकलता है कि मानस मुख-बन्दमें छन्द, सोरठा सुन्दर दोहाओंको कमल कहा गया है।

प० प० प्र०—अत्रि-स्तवकी विशेषता। (क) इसमें पाँच बार नमन किया गया है—'नमामि भक्तवत्सलं' 'नमामि इंदिरापतिं', 'नतोऽहमुर्विजापतिं', 'नमामि ते०', 'नाइ सिरु'। पहले तीन बारके नमनमें पाँच-पाँच छन्दोंका अन्तर है तथापि तीसरे और चौथे नमनमें तो एक चरणका भी अन्तर नहीं है। कारण यह जान पड़ता है कि 'स्वभक्त-कल्पपादपं सुसेव्य' का उच्चार होते ही भगवान्की भक्तवत्सलताके स्मरणसे हृदय कृतज्ञता-भावसे भर गया और वे 'प्रसीद मे नमामि ते' कहकर मानों यह जना रहे हैं कि

'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा । बंदउँ तव पद बारहिं बारा ।'

( ख ) छन्द २ में 'भवांबुनाथ मंदरं' शब्दोंसे सागरमंथनसम्बन्धी अनेक उल्लेख कर दिये हैं। अम्बुनाथ=क्षीरसागर। मन्दर=मन्दरपर्वत। मन्दरसे कूर्मकी ध्वनि। अम्बुनाथ और मन्दरके साहचर्यसे मंथन। अमृतप्राप्त्यर्थ। मद=हालाहल। मोह=सुरा। मत्सर=वड़वानल। इन्दिरापति=विष्णु। इन्दिरा=लक्ष्मी। अजादिदेव=सुर। सुरारिवृन्द=असुर। मनोजवैरि=हालाहल भक्षण। कुयोगी=राहु। कल्पपादप=पारिजातक। मनोज=चन्द्रमा ( चन्द्रमा मनसो जातः )। भजन=वासुकी। गुरु=धन्वन्तरि ( सद्गुरु वैद्य )। स्वधामद और वत्सल=कामधेनु ( यह मुनियोंको मिली है )। मंडन=कौस्तुभ। वाहु=उच्चैश्रवाः ( वाहु'=वाहः, यथा 'वाहोश्वभुजयोः पुमान्' इति अमरव्याख्यासुधा )। शची=देवाङ्गनाः। अम्बुज=शंख। शचीपति प्रिय=ऐरावत।—इस प्रकार १४ रत्नोंका भी उल्लेख स्पष्ट है।

प० प० प्र०—अत्रि स्तुति आश्लेषानक्षत्र है। दोनोंका मिलान—(१) अनुक्रम—यह स्तुति मानस में नवीं है और नवां नक्षत्र आश्लेषा है। (२) नाम—आश्लेषा है। आश्लेष=आलिंगन, मिलना। अत्रिजीके नेत्र भगवान् के चरण, भुज और मुख ( शरीर ) को वारंवार आलिंगन दे रहे हैं। पाँच वार 'नमामि', पाँच वार भजामि या भजन्ति और पाँच वार भगवान्के चरणोंका उल्लेख स्तुतिमें है। इससे स्पष्ट है कि मुनि अपने नेत्रोंद्वारा वारंवार भगवान्का आलिंगन कर रहे हैं। अतः स्तुति आश्लेषा है। ( ३ ) तारा-संख्या। ज्योतिषशास्त्रके ग्रन्थोंमें कहीं पाँच संख्या कही है और कहीं छः। इस स्तुतिसे दोनों पक्षोंका समन्वय हो सकता है। तथा संख्या छः लेना समुचित जान पड़ता है, कारण कि इस नक्षत्रका आकार चक्र-सा है और चक्रमें समसंख्यक अरे होते हैं—'अरा इव रथनाभौ'। भगवान्के युगल चरण, युगल नेत्र और युगल बाहु भी मिलकर छः होते हैं। (४) आकारसाम्य—नक्षत्रका आकार चक्र-सा है। *भगवानका चक्र सुदर्शन

* स्तवका चक्राकार होना निम्न आकृतिसे समझमें आ जायगा।
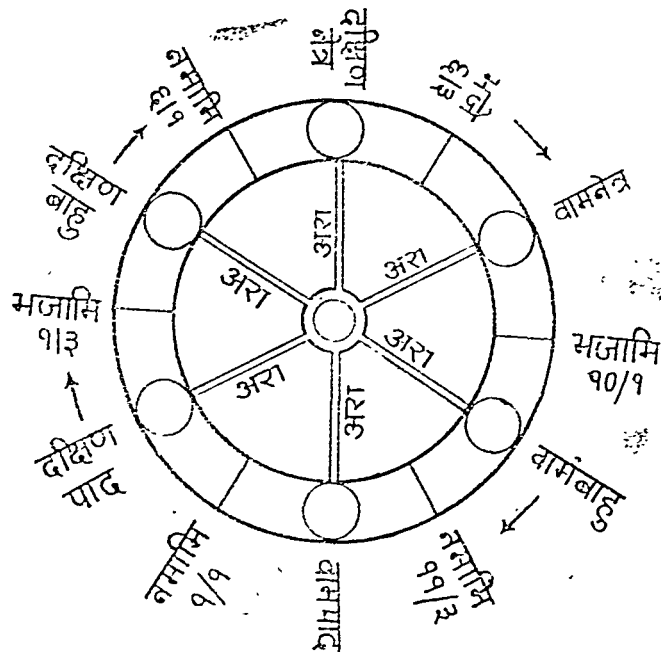
उपर्युक्त आकृतिमें अंक छन्द और चरण सूचक है। प्रदक्षिण क्रमसे चलनेपर फिर १।१ उपक्रम और ११।३ उपसंहार मिलकर सुदर्शन चक्र तैयार हो गया। 'नतोऽहं' और 'नाइ सिरु' तथा 'भजन्ति' शब्द नहीं लिये गए; कारण कि 'नमामि' में हाथ जोड़कर नमन है, अतः नाइ सिरु इस चक्रमें नहीं बैठता है। नतः का अर्थ नम्र भी हो सकता है। 'भजन्ति' का सम्बन्ध अत्रिजीसे नहीं है। इस चक्राकृतिसे स्पष्ट हो जायगा कि दो बार नमामि क्यों साथ आया है।

है। उसको षदुर कहते हैं और इससे सुदर्शन मंत्रमें अक्षर भी छः है। चक्र मंडलाकार होता है और स्तुति भी उपक्रममें 'नमामि', 'भक्त', 'पदाम्बुज' है तथा उपसंहारमें भी 'नमामि', पदाम्बुज', 'भक्त' ( भक्ति-संयुताः) है। इस तरह इसे भी चक्राकार जनाया। ( ५ ) देवता साम्य—नक्षत्रका देवता 'कद्रूजाः' ( सर्प ) है। जैसे कद्रूके पुत्र सर्पोंने सूर्यके घोड़ोंको वेष्ठित किया, उसी रीतिसे मुनिके नेत्र श्रीरामजीके नेत्र, बाहु चरण आदि इन्द्रियरूप घोड़ोंको वेष्ठित करते हैं। 'इन्द्रियाणि हयानाहुः। कठ०।' 'सूर्य आत्माजगतः···।' श्रीरामजी ही आत्मा हैं। इस प्रकार देवता-साम्य सिद्ध हुआ। ( ६ ) नवें गुनग्रामका फलश्रुतिका साम्य—'प्रिय पालक परलोक लोक के', यह नवें गुणग्रामकी फलश्रुति है। और स्तुतिमें इहलोक-पालकत्व 'स्वभक्त कल्पपादपं' से जनाया है। 'सुरारिवृंदभंजनं' से ऐहिक संरक्षणत्व दिखाया है। 'अकामिनां स्वधामदं' से परलोक-प्राप्ति; 'समस्त दूषणापहं', 'मदादिदोषमोचनं' में कामादिसे संरक्षण बताकर परलोक-पालकत्व दर्शित किया। इत्यादि।

## श्रीअनुसूया-सीता और पातिव्रत्य-धर्म-वर्णन

**अनुसुइया के पद गहि सीता। मिली बहोरि सुसील बिनीता ॥ १ ॥**
**रिषिपतिनी मन सुख अधिकाई। आसिष देइ* निकट बैठाई ॥ २ ॥**

अर्थ—फिर सुशील विनम्र श्रीसीताजी अनुसूयाजीके चरण पकड़कर अत्यंत शील और नम्रतापूर्वक उनसे मिलीं ॥ १ ॥ ऋषिपत्नी श्रीअनुसूयाजीके मनमें बहुत सुख हुआ। उन्होंने श्रीसीताजीको आशीर्वाद देकर पास बिठा लिया ॥ २ ॥

श्रीअनुसूयाजी—ये अत्रिजी की परम सती धर्मपत्नी हैं। अत्रिजीने रामचन्द्रजीसे इनका परिचय यों दिया है—( वाल्मी० ११६ श्लो० ६-१३ )—"दश वर्षोंतक लगातार वृष्टि न होनेसे संसार दग्ध होने लगा था तब इन्होंने अपने तपोबलसे फलमूल उत्पन्न किए, गंगाको यहाँ लाई और अपने व्रतोंके प्रभावसे ही इन्होंने ऋषियोंके विघ्न दूर किए। देवकार्य निमित्त इन्होंने दश रात्रिकी एक रात बना दी थी। इन्होंने दश हजार वर्षतक बड़ा उग्र तप किया था।" इनके सतीत्वके प्रतापकी बहुत-सी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। ब्रह्माविष्णुमहेश ने इनके सतीत्वकी परीक्षा ली। उसका फल पाया। तीनोंको इनका पुत्र आकर बनना पड़ा। 'कतक' टीका-कारसे नागेशने रामाभिरामीटीका ( वाल्मीकीयरामायण ) में अनुसूयाजीके सम्बन्धमें यह कथा उद्धृत की है कि अनुसूयाजीकी कोई एक सखी थी; उसको किसी अपराधसे मार्कण्डेय ऋषिने शाप दे दिया था कि तू सूर्य्योदय होते ही विधवा हो जायगी। वह रोती हुई अनुसूयाजीके पास आई। इन्होंने उसपर दया करके अपने तपोबलसे सूर्य्यका उदय होना ही बन्द कर दिया। जिससे दशरात्रिकी एक रात्रि हो गई। तब ब्रह्मादि देवताओंने आकर उस सखीके पतिके मरनेका शाप स्थगित कर दिया, वह विधवा न होने पाई। ऐसा होने पर सूर्य्योदय हुआ। इनके तपस्या और प्रभावकी विस्तृत कथाएँ महाभारत, मार्कण्डेय पुराण और चित्रकूट-माहात्म्यमें दी हुई हैं। शिव पु० चतुर्थ कोटि रुद्रसंहिता अ० ३,४ में अनुसूयाजीके मंदाकिनी गंगाको लाने-की कथा मिलती है। चित्रकूटमें कामदवनमें अनुसूयाजी सहित श्रीअत्रिजी अपने आश्रममें तपस्या करते थे। एक समय वहाँ सौ वर्षकी अनावृष्टिसे अकाल पड़ गया, सर्वत्र हा-हा-कार मच गया। सबको दुःखी देख न सकनेके कारण अत्रिजीने समाधि लगा ली। तब उनके शिष्यादि उनको छोड़कर चल दिये। परन्तु अनुसूयाजी सब कष्ट सहकर उनकी सेवामें वहीं उपस्थित रहीं। वे नित्य मानसी पार्थिव पूजा करके शिवजी-को संतुष्ट करती थीं। उनका तेज अग्निसे इतना बढ़ गया था कि देवता, दैत्य आदि भी उनके सामने

* दीन्ह—को० रा०। देइ—१७२१, १७०४, १७६२, छ०, भा० दा०।

न हो सकते थे। महर्षि और उनकी पत्नीका तप देखकर देवता, महर्षि तथा गंगा आदि उनकी बड़ी सराहना करने लगे कि ऐसा कठिन तप देखनेमें नहीं आया। वे सब इनके दर्शनको आए और चले गए, पर गंगाजी और शिवजी वहीं रह गए। गंगाजीने सोचा कि ऐसी महान् सतीका कुछ न कुछ उपकार मैं कर सकूँ तो अति उत्तम है।

इस प्रकार अकालके चौवन वर्ष बीत गए। अनुसूयाजीका भी यही संकल्प था कि जबतक स्वामी समाधिस्थ हैं तबतक मैं भी अन्नजल न ग्रहण करूँगी। ५४ वर्ष बीतनेपर महर्षिने समाधिविसर्जन किया और अनुसूयाजीसे जल माँगा वे कमण्डल लेकर आश्रमसे बाहर निकलीं और चिन्ता करने लगीं कि कहाँ जल मिले जिससे मैं स्वामीको संतुष्ट कर सकूँ। उसी समय मूर्तिमान गंगाने उनको दर्शन देकर पूछा कि देवि! तुम कौन हो, कहाँ जाती हो, क्या चाहती हो, सो कहो मैं उसे पूरा करूँ। आश्चर्यान्वित हो श्रीअनुसुयाजीने पूछा कि यहाँ वनमें तो कोई रहता नहीं, न आता है, आप कौन हैं यह कृपा करके बतलाएँ। उन्होंने कहा कि तुम्हारी तपस्या, स्वामी और शिवजीकी सेवा तथा धर्मपालन देखकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ, तुम जो माँगो मैं दूँ। तब श्रीअनुसूयाजीने हर्षपूर्वक प्रणाम करके कहा कि आप प्रसन्न हैं तो जल दीजिए। उन्होंने कहा, 'अच्छा एक गड्ढा बनाओ। इन्होंने तुरत एक गड्ढा खोद दिया। गंगाजी उसमें उतरकर जलरूप हो गईं। इन्होंने जल लिया और प्रार्थना की कि जबतक मेरे स्वामी यहाँ न आ जायँ तबतक आप यहाँ उपस्थित रहें। प्रार्थना करके जल ले जाकर इन्होंने स्वामीको दिया। उन्होंने आचमन आदि करके जल पिया और संतुष्ट होकर पूछा कि जल कहाँसे लाई हो ऐसा स्वादिष्ट जल तो इसके पूर्व कभी नहीं मिला था। इन्होंने उत्तर दिया कि आपके पुण्यके प्रभाव और शिवजीके प्रतापसे गंगाजी यहाँ आई हैं, उन्हींका यह जल है। आश्चर्यमें होकर वे बोले कि प्रत्यक्ष देखे बिना हमें विश्वास नहीं होता। अनुसूयाजी उनको साथ लेकर वहाँ आईं। महर्षिजीने कुंडको जलसे भरा देखा और गंगाजीका दर्शन भी पाया। फिर दोनोंने दंडवत् प्रणाम स्तुति करके उसमें स्नान कर नित्य कर्म किया। तब गंगाजीने कहा कि अब मैं जाती हूँ। श्रीअनुसूयाजी तथा महर्षि दोनोंने प्रार्थना की कि आप प्रसन्न होकर जब यहाँ आ गई हैं तो अब इस वनको छोड़कर न जायँ। उन्होंने कहा कि यदि तुम लोकका कल्याण चाहती हो तो तुमने जो शिवजी और स्वामीकी सेवा की है उसमेंसे एक वर्षकी सेवाका फल हमें दे दो तो मैं यहाँ रह जाऊँ। 'शङ्कराचेनसम्भूत फलं वर्षस्य यच्छसि। स्वामिनश्च तदास्थास्ये देवानामुपकारणात्। ४.४२। तस्माच्च यदि लोकस्य हिताय तत्प्रयच्छसि। तर्ह्यहं स्थिरतां यास्ये यदि कल्याणमिच्छसि।४७।' (शिव पु० रुद्र सं०)। उन्होंने अपने एक वर्षका तप दे दिया और उस दिनसे वे वहाँ रह गईं और उनका नाम 'मंदाकिनी' हुआ।

वि० त्रि०—'न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति चान्यगुणानपि। न हसेत् परदोषांश्च सानुसूया प्रकीर्त्यते।' अर्थात् जो गुणीके गुणोंमें दोष नहीं लगाता और दूसरेके गुणोंकी स्तुति करता है, दूसरेके दोषोंका उपहास नहीं करता, उसे अनुसूया कहते हैं।

प० प० प्र०—अनुसूया नाम सार्थ है। जिसमें असूया नहीं है वह अनुसूया है। त्रिगुणातीत जीव ही अत्रि है; तथापि जीवकी अर्धाङ्गी बुद्धि जबतक असूयारहित न हो जाय तबतक कोई भी 'अत्रि' नहीं हो सकता और अत्रि हुए बिना कोई भी परम विरागी नहीं हो सकता; यथा 'कहिय तात सो परम बिरागी। त्रिन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी'। और परम विरागी हुये बिना श्रीरामजी हृदयरूपी आश्रममें पधारते ही नहीं।

टिप्पणी १ (क) 'पद गहि सीता मिली बहोरि' इति। (हमने 'बहोरि' को आदिमें लेकर अर्थ किया है। इसमें 'बहोरि' का भाव यह है कि जब श्रीअत्रिजी स्तुति कर चुके तब श्रीसीताजी श्रीअनुसूयाजीके समीप गईं और उनके चरणोंको पकड़कर प्रणाम करके उनसे मिलीं। पं० रामकुमारजीने 'बहोरि' को 'मिली'

का विशेषण मानकर ही अर्थ किया है। श्रीचक्रजी पं० रामकुमारजीसे सहमत हैं। वे लिखते हैं कि "श्री जानकीजीके लिये 'मिली बहोरि' कहा गया है। इसका तात्पर्य स्पष्ट है। जब श्रीरामलक्ष्मण-जानकीजी आश्रममें आये तब अनुसूयाजीने महर्षि अत्रिके साथ उनका स्वागत किया। वे कुछ कुटियाके भीतर बैठी नहीं रह गईं। तीनोंने ही ऋषिपत्नीको प्रणाम किया। श्रीजानकीजीको अनुसूयाजीने हृदयसे लगाकर आशीर्वाद दिया। इस प्रकार एक बार आश्रममें आते ही श्रीजानकीजी उनसे मिल चुकी हैं। अनुसूयाजी जानकीजी से अलग मिलना चाहती थीं और यह स्वाभाविक था। अतः श्रीजानकीजी अब कुटियाके भीतर जाकर उनसे मिलीं।" और वि० त्रि० कहते हैं कि अनुसूयाके राम अत्रिजी ही थे, अतः वे रामदर्शनके लिये नहीं आईं।)। चरण स्पर्श करके भेंटना यत्रतत्र कहा गया है। यह रीति-सी जान पड़ती है। यथा 'गुरुपतिनिहि मुनितियन्ह समेता। मिली प्रेमु कहि जाइ न जेता॥ बंदि बंदि पग सिय सबहीके। आसिर बचन लहे प्रिय जीके॥ ···लागि लागि पग सबनि सिय भेंटति अति अनुराग। २ २४६।', 'करि प्रनाम भेंटीं सब सासू। २. ३२०।' स्त्रियोंकी चाल है कि दोनों हाथोंसे चरणोंकी वंदना करती हैं, पालगी करती हैं, यथा 'जाइ सासु पदकमल जुग बंदि बैठि सिरु नाइ। २.५७।' पुनः, [भाव कि सीताजीने चरण पकड़े तब उन्होंने हृदयमें लगा लिया। जैसे 'करत दंडवत मुनि उर लाये' वैसे ही यहाँ।—(प्र०)। पहले 'पद गहे' फिर कंठसे लगा कर मिलीं, इसीसे वक्ता लोग प्रशंसा करते हैं। (खर्रा)। (ख) 'रिषिपतिनी मन सुख···' इति। चरण स्पर्श किया अतः आसिष दी और 'मिली बहोरि' अतः 'मन सुख अधिकाई' कहा। पुनः, श्रीसीताजी आनन्दरूपा हैं, यथा 'श्रीरामसान्निध्य वशाज्जगदानन्ददायिनी' (रा० उ० ता०)। अतः सुख हुआ। (मा० सं०)। पुनः, जिनके जनक महाराज ऐसे पिता और चक्रवर्ती दशरथ महाराज ऐसे श्वसुर वे ही सीता केवल पतिप्रेमके कारण सर्व वैभवका त्यागकर मुनिव्रत वेष आहार स्वीकारकर प्रसन्नतापूर्वक पतिके साथ नंगे पैर भयानक वनमें फिर रही हैं, ऐसी पतिव्रताशिरोमणि अपने आश्रममें आईं, यह समझकर विशेष सुख हुआ। (प० प० प्र०)]। (ग) 'आसिष देइ' इति। स्त्रियोंको सुहागका आशीर्वाद परम प्रिय होता है, वही आशीर्वाद दिया। यथा 'सदा सोहागिनि होहु तुम्ह जब लगि महि अहि सीस। २.११७।', 'अचल होउ अहिवात तुम्हारा। जब लगि गंग जमुन जलधारा। २.६६।' अ० रा० में आशीर्वाद यह दिया है कि रघुनाथजी कुशलपूर्वक तुम्हारे साथ लौटें। यथा 'कुशली राघवो यातु त्वया सह पुनर्गृहम्।२.६.८०।' (घ) 'निकट बैठाना' आदर है।—'अनुसूया समालिंग्य वत्से सीतेति सादरम्। अ० रा० २.६.८७।', पुनः यथा 'उठे सकल जब रघुपति आए। बिस्वामित्र निकट बैठाए।', 'भरत बसिष्ठ निकट बैठारे। नीति धरममय बचन उचारे। २. १७१।', 'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा। ५.३३।', 'जानि प्रिया आदरु अति कीन्हा। बामभाग आसन हर दीन्हा। १.१०७।', 'तब नृप दूत निकट बैठारे। मधुर मनोहर बचन उचारे। १.२९१।', 'अति आदर समीप बैठारी। ६.३७.४।', (ङ) यहाँ मन, वचन और कर्म तीनोंसे आदर दिखाया है—'मन सुख अधिकाई' यह मन, 'आसिष देइ' यह वचन और 'बैठाई' यह कर्म है।

दिब्य बसन भूषन पहिराए। जे नित नूतन अमल सुहाए॥३॥
कह रिषिबधू सरस* मृदु बानी। नारि धर्म्म कछु ब्याज बखानी॥४॥

अर्थ—दिव्य वस्त्र और भूषण पहनाए जो नित्य स्वच्छ और सुहावने बने रहते हैं॥३॥ ऋषिपत्नी अनुसूयाजीने रसीली कोमल वाणीसे स्त्रियोंके कुछ पातिव्रत्यधर्म उनके बहानेसे बखानकर कहे॥४॥

पु० रा० कु०—१ (क) दिव्य वस्त्रभूषण पहनाकर, अर्थात् अर्घ देकर, तब धर्मोपदेश किया; इसीसे

* सरल—छ०, को० रा०, रा० प्र०। सरस—१७२१, १७६२, १७०४ (शं० ना०)।

धर्मसे मोक्षकी प्राप्ति आगे कहेंगी, यथा 'बिनु श्रम नारि परम गति लहई'। रहा काम वह भी इसी धर्ममें बताया है, यथा 'सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।' अपने ही पतिसे रमण, यह काम है। इस प्रकार अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पदार्थ दिए। (ख) आभूषण पहनाने और कथा कहनेकी शोभा माधुर्य्यमें है। इसीसे अनुसूयाजीने जानकीजीका ऐश्वर्य कथन न किया, जैसा कि गंगा आदिने किया था, यथा 'सुनु रघुबीर प्रिया बैदेही। तव प्रभाव जग विदित न केही॥ लोकप होहिं बिलोकत तोरें। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें। २.१०३।' (ग) 'दिव्य' का अर्थ कविने स्वयं खोल दिया है कि 'नित नूतन अमल सुहाए' है। दिव्य हैं अर्थात् देवताओंके योग्य हैं, सदा एकरस चमक दमक बनी रहेगी। प्राकृत वस्त्रभूषणमें तीन दोष हैं—पुराने, मलिन और शोभाहीन हो जाना। इन तीन दोषोंसे रहित जनाया। (घ) वस्त्रसे षोडशश्रृंगार और भूषणसे बारहों आभूषण सूचित किये। १२ आभरण ये हैं—नूपुर, किंकणी, चूड़ी, अंगूठी, कंकण, बिजायठ, हार, कंठश्री, बेसर, बिरिया, टीका और सीसफूल।

नोट—१ श्रीसीताजीने ऋषिपत्नीके दिए हुए आभरण वस्त्रको प्रीतिदान समझकर ग्रहण किया। यथा 'इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च। अङ्गरागं च वैदेहि महार्हमनुलेपनम्॥ १८॥ मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत्। अनुरूपमसंक्लिष्टं नित्यमेव भविष्यति॥१९॥ अङ्गरागेण दिव्येन लिप्ताङ्गी जनकात्मजे। शोभयिष्यसि भर्तारं यथा श्रीर्विष्णुमव्ययम्॥ २०॥ सा वस्त्रमङ्गरागं च भूषणानि स्रजस्तथा। मैथिली प्रतिजग्राह प्रीतिदानमनुत्तमम्॥ २१। वाल्मी० २।११८।' अर्थात् 'सीते! मैं तुम्हें यह दिव्य और श्रेष्ठ माला, वस्त्र और आभरण, श्रेष्ठ अंगराग देती हूँ। इनसे तुम्हारे अंगोंकी शोभा होगी। उपयोग करनेपर भी ये खराब न होंगे। दिव्य अंगरागसे तुम अपने पतिको सुशोभित करोगी जैसे लक्ष्मी विष्णुको शोभित करती हैं। श्रीजानकीजीने वस्त्र, अंगराग, भूषण और माला अनुसूयाजीके श्रेष्ठ प्रीतिदानस्वरूप लीं।' अ० रा० में विश्वकर्माके बनाये हुये दो दिव्य कुंडल, दो स्वच्छ रेशमी साड़ियाँ और अंगरागका देना लिखा है, यथा 'दिव्ये ददौ कुण्डले द्वे निर्मिते विश्वकर्मणा। दुकूले द्वे ददौ तस्यै निर्मले भक्तिसंयुता॥ २.९.८८। अङ्गरागं च सीतायै ददौ दिव्यं शुभानना।' उत्तम पतिव्रता ही जान सकती है कि पतिव्रताकी क्या रीति है। उसके अनुसार इन्होंने आगेकी जानकर दिव्य वस्त्र भूषण दिये जो लंकामें काम दें।

२ मा० म०—(क) अनुसूयाजीने, यह सोचकर कि ये वनवासमें हैं, १४ वर्षतक इनको दूसरा वस्त्र-भूषण न दिया जायगा। और लक्ष्मणजी एक तो लड़के हैं, दूसरे वे चरणसे ऊपर दृष्टि नहीं करते, अतएव वे इनके वस्त्रभूषणकी आवश्यकता जान नहीं सकते, फिर अ० रा० के अनुसार जब श्रीरामजीने देखा कि जानकीजी अवश्य साथ जायेंगी तब उन्होंने कहा कि अच्छा, अपने हार आदि आभूषण गुरुपत्नी श्रीअरुन्धतीजीको दे दो और साथ चलो। श्रीसीताजीने तब अपने मुख्य आभूषण दे दिए। यथा 'अरुन्धत्यै ददौ सीता मुख्यान्याभरणानि च। २.४.८३।' अतः श्रीअनुसूयाजीने इनको दिव्य भूषणवस्त्र दिए, जो सदा एकरस नित्य नये बने रहें। (श्रीचक्रजी लिखते हैं कि श्रीरामलक्ष्मणजी तो पुरुष ठहरे, वल्कल पहनकर उनका काम चल जायगा। वल्कल मैला हो या फटा तो दूसरे वल्कल या वृक्षकी छालका अभाव नहीं, किन्तु श्रीजानकीजी वल्कल पहनकर रहें, यह बात श्रीअनुसूयाजीका हृदय भी सहन नहीं कर सकता। जो राजकुमारी अयोध्यासे चलते समय वल्कल पहनना तक नहीं जानती थीं वे केवल वल्कल धारण करके कैसे रहेंगी? और, वस्त्र तो फटेंगे और मैले भी होंगे और श्रीराम ठहरे नियम-निष्ठ, वे भला वस्त्र मँगानेकी व्यवस्था क्यों करने लगे? फिर अब वे यहाँसे भी जा रहे हैं। अतः इसका प्रबन्ध कर देना ही चाहिए कि उन्हें मैले वा फटे वस्त्र न पहनना पड़ें। स्मरण रहे कि श्रीअत्रिजी तथा श्रीअनुसूयाजी दोनों ही श्रीसीतारामजीको परब्रह्म जानते हैं और यह भी जानते हैं कि इनके शरीर तथा वस्त्र भूषण आदि सब चिन्मय हैं तथापि उनका दोनोंपर वात्सल्यस्नेह है। और प्रेमका स्वभाव ही शंकालु है। अतः अपने वात्सल्यस्नेहवश

श्रीअनुसूयाजी श्रीजानकीजीके लिये वस्त्र और आभूषण पहलेसे ही प्रस्तुत रक्खे हुये थीं।) तीर्थ व्रतमें दूसरेका धान्य और फिर ब्रह्मधान्य ग्रहण करना योग्य नहीं, उसपर रामजी उदारचूड़ामणि और इस समयमें वानप्रस्थ अवस्थामें हैं, भोजनसे अधिक तो लेना ही न चाहिए। तब कैसे लिया? समाधान यह है कि श्रीरामजीने भोजन ही लिया। पर जानकीजीने और भावसे भोजनसे भी अधिक लिया। वह यह कि अनुसूयाजी पृथ्वीके अंशसे उत्पन्न हैं अतः सीताजीने पुत्रिभावसे स्वीकार किया। [अ० दी० कार लिखते हैं कि "महारानीजीने अनुसूयाजीको सरकार (श्रीरामजी) की सास जानकर लिया। अर्थात् अनुसूयाजी पृथ्वीके अंशसे प्रगट हुई हैं इस बातको अडोल बुद्धिवाले जानते हैं" (अ० दी० च०)। (पृथ्वीके अंशसे प्रकट होने और उसके कारण श्रीरामजीकी सास होनेका प्रमाण हमको नहीं मिला। भा० ३.२४ में इनको कर्दमजीकी कन्या कहा है)।]

प्र०—राजकुमारी कहनेसे वात्सल्य भाव प्रबल जनाया और सुनयनादिकके साथ बहुत दिन अनुसूयाजी रहीं यह भी ज्ञात होता है। अतः पुत्रिभावसे दिया लिया गया।

नोट—२ एक व्यासजी काशीजीमें कहते थे कि सुनयनाजी और अनुसूयाजी बहिनें हैं और आज कजली तीज है। इस दिन माता कन्याको वस्त्राभूषण देती है। इसी विचारसे रामजी सीताजीको यहाँ लेकर आए। पर यह सर्वथा कपोल कल्पित भाव है। अनुसूयाजी कर्दमऋषिकी कन्या हैं, यह भा० स्कं० ३.२४ और ४ अ० १ से स्पष्ट है। कर्दमजीको नौ कन्याओंके नाम हैं-कला, अनुसूया, श्रद्धा, हविर्भू, गति, क्रिया, ख्याति, अरुन्धती और शान्ति। इनके पतिके नाम क्रमसे ये हैं—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ और अथर्वा ऋषि जो ब्रह्माके पुत्र हैं। (भा० ३.२४.२२-२४)। ऋषिकन्या यदि सुनयनाजी होतीं तो राजाको कदापि न व्याही जातीं। दूसरे अनुसूयाजी सृष्टिके आदिमें हुईं और राजा जनक त्रेतामें। श्रीहरिजनजी कहते हैं कि रुद्रसंहिता (शिवपुराण) पार्वतीखण्डमें लिखा है कि सुनयनाजी, कीर्ति (वृषभानुजा) और मेनाजी ये पूर्व जन्ममें पितृकन्यायें थीं जो सनकादिके शापसे पृथ्वीपर जन्मीं। इस प्रकार भी अनुसूयाजीका इनसे नाता नहीं पाया जाता। वात्सल्यभावसे प्रीतिदान दिया गया वह सीताजीने लिया, प्रीतिदानमें योग्य अयोग्यका विचार नहीं। वाल्मीकिजीका मत है कि वस्त्रभूषणसहित वसिष्ठजीने श्रीसीताजीको श्रीरामके साथ भेजा था। पुनः, कजली तीज भाद्रपदमें होती है जो वर्षाकाल है और वर्षाकालमें प्रभु चित्रकूटमें ही थे। वि० त्रि० का मत है कि "अनुसूयाजी चन्द्रकी माता हैं। चन्द्रसे ही क्षत्रियोंका एक प्रधान वंश चला है। सूर्यवंश और चन्द्रवंशमें कन्याका लेन-देन है। इसलिये अनुसूयाजी कुलवृद्धा हैं। अतः उनका प्रीतिदान स्वीकार करना पड़ा। सम्भवतः इसी भयसे श्रीसीताजी फिर किसी ऋषिपत्नीसे नहीं मिलीं"।

३ 'सरस मृदु····' इति। सरस=रसभरी, रसीली, सुधारसमयी। मृदु=कोमल अर्थात् कानोंको सुननेमें सुखद। यथा 'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर। ७.५२।' तथा यहाँ अनुसूयाजीके मुखसे अमृतसम वाणी निकली जिसे जानकीजी पान कर रही हैं। 'कछु ब्याज बखानी' अर्थात् नारी धर्मके बहाने कुछ स्तुति की। पुनः, इनके बहानेसे कुछ स्त्री-धर्म कहे। ऋषिने रामजीकी पूजा और सुहावने वचनोंसे स्तुति की। ऋषिपत्नीने सीताजीकी पूजा वस्त्र-भूषणसे की और सरस मृदु वाणीद्वारा स्तुति की।

श्रीचक्रजी—श्रीजानकीजीको इस उपदेशकी कोई आवश्यकता नहीं है जैसा अन्तमें स्वयं अनुसूयाजीने कह दिया है, तथापि उपदेश दिया गया, इसका मुख्य कारण है स्नेह। दूसरे यह सीधा उपदेश है भी नहीं। 'कछु ब्याज बखानी' का अर्थ ही है कि जिसे उपदेश दिया जा रहा है, उपदेश उसके लिये नहीं है। उसे तो केवल निमित्त बनाया गया है।

मातु पिता भ्राता हितकारी। मितप्रद* सब सुनु राजकुमारी ॥५॥
अमितदानि भर्ता बैदेही†। अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥६॥
धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपदकाल परिखिअहि चारी ॥७॥

अर्थ—हे राजकुमारी! सुनो। माता, पिता, भाई और हितकारी सब थोड़ा ही (अर्थात् प्रमाणभर ही सुख) देनेवाले हैं ॥५॥ हे वैदेही! पति अतुल (सुख) दान देनेवाला है। जो उसकी सेवा न करे वह स्त्री अधम है ॥६॥ धैर्य, धर्म, मित्र और स्त्री ये चारों विपत्तिके समय परखे जाते हैं ॥७॥

श्रीचक्रजी—श्रीअयोध्याजीमें माता कौसल्याके समीप स्वयं श्रीजानकीजीने श्रीरामजीसे जो कुछ कहा है—'मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥ सासु ससुर गुरु सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥ जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते।' मानों थोड़े शब्दोंमें अनुसूयाजी श्रीवैदेहीजीकी उन बातोंका ही समर्थन कर रही हैं।

टिप्पणी—१ 'मातु पिता···' इति। (क) नैहर (मायका) का प्रेम, आपत्काल और पतिकी कुरूपता ये तीनों पातिव्रत्यके बाधक हैं। अतएव प्रथम इन बाधकोंको कहकर तब धर्म कहेंगी। (ख) 'मितप्रद'। यों तो माता-पिताका स्नेह सदा संतानपर रहता ही है पर शास्त्रानुसार माताका दुलार ५ वर्ष और पिताका १० वर्षतक रहता है। विवाहके पश्चात् उतना प्रेम नहीं रहता। भाईका प्रेम माता-पितासे कम होता ही है। इत्यादि। ये सभी किसी-न-किसी निमित्तसे कोई पदार्थ देते हैं। फिर भी ये सब प्रकारके सुख नहीं दे सकते और न सर्वस्व देते हैं। अतः 'मितप्रद' अर्थात् थोड़ा दान देनेवाला कहा। (ग) 'अमितदानि' अर्थात् सर्वस्व देता है। जो सुख माता-पिता आदि देते हैं वह सब तो पति देता ही है पर साथ ही परलोक-सुख भी देता है। पतिसे स्त्रीका लोकपरलोक दोनों बनता है। अतः अमितदानी कहा।—'पति सेवत सुभगति लहै' यह परलोकका बनना कहा और 'दानि'से लोकका बनना कहा। [ चार पुरुषार्थोंमेंसे धर्म, काम और मोक्ष तो केवल पतिसे ही सिद्ध होते हैं, रहा अर्थ यह अन्यत्र भी मिल सकता है पर एक सीमा तक ही। माता-पिता भाई आदिके धर्ममें उसका कोई भाग नहीं, किन्तु पतिकी तो वह सहधर्मिणी है। पतिके धर्ममें उसका और उसके धर्ममें पतिका भाग होता है। कामकी सार्थकता ही पतिके साथ है। पतिके अतिरिक्त कामका सेवन तो नरकका द्वार है। पति ही नारीको बिना सीमाका सुख देता है। वह पतिकी अर्धाङ्गिनी हो जाती है। वह दान या अनुग्रह नहीं पाती, वह वहाँ स्वत्व पाती है। (श्रीचक्रजी)। तन, मन, धन, माँग (सुहाग) सुख और कोखसुख देता है जिससे उसका भी उद्धार होता है। अतः उसके दानकी मिति नहीं। (वै०)। वाल्मी० २.११७ में भी कहा है—'नातोविशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम्। सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपः कृतमिवाव्ययम्। २४-२५।' अर्थात् बहुत विचार करनेपर भी पतिके समान हितकारी बंधु मैं दूसरोंको नहीं पाती। पति सर्व प्रकारसे (लोक परलोक दोनोंमें) हितकारी है। यह तपस्याका अविनाशी फल है। इससे मिलता हुआ श्लोक शिव पु० रुद्र सं० २ पार्वती खंड अ० ५४ में यह है—'मितं ददाति जनको मितं भ्राता मितं सुतः। अमितस्य हि दातारं भर्तारं पूजयेत्सदा। ५०।' अर्थात् (माता) पिता, भाई और पुत्र परिमित सुख देते हैं परन्तु पति अमित सुख देता है, इस कारण उसे सदा पूजे। स्कंद पु० ब्रा० ध० मा० ७ में भी यह श्लोक है। भेद इतना है कि 'जनको' और 'पूज्येत्सदा' के बदले क्रमशः 'हि पिता' और 'का न पूजयेत्' है।] 'राजकुमारी' सम्बोधनका भाव कि चाहे वह राजकुमारी ही क्यों न हो पर माता-पिता भाई सब प्रमाणभर ही देते हैं, सब नहीं दे सकते। मितप्रदके साथ राजकुमारी और 'अमितदानि भर्ता' के साथ

* मित सुख प्रद—को० रा०। मितप्रद सब—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० दा०
† बयदेही—भा० दा०।

'वैदेही' पद दिया। 'वैदेही' पदका भाव कि पतिकी सेवामें तनमनसे लग जाय, देह-सुध भी न रहे, देहके सुख, सुविधा श्रम आदिका ध्यान न रहे।

प० प० प्र०—१ 'राजकुमारी'में वही भाव है जो ऊपर 'सुख अधिकाई' में बताया है। 'अमितदानि' का भाव कि पति अपना तारुण्य, अपना तेज, अपना गोत्र, अपना स्वातन्त्र्य तथा अपनी सारी सम्पत्ति ही नहीं वरं अपने सत्कर्मोंका आधा पुण्य भी सती पत्नीको दे देता है। पुरुषका किया हुआ पाप पत्नीको नहीं भोगना पड़ता, पर पत्नीकृत पापोंका अर्धभाग तो पुरुषको लेना ही पड़ता है। २ 'वैदेही' का भाव कि तू देह-सुखकी किंचित् आशा न रखकर ही पति-सेवामें तत्पर है, यह मैं जानती हूँ।

नोट—१ 'धीरज धर्म मित्र अरु नारी···' इति।–विपत्ति आनेपर धैर्य्य बना रहे, धर्मसे च्युत न हो, मित्रका प्रेम न घटे किन्तु अधिक बढ़ जाय, स्त्री पतिका अधिक प्यार, सम्मान और सेवा करके उसे प्रसन्न रक्खे, तब वे सच्चे और खरे हैं, यथा 'कुदिन हितू सो हित सुदिन हित अनहित किन होइ। ससि छबिहर रवि सदन तउ मित्र कहत सब कोइ'–(दो० ३२२)। अच्छे दिनोंमें इनके खरे होनेकी परख नहीं हो सकती, यथा 'आपत्सुमित्रं जानीयाद् युद्धे शूरं धने शुचिम्। भार्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बांधवान्' इति प्रस्तावरत्नाकरे।–(पु०रा०कु०)। इस श्लोकमें भी 'जानीयाद्' शब्द है जो परखने या परीक्षाका अर्थ देता है न कि प्रतीक्षा वा राह देखनेका। पुनः, यथा 'न चा भार्या समं किंचिद्विद्यते भिषज्जां मतम्। औषधं सर्वदुःखेषु सत्यमेतद्ब्रवीमि ते।२६।' ( महाभारत वन प० अ० ६१ नलदमयंतीसंवाद )। अर्थात् वैद्योंके मतसे सर्वदुःखोंमें स्त्रीके समान दूसरी औषधि नहीं है यह मैं तुमसे सत्य सत्य कहती हूँ। अतः स्त्रीको चाहिए कि आपत्तिमें वह पतिका साथ न छोड़े।

नोट—२ परखना शब्द प्रायः मणि, रुपया, सोना, आदिके लिए प्रयुक्त होता है। जैसे पारिखी अग्निमें तपाकर या बजाकर या अन्य ढंग से उनकी पहचान करता है कि खरे हैं या खोटे वैसे ही आपत्ति में इनके खरे खोटेपनकी परख होती है। यथा 'कसे कनक मनि पारिखि पाये। पुरुष परिखिअहि समय सुभाये।२.२८३।' 'बिपति काल कर सत गुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा।४.७।' [खर्रा–(क) यहां कहना तो स्त्रीधर्म ही है पर प्रसंग पाकर धीरज, धर्म और मित्र इन तीनोंको भी कहा। भाव यह कि यह न समझना कि रामजी राज्यभ्रष्ट हो गए हैं। (ख) यहां चारसे चारों वर्ण भी जनाए, धीरज क्षत्रियका, धर्म ब्राह्मणका, मित्र वैश्यमें और स्त्री शूद्रकी। यहाँ क्षत्रिय वर्तमान है। भाव कि दुःख सहे, उपवास करे पर धर्ममें दृढ़ रहे–(रा० कु०)।]

प० प० प्र०—१ धीरज आदिको क्रमशः क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रोंके लिये लगानेमें स्वारस्य नहीं है, क्योंकि चारों वर्णों तथा चारों आश्रमोंमें भी धीरज धर्म और मित्रकी परीक्षा होगी ही। स्त्रीकी परीक्षा तो चारों वर्णोंमें होगी। २ जबतक धैर्यके उपयोगका प्रसंग नहीं आता तबतक धैर्यकी बातें करनेवाले बहुत होते हैं। यहाँ 'धीरज' का अर्थ 'सात्विक धृति' है—गीता १८।३३ देखिए। धर्म अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह ये चारों वर्णोंके लिए सामान्य धर्म हैं। धनहीन, आश्रयहीन हो जानेपर जो इन व्रतोंको निबाहे वही सच्चा धर्मिष्ठ कहा जा सकेगा।

श्रीचक्रजी—प्रस्तुत प्रसंगमें नारीधर्म-परीक्षाके साथ धीरज, धर्म और मित्रकी बात यों ही नहीं कह दी गई, गम्भीरतासे देखें तो पता लगेगा कि यहाँ प्रसंगसे बाहर कुछ नहीं कहा गया है। नारी केवल नारी ही नहीं है, वह पतिके लिये मित्र एवं सलाह देनेवाली भी है। आपत्तिके समय उसकी इतनी ही परीक्षा नहीं होती कि उसका पति-प्रेम कितना है किन्तु यह परीक्षा होती है कि उसमें धैर्य, धर्मनिष्ठा तथा मैत्रीका भाव कितना है। यदि वह धैर्य न रख सकी तो उसकी व्याकुलता पतिको और व्याकुल करेगी। पतिका आतिथ्यादि धर्म उसका भी धर्म है। इत्यादि। द्रौपदीजीका उदाहरण ले सकते हैं। पाण्डवोंके वनवासके समय वे कितनी सेवारत और धैर्य-शालिनी रहीं। उस विपत्तिमें भी धर्म, अतिथिसत्कार आदिमें उनकी पूरी निष्ठा रही।

यद्यपि यह उपदेश इनके व्याजसे नारीमात्रके लिये है तथापि यह बात भी भूलने योग्य नहीं कि अनुसूयाजी सर्वज्ञा हैं, आगे जो घटना होनेको है उसे जानती हैं। इसीसे वे यहाँ यह भी संकेत कर रही हैं

कि पतिकी आपत्तिमें साथ देना ही पर्याप्त नहीं हुआ करता, धैर्य, धर्म एवं मैत्री-भावके परीक्षणका भी समय आ सकता है।

श्रीजनकनन्दिनीजूमें ये सब गुण एक साथ मिलते हैं। लंका जैसे नगरमें राक्षसियोंसे घिरी होनेपर भी उन्होंने हनुमान्‌जीके साथ श्रीराघवके पास लौटना स्वीकार नहीं किया। 'अबहिं मातु मैं जाउँ लेवाई' इस हनुमानजीकी बातको उन्होंने तनिक भी समर्थन नहीं किया, यह उज्ज्वल अचल धर्म, रावण जैसे प्रतापीको भी खद्योत कहकर तुच्छ बता देने जैसी धीरता और उनकी मैत्री भावनाका तो कोई क्या वर्णन करेगा—वे शाप देकर रावणको भस्म कर सकती थीं।'''जिन राक्षसियोंने उनको सताया उनके प्रति भी उनकी मित्रता जागरुक ही रही।

वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥८॥
ऐसेहु पति कर किए अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥९॥

अर्थ—बुड्ढा, रोगके वश, मूर्ख, निर्धन, अन्धा, बहिरा, अत्यन्त क्रोधी या अत्यन्त दीन—ऐसे भी पतिका अपमान करनेसे स्त्री यमपुर ( नरक ) में अनेक दुःख भोगती है। ८, ९।

पु० रा० कु०—१ 'ऐसेहु' का भाव कि इनपर दैवका तो अनादर (कोप) है ही, उसपर यदि स्त्रीने भी अनादर किया तब तो अत्यन्त है, असह्य है, अपमानकी सीमा ही है। २—ऐसे लोग अपमानके पात्र होते ही हैं, यथा "दीरघ रोगी दारिदी कटुबच लोलुप लोग। तुलसी प्रान समान तउ, होहिं निरादर जोग॥" ( दो० ४७७ )। इसीसे 'अपमान' पद दिया। यहाँ ८ दोष गिनाए। एककी क्या यदि इन आठोंसे भी युक्त हो तो भी उसका निरादर न करे, उसके वचनका उल्लंघन न करे।—(खर्रा)।

नोट - १ 'आपत काल परिखिअहिं चारी' कहकर तब 'वृद्ध रोगबस...' कहनेका भाव कि पतिका ऐसा होना भी आपत्ति है। वृद्ध है अर्थात् मृतकवत् है। अत्यन्त वृद्ध, सदा रोगी, जड़ अर्थात् मूढ़ वा बुद्धि-हीन, सदा क्रोधमें भरा रहनेवाला आदिको मृतकसमान कहा ही गया है, यथा 'कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥ सदा रोगबस संतत क्रोधी।'''जीवत सव सम चौदह प्रानी। ६. ३० × ।' वृद्ध और रोगी होनेसे उसको विवाहका सुख न मिला। प्रायः बुढ़ापेमें ही सदा एक न एक रोग ग्रसे रहता है अतः वृद्ध कहकर रोगवश कहा। रोगी होनेसे दवाई करते करते घरकी सब संपत्ति उसीमें चली जाती है। रोग होनेपर क्रोध बहुत आता है और मनुष्य अत्यन्त दीन हो जाता है, उसे किसी बातमें संतोष नहीं होता, कोई बस किसीपर नहीं चलता, बुद्धि भी मारी जाती है (यह जड़ता है)। बुढ़ापेमें ही प्रायः लोग अंधे और बहिरे हो जाते हैं, इसीसे उन्हें बहुत खीझना पड़ता है, यह 'अति दीन' अवस्था है ही। अतः उसी क्रमसे कहा। वृद्ध रोगवश होनेसे कामसुख न मिला, जड़ और धनहीन होने से स्त्रीको अर्थ-सुख भी न मिला, भोजन वस्त्र आभूषणका सुख गया। यह सब आपत्ति ही है। रात दिन उसकी सेवामें ही लगी रहनेसे शरीर को सुख कहाँ? [ अन्धा हुआ तो स्त्रीका रूप एवं श्रृङ्गार व्यर्थ हो जाता है और यदि बहिरा हुआ तो उसका कण्ठ, स्वर तथा बातचीत करनेकी उमंग नष्ट हो जाती है। (श्रीचक्र) ] वृद्ध रोगवश आदि उत्तरोत्तर एकसे दूसरा विशेष बुरा है, इसीसे अंतमें 'अति दीना' अवगुण कहा गया।

स्त्रीके अर्थ और काम गए। पर इस आपत्तिमें यदि वह धर्मपर आरूढ़ रहे अर्थात् मन क्रम वचनसे पतिकी सेवा करे तो उसे जन्म लेनेका जो वास्तविक फल है सद्‌गति, वह उसे इतनेसेही प्राप्त हो जाती है—'पति सेवत सुभ गति लहइ।' यह आगे कहा ही है। 'आपदकाल परिखिअहि' की पूरी व्याख्या चौ० ८ से १० तक और सोरठा में है। अर्थ और कामकी हानि होनेपर धर्म से न डगना परीक्षा में उत्तीर्ण होना है।

२—मिलान कीजिये—'दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधनोऽपि वा। पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिर-पातकी। भा० १०.२९.२५।' भागवतके श्लोकमें 'वृद्ध, रोगवश, जड़, धनहीन' तो ज्योंकी त्यों आ गए। 'अंध

बधिर क्रोधी और दीन' की ठौर 'दुःशील और दुर्भग' शब्द हैं। अन्धे और बहिरेमें शील नहीं रह जाता। शील नेत्रोंमें रहता है, यह नेत्रहीन है। दोनों दशाओंमें स्त्रीको कलंक लगाता है। बहिरा बात करते देखता है तो समझता है कि न जाने क्या गुप्त बात कर रही है, इत्यादि। क्रोध और दीन दशा दुर्भाग्यसे ही होते हैं। शिव पु० रुद्रसंहिता २ पार्वती खंड अ० ५४, यथा 'आक्रुष्टापि न चाक्रोशेत्प्रसीदेत्ताडितापि च ।:६।' अर्थात् पति बुरे वचन कहे तो भी आप बुरे वचन न कहे, ताड़न करनेपर भी प्रसन्न रहे। पुनश्च यथा 'क्लीबम्वा दुरवस्थम्वा व्याधितं वृद्धमेव च। सुखितं दुःखितम्वापि पतिमेकं न लंघयेत्। श्लोक ३१।' अर्थात् नपुंसक, व्याधिग्रस्त, दुरवस्थाको प्राप्त, वृद्ध, सुखी दुखी कैसा ही हो पतिका उल्लंघन न करे। मानसके 'वृद्ध, रोगबश, क्रोधी, अति दीन' शिव पु० के वृद्ध, व्याधितं, आक्रुष्ट, दुःखित हैं, 'जड़ धनहीन अंध बधिर' को दुरवस्था में ले सकते हैं।

३—प० पु० उत्तरखंडमें श्रीवशिष्ठजीने पतिव्रता के लक्षण दिलीप महाराजसे विस्तारसे बताए हैं। उसमें यह भी कहा है कि पति कुरूप हो या दुराचारी, अच्छे स्वभावका हो या बुरे स्वभावका, रोगी, पिशाच, क्रोधी, बूढ़ा, कंजूस, चालाक, अंधा, बहरा, भयंकर स्वभावका, दरिद्र, घृणित, कायर, धूर्त अथवा परस्त्री-लंपट ही क्यों न हो, सती साध्वी स्त्रीके लिए वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा देवताकी भांति पूजनीय है। स्त्रीको कभी पतिके साथ अनुचित बर्ताव नहीं करना चाहिए। (संक्षिप्त पद्म पु० गीता प्रेस)।

४—'ऐसेहु पतिकर किए अपमाना' इति। शिव पु० के उपर्युक्त अध्यायके श्लोक ४४, ४५, ५३, ५५ के भाव 'किए अपमाना' में कहे गए हैं। अर्थात् ऐसे पतिकी सेवा न कर तीर्थ व्रतमें लगना, स्वामीको प्रत्युत्तर देना, उसे मारने दौड़ना, तू कहकर बोलना, इत्यादि अपमान करना है।

श्रीचक्रजी—'ऐसेहु पति कर किए अपमाना' इति। हिन्दूधर्ममें स्त्रीके प्रति बड़ा निष्ठुर विधान किया है, यह बात सहसा आपके मनमें आवेगी। किन्तु बात ठीक इससे उलटी है। हिन्दूधर्म भोग-प्रधान नहीं है। सांसारिक सुखोंका भोगना मनुष्यका उद्देश्य है, यह हिन्दूधर्म मानता ही नहीं। अर्थ, धर्म और काम पुरुषार्थ होनेपर भी गौण हैं। मुख्य पुरुषार्थ है मोक्ष। भोजन, सन्तानोत्पादन आदि तो पशु-पक्षी आदि सब करते हैं। मनुष्य जीवनका उद्देश्य है, जन्म-मरणके चक्रसे छुटकारा पाना। हिन्दूधर्मका लक्ष्य है मोक्ष और उसी लक्ष्यको सम्मुख रखकर जो जैसा अधिकारी है उसके लिये वैसी ही व्यवस्था की गई है। पुरुषके लिये ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास ये तीन आश्रम कठोर त्याग और तपके हैं। इन आश्रमोंमें पुरुषको कोई सांसारिक सुख भोगनेका विधान नहीं है। केवल गृहस्थाश्रम, पूरे जीवनका एक चतुर्थांश ही सांसारिक भोगोंके लिये रक्खा गया है। स्त्रीके लिये इनमेंसे ब्रह्मचर्य तथा संन्यासाश्रमका विधान नहीं है। वानप्रस्थमें पतिके साथ वनमें जाना या पुत्रके पास घर रह जाना, इसकी इच्छापर है। इसे देखते हुए जो विचार करेगा, उसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि पुरुष या नारीमें कोई पक्षपातपूर्ण भेद धर्मशास्त्रमें नहीं किया है।...

जबतक यह बात समझमें न आ जाय कि स्त्रीके लिये पति आराध्य है तबतक हिन्दूधर्मके आदेशका औचित्य एवं उसका रहस्य समझमें आना कठिन ही है। दाम्पत्य जीवनको जो कामोपभोगका अवसर मानते हैं, वे हिन्दूधर्मके तात्पर्यको जानते ही नहीं। ब्रह्मचर्यका कठोर तप, तितिक्षा इसलिये नहीं है कि उसके बाद विषयोंमें लीन हुआ जाय। पुरुषके लिये गृहस्थाश्रम वानप्रस्थकी तैयारी, शेष तीन आश्रमोंकी सेवाका अवसर तथा सन्तान परम्परा रखनेके कर्तव्यका एक साधनमात्र है और नारीके लिये यह उपासना का समय है। पति उसका उपास्य है, उपभोग्य नहीं। पति जब उपास्य है तब वह रूपवान् है या कुरूप, युवा या वृद्ध, इत्यादि प्रश्न व्यर्थ हो जाते हैं। आराधक शालग्रामजीकी बटियाके रूप गोलाई आदिका विचार नहीं करता; उसके लिये तो वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा साक्षात्स्वरूप है। उस मूर्तिका अपमान भगवता-पराधका एवं नरकका हेतु है।

पतिको स्त्री कैसी मिले और स्त्रीको पति कैसा मिले, यह न पुरुषके बसकी बात है और न स्त्रीके।

प्रारब्ध कर्म जैसा होता है, सम्बन्ध भी वैसा ही प्राप्त होता है। वृद्ध, रोगी, निर्धन आदि पति अपने प्रारब्ध-के दोषसे ही स्त्रीको मिला है। इसमें किसी दूसरेका दोष नहीं। प्रारब्ध कर्मका फल तो भोग कर ही समाप्त होगा। यदि प्रारब्धसे छुटकारा पानेका कोई मार्ग होता तो कोई निर्धन रोगी आदि होना ही नहीं चाहता। इसी प्रकार जो सुख प्रारब्धमें नहीं है, वह प्राप्त हो नहीं सकता। अतः स्त्रीको जो कष्ट मिला वह उसके पूर्व-कृत कर्मोंका ही फल है। जिन सुखोंका नाश हुआ वह भी प्रारब्धके अनुसार ही हुआ। अब यदि वह पति पर झुँझलाये और पतिका अनादर करे तो यह उसका अपराध ही होगा। यदि वह पतिकी उपेक्षा करे तो कर्तव्यसे च्युत होगी।

प्रारब्धके कष्ट दूर नहीं किये जा सकते, किन्तु उन्हें पुण्यप्रद बनाया जा सकता है। जो कष्ट भोगना ही है उसे रोकर, पछताकर भोगा जाय--इससे कष्टके साथ मनको अशान्ति और व्यथा प्राप्त होती है। उसे धैर्यसे भोग लिया जाय, इससे मनको व्यथा नहीं होती। उसे कर्तव्य तथा तप मान लिया जाय, इससे उसकी व्यथा तो समाप्त ही हो जाती है, वह सचमुच पुण्यप्रद तप हो जाता है। उस कष्टको भोगनेमात्रसे तो पूर्वकृत अशुभ नष्ट हो जाते हैं और जीव शुद्ध होता है। उस कष्टमें तपका भाव कर लेनेसे शुद्धि होनेके साथ तपका पुण्य भी होता है। स्त्री जब वृद्ध, रोगी आदि दोषयुक्त पतिकी सेवा कर्तव्य समझकर आदरपूर्वक श्रद्धासे करती है तो वह महान् पुण्यकी भागिनी होती है। वह पति-सेवा ही उसके मोक्षका हेतु हो जाता है।

वि० त्रि०-उपर्युक्त दोषियोंमें पापीको नहीं गिनाया। पापी जबतक प्रायश्चित्त न कर ले तबतक त्याज्य है।

एकै धर्म एक व्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा ॥१०॥
जग पतिव्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं ॥११॥
*उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं ॥१२॥
मध्यम परपति देखै कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें ॥१३॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो† निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई ॥१४॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई ॥१५॥
पतिबंचक परपति रति करई। रौरव नरक कलप सत परई ॥१६॥
छन सुख लागि जनम सतकोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी ॥१७॥

अर्थ—तन, वचन और मनसे पतिके चरणोंमें प्रेम करना स्त्रीके लिए यह एक ही धर्म, एक ही व्रत और एक ही नियम है ॥१०॥ संसारमें चार प्रकारकी पतिव्रतायें हैं। वेद पुराण सन्त सभी ऐसा कहते हैं ॥ ११ ॥ उत्तमके मनमें ऐसा (भाव) बसा रहता है कि स्वप्नमें भी संसारमें दूसरा पुरुष है ही नहीं ॥ १२ ॥ मध्यम प्रतिव्रता दूसरेके पतिको कैसे देखती है जैसे कि अपना (सगा) भाई बाप या बेटा हो ॥ १३ ॥ जो धर्मको विचारकर और कुल (की मर्यादा) समझकर रह जाती है ( धर्मको बिगड़ने नहीं देती, अपनेको रोके रहती है ) वह निकृष्ट स्त्री है। वेद ऐसा कहते हैं ॥१४॥ जो मौका न मिलनेसे भयके वश ( पतिव्रता बनी ) रह जाती है, संसारमें उसे अधम स्त्री जानना ॥१५॥ पति से छल करनेवाली जो पराये पुरुषसे प्रेम करती है वह सैकड़ों कल्पों तक रौरव नरकमें पड़ी रहती है ॥१६॥ क्षणमात्रके सुखके लिये शतकोटि ( अगणित ) जन्मोंके दुःखको नहीं समझती, उसके समान दुष्टा कौन होगी ? ॥ १७ ॥

---

* ५ ( ११ ) के बाद काशीकी प्रतिलिपिमें यह दोहा है—"उत्तम मध्यम नीच लघु सकल कहौं समुझाइ। आगे सुनहिं ते भव तरहिं सुनहु सीय चितलाइ ॥५॥" यह दोहा साफ़ क्षेपक है। इसका कोई प्रयोजन यहाँ नहीं है। † ते--को० रा०। सो---१७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० दा०।

नोट—१ "एकै धर्म एक व्रत नेमा···" इति । ( क ) भाव यह है कि जैसे शास्त्रों, पुराणों आदि धर्म-ग्रन्थोंमें पुरुषोंके लिये अनेक धर्म, व्रत और नियम कहे गए हैं वैसे ही स्त्रीके लिये पातिव्रत्य धर्म छोड़ और कोई धर्म नहीं कहे गए। उसके लोक परलोक दोनोंके लिये यह एक ही साधन बताया गया है। यथा 'स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः' अर्थात् श्रेष्ठ स्वभाववाली स्त्रियोंके लिये पति ही देवता हैं (वाल्मी० २।११७ श्लो० २४)। पुनः यथा महानिर्वाणतंत्रे—'भर्तैव योषितां तीर्थं तपो दानं व्रतं गुरुः। तस्मात्सर्वात्मना नारी पतिसेवां समाचरेत्' अर्थात् पति ही तीर्थ, तप, दान, व्रत, गुरु है; अतएव स्त्री सर्वभावसे तनमनसे उसकी सेवा करे। पुनः, (ख) एक ही धर्म व्रत नियम है, यह कहकर अन्य धर्म कर्म करनेको मना नहीं करते क्योंकि स्त्रियोंको व्रत करना लिखा है, वरन् यह कहते हैं कि इस धर्मके सदृश दूसरा धर्म नहीं है। यह स्त्रीका मुख्य धर्म है। (शिव पु० २।३ में भी कहा है "भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थं तानि च। तस्मात्सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत्। अ० ५४ ५१।' अर्थात् पति ही देवता, गुरु, धर्म, तीर्थ, व्रत सब कुछ है, इसलिये सब कुछ छोड़कर एक पति की ही पूजा करे। ( स्कंद पु० ब्रा० ध० मा० ७ में यह ४८वाँ श्लोक है )। स्क० आ० रे० प्रभासेश्वरमाहात्म्य प्रसंगमें प्रभाने भी कहा है कि स्त्रीके लिये पतिके सिवा दूसरा देवता नहीं है चाहे वह निर्धन, गुणहीन और द्वेषपात्र ही क्यों न हो। ( पतिके कल्याणके लिये पतिकी आज्ञासे वह व्रत आदि कर सकती है )।

श्रीचक्रजी—'वृद्ध रोगबस···' में जो बात कही गई है उसीको कारण देकर 'एकै धर्म···' से पुष्ट किया गया है। वहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि स्त्री ऐसे पतिकी सेवा क्यों करे? आवागमनसे छुटकारा तो अन्य साधनसे भी हो सकता है। स्त्री उस धर्मका ही सहारा क्यों न ले? इसी शंकाका यहाँ अनुसूयाजीने उत्तर दिया है।—'एकै धर्म···'।

परलोक, पुनर्जन्म, परमात्माकी सत्ता तथा इनके स्वरूपका ज्ञान शास्त्रसे ही होता है। इसलिये इनको पाने तथा इनके विपरीत ले जानेवाले कर्म और उन कर्मोंके परिणाम भी शास्त्रसे ही जाने जाते हैं। जप, तप आदिका कोई फल होता है, यह बात शास्त्र ही बतलाता है। यदि कोई शास्त्रको न माने तो इन कर्मोंका फल बता पानेका भी उसके पास कोई उपाय नहीं है। कौन-सा कर्म पुण्य है, कौन पाप, यह भी शास्त्रसे ही जाना जाता है। इसी प्रकार शास्त्र यह भी बतलाता है कि कौन-सा कर्म किसे करना चाहिए और कौन-सा किसे नहीं करना चाहिए। शास्त्रकी एक बात मानी जाय, एक न मानी जाय, यह तो विचार-हीनताका ही सूचक है।

नारीका मुख्य धर्म पतिप्रेम, पतिसेवा है। यदि किसी व्रतके पालनमें पतिकी सेवामें बाधा पड़ती हो तो वह व्रत उसके लिये त्याज्य है।

'काय बचन मन' इति। ये तीनों एक साथ हों तभी प्रेम या सेवा पूर्ण होती है। आलस्य और प्रमाद छोड़कर सेवामें तत्पर रहना शरीरसे सेवा है। उदासीनता तथा रूक्षताका व्यवहार त्यागकर स्नेहपूर्ण मधुर वचन बोलना वाणीसे सेवा या प्रेम है। असूया, घृणा, उपेक्षा, अहंकार, गर्व आदि त्यागकर नम्रता और स्नेहका भाव मनसे प्रेम है।

प० प० प्र०—पाषाणादि मूर्तियोंमें परमेश्वर-भावना रखकर जब भवसिंधुसे उत्तीर्ण हो जाते हैं तब जिस पुरुषसे प्रारब्धानुसार विवाह हो गया, उसमें ईश्वर-भावना रखनेसे इह-परलोकका सुख क्यों न मिलेगा?

टिप्पणी—१ 'काय बचन मन' दीपदेहरी है। अर्थात् तन, वचन और मन तीनोंसे उसका यही एक धर्म, व्रत और नियम है कि तन-मन-वचनसे पतिपदमें प्रेम हो। पुनः यथासंख्यसे भी लगा सकते हैं कि शरीरके लिए यही एक धर्म है, वचनसे इसी व्रतमें तत्पर और मनमें यही नियम दृढ़ रहे। [ "जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं" से "दुख न समुझ तेहि सम को खोटी" तक जो पतिव्रताओंके लक्षण कहे गए हैं ठीक वैसे ही शिवपुराणमें पाये जाते हैं। यथा 'चतुर्विधास्ताः कथिता नार्यो देवि पतिव्रताः। उत्तमादि विभेदेन स्मरतां पापहारिकाः॥ ७२। उत्तमा मध्यमा चैव निकृष्टातिनिकृष्टिका। ब्रुवे तासां लक्षणानि सावधानतया शृणु॥ ७३। स्वप्नेपि यन्मनो नित्यं स्वपतिं पश्यति ध्रुवम्। नान्यं परपतिं भद्रे उत्तमा सा प्रकीर्तिता॥ ७४। या पितृभ्रातृसुतवत् परं पश्यति

सद्धिया । मध्यमा सा हि कथिता शैलजे वै पतिव्रता ॥ ७५ । बुद्ध्वा स्वधर्मं मनसा व्यभिचारं करोति न । निकृष्टा कथिता सा हि सुचरित्रा च पार्वति ॥ ७६ । पत्युः कुलस्य च भयात् व्यभिचारं करोति न । पतिव्रताऽधमा सा हि कथिता पूर्वसूरिभिः ॥ ७७ । या भर्तारं समुल्लङ्घ्य रहश्चरति दुर्मतिः।" ( शिव पु० रुद्रसंहिता २, तृतीय खण्ड अ० ५२ ) । अर्थात् उत्तम मध्यम, अधम और अति निकृष्ट ये चार प्रकारकी पतिव्रतायें होती हैं, उनके लक्षण सुनो । जो स्वप्नमें भी अपने पतिके सिवा दूसरेको नहीं देखती वह उत्तम है । जो दूसरे मनुष्यको शुद्ध बुद्धिसे पिता, भ्राता, तथा पुत्रके समान देखती है वह मध्यम प्रतिव्रता है । जो मनसे अपने धर्मको विचारकर व्यभिचार नहीं करती और चरित्र वाली है वह निकृष्ट है । जो स्त्री पति और कुलके भयसे व्यभिचारसे वंचित रहती है वह अति निकृष्ट है, ऐसा मनु आदि पूर्वाचार्योंने कहा है । दुर्मति पतिका परित्याग कर एकान्तमें दूसरेके पास जाती है ( वह उलूकी होती है ) ] शिवपुराणमें जो पातिव्रत्य धर्म अनेक श्लोकोंमें कहा है उसे गोसाईंजीने इस एक चौपाईमें खींच लिया—'एकै धर्म०० प्रेमा' । कायसे अष्टप्रहर सेवामें तत्पर रहे और मनभावते मधुर वचन कहकर मनको पतिमें सदा लीन रक्खे ।

प० प० प्र०—उपर्युक्त श्लोकोंसे मिलान करनेपर मानसमें एक बड़ी विशेषता दीख रही है कि अर्थ तो वही है पर मानसमें व्यभिचार, पर-पुरुष-गमन इत्यादि शब्दोंकी गंध भी नहीं है । उन शब्दोंसे उन-उन पाप कर्मोंका चित्र खड़ा करके पाठकोंके चित्तमें मालिन्य आ जानेकी शक्यता जानकर ही ऐसा किया गया है । कितनी मर्यादाकी रक्षा की है !!

श्रीचक्रजी—नारीके लिये पति परमात्माका प्रतीक है। पातिव्रत्य नारीकी आराधना है। इसलिये जैसे भगवान्‌की आराधना करनेवाले भक्त चार प्रकारके होते हैं । वैसे ही पतिव्रता भी चार प्रकारकी होती हैं । उत्तम पतिव्रता और ज्ञानी भक्तकी स्थिति एक-सी है । दोनोंमें वह और उसका आराध्य बस ये दो रह जाते हैं । ऐसी उत्तम पतिव्रता तो एक भगवती उमा और दूसरी जगज्जननी श्रीजानकीजी ही मेरे ध्यानमें आती हैं । इस प्रसंगमें उपदेष्टासे श्रोता महत्तम है, यह बात स्वयं अनुसूयाजीने स्वीकार की है । लौकिक नारीमें इस अवस्थाकी अभिव्यक्ति कठिन ही है ।

नोट—२ 'जग पतिव्रता' इति । पतिव्रता किसे कहते हैं ? उसके क्या लक्षण हैं ? नरोत्तम ब्राह्मणके इस प्रश्नका उत्तर भगवान्‌ने यह दिया है । "पुत्राच्छतगुणं स्नेहाद्राजानं च भयादथ । आराधयेत् पतिं शौरिं या पश्येत् सा पतिव्रता ॥ कार्ये दासी रतौ वेश्या भोजने जननी समा । विपत्सु मंत्रिणी भर्तुः सा च भार्या पतिव्रता ॥ भर्तुराज्ञां न लङ्घेद्या मनोवाक्काय कर्मभिः भुक्ते पतौ सदा चात्ति सा च भार्या पतिव्रता ॥ यस्यां यस्यां तु शय्यायां पतिस्स्वपितियत्नतः ॥ तत्र तत्र च सा भर्तुरर्चां चरति नित्यशः ॥ नैव मत्सरतां याति न कार्पण्यं न मानिनी । मानेऽमाने समानत्वं या पश्येत् सा पतिव्रता ॥ सुवेषं या नरं दृष्ट्वा भ्रातरं पितरं सुतम् । मन्यते च परं साध्वी सा च भार्या पतिव्रता ॥" ( प० पु० सृष्टि ४७।५५-६० ) । अर्थात् जो स्त्री पुत्रकी अपेक्षा सौगुने स्नेहसे पतिकी आराधना करती है, राजाके समान उसका भय मानती है और पतिको भगवान्‌का स्वरूप समझती है वह पतिव्रता है ।।५५।। जो गृह कार्य करने में दासी, रमणकालमें वेश्या, भोजनके समय माता और विपत्ति में मंत्रीका काम करती है वह पतिव्रता मानी गई है ॥ ५६ ॥ जो मन वाणी शरीर और क्रियाद्वारा कभी पतिकी आज्ञा उल्लंघन नहीं करती तथा पतिके भोजन कर लेनेपर भोजन करती है वह पतिव्रता है ।।५७।। जिस जिस शय्यापर पति शयन करते हैं वहाँ-वहाँ जो प्रति दिन यत्नपूर्वक उनकी पूजा करती है, पतिके प्रति कभी जिसके मनमें डाह नहीं पैदा होती, कृपणता नहीं आती, पति की ओर से आदर मिले या अनादर, दोनोंमें जिसकी बुद्धि समान रहती है वह पतिव्रता है । ५८-५९ । जो साध्वी स्त्री सुन्दर वेषधारी परपुरुषको देखकर उसे भाई, पिता व पुत्र मानती है वह पतिव्रता है । ३—'वेद पुरान…', यथा 'महान्पतिव्रताधर्मश्श्रुतिस्मृतिषु नोदितः । यथैव वर्ण्यते श्रेष्ठो न तथान्योऽस्ति निश्चितम् । शि० पु० २. ३. अ० ५४. १५ ।' अर्थात् पतिव्रताओंका यह महान धर्म श्रुतियों स्मृतियोंमें लिखा है, वैसा अन्यत्र नहीं है, यह निश्चय है ।

वि० त्रि०—पतिव्रताके चार प्रकार होनेमें सबका ऐकमत्य है अर्थात् यह शिष्टानुगृहीत सिद्धान्त है। स्त्री-पुरुषमें भोक्तृ-भोग्य-दृष्टि स्वाभाविकी है। स्वाभाविकी प्रवृत्तिके रोकमें ही शास्त्रकी उपयोगिता है। वह निरोध स्त्रियोंमें चार प्रकारसे सम्भव है। स्वाभाविकी प्रवृत्तिका सर्वात्मना निरोध हठात् नहीं हो सकता। अतः स्त्रीका अपनी भोक्तृदृष्टिको पाणिगृहीताके ऊपर ही केन्द्रित करना पातिव्रत्य है। उसीका चार प्रकार यहाँ कहा गया है। पातिव्रत्यकी रक्षाके लिये स्त्रियोंपर रोक लगाये गए जिसमें उनका परलोक और यह लोक बना रहे, स्वार्थान्धता इसमें कारण नहीं है।

टिप्पणी—२ 'उत्तमके अस बस मन माहीं·····' इति। भाव कि यह धर्म स्वाभाविक ही उनके मनमें बसता है कि स्वप्नमें भी संसारमें अपना पति छोड़ दूसरा कोई पुरुष नहीं अर्थात् उसे सब जगत् स्त्रीमय ही दिखता है। [श्रीरूपकलाजी श्रीमीराबाईजीकी जीवनीमें लिखते हैं कि श्रीमीराबाईजीका यही भाव श्रीगिरिधरलालजीमें था कि एक वे ही पुरुष हैं और जगत्मात्र स्त्री है। इसी भावसे उन्होंने श्रीमहात्मा जीव गोसाईंजीका स्त्रीमुख देखनेका प्रण छुड़ाया था] 'बस' जनाता है कि मनसे कभी टलती नहीं। 'सपनेहु' का भाव कि कुबुद्धिके मनमें आनेकी सन्धि नहीं, अतः एकरस रहती है। (यद्यपि स्वप्नमें अपना वश नहीं है, पर बिना वासनाके स्वप्न भी नहीं होता। अतः उन्हें स्वप्नमें भी परपुरुषमें पुंस्त्वकी भावना नहीं होती। वि.त्रि.)

३—'मध्यम परपति देखहिं कैसे···' इति। (क) जो उत्तममें मनका विषय था, मध्यममें नेत्रका विषय हुआ। ये और भी पुरुष मानती हैं, जैसे हमारे पति पुरुष हैं ऐसे ही औरोंके भी पति पुरुष हैं, पर उनमें यह अपने भाई, पिता या पुत्रका नाता मानती हैं, इनके समान देखती हैं, उन्हें भोग्यदृष्टिसे नहीं देखतीं। (ख) 'निज जैसे' का भाव कि सगे भाई बाप बेटेमें कामकी प्रवृत्ति नहीं होती। (ग) इनको मध्यम कहनेका कारण यह है कि इनमें कामकी प्रवृत्तिका भय रहता है, यथा 'भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥ होइ बिकल सक मनहिं न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहिं बिलोकी। १७।५।६।' (घ) 'जैसे' का भाव कि अवस्थाक्रमसे वह अपने बराबरवालेको भाई, बड़ेको पिता और छोटेको पुत्रके समान समझती है। (ङ) [खर्रा—'निज जैसे' का भाव कि अपने मनको मिटाकर तब बचती हैं कि ये तो हमारे लड़के हैं, हमारे भाई हैं, इत्यादि; नहीं तो केवल माननेसे नहीं बच सकतीं, यथा 'होइ बिकल···'। पर यह कुबुद्धि आते ही उसे निकाल डालती हैं। (पर इस मतसे हम सहमत नहीं हैं। जहाँ सगे भाई, बाप, पुत्रका भाव है वहाँ मनमें दुर्भावना कहाँ? यह तो उसका सहज स्वाभाविक भाव होनेसे उसे इस प्रकार सोचकर संयम नहीं करना पड़ता। यदि इसमें कहीं अपवाद पाया जाय तो उसे कलियुगका घोरतम कुप्रभाव ही कहना होगा। वह किसी कुलटाकी ही बात हो सकती है, किन्तु यहाँ पतिव्रताका प्रसंग है, यह नहीं भूलना चाहिए। श्रीचक्रजी।) इसीसे मनुजीका आदेश है कि कोई पुरुष अपनी माता, भगिनी एवं पुत्रीके साथ भी एकान्तमें न रहे।

४—'धर्म बिचारि समुझि कुल रहई···' इति। (क) 'धर्म बिचारि' से परलोकका डर और 'समुझि कुल' से लोकका डर कहा, अर्थात् लोक-परलोकका डर मानकर धर्ममें रह जाती है। 'समुझि कुल' अर्थात् हमारे पति और पिताका कुल उत्तम, यशस्वी, निष्कलंक, पवित्र इत्यादि विख्यात है उसमें हम कलंकरूप पैदा हुईं, कुलकी नाक कटेगी, ऐसे कुलकी होकर हमारा अधर्ममें आचरण सर्वथा अयोग्य है, इत्यादि। यथा 'हंसबंस दसरथ जनक रामलखनसे भाइ। जननी तू जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ। २.१६१।' कोई जाने या न जाने पर मेरा पवित्र कुल मेरे पापसे कलुषित हो जायगा। ऐसे-ऐसे विचारोंसे जो मनमें आई हुई बुराईको दबा देती है वह निकृष्ट है।

५ 'बिनु अवसरु भय ते रह जोई·····' इति। (क) अर्थात् मौका मिल जाय कि कोई घरमें न रहे या किसीको अन्य कामोंसे सावकाश ही न हो जो इसकी खोज करे तो यह अवश्य परपुरुषगमन करे। अथवा, पति आदिका भय है कि जान पाए तो मार ही डालेंगे। [अधममें 'बिनु अवसर भय' कहनेसे पाया गया कि निकृष्टको अवसर भी है, सब सुविधा है और भय भी नहीं है तथापि वह मनको संयमित रखती है,

उसका मन उसके वशमें रहता है। 'बिनु अवसर'—अवसर न मिलने पर कई बातें हो सकती हैं—वह इतनी कुरूपा, विकृतांगी आदि है कि कोई आकृष्ट ही नहीं मिलता, वह स्थान या समय नहीं पाती, इत्यादि। भय रोग और गर्भाधान आदिका भी हो सकता है, क्योंकि तब उसकी दुर्गति होगी। ( चक्रजी ) ] ( ख ) इसे अधम कहा क्योंकि यह अपना धर्म स्वयं नहीं बचा सकती, इसके लिए 'अवसर न मिलने पावे' और 'भय' इन दो रखवालोंकी जरूरत हुई, वे ही इसके धर्मके रक्षक बने। ( ग ) प्रथम तीन पतिव्रतायें स्वयं अपने धर्मकी रक्षक हैं, मनमें उनके पातिव्रत्यका विचार है पर इसके मनमें पातिव्रत्यधर्म ही नहीं है। निकृष्ट-का मन दूषित है फिर भी वह अपना स्त्री-धर्म समझती है, इससे वह बच जाती है। ( घ ) 'अधम' को भी पतिव्रतामें गिना क्योंकि पाप मन हीमें रह गया। ऐसी स्त्रियाँ प्रायः कलियुगमें ही होती हैं—'गुनमंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि परपुरुष अभागी। ७.९८।' इससे ( पापके मनमें रह जानेसे ) उस पापका दंड न हुआ—'मानस पुन्य होहिं नहिं पापा। ७.१०३।' यह कलिका पुनीत प्रताप है। अतः यह भी पति-व्रता मानी गई। ( उत्तम पतिव्रता आराध्या है। मध्यम लौकिक नारी होनेपर भी नित्य पवित्र है। यह भी देववन्द्या, प्रातः स्मरणीया एवं पूज्या है। इनके स्मरणसे पापोंका नाश हो जाता है। तृतीय कोटिवाली पति-व्रता कहलाने योग्य नहीं, इसीसे उसे 'निकृष्ट तिय' कहा और शि० पु० वाले श्लोक ७६ में भी उसे 'सच-रित्रा' ही कहा गया। निकृष्टका मन विकारी है पर बुद्धि शुद्ध है और मनपर बुद्धिका नियन्त्रण भी है। अधमका मन और बुद्धि दोनों दूषित हैं, इसके मनमें पाप करनेकी बात करनेकी आती है और वह पाप करना चाहती भी है, पर बच जाती है )।

६ यहाँतक चार प्रकारकी पतिव्रतायें कहीं। आगे व्यभिचारिणी स्त्रीको कहते हैं जो इनसे पृथक् है। पृथक् करनेका कारण यह है कि उसने तनसे पाप कर्म कर डाला। कर्मका उसे यह दंड मिला। यह ऊपरसे दिखानेके लिए पतिसे प्रीति करती है पर भजती है परपतिको, यही ठगना है। इसे रौरव नरक होता है।❀

वि० त्रि०—'छन सुख लागि····' इति। 'खोटे' की परिभाषा ही यही है जो थोड़ेसे लाभके लिये अपना धर्म छोड़े। विषयसुख क्षणभंगुर है। विषय और इन्द्रियके संयोगसे जो पहिले अमृत-सा जान पड़े और परिणाममें विषके समान हो उसे राजस सुख कहते हैं। पहिले तो रति सुख ही राजस है, सो भी धर्म-विरुद्ध होनेसे घोर तामस हो गया। तामसका फल ही अधोगति है।

---

❀ १—भा० स्कं० ५ अध्याय २६ श्लोक ७ में नरकों का वर्णन है। २८ नरकों में से रौरव नरक तीसरा है। इस नरकमें रुरु नामक कीड़े होते हैं जो महातामसी सर्पसे भी अधिक क्रूर होते हैं। यह कीड़े प्राणीको चारों तरफसे काटते हैं। प० पु० उत्तरखंडमें वसिष्ठजीने दिलीपमहाराजके पूछनेपर साध्वीकन्याओं ने यमलोकसे लौटनेपर अपनी माताओंसे जो यमलोकका वर्णन किया है उसे विस्तारसे कहा है। उन्होंने बताया है कि इस पृथ्वीके नीचे नरककी अट्ठाइस कोटियां हैं जो सातवें तल के अन्तमें भयंकर अंधकारके भीतर स्थित हैं। उपर्युक्त कोटियोंमेंसे प्रत्येकके पांच-पांच नायक हैं। उनमें पहला रौरव है जहां देहधारी जीव रोते हैं। इत्यादि। रौरवसे लेकर अवीचितक कुल एक सौ चालीस नरक माने गए हैं।

२—यहाँ प्रसंग पाकर श्री पं० राजारामजी (पं० रामकुमारजी के शिष्य) की धर्मपत्नी पतिदासीजीकृत रामचरितके प्रसंगोंसे उपदेशके दोहे उद्धृत किए जाते हैं। यथा "दासी बरके नामसे बरतरु पूजैं नारि। साक्षात् बर नहिं भजहिं तिन्ह सम कौन गँवार ॥ ७ ॥ नैहर सासुर सर्वसुख सो सीता तृण जान। दासी बन गवनी हरषि पतिपद प्रेम प्रमान ॥११॥ दासी दुखकारण प्रगट यद्यपि कौशलनाथ। पै रानिन्ह सुतको तज्यो तज्यो न पति को साथ ॥१२॥ दासी पति ते हठ किए कैकेइहिं दुखभार। विधवापन सुत विमुखता अपयश जगत अपार ॥१५॥ दासी पति आदर बिना कहूँ न तिय को मान। नैहरहूँ निदरी गई दक्षसुता जग जान ॥१७॥ दासी सब निदरहिं सदा पतिवंचक अनुमानि। रामहुँ परसेउ पाँवते गौतमतिय जिय जानि ॥२२॥"

नोट--४ वाल्मीकि और अध्यात्ममें भी यह संवाद है पर उनमें पतिव्रताओंका चातुर्विध्य वर्णन नहीं है। इसको यहाँ देकर पूज्य कविने उन रामायणोंमें वर्णित धर्मोंका सच्चा हृदय खोल दिया है। (मा० हं०)।

५ मा० म०, करु० आदि कहते हैं कि जैसे चार प्रकारकी स्त्रियाँ यहाँ कही गईं, इसी प्रकार इनसे चार प्रकारके भक्त दिखाए हैं। (क) उत्तम उपासक वे हैं जो जिस स्वरूपमें अनन्यभाव करते हैं उसीमें भुक्ति, मुक्ति और भक्ति सभी कुछ देखते हैं, अन्य स्वरूपमें स्वप्नमें भी नहीं। पर अपने इष्टकी प्रसन्नता-हेतु सभी स्वरूप मानने योग्य हैं। यह उत्तम अर्थात् एकस्वरूपानन्य उपासक हैं। जो यह मानते हैं कि जो ईश्वरके स्वरूप हैं वे सब एक ही हैं, सभी भुक्ति-मुक्ति-भक्तिके दाता हैं; परन्तु वे अपने इष्टस्वरूपमें ही परायण हैं। यह नहीं है कि अपने मनकी वृत्ति दूसरे स्वरूपों में चली जाय। जैसे स्त्री दूसरोंको भी पुरुष समझती है पर अपने चित्तमें उनके लिए विकार उत्पन्न नहीं होने देती—ये स्वरूपानन्य उपासक मध्यम कोटिके हैं। निकृष्ट वे हैं जिनकी इच्छा और देवताओंकी उपासनाकी होती है पर गुरु आदिका धर्म विचारकर करते नहीं। ये सामान्य उपासक हैं। चौथे न्यून वा अधम हैं। (करु०)। (ख) उत्तम उपासक जैसे हनुमान्‌जी और सुतीक्ष्णजी कि जो केवल रामरूपको ईश्वर मानकर भक्ति करते हैं, दूसरे रूपको क्षण भर दृष्टि उठाकर नहीं देख सकते। (वै०)। [देखिए मीराजीको जो संसारके सभी जीवोंको स्त्री ही रूप समझती थीं, केवल एक अपने गिरिधरलालको पुरुष मानती थीं। जब पुरुषभाव ही किसी में नहीं तो विकार कैसे उत्पन्न हो—'मोह न नारि नारि के रूपा'। मध्यम एकको इष्ट जानते हैं, औरोंको अंगदेव मानते हैं। इत्यादि। (ग) ये चारों स्वकीयाके समान हैं और जो दूसरे के इष्ट की उपासना करने लगते हैं वे परकीया हैं। वे भक्त नहीं रह जाते। (प्र०)।]

६—'पतिवंचक' इति। प० पु० सृष्टि. ४९। ३०-३६ में श्रीपार्वतीजी नारदजी से कहती हैं कि 'जो पापी पुरुष मोहवश किसी साध्वी स्त्रीको दूषित करके छोड़ देता है, जो परस्त्री के साथ बलात्कार करता है अथवा उसे धनका लालच देकर फँसाता है, जो परस्त्रीका अपहरण करता है, वे सब स्त्री-हत्यारे हैं और घोर नरकमें पड़ते हैं। इसी प्रकार पतिके साथ वंचना करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्री चिरकालतक नरक भोगकर कौएकी योनिमें जन्म लेती है और उच्छिष्ट एवं दुर्गंधयुक्त पदार्थ खा-खाकर जीवन बिताती है, तदनन्तर मनुष्य-योनिमें जन्म लेकर विधवा होती है।

**बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाँड़ि छल गहई॥१८॥**
**पति प्रतिकूल जनम* जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई॥१९॥**

अर्थ—जो छल छोड़कर पातिव्रत्यधर्मको ग्रहण करती है (दृढ़ पकड़ती है) वह स्त्री परिश्रम बिना परम गति पा जाती है। १८। जो पतिके प्रतिकूल है वह जहां ही जाकर जन्म लेती है जवानी पाकर विधवा हो जाती है। १९। ‡

नोट—१ 'बिनु श्रम'—जप, तप, तीर्थ, योग, यज्ञ, वैराग्य, त्याग, कर्म, उपासना, ज्ञानादि सब परिश्रमरूप हैं। यथा—'कहहु भगति-पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा। ७. ४६।' 'छांड़ि छल गहई'—जैसा भक्तिके विषयमें कहा है—'सरल सुभाव न मन कुटिलाई। ७. ४६।' स्वार्थकी चाह छल है, छल छोड़कर पातिव्रत्य ग्रहण करनेका भाव कि अपने पतिकी सेवा सरल स्वभावसे स्वार्थ छोड़कर सहज प्रेमसे करे, यथा 'सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई। २.३०१.३।' 'पाइ तरुनाई' अर्थात् उसकी युवावस्था ही नष्ट हो जाती है, उसका सुख उसको नहीं प्राप्त हो सकता।

२—यहां पातिव्रत्यका माहात्म्य और पति प्रतिकूलताकी दुर्गति कही।

---

* जन्मि—१७६२, १७०४। जन्म—को० रा०। जन्म—१७२१, भा० दा०, छ०।

‡ 'न व्रतैर्नोपवासैश्च धर्मेण विविधेन च। नारी स्वर्गमवाप्नोति केवलं पतिपूजनात्॥ स्वामिनः प्रतिकूल्येन येषु जन्मसु गच्छति। तारुण्यं प्राप्त सा नारी विधवा भवति वै ध्रुवम्॥' इति पराशरसं०॥

३—भाव कि उसका उद्धार किसी जन्ममें नहीं होनेका । (रा० कु०) ।

वि० त्रि०—'पति प्रतिकूल···' इति । ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ सतीत्व भंग नहीं हुआ, पर पतिसे विरोध हो गया, उस प्रतिकूलाचरणका दण्ड कहते हैं कि ऐसी स्त्रीका जन्म जहाँ होता है वहाँ भी पति-सुख उससे छीन लिया जाता है। तरुणावस्था में विधवा होना परमेश्वरीय दण्ड है। उसके भोग लेनेमें ही कल्याण है, इसलिये शास्त्रों में विधवा विवाहका विधान नहीं है।

**सो०—सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।**
**जसु गावत श्रुति चारि अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय ॥**
**सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं।**
**तोहि प्रान प्रिय राम कहिउँ[†] कथा संसार हित ॥५॥**

अर्थ—स्त्री स्वाभाविक ही अपवित्र है। पतिकी सेवासे वह शुभ गति पा जाती है। चारों वेद (पातिव्रत्यका) यश गाते हैं, आज भी भगवान्‌को 'तुलसी' प्रिय है। हे सीते! सुनो, तुम्हारा नाम स्मरणकर स्त्रियाँ पातिव्रत्यधर्म ( पालन ) करेंगी। तुमको तो राम प्राणप्रिय हैं, यह कथा ( स्त्रीधर्मोपदेश ) मैंने संसारके भलेके लिये कही है ॥५॥

श्रीचक्रजी—'सहज अपावनि' इति। 'मैं नारि अपावन प्रभु जग पावन' इस प्रकार श्रीरामचरित-मानसमें नारीकी सहज अपवित्रताकी बात कई स्थानोंपर आई है। इसमें न तो नारीके अपमान करनेकी भावना है, न कोई नारी-द्वेषकी बात है। नारी महीने-महीने रजस्वला होती है। इस अवस्थामें वह अस्पृश्य मानी जाती है। यह अपवित्रावस्था उसकी नैसर्गिक है और इससे वह बच नहीं सकती। कोई व्रत, अनुष्ठानादि वह अखण्ड रूपसे इस अपवित्रावस्थाके प्रत्येक महीने प्राप्त होनेके कारण चला नहीं सकती। इस प्रकार उसकी अपवित्रता स्वाभाविक है।

वि० त्रि०—स्त्रीके शरीरकी बनावट ही ऐसी है कि वे शुद्ध नहीं रह सकतीं। वे महीनेमें तीन दिन क्रमसे चाण्डाली, ब्रह्मघातिनी और रजकीकी भाँति अशुद्ध रहती हैं, पुरुषके शुक्रको नौ मास गर्भके रूपमें धारण करती हैं। इसलिये सहज अपावनी कहा। पतिके पाणिग्रहणसे, उनके शरीरका पतिके शरीरसे अभेद हो जाता है, वे उसकी अर्धाङ्गिनी हो जाती हैं। अतः उपर्युक्त दोष पतिकी सेवा करनेवालीको नहीं लगता। उसकी शुभ गति होती है।

नोट—१ (क) 'सहज अपावनि'को 'शुभगति' असंभव है। दोनों परस्पर विरोधी हैं पर उनको पति-सेवासे शुभगति 'सहज' हो जाती है। ( ख ) 'सुभगति', 'जस गावत' और 'हरिहि प्रिय' पदोंसे जनाया कि पातिव्रत्य धर्मके पालनसे तीनों बातें प्राप्त हो जाती हैं—सद्‌गति, लोकपरलोकयश और भगवत्‌का प्रियत्व। (ग) 'पति सेवत सुभ गति लहइ', यथा 'स्त्रीणां पतिव्रतानां तु पतिरेव हि दैवतम्। स तु पूज्यो विष्णुभक्त्या मनोवाक्काय-कर्मभिः। ५१। स्त्रीणामथाविकतया विष्णोराराधनादिकम्। पतिप्रियरतानां च श्रुतिरेषा सनातनी ॥ ५२ ।' ( प० पु० पाताल खण्ड सर्ग ८४ )। अर्थात् पतिव्रता स्त्रियोंका तो पति ही देवता है। उन्हें पतिमें ही विष्णुके समान भक्ति रखनी चाहिए तथा मन, वाणी, शरीर और क्रियाओंद्वारा पतिकी ही पूजा करनी चाहिये। ५१। पतिका प्रिय करनेमें लगी हुई स्त्रियोंके लिये पति-सेवा ही विष्णुकी उत्तम आराधना है। यह सनातन श्रुतिका आदेश है।५२। पुनः, (घ) 'पति सेवत···'से जनाया कि वह जीवन्मुक्त हो जाती है। (पं० रा० कु०)।

खर्रा—'तुलसिका हरिहि प्रिय'—'तुलसिका' से जलन्धर दैत्यकी स्त्री वृन्दाकी कथा सूचित की। उसके परमसतीत्वके प्रभावसे भगवान् शङ्कर उसके पतिसे न जीत सके थे—'परम सती असुराधिप नारी। तेहि

† कहेउँ—पाठान्तर।

बल ताहि न जितहिं पुरारी ।१.१२३।' बालकांड दोहा १२३ में कथा दी गई है इससे दिखाया कि दैत्यकुलकी स्त्रीके पातिव्रत्यका यह प्रभाव हुआ कि भगवान् उसे तुलसीरूपसे मस्तकपर धारण करते हैं, वह ऐसी प्रिय है तो मनुष्य आदिकी स्त्रियोंके सतीत्वका प्रभाव क्या कहा जाय ? (खर्रा)।

नोट—२ प० पु० भूमिखंडमें तुलसीके प्रियत्वके सम्बन्धमें कथा इस प्रकार है—"देवताओं और दैत्योंने परस्पर उत्तम सौहार्द स्थापित कर जब समुद्र मथा तब उसमें चार कन्यायें प्रकट हुईं। फिर कलशमें रखा हुआ अमृत दिखायी पड़ा। उपर्युक्त कन्याओंमेंसे एकका नाम लक्ष्मी, दूसरीका वारुणी, तीसरीका कामोदा और चौथीका ज्येष्ठा था। कामोदा अमृतकी लहरसे पैदा हुई थी। वह भविष्यमें भगवान्की प्रसन्नताके लिये वृक्ष रूप धारण करेगी और सदा विष्णुको आनन्द देनेवाली होगी। वृक्षरूपमें वह परम-पवित्र तुलसीके नामसे विख्यात होगी। उसके साथ भगवान् जगन्नाथ सदा रमण करेंगे। जो तुलसीका एक पत्ता भी ले जाकर भगवान्को समर्पित करेगा उसका भगवान् बड़ा आदर मानेंगे और 'मैं इसे क्या दे डालूँ ?' यह सोचते हुए वे उसके ऊपर बहुत प्रसन्न होंगे।"

इसी प्रसंगमें आगे चलकर नारदके संबोधित वाक्योंसे ज्ञात होता है कि कामोदा भगवान् विष्णुके तेजसे प्रकट हुई थी।

स्कन्द पु० वैष्णवखण्ड कार्तिक तुलसीमाहात्म्यमें लिखा है कि क्षीरसमुद्र मंथनपर अमृतके निकलने पर उस अमृतकलशको दोनों हाथोंमें लिये हुये भगवान् विष्णु बड़े हर्षको प्राप्त हुए। उनके नेत्रोंसे आनन्दाश्रुकी कुछ बूँदें उस अमृतके ऊपर गिरीं। उनसे तत्काल ही मण्डलाकार तुलसी उत्पन्न हुईं। इस प्रकार वहाँ प्रकट हुई लक्ष्मी और तुलसीको ब्रह्मा आदि देवताओंने श्रीहरिकी सेवामें समर्पित किया और भगवान्ने उन्हें ग्रहण कर लिया। तबसे तुलसीजी जगदीश्वर श्रीविष्णुकी अत्यन्त प्रिय करनेवाली हो गयीं। संपूर्ण देवता भगवत्प्रिया तुलसीकी श्रीविष्णुके समान ही पूजा करते हैं। भगवान् नारायण संसारके रक्षक हैं और तुलसी उनकी प्रिया हैं। यथा 'ततः पीयूषकलशमजरामरदायकम्। कराभ्यां कलशं विष्णुर्धारयन्मुतलंपरम्॥ अवेक्ष्य मनसा सद्यः परां निर्वृत्तिमाप ह। ३३। तस्मिन्पीयूषकलश आनंदाश्रोदबिन्दवः। व्यपतंस्तुलसी सद्यः समजायत मण्डला।३४।...ततोऽतीव प्रियकरा तुलसी जगतां पतेः।३७।' (अ० ८)।

परन्तु इन दोनों कथाओंमें पातिव्रत्यके संबंधसे तुलसीका प्रियत्व नहीं सिद्ध होता। इनमें तो अमृतसे अथवा भगवान्के आनंदाश्रुसे उत्पन्न और फिर श्रीहरिके ग्रहण करनेसे उसका माहात्म्य और प्रियत्व कहा गया है।

पद्म पु० उत्तर खण्ड सर्ग ६६ इत्यादिमें जो जलंधरकी पतिव्रता स्त्री वृन्दाकी कथा दी है (जो मा० पी० १.१२३ में उद्धृत की गई है) उसमें वृन्दाका शाप देकर अग्निमें प्रवेश कर जानेके बाद इतनी कथा और है कि भगवान् उसके विरहमें व्याकुल हो उसकी भस्ममें लोटने और वहीं श्मशानपर रहने लगे। ऋषियों आदिके बहुत समझानेसे भी वे शान्त न हुये। तब देवताओंने शिवजीसे जाकर कहा कि भगवान् वृन्दासे मोहित होकर श्मशानमें पड़े हैं, क्या किया जाय ? उन्होंने कहा कि महामायामूलप्रकृतिकी शरण जाना चाहिए। देवताओंने महामायाकी स्तुति की। उसने प्रकट होकर कहा कि तुम लक्ष्मी, सरस्वती और गौरी (जो हमारा ही रूप हैं) के पास जाओ, वहाँ तुम्हारा कार्य हो जायगा। देवता वहाँ गए। उन्होंने अपना-अपना बीज दिया और कहा कि इसे वहाँ जाकर बो दो। देवताओंने वैसा ही किया। उनसे धात्री (सरस्वतीके बीजसे), मालती (लक्ष्मीके बीजसे) और तुलसी (गौरीके बीजसे) हुईं। धात्री और तुलसीमें भगवान्को स्त्रीका रूप देख पड़ा अतः वे उनको वृन्दाका रूप जानकर संतुष्ट हो उन्हें लेकर वैकुण्ठ चले गए। वृन्दाके भस्ममेंसे उत्पत्ति होनेसे वह परमप्रिय हुई।—यह कथा स्कंद पु० वै० का० अ० १४-३० में और शिवपुराणमें भी लगभग ऐसी ही है। प्रायः तीनोंमें वही श्लोक हैं।

स्मरण रहे कि भगवान्के वृन्दासे यह कहनेपर भी कि तू निष्पाप है अब तू हमारा भजन कर—'भज

मामधुनानघे। प० पु० उ० १६।५०।' उसने अपना सतीत्व नष्ट हो जानेसे अपने शरीरको दूषित मानकर भस्म कर दिया। इसीसे वह भगवान्को और अधिक प्रिय हो गई।

स्कन्दपुराणमें आगे चलकर तुलसी-विवाह-कथाके प्रसंगमें ये श्लोक हैं— (वैष्णवखण्डकार्तिक-माहात्म्य अ० ३१) यथा 'अनादिमध्यनिधन त्रैलोक्यप्रतिपालक। इमां गृहाण तुलसीं विवाहविधिनेश्वर ॥२२॥ पार्वतीबीजसम्भूतां वृन्दाभस्मनि संस्थिताम्। अनादिमध्यनिधनां वल्लभां ते ददाम्यहम् ॥२३॥ पयोघटैश्चसेवाभिः कन्यावद्वर्द्धिता मया। त्वत्प्रियां तुलसी तुभ्यं ददामि त्वं गृहाणभोः ॥२४॥' अर्थात् आदिमध्यान्तरहित त्रैलोक्यप्रतिपालक! आप इस तुलसीको विवाहकी विधिसे ग्रहण कीजिये। यह पार्वतीके बीजसे उत्पन्न हुई है; वृन्दाकी भस्ममें स्थित रही है तथा आदि, मध्य और अंतसे रहित है। आपको तुलसी बहुत ही प्रिय है, अतः इसे मैं आपकी सेवामें अर्पित करता हूँ। मैंने जलके घड़ोंसे इसकी सेवा करके इसे कन्याकी तरह पाला-पोसा है। आपकी प्रिया तुलसी मैं आपको ही दे रहा हूँ। आप इसे ग्रहण करें।—इनसे भी सिद्ध होता है कि परम सती वृन्दाके भस्मसे उत्पन्न होनेके संबंधसे, उसीका दूसरा रूप होनेसे वह भगवान्को परम प्रिय है। इसी कथाके संबंधसे, 'अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय' कहा गया। विष्णुसहस्रनाममें 'तुलसी वल्लभ' भगवान्का एक नाम ही है। इससे बढ़कर प्रियत्वका प्रमाण क्या चाहिये?

श्रीचक्रजी वृन्दा-तुलसीकी कथा ही मानकर लिखते हैं—'स्त्रीके लिये पतिके नश्वर देहका महत्व नहीं होता। पति उसके लिये परमात्माका प्रतीक है। जैसे कोई भक्त मूर्त्तिका पूजन करता है, लेकिन मूर्त्ति मुख्य नहीं है। मुख्य हैं वे प्रभु जिनकी मूर्त्ति है। अब यदि प्रभु मूर्त्तिमें प्रगट हो जायँ तो यह उपासनाका भंग या उपासनाका नाश नहीं है, यह तो उपासनाकी पूर्णता और प्रभुकी कृपा है। जैसे अनेक मूर्त्तियोंद्वारा एक ही परमात्माकी पूजा होती है, वैसे ही समस्त जीवरूपमें भी उन्हीं परम प्रभुका अंश है। पतिव्रता नारी पतिको जीव नहीं, परमात्मा मानती है। इसलिये पतियोंके शरीरके रंग या रूप चाहे जो हों, समस्त पतिव्रताओं द्वारा उनके पतिरूपसे वे जगदीश्वर ही पूजे जाते हैं। अब यदि वे दयामय किसीके पतिरूपमें प्राप्त हों तो यह उसके उपासनाकी पूर्त्ति हुई, यह प्रभुका अनुग्रह हुआ। इसमें उसके व्रतके भंग होनेकी कोई बात नहीं। यह तो मूर्त्ति-अर्चावतार होने-जैसी दिव्य कृपा है। वृन्दा परमपतिव्रता थी। लेकिन पतिके नश्वर देहमें उसे मोह हो गया था। हड्डी, मांस, चामका ढाँचा ही आराध्य बन गया। परन्तु मोह-युक्त होनेपर भी उसका पातिव्रत्य पूर्ण था। कोई व्रत जप आदि पूर्ण होता है तो वह परमात्माकी प्राप्ति कराता ही है। परमात्मा ही पूर्ण है, समस्त पूर्णतायें वहीं पहुँचकर पूर्ण होती हैं। वृन्दाको भी उसके पतिरूपमें ही प्रभु मिले, जैसे आराधकको उसके ही आराध्य रूपमें भगवान्के दर्शन होते हैं।

काम या मोहमें बाधा पड़नेपर क्रोध होता है। वृन्दा भगवान्को पाकर अपवित्र होना तो दूर रहा परम पवित्र हो गई। पतिव्रत परम-पतिको पाकर पूर्ण एवं सफल हो गया है। पर उसके मोहमें बाधा पड़ी इससे उसे क्रोध हुआ और उसने भगवान्को जड़ होनेका शाप दे दिया। सर्व समर्थ होते हुये भी भगवान्ने शापको स्वीकार कर लिया। शालिग्राम रूपमें भगवान् उस शापका सम्मान करके ही धरापर व्यक्त हुए। वृन्दा अपने मोहवश जालन्धरकी देहके साथ सती हुई लेकिन उसे तो भगवान्ने अपना लिया था। सतीके चिताकी भस्मसे तुलसीकी उत्पत्ति हुई। इस तुलसी रूपमें प्रभुने उसे अपनाया। अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे वृन्दा तुलसी होकर भगवान्को इतनी प्रिय लगी कि बिना उसके शालिग्रामकी पूजा ही नहीं होती। पतिव्रताका इतना महान् प्रभाव है।

शिव पुराण द्वितीय रुद्रसंहिता युद्धखण्ड अ० २७ से ४१ तकमें एक कथा तुलसीके संबंधकी हमें और मिली जो इस प्रकार है—श्रीराधिकाजीके शापसे श्रीसुदामाजी शंखचूड़ नामक दानव हुए। उन्होंने पुष्कर क्षेत्रमें तपस्या की जिससे ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर उनको जगन्मंगलमंगल और सर्वत्र विजय दिव्य श्रीकृष्ण-कवच दिया और कहा कि धर्मध्वजकी कन्या तुलसी बदरिकाश्रममें तप कर रही है तुम उससे जाकर विवाह

करो। यह बदरिकाश्रममें उसके पास गये और दोनोंमें बातचीत हो ही रही थी कि ब्रह्माजी वहाँ पहुँच गये और दोनोंको आज्ञा दी कि विवाह कर लो। विवाह हो जानेके बाद वह दैत्यदानवादिका राजा हुआ और तब इन्द्रादि समस्त देवताओंको जीतकर वह सबका स्वामी बन बैठा। देवता पीड़ित हो ब्रह्माके पास गए, ब्रह्मा सबको लेकर वैकुण्ठ गए और सब वृत्तान्त उनसे कहे। विष्णु भगवान्‌ने कहा कि वह शिवजीके हाथ-से ही मरेगा अतएव सब वहीं चलो। सब वहाँ गए। शिवजीने उसका वध स्वीकार किया। तब सब अपने-अपने लोकोंको गए। ( अ० ३१ )। शिवजीने शङ्खचूड़के पास पुष्पदन्त नामक दूतको भेजा कि देवताओंका राज्य-अधिकार संपत्ति लौटा दो, नहीं तो हमसे युद्ध करना होगा। उसने युद्ध स्वीकार किया। दोनोंमें घोर युद्ध हुआ जिसका वर्णन अ० ३३ से ३६ तकमें है। अन्ततोगत्वा शिवजीने त्रिशूल चलाना चाहा तब आकाशवाणी हुई कि ठहरिये, इसको ब्रह्माका वर है कि जबतक हरिका परमकवच इसके हाथमें है और जबतक इसकी स्त्रीका सतीत्व है तबतक वह नहीं मरेगा। शिवजी यह वाणी सुनकर रुक गए।

इधर भगवान् विष्णु ब्राह्मणका रूप धरकर शंखचूड़के पास गए और उससे भिक्षा मांगी। उसने कहा कि माँगो। ब्राह्मणने कहा कि देनेकी प्रतिज्ञा करो तब मैं माँगूँ। उसने प्रतिज्ञा की। तब ब्राह्मणने हरिकवच माँगा। उस सत्यवादी ब्राह्मण शंखचूड़ने हर्षपूर्वक उसे दे दिया। कवच लेकर भगवान् शंखचूड़का रूप धारणकर उसकी परम सती तुलसीके पास नगाड़े बजाते हुए पहुँचे। उसने जाना कि स्वामी युद्ध जीतकर आए हैं, आकर आरती उतारी और उन्हें अपने रंगमहलमें ले गई। तुलसीके पूछनेपर कि युद्ध कैसे-कैसे हुआ, शंखचूड़ रूपधारी ब्राह्मणने युद्धका वृत्तान्त कुछ कहकर बताया कि ब्रह्माजीकी आज्ञासे हमने देवताओं-को राज्य दे दिया और दोनोंमें सुलह हो गई। दोनों स्त्री-पुरुषोंका सम्बन्ध होते ही तुलसीको अनुमान हुआ कि ये मेरे स्वामी नहीं हैं, और उधर शिवजीने शंखचूड़को मार डाला। उसने क्रोधसे कहा कि तुम कौन हो, बताओ ? नहीं तो मैं शाप देती हूँ। तुम मेरे स्वामी नहीं हो। शापके भयसे भगवान्‌ने अपना सुन्दर रूप धर लिया। उसने भगवान्‌को पहचानकर कहा कि तुमने मेरा सतीत्व भंग किया। तुम्हारा हृदय पाषाणका है, उसमें दया नहीं है। अतः तुम मेरे शापसे पाषाण हो। इतना कहकर वह विलाप करने लगी। भगवान्-ने शिवजीका स्मरण किया और वे तुरत वहीं पहुँच गए। उन्होंने तुलसीको बहुत ज्ञानोपदेश देकर कहा कि अब तुम दोनोंको सुख देनेवाली बात मैं कहता हूँ, उसे सुनो। तुमने पूर्व जिस बातके लिये तप किया था उसीके अनुसार यह सब कार्य हुआ है, वह अन्यथा कैसे हो सकता है ? ( उसने तप किया था कि भगवान् हमारे पति हों )। अब तुम इस शरीरको छोड़ दिव्य देह धारणकर रमाके समान भगवान्‌के साथ रमण करो। तुम्हारी यह देह छूटनेपर तुम गण्डकी नदी होगी। और कुछ कालके बाद तुम देवपूजाके साधनरूप 'तुलसी वृक्ष' होगी। भगवान् तुम्हारे शापवश गण्डकी-तटके पर्वत होंगे। करोड़ों तीक्ष्ण दन्तवाले कीड़े उसकी शिलाके टुकड़ोंमें चक्राकार छिद्र करेंगे, वही अत्यन्त पुण्यकारक शालग्राम होंगे जो चक्रोंके भेदसे लक्ष्मीनारायण, सीताराम आदि प्रसिद्ध होंगे। इस प्रकार तुम्हारा और भगवान्‌का सदा संगम रहेगा। तुम्हारे पति शंखचूड़की अस्थिसे शंख होगा। तुलसी, शालग्राम और शंख जो एकत्र रखता है वह महाज्ञानी और भगवान्‌को अतिप्रिय होता है। यथा 'शालग्रामञ्च तुलसीं शङ्खं चैकत्र एवहि। यो रक्षति महाज्ञानी स भवेच्छ्री-हरिप्रियः। रु० सं० यु० ४१।५५।'

☞ यह कथा 'अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय' में मेरी समझमें बहुत संगत है। 'अजहुँ' से सूचित होता है कि 'तुलसी' अपने पातिव्रत्यके कारण पूर्व भी प्रिय थी और आज भी प्रिय है। 'तुलसी' ने पूर्व तप किया था कि भगवान् उसके पति हों, इसी सम्बन्धसे वे शंखचूड़के शापका उद्धार करनेके लिये, उसका शापित शरीर छुड़ानेके लिये, उसके रूपसे 'तुलसी' के पास गए थे। 'तुलसी' का वह शरीर ही गण्डकी हुआ। और भगवान् शालग्रामरूपसे सदा उसमें निवास करते हैं। फिर, वह 'तुलसी' दिव्यरूपसे भी सदा भगवान्‌के साथ लक्ष्मीकी तरह रहती है और साथ ही 'तुलसीवृक्षरूप' से भी सदा प्रभुकी सेवा करती है।

मानसमें अनुसूयाजीका पातिव्रत्यधर्मोपदेश उस उपदेशसे नितान्त मिलता है जो शिवपुराणमें एक ब्राह्मणीने श्रीपार्वतीजीको किया है, इससे अनुमान होता है कि 'अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय' भी शिवपुराणान्तर्गत इस कथाको लक्ष्य करते हुए ही कहा गया है।

☞ तुलसीके प्रियत्वके सम्बन्धमें 'रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी। १.३१.१२।' में भी कुछ लिखा जा चुका है। वहाँ भी देखिये।

टिप्पणी—१ (क) तुलसीके दृष्टान्तसे जनाया कि सहज अपावनी स्त्री परम पावनी हो जाती है। यथा 'रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी।' (ख) जो बात कही उसके दोनों प्रमाण (शब्द प्रमाण, प्रत्यक्ष प्रमाण) दिए। 'श्रुति अस कहई', 'गावहिं श्रुति चारि', यह शब्दप्रमाण है और 'अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय' यह प्रत्यक्ष प्रमाण है, सब जानते हैं। (ग) चार प्रकारकी पतिव्रतायें बताईं, उसमें भी वेदादिका प्रमाण दिया—'वेद पुरान संत सब कहहीं'। उत्तम, मध्यम और निकृष्ट को ( जो अपने धर्मकी रक्षा स्वयं करती हैं ) कहकर फिर उसका भी प्रमाण दिया कि 'श्रुति अस कहई'। फिर अधम पतिव्रता ( जो मनसे पतिव्रता नहीं है किन्तु परपुरुषका चिन्तवन करती रहती है) और व्यभिचारिणी के लक्षण और पातिव्रत्यका माहात्म्य एवम् व्यभिचार की दुर्गति कहकर फिर प्रमाण दिया कि 'चारो वेद' ऐसा कहते हैं। इनका प्रमाण देकर जनाया कि पतिव्रता स्त्रियोंको वेद पुराण सन्तवचन आदिके सुननेका अधिकार है, यथा 'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम वचन तुम्हारी'—( १।११० ) और पतिव्रताका धर्म है 'काय वचन मन पतिपद प्रेमा।' ❀

२—'सुनु सीता तव नाम सुमिरि···' इति। (क) आदिमें जब धर्मोपदेश किया तब 'सुनु राजकुमारी' कहा था और अब उनका ऐश्वर्य कहती हैं। अतः 'सुनु सीता' कहा। (ख) यह जो कहा कि 'तव नाम सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं' यह भी 'संसारहित' कहा और जो स्त्री-धर्मकी कथा कही वह भी 'संसारहित' कही। संसारकी स्त्रियोंको उपदेश है कि पतिव्रता होना चाहें तो श्रीसीताजीका स्मरण करें। ( ग ) ऐसा ही पार्वतीजीके विषयमें कहा है, यथा 'एहि कर नाम सुमिरि संसारा। तिय चढ़िहहिं पतिव्रत असिधारा।' [ मिलान कीजिये शि० पु० २.३ 'तव स्मरणतो नार्यो भवन्ति हि पतिव्रताः।८१। त्वदग्रे कथनेमाने न किं देवि प्रयोजनम्। तथापि कथितं मेऽद्य जगदाचारतश्शिवे।८२।' ( अ० ५४ )। अर्थात् तुम्हारे नामका स्मरण करनेसे स्त्रियाँ पतिव्रता होंगी। हे देवि ! तुमसे विशेष क्या कहना ! मैंने यह तुमसे जगत्के आचारके निमित्त कहा है। यह पातिव्रत्यधर्मोपदेश चौपाइयोंमें हुआ। कारण कि चौपाइयोंको पुरइन कहा है। सघन पुरइनें जलको ढके रहती हैं। वैसे ही यह उपदेश श्रीसीताजीके लिये नहीं है, औरोंके लिये इनके मिषसे है ]।

श्रीचक्रजी—'सुनु सीता तव नाम···' इति। 'तव नाम सुमिरि' का भाव यह है कि 'सीता' इस नामके स्मरणसे नारियोंके मनकी दुर्भावना दूर होती है। यह नाम ऐसा दिव्य प्रभावमय है कि उसके स्मरणसे नारियोंमें पातिव्रत्यका भाव जागृत होता है। पतिव्रताकी शक्ति उन्हें मिलती है। अनुसूयाजी श्रीजानकीजीको उपदेश करनेके बहाने जगत्की नारियोंको यह गुप्त मंत्र बतला रही हैं। 'कहिउँ कथा संसार हित' में उन्होंने यह बात भी ध्वनित कर दी है।

वि० त्रि०—'सीता' नामके स्मरणसे पातिव्रत्यका निर्वाह होता है। अतः पहिलेकी भाँति 'सुन राजकुमारी' न कहकर नाम लेकर 'सुनु सीता' कहती हैं। गौरीका नाम लेकर स्त्रियाँ पातिव्रत्यरूपी खड्गधारापर चढ़ती हैं और तुम्हारा नाम लेकर उनका निर्वाह होता है।

---

❀ पातिव्रत्यका माहात्म्य यथा 'सुतं पतंतं प्रसमीक्ष्य पावके न बोधयामास पतिं पतिव्रता ॥ पतिव्रता शापभयेन पीड़ितो हुताशनश्चंदन पंकशीतलः।'—( पु० रा० कु० )। अर्थात् पतिव्रता स्त्रीके गोदमें सिर रखकर पति सो रहा था। उसी समय उसने देखा कि पुत्र अग्निकुंडमें जाकर गिर गया। फिर भी वह पुत्रको बचानेके लिये न उठी कि पतिकी नींद उचट जायगी। अग्निने यह सोचकर कि यदि मैं पुत्रको जलाता हूँ तो पतिव्रता शाप दे देगी, इस भयसे वह चन्दनवत् शीतल हो गया।

# अत्रि-आश्रमसे बिदाई

सुनि जानकी परम सुखु पावा। सादर तासु चरन सिरु नावा ॥१॥
तब मुनि सन कह कृपा निधाना। आयसु होइ* जाउँ बन आना ॥२॥
संतत मो पर कृपा करेहू। सेवक जानि तजेहु जनि नेहू ॥३॥

अर्थ—श्रीजानकीजीने सुनकर परम आनन्द पाया और आदरपूर्वक उनके चरणोंमें माथा नवाया ॥१॥ तब कृपासागर श्रीरामजीने मुनिसे कहा कि आज्ञा हो तो मैं दूसरे वनको जाऊँ ॥२॥ मुझपर निरन्तर कृपा करते रहियेगा। सेवक जानकर प्रेम न छोड़िएगा ॥३॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुनु सीता तव नाम' कहकर अनुसूयाजीने ऐश्वर्य प्रकट किया; पर इन्होंने अपने ऐश्वर्यको गुप्त रखा। अतः यहाँ कहा कि 'जानकी परम सुख पावा।० सिरु नावा।' इन्होंने माधुर्य्य ही दृढ़ रक्खा। जैसे श्रीरामजीने मुनिसे माधुर्य्य बरता वैसे ही इन्होंने अनुसूयाजीसे। अतः इनके सुनने और मस्तक नवानेमें 'जानकी' माधुर्य्य नाम दिया। (ख) 'अनुसूयाके पद गहि सीता' उपक्रम है और 'सादर तासु चरन सिरु नावा' उपसंहार। (ग) ऋषिपत्नी इनको पाकर बड़ी सुखी हुई थीं, अतः ये भी बड़ी सुखी हुईं। जैसे 'ऋषिपतिनी मन सुख अधिकाई' वैसे ही यहाँ 'जानकी परम सुख पावा'। यहाँ 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४.११) को चरितार्थ किया। पुनः, जो अपनेको प्रिय होता है उसको दूसरोंसे भी सुननेसे सुख होता है। श्रीसीताजीको पातिव्रत्य परम प्रिय है अतः उसका उपदेश सुनकर परम सुख हुआ। पुनः, 'परम सुख पावा' का भाव कि पूजासे सुख हुआ और धर्मोपदेश सुनकर परम सुख हुआ। अर्थात् भूषणवस्त्रादि पानेसे सुख हुआ और यह परमार्थका उपदेश है अतः इससे परम सुख हुआ। जैसे ब्राह्मणीके पतिव्रताधर्मोपदेशसे श्रीपार्वतीजीका सुख पाना कहा है, यथा 'शिवां मुदमतिप्राप पार्वतीशंकरप्रिया। शि० पु० २।३।५४।' वैसे ही यहाँ श्रीजानकीजीका सुख पाना कहा गया।)। [(घ) 'सादर तासु चरन सिरु नावा'—विदा होनेपर भी प्रणाम किया जाता है इससे जनाया कि प्रणाम करके विदा हुईं, यथा 'तासु चरन सिरु नाइ करि प्रेमसहित मतिधीर। गयउ गरुड़ बैकुंठ तब ···७.१२५।' इससे यह भी जनाया कि आपका प्रत्युपकार मुझसे नहीं हो सकता, यथा 'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहि बारा। ७.१२५.४।' इससे कृतज्ञता सूचित की। सुशीलतासे कुछ बोलीं नहीं, केवल माथा नवाया। 'अनुसूया के पद गहि सीता' आदिमें और अन्तमें फिर 'सिरु नावा।' आदि अन्त दोनोंमें प्रणाम ही मात्र है। वाल्मीकीय आदिमें इनका बोलना भी कहा गया है पर मानसमें नहीं।]

२ (क) तब अर्थात् जब श्रीसीताजी प्रणाम करके विदा हो आईं और इधर अत्रिजी भी पूजा स्तुति समाप्त कर चुके। अत्रि-राम-संवाद और अनुसूया-सीता-संवाद दोनों एक साथ ही प्रारम्भ और समाप्त हुए। (ख) 'कृपानिधान' विशेषण दिया क्योंकि दण्डकारण्यमें और भी ऋषियोंको सुख देना चाहते हैं। इस वनमें अत्रिमुनि ही प्रधान हैं, इसीलिए अन्य वनको जानेमें उनकी आज्ञा ली, यथा 'प्रभुपद अंकित अवनि बिसेषी। आयसु होइ त आवउँ देखी॥ अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू। तात बिगत भय कानन चरहू॥ २.३०८।' पुनः, अत्रिजीके आश्रम तक एक ही वन है; अतः 'जाउँ बन आना' कहा। (ग) 'संतत कृपा करेहू', 'तजेहु जनि नेहू', यथा 'स्नेहः प्रवासाश्रयात्' ऐसा कहा। अत्रिजीने कहा था कि 'चरन सरोरुह नाथ जनि कबहुँ तजै मति मोरि', वैसे ही प्रभुने कहा कि 'सेवक जानि तजेहु जनि नेहू'। सेवकपर स्वामी कृपा स्नेह करते ही हैं, यथा 'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। १.१६७.७।' वैसे ही मैं सेवक हूँ आप स्वामी हैं, मुझपर वैसा ही स्नेह बनाये रहियेगा।

* होउ—को० रा०। होइ—१७०४, १७२१, १७६२ छ०, भा० दा०।

☞ यहाँ इस प्रकरणमें श्रीसीताजीकी निरभिमानता दिखाई है। ये पतिव्रता-शिरोमणि हैं, यथा 'सती सिरोमनि सिय गुन गाथा ।'; उनको कोई क्या उपदेश देगा कि 'लोकप होहिं बिलोकत जाके ।' तो भी वे सादर अनुसूयाजीका पातिव्रत्यधर्मोपदेश सुनती रहीं और अन्तमें कृतज्ञता सूचित करते हुए उन्होंने चरणों में मस्तक नवाया। इससे हमलोगोंको उपदेश ग्रहण करना चाहिए कि अपनेसे बड़ोंका उपदेश निरभिमान होकर आदरपूर्वक सुना करें चाहे हम उसे जानते भी क्यों न हों।

प० प० प्र०—भगवान् अपने आचरणद्वारा उपदेश देते हैं कि जब हम क्षत्रिय वेष धारणकर मुनियों विप्रोंका सम्मान करते हैं तब अन्य सबोंको भी यही अपना कर्तव्य समझना चाहिए—'यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते। गीता ३.२१।' 'संतत मो पर कृपा करेहू।…' यह है भारतीय सनातन वैदिक धर्मकी मर्यादा। चक्रवर्ती महाराजके परमप्रतापी राजकुमार एक मुनिके सामने इस प्रकार कृपाकी याचना करते हैं। 'संतत दासन्ह देहु बड़ाई' भी इसका एक हेतु है।

**धर्म्मधुरंधर प्रभु कै बानी। सुनि सप्रेम बोले मुनि ज्ञानी ॥४॥**
**जासु कृपा अज सिव सनकादी। चहत सकल परमारथवादी ॥५॥**
**ते तुम्ह राम अकाम पिआरे। दीनबंधु मृदु बचन उचारे ॥६॥**
**अब जानी मैं श्री चतुराई। भजी* तुम्हहि सब देव बिहाई ॥७॥**
**जेहि समान अतिसय नहि कोई। ताकर सील कस न अस होई ॥८॥**

शब्दार्थ—परमार्थवादी=जो ब्रह्मके साक्षात् करनेमें प्रवल हैं। ब्रह्मतत्त्वके जाननेवाले, ज्ञानी। यथा 'राम ब्रह्म परमारथ रूपा ।'=ब्रह्मविचारमें कुशल पंडित, यथा 'सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म विचार बिसारद'। 'जेहि समान अतिसय', यथा 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इति श्वेताश्वतर श्रुतिः'—

अर्थ—धर्मधुरन्धर प्रभुके वचन सुनकर ज्ञानी मुनि प्रेमपूर्वक बोले ॥४॥ ब्रह्मा, शिव, सनकादि सभी परमार्थवादी जिसकी कृपाकी चाह करते हैं, हे राम! वही आप (जिनको निष्काम भक्त प्रिय हैं और जो) निष्काम भक्तोंके प्यारे एवम् दीनबन्धु हैं जिन्होंने (ऐसे) कोमल वचन कहे ॥५-६॥ अब मैंने आपकी वा लक्ष्मीजीकी चतुराई समझी कि सब देवताओंको छोड़कर तुम्हें भजना चाहिये वा भजा ॥७॥ जिनके समान या अधिक कोई नहीं है उसका शील ऐसा क्यों न हो? ॥८॥

टिप्पणी—१ (क) "धर्मधुरंधर प्रभु", यथा "धर्मसेतु करुनायतन कस न कहहु अस राम" (वसिष्ठ वाक्य अ० १४८), "सहज सरल सुनि रघुबर बानी। साधु साधु बोले मुनि ज्ञानी॥ कस न कहहु अस रघुकुल-केतू। तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू॥ श्रुतिसेतु पालक राम तुम्ह०। २.१२६।" (वाल्मीकि वचन)। भाव कि आप धर्मकी मर्यादाके पालक हैं रक्षक हैं, अतः ऐसे वचन कहना आपके योग्य ही है। जो आप स्वयं सबपर कृपा करते हैं वे ही मुनिसे कृपा माँगते हैं—'संतत मोपर कृपा करेहू', क्योंकि धर्मधुरन्धर हैं, मर्यादा नहीं छोड़ते। अत्रिजी ब्राह्मण और ऋषि हैं और आप क्षत्रिय वेषमें हैं, इस नाते उनके सेवक बनते हैं। (ख) "प्रभु" अर्थात् सब इनकी आज्ञा पालते हैं। यथा "बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करमकुलि काला॥ अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोगसिद्धि निगमागम गाई॥ करि विचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के। २.२५४।' (ग) "मुनि ज्ञानी" के साथ 'सप्रेम' पद दिया क्योंकि प्रेम विना ज्ञानकी शोभा नहीं। [ यथा 'सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू। २. २७७.५ ।', 'बहुरि लखन सिय प्रीति बखानी। सोक सनेह मगन मुनि ज्ञानी। (वसिष्ठजी २.१७१)।', 'निर्भर

* भजिय—रा० गु० द्वि०, वं० पाठक। भजी—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, को० रा०।

प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी।' (सुतीक्ष्णजी)। पुनः भाव कि माधुर्य्यमें न भूले। आशीर्वाद न देकर इस तरह बोले। अतः 'ज्ञानी' कहा। (पं० रा० व० श०)]।

प० प० प्र०—'धर्मधुरंधर०'। इसमें उपदेश है कि जो कोई धर्मसंस्थापक नामसे कोई कार्य करता हो उसका आद्य कर्तव्य है कि प्रथम स्वयं धर्मका पालन करे, नहीं तो 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे।०' में ही उनकी गणना होगी। वेद शास्त्रकी मर्यादाका पालन करना धर्मोपदेश, राष्ट्रभक्त, देशभक्त, समाजसेवक इत्यादि बड़े लोगोंका कर्तव्य है। पर आज तो 'मारग सोइ जा कहँ जो भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा।'

टिप्पणी—२ 'संतत मोपर कृपा करेहू' का उत्तर 'जासु कृपा अज सिव०' है। 'सेवक जानि तजेहु जनि नेहू' का उत्तर 'ते तुम्ह राम अकाम पियारे' है और 'आयसु होइ जाउँ बन आना' का उत्तर 'केहि विधि कहउँ जाहु अब स्वामी' है।

३—'चहत सकल परमारथबादी' का तात्पर्य्य कि—(क) रामकृपा ही परमार्थ है। पुनः, (ख) स्वार्थरत लोग तो स्वार्थके लिये चाहते ही हैं पर जिनकी दृष्टिमें स्वार्थ नहीं है, वे भी आपको चाहते हैं। तात्पर्य कि जब सकाम और निष्काम दोनों ही आपको प्यार करते हैं तब हम स्नेह क्योंकर छोड़ सकते हैं? इससे यह भी जनाया कि बिना रामकृपाके वे परमार्थसाधनको व्यर्थ समझते हैं, इसीसे कृपाकी चाह करते हैं। [ब्रह्माजी ब्रह्मविद्याके सम्प्रदायके प्रवर्तक हैं, शिवजी साक्षात् दक्षिणमूर्ति हैं, यथा 'तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणमूर्तये', सनकादिक निवृत्तिमार्गके उपदेष्टा हैं। ये सभी परमार्थवादी हैं। आपकी कृपा चाहते हैं क्योंकि आप स्वयं परमार्थरूप हैं। (वि० त्रि०)। कृपा चाहते हैं, यथा 'अब दीनदयाल दया करिये। मति मोरि बिभेदकरी हरिये।…' (ब्रह्माजी), 'मामभिरक्षय रघुकलनायक' (त्रिपुरारिजी), 'रघुनंद निकंदय-द्वंद्वघनं। महिपाल बिलोकय दीन जनं' (उमापति), 'परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम। प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम।…' (सनकादिकजी); 'मामवलोकय पंकजलोचन। कृपा बिलोकनि सोच बिमोचन' (नारदजी)]

४—'ते तुम्ह राम अकाम पिआरे'। अभिप्राय यह कि आपका भजन करके दास अकाम हो जाते हैं तब आपको कौन-सी कामना है कि जो आप मेरी कृपा चाहते हैं। पुनः, भाव कि कामनासे तो सभी प्यारे होते हैं पर आप कामना रहित होते हुए भी प्यारे हैं। (खर्रा)। 'अकाम पियारे' कहकर 'दीनबंधु' कहनेका भाव कि मैं अकाम नहीं हूँ पर दीन हूँ, इसीसे आप मुझ दीनपर कृपा करके ऐसे मृदु वचन कह रहे हैं।

'अब जानी मैं श्रीचतुराई…' इति।

पु० रा० कु०—आपकी चतुराई जानी। क्या? यह कि आप सबसे बड़े हैं इसीसे ऐसी विनम्र वाणी बोले। अर्थात् अपनी नम्रतासे ही आपने अपनी श्रेष्ठता जना दी यह चतुराई है। अथवा, 'श्री' (=लक्ष्मी) की चतुराई जानी कि क्यों सब देवताओंको छोड़कर आपको ही जयमाल पहनाया था। ऐसा करके उन्होंने जना दिया कि सबमें आप ही बड़े हैं। पुनः, 'अब जानी' अर्थात् सुनी तो पहले थी पर अब समझा।

दीनजी—यहाँ, श्री=लक्ष्मी। जो तुमको श्रीजीने पतिरूपसे ग्रहण (वरण) किया उसकी चतुराई मैं अब समझा कि क्यों सबको त्यागकर आपको जयमाल डाला था। यहाँ श्रीरामजीकी चतुराईका प्रसंग नहीं है। वे कोई चतुराई नहीं करते हैं। वे तो बड़े सरल हैं, यथा 'सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं।१।२३७।', 'सहज सरल सुनि०'।

प्र०—(क) भाव यह कि आप अपने भक्तोंको अपनेसे भी अधिक मान्य देते हैं और अन्य देवता भक्तोंको सेवकके ही समान रखते हैं। वा, (ख) आपने मृदुवचन कहे इससे मैंने आपको दीनबंधु जाना, अतएव हमारी चतुराईकी शोभा यही है कि आपको ही भजूँ।

नोट—१ 'सब देव बिहाई' इति। यहाँ प्रभुके शील गुणकी प्रशंसाका प्रसंग है—'ताकर सील कस न अस होई'। जो ब्रह्मशिवादिके सेव्य हैं, आप्तकाम हैं, वे इतने विनम्र होकर आज्ञा माँग रहे हैं। ऐसा

शील किसीमें नहीं है। ऐसा कोई नहीं है जिसको प्रभुताका मद न हो। देवता थोड़ेमें ही प्रसन्न होते हैं और थोड़ेहीमें 'गरम' हो जाते हैं, उनको अपने 'निवाजे' की लाज नहीं। वे पूजाके अनुमान ही सेवकको सुख देते हैं। और, प्रभुने तो जिसे अपनाया उसे अपनाया ही, 'परखेउ न फेरि खर खोट', 'जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू' और 'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती' ये गुण आपमें हैं अन्य किसीमें नहीं। इत्यादि जानकर श्रीजीने आपकी सेवा ग्रहण की।

नोट—२ मिर्जापुरी पं० रा० गु० द्विवेदीजी और भा. दा., की प्रतियोंमें 'भजी' पाठ है। उसके अनुसार 'श्री' का अर्थ 'लक्ष्मी, वा, जानकीजी' है, यथा 'उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ३.७.३.।' लक्ष्मीजीने भगवान्को जयमाल पहनाया और श्रीजानकीजीने स्वयम्बरमें जहाँ सब 'देव दनुज धरि मनुज सरीरा' आए थे श्रीरामजीको ही मन-वचनकर्मसे भजा और व्याहा। अन्य टीकाकारोंने 'भजिय' पाठ रखा है। पं० शिवलालपाठक भी 'भजी' पाठ देते हैं, वैजनाथजीने 'भजी' पाठ देकर अर्थ किया है 'वरी' (=व्याही)।

पं० रा० व० श० जी कहते हैं कि वंदन पाठकजीकी प्रतिमें 'भजिअ' है। यह पाठ प्रधान है। भाव यह कि सबसे बड़ी चतुराई यह है कि आपका भजन करे, सबको छोड़े। दूसरा अर्थ यह है कि आपकी चतुराई मैं जान गया कि आप भक्तोंके साथ ऐसा बर्त्ताव क्यों करते हैं। वह यह है कि जिसमें आपका स्वभाव देखकर आपका ही हो रहे।

नोट—३ 'जेहि समान अतिशय नहिं कोई···'। भाव कि जब कोई समान ही नहीं है तब 'अतिशय' कहांसे होगा। वा, 'अतिशय समान तो अभावमें कोई नहीं है'। [उसका शील ऐसा होना ही चाहिए अर्थात् नम्रताकी बड़ाई बड़ोंमें ही होती है। (प्र०)। 'जानी श्री चतुराई' कहकर 'ताकर सील कस न अस होई' कथनसे जनाया कि श्रीजीने यह शील देखकर ही आपका भजन किया। त्रैलोक्यकी प्रभुता शीलवान्का ही भजन करती है। महाभारतमें शीलनिरूपणाध्याय द्रष्टव्य है। (वि० त्रि०)]

४ मिलान कीजिये—"नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्ञयाऽऽत्तलीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः। रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्त्रपूगैः किं तस्य शत्रु हनने कपयः सहायाः॥ भा० ९।११।२०॥" अर्थात् जिन रघुनाथजीके पराक्रम, तेज आदिके समान अथवा अधिक कहीं किसीका पराक्रम, तेज आदि नहीं है उनके लिये राक्षसवध, समुद्रबंधन आदि कौन यशकी बात है? पुनश्च, यथा श्रुतिः 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। श्वे० ६.८।'

केहि बिधि कहौं* जाहु अब स्वामी। कहहु नाथ तुम्ह अंतरजामी॥९॥
अस कहि प्रभु बिलोकि मुनि धीरा। लोचन जल बह पुलक सरीरा॥१०॥
छन्द—तन पुलक निर्भर प्रेम पूरन नयन मुखपंकज दिए।
मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किए॥
जप जोग धर्म्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।
रघुबीरचरित पुनीत निसिदिन दास तुलसी गावई॥

अर्थ—हे स्वामी! मैं किस प्रकार कहूँ कि 'स्वामी, अब जाइये'। हे नाथ! आप ही कहिए, आप तो अन्तर्यामी हैं॥ ९॥ ऐसा कहकर धीर मुनि प्रभुको देखने लगे, नेत्रोंसे जल बह रहा है, शरीर पुलकित है॥१०॥ शरीर परिपूर्ण रोमांचित है, निर्भर (परिपूर्ण, अतिशय) प्रेमसे पूर्ण हैं, नेत्रोंको मुखकमलमें लगाए हुए हैं। (मनमें विचारते हैं कि) मैंने कौन से जप तप किए कि मन, ज्ञान, गुण और इन्द्रियोंसे परे प्रभुके

* वन—को॰ रा.।

मैंने दर्शन पाए❀। जप योग और धर्म्मसमूहसे मनुष्य अनुपम भक्तिको पाते हैं। (तुलसीदासजी कहते हैं कि) रघुबीर श्रीरामजीके पवित्र चरित्रको तुलसी दिनरात गाता है।

टिप्पणी—१ 'केहि बिधि कहौं जाहु अब स्वामी…' इति। (क) अर्थात् ऐश्वर्य माधुर्य्य दोनों तरहसे कहते नहीं बनता। [मिलान करो श्रीजनकजीके विचारसे कि 'हम अब बन ते बनहि पठाई। प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई। २.२८२.४।'] अथवा, (ख) 'स्वामी, नाथ, अन्तर्यामी' इन तीनों विधियोंसे ऐसा कहते नहीं बनता। पुनः, (ग) भाव कि यह कैसे कहूँ कि वनको जाओ, क्योंकि आप तो सर्वत्र हैं, यथा 'जहँ न होहु तहँ देहु कहि'। एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेको कहनेसे आपमें एकदेशीयताका दोषारोप होगा। कदाचित् आप समझें कि मैं ऊपरसे कहता हूँ तो आप अन्तर्यामी हैं। पुनः, नाथके जानेसे सेवक अनाथ हो जायगा, यह कैसे कहूँ कि मुझको अनाथ करके जाइए, यथा 'जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ। करि अनाथ जन परिजन गाऊँ।' (कौसल्यावाक्य अ० ५७)। (खर्रा)। पुनः, (घ) भाव कि ईश्वर जानकर यह कहते नहीं बनता कि हमसे जुदा हो, राजकुमार जानकर भी नहीं कहते बनता कि वनको जाइए; क्योंकि बन कठोर और भयानक है और आप कोमल हैं। पुनः, (ङ) आप स्वामी हैं, सेवक स्वामीको जानेको कैसे कह सके? आप नाथ हैं। नाथके विना सेवक अनाथ होकर कैसे रहना चाहेगा? पुनः, आपके जानेपर फिर कौन ठिकाना? क्योंकि आप ही प्राणोंके प्राण हैं। (रा० प्र०)।

नोट—१ मुनिजीके इस चतुराईके कथनपर विचार करनेसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजीका कहा हुआ यह श्लोक याद आता है—"मा गा इत्यपमङ्गलं व्रज सखे स्नेहेनहीनं वचः। तिष्ठेति प्रभुता यथाभिलषितं कुर्वीत्युदासीनता॥" अर्थात् हे प्रभो! यदि मैं कहूँ कि 'मत जाइये' तो ऐसा कहना अपमंगल होता है और 'जाइए' इस वचनके कहनेसे स्नेहशून्यता पाई जाती है। 'ठहरो' ऐसा कहनेसे प्रभुता पाई जाती है तथा 'जैसी रुचि हो वैसा ही कीजिये' ऐसा कहनेसे उदासीनता पाई जाती है। अतः आप अन्तर्यामी हैं, मैं कुछ नहीं कह सकता। (रणबहादुरसिंहजी)। यह भाव मा० म० का है और उसीसे संभवतः भारतेन्दुजीने लिया हो। मा० म० कारका दोहा यह है—'कहिं जैबो अनुराग हत, रखिबो मेटे बाग। ताते हौं कछु ना कहौं कीजे जो प्रिय लाग।'

टिप्पणी—२ (क) 'लोचन जल बह' इति। प्रभुके आगमनपर भी मुनिके प्रेमाश्रु निकल पड़े थे, यथा 'प्रेम बारि दोउ जन अन्हवाये।', और अब चलते समय भी। अर्थात् संयोग और वियोग दोनोंमें अश्रुप्रवाह चला, भेद केवल इतना है कि संयोगमें आनन्दके कारण और वियोगमें दुःखके कारण आँसू बहे। [नयन जल और पुलकका एक कारण वियोग तो है ही, दूसरा कारण उनके गुणोंका स्मरण कि ऐसे कृपाल दीनबन्धु हैं कि यहाँ आकर मुझे दर्शन दिया, पूजा स्वीकार की, इत्यादि। यथा 'सुमिरि रामके गुनगन नाना। पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना॥" (प० प० प्र०)]। (ख) यही दशा शिवजीकी हुई थी, यथा 'भरि लोचन

---

❀ १ वै०—अर्थ—'ऐसे प्रभुको मैंने नेत्रभर देखा तो अब क्या बाक़ी रहा? अब इसी रूपको सदा अवलोकन करना ही उचित है, अब जप तप आदि करनेसे क्या लाभ है? इससे अधिक कौन लाभ है जिसके लिए जप आदि करें?'

२ जोड़के श्लोक, यथा 'दान व्रत तपो होम जप स्वाध्याय संयमैः। श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैःकृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥१॥', 'किं मयाऽऽचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः। किं वाथाप्यर्हते दत्तं यद्द्रक्ष्याम्यद्य केशवम्॥ भा० १०।३८।३।' अर्थात् 'दान तप होम व्रत जप वेदाध्यन और शमदमादि नियम इत्यादि अनेक पुण्य कर्मोंसे भगवान् कृष्णकी भक्ति साधी जाती है।' अक्रूरजी मन ही मन सोच रहे हैं कि मैंने कौन पुण्य कर्म किये, कौन तप किया अथवा किस योग्य पात्रको मैंने कभी दान दिया जिससे आज मुझे भगवान्‌का दर्शन होगा? (पं० रामकुमारजी)।

छवि सिंधु निहारी ।०० पुनि पुनि पुलकत कृपा निकेता ॥''' भये मगन छवि तासु विलोकी । अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी ॥१.५० ।'; यही भाव यहां के 'लोचन...प्रेम पूरन' का है । पुनः, यथा 'सकल सखीं गिरिजा गिरि मैना । पुलक सरीर भरे जल नैना । १.६८।' (इस उदाहरणमें भी आनन्द और दुःख दोनोंमें एक ही दशा दिखाई है पृथक्-पृथक् व्यक्तियोंमें । मेना, हिमाचल और सखियोंको तो दुःख के कारण 'पुलक सरीर भरे जल नैना ।' और गिरिजाजीकी हर्षके कारण यह दशा हुई । यथा 'सुनि मुनि गिरा सत्य जिय जानी । दुख दंपतिहि उमा हरपानी ॥ नारदहू यह भेद न जाना । दसा एक समुझब बिलगाना ॥ १.६८.१-२ ।' इन सबोंकी एकही दशा एकही समय हुई । मुनिकी एक ही-सी दशा दो भिन्न-भिन्न अवसरोंपर हुई । ) (ग) 'मुनि धीरा' अर्थात् सात्विक भावोंकी प्रबलतासे अधीर तो हो गए हैं, तो भी धीरज धरे रहे ।

३ (क) 'नयन मुख पंकज दिए', यथा 'देखि राम मुख पंकज मुनिवर लोचन भृंग । सादर पान करत अति धन्य जन्म सरभंग ।७।', 'मुख सरोज मकरंद छवि करै मधुप इव पान ।१.२३१।', 'अरविंद सो आनन रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिये' (क०) । जो भाव इन उपर्युक्त उदाहरणोंका है वही 'नयन मुख पंकज दिए' का है । अर्थात् नेत्र भृङ्गवत् हैं, श्रीराममुख कमल है । मुनिके नेत्ररूपी भौंरे श्रीरामजीके मुखरूपी कमलके छविरूपी मकरन्दरसको पान कर रहे हैं और मुखकमलपर ही मँडला रहे हैं, उसको छोड़ते नहीं । पुनः, [मुख-कमलमें नेत्रों को लगा देनेका भाव कि न जाने फिर कब इनको दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हो, न जाने फिर दर्शन हों या न हों, अतः आज तो अघाकर देख लूं, यह अवसर तो न जाने दूँ । (रा० प्र०) । पुनः भाव कि 'निरखि निरखि स्यामल मृदु गाता' 'श्यामतामरस-दाम शरीरं । जटामुकुट परिधन मुनि चीरं । पानि चाप कटि सर तूनीरं' मूर्त्तिको 'नयन मग उर आनि' मनरूपी कूचीसे चित्तपटपर प्रेममसिसे लिखने लगे । ( प० प० प्र०) ] । (ख) मुनिको दर्शनकी अत्यन्त आकांक्षा थी, इसीसे ग्रन्थकारने भी कई वार उनका देखना लिखा, यथा (१) 'देखि रामछवि नयन जुड़ाने', (२) 'भरि लोचन सोभा निरखि', (३) 'अस कहि प्रभु बिलोकि मुनिधीरा', (४) 'नयन मुख पंकज दिये' ।

४ 'मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख''' इति । (क) यह मुनिके मनके विचार हैं कि मन, ज्ञान (बुद्धि) और इन्द्रियोंकी गति जहां नहीं है, जो इन सबोंसे परे हैं तथा जो सत्व, रज और तम तीनों गुणोंसे ( जिनसे सारी सृष्टिकी रचना होती है उनसे भी ) परे हैं, गुणातीत हैं, यथा 'माया गुन ज्ञानातीत अमाना वेद पुरान भनंता । १.१९२ ।', 'मन समेत जेहि जान न बानी । तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ।१.३४१.७।' ( तर्क बुद्धिसे होता है ), उन परम प्रभुका मैं नेत्रोंसे दर्शन कर रहा हूँ । (ख) 'जप तप का किए' अर्थात् प्रभुका दर्शन तो समस्त साधनोंका फल है, यथा 'आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू । आजु सुफल जप जोग बिरागू ॥ सफल सकल सुभ साधन साजू । राम तुम्हहिं अवलोकत आजू ॥ २.१०७ ।', 'सब साधन कर सुफल सुहावा । लषन राम सिय दरसनु पावा । २.२१० ।' [ पर मैंने कौन जप, तप आदि साधन किये ? मैंने तो कुछ भी नहीं किया, प्रभुने मुझपर यह अहेतुकी कृपा की । अथवा, मैंने कौन ऐसे जप-तप किये जिनके फलस्वरूप प्रभुका दर्शन मुझे मिला ? आगे जपादिसे प्रभुके दर्शनका निराकरण करते हैं । ( रा० प्र० ) ]

प० प० प्र०—महर्षि अत्रि और श्रीअनुसूयाजी ने कैसी घोर तपश्चर्या की यह पुराणों और रामायणों-से सब जानते हैं किन्तु उनके वचनों और विचारों से स्पष्ट प्रतीति होती है कि जो कुछ साधन किये गए उनका स्मरण भी उनको न रह गया, उनको तो ऐसा लग रहा है कि मैंने तो कुछ भी नहीं किया । अपने से कुछ भी साधन हुआ नहीं, होता भी नहीं और न होगा ऐसी भावनाका सदा सर्वकाल विधिपूर्वक निष्कपट-रीत्या साधन में लगे रहनेपर भी मनमें रहना—यह है दीनताका लक्षण ! और भगवान् दीनों ही पर दया करते हैं । यथा 'नाथ सकल साधन मैं हीना । कीन्ही कृपा जानि जन दीना । ८।४।', 'मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं । भगति बिरति न ज्ञान मन माहीं ॥ नहिं सतसंग जोग जप जागा । नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा ॥

एक बानि करुनानिधान की । सो प्रिय जाके गति न आन की । १०।६.८ ।', इत्यादि । श्रीशबरीजीका अधिकार और दीनताका शतांश भी हम लोगोंमें हो तो भी प्रभु दया करेंगे ।

टिप्पणी—५ 'जप जोग धर्म समूह ते...'इति । (क) जप योग आदि धर्म-समूहसे हरिभक्ति मिलती है, यथा 'तीर्थाटन साधन समुदाई । जोग बिराग ज्ञान निपुनाई ॥ नाना कर्म धर्म व्रत दाना । संजम दम जप तप मख नाना ॥ भूत दया द्विज गुर सेवकाई । बिद्या बिनय बिवेक बड़ाई ॥ जहँ लगि साधन वेद बखानी । सबकर फल हरि भगति भवानी ॥७.१२६।'; वही भक्ति चरितके गानसे प्राप्त हो जाती है, यथा 'रावनारि जस पावन गावहिं सुनहिं जे लोग । रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग ।४६।' 'अनुपम' का भाव कि कर्म, धर्म, ज्ञान कोई भी इसके समान नहीं हैं जिनकी उपमा दी जा सके । पुनः, (ख) 'जप'=मंत्रजप, यथा 'मंत्र जाप-मम दृढ़ बिस्वासा ।३६।१।' इससे उपासना कही । 'योग' से ज्ञान कहा, यथा 'जोग ते ज्ञाना ।१६।१' और 'धर्म' से कर्म कहे । इस तरह भाव हुआ कि कर्म, ज्ञान और उपासना काण्डत्रयसमूह जब किये जायँ तब भक्ति मिले । तात्पर्य कि श्रीरामभक्ति काण्डत्रयसे परे है, श्रेष्ठ है । (ग) 'रघुबीर चरित तुलसी गावई' का भाव कि जिस श्रीरामभक्तिको लोग जप-योग-धर्मसमूह करके पाते हैं वही भक्ति मैं तुलसीदास श्रीरघुबीर चरित गाकर पाता हूँ । यह कहकर आगे उसी चरितका माहात्म्य कहते हैं—'कठिन काल···' । अपने लिये जप आदि द्वारा भक्तिकी प्राप्ति नहीं कहते, कारण कि 'कठिन काल···' । (खर्रा) ।

६ 'रघुबीर चरित पुनीत···' इति । यहाँ प्रसंगकी समाप्ति करते हैं । प्रायः मानसमें, अन्य रामायणोंकी तरह सर्ग या अध्याय आदि नहीं लिखे हैं, प्रसंगद्वारा अध्यायसमाप्ति में वे अपना या और निबन्धकारोंका नाम रखते हैं ।

पु० रा० कु० —वाल्मीकिजी के मतसे अयोध्याकाण्डकी इति गोस्वामीजी ने यहाँ 'कठिन काल००' पर लगाई और अपने मतसे भरतचरितपर अयोध्याकाण्डकी समाप्ति की । वहां भरतचरितकी समाप्ति सोरठामें की और यहां भी सोरठामें ही इति लगाई । इसीसे ये छः दोहे इस काण्डके अन्य ४० दोहोंसे गिनती में पृथक् किए गए । ❀ जयन्त-प्रसंगके बाद 'सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई । सीता सहित चले दोउ भाई' यह चौपाई है और अत्रिप्रसंगके बाद 'मुनिपद कमल नाइ करि सीसा । चले बनहि सुर नर मुनि ईसा' यह चौपाई है । नए प्रसंगका यहां से प्रारम्भ है, यह चौपाई उपक्रम है ।

खर्रा—अयोध्याकाण्डमें किसीका संबाद नहीं कहा; इससे अरण्यके छः दोहों के भीतर सब संवाद कह दिए । अयोध्याकाण्डकी समाप्ति सोरठापर की थी—'भरत चरित करि नेम००'—अतः अरण्यकाण्डको 'उमा राम गुन गूढ़...' सोरठेसे ही प्रारम्भ करके दूसरी इति सोरठे ही पर लगाई—'कठिन काल मल कोस०' ।

**दोहा—कलिमल समन दमन मन राम-सुजस सुख मूल ।**
**सादर सुनहिं जे तिन्ह पर राम रहहिं अनुकूल ॥**
**सो०—कठिन काल मलकोस धर्म्म न ज्ञान न जोग जप ।**
**परिहरि सकल भरोस रामहि भजहिं ते चतुर नर ॥ ६ ॥**

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी का सुन्दर यश कलिके पापोंका नाशक, मनका दमन करनेवाला और सुखकी जड़ है । जो इसे सादर सुनते हैं उनपर श्रीरामजी प्रसन्न रहते हैं । यह कठिन कलिकाल पापोंका खजाना है, इसमें न तो धर्म है न ज्ञान न योग और न जप ही; इसमें जो सब आशा भरोसा छोड़कर श्रीरामजी हीको भजते हैं वे ही लोग चतुर हैं ॥ ६ ॥

---

❀ भागवतदासजीकी पोथीमें इस छठे दोहेके बादसे फिर दोहोंकी गणना '१' से की गई है । इस तरह उन्होंने अरण्यकांडका प्रारम्भ दोहा ६ के बादसे माना है । यही बात यहां पं० रा० कु० जी कह रहे हैं ।

टिप्पणी—१ 'कलिमल समन''''अनुकूल' इति। (क) भाव यह कि कलिमल-ग्रसित आदि लोगोंके पापोंको दूर करके सुख देता है और जो कलिमलरहित हैं, जिनका मन शान्त है और जो ब्रह्मानन्दकी भी चाह नहीं करते वरन् निष्काम होकर रामसुयश सुनते हैं वे श्रीरामजीकी प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। (ख) 'कठिन काल मल कोस'—कलि पापोंका ख़ज़ाना है अर्थात् इस युगमें मनका झुकाव पापकी ही ओर रहेगा, मन पापमें ही आसक्त रहेगा। यथा 'कलि केवल मलमूल मलीना। पापपयोनिधि जन मन मीना।१।२७।४।' 'सुनु व्यालारि कराल कलि मल अवगुन आगार। गुनउ बहुत कलिजुग कर बिनु प्रयास निस्तार। ७।१०२।' (ग) 'धर्म न ज्ञान न जोग जप' इति। यथा 'कलिजुग जोग न जग्य न ज्ञाना। एक अधार रामगुन गाना॥ सब भरोस तजि जो भज रामहिं। प्रेम समेत गाव गुनग्रामहिं॥ सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥७।१०३।' अर्थात् योग आदि कलिमल धोनेको समर्थ नहीं हैं, ये साधन निबह नहीं सकते। विशेष 'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू।१।२७।७' में देखिए। विनयमें इसके भाव स्पष्ट हैं। पद १५५ 'बिस्वास एक राम नाम को' देखिए। पुनः, कलि 'मलकोश' है, वहाँ और कुछ है ही नहीं; अतः कहा कि धर्म, ज्ञान, योग, जप कुछ भी नहीं है। (घ) 'ते चतुर नर'—जो अपना हित विचारकर उसीपर आरूढ़ हो वह चतुर है। रामभजनसे ही कलिमें निस्तार है, यह समझकर उसमें लगना यही चतुरता है। यथा "काल धरम नहिं ब्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही॥ हरिमाया कृत दोष गुन बिनु हरिभजन न जाहिं। भजिय राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं॥ ७.१०४।"

प० प० प्र०—ऊपर तो कहा कि जपादि धर्म समूहसे मनुष्य अनुपम भक्ति प्राप्त करते हैं और सोरठेमें उसका विरोधी वाक्य कह रहे हैं, यह कैसा? इस शंकाका समाधान यह है कि वह अत्रिवाक्य है जो त्रेतामें कहा गया। कृत और त्रेता युगोंमें देह, आहार, अन्न, जल, वायु आदि सब सहज ही शुद्ध और अनुकूल सुखसाध्य होते थे। तथापि इस वाक्यको सिद्धान्तरूपसे लेना भूल है, कारण कि प्रकरणार्थसे विसंगत है और गोस्वामीजी अपने कालकी बात कहते हैं। जैसे बीज बोनेका कार्य प्रतिकूल कालमें करनेसे वह निष्फल होता है, श्रम ही हाथ लगता है; वैसे ही युगधर्मोंके विरुद्ध प्रयत्न भी निष्फल होते हैं। कलिकाल उन साधनोंके लिये प्रतिकूल है। इसमें रामभजन ही एकमात्र साधन है।

वि० त्रि०—कथा कहनेकी अपेक्षा सादर श्रवणका माहात्म्य अधिक बतला रहे हैं। भरतचरितश्रवणसे रामपदप्रेमकी प्राप्ति होती है और रामचरित्रश्रवणसे श्रीरामजीकी अनुकूलता होती है। यथा 'ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं जापर तुम्ह अनुकूल। प्रभु प्रताप बड़वानलहिं जारि सकै खलु तूल।'

प्रभु अत्रि-भेंट-प्रकरण समाप्त हुआ।

# विराध-वध-प्रकरण

मुनि पद कमल नाइ करि सीसा। चले बनहि सुर नर मुनि ईसा॥१॥
आगे राम अनुज* पुनि पाछें। मुनिबर बेष बने अति काछें†॥२॥
उभय बीच श्री सोहइ‡ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥३॥

शब्दार्थ—'काछना' = बनाना, सँवारना, पहनना। यथा 'गौर किसोर बेष बर काछे। कर सर चाप राम के पाछे', 'एई राम लषन जे मुनि संग आये हैं। चौतनी चोलना काछे सखि सोहैं आगे पाछे' इत्यादि। यहाँ 'काछे' और 'बने' से पुनरुक्ति समझकर सम्भव है कि पाठ 'आछे' कर दिया गया है। यहाँ, 'बने = विराजमान् वा शोभित हैं। और, 'काछे' = बनाए हुए। यथा 'भुजदंड सर कोदंड फेरत रुधिरकन तन अति बने'।

---

* लखन † आछे ‡ सोहति-को० रा०। * अनुज † काछे ‡ सोहइ—१७०४, १७२१, १७६२, भा० दा०

अर्थ—मुनिके चरणकमलोंमें मस्तक नवाकर सुरनरमुनिके स्वामी वनको चले ॥१॥ आगे रामचन्द्रजी हैं, पुनः पीछे छोटे भाई लक्ष्मणजी हैं, मुनिवरोंका सुन्दर वेष अत्यन्त बनाए हुए शोभित हो रहे हैं ॥२॥ दोनोंके बीचमें श्रीजानकीजी कैसी शोभित हो रही हैं जैसे ब्रह्म और जीवके बीचमें माया (शोभित हो)॥३॥

मा० स०—'मुनिपद कमल नाइ०'। श्रीरामचन्द्रजी बिना मुनिके स्पष्ट कुछ कहे हुए चले गए। इससे दोनोंका नियम रह गया। अर्थात् बड़ेकी आज्ञा लेकर कार्य्य करना उचित है सो श्रीरामचन्द्रजीने आज्ञा माँगकर पूर्ण किया और मुनि भक्त हैं अतः उन्होंने स्वामीको जानेके लिए न कहा। इस प्रकार मुनिके प्रेमकी रक्षा भी हो गई और इधर प्रभु भूभार उतारने, सुरनरमुनिकी रक्षा करनेको भी चले।

टिप्पणी—१ 'चले बनहि सुरनरमुनि ईसा' इति। ( क ) 'बनहि' अर्थात् चित्रकूटके वनसे अब दूसरे वनको चले, यथा 'आयसु होइ जाउँ बन आना'। यह नहीं कि अभी बस्तीमें थे, अब वनको चले। ( ख ) क्यों वनको चले ? यह 'सुर-नर-मुनि-ईसा' पदसे जनाया। तीनोंके स्वामी हैं, उनकी रक्षाके लिए समर्थ हैं, अतः रक्षा करनेके लिए चले। ( ग ) यद्यपि प्रभु अपना ऐश्वर्य छिपाए हैं पर ये सब उन्हें ईश्वर ही समझते हैं। अत्रिजी, सुतीक्ष्णजी, शरभंगजी, अगस्त्यजी आदि महामुनियोंने, ब्रह्मादि देवताओंने, तथा शबरी आदिने ईश्वर ही प्रतिपादन करके स्तुति की है। अतः तीनोंका ईश कहा। ☞ अयोध्याकांडतक माधुर्य्यप्रधान ऐश्वर्य्य है, आगे ऐश्वर्य्यप्रधान माधुर्य्य है। इसीसे भरद्वाज और वाल्मीकिके मिलन प्रसंगमें आशीर्वाद देना लिखा है, यथा 'दीन्हि असीस मुनीस उर अति अनंदु अस जानि। लोचन गोचर सुकृत फल मनहुँ किये बिधि आनि। २.१०६।' इति भरद्वाजः। पुनः; यथा 'मुनि कहुँ राम दंडवत कीन्हा। आसिरबाद बिप्र बर दीन्हा। २.१२५।' इति वाल्मीकिः। उनके ऐश्वर्य्यकथनपर रामजी सकुचते हैं। यथा 'सुनि मुनि बचन राम सकुचाने। भाव भगति आनंद अघाने। २.१०८।' इति भरद्वाजः। पुनः; यथा 'सुनि मुनि बचन प्रेमरस साने। सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने। २.१२८।' इति वाल्मीकिः। पर ऐसा व्यवहार अरण्यकांडमें नहीं लिखा पाया जाता।

२ ( क ) 'अनुज पुनि पाछे' इति। दोनों भाइयोंका वेष एक-सा है, दोनों मुनिवेषमें हैं और धनुषबाण तरकश धारण किए हुए हैं। अतः इन दोनोंको एक साथ कहा। श्रीजानकीजीको दूसरी चौपाईमें कहा। पर 'पुनि' शब्द बड़ी चतुरताका है इससे जनाया कि रामजीके पीछे और भी कोई है तब उसके पीछे लक्ष्मणजी हैं। ( ख ) 'मुनिवर-वेष बने अति काछे' इति। 'बने अति काछे' से जनाया कि धनुषबाणादि भी धारण किए हुए हैं। इतना ही कहकर वह वेष कह दिया जो अ० ११५ (६) —११५ में कह आए हैं। यथा "तरुन तमाल बरन तनु सोहा। देखत कोटि मदन मनु मोहा॥ दामिनि बरन लषन सुठि नीके। नखसिख सुभग भावते जीके॥ मुनिपट कटिन्ह कसे तूनीरा। सोहहिं करकमलनि धनुतीरा॥ जटामुकुट सीसन्हि सुभग उर भुज नयन बिसाल। ११५।"

नोट—१ 'उभय बीच श्री सोहइ कैसी'''। बिलकुल यही चौपाई अयोध्याकाण्डमें है, भेद केवल इतना ही है कि वहाँ 'सिय सोहति' कहा और यहाँ 'श्री सोहइ'। यथा 'आगे रामु लषनु बने पाछे। तापस वेष बिराजत काछे॥ उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्मजीव बिच माया जैसें।' ( अ० १२३ ), अतः भाव वही हैं जो वहाँ १२३ ( १-२ ) में लिखे गए हैं। पाठक वहाँ देख लें। यहाँ केवल इतना विचार करना है कि 'सिय' की जगह 'श्री' क्यों रक्खा है। यह बराबर दिखाया गया है कि बाल और अयोध्यामें विशेषकर माधुर्य्य ही वर्णित है, वही प्रधान है। पर अब पाँच कांडोंमें और खासकर अरण्यमें ऐश्वर्य्य ही प्रधान है; माधुर्य्य यदाकदा और वह भी प्रभुकी ही ओरसे है। यही कारण है कि इस कांडमें 'सीता', 'लछिमन' ऐश्वर्य्य-द्योतक नामोंका प्रयोग हो रहा है और होगा। 'सिय' और 'लषन' माधुर्य्यसम्बन्धी दुलार-प्यारके नामोंकी इति अयोध्याकाण्डकी समाप्तिपर ही हो गई।—'सीयरामपद प्रेम अवसि०'। यही कारण है कि मंगलाचरणमें ही 'श्रीरामभूपप्रियं' पद दिया गया। अयोध्याकाण्डमें 'उभय बीच सिय०' इस चौपाईके आगे पीछे प्रायः

'सिय' पदका प्रयोग हुआ है। यहाँ उसका नाम भी नहीं। यही कारण है कि पूज्य कविने यहाँ वही चौपाई दी पर 'सिय' के बदले 'श्री' पद दिया।

मानसरहस्य—इस पुनरुक्तिसे कवि पाठकका ध्यान उस चौपाईके पासकी 'प्रभुपद रेख बीचबिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥ सीय राम पद अंक बराएं। लषन चलहिं मग दाहिन लाएं। २. १२३।५-६।' इन अर्धालियोंकी ओर आकर्षित करके बताते हैं कि उसी रीतिसे अब भी चल रहे हैं। अर्थात् श्रीसीताजी भगवान्‌के चरणचिह्नोंके बीचकी जगहपर बड़ी सावधानीसे अपना पैर रखती हैं और श्री-लक्ष्मणजी तो दोनोंके सेवक ठहरे, अतः वे स्वामी और स्वामिनी दोनोंके चरणचिह्नोंको बचाकर चलना चाहते हैं। बीचमें पैर रखनेकी जगह मिलती नहीं, इसलिये दोनोंके चरणचिह्नोंको अपनेसे दाहिने लेकर उनसे बाएँ चलते हैं। यों करनेसे अपने दोनों सेव्योंके चरणचिह्न दाहिने रहनेसे उनका सम्मान भी हो रहा है और राहसे हटकर चलनेसे प्रेमभावकी निष्ठा भी सिद्ध हो रही है—'रीति चलिबेकी भली प्रीति पहिचानिए।' [ गीतावलीमें पाठ यह है—'रीति चलिबे की, प्रीति पहिचानि कै।२।३१।' ]

वि० त्रि०—'श्री' शब्दके प्रयोगसे ही दिखला दिया कि इस समय भगवती सीता तापसवेषमें नहीं हैं, दिव्य वस्त्रभूषण पहिने हुए हैं जो भगवती अनुसूयाने पहिना दिया था।

टिप्पणी—३ यहाँ अध्यात्मरामायणके निम्न श्लोकोंका भाव दिखानेके लिए ही 'आगे राम''' उभय बीच श्री''' यह चौपाई कही गई है।—'तावेत्य विपिनं घोरं झिल्लीझंकारनादितम्। नानामृगगणाकीर्णं सिंहव्याघ्रादिभीषणम्॥१०॥ राक्षसैर्घोररूपैश्च सेवितं रोमहर्षणम्। प्रविश्य विपिनं घोरं रामो लक्ष्मणमब्रवीत्॥११॥ इतः परं प्रयत्नेन गंतव्यं सहितेन मे। धनुर्गुणेन संयोज्य शरानपि करे दधत्॥१२॥ अग्रे यास्याम्यहं पश्चात्त्वमन्वेहि धनुर्धरः॥ आवयोर्मध्यगा सीता मायेवात्मपरात्मनोः॥१३॥" (अ०रा० ३।१)। [ अर्थात् इस वनमें ऐसा ऐसा भय है, अतः मैं आगे रहूँगा पीछे तुम धनुषबाण चढ़ाए चलो, बीचमें सीता चलें जैसे आत्मा-परमात्माके बीचमें माया। बैजनाथजी इसका भाव यह कहते हैं कि आत्मा और परमात्माके बीचमें आह्लादिनी माया अर्थात् भक्ति रहती है। जैसे भक्त लोग भक्तिपर दृष्टि रखते हैं वैसे ही तुम जानकीजीपर दृष्टि रखना। २ ( खर्रा )—यहाँ सियशोभाकी उपमा 'ब्रह्म जीव बिच माया' से दी। ब्रह्म-जीवके बीचमें मायाकी ही शोभा अधिक देख पड़ती है अर्थात् जगत्‌में सब मायाका ही चमत्कार है। अथवा, यहाँ उपमाका एक अंग व्यवधान ही लिया गया, व्यवधान रूपिणी हैं यह जनाया। ]

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि अयोध्याकांडमें "श्रीरामजीको ब्रह्म, श्रीजानकीजीको अभिन्नशक्ति चिद्रूपा एवं कृपा-रूपिणी कहा गया और शुद्धजीवके रूपमें श्रीलक्ष्मणजीका होना कहा है। यहाँ फिर कहा गया, क्योंकि आगे यह चरितार्थ होगा। कृपाकी ओट लेनेसे श्रीरामजी जीवरूपी श्रीलक्ष्मणजीको गीताका उपदेश करेंगे, तुरत ही अविद्यारूपिणी शूर्पणखा आवेगी, उसे ये उसी ज्ञानसे निशाचरी जान लेंगे। फिर प्रभुकी ही कृपादेवीके संकेतसे श्रीलक्ष्मणजीको संकेत मिलेगा जिससे वे शूर्पणखाको कुरूपा करके त्याग करेंगे कि फिर उनकी दृष्टिमें वह न आवेगी। फिर उसके प्रतिकारमें खरदूषणादिकी बाधाओंको कृपा करके श्रीरामजी ही अपने ऊपर ले लेंगे। उन्हें क्षणभरमें नाश कर देंगे। यह सब कृपादेवीकी ओट लेनेके भाव हैं। जीव के उद्धार करनेमें कृपादेवीकी शोभा होती है, वही शोभा यहाँ उत्प्रेक्षाका विषय है।"

यद्यपि ग्रन्थोंमें श्रीसीताजीको चिद्रूपा और कृपारूपिणी कहा है और वे हैं ही चिद्रूपा आदि, तथापि यहाँ उनके इन गुणोंके प्रतिपादनका कविका लक्ष्य नहीं जान पड़ता, क्योंकि उस विषयके बोधक कोई शब्द यहाँ नहीं हैं। यहाँ केवल श्रीजानकीजीका श्रीरामजीका अनुगमन करना और तत्पश्चात् लक्ष्मणजीका सावधानतापूर्वक उनकी रक्षा करते हुए उनके पीछे चलना ही कविका कथन है। वाल्मी० में ऐसी सावधानता न होनेसे ही विराध ले भागा है। यदि यहाँ ऐसा ही मान लें (जैसा श्रीकान्तशरणजीने लिखा है) तो इसके माननेसे मायाका जो दृष्टान्त आगे दिया गया है उससे इस विषयमें कोई विशेष साम्य नहीं है। श्रीजानकी-

जीकी कृपाके कारण श्रीलक्ष्मणजीको श्रीरामगीताका उपदेश दिया गया तो क्या ये उस समय श्रीजानकीजीके अनुयायी या संरक्षक हुए इससे उपदेश दिया गया और, क्या उस उपदेशमें ऐसा विषय है जिससे वे शूर्पणखाको पहिचानते ? श्रीजानकीजीके संकेतसे लक्ष्मणजीको उपदेश दिया गया यह भी ग्रंथसे नहीं पाया जाता।

मायाके दो भेद कहे गए हैं, विद्या और अविद्या। इनमेंसे अविद्या माया तो जीव और ब्रह्मके बीचमें विरोधी व्यवधान है। उसके अनुसार भाव यह कह सकते हैं कि जैसे मायाका व्यवधान होनेसे जीव ईश्वरको जान या देख नहीं सकता वैसे ही लक्ष्मणजी श्रीजानकीजीके बीचमें होनेसे मार्गमें श्रीरामजीको ठीकसे देख नहीं पाते।

विद्यामाया भी जीव और ब्रह्मके बीचमें व्यवधान है परन्तु यह ब्रह्मतक पहुँचानेवाली है। अतः यह विरोधी न होकर सहायक है। इसके अनुसार भाव यह होगा कि जैसे विद्यामाया ( अर्थात् भगवत्प्राप्तिके भजन, पूजन, स्मरण आदि सात्विक साधनों ) की दृढ़ रक्षापर साधक जीवकी दृष्टि रहती है और कामादि विकारोंका दमन करते हुये वह साधनोंपर दृढ़ रहता है तो उसको भगवत्प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि विद्या-मायाकी दृष्टि सदा ब्रह्मपर रहती है, वह ब्रह्मकी अनुगामिनी है; अतः वह जीवको उनकी प्राप्ति करा सकती है। वैसे ही यहाँ श्रीलक्ष्मणजीकी दृष्टि श्रीसीताजीकी ( राक्षसों आदिसे ) रक्षापर है। जैसे कहीं मोड़पर श्रीरामजी लक्ष्मणजीसे ओझल हो जायँ तो भी श्रीजानकीजीके सहारे वे उनतक पहुँच जाते हैं क्योंकि श्रीजानकीजीकी दृष्टि बराबर श्रीरामजी पर रहती है।

बाबा जयरामदासजी—यहाँ 'सोहइ' शब्द देकर कविने बंधनकारिणी अविद्या माया और भेदकरी विद्या माया दोनों प्रकृतिरूपा यवनिकाओंसे विलक्षण भगवानकी नित्य आह्लादिनी शक्तिका लक्ष्य कराया है। प्राकृतमाया मोह और अज्ञानका हेतु है, जीव-ब्रह्मके साक्षात्कारमें आवरणरूप है, यथा 'नाथ जीव तव माया मोहा', 'मायाछन्न न देखिए जैसे निर्गुन ब्रह्म।' अतएव संसारी माया 'सोहइ' नहीं 'वल्कि मोहइ' है। वह हेय ( त्याज्य ) है। इसलिये उसे यहाँ नहीं समझना चाहिए। यह उपमा तो परधामके उस मुख्य अवसरकी है कि जब यह जीव संसारी मायासे मुक्त होकर नित्य धामको प्राप्त हो ब्रह्मके सम्मुख उपस्थित होता है; तब बीचमें स्वयं श्रीअम्बा लक्ष्मीजी खड़ी होकर भगवान्से अनुरोध करती हैं, जिससे उस चेतनको भगवान् स्वीकार करते हैं। उस समय ब्रह्म और जीवके बीचमें जो शोभा श्रीजीकी होती है वही शोभा यहाँ श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजीके बीच श्रीसीताजीकी है। श्रीसीताजीका बीचमें चलना श्रीलक्ष्मणजीके सेवा-धर्मको प्रकट करनेका कारण बनकर उनके भगवान्को अनुरोध करनेके कर्त्तव्यका भी औचित्य सिद्ध कर रहा है।

प० प० प्र०—यहाँ 'राम ब्रह्म हैं, सीताजी माया हैं और लक्ष्मणजी जीव हैं' ऐसा मानना अनर्थ कारक होगा। यह केवल दृष्टान्त है। दृष्टान्तके उपमानोंको जैसे-तैसे उपमेयमें घटानेसे कैसा अनर्थ होगा यह 'फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भयें जैसा' इस एक ही उदाहरणसे देख लीजिए। इसमें कमल फूले बिना सरको निर्गुण ब्रह्म और फूले हुए कमलोंसहित सरको सगुण ब्रह्म मानना पड़ेगा। सर तो दृश्य, स्पृश्य, जल अवगाहनीय और पेय है, और ब्रह्म तो 'मनोवागतीतं', 'अज व्यापकमेकमनादि' इत्यादि है। ये सब धर्म सरमें मानना पड़ेंगे, जो हास्यास्पद ही है। मानसरहस्यकार (बाबा जयरामदासजी) की कल्पनाके अनुसार २।१२३।५-६ का अर्थ लगानेसे कैसा अनर्थ होगा। यह पाठक स्वयं देख लें।

ब्रह्म और जीवके बीच माया कैसी 'सोहइ' यह देखिए।

जीवका तात्विक रूप यह है—'ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ सो माया बस भएउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं।…'; वह ईश्वरका अंश है। विद्यामायाके बिना विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार भी अशक्य है और जब विश्वका उद्भव ही न होगा तब जीवत्व भी अशक्य है।

इस दृष्टान्तमें श्रीसीताजी श्रीरामजीके पीछे-पीछे चलती हैं, जैसे 'ईस बस्य माया गुनखानी' और लक्ष्मणजी श्रीसीताजीके पीछे-पीछे चलते हैं जैसे 'मायावस्य जीव अभिमानी'। इससे स्पष्ट हुआ कि जैसी अघटित घटना पटीयसी मायाकी इच्छा, ज्ञान क्रिया द्रव्य शक्तिसे निर्गुण ब्रह्मको सगुण ईश्वरत्व और ईश्वरांशको जीवत्व प्राप्त होता है ( मायाके विना दोनोंमें कुछ भी करनेकी शक्ति ही नहीं है ), वैसे ही श्रीसीताजी दोनोंकी शोभा बढ़ा रही हैं।''जैसे जीव और ईश्वरका कर्तृत्व केवल मायापर निर्भर रहता है, वैसे ही श्रीरामलक्ष्मणजीकी 'कीरति करनी' सीताजीके ही निमित्तसे होगी। धनुर्भङ्गके लिये प्रयाण करनेसे आजतक दोनोंका यश, प्रताप श्रीसीताजीके निमित्तसे ही प्रतीत हुआ है—यह है मुख्य भाव !—[ पर पाठ है 'श्री सोहइ', 'माया जैसी' (सोहइ), राम और अनुजका सोहना नहीं कहा। (मा.सं.)। अन्यथा भाव अच्छा है ]।

वि० त्रि० · ब्रह्मका अनुसरण माया करती है और जीव मायाका अनुसरण करता है। यथा 'माया वस्य जीव अभिमानी। ईस वस्य माया गुन खानी'। ब्रह्म मायाको नहीं देखता, माया ब्रह्मको देखा करती है। यथा 'सो प्रभु भ्रूविलास खगराजा'। नाच नटी इव सहित समाजा'। अथवा, ब्रह्मजीवमें भेद नहीं है, माया बीचमें आकर भेद बनाये हुए है। इसलिये रामजीकी उपमा ब्रह्मसे, सीताजीकी मायासे और लक्ष्मणजीकी जीवसे दी।

**सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिं बर* बाटा ॥४॥**
**जहँ जहँ जाहिं देव रघुराया। करहिं मेघ तहँ तहँ नभ छाया ॥५॥**

शब्दार्थ—'अवघट'=दुर्गम, जहाँ घाटकी सन्धि नहीं है, अटपट। 'देव'=दिव्य, सत्वगुणयुक्त महात्मा सत्यसंध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और बुद्धिमान् इत्यादि। अ० ३०७ (८) 'सो अवलंब देव मोहि देई' में देखिए।

अर्थ—नदी, वन पहाड़ और अवघट घाट ( सभी अपने ) स्वामीको पहचानकर सुन्दर रास्ता देते हैं। (अर्थात् जहाँ घाट नहीं है वहाँ नदियाँ स्नानयोग्य घाट कर देती हैं, जहाँ जल अथाह है वहाँ गोपदजल हो जाता है कि पार जा सकें, वन पर्वतोंमें जहाँ मार्ग दुर्गम है वहाँ सुन्दर कोमल मार्ग बन जाते हैं) ॥४॥ जहाँ जहाँ देव श्रीरघुनाथजी जाते हैं वहाँ वहाँ मेघ आकाशमें छाया करते जाते हैं ॥५॥

पु० रा० कु०—१ 'पति पहिचानि' क्योंकि सबके स्वामी हैं। भगवान् विराट्रूप हैं, यथा "विस्वरूप रघुबंसमनि''लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु"—( लं० १४ )। [ पंडितजीका आशय यह जान पड़ता है कि विराट्रूपमें नदी, पर्वत, आदि विराट्के शरीरकी नसें और हड्डियाँ आदि हैं। यथा 'अस्थि सैल सरिता नस जारा। ६.१५।' शरीरी-शरीर भाव होनेसे सरिता आदिके स्वामी हैं। सरिता-वनादि जीवकी भोगयोनियाँ हैं। जैसे मनुष्यादि शरीरोंमें जीवात्मा रहता है वैसे ही इन जड़ योनियोंमें भी जीवात्मा रहता है और जीवसमुदायका स्वामी परमात्मा है ही। इस भावसे सरिता आदि, (अर्थात् उनमें स्थित जीवात्माओं वा उनके अभिमानी देवताओं ) का अपना स्वामी पहचानकर मार्ग देना उचित ही है। (इस समय ब्रह्म, माया, जीव की भाँति शोभा है अतः पहिचाननेमें कठिनता नहीं है। वि० त्रि० ) ] २—नदी, वन आदि जड़ोंकी सेवा कही, इसीसे 'देव रघुराया' कहा। ३—'सरिता' से जल, गिरि और वनसे स्थल और मेघसे नभ अर्थात् जगत्में जो तीन प्रकारके जीव हैं—'जलचर थलचर नभचर नाना'—उन तीनोंसे सेवित और सुखकी प्राप्ति कही। ४—यहाँ तक उत्तम, मध्यम, निकृष्ट तीनों प्रकारके जीवोंसे सेवित दिखाया। चेतनमें उत्तम मुनि, मध्यम मेघ और निकृष्ट सरितादि जो जड़ हैं। ५—खर्रा—अरण्यकांडसे प्रभुका ऐश्वर्य्य वर्णन हो चला है। और 'सरिता बन गिरि अवघट घाटा।०॥ जहँ जहँ जाहिं०' ये अरण्यकांडकी प्रथम चौपाइयाँ हैं; अतएव यहाँ प्रारम्भसे ही ऐश्वर्य्य कथन कर चले हैं।

प० प० प्र०—'पति पहिचानि''' इति। यहाँ शंका होती है कि 'क्या जब अयोध्यासे चित्रकूट गए

* सब—को० रा०।

थे तब सरिता आदिने उनको न पहचाना था?' उत्तर यह है कि तब भी पहचाना था जैसा 'पदनख निरखि देवसरि हरषीं । २।१०१।४ ।' से स्पष्ट है । पर भगवान्‌के मनमें भक्त ( श्रीभरतजी ) की महिमा बढ़ानेकी इच्छा उत्पन्न हो गई और सरिता, वन इत्यादि को ( अपनी मायासे ) सेवा करने नहीं दिया । ( विशेष २। १०१।४ और २।२१६ देखिए ) । इस समय कोई विरुद्ध प्रेरणा न होनेसे निसर्ग उनकी सेवामें लग गया । ( पूर्व कई बार बताया गया है कि अयोध्याकांडमें प्रायः पूर्ण माधुर्य्य बरता गया है और अरण्यकांडमें प्रायः ऐश्वर्य्य ही प्रधान है ) ।

☞ नोट—१ यहाँ दण्डकारण्यको प्रस्थान करतेमें 'देव' पद दिया । शरभंगजी इसी पदका प्रयोग करेंगे, यथा 'सो कछु देव न मोर निहारा' । अगस्त्यजीके आश्रमपर जानेके समय 'सुरभूप' कहा है, यथा 'मुनि आश्रम पहुँचे सरभूपा । १२.५ ।'

**मिला असुर बिराध मग जाता । आवत हीं रघुबीर निपाता ॥६॥**
**तुरतहि रुचिर रूप तेहिं पावा । देखि दुखी निज धाम पठावा ॥७॥**

अर्थ—विराध दैत्य रास्तेमें जाते हुए मिला, पास आते ही रघुकुलवीर श्रीरामजीने उसको मार डाला ॥६॥ तुरन्त ही उसने सुन्दर रूप पाया । उसको दुःखी देखकर ( अर्थात् यह देख कि उसको किसी साधनका बल न था ) प्रभुने उसको अपने लोकको भेज दिया ॥७॥

"विराध"—वाल्मीकीयमें लिखा है कि विराधने अपनी कथा श्रीरामचन्द्रजीसे स्वयं कही है । ( क ) मैं जव राक्षसका पुत्र हूँ । मेरी माताका नाम शतह्रदा है और मेरा विराध नाम प्रसिद्ध है । ब्रह्माको प्रसन्न करके मैंने वर प्राप्त कर लिया है कि मैं किसी अस्त्र-शस्त्रसे न मर सकूं न मेरा कोई अंग कट या छिद सके ।—( वाल्मी० स० ३ ) । मैं इस बीहड़ वनमें भ्रमण करता हुआ मुनियोंका मांस खाया करता हूँ । ( सर्ग २ ) । ( ख ) ( उसने जब अपना वध निश्चय जाना तब वह विनम्र होकर कहने लगा ) हे पुरुषर्षभ ! काकुत्स्थ ! आपने मेरा वध किया । मोहवश मैंने आपको न जाना था । अब मैं जान गया कि आप राम हैं और ये लक्ष्मण, सीता हैं । मैं तुम्बरु नामका गंधर्व हूँ । रंभामें आसक्त होने और समयपर कुवेरजीकी सेवामें न पहुँचनेसे उन्होंने मुझे शाप दिया था जिससे मैंने राक्षसी शरीर पाया । मेरे विनयपर उन्होंने कृपा करके शापानुग्रह यों किया कि जब रामचन्द्रजी रणमें तेरा वध करेंगे तब तू फिर इसी पूर्व रूपको प्राप्त होकर स्वर्ग में आवेगा । मैंने आपकी कृपासे शापसे मुक्त हो पूर्व रूप पाया, अब अपने लोकको जाता हूँ । गढ़ेमें मेरे शरीरको तोपकर आप शरभंगजीके आश्रमको पधारें । ( स० ४ ) ।

अनुसूया-आश्रमसे चलनेपर विराधकुंड मिलता है जो विराध-वधस्थलका स्मारक है ।

पु० रा० कु०—१ ( क ) ( 'असुर' कहकर आसुरीसंपदासंपन्न जनाया । गीता १६।४ में दम्भ, दर्प, अतिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान आसुरीसंपत्तिवालोंके लक्षण बताए गए हैं । यथा 'दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च । अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥' पुनः, 'असुर' कहकर उसे सुर-मुनि-दुखदाता जनाया । ) । 'मग जाता' पदसे जनाया कि वह रास्तेमें सबको लगता था, कोई इस ओरसे दण्डकारण्यको या यों कहिए कि दक्षिणको न जा सकता था । 'हठि सबहीके पंथहि लागा । १.१८२ ।' में जो भाव है ठीक वही भाव यहाँ है । ( ख ) वीर हैं अतः आते ही मार डाला । एवं आते ही मारा इसीसे 'रघुबीर' कहा । इससे उसका भी पराक्रमी होना जना दिया । ( ग ) 'आवत हीं' शब्दमें गोस्वामीजीकी भक्तिकी झलक देख पड़ती है । जिन साक्षात् सीताका स्पर्श रावण नहीं कर सका, जिनकी छायामात्र ( मायासीता ) रावणके हाथ लगी, उनका स्पर्श, उनका हरण विराध द्वारा कैसे कह सकते हैं ? 'निपाता' पद दिया क्योंकि किसी अस्त्रशस्त्रसे वह न मर सकता था । जमीनमें गिराकर जीता गाड़ दिया गया ।

नोट—१ संभव है कि उस कल्पमें जिसमें विष्णुभगवान्‌को शाप होनेसे श्रीरामजी ने या विष्णु-

भगवान्‌ने रामावतार लिया उसमें वैसाही हो जैसा वाल्मीकिजी ने लिखा और जिस कल्पका अवतार यहाँ शिवजी कह रहे हैं उसमें ऐसाही हो।—'कलपभेद हरिचरित सुहाये'। २—जो लोग इसे वाल्मीकिका ही अवतरण समझें वे भले ही इस प्रकार समाधान कर सकते हैं कि श्रीसीतारामभक्त होनेके कारण उन्होंने वाल्मीकिजीकी रामायणका वह अंश ले लिया जो उन्होंने प्रथम कहा है "ततः सज्यं धनुः कृत्वा रामः सुनिशितान्शरान्। सुशीघ्रमभिसंधाय राक्षसं निजघान ह" (स० ३ श्लो० १०)। अर्थात् यह कहते हुए कि मैं तुम्हें युद्धमें जीता न छोड़ूँगा धनुषपर बाणका अनुसंधान कर उस राक्षसको मार डाला। और जो उठा ले जाना उसके पीछे कहा है वह उन्होंने छोड़ दिया। मानसकथा अ० रा० से विशेष मिलती है। अ० रा० में लिखा है कि विराध श्रीसीताजी को पकड़ने को दौड़ा तब श्रीरामजीने उसकी भुजायें काट डालीं। इसपर वह श्रीरामजीकी ओर दौड़ा तब उन्होंने उसके दोनों पैर काट डाले। तदनन्तर उसने अपने मुखसे अजगर सर्पकी तरह उन्हें निगलना चाहा। श्रीरामजी ने अर्धचन्द्राकार बाणसे उसका सिर काट डाला। ( ३।१।३०-३३ )। और, पद्मपुराणमें इतना ही उल्लेख है कि विराधको मारकर वे शरभंगजीके आश्रम पर गए। रामायणोंमें मतभेद होनेसे ग्रन्थकार ने 'निपाता' शब्द दिया जिसमें सबका समावेश है। मानसकी सीताजी श्रीराम-लक्ष्मणजीके बीचमें उनसे जिस प्रकार सुरक्षित चल रही हैं, उसमें विराधका उनके निकटतक पहुँचना कब संभव है? वाल्मीकीयमें इस सावधानता का उल्लेख नहीं है।

नोट—३ 'तुरतहि रुचिर रूप तेहि पावा।००' इति। (क) यह रुचिर रूप उसका पूर्वजन्म का गंधर्वरूप है। (ख) विराधके मृतशरीर से आकाशस्थित सूर्यदेवके समान सुन्दर वस्त्रोंसे सुशोभित और तपाये हुये सुवर्णालंकारों से सुसज्जित अति सुन्दर एक पुरुष उत्पन्न हुआ। यथा 'विराधकायादतिसुन्दराकृतिर्विभ्राजमानो विमलाम्बरावृतः। प्रतप्तचामीकरचारुभूषणो व्यदृश्यताग्रे गगने रविर्यथा।' ( अ० रा० ३।१।३६ )। यही 'रुचिर' रूप है। (ग) 'देखि दुखी' इति। रुचिर रूप पाकर उसने दुःख दूर करनेवाले प्रभुको बारम्बार साष्टाङ्ग दण्डवत की और प्रार्थना की कि भविष्य में आपके भवमोचन चरणोंकी स्मृति मुझे सदा बनी रहे, मेरी वाणी आपके नाम संकीर्तन में, कान कथामें, हाथ आपकी सेवामें और सिर प्रणाममें संलग्न रहे। मैं आपकी शरण हूँ, मेरी रक्षा कीजिये। कृपा कीजिये कि आपकी माया मुझे अब न व्यापे। यथा "इतः परं त्वच्चरणारविन्दयोः स्मृतिः सदा मेऽस्तु भवोपशान्तये। त्वन्नामसंकीर्तनमेव वाणी करोतु मे कर्णपुटं त्वदीयम्। ३९। कथामृतं पातु करद्वयं ते पादारविन्दार्चनमेव कुर्यात्। शिरश्च ते पादयुगप्रणामं करोतु नित्यं भवदीयमेवम्।४०। प्रसन्नं पाहि मां राम....माया मां नावृणोतु ते। ४२।" ( अ० रा० ३।१ )। उसके बारम्बार पृथ्वीपर लोटकर प्रणाम करने और ऐसी प्रार्थना से 'देखि दुखी' कहा। (घ) 'निज धाम' के दो अर्थ हैं। उसका अपना लोक अर्थात् गंधर्वलोक जैसा वाल्मीकि आदिका मत है, अथवा, साकेतलोक, वैकुण्ठलोक आदि अपने धामको भेजा। पर यहाँ प्रसंगसे गंधर्वलोक ही गृहीत है। मिलान के लिए ये उदाहरण हैं, (१) "राम बालि निजधाम पठावा", (२) "रघुपति चरन कमल सिरु नाई। गयउ गगन आपनि गति पाई। ३४।४।' ( कबंध ), (३) 'बंदि रामपद बारहिंबारा। पुनि निज आश्रम कहुँ पगु धारा। ५।५।' ( शुक )।

विराधवध-प्रकरण समाप्त हुआ।

## "शरभंग देहत्याग-प्रकरण"

**पुनि आए जहँ मुनि सरभंगा। सुंदर अनुज जानकी संगा॥ ८॥**

**दोहा—देखि राम-मुख-पंकज मुनिवर लोचन भृंग।**
**सादर पान करत अति धन्य जन्म सरभंग॥ ७॥**

शब्दार्थ—'शरभंग'—शर = चिता। चिता लगाकर इन्होंने अपना शरीर भंग किया, जो नाम था वही

चरितार्थ भी हुआ । प्र० स्वामी अर्थ करते हैं कि—शर=नारिनयनशर । शरभंग='नारि नयन सर जाहि न लागा ।'=जितकाम । इससे जनाया कि नाम प्रथमसे ही सार्थक था ।

अर्थ—फिर सुन्दर भाई और श्रीजानकीजी के साथ वहां आए जहां मुनि शरभङ्गजी थे ।८। श्रीरामचन्द्रजीका मुखकमल देखकर मुनिश्रेष्ठके नेत्ररूपी भौंरे ( उसके छविरूपी मकरंदरस को ) सादर पान कर रहे हैं । शरभङ्गजीका जन्म अति धन्य है ।७।

टिप्पणी—१ 'पुनि आए' पदसे विराध-प्रसंगकी समाप्ति दिखाई । ( मुनि श्रीसीतारामलक्ष्मण तीनोंके उपासक थे, वे तीनोंका हृदयमें निरन्तर निवास माँगेंगे । यह बात प्रारम्भमें ही 'सुंदर अनुज जानकी संगा' कहकर जना दी है ) । ( ख ) वाल्मीकिजी लिखते हैं कि विराधवध करके श्रीरामलक्ष्मणजी सूर्य और चन्द्रके समान शोभित हुए । यथा 'ततस्तु तौ कार्मुकखङ्गधारिणौ निहत्यरक्षः परिगृह्य मैथिलीम् । विजहतुस्तौ मुदितौ महावने दिवि स्थितौ चन्द्रदिवाकराविव ।।'' (स०।४।३४) । अर्थात् वे दोनों स्वर्णमंडित धनुष और खड्ग धारण किये हुये विराधको मारकर श्रीजानकीजीको लेकर उस महावनमें प्रसन्नतापूर्वक विचरने लगे जैसे आकाशमें चन्द्र और सूर्य विचरण करते हैं । वही भाव गोस्वामीजी 'सुन्दर' विशेषणसे सूचित कर रहे हैं । जो सुकृती हैं वे ही मुख-कमल देखते हैं, यथा 'जिन्ह जानकी राम छवि देखी । को सुकृती हम सरिस बिसेखी । १.३१० ।', 'ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे । जे देखे देखिहहिं जिन्ह देखे', 'को जानै केहि सुकृत सयानी । नयन अतिथि कीन्हे बिधि आनी । १.३३५ ।', 'जनक सुकृत मूरति० ।१.३१०।' तथा यहाँ रामदर्शनसे 'अति धन्य' कहा । मारीच भी इसी दर्शनके विचारसे अपनेको धन्य मानता है, यथा 'फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहौं धन्य न मो सम आन । ३.२६ ।' पुनः, ( घ ) 'अति धन्य' से जनाया कि अन्य ऋषियोंका जन्म धन्य है और इनका 'अति धन्य' है । अथवा, भ्रमर रहरहकर मकरंद चूसता है और ये विक्षेप रहित पान कर रहे हैं अतः 'अति धन्य' कहा । ( भ्रमर और मुनिवर लोचनके पान करनेमें पूरा साम्य नहीं है, यह भृंग और भंग यमककी विषमता द्वारा जना दिया । प० प० प्र० ) ।

नोट—१ भौंरा रस पीता है । यहाँ 'पान करत' से मकरंदका भी अध्याहार रूपकमें कर लिया गया । यथा 'अरबिंद सो आनन रूपमरंद अनंदित लोचन भृंग पिये ।' ( क० १.२ ) । रूप ही मकरंद है । यहाँ परंपरित रूपक है । मुखकी छवि मकरंद है यह पूर्व कहा जा चुका है । दोहा ६ छंद 'मुखपंकज दिए' में देखिये ।

२—वाल्मीकिजी, अत्रिजी एवम् अगस्त्यजी आदि ऋषियोंके मिलन-प्रसंगोंमें अगवानी आदि अनेक व्यवहार कथन किए गए, पर यहाँ शरभंगजीके आश्रमपर ये कोई व्यवहार न हुए । श्रीरघुनाथजी स्वयं ही उन तक पहुँच गये । कारण कि वाल्मीकिजी आदिको तो उनके शिष्यों या कोलभीलोंने ख़बर दी और शरभंगजीको आगमनकी ख़बर देनेवाला कोई न था । क्योंकि बीचमें विराधके डरसे कोई भी इधरका मनुष्य उधर न जा सकता था ।

३—उत्तरकांड दोहा १२७ ( ५ ) से दोहा १२७ तक में बताया है कि कौन देश, कौन स्त्री, कौन राजा, कौन द्विज, कौन धन, कौन बुद्धि, कौन घड़ी, कौन जन्म और कौन कुल धन्य है । २।४६।१ में बताया है कि किसका जन्म धन्य है । प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि "धन्य जनम जगतीतल तासू । २।४६।१ ।' तथा 'धन्य देस सो जहँ सुरसरी ।७।१२७।५।' से 'सो कुल धन्य'''।७।१२७।' तक प्रत्येकमें कुछ न कुछ विशेष शर्त लगा दी गई है पर यहाँ दोहेमें कोई शर्त नहीं है । शरभंगजो सादर श्रीभगवद्‌मुखरूप मकरंद पान करते हैं । यह भेद दिखाकर बताया कि पुत्र, शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण इन जन्मोंकी प्राप्ति अनुक्रमशः तब होगी जब पूर्व पूर्वजन्मकी धन्यता प्राप्त हो गई हो । जब ब्राह्मणजन्मकी धन्यता मिले तब सत्संगकी धन्य घड़ी प्राप्त करनी होगी और तब शरभंगकी सी धन्यता होगी और 'सो कुल धन्य''' यह दोहा चरितार्थ होगा । सारांश यह कि शरभंगजीने अपने कुलको धन्य, जगत्पूज्य और सुपुनीत किया ।"

यहाँपर शरभंगजीके जन्मको अति धन्य कहा है । सगुण ब्रह्म रामके मुखारविन्दकी छविको टकटकी

लगाए देख रहे हैं; इसीसे 'अति धन्य' कहा। 'अति' वा 'परम' धन्य का प्रयोग ग्रन्थमें प्रायः तीन स्थानोंमें आया है। यथा 'एक कहहिं हम बहुत न जानहिं। आपुहिं परम धन्य करि मानहिं॥ ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे। २।१२०।७-८।' (ग्रामवासी), 'जब सुग्रीव राम कहँ देखा। अतिसय जन्म धन्य करि लेखा। ४।४।६।', 'आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब विधि हीन। निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन्ह। ७।१२३।' (भुशुण्डिजी)। इनसे सिद्ध हुआ कि जो भगवान्‌का दर्शन पाते हैं तथा उनका कुछ देर साथ पाते हैं वे अति धन्य हैं और जिनको सन्त समागम प्राप्त हो वे भी अति धन्य हैं। इन उद्धरणोंमें और शरभंग-प्रसंगमें कुछ भेद भी देख पड़ता है। ग्रामवासी, सुग्रीव और भुशुंण्डीजी अपनेको धन्य मानते हैं, पर शरभंगजीमें यह बात नहीं है; उनकी दशा देखकर कवि स्वयं अर्थात् दर्शक उनके जन्मको अति धन्य कह रहा है, यह विशेषता है।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'अति धन्य' कहा, क्योंकि मुनि खूब ठगे गए। उनका मन चोरी चला गया, यथा 'निज पन राख्यो जन मन चोरा'। इसीसे यहाँ मनका उल्लेख नहीं करते। सरकारके दर्शनपर भी जिसका मन चोरी न जाय, सावधान रहे, उसे श्रीगोस्वामिपाद धिक्कार देते हैं। यथा 'ठगि सी रही जे न ठगे धिक से। क० १।१।' चोरसे प्रणाम आशीर्वादका शिष्टाचार नहीं है। मन चुरा लिया है, इसी लिये प्रणामादि नहीं कहते। पुनः, रूपसुधाका पान करनेवाला धन्य है और अति पान करनेवाला अति धन्य है। शरभंगजी 'सादर पान करत अति', अतः अति धन्य हैं।

**कह मुनि सुनु रघुबीर कृपाला। संकर मानस राज मराला॥१॥**
**जात रहेउँ बिरंचि के धामा। सुनेउँ श्रवन बन ऐहहिं रामा॥२॥**
**चितवत पंथ रहेउँ दिन राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती॥३॥**

अर्थ—मुनिने कहा—हे रघुवीर! हे कृपालु! हे शंकरजीके हृदयरूपी मानसरोवरके राजहंस! सुनिए॥१॥ मैं ब्रह्मलोकको जाता था। (इतनेमें मैंने) कानोंसे सुना कि रामचन्द्रजी वनमें आवेंगे॥२॥ (मैं) दिनरात आपकी राह देखता रहा। हे प्रभो! अब आपको देखकर छाती ठंढी हुई॥३॥

टिप्पणी—१ (क) 'रघुवीर' अर्थात् आप दयावीर हैं, सबपर दया करके दुष्टदलनके लिए चले, यथा 'सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलन खल निसिचर अनी। अ० १२६।'; इसीसे 'कृपाला' भी कहा। पुनः, आप दानवीर हैं, सबको दर्शनानन्द देने चले हैं, यथा 'नयनानंद दानके दाता। ५.४५।' पुनः, विद्यावीर और पराक्रमवीर भी हैं, इसीसे जो विराध किसी अस्त्रशस्त्रसे न मर सकता था उसे आपने विलक्षण रीतिसे मारा। 'खरदूषन बिराध बध पंडित। ७.५१।' (ख) 'कृपाला'—अवतार, दर्शन, सुरमुनिनररंजन आदि इसी गुणके कारण हैं। भाव यह कि हमपर भी कृपा की, नहीं तो इस मार्गसे आते ही नहीं। (ग) 'संकर मानस राज मराला' अर्थात् शिवजी जो जगत्‌के कल्याणकर्त्ता हैं वे भी आपका ध्यान करते हैं। 'मानस' श्लिष्ट पद है। बिना श्लेषके रूपककी पूर्त्ति न होगी। 'सेवक मन मानस मराल से। १.३२.१४।', 'जय महेस मन मानस हंसा। १.२८५.५।', 'जो भुसुंडि मन मानस हंसा। १.१४६.५।', इत्यादि स्थलोंसे इसका अनुवर्तन है। यहाँ 'मन' शब्द न रहनेका एक भाव आगे चौपाई ५ में दिया है कि 'जनमन चोरा' हो। मन चुरा लिया गया अतः उसका नाम न दिया। राजहंस मानसरोवर ही में रहते हैं। इससे श्रीरामजीकी प्राप्ति दुर्लभ दिखाकर यह जनाया कि हमपर बड़ी कृपा की कि ऐसे दुर्लभ होकर भी हमको सुलभ हो गए, स्वयं आकर दर्शन दिये। जो शंकरजीके मनमें निवास करते हैं, जिनका वे ध्यान करते हैं, उनको मैंने नेत्रोंसे प्रत्यक्ष देखा। मानस = मन, यथा 'रचि महेस निज मानस राखा। १.३५।' मानस = मानसरोवर, यथा 'मानसमूल मिली सुरसरिही।' पुनः, अपने मनमानसमें बसाना है अतः 'मानस राजमराला' कहा।

२—'जात रहेउँ बिरंचिके धामा''।' इति। इससे जनाया कि प्रभुका दर्शन ब्रह्मलोककी प्राप्तिसे

अधिक है। ब्रह्मलोककी प्राप्ति हुई, उससे छाती शीतल न हुई। इससे उपदेश देते हैं कि जीवका संताप श्री-रामदर्शन वा रामप्राप्तिसे ही मिटता है, अन्यथा नहीं, यथा 'देखे बिनु रघुनाथपद जिय कै जरनि न जाइ। २.१८२।' विशेष ३ (७) में देखिए। इससे यह भी जनाया कि मुनिकी मृत्यु इच्छाके अधीन थी जैसे भुशुण्डिजीकी, यथा 'कामरूप इच्छा मरन···। ७।११३।'

नोट—१ इनकी ब्रह्मलोकके जानेकी कथा इत्यादि वाल्मीकीयमें इस प्रकार है—'श्रीरामचन्द्रजीने शरभंगजीके आश्रममें यह अद्भुत चरित देखा कि अपने हरे घोड़े जुते हुए विचित्र रथपर सवार इन्द्र आकाशमें दीप्तिमान है, देवाङ्गनाओंसे सेवित है। गंधर्व आदि देवता और बहुतसे सिद्ध महर्षि उसकी स्तुति कर रहे हैं और वह शरभंगजीसे बातें कर रहा है। श्रीरामजीको आते हुए देखकर इन्द्र वहाँसे यह सोचकर चल दिया कि वे हमें देखने न पावें, रावणवध होनेपर मैं उनका दर्शन करूँगा। तदनंतर रामचन्द्रजी शर-भंगजीके आश्रमपर आए और स्वागत आदि हो जानेपर मुनिसे इन्द्रके आगमनका कारण पूछा। उन्होंने यों बताया कि मैंने अपनी उग्र तपस्यासे ब्रह्मलोकको जीत लिया है। इन्द्र मुझे ब्रह्मलोक ले जानेके लिए आए थे, पर जब मुझे मालूम हुआ कि नरश्रेष्ठ आप थोड़ी ही दूरपर हैं तब मैंने यह निश्चय किया कि आप सरीखे प्रिय अतिथि, पुरुषसिंह, धर्मिष्ठ महात्माके दर्शन विना ब्रह्मलोकको न जाऊँगा।—"अहं ज्ञात्वा नरव्याघ्र वर्तमानमदूरतः। ब्रह्मलोकं न गच्छामि त्वामदृष्ट्वा प्रियातिथिम्।। त्वयाऽहं पुरुषव्याघ्र धार्मिकेण महात्मना। समागम्य गमिष्यामि त्रिदिवं चावरं परम्।।" (वाल्मी० ३.५.२९,३०)।

२—'चितवत पंथ रहेउँ दिनराती' से जनाया कि बहुत दिनोंसे निरन्तर प्रभुकी राह देख रहे थे, यथा अध्यात्मे—'बहुकालमिहैवासं तपसे कृतनिश्चयः। तव संदर्शनाकांक्षी राम त्वं परमेश्वरः। ३।२।४-५।' बहुत दिनसे निरन्तर राह देखते रहे इसीसे छाती जल रही थी, दर्शन पाये तब संताप मिटा। ☞मुमुक्षुको उपदेश है कि निरन्तर इसी तरह लग्न लगाए। रामदर्शनरूपी सुखके आगे ब्रह्मलोककी प्राप्ति तुच्छ है। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि यहाँ 'नयन जुड़ाने' नहीं कहा। इससे ध्वनित है कि केवल दर्शनकी ही लालसा नहीं थी किन्तु कुछ और भी लालसा थी, यह आगेके 'जोग जग्य जप तप व्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा' से स्पष्ट है। मिलान कीजिये—'कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता। ५।१४।६।', 'तोहि देखि सीतल भइ छाती। ५।२७।८।', 'लेहिं परस्पर अति प्रिय पाती। हृदय लगाइ जुड़ा-वहिं छाती। १।२९५।५।'

'दिन रात' मुहावरा है। यह भी भाव कहा जाता है कि रातमें भी जागता रहता था कि कहीं प्रभु रातमें ही इधरसे न चले जायें।

नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना ।।४।।
सो कछु देव न मोहि निहोरा। निज पन राखेहु जन-मन-चोरा ।।५।।

अर्थ—हे नाथ! मैं समस्त साधनोंसे रहित हूँ। आपने मुझे अपना दीन सेवक जानकर कृपा की।४। हे देव! यह (कृपा) कुछ मुझपर अहसान नहीं है। हे दासोंके मनको चुरानेवाले! आपने अपना पण रखा है।।६।।

टिप्पणी—१ "नाथ सकल साधन मैं हीना···" इति। (क) ऐसा ही अत्रिवाक्य है, यथा 'मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किये। ३.६।'; वही भाव यहाँ है। (ख) जिन साधनोंसे मुनिने सत्य-लोक, इन्द्रलोक आदि जीत लिए थे उनके रहते हुए भी श्रीरामजीके दर्शन मिले और भक्ति भी मिली। इस कृतज्ञताको जनानेके लिये बारंबार अपनेको मुनि दीन कहते हैं। पुनः, इतनी दीनताका कारण यह है कि प्रभु दीन-दयाल हैं, वे दीनोंपर विना साधनके भी कृपा करते हैं। (ग) साधन होते हुए भी साधनहीन कहनेका भाव यह है कि जिन साधनोंसे ब्रह्म-आदि लोकोंकी प्राप्ति होती है वह सब प्रभुके दर्शनके लिए

कुछ भी नहीं हैं, उन सब साधनोंसे दर्शनकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है; अतएव वे न होनेके ही समान हैं। तात्पर्य यह कि प्रभुकी प्राप्ति कृपासाध्य है, क्रियासाध्य नहीं है। (घ) खर्रा—महात्मा लोग करते बहुत हैं पर छिपाते हैं, इससे जनाते हैं कि कर्मका अभिमान उनको नहीं है। सम्पूर्ण साधनोंसे मैं रहित हूँ अर्थात् जिस साधनसे आपकी प्राप्ति हो वह कोई साधन मुझमें नहीं है। अतः आगे कहते हैं कि 'कीन्ही कृपा जानि जन दीना।' (ङ) 'जानि जन दीना' अर्थात् अपना जन और दीन जानकर आपने कृपा की कि दर्शन दिया। यथा विनये—'जब लगि मैं न दीन दयाल तैं मैं न दास तैं स्वामी। तब लगि जे दुख सहेउँ कहेउँ नहिं जद्यपि अंतरजामी' (वि० ११३)।

२—'निज पन राखेहु जन मन चोरा' इति। 'निज पन' अर्थात् दीन-दयालुता, दीनबन्धुता, भक्त-वत्सलता इत्यादि, यथा 'दीनदयालु बिरद संभारी', 'एहि दरबार दीनको आदर रीति सदा चलि आई' (वि० १६५)। अतएव कहा कि 'सो कछु देव न मोहि निहोरा'। भाव यह कि दर्शन देनेमें मुझपर आपका कुछ एहसान नहीं है क्योंकि यह तो आपकी प्रतिज्ञाही है, यदि दर्शन न देते तो प्रतिज्ञा भंग होती, अतः प्रतिज्ञाकी रक्षाके लिए आपने दर्शन दिया। दर्शनके लिए एहसान नहीं मानते। हाँ, आगे कुछ कृपा चाहते हैं, उसके लिए एहसान लेंगे। पुनः, (ख) दो बातें कहीं 'निज पन राखेहु' और 'जनमनचोरा'। भाव कि दोनों बातें आप करते हैं। प्रण भी रखते हैं और मन भी चुरा लेते हैं। आपकी चोरीका प्रत्यक्ष प्रमाण दिखाते हैं कि शंकरजीके मनकी ऐसी चोरी की कि वह खोजे न मिला इसीसे 'संकर मानस राजमराला' में 'मन' शब्द न दिया। (ग) प्रथम 'संकरमानस राजमराला' कहकर तब 'जनमनचोरा' विशेषण देनेका भाव यही है कि मनकी चोरी दिखानी थी। ☞ यह प्रसंग और ग्रंथोंमें बड़ा नीरस है। देखिये गोस्वामीजीने उसे कैसा सरस करके दिखाया है।

प्र०—१ 'जन दीना' का भाव कि आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी इन चारों अधिकारियोंमेंसे आप दीनपर शीघ्र द्रवीभूत होते हैं, यथा 'एहि दरबार दीन०० ।' आगे सुतीक्ष्णजीका वाक्य है—'सो प्रिय जाके गति न आन की'। २—'जनमन चोरा' का भाव कि मन ही सब उपाधियों का मूल है। आप कृपा करके उसीको हर लेते हैं, तब भक्ति आदि सधते हैं। ३—'देव' का भाव कि आप सबके राजा हैं, नियन्ता हैं और सब रीति करनेको समर्थ हैं।

क०—शरभंगजीके इन वचनोंमें षट्शरणागति पूर्ण है।—[ अनुकूलका संकल्प और प्रतिकूलका त्याग इससे प्रगट है कि ब्रह्मलोक जाना न स्वीकार किया, प्रभुकी प्रतीक्षा करते रहे—'जात रहेउँ बिरंचि०' इत्यादि। रक्षामें विश्वास—'निज पन राखेउ०'। गोप्तृत्व वर्णन—'सो कछु देव न मोहि निहोरा' इत्यादि। आत्मनिक्षेप—'जब लगि मिलौं तुम्हहिं०', 'जोग जग्य तप''प्रभु कहँ देइ०'। कार्पण्य—'नाथ सकल साधन मैं हीना'''। ]

> तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि मिलौं तुम्हहि तनु त्यागी॥ ६॥
> जोग जग्य जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥ ७॥
> येहि बिधि सर रचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदय छाड़ि सब संगा॥ ८॥

शब्दार्थ—'सर' (शर)=चिता, यथा 'सूहो पैन्हि पी संग सुहागिन बधू है लीजो सुखके-समूहै बैठि सेज पै कि शर पै'-(देव)। 'संग'=संसर्ग, विषयोंके प्रति अनुराग, वासना, विकार, आसक्ति। टि० ३ (ग) देखिये।

अर्थ—तबतक (आप मुझ) दीनके हितके लिये यहाँ ठहरिये जबतक मैं शरीर छोड़कर आपसे (न) मिलूँ ॥६॥ योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत (आदि) जो मुनिने किए थे वे सब प्रभुको समर्पणकर भक्तिका वरदान माँग लिया ॥७॥ इस प्रकार मुनि शरभंगजी चिता रचकर हृदयसे सब संग छोड़कर उसपर बैठे ॥८॥

टिप्पणी—१ "तब लगि रहहु दीन हित लागी।००" इति। अर्थात् जैसे दीनजन जानकर कृपा की,

दर्शन दिया, वैसे ही दीनजनके हितार्थ मुहूर्त्तभर स्थित रहिए । यहाँ निहोरा लिया । दर्शन तो प्रतिज्ञापालनके कारण आपने दिया और यह मेरी प्रार्थनासे कीजिये । यथा 'एष पंथा नरव्याघ्र मुहूर्त्तं पश्य तात माम् । यावज्जहामि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरगः । वाल्मी० ३।५।३८-३९ ।' अर्थात् थोड़ी देरतक मुझे देख लीजिये जबतक मैं शरीर त्याग करता हूँ जैसे सर्प पुराना केंचुल छोड़ता है ।

प्र०—'जब लगि मिलौं तुम्हहिं तन त्यागी' इति । 'रूपमें समा जाना, ब्रह्ममें मिल जाना' यह अर्थ यहाँ 'मिलौं' का नहीं है । सायुज्य मुक्ति वा कैवल्यपदको उन्होंने नहीं स्वीकार किया, यह बात कवि स्वयं आगे कहते हैं—'बैकुंठ सिधारा', 'ताते मुनि हरि लीन न भयऊ ।०' । यहाँ 'मिलौं' का अर्थ है 'आपके तद्रूप परिकरोंमें परिकर होकर मिलूँ', आपकी सामीप्य मुक्ति प्राप्त करूँ ।

प० प० प्र०—'जब लगि ···' से जान पड़ता है कि प्रथम भगवान्‌के सगुणस्वरूपमें लीन होनेकी इच्छा हुई थी । यह दूसरी भूमिका है ।

टिप्पणी—२ 'जोग जग्य जप तप ···भगति बर लीन्हा' इति । यथा 'जहं लगि साधन बेद बखानी । सबकर फल हरि-भगति भवानी । उ० १२५।७ ।' 'भक्ति बर लीन्हा' से जनाया कि समस्त धर्मसाधन भक्तिके बराबर न तुले तब भक्तिका बरदान माँगा । यदि वे सब भक्तिके बराबर तुल सकते तो 'भगति बर लीन्हा' न कहकर यह कहते कि सब देकर भक्ति ली । वाल्मीकीयमें शरभंगजीके वचन हैं कि मैंने अपने पुण्य कर्मोंसे अक्षय ब्रह्मलोक और इन्द्रलोकोंको जीत लिया है, वे सब मैं आपको अर्पण करता हूँ, आप उन्हें ग्रहण करें; यथा 'अक्षया नरशार्दूल जिता लोका मया शुभाः । ब्राह्म्याश्च नाकपृष्ठ्याश्च प्रतिगृह्णीष्वमामकान् ।।३।५।३१ ।'; उसी कथनको यहाँ गोस्वामीजी 'दीनताके साथ' ( कहा जाना ) लिखते हैं, यथा 'नाथ सकल साधन मैं हीना' । वाल्मीकिजीने १४ स्थानोंमेंसे एक स्थान इसे भी श्रीसीतारामजीके निवासका बताया है, यथा 'सब करि मागहिं एक फल रामचरन रति होउ । २।१२९ ।'; उसी स्थानमें श्रीशरभङ्गजीकी गिनती आती है । अध्यात्म रा० स० २ श्लो० ६ से मिलान कीजिये—"समर्प्य रामस्य महत्सुपुण्यफलं विरक्तः शरभंग योगी । चितिं समारोह्यदप्रमेयं रामं ससीतं सहसा प्रणम्य ।।" ( धर्म कर्म जो प्रभुको समर्पित नहीं होते वे आवागमनके कारण होते हैं, इसीसे भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है कि वे सब अर्पण कर दो । यथा 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।। शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः । गीता ९।२७,२८ ।' )

रा० प्र० श०—शरभङ्गजीने योगादि सकाम कर्म किये थे । वे अपने सब कर्मोंके अभिमानी थे; नहीं तो 'प्रभु कहँ देइ' कवि कैसे कहते ? निष्काम कर्ममें देना कैसा, वह तो पहले ही समर्पण हो चुका है । सकाम हीके कारण कहा कि ब्रह्मलोकको जाता था, पर अब 'प्रभु देखि जुड़ानी छाती' । विविध कर्मोंकी वासनासे ही अन्तःकरण जल रहा था । भगवान्‌के दर्शनसे छाती जुड़ानी अर्थात् अन्तःकरण स्थिर हुआ, शान्ति मिली, अन्य सब वासनायें दर्शन होते ही श्रीरामपदप्रीतिके प्रवाहमें बह गईं । यथा 'उर कछु प्रथम बासना रही । प्रभु पद प्रीति सरित सो बही ।। अब कृपाल निज भगति पावनी । देहु सदा सिवमनभावनी । ५.४९ ।' जैसे विभीषणजीकी वासनायें बह गईं और उन्होंने भक्ति माँगी वैसे ही शरभंगजीने किया । [ भक्ति वर लेना तीसरी भूमिका है । प० प० प्र० ]

प० प० प्र० —१ 'एहि बिधि' अर्थात् विचारद्वारा एक-एक भूमिकाको छोड़कर हृदयको वासनारहित कर दिया । २ 'सर रचि'—'सर' का अर्थ चिता करनेसे आगेके 'जोग अगिनि तनु जारा' से विसंगति होती है । मानसमें सतीजी और शबरीके प्रसंगोंमें भी योगाग्निसे शरीरका भस्म करना कहा गया है । उन प्रसंगोंमें चिता रचनेका उल्लेख नहीं है । अतः 'शर' का अर्थ यहाँ दर्भ या बाण लेना उचित है । 'शरजन्मा' में 'शर' का अर्थ इषीका या दर्भ है । मुनि संन्यासी देहत्यागके समय उत्तराग्रदर्भ रचकर बैठते हैं अर्थात् जो योगी हैं और देहपरवश नहीं हैं वे मुनि । 'जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ । ७।११७ ।'

में प्रथम योगाग्नि प्रकट करके पश्चात् उसमें शुभाशुभ कर्मोंका दहन करना कहा है। शरभंगजीके विषयमें अग्नि तो एक प्रकारकी ही है पर शुभाशुभ कर्मोंके स्थानपर देह है। योगाग्निमें देह-दहन करनेके लिये चिता इत्यादि ईंधनकी आवश्यकता नहीं होती है। देह ही ईंधन बन जाता है और अन्तमें दोनों अग्निरूप होकर वह अग्नि भी शान्त हो जाती है। ( यह भी हो सकता है कि उन प्रसंगोंसे यहाँ यह विलक्षण बात हुई, इससे उसका उल्लेख किया। श्रीसतीजी तथा श्रीशबरीजी भी योगी थे पर वहाँ दर्भका रचना भी तो नहीं कहा गया )।

टिप्पणी—३ 'बैठे हृदय छाँड़ि सब संगा।' (क) सब ताल्लुक़ात ( आसक्ति, फलकी वासना, आदि ) छोड़कर चितापर बैठे, क्योंकि विकारोंके रहते हुए भगवान् हृदयमें वास नहीं करते। यथा 'जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत' (वि० १८५)। हृदयरूपी निकेतको विकारोंसे रहित किया। (ख) प्रथम कहा कि योगयज्ञादि सब देकर भक्ति माँगी, भक्तिकी प्राप्तिसे हृदयका मल धुल जाता है। भक्ति जलरूप है, उससे मानों हृदयके विकारोंको धो डाला, यथा 'प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभ्यंतर मल कबहुँ न जाई। उ० ४९।' हृदयमें भक्तिजल पहुँचनेसे हृदय शीतल हुआ—'अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती'—तब सीता-अनुज समेत प्रभुको मनमें वास कराया। (ग) 'संग' इति। 'भावाभाव पदार्थानां हर्षाहर्ष विकारदः। समस्त वासना त्यागः स संगमिति कथ्यते' अर्थात् पदार्थोंमें भाव या अभाव, हर्ष शोक आदि विकार उत्पन्न करनेवाले एवम् समस्त वासनाओंका त्याग संगका त्याग है। ( भेद-भक्तिकी वासना वासना नहीं है )।

दोहा— सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम।
मम हिय बसहु निरंतर सगुन रूप श्रीराम ॥८॥

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा ॥१॥
ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ ॥२॥

शब्दार्थ—योगाग्नि—'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा' बा० ६४ (८) में देखिये।

अर्थ—श्रीसीताजी और भ्राता श्रीलक्ष्मणजी सहित नीलमेघकेसे श्याम शरीरवाले सगुण रूप श्रीरामजी आप मेरे हृदयमें सदा वास कीजिए ॥८॥ ऐसा कहकर ( मुनिने ) योगाग्निसे शरीरको भस्म कर दिया और श्रीरामजीकी कृपासे वैकुण्ठको चल दिए ॥१॥ मुनि इससे भगवान्‌में लीन न हुये कि उन्होंने प्रथम ही भेद-भक्तिका वर माँग लिया था ॥२॥

टिप्पणी—१ (क) 'सगुन रूप श्रीराम' अर्थात् निर्गुणरूपसे तो आप सदा सबके हृदयमें बसते ही हैं, यथा 'सबके उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ। २.२५७।', हमारे हृदयमें भी बसे हुए हैं, पर अब श्रीसीतालक्ष्मण सहित अपने इस सगुणरूपसे भी वास कीजिये। यथा अध्यात्मे—'अयोध्याऽधिपतिर्मेऽस्तु हृदये राघवस्सदा। यद्वामाङ्केस्थिता सीता मेघस्येवतडिल्लता' (स० २.१०)। (निर्गुणरूपके वाससे जीवका दुःख दूर नहीं होता। यथा 'अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी। १।२३।७।'; अतः सगुणरूपसे बसनेकी प्रार्थना है)। (ख) यहाँ मुनिके मन, वचन और कर्म तीनों दिखाये—'मम हिय बसहु०' में मन, 'अस-कहि' से वचन और योगाग्नि प्रगट करना यह कर्म। ( ग ) जलद आकाशमें रहता है। यहाँ हृदय आकाश है। घनके साथ बिजली, यहाँ रामघनश्यामके साथ सीतालक्ष्मण दामिनि। मेघमें बिजली सदा नहीं रहती, यहाँ तीनोंका निरंतर साथ माँगा।

२ 'रामकृपा बैकुंठ सिधारा' इति। (क) मुनि योग यज्ञादि बड़ी तपस्या करके ब्रह्मलोकके अधिकारी हुए और उसकी प्राप्ति की। वैकुण्ठ ब्रह्मलोकसे बढ़कर है, सो रामकृपासे मिला। जो पदार्थ श्रीरामकृपासे मिलता है वह साधनसे अप्राप्य है। मुनिका जितना भी साधन था वह तो भक्तिके बराबर भी न हुआ। दर्शन हुआ वह भी रामकृपासे, यथा 'कीन्ही कृपा जानि जन दीना', वैकुण्ठ मिला सो भी रामकृपासे; अतएव

दोनों जगह 'कृपा' पद दिया। (ख) पुनः, भाव यह कि तपसे ब्रह्मलोक मिलता है, यथा 'जात रहेउँ बिरंचि के धामा' और भक्तिसे वैकुण्ठ मिलता है। अतएव जब भक्ति वर माँगा तब वैकुण्ठको जाना कहा।

"ताते मुनि हरि लीन न भयऊ।" इति।

पु० रा० कु०—पहले लीन होनेकी इच्छा प्रगट की, यथा 'जब लगि मिलौं तुम्हहिं तनु त्यागी'। 'मिलौं'से लीन होनेकी इच्छा जान पड़ी। परन्तु पीछे मुनिने भेद-भक्तिका वर माँग लिया, यथा 'प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा'। अतएव हरिमें लीन न हुए। ('योगाग्निमें जलनेसे कैवल्य मुक्ति प्राप्त होती है, तब मुनि वैकुण्ठको कैसे गए?' इस शंकाके निवारणार्थ कहा कि 'ताते…लयऊ।' इसी तरह सतीतनत्यागपर कहा था कि 'सती मरत हरि सन बरु मागा। जनम जनम सिवपद अनुरागा। तेहि कारन हिमगिरि गृह जाई। जनमीं…१।६४।५-६।') भेद-भक्तिमें सायुज्य मुक्ति नहीं हो सकती। उसमें तो सदा भगवान्‌में स्वामी वा सेव्य भाव रहता है। सेवक स्वामी भाव तभी हो सकता है जब प्रभुसे अलग रहे। 'ताते उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद भगति मन लायो' (लं० १११)। पुनः, यथा 'सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भक्ति निज देहीं। ६.१११।' [प्रभुके दर्शनसे पशु-पक्षियोंको भी विमल ज्ञान उत्पन्न हो जाता था और वे मुनियोंकी अभिलषित भक्ति ही माँगते थे, यथा 'देखत खग निकर मृग रवनिन्ह जुत थकित बिसारि जहाँ-तहाँ की भँवनि। हरिदरसन फल पायो है ज्ञान बिमल जाँचत भगति मुनि चाहत जवनि।' (गी० ३.५), तब श्रीशरभंगजी दर्शन पाकर विशुद्ध ज्ञानको प्राप्त होकर निर्गुणवादियोंकी मुक्ति कैसे चाहते? यथा 'जिन्हके मन मगन भए हैं रस सगुन तिन्हके लेखे अगुन मुकुति कवनि।' (गी० ३.५)। विशेष १० (१७-१९) में देखिये।

गौड़जी—पहले शरभंगजीने कहा कि "तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि मिलौं तुम्हहिं तनु त्यागी", उस समय तल्लीन होनेका विचार था, परन्तु तनत्यागके पहले उन्होंने माँगा कि तीनों मूर्तियाँ मेरे हृदयमें निरंतर बसें। यह सेवक-सेव्य-भाव-विना और अलग शरीर हुए विना संभव न था। यह ईश्वर जीव की अभेदता न थी, परतम और जीव, उपास्य और उपासकवाली भेद-भक्ति थी। इसीसे शरभंग वैकुंठको गये। परन्तु यह भी भगवान्‌से एक प्रकारसे मिलना ही हुआ, क्योंकि 'वैकुंठः पुरुषः प्राणः' (पुराणः?) वैकुंठ और भगवान्‌में अभेद है।

रा० प्र० श०—जैसे अभेदोपासनामें जीवन और विदेह दो प्रकारकी मुक्तियाँ हैं वैसे ही भेदोपासनामें सारूप्य, सायुज्य, सामीप्य और सालोक्य चार प्रकारकी मुक्तियाँ मानी गई हैं, मुनिको सालोक्यकी प्राप्ति हुई। (प्र०) [पर भेदभक्तिके वरसे सालोक्य, सारूप्य और सामीप्य तीनोंकी प्राप्ति निश्चित है—मा० सं०]

मा० म०—जैसे जलमें जल मिलकर अभेदत्वको प्राप्त होता है वैसे ही आत्मा परमात्मामें मिलकर एकत्वको प्राप्त हो जाता है। इसीको लीन होना कहते हैं। पर मुनिने लीन न होना चाहा, क्योंकि अभेदत्वमें सुख नहीं है, जैसे जलको जलकी प्राप्तिसे और कंदको कंदकी प्राप्तिसे कुछ सुख नहीं, सुख तो पीनेवालेको ही होता है। हरिमें लीन हो जानेपर भक्तिका अपूर्व सुख प्राप्त नहीं होता। अतएव इस महान् सुखसे वंचित रहकर ब्रह्ममें लीन होना मुनिने उत्तम नहीं समझा।

वि० त्रि०—श्रीसीता अनुज सहित अपने हृदयमें बसाते हैं, अपने हृदयको निवासके लिये भवन बना रहे हैं। अतः भवनाकार यह गुणग्राम (स्तुति) दशवाँ मघा नक्षत्र है। इसमें पाँच तारे चमकते हैं। पाँच कार्य हुये हैं वे ही पाँच तारे हैं—(१) कहनेसे सुना 'वन ऐहैं रामा'। (२) प्रभुको देखकर छाती शीतल हुई। (३) शरीर छोड़कर प्रभुसे मिलना चाहा। (४) भक्ति वर लिया (५) सीता अनुज समेत प्रभुको हृदयमें बसाकर देह त्याग किया। उसकी फल-स्तुति है 'सचिव भूपति विचार के'।

प० प० प्र०—शरभंगकृत स्तुति मघा नक्षत्र है। मघा नक्षत्र नक्षत्रमंडलमें दसवाँ है, वैसे ही यह स्तुति स्तुति-रूप नक्षत्रमंडलमें दसवीं है। यह अनुक्रम साम्य है। मघाकी तुलना वाणोंसे की गई है, यथा

'दस दिसि रहे बान नभ छाई । मानहुँ मघा मेघ झरि लाई । ६।७२।३ ।' और इस स्तुतिके आदि मध्य और अंतमें शर-शब्द है और दोहा ८ में 'नील जलद' भी है । यथा 'पुनि आए जहँ मुनि सरभंगा ।', 'धन्य जन्म सरभंग', 'एहि बिधि सर रचि मुनि सरभंगा', 'नील जलद तनु स्याम ।' यह नाम साम्य हुआ । मघाकी तारा संख्या पाँच है और स्तुतिमें 'रघुबीर कृपाला, प्रभु, नाथ, देव और श्रीराम' ये पाँच हैं । यद्यपि ये पाँचों रघुवीरके ही नाम हैं तथापि इनके अर्थोंमें बहुत भेद है । 'रघुवीर कृपाला' में कृपाशीलता, 'प्रभु' में शासकत्व, 'नाथ' में स्वामित्व एवं पालकत्व, 'देव' में प्रकाशदायकत्व, और 'श्रीराम' में ऐश्वर्य और परमानन्ददायकत्वका भाव है । यह तारा-संख्यासाम्य हुआ । मघाका आकार शालाके समान है – 'पञ्चाभिस्तैस्तुशाला' ( रत्नमालायां नक्षत्ररूपाणि ) । श्रीरामजी श्रीसीतालक्ष्मण-सहित चित्रकूटमें 'पर्णतृणशाला' में रहते थे । अब वे उसे छोड़कर चले हैं और मुनिके हृदयरूपी शालामें पंचविधरूपयुक्त रहेंगे; यथा 'मम हृदय बसहु निरंतर सगुनरूप श्रीराम ।' – यह आकारसाम्य हुआ । मघाका देवता पितर है; यथा 'कद्रूजाः पितरो भगोर्यमखी' । श्रीरामजी पितररूप देवता हैं; यथा—'जगतपिता रघुपतिहि बिचारी । भरि लोचन छवि लेहु निहारी । १ । २४६ । ३ ।'; वैसे ही शरभंगजीके लोचनभृंग श्रीराममुखारविन्दके छविमकरंदका पान कर रहे थे ( दोहा ७ देखिए ) । पितर कृपाशील आदि होते हैं और श्रीरामजीने तो 'बालक सुत सम दास अमानी' शरभंगको अपना धाम ही दिया है । पुत्रका धर्म है घरमें रहकर पिताकी सेवा करना, इसीसे तो मुनिवरने भेद-भक्ति वर माँग लिया है ।—यह देवता-साम्य है । अब फलश्रुति-साम्य देखिए । फलश्रुति है 'सचिव भूपति विचार के ।' सचिव कैसा हो यह 'सचिव धरमरुचि हरिपद प्रीती । नृप हित हेतु सिखव नित नीती । १ । १५५ । ३ ।' में बताया है । यहाँ शरभंगजीका विचार ही भूपति है; उसको हरिपद-प्रीतिरूपी सचिवने बारंबार नीति सिखाई है, इसीसे तो ब्रह्मलोक जानेके विचारसे लेकर भेदभक्ति वर माँगने तक छः बार स्थित्यन्तर होता गया ।

**रिषि निकाय मुनिबर गति देखी । सुखी भये[a] निज हृदय बिसेषी ॥ ३ ॥**

**अस्तुति करहिं सकल मुनि-बृंदा । जयति प्रनतहित करुनाकंदा ॥ ४ ॥**

शब्दार्थ—'कंद' = मेघ, समूह ।

अर्थ—ऋषिसमूह मुनिश्रेष्ठ शरभंगजीकी यह गति देखकर अपने हृदयमें विशेष सुखी हुए ॥३॥ सभी मुनिवृन्द प्रभुकी स्तुति कर रहे हैं कि 'शरणागत-हितकारी करुणाकन्द प्रभुकी जय हो' ॥४॥

टिप्पणी—१ "रिषि निकाय मुनिबर गति देखी ।" इति । (क) शरभंगजी पहले ब्रह्मलोकको जाते थे यह जानकर मुनिसमूहको सुख हुआ था, पर रघुनाथजीके दर्शन पाकर भक्तिका वरदान लेकर जब उनको वैकुण्ठ जाते देखा तब प्रथमसे अब अधिक सुख प्राप्त हुआ, क्योंकि ब्रह्मलोकसे वैकुण्ठ विशेष है । पुनः, विशेष सुखी कहकर जनाया कि मुनि मत्सररहित होते हैं, दूसरेके सुखको देखकर वे सुखी होते हैं । पुनः, जनाया कि शरभंगजी सबको प्रिय थे, अतएव सबको बड़ा आनन्द हुआ । ( ख )—'गति देखी' से जनाया कि हरिरूप धारण किए हुए वैकुण्ठ को जाते हुए देखा । जैसा गृद्ध्रराज जटायुजीके प्रसंगमें कहा है वैसा ही यहाँ भी समझ लेना चाहिए । यथा 'गीध देह तजि धरि हरि रूपा । भूषन बहु पटपीत अनूपा' इत्यादि । ( ३२.१ ) । [ 'गति देखी' से यह भी सूचित किया कि शरभंगजीके शरीर-त्यागके समय ये सब ऋषि उनके आश्रमपर पहुँच गये थे । वाल्मीकिजी और अ० रा० का मत है कि शरभंगजीके स्वर्ग चले जानेपर सब ऋषि एकत्र होकर उनके आश्रमपर आए । इसके अनुसार भाव यह होगा कि ऋषियोंने उनको विमानपर वैकुण्ठलोकको श्रीहरिरूपसे जाते देखा तब सब जयजयकार करते हुए आए । अथवा, वे पहले ही शरभंगाश्रमके लिये चल चुके थे पर यहाँ स्वर्गको पयान करते समय पहुँचे । ]

२—'अस्तुति करहिं सकल मुनि बृंदा ।०' इति । 'जयति' इस प्रकारकी स्तुति करनेका भाव यह है कि

अभी बहुत असुरोंसे लड़ना है, अतएव आशीर्वादात्मक वचन कहा कि आपको शत्रुओं पर जय प्राप्त हो जिससे प्रणतका हित होगा। 'प्रणतहित' का भाव कि हम सब भी आपकी शरण हैं हमारी भी रक्षा कीजिये।

नोट—१ वाल्मीकिजीने अनेक जातिके ऋषि यहाँ गिनाये हैं, यथा "शरभंगे दिवं याते मुनिसंघाः समागताः। अभ्यगच्छन्त काकुत्स्थं रामं ज्वलिततेजसम् ॥१॥ वैखानसा वालखिल्याः संप्रक्षाला मरीचिपाः। अश्मकुट्टाश्च बहवः पत्राहाराश्चतापसाः ॥२॥ दन्तोलूखलिनश्चैव तथैवोन्मज्जकाः परे। गात्रशय्या अशय्याश्च तथैवानवकाशिकाः ॥३॥ ... सर्वे ब्राह्म्या श्रियायुक्तदृढ़योगसमाहिताः। शरभङ्गाश्रमे राममभिजग्मुश्च तापसाः ।६।" ( स० ६ ), इसीके अनुसार वही भाव सूचित करनेके लिए यहाँ 'निकाय' और "सकल मुनि वृन्दा" पद दिए। अर्थात् जितनी जातिके ऋषि दण्डकारण्यमें थे उन सबके समस्त वृंद। एक-एक जातिका एक-एक या अधिक वृन्द था।

२ (क) 'प्रनतहित' और 'करुणाकंद' विशेषण पूर्वापर प्रसंगके बीचमें देकर जनाया कि आगे मुनियोंपर करुणा करके उनके दुःखको शीघ्र दूर करेंगे, यथा 'करुनामय रघुबीर गोसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराई' आगे अस्थिसमूहको देखकर करुणा आई है और निशाचरनाशकी प्रतिज्ञा अब करने ही वाले हैं। ( ख ) वाल्मी० स० ६ में जो कहा है कि 'एवं वयं न मृष्यामो विप्रकारं तपस्विनाम्। क्रियमाणं वने घोरं रक्षोभिर्भीमकर्मभिः ॥१८॥ ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः। परिपालय नो राम वध्यमानान्निशाचरैः ॥१९॥' अर्थात् क्रूरकर्मा राक्षसोंके द्वारा इस प्रकार मुनियोंका विनाश होना हम लोग अब सह नहीं सकते। इसी कारण शरणमें आए हुए लोगोंकी रक्षा करनेवाले आपकी शरणमें हम लोग आए हैं। हम लोग निशाचरोंसे मारे जा रहे हैं, आप हमपर करुणा करके हमारी रक्षा करें।—यह सब भाव इन दो शब्दोंमें प्रकट कर दिया है।

"जेहि बिधि देह तजी सरभंग" प्रकरण समाप्त हुआ।

## "बरनि सुतीछन प्रीति पुनि"-प्रकरण

पुनि रघुनाथ चले बन आगे। मुनिबर बृंद बिपुल सँग लागे ॥५॥
अस्थिसमूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया ॥६॥
जानतहूँ पूछिअ कस स्वामी। सबदरसी* तुम्ह† अंतरजामी ॥७॥
निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए ॥८॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी पुनः आगे वनको चले। मुनिवरोंके बहुतसे वृन्द ( प्रभुके ) साथ लगे, अर्थात् साथ हो लिए ॥५॥ हड्डियोंका ढेर देखकर रघुनाथजीको मुनियोंपर बड़ी दया आई और उन्होंने मुनियोंसे पूछा ( कि यह ढेर कैसा यहाँ लगा हुआ है ) ॥६॥ ( मुनियोंने उत्तर दिया कि ) हे स्वामी! आप सर्वदर्शी (सर्वज्ञ ) और अन्तर्यामी (हृदयकी जाननेवाले) हैं, आप जानते हुए कैसे पूछते हैं? ॥७॥ निशाचरसमूहने सब मुनियोंको खा डाला है ( उन्हींकी हड्डियोंका यह ढेर लग गया है। वा, ये सब निशाचरोंके खाए हुए मुनियोंके [illegible]कर हैं। ) यह सुनकर रघुवीर श्रीरामजीके नेत्रोंमें जल भर आया ॥८॥

टिप्पणी—१ "पुनि रघुनाथ चले बन आगे ..." इति। (क) इससे एक प्रसंगकी समाप्ति और दूसरेका प्रारम्भ दिखाया। पूर्व प्रसंग 'पुनि आये जहँ मुनि सरभंगा' पर प्रारम्भ हुआ। वह 'जयति प्रनतहित००' पर समाप्त हुआ। अत्रिजीके यहाँसे चलना कहा 'चले बनहिं सुर नर मुनि ईसा', मार्गमें विराधवध किया तब शरभंगजीके आश्रमपर जाना कहा। यहाँ कुछ देर ठहरना पड़ा, यथा 'तब लगि रहहु दीन हित लागी'। अतः अब 'पुनः' चलना कहा। ( ख ) आगेका वन सुतीक्ष्णजीवाला वन है।

२ 'मुनिवरबृंद बिपुल सँग लागे' इति।—क्यों संग लगे? ( क ) प्रभुकी अनुपम शोभाके दर्शन तथा

* समदरसी—१७०४। † उर—को० रा०।

उनसे सम्भाषणकी अभिलाषासे, यथा 'बालकवृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा। १.२१८।', 'रामहिं देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं संग लागे। २.११४।' तथा यहाँ 'मुनिवृंद सँग लागे'। अथवा, (ख) अस्थिसमूह दिखाकर करुणाको उभारनेके लिए उसी राहसे ले चलनेको साथ हुए। अथवा, (ग) अपने-अपने आश्रमोंपर ले जानेके लिए साथ हो लिए और इसीसे आगे कहा भी है कि 'सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह'। (अ० रा० में ऐसा ही कहा है। यथा 'आगच्छ यामो मुनिसेवितानि वनानि सर्वाणि रघूत्तम क्रमात। द्रष्टुं सुमित्रासुतजानकीभ्यां तदा दयाऽस्मासु दृढा भविष्यति। ३.२.१७।' अर्थात् हे रघुश्रेष्ठ! आइये, श्रीसीतालक्ष्मणसहित आप हमारे साथ क्रमशः मुनीश्वरोंके समस्त आश्रमोंको देखनेके लिये चलिये। ऐसा करनेसे आपको हमपर बड़ी दया लगेगी। रा. प्र. कारका मत है कि अँधेरे वनसे राक्षसोंके भयसे भगे थे अब रघुवंशावतंसप्रतापप्रकाश सहाय लेकर चले।) अथवा (घ) कुछ दूरतक उनको पहुँचानेके लिए साथ हुए।

[नोट—जनस्थानके राक्षसोंके मारे जानेपर अगस्त्यजीने मुनियोंके साथ ही लेनेका कारण बताया है कि इन्हींके वधके लिए इन्द्र शरभंगजीके पास गए थे और इसीलिये ऋषिवृन्द उपाय करके आपको यहाँ लाए थे। यथा "सभाज्य मुदिता रामं सागस्त्या इदमब्रुवन्। एतदर्थं महातेजा महेन्द्रः पाकशासनः ॥३४॥ शरभङ्गाश्रमं पुण्यमाजगाम पुरंदरः। आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः ॥३५॥"—(वाल्मी० ३. सर्ग ३०.)। अर्थात् श्रीरामजीकी पूजा करके अगस्त्य आदि मुनि प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार बोले—महातेजस्वी इन्द्र इसीलिये शरभंगजीके पवित्र आश्रममें आये थे और इन्हीं पापी राक्षसोंके वधके लिये महर्षि आपको उपाय करके यहाँ ले आए हैं।]

३ चित्रकूटसे लेकर अत्रि-आश्रमतक बहुत मुनि थे, यथा 'सकल मुनिन्ह सन विदा कराई।'; उसके आगे विराधके भयसे कोई मुनि नहीं रहते रहे; इसीसे शरभंगाश्रमतक कोई मुनि न मिले। शरभंगजी और अगस्त्यजीके आश्रमोंके बीचमें बहुतसे मुनि रहते थे; अतएव 'वृन्द' पद दिया। क्योंकि इनके भयसे राक्षस इधर न आते थे।

४ "अस्थिसमूह देखि रघुराया..." इति। (क) 'अस्थिसमूह' पद दिया क्योंकि 'समूह अस्थि' ही पूछनेका हेतु है, दो चार हड्डियाँ पड़ी देखकर कोई नहीं पूछता क्योंकि उसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं होती। पुनः, (ख) दूसरा कारण पूछनेका 'करुणा, दया' है। मुनियोंकी ऐसी दुर्दशा देख तरस आया; उनको कृतार्थ करना चाहते हैं। अधमके हाथसे मृत्यु होनेसे सद्गति नहीं होती। पुनः, (ग) तीसरा कारण पूछनेका यह है कि इस प्रकार नीतिकी रक्षा की। विना अपराधके दंड देना अनीति है। जब मुनि अपने मुखसे राक्षसोंका अपराध कहें तब उनको दंड दिया जाय। देखिए वालिने अपने वधपर यही प्रश्न रघुनाथजीसे किया है—'कारन कवन नाथ मोहि मारा'। अर्थात् मेरा क्या अपराध है? नीति प्रतिपालनके विचारसे यहाँ 'रघुराया' कहा। (घ) 'अतिदाया' का भाव कि दया तो सबपर रहती है—'सब पर मोहि बराबरि दाया'। पर यहाँ अस्थिसमूह देख 'अति दाया' लगी।

५ (क) 'जानतहूँ पूछिय कस स्वामी' का भाव कि पापियोंके पाप कहनेमें भी दोष है, पर आप स्वामी हैं, आपकी आज्ञा अपेल है, अतः निवेदन करते हैं। 'सकल मुनि खाए' अर्थात् सबकी अकाल मृत्यु हुई, अपने कालसे नहीं मरे, राक्षसोंके खानेसे मरे हैं। [अध्यात्ममें लिखा है कि सब ओर मनुष्योंकी खोपड़ियाँ देख पड़ती थीं। यथा "ददर्श तत्र पतितान्यनेकानि शिरांसि सः। अस्थिभूतानि सर्वत्र रामो वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥" (अ० रा० ३।२)। पुनः यथा 'एहि पश्य शरीराणि मुनीनां भावितात्मनाम्। हतानां राक्षसैर्घोरैर्बहूनां बहुधा वने।' (वाल्मी० ३।६।१६)। राक्षसोंने कैसे खा लिया यह बात अ० रा० में स्पष्ट की है। जब मुनि समाधिमें मग्न रहनेके कारण भागनेमें असमर्थ होते थे तभी घात ताकनेवाले राक्षस आकर उनको खा जाते थे। यथा राक्षसैर्भक्षितानीश प्रमत्तानां समाधितः। अन्तरायं मुनीनां ते पश्यन्तोऽनुचरन्ति हि।३।२।२१।'] (ख) 'सबदर्सी' अर्थात् सदा सब आपको निरावरण दिखाई देता है, कुछ छिपा नहीं। अंतर्यामी हो, अतः हृदयकी भी जानते हो।

पुनः, सर्वदर्शीसे स्वरूपतः और अंतर्यामीसे स्वभावतः सब जानना सूचित किया। (ग) 'सुनि रघुबीर-नयन जल छाए' अर्थात् करुणा हुई। करुणा होने पर फिर दुःख तुरत दूर करते हैं, यथा 'जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निरबहे।७।१३।'

दोहा—निसिचर-हीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि* जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥ ९ ॥

अर्थ—(श्रीरघुवीरजीने) भुजा उठाकर प्रतिज्ञा की कि मैं पृथ्वीको राक्षसोंसे रहित करूँगा और समस्त मुनियोंके आश्रमोंमें जा जाकर सबको सुख दिया ॥ ९ ॥

नोट—१ भुजा उठाकर प्रतिज्ञा करनेकी रीति है। इस प्रकार प्रतिज्ञाकी सत्यता निश्चय कराई जाती है, यथा 'चल न ब्रह्मकुल सन बरिआई। सत्य कहहुँ दोउ भुजा उठाई। १।१६५।५।', 'पन बिदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ बिसाल।१।२४९।' ऐसा करके जनाया कि अब आप सब निस्सन्देह और निडर रहें। लोगोंने इसके अनेक भाव कहे हैं। जैसे कि "जिसमें सब देख लें। दूसरा भाव कि प्रतिज्ञा पूरी न करूँ तो हाथ ही काट डालूँगा।" इत्यादि भाव पं० रामकुमारजीने दोहेमें कहे हैं-'इन बाहुन[1] ते वध करव, बाहुन[2] रूप बनाय। युद्ध बाहु[3] आधीन है इन्द्र[4] बाहु के राय ॥१॥ वध करि ऊपर[5] पठाइहौं, पन[6] करिबे की रीति। बीरनमें[7] भुज पूज्य है, सुजन राखिहौं[8] नीति ॥२॥' ये ही भाव पं०, प्र० में हैं। इन्द्र बाहुके देवता हैं, वे दुःखी हैं। उनको अभय करूँगा यह 'बाहु' उठाकर जनाया। हाथ उठानेसे दूरतक सबको प्रतिज्ञा विदित हो जायगी, शब्द वहाँ तक न सुनाई देगा। यह अभय प्रदानकी मुद्रा है। (प्र०)।

टिप्पणी—१ पृथ्वीको निशाचरहीन करनेको कहा क्योंकि मुनियोंने कहा था कि 'निसिचर निकर सकल मुनि खाए' ('महि' शब्दसे प्रतिज्ञा केवल पृथ्वीके राक्षसोंके वधकी सूचित की, पातालादिके निशाचरोंके लिये नहीं। अहिरावण और महिरावण पाताल निवासी थे, इसीसे गोस्वामीजीने उनका उल्लेख नहीं किया। प० प० प्र०।) २—'जाइ जाइ सुख दीन्ह से जनाया कि ये सब प्रभुकी राह देख रहे थे, जिसकी जैसी अधिक अभिलाषा थी वैसा ही अधिक दिन उसके यहाँ ठहरे। सबके यहाँ ठहरते हुए दश वर्ष बिता दिए। पुनः, 'जाइ जाइ' दो बार देकर वाल्मीकिजीने जो लिखा है कि एक एकके यहाँ फिर फिर गए वह भाव भी जना दिया है। यथा 'जगामचाश्रमांस्तेषां पर्यायेण तपस्विनाम् ॥ २३ ॥ येषामुषितवान्पूर्वं सकाशे स महास्त्रवित्।' (स० ११)।

नोट—२ इस दोहेमें यह दरसा दिया कि कैकेयीजीकी आज्ञाका पालन क्योंकर हुआ। महर्षि वाल्मीकिजीने लिखा है कि १० वर्ष यों बिता दिए। उनके सर्ग ११ के—'प्रविश्य सह वैदेह्या लक्ष्मणेन च राघवः। तदा तस्मिन्स काकुत्स्थः श्रीमत्याश्रममण्डले। २२। उषित्वा स सुखं तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः। जगाम चाश्रमांस्तेषां पर्यायेण तपस्विनाम्। २३। येषामुषितवान्पूर्वं सकाशे समहास्त्रवित्। क्वचित्परिदशान्मासानेकं संवत्सरं क्वचित्।२४। क्वचिच्चतुरोमासान्पञ्चषट् चापरान्क्वचित्। अपरत्राधिकान्मासानध्यर्धमधिकं क्वचित्।२५। त्रीन्मासानष्टमासांश्च राघवो न्यवसत्सुखम्। तत्र संवसतस्तस्य मुनीनामाश्रमेषु वै।२६। रमतश्चानुकूल्येन ययुः संवत्सरा दश। परिसृत्य च धर्मज्ञो राघवः सह सीतया। २७।' इन श्लोकोंका अभिप्राय 'जाइ जाइ सुख दीन्ह' में भरा हुआ है। रामचन्द्रजीने क्रमसे एक एक महर्षिका आश्रम जा जाकर देखा, किसीमें दस मास रहे, कहीं एक वर्ष, कहीं चार मास कहीं पाँच, कहीं छः, कहीं सात, कहीं आठ मास इत्यादि रीतिसे प्रसन्नतापूर्वक रमण करते ऋषियोंको सुख देते दश वर्ष बीत गए।

मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीछन रति भगवाना ॥१॥

* १७२१, १७६२ में 'आश्रमहि' है। १७०४, को० रा० में 'आश्रम' है। आश्रमन्हि—छ०, भा० दा०।

मन क्रम वचन राम-पद-सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक ॥२॥
प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा ॥३॥

शब्दार्थ—सुजान=चतुर, प्रवीण। 'आतुर'=शीघ्रता एवं आकुलतासे। 'देवक'=देवका, जैसे 'धंधक'=धंधेका। दीनजी कहते हैं कि यह मिथिला प्रान्तका प्रत्यय है इस प्रकार अब भी वहाँ बोला जाता है।

अर्थ—श्रीअगस्त्यमुनिका सुजान शिष्य जिसका नाम सुतीक्ष्ण था भगवान्‌में उनका प्रेम था ॥१॥ वे मनकर्मवचनसे श्रीरामजीके चरणोंके सेवक थे, स्वप्नमें भी किसी दूसरे देवताका आशाभरोसा नहीं था ॥२॥ प्रभुका आगमन (ज्योंही) कानोंसे सुन पाया (त्योंही वे) मनोरथ करते हुए आतुरता से दौड़े ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ 'मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना'''' इति। (क) गुरुसंबंध देकर सुतीक्ष्णजीकी बड़ाई कही। फिर भगवान्‌में अनुरक्तिसे एवम् प्रभुके लिए उनकी आतुर चालसे भी बड़ाई की। पुनः, (ख) गुरुका संबंध देकर निवृत्तिमार्गसेवी जनाया। (ग) 'नाम सुतीछन' इति। अगस्त्यजीके अनेक शिष्य हैं इससे इनका नाम खोलकर कहा, नहीं तो सन्देह होता कि कौन शिष्य अभिप्रेत है। नाम कहकर तब उनके गुण कहे कि "रति भगवाना ॥००"। भगवान् शब्द निर्गुण और सगुण दोनोंका वाचक है अतएव आगे उनकी उपासना स्पष्ट करनेके लिए 'रामपद सेवक' पद दिया। 'पद' शब्दसे सगुण स्वरूपका उपासक बताया, निर्गुणके 'पद' नहीं होते। यहाँ 'मन-क्रम-वचन' से श्रीरामजीका सेवक कहा और आगे तीनों बातोंको दिखावेंगे। (घ) ['सुतीक्ष्ण' का अर्थ है 'कामादि विकार तथा संसारसे क्रूर और ज्ञान एवं भक्तिमें सुन्दर तीक्ष्ण कुशाग्र बुद्धिवाले'। जैसा सुतीक्ष्ण नाम है वैसा ही गुण है। अर्थात् इनकी बुद्धि कुशाग्रभागके समान तीक्ष्ण है। यह बात 'सुजान' पदसे जनायी। (प्र०, खर्रा)।]

नोट—१ 'सुजान' विशेषण कवि दे रहे हैं और 'भगति न ज्ञान' यह सुतीक्ष्णजीके विचार हैं, वे अपनेको वैसा ही समझते हैं। 'सुजान' शब्द मानसमें बहुत बार आया है। श्रीरामगुणगणका स्मरण करके हर्षित होने, अपनी हीनता-दीनताका और प्रभुकी कृपाओंका विचार करके कृतज्ञ होने, प्रभुका दर्शन करके पुलकित तन गद्‌गदगिरा आदिसे स्तुति करने, मनको स्थिरकर भगवान्‌का ध्यान करने तथा संकट सहकर भी धर्मपर दृढ़ रहनेवालों, इत्यादिके प्रसंगोंमें यह विशेषण प्रायः देखा जाता है। यथा 'सुमिरि राम के गुनगन नाना। पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना।'''सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मो पर कृपा परम मृदुलाई। अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ ॥'''सरन गए मोसे अघरासी। होहिं सुद्ध नमामि अविनासी। ७। १२४।१-८।', 'सकुनाधम सब भाँति अपावन। प्रभु मोहिं कीन्ह विदित जगपावन। आजु धन्य मैं धन्य अति'''।७।१२३।', 'देखि सुअवसर प्रभु पहिं आयउ संभु सुजान॥ परम प्रीति कर जोरि जुग नयन नलिन भरि बारि। पुलकित तन गदगद गिरा विनय करत त्रिपुरारि। ६।११३।', 'हृदय न कछु फल अनुसंधाना। भूप बिबेकी परम सुजाना। १।१५६।', 'रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरम धरेउ सहि संकट नाना। २।९५।३।', 'मन थिर करि तब संभु सुजाना। लगे करन रघुनायक ध्याना।१।८२।४।'; इत्यादि। ऐसे ही गुण सुतीक्ष्णजीमें सूचित करनेके लिये 'सुजान' विशेषण दिया गया। कविने यहाँ 'सुजान' विशेषण दिया और आगे 'ज्ञानी' कहा है—'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी।'

वि. त्रि.—१ 'सिष्य सुजाना' कहकर जनाया कि अगस्त्यजीके बहुत शिष्य थे, कोई कर्मठ थे, कोई ज्ञानी थे, कोई योगी थे, उनमेंसे सुतीक्ष्णजी बड़े सुजान थे, क्योंकि उनकी रति भगवान्‌में थी; यथा 'राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू।' २ 'मन क्रम वचन राम पद सेवक' से जनाया कि ये सरकारी कृपाके पात्र थे। यथा 'मन क्रम वचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।'

टिप्पणी—२ 'सपनेहु आन भरोस न देवक' से श्रीरघुनाथजीमें अनन्यता दिखाई। यथा 'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा विस्वासा।७.४६।' अ० रा० में श्रीरामजी ने कहा है कि मैं जानता

हूँ कि तुम्हारा मेरे अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है, इसी लिये मैं तुम्हें देखनेके लिये आया हूँ। यथा 'अतोऽहमागतो द्रष्टुं मदृते नान्यसाधनम् ।३।२।३६।' मुनिने कहा भी है कि जो रूप मेरे सामने प्रत्यक्षरूपसे है इसके अतिरिक्त मुझे किसी रूपकी इच्छा नहीं है, यथा 'प्रत्यक्षतोऽद्य मम गोचरमेतदेव रूपं विभातु हृदये न परं विकांक्षे ।३।२।३४।'

३ 'प्रभु आगवन श्रवन सुनि पावा।'''धावा' इति। यथा अध्यात्मे 'राममागतमाकर्ण्य सुतीक्ष्णः स्वयमागतः। अगस्त्यशिष्यो रामस्य मंत्रोपासनतत्परः ।३।२।२६।' यहाँ केवल 'धावा' पद दिया। इससे जान पड़ता है कि मुनि खड़े हुए थे जब उन्होंने आनेका समाचार पाया; क्योंकि यदि बैठे होते तो 'उठि धावा' कहते जैसा महर्षि अत्रि और अगस्त्यजीके प्रसंगोंमें कहा है। यथा 'पुलकित गात अत्रि उठि धाए ।३।३।५।', 'सुनत अगस्ति तुरत उठि धाए ।१२।६।' वे लोग बैठे हुए थे इससे उनका उठ धावना कहा।

मा० हं—"यह संवाद अध्यात्ममें है सही, पर ऐसा उत्तम और इतना प्रेम-प्रचुर वहाँ नहीं दिखाई देता है। आदर, विनय, विनोद और प्रेमकी दृष्टिसे देखने पर काव्यमें उसकी उपमा देनेके लिए जोड़ मिल सकेगा तो वह केवल एक गुह ही है। हमारा मन तो यही कहता है कि जिसे गोसाईंजीके स्वभावका अनुमान करना हो, वह सुतीक्ष्णकी ओर देखे। उसे वहाँ उनकी रामभक्तिका अल्प-सा चित्र देख पड़ेगा। काव्य दृष्टिसे भी यह संवाद काव्यकौशल्यका एक अप्रतिम उदाहरण है।"

हैं विधि दीनबंधु रघुराया। मोसे सठ पर करिहहिं दाया ॥४॥
सहित अनुज मोहि राम गोसाईं। मिलिहहिं निज सेवक की नाईं ॥५॥
मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ज्ञान मन माहीं ॥६॥
नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा ॥७॥

शब्दार्थ—'निज'=अपना खास, अपना, यथा 'कह मारुतसुत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार निज दास'—(लं०)।=सच्चा, यथा 'अब बिनती मम सुनहु शिव जौं मोपर निज नेहु। १।७६।'=जो मन-वचन-कर्मसे दास है।

अर्थ—हे विधाता! क्या दीनबंधु रघुराई मुझसे सठपर दया करेंगे? ॥४॥ गोस्वामी श्रीरामचंद्रजी भाई लक्ष्मण सहित मुझसे अपने खास सेवककी तरह मिलेंगे? ॥५॥ मेरे जीमें पक्का भरोसा (विश्वास) नहीं होता (क्योंकि) मेरे हृदयमें भक्ति, वैराग्य या ज्ञान (कुछ भी) नहीं है ॥६॥ न सत्संग, योग, जप, यज्ञ (कुछ भी) ही है और न (प्रभुके) चरणकमलोंमें दृढ़ अनुराग ही है ॥७॥

नोट—१ सं० १७२१ की प्रतिमें यही पाठ है। काशीकी प्रतिमें 'हे विधि' पाठ है। पं० रामकुमारजी ने इसीको रखा है। 'हे' पाठ सम्बोधनार्थ है अर्थात् 'हे विधाता! क्या दीनबंधु रघुनाथजी'''। पं० रामकुमारजी अर्थ करते हैं कि 'सुतीक्ष्णजी सोचते हैं कि प्रभुके मिलने और दया करनेकी एक यही विधि है कि रघुनाथजी दीनबंधु हैं। इसीसे वे मुझ शठपर दया करेंगे, नहीं तो मेरे कुछ साधन नहीं है जिससे वे दर्शन दें।' वाल्मीकिजी के १४ स्थानोंमेंसे 'गुन तुम्हार समुझहिं निज दोषा' इसमें सुतीक्ष्णजीका स्थान पड़ता है। इस दीनकी समझमें ऐसा आता है कि 'हैं!' का अर्थ 'अरे' 'हे' भी होता है। इस प्रकार 'हैं विधि' का अर्थ भी 'हे विधि' है। दूसरा भाव जो पं० रामकुमारजी ने लिखा है वह 'हे' वा 'हैं' पाठमें ही हो सकता है, 'हे' से नहीं। अतएव 'हैं' पाठको दो भावोंका बोधक जानकर उसे अच्छा समझता हूँ। 'हैं' पाठ अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है। और सं० १६६६ वाली विनयपत्रिकामें इसका प्रयोग बराबर कई पद्योंमें हुआ है। इससे 'हैं' पाठ लेखकप्रमाद नहीं कहा जा सकता। उस समयमें 'हे' के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ करता होगा। आजकल भी 'हैं' शब्द कभी-कभी आश्चर्य सूचित करनेके समयमें बोला जाता है। पं० रामकुमारजीने अपने

एक खर्रेमें 'हे विधि' पाठ देते हुए यह लिखा है कि 'यह बोलचालकी रीति है। इससे कुछ यह आशय नहीं है कि वे विधिकी उपासना या भरोसा करते हैं।'

नोट—२ 'मो से सठ पर करिहहिं दाया' में भाव यह है कि शठपर कोई स्वामी प्रेम नहीं करता और मैं तो बहुत बड़ा शठ हूँ, मेरे सदृश दूसरा न होगा, तब भला वे मुझपर कृपा कैसे करेंगे? ☞ स्मरण रहे कि भुशुण्डीजी आदिने भी अनन्य भक्ति होनेपर भी अपनेको शठ कहा है। यथा 'मोहिं से सठ पर ममता जाही। ७।१२३।३।', 'सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपाल। १।२८।'

प० प० प्र०—१ 'मोसे सठ पर करिहहिं दाया' इति। जो हरिभक्तिको छोड़कर अन्य उपायसे सुख चाहे वह 'शठ' है, यथा 'सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई। ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी। ७।११५।३-४।' भाव कि मैंने तो दृढ़ चरण-कमलानुरागरूपी भक्तिकी प्राप्तिका प्रयत्न भी नहीं किया, तब प्रभु मुझको दर्शन क्यों देने लगे?' २—'निज सेवक' अर्थात् अत्यन्त अन्तरंग सेवक, अति प्रिय सेवक। शुचि-सुशील सुमतिवान सेवक ही प्रिय होते हैं और ऐसे सेवकोंमें भी जो श्रेष्ठ होते हैं वे ही 'निज सेवक' हैं।

वि० त्रि०—ऊपर कहा है 'करिहहिं दाया?' क्या दया सुतीक्ष्णजी चाहते हैं यह 'मिलिहहिं निज सेवक की नाईं' से बताया। वह दया सरकारका परिष्वङ्ग देना है। पर परिष्वङ्ग तो पिता, माता, पुत्र, सखा आदिको भी दिया जाता है, मुनि उसे नहीं चाहते। सरकारको 'निजदास' सबसे अधिक प्रिय है, अतः मुनि उसी भावसे परिष्वङ्ग चाहते हैं, और उससे भी भाई सहित मिलनेमें पूरा सत्कार है। निजदास वह है 'जेहि गति मोरि न दूसरि आसा'।

टिप्पणी—१ 'मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं।००', यथा 'मन-ज्ञान-गुन-गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किये' इति अत्रिवाक्यं। पुनः, यथा 'नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना' इति शरभङ्गः। 'भक्ति, बिरति न ज्ञान' का अर्थ यहाँ है कि 'ज्ञान वैराग्य सहित भक्ति नहीं है'। यह कहकर कि ऐसी भक्ति नहीं है फिर कहते हैं कि भक्तिके कोई साधन भी मुझमें नहीं है "नहिं सतसंग जोग जप जागा।" ये सब भक्तिके साधन हैं। इनसे भक्ति प्राप्त होती है, यथा 'सब कर फल हरिभगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई।', 'जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई' (आ० ६)। जब भक्तिके साधन भी नहीं हैं, तब प्रभुका मिलना असंभव है। [प० प० प्र० का मत है कि "यहाँ 'भक्ति' का अर्थ 'नवधा भक्ति' है, कारण कि आगे 'नहिं दृढ़ चरन कमल अनुराग' से प्रेमलक्षणा भक्तिका उल्लेख किया गया है। (राम-गीता देखिए)। ज्ञान = विवेक। इसका कारण 'नहिं सतसंग' दिया है—'बिनु सतसंग बिबेक न होई'। 'नहिं सतसंग जोग जप जागा'—सत्संगसे विवेक, विवेकसे वैराग्य, वैराग्यसे योग और योगसे ज्ञान होता है।"]

नोट—३ श्रीसुतीक्ष्णजी अपने इष्टदेव श्रीरामजीका आगमन सुनते हुए प्रेमविभोर हो दौड़ पड़े और बड़े आश्चर्यके साथ मनमें विचार करते हुए मनोरथ करते जाते हैं। वे सोचते हैं कि मुझमें तो न भक्ति है, न वैराग्य न ज्ञान, न सत्संग ही है न जप, योग यज्ञादि और न प्रभुके चरण कमलोंमें दृढ़ अनुराग ही है। भाव यह कि उत्तम निष्काम कर्मोंसे चित्तकी शुद्धि होती है जिससे वैराग्य उत्पन्न होता है सो मैंने तो कोई उत्तम कर्म भी नहीं किये। फिर जप योग, यज्ञादि साधनोंसे तथा सत्संगसे भक्तिकी प्राप्ति होती है सो ये कोई साधन भी मैंने नहीं किए, संतोंका संग भी नहीं किया और न मुझमें ज्ञान ही है। इस तरह मैं वेदविदित काण्डत्रयसे रहित हूँ। खैर! ये नहीं सही, श्रीरघुनाथजीके चरण कमलोंमें अविचल अनुराग हो तो भी प्रभुकी प्राप्ति हो सकती, सो यह भी मुझमें नहीं है। अतः मुझे विश्वास नहीं होता कि सर्वसाधनरहित मुझ ऐसे शठपर ऐसी महती कृपा करेंगे कि मुझे स्वयं आकर मुझको अपना खास सेवक मानकर, दर्शन देंगे। अतः आश्चर्यान्वित होकर कह रहे हैं कि 'हे विधि! क्या सचमुच ऐसा संभव होगा?' आगे अपनेमें

एक गुण दिखाते हैं जो भगवान्को प्रिय है। वह है अनन्यता। इसी अनन्यताको देखकर ही तो प्रभु मनु-शतरूपाजीके लिये प्रकट हुए थे। बस विश्वास हो गया।

बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि इन साधनोंसे शून्य होनेका भाव विभीषणजीके 'तामस तन कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं। ५।७।३।' में खुलेगा। 'चरण कमल अनुरागा' का भाव कि जैसे भौंरा कमलमें लुब्ध रहता है वैसी ही मनकी आसक्ति प्रभुके चरणारविन्दमें होनी चाहिए।

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की ॥८॥
होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदनपंकज भवमोचन ॥९॥

शब्दार्थ—बानि=टेव, स्वभाव। गति=पहुँच, दौड़, अवलंब, शरण, सहारा, भरोसा, यथा 'तुम्हहिं छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं'।

अर्थ—करुणानिधान श्रीरघुनाथजीकी एक यह बानि है कि जिसको और किसीका आशा-भरोसा नहीं वह उनका प्रिय है ॥८॥ भवके छुड़ानेवाले मुखारविन्दको देखकर आज मेरे नेत्र सुफल (कृतार्थ) होंगे ! ॥९॥

टिप्पणी—१ (क) 'एक बानि करुनानिधान की' इति। इससे जनाया कि श्रीरामजीके मिलनेमें साधन कारण नहीं है, करुणा ही कारण है। ( ख ) 'सो प्रिय जाके गति न आनकी' अर्थात् जो सब साधनोंसे हीन होकर अनन्य हो जाय वही प्रभुको प्रिय है। श्रीसुतीक्ष्णजीको अनन्यता और दीनताका बल है, किसी साधनका बल नहीं, यही बात प्रकरणके प्रारम्भमें परिचय देते समय कह आये हैं, यथा 'सपनेहु आन भरोस न देवक', 'हे बिधि दीनबंधु रघुराया'। पर विशेषतः इन्हें अनन्यताका ही भरोसा है इसीसे आदिमें भी अनन्यता इनकी कही और यहाँ भी उसीका भरोसा दिखाया। शरभंगजीको दीनताका बल था, यथा 'कीन्ही कृपा जानि जन दीना' और 'तब लगि रहहु दीनहित लागी'। ( ग ) श्रीमुखवचन भी इस बानिके विषयमें है, यथा 'समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ। ४।३।८।'

प० प० प्र०—१ 'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी। ७।८७।१०।' और 'सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ। ४।३।८।' इन दोनोंके समन्वयसे सिद्ध हो गया कि 'अनन्य गतिकत्व' भी एक स्वतंत्र भक्ति है, जिसमें कुछ भी साधनकी अपेक्षा नहीं है। है तो यह अत्यन्त सुगम पर उसका प्राप्त होना अति दुर्गम है। महाराष्ट्र सन्तने 'केकावली' में लिखा है कि 'अनन्यगतिका जनां निरखतां चि सोपद्रवा। तुम्हं चि करुणार्णवा मन धरी उमोप द्रवा।'

टिप्पणी—२ 'होइहैं सुफल आजु मम लोचन''' इति। भगवान्के मुखारविन्दके दर्शनसे नेत्र सुफल होते हैं। यथा 'करहु सुफल सबके नयन सुंदर बदन देखाइ। १.२१८।', 'निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी। ७.७५।' (भुशुण्डीजी)। आज नेत्रोंके होनेका सुन्दर फल मिलेगा, इस कथनसे मुनिका अपनी अनन्यता और प्रभुकी बानिमें विश्वास दर्शित किया। ( पुनः भाव कि आँखें तो अगणित जन्मोंसे मिलती चली आई हैं पर सफल कभी न हुईं। सफल हुई होतीं तो जन्म ही क्यों होता ? अतः 'बदन पंकज' का भवमोचन विशेषण दिया। वि० त्रि० )

प० प० प्र०-'हे बिधि दीनबंधु रघुराया' से लेकर 'देखि बदन पंकज भवमोचन।' तक सुतीक्ष्णजीका स्वगत भाषण है। मानस महाकाव्य नाटकमें इतना प्रलोभनीय और चित्तविद्रावक स्वगतभाषण किसीका भी नहीं है। यह भाषण केवल विनय-जनित नहीं है, वस्तुस्थिति ही है। सुतीक्ष्णजीके चरित्रमें अनन्यगति सेवकका परमोच्च, परमरमणीय, परमादरणीय, अद्वितीय आदर्श दिखाया गया है।

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी ॥१०॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा ॥११॥

कबहुँक फिरि पाछे पुनि* जाई । कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई ॥१२॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई । प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई ॥१३॥

शब्दार्थ—'निर्भर'=पूर्ण भरा हुआ, यथा 'सबके उर निर्भर हरषु पूरित पुलक सरीर। कबहिं देखिबे नयन भरि रामु लषनु दोउ बीर। १.३००।' दिशि (दिशा)=पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाएँ एवं ऊर्द्ध्व ( सिरके ऊपर ) और अधः ( पैरके नीचे )। पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण इनमेंसे प्रत्येक दो दिशाओंके बीचके कोणको 'विदिश' कहते हैं जैसे पूर्वसे दहिनावृत्त चलनेसे अग्निकोण, नैर्ऋत्यकोण, वायव्यकोण और ईशानकोण सिलसिलेसे विदिशाओंके नाम हैं। अबिरल=घनी, सघन, अव्यवच्छिन्न, यथा 'रति होउ अबिरल अमल सियरघुबीरपद नित नित नई। २.७५।'

अर्थ—हे भवानी ! वे ज्ञानी मुनि निर्भर प्रेममें मग्न हैं, उनकी वह दशा कही नहीं जा सकती ॥१०॥ उन्हें दिशा, विदिशा और रास्ता ( कुछ भी ) नहीं सूझ रहा है। मैं कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ, यह कुछ नहीं जान पड़ता। अर्थात् इसका ज्ञान जाता रहा ॥११॥ कभी लौटकर फिर पीछे जाने लगते हैं और कभी (प्रभुके) गुण गाकर नाचने लगते हैं ॥१२॥ मुनिको अबिरल प्रेमाभक्ति प्राप्त है। प्रभु वृक्षकी आड़में छिपकर देख रहे हैं ॥१३॥

टिप्पणी—१ (क) 'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी' इति। यहाँ भी दिखाया कि ज्ञानकी शोभा प्रेमसे ही है, यथा 'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू। २.२७७।' वे 'भवमोचन वदनपंकज' का स्मरण करते ही मूर्तिके साक्षात्कार होनेसे निर्भर प्रेममें मग्न हो गए। इनका प्रेम निराला है कि जिसकी दशा श्रीशिवजी अकथनीय बताते हैं। (ख) 'कहि न जाइ सो दसा भवानी'—यहाँ शिवोक्ति रक्खी है। क्योंकि प्रेमका जानकार इनसे बढ़कर कोई नहीं है, यथा 'प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना। १.१८५।' ये शंकरजीके वचन हैं। प्रेम-प्रसंगके अवसरोंपर इन्हींकी उक्ति, इन्हींका संवाद जहाँ-तहाँ कविने दिया है—'सुनु सिवा सो सुख बचन मनते भिन्न जान जो पावई। ७।५।', 'बारबार प्रभु चहहिं उठावा। प्रेममगन तेहि उठब न भावा। प्रभुकरपंकज कपिके सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा। सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा०। ५.३३।', 'उमा जोग जप दान तप नाना व्रत मख नेम। रामकृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम। ६ ११६।' [ 'निर्भर प्रेम मगन' श्रीहनुमान्‌जीके लिये भी ५।१७।४। में आया है। ]

२ 'दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा।'''बूझा' इति। ( क ) यहाँ 'सूझा' और 'बूझा' पृथक्-पृथक् भावसे दो शब्द दिये हैं। सूझना आँखोंका विषय है, यथा 'लोचन सहस न सूझ सुमेरू।२.२६५।' और बूझना मन, बुद्धि और चित्तका विषय है। यथा 'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई। ३.१५.१।', 'को जिय कै रघुबर बिनु बूझा। २.१८३।', 'गाधिसूनु कह हृदय हँसि मुनिहि हरियरे सूझ। अयमय खाँड़ न ऊखमय अजहुँ न बूझ अबूझ। १.२७५।' तात्पर्य्य कि प्रेमकी प्रबलतासे भीतर-बाहरकी सभी कर्म और ज्ञान इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं। [ ( ख ) दिशि और विदिशसे पंथ विशेष है और पंथसे अपनपौ विशेष है। अतः 'दिसि बिदिसि', 'पंथ' और 'को मैं' तीनों कहे। 'सूझता-बूझता नहीं' इससे जनाया कि लौटकर आश्रमको ही कभी-कभी चले जाते हैं। मन एवं नेत्र दोनों भवबंधक हैं अतः इन दोनोंको प्रेममें मग्न किये हैं। यथा 'बालकबृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा। १।२१९।' ( जनकपुरवासी तो अत्यंत शोभा देखकर लुब्ध हुए थे और श्रीसुतीक्ष्णजी तो बिना दर्शन पाए ही केवल प्रभुका आगमन सुनकर ही मन और नेत्र दोनों ही मानों खो बैठे हैं। यहाँ उत्तरोत्तर अधिक आतुरता, अधिक प्रेम, अधिक विह्वलता दिखाते जा रहे हैं। ) इसी तरह संसारमें जब कुछ सूझ बूझ नहीं पड़ता तब श्रीरामजीमें प्रेम होता है और तभी वे यथार्थ मिलते हैं। ( खर्रा ) ]

* चलि—को. रा.। पुनि—१७०४,१७२१,१७६२, छ०, भा० दा०।

टिप्पणी—३ 'कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई।...' इति। यही निर्भर, अविरल प्रेमभक्तिका लक्षण है। [भक्तशिरोमणि श्रीप्रह्लादजीने इसीका उपदेश दैत्यबालकोंको दिया है। यथा 'निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान् वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि। यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति।३४। यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धसत्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम्। मुहुः श्वसन्वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः।३५।' अर्थात् जिस समय पुरुष भगवान्के लीलाविग्रहोंद्वारा किये हुए कर्म, अनुपम गुण और पराक्रमोंको सुनकर परमानंदके उद्रेकसे रोमांचित और गद्गदकण्ठ होकर उत्कण्ठावश ज़ोर-ज़ोरसे गाने रोने और नाचने लगता है, जिस समय वह ग्रहग्रस्तके समान कभी हँसता कभी विलाप करता, कभी ध्यान करता, कभी सब लोगोंकी तरह वन्दना करता और कभी श्रीहरिमें तन्मय होकर बारंबार दीर्घनिःश्वास जोड़ता हुआ 'हे हरे! हे जगत्पते! हे नारायण!' इस प्रकार कहता है...तब वह भगवान्को प्राप्त कर लेता है।' (भा० ७।७)। पुनश्च, 'एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः। हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः। भा० ११।२।४०।' अर्थात् जो भगवान्के नामोंका निस्संकोच होकर गान करता हुआ संसारमें असंगभावसे विचरता है ऐसा पुरुष अपने परम प्रिय प्रभुके नाम संकीर्तनसे अनुराग उत्पन्न हो जानेपर द्रवितचित्त होकर संसारकी पर्वा न कर कभी खिलखिलाकर हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाने लगता है और कभी उन्मत्तके समान नाच उठता है।

भगवान्ने उद्धवजीसे बताया है कि ऐसा भक्त त्रिलोकीको पवित्र कर देता है। यथा 'वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च। विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति। भा. ११.१४.२४।' अर्थात् 'जिसकी वाणी गद्गद और चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जो कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी लज्जा छोड़कर उच्च स्वरसे गाने और कभी नाचने लगता है वह परम भक्त तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है।' वह परम भक्त है। इसीसे प्रभु छिपकर उसके प्रेममय चरित्रको प्रेमसे देखने लगे।]

❀ 'प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई' ❀

१ पु० रा० कु०—(क) वृक्षकी आड़में छिपकर देखना कहते हैं। सुतीक्ष्णजी भावमें मग्न भावमयी नृत्य और गान कर रहे हैं और प्रभु तो भावके वश हैं ही। अतः खड़े देखने लगे। वृक्षकी ओटमें छिपकर देखते हैं जिसमें रंगमें भंग न हो। यदि मुनि देख लेंगे तो फिर नृत्य न करेंगे। (ख) इस ग्रन्थमें प्रभुका तीन स्थलोंपर छिपना लिखा है—एक बार लताओटमें, यथा 'लता ओट तब सखिन्ह लखाये। स्यामल गौर किसोर सुहाये। १.२३२.३।' दूसरी बार यहाँ 'तरु ओट' में और तीसरे किष्किंधाकांडमें 'विटप ओट' में, यथा 'पुनि नाना बिधि भई लराई। बिटप ओट देखहिं रघुराई। ४।८।८।' तीनों जगह पृथक् पृथक् शब्द दिए—लता, तरु और विटप। (ग) तरु और विटपसे शान्तरस और लतासे शृङ्गाररस सूचित किया। यहाँ विटप-पद न देकर 'तरु' पद देनेका कारण यह है कि अयोध्याकांडमें लक्ष्मणजीके आवेश-प्रसंगमें विटपका रण वा वीररससे रूपक दिया था, इसीसे यहाँ उस पदको भी नहीं दिया—'रनरस-बिटप पुलक मिस फूला'—वरंच 'तरु' दिया। विशेष कि० ८ (८) में देखिये।

२ दीनजी—जितनी अत्यन्त घनिष्ठ प्रेमसूचक लीलायें महाराजकी हुईं वे सब ओटसे ही हुई हैं। बालि भी बड़ा भक्त था, सामनेसे कैसे मारते और उसकी इच्छा थी सायुज्य मुक्ति पाने की। सायुज्य मुक्ति शत्रुभावनासे ही शीघ्र प्राप्त होती है।

३ पं०—जैसे माता-पिता छिपकर बालकका कौतुक देखें वैसे ही प्रभु इनके प्रेमको देखते हैं। [श्रीरामजी तो विश्वजननी हैं, वे ऐसे प्रेमी बालकको इस दशामें भला कितनी देर देख सकेंगे! बहुत देर नहीं। वैसा ही इधर होता है। 'नमामि भक्तवत्सलं' की भक्तवत्सलता 'हिय हुलसानी' और वे हृदयमें प्रकट हो गए। (प० प० प्र०)]

४ प्र०—(क) (एकाएक) मिलनेसे मुनिको अति हर्ष हो जानेसे नवीं दशासे आगे दशवीं दशापर पहुँच

जानेका भय है जिसमें मृत्यु होती है। अतः छिपे। वा, (ख) इससे छिपे कि सातवीं भूमिका और अपना स्वाद न जाता रहे।

नोट—श्रीसुतीक्ष्णजीके सम्बन्धमें कहा गया है कि वे 'निर्भर प्रेममें मग्न' हैं, उन्होंने 'अविरल प्रेम भक्ति' पाई है। अतः उनमें प्रेमकी दस दशाओंमेंसे नौ दशाओंको इस प्रसंगमें दिखाया भी है। प्रेमकी दस दशायें ये हैं—अभिलाष, चिन्ता, स्मरण, गुणगान, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ताका संचार और मरण। सुतीक्ष्णजीमें 'करत मनोरथ आतुर धावा' अभिलाष है, 'हे विधि "मोसे सठ पर करिहहिं दाया' चिन्ता है, 'सहित अनुज मोहि राम गोसाईं। मिलिहहिं निज सेवक की नाईं।' में चिंता, स्मरण और गुण-गान है, 'मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ज्ञान मन माहीं॥ नहि सतसंग जोग जग जागा। नहिं दृढ़ चरनकमल अनुरागा' यह उद्वेग और प्रलापदशा है। 'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी।' उन्माद है। 'दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा…' उन्माद और व्याधि हैं। 'कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई' जड़ता-संचार दशा है क्योंकि गति रुक गई।

अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भव भीरा॥१४॥
मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस-फल जैसा॥१५॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए। देखि दसा निजजन मन भाए॥१६॥

शब्दार्थ—बैसा = बैठ गया। यथा 'अंगद दीख दसानन बैसे।' 'भीरा' = डर। पनस = कटहल। यह एक सदाबहार घना पेड़ है। इसमें हाथ हाथ डेढ़ डेढ़ हाथ लंबे फल होते हैं और घेरा भी प्रायः इतना ही होता है। ऊपरका छिलका बहुत मोटा होता है जिसपर बहुतसे नुकीले कंगूरे होते हैं। यह वृक्ष नीचेसे ऊपर तक फलता है। माँझ = में, यथा 'पुनि मंदिर माँझ भई नभबानी', 'कैकेइ कत जनमी जग माँझा', 'भरतबचन सुनि माँझ त्रिबेनी'।

अर्थ—भव (संसार, आवागमन) के भयको मिटानेवाले रघुवीर श्रीरामजी अतिशय प्रेम देखकर उनके हृदयमें प्रगट हो गए॥ १४॥ मुनि मार्गमें अचल होकर बैठ गए। उनका शरीर कटहलके फलके समान पुलकित हो गया। अर्थात् रोयें पूरी तरह खड़े हो गये जैसे कटहलके फलके ऊपर काँटेसे खड़े रहते हैं॥ १५॥ तब श्रीरघुनाथजी पास चले आये। अपने भक्तकी दशा देखकर मनमें प्रसन्न हुए॥ १६॥

टिप्पणी—१ "अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे०" इति। (क) जिसके हृदयमें जैसी भक्ति होती है वैसे ही प्रभु उससे मिलते हैं, यथा 'जाके हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती।१।१८५। ३।', 'प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना। १।१८५।५।', 'सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेषे'। इनके हृदयमें अतिशय प्रेम देखा अतः प्रकट हो गए। पुनः, (ख) ऐसा कहकर प्रभुके इस वचनामृतको चरितार्थ कर दिखाया कि—'बचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निःकाम। तिन्ह के हृदय कमल महुँ करौं सदा बिश्राम। ३।१६।' इस दोहेके सब अंग श्रीसुतीक्ष्णजीमें हैं।—(१) बचन करम मन मोरि गति, यथा 'मन क्रम बचन रामपद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक।' (२) 'भजन करहिं निःकाम', यथा 'अनुज जानकीसहित प्रभु चापबानधर राम। मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निःकाम। ३।११।' पुनः, यथा 'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी।' और प्रेम भजन है, यथा 'पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन', 'रामहिं केवल प्रेम पियारा।' अतः हृदय में प्रगट हो गए।—[१ प्र०—हृदयमें प्रगट हुए क्योंकि उस समय मुनि बहिर्दृष्टि नहीं थे। अथवा, इस भयसे प्रगट हुए कि अतिशय प्रेममें दशवीं दशा न प्राप्त हो जाय। २ मा० सं—प्रथम प्रेम देखकर 'तरु ओट' से तमाशा देखने लगे, पर वह प्रेम जब 'अतिशय' कोटिको पहुँचा तब प्रभुसे न रहा गया, पैदल कुछ क़दम चलकर पास पहुँचनेमें कुछ समय लगता। प्रभु इस किंचित् मात्र विलंबको भी सहन न कर सके; इसी कारण प्रभु हृदयमें ही ध्यानद्वारा प्रकट हो गए और 'प्रेम ते प्रगट

होहिं मैं जाना' इस जगदाचार्य्य श्रीशंकरजीके वचनको सत्य कर दिया। पर ध्यानद्वारा प्रकट होने मात्रसे प्रभुको सन्तोष नहीं हुआ, वे उनके निकट जाकर उनकी मनोवाञ्छित अभिलाषा पूर्ण करते हैं। केवल विलंबके कारण पहले हृदयमें साक्षात् प्रकट हुए।]

२ 'प्रगटे हृदय हरन भव भीरा' इति। (क) अभी हृदयमें ही अपना स्वरूप दर्शित किया, बाहर प्रत्यक्ष अभी नहीं प्रकट हुए। प्रकट रूपसे तो अभी 'देखहिं प्रभु तरु ओट लुकाई', वृक्षकी आड़में छिपे हैं, सामने नहीं हैं। हृदयमें प्रकट होना कहकर फिर उसका फल दिखाते हैं--'हरन भव भीरा' अर्थात् यह ध्यानका फल है। जिसके हृदयमें प्रभुका ध्यान बसता है उसको भवका भय नहीं रह जाता। (ख) प्रेममें मुनिको दिशाविदिशा कुछ न सूझती थी पर उनकी आँखें खुली हुई थीं। जब हृदयमें प्रभु प्रगट हुए तब मुनि ध्यानमें मग्न हो गए और उनकी आँखें बंद हो गयीं। आँखें बन्द होनेपर रघुवीरजी निकट गए।

३ 'पुलक सरीर पनसफल जैसा' इति। मिलान कीजिए--'रनरस बिटप पुलक मिस फूला'। कटहल-की उपमा देकर जनाया कि शरीर भरमें सघन पुलकावली हुई, रौंगटे पूर्णरूपसे खड़े हो गए। पुनः इस उपमासे यह भी जनाया कि जैसे कटहल भीतर रसीला होता है, वैसे ही मुनिका हृदय 'रामसनेह-सरस' है। (खर्रा--कटहलके भीतर अनेक कोए हैं, वैसे ही इनके हृदयमें प्रभु नहीं हैं मानों अनेक ब्रह्माण्ड ही हैं जिनको ये लेकर बैठ गए हैं।)

४ 'तब रघुनाथ०'। (क) श्रीरघुनाथजी प्रधान हैं इससे इन्हींका नाम दिया; पर हैं इनके साथ दोनों। यथा 'आगे देखि राम तन स्यामा। सीता अनुज सहित सुख धामा'। (ख) पहले प्रगट होना कहा और अब चलकर आना कहा। कारण कि अन्तर्यामी रूप चलता नहीं है अतः उसका ध्यानमें प्रकट होना कहा। और सगुणरूप चलता है इससे अब 'चलि आए' कहा। निकट आनेपर दशा देख पड़ी कि रौंगटे खड़े हैं। (ग) 'देखि दसा निज जन मन भाये' इति। 'देखि' का भाव कि वह दशा देखते ही बनती है, कहते नहीं बनती। पहले जो कहा था कि 'कहि न जाइ सो दसा' उसीका निर्वाह यहाँ भी है।

नोट--'(शाण्डिल्यसूत्रे) तत्परिशुद्धिश्च गम्यालोकवल्लिङ्गेभ्यः'। "(संस्कृतटीका) तत्परिशुद्धिः च लोक-वल्लिंगेभ्यो गम्या। तस्याः बुद्धेः भक्तेश्च परिशुद्धिः सांसारिक प्रेमवत् चिह्नेभ्यः गम्या। यथा लोके प्रेमतारतम्यं तथैव भगवत्कीर्त्तनादौ पुलकाश्रु पातादिभिर्भावैः भगवत्प्रेमरूपायाः भक्तेः प्रामाण्यमनुमीयते। न केवलं लोकवच्चिह्नानि किन्तु महर्षीणां स्मृतिभ्योऽपितानिलिंगानि प्रायशो वदयन्ते"। अर्थ--भक्तिकी बुद्धिका परि-शुद्धित्व अथच प्रेमभक्तिका प्रादुर्भाव तथा परिमाण सांसारिक प्रेमके जैसे लक्षणों ही से जाना जा सकता है। अर्थात् जैसे लौकिक रसोंके अनुभाव रोमांच अश्रुपातादिसे संसारके रसोंके प्रादुर्भावका अनुमान तथा लक्षण मनुष्योंमें प्रतीत हो जाता है, उसी प्रकार भगवत्प्रेमरूपाभक्तिके प्रादुर्भावका अनुमान ईश्वरके कीर्तनादिमें भक्तके रोमांच, प्रलाप, अश्रुपात, लय इत्यादि सच्चे अनुभावोंके चिह्नोंसे प्रतीत हो जाता है कि किस-किस भक्तमें भक्तिप्रेम कितना-कितना है अर्थात् किस भक्तकी भक्ति किस कोटितक पहुँच गई है, यह जाना जा सकता है। इससे ऊँची कोटिकी शक्ति सम्पादनके लिए भक्तजन यत्न और अभ्यास बढ़ाकर पूर्ण भक्तिके उच्च पदपर पहुँच सकते हैं। यह लौकिक प्रेमके उदाहरणमात्र ही नहीं समझें किन्तु बड़े-बड़े महर्षियोंके भी वचनोंसे ऐसा ही पाया जाता है कि रोमांच अश्रुपातादिसे भक्तोंकी भक्तिके प्रादुर्भावका ठीक-ठीक परिचय मिलता है (र० ब०)।

**मुनिहि राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यानजनित सुख पावा॥१७॥**
**भूप-रूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप देखावा॥१८॥**
**मुनि अकुलाइ उठा तब कैसें। बिकल हीन मनि फनिबर जैसें॥१९॥**

शब्दार्थ—दुरावा=छिपाया। जगावा-ध्यानकी निवृत्ति 'जागना' कहलाती है, यथा—'बीते संवत

सहस सतासी । तजी समाधि संभु अविनासी । रामनाम शिव सुमिरन लागे । जानेउ सती जगतपति जागे । १।६०।", 'छाँड़े बिसिष बिषम उर लागे । छूटि समाधि संभु तव जागे ।१।८७।'

अर्थ—श्रीरामजीने मुनिको बहुत प्रकार जगाया ( अर्थात् उनका ध्यान छुटाना चाहा )। वे ध्यानसे उत्पन्न होनेवाले सुखको प्राप्त हैं इससे न जगे ।१७। तब श्रीरामजीने अपने राजकुमाररूपको छिपा लिया और ( उसके बदले) हृदयमें चतुर्भुजरूपका दर्शन दिया ।।१८।। तब (देखिए कि) मुनि कैसे व्याकुल हो उठे जैसे बड़ा श्रेष्ठ सर्प मणिरहित हो जानेसे व्याकुल हो जाय ।।१६।।

टिप्पणी—१ (क) 'मुनिहि राम बहु भाँति जगावा ।०' इति । 'बहु भाँति' अर्थात् उच्चस्वरसे पुकारा, हाथ पकड़कर हिलाया, तथा जो जो उपाय समाधिसे उतारनेके हैं वे सब काममें लाये, इत्यादि । (ख) 'भूपरूप' अर्थात् धनुर्धारी द्विभुज राजकुमाररूप ।

२—'हृदय चतुर्भुज रूप देखावा । मुनि अकुलाइ उठा० ।।०' इति । (क) प्रथम कहा कि 'ध्यान जनित सुख पावा'; अब बीचमें चतुर्भुजरूप दिखाया तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ, वे अकुला उठे । इससे जनाया कि जो सुख श्रीरामरूपके ध्यानमें है वह चतुर्भुजरूप (विष्णु, नारायण आदि) के ध्यानमें नहीं है । जनकपुरवासिनियोंके वचनसे मिलान कीजिए—"बिष्नु चारिभुज बिधि मुखचारी । बिकट बेष मुखपंच पुरारी ।। अपर देव अस कोउ न आही । यह छबि सखि पटतरिये जाही ।१।२२०।' [ (ख) हृदयमें चतुर्भुजरूप प्रकट किया, यह क्यों ? मुनिको जगानेके लिए; उनकी अनन्यता विख्यात करनेके लिए; जिसमें लोग जान जायँ कि अनन्यता कैसी होती है । इसी तरह भरतजीका प्रेम प्रकट किया गया था जिसमें लोकको प्रेमकी शिक्षा हो, यथा 'प्रेम अमिय मंदर बिरह भरत पयोधि गँभीर । मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर । २।२३८।' यहाँ यह भी जनाया कि रामजीके ही चतुर्भुज आदि सब रूप हैं । दोनोंमें अभेद दिखाया । यथा 'द्विचत्वारिषडष्टानां दश द्वादश षोडश ।८। अष्टादशामी कथिता हस्ताः शङ्खादिभिर्युताः । सहस्रान्तास्तथा तासां वर्णवाहनकल्पना ।६। रा० पू० ता० १ ।' ] (ग) पूर्व कहा कि 'मुनि मग माँझ अचल होइ बैसा' अर्थात् मुनिका बैठ जाना कहा था; अतः यहाँ उठ खड़ा होना कहा, क्योंकि आगे प्रभुको देखनेपर उनके चरणोंपर 'लकुट इव' गिरना कहेंगे । (घ) जो पूर्व कहा था कि 'सो प्रिय जाके गति न आन की' वह यहाँ स्पष्ट चरितार्थ है । (ङ) 'बिकल हीन मनि फनिबर जैसे' । यथा 'सूखहिं अधर जरहिं सब अंगू । मनहु दीन मनि हीन भुअंगू ।', 'मनि लिए फनि जियै व्याकुल बेहाल रे' । वैसे ही ये व्याकुल और विह्वल हो गए । फणिवर मुनि हैं, सर्प-मणि रामभूपरूप है । चतुर्भुजरूप अन्य मणि रत्न पारस आदि हैं । जैसे सर्पका मणि कोई ले ले और उसके आगे अनेक और मणि पारस इत्यादि रख दे तो वह सर्प कदापि सुखी नहीं होता, वह तो अपना ही मणि पाकर सुखी होगा नहीं तो व्याकुल छटपटाता हुआ प्राण ही छोड़ देगा । वैसे ही रामभूपरूप निजमणि खोनेपर मुनि व्याकुल हो गये । पर उन्होंने चतुर्भुजमूर्त्तिको न ग्रहण किया—ऐसे रूपानन्य हैं। विशेष दोहा ३२ (१) में 'चतुर्भुजरूप' पर देखिए ।

नोट—१ यही अनन्यता है कि अपने इष्टको छोड़कर दूसरेसे चित्त व्याकुल हो जाय । यहाँ अनन्यताकी परख हुई । (प्र०, रा० प्र० श०) । २ करु०—उन्हीं रामचन्द्रजीने पहले द्विभुजरूप फिर चतुर्भुजरूप होकर हृदयमें प्रगट दर्शन दिए तब अकुलाना कैसा ? तत्त्वस्वरूप तो एक ही था, केवल द्विभुज चतुर्भुजका भेद था ? उत्तर यह है कि परमानन्य उपासक एक ही स्वरूपमें अनन्य हैं, वे रूपान्तर नहीं सह सकते । देखिए नृसिंहरूप धारण करनेपर लक्ष्मीजी उनको शान्त करने नहीं गईं, यही बोलीं कि ये हमारे उपासनाके रूप नहीं हैं यद्यपि हैं भगवान् ही । ३ ☞ पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि परात्पर परब्रह्म साकेतविहारी श्रीरामके ही श्रीमन्नारायण, विष्णुभगवान्, महाविष्णु आदि सब सात्विक रूप हैं । वैष्णवोंमें सबको अभेद माननेकी आज्ञा है । भगवान्का द्विभुजरूप परात्पर नारदपंचरात्र आदि ग्रन्थोंमें कहा गया है । जब वे प्रथम सृष्टि रचनेकी इच्छासे सगुणरूप हुए और जलमें उन्होंने शयन किया तब, अथवा, सृष्टि

बनानेके बाद अन्तर्यामी होनेके कारण उनका 'नारायण' नाम पड़ा। यथा 'नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः। नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुः बुधाः ॥' (महाभारत)। अर्थात् नर-शब्दवाच्य सनातन परमात्मा है और नरसे उत्पन्न हुए तत्त्वोंको नार कहते हैं, उनमें निवास करनेसे उस परमात्माका नाम नारायण पड़ा। द्विभुज प्रभुका परात्पर परब्रह्म होना प्रमाण सिद्ध है। यथा 'द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धीरो धनुर्धरः।' इति रामतापिनी उपनिषद। पुनः, 'द्विभुजमेकवक्त्रं रूपमाद्यमिदं हरेः। इति पञ्चरात्रे।' एवं 'परंतु द्विभुजं ज्ञेयं०' इति संकर्षण संहितायाम्। इत्यादि। इस विषयमें बालकांडमें विस्तारसे लिखा जा चुका है। ईसाई और मुसलमान भी भगवान्‌का नराकार रूप मानते हैं। बाइबल और कुरानमें इसका स्पष्ट उल्लेख है और भारतवर्षमें तो सृष्टिके आदिसे ऋषि ऐसा कहते आए हैं। सुतीक्ष्णजी दाशरथी श्रीरामके उपासक हैं अतः वे अन्यरूपसे व्याकुल हो गए। पर यह भी स्मरण रहे कि वैष्णव किसी अन्यरूपकी निन्दा नहीं करता। वे सब आदरणीय हैं पर जैसे पतिव्रताका अपने पतिमें ही अनन्य भाव होता है वैसे ही भक्तको अपने पति स्वामीमें अनन्यभाव रखना चाहिए।

आगे देखि राम तन स्यामा। सीता अनुज सहित सुखधामा ॥२०॥
परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेम मगन मुनिवर बड़भागी ॥२१॥
भुज बिसाल गहि लिये उठाई। परम प्रीति राखे उर लाई ॥२२॥
मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला। कनक तरुहि जनु भेंट तमाला ॥२३॥
राम बदनु बिलोक मुनि ठाढ़ा। मानहु चित्र माँझ लिखि काढ़ा ॥२४॥

अर्थ—श्रीसीताजी और लक्ष्मणजी सहित सुखके स्थान श्याम शरीरवाले श्रीरामचन्द्रजीको आगे देख कर बड़े ही भाग्यवान् मुनिश्रेष्ठ प्रेममें मग्न होकर लकुटीकी तरह गिरकर चरणोंमें लग गए। २०,२१। प्रभुने अपनी लम्बी भुजाओंसे उन्हें पकड़कर उठा लिया और परम प्रेमसे हृदयमें लगाए रक्खा। २२। मुनिसे भेंट करते हुए कृपालु रामजी ऐसे शोभित हो रहे हैं मानों सुवर्णके (वा, धतूरेके) वृक्षसे तमालवृक्ष भेंट कर रहा हो। २३। मुनि खड़े हुए श्रीरामचन्द्रजीके मुखका दर्शन कर रहे हैं। (ऐसे दिख रहे हैं) मानों तसवीरमें लिखकर उनकी शकल काढ़ी गई है। (अर्थात् टकटकी लगाए निमेषरहित देख रहे हैं जैसे तसवीरके चित्रकी आँखें एकटक रहती हैं, न शरीर हिले न कोई अंग)। २४।

टिप्पणी—१ 'सीता अनुज सहित सुखधामा' इति। [ (क) 'राम तन स्यामा' पाठसे यह अर्थापत्ति होती है कि चतुर्भुजमूर्त्ति जो प्रकट हुई थी उसका तन भी श्याम न था। कारण कि त्रेतामें विष्णु भगवान्‌का पीतरंग रहता है। (वि० त्रि०) ]। (ख) पहिले ध्यानमें सुख पाना कहा अब साक्षात् आगे देख पड़े तब 'सुख धामा' विशेषण दिया। तात्पर्य कि ध्यानसे साक्षात् दर्शनमें अधिक सुख है। (ग) पुनः, 'सुखधाम' से जनाया कि पहले ध्यानमें सुख हुआ था, फिर चतुर्भुज रूपका ध्यान हृदयमें प्रकट होनेसे दुःख हो गया था, अब मुनि फिर सुखी हुए। [ समाधि भंग करनेवालेपर समाधिस्थका भयानक क्रोध होता है। जैसे शंकरजीको कामदेवपर हुआ था। मुनिने नेत्र खोलकर देखना चाहा कि किसने समाधि भंग की। तो आगे परम प्रिय सुखधाम श्रीरामजीको 'सीता अनुज सहित' पाया। मनोरथसे अधिककी प्राप्ति हुई। (वि० त्रि०) ] (घ) 'परेउ लकुट इव' अर्थात् साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। जैसे छड़ी बिना सहारे खड़ी की जाय, तो खड़ी नहीं रह सकती वरन् शीघ्र पृथ्वीपर गिर पड़ती है वैसे ही ये चरणोंपर गिरे। इसी तरह भरतजीके संबंधमें कहा है—'पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं'। लकुट पतला होता है। इस पदसे जनाया कि मुनि तप आदिसे बहुत दुर्बल हो गए हैं जैसे भरतजी वियोगसे कृश हो गए थे।—विशेष अ० २४०.२ और बा० १४८(७) में देखिए। छड़ी आपसे नहीं उठती, उठानेसे उठती है, इसीसे प्रभु इन्हें अपने

हाथोंसे उठावेंगे। (ङ) 'प्रेम मगन मुनिवर बड़ भागी' ।—चरणोंकी प्राप्तिके कारण इनको 'बड़भागी' कहा। प्रभुके चरणोंमें जो लगते हैं वे ही वड़भागी हैं और प्रभुपद-विमुख अभागी हैं। यह विशेषण या इसका पर्याय सातों कांडोंमें चरणोंके सम्बन्धमें प्रयुक्त हुआ है। यथा-(१) 'अतिसय वड़भागी चरननि्ह लागी जुगल नयन जलधार वही ।।१।२११।', (२) 'ते पद पखारत भाग्यभाजन जनक जय जय सब कहैं ।।१.३२४।', (३) 'भूरिभाग-भाजन भयेहु मोहि समेत०० । जौं···कीन्ह रामपद ठाँउ ॥ २।७४ ।', (४) 'चरन सरोज पखारन लागा ॥०० एहि सम पुन्यपुंज नहिं दूजा ॥ २।१०१ ।', (५) 'सोइ गुनज्ञ सोई वड़भागी। जो रघुवीरचरन अनुरागी ॥ ४।२३ ।', (६) 'अहोभाग्य मम अमित अति···देखेउँ नयन०० जुगलपदकंज ॥ ५।४७ ।', (७) 'वड़भागी अंगद हनुमाना। चरनकमल चापत विधि नाना ॥ ६।१० ।', (८) 'अहह धन्य लछिमन वड़भागी। रामपदारविंद अनुरागी ॥ ७।१ ।'

इन चरणोंसे विमुख अभागे हैं, यथा 'ते नर नरक रूप जीवत जग भवभंजन पद विमुख अभागी ।' (वि० १४०)।

नोट—१ 'प्रेम मगन' शब्द ऐसे ही प्रसंगोंमें और भी देखिए। यथा 'प्रेम मगन मुख वचन न आवा। पुनि पुनि पदसरोज सिर नावा। ३४।८-९ ।' (श्रीशवरीजी चरणोंमें लपटी हैं), 'मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही। ५।१५।८ ।', 'गात हरषि हनुमंत। ५।३२ ।···वार वार प्रभु चहइ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठव न भावा।···कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। ३३।१-४ ।', 'बारि बिलोचन पुलकित गाता ॥···भयउ विदेहु विदेह बिसेषी ॥ प्रेममगन मन जानि नृप···। १।२१५ ।', 'सब निज भाग सराहन लागे ॥ हम सम पुन्य पुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे ॥ प्रेम मगन तेहि समय सब···। २।२७४ ।' इत्यादि। चरणोंमें लगी हुई अहल्याको वड़भागी कहते हुए कविने लिखा है—'अतिसय बड़भागी चरननि्ह लागी जुगल नयन जल धार वही। १।२११ ।' अतः उपर्युक्त उद्धरणोंके भाव यहाँ 'प्रेम मगन वड़भागी' में जना दिये गए। अर्थात् मुनिवरको तनकी सुध नहीं, शरीर पुलकित है, नेत्रोंसे प्रेमाश्रु प्रवाहद्वारा प्रभुके चरणकमलोंका प्रक्षालन हो रहा है, चरणोंको छोड़कर उठनेकी इच्छा नहीं होती, कण्ठ गद्‌गद है, मनमें अपने अहोभाग्य समझ रहे हैं, मुझ ऐसे शठपर ऐसी दया, मुझे अपना जन जानकर दर्शन दिया, इत्यादि इत्यादि सब भाव इन तीन शब्दोंसे सूचित किये हैं। 'प्रेम मगन' से प्रेमसे अधीर हो जाना जनाया जैसा आगे दोहेके 'तब मुनि हृदय धीर धरि' से स्पष्ट है।

टिप्पणी—२ 'परम प्रीति राखे उर लाई' इति। 'राखे' पदसे देरतक छातीसे लगाए रहना जनाया, यथा 'करत दंडवत लिए उठाई। राखे वहुत वार उर लाई। ४१।१० ।' यहाँ अन्योन्य प्रीति दिखाई। मुनिने अत्यन्त प्रेमसे श्रीरामजीको हृदयमें रखा, यथा 'अतिसय प्रीति देखि रघुवीरा। प्रगटे हृदय हरन भवभीरा ॥ ···जाग न ध्यानजनित सुख पावा ।', वैसे ही श्रीरामजीने मुनिको देरतक हृदयसे लगा रखा—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इति गीतायाम्। मुनिमें परम प्रेम है; अतः परम प्रीतिसे आप भी मिले।

३ 'मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला ।०' इति। (क) यहाँ सेवकके मनोरथको पूर्ण किया। मनोरथ था कि 'मिलिहहिं निज सेवक की नाईं', वही यहाँ हुआ। दूसरा मनोरथ था कि 'होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि वदन०', वह मनोरथ भी पूर्ण हुआ, यथा 'राम वदन विलोक मुनि ठाढ़ा ।' दोनों मनोरथों-को यहाँ चरितार्थ कर दिखाया। (ख) कृपालु प्रभु मुनिसे मिल रहे हैं न कि मुनि कृपालुसे, मुनि तो चरणों-पर गिरे हैं। यही बात उत्प्रेक्षासे दिखाई है कि मानो तमाल वृक्ष जो श्याम वर्ण है, स्वर्ण-वृक्षसे भेंट रहा है। यहाँ वर्णमात्रकी ही उपमा नहीं है वरन् यह भी दिखाते हैं कि दोनों विदेह दशाको प्राप्त हो स्थावर सरीखे जड़वत् हो गए हैं। इसीलिए जड़वृक्षकी उत्प्रेक्षा की गई।❀ (ग) 'सोह कृपाला' अर्थात् इस भेंटसे

❀ 'तमाल'—१५-१६ हाथ ऊँचा सुन्दर सहावदार वृक्ष प्रायः पहाड़ों और कहीं-कहीं यमुनातटपर भी

कृपाल प्रभुकी शोभा हुई। दीनोंपर दया करते हैं; यह उनकी कृपालुता है। जिनके चरणोंके स्पर्शके लिए ब्रह्मादिक तरसते हैं वे ही मुनिको उठाकर उनका आलिङ्गन कर रहे हैं।

टिप्पणी—४ यहाँ श्रवणादि नवों प्रकारकी भक्तियाँ मुनिमें दिखाई हैं। (१)—श्रवणं, यथा—'प्रभु आगवन श्रवन सुनि पावा'। (२) कीर्तनं, यथा 'कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई'। (३) विष्णोः स्मरणं, यथा 'एक बानि करुनानिधानकी। सो प्रिय०'। (४) पाद सेवनं, यथा 'मन क्रम बचन रामपद सेवक'। (५) अर्चनं, यथा 'पूजा बिबिध प्रकार'। (६) वन्दनं, यथा 'कहि मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी।०'। (७) दास्यं, यथा 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक०'। (८) सख्यं, यथा 'होइहैं सुफल आजु मम लोचन'; इसको सख्यमें लिया क्योंकि इसमें प्रतीति है जो मित्रमें ही होती है, यथा 'सुतकी प्रीति प्रतीति मीत की०' (विनय)। [आगे दोहा ११ में सख्यके उदाहरणमें पंडितजीने 'मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला।....' यह चौपाई दी है। और कोई 'देखि कृपानिधि मुनि चतुराई। लिए संग बिहसे द्वौ भाई। १२.४।' इसको सख्यमें लेते हैं।] (९) आत्मनिवेदन, यथा 'तुरे लकुट इव०'। विशेष दोहा ११ में देखिए।

नोट—२ श्रीमद्भागवतकी नव प्रकारकी भक्तियोंमेंसे एक-एक भक्तिका एक ही एक उदाहरण दिया गया है जिसका भाव यह हुआ कि एकको एक ही भक्ति प्राप्त हुई, सब नहीं। यथा "श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासिकिः कीर्तने। प्रह्लादः स्मरणे तदंघ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने॥ अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येथ सख्येऽर्जुनः। सर्वं स्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषा परा॥"—[इसीको नाभाजीने यों लिखा है—"पद पराग करुणा करो जे नेता नवधाभगति के॥ श्रवण परीक्षित, सुमति व्याससावक सुकीर्तन। सुठि सुमिरन प्रह्लाद, पृथु पूजा, कमला चरननि मन॥ वन्दन सुफलकसुवन, दास दीपति कपीश्वर। सख्यत्व पारथ, समर्पण आतम बलिधर॥ उपजीवी इन नाम के एते त्राता अगति के। पद पराग०॥१४॥"] पर सुतीक्ष्णजीमें नवों भक्तियाँ हैं। खर्रा।

३—'मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढ़ा' इति। 'जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी। १.२६४ (४)।' देखिए। पुनः, यथा 'राम बिलोके लोग सब चित्र लिखे से देख। १.२६०।'

**दोहा—तब मुनि हृदय धीर धरि गहि पद बारहिं बार।**
**निज आश्रम प्रभु आनि करि पूजा बिबिध प्रकार॥१०॥**

अर्थ—तब मुनिने हृदयमें धीरज धरकर और बारम्बार प्रभुके चरणोंको पकड़कर प्रभुको अपने आश्रममें लाकर अनेक प्रकारसे उनकी पूजा की॥१०॥

टिप्पणी—१ 'धीर धरि' क्योंकि प्रेमसे अधीर हो गए थे। इस साँवली मूर्तिको देखकर सभीका धैर्य छूट जाता है, यथा 'देखि भानुकुलभूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान। १.२३३।', 'धरि धीरज एक आलि सयानी।', 'मंजु मधुर मूरति उर आनी। भई सनेह सिथिल सब रानी॥ पुनि धरि धीरज कुअँरि हंकारी', 'पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥ पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही। ४.२।', 'रामलषन उर कर बर चीठी। रहि गए कहत न खाटी मीठी। पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची', 'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥ प्रेम मगन...धरि धीर। १.२१५।' तथा यहाँ 'राम बदन बिलोक मुनि ठाढ़ा। मानहुँ चित्रमाँझ लिखि काढ़ा॥ तब०।'

२ 'गहि पद बारहिं बार' इससे प्रेम दिखाया। प्रेमविवशताकी यह भी एक दशा है, यथा 'प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा। ३४.६।' (शबरीजी), 'बारबार नावइ पदसीसा।

---

पाया जाता है। श्यामतमाल कम मिलता है। इसकी आबनूसकी तरह काली लकड़ी होती है। वि० त्रि० जी 'कनकतरु' का अर्थ धतूरेका वृक्ष करते हैं। धतूरेका फल भी कटहलके वृक्षके समान कंटकित होता है। इसकी उपमासे सूचित होगा कि मुनिजीका तन इस समय भी पुलकित है।

४.७।' (सुग्रीव), 'देखि रामछवि अति अनुरागीं। प्रेम बिवस पुनि-पुनि पग लागीं।१.३३६।' (सुनयनाजी)।

टिप्पणी—३ मुनि यद्यपि परमार्थमें लीन हैं तथापि व्यवहार भी प्रबल है। अतएव व्यवहारके लिए उन्होंने धैर्य धारण किया। चरणोंमें बारम्बार पड़कर आश्रमपर लाए। (इस तरह बारम्बार चरणोंपर पड़ना आश्रम पर लानेके लिये भी था)। 'बिबिध प्रकार' अर्थात् षोड़शोपचार पूजन—३.३(८) में देखिए। वा, जो जो विधियाँ शास्त्रोंमें और संहिताओंमें कही गई हैं, उसके अनुसार प्रायः सभी विधियोंसे पूजा की। (खर्रा)।

४ जो प्रारम्भमें कहा था कि 'मन क्रम बचन रामपद सेवक' वह तीनों प्रकार इस प्रसंगमें दिखाये हैं। मन-'सपनेहु आन भरोस न देवक'। कर्म-'परेउ लकुट इव', 'करि पूजा…'। वचन-'मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा…', 'कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी…' इत्यादि।

पं० शिवलालपाठकजी लिखते हैं—"साखी दूर किमर्थ वन पथो पाथ पथ दूर। किं साखी उभ एक ही, वन पुरादिनहिं पूर।१।" अर्थात् अन्य कांडोंमें प्रायः थोड़ी चौपाइयोंके बाद दोहा रहता है किन्तु इस कांडमें अधिक चौपाइयोंके बाद दोहा आता है। इसका कारण यह है कि वनमें यात्रीको जल दूर-दूरपर मिलता है। यह वनकांड है, इसीसे इसमें विश्रामपद दोहा दूर-दूर पर मिलता है। फिर इस कांडमें दोहे भी कहीं-कहीं दो-दो एक साथ हैं और कहीं एक ही, इसका कारण यह है कि वनमें पुरवा कहीं एक घरका रहता है, कहीं दो घरका, उसी प्रकार वनकांडकी रचनामें विश्रामप्रद दोहोंकी रचना है। (अ० दी० च०)।

नोट—१ चौपाईको पुरइन और दोहोंको कमल कहा है। पुरइनोंमें कमल इसी प्रकारके होते हैं। कोई नियमसे नहीं होते। वैसे ही कहीं दो चौपाइयोंपर, कहीं ७ पर, कहीं ८ पर, कहीं बीस तीस आदिपर छन्द सोरठा दोहा रूपी कमल आए हैं। कहीं-कहीं पुरइनके बिना ही कमल खिला है।

**कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी। अस्तुति करौं कवन बिधि तोरी ॥१॥**
**महिमा अमित मोरि मति थोरी। रबि सन्मुख खद्योत अँजोरी ॥२॥**
**श्याम तामरस दाम शरीरं। जटा मुकुट परिधन मुनिचीरं ॥३॥**
**पानि चाप सर कटि तूनीरं। नौमि निरंतर श्रीरघुबीरं ॥४॥**

शब्दार्थ—'खद्योत'=जुगनू। अंजोरी=उजाला, प्रकाश। तामरस=कमल। दाम=समूह। (पं०रा०कु०)।= माला; यथा 'बिच बिच मुकुतादाम सुहाए। १।२८८।३।', 'धूरि मेरु सम जनक जम ताहि ब्याल सम दाम। १।१७५।' 'परिधन' (परिधानं)=नीचे पहननेका कपड़ा, धोती आदि। यथा 'भुज प्रलंब परिधन मुनिचीरा', 'सीस जटा सरसीरुह लोचन बने परिधन मुनिचीर'।

अर्थ—मुनि कहते हैं कि हे प्रभो! मेरी विनती सुनिए। मैं किस प्रकार आपकी स्तुति करूँ? ॥१॥ आपकी महिमाकी हद नहीं है और मेरी बुद्धि थोड़ी है। जैसे सूर्यके सामने जुगनूका प्रकाश ॥२॥ श्याम-कमलसमूहके समान श्याम शरीर, जटाओंका मुकुट और मुनिवस्त्र (वल्कल आदि) कटिसे नीचे धारण किए हुए, हाथोंमें धनुषबाण और कमरमें तर्कश कसे हुए, श्रीरघुवीर! आपको मैं निरंतर (सदा, बिना किंचित् अंतर या बीच पड़े हुए) नमस्कार करता हूँ ॥३-४॥

प० प० प्र०—'सुनु बिनती' 'तोरी' ऐसे एकवचनके प्रयोग श्रीसुतीक्ष्णजी और श्रीशरभंगजीके मुखसे ही निकले हैं। वाल्मीकि, अत्रि और अगस्त्य आदिके सम्भाषणमें बहुवचनके प्रयोग मिलते हैं। एकवचनका प्रयोग प्रेमकी पराकाष्ठा तथा प्रभुमें मातृभाव और अपनेमें 'बालकसुत'-भावका सूचक है।

टिप्पणी—१ 'अस्तुति करौं कवन बिधि तोरी। महिमा अमित००' इति। (क) पूजाके विषयमें कहा कि 'पूजा बिबिध प्रकार' की अर्थात् षोड़शोपचार पूजन किया। पूजाके उपरान्त स्तुति करनी चाहिए, वह भी पूजाका अंग है। स्तुतिके विषयमें मुनि कहते हैं कि मैं स्तुति किस प्रकार करूँ अर्थात् वह तो किसी

प्रकार मुझसे नहीं बनती। कारण कि स्तुतिमें बड़ी बुद्धि चाहिए, यथा 'मुनिवर परम प्रवीन जोरि पानि अस्तुति करत। ३।' परम प्रवीण लोग ही आपकी स्तुति कर सकते हैं और 'मोरि मति थोरी' अर्थात् मैं क्षुद्र-बुद्धि हूँ, तब कैसे कर सकूँ? महिमा अमित है। यथा 'महिमा अमिति वेद नहि जाना। मैं केहि भाँति कहउँ भगवाना। ७।८४।५।' (वसिष्ठवाक्य), 'महिमा नाम रूप गुनगाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा। ७।९१।३।' (ख) 'रबि सन्मुख खद्योत अंजोरी'। यहाँ 'महिमा अमित मोरि मति थोरी' उपमेय और 'रबि सन्मुख खद्योत अँजोरी' उपमान वाक्य है। जैसे सूर्य्यके प्रकाशके आगे जुगनूका प्रकाश नहीं हो सकता वैसे ही आपकी अतुलित महिमाके आगे मेरी बुद्धि किंचित् भी प्रकाश नहीं करती। यह दृष्टान्त अलंकार है। [सूर्यके सामने चन्द्रमा और तारागण मलिन पड़ जाते हैं। वा, मणि सरीखे जान पड़ते हैं तब भला जुगनूकी क्या बात? शिवसनकादि, शेषशारदादिकी मति चन्द्रादि-सी है, जब ये ही उस अपार महिमाके आगे कुछ नहीं कह सकते, दंग रहते हैं, तब मैं कैसे कुछ कह सकूँ? यहाँ दीनताके कारण मुनिने अपनेमें प्रवीणमतिकी हीनता कही। जैसे गोस्वामीजीने अपनी अत्यन्त दीनता हीनता कही और काव्य उनका सर्वोपरि है वैसे ही सुतीक्ष्णजीकी स्तुतिको जानिए। यह कार्पण्य शरणागतिका लक्षण है। (खर्रा)]

नोट—१ 'श्याम तामरस दाम शरीरं' इति। अरण्य और सुन्दरकाडोंको छोड़ अन्य किसी काण्डमें इस प्रकारकी उपमा नहीं है। सुन्दरकाण्डमें महारानीजी रावणसे कहती हैं—'श्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभु भुज करिकर सम दसकंधर। ५।१०।३।' दोनों अनन्यगतिक भक्तोंके ही प्रसंग हैं।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि "इस प्रसंगमें तमालवृक्षकी उपमा पहले ही आ चुकी है। तमाल वृक्ष बहुत ऊँचा नील वर्णका होता है तथापि उँचाईके प्रमाणमें उसकी चौड़ाई बहुत कम होती है, वह पतला-सा दीखता है। (हारकी उपमा देनेमें) भाव यह प्रतीत होता है कि भगवान्‌का शरीर सुतीक्ष्णजीके आश्रममें आनेतक (इतने दिनोंके वनवाससे) पतला हो गया था तथापि मुख और नेत्रोंकी कान्ति एवं शरीरके बलमें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं आई थी। यह वनवासका परिणाम बताया। आगे श्रीसीताजीके विरहसे दुर्बलता भी आ जायगी, यथा 'बिरह बिकल बलहीन मोहि''। ३७।"

टिप्पणी—२ 'जटा मुकुट परिधन मुनिचीरं', 'पानि चाप-सर कटि तूनीरं' और 'श्रीरघुवीरं'—इन तीनों चरणोंका तात्पर्य यह है कि पिताके वचन पालन करनेके लिए आपने मुनिवेष धारण किया, पृथ्वीका भार हरनेके लिये वीररूप धारण किया। इन दोनोंमें आपकी शोभा है यह जनानेके लिए 'रघुवीरं' के साथ 'श्री' विशेषण दिया। ['श्याम तामरस०' से अवतार सूचित किया—(खर्रा)। श्रीरघुवीर = श्रीसीता सहित पंचवीरतायुक्त रघुवीर।]

**मोह बिपिन घन दहन कृसानुः। संत सरोरुह कानन भानुः ॥५॥**
**निसिचर करि बरूथ मृगराजः। त्रातु सदा नो भव खग बाजः ॥६॥**
**अरुन नयन राजीव सुवेसं। सीता नयन चकोर निसेसं ॥७॥**
**हर हृदि मानस बालमरालं*। नौमि राम उर बाहु बिसालं ॥८॥**

शब्दार्थ—नो = हमारी। निसेस = निशि + ईश = रातका स्वामी, चन्द्र। विशाल = चौड़ी = लम्बी।

अर्थ—मोहरूपी घने वनको जलानेके लिए अग्निरूप, सन्तरूपी कमलवनके (प्रफुल्लित करनेको) सूर्य्यरूप ॥५॥ निशाचररूपी हाथियोंके झुंडके (दलन करनेके) लिये सिंह और भवरूपी पक्षी (को चंगुलमें लपेटकर मार डालने) के लिये बाजरूप ऐसे आप हमारी सदा रक्षा करें ॥६॥ लाल कमलके समान नेत्र और

* भा० दा० और का० में यही पाठ है। 'राजमराल' पाठ को० रा० और ना० प्र० का है।

सुन्दर वेषवाले, श्रीसीताजीके नेत्र रूपी चकोरोंके चन्द्र, शिवजीके हृदयरूपी मानसरोवरके बालहंस, विशाल छाती ( वक्षःस्थल ) और भुजाओंवाले श्रीरामचन्द्रजी ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ ॥७-८॥

टिप्पणी—१ ( क ) 'मोह बिपिन घन दहन कृसानुः । संत...' इति । अर्थात् मोहादि दोषोंको नाश करके आप सन्तोंको सुखी करते हैं । भीतरके शत्रुओं (मोहदशमौलि आदि) का विनाश कहकर तब बाहरके खलोंका नाश कहते हैं—'निसिचर करिबरूथ मृगराजः' । ( ख ) मोहको वनका रूपक जहाँ-तहाँ कई ठौर दिया है, यथा 'सुनु मुनि कह पुरान बुध संता । मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता । ४४.१ ।', 'बन बहु बिषम मोह मद माना । १.३८.६ ।' ( ग ) भीतर बाहरके शत्रुओंका नाश कहकर तब भवका नाश कहा । ( यहाँ परंपरित रूपक है । )

प० प० प्र०—१ 'निसिचर करि बरूथ मृगराजः' इति । श्रीराम लक्ष्मणजीके लिये विश्वामित्रजीके साथ प्रयाणके समयसे परशुरामगर्वहरणतक 'पुरुषसिंह', 'सिंवकिसोर', 'रघुसिंह' विशेषण आए हैं पर वहाँ वे मृगराज नहीं हैं । फिर अयोध्याकांडकी समाप्तितक 'पुरुषसिंह' भी देखनेमें नहीं आता । कारण कि विवाह प्रसंग शृङ्गार और भक्तिरस प्रधान है और अयोध्याकांड करुण और भक्तिरस प्रधान है । अरण्यमें मृगवृन्द और उनका विनाशक सिंह रहता है वैसे ही इस कांडमें दण्डकारण्यमें निशाचररूपी मृग हैं, अतः यहाँसे मृगराज, केशरी, सिंह आदि विशेषण मिलेंगे ।

२ 'त्रातु सदा नो'—आगे और पीछे 'नौमि' एकवचन और यहाँ तथा आगे, 'नो' बहुवचनका प्रयोग करके जनाया कि नमन तो मैं ही कर रहा हूँ, पर रक्षा सभी मुनियों सहित अपनी चाहता हूँ ।

टिप्पणी—२ 'अरुन नयन राजीव सुवेसं ।...' इति । आप कमलनयन हैं, आपका सुन्दर वेष है और आप सीता-नयन-चकोरके चन्द्र हैं, यथा 'अधिक सनेह देह भै भोरी । सरद ससिहि जनु चितव चकोरी । १.२३२ ।' 'अरुण' शृंगार और वीर दोनोंमें घटित होता है । (श्रीसीताजी साक्षात् देखती हैं इससे चन्द्र चकोरकी उपमा दी । शिवजी ध्यानमें देखते हैं इससे उनके हृदय-मानसका हंस बताया । वि० त्रि०) ।

३ ( क ) यहाँ प्रथम शोभा कहकर बहुत पीछे 'सीतानयन चकोर निसेसं' कहा है, यह भी साभिप्राय है । प्रथम ग्रीष्म, फिर वर्षा तब शरद् होता है । उसी क्रमसे यहाँ कह रहे हैं । 'ग्रीषम दुसह रामबनगमनू । पंथकथा खर आतप पवनू ।'—वनगमन ग्रीष्म है; यहाँ 'जटा मुकुट ...' वनवेष प्रथम कहा । फिर निशाचर युद्ध कहा—'निसिचर करिबरूथ मृगराजः ।' यह वर्षा है, यथा 'बरषा घोर निसाचर रारी । सुरकुल-सालि सुमंगलकारी ।' वर्षाके पश्चात् शरद् है । वह शरद् है—'राम-राजसुख बिनय बड़ाई । बिसद सुखद सोइ सरद सुहाई'—( बा० ४२ ) । और, यहाँ भी शरद्के चन्द्रसे मुखारविन्दकी उपमा अंतमें दी है । जैसे ग्रीष्म और शरद्के बीचमें वर्षा वैसे ही यहाँ वनगमन और श्रीसीतामिलापके बीचमें निशाचरवध आया । निशाचरवध हो तब श्रीसीताजी मिलें, तब आपके मुखचन्द्रके लिए उनके नयन चकोर हों । अतः प्रथम 'श्रीरघुबीर' कहकर इतने पीछे 'सीतानयन चकोर निसेसं' कहा । रावण मरे तब तो इनका दर्शन हो, अतः राक्षसोंका मरण कहकर तब 'सीतानयन...' कहा । ( ख ) यहाँ अग्नि, सूर्य्य और चन्द्र तीनों तेजस्वियोंकी उपमा दीं—'मोह बिपिनघन दहन कृसानुः । संत सरोरुह कानन भानुः', 'सीतानयन चकोर निसेसं' । तीनों तेजस्वी हैं, यथा 'तेजहीन पावक ससि तरनी' । ये ही तीन तेज और प्रकाशयुक्त हैं, इन तीनोंकी उपमा देकर सूचित किया कि आप सर्व-तेजोमय हैं ।

नोट—१ 'श्याम तामरस दाम सरीरं ।...श्रीरघुबीरं' में स्वरूपका वर्णन कर नमस्कार किया । 'मोह बिपिन घन दहन...बाजः' में गुण वर्णनकर भवसे रक्षा चाही । 'अरुन नयन...बाहु बिसालं'में फिर रूपका वर्णनकर नमस्कार करते हैं । कृपाको उत्तेजित करनेके लिये 'राजीव नयन' कहा । 'राजीव नयन'के भाव पूर्व आ चुके हैं । जटा वल्कलधारी वेष सुन्दर है, यथा 'बलकल बसन जटिल तनु स्यामा । जनु मुनिबेष कीन्ह रति कामा । २।२३६।७ ।' अतः 'सुवेषं' कहा ।

टिप्पणी—४ ( क ) 'हरहृदिमानस बालमरालं'। बालकका पालनपोषण होता है वैसे ही शिवजी हृदयमें आपका पालन निरंतर करते हैं। [ यहाँ बालहंस कहकर जनाया कि वे बालरूपके उपासक हैं—'बंदउँ बालरूप सोइ रामू'। (प्र०)। पुनः, शरभंगजीने इनको 'संकर मानस राजमराला' कहा था। सुतीक्ष्णजी 'बाल मराल' कह रहे हैं। कारण कि शरभंगजी बूढ़े मुनि थे और ये मुनि तो शिष्य हैं। ( वि० त्रि० ) ] ( ख ) 'नौमि राम उर बाहु बिसालं'। दासोंको भुजाओंसे उठाकर हृदयसे लगाते हैं; अतः उर और बाहुकी विशालता कही। यथा 'दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा। ५.४६.२।', 'भुज बिसाल गहि लिये उठाई। परम प्रीति राखे उर लाई'। पहले पंजा व चंगुल कहा। क्योंकि बाज चंगुलसे पक्षियोंको झपट लेता है। अब विशाल भुज कहा क्योंकि ये सर्वत्र पहुँचती हैं, ऐसी लंबी हैं कि भुशुण्डिने सर्वत्र उनको अपने पीछे देखा और विभीषणको दूरसे ही उठा लिया—सु० ४६ (२) देखिए।

**संसय सर्प ग्रसन उरगादः। समन सुकर्कस† तर्क बिषादः ॥९॥**
**भव-भंजन रंजन-सुरजूथः। त्रातु सदा नो कृपाबरूथः ॥ १० ॥**
**निर्गुन सगुन बिषम सम रूपं। ज्ञान गिरा गोतीतमनूपं‡ ॥ ११ ॥**
**अमलमखिलमनवद्यमपारं। नौमि राम भंजन महिभारं ॥ १२ ॥**

शब्दार्थ—उरगादः=उरग (सर्प) को खानेवाला; गरुड़। सुकर्कश=अत्यन्त कठोर, प्रचंड, यथा 'कर्कशं कठिनं क्रूरं कठोरं निष्ठुरं दृढमित्यमरः।' सु=अत्यंत। तर्क—अत्रिस्तुतिमें देखिए। बरूथ=झुंड, समूह। अखिल=सम्पूर्ण, सर्वाङ्ग पूर्ण, अखण्ड। अनवद्य=निर्दोष, बेऐब, अनिंद्य।

अर्थ—संशयरूपी सर्पको निगल जानेके लिये गरुड़रूप, अत्यन्त कठिन तर्कनाओंके दुःखको नाश करनेवाले, भवको तोड़ने ( नष्ट करने, मिटाने ) वाले और देववृन्दको आनन्द देनेवाले, कृपाके समूह आप मेरी सदा रक्षा करें। ९, १०। निर्गुण, सगुण विषम और समरूप, ज्ञान, वाणी और इन्द्रियोंसे परे उपमा-रहित, निर्विकार, अखिल, निर्दोष, अनंत, पृथ्वीके बोझके नाशक श्रीरामचन्द्रजी! आपको मैं प्रणाम करता हूँ। ११-१२।

टिप्पणी—१ 'संसय सर्प ग्रसन उरगादः।…' इति। ( क ) पूर्वार्धमें संशयरूपी सर्पका नाश कहा। जिसको डसा है, उसमें जो सर्पका विष व्याप्त है उस विषका नाश बाक़ी रहा सो उत्तरार्द्धमें कहा। सर्प काटता है तो लहरें उठती हैं, संशय सर्पके ग्रसनेसे अनेक कुतर्कनाएँरूपी लहरें उठा करती हैं, यथा 'संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता। ७।९३।' कुतर्क ही लहरें हैं। सर्प, सर्पका विष, संशय और उससे उठी हुई तर्कनाएँ दोनोंका नाश कहा। जब संशय और तर्कनाओंका नाश होता है तब भवका नाश होता है, अतः दोनोंका नाश कहकर तब 'भव भंजन००' कहा। इन सबसे बचाया, अतः अन्तमें 'कृपाबरूथ' कहा। 'उरगादः' नाम सार्थक साभिप्राय और उपयुक्त है। उरगाद=सर्पको खानेवाला। 'सर्प ग्रसन' सर्पका खानेवाला ही हुआ चाहे। [ यह भी जनाया कि गरुड़ सर्पोंको खाते हैं, पर संशय सर्पने उन्हें भी डस लिया था। संशय-सर्पको खा जानेवाले एकमात्र आप ही हैं। (ख) कर्कश तर्कका जो विषाद है उसके आप नाशक हैं अर्थात् आपकी कृपासे भक्तके हृदयमें कुतर्कना नहीं होने पाती। यथा 'दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई।' कुतर्कसे नरक मिलता है, यथा 'कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तर्का। ७।१००।' कुतर्कको भयंकर नदी कहा है जिसमें पड़कर मनुष्य बह ही जाता है, यथा 'नदी कुतर्क भयंकर नाना।' ( खर्रा )। ( ग ) यहाँ परंपरित रूपक और द्वितीय उल्लेख अलंकार हैं। ]

† पं० शिवलालपाठक और करु० ने 'सकर्क सतर्क' पाठ दिया है और वै० एवं कोदोरामजीने 'सुकर्क'।
‡ 'गोतीतमरूपं'—( का०, ना० प्र० )।

टिप्पणी—२ 'निर्गुन सगुन विषम समरूपं···' इति। (क) निर्गुण भी सगुण भी, विषम भी सम भी। फिर दोनों रूप वाणी, ज्ञान और इन्द्रियोंसे परे, सबसे भिन्न हैं। ऐसे परस्पर विरोधी गुण एक साथ धारण किए होनेसे 'अनूप' हैं। कोई उपमा चौदहों भुवनोंमें नहीं है। (वि०त्रि०का मत है कि निर्गुण सगुण कहकर मिश्र अग कहा। विषम समरूप कहकर जगन्मय कहा। ज्ञान गिरा गोतीतसे साक्षात् ब्रह्म कहा। तीनों होनेसे अनूप कहा, यथा 'अनूप रूप भूपति'। अवताररूपमें तीनोंका समावेश है, यथा 'ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहै। सो मम उरबासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहे।') (ख) पहले निर्गुण आदि विशेषण देकर अंतमें कहा 'नौमि राम भंजन महि भारं', भाव कि आप ऐसे होकर भी पृथ्वीका भार नष्ट करनेके लिए अवतार लेते हैं। ऐसा करके आप देवादिको आनन्द देते हैं। अनूप, यथा 'जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुनप्रेरक सही-( जटायुकृत स्तुति )। यहाँ यथासंख्य नहीं है जैसे 'तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ। एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा। एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके। ३।१५।४-६।' में।

नोट—१ विनायकी टीका एवं और भी दो एक टीकाकारोंने यहाँ यथासंख्यालंकार मानकर अर्थ किया है, इस तरह कि "आपका निर्गुण स्वरूप तो सदा एकरस विकाररहित होता है और सगुणरूप सदा बदलनेवाला होता है। सगुण अर्थात् स्वीकार करने योग्य उत्तम गुणों सहित हैं और निर्गुण अर्थात् छोड़ने योग्य दुर्गुणोंसे रहित हैं"—(वि० टी०)"। पर यह अर्थ ठीक नहीं है। यह सब भगवान् रामचन्द्रजीके स्वरूपका वर्णन है, सब उन्हींके विशेषण हैं। विरोधाभासालंकार है। यही भगवानमें विलक्षणता है कि वे विरोधी गुणोंको धारण किए हैं। अ० २१९ में विषम समका भाव स्पष्ट रूपसे देवगुरुने इन्द्रसे कहा है, यथा "जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू ॥ ३ ॥ करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा ॥४॥ तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा ॥५॥ अगुन अलेप अमान एकरस। राम सगुन भये भगत प्रेम बस ॥६॥ राम सदा सेवक रुचि राखी। वेद पुरान साधु सुर साखी ॥७॥" निर्गुण आदि सबके भाव बाल और अयोध्यामें कई बार लिखे जा चुके हैं। निर्गुण = तीनों गुणोंसे परे। = अव्यक्त। सगुण=कृपा, वात्सल्य आदि दिव्य गुणोंसे युक्त। =व्यक्त। भक्त अनेक भावनाओंसे प्रभुका स्मरण हृदयमें करते हैं, अतः उनके हृदयमें सम हैं और अभक्त शत्रु बनकर विहार करते हैं। इसीसे भक्त प्रह्लादकी रक्षा की, हिरण्यकशिपुको मारा। पुनः, यथा 'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि।'—विशेष २.२१९ ( ३-५ ) में देखिए। वेदान्त भूषणजीका मत है कि शास्त्रोंमें मूर्त और अमूर्त्त भेदसे दो प्रकारसे अन्तर्यामीकी स्थिति सबके अन्तःकरणोंमें दिखाई गई है। जिस तरह काष्ठमें अग्नि और पुष्पमें गंध व्याप्त रहता है उसी तरह व्यापक अन्तर्यामीको अमूर्त्त कहते हैं और भक्तोंकी भावनानुकूल विग्रह विशेषसे हृदयमें रहनेवाले ईश्वरको मूर्त कहते हैं। अन्तर्यामीके इस मूर्त्त अमूर्त्त रूपको गोस्वामीजीने सम-विषम कहा है। यथा 'तदपि करहिं सम विषय विहारा। २।२१९।'

२ किसी किसी ने ऐसा अर्थ किया है कि 'आपका निर्गुणरूप विषमरूप है, ध्यान धारण करनेमें अगम है और सगुण समरूप है अर्थात् इस रूपसे आप सुगमतासे प्राप्त होते हैं।

३ 'ज्ञान गिरा गोतीत'—प० प० प्र० का मत है कि यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ है विषय-ज्ञान-प्राप्तिका साधन मन। यथा 'मन समेत जेहि जान न बानी।','पस्यंति जं जोगी जतन करि करत मन गो बस सदा।', 'जिति पवन मन गो निरस करि।' ऐसा अर्थ न लेनेसे 'ज्ञानगम्य जय रघुराई', 'ज्ञानेनात्मनि पश्यन्ति केचित् आत्मानम्। गीता।' इत्यादिसे विरोध होगा।

४ 'अमलमखिल···' इति। 'अमल' से शुद्ध, 'अखिल' से पूर्ण, 'अन्वद्य' से निर्विकार, 'अपार' से व्यापक अथवा अपरिच्छिन्न कहा और 'भंजन महिभार' से पूर्णावतार कहा। ( वि० त्रि० )।

भक्त कल्प पादप आरामः। तर्जन क्रोध लोभ मद कामः॥ १३॥
अति नागर भवसागर सेतुः। त्रातु सदा दिनकरकुलकेतुः॥ १४॥
अतुलित भुज प्रताप बलधामः† । कलिमल विपुल विभंजन नामः॥ १५॥
धर्म वर्म नर्मद गुन-ग्रामः। संतत संतनोतु मम रामः॥ १६॥

शब्दार्थ--पादप = वृक्ष । आराम = बाग़ । तर्जन = धमकाने, भयप्रदर्शन, डाँट, फटकार, डपटने तिरस्कार करनेवाले । विपुल = समूह । विभंजन = विशेष अर्थात् पूर्ण रूपसे नाश करनेवाले । नर्मद=आनन्द देनेवाले । वर्म = कवच, ज़िरहबख्तर । संतनोतु = शं तनोतु = कल्याणका विस्तार करो या बढ़ाओ ।

अर्थ--भक्तोंके लिए कल्पवृक्षके बाग, क्रोध, लोभ, मद और कामको धमकानेवाले ( अर्थात् भक्तोंको दुःख देनेवाले क्रोधादिका नाश करनेवाले), भवसागरके पार उतरनेके लिए सेतु, अत्यन्त चतुर, सूर्यवंशकी ध्वजा, वे आप सदा मेरी रक्षा करें । १३, १४ । जिनकी भुजाओंका प्रताप अतुलनीय है, जो बलके धाम हैं, जिनका नाम कलिके पापसमूहका नाशक है, धर्मके लिए कवचरूप, और जिनके गुणग्राम ( यश ) आनन्द देनेवाले हैं ऐसे आप श्रीरामचन्द्रजी मेरे कल्याणका निरन्तर विस्तार करें । १५, १६ ।

टिप्पणी--१ "भक्तकल्पपादप-आरामः ।००" इति । ( क ) भक्तोंके लिए कल्पवृक्षके बाग़ हो । इस कथनका भाव कि पृथ्वीका भार उतारकर आपने सबको सुखी किया पर भक्तोंको सुख देनेके लिए आप अनेक रूप हैं और सर्वत्र हैं । बाग़में एक दो वृक्ष नहीं किन्तु अनेक होते हैं वैसे ही आप भक्तोंके लिये अनेकों कल्पवृक्षोंके समान हैं, जिसमें भक्त जहाँ भी जायँ तहाँ ही उसकी छायाका सुख मिले । ( पुनः भाव कि कल्पवृक्षके समान आप सबको सुख और अभिमत देते हैं, जो भी आपको पहचानकर आपके सम्मुख जाय । पर भक्त निष्काम होते हैं, यथा 'नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये', वे तो आपको ही चाहते हैं; अतएव उनके लिये आप बाग़ हो जाते हैं कि भक्त उनमें विहार करें और उसकी सुन्दरता देखनेमें मग्न रहें । वि० त्रि० ) । (ख) कल्पवृक्ष केवल अर्थ, धर्म और काम देता है, मोक्ष नहीं दे सकता । पर आप मोक्ष भी देते हैं । यह बात 'अति नागर भवसागर सेतुः' से जना दी । भवसागरसे पार होना, संसारबंधनसे मुक्त होना, मोक्ष है । [ कल्पवृक्षको मानसमें देवतरु, सुरतरु भी कहा है, यथा 'देव देवतरु सरिस सुभाऊ । सन्मुख विमुख न काहुहि काऊ । २।२६७ । ८ ।', 'जासु भवन सुरतरु तर होई । सहि कि दरिद्र जनित दुख सोई । १।१०८।३।' अमरकोशमें सुरतरु पाँच गिनाये गए हैं; यथा 'पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्'; पर मनोरथका देनेवाला प्रायः कल्पवृक्ष ही कहा गया है, वही यहाँ अभिप्रेत है ।]

२ 'तर्जन क्रोध लोभमदकाम' । (क) कल्पवृक्ष सम कहा और अर्थधर्मादिकी प्राप्ति कही । प्राप्त होने-पर उनकी रक्षा भी चाहिए; नहीं तो चोर लूट ले जायँ । अतः "तर्जन०" कहा । ( ख ) अर्थका बाधक क्रोध है, धर्मका लोभ, कामका मद और मोक्षका बाधक काम है, यथा 'कलिमल ग्रसे धर्म सब''' भये लोग सब मोह बस लोभ ग्रसे सुभकर्म ।७।९७।','सुभगति पाव कि परतियगामी ।७।११२।', इत्यादि । ( ग ) [ प्रभु अपने भक्तोंकी क्रोध, मद, काम और लोभ सभी विकारोंसे रक्षा करते हैं । यह नारदमोह-प्रसंगसे स्पष्ट है । यथा 'कामकला कछु मुनिहिं न व्यापी','भयउ न नारद मन कछु रोषा', 'उर अंकुरेउ गर्व तरु भारी । बेगि सो मैं डारिहौं उखारी' । 'हे बिधि मिलै कवन बिधि बाला' ( इस लोभसे भी रक्षा की ) । 'ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि । ४४ ।' मा० शं० कारके मतानुसार क्रोध, लोभ, मद, कामके क्रमशः उदाहरण ये हैं---'भयउ न नारद मन कछु रोषा । १।१२७ ।', 'आसा बसन व्यसन यह तिन्हहीं । ७।३२ ।' ( सनकादि ); 'भरतहि होइ न राजमद''', 'बैठें सोह कामरिपु कैसें । १।१०७ ।' ]

† 'धामं, नामं'--( का० ), 'धामा, नामा'--( ना० प्र० ) ।

टिप्पणी—३ "अति नागर भवसागर सेतुः। त्रातु०" इति। (क) चारों पदार्थोंके बाधकोंका नाश करके आप भवसागरका पुल बाँधकर भक्तोंको भवपार करते हैं। 'अति नागर' का भाव कि लंकाके लिए समुद्रमें पुल बाँधनेमें आप 'नागर' हैं। यह सेतु आपने मर्यादासहित बाँधा, यथा 'ममकृत सेतु जे दरसन करिहहिं।००'। 'नागर' कहा, क्योंकि समुद्रमें और कोई पुल न बाँध सका था। इसे सुनकर रावण भी घबड़ा उठा था। उसे बड़ा आश्चर्य और विस्मय हुआ तब दूसरेकी बात ही क्या? [ लंकाके लिये जो सेतु बना वह तो एक समुद्रके एक बहुत अल्पांशपर बना था और भवसागर तो अनेक हैं और अत्यन्त दुस्तर हैं। 'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।१.२५.४।' में देखिये। अतः इस सेतुकी रचनामें 'अतिनागर' कहा। 'अतिनागर' अलग भी विशेषण है। यथा 'जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुख मंदिर सुंदर अति नागर।७.३४।' बैजनाथजी 'तर्जन क्रोध' का भाव यह कहते हैं कि हृदयमें क्रोधादिके आते ही आप ऐसा खेद प्राप्त कर देते हैं कि वे ऊबकर आप ही उन्हें त्याग देते हैं। पुनः,'भवसागरसेतुः' का भाव कि जैसे 'अति अपार जे सरितबर जौं नृप सेतु कराहिं। चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिं', वैसे ही सर्वसाधनहीन भक्त भी केवल प्रभु ( रूपी सेतु ) का आश्रयण करके अनायासेन भवसागर पार कर जाते हैं। उन्हें भवसागरके उत्ताल तरंग तथा मकर, उरग आदि बाधा नहीं कर सकते ॥ (वि. त्रि.) ] (ख) पूर्वार्धमें 'भवसागरसेतुः' कहकर आगे 'दिनकरकुल-केतुः' से बताते हैं कि वह सेतु क्या है और कैसे बनाया ? यह सेतु बनानेके लिये आप दिनकरकुलकेतु हुए अर्थात् दिनकरवंशमें अवतार लिया, अवतार लेकर चरित किये जिन्हें गा-गाकर लोग भव-समुद्रपार हो जायँ। यथा 'जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजन्म कर हेतु। १.१२१। सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं।' (ग) 'त्रातु सदा' इति। किससे रक्षा करें ? उत्तर—क्रोध, लोभ, मद, काम और भव इन पाँचोंसे सदा रक्षा चाहते हैं; क्योंकि ये 'मुनि बिज्ञान-धाम मन करहिं निमिष महँ छोभ', 'बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे'।

४ प्रथम भक्तोंके लिए 'कल्पपादप आराम' होना कहा, फिर भवसागरके सेतुरचनामें 'अति नागर' कहा। इस प्रकार दो बातें कहकर जनाया कि आप भक्तोंको इहलोक और परलोक दोनोंमें सुख देते हैं।

वि० त्रि०—'संसय सर्प ग्रसन···' इति। यहाँ ज्ञानस्वरूप कहा, यथा 'ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं'। इस स्तुतिमें भवका उल्लेख तीन बार आया है। (१) ज्ञानियोंके लिये संसारकी पारमार्थिक स्थिति है ही नहीं, केवल व्यावहारिकी स्थिति है, इसलिये उनके लिये वह खग है, कभी काम खगसे भी पड़ ही जाता है। उसके लिये प्रभु बाज हैं, उसे निर्मूल कर देते हैं तब सजातवाद सामने आ जाता है। (२) कर्मठोंके लिये संसार वास्तविक है, इसलिये उसका भंग कर देते हैं, तब दैवी प्रकृतिवालोंको सुखानुभव होता है, अतः 'भव भंजन रंजन सुरजूथः' कहा। (३) भक्तोंके लिये सेतु हो जाते हैं, उनका आश्रयण करके भक्त भवसरिताके आरपार आया जाया करते हैं, उन्हें भवसरिता बाधक नहीं है।

टिप्पणी—५ 'अतुलित भुज प्रताप बलधामः।०' इति। (क) यहाँ चार चरणोंमें रूप, नाम, लीला और धाम चारों कहे। 'अतुलित भुज००' से रूप, 'कलिमल बिपुल बिभंजन नामः' से नाम, 'धर्म वर्म नर्मद गुनग्रामः' से लीला और 'सबके हृदय निरंतर बासी' से धाम। 'संतत संतनोतु मम रामः' को बीचमें रखकर जनाया कि रूप, नाम, लीला और धाम इन चारोंको हमारे हृदयमें बसाकर आप हमारे कल्याणको बढ़ावें, यथा 'केहरिसावक जनमन-बन के'। [(ख) 'अतुलित भुज प्रताप' भुशुण्डीजीके प्रसंगमें देख लीजिए। यथा 'तब मैं भागि चलेउँ उरगारी। राम गहन कहँ भुजा पसारी।७।७६।७।' से 'सप्तावरन भेद करि जहाँ लगे गति मोरि। गएउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि ब्याकुल भएउँ बहोरि।७६।' तक। 'बलधाम', यथा 'मरुत कोटि सत बिपुल बल।७।९१।', 'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई' ( यह जयन्तने परीक्षा लेनेपर कहा है )। 'धाम' से जनाया कि यहींसे बल पाकर सब सृष्टिका कार्य है, यथा 'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत हरत सृजत दससीसा॥

४।२१।'] (ग) 'कलिमल विभंजन नामः', यथा 'रामनाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल०।१.२७।', 'नाम सकल कलि कलुष निकंदन ।१.२४।', 'कलिमल मथन नाम ममताहन ।७।५१।६।'

टिप्पणी—६ 'धर्म वर्म', यथा 'मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हितौ'—(कि०)। 'धर्म वर्म नर्मद गुनग्रामः' इति। गुणग्रामके कथन-श्रवणसे धर्म जाना जाता है, इसीसे धर्मकी रक्षा है। [ सुख विस्तार करने पर ही स्तुतिकी समाप्ति की। 'धर्म वर्म०'—रामगुणग्राम धर्मका कवच और मोक्षसुखका दाता है। यथा 'एहि विधि कहत रामगुनग्रामा। पावा अनिर्वाच्य विश्रामा।४.८.२।' और भगवान्‌का अवतार भी धर्म-संरक्षणार्थ ही होता है, यथा 'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे। गीता ४।८', 'धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं।४।६।५।', आगेके लिये वही काम करनेके लिये अपने गुणग्रामको यहाँ छोड़ जाते हैं। गुणग्रामका माहात्म्य कविने स्वयं 'जग मंगल गुनग्राम राम के।१।३२।२।' से 'दहन रामगुनग्राम जिमि इंधन अनल प्रचंड।१।३२।' तक कहा है। ]

७—स्तुति भरमें 'तनोतु', 'त्रातु' और 'नौमि' ये शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। विकारोंसे रक्षा करनेकी प्रार्थना है और रूपको नमस्कार किया है। 'नौमि' में द्वितीयान्त है और 'तनोतु' 'त्रातु' में प्रथमान्त है—'स्तुति भरमें स्तुतिकी पहली चौपाईमें 'नौमि' शब्दमें जो अहंकारात्मक 'मैं' आता है, उसका सँभाल दूसरी चौपाईमें तुरन्त ही 'त्रातु' पदसे करते जाते हैं। (कहीं भूलकर भी यह भाव न आ जाय कि मैं स्तुतिका कर्त्ता हूँ। मा० सं० )।

नोट—१ एक चौपाई ( चार चरण ) में 'नौमि' है तो दूसरीमें 'त्रातु' है, यह क्रम १४ अर्धालियोंमें बराबर चला गया है। सोलहवीं अर्धालीमें 'संतनोतु' है। क्रमसे वे चरण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—'नौमि निरंतर श्रीरघुवीरं' ( चौ० ४ ), 'त्रातु सदा नो भव-खग-बाजः' (६), 'नौमि राम उर बाहु बिसालं' (८), 'त्रातु सदा नो कृपावरूथः' (१०), 'नौमि राम भंजन महिभारं' (१२), 'त्रातु सदा दिनकरकुलकेतुः' (१४), और 'संतत संतनोतु मम रामः' (१६)।

जहाँ 'नौमि' पद दिया है, वहाँ प्रभुके स्वरूप, स्वरूप-सौन्दर्य वा शोभाका वर्णन है। यथा 'श्याम तामरस दाम सरीरं। जटा मुकुट परिधन मुनिचीरं। पानि चाप सर कटि तूनीरं।' नौमि निरंतर श्रीरघुवीरं ।४।', 'अरुन नयन राजीव सुवेसं। सीता नयन चकोर निसेसं।७ हर हृदि मानस बालमरालं। नौमि राम उर बाहु बिसालं।८।', 'निर्गुन सगुन विषम सम रूपं। ज्ञान गिरा गोतीतमनूपं॥ अमल अखिलमनवद्यम-पारं। नौमि राम भंजन महिभारं।१२।'

इसी प्रकार जहाँ 'त्रातु' पद प्रयुक्त हुआ है, वहाँ मोह, भय, संशय, तर्क, काम, क्रोध, लोभ आदिसे बचानेवाले विरदोंका स्मरण कराके उनसे रक्षाकी प्रार्थना की है। यथा 'मोह विपिन घन दहन कृसानुः। संतसरोरुह कानन भानुः॥ निसिचर-करिवरूथ मृगराजः। त्रातु सदा नो भव-खग बाजः।६।', इत्यादि, 'सं तनोतु' अर्थात् मेरे कल्याणका विस्तार कीजिए।

वि० त्रि०—तीन प्रकारसे भजन कहा गया है। 'तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा'। मैं उनका हूँ, वे मेरे हैं, और वही मैं हूँ। सेवक आरम्भमें समझता है कि मैं उनका हूँ। जब सम्बन्ध प्रागल्भ्य होता है तब समझता है कि वे मेरे हैं। और, जब उस प्रागल्भ्यकी अति वृद्धि होती है तब समझने लगता है कि उनमें और मुझमें भेद नहीं है। यहाँपर मुनिजी सम्बन्ध-प्रागल्भ्यसे 'मम रामः' कह रहे हैं और उन्हींसे सदा कल्याण चाहते हैं।

प० प० प्र०—'संतनोतु मम' इति। कल्याणके विस्तारमें बहुवचन 'नो' न देकर एकवचन मम देनेका भाव कि यह कौन जाने कि अन्य सब मुनियोंकी कल्याणकी कल्पना अपनी-सी हो या न हो। सुतीक्ष्णजी तो भक्तिकी प्राप्तिमें ही अपना कल्याण समझते हैं, अन्य न जाने क्या चाहते हों। अतः यहाँ अपने ही लिये कहा।

जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सब के हृदय निरंतर बासी ॥१७॥
तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु* मनसि मम काननचारी ॥१८॥
जे जानहिं ते जानहु† स्वामी। सगुन अगुन उर अंतरजामी ॥१९॥
जो कोसलपति राजिव नयना। करौ सो राम हृदय मम अयना ॥२०॥

शब्दार्थ—बिरज=निर्मल, निर्दोष, विशुद्ध। =प्रकृति गुण सत्व रज तम आदि रहित।

अर्थ—यद्यपि आप विशुद्ध, व्यापक, नाशरहित और सब प्राणियोंके हृदयमें निरंतर वास करनेवाले हैं, तौभी, हे खरारी! भाई (लक्ष्मणजी) और श्रीसीताजी सहित वनमें विचरनेवाले आप मेरे मनरूपी वनमें बसिए।१७, १८। जो आपको सगुण, निर्गुण, हृदयमें रहनेवाले अंतर्यामीरूप जानते हों वे (वैसा) जानें, पर मेरे हृदयमें तो जो कोशलके राजा कमलनयन राम हैं वे ही घर बनाएँ। १९, २०।

टिप्पणी—१ 'जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी...' इति। (क) 'ब्यापक अबिनासी' कहनेका भाव कि आप सबमें व्यापक हैं पर सबके नाशसे आपका नाश हो जाय यह बात नहीं है, आपका विनाश नहीं होता। पुनः सबमें व्याप्त होनेपर भी उनका विकार आपमें नहीं आता, आपमें मलिनता नहीं छू जाती, यह बात बतानेके लिए 'बिरज' कहा। आप सबके हृदयमें सदा वास करते हैं। क्योंकि व्यापक हैं, अतः निश्चय है कि हमारे हृदयमें भी अवश्य आपका निवास व्यापकरूपसे है। (ख) यही सिद्धान्त श्रीअगस्त्यजीका है, यथा 'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥ अस तव रूप बखानौं जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं॥ १२. १२-१३।' पुनः, वेदसिद्धान्त भी यही है, यथा 'जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं। ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं ७.१३।' पुनः, इन्द्रने भी ऐसा ही कहा है, यथा 'कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहि श्रुति गाव। मोहि भाव कोसलभूप श्रीराम सगुन-सरूप॥ ६.११२।'

२ 'तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु…' इति। (क) ['जदपि बिरज…तदपि' में 'ब्यापक एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥ अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी। १.२१।' का भाव है। अर्थात् ऐसे प्रभु सबके हृदयमें निरंतर निवास तो करते हैं तथापि सब जीव दुःखी और दीन जीवन व्यतीत करते हैं, अतः अपनी चाह सुनाता हूँ। (प० प० प्र०, वि० त्रि०)] 'खरारी' का भाव कि जैसे दण्डकारण्यमें बसकर आपने खरको मारा वैसे ही हमारे मनरूपी वनमें बसकर क्रोधादि विकारोंका नाश कीजिये। 'खर है क्रोध, लोभ है दूषन, काम बसै त्रिसिर में'। यहाँ 'भाविक अलंकार' है। यहाँ 'खरारी' भविष्य बात कही। भावुक लोगोंको भविष्यकी बात भी भूत सरीखी जान पड़ती है। विशेष 'सोभासिंधु खरारी।१.१६२ छन्द।' में देखिए।

नोट—१ (क) बाबा हरिहरप्रसादजी, 'हे खरारि काननचारी! मेरे मनमें बसिए।' इस प्रकार अर्थ करते हुए, यह भाव लिखते हैं कि हमारा मन मानों संकल्पोंका एक वन है। वहाँ दण्डकारण्यमें तो चौदह हजार ही राक्षस हैं जिनको आप मारेंगे पर मेरे मनरूपी वनमें तो संकल्परूपी राक्षसोंका अंत नहीं, वे अनंत हैं और बढ़ते ही जाते हैं। आप वनमें शिकारके लिए आये हैं, खरदूषणादिरूपी दुष्ट मृगोंका शिकार करेंगे, यथा 'हम छत्री मृगया बन करहीं। तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं॥ जद्यपि मनुज दनुज कुल घालक। १९.८।', 'अवध-नृपति दसरथ के जाए। पुरुषसिंह बन खेलन आए।२२.३।'; अतः इस काननचारी-रूपसे हृदयमें बसिए, यहाँ आपके लिए बहुत शिकार है। हमारे अनंत संकल्पोंका नाश कीजिए। विशेष 'केहरि सावक जनमन बन के।१.३२.७।' में देखिए। पुनः, (ख) 'खरारी...' का भाव कि जैसे खरादिके

* बसहु—को० रा०। † 'जानहु'—को० रा०। 'जानहुँ'—भा० दा०।

मारनेमें आपका दोष नहीं था, वे सब आपसमें ही एक दूसरेको रामरूप देखकर लड़ मरे। वैसे ही आपके बसनेमें मेरे मनरूपी-वनके दुष्ट आपही मर मिटेंगे। अतः वही रूप बसाइए। यथा 'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा ।५.४७।' (खर्रा)। जैसे खरादिके वधमें परिश्रम नहीं पड़ा, आपकी लीलामात्रमें अजेय अमर राक्षसोंका नाश हो गया, वैसे ही मनमें इस रूपके बसनेमात्रसे मनमें रहनेवाले दुष्टोंका अनायास नाश हो जायगा। ये सब वृत्तियाँ रामाकार हो जायेंगी। आपमें ही लग जायेंगी। (ग) 'तदपि' का भाव कि वह रूप तो सबके हृदयमें रहता है, उसके लिये तो कोई एहसान नहीं, पर इस शोभन रूपके लिए मैं विनती करता हूँ, इसके लिए एहसान लेता हूँ; क्योंकि इस सगुण काननचारी अतिशय रूपमें ही मेरी विशेष श्रद्धा है। कदाचित् कोई कहे कि ईश्वर तो सर्वभूतमय है वही तुम भी मानो, यथा 'जेहि पूछउँ सोइ मुनि अस कहई। ईश्वर सर्वभूतमय अहई', उसपर कहते हैं कि जो ऐसा जानते हैं सो जानैं, उनके लिए वैसे ही बसिए। (पु० रा० कु०)।

टिप्पणी—३ (क) 'जे जानहिं ते जानहु स्वामी···' इति। अर्थात् मैं निर्गुण सगुण अन्तर्यामी नहीं जानता, मैं तो इसी रूपको सब कुछ जानता हूँ। पुनः भाव कि अनंत अखण्ड अनुभवगम्य अज अद्वैत अव्यक्तका जो ध्यान करते हैं वे उनका ही ध्यान करें, उन्हींको जानें, मैं उन्हें मना नहीं करता, क्योंकि 'जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम। १।८०।' (विशेष टिप्पणी १ देखिए), पर मेरी रुचि तो इसी रूपमें है। (ख) 'जो कोसलपति राजिवनयना···' अर्थात् श्रीराम अन्तर्यामी भी कहलाते हैं, हमें उन अन्तर्यामीकी चाह नहीं। जो कोशलपुरी श्रीअयोध्याजीके राजा हैं, कमलनयन हैं, वे श्रीराम हमारे हृदयमें घर बनावें। अर्थात् मेरे हृदयमें इस साक्षात् रूपसे बसिए।—यहाँ 'विशेषक अलंकार' है। (ग) पूर्व कहा कि 'बसतु मनसि मम काननचारी'। काननचारी रूपकी अवधि १४ वर्षकी है। उसमेंसे अब वर्ष दिन रह गया है। आगे एक वर्षके अंतमें लौटकर फिर तो अवधमें बसेंगे। अतः काननचारी रूपका वर माँगकर यह वर माँगा कि 'जो कोसलपति०'। भाव कि अवधको लौटनेपर फिर भूपरूपसे बसियेगा। (घ) पहले काननचारी रूपके बसानेके लिए मनको कानन कहा, फिर जब कोसलपतिरूपसे बसनेका वर माँगा तब हृदयको भवन कहा। क्योंकि वनविहारीरूप तो वनमें ही विचरता है, वह तो वनमें ही रहेगा और राजारूप राजधानीके महलोंमें रहा चाहे, उस रूपके लिए महल ही चाहिए, अतएव एक बार मनको वन और दूसरी बार भवनसे रूपक दिया।

नोट—२ अ० रा० में इससे कुछ मिलता हुआ श्लोक यह है—'जानन्तु राम तव रूपमशेषदेशकालाद्युपाधिरहितं घनचित्प्रकाशम्। प्रत्यक्षतोऽद्य मम गोचरमेतदेव रूपं विभातु हृदये न परं विकाङ्क्षे। ३.२.३४।' अर्थात् हे राम! जो लोग आपके स्वरूपको देश काल आदि समस्त उपाधियोंसे रहित और चिद्घन प्रकाशस्वरूप जानते हैं वे भले ही वैसा ही जानें, किन्तु मेरे हृदयमें तो, आज जो प्रत्यक्ष रूपसे मुझे दिखायी दे रहा है, यही रूप भासमान होता रहे। इसके अतिरिक्त मुझे किसी और रूपकी इच्छा नहीं है।

मा० हं०—ग्रंथमें अनेक स्थलोंमें—'यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः', 'एक अनीह', 'झूठउ सत्य जाहि बिनु जाने' इत्यादि—जीव-ब्रह्मैक्य और मायावाद स्पष्ट उल्लिखित है। अतएव यह स्पष्ट है कि वेदान्त-दर्शनमें गोसाईंजी श्रीशंकराचार्य्यजीके ही अनुयायी थे। परन्तु उनका खिंचाव ज्ञानमार्गकी ओर विशेषरूपसे नहीं दिखता। चाहे अपनी रुचिके कारण हो या देशकालस्थितिकी अनुकूलतासे हो, उन्होंने रामचरितमानसमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिको ही प्राधान्य दिया है।

यद्यपि रामानुज अथवा वल्लभका द्वैतवाद गोसाईंजीको इष्ट न था तो भी उपासना उन्होंने इन्हींसे

ली है– यह बात नीचे दिए हुए प्रमाणोंसे सिद्ध होती है।❀ यह होते हुए भी इस वल्लभसंप्रदायका शिव-विष्णुभेद गोसाईंजीको मान्य न हुआ। तात्पर्य यह कि गीतावाला निष्काम कर्मयोग, श्रीशंकराचार्यका ज्ञान-योग और वल्लभाचार्यका भक्तियोग इन तीनोंके संयोगसे बना हुआ स्वामीजीका यह दार्शनिक योग एक अपूर्व तीर्थराज जैसा निर्माण हुआ। इसका परिणाम बहुत ही शुद्ध हुआ। उनके अनुयायियोंको किसी प्रकार-का भिन्न संप्रदाय प्रचलित कर द्वेष फैलानेका अवसर न मिल सका, हम यही उत्कृष्ट लोकशिक्षाका लक्षण समझते हैं।

अन्तमें कहना यही है कि 'कर्म, ज्ञान और भक्तिका समुच्चयात्मक योग होना असंभव है।', इस शंकाका कोई कारण नहीं। इस समुच्चयको ही पराभक्ति, ज्ञानोत्तरा भक्ति इत्यादि अनेक नाम दिये गये हैं। सब साधनोंकी परिपूर्णता यही भक्ति है। अद्वैतसिद्धान्तके पुरस्कर्ता श्रीआदिशंकराचार्यने भी अन्तमें इसी योगका अवलंबन इस प्रकार किया है—'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रोहि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः'। उन्हींके अनुयायी अद्वैत सिद्धिकर्त्ता श्रीमधुसूदनसरस्वती इस प्रकार कह गए हैं—"ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा यन्निर्गुणं निष्क्रियं। ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यंति पश्यंतु ते। अस्माकं तु तदेव लोचन चमत्काराय भूयाच्चिरं। कालिंदी पुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं जहो धावति"। इसी मार्गका अवलम्ब गोसाईंजीने इस प्रकारसे किया है—'जे जानहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर अंतरजामी॥ जो कोसलपति राजिव नयना। करउ सो राम हृदय मम अयना'।

उक्त प्रकारसे विचार-परिवर्तन भासित होना संभव है परन्तु वह केवल भास है। वह विचार-परिवर्तन नहीं है, किन्तु साधन परिपाक है। सगुणसे (अर्थात् कर्म और उपासनासे) निर्गुण (अर्थात् ज्ञान) और फिर निर्गुणसे सगुण यह साधन-परिपाकका क्रम है। यही पूर्णावस्था है और यही ज्ञानोत्तरा भक्ति कही जाती है। ज्ञानका परिपाक भक्तिमें होना यही उसका फल है। श्रीशंकरजीकी रामभक्ति इसी प्रकारकी है, और उसीको अद्वैत भक्ति कहना चाहिए। वह अतीव दुष्प्राप्य है जैसा कि गीताजीमें कहा है-'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' (७।१९)। स्वामीजीके 'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन न जानइ कोइ' का आशय भी यही होना चाहिए। भारतीय आध्यात्मिक वाङ्मयमें इसी भक्तिकी महती गाई हुई दिखाती है। स्वामीजी भी उसे इस प्रकार कहते हैं –'जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञानहेतु श्रम करहीं॥ ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥', 'अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुखखानी'।

भा० स्कं० १० अ० १४ में भी वही मत इस प्रकार है—"श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये। तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥४॥"; अर्थात् हे विभो! जो पुरुष कल्याणप्राप्तिकी मार्गरूपा आपकी भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञानलाभके लिये ही क्लेश उठाते हैं उनके लिये केवल कष्ट ही शेष रहता है और कुछ नहीं मिलता, जैसे थोथी भूसी कूटनेवालेको श्रमके सिवा और कुछ हाथ नहीं लगता।

अस अभिमान जाइ जनि भोरें। मैं सेवक रघुपति पति मोरें॥२१॥
सुनि मुनि बचन राम मन भाए। बहुरि हरषि मुनिबर उर लाए॥२२॥
परम प्रसंन जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही॥२३॥

---

❀ 'करम बचन मन छाँड़ि छल जब लगि जन न तुम्हार। तब लगि सुख सपनेहु नहीं किये कोटि उपचार।', 'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि। भजहु रामपदपंकज अस सिद्धांत बिचारि'।

अर्थ—ऐसा अभिमान भूलकर भी न मिटे कि मैं सेवक हूँ और श्रीरघुनाथजी मेरे स्वामी हैं ॥२१॥ मुनिके वचन सुनकर श्रीरामजीके मनको वे अच्छे लगे। प्रसन्न होकर उन्होंने मुनिश्रेष्ठको फिर हृदयसे लगा लिया ॥२२॥ हे मुनि ! मुझे परम प्रसन्न जानो। जो वर माँगो वही मैं तुम्हें दूँ ॥२३॥

टिप्पणी—१ 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे।००' इति। अभिमान आनेसे ज्ञानका नाश होता है, यथा 'मान ते ज्ञान पान ते लाजा'। 'अस अभिमान' का भाव कि और प्रकारके अभिमान जैसे कि जाति, यौवन, विद्या, बल, ऐश्वर्य आदिका ये सब जायँ, नष्ट हो जायँ, क्योंकि उनके नष्ट हुए बिना जीवको सुखकी प्राप्ति नहीं, यथा 'तुलसिदास मैं मोर गए बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै।' (विनय १२०), पर यह अभिमान सदा बना रहे क्योंकि इस अभिमानके नाशसे सेवकधर्मका नाश है। सेवक होनेका अभिमान भूलकर भी न छूटे। देखिए लक्ष्मणजीने भी क्या कहा है—'जौं तेहि आजु बधे बिनु आवौं। तौ रघुपतिसेवक न कहावौं। ६।७४।', पुनः, 'आजु रामसेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ। २.२३०।' [ भाव यह कि सेवक-सेव्य-भाव सदा बना रहे। भुशुण्डिजीने भी गरुड़जीसे यही कहा है—'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि। भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि। ७.११६।' यह अभिमान भक्तिका प्राण है। ]

नोट—१ 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे।०' इति। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि भक्त किसी प्रकारकी मुक्ति नहीं चाहता। वह तो यही चाहता है कि मेरा सेवक-स्वामिभाव कभी न छूटे। इसीसे कहा है कि 'मुक्ति निरादरि भगति लुभाने'। देखिए श्रीहनुमान्‌जीने प्रभुसे क्या कहा है—"भवबंधच्छिदे तस्यै स्पृहयामि न मुक्तये। भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते ॥" अर्थात् भवबंधनके निवारण करनेवाली मैं उस मुक्तिको कदापि नहीं चाहता जिसमें 'प्रभु स्वामी हैं और मैं दास' इस भावका विलोप हो जाता है।

भगवान् कपिलदेवने भी देवहूतिजीसे ऐसा ही कहा है, यथा "सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनम् जनाः ॥" अर्थात् सालोक्यादि पाँचो प्रकारकी मुक्तियोंको हमारे जन हमारे देनेपर भी नहीं ग्रहण करते। (भा० ३.२९.१३)। पुनः यथा 'न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत् ॥" (भा० ११।१४।१४) अर्थात् मेरा अनन्य भक्त जो मुझको आत्म समर्पण कर देता है वह ब्रह्माके पदको, महेन्द्रपदको, सार्वभौमराज्य एवं पातालराज्यको तथा योगसिद्धि और मोक्षतककी भी चाह नहीं करता, एक मुझीको चाहता है। वैसे ही श्रीसुतीक्ष्णजी यहाँ बारंबार सगुण स्वरूपकी भक्तिका वर माँगते हैं।

बाबा जयरामदासजी—श्रीलीलाधाम प्रभुने देखा कि 'मुनिजी थोड़ी देर पहले तो ध्यानमें इतने मग्न थे कि मेरे जगानेपर भी नहीं जगे थे, परन्तु इस समय उनकी याचनामें कितनी दूरकी सोच-सँभाल प्रकट होती है ! अतः इन्हें और सचेतकर अवसर दे आर्तताके रहस्यका आनन्द लेना चाहिए। भगवान् भी भक्तों के साथ विनोद करनेमें वैसे ही सुखी होते हैं जैसे भक्त भगवान् की लीलामें। भगवान् बोले—'परम प्रसन्न···देउँ सो तोही'। मुनि ! और भी जो कुछ चाहते हो सो माँगनेमें कसर न करो; मैं सब कुछ देनेको तैयार हूँ।

प० प० प्र०—श्रीसुतीक्ष्णजीकी स्थिति 'बालक सुत' की हो गई। बालक जानता तो है कि क्या चाहिए पर उचित शब्दोंमें इच्छाको प्रकट नहीं कर सकता। माता उसके स्वभावसे उसकी चाह तो जानती है, पर उसकी तोतली वाणी सुननेमें उसे आनंद है। सुतीक्ष्णजीका विचाररूपी भूपति विवेकरूपी सुभटकी सहायतासे प्रयत्न तो कर रहा है पर इष्टार्थ प्राप्ति नहीं होती। प्रथम 'अनुज श्रीसहित खरारी काननचारी' को मनमें बसानेकी इच्छा प्रदर्शित की, पर अनुज और श्रीसे भरत, शत्रुघ्न और लक्ष्मीका भी बोध हो सकता है। अतः उस भूलको सुधारनेके लिये फिर माँगा कि 'जो कोसलपति···अयना', पर इसमें भी कमी रह गई। बालक सुतीक्ष्ण समझता है कि मुझसे ठीक नहीं कहते बनता, अतः फिर तीसरी बार प्रयत्न करता है—'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।' इसमें तो सब कुछ छूट गया, तीसरा

ही कुछ मुखसे कहा गया। इसमें सेव्य-सेवक-भावसे भक्ति माँगी। इसमें 'तस्य अहम्' और 'मम असौ' इन दोनों भावोंका समावेश हो गया। वालककी यह दशा देखकर माता प्रसन्न है, उससे अब रहा नहीं जाता, वह बच्चेको हृदयसे लगा लेती है। ☞ इससे सिद्ध हुआ कि सेवक-सेव्य-भावसे भजनेवाला अमानी दास ही भगवान्‌को अति प्रिय है। कहा भी है 'सेवक पर ममता अति भूरी।'

टिप्पणी—२ 'वहुरि हरषि मुनिवर उर लाये' इति। एक वार उरमें लगा चुके हैं, यथा 'भुज विसाल गहि लिये उठाई। परम प्रीति राखे उर लाई', अब फिर लगाया। अतः 'वहुरि' पद दिया। 'उर लाये' कि हम तो तुम्हारे हृदयमें वसेंगे ही तुम हमारे उरमें वसो। (इससे प्रभुने मुनि पर अपना परम प्रेम और प्रसन्नता दर्शित की जैसा आगे वे स्वयं कहते हैं)।

प० प० प्र०—'वहुरि हरषि मुनिवर उर लाए' इति। दो वार हृदयसे लगानेका सौभाग्य अन्य किसी मुनिको प्राप्त नहीं हुआ। हाँ, श्रीहनुमान्‌जीसे प्रभु तीन वार मिले हैं। यथा 'प्रीति सहित सब भेंटे रघुपति करुनापुंज।५।२६।' (जाम्बवान् आदिके साथ इनसे भी मिले); 'सुनत कृपानिधि मन अति भाए। पुनि हनुमान हरषि उर लाए।५।३०।६।' (इस दूसरी वारके मिलनके शब्दोंको सुतीक्ष्णसे मिलनवाले शब्दोंको मिलानेसे कविकी कैसी सावधानता देख पड़ती है। 'सुनत' 'अति भाए' से हनुमान्‌जीके विषयमें प्रेमाधिक्य जना दिया है); 'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा।५।३३।४।' (यह मिलन दूसरी वारके 'अति भाए' का ही फल है।) इस प्रकार श्रीहनुमान्‌जीकी विशेषता दिखाई है, नहीं तो 'सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी।' ये वचन निरर्थक हो जाते। 'वालक सुत सम दास अमानी', 'सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ', 'भगतवछलता हिय हुलसानी' यह सब वचन यहाँ चरितार्थ हुए।

अपने हृदयसे वाचाशक्ति और विवेक-वल मुनिके हृदयमें डालकर तव माता कहेगी कि वेटा, ले, तेरी जो इच्छा हो माँग ले।

टिप्पणी—३ "परम प्रसन्न जानु मुनि मोही।००" अर्थात् प्रसन्न तो हम सदा ही रहते हैं, पर तुम्हारी विनय सुनकर आज तुमपर मैं परम प्रसन्न हूँ; अतः जो माँगो सो दूँ। तात्पर्य कि तुम हमारे 'निज जन' हो और 'जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे'।

प० प० प्र०—स्मरण रखने की वात हैं कि 'जानु', 'तोही' आदि एक-वचनका प्रयोग प्रभुने प्रसन्नतावश ही और वह भी सुतीक्ष्ण, हनुमान्, शवरी तथा विभीषण ऐसे भक्तोंके साथ किया है। कारण कि माता अपने वालक सुतको ऐसे ही संवोधित करती है। एकवचनका प्रयोग परमप्रेमका द्योतक है, वहुवचन तो शिष्टाचार है।

> मुनि कह मैं वर कवहुँ न जाचा। समुझि न परै झूठ का साचा ॥२४॥
> तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई ॥२५॥
> अविरल भगति विरति विज्ञाना। होहु सकल गुन-ज्ञान-निधाना ॥२६॥

अर्थ—मुनि कहते हैं कि मैंने वरदान कभी नहीं माँगा, मुझे समझ नहीं पड़ता कि क्या झूठ है और क्या सत्य है।२४। हे रघुराई! हे दासोंको सुख देनेवाले! आपको जो अच्छा लगे वही दासोंको सुख देनेवाला वर मुझे दीजिए।२५। (प्रभु वोले) अविरल भक्ति, वैराग्य, विज्ञान और समस्त गुणों और ज्ञानके निधान हो जाओ।२६।

नोट—१ 'मुनि कह मैं वर कवहुँ न जाचा···' इति। (क) मुनिने माँगा था कि श्रीजानकीलक्ष्मणसहित हमारे उरमें वसिए—'वसतु मनसि मम काननचारी'। उसपर भी श्रीरामजी कह रहे हैं कि 'वर माँगो', इस कारण मुनि सोचमें पड़ गए, विचार करने लगे कि इससे सुन्दर श्रेष्ठ कौन वर है जो माँगूँ।

क्या मेरे वरमें कोई कसर रह गई है ? अवश्य होगी तभी तो प्रभु माँगनेको कहते हैं। भगवान् यहाँ उनकी परमानन्यता प्रकट करना चाहते हैं। और स्वयं भी उनके आर्तताके रहस्यका आनन्द लेना चाहते हैं। कोई और ऐसा वर न समझ पड़ा; अतएव उन्होंने कहा कि मैंने तो कभी वर किसीसे माँगा नहीं, इससे मेरी समझमें कुछ नहीं आता कि क्या उत्तम है जो माँगा जाय, इसलिए जो आपको अच्छा लगता हो और जो सेवकको सुखद हो वह स्वयं सोचकर दीजिये। भगवान् ने जो वर दिया—'अविरल भक्ति०', यही भक्तसुखदायी है और उनको प्रिय लगता है और जब किसी पर प्रभु परम प्रसन्न होते हैं तभी यह वर उसे देते हैं—ये सब बातें यहाँ जनाई'। ( पं० रा० कु० )। (ख) पुनः भाव कि मुझे तो केवल आपका आशा-भरोसा रहा है। सो आपका दर्शन प्रथम-प्रथम आज प्राप्त हुआ; इससे पहले माँगता किससे ? किसी दूसरे से कभी माँगा होता तो समझा जाता कि वर माँगना जानते हैं। (करु०, वै०)। (ग) ☞ यहाँ उपदेश देते हैं कि भगवान्से जब माँगे तब उनकी अविरल भक्ति और उसके साथ उसकी रक्षाके लिये वैराग्य और ऐश्वर्यका ज्ञान इत्यादि ही माँगे। यह जीवका परम पुरुषार्थ है, परम ध्येय है, परम कर्तव्य है।

वि. त्रि.—झूठ और सचका परिज्ञान मुझे नहीं हैं। इनकी पहिचान ज्ञानसे होती है सो वह ब्रह्मज्ञान मुझमें नहीं है। संभव है कि कोई मिथ्या वस्तु माँग लूँ। इसीसे मैंने वरदान कभी नहीं माँगा, सदा फलानुसंधानरहित कर्म करता आया।

प० प० प्र०—'अबिरल भगति···' इति। सुतीक्ष्णजीको यह वर विना माँगे ही मिल गया। अगस्त्यजीको माँगने पर मिला है, यथा 'यह बर माँगउँ कृपानिकेता। बसहु हृदय श्रीअनुज समेता॥ अविरल भगति बिरति सतसंगा। चरन सरोरुह प्रीति अभंगा।'—यह है भेद बालकसुत और प्रौढ़ तनयमें।

**प्रभु जो दीन्ह सो बरु मैं पावा। अब सो देहु मोहि जो भावा॥२७॥**

**दोहा—अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।**
**मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥११॥**

अर्थ—जो वर प्रभुने दिया वह मैंने पाया, अब जो मुझे अच्छा लगता है वह दीजिए।२७। हे प्रभो ! भाई श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजी सहित धनुषबाणधारी रामरूप मेरे निष्काम हृदयरूपी आकाशमें चन्द्रमाके समान सदा बसे।११।

टिप्पणी—१ 'अब सो देहु मोहि जो भावा' इति। (क) जब भगवान्ने वर दिया तब समझ पड़ा कि जगत् असत्य है, प्रभु ही सत्य हैं, यथा 'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना'। पुनः, भाव कि जो आपने दिया वह मैंने अंगीकार किया। पर अब मुझे ये कुछ अपनी उस रुचिके आगे नहीं भाते जो अब उपजी है। (खर्रा)। (ख) आदि मध्य अवसान तीनोंमें मुनिने एक ही वर माँगा। यथा (१) 'तदपि अनुज श्रीसहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी' (आदिमें), (२) 'जो कोसलपति राजिवनयना। करउ सो राम हृदय मम अयना' (मध्यमें) और (३) 'अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम। मम हिय०० बसहु०' (अंतमें)। तात्पर्य कि वनचारी रूपसे मेरे मनरूपी वनमें वसिए, कोशलपति अर्थात् राजारूपसे 'ममहृदय-अयनमें' वसिए और साकेतयात्रा पर 'मम हिय गगन' में वसिए। इस प्रकार तीन बार हृदयमें तीन भेदसे वसनेको कहकर जनाया कि भक्ति ज्ञान आदि सब श्रीरामजीकी प्राप्तिके साधन हैं और श्रीरामजीका हृदयमें सगुण रूपसे बसना सिद्धफल है। यथा 'सब साधन को एक फल जेहि जान्यो सोइ जान। ज्यों त्यों मन मंदिर बसहिं राम धरे धनु बान।' (दोहावली ९०)।

२ 'मम हिय गगन इंदु इव'—यहाँ हृदयको आकाश और प्रभुको चन्द्रमा कहा और माँगा कि 'अनुज जानकी सहित' बसिए। प्रभु चंद्रमा हैं तो लक्ष्मणजी बुध और श्रीजानकीजी रोहिणी हुईं, इस प्रकार रूपक पूरा हुआ, यथा 'उपमा बहुरि कहउँ जिय जोही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही।२.१२।'

टिप्पणी—३ 'वसहु सदा निहकाम'। भाव कि चन्द्रमा अष्टप्रहर आकाशमें नहीं रहता और साकेत-विहारीजी साकेतमें सदा विहार करते हैं; अतएव 'सदा' पद दिया। 'निष्काम' का भाव कि यहाँसे जानेकी कभी कामना न कीजिए।

प्र०—१ 'निहकाम'। पद 'हृदय, राम, और वसहु' तीनोंके साथ लगता है। हमारा हृदय निष्काम है—'ते तुम्ह राम अकाम पियारे'। एवं हमारा हृदय सदा निष्काम बना रहे। कभी आपसे भी किसी बात की कामना न करे। पुनः, हमारे हृदयमें निष्काम (स्थिर) बसिए अर्थात् इसे छोड़नेकी फिर कभी भी कामना न कीजिए। २ 'यह काम' पाठ भी प्राचीन टीकाकारोंने दिया है जिसका अर्थ है—'यह मेरी अभिलाषा है'।

प० प० प्र० - 'प्रभु जो दीन्ह···' इति। कविकुलकमलप्रभाकरने बालक स्वभावका बड़ा प्रलोभनीय आदर्श बालककी अटपटी पर प्रेम लपेटी वाणीमें प्रकाशित किया है। मुनिकी वृत्ति देखकर सम्भव है कि कोई कहे कि मुनि बड़े चतुर हैं; पर यह बात अयोग्य है, बालक भला चतुराई कब कर सकता है और फिर हेतुरहित निज शिशु-हितकारी प्रेममयी मातासे !!

रा० प्र० श०—१ प्रथम वर माँगा था कि 'वसतु मनसि मम कानन चारी'। फिर सोचे कि यह वन-विहारी वेष तो १४ वर्षके लिए ही है, ऐसा न हो कि हमारे हृदयसे फिर निकल जाय तब माँगा कि 'जो कोसलपति राजिव नयना। करो सो राम००'। फिर मानों सोचे कि कोशलपति तो ११ हजार वर्ष ही रहेंगे, यथा 'दश वर्ष सहस्राणि दशवर्ष शतानि च। रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति।' इति वाल्मीकीये। इसके बाद यह रूप हमारे अन्तःकरणमें रहे या न रहे अतएव माँगा कि 'मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा'। चन्द्रमा और आकाश महाप्रलयतक रहते हैं, अतः सन्तुष्ट हो गए। २—निःकाम = चेष्टारहित।

प० प० प्र०—'अनुज जानकी सहित···' इति। यह चौथे बारकी माँग है। जिसे माँगनेका प्रयत्न पूर्व तीन बार करके देखा वह सब इसमें समाविष्ट है। अबकी बार विचार-भूपतिने विवेक-सुभटकी पूरी शूरता वीरता धीरताके सहायसे गिरा अर्थपर विजय प्राप्त कर ली। पूर्व तीन बारके प्रयत्न-'अनुज श्रीसहित खरारी।···', 'जो कोसलपति···' और 'अस अभिमान···'—में क्या-क्या छूट गया था यह यथास्थान कहा गया है।

'प्रभु' से अवतारीकी सूचना दी। राम और अनुजसे कोसलपति जनाया। 'श्री' की अतिव्याप्ति 'जानकी' शब्दसे मिटाई। चापबाणधर और जानकीके साहचर्यसे काननचारी, 'हिय गगन इंदु इव' से खरारी-शब्द सूचित त्रिताप और कामादिके विनाशक जनाया। 'सदा वसहु' से इन्दुके अव्याप्ति दोषको निकाल डाला।

'निहकाम'-निकाम=यथेष्ट=यथेप्सित। 'कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितम् इत्यमरः।' हमने निहकामका अर्थ निकाम इसलिये किया है कि श्रीरामजीमें कामका अस्तित्व कौन मान सकता है और सुतीक्ष्ण ऐसा अनन्य गति कभी यह नहीं कह सकता कि मेरा हृदय निष्काम है। 'प्रकृतिप्रत्ययसन्धिर्लोप विकारागमाश्च वर्णानाम्'—व्याकरणके इस आधारसे 'निकाम' शब्दमें 'ह' आगम होनेसे 'निहकाम' हो सकता है। और पूर्वसन्दर्भानुसार दोहेमें जो कुछ माँगा है वह मुनिजीकी ईप्सा थी। उन्होंने स्पष्ट कहा है 'अब सो देहु मोहि जो भावा।' 'मोहि जो भावा' का अर्थ यथेप्सित है। इस प्रकारके वर्णागमके उदाहरण-सराप, अस्तुति, उपरोहित, अस्थान आदि हैं।

प० प० प्र०—सुतीक्ष्णस्तुति और पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्रका साम्य—(१) अनुक्रम—यह स्तुति ग्यारहवीं है और पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्र भी ग्यारहवाँ है। (२) इस नक्षत्रमें दो तारे, वैसे ही स्तुतिमें श्रीरामसगुण-विग्रहस्वरूपवर्णन और ऐश्वर्यगुणवर्णन दो हैं। पहले तारेके साथ 'नौमि' है तो दूसरेके साथ 'त्रातु' है और नौमि एवं त्रातु तीन तीन बार आये हैं। (३) पूर्वाफाल्गुनी और उत्तराफाल्गुनी मिलकर दोनोंका आकार लम्बचतुरस्र शय्याके समान है; यथा 'द्वन्द्वद्वयेनोत्तरयोस्तु शय्या' (रत्नमाला नक्षत्ररूपाणि)। दोनों नक्षत्रोंके

दो दो तारोंको जोड़ देनेसे लम्बचतुरस्र होगा। इस प्रकार दोनों नक्षत्रोंके आकारमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्रीसुतीक्ष्ण और श्रीअगस्त्यजीमें भी शिष्य और गुरु यह परम पवित्र सम्बन्ध है। स्तुतिके बाद सुतीक्ष्णजी गुरुके पास जाते भी हैं। ग्यारहवें दोहेमें सुतीक्ष्णस्तुति पूरी नहीं हुई है—'एवमस्तु करि रमानिवासा। हरषि चले कुंभज रिषि पासा।' स्तुतिके देवताको भी १२ (१) में दोनोंसे सम्बन्धित दरसाया है और तेरहवें दोहेमें अगस्ति कृत स्तुति है। जैसे दोनों नक्षत्रोंके तारे आकारमें परस्पर संबंधित हैं, अगस्तिस्तुतिके समय सुतीक्ष्णजी भी वहाँ ही उपस्थित हैं। (४) सुतीक्ष्णस्तुतिमें सगुणरूपको प्राधान्य देकर निर्गुणरूपको असार बताया है। फल्गु = असार। निर्गुणरूप आद्यरूप, पूर्वरूप है, उसको यह स्तुति फल्गुत्व दे रही है। अतः पूर्वाफाल्गुनी नाम सार्थ हुआ। (५) फाल्गुण नक्षत्रका देवता भग (सूर्य) है और इस स्तुतिमें श्रीरामजीको भानु कहा है—'संत सरोरुह कानन भानुः।' (६) फलश्रुति—'सुभट भूपति विचारके'। स्तुतिकी टीकामें जहाँ तहाँ विवेकरूपी सुभटका कार्य बताया है। इन सब गुणग्रामोंका सम्बन्ध श्रीरामजीसे भी सिद्ध होता है। 'धर्म वर्म नर्मद गुणग्रामः' यह श्रीरामजीके लिये ही है। और उनके गुणग्राम भी 'कुपथ कुतर्क कुचालि कलि कपट दंभ पाषंड। दहन रामगुनग्राम जिमि ईंधन अनल प्रचंड' हैं।

नोट—१ सत्योपाख्यानमें मिलता हुआ श्लोक यह है—'सीतया सह रामत्वं लक्ष्मणेन च बाणभृत्। मदीये हृदयाकाशे वसेन्दुरिव सर्वदा'। पर यहाँ 'निःकाम' पद अधिक है।

मा० म० (मयूख)-पहले अभेद भावसे वर माँगा—'जो कोसलपति०'। वह एक रूप मनमें व्याप्त था। परन्तु जब एक स्वरूपसे हृदय हरा न हुआ तब तीनों स्वरूपोंको हृदयमें वास करनेके लिए वर माँगा, यथा 'अनुज जानकी सहित०'। क्योंकि विना जानकीजीके हृदय हराभरा नहीं होगा; अतः श्याम गौर मूर्त्तियोंको हृदयमें बसाया।

नोट—२ पु० रा० कु० जी यहाँ नवधा, प्रेमा और परा भक्तियोंके उदाहरण मुनिमें दिखाते हैं। इनमेंसे नवधाके उदाहरण तो १० (२०-२४) में आ चुके हैं। केवल भेद इतना है कि यहाँ स्मरणका उदाहरण 'हे बिधि दीनबंधु०' और सख्यका 'मुनिहि मिलत अस सोह०' दिया है। 'निर्भर प्रेम मगन' प्रेमा और 'दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा...' पराके उदाहरण हैं।

सुतीक्ष्ण-प्रेम-प्रकरण समाप्त हुआ।

## "प्रभु-अगस्ति-सत्संग-प्रकरण"

एवमस्तु करि रमानिवासा। हरषि चले कुंभज रिषि पासा ॥१॥
बहुत दिवस गुर दरसनु पाए। भए मोहि येहिं आश्रम आए ॥२॥
अब प्रभु संग जाउँ गुर पाहीं। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं ॥३॥
देखि कृपानिधि मुनि चतुराई। लिए संग बिहसे द्वौ भाई ॥४॥

अर्थ—श्रीनिवास भगवान् रामचन्द्रजी एवमस्तु (ऐसा ही हो) कहकर प्रसन्न होकर श्रीअगस्त्य ऋषिके पास चले ॥१॥ (सुतीक्ष्णजी बोले) मुझे गुरुका दर्शन हुए और इस आश्रममें आए बहुत दिन हो गए अर्थात् जबसे यहाँ आया दर्शन नहीं हुए ॥२॥ हे प्रभो! अब आपके साथ गुरुजीके पास जाता हूँ। हे नाथ! इसमें आपका कुछ निहोरा (आपपर मेरा एहसान) नहीं ॥३॥ मुनिकी चतुरता देखकर कृपानिधान श्रीरामजीने उन्हें साथ ले लिया और दोनों भाई (चतुरतापर) हँस पड़े ॥४॥

नोट—१ श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि भरद्वाज, वाल्मीकि, अत्रि और शरभंग इन चारोंके वरयाचना या प्रार्थना करनेपर 'एवमस्तु' इत्यादि न कहनेका कारण यह है कि ये चारों बड़े प्रसिद्ध मुनि थे। वे ज्ञानप्रधान-भक्तियुक्त थे। उनके याचनाके पश्चात् ऐसा न कहनेसे उन ज्ञानी भक्तोंको दुःख होनेकी

संभावना न थी। सुतीक्ष्णजी दीन घाटके भक्त थे। 'एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की।' यही उनका एक मात्र साधनाधार था। वे 'बालक सिसु सम दास अमानी' कोटिके भक्त थे। बालक कुछ प्रेमसे माँगे और वात्सल्यपूर्ण जननी माँ 'बेटा! ले ले' ऐसा तुरत न कहे तो बालकको विषाद होगा। उसको लगेगा कि माँ की देनेकी इच्छा नहीं। बालक यह नहीं जानता कि 'मौनं सम्मति लक्षणम्'। अपने अतिशय प्रीतियुक्त बालकको कष्ट पहुँचाना मातृहृदयके बाहरकी बात है। फिर श्रीरामजी जैसी माँ ऐसा कब कर सकती? अतएव 'सुतीक्ष्ण' जीके लिए 'एवमस्तु' ऐसा कहा गया और भरद्वाजादिके प्रसंगमें नहीं कहा गया।

श्रीप्रज्ञानानंद स्वामीजी—'हरषि' इति। भरद्वाज, वाल्मीकि, अत्रि और शरभंग इन चारों ऋषियोंके आश्रमपर जानेके समय 'हरषि' या 'हर्ष सहित' शब्दोंका प्रयोग नहीं है। यथा 'तव प्रभु भरद्वाज पहिं गयऊ', 'प्रात नहाइ चले रघुराई।'''बालमीकि आश्रम प्रभु आए।', 'सीता सहित चले दोउ भाई।'''अत्रि के आश्रम जब प्रभु गयऊ।', 'पुनि आए जहँ मुनि सरभंगा।' यहाँ महर्षि अगस्त्यके आश्रमको जाते समय 'हरषि' शब्दका प्रयोग क्यों हुआ? दूसरे श्रीरघुनाथजी तो 'हर्ष विषाद रहित' हैं तब यहाँ 'हरषि' क्यों लिखा? समाधान यह है कि जहाँ व्यक्तिका कार्य करनेका अवसर आया है वहाँ भगवान् श्रीराम हर्ष-विषादरहित हैं परन्तु जहाँ भक्तका प्रेम देखते हैं वहाँ हर्ष होता है। 'भक्त बिरह दुख दुखित सुजाना।' और जहाँ जहाँ अवतार कार्य करनेके लिये महत्त्वका अवसर आता है वहाँ-वहाँ भी हर्षका वर्णन मिलता है। यथा (१) 'हरषि चले मुनि भय हरन' १-२०८ में मुनिभयका हरण करना मुख्य कारण हर्षका नहीं है। यहाँ अवतार कार्यका प्रारंभ होनेवाला था। इसमें मुख्यतः मारीचका वशीकरण करके रावण-वधके नाटकमें एक विशेष सहायक पात्र बनाकर रखना था; इसके लिए हर्ष हुआ है। (२) 'धनुषयज्ञ सुनि रघुकुल-नाथा। हरषि चले मुनिवर के साथा।१।२१०।१०।', तथा 'हरषि चले मुनि बृंद सहाया। बेगि बिदेह नगर निअराया।१।२१२-४।' में हर्ष इसलिए हुआ है कि रावण-वधके नाटकके मुख्य प्रलोभक पात्र श्रीसीताजीका संयोग होगा। तथा यहाँ (३) प्रस्तुत प्रसंग (श्रीअगस्त्याश्रमको प्रस्थान) के पूर्व प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि 'निसिचरहीन करउँ महि'''। ६।' इस प्रतिज्ञाकी अंशतः पूर्ति और रावणादिके विनाशका श्रीगणेश किस स्थानपर निवास करनेसे सुगमतासे होगा यह अगस्त्यजीके मुखसे जाननेके उद्देश्यसे वहाँ जानेको निकले थे। अतः हर्ष कहा। यहाँ 'अगस्ति' शब्द न लिखकर 'कुंभज' शब्दका प्रयोग करके 'कहं कुंभज कहं सिंधु अपारा। सोषेउ सुजस सकल संसारा। १।२५६.७।' इस सामर्थ्यकी ओर ध्यान खींचनेका प्रयत्न किया गया है।

आगे भी इसी भावसे 'हरषि' शब्दका प्रयोग उपलब्ध होता है।—(४) 'हरषि राम तब कीन्ह पयाना। ५-३५-४।', लंकाकी चढ़ाईके लिए किष्किंधासे प्रयाणका यह उल्लेख है। और (५) एक उदाहरण विभीषण-मिलनके समय यह है—'तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा। ५-४६-१।' इसमें विशेष शब्दसे बताया कि विभीषणका मिलन और शरणागति रावण-वध-कार्यमें एक विशेष कारण है।

पु०रा०कु०—१ 'एवमस्तु करि रमा निवासा''' इति। (क) रमानिवास—रमाका निवास है जिनमें, अर्थात् जो परम उदार हैं, यथा 'बारबार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग। ७.१४।' [प्र०—तापनी आदिमें 'रमा' भी एक नाम श्रीसीताजीका कहा है।] (ख) 'हरषि' चलनेका भाव कि श्रीरामजी को अगस्त्यजीके दर्शनोंकी उत्कंठा है इसीसे उनके पास जानेमें हर्ष हो रहा है। (ग) वाल्मीकिजी लिखते हैं कि रामजी अगस्त्यजीके पास वार्तालाप और लाभकी आशासे जा रहे थे, वही प्रसंग गोसाईंजीने 'हरषि' शब्दसे जना दिया है। प्रमाण, यथा 'एष लोकार्चितः साधुर्हिते नित्यरतः सताम्। अस्मानभिगतानेष श्रेयसा योजयिष्यति। ३.११.८७। अर्थात् ये महात्मा सबके द्वारा पूजित हैं, सज्जनोंके कल्याणमें रत हैं, हम लोग जब उनके यहाँ जायेंगे तब अवश्य ही ये हमारा कल्याण करेंगे। [पुनः, अगस्त्यजी वसिष्ठजीके भाई हैं, अतः उनके दर्शनके लिये हर्षित

होकर चले । अगस्त्यजीसे रावण-वधके लिये मंत्र लेंगे, शरणागत मुनियोंके त्रासका हरण करेंगे, इसलिये 'रमानिवास' कह रहे हैं । यथा 'दे भक्ति रमानिवास त्रास हरन सरन सुखदायकं ।' ( वि. त्रि. ) ] ‡

प० प० प्र० —'कुंभज रिषि पासा' इति । पूर्व इन्हें मुनि कहा था, यथा 'मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना' । यहाँ 'ऋषि' शब्द देकर जनाते हैं कि मंत्र पूछनेके लिये इनके पास जाते हैं, क्योंकि ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा होते हैं—'ऋषयो मन्त्राणां द्रष्टारः ।'

टिप्पणी—२ 'भए मोहि येहि आश्रम आए' इति । अर्थात् गुरुदर्शन हुए बहुत दिन हुए और इस आश्रममें आए बहुत दिन हुए । इस कथनसे सिद्ध हुआ कि इनका दूसरा भी आश्रम था, जैसे श्रीअगस्त्यजी और वाल्मीकिजीके भी दो-दो आश्रम थे ।

३ "अब प्रभु संग जाउँ···" इति । (क) प्रभुको अगस्त्यजीके यहां पहुँचाने और इस तरह मार्ग भर प्रभुके संग तथा दर्शनका लाभ लेने तो जा ही रहे हैं किंतु कहते हैं कि 'तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं' । इसमें भाव यह है कि मैं कुछ आपके निमित्त साथ नहीं जाता, आपको पहुँचाने जाता तो चाहे एहसान होता, पर मैं तो अपने गुरुका दर्शन करने जाता हूँ । मार्ग यही है । अतः इसमें 'निहोरा नाहीं' । ( चतुराई इस वाक्यमें यह देखी कि गुरुका दर्शन करनेको कहते हैं इससे रोकते नहीं बनता और गुरु-दक्षिणामें यह हमको ही देंगे । पुनः, हमारा निहोरा होता तो हम मना करते, जब निहोरा नहीं तो कैसे मना करें ) । (ख) संग चलनेका निहोरा नहीं है, यह चतुराई है । क्योंकि प्रभु किसीको संग नहीं लेते । यथा (१) 'बरबस राम सुमंत्र पठाये । सुरसरि तीर आप तब आये । २.१०० ।', (२) 'बिदा किए बटु बिनय करि फिरे पाइ मन काम । २:१०९ ।', (३) 'तब रघुबीर अनेक बिधि सखहिं सिखावनु दीन्ह ।···गवन तेइ कीन्ह । २.१११ ।', (४) 'पथिक अनेक मिलहिं मग जाता । कहहिं सप्रेम देखि दोउ भ्राता ॥···करि केहरि बन जाइ न जोई । हम संग चलहिं जौं आयसु होई ।···एहि बिधि पूछहिं प्रेमबस पुलकगात जल नयन । कृपासिंधु फेरहिं तिन्हहिं कहि बिनीत मृदु बयन । २.११२ ।', (५) 'जथा जोग सनमानि प्रभु बिदा किए मुनि बृंद । २.१३४ ।', (६) 'राम सकल बनचर तब तोषे । कहि मृदु बचन प्रेम परिपोषे ॥ बिदा किये । २.१३७ ।' परन्तु श्रीसुतीक्ष्णजी इस बहाने दर्शनलाभार्थ संग जाते हैं कि मैं तो गुरुदर्शनको जाता हूँ । (ग) चतुराई देखकर हँसे कि हमारे दर्शनार्थ साथ जाते हैं और भार गुरुपर डालते हैं । ( साथमें चलकर हमें गुरुदक्षिणारूपमें देना चाहते हैं, नहीं तो बिना हमारे साथके गुरुके पास न जानेका अर्थ क्या है, यह चतुराई है । वि. त्रि. ) ।

मा० म०—तात्पर्य यह है कि गुरुने आज्ञा दी थी कि जबतक श्रीरामजी न आवें तबतक यहाँ न आना, श्रीरामजीके साथ आना । अतः संग जाकर उनकी आज्ञा पूरी करूँगा । यह उलटी बात होती है कि शिष्यद्वारा गुरुको रामप्राप्ति हो, पर ऐसी आज्ञा ही है । ( नोट—इस विषयमें यह कथा कही जाती है कि सुतीक्ष्णजीने अपने गुरु श्रीअगस्त्यजीको गुरुदक्षिणा देकर गुरुऋणसे उद्धार हो जानेके विचारसे गुरुजीसे गुरुदक्षिणा माँगनेका आग्रह किया । यद्यपि गुरुदेवजीने बारबार यही कहा कि इसका हठ न करो, मैं तुम्हें यों ही उऋण किए देता हूँ तो भी इनने न माना । तब अगस्त्यजीने कहा कि अच्छा नहीं मानते हो तो जाओ गुरुदक्षिणामें श्रीसीतारामजीको लाकर हमें दर्शन कराना और बिना उनके यहाँ न आना । यही कारण 'बहुत दिवस गुरु दरसन पाये' का है । आजकलके गुरु और शिष्योंको इस प्रसंगसे उपदेश ग्रहण करना चाहिए ) ।

टिप्पणी—४ (क) 'कृपानिधान' का भाव कि प्रभु कृपाके समुद्र हैं । इससे कृपा करके संग लिया ।

---

‡ खर्रा—वर देनेमें 'रमानिवास' कहा । अथवा, विष्णु चतुर्भुज और राम द्विभुजमें भेदका निराकरण करनेके लिए 'रमानिवास' कहा । अथवा, आकाशवाणीसे समझे थे कि विष्णुभगवान् आयेंगे इससे यह पद दिया ।

[ बिना श्रम गुरुऋण चुकाने और साथ ही साथ मार्गभरमें इष्टके दर्शनों और सत्संगका सुयोग देख उसका लाभ उठाये बिना न रहा गया। यही चतुराई है। (प० प० प्र०) ] (ख) यहां मन वचन कर्म तीनों कहे—'एवमस्तु' यह वचन है, 'हरषि' यह मनका विषय है और 'चले' कर्म है।

प० प० प्र०—'बिहँसे' इति। यहाँ विहसनेका कारण सुतीक्ष्णजीका गूढ़ प्रेम ही है। 'मन बिहँसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि। १।२६५।', 'सुनि केवटके बैन प्रेम लपेटे अटपटे। बिहँसे करुनाऐन चितइ जानकी लषन तन। २।१००।' इन प्रसंगोंमें जिस भावसे हँसे थे उसी भावसे यहाँ हँसे। 'बिहँसने' और 'मुसुकाने' में क्या भेद है यह 'बिहँसि कृपासुखबृंद। ३।२३।' में देखिये।

पंथ कहत निज भगति अनूपा। मुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा ॥५॥
तुरत सुतीछन गुर पहिं गयऊ। करि दंडवत कहत अस भयऊ ॥६॥
नाथ कोसलाधीस-कुमारा। आए मिलन जगत-आधारा ॥७॥
राम अनुज समेत बैदेही। निसिदिनु देव जपतहहु जेही ॥८॥
सुनत अगस्ति तुरत उठि धाए। हरि बिलोकि लोचन जल छाए॥९॥

अर्थ—रास्तेमें अपनी अनुपम भक्ति वर्णन करते हुए देवताओंके राजा ( रक्षक, पालक ) श्रीरामजी मुनिके आश्रमपर पहुँच गए।५। सुतीक्ष्णजी तुरत गुरुजीके पास गए और दण्डवत् करके इस प्रकार कहने लगे।६। हे नाथ! कोशलराज श्रीदशरथजीके राजकुमार, जगत्के आधार रूप, आपसे मिलने आये हैं।७। भाई और वैदेहीजी सहित श्रीरामचन्द्रजी आये हैं जिनका, हे देव! आप दिन-रात जप करते हैं।८। अगस्त्यजी यह सुनते ही तुरन्त उठ दौड़े। भगवान्को देखकर उनके नेत्रोंमें जल भर आया।९।

पु० रा० कु०—१ 'पंथ कहत निज भगति अनूपा।००' इति। (क) कथावार्त्तामें मार्ग शीघ्र कट जाता है, यथा 'बरनत पंथ बिबिध इतिहासा। बिस्वनाथ पहुँचे कैलासा। १.५८।', 'सीयको सनेह सील कथा तथा लंका की चले कहत चाय सों सिरानों पंथ छनमैं'—(क० सु० ३१) तथा यहाँ भक्ति कहते-कहते आश्रमपर पहुँच गए, मार्ग जान न पड़ा। (ख) यहाँ 'सुरभूपा' कहा क्योंकि देवताओंके कार्य्यके लिए अगस्त्यजीसे राक्षसोंके मारनेका संमत करेंगे, शस्त्रास्त्र लेंगे। (ग) 'भक्ति' कहनेका भाव कि प्रभुने विचारा कि हमारे संगका आनन्द इन्हें मिलना चाहिए। पुनः, भाव कि मुनिको भक्तिकी चाह है अतः भक्ति कही।

प० प० प्र०—१ अभी-अभी तो सुतीक्ष्णजीकी अनन्य भक्ति देखी है और वे साथ भी हैं। अतः भक्त और भक्तिके विचारोंसे ही भगवान्का अन्तःकरण परिपूरित है; इसीसे भक्तिकी चर्चा चलाई। अन्यथा दोनों भाइयोंके दिन तो 'कहत बिराग ज्ञान गुन नीती' बीतते थे। सुरभूपा=सुर+भू+पा=देवादि लोकोंके पालक। भाव कि स्वर्गादि लोकोंके पालनार्थ आये हैं।

टिप्पणी—२ 'तुरत सुतीछन गुरु पहिं गयऊ'। (क) गुरुके पास गये, इससे सूचित किया कि रामचन्द्रजी बाहर ही खड़े रहे। (ख) 'करि दंडवत कहत अस भयऊ'—श्रीरामागमन सुननेके पूर्व दण्डवत किया अर्थात् गुरुको दण्डवत करना यह रामागमन सुनानेसे भी अधिक है। (ग) 'तुरत' गुरु-दर्शन-हेतु एवं गुरुके भयसे कि वे यह न कहें कि पहले क्यों न जनाया जब वे आ ही गए तब जनानेसे क्या? दंडवत करके दक्षिणा दी जाती है। वैसे ही श्रीरामजीका आगमन सुनाया मानों गुरुदक्षिणामें रामजीको दिया। (खर्रा)। ❀तुरत इससे भी गए कि जिसमें गुरु स्वागत आदि यथोचित कर सकें। अ० रा० के मतानुसार श्रीरामजीने श्रीसुतीक्ष्णजीसे श्रीअगस्त्यजीको सीता-अनुज सहित अपने आगमनका समाचार देने को कहा है, यथा 'बहिरेवाश्रमस्याथ स्थित्वारामोऽब्रवीन्मुनिम्। सुतीक्ष्ण गच्छ त्वं शीघ्रमागतं मां निवेदय।५। अगस्त्यमुनिवर्याय सीतया लक्ष्मणेन च।' (३।३)।

प० प० प्र०—'तुरत गयऊ' इति। दौड़ते-दौड़ते ही गए होंगे। कारण कि—(क) वे जानते थे कि श्रीरामजीके साथ श्रीगुरुजीके पास गमन करनेमें गुरुदक्षिणा चुकानेका कार्य न होगा। (ख) श्रीरामजीको बहुत देरतक परीक्षा करते-करते मुनिके आश्रमके पास खड़ा रहना न पड़े। (ग) परमानन्दका समाचार जितना शीघ्र दिया जाय उतना ही अच्छा। 'सुनत अगस्ति तुरत उठि धाए।' भी देखिए।

टिप्पणी—३ 'नाथ कोसलाधीस कुमारा। आये मिलन००', इस प्रकार कहा; क्योंकि 'दर्शन करने आये हैं' ऐसा कहनेसे गुरु नाराज होते कि यह जानते हो और कह रहे हो कि जिनका आप भजन करते हैं, यथा 'निसिदिन देव जपत हहु जेही', तब दर्शन करना कैसे कहा ? जैसे कोई किसी चेलेसे कहे कि तुम्हारे गुरु तुम्हारे दर्शनको आए हैं तो शिष्यको कितना बुरा लगेगा। और, यदि कहें कि आपको दर्शन देने आए हैं तो यह रामजीके प्रतिकूल है। मर्यादा पुरुषोत्तम इस रूपसे मुनियोंके दास हैं। अतः 'आए मिलन' कहा। [ पुनः, 'जगत आधारा' में यह भाव है कि आपके और दासके जगत् ( अर्थात् देह ) के जो आधार हैं वे (आ गए)। यथा 'त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत्तवार्पितम्। भा० १०. १४. ३६।' ( प० प० प्र० ) ]

टिप्पणी—४ (क) यहाँ उपासनाचतुष्टय कहा है। 'कोशलाधीश' से धाम। 'कुमार' से रूप। 'जगत अधार' से लीला और 'राम अनुजसमेत वैदेही' से नाम। इससे जनाया कि मुनिका विशिष्टाद्वैत मत है। वे 'नाम रूप लीला धाम' चारोंके उपासक हैं, क्योंकि ये चारों नित्य हैं, यथा पंचरात्रे—'रामस्य नाम रूपं च लीला धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्द विग्रहम्'। ( ख ) 'निसिदिन देव जपतहहु जेही।' यहाँ 'देखिअहि नाम रूप आधीना' को चरितार्थ कर दिखाया है। नाम रातदिन जपते हैं, अतः रूप ( नामी ) पास आ गया।

प० प० प्र०—१ (क) 'जो कोसलपति राजिवनयना' ही उनके मुखसे दूसरे रूपमें निकलता है। (ख) 'कुमारा'—यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी सपत्नीक हैं तथापि सुतीक्ष्णजी उनके लिये 'कुमार' शब्दका प्रयोग कर रहे हैं; कारण कि वे सदा 'कुमार' अवस्थामें ही रहते हैं। ऐसा अर्थ करनेसे 'अहइ कुमार मोर लघु भ्राता। ३।१७।' पर आक्षेप करनेका स्थान न रहेगा। ( ग ) 'तुरत उठि धाए' इति। अगस्त्यजी त्वरा कर रहे हैं। इसमें और सुतीक्ष्णजीकी त्वरामें हेतु भिन्न-भिन्न है। अगस्त्यजीने जब सुना कि तीनों ध्येय मूर्त्ति आए हैं तो वे, 'कब जाऊँ और कब मिलूँ' ऐसी प्रेम दर्शनकी लालसा अति तीव्र होनेसे ही, दौड़े। इनकी कितने लंबे समयकी अतृप्त अभिलाषा तृप्त होनेवाली थी। कदाचित् उन्हें ऐसा लगा हो कि इस समय पंख मिल जावें तो भी विलंब ही हो जायगा।

रा० प्र० श०—मुनिसे जब कहा कि कोशलाधीशकुमार मिलने आए हैं तब मुनि न उठे। राजकुमारसे क्या प्रयोजन ? पुनः, 'कोशलाधीश कुमार' में अतिव्याप्ति है। श्रीभरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नजी भी तो कोसलाधीश-कुमार हैं, इससे अगस्त्यजी न उठे। इसी तरह 'जगत आधार' श्रीभरत और लक्ष्मणजी भी कहे गए हैं। लक्ष्मणजी भी जगदाधार हैं, यथा 'लच्छन-धाम रामप्रिय सकल जगत आधार। गुरु वसिष्ठ तेहि राखा लछिमन नाम उदार। १.१९७।' एवं भरतजीको कहा है कि 'भरत भूमि रह राउरि राखी। २.२६४।' इतनेपर भी ध्यान न दिया तब फिर उन्होंने यों कहा कि जिनका मंत्र आप जपते हैं वे श्रीसीता-लक्ष्मणसहित आए हैं। तब मुनि उठ दौड़े। ( इससे यह भी जनाया कि अगस्त्यजी श्रीसीतालक्ष्मणयुक्त रामजीके उपासक हैं )।

प० प० प्र०—महर्षि अगस्त्यजी जानते हैं कि सीताहरण-निमित्तसे ही दशाननकुलका नाश होगा और सुना इतना ही कि 'कोसलाधीस कुमारा जगत आधारा' आए। उनके अकेले या चारों भाइयोंसहित आनेसे क्या होगा ? इससे हर्ष न हुआ। जब सुनेंगे कि 'अनुज समेत वैदेही' आये हैं तब सुनते ही दौड़े। श्रीहनुमान्-भरत-मिलनसे मिलान कीजिए। 'रघुकुलतिलक सुजन सुखदाता। आयउ कुसल देवमुनित्राता। ७।२।४।' इतना सुनकर भरतजीको हर्ष नहीं हुआ, वे चिन्तामें मग्न हो गए कि क्या लक्ष्मण जीवित नहीं

हुए ? क्या श्रीसीताजी रावणके वशसे मुक्त नहीं हुईं ? इत्यादि । जब सुना कि 'सीता अनुज सहित प्रभु आवत' तब 'बिसरे सब दूखा । ७।२।५-६ ।'

नोट—'हरि बिलोकि···' इति । मुनि ऐश्वर्यको धारण किये हुए हैं और प्रभु माधुर्यको । अपने-अपने भावके अनुसार दोनों व्यवहारमें निपुण हैं, वैसे ही आचरण करते हैं । मुनि ऐश्वर्य जानते हैं अतः आगमन सुनते ही स्वागतके लिये उठ दौड़े । प्रभु माधुर्यमें दंडवत कर रहे हैं । 'उठि धाए' से जनाया कि मुनि बैठे हुए थे जब समाचार मिला ।

प० प० प्र०—'लोचन जल छाए' में प्रेमकी प्रगाढ़ दशा तो कारण है ही, तथापि मुनि जानते हैं कि ये भगवान् हैं, दशरथनन्दन हैं, पर विप्र धेनु-सुर-सन्त-हित कैसे-कैसे कष्ट झेल रहे हैं । इस कल्पनासे भी 'लोचन जल छाए' । जैसे 'करि प्रनाम तिन्ह राम निहारे । बेपु देखि भए निपट दुखारे ।' ( जनकदूत ), 'तापसबेपु जानकी देखी । भा सबु बिकल बिषाद बिसेषी ।' ( जनक समाज ), 'तनय बिलोकि नयन जल छाए ।' ( श्रीदशरथजी ), वैसे ही अगस्त्यजीके हृदयमें प्रीति थी । अगस्त्यजीमें ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों भावोंका संमिश्रण है, यह आगे स्पष्ट हो गया है ।

**मुनि पद कमल परे द्वौ भाई । रिषि अति प्रीति लिए उर लाई ॥१०॥**
**सादर कुसल पूछि मुनि ज्ञानी । आसन बर बैठारे आनी ॥११॥**
**पुनि करि बहु प्रकार प्रभु पूजा । मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा ॥१२॥**
**जहँ लगि रहे अपर मुनिबृंदा । हरषे सब बिलोकि सुखकंदा ॥१३॥**

अर्थ—दोनों भाई मुनिके चरणकमलोंपर पड़ गए (अर्थात् दोनोंने साष्टांग प्रणाम किया) । श्रीअगस्त्य ऋषिने अत्यन्त प्रेमसे उन्हें हृदयसे लगा लिया ॥१०॥ ज्ञानी मुनिने आदरपूर्वक कुशल पूछकर उनको लाकर श्रेष्ठ आसनपर बिठाया ॥११॥ फिर अनेक प्रकारसे प्रभुकी पूजा करके बोले कि मेरे समान भाग्यवान् दूसरा नहीं ॥१२॥ जहाँतक और मुनिसमूह थे वे सब सुखमूल आनन्दकन्द रघुनाथजीको देखकर प्रसन्न हुए ॥१३॥

टिप्पणी—१ 'मुनि पदकमल परे द्वौ भाई ।००' इति । ( क ) बिना चीन्हे संकोचवश श्रीसीताजी किसीको प्रणाम नहीं करतीं । उनका अत्यंत संकोची स्वभाव है । 'सकुचि सीय तब नयन उघारे', 'गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी', 'सकुची व्याकुलता बड़ि जानी', 'तन सकोच मन परम उछाहू', 'पुनि पुनि रामहि चितव सिय सकुचत मन सकुचै न', 'सीय सकुचबस उतरु न देई', 'पितु कह सत्य सनेह सुबानी । सीय सकुच महुँ मनहु समानी', 'कहति न सीय सकुच मन माहीं' ।—इन उदाहरणोंसे उनका अत्यन्त संकोची स्वभाव प्रकट है । वसिष्ठजी पुरोहित हैं, उन्हें वे पहचानती हैं, अतः उनको प्रणाम किया, यथा 'सीय आइ मुनिबर पग लागी । उचित असीस लही मन माँगी । २.२४६ ।', 'गहे चरन सिय सहित बहोरी । बोले राम कमल कर जोरी । २.८ ।' [ यहाँ उपलक्षणसे श्रीजानकीजीका भी प्रणाम करना जानना चाहिए । वा, कर्ममात्रमें विवाह-प्रतिज्ञानुसार पतियुत प्रणाम समझ लें । ( प्र० ) । अ० रा०।में तीनोंका प्रणाम करना कहा है, यथा 'रामोऽपि मुनिमायान्तं दृष्ट्वा हर्षसमाकुलः । सीतया लक्ष्मणेनापि दण्डवत्पतितो भुवि । ३.३.१३ ।' वाल्मीकीयमें भी तीनोंका प्रणाम करना कहा है, यथा 'अभिवाद्य तु धर्मात्मा तस्थौ रामः कृताञ्जलिः । सीतया सह वैदेह्या तदा रामः सलक्ष्मणः । ३.१२.२५ ।' वि० त्रि० का मत है कि "भगवती गायत्रीरूपा ब्राह्मणोंकी उपास्य देवता हैं, अतः उनकी उपासनाके विरुद्ध पड़नेकी आशंकासे प्रणाम नहीं करतीं, केवल बड़ोंकी आज्ञासे वसिष्ठजीको प्रणाम करती हैं । यथा 'सास ससुर गुरु पूजा करहू ।" स्वामी प्रज्ञानानंदजी लिखते हैं कि सुतीक्ष्णजीके संबंधमें 'अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा' ऐसा उल्लेख पहले कर देनेसे यहाँ यह भाव प्रतीत होता है कि गुरु और शिष्य दोनों भगत्प्रेममें समान थे । ]

प० प० प्र०—भरद्वाजजी और अत्रिजीको 'करत दंडवत मुनि उर लाए' ( २।१०६।७,३।३।६ ) ।

उन्होंने पूरी दंडवत नहीं करने दी क्योंकि वे केवल ऐश्वर्यके उपासक हैं, अपने इष्टको क्यों दण्डवत करने देंगे। वाल्मीकिजी और अगस्त्यजीने वैसा नहीं किया। इससे दोनोंमें माधुर्यभाव प्रतीत होता है। वाल्मीकिजी केवल माधुर्योपासक हैं, इसीसे उन्होंने अतिथिभावसे ही सम्मान किया और आशीर्वाद दिया, हृदयसे नहीं लगाया और न कोई वर माँगा। अगस्त्यजीने पूरी दण्डवत करने दी और हृदयसे लगाया। इसमें वात्सल्यकी माधुर्य भक्ति झलकती है। और पूजा आदिसे ऐश्वर्य भाव भी स्पष्ट है। ऐश्वर्य भावको जानबूझकर दबाकर केवल माधुर्यभावमें रमना मुनियोंके लिये तो बहुत दुष्कर है। श्रीदशरथजी, श्रीसुनयनाजी आदिको इतना दुष्कर नहीं। सुतीक्ष्णजीमें ऐश्वर्यभाव है, इसीसे उन्होंने दण्डवत की। शरभंगजीमें भी वही भाव था तथापि प्रेमावेशमें उन्होंने कुछ भी नहीं किया, रूपामृतपानमें ही मस्त हो गए।

टिप्पणी—२ 'सादर कुसल पूछि मुनि ज्ञानी'। सब जानते हैं, अतः ज्ञानी कहा। [कुशल पूछना माधुर्यभावका निदर्शक है। त्रिकालज्ञ और सर्वज्ञ हैं यह आगे के 'तुम्ह जानहु जेहि कारन आयउँ। ताते तात न कहि समुझाएउँ। १३.२।' से स्पष्ट है। (प० प० प्र०)। पुनः, 'मुनि ज्ञानी' कहकर उनकी भक्तिको अहैतुकी कहा, यथा 'आत्मारामास्तु मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः।' (वि. त्रि.)] जाननेपर भी कुशल पूछना यह रीति है, शिष्टाचार है। बारंबार कई प्रकारसे कुशल पूछा यह 'सादर' से जनाया। ['प्रभु' शब्दसे जनाया कि—(क) मुनि जानते थे कि दशरथनंदन श्रीरामजी परमात्मा हैं। (ख) कर्त्तुमकर्त्तु अन्यथा कर्त्तु समर्थ होनेपर भी 'संतत दासन्ह देहु बड़ाई' इस स्वभावानुकूल आए हैं। (ग) मुनिने जो पूजा की वह भी सेव्य-सेवक भावसे ही की। (प्र०)]

नोट—१ 'बर आसन' शब्द मानसमें चार स्थानोंमें और आया है, यथा 'सैलराज बड़ आदर कीन्हा। पद पखारि बर आसनु दीन्हा। १।६६।६।', 'बैठे बरासन रामु जानकि मुदित मन दसरथ भये। १।३२५ छंद।', 'दंड प्रनाम सबहि नृप कीन्हे। पूजि सप्रेम बरासन दीन्हे। १।३३१।१।', 'सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना।७।१००।६।' शैलराज और जनकमहाराज राजा हैं अतः वहाँ 'बरासन' का अर्थ सिंहासन है। उत्तरकांडमें बरासन 'व्यासासन' 'व्यासगद्दी' है। अगस्त्यजी श्रीरामोपासनाके आचार्य हैं; और जानते हैं कि श्रीरामजी उनके आश्रममें आयेंगे। अतएव यहाँ भी 'बर आसन' से सिंहासनका अर्थ ले सकते हैं। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि भरद्वाज और अत्रिजीने 'आसन' दिया है, यथा 'कुसल प्रश्न करि आसन दीन्हे। २।१०७।', 'प्रभु आसन आसीन। ३।३।' वनमें 'बर आसन' देना केवल अगस्त्यजीके यहाँ पाया जाता है। इससे हम कुछ कल्पना कर सकते हैं कि अगस्त्यजीका ऐश्वर्य कितना महान् था। दूसरा भाव यह है कि यद्यपि भरतजीकी विनयपर भी श्रीरामजीने राज्याभिषेक कर लेना अस्वीकार किया तथापि अगस्त्यजीने उनको सिंहासनपर बिठाकर पूजा की, इस तरह मानों बताया कि वे फिर सिंहासनाधिष्ठित होंगे।' [पर यह तो चित्रकूट दरबारमें ही निश्चित हो चुका है—(मा० सं०)। 'बैठारे आनी' से जनाया कि श्रीरामजीको मुनिके सामने सिंहासनपर बैठनेमें संकोच था अतः मुनिने आग्रहपूर्वक बिठाया। (वि. त्रि.)]

टिप्पणी—३ 'पुनि करि बहु प्रकार प्रभु पूजा।००' इति। (क) उपचारके विषयमें अनेक मत हैं-पंचोपचार, दशोपचार, षोडशोपचार, शतोपचार, सहस्रोपचार इत्यादि, अतएव पूज्य कविने किसी उपचारका नाम न देकर 'पुनि करि बहु प्रकार' इतना ही कहा। (ख) भगवान्‌से मिले, उनकी पूजा की और उनका नाम जपते हैं। इन कृत्योंसे जीव बड़भागी होता है अतः मुनिने अपने भाग्यकी सराहना की—'मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा'। पुनः, (ग) इन पदार्थोंकी प्राप्तिसे अपने भाग्यकी सराहना करना विधि है, यथा 'मोर भाग्य राउर गुनगाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा। १.३४२.३।' (जनक), 'फिरत अहेरे परेउँ भुलाई। बड़े भाग देखेउँ पद आई। १.१५६।' (भानुप्रताप), 'अहो भाग्य मम अमित अति रामकृपासुखपुंज। देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेव्य जुगल पद कंज॥ ५.४७।' (विभीषणजी), इत्यादि। ['मोहि सम भाग्यवंत नहिं

दूजा' इति । यहाँ कर्ता क्रियापद अध्याहृत रक्खे गये हैं । इसमें भाव यह है कि मुनिराज इतने बड़े ज्ञानी और समर्थ होनेपर भी, 'भगवन् ! आपके दर्शन पानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ' इत्यादि कहते-कहते अवाक् हो गए, वाणी रुद्ध हो गयी, प्रेम-सरोवरमें उनका मन डूब गया । ( प० प० प्र० ) । पुनः, सरकारकी प्राप्तिसे भाग्यवान् तो और लोग भी हुए, पर गुरुदक्षिणामें सरकारको मुनिजीने ही पाया । इसलिये 'मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा' कह रहे हैं । ( वि. त्रि. )

प० प० प्र०—'मोहि सम भाग्यवंत नहिं दूजा' इति । 'श्रीदशरथजी, श्रीजनकजी आदिने भी ऐसा ही कहा है । तब 'नहिं दूजा' लिखनेका क्या उपयोग ?' इस संभावित शंकाका समाधान यह है कि सभी स्थानों के वचन यथार्थ हैं । (१) परमात्माको पुत्र बनानेका सौभाग्य पुरुषोंमें केवल दशरथमहाराजको और जामाता बनानेका भाग्य केवल जनकमहाराजको प्राप्त हुआ । रुक्मिणी-जनक भीमक और वसुदेव, नन्द आदिके भी भाग्यमें यह नहीं है । कृष्ण भगवान् अनेकोंके जामाता हुए । वे वसुदेवके भी पुत्र थे और नन्दके भी । (२) मन्त्रकी याचना करनेके लिये अपनी इच्छासे अगस्त्यजीसे ही मिलने गए । (३) मारीचने भी कहा है 'धन्य न मो सम आन' । यह भी सत्य है । अन्तरंगमें प्रेम और बहिरंगमें वैर करके भगवान्‌के मुखारविंद को बारंबार देखते हुए उनके बाणसे मरना दूसरेके भाग्यमें नहीं था । इत्यादि ।

नोट—२ इस प्रसंगमें मुनिकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंकी सफलता और सुख दिखाते हैं । 'नाथ कोसलाधीस कुमारा...' से श्रवणेन्द्रिय, 'हरि बिलोकि लोचन जल छाए' से नेत्र, 'रिषि अति प्रीति लिए उर लाई' से त्वक् इन्द्रिय, 'सादर कुसल पूछि' से रसना और 'आसन पर बैठारे आनी' से नासिका इन्द्रियका सुख कहा । पुष्पों-के आसनपर बिठानेसे सुगंध मिला । ( पं० रा० कु० ) ।

३ 'जहँ लगि रहे अपर मुनिबृंदा । हरषे ००' इति ।—आतिथ्य करके अगस्त्यजी सुखी हुए । दर्शनसे सब मुनि सुखी हुए । (पं० रा० कु०) । [ 'सुखकंदा' का भाव कि सुखरूपी जलकी वृष्टि होनेसे उन मुनिबृंदोंके शरीर आनन्दरससे रोमांचित हो गए । कंद = कं (जल) + द (देनेवाला) = जलद = मेघ । ( प० प० प्र० ) ] जिस समय सुतीक्ष्णजी पहुँचे उस समय गुरुजी श्रीराममन्त्रकी व्याख्या कर रहे थे और सब मुनि सुन रहे थे, व्याख्या समाप्त होते न होते श्रीरामजीको प्राप्ति हो गई, आनन्दकी वर्षा हो गई । सब मुनि नवशस्यकी भाँति आनन्दकन्दकी प्राप्तिसे हर्षित हुए । यथा 'भूसुर ससि नव बृंद बलाहक ।' ( वि० त्रि० ) ।

प० प० प्र०—मुनिबृंदा और सुखकंदा, इस तरह यमकमें विषमताद्वारा जनाया कि इन मुनियोंका अधिकार भगवद्दर्शन होने योग्य न था तथापि गुरुजीके कारण उनका भी भाग्य बढ़ गया । 'यमाश्रितो हि वक्रोपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते' यह गुरुसामर्थ्य है ।

**दोहा—मुनि समूह महँ बैठे सनमुख* सबकी ओर ।**
**सरद इंदु तन चितवत मानहुँ निकर चकोर ॥१२॥**

शब्दार्थ—तन = ओर, तरफ, यथा 'बिहँसे करुनाऐन चितइ जानकी लखन तन' ।

अर्थ—मुनि समूहमें प्रभु सबकी ओर सम्मुख ही बैठे हुए हैं ( अर्थात् यह भगवान्‌का रहस्य है, यहाँ ऐश्वर्य प्रकट किया है कि सब उनको अपने सम्मुख ही बैठे देख रहे हैं, पीठ किसीकी ओर नहीं देख पड़ती† । मुनिसमूह उनको इस प्रकार एकटक देख रहे हैं ) मानों चकोरोंका समुदाय शरद्‌के (पूर्ण) चन्द्रमा-की ओर देख रहा है ॥१२॥

टिप्पणी—१ चन्द्रसे किरण है और किरणसे तापका नाश होता है । श्रीरामजीका मुख चन्द्रमा है,

---

* भा० दा० की प्रतिमें प्रायः सर्वत्र सन्मुप हैं । † चन्द्रमाका पृष्ठ भाग किसीको दृष्टिगोचर नहीं होता, क्योंकि चन्द्रमा अपनी धुरीपर नहीं घूमता । सरकारका इच्छामय रूप है, अतः संकल्पानुसार दर्शन हो रहा है । ( वि० त्रि० ) ।

उनके वचन मुखचन्द्रकी किरणें हैं, इन वचनरूपी किरणोंसे भवरूपी तापका नाश होता है, यथा 'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी। १।१२०।', 'तव रघुबीर कहा मुनि पाहीं·· तव भय डरत सदा सो काला', 'काल बिलोकत ईस रुख भानु काल अनुहारि। रविहि राउ राजहि प्रजा बुध ब्यवहरहिं विचारि' ( दोहावली ५०४ ) । २ —'इन्दु परमैश्वर्य्ये' अर्थात् चन्द्रमा बड़े ऐश्वर्य्यमान ब्रह्माण्डके प्रकाशक हैं। [ 'चितवत मनहुँ निकर चकोर' इति। मिलान कीजिए, यथा 'देखि इंदु चकोर समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई। ४।१७', 'एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुखचंद्र चकोरा।२।११५।५।' ]

नोट—यह भी पार्वतीजीके 'औरौ रामरहस्य अनेका। कहहु नाथ०। १-१११-३।' इस प्रश्नका उत्तर है। गुरु ( अगस्त्यजी ) शिष्य (सुतीक्ष्णजी) के आचरणका मिलान—

| | श्रीअगस्त्यजी | श्रीसुतीक्ष्णजी |
|---|---|---|
| १ | राम अनुज समेत बैदेही। निसिदिन देव जपतहहु जेही | मन बच करम रामपद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक |
| २ | सुनत अगस्ति तुरत उठि धाए | प्रभु आगमन श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा |
| ३ | रिषि अति प्रीति लिये उर लाई | परम प्रीति राखे उर लाई |
| ४ | आसन बर बैठारे आनी | निज आश्रम प्रभु आनि करि— |
| ५ | पुनि करि बहु प्रकार प्रभु पूजा | करि पूजा बिबिध प्रकार |
| ६ | मोहि सम भागवंत नहिं दूजा | प्रेम मगन मुनिवर बड़ भागी |
| ७ | तुम्हरेइ भजन प्रभाव अघारी। जानौं महिमा कछुक तुम्हारी | महिमा अमित मोरि मति थोरी। रबि सनमुख खद्योतअँजोरी |
| ८ | यह बर मागौं कृपानिकेता। बसहु हृदय श्री अनुज-समेता ॥ | अनुज जानकी सहित प्रभु चापबानधर राम। मम हिय गगन इंदुइव बसहु सदा निःकाम॥ |
| ९ | 'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहिं संता। जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी सबके हृदय निरंतर बासी। अस तव रूप बखानौं जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं।' | जो कोसलपति राजिवनयना। करउ सो राम हृदय मम अयना। |

**तब रघुबीर कहा मुनि पाहीं। तुम्ह सन प्रभु दुराव कछु नाहीं॥१॥**
**तुम्ह जानहु जेहि कारन आएउँ। ताते तात न कहि समुझाएउँ॥२॥**
**अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनि द्रोही॥३॥**

अर्थ—तब रघुवीर श्रीरामजीने मुनिसे कहा—हे प्रभो! आपसे कुछ छिपा नहीं है॥१॥ आप जानते हैं कि जिस कारणसे मैं आया हूँ। हे तात! इसीसे मैंने कुछ आपसे समझाकर न कहा॥२॥ हे प्रभो! अब मुझे वह मंत्र ( सलाह ) दीजिए जिस ढंगसे मैं मुनिद्रोही निशाचरोंको मारूँ॥३॥

टिप्पणी—१ 'तब रघुबीर कहा' इति। ( क ) श्रीरामचन्द्रजी अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिए मुनिद्रोही रावणके वधका मंत्र पूछ रहे हैं, इसीसे यहाँ 'रघुबीर' पद दिया। [ 'रघुबीर' शब्दसे यहाँ मुख्यतः 'विद्यावीरता' 'विचक्षणता' प्रतीत होती है। भाषणकी कुशलता यहाँ स्पष्ट है। (प० प० प्र०) ] (ख) 'तुमसे कुछ दुराव नहीं' इससे यह भी ज्ञात होता है कि प्रायः औरोंसे ऐश्वर्य छिपाते हैं। [ 'प्रभु' सम्बोधन देकर स्वामी-सेवकका नाता जोड़ा, और स्वामीसे दुराव नहीं करना चाहिए, इससे कहते हैं कि 'तुम्ह सन दुराव कछु नाहीं'। पुनः, भाव कि वाल्मीकिजीसे कुछ दुराव किया था, सो उन्होंने सारा भेद ही खोल दिया। यथा 'श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी। जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥ जो सहस सीस अहीस महिधर लषन सचराचर धनी। सुरकाज धरि नरराजतन चले दलन खल निसिचर अनी।' (वि.त्रि.)। पुनः 'दुराव कछु नाहीं' से सूचित करते हैं कि अगस्त्यजी भक्तवर हैं, ऐसे ही भक्तसे दुराव नहीं होता। यथा 'जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ। जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ।३।४२।३।' (प०प०प्र०)] (ग) 'तुम्ह

जानहु जेहि कारन आयउँ।०' इति। अर्थात् पिताकी आज्ञापालनार्थ वनमें आए हैं, सो आप जानते ही हैं, इससे कहकर नहीं समझाया। ( इन शब्दोंसे जनाया कि अपना भी कुछ प्रयोजन है, मेरी इच्छासे ही वनवास हुआ है यह आप जानते ही हैं, यथा 'तुलसिदास जो रहौं मातु हित, को सुर विप्र-भूमिभय टारै। गी. २।२-५।' और आपके पास जिस प्रयोजनसे आया वह भी आप जानते हैं, उसे विस्तारसे नहीं कहता, सीधे-सीधे कहे देता हूँ। वह कारण यह है कि 'अब सो मंत्र देहु···' )

नोट—१ मंत्र पूछनेका कारण है। आप निशाचर-नाशकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं। अतः पूछा जिसमें ब्राह्मण-वध—(रावण पुलस्त्यजी का नाती है)—की हत्या न लगे और मुनियोंका कार्य्य भी हो जाय। इनके समान दूसरा ऋषि नहीं, रावण भी इनसे डरता था; क्योंकि ये इल्वल और वातापी ऐसे मायावी राक्षसों-को नाश करनेमें समर्थ हुए, समुद्र सोख लिया, इत्यादि इत्यादि। पुनः, ये गुरु वशिष्ठजीके बड़े भाई हैं। घटसे दोनोंकी उत्पत्ति हुई। प्रभुने लक्ष्मणजीसे इनका महत्त्व कहा है कि 'इनके प्रभावसे राक्षस दक्षिण दिशाको भयसे देखते हैं, ये सज्जनोंके कल्याणमें रत रहते हैं। हमारा भी अवश्य 'कल्याण करेंगे'–(वाल्मी० ३-११)

दीनजी इस सम्बन्धमें कहते हैं कि—"एकबार महाराज रघुजीने कुबेरको पुष्पकविमान दानमें दिया। रावणके छीन लेने पर कुबेरने उनसे पुकार की। तब रघुजीने रावणको संदेसा कहला भेजा कि विमान कुबेरको लौटा दे नहीं तो हम तेरा नाश करेंगे। उसने सुनी-अनसुनी कर दी। तब रघुने धनुषपर बाण चढ़ाया कि यहीं से लंकाका नाश कर दें। ब्रह्माजीने आकर इनका हाथ पकड़ लिया और बोले कि हम उसकी मृत्यु श्रीरामजीके हाथसे लिख चुके हैं, हमारा लेख असत्य हो जायगा, आप ऐसा न करें। राजाने कहा कि बाण अमोघ है, व्यर्थ नहीं जा सकता। उस पर ब्रह्माने उस बाणको माँग लिया और कहा कि इसीसे श्रीराम-चन्द्रजी रावणका वध करेंगे और उसे लेकर ब्रह्माजीने अगस्त्यजीके पास रख दिया। जब राम-रावणका सात दिन तक लगातार द्वन्द्वयुद्ध हुआ और देवता घबड़ाए तब रामचन्द्रजीने अगस्त्यजीका स्मरण किया, उन्होंने आकर उस बाणका प्रयोग और आदित्यजीका पूजन बताया।"

खरदूषणादिके वध पर अगस्त्यजीने कहा है कि ऋषि आपको इस स्थान पर इनके वधार्थ ही लाए थे, यथा 'एतदर्थं··· । आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः । वाल्मी० ३।३०।३५।'; पर जबसे महिको निशाचर-हीन करने की प्रतिज्ञा की, तबसे अबतक कोई निशाचर सामने नहीं आया, विराधवधसे सब सावधान हो गए हैं, अतः पूछते हैं कि क्या उपाय करूँ जिससे वे कुछ अपराध करें और मैं उनका वध कर प्रतिज्ञाकी पूर्ति करूँ। इससे यह ज्ञात होता है कि मुनि पंचवटीमें रहनेको जो बतायेंगे—यही मंत्र है जो श्रीरामजीको मिला। पुनः, वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायणमें लिखा है कि मुनिने रामचन्द्रजीको अक्षय तूण और अक्षय बाण, मुनिके पास स्थापित किया हुआ धनुष और रत्नभूषित खड्ग दिए और कहा कि इनसे राक्षसों का वध कीजिए। जिस लिए अवतार हुआ उसके योग्य स्थान पंचवटी है, यथा "ददौ चापं महेन्द्रेण रामार्थे स्थापितं पुरा ।४५। अक्षय्यौ बाणतूणीरौ खड्गो रत्नविभूषितः । जहि रावण भूभारभूतं राक्षसमण्डलम् ।४६। अ० रा० ३-३ ।", "इदं दिव्यं महच्चापं हेमरत्नविभूषितम् । वैष्णवं पुरुषव्याघ्र निर्मितं विश्वकर्मणा ।३२। अमोघः सूर्यसंकाशो ब्रह्म दत्तः शरोत्तमः । दत्तौ मम महेन्द्रेण तूणी चाक्षयसायकौ ।३३।···वाल्मी० ३-१२ ।" मुनिने श्रीरामजीसे कहा है कि आप मुझसे अलग दूसरी जगह आश्रम बनाना चाहते हैं, इसका अभिप्राय मैं तपस्याके बलसे जान गया। आपके कार्यके अनुकूल स्थान पंचवटी है। यथा 'हृदयस्थं च ते छन्दो विज्ञातं तपसा मया ।···अतश्च त्वामहं ब्रूमि गच्छ पञ्चवटीमिति ।१७। वाल्मी० ३-१३ ।' अतः यहाँ 'रावणवध-कार्यके योग्य उचित स्थान और अक्षय धनुष, बाण तूण, खड्ग आदि' ही वह मंत्र है जो देनेको कहते हैं।

प० प० प्र०—१ 'मंत्र देहु' का मुख्य भाव यह है कि जिस मंत्र ( अर्थात् ब्रह्मास्त्र पाशुपास्त्र इत्यादि ) के अनुष्ठान करनेसे रावण ऐसे वरमदमत्त विश्ववित्रासक मुनिद्रोहीका नाश करनेका सामर्थ्य मुझमें आ जाय, ऐसा कुछ मंत्र दीजिये। अन्य रामायणोंमें उल्लेख मिलता है कि भगवान् कुंभजाश्रममें रहकर अगस्ति-

दत्त मंत्रका अनुष्ठान करते थे। २ 'मुनिद्रोही' का भाव कि 'आप मुनि हैं', आपको उन राक्षसोंके मुनिद्रोहका परिचय बहुत मिला है; आप ही उन राक्षसोंके वधके उपायके विषयमें पूरे मर्मज्ञ हो सकते हैं।

नोट—२ (क) यहाँ रामचन्द्रजीने मुनिको 'प्रभु' संबोधन करके जनाया कि आप बड़े समर्थ हैं जैसा ऊपर नोटमें कहा गया है।—'तुम्ह सन प्रभु दुराव कछु नाहीं' और 'अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही'। अहा! कैसा माधुर्य्यमें ऐश्वर्य्यको छिपाया है! पर मुनि भी एक ही हैं, उनके उत्तरमें उन्होंने तीन बार (उनसे एक बार अधिक) 'प्रभु' पद संबोधनमें दिया और एक बार 'नाथ'। यथा 'मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी' ('नाथ' भी प्रभुका पर्य्याय है।), 'है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ', 'दंडक बन पुनीत प्रभु करहू'। (ख) कविने इस प्रकारके उल्लेखसे दिखाया कि दोनों पूर्ण विनयशील हैं और दोनों परस्पर वार्तालापमें 'बचन अगोचर सुख अनुभवहीं।' (प० प० प्र०)।

**मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी॥४॥**
**तुम्हरेइ भजन प्रभाव अघारी। जानौं महिमा कछुक तुम्हारी॥५॥**

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर मुनि मुस्कराये। (और बोले—) हे नाथ! (मुझे) क्या समझकर आपने मुझसे पूछा है? ॥४॥ हे पापोंके नाशक! आपके ही भजनके प्रभावसे मैं आपकी कुछ थोड़ीसी महिमा जानता हूँ॥५॥

टिप्पणी—१ 'मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी…' इति। (क) प्रभुकी वाणीपर हँसे कि समर्थ होकर असमर्थकीसी वाणी बोल रहे हैं। [पुनः भाव कि अपना तात्विक स्वरूप छिपानेका प्रयत्न और नरलीलाका कैसा अभिनय कर रहे हैं। इतने महान् होनेपर भी कितनी नम्रता है! विप्रोंके लिए कितना आदर है! (प० प० प्र०)] हे नाथ! क्या जानकर पूछते हो? अर्थात् हमें भ्रममें न डालिये, हम जानते हैं कि आप ब्रह्माण्डनायक हैं, आप नाथ हैं, मैं तो सेवक हूँ। आगे मुनिने स्वयं इसीको स्पष्ट कहा है-'पूछेहु मोहि मनुज की नाईं' (ख) 'पूछेहु नाथ मोहि का जानी' का उत्तर आगे चलकर मुनि स्वयं देते हैं कि 'संतत दासन्ह देहु बड़ाई। तातें मोहि पूछेहु रघुराई।' (ग) भगवान् मोहित करनेवाले वचन बोले हैं, इसीसे मुनि आगे वर माँग रहे हैं कि हमारे हृदयमें बसिए जिसमें हमको भ्रम न हो। यथा 'यह बर माँगौं कृपा निकेता। बसहु हृदय'। प्रभु जिसके हृदयमें निवास करते हैं उसको भ्रमादि नहीं होते, यथा 'भरत हृदय सियराम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू। २.२९५।' प्रभुके माधुर्य्यसे मोह हो जाता है, यथा 'पदनख निरखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभु बचन मोह मति करषी। २.१०१।' [इसी तरह मोहमें डालनेवाले वचन सुनकर हनुमान्जीने त्राहि त्राहि किया, यथा 'चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत।' ५.३२ देखिए। पुनः इसी तरह वानरोंने कहा है, यथा 'प्रभु जोइ कहहु तुम्हहिं सब सोहा। हमरे होत बचन सुनि मोहा॥ दीन जानि कपि किये सनाथा। तुम्ह त्रैलोक ईस रघुनाथा॥ सुनि प्रभु बचन लाज हम मरहीं। मसक कहूँ खगपति हित करहीं। ६.११७।'] (घ) प्रभुके 'तुम्ह जानहु जेहि कारन आयेउँ' इन वचनोंका उत्तर यह है कि 'तुम्हरेइ भजन प्रभाव अघारी। जानौं महिमा कछुक तुम्हारी'। अर्थात् आपकी बात भला मैं क्या जान सकता हूँ, आप जिसे अपना जन जानकर कुछ जना दें वही जीव जान सकता है—'सो जानइ जेहि देहु जनाई'। आपके भजनके प्रभावसे कुछ महिमा जानता हूँ। 'रोक्यो बिंधि सोख्यो सिंधु घटजहू नाम बल हार्यो हिय खारो भयउ भूसुर डरनि'। (वि० २४७)। [(ङ) जो महिमा आगे कहते हैं वह बड़ी भारी है, उसको भी मुनि 'कछुक' बताते हैं, तब पूरी महिमा न जाने कितनी भारी होगी—यह जनाया। यथा 'रघुपतिमहिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा॥', 'महिमा निगम नेति नित कहई', 'निमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा।', इत्यादि। (खर्रा)]

२ 'पूछेहु नाथ मोहि का जानी' यहाँ कहकर फिर आगे महिमा कही है जिसमें चराचरमात्रको जंतु

कहा है। इसका भाव यह हुआ कि मैं भी एक जन्तुके समान हूँ और राक्षस भी। मायाके भीतर लिप्त जीव-जंतु मायासे परे आपको क्या जान सकते हैं? आपको क्या मंत्र दे सकते हैं?

नोट—१ प्रभुने भरद्वाजजीसे मार्ग पूछा, यथा 'नाथ कहिय हम केहि मग जाहीं। २.१०९।' वाल्मीकिजीसे स्थान पूछा, यथा 'अस जिय जानि कहिए सोइ ठाऊँ। सिय''''। २.१२६।', और अगस्त्यजीसे 'मंत्र' पूछा। तीन ऋषियोंसे तीन पृथक् पृथक् बातें पूछीं। प्रथमसे मार्ग पूछा, क्योंकि उस समय वहाँ निवास इष्ट नहीं था, ठहरना नहीं था। वाल्मीकिजीसे स्थान पूछा क्योंकि भरतजीकी राह देखना है, अतः कुछ समय निकट ही निवास करना इष्ट था। और यहाँ मंत्र पूछा क्योंकि अब निशाचरहीन करनेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं, उनका वध इष्ट है। इनके आश्रममें निशाचर नहीं आ सकते थे, इससे इनसे बढ़कर कौन मंत्र दे सकता था?

यह तो सीधासादा उत्तर हुआ। अब देखिए कि 'मग', "ठाउँ", ('निवास') और 'मंत्र' ये तीन शब्द तीन मुनियोंके लिए अलग अलग प्रयुक्त होनेमें क्या उपयुक्तता और विलक्षणता है। पूज्य कविने शब्दोंका कैसा निर्वाह पूर्वापर किया है, यह देख लीजिए। भरद्वाजजीको 'परमारथ पथ परम सुजाना' कहा था (बा० ४४), अतः उनसे 'पथ' पूछा। वाल्मीकिजीको कहा कि 'रामायन जेहि निरमयउ'। रामायण=रामका अयन (घर, स्थान)। अतः उनके प्रसंगमें 'ठाउँ', 'निवास', 'निकेत' शब्दोंका प्रयोग प्रश्न और उत्तरमें हुआ। अगस्त्यजी राममंत्रके विधानमें परमनिपुण हैं, पूर्वोत्तर रामचरितके ऐसे ज्ञाता हैं कि शिवजी रामकथा सत्संग करने इनके पास जाया करते थे—'रामकथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस०'। जैसा पूर्व मंत्र देते आए वैसा ही देंगे। पुनः, सुतीक्ष्णजीका वचन है 'निसि दिन देव जपत हहु जेही'। जप मंत्रका होता है। मंत्र पूछना है इसीसे 'जपत' शब्द वहाँ रखकर दिखाया कि मुनि तभी उठे जब शिष्यने यह कहा। और वाल्मीकिजीने रावणवधके लिए अगस्त्यजीका मंत्र (आदित्यहृदय) बताना लिखा है। अ० रा० में लिखा है कि जिस समय सुतीक्ष्णजी अगस्त्यजीके समीप पहुँचे उस समय वे अत्यन्त भक्तिपूर्वक अपने शिष्योंको श्रीराममंत्रकी व्याख्या सुना रहे थे, यथा 'व्याख्यात राममंत्रार्थं शिष्येभ्यश्चाति भक्तितः। ३-३-८।' उनकी अगस्त्यसंहिता तो प्रसिद्ध ही है जिसमें इस मंत्रकी व्याख्या भी है। अतः इनके प्रसंगमें 'मंत्र' शब्दका प्रयोग उपयुक्त ही है।

२ तीनों महात्मा प्रभुके प्रश्नपर हँसे और तीनोंने प्रथम ऐश्वर्यदेशमें ही इनके 'मग', 'ठाउँ' और 'मंत्र' का उत्तर दिया और जना दिया कि हमसे आप छिप नहीं सकते, हम आपको खूब जानते हैं। ऐश्वर्य-द्योतक शब्दोंमें इन प्रश्नोंका उत्तर देकर तब माधुर्यभावमें उत्तर दिया है। यथा—(१) 'मुनि मन बिहँसि राम सन कहहीं। सुगम सकल मग तुम्ह कहुँ अहहीं' (भरद्वाज। २-१०९)। 'साथ लागि मुनि शिष्य बोलाए।''''सकल कहहिं मगु दीख हमारा। मुनि बटु चारि संग तब तीन्हे।' (२) 'सहज सरल सुनि रघुबर बानी। साधु साधु बोले मुनि ज्ञानी॥ २-१२६-६।' से 'पूछेहु मोहिं कि रहौं कहँ''''॥ जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहिं देखावौं ठाउँ। १२७।' तक। 'सुनहु राम अब कहउँ निकेता। जहाँ बसहु सिय लषन समेता॥ २-१२८-३।' से 'जाहि न चाहिय कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।''''राउरु निजगेहु। १३१।' तक। (३) 'मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी॥' से 'संतत दासन्ह देहु बड़ाई। तातें मोहि पूछेहु रघुराई' तक। जिसे 'पथ' में सुजान कहा उसने पथका ऐश्वर्य्यमें उत्तर दिया, जो राम-अयन बनानेमें निपुण है उसने स्थानका ऐश्वर्यमय उत्तर दिया और जो राममंत्र जपमें एवं मंत्रविधानमें निपुण है उसने गुप्त रीतिसे मंत्र दिया। मंत्र गुप्त चाहिए वैसे ही यहाँ गुप्त उत्तर है।

ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ ६॥
जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना॥ ७॥
ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥ ८॥
ते तुम्ह सकल लोकपति साईं। पूँछेहु मोहि मनुज की नाईं॥ ९॥

अर्थ—आपकी विशाल माया गूलरके वृक्षके समान है, अनेक ब्रह्माण्डसमूह उसके फल हैं ॥६॥ चर-अचर सभी जीव ( गूलरफलके भीतरके ) छोटे-छोटे जीवोंके समान हैं जो ( ब्रह्माण्डरूपी फलके भीतर बसते हैं और उसके बाहर और भी कोई वस्तु है यह कुछ नहीं जानते ॥७॥ उन फलोंका खानेवाला कठिन भयंकर काल है। वह काल भी सदा आपके भयसे डरता रहता है ॥८॥ वे ही आप समस्त लोकपालोंके स्वामी होकर मुझसे मनुष्यकी तरह पूछ रहे हैं कि मन्त्र बताओ ॥९॥

टिप्पणी—१ जो कहा था कि 'जानौं महिमा कछुक' वह इन चौपाइयोंमें कही गई। यह 'कछुक' है। इन वचनोंसे जनाते हैं कि आप माया, ब्रह्माण्ड और काल तीनों के पति हैं। यथा 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया। ५-२१-४।'। 'तव माया' कहकर मायापति होना जनाया, 'ते तुम्ह सकल लोकपति साईं' से ब्रह्माण्डोंके स्वामी होना कहा और 'तव भय डरत सदा सोउ काला' से कालके भी नियन्ता स्वामी जनाया।

२—'ते फल भच्छक कठिन कराला ।०० काला' इति। (क) काल कठिन कराल है। समस्त ब्रह्माण्डों के जीवोंको खा जाता है, उसे दया नहीं आती ऐसा कठिन कठोर निर्दयी है और उसका ऐसा भारी रूप है कि ब्रह्माण्ड इसके पेटमें समाते चले जाते हैं; यही करालता है। (ख) ब्रह्मांडोंकी फलसे उपमा देकर जनाया कि काल ब्रह्माण्डोंको भक्षण कर लेता है, समूचाका समूचा; कुछ यह नहीं कि जीवोंको ही खाले, ब्रह्माण्ड बने रह जायँ। ब्रह्माण्डोंका भी नाश हो जाता है। (ग) 'तव भय डरत सदा सोउ काला', यथा—'जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई। ५-२२।' पुनः, भाव कि काल भी आपका रुख देखकर काम करता रहता है, बिना आपकी आज्ञाके नहीं खा सकता, चाहे भूखा भला ही रह जाय। यथा 'काल बिलोकत ईस रुख....' ( दोहावली ५०४ ), 'भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति। कठ० २।३।३।' अर्थात् इन्हींके भयसे इन्द्र, वायु और मृत्यु ( काल ) दौड़-दौड़कर अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। पुनः, (घ) जिन ब्रह्माण्डोंकी आयु पूरी हुई वे ही पके हुए फल हैं, उन्हींको काल खाता है। गूलरका वृक्ष माया है। यह वृक्षरूपी माया बनी रहती है, सब ब्रह्मांडरूपी फलोंके नष्ट होनेपर पुनः फलेगी। यथा 'विधिप्रपंच अस अचल अनादी। २-२८२-६।', 'अव्यक्तमूलमनादि तरु...। पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप...। ७-१३।'

प० प० प्र०—'ऊमरि तरु...काला' इति। भाव कि-१ आप मुझको बहुत ज्ञानी, सर्वज्ञ, त्रिकालज्ञ, समर्थ इत्यादि समझते हैं पर मेरा ज्ञान और मेरी शक्ति तो गूलरके फल के समान अत्यन्त क्षुद्र ही है। २ आप उन मुनिद्रोही राक्षसोंको मारनेका साधन पूछते हैं। उन निशाचरोंकी शक्ति ही कितनी? अखिल अनन्त ब्रह्मांडोंका ग्रास करनेवाला काल भी आपसे डरता है, समस्त निशाचर मिलकर एक ब्रह्मांडके एक क्षुद्र विभागके बराबर भी तो न होंगे।

टिप्पणी—३ 'सकल लोकपति साईं' इति। अनेक ब्रह्मांड हैं और प्रत्येक ब्रह्मांडमें ब्रह्मा विष्णु महेश इन्द्र आदि हैं। यथा 'लोक-लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसि त्राता। ७.८१।' इन सबके स्वामी एवं शासनकर्त्ता आप ही हैं।

४ खर्रा—माया जड़ है; अतएव जड़ वृक्षकी उपमा दी, यथा 'जासु सत्यता ते जड़ माया'। वृक्षसे फल उत्पन्न होता है वैसे ही मायासे ब्रह्माण्ड, यथा 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल-बिरचति माया। ५-२१।', 'लव निमेष महु भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया। १-२२५।' वृक्षमें फल अनेक हैं, वैसे ही यहाँ ब्रह्माण्ड निकाया हैं। यहाँ यथासंख्य अलंकार है। अथवा, अनेक फलोंका निकाय अर्थात् घोपा, गुच्छ वा घौद है। 'मनुज की नाईं'—भाव कि ऐसा तो मनुष्य पूछा करते हैं। इस तरह पूछकर मुझे मोहमें न डालिए।

यह बर मांगौं कृपानिकेता। बसहु हृदय श्री अनुज समेता ॥१०॥

अबिरल भगति बिरति सतसंगा । चरन सरोरुह प्रीति अभंगा ॥११॥
जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता । अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता ॥१२॥
अस तव रूप बखानौं जानौं । फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं ॥१३॥

अर्थ—हे कृपाके धाम! यह वर माँगता हूँ कि मेरे हृदयमें आप श्रीसीतालक्ष्मण सहित वास कीजिए। ॥१०॥ अविरल भक्ति, वैराग्य, सत्संग और आपके चरणकमलोंकी अटल प्रीति मेरे हृदयमें बसे ॥११॥ यद्यपि आप अखण्ड, अनन्त ब्रह्म हैं जो अनुभवसे ही प्राप्त होते या जाने जाते हैं और जिनका सन्त भजन करते हैं ॥१२॥ ऐसा आपका रूप बखान करता और जानता हूँ, तो भी लौट-लौटकर आपके इस सगुण ब्रह्मरूपमें प्रेम करता हूँ और करूँ ॥१३॥

टिप्पणी—१ 'यह बर मागौं कृपानिकेता। बसहु००' इति। (क) महिमा वा प्रभाव तो ब्रह्मरूपका वर्णन किया और माँगी भक्ति। इसीपर कहते हैं कि 'जद्यपि ब्रह्म००'। (ख) यहाँ अभी बीचमें वर माँगनेका कोई मौक़ा नहीं था क्योंकि प्रभुने तो मन्त्र पूछा है और ये उत्तरमें महिमा कह रहे हैं। बीचमें वरका क्या मौक़ा? इसके विषयमें पूर्व कह आए हैं कि प्रश्न भ्रममें डालनेवाला है क्योंकि परमेश्वर होकर मनुष्यकी तरह प्रश्न कर रहे हैं। अतः, 'कृपानिकेत' सम्बोधन करके वर माँगा कि तीनों हमारे हृदयमें बसिए, बसनेसे फिर हमें मोह वा भ्रमका भय न रहेगा, यथा—'भरत हृदय सिय राम निवासू। तहं कि तिमिर जहं भानु प्रकासू'। [ स्वामी प्रज्ञानानंदजीके मतसे कृपानिकेता का भाव यह है कि आपकी कृपा तो इस दासपर हो ही गई है इसीसे आप मुझे बड़ाई देनेके लिए मेरे इस निकेत में पधारे हैं ]।

नोट—१ 'अबिरल भगति···' इति। स्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि अविरलभक्तिका अर्थ तो 'दृढ़ अनपायिनी प्रेमलक्षणा भक्ति' होता है। तथापि इसी पंक्तिमें 'चरन सरोरुह प्रीति अभंगा' भी कहा है जो प्रेमलक्षणा भक्तिका बोधक है। अतः पुनरुक्ति दोषसे बचनेके लिये 'अविरल भक्ति' का अर्थ 'निरन्तर अखण्ड तैलधारावत भजन' लेना उचित होगा। भक्ति भजनका पर्याय भी है, यथा 'राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआई। तथा मोक्षसुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई। भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा।७.११६।' पुनः, भक्ति=साधन भक्ति।

वि० त्रि० का मत है कि "अविरल भक्ति=अन्तरायरहित भक्ति। यह सब साधनोंका फल है। वैराग्य सब धर्मों का फल है। और, सत्संग फलसिद्धि है। यथा 'जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी। ७। १२५। ७।', 'निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥ एहि कर फल पुनि विषय बिरागा।३।१६।६-७।', 'सत-संगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला।१।३।८।' इस भाँति मुनिजीने तीनों फल ही माँगे, फिर भी अटूट प्रेमके लिये प्रार्थना करते हैं। 'प्रीति अभंगा' का भाव कि प्रेमका प्रवाह तैलधारावत् अविच्छिन्न होना चाहिए, बीचमें भंग न हो। भजन तो वैरभावसे भी होता है, पर मुनिजीको वैसा भजन रुचिकर नहीं, क्योंकि उससे जाड़ेमें गंगास्नानकी भाँति इस लोकमें आनन्द नहीं मिलता। अतएव प्रेमभावसे भजन चाहते हैं। अथवा, अविरल भक्ति तो निर्गुण रूपकी भी होती है, अतः 'चरन सरोरुह···' से स्पष्ट कर दिया कि मैं सगुणरूपकी भक्ति चाहता हूँ।

२ 'बिरति सतसंगा' इति। 'बिरति चर्म असि ज्ञान' उत्तरकांडमें कहा है। वैराग्य-विहीन ज्ञान पंगु और ज्ञान-विहीन वैराग्य अंधा होता है। इसीसे दोनोंका सहवास आवश्यक है। सत्संग से हरिकथा-श्रवणका लाभ होता है जिससे मोहका नाश होकर ज्ञानकी प्राप्ति होती है। वैराग्य और ज्ञानसे मद-मोहादि शत्रुओंका विनाश होनेपर जो विजय प्राप्त होती है वह है हरिभक्ति। एकके विना दूसरेका कुछ मूल्य नहीं। इसी लिये मुनि भजन, वैराग्य, ज्ञान और ज्ञानोत्तरा भक्ति—श्रीरामचरण सरोरुहु प्रीति—सभी की याचना एक साथ कर रहे हैं। ( प० प० प्र० )।

श्रीसनकादिक मुनिजी रामकथा श्रवण करनेके लिये अगस्त्यजीके पास जाया करते थे, यथा 'तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घट संभव मुनिवर ज्ञानी॥ रामकथा मुनिवर बहु बरनी। ज्ञान जोनि पावक जिमि अरनी। ७. ३२।' और यहाँ अगस्त्यजी स्वयं कह रहे हैं कि 'अस तव रूप बखानौं जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं।'—इससे सिद्ध होता है कि भगवद्भक्त सदैव भक्तिमें अतृप्तसे ही रहते हैं। वे मायाका बल भली भाँति जानते हैं और इसके फंदे में पड़ न जायँ इस हेतु से वे सर्वदा सजग रहते हैं। एक बार भगवान् के मुखारविन्दसे वरकी प्राप्ति हो जानेपर फिर मायाका चक्र नहीं चलेगा, क्योंकि 'सो माया प्रभु सों भय भापे'; इसी श्रद्धासे मुनि यहाँ वर माँग रहे हैं।

नोट—३ 'चरन सरोरुह प्रीति अभंगा' इति। भाव कि भौंरा एकको छोड़, दूसरेसे तीसरे इत्यादिपर प्रेम करता है, मेरे प्रेममें ऐसा व्यभिचार न पैदा हो जाय, मेरी आपके चरणोंमें अव्यभिचारिणी अखंड प्रीति हो, यह 'अभंगा' शब्दसे सूचित किया।

४ 'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता।...' इति। (क) ब्रह्म=अत्यन्त बृहत् अर्थात् व्यापक। 'ब्रह्म' से वस्तुतः अपरिच्छिन्न, 'अखंड' से देशतः अपरिच्छिन्न, 'अनंत' से कालतः अपरिच्छिन्न जनाया। 'अनुभवगम्य' अर्थात् स्वसंवेद्य है। (वि. त्रि.)। ब्रह्म अनुभवगम्य है, स्वसंवेद्य है। वह भिन्न भावसे जाना नहीं जाता। "अनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा। भा० १०।१४।६।" जो केवल स्वानुभवगम्य है, उसका भजन संत कैसे कर सकते हैं? इस शंकाका समाधान यह है कि यहाँ अन्तःकरणकी वृत्तिको तदाकार-ब्रह्माकार करनेकी अवस्थिति ही भजन है। (हृदयमें प्रभुका साक्षात्कार करना भजन है)। सगुणमें प्रीति इसलिये कि श्रीमुखवचन है कि 'मोहि भगत प्रिय संतत', 'दुहुँ कहुँ काम क्रोध रिपु आहीं।', 'जनहिं मोर बल निज बल ताही।'—'अस बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं। ३।४२।' (प. प. प्र.)।

टिप्पणी—२ (क) 'अस तव रूप बखानौं जानौं।००'। अर्थात् ऐसा आपका रूप है, इस प्रकार मैं बखान करता और जानता हूँ; इसीसे आपसे बखान किया, रही मेरी प्रीति सो तो सगुणरूपमें ही है। 'फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं' क्योंकि 'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महुँ संतत मगन। सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्म सुखहिं सज्जन सुमति। ७-८८।' (ख) 'बखानौं' यह बाहरका ऊपरी आचरण कहा और 'जानौं' यह भीतर का कहा। अर्थात् यही नहीं कि ऊपरसे बनाकर कहता हूँ ऐसी अन्तःकरणमें प्रतीति भी है। ऐसा ही वेद-स्तुतिमें वेदोंने कहा है—'जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं। ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥ करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर माँगहीं। मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥ ७।१३।' (ग) [ दूसरा अर्थ इस प्रकार एक खर्रेमें है—कि 'मुझे यह भी वर दीजिए कि आपका ऐसा स्वरूप जानता रहूँ और बखान भी करूँ तो भी सगुण हीमें मेरा प्रेम रहे।' 'फिरि फिरि' के दोनों अर्थ लगते हैं—लौट लौटकर एवं पुनः पुनः। रा० प० कार कहते हैं कि 'फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं' से सिद्ध हुआ कि निर्गुणका रस सगुण है, कर्मादि अंकुर हैं, और छिलका गुठलीके स्थान निर्गुण हुआ। 'फिरि फिरि' अर्थात् जन्म जन्ममें सगुण ब्रह्ममें प्रीति मानूँ। (घ) अ० रा० में श्रीसुतीक्ष्णजीके वचन कुछ इसी प्रकारके हैं। यथा "जानन्तु राम तव रूपमशेषदेशकालाद्युपाधिरहितं घनचित्प्रकाशम्। प्रत्यक्षतोऽद्य मम गोचरमेतदेव रूपं विभातु हृदये न परं विकाङ्क्षे। ३।२।२४।'; अर्थात् हे श्रीरामजी! जो लोग आपके स्वरूपको देशकाल आदि समस्त उपाधियोंसे रहित और चिद्घन प्रकाशस्वरूप जानते हैं; वे भले ही वैसा जानें; किन्तु मेरे हृदयमें तो, आज जो प्रत्यक्षरूपसे मुझे दिखाई दे रहा है, यही रूप भासमान होता रहे, इसके अतिरिक्त मुझे और किसी रूपकी इच्छा नहीं है।]

वि० त्रि०—'बखानौं जानौं' इति। भाव कि वर्णन तो परोक्ष ज्ञानवाले भी किया करते हैं, पर उन्हें अनुभव नहीं है और मुझे अनुभव भी है अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान भी है। 'फिरि फिरि' अर्थात् फिर भी उस

अनुभवसे बारबार हटकर सगुणरूपमें प्रीति करता हूँ; यथा 'मुनि गुनगान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी।'; क्योंकि प्रभुमें गुण ही ऐसे हैं।

संतत दासन्ह देहु बड़ाई। तातें मोहि पूँछेहु रघुराई ॥१४॥
है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचबटी तेहि नाऊँ ॥१५॥
दंडक बन पुनीत प्रभु करहू। उग्र साप मुनिवर कर हरहू ॥१६॥
बास करहु तहँ रघुकुलराया। कीजै सकल मुनिन्ह पर दाया ॥१७॥

अर्थ—आप सदा सेवकोंको बड़ाई देते आए हैं, इसीसे, हे रघुराई! आपने मुझसे पूछा है ॥१४॥ हे प्रभो! एक परम रमणीय और पवित्र स्थान है, उसका पंचवटी नाम है ॥१५॥ हे प्रभो! दण्डकवनको पवित्र कीजिए, मुनिवरके शापका उद्धार कीजिए ॥१६॥ हे रघुकुलराज! आप वहाँ निवास करें और समस्त मुनियोंपर दया करें ॥१७॥

नोट—१ 'दंडकवन' और उग्र शाप की कथा बालकांड दोहा २४ (७) में दी जा चुकी है। पंचवटी-का वर्णन श्रीहनुमन्नाटकमें बड़ा सुन्दर है—'एषा पञ्चवटी रघूत्तमकुटी यत्रास्ति पञ्चावटी, पान्थस्यैकघटी पुरस्कृततटी संश्लेषभित्तौ वटी, गोदा यत्र नटी तरंगिततटी कल्लोलचञ्चत्पुटी, दिव्यामोदकुटी भवाब्धि-शकटी भूतक्रियादुष्कुटी ॥२२॥' (अंक ३)। अर्थात् लक्ष्मणजी कहते हैं कि हे रघुवंशियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामजी! जहाँ वटके पाँच वृक्ष हैं। इन पाँचोंके मूलमें पाँच सरस्वती कुंड हैं और पथिकोंकी एक ही घटी (चट्टी), शोभायमान तटोंवाली, स्त्रीपुत्रोंके निश्चयको दूर करनेको औषधिरूप और जिसके समीप तरंगोंवाले किनारों-से युक्त, कल्लोलोंसे शब्दायमान जल निकलनेके मार्गवाली तथा मनोहर सुगंधिकी एक कुटी और संसार सागरको नौका रूप, मनुष्योंकी सामान्य क्रियाओंसे दुष्प्राप्य, गोदावरी नर्तकी रूप हैं। ऐसे स्थानमें यहाँ यह पंचवटी है। यहाँ कुटी कीजिए। दूसरा अर्थ—पंचतत्त्वोंकी नाशक (= मोक्षदातृ), जहाँ रूपरसादिकी निवृत्ति हो जाती है, मुमुक्षुके लिए एक विश्रामका स्थान और जहाँ समिधा तथा कुशाओंसे युक्त स्त्रीपुत्रादिकों-के संचयको दूर करनेमें वज्रस्वरूप, प्राणियोंको मोहादिसे निकालनेवाली, देवताओंके भ्रमण करनेसे शब्दा-यमान कुंजोंवाली तथा स्वाभाविक वासनाओंको दूर करनेवाली भवसागरके लिए नौकारूप, प्राणियोंकी सामान्य क्रियाओंसे दुष्प्राप्य और मुनियोंकी सभा ऐसी यह पंचवटी है; यहाँ कुटी की जाय।—(व्रजरत्न-भट्टाचार्य्यकृत टीका)।

नोट—२ 'पंचवटी'। यह स्थान गोदावरीतटपर नासिकके पास है और अगस्त्यजीके आश्रमसे ८ कोसपर है। यह बड़ा रमणीय स्थान है। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि "अगस्त्याश्रम अहमदनगर जिलाके पश्चिम दिशाकी सीमापर सह्याद्रि पर्वतमें अकोला ताल्लुक़दारीके पास ही है। इसके समीप एक निर्मल जल बहनेवाला नाला है। आश्रममें निर्मल जलके दो कुण्ड हैं। यह स्थान अब नाथपन्थी साधुओंके कब्जेमें है। नासिकसे मोटरमार्गसे लगभग ४०-४५ मीलपर है। अगस्त्याश्रम अब भी पावन और मनोहर है। पञ्चवटी-की मनोहरतापर कलिका प्रभाव अन्य स्थानोंकी अपेक्षा बहुत कम पड़ा है। चारों तरफ वन है। वाल्मीकिजी ने जिस मधुक वनका उल्लेख किया है वे महुएके वृक्ष भी उधर भरपूर हैं। वाल्मी० ३।१२ में अगस्त्याश्रम का जो वर्णन है उससे सिद्ध होता है कि उनके आश्रममें अग्निशालाके अतिरिक्त ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, भग, धाता, विधाता, महेन्द्र, विवस्वान्, कुबेर, वायु, वरुण, गायत्री, अष्ट वसु, नागराज, गरुड़, कार्तिकेय और धर्म, इन देवताओंके पृथक् पृथक् स्थान थे जिनकी पूजा नित्य नियमित रूपसे होती थी।" वाल्मीकिजी लिखते हैं कि मुनिने प्रभुसे कहा कि जो आपका अभिप्राय है वह वहाँ पूरा होगा, वहाँ रहकर आप तपस्वियों-की रक्षा करें। 'अपि चात्र वसन् राम तापसान्पालयिष्यसि। ३.१३.२३।', वही भाव यहाँ 'कीजै सकल मुनिन्ह पर दाया' का है। खर्रेमें लिखा है कि यहाँ पंचोंका वट है अतः इसका पंचवटी नाम है। पर यदि

पाँच वटके वृत्तके कारण यह नाम हुआ हो तो विशेष संगत होगा। पंचवटोंका होना हनुमन्नाटकके उद्धरणसे स्पष्ट है।

पु० रा० कु०—१ (क) 'संतत दासन्ह देहु बड़ाई···' यह अपने ही प्रश्न 'पूछेहु मोहि नाथ का जानी' का स्वयं उत्तर दे रहे हैं। मुनि अभी तक ऐश्वर्यबोधक शब्दोंका ही प्रयोग करते आए। अब रघुराई शब्द देकर बताते हैं कि सर्वेश्वर, सर्वज्ञ परमात्मा होनेपर भी आपका स्वभाव है "सन्तत' दासोंको बड़ाई देना।" इस स्वभावने आपको रघुराज बननेपर भी नहीं छोड़ा। [प्रभुके मंत्र पूछनेपर हठात् गुरुकी भाँति उपदेश करने बैठना धृष्टता है और कुछ न कहना आज्ञा-भंग है, अतः भूमिका पूर्वक उत्तर देते हैं। (वि. त्रि.)। प० प० प्र० का मत है कि श्रीरामजीने मुनिके 'पूँछेहु नाथ मोहि का जानी' इस प्रश्नका उत्तर नहीं दिया; अतः स्वयं मुनिने उसका उत्तर दिया कि 'संतत दासन्ह देहु बड़ाई। ताते मोहिं पूछेहु रघुराई।'; पर मेरी समझमें यह प्रश्न उत्तर पानेके लिये किया ही नहीं गया, मुनि कभी यह आशा नहीं कर सकते थे कि प्रभु इसका उत्तर देंगे, दूसरे मुनिका वाक्य पूरा नहीं हुआ है, वे प्रश्नके साथ-साथ और भी सब कहते चले जा रहे हैं और यह भी जानते हैं कि क्यों इस तरह पूछ रहे हैं—'जस काछिय तस चहिय नाचा' ]। (ख) 'है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन···' इति। मनोहरसे शृंगारयुक्त और पावनसे शान्त सूचित किया। [पंचवटीको परम मनोहर और पावन कहकर जनाया कि वह आपके निवासयोग्य है। ऋषि, मुनि ऐसे ही आश्रमों स्थानोंमें रहते हैं। यथा 'भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिवर मन भावन। १।४४।६।' (रम्य मन भावन=मनोहर), 'सुचि सुंदर आश्रम निरखि हरषे राजिवनेन। २।१२४।' (वाल्मीकिआश्रम)। शुचि=पावन। सुन्दर=मनोहर। और श्रीरामजी इस समय 'मुनिव्रत-वेष-अहार' में हैं ही। अतः ऐसा स्थान बताया। स्थान यदि मनोहर न हुआ तो साधनके कष्टोंसे मन ऊब जायगा और यदि पावन न हुआ तो वहाँ चित्त एकाग्र नहीं रह सकेगा। इसलिये जो स्थान पावन और मनोहर होता है वहीं मुनि आश्रम बनाते हैं]। (ग) 'दण्डकवन पुनीत प्रभु करहू॥ बास करहु तहँ रघुकुलराया···' इति। इसको आगे चरितार्थ कर दिखाया है। 'बास करहु' का भाव कि आपके वहाँ निवास करनेसे ही वह पवित्र होगा और मुनियोंका भय मिटेगा, आपको कुछ उपाय इन बातोंके लिये नहीं करना होगा। निवासमात्रसे दोनों लाभ लोगोंको प्राप्त हो जायँगे, यथा 'जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीती त्रासा। १४.१।'

२ मुनियोंपर दया करनेको कहते हैं, इसीसे 'रघुकुलराया' पद दिया। राजाका धर्म है कि दुष्टोंसे ब्राह्मणोंकी रक्षा करें। [रघुकुल बड़ा दयालु कुल है और आप उसके भी राजा हैं, अतः मानसमें अधिकांश स्थलोंपर 'रघुराया' के साथ 'दाया' तथा 'दाया' के साथ 'रघुराया' का प्रयोग किया गया है। यथा 'तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्ह विप्रन्ह पर दाया॥', 'अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछा मुनिन्ह लागि अति दाया।', 'जामवंत कह सुनु रघुराया। जापर नाथ करहु तुम दाया॥', 'हा जगदेक बीर रघुराया। केहि अपराध बिसारेहु दाया॥', 'अब पद देखि कुसल रघुराया। जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया।', 'सोइ कोसलाधीस रघुराया। आयेउ करन तोहि पर दाया।', 'दीन-बंधु दयाल रघुराया। देव कीन्हि देवन्ह पर दाया।' इत्यादि। (श्रीभैरवानंद रामायणी 'व्यापक' जी) ] दंडकवन पावन करनेमें 'प्रभु' पद दिया। अर्थात् पावन करनेका सामार्थ्य आपको है, चरणके स्पर्श-मात्रसे वह पवित्र हो जायगा। यह ऐश्वर्यवाचक संबोधन है। रघुकुलराया माधुर्यसूचक है। [पंजाबीजी कहते हैं कि मुनिका आशय यह है कि आप समर्थ हैं, आश्रममें बसनेसे सब सुपास है पर आपका कार्य्य न होगा, क्योंकि यहाँ हमारे भयसे राक्षस नहीं आते। दूसरे यहाँ निवाससे अन्य ऋषि दूषण देंगे कि बड़े बड़ेके ही यहाँ ठहरते हैं, हम गरीब हैं, इससे हमारे यहाँ न रहे और वहाँ वास करनेसे दोष भी न देंगे]।

३ (क) श्रीरामचन्द्रजीने कहा था कि अब वह मंत्र बताइये जिससे मुनि-द्रोहीको मैं मारूँ। इसका उत्तर मुनिने गम्भीरतापूर्वक दिया कि पंचवटीमें वास कीजिए, इससे सब बातोंका निर्वाह होगा। आप अपने

से बचे रहेंगे। वहाँके वाससे राक्षसोंसे विरोध होगा, तब वे आप ही मारे जायँगे। 'जेहि प्रकार मारौं' इस बातका उत्तर भी हो गया। श्रीरामजीको अपराध न होगा, वहाँपर मुनिद्रोही स्वयं इनका अपराध करेंगे तब मारे जायँगे—'बिनु अपराध प्रभु हतहिं न काहू'। (ख) इस उत्तरमें मुनिकी साधुता भी बनी रही और मंत्र देना भी हो गया। सन्त किसीको वध करनेको अपने मुखसे नहीं कहते और पंचवटीका निवास स्वयं निशाचरवधका उपाय हो जायगा।

नोट—३ 'उग्र साप मुनिवर कर' इति। जो पहली कथा हमने बालकांडमें दी है, वह 'श्रीगुरुचरित्र' (मराठी) में है पर वह भी अधूरी है ऐसा प्र० स्वामीजी कहते हैं। वे लिखते हैं कि 'मुनियोंने गोहत्याका पाप लगाया और कहा कि जब तुम गंगाजीको यहाँ लाओगे तब पापमुक्त हो जाओगे, गौतमऋषि भी उनको शाप देकर ब्रह्मगिरिपर घोर तपस्या करने लगे और भगवान् शंकरको प्रसन्न करके वर प्राप्त किया। श्रीशंकर-जीने ब्रह्मगिरिपर अपनी जटायें पटक दीं जिससे गंगाजी वहाँ गोदावरीरूपमें प्रकट हो गईं। ब्रह्मगिरि त्र्यम्बकेश्वरके पास है।'

प० प० प्र०—'इस विभागमें श्रीकुंभजकृत स्तुति है। यह बारहवीं स्तुति है। और बारहवाँ नक्षत्र उत्तरा फाल्गुनी है। इसमें दो तारे हैं। इस नक्षत्रका आकार स्वतंत्र नहीं है। पूर्वा फाल्गुनीके दो तारे और उत्तरा फाल्गुनीके दो तारे, इन चारोंके मेलसे उसका आकार शय्याका-सा है। यथा 'रत्नप्रभा' नक्षत्रप्रकरणे 'द्वन्द्वद्वयेनोत्तरयोस्तु शय्या'। दो से शय्या कैसे बनेगी? इस स्तुतिमें 'निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान' और 'सगुण ब्रह्म रति' ये दो तारे हैं।

इस स्तुतिमें माया, माया जनित विश्व और उसके निवासियोंको क्षणभंगुर बताकर फल्गुत्व बताया, इससे यह फाल्गुनी नक्षत्र हो गई। उत्तरा फाल्गुनी कैसे? इस तरह कि सुतीक्ष्णजीकी स्तुति पूर्वा फाल्गुनी है। इसमें विश्वका पूर्व रूप जो निर्गुण ब्रह्म है इसकी कीमत नहीं रखी। पूर्वरूपको फल्गुत्व दिया, इससे यह स्तुति पूर्व फाल्गुनी हुई।

श्रीसुतीक्ष्ण और श्रीअगस्त्यजी शिष्य गुरु हैं। (अतः दो होते हुये भी दोनोंमें सिद्धांतका) ऐक्य है। जैसे पूर्व और उत्तरा दोनों मिलकर एक आकार शय्या-खट्वासा बताया है।

पूर्वा फाल्गुनीकी देवता 'भग' है। सुतीक्ष्णजीको तो भगवान्‌ने सभी भगों ऐश्वर्योंका सार 'अबिरल भगति बिरति बिज्ञाना। होहु सकल गुन ज्ञान निधाना।' ही दे दिया। भगवान्‌ने भुशुण्डीजीसे कहा है 'सब सुख खानि भगति तैं मांगी। नहिं कोउ तोहि समान बड़भागी।'

उत्तरा फाल्गुनीकी देवता अर्यमा है। उसका साम्य स्तुतिमें इस प्रकार है कि, अर्यमा—सूर्य तथा पितृदैवत। रामचन्द्ररूपी सूर्यको अगस्त्यरूपी अर्यमा (पितृदैवत) ने निशाचरतमविनाशार्थ पंचवटीमें जानेकी प्रेरणा दे दी। अर्यमाका व्युत्पत्यर्थ है 'प्रेरक'। 'कुंभज लोभ उदधि अपार के' यह कुंभजकृत स्तुतिकी फलश्रुति है।'

नोट—४ वि. त्रि. लिखते हैं कि जैसे दिनभर घूमफिरकर मनुष्य शय्यामें ही विश्राम करता है, इसी भाँति निराधार निर्गुणमें घूम-घामकर शय्याकी भाँति सगुणमें ही रति होती है; यथा 'अस तव रूप बखानौं जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं'। इस तरह आकार शय्याका साम्य है। इस स्तुतिकी फलश्रुतिमें ग्रन्थकारने 'कुंभज' शब्द देकर स्पष्ट कर दिया कि यह अगस्त्यकी स्तुति है, उन्हींकी भाँति अपार लोभको सोख लेती है, यथा 'कुंभज लोभ उदधि अपार के'। जिसे यह भावना हो गई कि इस ब्रह्मांडमें हम गूलरफल-के जन्तुकी भाँति रहते हैं, कुछ जानते नहीं, उसमें लोभकी भावना रह नहीं सकती।

प्रभु-अगस्ति-सत्संग प्रकरण समाप्त हुआ।

# 'दंडकवनपावनता-गीधमैत्री-पंचवटी वास' प्रकरण

**चले राम मुनि आयसु पाई । तुरतहिं पंचवटी निअराई ॥१८॥**

**दो०—गीधराज सैं‡ भेंट भइ बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ* ।**
**गोदावरी निकट प्रभु रहे पर्नगृह छाइ ॥१३॥**

शब्दार्थ—निअराना = निकट पहुँचना, पास होना, पास आना या जाना । यथा 'रिष्यमूक निअराया । (४.१.१)' ।

अर्थ—मुनिकी आज्ञा पाकर रामचन्द्रजी चले । तुरत ही पंचवटीके पास पहुँच गए ॥१८॥ गृद्ध से भेंट हुई । बहुत तरहसे प्रेमको बढ़ाकर प्रभु गोदावरीके पास पर्णशाला छाकर रहे ॥१३॥

टिप्पणी—१ 'चले राम मुनि आयसु पाई''' इति । 'एवमस्तु करि रमा निवासा । हरषि चले रिषि पासा' उपक्रम है और 'चले राम मुनि आयसु पाई' उपसंहार । ११ (२) से १३ (१७) तक सत्संग-प्रकरण रहा । श्रीसुतीक्ष्णजीके आश्रमसे चलनेपर 'हरषि चले' कहा, पर जब महर्षि अगस्त्यजी आये तब बैठ गए थे, यथा 'आसन पर बैठारे आनी' । अतः अब पुनः चलना कहा ।

नोट—१ वालमीकिजी लिखते हैं कि पंचवटीके रास्तेमें एक विशालकाय पराक्रमी गृद्धको उसे राक्षस समझकर उससे उन्होंने पूछा कि तुम कौन हो ? वह बहुत मधुर वाणीसे बोला 'वत्स अपने पिताका मित्र जानो' ।—'उवाच वत्स मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः । ३.१४.३ ।' पहले ही उसने 'वत्स !' सम्बोधन किया और पिताका मित्र अपनेको कहा, अतएव प्रभुने विना कुछ और पूछे प्रथम पूजा की । भाव-ग्राहक प्रभुकी जय ! तब उसका नाम इत्यादि पूछे । उसने ब्रह्माकी सृष्टिकी आदि कही और कहा कि मैं अरुणका पुत्र हूँ । तुम्हारे यहाँ रहनेसे मैं सहायक होऊँगा, जैसा तुम चाहो तुम्हारे और लक्ष्मणके जानेपर मैं सीताकी रक्षा करूँगा । तत्पश्चात् प्रभुने उसका अभिनंदन और आ किया और बारंबार पितासे मित्रताकी कथा पूछी और सुनी । यथा 'पितुर्हि शुश्राव सखित्वमात्मवाञ्जटायुष कथितं पुनः पुनः । वाल्मी. ३.१४.३५ ।'

नोट—२ मा. पी. प्रथम संस्करणमें हमने लिखा था कि (१) 'पद्मपुराणमें मित्रताकी कथा कही है कि एक बार संवत्सर सुनाते हुए वसिष्ठजीने राजासे कहा कि शनि अपना स्थान छोड़कर अबकी नि जिससे १२ वर्ष वर्षा न होगी । राजा गुरुसे उनका मार्ग पूछकर उसी मार्गपर रथपर चढ़कर चले । शनिके मिलनेपर उसकी दृष्टि पड़ते ही राजा गिरे तब जटायुने उनको अपनी पीठपर रोका था । श्रीकान्तशरणने भी लिखा है कि "पितासे मित्रताकी कथा पद्मपुराणमें कही गई है, जहाँ शनिस्त है ।'''(लगभग वही है जो मा० पी० में था)'''। राजा तो महातेजस्वी थे पर उनका रथ प्राकृत कारण शनिकी कड़ी दृष्टिसे जल गया । राजा आकाशमार्गमें गिरने लगे । इतनेमें जटायु पहुँचे और अपनी पीठपर बैठा लिया । तब फिर राजाने धनुषबाण लेकर सामना किया तब शनि हृदयसे डर ग ऐसा पराक्रमी तो हमने नहीं देखा । फिर उन्होंने राजासे कहा कि हम तुम्हारे पराक्रमसे प्रसन्न हैं माँगो ।'''"—परन्तु पद्मपुराणमें हमें इस प्रसंगमें ऐसी कथा नहीं मिली ।

पद्म पु० उ० अ० ३४ में कथा इस प्रकार लिखी है कि एक बारकी बात है कि जब शनि कृ नक्षत्रके अन्तमें थे तब ज्योतिषियोंने राजा दशरथजीको बताया कि अब शनिश्चर रोहिणी नक्षत्रको भे (जिसे शकटभेद भी कहते हैं) जानेवाले हैं जिसका फल देव-दानवको भी भयंकर है और पृथिवी

‡ सों—(का०) * 'दृढाइ'—(रा० गु० द्वि०, ना० प्र०) । बढाइ—(का०, भा० दा०) ।

बारह वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष होना है। यह सुनकर सब लोग व्याकुल हो गये। तब राजाने श्रीवशिष्ठादि ब्राह्मणोंको बुलवाकर उनसे इसके परिहारका उपाय पूछा। वसिष्ठजीने कहा कि यह योग ब्रह्मादिसे भी असाध्य है, इसका परिहार कोई नहीं कर सकता। यह सुनकर राजा परम साहस धारणकर दिव्य रथमें अपने दिव्यास्त्रों सहित बैठकर सूर्यके सवा लक्ष योजन ऊपर नक्षत्रमंडलमें गये और वहाँ रोहिणी नक्षत्रके पृष्ठभागमें स्थित होकर उन्होंने शनिको लक्षित करके धनुषपर संहारास्त्रको चढ़ाकर आकर्णपर्यन्य खींचा। शनि यह देखकर डर तो गए पर हँसते हुए बोले कि राजन्! तुम्हारा पौरुष, उद्योग और तप सराहनीय है। मैं तो जिसकी तरफ देख देता हूँ वह देव दैत्य कोई हो भस्म हो जाता है। मैं तुम्हारे तप और उद्योगसे प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो वह वर माँगो। राजाने कहा कि 'जबतक पृथ्वी, चन्द्र सूर्यादि हैं तबतक आप कभी रोहिणीका भेदन न करें।' शनिने 'एवमस्तु' कहा। फिर भी शनिने कहा कि हम बहुत प्रसन्न हैं तुम और वर माँगो तब राजाने कहा कि मैं यही माँगता हूँ कि शकटभेद कभी न कीजिये और बारह वर्ष दुर्भिक्ष कभी न हो। शनिने यह वर दे दिया। तब दशरथमहाराजने धनुषको रथमें रख दिया और हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे। (श्लोक ६ से २७ तक। इसके आगे श्लोक ३७ तक स्तुति है)। स्तोत्र सुनकर शनि प्रसन्न हुए और पुनः वर माँगनेको कहा। राजाने माँगा कि आप किसीको पीड़ा न पहुँचावें। शनिने कहा कि यह वर असंभव है (क्योंकि जीवोंके कर्मानुसार दुःख-सुख देनेके लिये ही ग्रहोंकी नियुक्ति है) अतः हम तुमको यह वर देते हैं कि जो तुम्हारी इस स्तुतिको पढ़ेगा वह पीड़ासे मुक्त हो जायगा। और भी विधान पीड़ासे मुक्त होनेके बताए हैं। तीनों वर पाकर राजा पुनः रथपर आरूढ़ होकर श्रीअयोध्याजीको लौट आए।

इस कथामें कहीं जटायुके सहायक होने आदिकी चर्चा नहीं है।

स्कंद पु० प्रभासखण्ड अ० ४६ में प्रायः बिल्कुल यही कथा है। उसमें भी जटायुकी सहायताका उल्लेख नहीं है।

वाल्मीकीयके एक संस्कृत टीकाकारने लिखा है कि राजा लोग एक दूसरेसे मित्रता रखते हैं, जैसे रावणने वानरराज वालिसे मित्रता की, श्रीरामजीने सुग्रीवसे मित्रता की। इसी तरह महाराज दशरथकी जटायुसे गृद्ध्रराज होनेसे मित्रता थी।

(७) दूसरी कथा आग्नेय रामायणमें कही जाती है कि कोशल्याजीके साथ विवाहके लिए बारात चली। रावणने विघ्न डाला। जिस नदीसे राजा नावपर जा रहे थे उसमें बाढ़ आई। नाव टूटी, राजा बहते हुए एक टापूपर जा लगे। गुरु वसिष्ठ भी साथ थे। उस समय यह चिन्ता हुई कि विवाहका समय निकट है, कोसलपुर कैसे पहुँचें, तब गृद्ध्रराजने उनको पीठपर सवार कर वहाँ पहुँचा दिया था।

प० प० प्र०—'भावार्थ रामायणमें लिखा है कि जब दशरथजी नमुचि-युद्धमें इन्द्रकी सहायता करने गए तब जटायुने नमुचिका शिरस्त्राण उड़ा दिया, उसी समय दशरथजीने बाणसे दैत्यका विनाश किया। इस तरह जटायुने अपनेको दशरथजीका युद्धसखा बताया। श्रीदशरथकी आयु ६० हजार वर्ष की थी और जटायुकी भी। यथा 'षष्टिवर्षसहस्राणि मम जातस्य रावण। वाल्मी० ३।५०।२०।' मनु (जो दशरथ हुए) कश्यपके पौत्र और जटायु भी कश्यपके पौत्र। अथवा कश्यप ही दशरथ हैं और जटायु कश्यपके पौत्र हैं। इत्यादि बहुत प्रकारके नाते बताकर प्रीति बढ़ाई।

नोट—३ 'बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ' इति। 'वत्स' संबोधनसे प्रीति हुई, फिर उसने अपनेको श्रीदशरथजीका मित्र कहा, इससे प्रीति और बढ़ी। फिर उसने अपनेको कश्यपजीका पौत्र बताया, इससे प्रीति और बढ़ी। फिर कहा कि तुम्हारा सहायक रहूँगा और तुम लोगोंकी अनुपस्थितिमें सीताजीकी रक्षा करूँगा, इससे भी प्रीति बढ़ी। फिर पितासे मित्रताकी कथा सुनकर बढ़ी। यही 'बहु बिधि' है।

**जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीती त्रासा ॥१॥**

गिरि बन नदी ताल छबि छाए । दिन दिन प्रति अति होहिं सुहाए ॥२॥
खग मृग बृंद अनंदित रहहीं । मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं ॥३॥
सो बन बरनि न सक अहिराजा । जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा ॥४॥

अर्थ—जबसे श्रीरामचन्द्रजीने वहाँ निवास किया, मुनि सुखी हुए, उनका डर जाता रहा ॥१॥ पर्वत, वन, नदी, तालाब शोभासे पूर्ण हो गए और प्रति दिन अत्यंत सुहावने हो रहे हैं ॥२॥ पक्षी-पशुवृन्द सुखी रहते हैं । भौंरे मधुर गुंजार करते हुए शोभा पा रहे हैं ॥३॥ शेषनाग भी उस वनका वर्णन नहीं कर सकते जहाँ रघुबीर श्रीरामजी प्रत्यक्ष विराजमान हैं ॥४॥

टिप्पणी—१ (क) मुनिने प्रथम दण्डकारण्य पावन करनेको कहा तब मुनियोंपर दया करनेको, पर यहाँ रामजीके निवास करते ही कविने प्रथम मुनियोंका भय मिटना और सुखी होना लिखा । कारण कि श्रीरामजीके मनमें मुनियोंका कार्य्य प्रधान है, वे इसे ही अति आवश्यक समझते हैं, उसकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं, इसीसे मुनियोंका सुखी होना ही प्रथम है । (ख) मुनिके 'कीजै सकल मुनिन्ह पर दाया' इस वचनको इस चौपाई, 'जबते राम कीन्ह तहँ बासा । सुखी भए मुनि बीती त्रासा', में चरितार्थ किया है । दूसरी बात जो मुनिने कही थी कि 'दंडक बन पुनीत प्रभु करहू' इसका चरितार्थ अगली चौपाई 'गिरि बन नदी...' में है । वनका सुहावन होना कहकर तब उनके आश्रित जीवोंका सुख कहा—'खगमृगवृंद अनंदित रहहीं...' । (ग) 'खगमृग०' का भाव कि पक्षी बोलकर, मृग देखकर सुख दिखाते (प्रकट करते) हैं । सब पशु-पक्षी परस्परका वैर भूल गए, अतः सब सुखी हैं । यथा 'सहबासी काँचो भषै पुरजन पाक प्रवीन । कालक्षेप केहि विधि करहिं तुलसी खग मृग मीन' [ यह जो स्वाभाविक वैर है वह सब जाता रहा । तेजस्वी अहिंसात्मक पुरुषों महात्माओंके आश्रमोंमें पशु-पक्षी आदि सभी जीव अपना पारस्परिक वैर भूल जाते हैं, यह उन महात्माओंकी तपस्या, तेज, प्रताप का फल है । यथा 'खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं । बिरहित वैर मुदित मन चरहीं । २.१२४ ।' ( वाल्मीकि आश्रम ), 'करि केहरि कपि कोल कुरंगा । बिगत वैर बिचरहिं सब संगा ।२.१३८ ।' ( चित्रकूटमें श्रीरामजीके निवास करनेपर ), 'सहज बयरु सब जीवन्ह त्यागा । गिरि पर सकल करहिं अनुरागा । १.६६ ।' ( गिरिजाजीके जन्मपर ) । इसी तरह सेतुबंध होनेपर सब जलचर वैर भूलकर 'प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे । मन हरषित सब भए सुखारे । ६.४ ।'; वैसे ही यहाँ हुआ । ] (घ) 'सो बन बरनि न सक अहिराजा ..'—कारण न वर्णन कर सकनेका यह कि वे 'दिन दिन प्रति अति होहिं सुहाए' । जो छटा आज है वह कल नहीं रहनेकी, अतः जो वे आज कहेंगे वह कल झूठी हो जायगी । अथवा, अत्यन्त शोभा है, इससे वर्णन नहीं की जा सकती ।

२—'जहाँ प्रगट रघुबीर बिराजा' अर्थात् जिनके भजनके प्रभावसे मुनियोंके आश्रमोंमें पूर्ण शोभा हो रही है, वे स्वयं ही जहाँ प्रत्यक्ष विराजमान् होंगे वहाँकी शोभाका फिर कैसे कोई अन्दाजा कर सकता है । अथवा, यहाँ अहिराज रघुवीररूपसे प्रगट विराजमान् हैं वे ही लक्ष्मणजी देखकर वर्णन नहीं कर सकते तब और कौन वर्णन करेगा ? [ यहाँ रघुवीर पद दिया क्योंकि यह निशाचरोंका वन है, यहाँसे उनका पराक्रम वीरत्व प्रकट होगा ] ।

३—चित्रकूटमें तथा प्रवर्षणगिरिमें ( किष्किन्धामें ) देवताओंने कुटी बनाई थी, यथा 'रमेउ राम मन देवन्ह जाना । चले सकल सुरपति परधाना ॥ कोल किरात वेष सब आए । रचे परनतृन सदन सुहाए ॥ २.१३३ ॥', 'प्रथमहिं देवन्ह गिरिगुहा राखेउ रुचिर बनाइ । रामकृपानिधि कछुक दिन बास करहिंगे आइ । ४.१२ ॥' परन्तु यहाँ कुटी नहीं बनाई । क्यों ? उत्तर—(१) खरके भयसे । भय सबको रहा है; यह बात खरदूषणादिके बधपर कविने स्पष्ट कही है, यथा 'जब रघुनाथ-समर रिपु जीते । सुर नर मुनि सबके भय बीते ॥ २१.१ ॥' (२) यह उग्र शापसे शापित था । यहाँ पर्णकुटी बनानेमें देवता समर्थ न थे, अतः प्रभुने

स्वयं कुटी छायी। इन्हींके आगमनपर वह स्थान हराभरा हो गया। देवता इसे न तो हराभरा करनेको समर्थ थे और न यहाँ आश्रम बना सकते थे।

दंडकवनपावनता आदि प्रकरण समाप्त हुए।

## 'पुनि लछिमन उपदेश अनूपा'—प्रकरण

# "श्रीरामगीता" ( भक्तियोग )

एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना॥५॥
सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछौं निज प्रभु की नाईं॥६॥

अर्थ—एक बार प्रभु ( श्रीरामचन्द्रजी ) सुखसे ( परम प्रसन्न ) बैठे हुए थे। ( ऐसे समय ) श्रीलक्ष्मणजीने छलकपटरहित ( सहज सरल स्वभावसे ) वचन कहे॥ ५॥ हे सुर, नर, मुनि और चराचरमात्रके स्वामी! मैं निज प्रभुकी तरह आपसे पूछता हूँ॥ ६॥

उमा-शिव-संवाद-प्रसंगसे मिलान

| | | |
|---|---|---|
| १ | एकबार तेहि तर प्रभु गयऊ। | एक बार |
| २ | तरु बिलोकि उर अति सुख भयऊ। पारबती भल अवसरु जानी॥ | प्रभु सुख असीना |
| ३ | प्रश्न उमाके सहज सुहाई। छल बिहीन०— | लछिमन कहे वचन छल हीना |
| ४ | विश्वनाथ | सुर नर मुनि सचराचर साईं |
| ५ | मम नाथ पुरारी | मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं |
| ६ | 'हरहु नाथ मम मति भ्रमभारी', 'जेहि बिधि मोह मिटै…' | सोक मोह भ्रम जाइ |
| ७ | 'मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू' | मोहि समुझाइ कहहु, सकल कहहु समुझाइ |

नोट—१ (क) 'एक बार' का भाव कि दिन निश्चित नहीं है। पंचवटीमें पहुँचनेके पश्चात् और शूर्पणखाके आगमनके कुछ पहलेकी यह बात है। विशेष 'एक बार चुनि कुसुम…।३।१।३' देखिए। 'प्रभु' इति। कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः = प्रभुः। दण्डकवनका उग्र शाप हरण कर उसे पावन सुहावन बनाकर बैठे हैं अतः 'प्रभु' कहा। ( वि० त्रि० )। मिलान कीजिए 'एक बार तेहि तर प्रभु गयऊ।१.१०६.४।' से। (ख) 'सुख आसीना' इति। भाव कि नित्यक्रिया कर सावकाश बैठे हैं, कुछ कर या सोच नहीं रहे हैं। एकान्त है, श्रीजनकनन्दिनीजी भी नहीं हैं। ऐसा ही समय प्रश्नके लिये उपयुक्त है। सुखासनसे बैठे हैं। योगशास्त्रका भी यही अनुशासन है कि 'स्थिरसुखमासनम्।' ( वि० त्रि० )।

२ बाबा रामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि पूर्व यह कहकर कि 'जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीती त्रासा। गिरि बन नदी ताल छबि छाए।…' तब यह कहते हैं कि 'एक बार प्रभु सुख आसीना।' भाव यह है कि-(क) अपने समान गुण स्वभाववालोंको देखकर सुख होता ही है। यहाँ पाँच परोपकारी पूर्वसे उपस्थित थे ही—मुनि, गिरि, वन, नदी और पृथ्वी (जिनपर ये सब बसे हैं)। यथा 'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी'। छठे परोपकारी आप पहुँचे ( आपका आविर्भाव, वनवास आदि सब परोपकारहेतु ही है )। अतः 'सुख आसीना' कहा। (ख) अपने आश्रितको सुखी देखकर स्वामीको सुख होता ही है—'वेद धर्म रक्षक सुरत्राता'। मुनि वेद विहित कर्मधर्मोंका सदा मनन करते और उनके अनुकूल आचरण करते हैं। वे मुनि आपकी शरण पाकर सुखी हुए—'सुखी भये मुनि बीती त्रासा'। अतः आप भी 'सुखासीन' हैं। (ग) ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयोंका सुख पाती हैं तब अन्तःकरण सुखी होता है। यहाँ गिरि, वन, नदी, ताल, खगमृगवृन्द आदि अपने रूपसे नेत्रोंको, पक्षी और भौंरे अपनी बोलीसे

श्रवणेन्द्रियको, नदी और ताल स्पर्शसे त्वचा और रसनाको और पुष्प सुगन्धसे नासिकाके द्वारा अन्तः-करणको सुख दे रहे हैं। अतः 'सुख आसीना' कहा। (घ) 'सो वन वरनि न सक अहिराजा। जहाँ प्रगट रघुबीर विराजा।' ऐसे शोभायमान वनमें जहाँ टेसूके फूल फूले हैं, सामने नदीकी धारा बह रही है, मयूर कोकिला आदिकी कूज हो रही है, कमल जिनपर मर-मिटनेवाले भ्रमर गूँज रहे हैं, खिले हैं और अपना प्राणाधार भी साथ हैं; इस शृंगार रसकी पराकाष्ठावाली दशाको 'सुख-आसीना' कहना ही चाहिये। पुनः, (ङ) 'सुख आसीना' कहनेका तात्पर्य यह है कि परस्पर प्रियाप्रियतमके विपिनविहारका यह अन्तिम दिवस है। वास्तविक क्रीड़ा तो किसी देशकालमें कदापि न्यून होती ही नहीं वह नित्य एकरस है। प्रकटमें जो दिखाना है वह लीला मात्र है। तेरहवाँ वर्ष व्यतीत होनेको अब केवल तीन ही मास रह गये हैं। वसन्त-पंचमीके पश्चात्के ये चरित्र हैं। श्रीजानकीजीके हरणका समय निकट है—'असित अष्टमी फागकी सीता-हरण बखान।' [ पुनः भाव कि प्रभु नहीं किन्तु मानों सुख ही प्रभुके रूपमें बैठा था। यथा 'सुखसरूप रघुबंसमनि'। प० प० प्र० ]।

नोट—३ अ० रा० में मिलता हुआ श्लोक यह है—'एकदा लक्ष्मणो राममेकान्ते समुपस्थितम्। विनयावनतो भूत्वा पप्रच्छ परमेश्वरम् ।३.४.१६' मानसके 'एक बार, प्रभु, सुख आसीना, लछिमन बचन कहे' और 'छलहीना' की जगह अ० रा० में क्रमशः 'एकदा, परमेश्वरम् रामं, एकान्ते समुपस्थितम्, लक्ष्मणो पप्रच्छ' और 'विनयावनतो भूत्वा', ये शब्द आये हैं। इस तरह 'सुख आसीना' का भाव है कि एकान्तमें प्रसन्न बैठे हुए हैं और 'छलहीना' से जनाया कि बहुत नम्रतापूर्वक पूछा।

४—'लछिमन बचन कहे छलहीना' इति। (क) 'लछिमन' प्यारा नाम है। ये बचपनसे ही प्रभुके चरणोंमें प्रेम करनेवाले हैं, यथा 'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी।१.१९८।' इससे उपदेशकी पात्रता दिखलाई गई है। ( वि० त्रि० )। (ख) 'छलहीना' का भाव कि ये प्रश्न जय पाने, परीक्षा या अपने बुद्धिकी चतुरता दिखलानेके लिए नहीं हैं। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि यहाँ अहंकारका अनुवेध ही छल है। अन्याययुक्त प्रश्न करनेवालेका उत्तर देना निषिद्ध है। यथा "नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयात् न चान्यायेन पृच्छतः।' यहाँ 'छलहीन' शब्दसे सच्ची जिज्ञासा दिखलाई गई है। 'सुनी चहहिं प्रभुमुखकै बानी। जो सुनि होइ सकल भ्रम हानी ।७.३६.३।' वाली बात यहाँ भी है।" चक्रजी लिखते हैं कि 'बिना पूछे किसीको कुछ न बतावे। अन्यायपूर्वक पूछनेवालेको भी कुछ न बतावे। यह वक्ताके लिये शास्त्रीय आदेश है। कोई कहीं जा रहा है, किसी काममें व्यस्त है, चिन्तित या उत्तेजित है, उत्तर देनेकी मनःस्थितिमें नहीं है, ऐसे समय उससे कुछ पूछा जाय—यह अन्यायपूर्वक पूछना हुआ। पूछनेमें धृष्टता हो, व्यङ्ग हो, सूक्ष्मता हो, अकड़ हो, यह भी अन्यायपूर्वक पूछना हुआ।' रा० प्र० श० जी लिखते हैं कि यहाँ प्रश्न उससे कर रहे हैं कि जिसको 'तरकि न सकहिं सकल अनुमानी'। न्यायवालोंका प्रश्न संशय, तर्क, जल्प, वितण्डा और छलयुक्त होता है। छलहीन कहकर जनाया कि ये प्रश्न तार्किकोंकी भाँति केवल वादविवाद-हेतु नहीं किन्तु अपने और जगत्मात्रकी प्रवृत्तिके कारण हैं। पुनः, 'छलहीना' कहकर जनाया कि इनके उत्तर जो कोई सुनेगा वह भी छलरहित हो जायगा, उसे मायाकी असत्यता ( परिवर्तनशीलता ) झलक जायगी। विशेष १.१११ (६) में देखिए। कुछ लोगोंने 'छलहीन' को लक्ष्मणजीका विशेषण माना है पर यह ठीक नहीं है जैसा कि शिवपार्वतीसंवाद और इन प्रश्नोंके मिलानसे स्पष्ट है। यह 'वचन' का ही विशेषण है।

अ० दी० कारका मत है कि जो प्रश्न ग्रहण करनेकी इच्छासे किया जाता है वह बिना छलका प्रश्न है। पर छलयुक्त प्रश्न करनेवालेका लक्षण यह है कि वह स्वयं तो कणमात्र ही ग्रहण करता है और उपदेश करता है बड़ा भारी।

५ ☞ बड़ोंसे कब और कैसी स्थितिमें प्रश्न करना चाहिए इसकी यहाँ एक मर्यादा बतायी है। जब स्वामी, गुरुजन, भूप, माता-पिता इत्यादि ( प्रश्नका उत्तर देने योग्य व्यक्ति ) प्रसन्न हों तब पूछना चाहिए।

यथा 'बैठे परम प्रसन्न कृपाला । कहत अनुज सन कथा रसाला ।४१.४।', 'यह विचारि नारद कर बीना । गए जहाँ प्रभु सुख आसीना ।४१.८।'

श्रीचक्रजी—१ श्रीलक्ष्मणजी कभी श्रीरामजीसे छलपूर्वक कोई बात कहेंगे यह कल्पना करना ही अपराध होगा: ऐसी दशामें 'बचन कहे छलहीना' का तात्पर्य समझने योग्य है। श्रीलक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य हैं, ज्ञानियोंके परम गुरु हैं, ऐसी कोई बात, कोई ज्ञान, कोई तत्व नहीं जो उन्हें ज्ञात न हो। उन्होंने निषादराजको तत्त्वज्ञान एवं भक्तिका उपदेश भी किया है। जो सब कुछ जानता हुआ भी पूछे उसके विषयमें यह शंका स्वाभाविक होती है कि वह केवल पूछनेका छल कर रहा है। इसी शंकाके निवारणार्थ 'छलहीना' आया है। उनके प्रश्नमें कोई छल न था, यह वे आगे स्पष्ट कर देते हैं।

२ 'सुर नर मुनि···' इति। भाव कि चराचरमात्रमें विशेषतः सुर, नर, मुनियोंमें जितने साधक हैं, वे भिन्न-भिन्न रुचिके हैं। रुचि और अधिकार भेदसे भिन्न-भिन्न निष्ठायें हैं। उन निष्ठाओंकी दृढ़ताके लिये आपने अपनी वाणी वेद-शास्त्रद्वारा भिन्न-भिन्न साधनमार्गों सिद्धान्तोंका निर्देश किया है; अतः वे सब सत्य हैं और उन सबके परमप्राप्य आप ही हैं, क्योंकि आप सबके स्वामी हैं। मुझे यह सब पता है, क्योंकि आपने मुझे जीवोंका मार्गप्रदर्शक 'परमाचार्य' बना रक्खा है। किन्तु मैं आपको आज सर्वेश्वर मानकर कुछ नहीं पूछ रहा हूँ, मैं तो अपना निज नाथ मानकर अपने निजी प्रभुकी भाँति पूछ रहा हूँ। अतः आप मेरे लिये मेरे अधिकारके अनुरूप उपदेश करें। मुझे बतावें कि इन नाना सिद्धान्तों, नाना निष्ठाओंमेंसे स्वयं मैं अपने लिये किसका आलंबन करूँ। इन प्रश्नोंमें भी एक आग्रह है 'मोहि समुझाइ··सेवा'।

प० प० प्र०—१☞श्रीसुमित्रानन्दन लक्ष्मणजीके वचनोंमें ही क्या, उनके हृदयमें, उनके आचरणमें कभी कोई छल-कपटकी कल्पना स्वप्नमें भी कर सकेगा? इस स्थानपर 'छलहीना' शब्द प्रयुक्त करनेमें कविराज दूसरी एक मर्यादा बता रहे हैं कि प्रश्न करनेमें छल कपट न होना चाहिए। केवल जिज्ञासाकी तृप्तिके लिए ही पूछना चाहिए। वाद-विवाद करके अपना पांडित्य, अपनी विद्वत्ता जनाने, परीक्षा लेने अथवा किसीका अपमान करके अपना मान बढ़ा लेने की इच्छा इत्यादि न होनी चाहिए।

२ 'सुर नर मुनि··प्रभु की नाईं' में यह मर्यादा बताई है कि संत या गुरुको मानव बुद्धिसे न देखना चाहिए, उनको परमात्मा-स्वरूप ही जानना चाहिए। 'तुम्ह तें गुरहि अधिक जिय जानी। सेवहिं सर्व भाव सनमानी।' ऐसी भावना श्रद्धा रखकर उनके साथ बर्ताव भी इसी भगवद्भावसे करना चाहिए।

३ 'मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं' में यह भाव है कि उनके साथ जो व्यावहारिक संबंध सगाई नाता हो उसे पूर्णतया भूलकर सेव्यसेवक भावसे ही व्यवहार करना चाहिए। शारीरिक रूप, गुण, वर्ण इत्यादिकी ओर न देखना चाहिए। कारण कि गुण और दोष दोनोंको न देखनेका अभ्यास करना है। इसका आरंभ यदि गुरुके पास ही न हुआ तो होगा कब?

नोट—६ "सुरनर मुनि सचराचर साईं।···" इति। (क) सचराचरके स्वामी हैं अर्थात् सर्वेश्वर हैं, सबके गुरु हैं। यथा 'स सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' इति श्रुतिः, 'जगद्गुरुं च शाश्वतं'। (वि० त्रि०)। (ख) 'निज प्रभु की नाईं' का भाव कि आप तो सबके ही भ्रम दूर करके सबको सुख देते रहते हैं। पर जैसे संदेह दूर करनेके लिये सेवक निज स्वामीसे पूछता है जिसमें पदार्थका ज्ञान हो जाय, वैसे ही मैं पूछता हूँ। (पं० रा० कु०)। ( पुनः भाव कि सुरनर मुनि आदिके तो आप 'प्रभु' हैं पर मेरे तो 'निज प्रभु' हैं, मुझे तो 'तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं', अतः आप मुझे 'जेहि गति मोरि न दूसरि आसा' ऐसा समझ कर उत्तर दें। मुझे आपसे पूछनेका दावा है। मुझे आप अपना निज सेवक समझिए )। (ग) इस चौपाईके पूर्वार्द्धमें ऐश्वर्य्य और उत्तरार्द्धमें माधुर्य्य है। भाव कि जो प्रश्न करेंगे वह ऐश्वर्य्य-माधुर्य्य-युक्त है ( ज्ञान और भक्ति )। 'निज प्रभु' का भाव कि आप जो आज्ञा करेंगे वही हमारा कर्त्तव्य होगा, यथा 'मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करउँ चरनरज सेवा'। ( रा० प्र० श०)। पुनः, 'निज प्रभु' से अनन्यताकी ममता रखते

हुए प्रश्न किया क्योंकि 'सेवक सुत पति मातु भरोसे । रहै असोच बनै प्रभु पोसे'। भाव कि जैसे मैं 'निज प्रभु' समझकर पूछता हूँ वैसे ही आप जो उत्तर दें वह प्रभु-सम्मित हो। पुनः, भाव कि जैसे सेवक सीधी रीतिसे अपने स्वामीसे पूछता है वैसेही मैं सेवककी तरह पूछता हूँ। ( रा० प्र० )।

मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा ॥७॥
कहहु ज्ञान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया ॥८॥
दो०—ईश्वर जीवहि† भेद प्रभु सकल कहौ‡ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ ॥१४॥

अर्थ—हे देव! मुझसे वही समझा कर कहिए जिससे सबको छोड़कर मैं प्रभुके चरणरजका सेवन करूँ॥७॥ ज्ञान, वैराग्य और माया (का स्वरूप) कहिए और वह भक्ति कहिए जिससे आप कृपा करते हैं।॥८॥ हे प्रभो! ईश्वर और जीवका भेद, यह सब समझाकर कहिए, जिससे आपके चरणोंमें अनुराग हो और शोक, मोह, भ्रम मिट जाए ॥१४॥

नोट—१ 'मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा।' इति। (क) भाव यह कि कठिन है, समझाकर कहनेसे सर्वसाधारण इस तत्त्वज्ञानको समझकर वैसा आचरण करेंगे। 'सब तजि' यह उपदेशभावमें है अर्थात् जबतक जीव विषयवासनाका त्याग न करेगा तबतक श्रीरामजी के चरणोंकी सेवा, उनकी भक्ति, उसे प्राप्त होना असंभव है।—'सबकी ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँधि बरि डोरी'। सुग्रीवने कहा है—'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई। ए सब राम भगति के बाधक ।४.७।' (ख) पूछनेकी यही रीति है कि जिज्ञासु नितान्त अज्ञान बनकर पूछे। यथा (१) 'राम कवन प्रभु पूछौं तोही। कहिय बुझाइ कृपानिधि मोही।···१.४६।' (श्रीभरद्वाजजी), (२) 'नाथ धरेउ नरतनु केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू। १।१२०।७।' (श्रीपार्वतीजी), (३) 'संत असंत भेद बिलगाई। प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई।७।३७।' (श्रीभरतजी), (४) 'एक बात प्रभु पूछउँ तोही। कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही। ७।११५।' (श्रीगरुड़जी)। इत्यादि, सबोंने समझाकर विस्तारपूर्वक कहनेकी प्रार्थना की है, वैसे ही यहाँ 'समुझाइ कहहु' कहा। (पं० रा० कु०)। (ग) 'सोइ' इति। यद्यपि छहों प्रश्नोंके लिये समझाकर कहनेकी प्रार्थना है, तथापि 'सोइ' शब्दके प्रयोगसे प्रथम प्रश्नपर अधिक जोर मालूम पड़ता है क्योंकि सिद्धान्त तो थोड़े शब्दोंमें भी कहा जा सकता है, पर साधनके विना विस्तारपूर्वक कहे काम नहीं चलता। यह प्रश्न साधन विषयक है। (वि० त्रि०)। (घ) 'देवा' इति। श्रीरामजी इष्टदेव हैं इसी भावसे देव सम्बोधन दिया। जिसकी सेवा करनी हो उसीसे सेवाविधि जान लेनेपर भ्रमको स्थान नहीं रहता। 'सेव्य' होनेसे ही उनका देव-शब्दसे संबोधन किया गया है। (वि० त्रि०)। (ङ) 'सब तजि' का भाव कि श्रीचरणोंमें अति अनुराग विरागी ही कर सकता है। यथा 'जेहि लागि विरागी अति अनुरागी विगत मोह मुनिबृंदा। १।१८६।' अतः 'सब तजि' कहा। पुनः भाव कि विना सब कुछ तजे रात-दिन भजन नहीं हो सकता, यथा 'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करहुँ दिन राती। ४।७ (वि० त्रि०)। पुनः भाव कि बाहरके संसारी नाते तो मैं तोड़ ही चुका, अब भीतरके भी विकार दूर कर दूँ। (खर्रा)। (च) 'चरनरज सेवा' इति। लक्ष्मणजी का श्रीचरणोंमें अत्यन्त प्रेम है, यथा 'चापत चरन लषन उर लाए। सभय सप्रेम परम सचु पाए।' वह प्रेम-पिपासा बढ़ती ही जाती है, अतः 'चरणरजसेवा' करनेका ही उपाय पूछते हैं। यहाँपर 'चरणरजसेवा' कहकर अपना दैन्य सूचित करते हैं। ( पुनः, इसमें यह भी भाव हो सकता है कि चरणकी मुख्य एवं विशेष

† जीव—१७२१, १७६२, छ०। जीवहि—१७०४, को० रा०। ‡ कहहु—१७२१, १७६२, १७०४, छ०, को० रा०। कहौ—भा० दा०।

अधिकारिणी तो माता श्रीजानकीजी हैं, यथा 'कोसलेन्द्रपदकंजमंजुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ । जानकीकरसरोजलालितौ''''। ७.मं श्लोक०२ ।' मैं चरणरजका ही अधिकारी हूँ अतः जिस तरह मुझे वह सेवा मिले वह समझा कर कहिए )।

श्रीचक्रजी—'सब तजि''''' । भाव कि आप मुझे योग, सिद्धि, अर्थ, धर्म, काम, या मोक्षका साधन बतलानेकी कृपा न करें। कैवल्य ज्ञानसे मोक्ष नहीं पाना। भले मैं आपके चरणोंकी सेवाका अधिकारी न होऊँ, पर आप तो सर्वसमर्थ हैं न ! मेरे अधिकारको न देखिए। कहीं मेरी आसक्ति हो भी तो ऐसा उपदेश कीजिए कि वह आसक्ति दूर हो जाय। सबको छोड़कर आपकी चरणरजकी सेवामें लगूँ—मुझे वही मार्ग बताइये। इस प्रार्थनामें 'सब तजि' के द्वारा पूर्ण वैराग्य तथा 'चरनरज सेवा' द्वारा पूर्ण विनम्रताकी याचना की गई है। इतनी प्रार्थना करके तब श्रीलक्ष्मणजी छः प्रश्न करते हैं—ज्ञान क्या है, इत्यादि।

नोट—२ प० प० प्र० का मत है कि यहाँ 'रज' का अर्थ चरणरज ( धूलि ) न लेकर उसे 'सेवा' का विशेषण मानकर 'अल्प' अर्थ करना चाहिए।

नोट—३ (क) वि. त्रि. जी यहाँ 'सब तजि करौं चरन रज सेवा' को प्रथम प्रश्न मानते हैं और इस क्रमसे ज्ञान, विराग आदिको दूसरा, तीसरा इत्यादि मानते हैं। दूसरा प्रश्न ज्ञान विषयक है क्योंकि कहा है—'कहहिं संत मुनि वेद पुराना। नहि कछु दुर्लभ ज्ञान समाना।' तथा 'ज्ञान मोच्छप्रद वेद बखाना।' इस प्रश्नका तात्पर्य यह है कि विषयगोचर ज्ञान तो सभी को है; जानने योग्य ज्ञान कौन सा है? तीसरा प्रश्न वैराग्य विषयक है; क्योंकि यही राजा विवेकका मंत्री है, यथा 'सचिव बिराग विवेक नरेसू'। इसके विना संन्यासी उपहासयोग्य समझा जाता है। यथा 'सब नृप भए जोग उपहासी। जैसे बिन बिराग संन्यासी।' ( वैराग्यके विना ज्ञान हो ही नहीं सकता, यथा 'ज्ञान कि होइ बिराग बिन', अतः ज्ञानका प्रश्न करके वैराग्य का प्रश्न किया। योग और क्षेम दोनों )। (ख) 'अरु माया'—यद्यपि मायामें ही संसार पड़ा हुआ है, तथापि उसके जाननेकी आवश्यकता है। इसके चरित्र कोई लख नहीं पाता और इसीके वशमें पड़ा हुआ संसार नाच रहा है, यथा 'जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा।' यह माया विना रामकृपाके छूटती नहीं; लक्ष्मणजी इसका परिचय भी जानना चाहते हैं। यह चौथा प्रश्न है। ( वि० त्रि० )। (ग) 'कहहु सो भक्ति'—भक्ति दो प्रकारकी होती है। भक्ति शब्दकी व्युत्पत्ति दो प्रकारसे है, एक भाव व्युत्पत्ति से तो 'भजनमन्तः करणस्य भगवदाकारताख्यं भक्तिः' यह है जिससे, भजन = 'अन्तःकरणकी भगवदाकारता भक्ति अर्थात् फलरूपा भक्ति' यह अर्थ निकलता है, और दूसरी करणव्युत्पत्ति ( यथा 'भज्यते = सेव्यते। 'भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियते अनया' ), जिससे सेवन अर्थात् भगवदाकार अन्तःकरण किया जाता है, उसे भक्ति कहते हैं, अर्थात् साधन-भक्ति यह अर्थ बोध होता है। 'करहु जेहि दाया' का भाव कि जिससे आप शीघ्र द्रवीभूत होते हैं, जिसपर आप सदा अनुकूल रहते हैं, यथा 'भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया' इत्यादि। ( वि० त्रि० )।

४ 'ईश्वर जीवभेद' का भाव यह है कि ईश्वर भी चेतन है, और जीव भी चेतन है, दोनोंको कर्माधिकार है, दोनों मायासे सम्बद्ध हैं। दोनों अनादि हैं। फिर दोनोंमें भेद ही क्या है? 'प्रभु' का भाव यह है कि पहिले कह आये हैं कि 'मैं पूँछहुँ निज प्रभुकी नाईं', अतः इस 'सुनि लछिमन उपदेश अनूपा' प्रकरण में सरकारके लिये प्रायेण 'प्रभु' शब्दका ही प्रयोग है—'एकबार प्रभु सुख आसीना।', 'मैं पूछौं निज प्रभु की नाईं।', 'ईश्वर-जीव भेद प्रभु सकल कहहु समुझाइ।', 'लछिमन प्रभु चरनन्हि सिर नावा।' ( वि० त्रि० )।

टिप्पणी—१ लक्ष्मणजी ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके स्वरूप जानते हैं, इन्होंने गुहसे कहा भी है, यथा 'बोले लषन मधुर मृदु बानी। ज्ञान बिराग भगति रस सानी'। तथा उनकी श्रीरामजीके चरणोंमें अत्यन्त प्रीति है जैसा वे स्वयं कह चुके हैं, यथा 'मन क्रम वचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिय कि सोई। २.७२।', तब भी यहाँ प्रश्न करना और कहना कि 'जाते होइ चरन रति', 'सब तजि करउँ चरनरज सेवा' यह

अपना संदेह दूर करनेके लिये नहीं, वरंच जीवोंके कल्याणके लिये है। श्रीलक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य माने जाते हैं। यहाँ उन्होंने लोकोपकारहेतु जानबूझकर पूछा है, यथा—'तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी'। मुख्य कारण यही है। अथवा, श्रीमुखसे सुनकर जो कुछ जानते हैं उसमें और भी दृढ़ होना चाहते हैं। [ कारण यह भी हो सकता है कि 'शास्त्रकी बातें पुनः पुनः देखनी-सुननी-विचारनी चाहिए, यथा 'सास्त्र सुचिंतत पुनि पुनि देखिअ', नहीं तो विस्मरण हो जानेका भय है। तीसरे इस प्रकार कालक्षेप करना चाहिये—यह दिखाया। व्यर्थ बातोंमें समय न बितावे यह उपदेश है ]।

टिप्पणी—२ (क) 'ईश्वर जीवहि भेद प्रभु कहहु सकल समुझाइ।००' इति।—'समुझाइ' आदिमें भी कहा, यथा 'मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा'। भाव यह कि ज्ञान, वैराग्य, माया, भक्ति, ईश्वर-जीव-भेद यह सब बातें समझाकर कहिए। 'समुझाइ' पदसे सबकी कठिनता और सूक्ष्मता दर्शित हुई। [ इन छहों प्रश्नोंका उत्तर केवल व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ अथवा परिभाषा मात्रसे हो सकता है। इसीसे प्रार्थना करते हैं कि समझाकर कहिये, जिससे भ्रान्ति न रह जाय। (वि० त्रि०)]। (ख) ज्ञान विराग मायाको एक साथ रक्खा और भक्तिको अलग, क्योंकि भक्तिके पास माया जा नहीं सकती, यथा 'भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहिं डरपति अति माया'। ७.११६।' इससे भक्तिको स्वतंत्र जनाया।

३—'जाते होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ'। (क) ज्ञानसे शोकका नाश होगा और वैराग्यसे मोहका। मायाका स्वरूप कहियेगा, उससे भ्रम दूर होगा क्योंकि इससे निज-पर-स्वरूपकी विस्मृति होती है, यथा 'मायाबस स्वरूप बिसरायो'—( विनय )। भक्ति कहिए, उससे चरणोंमें भक्ति होगी। (ख)—ज्ञान वैराग्यादि सभीको पूछनेका कारण बताया कि 'सब तजि करउँ चरनरज सेवा'। इन सबोंके जाननेपर ही चरण-सेवा बन पड़ती है। यथा 'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती। ७.८९।'

[ (ग) 'जाते होइ चरन रति' से लक्ष्मणजी अपना लक्ष्य भी स्पष्ट कहे देते हैं कि मेरा लक्ष्य भक्ति है, मुक्ति नहीं। जिसका लक्ष्य मुक्ति है, उसे समझानेका मार्ग दूसरा है, जैसा कि उत्तरकाण्डके 'ज्ञानदीपक' प्रकरणमें विस्तृत रूपसे कहा गया है। और भक्तिके समझानेका मार्ग ही दूसरा है, जो इस प्रकरणमें कहा जायगा। (वि० त्रि०)। (घ) इष्टवियोगजन्य दुःखसे शोक होता है। मोह अज्ञानको कहते हैं। भ्रम अन्यथा-ज्ञानको कहते हैं। इनके विना हटे भक्ति होती नहीं। यथा 'होइ बिवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा'। इससे यह भी दिखला दिया कि ये ही प्रश्न सब प्रश्नोंके मूल हैं, इनका अभ्रान्त उत्तर यदि मनमें बैठ जाय तो शोक-मोह-भ्रम निवारणपूर्वक भक्तिकी प्राप्तिका अधिकार होता है। (वि० त्रि०) ]

प० प० प्र०—१ इन प्रश्नोंमें हेतु यह है कि १२ वर्षके वनवासकालमें मुनियोंके मुखसे इन विषयोंके वचन सुने हैं और अभी अभी कुछ दिन ही पूर्व महर्षि अगस्त्यजीके मुखसे माया, जीव, विरति, अविरल भक्ति, चरणसरोरुह प्रीति अभंगा, ज्ञान और अज्ञान इन सब बातोंका केवल उल्लेख सुना था, तथापि 'इदमित्थं' ऐसा निश्चय न होनेसे विस्तारपूर्वक कहनेकी प्रार्थना है।

२ जब-जब श्रीरामजी प्रसन्न बैठते हैं तब-तब कुछ-न-कुछ महती कृपावृष्टि होती है। यथा 'बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला। ४१।४।', ( यहाँ ही नारदजीको वर और उपदेश दिये, संतलक्षण सुनाये ); 'सुख आसीन तहाँ द्वौ भाई॥ कहत अनुज सन कथा रसाला। भगति बिरति नृप-नीति बिवेका। ४।१३।६-७।',

नोट—४ पूर्व कहा कि 'सब तजि करउँ चरनरज सेवा' और फिर यहाँ कहते हैं 'जातें होइ चरन रति', इससे जनाया कि जीवका परम पुरुषार्थ यही है कि वह अन्य देवादिकी आशा तथा मुक्तिकी चाहको भी छोड़कर प्रभुकी सेवा करे, उनका भजन करे। क्योंकि अन्य देवताओंकी सेवा केवल सांसारिक स्वार्थ-लाभके लिये की जाती है। गीतामें भी भगवान्ने यही कहा है और भागवतमें तो स्पष्ट बताया है कि किस देवताकी पूजासे क्या स्वार्थ प्राप्त होता है। मुक्तिका चाहनेवाला भी सेवासुखसे वंचित रहता है। तभी तो

कहा है कि 'मुकुति निरादरि भगति लुभाने', 'सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं'। श्रीभरतजीने भी मोक्षतकको छोड़कर श्रीरामचरणानुराग ही माँगा है, यथा 'अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान। जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन ॥२.२०४॥'

नोट--६ यहाँ छः प्रश्न किए—ज्ञान, वैराग्य, माया, भक्ति, ईश्वर और जीव। और अन्तमें कहा कि 'जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ'। इसका एक भाव पं० रामकुमारजीका लिखा गया। और भाव सुनिए—(क) आगे शीघ्र ही वह लीला होनेको है जिससे सती और गरुड़जीको शोक, मोह और भ्रम होगया; इतर जीव किस गिनतीमें हैं। इन्हींसे बचनेके लिए ये प्रश्न हुए हैं। (ख) रा० प्र० श० जी कहते हैं कि यहाँ प्रश्न तो छः किए पर उनसे अभिप्राय दो ही प्रकट किए--एक कि 'चरणरति हो', दूसरे कि 'शोक मोह भ्रम जाय'; कारण कि भक्तिका स्वरूप जाननेसे चरणोंमें प्रेम होता है और ज्ञान, वैराग्य, माया, ईश्वर, जीवका भेद जाननेसे शोकादि दूर होते हैं। (ग) शोक, मोह और भ्रम ये चित, मन और बुद्धिमें होते हैं। ये तीनों आपमें लीन रहें। चतुष्टय अन्तःकरणमें मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार ये चारों हैं; उनमेंसे यहाँ अहंकार को नहीं कहा। कारण कि सेवामें अहंकार होना भक्तिका एक स्वरूप है, यथा 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे'। इसीसे तीनके विकारोंका दूर करना कहा गया।

रा० प्र० श०--१ तीन स्थानोंमें तीन हीको शोकादि हुए। बाललीलामें भुशुण्डिजीको मोह हुआ, यथा 'जेहि बिधि मोह भयउ प्रभु मोही। सो सब चरित सुनावउँ तोही'। वनमें सतीजीको शोक हुआ, यथा 'नित नव सोच सती उर भारा'। रणमें गरुड़जीको भ्रम, यथा 'सो भ्रम अब मैं हित करि जाना'। २ छः प्रकारके उपकारी यहाँ एकत्र हैं, अथवा जीव षट्विकारयुक्त हैं, अतः छः प्रश्न किये गये। ज्ञान और मुनिका संबंध है--ज्ञान मननशीलोंके लिये है और मुनि सदा उसका मनन करते ही हैं। गिरि और वैराग्यका संबंध है, यथा 'बुंद अघात सहैं गिरि कैसे। खलके बचन संत सह जैसे'। शीतोष्णादि सहना वैराग्यवान्का काम है। माया और वनकी एकता यों है कि दोनों में फँसकर मार्गसे भटक जाना होता है। भक्ति और नदीका स्वरूप एक है, दोनों ताप और मल के नाशक हैं--'प्रेम भक्ति जल बिनु खगराई। अभ्यंतर मल कबहुँ कि जाई'। 'खग मृग बृंद···' में जीवोंका भेद कहा।

**थोरेहि[१] महँ सब कहौं बुझाई। सुनहु तात मति मन चितु लाई ॥१॥**

अर्थ--हे तात! मैं थोड़े हीमें सब समझाकर कहता हूँ। तुम मन चित्त और बुद्धि लगाकर सुनो ॥१॥

टिप्पणी--१ (क) श्रीलक्ष्मणजीने दो बार कहा कि समझाकर कहिये, यथा 'मोहि समुझाइ कहहु', 'कहौ समुझाइ'। अतः प्रभुने कहा कि 'थोरेहि महँ सब कहौं बुझाई'। भाव कि मैं संक्षिप्तरूपमें ही कहूँगा किन्तु समझाकर कहूँगा। (ख) थोड़े हीमें कहनेका भाव कि इनकी व्याख्या बड़ी है, 'इनके समझनेका विस्तार भारी' है। पुनः, थोड़ेमें कहते हैं क्योंकि शूर्पणखा चल चुकी है, विस्तारका समय अब नहीं है।

नोट—१ थोड़ेमें समझाना कहकर वक्ता और श्रोताकी उत्तमता दिखाई। गूढ़ बातको थोड़ेमें कहकर समझा देने और श्रोताका थोड़े हीमें समझ लेनेसे दोनोंकी विशेषता और निपुण बुद्धिमत्ता दर्शित होती है। यथा 'थोरे महुँ जानिहहिं सयाने। १।१२।' (पं०)। यह वक्ताका पाण्डित्य है कि सब कुछ समझाकर कहे और विस्तार न होने पाये। कितना काम तो उत्तरके क्रमसे निकल जाता है। यहाँ पाठक देखेंगे कि प्रश्नके क्रमसे उत्तरका क्रम भिन्न है। प्रश्न करनेमें तो पहिले 'मोहि समुझाइ कहौ सोइ देवा, सब तजि करौं चरन-रज-सेवा' ऐसा प्रश्न किया, पर उत्तर देनेवालेने पहिले 'मैं अरु मोर तोर तैं माया' कहकर पहिले चौथे प्रश्नका ही उत्तर देना उचित समझा, क्योंकि, 'भूमौ पतितपादानां भूमिरेव परं बलम्', जो जमीनपर गिरा है, वह जमीन टेककर ही उठेगा। सब लोग मायामें ही पड़े हैं अतः पहिले मायाको ही समझाना चाहिये।

---

१ थोरेहि—(का०, ना० प्र०)। थोरेह—भा. दा.

उसके समझनेपर शेषका समझना कष्टसाध्य नहीं रह जायगा। (वि० त्रि०)। रा० प्र० श० जी कहते हैं क जैसा प्रश्न है कि 'मोहि समुझाइ कहहु' उसीके अनुकूल उत्तर है 'कहौं बुझाई'। बुझौवल ग्राम्य भाषामें पहेलीको कहते हैं जिसमें वस्तुका यथार्थ स्वरूप न कहकर केवल उसका लक्षण गूढ़ रूप से कह दिया जाता है। श्रोता अपनी बुद्धिसे उसे समझ लेता है। 'बुझाई' शब्दसे यहाँ यही वार्ता जान पड़ती है। पुनः, 'सुनहु तात मति मन चित लाई' से बुझौवल स्पष्ट है। यद्यपि लक्ष्मणजीने दो बार कहा कि समझाकर कहिए तथापि आपने मायादिका स्वरूप विस्तारसे नहीं कहा; हाँ ऐसा तो अवश्य कहा जो समझमें आ जावे। परन्तु जीव और ईश्वरका स्वरूप तो कुछ भी नहीं कहा, केवल उनके गुणसे उनका स्वरूप लखाया कि प्रेरक होनेसे ईश्वर और अल्पज्ञ होनेसे जीव जानना। प्र० स्वामी कहते हैं कि—"गूढ़ तत्त्वका बोध करानेमें संक्षेप या विस्तार मुख्य हेतु नहीं है। श्रोता साधन चतुष्टय-संपन्न हो और वक्ता ज्ञान-दान-शक्ति-युक्त हो तो शब्दोंकी भी आवश्यकता नहीं होती—'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्याः स्युश्छिन्नसंशयाः'।"

टिप्पणी—२ 'सुनहु तात मति मन चित लाई' से यह सूचित किया कि यह विषय बहुत सूक्ष्म है, इसमें मन, बुद्धि और चित्त तीनों लगाने पड़ते हैं। [ मनकी चंचलता छोड़कर बुद्धिसे निश्चय करे और चित्तसे ग्रहण करे—(खर्रा)। 'तात' प्यारका शब्द है। मन संकल्पविकल्पात्मक है। बुद्धि निश्चयात्मिका होती है, चित्त धारण करता है। यथा 'मनहु न आनिय अमरपति रघुपति-भगत अकाज।', 'तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा। उरगृह बैठि ग्रंथि निरुआरा।', 'चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दियट बनाइ।' अन्तःकरण-की संज्ञाएँ चार हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार। सो तीनको लगानेको कहते हैं, अहङ्कारका नाम नहीं लेते, क्योंकि श्रोताको अहंकार हो तो उसे जिज्ञासाकी पात्रता ही नहीं होती, वह कभी उत्तर नहीं समझ सकेगा। अतः अहंकारके योगका निषेध, उसका नाम न लेकर, करते हैं। ( वि० त्रि० )। रा० प्र० श० जी लिखते हैं कि अन्तःकरणमें जानेपर चित्तसे ग्रहण, मनसे मनन और बुद्धिसे निश्चय करके उसपर तत्पर हो जावे—यह भाव 'मति मन चित लाई' का है। यही श्रवण, मनन और निदिध्यासन है। चौथा कारण अहंकार है, उसको न कहा, इसका तात्पर्य कि अहंकारशून्य होकर यह सब करे। [ कार्य्यभेदसे अन्तः-करणके चार विभाग हैं—१ मन ( संकल्प विकल्प करनेवाला ), २ बुद्धि ( विवेक वा निश्चय करनेवाला ), ३ चित्त ( बातोंका स्मरण करनेवाला, चिंतनकर्त्ता ), ४ अहंकार ( जिससे सृष्टिके पदार्थोंसे अपना सम्बन्ध देख पड़ता है )। ये अन्तःकरण चतुष्टय कहलाते हैं। अँग्रेजीमें Feeling और Willing दो कार्य अन्तः-करणके कहे गए हैं ]।

श्रीचक्रजी—ऐसे उत्तम अधिकारीको भी प्रभुने सावधान किया। 'सुनहु तात मति....'। भाव कि जीवोंके परमाचार्य होनेसे तुम जिज्ञासुमात्रके आदर्श हो। सुनना कैसे चाहिए, यह सभी जीव तुमसे सीखेंगे। दूसरे यह तत्त्व ऐसा है कि श्रवण मनन निदिध्यासनके बिना इसका अवगम नहीं होता। श्रवण मनका धर्म है। किसी भी बातको हम सुन लें इसके लिये मनका वहाँ रहना, मनका उसमें लगना आवश्यक है। इसीसे मन लगानेकी बात कही गई। श्रवणके बाद मनन आवश्यक है और यह बुद्धिका काम है। जो सुना है उसपर विचार न किया जाय तो वह तत्काल भूल जायगा। अपनी बुद्धिसे, अपने तर्कोंसे उसपर विचार करना मनन है। यही बुद्धिको लगाना है। इससे सुनी बात स्मरण होती है और उसकी उपयोगिता समझमें आ जाती है। श्रवण मननकी सफलता है निदिध्यासन। बात सुन ली, समझ ली, किन्तु जबतक वह चित्तमें बैठ न जाय, उसके अनुसार अपने विचार बन न जायँ तबतक उससे क्या लाभ! अतः सबसे अन्तमें चित्तको लगाने ( निदिध्यासन ) का आदेश है।

प०प०प्र०—'मति मन चित' क्रमका भाव। मतिको ही बोध होता है, उसका ही कार्य निश्चय करना है। अतः मतिको प्रथम स्थान दिया। मनसे श्रवण और मनन होता है, चित्तसे अनुसन्धानात्मक निदिध्यासन होता है। इससे यह अनुक्रम रक्खा गया।

मैं अरु मोर तोर तैं माया । जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया ॥२॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानेहु भाई ॥३॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ॥४॥

शब्दार्थ-गोचर=इन्द्रियोंका विषय, यथा 'इन्द्रियार्थश्च हृषीकं विषयींद्रियम् इत्यमरः'। प्रेरणा=किसीको किसी कार्य्यमें लगानेकी क्रिया; कार्य्यमें प्रवृत्त या नियुक्त करना । प्रेरित = प्रेरणासे, प्रचलित, आज्ञासे ।

अर्थ—मैं और मेरा, तू और तेरा यही माया है जिसने समस्त जीवोंको वशमें कर लिया है ॥२॥ इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंका विषय एवं जहाँतक मन जाय, हे भाई ! उस सबको माया जानना ॥३॥ उसके विद्या और अविद्या इन दोनोंका भेद भी तुम सुनो ॥४॥

टिप्पणी—१ 'मैं अरु मोर तोर तैं माया...' इति । (क) माया, ब्रह्म और जीव अनिर्वचनीय हैं। इनका स्वरूप कारणसे नहीं कहते बनता । इसीसे कार्य्यद्वारा कहते हैं। मैं मोर इत्यादि ये सब मायाके कार्य्य हैं।—(खर्रा) । (ख) यहाँ लक्ष्मणजीका प्रथम प्रश्न 'ज्ञान' का है पर प्रभुने प्रथम 'माया' का स्वरूप कहा । इसी प्रकार आगे फिर क्रम भंग किया है, पहले भक्तिका प्रश्न किया गया है पर प्रभुने पहले ईश्वर-जीवका भेद कहा । मायाको प्रथम इससे कहा कि ज्ञानका कथन करनेपर फिर मायाका स्वरूप कहते न बनता । अर्थात् ज्ञान होनेपर माया रह ही नहीं जाती, तब उसका स्वरूप कौन सुनेगा और कैसे कहा जायगा ? दूसरे मायाका स्वरूप समझानेपर फिर ज्ञानका स्वरूप शीघ्र समझमें आ जाता है । दोहावलीमें कहा है कि विना मायाके स्वरूपके ज्ञानका कथन असंभव है । यथा 'ज्ञान कहैं अज्ञान विनु तम विनु कहैं प्रकास । निरगुन कहै जो सगुन विनु सो गुरु तुलसीदास । दो० २५१ ।'

नोट—१ मायासे उत्तर प्रारम्भ करनेके और कारण ये कहे जाते हैं । (१) जीवका अनेक जन्मोंसे मायाका सम्बन्ध है । उसका स्वरूप जाननेमें उसकी रुचि होगी । जन्म-मरण-आदिका कारण माया ही है। पुनः, मायाका स्वरूप जाननेसे विवेक ( सदसत्का ज्ञान ) होनेसे असत्से वैराग्य और सत्में अनुराग होगा । अतएव मायाका स्वरूप प्रथम कहा । ( रा० प्र० श० ) । (२) श्रीरामजीने क्रमसे कहा और लक्ष्मणजीने व्यतिक्रमसे । इसमें भाव यह है कि प्रश्नकर्ता जिज्ञासुको अजान ( अज्ञान ) बनकर पूछना चाहिए तभी वक्ता हर्षपूर्वक भली प्रकार कहता है । ( शिला ) । ( ३ ) प्रथम मायाका वर्णन करके लक्ष्मणजीके वैराग्यकी परीक्षा ली । (दीनजी ) । ( ४ ) वि० त्रि० का मत १५ ( १ ) में देखिए । ( ५ ) इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि 'सब तजि भजन करउँ' को समझानेके लिये परित्याज्य विषयके रूपमें जीवकी माया अहंता और ममताका वर्णन जब प्रारम्भ हो गया तब जीवकी मायाके साथ ईश्वरीय मायाका भी वर्णन करके, एक विषयको पूरा करके तब दूसरेको प्रारम्भ करना ठीक है । मायाके रूपको बताकर विषयको अधूरा छोड़कर दूसरा विषय उठाना ठीक नहीं । दूसरे, ज्ञानका वर्णन विधिमुखसे 'यह ज्ञान है' इस प्रकार तो हो नहीं सकता, उसका वर्णन निषेध द्वारा ही शक्य है । ज्ञानके वर्णनका रूप ही यह होगा कि मायाका वर्णन करके कह दिया जाय कि जिसमें यह माया न हो, वह ज्ञान है । इसलिये उत्तरमें कोई विपर्यय नहीं हुआ है । माया और ज्ञान विषयक दोनों प्रश्नोंका उत्तर एक साथ देनेके लिये प्रसंगप्राप्त विषयके अनुसार ही प्रभुने उत्तर दिया है । ( श्रीचक्रजी ) पुनः, ( ६ ) प्रधान मल्लनिवर्हणन्यायसे मायाको प्रथम कहा । अथवा, अरण्यकांड मायापुरी है, अतः पहले उसका सम्मान उचित था ।...( प० प० प्र० ) ।

टिप्पणी—२ मैं प्रथम है पीछे तैं है, जब मैं कहनेवाला नहीं तब 'तैं' कौन कहेगा । इसीसे मैं और मोर तोर तैं इस प्रकार लिखा । 'जेहि बस कीन्हे', यथा 'हम हमार आचार बड़ भूरिभार धरि सीस । हठि सठ परबस परत जिमि कीर कोसकृमि कीस ।२४२।' (दोहावली ), 'जीव चराचर बसकै राखै ।१.२००।', 'ईस्वर अंस जीव अविनासी ।....सो माया बस भयउ गोसाईं । बँध्यो कीर मरकट की नाईं ।७.११७',

'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं''।१. मं० श्लो०।' इत्यादि। 'जीव निकाया' कहा क्योंकि जीव असंख्यों हैं, यथा 'जीव अनेक एक श्रीकंता ७.७८।' [ जिस समय जीव ब्रह्मसे पृथक् हुआ उसी समय मायाने उसे घेरा। उसके हृदयमें 'अहं' भाव उत्पन्न हुआ। बस वह मायावश अपना स्वरूप भूल गया और देह गेह आदिको 'मोर' मानने लगा। यथा 'जिव जब तें हरि ते बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो। माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते नाना दुख पायो।' ( वि० १३६ )। मैं और मेरा आ जानेपर दूसरोंके प्रति भेदबुद्धि होना अनिवार्य है, अतः मैं और मोरके पश्चात् तू और तेरा भाव भी आ जाता है। यह क्रमका भाव है। इसी मैं मोर आदिने समस्त जीवोंको वश कर रक्खा है। भाव यह कि ये सब मायाके ही परिणाम हैं। इन्हींके द्वारा मायाका परिचय हो सकता है। शुद्ध जीवमें अहं, मम आदि विचार वृत्तियाँ नहीं होतीं।]

वि० त्रि०—'मैं अरु मोर'—बोलनेवाला अपनेको मैं ( अहम् ) कहता है, इसीको व्याकरणमें उत्तम-पुरुष कहते हैं। यहाँ 'अपना' का अभिप्राय कूटस्थ और चिदाभासके एकीभावसे है। अविद्यामें पड़ा हुआ जो चेतनका प्रतिबिम्ब है, उसे चिदाभास कहते हैं, और उसके अधिष्ठानभूत चिदंशको 'कूटस्थ' कहते हैं। कूटस्थ तथा चिदाभासका विवेक न करके दोनोंको एक मान लेना ही यहाँ एकीभाव है।* 'मैं' शब्दके षष्ठी-का रूप 'मोर' है। इसके द्वारा गृहादिसे अपने सम्बन्धका बोध होता है। यही 'मैं अरु मोर' सब अनर्थोंकी जड़ है। पहिले 'अहम्भाव' का स्फुरण होता है, इसके फुरते ही जगत् दृश्य सपनेकी भाँति सामने खड़ा हो जाता है। 'मैं अरु मोर' को ही 'मोह निशा' कहा है। इसी रातमें सोता हुआ मनुष्य संसाररूपी स्वप्न देख रहा है। यथा 'मैं तैं मोर मूढ़ता त्यागू। महामोह-निसि सोवत जागू।।', 'मोहनिसा सब सोवनि हारा। देखहिं सपन अनेक प्रकारा।।', 'बहु उपाय संसारतरन कर बिमल गिरा श्रुति गावै। तुलसिदास मैं मोर गये बिनु जिय सुख कबहुँ न पावै।।'

तोर तैं—'तैं' का प्रतिद्वन्द्वी 'मैं' है। अतः कोई यह न समझ ले कि 'तैं और तोर' मायाकी सीमाके बाहर हैं, अतः, इनका अलग उल्लेख किया। बोलनेवाला जिससे बोलता है, उसे 'तैं' कहता है। इसे व्याक-रणमें मध्यमपुरुष कहते हैं। 'मैं' के स्फुरणके बाद 'तैं' का स्फुरण होता है। इसलिए 'मैं अरु मोर' के बाद 'तोर तैं' का उल्लेख किया। 'मोर' की भाँति 'तोर' भी 'तैं' के षष्ठीका रूप है और संबंध कायम करता है।

माया—भाव यह है कि 'मैं अरु मोर, तोर तैं' माया है—निस्तत्त्व है। कार्य तो इसके दिखलाई पड़ते हैं; पर ब्रह्मसे इसका पृथक् तत्त्व कुछ भी नहीं है। जिस भाँति सीपमें रजत तीनों कालमें नहीं है, पर प्रत्यक्ष भासता है। यह भासना निस्तत्त्व है, पर यह भ्रम हटाये नहीं हटता। इसी भाँति ब्रह्ममें मायाकी स्थिति है। वह तीनों कालमें नहीं है, यह संसार-भ्रम भी किसीके हटाये नहीं हटता। यथा 'सो माया रघु-बीरहिं बाँची। सब काहू मानी करि साँची।', 'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।'

---

* जिस भाँति अग्निमें दाहिका-शक्ति है, उसी भाँति सद्रूप ब्रह्ममें मायाशक्ति है। यह माया त्रिगुणा-त्मिका है। सत्व, रज और तम इसके तीन गुण हैं। प्रलयावस्थामें इसके तीनों गुणोंमें साम्य रहता है। इसमें वैषम्य होना ही सृष्टि है। इसीमें चिदानन्द ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ता है। अशुद्धसत्वा माया (अविद्या) में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह सत्वकी अशुद्धिके तारतम्यसे देव, तिर्यक् आदि भेदसे अनेक प्रकारका हो जाता है। जिस भाँति गँदले और चंचल जलमें पड़ा हुआ चन्द्रका प्रतिबिम्ब अगणित खण्डोंमें विभक्त हो जाता है और उस जलके वशमें रहता है, उसी भाँति अशुद्धसत्वा मायामें प्रतिबिम्बित चिदाभास ही असंख्य जीवरूप हो जाता है। इसी चिदाभासका अधिष्ठानभूत चिदंश ही कूटस्थ कहलाता है। एवम् चिदाभास और कूटस्थके एकीभावको लेकर ही 'अहम्, त्वम्, इदम्' ( मैं, तैं, और यह ) का व्यवहार है। चिदाभास और कूटस्थका एकीभाव ही 'जड़चेतनग्रन्थि' कही गयी है। यथा 'जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।'

'रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानुकर वारि। जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि ॥', 'एहि विधि जग हरि-आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई ॥ जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागे न दूर दुख होई ॥'

जीव निकाया—भाव यह कि कूटस्थ, चिदाभास और कारणशरीरके समूहको 'जीव' कहते हैं। ये जीव असंख्य हैं। ये सब मायाके वशमें हैं। जिस भाँति जलमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब जलके वशमें होता है—जलके ऊपर उठनेसे वह ऊपर उठता है, जलके नीचे गिरनेसे वह नीचे गिरता है, जलके चञ्चल होनेसे वह चञ्चल होता है—इसी भाँति जीव मायाके वशमें रहता है। माया जैसा कराती है, वैसा करता है।

टिप्पणी—३ (क) 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई' इससे जनाया कि मनसे मायाकी पहुँच अधिक है और यह कि माया मनोमय है। इन्द्रियों और मनका वेग माया है। (ख) दृश्यमान जगत् मायाका ठहरा। अपर लोक नेत्रादि इन्द्रियोंके गम्य नहीं पर मन अर्थात् अन्तःकरण वहाँ जा सकता है, यथा 'सरग नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसें।' (वि० १२४), [ यह स्थूलतम पदार्थोंमें अनंत कोटि ब्रह्मांडतक जाता है और सूक्ष्मतम पदार्थ अहंकार, महत्तत्त्व और मूलप्रकृतितक पहुँचता है अर्थात् अष्ट अपरा प्रकृतितक इसकी पहुँच है। (वि० त्रि०)। श्रीगिरिधर शर्माजी लिखते हैं कि इन्द्रियोंके विषय नाम और रूप, एवं मनके विषय और उनके संस्कार, इन सबोंको यहाँ माया कहा गया है ], इसीसे बताया कि वह भी माया है। (ग) 'भाई' संबोधनसे अपना प्रेम द्योतित किया गया है। जिस भाँति सदासे शिक्षा देते आए उसी भाँति इस बार भी शिक्षा दे रहे हैं। यथा 'राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहिं नीती।', 'वेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजहिं समुझाई।' (वि० त्रि०) ]।

४ (क) पहले मायाका स्वरूप कहा—'मैं अरु मोर तोर तैं माया'। फिर मायाका कार्य्य (कर्त्तव्य) कहा—'जेहि बस कीन्हे जीव निकाया'। फिर मायाका विस्तार कहा कि 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु....'। फिर मायाका भेद कहा—'तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ'। वह भेद यह है कि एक विद्या माया है, दूसरी अविद्या माया है। एक दुष्ट अतिशय दुःखरूपा है जिसके वशमें पड़कर जीव भवकूपमें पड़ गया है। (ख) खर्रा—मन जहाँतक जाय वह माया है। तब प्रश्न होता है कि भगवत्‌में भी तो मन जाता है तभी तो गीतामें भगवान्‌ने मन लगानेको कहा है, यथा 'मय्येव मन आधत्स्व...। १२।८।' और श्रुति भी कहती है "हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो... । कठ० २।३।९" अर्थात् मनसे वारंवार चिंतन करके ध्यानमें लाया हुआ। पुनश्च, 'मनसैवेदमाप्तव्यं। कठ अ० २ वल्ली १।११।' अर्थात् वह मनसे प्राप्त होने योग्य है। तब तो वह भी माया हुआ? इसीसे कहते हैं कि माया दो प्रकारकी है। विद्या माया जीवमें दिव्य गुण उत्पन्न करती है, भगवान्‌में मन लगता है, [ मन लगनेपर वह निरंतर भजन करता है और निरंतर भगवान्‌का संयोग चाहता है, तब भगवान् उसे प्रेमपूर्वक वह परिपक्व अवस्थाको प्राप्त बुद्धियोग देते हैं जिससे वह प्रभुको प्राप्त हो जाय, यथा 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते। गीता १०।१०।' भगवान् उनकी मनोवृत्तिमें प्रकटरूपसे विराजमान रहते हैं और अपने कल्याण गुणगणोंको प्रकट करके अपने विषयके ज्ञानरूप प्रकाशमय दीपकके द्वारा उनके पूर्वअभ्यस्त ज्ञान विरोधी प्राचीन कर्मरूप अज्ञानसे उत्पन्न लौकिक विषयोंमें प्रीतिरूप अंधकारका नाश कर देते हैं। यथा 'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता। गीता १०।११।' ] तब जीव मायासे पार हो जाता है, यथा 'राम दूरि माया बढ़ति घटति जानि मन माँह।०' (दोहावली ६९)। 'हरिसेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित तेहि व्यापै विद्या।'

श्रीचक्रजी—साकेत, गोलोक, वैकुण्ठ आदि अतीन्द्रिय लोक हैं। वहाँ प्राकृत इन्द्रियोंकी गति नहीं है। जीव वहाँ जब पार्षद देहसे पहुँचता है तो उसका शरीर चिन्मय होता है, उसकी इन्द्रियाँ चिन्मय होती हैं। भौतिक (मायिक) कारण तथा सूक्ष्म देह उसके यहीं छूट चुके होते हैं। लेकिन पूर्व जीवित व्यक्ति

अतीन्द्रिय लोकोंके विषयमें कुछ सोचता ही है। भले ही उसका सोचना अपूर्ण हो, किन्तु उसका मन वहाँ तक जाता तो है। तो क्या वे लोक भी मायिक हैं?

चौपाईका अर्थ इस प्रकार करें—'इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके विषय और इन इन्द्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयमें मन जहाँतक जाता—जो कुछ सोचता है, वह सब माया है'। इस अर्थमें 'जहँ लगि जाई' का अन्वय केवल 'मन' के साथ है। इस अर्थके अनुसार मन इन्द्रियों तथा इन्द्रियोंके विषयको छोड़कर जो कुछ सोचे वह माया नहीं कही जायगी।

यदि पूर्वोक्त ही अर्थ लिया जाय तो भी कोई दोष नहीं है। 'माया' का अर्थ केवल अज्ञान नहीं है। भगवान्‌की योगमाया भी एक प्रकारकी माया ही है। अतीन्द्रिय दिव्य लोक भी माया (योगमाया) की विभूति है। वे शाश्वत हैं, चिन्मय हैं, नित्य हैं, किन्तु उनका संपूर्ण गठन एवं संचालन भगवान्‌की योगमायाद्वारा ही होता है। उन परमपुरुषकी वे सन्धिनी शक्ति ही प्रभुके निर्गुण रूपसे उस सगुणरूप एवं सगुण लोकका पार्थक्य दोनोंके नित्य अभिन्न होनेपर भी बनाये रहती हैं। अतः उन दिव्य लोकोंको भी माया कहनेमें कोई दोष नहीं आता।

यह भी स्मरण रखनेकी बात है कि जीवकी मायाका वर्णन पहले ही कर चुके। यह ईश्वरकी माया है। ईश्वरकी मायाके भी दो भेद हैं—सामान्य माया और योगमाया। जगत् सामान्यमायाका कार्य है। अद्वैतवादी इसी मायाको माया कहते हैं। योगमायाका वैभव नित्य दिव्य लोकोंमें है। वे भगवान्‌की अभिन्न शक्ति हैं।

वि० त्रि०—(क) 'तेहिकर भेद'—भाव यह कि माया और प्रकृति पर्यायवाची शब्द हैं—'मायां तु प्रकृतिं विद्यामायां तु महेश्वरम्।' ऊपर मायाका वर्णन करते हुए, उसके दोनों भेद (परा प्रकृति और अपरा प्रकृति) दिखला चुके हैं। 'मैं अरु मोर तोर तैं माया' कहकर परा प्रकृतिका वर्णन किया, जो जीवभूत होकर जगत्‌को धारण किये हुए है, और 'गो-गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई' कहकर अपरा प्रकृतिका वर्णन किया गया है। अब दूसरे प्रकारसे उसके भेद कहेंगे। (ख) 'सुनहु तुम्ह सोऊ'—मायाके वर्णनको अत्यन्त सावधानीसे सुननेके लिये पहले 'सुनहु तात मन मति चित लाई' कह चुके हैं। अब उसके भेद कहनेके समय पुनः सावधान करते हैं—'सुनहु तुम्ह सोऊ'। भाव यह है कि मायाके स्वरूपके ठीक ठीक मनमें बैठ जानेसे शेष सब बातोंके समझनेमें सुविधा होगी। (ग) 'विद्या अपर अविद्या दोऊ'—उस मायाके दो भेद हैं—एक अपरा-विद्या दूसरी अविद्या (अज्ञान)। यथा 'प्रभु सेवकहिं न व्याप अविद्या। प्रभुप्रेरित व्यापै तेहि विद्या॥' अङ्गोंसहित वेदत्रयी अपरा विद्या है। अपरा विद्या कहनेसे पता चलता है कि कोई परा विद्या भी है। उसका उल्लेख यहाँ न करके आगे करेंगे। यहाँ (अपर) विद्या, और अविद्याका वर्णन चल रहा है। (त्रिपाठीजीने 'अपर' का अर्थ 'अपरा' किया है)।

**एक दुष्ट अतिशय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥ ५॥**

**एक रचै जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥ ६॥**

अर्थ—एक (अविद्या) बड़ी ही दुष्टा और अत्यन्त दुःखरूपा है। जिसके वश होकर जीव संसार-कुएँमें पड़ा है॥५॥ एक (विद्या) जिसके वशमें गुण हैं, वह जगत्‌की रचना करती है (सृष्टि उत्पन्न करती है) पर प्रभुकी प्रेरणासे, उसको कुछ अपना बल नहीं है॥ ६॥

वि० त्रि०—'एक दुष्ट'—यहाँ 'एक' कहकर क्रम नहीं देते, क्योंकि क्रम इष्ट नहीं है। पहले अविद्याका ही वर्णन करना है। वसे दुष्ट इस लिए कहा कि वह दोषयुक्त है। शुद्धसत्वप्रधाना नहीं है। जो दुष्ट होता है, दोषयुक्त होता है उससे दूसरेको पीड़ा पहुँचती है। अतः कहते हैं 'अतिशय दुःखरूपा'। यह दुष्ट अविद्या अविशुद्धिके तारतम्यसे अनेक प्रकारकी होती है। यही स्थूल और सूक्ष्मशरीरकी कारणभूता—'प्रकृतिकी

अवस्था विशेष 'कारण शरीर' कहलाती है। पञ्चमहाभूतोंसे निर्मित इस अस्थिमांसमय देहको 'स्थूल शरीर' कहते हैं। इसीके भीतर, इसका अनुकरण करता हुआ, अपञ्चीकृत महाभूत तथा उसके कार्य पञ्च प्राण, दस इन्द्रिय, मन और बुद्धिका बना हुआ 'सूक्ष्म शरीर' है। इन दोनों सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीरोंसे अविद्याद्वारा ही जीव बद्ध होता है। देह गेह आदिको अपना मानने लगना, अपनेको देह समझ लेना, अपना स्वरूप भूल जाना इत्यादि ही मायाके वश होना है, यथा 'जिव जब ते हरि ते बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो ॥ माया बस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो ॥' ( वि० १३६ )।

टिप्पणी—१ 'जा बस जीव परा भवकूपा' इति। अर्थात् मैं और मोर तैं और तोर यही माया है जिसने समस्त जीवोंको वश कर रक्खा है। यही माया अतिशय दुष्टरूपा है, यथा 'तुलसिदास मैं मोर गए बिनु जिव सुख कबहुँ न पावै। ( वि० १२० )। 'परा भवकूपा' के पड़ा शब्दसे जनाया कि अपनी ओरसे यह जीव भवकूपमें पड़ा है, यथा 'भवसूल सोग अनेक जेहि तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यो।' ( वि० १३६ ); इसीसे यह नहीं कहते कि 'निज बस करि नायो भवकूपा' अर्थात् प्रभु यह नहीं कहते कि मायाने अपने वश करके इसे भवकूपमें डाल दिया, किन्तु कहते हैं कि वह 'पड़ गया है'। मिलान करो—'सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मर्कटकी नाईं ॥ ७।११७।३।'

वि० त्रि०—'जा बस जीव परा भवकूपा'। अविद्या द्वारा स्थूल सूक्ष्म शरीरका अध्यास (भ्रम) ही बन्धन है। इसी बन्धनके कारण जीव भव-कूपमें पड़ा दुःख पा रहा है। द्वैत ही भव-कूप है। जगत् (१) ईश्वरका कार्य (रचित) है, और (२) जीवका भोग्य है। मायावृत्त्यात्मक ईश्वरका सङ्कल्प जगत्की उत्पत्तिका कारण है और मनोवृत्त्यात्मक जीवका सङ्कल्प भोगका साधन है। जैसे ईश्वरने स्त्री बना दी, अब उसीको कोई भार्य्या, कोई बहू, कोई ननद, कोई देवरानी और कोई माता मानता है। वह मांसमयी स्त्री तो एक ही है, परन्तु मनोमयाके अनेक भेद हो गये। जीवकी बन्धन करनेवाली यह मनोमयी (स्त्री) है, ईश्वरकी बनाई हुई मांसमयी बन्धन करनेवाली नहीं है। इस भांति द्वैत दो प्रकारका है-एक ईश्वरकृत और दूसरा जीवकृत। ईश्वरकृत द्वैत बन्धनका कारण नहीं है। सो जीवकृत द्वैतको भव-कूप कह रहे हैं। कूप इसलिए कहते हैं कि यह तमोमय दुःखरूप है और इससे बाहर केवल अपने पुरुषार्थद्वारा निकलना भी कठिन है। करुणानिधान भगवान् या उनके कृपापात्र गुरुही करावलम्बन देकर बाहर निकाल सकते हैं। 'विनय' में गोस्वामीजीने 'द्वैत' को भव-कूप कहा है। यथा 'द्वैतरूप भवकूप परौं नहिं अस कछु जतन बिचारो।'

उसी अविद्याको मोहशक्ति कहा गया है। मायामें निर्माण-शक्तिकी भाँति मोहशक्ति भी है, वही जीवको मोहित करती है। मोहसे अनीशताको प्राप्त होकर, भवकूपमें पड़ा जीव सोचता है—'मैं जन्म्यौं मोहि मातु पिता तिय तनय धाम धन। ये मेरे हैं शत्रु मित्र विद्या बल परिजन ॥ यौं ही यह विद्वान चित्त फुरना से कल्पित। देखत बहुविधि स्वप्न अविद्या ते अति निद्रित ॥' तथा 'बोते हैं विषवल्लि-बीज दुखको जो प्रेमके नामसे। होते हैं अंखुएँ भरे अनलके सो नेहके धामसे ॥ शोकारण्य बढ़ा विशाल इनसे सौ लाख शाखा धरे। देहोंको दहता तुषानल यथा निर्धूम ज्वाला भरे ॥' (प्रबोधचन्द्रोदय)।

टिप्पणी—२ (क) 'एक रचइ जग गुन बस जाकें' अर्थात् यह माया त्रिगुणात्मिका है। प्रभु प्रेरित= प्रभुकी आज्ञासे, यथा 'लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया। १.२२५।' गीतामें भी भगवान्ने कहा है कि मेरे द्वारा प्रेरित मेरी प्रकृति जीवोंके कर्मानुसार रूप चराचर जगत्को रचती है, इस हेतुसे जीवोंके कर्मानुसार मेरी प्रेरणासे यह जगत् चल रहा है। यथा 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते। ९.१०।' प्रकृति ही माया है, यथा 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्। श्वे० ४.१०।' (ख) 'नहिं निज बल ताकें' अर्थात् प्रभुके बलसे सृष्टिकी रचना करती है। तात्पर्य कि माया जड़ है, यथा 'जासु सत्यताते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया', 'सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि। छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि'। 'सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा'।

श्रीचक्रजी—'विद्या और अविद्या ये दो भेद उसके हैं' यह अर्थ उपयुक्त नहीं लगता क्योंकि आगे जो वर्णन है वह इस क्रमसे नहीं है। 'विद्या अविद्या' ये दो भेद बतलाकर पहले क्रम प्राप्त ढंगसे विद्याका वर्णन होना चाहिये था। दूसरी बात यह है कि जगत्की रचना करनेवाली त्रिगुणात्मिका मायाको कहीं भी विद्या नहीं कहा गया है। उसे विद्या कहनेपर मानना होगा कि श्रीरामचरितमानसमें यह 'विद्या' शब्द सर्वथा अप्रचलित अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इसलिये उपयुक्त यही लगता है कि प्रभु विद्याको अलग बतलाते हैं और अविद्याके फिर दो भेद बतलाते हैं। ( गिरिधर शर्माका यह मत है )। 'एक दुष्ट''' कूपा' यह अविद्याका एक भेद है। प्रभु पहले ही 'मैं अरु मोर तोर तैं माया' में इसका वर्णन कर चुके हैं। 'जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया' यही जीवोंकी माया अत्यन्त दुःखरूपा है। यहाँ 'भव' को 'कूप' बताकर उसमें पड़े हुए जीवोंको कूप-मंडूक बताया गया है और बात भी ऐसा ही है भी। किसीसे पूछिये 'आप ज्ञानी हैं ?' वह अस्वीकार करेगा। उसे अपनेको अज्ञानी माननेमें कोई आपत्ति नहीं; किन्तु उसे तनिक मूर्ख कह देखिए ? ( वह आग-बबूला हो जायगा ) मानों अज्ञानी और मूर्खमें बड़ा अन्तर हो; लेकिन यह विचार-हीनता ही तो जीवका अज्ञान है। जिस शरीरको हम अपना कहते हैं, अनेक जूयें, सहस्रशः कीड़े उसे अपना समझते हैं। एक नारीके पेटसे पुत्र होता है, उसे वह अपना लड़का कहती है; किन्तु उसीके पेटसे शौच या वमन मार्गसे रोगके कारण जो केंचुए निकले, उन्हें उसका पुत्र कहिये तो वह गाली देगी। यह विचारहीनता, यह अज्ञान ही तो कूपमण्डूकता है। इस अज्ञानके कारण ही जीव संसारमें उलझा है। किसीकी विचारशक्ति प्रबुद्ध हो जाय तो वह संसारमें और संसारके भोगोंमें, 'मैं मेरा' और 'तू तेरा' में पड़ा रह नहीं सकता है।

अविद्याके इस एक भेदको दार्शनिक शब्दोंमें आवरणशक्ति कहते हैं। यह जीवकी विचार-शक्तिको ढके रहती है। 'अहं' और 'मम' में लिप्त प्राणी उन्मुक्त विचार कर नहीं पाता। इसीसे प्रभु इसे दुष्ट कहते हैं और यह अतिशय दुःखरूप तो है ही।

दूसरी अविद्या वह है जिसके वशमें सत्व, रज और तम ये तीनों गुण हैं। यह ईश्वरकी माया है। इसमें अपना कोई बल नहीं, यह प्रभुकी प्रेरणासे जगत्की रचना, स्थिति और प्रलय करती है। इसीका नाम प्रकृति है—'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' ( श्वे० ४।१० ), 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।' ( गीता ९। १० )। दार्शनिक इस प्रकृतिको ही मायाकी विक्षेपशक्ति मानते हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। उसमें यह विक्षेप चेतनके सान्निध्यसे ही आता है। प्रभु-प्रेरित होनेपर ही वह जगत्की सृष्टि करती है।

यहाँ यह प्रश्न उठेगा कि अविद्याके दोनों भेदोंकी तो व्याख्या की गई, किन्तु विद्याका नाम लेकर ही छोड़ दिया गया, ऐसा क्यों ? इसका स्पष्ट उत्तर तो यही है कि विद्याका वर्णन सम्भव नहीं है। विद्या माया = प्रभुकी अविनय लीलाशक्ति योगमाया। भला उनका वर्णन कैसे किया जा सकता है ! उनका तो नाम लेना ही पर्याप्त है।

यदि यही मानें कि प्रभुने 'विद्या अपर अविद्या दोऊ' द्वारा विद्या और अविद्या यही कहा है तो यह मानना पड़ेगा और सभी सन्त विद्वान् मानते भी हैं कि 'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा' के द्वारा अविद्याका वर्णन हुआ है और 'एक रचइ जग गुन बस जाके' के द्वारा विद्याका वर्णन। ऐसा माननेपर भी यह मानना पड़ेगा कि यह विद्या दर्शनशास्त्रकी त्रिगुणात्मिका प्रकृति नहीं है। त्रिगुण इसके रूप नहीं हैं—ये इसके वशमें हैं। यह प्रभु प्रेरित होकर जगत्की रचना करती है। यही योगमाया शक्ति जगज्जननी 'सीता' हैं। यथा 'बाम भाग सोभति अनुकूला। आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला। जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई।', 'आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥' इन्हींको यहाँ 'विद्या' कहकर यह स्पष्ट किये दे रहे

हैं कि वे त्रिगुणात्मिका नहीं हैं, त्रिगुण उनके वशमें हैं।—इस प्रकार सूत्ररूपसे 'थोरेहि महँ' प्रभुने अविद्या और योगमायाका वर्णन कर दिया।

'एक रचै जग०' के और प्रमाण, यथा 'उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं…', 'जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की। २।१२६।'

प० प० प्र०—विद्या माया श्रीसीताजी परमशक्ति हैं, इनसे बढ़कर कोई शक्ति नहीं है। ये श्रीरामजीसे अभिन्न हैं। दोनोंमें अभेद दर्शक मानसके कुछ प्रमाण देखिए—

| श्रीरामजी | | श्रीसीताजी |
|---|---|---|
| अविद्या जनित विकार श्रीरघुबर हरैं | १ | क्लेशहारिणीं ( अविद्या आदि पंचक्लेश हैं ) |
| निर्बानदायक ग्यान को | २ | सर्वश्रेयस्करीं |
| सिंधुसुता प्रिय, अतिसय प्रिय करुनानिधानकी | ३ | रामवल्लभाम् |
| भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई | ४ | भृकुटि बिलास जासु जग होई। |
| देखत रूप चराचर मोहे | ५ | देखि रूप मोहे नरनारी |
| करुना गुनसागर | ६ | गुनखानि जानकी सीता |
| उपमा खोजिखोजि कवि लाजे इत्यादि | ७ | सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेहकुमारी। इत्यादि |

वि० त्रि०—१ 'एक रचइ जग'—वह भगवती अपरा-विद्या संसारकी रचना करती है। यहाँ रचना उपलक्षण है, इसीके साथ पालन और उपसंहार भी समझ लेना चाहिए। यह अपरा-विद्या भगवान्‌की पुरातनी अपरानाम्नी शक्ति है। इसीको ऋक्, यजु, साम कहते हैं। यही त्रयी सूर्य्यको ताप प्रदान करती है, संसारके पापका नाश करती है। स्थितिके समय यही विष्णु होकर जगत्‌का पालन करती है। यही ऋक्, यजु, सामरूपसे सूर्य्यके भीतर ठहरी हुई है। प्रत्येक मासमें जो पृथक् पृथक् सूर्य कहे गये हैं, उनमें यह वेदत्रयीरूपिणी पराशक्ति निवास करती है, पूर्वाह्णमें ऋक्, मध्याह्नमें यजु और सायह्नमें बृहद्रथन्तरादि सामश्रुतियाँ सूर्य्यकी स्तुति करती हैं। यह ऋक्, यजुः सामरूपिणी वेदत्रयी भगवान् विष्णुके ही अङ्ग हैं, ये सदा आदित्य में रहती हैं। यह त्रयीमयी वैष्णवी शक्ति केवल सूर्य्यकी ही नहीं है, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तीनों त्रयीमय हैं। सर्गके आदिमें ब्रह्मदेव ऋक्‌मय होते हैं, पालनके समय विष्णु यजुर्मय होते हैं, और अन्तमें रुद्र साममय होते हैं। इसीलिये उसकी ध्वनि अपवित्र कही गयी है। इस प्रकार यह त्रयीमयी वैष्णवी शक्ति, अपने सातों गणोंमें स्थित सूर्य्यमें अवस्थित रहती है। उसमें अधिष्ठित सूर्य्यदेव अपनी प्रखर रश्मियोंसे प्रज्वलित होकर संसारके सम्पूर्ण अन्धकारको नष्ट करते हैं। इस भाँति त्रयीमय अपरा विद्या ही संसारकी रचनेवाली है (†) यथा 'इतना मन आनत खगराया। रघुपति प्रेरित ब्यापी माया ( अपरा विद्या )॥ सो

(†) सर्वशक्तिः परा विष्णोर्ऋग्यजुःसामसंज्ञिता। सैषा त्रयी तपत्यंहो जगतश्च हिनस्ति या ॥७॥ सैष विष्णुः स्थितः स्थित्यां जगतः पालनोद्यतः ऋग्यजुःसामभूतोऽन्तः सवितुर्द्विज तिष्ठति ॥८॥ मासि मासि रविर्यो यस्तत्र तत्र हि सा परा। त्रयीमयी विष्णुशक्तिरवस्थानं करोति वै ॥९॥ ऋचः स्तुवन्ति पूर्वाह्णे मध्याह्नेऽथ यजूंषि वै। बृहद्रथन्तरादीनि सामान्यह्नः क्षये रविम् ॥१०॥ अङ्गमेषा त्रयी विष्णोर्ऋग्यजुः सामसंज्ञिता। विष्णुशक्तिरवस्थानं सदादित्ये करोति सा ॥११॥ न केवलं रवेः शक्तिर्वैष्णवी सा त्रयीमयी। ब्रह्माथपुरुषो रुद्रस्त्रयमेतत्त्रयीमयम् ॥१२॥ सर्गादौ ऋङ्मयो ब्रह्मास्थितौ विष्णुर्यजुर्मयः। रुद्रः साममयोऽन्ताय तस्मात् तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥१३॥ एवं सा सात्त्विकी शक्तिर्वैष्णवी या त्रयीमयी। आत्मसप्तगणस्थं तं भास्वन्तमधितिष्ठति ॥१४॥ तया चाधिष्ठितः सोऽपि जाज्वलीति स्वरश्मिभिः। तमः समस्तजगतां नाशं नयति चाखिलम् ॥१५॥ ( विष्णुपुराण, अंश २ अ० ११ )।

माया न दुखद मोहि काही। आन जीव इव संसृत नाही ॥ ७.७८ ।', 'उदर माझ सुनु अंडज राया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड-निकाया ॥'''भ्रमत मोहिं ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहु कल्पसत एका ॥' इत्यादि ( ७.८०.३-८१.१ तक )।

२ 'गुन बस जाके'—इस अपरा-विद्याके वशमें गुण है। विशुद्ध सत्वप्रधान होनेसे उसमें जो ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह पूर्ण होता है। उसीको सर्वज्ञ ईश्वर कहते हैं। उन्हींकी यह पराशक्ति सत्व, रज, तमको वशमें रखती है। ब्रह्मा-विष्णु रुद्रमयी होनेसे यह सत्व, रज, तमकी अधिष्ठात्री देवी है। अतः इसके वशमें गुण हैं। उसके जिस रूपसे हम परिचित हैं, वह उसकी वाङ्मयी मूर्ति है।

'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके'—भगवान् कहते हैं कि वेदनामवाली पुरातनी परा शक्ति मेरी है। यथा 'ममैवेषा पराशक्तिर्वेदसंज्ञा पुरातनी। ऋग्यजुः सामरूपेण सर्गादौ सम्प्रवर्तते ॥'' ( कूर्मपुराण )। यह सर्गके आदिमें ऋक्, यजुः, सामरूपसे प्रवृत्त होती है। अर्थात् उसको प्रवृत्त करनेवाले उसके प्रभु ( स्वामी ) भगवान् हैं। उनकी प्रेरणा बिना वह कुछ नहीं कर सकती। अतः कहते हैं—'नहिं निज बल ताके'। शक्तिमान्से पृथक् शक्तिकी कोई सत्ता नहीं होती, अतः कहा गया कि 'उसको अपना (स्वतन्त्ररूपेण) बल नहीं है।'

☞डाक्टर सरजार्ज ए० ग्रियर्सन केविचार—कविके माया शब्दके प्रयोगपर कुछ व्याख्या लिखनी चाहिए। कभी-कभी यह उसका ऐसे शब्दोंमें उल्लेख करते हैं जिससे यह निरूपित और व्यक्त होता है कि वह ब्रह्मको मायासे छिपाती है। यह शिव-उपासक वेदान्तियोंकी माया है जिसके ये कट्टर विरोधी थे। पर इस प्रकारके प्रयोग केवल उपमा आदिमें हुए हैं और इनके उपदेशके अंश नहीं हैं। यह प्रयोग उनके शिव-पूजनका फल हो, पर अन्य स्थानोंमें इन्होंने इस शब्दके दो भिन्न अर्थ लिए हैं। एक तो उस जादूका जिसका राक्षसोंने रामकी सेनासे युद्ध करनेमें प्रयोग किया था और दूसरा ब्रह्म और मोहिनी शक्तिका सम्मिलन है ( उ० दो० ७०-७१ )। सशरीर शक्ति ईश्वरके अधीन तथा एक प्रकार उन्हींकी प्रेरित है। इसी अंतिम योग्यता से वह सारे संसारको नचाती है पर उसी ईश्वरके भ्रू भङ्गसे वह स्वयं नटीके समान नाचने लगती है। यह अपने भुलावेमें लाकर सभीको, देवताओंको भी मूर्ख बनाती है और जब कोई तपस्वी पुरुष घमंड करता है तब ईश्वर उसे बहकानेको उसे भेजते हैं। वह शरीर तथा सांसारिक मायाविनी होकर मनुष्योंसे पाप कराती है पर जिसमें सच्ची भक्ति है, वह उसके लिए अभेद्य है और वह उसके पास नहीं जा सकती।

तुलसीदासने यह भी शिक्षा दी है कि ईश्वर शरीरधारी है। उपनिषद्के निर्गुण ब्रह्मको मानते हुए जो सभी गुणोंसे हीन है तथा जिसके बारेमें केवल यही कहा जा सकता है कि वह 'यह नहीं है', 'वह नहीं है' इन्होंने यही निश्चय किया कि ऐसे पुरुषका विचार मनुष्योंके मस्तिष्कके बाहर है और केवल उसी ईश्वर का पूजन हो सकता है जो निर्गुणसे सगुण हो गया हो—( उ० १२ )।

पं० गिरधरशर्मा अद्वैतवादीका मत है कि वेदान्त शास्त्रमें ईश्वरकी उपाधिको शुद्ध सत्व प्रधान माया और जीवकी उपाधिको मलिन सत्व प्रधान अविद्या कहा गया है। यहाँ श्रीगोस्वामीजीने ईश्वरकी उपाधिका विद्या शब्दसे उल्लेख कर दिया। अविद्यासे विलक्षण होनेके कारण व सत्वप्रधान होनेके कारण ही संभवतः उसे विद्या कहा गया है। अध्यात्मरामायणके आधारपर ही यह तत्व निरूपण है—अध्यात्मरामायणमें—'रूपे द्वे निश्चिते पूर्वं मायायाः कुलनंदन ॥ विक्षेपावरणे तत्र प्रथमं कल्पयेज्जगत्। लिंगाद्यब्रह्मपर्यन्तं स्थूलसूक्ष्मविभेदतः ॥ अपरं त्वखिलं ज्ञानरूपमावृत्य तिष्ठति ॥ ३।४।२२-२४।' इत्यादि के द्वारा एक विक्षेप शक्ति और दूसरी आवरण शक्ति यही मायाके दो स्वरूप बताए गए हैं। आवरण शक्ति स्वरूप-ज्ञान नहीं होने देती और विक्षेप शक्ति आवृत्त वस्तुमें जगत्की कल्पना कराती है। इस प्रकरणके साथ गोस्वामीजीकी प्रकृत चौपाईकी तुलना करने पर यह सिद्ध होता है कि यहाँ श्रीगोस्वामीजीने आवरण शक्तिको अविद्या पदसे और जगदुत्पादक विक्षेप-शक्तिको विद्या पदसे उल्लेख किया है। क्योंकि गोस्वामीजीके बताए विद्या और अविद्याके लक्षण इन्हीं दोनों शक्तियोंमें स्पष्ट मिलते हैं। यद्यपि विक्षेप शक्तिका विद्या पदसे व्यवहार अन्यत्र वेदान्त ग्रन्थोंमें देखा

नहीं गया, किन्तु प्रकरण और लक्षणकी अनुकूलतासे यहाँ विद्या पदसे उसी शक्तिका ग्रहण असमंजस हो सकता है। अविद्यासे विलक्षण और ईश्वरीय शक्ति होना ही उसके विद्या व्यवहारका हेतु हो सकता है। विद्या, जिसे ज्ञान कहते हैं, इसी विक्षेप शक्तिके अंतर्गत है; इसीलिये भी इसे विद्या कहना ठीक हो सकता है।

अथवा, एक दूसरी भी व्याख्या उक्त चौपाइयोंकी हो सकती है। पहले मायाका लक्षण कहकर आगे उसके दो भेद किए गए—'विद्या अपर अविद्या दोऊ'। अर्थात् मायाका एक भेद है विद्या और दूसरा भेद है 'दोऊ अविद्या' अर्थात् दोनों प्रकारकी अविद्या। इनमेंसे विद्याको छोड़कर दोनों प्रकारकी अविद्याका ही स्वरूप पहले बताते हैं—'एक दुष्ट...'। ये दोनों अविद्याके ही स्वरूप हैं, जिन्हें अध्यात्म रामायणमें आवरणशक्ति और विक्षेप शक्ति कहा गया है। एक जीवको भवकूपमें गिराती है और दूसरी जिसके वसमें गुण हैं प्रभुकी प्रेरणासे संसारको रचती है। यों दो प्रकारकी अविद्याएँ बताकर अब विद्याका स्वरूप कहते हैं 'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं।' तात्पर्य यह कि इन दोनों अविद्याओंमेंसे जहाँ एक भी न रहे और जिसके द्वारा सबमें ब्रह्मरूपका दर्शन हो उसे ज्ञान अर्थात् विद्या समझो। ज्ञान और विद्या शब्दका एक ही अर्थ सुप्रसिद्ध है। यह अविद्याका सर्वथा विरोधी है। ज्ञानका उदय होनेपर उसी क्षण अविद्याका आवरण दूर हो जाता है और विक्षेपशक्ति द्वारा उत्पादित जगत् भी क्रमशः क्षय प्रारब्ध होनेपर लीन हो जाता है। यों विद्या यद्यपि अविद्याकी विरोधिनी है किन्तु वह भी अन्तःकरणकी वृत्ति ही है। और अन्तःकरण मायासे बना है। सुतरां यह ज्ञानरूप विद्या भी मायाके भीतर ही आ गई। इस लिए श्रीगोस्वामीजीने इसे भी मायाके भेदोंमें लिखा। यह व्याख्या सर्वांशमें वेदांत ग्रन्थोंके व अध्यात्म रामायणके अनुकूल होती है।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि अविद्याको प्रथम कहकर तब विद्याको कहा कि इसी विद्या मायाके साहचर्यसे ज्ञान आदि भी कहे जायँ। जिससे श्रुतियोंमें कही हुई विद्याका भाव भी इससे अपृथक् रहे। यथा 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।' ( ईशा० १४ ), इसमें विद्यासे ज्ञानोपासनाका अर्थ है।

श्रीमन्त जामदारजी—तुलसीदासजीने ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिको ही श्रेष्ठ माना है और साधक बाधक प्रमाणोंसे वही मत सिद्ध किया है। गोस्वामीजीका ज्ञानभक्तिवादका तुलनात्मक संक्षेप इस प्रकार है—"जे ज्ञानमान-विमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुर-दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥ बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे। जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भवनाथ सोइ समरामहे॥" प्रस्थानत्रयी सदृश ग्रंथोंपर जोर देनेवाले व्याख्याता यही कहते हैं कि सब पापोंकी जड़ अभिमान ही है। (पर व्याख्यताओंका अहंकार स्वयं बढ़ता जाता है ) भक्तिके अतिरिक्त अहंकार छूट नहीं सकता और अहंकार छूटे बिना ज्ञान जम नहीं सकता। अतः भक्तिके अभावमें ज्ञान न जमकर अहंकार ही जमता जाता है। इसी कारण वेदान्तियोंको ज्ञानकी बातोंका अपचन होकर उनका अहंकार जोरसे बढ़ जाता है। पश्चात् इस अहंकारकी वृद्धिका परिणाम स्वामीजीने बताया है—'अहंकार अति दुखद डमरुआ'''यह भक्तिशून्य ज्ञानका परिणाम अभिमान बढ़ानेमें न होता तो गीताका व्याख्यान संपूर्ण करनेपर श्रीकृष्णजीने अर्जुनजीको खासकर चेताया न होता कि 'इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन' ( अर्थात् तपहीन, भक्तिहीनसे इसे कभी न कहना चाहिए। गी० १८.६७। )

उपर्युक्त सिद्धान्तकी सत्यता सत्यता-समीकरणकी रीतिसे इस प्रकार दिखाई जा सकती है 'मैं अरु मोर तोर तैं माया' अर्थात् 'मैं और मेरा' और 'तू और तेरा' यही माया है इसलिए मैं + तू = माया। परन्तु मायाका 'मैं तू'—रूप कार्य्य जब प्रथम ही निर्दिष्ट हुआ उस समय 'तू' यानी ब्रह्म और मैं यानी अहंकार इनके अतिरिक्त और कुछ भी तीसरा पदार्थ था ही नहीं; इसलिये, ब्रह्म + अहं = माया*। ब्रह्म = 'माया—अहं।

* अन्य रीतिसे भी यह समीकरण सिद्ध होता है। ब्रह्ममें जो 'अहंब्रह्मास्मि' स्फूर्ति हुई वह ब्रह्मकी स्वगत शक्तिके कारण हुई। स्वगत शक्ति कहनेका कारण यह है कि अहंस्फूर्ति होनेके पहिले न तो ब्रह्मका न

परन्तु ब्रह्म यानी (सत्य) ज्ञान, माया यानी भेदभाव, अर्थात् अज्ञान, और '—अहं' यानी निरहंकारता है। ज्ञान = अज्ञान—निरहंकारता।

परन्तु निष्काम प्रेमसे और कृतज्ञतासे परमेश्वरमें अहंकारका लय होना ही निरहंकारता कहलाती है। 'भक्ति' संज्ञा इसीकी है। इसलिये ज्ञान = अज्ञान + भक्ति--(१) † और 'ज्ञान—भक्ति' = अज्ञान। (२) ‡ अब देखिए कि प्रारंभमेंके छंदके पूर्वार्धमें गोसाईंजीका सिद्धान्त समीकरण नं० २ से सिद्ध हुआ जाता है और उत्तरार्ध समीकरण नं० १ से। समीकरण नं० २ और नं० १ के क्रमसे यही निश्चित होता है कि भक्तिशून्य ज्ञानको केवल दिल्लगी या बकझक समझना चाहिए। यह ज्ञान 'वंध्या किं गुर्वीं प्रसव-वेदनाम्' ऐसा ही है। उससे भक्तियुक्त अज्ञान अत्यन्त उपयुक्त समझना चाहिये। क्योंकि उस अज्ञानमेंसे यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होनेका संभव रहता है। काकभुशुंडी-गरुड़-संवादमेंके 'ज्ञानहि भक्तिहि अंतर केता' इस प्रश्नपर कितना और कैसा प्रकाश गिरता है वह पाठकोंको समझानेकी अब हमें जरूरत नहीं दिखती।

ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं ॥७॥

कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥८॥

अर्थ—ज्ञान वह है जहाँ एक भी मान न हो। सबमें ब्रह्मको एक-सा देखे ॥७॥ हे तात! वह परम वैरागी कहा जायगा जो सिद्धियों और तीनों गुणोंको तिनकेके समान त्याग दे ॥८॥

गौड़जी—'ज्ञान ··· माहीं'। इस चौपाईमें विलक्षण रीतिसे गीताजीकी बतायी ज्ञानकी परिभाषा दी गयी है। गीतामें १३ वें अध्यायमें ज्ञानकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है—

"अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च। जन्म मृत्यु जराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥"

[ अर्थात् "मानहीनता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्यकी उपासना, शौच, स्थिरता और मनका भलीभाँति निग्रह ॥७॥ इन्द्रियोंके भोगोंमें वैराग्य और अहंकारहीनता तथा जन्म, मृत्यु, जरा-व्याधि एवं दुःखरूप दोषको बार-बार देखना ॥८॥ अनासक्ति, पुत्र, स्त्री, घर आदिमें अलिप्तता तथा इष्ट

---

उसके उस शक्तिका नाम निर्देश हो सकता था। अहंस्फूर्तिके पश्चात् ही उस शक्तिको माया नाम लगाया गया। इससे यही सिद्ध हुआ कि अहं और ब्रह्म इस भेदका निर्देश, माया शब्दसे किया गया है। तात्पर्य कि ब्रह्मकी अंगभूत (स्वगत) शक्तिको फलरूपसे माया नाम मिला है। इससे 'ब्रह्म + अहं = माया' यही सिद्ध हुआ। अब यह कहा जाय कि वह शक्ति ही 'ब्रह्मास्मि' इस स्फूर्तिका बीज, यानी प्रधान कारण, होनेसे उसीको माया कहना चाहिए तो भी ऊपरवाले समीकरणमें फरक नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि उस बीजरूप मायाने भी केवल एक 'ब्रह्म' ही न बतलाकर 'अहं' को भी स्पष्ट कर दिया। इससे यही हुआ कि मायाने 'अहं' और 'ब्रह्म' इस द्वैतको पैदा किया; अतएव समीकरणमें दिखलाना हो तो मायाको इसी प्रकार दर्शाना होगा कि, माया = ब्रह्म + अहं। (मा० हं०)।

† मिलान कीजिए—'अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव समंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः' ॥ (गीता ९। ३०)। 'जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही ॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना'।

‡ श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यंति ये केवलबोधलब्धये। तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥' (भाग० १०।१४।४), 'जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ न राम प्रेम परधानू'।

और अनिष्टकी प्राप्तियोंमें सदा समचित रहना ॥९॥ मुझमें अनन्ययोगसे अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त देशके सेवन करनेका स्वभाव और जनसमुदायमें अप्रीति ॥१०॥ अध्यात्म ज्ञानमें नित्य स्थिति, तत्वज्ञानके अर्थका दर्शन;—यह सब 'ज्ञान' है। इसके विपरीत जो है, वह अज्ञान है, ऐसा कहा है ॥११॥"

श्लोकोंमें आए हुए शब्दोंकी व्याख्या इस प्रकार है—"उत्तम पुरुषोंके प्रति तिरस्कारबुद्धिके न होनेका नाम 'अमानित्व' है। धार्मिकपनके यशकी प्राप्तिके लिये अनुष्ठान करनेका नाम 'दंभ' है, उसके न होनेका नाम 'अदम्भित्व' है। मन, वाणी और शरीरसे दूसरेको पीड़ा न पहुँचानेका नाम 'अहिंसा' है। दूसरेके द्वारा पीड़ित किये जानेपर भी उनके प्रति चित्तमें विकार न होनेका नाम 'क्षान्ति' (क्षमा) है। दूसरोंके लिये मन, वाणी और शरीरकी एकरूपता (सरल भाव) का नाम 'आर्जव' है। आत्मज्ञान देनेवाले आचार्यको प्रणाम करनेका, उनसे प्रश्न करनेका और उनकी सेवा आदिमें लगे रहनेका नाम 'आचार्यकी उपासना' है। मन, वाणी और शरीरमें आत्मज्ञान और उसके साधनकी शास्त्रसिद्ध योग्यता प्राप्त हो जानेका नाम 'शौच' है। अध्यात्मशास्त्रमें कही हुई बातपर निश्चल भावका नाम 'स्थैर्य' है और आत्मस्वरूपके अतिरिक्त विषयोंसे मनको हटाये रखनेका नाम 'आत्मविनिग्रह' है। इन्द्रियोंके अर्थोंमें वैराग्य (अथात् आत्माके अतिरिक्त समस्त विषयोंमें दोषदर्शन करके विरक्त हो जाना), अहंकारहीनता अर्थात् अनात्मा शरीरमें आत्माभिमान का अभाव। यह कहना उपलक्षणमात्र है। अतएव जो अपनी वस्तु नहीं है, उसमें अपनेपनका अभाव भी इससे विवक्षित है। शरीरसे युक्त रहनेतक जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और दुःखरूप दोष अनिवार्य हैं, इस बातका विचार करते रहना। यही 'दोषानुदर्शन' है। आत्माके अतिरिक्त अन्य विषयोंमें आसक्तिका अभाव। पुत्र, स्त्री और घर आदिमें शास्त्रीय कर्मोंकी उपयोगिताके सिवा सम्बन्धका अभाव, इष्ट और अनिष्टकी प्राप्ति में हर्ष और उद्वेगसे रहित रहना, सर्वेश्वरमें ऐकान्तिक भावसे स्थिर भक्ति। निर्जन देशमें निवास करनेका स्वभाव और जनसमुदायमें अप्रीति। आत्म विषयक ज्ञानमें अविच्छिन्न स्थिति। तत्वज्ञानके अर्थको देखना अर्थात् जो तत्वज्ञानका फलस्वरूप तत्व है, उसमें भली भाँति रत हो जाना। जिससे आत्माको जाना जाय अर्थात् आत्मज्ञानका नाम ज्ञान है। अतः क्षेत्रसे संबंध रखनेवाले मनुष्यके लिये यह बतलाया हुआ अमानित्व आदि गुण समुदाय ही आत्मज्ञानका उपयोगी है। इससे अतिरिक्त समस्त क्षेत्रका कार्यमात्र आत्मज्ञान का विरोधी है; अतः वह अज्ञान है। (श्रीरामानुजभाष्य हिन्दी अनुवादसे)]

इन पांचो श्लोकोंमें 'अमानित्वम्' से आरम्भ किया है और 'तत्वज्ञानार्थदर्शनम्' पर समाप्त किया है और कहा है कि यही ज्ञान है। गोस्वामीजीने 'अमानित्व' ('मान जहँ एकउ नाहीं') से आरम्भ किया और 'तत्वज्ञानार्थदर्शनम्' ('देख ब्रह्म समान सब माहीं') पर समाप्त किया। 'थोरेहि महँ सब कहउँ' की प्रतिज्ञा इस विलक्षणतासे पूरी की गयी। यह चौपाई मानों इस संक्षिप्त लेखनका प्राकृतरूप है-और अद्भुत भाषान्तर है।

[अमानित्वं..........तत्व ज्ञानार्थ दर्शनम्। एतत् 'ज्ञानम्'।] थोड़े ही में पाँच श्लोकोंके भाव आ गये।

इसी प्रकार इस गीतामें थोड़ेमें ही अद्भुत शिक्षा दी गई है। सभी अत्यन्त सारगर्भित हैं। सबके लिये प्रमाण हैं। (गौड़जी)।

श्लोक ११ के अन्तमें 'अज्ञानं यदतोऽन्यथा' इन शब्दोंसे अज्ञान क्या है यह भी बताया है। अर्थात् अमानित्व आदि जो ज्ञानके लक्षण कहे गए उनके विपरीत सब लक्षण मान, दंभ, हिंसा, अक्षान्ति आदि अज्ञानके लक्षण हैं।

प. प. प्र.—ज्ञानके लक्षण जो गीतामें कहे गये हैं वे सब इस कांडमें श्रीमुखसे कहे हुए सन्तोंके गुणोंमें तथा अत्रि-स्तुति, सुतीक्ष्ण-स्तुति एवं जटायु-स्तुतिमें भी पाये जाते हैं।—

| स्तुतिओंमें ज्ञान-लक्षण | भगवद्गीताके ज्ञान-लक्षण | संत लक्षणोंमें ज्ञान-लक्षण |
|---|---|---|
| मदादि दोष मोचनम् | १ अमानित्वम् | १ मान करहिं न काऊ और मानद भी । |
| | २ अदंभित्वम् | २ दंभ करहिं न काऊ, निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं । |
| | ३ अहिंसा | ३ सबहि सन प्रीती; दाया, मुदिता मैत्री छमा । |
| ४ हीन मत्सराः | ४ क्षान्तिः | ४ धीर धर्मगति परम प्रवीना । |
| ५ मोरि मति थोरी । रवि सन्मुख खद्योत अँजोरी । | ५ आर्जवम् | ५ सरल सुभाउ; विनय । |
| ६ अब प्रभु संग जाउँ गुरु पाहीं । करि दंडवत । | ६ आचार्योपासनम् | ६ गुरु, विप्रपद-पूजा; श्रद्धा । |
| ७ यह भी 'सकल गुन'में आजाता है! | ७ शौचम् । | ७ शुचि, अनघ, भूलि न देहिं कुमारग पाऊ। |
| ८ बहुत दिवस गुर दरसन पाएँ (इसमें अचंचलता देख पड़ती है) | ८ स्थैर्यम् | ८ अचल । |
| ९ करत मन बस सदा | ९ आत्मविनिग्रहः । | ९ अनीह, संजम । |
| १० करत गो बस सदा; निरस्य इन्द्रियादिकम् | १० इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् | १० विरति, छमा, दम, नेमा, अकिंचन । |
| ११ नाथ सकल साधन मैं हीना । जन दीना । (इसमें अहंकारका अभाव प्रतीत होता है ) | ११ अनहंकारः । ,, | ११ मद करहिं न काऊ । मदहीना । पर गुन सुनत अधिक हर्षाहीं । |
| १२ समस्त दूषणापहं । स्व-कं (आत्मसुखं) प्रयान्ति । | १२ जन्म मृत्युजराव्याधि दुःख दोषादि दर्शनम् । | १२ संसार दुख रहित । सुखधामा । विवेक । |
| १३ छाँड़ि सब संगा । | १३ असक्तिः । | १३ षटविकारजित, मितभोगी, अनीह । |
| १४ जोग अगिनि तनु जारा | १४ अनभिस्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु । | १४ प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह । |
| १५ 'सकल गुण' में आ जाता है यह समचित्तत्त्व । 'योगी' से ही | १५ समचित्तत्त्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु । | १५ सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती । |
| १६ त्वदंघ्रिमूल भजन्ति । अविरल भगति । अकामी । | १६ मयि अनन्य योगेन भक्तिरव्यभिचारिणी । | १६ गावहिं सुनहिं सदा मम लीला । मम पद प्रीति अमाया । अकामा । |
| १७ विविक्तवासिनः सदा । सुयोगी । | १७ विविक्त देशसेवित्वम् । | १७ जोगी, व्रत |
| १८ जोगी जतन करि । ध्यान । | १८ अरतिर्जन संसदि | १८ जप, तप, व्रत । सावधान, |
| १९ सकल ग्यान निधान । ज्ञान । | १९ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् | १९ बोधजथारथ वेद पुराना । कोविद । |
| २० जतन करि जे पश्यन्ति । विशुद्ध बोध, । ज्ञान । | २० तत्वज्ञानार्थ दर्शनम् | २० अमित बोध । विगत संदेह । कवि विग्याना । |

स्तुतियोंमें ज्ञानलक्षणोंका उपक्रम किया, रामगीतामें पुनरावृत्ति संक्षेपमें कर दी और साधुलक्षणोंमें ज्ञानादि लक्षणोंका उपसंहार कर दिया । मानों इस चौपाईकी टीका आदि अन्तमें रखकर मध्यमें सूत्ररूपसे सिद्धान्त श्रीमुखसे ही कह दिया !

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि गीताके उपर्युक्त उद्धरणमें जो 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' यह कहा गया है इससे भक्तिरूप सरस ज्ञानका कथन है। और इसके पूर्व गीता ७.१६-१७ में

ज्ञानीको भक्त कहा है। मानसमें भी 'रामभगत जग चारि प्रकारा' में भी ज्ञानीको भक्त कहा है, अतः ज्ञान और भक्ति दोनों पर्याय हैं। ज्ञान और भक्ति एक ही किस प्रकार हो सकते हैं इसपर उन्होंने छां० ३.१८.१-४, और आनन्दभाष्य 'ध्यानवेदनाद्यभिहितस्यावृत्तिः कर्तव्या।…कर्तव्येति। ४.१.१।' प्रमाणमें दिये हैं।

मेरी समझमें उनका मत है कि 'ज्ञान मान जहँ…माहीं' में के 'ज्ञान' शब्दका अर्थ 'भक्ति' है। यह इससे जाना जाता है कि उन्होंने इसपर शंका भी की है कि 'ज्ञान और भक्तिका तारतम्य ( न्यूनाधिक्य ) उत्तरकांडमें बहुत कहा गया है?' और समाधान किया है कि वहाँ कैवल्यपरक रुक्ष ज्ञानका प्रसंग है, उसमें भी श्रीरामजी यहाँपर आगे 'धरम ते विरति जोग ते ज्ञाना' में कहेंगे और उससे भक्तिको बहुत श्रेष्ठ कहेंगे।

परन्तु यहाँ लक्ष्मणजीके 'कहहु ज्ञान विराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया।' में ज्ञान और भक्ति दोनोंका पृथक् पृथक् प्रश्न है और उत्तरमें भी 'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।…' और 'जाते बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति…' दोनोंका स्वतंत्र प्रतिपादन है। इससे इस प्रसंगमें ज्ञानको भक्तिका पर्याय मानना विचारणीय है।

'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं' इति। —

पु० रा० कु०—(क) मैं और मोर, तैं और तोर यही अहंकार या मान है। इनके रहते जीवको सुख नहीं, यथा 'तुलसिदास मैं मोर गए बिनु जिउ सुख कबहुँ न पावै' ( विनय १२० )। ये जहाँ नहीं हैं वहाँ ज्ञान है और जहाँ ये हैं वहाँ माया है। इसीसे मायाका स्वरूप कहकर तब ज्ञानका स्वरूप कहा। इनके (स्वरूपोंके) ग्रहणसे और मायाके त्यागसे ज्ञान उदय होगा, यथा 'मायाछन्न,न देखिए जैसे निरगुन ब्रह्म।३६।' (ख) प्रथम इन्द्रियों और मनके वेगको माया बताया—'गो गोचर जहँ०'। अब ज्ञानका स्वरूप कहते हैं जिससे मन और इन्द्रियाँ स्थिर होती हैं। (ग) प्रथम मायाका स्वरूप कहा तब ज्ञानका। मायारूपी अंधकार दूर हुआ तब वैराग्य हुआ, तब निकाम (बुरी) वस्तुओंका त्याग हुआ। और तब भक्तिका ग्रहण हुआ। अतः क्रमसे वर्णन किया। यहाँ 'कारण माला अलंकार' है।

श्रीचक्रजी—मुझे 'ज्ञानमान' को एक शब्द मानकर अर्थ करना अधिक उपयुक्त लगता है। प्रश्न यह है कि 'देख ब्रह्म समान सब माहीं' इसमें ज्ञानका वर्णन है या ज्ञानीका? ( 'जिस वृत्तिके द्वारा ज्ञानी ) सबमें समान रूपसे ब्रह्मको देखता है' ऐसा अर्थ करें तब तो इसमें ज्ञानका वर्णन है, किन्तु ऐसा अर्थ बहुत खींचतानका माना जायगा। 'जो सबमें समान रूपसे ब्रह्मको देखे।' यही अर्थ सबोंने किया है। इसमेंका 'जो' व्यक्ति ही होगा और व्यक्तिका वर्णन ज्ञानीका वर्णन है। जब आधेमें ज्ञानीका वर्णन है, तब उसी अर्धालीके आधेमें ज्ञानका वर्णन मानना अटपटा-सा लगता है।

दूसरे ज्ञान बोधात्मक वृत्तिका नाम है और वृत्तिका वर्णन हो नहीं सकता। उसे सीधे कैसे बतलाया जा सकता है? अतः प्रभु ज्ञानीका वर्णन करके ज्ञानको लक्षित कर रहे हैं। तीसरा कारण 'ज्ञानमान' को एक शब्द माननेका यह है कि पूर्व कहा जा चुका है कि मायाका वर्णन प्रभु प्रथम इसलिये कर रहे हैं कि मायाका निषेध कर देना ही ज्ञानका लक्षण है। ज्ञानका लक्षण पृथक् नहीं बतलाया जा सकता। इसलिये जब इस अर्धालीमें ज्ञानका लक्षण कहा जा रहा है तो वह लक्षण मायाका निषेधरूप लक्षण ही होना चाहिए। 'जहाँ एक भी मान नहीं' यह तो मायाका निषेध हुआ नहीं। 'जहाँ एक भी ( माया ) नहीं', यह मायाका निषेध हुआ। यह निषेध तभी अर्धालीके अर्थसे निकल सकता है जब 'ज्ञानमान' एक शब्द माना जाय।

'ज्ञानमान' को अलग लेकर जो अर्थ होता है उसमें और 'ज्ञानमान' वाले अर्थ, दोनों अर्थोंके तात्पर्यमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। 'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं' पाठमें 'मान' का अर्थ है–'मैं अरु मोर तोर तैं माया' जिसमें मैं—मेरा, तू-तेरा इस प्रकारका एक भी अभिमान नहीं है। 'ज्ञानमान जहँ एकउ नाहीं' पाठका अर्थ

है—'ज्ञानवान वह है जिसमें एक भी माया न हो।'—यहाँ अविद्या मायाके ही न होनेकी बात है। 'जिसमें मैं, मेरा, तू, तेरा, इस प्रकारकी एक भी अविद्या नहीं है'।

मैं मेरा और तू तेरा यह एक भी जहाँ नहीं है वह ज्ञानी है। यह परिभाषा अधूरी है। जो सबमें समान रूपसे ब्रह्मको देखता है वह ज्ञानी है, यह परिभाषा भी अधूरी है। घोर निद्रामें मेरा, तू और तेराके भाव नहीं रहते, किन्तु 'मैं' का बोध रहता है, पर मूर्च्छामें चाहे वह आघातजन्य मूर्च्छा हो, औषधिजन्य मूर्च्छा हो या मेस्मराइज़्म आदिसे प्राप्त मूर्च्छा हो, उसमें 'मैं' का भाव भी नहीं रहता। पत्थर वृक्षादिमें भी यह 'अहं' की बोधवृत्ति प्रसुप्त रहती है। लेकिन तमोगुणसे अभिभवकी यह दशा तो ज्ञान नहीं है। ज्ञानीमें तो बोधवृत्ति जागृत रहती है। केवल बौद्धिक ज्ञान भी ज्ञान नहीं, ऐसोंके लिये ही कहा है—'ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर करहिं न दूसरि बात। कौड़ी लागि मोहबस करहिं बिप्रगुरु घात।' यदि अहंकार बना है तो वह अज्ञानी है।—इसीलिये प्रभु ने दोनों लक्षण एक साथ बताये हैं।

बुद्धिमें निर्विकार एकरस चेतन सत्ताकी प्रतिष्ठा, सबमें सर्वत्र उसे एकरस व्याप्त देखना और हृदयमें सर्वथा अहंता, ममताका सर्वथा अभाव—यही ज्ञानका स्वरूप है।

रा० प०—(क) 'मान जहँ एकौ नहीं' अर्थात् ब्रह्मको छोड़ दूसरी बात मानी ही नहीं जाय, दूसरी बातका मान ही नहीं। (ख) यहाँ ज्ञानके दो स्वरूप कहे। एक पूर्वार्द्धमें कि ब्रह्मसे अतिरिक्त दूसरी बात नहीं और दूसरा उत्तरार्द्धमें कि स्वामी जो ब्रह्म सो सबमें हैं, इस प्रकार सबको देखना ज्ञान है ( रा० प० प० )।

रा० प्र०—सब जगत्में ब्रह्मको देखे अर्थात् जड़चेतन सबमें ब्रह्म परिपूर्ण है। जैसे मिश्रीमें मिठास, सैंधव ( नमक, लवण ) में लवणत्व। यह भी ज्ञान है। ( प्र० )। ( मिलान कीजिए—'सचराचररूप स्वामि भगवंत' एवं 'निज प्रभुमय देखिहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'। )

रा० प्र० श०—भाव यह है कि जैसे पहले दृष्टि थी कि 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई'; वैसे ही अब 'देख ब्रह्म समान सब माहीं', यह ज्ञान-दृष्टि है।

वि० त्रि०—(क) ज्ञान—अर्थात् परा विद्या, जिससे अक्षरब्रह्म जाना जाता है। इसीको 'ब्रह्मविद्या' कहते हैं। चारों महावाक्यों* द्वारा ब्रह्मविद्याका उपदेश होता है। उसमेंसे छान्दोग्यश्रुतिगत वाक्यका उपदेश लोमश महर्षिने भुशुण्डिजीको ब्राह्मण जन्ममें किया था। यथा 'लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥ अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥ मन गोतीत अमल अबिनासी। निर्बिकार निरवधि सुखरासी॥ सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥'; इसीको ज्ञान कहा है, क्योंकि आगे चलकर गरुड़जी भुशुण्डीजीसे कह रहे हैं कि 'कहहिं संत मुनि बेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना॥ सो मुनि तुम्ह सन कहेउ गोसाईं। नहिं आदरेउ भगति की नाईं॥' शेष तीन वाक्य भी इसी भाँति ब्रह्म जीवके ऐक्यका प्रतिपादन करते हैं। यहाँ भगवान् लक्ष्मणजीको ऐतरेय-आरण्यक-गत महावाक्येक तात्पर्यका उपदेश कर रहे हैं।

(ख) 'मान जहँ एकउ नाहीं'—'मीयते अनेन इति मानम्' अर्थात् जिससे नापा जाता है, उसे मान कहते हैं। वे मान लघु, गुरु, महत्, अणु, उत्तम, मध्यम, अधम आदि भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं। जैसे ब्रह्मा, इन्द्रादि देव उत्तम हैं, मनुष्य मध्यम हैं, अश्व-गजादि अधम हैं। एवम् विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण तथा गौ पूज्य, हाथी, कुत्ता श्वपचादि निकृष्ट हैं। ये सब बातें मानसे सिद्ध हैं। यह मान देहादिकोंमें ही सम्भव है। पर जो चेतन ब्रह्म सबमें व्याप्त है उसका तो कोई मान नहीं है।

(ग) 'देख ब्रह्म समान सब माहीं'—चक्षुरिन्द्रिय द्वारा निकले हुए अन्तःकरण-वृत्तिसे उपहित चैतन्यसे

---

* चारों वेदों से चार महावाक्य लिये गये हैं। पहिला ऋग्वेदान्तर्गत ऐतरेयआरण्यक से, दूसरा यजुर्वेदान्तर्गत बृहदारण्यक से, तीसरा सामवेदान्तर्गत छान्दोग्य से और चौथा अथर्ववेद से।

ही पुरुष दर्शन-योग्य रूपादिको देखता है। श्रोत्रद्वारा निकले हुए अन्तःकरण-वृत्तिरूप उपाधिवाले चैतन्यसे सुनता है। घ्राणद्वारा निकले हुए अन्तःकरणवृत्ति उपहित चैतन्यसे सूँघता है। वागिन्द्रियावच्छिन्न चेतनसे बोलता है। रसनेन्द्रियद्वारा निकले हुए अन्तःकरणवृत्ति उपहित चैतन्यसे चखता है। वही प्रज्ञान चैतन्य ब्रह्म है और वह सबमें समान है। इन्द्रियादिकी विकलता या सफलतासे दर्शनादिमें तारतम्य हो सकता है, परन्तु चैतन्य तो सबमें समान ही है। ऐसी समान दृष्टि रखना ही ज्ञान है। यथा 'विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता॥ सबकर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥', 'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि। बन्दौं सबके पद-कमल सदा जोरि जुग-पानि॥ उमा जे रामचरनरत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥' 'देस काल दिसि बिदिसौ माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥ अगजगमय सब रहित बिरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटै जिमि आगी॥' (यह दूसरे प्रश्नका उत्तर हुआ।)

नोट—१ 'तात कहिए सो परम बिरागी' इति। यहाँ वैरागीके लक्षण कहकर वैराग्यके लक्षण सिद्ध किए। अरूप पदार्थका स्वरूप उनके धर्मके द्वारा ही व्यक्त हो सकता है; इसीसे यहाँ धर्म ही कहकर वैराग्यका स्वरूप दिखाया गया। जैसे कोई धर्म आदिका वा क्रोधादिका स्वरूप देखना चाहे तो स्वच्छता और हर्ष जो तीर्थादिस्नानके उपरान्त होते हैं और नेत्र भृकुटि अधर आदिका लाल होना, चढ़ना और फड़कना आदि जो क्रोधमें होते हैं इनको कहनेसे उनका स्वरूप जान पड़ता है। (प्र०)।

२ जो संसारके पदार्थोंको त्याग करे वह 'वैरागी' और जो दिव्य पदार्थोंका त्याग करे वह 'परम वैरागी'। 'सिद्धि तीनि गुन' के त्यागके उदाहरण भरतजी हैं, यथा 'भरतहि होइ न राजमद बिधि हरि हर पद पाइ। २.२३१।' विधि हरि हर तीनों गुणोंके स्वरूप हैं। भरतजीने तीनोंकी सिद्धियोंको तिनकाके समान त्याग कर दिया है।—(पं० रा० कु०, पां०)

वि० त्रि०—(क) 'तात' यह प्यारका शब्द है। यहाँ छोटे भाईके लिए आया है। भाव यह है कि तुमने वैराग्यके विषयमें प्रश्न किया है, सो वैराग्य तुम्हें स्वभावसे ही प्राप्त है। वनगमनके समय मैंने स्वयं देख लिया है, यथा 'राम बिलोकि बंधु कर जोरे। देह गेह सब सन तृन तोरे।२.७०।', 'मातु चरन सिरु नाइ चले तुरत संकित हृदय। बागुर बिषम तोराइ मनहुँ भाग मृग भाग बस।२.७५।'; अतः तुमसे वैराग्यका वर्णन करना केवल कथाको विस्तार देना है। अतएव जो वैराग्यसे भी साध्य 'परम वैराग्य' है, उसीका वर्णन मैं तुमसे करूँगा। (ख) 'सो परम बिरागी कहिए'—भाव यह है कि विषय दो प्रकारके हैं एक दृष्ट और दूसरा आनुश्रविक। जो इस लोकमें देखा सुना जाता है वह 'दृष्ट' कहलाता है, जैसे शब्द-रूपादि। 'अनुश्रव' वेदको कहते हैं। जिसका पता वेदसे लगता है उसे 'आनुश्रविक' कहते हैं, जैसे स्वर्गादि। सो दोनों प्रकारके विषयोंके परिणाम विरसत्वके देखनेसे जिनको इनका लोभ नहीं रह गया है, वे इन विषयोंके वश नहीं होते, विषय ही उनके वशमें रहते हैं। उनके वैराग्यकी 'वशीकार' संज्ञा है। यथा 'एहि तन कर फल बिषय न भाई। सरगहु स्वल्प अंत दुखदाई॥' इन विषयविषयक वैराग्यवानोंको परम विरागी नहीं कहते, परम विरागीका लक्षण है,—'तृनसम सिद्धि तीन गुन त्यागी'। जिसने अणिमादिक अष्टसिद्धियों तथा सत्व, रज और तमका त्याग किया हो वह 'परम विरागी' है। पहिला वैराग्य अर्थात् अपर वैराग्य विषयविषयक था, 'परम वैराग्य' तो गुणविषयक होता है। गुणविषयक वैराग्य ही सच्चा वैराग्य है। ऐसे वैराग्यवान्को 'परम विरागी' कहना चाहिए। यथा 'बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहु बारा॥ माँगहु बर बहु भाँति लोभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये॥' यहाँ रजोगुणके अधिष्ठाता विधि, सत्वगुणके अधिष्ठाता हरि और तमोगुणके अधिष्ठाता हर अपने गुण सम्बन्धी सब प्रकार-के सुख तथा सिद्धियोंका लोभ दिखा रहे हैं, पर परम वैराग्यवान् स्वायम्भू मनुको इन गुणों तथा सिद्धियोंकी इच्छा नहीं हुई। (यह तीसरे प्रश्नका उत्तर हुआ।

नोट—३ 'गुण' की विस्तृत व्याख्या 'गुनकृत सन्यपात नहिं केही । ७।७१।१ ।', तथा अन्यत्र भी की गई है । सत्व, रज, तम तीन गुण हैं । गीता अ० १४ में भी विस्तारसे इनका वर्णन है । 'सिद्धि' वा० मं० सो० १ देखिए ।

प० प० प्र०—१ 'तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी' इति । ( क ) तीनों गुणोंका त्याग हुआ यह तब समझना चाहिए जब गुणातीत आत्माका अपरोक्ष साक्षात्कार होगा और द्रष्टा जीव जान लेगा कि गुणोंके सिवा दूसरा कोई कर्ता नहीं है—'गुणा गुणेषु वर्तन्ते', 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' ( गीता ) । ( ख ) गुणातीतके लक्षण (जो गीता १४ (२२-२५) में दिये हैं) तथा ज्ञानके लक्षण (अध्याय १३ के) और अध्याय १२ के भक्त लक्षणोंमें भेद नहीं है । ( ग ) सिद्धियोंकी प्राप्ति हठयोग, नामजपयोग, ज्ञानयोग, राजयोग, भगवत्कृपा, भक्तियोग तथा सद्गुरुकृपासे होती है । हठयोग, ज्ञानयोगसे, यथा 'रिद्धि सिद्धि प्रेरै बहु भाई । ७।११८।७' नाम जपसे, यथा 'साधक जपहिं नाम लउ लाए । होहिं सिद्ध अनिमादिक पाए ।' भगवत्कृपासे, यथा 'काकभुसुंडी माँगु बरु...अनिमादिक सिधि अपर रिधि । ७।८३ ।' गुरुकृपासे यथा 'कामरूप इच्छा मरन'''। ७।११३ ।', 'जो इच्छा करिहहु मन माहीं । हरिप्रसाद कछु दुरलभ नाहीं ।' भक्तियोगसे यथा 'भगति सकल सुख खानि ।', 'रामकथा....सकल सिद्धि सुख संपति रासी । १।३१।१२ ।'

२ 'परम बिरागी' की इस परिभाषासे शंका उठती है कि 'तब क्या श्रीहनुमानजी, श्रीभरद्वाजजी परम बिरागी न थे ?' समाधान यह है कि हनुमान्‌जीने सिद्धियोंका उपयोग अपने स्वामीके कार्यसंपादनमें ही किया है । भरद्वाजजीने भी सिद्धियोंको बुलाया नहीं, वे स्वयं आईं । जब धर्मसंस्थापनका कार्य भगवान् सन्तोंको निमित्त करके करना चाहते हैं तब वे ही उनके पास सिद्धियोंको भेज देते हैं ।

दो०—माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव ।
बंध मोक्षप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव ॥१५॥

अर्थ—जो मायाको, ईश्वरको और अपनेको न जान सके उसे जीव कहिए । बन्धन तथा मोक्षका देनेवाला, सबसे परे और मायाका प्रेरक ईश्वर है ॥१५॥

नोट—१ (क) इस दोहेके अपने-अपने मतानुसार लोगोंने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं । 'माया ईस न आपु कहुँ' के कई प्रकारसे अर्थ किये जाते हैं ( १ ) माया, ईश्वर और अपनेको । ( २ ) मायाके स्वामी ( परमेश्वर मायापति ) को और अपनेको । ( ३ ) अपनेको मायाका स्वामी नहीं जानता । ( ४ ) जो माया आदिको स्वयं अपनेसे ही बिना गुरु आदिके उपदेशके न जाने । ( रा०प्र०, वै० ) । ( ख ) 'बंध मोच्छप्रद''' सीव' का अर्थ प्रायः वही किया गया है जो हमने ऊपर दिया है । श्रीकान्तशरणजी 'सर्बपर' का अर्थ 'सब जीवों पर' करके यह अर्थ देते हैं—"सब जीवोंपर मायाकी प्रेरणा करके बन्धन और मोक्षका देनेवाला ईश्वर है ।" (ग) 'सीव' का अर्थ ईश्वर है । यह शब्द दोहावलीमें इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, यथा 'जीव सीव सम सुख सयन, सपने कछु करतूति । जागत दीन मलीन सोइ, बिकल बिषाद बिभूति ।२४३।' किसीने दोहेका अर्थ इस प्रकार किया है—'माया है यह ईश की ताहि न अपनी जान । जो याको अपनी कहै ताहि जीव पहिचान ॥'

दीनजी—सारी गीता, षट्दर्शन इसी एक दोहेमें आ गए । ऐसा संक्षिप्त-वर्णन कहीं नहीं है ।

टिप्पणी—१ (क) मायाके ईश (अर्थात् 'जासु सत्यता ते जड़ माया । भास सत्य इव' उस ईश्वर) को और अपनेको न जानकर जो मायाके वश हुआ, स्वरूप भूल गया, वही जीव है । यथा 'जिव जब तें हरि तें बिलगान्यो । तब ते देह गेह निज जान्यो । माया बस स्वरूप बिसरायो । तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो ।' (विनय १३६), 'ईश्वर अंश जीव अबिनासी' † । (ख) 'बंध मोच्छप्रद', यथा 'गति अगति जीव की सब हरि

† १ प्र०—'जो जान ले तब ( जीव ) क्या है ? यह प्रश्न वैसा ही है जैसे कोई पूछे कि अग्नि शीतल

नाथ तुम्हारे' । 'सर्वपर' यथा 'वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्' । (ग) 'सीव', यथा 'जीव सीव सुख सयन' । सीव=ईश्वर ।

२ खर्रा—माया, ईश और अपनेको अर्थात् इस पदार्थ-त्रयके जाननेके लिए ही सब शास्त्र हैं । यहाँ श्रीरामजीके कथनमें श्रीरामानुजाचार्य्यकृत अर्थपंचकका पंच ज्ञान घटित होता है । इन पाँचों स्वरूपोंका जानना अत्यावश्यक कहा गया है, यथा 'प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः । प्राप्त्युपायं फलञ्चैव तथा प्राप्तिविरोधि च ॥ वदन्ति सकला वेदा सेतिहास पुराणकाः । मुनयश्च महात्मानो वेदवेदाङ्ग वेदिनः ।' (हारीत) । जबतक इनका बोध नहीं होता जीव भवसे मुक्त नहीं हो सकता । (१) स्व-स्वरूप-ज्ञान यह कि श्रीरामजी अंशी हैं, हम उनके अंश हैं । (२) पर-स्वरूप-ज्ञान जो दोहामें कहा गया—'बंधमोच्छप्रद सर्वपर माया प्रेरक सीव' । (३) 'विरोधी स्वरूप'-ज्ञान यह कि हमारे और ईश्वरके बीचमें विरोध करनेवाला कौन है इसका ज्ञान । वही यहाँ गाया है—'जा बस जीव परा भवकूपा' । (४) 'उपाय (साधन) स्वरूप'-ज्ञान—ज्ञान वैराग्य भक्ति जो कही गई । (५) फलस्वरूप-ज्ञान, यथा 'तिन्हके हृदय कमल महँ सदा करउँ बिश्राम ।' भगवतसान्निध्य-प्राप्ति फल है ।

३—अ० ६४ (२·४) 'कहत रामगुन भा भिनुसारा' में लिखा जा चुका है कि इस ग्रंथमें ५ मुख्य गीतायें हैं और प्रत्येक गीताके अंतमें उसकी फलश्रुति है । वहाँ देखिए । यह श्रीरामगीता है । लक्ष्मणजीके प्रश्नपर श्रीरामचन्द्रजीका उपदेश हुआ है । इस गीताका फल भगवान् स्वयं कहते हैं—'तिन्हके हृदय कमल महँ सदा करउँ बिश्राम ।' अद्वैतमें जीवत्व रहता ही नहीं, अतः अद्वैतसे अर्थ नहीं किया जाता ।

रा० प्र० श०—(क) असत् पदार्थोंसे वैराग्य और सतमें अनुराग होनेपर यह निश्चय हुआ कि जीव और ईश्वर दोनोंका स्वरूप मायासे भिन्न है, 'ईश्वर अंस जीव अबिनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ।'

---

हो जाय तो क्या कहलायगी । ईश्वर और मायाका जैसा यथार्थ स्वरूप है वह तो कोई जान सकता ही नहीं जैसे अग्निका शीतल होना मणि मंत्र औषधादि बिना असंभव है । २ पु० रा० कु०—यथा 'स्थूलशरीराभिमानी जीवनामकं ब्रह्मप्रतिबिंबं भवति स च जीवः प्रकृत्या स्वस्मिनीश्वरभिन्नत्वं जानाति अविद्योपाधिः सन् आत्मा जीव उच्यते' । (अज्ञात) ।

प० प० प्र०—जीव चाहे बद्ध हो या मुक्त हो जाय, कैवल्य मुक्ति प्राप्त कर ले, तथापि वह परमेश्वर हो ही नहीं सकता है । भले ही वह ब्रह्ममें यहाँ ही लीन हो जाय ।—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, इह एव तस्य प्रविलीयन्ते प्राणाः ।' (श्रुति) । ईश्वर एक है, अज है, अनादि है । लक्ष्यार्थसे ईश्वर-जीव-ऐक्य हो सकता है । तथापि वाच्यांशमें ईश्वर और जीवमें समानता भी नहीं हो सकती । ईश्वर एक है तब भी विविध सम्प्रदायों और धर्मोंमें कितने झगड़े पैदा होते हैं । यदि ईश्वर अनेक हो जायँ तब तो कहना ही क्या ! किसकी आज्ञा मानें, किसकी न मानें !! इसलिये ही मानसमें कहा है 'जीव कि ईस समान' । अद्वैती भी नहीं कहते कि जीव वाच्यांशमें ईश्वर हो सकेगा । वह ब्रह्मरूप है ही—'ब्रह्मविद् ब्रह्म एव भवति ।'

अज्ञानरूपी आवरणका नाश करना जीवके हाथमें नहीं है । जैसे कोशकीटक (बेरकी झाड़पर कोश बनानेवाला एक कीड़ा) स्वयं ही उस कोशरूपी आवरणको बनाकर अपनी ही करनीसे उस कोशमें बन्द होकर मर जाता है, वैसे ही जीव भी अपना ही बनाया हुआ अज्ञानावरण स्वयं नहीं हटा सकता । सद्‌गुरु भगवान्‌की ही कृपासे अज्ञान दूर होता है ।

श्रीचक्रजी—'जो मायाको, ईश्वरको और अपने आपको जान ले वह क्या जीव नहीं रह जायगा ? इस ज्ञानके द्वारा ही क्या उसका जीवत्व समाप्त हो जायगा ?' विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय जीवको नित्य मानता है । जीवका जीवत्व इस मतमें कभी समाप्त नहीं होता । वह भगवद्भक्ति करके भगवद्धाम पा सकता है । द्वैतमत भी जीवको नित्य मानता है किन्तु जीवके अज्ञानको नित्य नहीं मानता ।

यही रूप सच्चिदानन्दका भी है। जब दोनोंका रूप सत् है तो दोनोंका संबंध भी अनादिकालसे सत् ही है—उस संबंधका बर्ताव तो परमात्मा अपनी ओरसे यथोचित नित्य करता ही है, पर मायामें पड़कर जीव अपने सम्बन्ध और भावको सर्वथा भूल गया है। उसी संबंध और भावके प्रकाशके निमित्त दोनोंका यथार्थ स्वरूप कहते हैं।

(ख) जिसके कारण दोनोंमें भेद पड़ गया वह माया है। माया, ईश्वर और अपने स्वरूपको यदि जीव जानता तो इस दीन दशाको न पहुँचता—अतः अब 'जीव' नाम होनेका कारण कहा कि जो तीनोंको न जाने वह जीव कहलाता है।

नोट—२ 'माया ईस न···' इति। जीव मायामें पड़ा हुआ असमर्थ है, वह कदापि नहीं जान सकता। वह मायाको नहीं जानता, यथा 'जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा। ७.७२.१।', ईश्वरको नहीं जानता, यथा 'तव माया बस फिरउँ भुलाना। ताते मैं नहिं प्रभु पहिचाना। ४.२.६।', 'माया बस परिछिन्न जड़ जीव। ७.१११।', 'आनन्दसिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा'। वि० १३६।', 'देखइ खेलइ अहि खेल परिहरि सो प्रभु पहचानई। पितु मातु गुरु स्वामी अपनपौ तिय तनय सेवक सखा। प्रिय लगत जाके प्रेम सो बिनु हेतु हित नहिं तैं लखा।' ( वि० १३५ ) और अपनेको भी नहीं जानता, यथा 'माया बस स्वरूप बिसरायो।······"निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहर्यो। निःकाज राज बिहाय नृप इव स्वप्न कारागृह पर्यो।' ( वि० १३६ )।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—'माया ईस न आपु कहुँ जान'—भाव यह है कि मायाका ज्ञान, ईश्वरका ज्ञान तथा आत्मा (अपने) का ज्ञान ऐसा परस्पर सापेक्ष है कि एकके ज्ञानके लिए शेष दोका ज्ञान अनिवार्य है। क्योंकि ब्रह्म और जीवमें भेद करनेवाली केवल माया ही है। यथा 'मुधा भेद जद्यपि कृत-माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया।' उस मायाकी स्थिति बड़ी ही विचित्र है। वह न सत् है, न असत् है और न सदसत् ही है। वह न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न ही है। न निरवयव है और न सावयव है, वह ब्रह्मात्मैक्यज्ञानसे ही हटायी जा सकती है। यथा 'कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै। तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै॥' वह ( माया ) जिसकी सत्यतासे भासती है, उस मायी ईश्वरका विना निरूपण किये मायाका निरूपण कैसे होगा? अथवा जिस जीवपर उसका अधिकार है, उसके विना निरूपण किये ही माया कैसे जानी जायगी? इसी भाँति जिसका अंश जीव है, उस अंशी ईश्वरका विना निरूपण किये, अथवा जिस मायाने उस अखण्डसे ईश्वरका अंश कल्पित किया है, उसका विना निरूपण किये जीवका निरूपण कैसे होगा? एवम् जिसके कारण ईश्वर मायी है और जिसके अंश होनेसे वह अंशी है, उस माया और जीवके निरूपण विना ईश्वरका निरूपण कैसे होगा? और विना निरूपण किये ज्ञान कैसे होगा? अतः जिसे एकका ज्ञान नहीं है, उसे तीनोंका सम्यक् ज्ञान नहीं है। इसीलिए कहा है—'माया ईस न आपु कहुँ जान' जिसे माया, ईश्वर और अपना ज्ञान नहीं है।

'कहिय सो जीव'—ऐसे अज्ञानी अथवा अल्पज्ञको जीव कहते हैं। अर्थात् अज्ञानका हटना और स्वरूपज्ञानका होना एक वस्तु है। ज्ञान होते ही वह जीव नहीं रह जाता, वह ब्रह्मपदको प्राप्त होता है। यथा 'सोइ जानै जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई। २।१२७।३।' (यह भाव अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार है।)

'बंध-मोच्छप्रद'—मिथ्या ज्ञानकृत जो कर्तृत्वाभिमान है, उसे 'बन्ध' कहते हैं और तत्त्वज्ञानसे जो अज्ञान और उसके कार्य्यका अभाव होता है, उसीको 'मोक्ष' कहते हैं। सो बन्धप्रद ईश्वर है। वही कर्मफल-दाता है। जीव भी अनादि है और उसके कर्म भी अनादि हैं। ये दोनों 'बीजांकुर-न्याय' से अनादि सिद्ध हैं। सदासे ही अङ्कुरका कारण बीज और बीजका कारण अङ्कुर होता चला आया है, इसी भाँति जन्मका कारण पूर्वार्जित कर्म और उसका भी कारण पूर्वजन्म, यह कर्म अनादिकालसे चला आता है। ईश्वर भी

अनादि कालसे तत्-तत् कर्मोंका फल देता चला आता है, इसीसे उसे बन्धप्रद कहते हैं। यथा 'जेहि बाँध्यौ सुर असुर नाग मुनि प्रबल कर्म की डोरी ।' वही ईश्वर मोक्षप्रद भी है, उसकी कृपासे जीव मिथ्याकृत कर्तृत्वादि अभिमानसे छूटता है । यथा 'तुलसिदास यह मोहसृंखला छुटिहैं तुम्हरे छोरे ।', 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ गीता ७।१४ ।' अर्थात् भगवान् कहते हैं कि यह मेरी दैवी गुणमयी माया पार पाने योग्य नहीं है, जो मेरी शरणमें आते हैं, वे ही तर सकते हैं ।

'सर्व पर'—वही ईश्वर सबके परे हैं । सबका उपादान होनेसे प्रकृति सबका कारण है, परन्तु ईश्वर उससे भी परे है । यथा 'प्रकृति पार प्रभु सब उरबासी । ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी ॥', 'जो माया सब जगहिं नचावा । जासु चरित लखि काहु न पावा । सो प्रभु भ्रू बिलास खगराया । नाच नटी इव सहित सहाया ॥'

'माया प्रेरक सीव'—प्रश्न है कि 'ईश्वर जीवहि भेद प्रभु, सकल कहहु समुझाइ ।' सो उसका उत्तर देते हुए जीवका लक्षण कहकर 'शिव' अर्थात् ईश्वरका लक्षण कहते हैं । तद्भवरूपमें शकारका सकार और ह्रस्व† का दीर्घ विकल्प करके होता है । इस भाँति 'शिव' का प्राकृत रूप 'सीव' है । शिव नाम ईश्वरका है।

तात्पर्य यह कि जीव और शिवमें वास्तविक भेद नहीं है । सच्चिदानन्दरूपसे जीव शिवमें अभेद है, पर मायाने कल्पित भेद कर रखा है । व्यवहारकालमें वह भेद सत्य भी है । शिव बन्ध-मोक्षप्रद, सर्वपर, माया प्रेरक और एक है । जीव बद्ध हैं, अभिमानी हैं, मायाके वशमें हैं और अनेक हैं । यथा 'मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान ।', 'ग्यान अखंड एक सीताबर । मायाबस्य जीव सचराचर ॥ जौं सबके रह ज्ञान एकरस । ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस ॥ मायावस्य जीव अभिमानी । ईसबस्य माया गुन खानी ॥ परबस जीव स्वबस भगवंता । जीव अनेक एक श्रीकंता ॥ मुधा भेद जद्यपि कृतमाया । बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया ॥' दो०—'रामचंद्रके भजन बिनु, जो चह पद निर्बान । ज्ञानवंत अपि सो नर, पसु बिनु पूंछ बिषान ॥' ( यह छठे प्रश्न का उत्तर हुआ । )

रा० प्र० श०—१ ईश्वरके सर्व शक्तिमान् होनेसे उसकी माया परम प्रबल है । यथा 'शिव बिरंचि कहँ मोहई को है बपुरा आन' । जब ईश्वर-कोटिवाले मायाके फंदेमें पड़ जाते हैं तब औरोंका कहना ही क्या ? यदि ब्रह्मादिक मायाका स्वरूप जानते तो कदापि उसके भ्रममें न पड़ते, एक बार नहीं बहुधा कामादिके किसी न किसी झकोरेमें आ ही जाते हैं । जब विद्यामायावाले उसके चक्करमें पड़ जाते हैं तब अविद्यामायावाला जीव उसको क्या समझेगा ? २—श्रीभुशुण्डिजी कहते हैं—'नारद भव बिरंचि सनकादी । जे मुनिनायक आतम बादी ॥'—( मीमांसाके दोनों भाग जिनमें पुरुषार्थ मुख्य माना गया है वे सब इनमें आ गए )—ऐसों-ऐसोंको भी कहते हैं कि 'मोह न अंध कीन्ह केहि केही । को जग काम नचाव न जेही ॥ तृष्णा केहि न कीन्ह बौराहा । केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा ।' तात्पर्य यह कि यदि जीव अपने पुरुषार्थवश मायासे बचनेका यत्न करे तब छूटे, नहीं तो 'अधिक अधिक अरुझाई' । ३—जब जीव मायाको नहीं जान सकता तब ईश्वरका जानना तो और कठिन एवं असम्भव है ।

नोट—३ जहाँ कहीं भी जीवका मायाको जानना या उससे तरना लिखा है वह केवल कृपासे ही, साधनसे नहीं । यथा 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई ।···तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन । जानहिं भगत···। २.१२७ ।', 'जानिबो तिहारे हाथ···। वि० २५१ ।' वही बात यहाँ दिखा रहे हैं । यहाँ ज्ञानवैराग्यके उपरान्त साधनकी व्याख्या है।

टिप्पणी—४ 'माया ईश न आपु कहँ जान' के 'जान' शब्दसे साधन वा अपने पुरुषार्थद्वारा जाननेसे तात्पर्य है, कृपासे नहीं । कारण यह कि जो जाननेका यंत्र है—अन्तःकरण—वह भी तो मायाका ही कार्य है । मायाका कार्य्य मायाके कारणको कैसे जान सकता है ? यह बात दूसरी है कि 'सो जानइ जेहि देहु जनाई ।' जिसे प्रभु स्वयं जनावें वही जान सकता है—यह कृपा है, साधन या पुरुषार्थ नहीं । ( वै० ) ।

† 'शषोः सः' २।४३ प्राकृतप्रकाश । सर्वत्र शकार-षकार का सकार होता है ।

टिप्पणी—५ यह निश्चय हुआ कि जीव अपने बलसे न ईश्वरको जान सकता है न मायाको। रहा अपनेको जानना सो वह ऐसे गाढ़ अविद्यारूपी तममें पड़ा है कि ज्ञान-वैराग्य-नेत्र कुछ काम नहीं देते। देखिये जीव तीन प्रकारके कहे गये हैं—'विमुक्त विरत और विषई'। सनकादिक विमुक्त, परीक्षित आदि विरत और संसारी विषयी हैं। वैराग्य साधन अवस्था है और ज्ञान उसका फल है। उसपर कहते हैं—'जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह बस करई'। यह तो वैराग्यवान् ज्ञानियोंकी दशा है और विमुक्तकी दशा कि सनकादिकको क्रोध आ गया। उन्होंने जयविजयको शाप दे दिया—इसीसे कहा है—'हरि इच्छा भावी बलवाना'। विरक्त विरतकी यह दशा है तब विषयी किस लेखेमें?

६—जीवका स्वरूप कहकर उत्तरार्द्धमें ईश्वरका स्वरूप कहा।

पां०—इस दोहेमें अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत तीनों मत घटते हैं। अद्वैत इस प्रकार कि जबतक अपनेको मायाईश (मायाका ईश्वर) नहीं जानता तबतक जीव कहलाता है। जब अपने रूपको पहचान लिया तब बाँधने छोड़नेवाला, सबसे परे और मायाको आज्ञा देनेवाला और सीव अर्थात् मर्य्याद हुआ। द्वैत पक्ष यह है कि मायाको नहीं जाना; अपनेको और ईश्वरको जाना। विशिष्टाद्वैत यह है कि रघुनाथजी लक्ष्मणजीसे कहते हैं कि आप अपनेको मायाईश न जानें, आप अपनेको जीव जानें।

श्रीचक्रजी—पृष्ठ १६६ नोट १ (क) में दिया हुआ पहला अर्थ विशिष्टाद्वैतमतके अनुसार है, दूसरा द्वैतमतके और तीसरा अद्वैतमतके अनुसार है। एक दोहेमें ही सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र बता देनेका यह अद्भुत नमूना है। इतनी संक्षिप्त रीतिसे समस्त दर्शनोंको एक साथ कदाचित् ही कहीं कहा गया हो।

मा० हं०—यह ज्ञानोपदेश अध्यात्ममें अरण्य कांड सर्ग ४ श्लोक १७ से प्रारम्भ होता है। उसमेंकी कठिनता निकालकर उसीके आधारसे बहुत ही सरल शब्दोंमें यह उपदेश गुसाईंजीने अपनी चौपाइयोंमें उतार लिया है। शिक्षककी सच्ची शिक्षणकला यहाँ प्रतीत होती है।

रा० प्र० श०—ईश्वर, जीव और मायाका स्वरूप पूछने और उसके अनुकूल उत्तर मिलनेसे यह निश्चय हो गया कि प्रश्नोत्तर विशिष्टाद्वैत मतके अनुसार है। भक्ति केवल दो ही द्वैत और विशिष्टाद्वैतमें उत्कृष्ट मानी गई है और ज्ञान वैराग्यादि तीनों मतोंमें रूपान्तरसे माने गए हैं। श्रीलक्ष्मणजीका प्रश्न है—'कहहु ज्ञान बिराग अरु माया'। श्रीरामजी क्रमभंग करके उत्तर देते हैं। और मतोंमें ज्ञान और विवेकके स्वरूपमें कुछ भेद नहीं माना गया है। परन्तु अद्वैत मतावलम्बी विवेकको ज्ञानका साधन बतलाते हैं। साधन चतुष्टय जो वेदान्तका है उसमें विवेक, वैराग्य और माया शमादि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता ये ही चारों हैं। विवेकका उत्तर वैराग्य है। जब विवेक वैराग्यादि साधन अवस्थामें ले लिये जावें तो प्रश्न अद्वैत मतानुकूल हो जाता है परन्तु उत्तरमें भक्तिकी श्रेष्ठता होनेसे अद्वैत और मायाका स्वरूप पृथक् बतलानेसे उपर्युक्त दोनों मतोंका निराकरण करके केवल विशिष्टाद्वैत ही सिद्ध होता है।

अ० दी०—ब्रह्म, जीव और माया इन तीनोंका जानना अलख तत्त्व है जो लखनेपर भी अलख हो जाता है। भाव यह है कि हर्ष, विषाद, ज्ञान, अज्ञान, अहंकार, अभिमान ये जीवके धर्म हैं जिनमें फँसे होनेसे मायाकी प्रबलतासे उसका ज्ञान नष्ट हो जाता है और ब्रह्मका ज्ञान अखंड एकरस रहता है; यही जीव और सीवमें भेद है। उत्तरकांडमें भुशुण्डीजीने भी यही उत्तर दिया है।

नोट—४ श्रीलक्ष्मणजीने प्रश्न किया है कि ईश्वर और जीवका भेद कहिये। वह भेद भगवान् श्रीरामजी इस दोहेमें बता रहे हैं। स्मरण रहे कि यहाँ भगवान् यह नहीं कहते कि ईश्वर और जीवमें भेद नहीं है किन्तु भेद स्पष्ट बता रहे हैं। यही 'समन्वय सिद्धान्त' है। नहीं तो वे स्पष्ट कह देते कि तुम भेद पूछते हो पर इन दोनोंमें भेद नहीं है, जो जीव है, वह ही ईश्वर है।

धर्म ते बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना ॥१॥

अर्थ—धर्मसे वैराग्य और योगसे ज्ञान (होता है) और ज्ञान मोक्षका दाता है (ऐसा) वेदोंमें कहा है ।१।

नोट—१ प्र० में यों अर्थ किया है कि 'धर्मसे वैराग्य, वैराग्यसे योग और योगसे ज्ञान०' और लिखा है कि 'विरतिसे योग' का अध्याहार कर लेना चाहिए। अथवा, यों अर्थ करें कि 'धर्मसे और विरतियोगसे ज्ञान होता है' यह कारणमाला अलंकार हुआ। 'ज्ञान मोच्छप्रद', यथा 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' इति श्रुतिः। ( धर्मकी व्याख्या १.४४ में विस्तारसे की गई है। वहाँ देखिये )।

टिप्पणी—१ ज्ञान वैराग्यका स्वरूप कह चुके। अब दोनोंके साधन कहते हैं कि धर्म करनेसे विरति होती है और योगसाधनसे ज्ञान होता है। यथा अध्यात्मे—'वैराग्यं जायते धर्माद्योगाज्ज्ञान समुद्भवः। ज्ञानात्संजायते मोक्षस्ततो मुक्तिर्न संशयः।'

नोट—२ 'धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना।…' इति। संग पाकर जब श्रद्धा मनुष्यके हृदयमें उत्पन्न होती है उस समय पूर्वजन्मार्जित सम्पूर्ण धार्मिक संस्कार जाग उठते हैं। मनुष्य धर्मक्रियामें प्रवृत्त होता है। धीरे-धीरे उसके मंदसंस्कार दबते जाते हैं। वह धर्ममार्गमें अग्रसर होता जाता है। यहाँतक कि धर्मकृत्यको छोड़कर और किसी भी कार्यमें उसको विश्राम नहीं मिलता है। विषयसे उदासीन रहने लगता है। उसके अन्तःकरणमें जो धार्मिक भाव उठा करते हैं उन्हींमें वह निमग्न रहता है। अधिकांश वह अंतर्जगत्‌में ही विचरा करता है। उसे एक ऐसा अवलंब मिल जाता है जिसके सहारे वह इस भयानक जगत्‌में भी निर्भय अर्थात् भयरहित होकर रहता है। कुसंगके प्रभावसे जब मंद संस्कारोंका उदय होता है और उसका चित्त विक्षेपको प्राप्त होता है तब द्वन्द्वसंस्कारोंकी रगड़से विरागकी उत्पत्ति होती है। वैराग्य एक प्रकारकी अग्नि है। जैसे दो लकड़ियोंकी रगड़से अग्नि उत्पन्न होकर दोनों लकड़ियोंको जला देती है, वैसे ही उज्ज्वल और मंद संस्कारोंके मुठभेड़से विरति पैदा होती है और शुभाशुभ कर्मको जला देती है। गोपीचंद, करमैती बाई, सेन्ट फ्रांसीस, सिराजुद्दीन सूफ़ी इसके उदाहरण हैं।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य विषयभोगमें पूर्णरूपसे लिप्त रहता है। एकाएक ऐसी घटना उपस्थित हो जाती है कि अत्यन्त ग्लानि, खेद, निर्वेदके संचारसे धार्मिक संस्कार जागृत हो जाते हैं। वह मनुष्य गहरी नींदमें सोते हुए प्राणीकी तरह एकाएक जाग उठता है। दृश्य बदल जाते हैं। कायापलट हो जाती है।…राजर्षि भर्तृहरि, बल्खबुखारेके बादशाह इबराहीम अदहम, गोस्वामी तुलसीदास, बिल्वमंगल सूरदास, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, वंशीवट वृंदावनमें वंशीधर सुखमाधामके दर्शन होनेपर मेहरुन्निसा बेगम, खानख़ाना, पंडितराज उमापति तिवारीजी ( जब वे विंध्याचल कालीखोहके मार्गसे जा रहे थे एक पत्र पड़ा मिलनेपर ) इत्यादि इसके उदाहरण हैं। ☞ सारांश यह हुआ कि किसी कारण विशेषसे लौकिक सामग्रीको लेते हुए जब धार्मिक संस्कार उदय होता है तब आपसे आप विराग उत्पन्न हो जाता है। ☞ परन्तु मानसमें इसकी योजना किस प्रकार होती है अर्थात् क्योंकर धर्मसे विराग उत्पन्न होता है—इस बातके लिये हमें अपने अन्तःकरणमें प्रवेश करना होगा…। ( तु० प० वर्ष २ अंक ७ )।

वि० त्रि०—१ ( क ) 'धर्म ते बिरति'—जो जगत्‌की स्थितिका कारण है ( 'धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः' ) तथा प्राणियोंकी उन्नति और मोक्षका हेतु है ( 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' ) एवं कल्याणार्थ भी ब्राह्मणादि वर्णाश्रमावलम्बियोंसे जिसका अनुष्ठान किया जाता है ( 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' ) उसे धर्म कहते हैं। वेदने दो प्रकारके धर्म बतलाये हैं—एक प्रवृत्तिलक्षण और दूसरा निवृत्तिलक्षण। ज्ञान वैराग्य जिसका लक्षण है, उसे निवृत्तिलक्षण धर्म कहते हैं, जो साक्षात् कल्याणका हेतु है। वर्ण और आश्रमको लक्ष्य करके जो सांसारिक उन्नतिके लिए कहा गया है, वह प्रवृत्तिलक्षण धर्म है। यद्यपि वह स्वर्गादि फलोंके लिए किया जाता है, फिर भी ईश्वरार्पण बुद्धिसे, फलकामनारहित होकर किये जानेपर अन्तःकरणशुद्धिका कारण हो जाता है। विशुद्धान्तःकरण पुरुषके लिए ज्ञाननिष्ठाके योग्यता सम्पादनद्वारा, ज्ञानोत्पत्तिका कारण होनेसे, वह मोक्षका हेतु भी होता है। इसीको कर्मयोग कहते हैं। यथा 'गुर सुर संत

पितर महिदेवा । करइ सदा नृप सबकै सेवा ॥ भूपधरम जे वेद बखाने । सकल करइ सादर सुख माने ॥··· वासुदेव अर्पित नृप ग्यानी ॥' इस प्रकार धर्माचरणसे वैराग्य होता है। उसकी उत्पत्ति इस विधिसे होती है कि शास्त्रविधिके अनुसार, फलकी कांक्षा न रखते हुए, कर्तव्यबुद्धिसे आनन्दपूर्वक जप, तप, व्रत, यम, नियमादि वेद-विहित शुभ धर्मोंका श्रद्धापूर्वक आचरण करे और वे भावहत न होने पायें*। तब परमधर्म अहिंसा का उदय होता है, उसे वशीकृत निर्मल मनद्वारा विश्वाससे दृढ़ करे। उस अहिंसाका विषयवासनात्याग, क्षमा, तोष और धृतिसे भी योग हो। जब ऐसी स्थिति हो जाय, तब मुदिता तथा इन्द्रियदमनपूर्वक सत्योक्ति ( वेद ) के अनुसार विचार करे। फिर निर्मल, पवित्र विरागका उदय होता है। यथा 'सात्विक श्रद्धा धेनु सोहाई। जौ हरिकृपा हृदय बस आई ॥ जप तप व्रत यमनियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धरम अचारा ॥ तेइ तृन हरित चरइ जब गाई। भाव-बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई ॥ नोइनिवृत्ति पात्रविश्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा । परम धरममय पय दुहि भाई। औटइ अनल अकाम बनाई ॥ तोष मरुत तब छमा जुड़ावै। धृति सम जावन देइ जमावै ॥ मुदिता मथै विचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी ॥ तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। विमल विराग सुभग सुपुनीता ॥ ७।११७।'

प० प० प्र०—१ 'धर्म ते बिरति···' इति। ( क ) यहाँ केवल यह कह दिया है कि धर्मसे वैराग्य होता है। धर्म और उसके प्राप्तिके साधन उत्तरकांड ज्ञानदीपकमें कहे गये हैं। जप, तप, व्रत, यम, नियम, दान, दया, दम, तीर्थाटन आदि वेदविहित शुभ कर्म ही यहाँ 'धर्म' से अभिप्रेत हैं। ( ७।४६।१-२, ७।११७। १०, ७।१२६।४-६ )। अयोध्याकांड अथसे इतितक राजा, प्रजा, पुत्र, पत्नी, इत्यादि विविध धर्मोंका आदर्श बताता है। सात्विक श्रद्धापूर्वक धर्माचरण करनेसे क्रमशः भाव, निवृत्ति, संतचरणोंमें विश्वास, मनकी निर्मलता, परमधर्म अहिंसा, निष्कामता, क्षमा, संतोष, धृति, मुदिता, विवेक आदि ( जो ज्ञानदीपकमें कहे गये हैं ) की प्राप्ति होनेपर 'बिमल बिराग सुभग सुपुनीता' का लाभ होगा। अपर वैराग्यकी प्राप्ति होगी। ( ख ) यद्यपि लक्ष्मणजीके पूछनेपर कि विराग क्या है भगवान्‌ने 'परम बिरागी' का ही लक्षण कहा है तथापि यहाँ 'बिरति' का अर्थ 'परम वैराग्य' नहीं करना चाहिए। यह अपर वैराग्य है। अभी 'तीनि अवस्था तीन गुन' निकाले नहीं गए हैं। व्यतिरेक ज्ञानके पश्चात् ही 'परम वैराग्य' की प्राप्ति होती है।

वि० त्रि०—'योग ते ज्ञाना'—वैराग्यसे सत् लक्ष्यपर चित्तके स्थिर करनेके अभ्याससे चित्तवृत्तिका निरोध होता है। उसीको योग कहते हैं। योगीका कर्म अशुक्ल कृष्ण होता है। तब ममतामलके दूर होनेसे वही वैराग्य परमवैराग्यमें परिणत होता है। वह ज्ञान वैराग्य ही है। उसीसे धर्ममेघसमाधि होती है।† धर्ममेघ समाधिमें परोक्ष ज्ञान होता है यही तत्पदका शोधन है। तत्पश्चात् सबमें ब्रह्म दृष्टि दृढ़ करे।

* 'तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः स्वाभाविको ज्ञान विधिर्न कल्कः। प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्कः सर्वाणि भावोपहतानि कल्कः ॥' अर्थात् तप करना पाप नहीं और न वेद पढ़ना ही पाप है। स्वाभाविक ज्ञानकी विधि भी पाप नहीं है। हठ करके धन छीन लेना भी पाप नहीं है। परन्तु भावोपहत हो जानेसे ये सब पाप हैं। भाव यह कि दम्भके लिए तप करना, दूसरेको जीतनेके लिये वेद पढ़ना, बुरी नीयतसे देखना, सुनना और धनके मालिकके भलेके लिए नहीं, वरन् अपने स्वार्थके लिए धन छीन लेना पाप है, क्योंकि ऐसा करनेमें भाव बिगड़ जाता है।

† 'ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैक गोचरम् निवातदीपवधितं समाधिरभिधीयते।', 'धर्म मेघमिमं प्राहुः समाधिर्योगवित्तमाः। वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः।' ( पं० द० ) अर्थात् ध्याता और ध्यानको छोड़कर जब चित्तका विषय केवल ध्यान रह जाता है और चित्त वातरहित स्थानके दीपकी लौकी भाँति निश्चल हो जाता है, तब ऐसी समाधिको धर्ममेघ कहते हैं। इससे धर्म लक्षण सहस्रों अमृतधाराकी वर्षा होती है।

तब जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओंमें क्रमशः वैषयिक ज्ञान, उसके संस्कार और अज्ञानको दूर करे, तब तुरीय अवस्थाकी प्राप्ति होती है। इसे त्वंपदका शोधन कहते हैं।

सो त्वंपदके लक्ष्यार्थको तत्पदके लक्ष्यार्थमें‡ लीन करके सानन्द समाधिमें स्थित हो यही अपरोक्ष ज्ञान है। यथा 'जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ। बुद्धि सिरावै ग्यानघृत ममता मल जरि जाइ॥ तब बिज्ञानरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ। चित्त दिया भरि धरइ दृढ़ समता दियट बनाइ॥ तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास ते काढ़ि। तूल तूरीय सँवारि पुनि बाती करइ सुगाढ़ि॥ एहि बिधि लेसै दीप तेजरासि बिज्ञानमय। जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब॥ ७.११७॥'

प० प० प्र०—'जोग ते ज्ञाना' इति। (क) योग, यथा—योऽपानप्राण योरैक्य स्वरजो रेतसोस्तथा। सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः (योगशिखा १.६)', 'एवं तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते', 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' (पा० यो०), 'योगः समाधिः'। योगके अनेक प्रकार हैं। जैसे—कर्मयोग, भक्तियोग, सांख्ययोग, हठयोग, मंत्रयोग, लययोग, राजयोग (ज्ञानयोग)। 'धर्म ते बिरति' से कर्मयोग बताया है। 'भक्तियोग' का निरूपण आगे होनेवाला है। केवल हठयोगसे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती है—'योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि' ( यो० त० उप० )। मंत्रयोगका अन्तर्भाव भक्तियोगमें ही होता है—'मंत्रजाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन'। लययोगका कार्य केवल तत्त्वोंका, कार्यका कारणमें लय करना है। यह स्वतंत्र योग नहीं है। इससे यहाँ 'योग' का अर्थ ज्ञानयोग (सांख्ययोग) ('ज्ञानयोगस्तु सांख्यानाम्।' भ० गी० ) ही लेना पड़ेगा। उत्तरकांडके ज्ञानदीपक प्रकरणमें विराग-प्राप्तिके पश्चात् तुरन्त ही योगका निरूपण आरम्भ किया है। 'सोऽहमस्मि' इस वृत्तिका अखंड रखना, इसमें मुख्य साधन है। यह केवल राजयोगका ही कार्य कहा गया है, इससे इस स्थानमें विस्तार करना अप्रासंगिक होगा। हठयोग, मंत्रयोग, लययोग और राजयोग, इन चारोंका, जिस एक ही योगमें अन्तर्भाव होता है ऐसे एक योगका 'योगशिखोपनिषद्' में निरूपण मिलता है। उसको 'महायोग' या 'सिद्धयोग' कहते हैं। हिंदीमें महायोगपर 'महायोग विज्ञान', 'योगवाणी' ये सुन्दर ग्रंथ हैं। अङ्गरेजीमें 'दैवात्म शक्ति कुण्डलिनी', मराठी में 'षट्चक्रदर्शन और भेदन' और 'देवयान पन्थ' इत्यादि हैं पर केवल महायोगका ही उनमें (मराठी ग्रंथोंमें) निरूपण नहीं है। (सूचना)—आजकलके लोगोंकी देह ही हठयोगका अभ्यास करने योग्य नहीं होती है। जिनमें सत्वगुणका विकास नहीं हुआ है उनकी कुण्डलिनी जागृत और क्रियाशील कर देने को 'लेड बीटर' अपने 'The chakras' इस ग्रंथमें मना करते हैं और वह यथार्थ ही है।

वि० त्रि०—'ज्ञान मोक्षप्रद'—भाव यह है कि तब अखण्ड 'सोहमस्मि' वृत्तिका उदय होता है। उससे आत्मानुभव सुख होता है, भेदभ्रम जाता रहता है, मोहादि दूर होते हैं। तब चिज्जड़ग्रन्थि खुल जाती है और जीवका मोक्ष हो जाता है। यही ज्ञानयोग है। यथा 'सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा।''''जो निर्विघ्नपंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥ अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥ ७।११८।१-११९।३।'

'बेद बखाना' इति। वेदने स्वयम् ज्ञानका बखान किया है। यथा 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।', 'ज्ञानादेव हि कैवल्यम्।' बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती। उसे जाननेसे ही मृत्युका अतिक्रमण किया जा सकता है, मुक्तिके लिए दूसरा मार्ग नहीं है। ज्ञानसे ही कैवल्यकी प्राप्ति होती है, इत्यादि। भाव यह है कि मोक्षका साक्षात् कारण ज्ञान है। अन्य मोक्षप्रद साधन ज्ञानद्वारा ही मोक्ष देते हैं। काशी मोक्ष देती है, क्योंकि ज्ञानखानि है, भक्ति मुक्ति देती है क्योंकि ज्ञान-विज्ञान उसके अधीन हैं।

‡ त्वंपदका वाच्यार्थ लक्ष्यार्थ कूटस्थ ( तुरीय ) एवम् तत्पद का वाच्यार्थ ईश्वर और लक्ष्यार्थ शुद्ध चेतन ब्रह्म है।

पं० श्रीकान्तशरणजी—'प्रथम सरस' ज्ञानप्रसंग कह चुके हैं। बीचमें ईश्वर-जीवका भेद कहकर यहाँपर फिर कैवल्यपरक ज्ञानका प्रसंग है। इसीसे इसे पृथक् कहते हैं। यह ज्ञान वही है जिसे उ० ११७ में दीपक रूपमें कहा गया है। यहाँके सब अङ्ग वहाँसे मिलते हैं—जैसे कि 'सात्विक श्रद्धा' पूर्वक जप तप आदि कहते हुए 'परम धर्ममय पय दुहि भाई।' तक धर्म कहा गया है। फिर आगे 'बिराग सुभग सुपुनीता' तक धर्मका फलरूप वैराग्य कहा है। पुनः 'योग अगिनि करि' में योग कहा गया है, तब विज्ञान आदि अङ्ग कहते हुए 'जौं निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई।' यह फल कहा है। वैसे ही यहाँ भी धर्मसे वैराग्य, योगसे ज्ञान और तब, 'ज्ञान मोच्छप्रद वेद बखाना।' कहा गया है। फिर उसे जैसे वहाँ भक्तिकी अपेक्षा सविघ्न अल्प-फल-प्रद आदि कहा है, वैसे आगे यहाँ भी कहते हैं। यह ज्ञान योगशास्त्रका है, इसे रुक्ष ज्ञान भी कहते हैं। इसीके प्रति कहा गया है—'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भगति न आदरी। उ० १३।', 'जोगु कुजोगु ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम···। २।२९१।'

**जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई ॥२॥**

शब्दार्थ—'द्रवउँ'=पिघलता, पसीजता हूँ अर्थात् प्रसन्न होता हूँ।

अर्थ—हे भाई! जिससे मैं शीघ्र प्रसन्न होता हूँ वह मेरी भक्ति है जो भक्तोंको सुख देनेवाली है।२।

टिप्पणी—१ 'जाते बेगि द्रवौं०' इति। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान आदि साधनोंसे दीर्घकालमें कुछ होता है जैसे कि श्रीमद्भगवद्गीता आदिमें कहा गया है। यथा 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम्। गीता ६।४४।' 'बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सदुर्लभः। गीता ७।१९।', 'वासुदेवे भगवद्भक्तियोगः प्रयोजितः जनयत्याशुवैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्। भा० १।२।७।' वहाँ वह कठिनता और यहाँ यह सुगमता कि 'बेगि द्रवउँ'। तात्पर्य्य कि 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम', 'सकृत प्रनाम किये अपनाये', 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्मकोटि अघ नासहिं तबहीं।', 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः। ९।३०। क्षिप्रं भवति धर्मात्मा···। (गीता)।' [ अर्थात् अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यभाक् (केवल मेरे भजनको ही अपना एकमात्र प्रयोजन समझनेवाला) होकर मुझे भजता है तो वह साधु ही माना जाने योग्य है, क्योंकि उसका निश्चय परम समीचीन है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है ], 'करउँ सद्य तेहि साधु समाना।' इत्यादि प्रमाणोंसे सिद्ध है कि भक्तिके अतिरिक्त और किसीमें यह सुगमता नहीं है। भक्तिसे तत्काल सम्मुख आते ही, द्रवित हो जाते हैं, यह 'बेगि' से जनाया। सदाचारी हो या दुराचारी, स्त्री हो या पुरुष, किसी भी जातिका हो वा वर्णबाह्य हो, कोई भी हो, भक्ति करे तो द्रवित अवश्य होते हैं।

वि० त्रि०—१ (क) 'भाई'—यहाँ 'भाई' सम्बोधनका भाव यह है कि तुम हमारे स्वभावसे परिचित हो, यहाँ मैं अपना स्वभाव कहता हूँ। अथवा भाई होनेसे तुम्हारा मुझमें प्रेम स्वाभाविक और प्रेमका ही मार्ग सुलभ और सुखद है, उसीका मैं निरूपण करूँगा। यथा 'सुलभ सुखद मारग यह भाई। भक्ति मोर पुरान श्रुति गाई॥' अतः भाई सम्बोधन दिया। (ख) 'मैं'—इससे सगुण ब्रह्म अभिप्रेत है, क्योंकि एकरस निर्विकार निर्गुण ब्रह्ममें द्रवना सम्भव नहीं और यहाँ उसीका प्रसंग है। सगुण ब्रह्मके अवतारोंमें भी रामावतार प्रमुख है, क्योंकि उसकी विशेषता कही गयी है। अध्यात्मरामायण कहता है कि सत्वनिधि श्रीहरिके बहुतसे अवतार हैं, उनमेंसे जगद्विख्यात् रामावतार सहस्रोंके समान है।* 'विनय' में ग्रन्थकार भी कहते हैं—'एकइ दानि सिरोमनि सांचो। हरिहु और अवतार आपने राखी वेद बड़ाई! लै चिउरा निधि दई सुदामहि जद्यपि बाल-मिताई॥' (ग) 'जाते बेगि द्रवउँ'—भाव यह है कि अन्य साधनोंसे भी मैं

* अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्वनिधेर्द्विजाः। तेषां सहस्रसदृशो रामो नाम जनैः श्रुतः।'

द्रवीभूत होता है, परन्तु शीघ्र नहीं, क्योंकि उनमें साधकको अपने बलका भरोसा रहता है। उन्हें भगवान्ने प्रौढ़ तनय माना है, परन्तु अमानी दासको शिशु बालक माना है, जिसे अपना भरोसा कुछ नहीं, सर्वात्मना माँका भरोसा है। यथा—'मोरे प्रौढ़ तनयसम ज्ञानी। बालक सिसुसम दास अमानी॥' भगवान् भी बीत-चिन्त रहते हैं कि यह प्रौढ़ तनय है, यह काम-क्रोधादि शत्रुका सामना कर लेगा। परन्तु अमानी दासकी सदा रखवारी करते हैं। यथा 'गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखै जननी अरगाई॥' तहाँ मानना पड़ेगा कि भगवान्के शीघ्र द्रवीभूत होनेके भी कारण हैं। दूसरी बात यह है कि निर्गुणकी उपासना-में अधिक क्लेश है। देहाभिमानियोंकी गति अव्यक्तमें बड़ी कठिनतासे होती है। सर्वकर्मोंका संन्यास करके गुरुके पास जाने और वहाँ वेदान्त-वाक्योंका विचार करने तथा उन विचारोंसे अनेक प्रकारके भ्रमों को दूर करनेमें महान् प्रयास करना पड़ता है। सगुणोपासनामें कोई प्रतिबन्ध नहीं है, उसमें गुरुके पास जाकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन नहीं करना है। उसे ईश्वरकी कृपासे स्वयम् तत्त्वज्ञानका उदय होता है और वह ब्रह्मलोकके ऐश्वर्य्यको भोगकर कैवल्य प्राप्त करता है। गीतामें भगवान्ने कहा है कि 'हे पार्थ! जो सब कर्मोंको मुझे अर्पण करके, मुझमें लग जाते हैं और अनन्ययोगसे मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, ऐसे मुझमें चित्त लगाने वालोंको मैं शीघ्र ही संसार सागरसे पार कर देता हूँ।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि कभी वह करुणावरुणालय भक्तोंपर द्रवीभूत होकर पूतिदुर्गन्धि-युक्त संसारमें भी अवतीर्ण होता है। कभी राजा बन्दियोंपर करुणा करके कारागारके निरीक्षणके लिए वहाँ पदार्पण करता है। यदि कभी ईश्वर अवतीर्ण ही न हो, तो उसके होनेका प्रमाण ही क्या है? उस अवतीर्ण रूपके भजनकी बड़ी ही महत्ता है, क्योंकि वह अवतार उस विश्वरूप भगवान्की द्रवीभूत मूर्ति है; उसे कृपा करते देर नहीं लगती।

(घ) 'सो मम भगति'—भक्ति 'प्रेम' को कहते हैं। वही प्रेम यदि छोटोंपर हो तो 'वात्सल्य', बराबर वालेपर हो तो मैत्री, सौहार्द या सख्य और बड़ोंके प्रति हो तो 'भक्ति' कहलाता है। वही प्रेम यदि सांसा-रिक पुरुषोंपर हो तो बन्धका कारण होता है और वही यदि ईश्वरके चरणोंमें हो तो भवबन्धनसे मुक्ति देता है। यथा 'जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कर ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥ समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहि मन माँहीं॥ अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥' इसी (भक्ति) से भगवान् शीघ्र ही द्रवीभूत होते हैं। द्रवीभूत होनेका प्रारम्भ तो जीवके ईश्वरके प्रति अनुकूल होते ही हो जाता है। यथा 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥' बिना करुणानिधानके प्रति अनुकूल हुए तो सब साधन ही निष्फल हैं। यथा 'जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम-प्रेम परधानू॥' निरुपास्तिज्ञान भी टिकाऊ नहीं होता, क्योंकि भक्ति † ही योग और ज्ञानके भी विघ्नोंको दूर करनेवाली है। भक्तिके साथ होनेसे करुणानिधानकी करुणा बनी रहती है और उसीसे सिद्धि होती है। परन्तु उसमें देर लगती है, कारण कि भक्तिके साथ अन्य साधनोंका मिश्रण रहता है। शुद्ध भक्ति होनेसे भगवान्की पूर्ण करुणामें देर नहीं लगती। यथा 'रामहि केवल प्रेम पियारा।', 'रीझत राम सनेह निसोते।', 'जौं जप जाग जोग व्रत बर्जित, केवल प्रेम न चहते। तौ कत सुर मुनिवर बिहाइ, व्रज-गोप-गेह बसि रहते!'

(ङ) 'भगत सुखदाई'—भाव यह है कि दुखदाई पदार्थोंको हटाकर ही भक्ति भगवतीका पदर्पण होता है। जननी, जनक, बन्धु, सुत, दारा आदि नश्वर पदार्थोंमें ममता रहना ही दुखदाई है। सो भक्ति करनेमें इनसे मनोवृत्तिको हटाकर तब भगवान्के चरणोंमें लगायी जाती है। जबतक इनमें प्रेम है तबतक

---

† 'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (योग० १ पाद, २९ सू०) अर्थात् भक्तिसे प्रत्यक्-चेतनका ज्ञान और विघ्नोंका नाश भी होता है।

भक्ति कहाँ ? और जब अविनाशी भगवान्के चरणोंमें मन लगा तब सुख ही सुख है। स्वयं भगवती भास्वती भक्तिमें ही ऐसा सामर्थ्य है कि भक्तके सन्निकट विपत्तिको फटकने नहीं देती। यथा 'मन क्रम बचन चरनरति होई। सपनेहु बिपति कि बूझिय सोई।' यदि भक्तमें त्रुटि है तभी विपत्तिका आगमन होता है। भुशुण्डिजीने कहा है—'हारेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयेउँ अबहिं की नाईं।।' भक्तिके सामने दूसरोंकी कौन कहे, स्वयम् मायाका बल नहीं चलता, क्योंकि भक्ति भगवान्को प्यारी है। यथा 'सो रघुबीरहिं भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी।। भगतिहिं सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया।।' भुशुण्डिजी कहते हैं कि भक्तिको छोड़कर सुख पानेका दूसरा उपाय ही नहीं है। यथा 'श्रुति पुरान सद्ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।। कमठपीठ जामहिं बरु बारा। बंध्यासुत बरु काहुहिं मारा।। फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला। जीव न लह सुख हरिप्रतिकूला।। तृषा जाइ बरु मृगजलपाना। बरु जामहिं सससीस बिषाना।। अंधकार बरु रबिहिं नसावै। रामबिमुख न जीव सुख पावै।। हिमते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई।।'

प० प० प्र०—'जाते बेगि द्रवउँ मैं ···' इति। ( क ) प्रश्न था 'कहहु सो भगति करहु जेहि दाया' और उत्तर है—'जाते मैं बेगि द्रवउँ···सो मम भगति भगत सुखदाई'। यहाँ मानो 'करहु जेहि दाया' की व्याख्या ही की गयी है। 'अन्तःकरणका शीघ्र पिघल जाना' ( द्रवित होना ) दयाका चिह्न है। जब किसीका प्रेम देखकर अन्तःकरण द्रवित होता है तब इससे उसके दुःख, दैन्य, भय इत्यादि दूर करनेका प्रयत्न किये बिना रहा ही नहीं जाता है। वह सब अपने हृदयकी शान्तिके लिये ही करता है। तथापि मनुष्यादि प्राणी अल्पशक्तिमान्, अल्पैश्वर्यवान् होनेसे किसीके भी दुःख शोक भयादिका पूर्ण विनाश करके पूर्ण अनुपम, अपार सुख देनेमें समर्थ नहीं होते हैं। ईश्वर, भगवान्, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वैश्वर्य सम्पन्न और मायाके प्रेरक होनेसे ऐसा सुख दे सकता है, पर जब इनका हृदय द्रवित हो जाता है तब। और श्रीरामजीके हृदयको द्रवीभूत करनेकी शक्ति केवल भक्तिमें ही है। ( ख ) यहाँतक चार प्रश्नोंके विवरणमें श्रीरामजी अपना परमात्मत्व छिपाकर ही उत्तर देते आये हैं। 'मम माया' 'मम प्रेरित' ऐसा प्रयोग नहीं किया है। पर 'बेगि द्रवउँ' इन शब्दोंका उच्चार होते ही वे ऐसे द्रवित हो गये कि अपना दशरथनन्दनत्व भूल ही गये। उन्होंने अपना परमात्मत्व 'मम भक्ति' 'मैं द्रवउँ' कहकर प्रकट ही कर दिया। आगे भी इस प्रकरणकी समाप्तितक इसी भगवद्भावसे ही कहते हैं। यथा 'ममधर्म', 'मम लीला रति', 'मोहि कहँ जानें', 'मम गुन', 'मोरि गति', 'करउँ सदा बिश्राम' इत्यादि। बलिहारी है भक्तिकी! ( ग ) जहाँ प्रेम उमड़ आता है वहाँ दुराव रखना असंभव हो जाता है। उत्तरकांडके पुरजन-गीतामें भी ऐसा ही हुआ है। देखिये उत्तरकांड ४३-२ से ४६ तक। वहाँ 'अनुग्रह' शब्द मुखसे निकलनेकी ही देर थी कि 'मेरो' शब्द आ गया। इस उत्तरमें 'बेगि' शब्दसे बताया कि भक्तपर दया करनेमें भगवान्से जरासी भी देर नहीं होती है, एक क्षणकी भी देरी नहीं लगती है। वे दौड़ते ही आते हैं, गरुड़की राह नहीं देखते हैं, खगराजकी गति भी उस समय अति मंद मालूम होती है। भाव यह कि भगवान् भक्ति-परवश हैं। ( घ ) ज्ञानके वर्णनमें केवल 'मोच्छप्रद' इतना ही कहा और यहाँ भक्तिको 'सुखदाई' कहा, इससे स्पष्ट हुआ कि केवल ज्ञान सुखदायक नहीं है, यथा—'तथा मोच्छसुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभक्ति बिहाई।७.११९।'

टिप्पणी—२ 'सुखदाई' का भाव कि ज्ञानसाधनमें दुःख है, यथा 'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका।। करत कष्ट बहु पावै कोई' और यहाँ 'कहहु भगतिपथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा।।····।७.४६।' पुनः ज्ञानकी कठिनता, यथा 'कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक। होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक।७.११८। ज्ञानपंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा।। जौं निर्बिघ्न पंथ निरबहई। सो कैवल्य परमपद लहई।। अति दुर्लभ कैवल्य परमपद। संत पुरान निगम आगम बद।। राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं।।

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई । कोटि भाँति कोउ करइ उपाई ॥ तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई । रहि न सकइ हरि भगति बिहाई ॥'

सो सुतंत्र अवलंब न आना । तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना ॥३॥

अर्थ—वह स्वतन्त्र है । उसको दूसरेका अवलंब नहीं है । ज्ञान और विज्ञान उसके अधीन हैं, अर्थात् उन्हें भक्तिका अवलंब लेना पड़ता है ॥ ३ ॥

"सो स्वतंत्र अवलंब न आना ।···" इति ।

रा० प्र० श०—इस चौपाईमें भक्तिकी उत्कृष्टता और ज्ञानादिकी न्यूनता फिर कही । अर्थात् भक्ति स्वतंत्र है, ज्ञान आदि परतंत्र हैं । स्वतंत्र और परतंत्रका भेद कौन नहीं जानता ? यह कहकर फिर कहते हैं 'भक्ति तात अनुपम सुखमूला' । देखिए यह श्रीलक्ष्मणजीका चौथा प्रश्न था पर प्रभु उसका उत्तर सबके अन्तमें देते हैं—इससे भी ज्ञात होता है कि इससे बढ़कर और कुछ भी नहीं है । अर्थात् यह अन्तिम उपदेश है । स्वतंत्रका भाव कि प्रभुकी प्राप्ति करानेमें स्वतंत्र है, ज्ञान आदिकी सहायताकी जरूरत नहीं, उनका अवलंब लेना नहीं पड़ता । यह 'अवलंब न आना' से जना दिया । यथा 'भगति अवसहि बस करी' भक्तिसे भगवान् स्वयं भक्तोंके वश हो जाते हैं ।

पु० रा० कु०—'तेहि आधीन' अर्थात् वह ज्ञान विज्ञानके अधीन नहीं है, वरन् ज्ञान विज्ञान उसके अधीन हैं ।

रा० प०—भाव यह कि जैसे स्त्रीको अपने पतिसे मिलानेमें दूतीका प्रयोजन नहीं और बिंब प्रतिबिंबके बीचमें किसीकी अपेक्षा नहीं, वैसे ही भक्ति और भगवन्तके बीचमें किसी दूसरे साधनकी अपेक्षा नहीं । ( कारण कि भक्ति भगवानका रूप ही है—'भक्ति भक्त भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक' । वह कभी पृथक् नहीं ) ।

खर्रा—वैराग्य धर्मसे और ज्ञान योगसे होता है । भक्ति स्वतः उत्पन्न होती है पर साधन करनेसे और भी दृढ़ होती है—'भक्त्या संजायते भक्तिः ।' यह कृपासाध्य है ।

वि० त्रि०—१ ( क ) 'सो सुतंत्र—जो परमुखापेक्षी न हो, वही स्वतंत्र है । कर्म और ज्ञान स्वतन्त्र नहीं हैं । कर्म ( यज्ञ-यागादि ) में अधिकार, द्रव्य-विधान, सामर्थ्य, देश, काल आदिका बड़ा बखेड़ा है, उसकी सिद्धि इनके अधीन है, फिर भी यदि उसमें भक्तिका पुट न रहा, तो उससे संसार ही दृढ़ होता चला जाता है, इसीलिए श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—'सो सब करम धरम जरि जाऊ । जहँ न रामपद पंकज भाऊ ॥ करतउ सुकृत न पाप सिराहीं । रक्तबीज इव बाढ़त जाहीं ॥' ज्ञान भी स्वतन्त्र नहीं है । ऊपर कह आये हैं कि ज्ञानदीपके प्रज्वलित करने—तत्पदके और त्वंपदके शोधन तथा एकीकरणमें कितने ही साधनोंकी अनिवार्य्य आवश्यकता है । सब कुछ होनेपर भी आत्मानुभव-प्रकाशमें तथा चित्जडग्रन्थिके छोड़नेमें अचिन्त्य बाधाएँ आ पड़ती हैं । यथा "छोरत ग्रंथि जानि खगराया । विघ्न अनेक करै तब माया ॥ रिद्धि सिद्धि प्रेरै बहु भाई । बुद्धिहि लोभ दिखावै आई ॥ कलबल छल करि जाइ समीपा । अंचल बात बुझावइ दीपा ॥ जो तेहि बुद्धि विघ्न नहिं बाधी । तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी ॥ इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना । तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना ॥ आवत देखहिं विषय-बयारी । तब हठि देहिं कपाट उघारी ॥ जब सो प्रभंजन उरगृह जाईं । तबहिं दीप बिज्ञान बुझाई ॥ ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा । बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा ॥ विषय-समीर बुद्धिकृत भोरी । एहि बिधि दीप को बार बहोरी ॥ तब फिरि जीव बिबिध बिधि पावइ संसृतिक्लेस । हरिमाया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेस ॥' यदि ज्ञान सिद्ध हो, तो भी भक्तिका आदर वहाँ भी अनिवार्य्य है, नहीं तो निरुपास्ति ज्ञानसे साधकका पतन होता है । यथा 'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भगति न आदरी । ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी ।' ( ख ) 'अवलंब न आना'—भक्तिके

स्वातन्त्र्यका कारण कहते हैं कि उसे दूसरेका अवलम्ब नहीं है, वह कर्म ( यज्ञयागादि ) और ज्ञानकी सुखापेक्षी नहीं है । यह बात नहीं है कि बिना यज्ञ किये भक्ति होती ही नहीं । यहाँपर ग्रन्थकार कहते हैं—'कौन सो सोमयाजी अजामिल रह्यौ कौन गजराज रह्यौ वाजपेयी ।' अर्थात् ये आर्तभक्त बिना यज्ञ-यागादिके ही कल्याण-भाजन हुए । और यह बात भी नहीं कि बिना ज्ञानके भक्ति न हो । किरातोंको कौन बड़ा ज्ञान था ? यथा किरात-वचन प्रभु के प्रति—'कीन्ह बास भल ठाँउ बिचारी । इहाँ सकल रितु रहब सुखारी ॥ हम सब भाँति करब सेवकाई । करि केहरि अहि बाघ बराई ॥ बन बेहड़ गिरिकंदर खोहा । सब हमार प्रभु पगपग जोहा ॥ जहँ तहँ तुम्हहिं अहेर खेलाउब । सर निर्झर जल ठाउँ देखाउब ॥ हम सेवक परिवार समेता । नाथ न सकुचब आयसु देता ॥ बेदबचन मुनिमन अगम ते प्रभु करुनाऐन । बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन ॥' इसीलिए भक्तिको स्वतंत्र कहा । भक्तिविशेषसे चाहे हुए भगवान् भक्तके अभिमुख होते हैं और इच्छामात्रसे उसके अभीष्ट-प्रदानपूर्वक उसपर अनुग्रह करते हैं । ईश्वरकी इच्छामात्रसे उस भक्त योगी को शीघ्रसे शीघ्र समाधिकी प्राप्ति होती है और समाधिका फल भी होता है । भगवत्स्मरणसे भक्तको रोगादि विघ्न भी नहीं होते और स्वरूप-दर्शन भी उसे होता है † अतः भक्तिकी उपमा चिन्तामणि से दी । जिस प्रकार चिन्तामणिका प्रकाश स्वाभाविक है, दीपके प्रकाशकी तरह आगन्तुक नहीं, उसी प्रकार भक्तिमें स्वात्मानुभव-प्रकाश स्वाभाविक है । जिस भाँति चिन्तामणिसे सब सुखोंका लाभ होता है उसी भाँति भक्तिसे भी सर्वाभीष्टकी सिद्धि होती है । अतः भक्ति स्वतः सब कुछ करनेमें समर्थ है । यथा 'रामभगति चिन्तामनि सुंदर । बसइ गरुड़ जाके उर अंतर ॥ परमप्रकासरूप दिनराती । नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती ॥ मोह दरिद्र निकट नहिं आवा । लोभ बात नहिं ताहि बुझावा ॥ प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई । हारहिं सकल सलभ समुदाई ॥ खल कामादि निकट नहिं जाहीं । बसइ भगति जाके उर माहीं ॥ गरल सुधासम अरि हित होई । तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई ॥ ब्यापहिं मानस रोग न भारी । जिन्हके बस सब जीव दुखारी ॥ रामभगति मनि उर बस जाके । दुख लवलेस न सपनेहु ताके ॥ चतुरसिरोमनि तेइ जगमाहीं । जे मनि लागि सु जतन कराहीं ॥'

प० प० प्र०—१ ( शंका )—यहाँ कहा कि भक्ति 'स्वतंत्र' है, उसे दूसरेका अवलम्ब नहीं; और आगे कहते हैं कि भक्तिके साधन कहता हूँ । यह पूर्वापर विरोध है । इस कथनसे तो यह सिद्ध होता है कि भक्ति भी साधनाधीन है ? ( समाधान )—अगली चौपाइयोंको विवेकपूर्वक देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिके जो साधन बताए हैं वह भी भक्ति ही हैं, अन्य कुछ नहीं । भक्तिका अर्थ ही है 'अति प्रीति', 'अनुराग', 'अति प्रेम' । 'सा पराऽनुरक्ति ईश्वरे' यह ईश्वरभक्तिकी व्याख्या है । अति प्रीति, निरति, अनुराग, दृढ़ भजन और दृढ़ सेवा, ये शब्द क्रमशः प्रत्येक साधनके साथ प्रयुक्त हुए हैं ।

२ 'ज्ञान बिज्ञान' अर्थात् व्यतिरेक ज्ञान और अन्वय ज्ञानकी प्राप्ति भी बिना भक्तिके न होगी । गीतामें भी कहा है कि 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' ( गीता १३।१० ), यह लक्षण ज्ञानके लक्षणोंमें होना चाहिए । भगवान्की उपासनाके बिना चित्तके विक्षेप न मिटेंगे ।

वि० त्रि०—'तेहि आधीन ज्ञान-बिग्याना'—ऊपर दिखलाया जा चुका है कि ज्ञान बिरागकी स्थिति बिना भक्तिके नहीं होती । श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें ज्ञान-विरागके भक्तिके अधीन होनेका बड़ा सुन्दर उपाख्यान है । वृन्दावनमें एक युवती सुन्दरी रुदन करती थी और दो वृद्ध पुरुष मृत्युशय्यापर पड़े ऊर्ध्वश्वास ले रहे थे । नारदजीके पूछनेपर मालूम हुआ कि वह युवती भक्ति है और दोनों चेतनारहित पुरुष ज्ञान-विराग उसके पुत्र हैं । वृन्दावनमें आने से भक्ति तो वृद्धासे तरुणी हो गयी, पर उसके पुत्रोंका कोई उपकार

†—'प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिधानमात्रेण । तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः समाधिफलं च भवति' ( यो० भा० १।२३ ) । 'ये तावदन्तराया व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति । स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति' ( यो० भा० १।२९ ) ।

न हुआ। अन्तमें नारद भगवान्‌के उद्योगसे भागवतकी कथा हुई और उससे ज्ञान-विराग भी स्वस्थ हो गए। तात्पर्यार्थ यही है कि भक्ति से ही ज्ञान-वैराग्य उत्पन्न होते हैं तथा उसकी कृपा से ही वे स्वास्थ्यलाभ करते हैं। जिसे भक्ति होती है, उसे ज्ञान-वैराग्य स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं। यथा 'सब सुखखानि भगति तैं मांगी। नहिं जग कोउ तोहिं सम बड़भागी॥ जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं॥ रीझिउँ देखि तोरि चतुराई। मागेहु भगति मोहिं अति भाई॥ सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरे। सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरे॥ भगति ग्यान बिग्यान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा॥ जानब तैं सब ही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा॥'

श्रीचक्रजी—भक्ति स्वयं साधन एवं साध्यरूप है। ज्ञान-विज्ञान उसके वशमें हैं। यथा 'वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः। जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्। भा० १।२।७।', 'भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्। भा० ११।२।४२।' अर्थात् भगवान् वासुदेवमें भक्तियोग करनेपर वह वैराग्य तथा अहैतुक ज्ञानको उत्पन्न करता है। जैसे भोजन करते समय भोजनके प्रत्येक ग्रासके साथ चित्तका सन्तोष, शरीरका पोषण और भूखकी निवृत्ति ये तीनों काम एक साथ तत्काल होते हैं, वैसे ही भगवान्‌की शरण लेनेपर भगवान्‌की भक्ति, परमात्मतत्त्वका ज्ञान तथा सांसारिक विषयोंसे वैराग्य ये तीनों बातें साथ ही होती हैं। ज्ञान = आत्मतत्त्वका सामान्य बौद्धिक ज्ञान। विज्ञान = अपरोक्षानुभव। भक्तिके बिना अपरोक्षानुभव तो होगा ही नहीं, परोक्षज्ञान भी नहीं होगा; क्योंकि उसके लिये भी बुद्धिमें धारणा-शक्ति अपेक्षित है, जो उपासनासे ही उपलब्ध होती है।

पं० श्रीकान्तशरणजी—"ज्ञानमें धर्म और योगके सहायक होनेकी जैसी आवश्यकता हुई, वैसी आवश्यकता भक्तिमें नहीं पड़ती। इसमें धर्मका कार्य नवधासे और योगका कार्य प्रेमासे (अपनेसे) ही हो जाता है। भक्तिमें ज्ञान-विज्ञानकी अधीनता यों है कि सरस ज्ञान दो प्रकारके हैं—एक साधनरूप और दूसरा फलरूप। साधनरूप ज्ञान गीता १८।५०-५३ में कहा गया। उसके फलरूपमें पराभक्ति वहींपर आगे ५४ वें श्लोकमें कही गई है। उसी ज्ञानकी अधीनता यहाँपर समझनी चाहिए। फलरूप ज्ञान वही है जो ऊपर 'ज्ञान मान जहँ...' में भक्तिसे अभेद कहा गया है। कैवल्यपरक ज्ञानकी अधीनता इस प्रकार है कि उसका फल भक्तिमें अनायास ही आ जाता है, यथा 'राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं। ७.११६।' विज्ञान उस ज्ञानकी छठी भूमिकामें ही आ गया है, तो उसकी अधीनता आ ही गई। पुनः सरसविज्ञानकी अधीनता, यथा 'ज्ञानिहुँ ते अति प्रिय बिज्ञानी।···तिन्ह ते पुनि मोहिं प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा। ७.८६।' विज्ञान गुणातीत अवस्थाको भी कहा गया—उ० दो० ११० देखिए। वह दशा भक्तिसे सहज ही आ जाती है; यथा 'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते। (गीता १४।२६)।'

**भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥४॥**
**भगति कि साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥५॥**

अर्थ—हे तात! भक्ति अनुपम (उपमारहित) और सुखकी जड़ है। यदि संत प्रसन्न हों तो वह प्राप्त हो जाती है॥४॥ मैं भक्तिके साधन विस्तारसे वर्णन करता हूँ जिस सुगम मार्गसे मनुष्य मुझे पाते हैं॥५॥

नोट—१ 'अनुपम सुखमूला'। उपमारहित है अर्थात् प्रभुकी प्रीति एवं प्राप्ति या कैवल्यपदकी प्राप्तिमें कोई साधन इस योग्य नहीं जिससे इसकी उपमा दी जाय और अनुपम सुखकी उपजानेवाली है, यथा 'ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह। ७.८५।' ब्रह्मसुखसे इसका सुख अधिक है तभी तो कहा है—'सोई सुख लवलेस जासु जिन्ह सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति। ७.८८।' और

'वरवस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा । १.२१६ ।' ( ख ) प्र०-कार इसे भक्तिका विशेषण मानकर यह अर्थ कहते हैं कि अनुपम सुखमूला भक्ति अर्थात् पराभक्ति संतकृपासे मिलती है। पराभक्तिकी प्राप्ति संतद्वारा कही और साधारण भक्तिकी प्राप्तिके नव साधन कहे। ( प्र० )।

टिप्पणी—१ (क) श्रीलक्ष्मणजीने ज्ञान, वैराग्य, माया और भक्ति पूछी। प्रभुने माया, ज्ञान और वैराग्य कहे, ज्ञान वैराग्यके साधन कहे, अब भक्ति और भक्तिके साधन कहते हैं। भक्ति अनुपम है तो उसकी प्राप्ति बड़ी कठिन होगी, उसपर कहते हैं कि 'मिलइ जो संत होइँ अनुकूला' अर्थात् इसका एक यही साधन है, यथा 'अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। रामभगति तेहि सुलभ बिहंगा'। संत सहज ही प्रसन्न हो जाते हैं क्योंकि वे 'सरल चित जगतहित' होते हैं। 'परउपकार वचन मन काया' यह उनका सहज स्वभाव है। 'सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी' अर्थात् भक्तिमार्ग सुगम है, ज्ञानमार्ग अगम्य है। क्या पंथ है सो भी बताया कि सन्तोंकी प्रसन्नतामात्रसे यह प्राप्त हो जाती है। अब और भी बताते हैं।

प० प० प्र०—१ 'तात' इति। पन्द्रहवें दोहे की चौपाइयोंमें श्रीरामजी लक्ष्मणजीको 'तात' 'भाई' 'सुनहु तुम्ह' 'तात' ऐसा चार वार संबोधित किया है; किन्तु यहाँसे आगे सात चौपाइयोंमें एक वार भी ऐसा संबोधन नहीं आया है। यह भी साभिप्राय है। इससे कवि जनाते हैं कि भक्तिके निरूपणमें श्रीरामजी इतने तदाकार हो गए हैं कि 'लक्ष्मण सामने बैठे हैं' वे यह भी भूल गए।

२ 'अनुपम सुखमूला' का भाव कि साधारण वृक्षको मूल और जल दोनोंकी आवश्यकता होती है। विना इनके वृक्ष सूख जाता है। वैसे ही अनुपम सुखरूपी वृक्षका मूल भक्ति है। भक्तिमें सदा रसमयता भरी रहती है क्योंकि यह स्वतंत्र है अतः सुखरूपी वृक्ष हरा-भरा रहता है, उसको किसी अन्य जलकी आवश्यकता नहीं। भक्तिसे जो सुख मिलता है उसकी तुलनामें मोक्षसुख नहीं टिक सकता।

वि० त्रि०—१ (क) 'तात'—प्रश्न हुआ था कि 'कहहु सो भगति करहु जेहि दाया', उत्तर हो रहा है—'जाते बेगि द्रवौं मैं भाई।' यहाँ भी प्रश्नसे उत्तरमें विशेषता है, अतः प्यारके शब्द 'तात' से सम्बोधन करते हैं। ऊपर भी ऐसा ही हो चुका है। पूछा था 'सकल कहहु समुझाइ', उत्तर हुआ—'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात।' प्रश्न बिरागके विषयमें हुआ, उत्तर मिला—'सुनहु तात सो परम बिरागी'। अतः निष्कर्ष यही निकला कि जहाँ प्रश्नसे उत्तरमें कुछ विशेष वात प्यारके कारण कहनी है, वहाँ 'तात' शब्दसे संबोधन करते हैं। (ख) 'भगति अनुपम सुखमूला'—भक्तिके तीन विभाग हैं—(१) साधन, (२) भाव और (३) प्रेम। जो करनेसे हो और उसके कारण नित्य सिद्धभावका हृदयमें आविर्भाव हो, उसे साधनभक्ति कहते हैं। द्रवीभूत चित्त-वृत्तिमें जब रामरङ्ग चढ़ जाता है, तब उसे भावभक्ति कहते हैं। जब श्रीरामचरणमें क्षण-क्षण अविच्छिन्न आसक्ति बढ़ती चले, गुणोंकी कामना न रहे, ऐसे परमानन्द शान्तिमय अनुभवरूप निरोधको प्रेमाभक्ति कहते हैं। (१) साधनभक्ति, यथा 'भगति के साधन कहौं बखानी।' (२) भाव भक्ति, यथा 'सुनि मुनिबचन राम मुसुकाने। भाव भगति आनंद अघाने।' ( ३ ) प्रेमाभक्ति यथा 'अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई।' जो भक्ति सदा बनी ही रहे, जिसमें कभी व्यवधान पड़े ही नहीं, जिसमें अन्तरायका होना सम्भव ही नहीं वही अनुपम है। कर्म तो ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि उसका स्वरूप ही त्याग-ग्रहणात्मक है। ज्ञान भी जीवमें एकरस नहीं रह सकता। यथा "जौं सब के रह ज्ञान एकरस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस।" परन्तु भक्ति ऐसी है, जिसमें अन्तराय सम्भव नहीं। उसीको अविरल, अनपायिनी, सिद्धा, अनन्या आदि अनेक नामोंसे कहते हैं। उसपर मायाका भी बल नहीं चलता, अतः वह अनूप है, सुखमूल है। यथा 'रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकै कछु निज प्रभुताई॥ अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जाचहिं भगति सकल सुखखानी॥'

(ग) 'मिलइ'—भाव यह है कि वह कृपासाध्य है, क्रियासाध्य नहीं। अपने पुरुषार्थसे उसे कोई नहीं प्राप्त कर सकता, वह भगवानके अनुग्रहसे ही मिलती है। यथा 'अबिरल भगति बिशुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभुप्रसाद कोउ पाव॥' (घ) 'जो संत होइँ अनुकूला'—भाव यह है कि प्रभुप्रसादसे ही वह मिलती है, चाहे साक्षात् प्रभु द्वारा मिले, चाहे उनके अपररूप सन्तों द्वारा प्राप्त हो। विशुद्ध सन्तका समागम भी बिना प्रभुकी कृपाके सम्भव नहीं है। यथा 'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥' जिसके अङ्ग-अङ्गके प्रति वेदोंने लोकोंकी कल्पना की है, उस प्रभुका दर्शन दुर्लभ है। स्वयं भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन! तुमने मेरे जिस सुदुर्दर्श रूपका दर्शन किया है, उसके दर्शनके लिए देवता भी सदा लालायित रहते हैं। वेदसे, तपसे, दानसे या यज्ञसे कोई मेरा दर्शन इस भाँति नहीं पा सकता, जिस भाँति तुमने पाया है। केवल अनन्यभक्तिसे ही भक्त मुझे इस प्रकारसे जान सकता है, देख सकता है और मेरेमें प्रवेश कर सकता है।' सो विश्वरूप भगवान् समुद्र हैं, सबकी इनतक गति नहीं, यह पुरुषार्थ मेघरूपी सन्तोंमें ही है कि भगवान्की ही मङ्गलमयी मधुर मनोहर मूर्ति भक्तिको लाकर मिला दें। आनन्दकन्द भगवान् चन्दनके वृक्ष हैं, पर सर्पादि विघ्नबाहुल्यसे कोई चन्दनवृक्षतक जा नहीं सकता। पर वह सामर्थ्य सन्तरूपी मरुतमें ही है कि उसकी आनन्दमयी विभूति भक्तिको लाकर पुरुषार्थ-हीन प्राणीसे मिला दे। इसलिए कहते हैं कि 'मिलइ जो संत होहिं अनुकूला।' यथा 'राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥ सबकर फल हरिभगति सोहाई। सो बिनु संत न काहू पाई॥ अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। रामभगति तेहि सुलभ बिहंगा॥' ( यह पाँचवें प्रश्नका उत्तर समाप्त हुआ। अब प्रथम प्रश्नका उत्तर कहते हैं )।

रा० प्र० श०—(क) प्रथम कहा कि 'मिलइ जो संत होइँ अनुकूला' और फिर कहा कि 'भगति के साधन कहौं बखानी'। भाव यह कि शीघ्रतर भक्ति प्राप्त होनेका उपाय सतसंग है; पर जो गाढ़तर उनके विधि-निषेधके झगड़ोंमें पड़े हुए हैं, उनके ( अर्थात् जगत्मात्रके ) हितार्थ और भी सुगम उपाय बताते हैं। (ख) प्रथम उपायमें किसी साधनकी अपेक्षा नहीं, केवल सन्तकृपासे प्राप्य बताया। यदि उसमें प्रश्न किया जाय कि 'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता', तो उसका उत्तर है कि उसमें भी किसी साधनकी अपेक्षा नहीं। 'मिलहिं' शब्द स्वयं ही इस बातका प्रमाण है; अर्थात् वे स्वयं प्राप्त हो जाते हैं, जब भगवत्कृपा होती है।

प० प० प्र०—१ 'जो संत होइँ अनुकूला' इति। ( क ) अर्थात् भक्ति संतकृपासाध्य है। इसमें यह अनुक्रम लगता है—'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता', 'पुन्य पुंज बिनु मिलइ न सोई' और 'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।' रामकृपाके बिना संतोंसे मिलना असंभव है और पुण्यपुंजके बिना श्रीरामजीकी कृपा नहीं होती। पुण्य पुंज क्या है यह बताना आवश्यक हुआ। अतः जिस पुण्यके नींवपर यह बड़ा भवन बनाया जाता है उससे ही छठी चौपाईमें साधनभक्तिका निरूपण शुरू होता है। ( ख ) ☞ जैसे मानसमें रुचिर सप्त सोपान हैं, वैसे ही इस भक्ति-प्रसादके सात सोपान हैं। सातो भक्तिमय हैं।

श्रीचक्रजी—सन्त तो सदा सबपर सानुकूल ही रहते हैं, पर उनसे स्वयं अनुकूल होकर उनकी सेवामें लगकर विनम्र भावसे मिला जाय तो भक्ति मिलेगी। पर प्रश्न यह है कि सन्त मिलें कैसे? उत्तर है 'रामकृपा से'। देवर्षि नारदने भी भक्तिसूत्रमें ये सूत्र दिये हैं—'महत्संगो दुर्लभोऽगम्यो अमोघश्च।', 'लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव।', 'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।' अर्थात् महापुरुषका संग मिलना दुर्लभ है। मिलनेपर भी 'ये संत हैं' ऐसा पहिचानना कठिन है। पहचान हो जाय तो वह व्यर्थ नहीं जाती। पर सन्त ढूँढ़नेसे नहीं मिलते, भगवान्की कृपा होनेपर अधिकारी पुरुषको स्वयं मिल जाते हैं। इसपर प्रश्न होता है कि भगवान्की कृपा तो सबपर समान है, वे अनन्तकृपासागर हैं; तब उनकी कृपाका क्या अर्थ? ( उत्तर— ) उनकी कृपा तो सबपर है, किन्तु उसका लाभ अधिकारी पुरुष ही उठा पाते हैं। जैसे सूर्यका प्रकाश सब पत्थरोंपर समानरूप से पड़ता है, किन्तु अग्नि तो आग्नेय शीशेसे ही उस प्रकाशसे प्रकट होती है। इसी प्रकार अधिकारीको सन्त

मिल जाते हैं। यह अधिकार कैसे मिलता है, इसका उत्तर मानसमें ही है—'पुन्यपुंज' से, और 'पुन्य एक⋯'। अतएव भक्तिके साधनोंमें सबसे पहला कार्य 'विप्र चरन⋯' यह बतलाते हैं।

प० प० प्र०—१ (क) 'कहउँ बखानी' इति। प्रथम चार प्रश्नोंका विवरण ८ चौपाइयों और एक दोहेमें हुआ है। इस तरह कि आठ चौपाइयोंमें क्रमशः उपक्रम, अविद्याका लक्षण, मायाका सामान्य लक्षण, मायाके भेद, अविद्याका कार्य और प्रताप, विद्याका स्वरूप और कार्य, ज्ञान तथा वैराग्य कहा है, आधे दोहेमें जीवका और आधेमें ईश्वरका लक्षण कहा है। इतना संक्षेप किया है। और, भक्तिके साधनोंके प्रतिपादनमें ही पाँच चौपाइयाँ लगा दी हैं। संपूर्ण भक्ति प्रश्नके निरूपणमें ११ चौपाइयाँ और एक दोहा है। इतना विस्तार! इससे सिद्ध है कि भगवान् और कवि दोनोंको भक्ति अत्यन्त प्रिय है। जिस विषयपर किसीका अतिशय प्रेम होता है, उसको कहते या लिखते समय उसका अधिक विस्तार अनिच्छासे ही (विना चाहे ही) हो जाता है। वैसा ही यहाँ हुआ।

'सुगम पंथ', यथा 'सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥', 'कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न जप तप मख उपवासा। ७.४६।' भागवत आदिमें भी यही नगाड़ा बज रहा है, यथा 'विप्राद्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखात् श्वपचो वरिष्ठः।', 'नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेन च। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।'

वि० त्रि०—२ 'भगति के साधन'—अविरल भक्तिका प्रसङ्ग समाप्त हुआ। अब जो पहले प्रश्न किया था कि 'मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरनरज सेवा', उसका उत्तर आरम्भ होता है। भाव यह कि जिस साधनसे सुख, सम्पत्ति, परिवार और बड़ाई आदिका परित्याग करके सेवकाईमें जीव प्रवृत्त होता है, उसका वर्णन किया जा रहा है, वे ही भक्तिके साधन हैं। ईश्वरके अस्तित्वका ज्ञान मनुष्यमें स्वाभाविक है, वह छोटे-छोटे बच्चोंमें भी पाया जाता है। निरीश्वरवाद अस्वाभाविक है, बड़ी कठिनतासे गले उतरता है, फिर भी 'ईश्वर नहीं है' ऐसा अभ्रान्त ज्ञान तो किसीको होता ही नहीं। उसके विना जाने भी ईश्वरके अस्तित्वकी धारणा छिपी-छिपायी कहीं न कहीं, उसके हृदयमें पड़ी रहती है। तब ईश्वरकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना उसके लिए स्वाभाविक है। फिर भी मनुष्य जो ईश्वरकी भक्ति नहीं करता, उसका कारण यह है कि सुख, सम्पत्ति, परिवार, बड़ाई आदि इसके बाधक हैं। इन बाधकोंको दूर करनेसे हृदयमें स्वतः भक्तिका सञ्चार हो उठता है। यथा 'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥ ये सब रामभगति के बाधक। कहहिं संत तव पद आराधक॥ अब प्रभु कृपा करहु एहि भांती। सब तजि भजन करौं दिनराती॥'

वि० त्रि०—३ (क) 'कहउँ बखानी'—भाव कि समझाकर कहता हूँ, क्योंकि प्रार्थना ही ऐसी है कि 'मोहि समुझाइ कहौ सोइ देवा'। साधनके वर्णनमें कुछ विस्तार करना ही पड़ता है। साधन अनेक होते हैं और उसमें पूर्वापरका क्रम होता है। इनमें उलटफेर होनेसे सिद्धिमें कठिनाई होती है और ठीक क्रमसे चलनेमें सुगमता होती है और सिद्धि भी शीघ्र होती है। दूसरी बात यह है कि ज्ञानपन्थकी भाँति यह अकथ कहानी नहीं है, जो न समझते ही बने, न बखानते ही बने। यथा 'सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनै न जात बखानी॥' (ख)—'सुगम पंथ'—जिस मार्गसे चलनेमें विघ्नबाधा न हो, आयास न हो, वही सुगम पंथ है। इस पंथपर चलनेवालेकी स्वयं रखवारी भगवान् करते हैं, अतः उसे विघ्नबाधा दबा नहीं सकती और उसमें योग, जप, तप, व्रत, उपवासादि कष्टका अनुष्ठान नहीं है, आपसे आप समाधि सिद्ध होती है। भक्तियोगके पथिकको भगवान्‌के सहारे पारका प्राप्त करना कठिन नहीं होता। यथा 'ज्ञान-पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥', 'कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक। होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक। ७।११८।', 'सीम कि चांपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू।', 'सुमिरत हरिहि साप गति बाधी।', 'कहहु भगति पथ कौन प्रयासा। जोग न जप तप मख उपवासा।',

बानी । मज्जन बिमल मन लागि समाधी ॥' ( ग )—'मोहिं पावहिं प्रानी'—एक, व्यापक, अविनाशी, अविकारी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म सबके हृदयमें विद्यमान है, पर उसकी प्राप्ति तो नहीं होती, यदि प्राप्ति होती तो जीव दीन-दुखारी न होते। काष्ठमें अग्नि तो अव्यक्त रूपसे व्याप्त है, पर मनसे काष्ठ और अग्निको पृथक करनेसे अग्निकी प्राप्ति नहीं होती। उसकी प्राप्ति तब होगी. जब यत्नसे उस अव्यक्त अग्निको व्यक्त-रूपमें लाया जाय। इसी भाँति अव्यक्त ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, स्वयं हृदयमें विराजमान है, पर प्राप्ति उसकी नहीं होती। जब भक्तिद्वारा उसे व्यक्त रूप (सगुण रूप) में लाया जाय, तब उसकी प्राप्ति होती है। हीरेमें मूल्य है पर हीरेसे स्वयं तो कोई काम नहीं चलता, जब यत्न किया जाय, तब उसकी प्राप्ति भी हो सकती है और उससे काम भी चल सकता है।

**प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती ॥ ६ ॥**

अर्थ—पहले तो ब्राह्मणोंके चरणोंमें अत्यन्त प्रीति करे और वेदकी रीतिके अनुसार अपने अपने कर्ममें लगा रहे ॥ ६ ॥

"प्रथमहि विप्रचरन अति प्रीती"

गौड़जी—यहाँ भगवान्ने 'विप्रचरनमें अतिप्रीती' पहली शर्त रखी है। अन्यत्र भी कहा है 'सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता। पूजिय बिप्र सीलगुन हीना। सूद्र न गुनगन-ग्यान प्रबीना ॥' गोस्वामीजी वन्दनामें भी कहते हैं 'बंदउँ प्रथम महीसुर चरना। मोहजनित संसय सब हरना। और फिर अन्यत्र भी 'सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी', 'बिप्र जेंवाइ देहिं बहु दाना', 'बिप्र धेनु हित संकट सहहीं' इस प्रकारके प्रसंगोंसे कुछ विचारक गोस्वामीजीपर ब्राह्मणोंके अनुचित पक्षपातका दोष लगाते हैं।

गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' बात लिखी है। पुराणोंमें, रामायणमें और महाभारतमें तो 'विप्रों' का यत्र-तत्र महत्व है ही। श्रुतियोंमें भी 'विप्र' शब्द ऋषियोंके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। ऋषियों और विद्वानोंको पूज्य तो आर्य्य-समाज और जाति पाँति तोड़कमंडलतक मानता है। 'विप्र' यहाँ आस्तिक विद्वान् ब्राह्मणके ही अर्थमें आया है जो मोह-जनित सब संशय हरनेवाले हैं। नास्तिक विद्वानों वा अविद्वानोंके अर्थमें नहीं प्रयुक्त हुआ है जो ब्राह्मण बनते हैं। साथ ही यहाँ 'जन्मना' ब्राह्मणकी चर्चा है, जो कर्मणा भी ब्राह्मण हो। जो केवल कर्मणाके आधारपर ब्राह्मण बने उसकी चर्चा नहीं है। यह बात कलियुगके प्रसंगमें कहे 'बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृपली स्वामी' से स्पष्ट हो जाती है। तात्पर्य यह कि विप्र होकर निरक्षर नहीं होना चाहिए, विद्वान् होना चाहिये। लोलुप नहीं होना चाहिये, संतोषी होना चाहिए। कामी नहीं होना चाहिये, ब्रह्मचर्य्यपरायण होना चाहिये, निराचार नहीं होना चाहिये, सदाचारयुक्त होना चाहिए, शठ नहीं होना चाहिये, साधु होना चाहिये। वृषलीपति नहीं होना चाहिये, शुद्ध विवाह-संस्कारयुक्ता पतिपरायणा साध्वी स्त्रीका पति होना चाहिये। तात्पर्य यह कि विप्रको संस्कार-युक्त होना चाहिये और कुलवन्तीका पति होना चाहिये। कलियुगके वर्णनके व्याजसे मानसकारने साफ बता दिया कि वह 'विप्र' किसे कहते हैं। 'विप्र' वह विद्वान् जन्मना ब्राह्मण है जो सन्तोषी हो, ब्रह्मचारी हो, आचारयुक्त हो, साधु हो और यदि गृहस्थ हो तो संस्कारयुक्ता सदाचारिणी ब्राह्मणी कुलवतीका पति हो। न तो आजकलके ब्राह्मण बननेवाले नास्तिकोंपर यह परिभाषा घटती है और न निरक्षर शठ, आचार-हीन धनलोलुप व्यभिचारियोंपर यह परिभाषा घटती है जो ब्राह्मणका नाम बदनाम करते हैं। 'पूजिय बिप्र सील गुनहीना। सूद्र न गुनगन ग्यान प्रबीना।' परन्तु तो भी यदि उक्त परिभाषाकी शर्तोंमेंसे आचारहीन ( शीलहीन ) शम दम तपस आदि गुणरहित ( गुणहीन ) भी ब्राह्मण हो, तब भी पूजा योग्य जन्मना ब्राह्मण ही होगा। ब्राह्मणोचित गुण, विद्या और चातुरी रखनेवाला शूद्र पूजा योग्य नहीं है। जिस तरह दुनियाँ की अदालतमें एक नालायक वकील भी मुकदमोंकी पैरवी कर सकेगा परन्तु बड़ा चतुर और विद्वान् भी हो तो भी जिसके पास सनद नहीं है वह पैरवी करनेका अधिकारी नहीं है। जीवात्माका जन्म भिन्न वर्णों और

परिस्थितियोंमें कर्मानुसार होता है। जो ब्राह्मण होकर जन्मा उसे मानो विधाताने कर्मकी परीक्षामें पास कर लेनेपर पूज्यताकी सनद दे दी है। इसी लिये शूद्रमें योग्यता कितनी ही हो परन्तु वह इसी जन्मकी अर्जित है, पूर्वकी नहीं, इसी लिये उसको पूज्यताकी सनद प्राप्त नहीं है, वह पुजेगा नहीं।

भक्तिमें विप्रचरणमें अतिप्रीतिकी शर्त्त जरूरी है। विप्रके चरणोंमें अतिप्रीति न होगी तो 'मोह जनित संशय' नष्ट न होंगे। आस्तिकता न आवेगी, निज निज वर्णाश्रम धर्म्ममें निरत न होगा और सबसे बड़ी बात यह है कि श्रुतिकी रीतिसे अपने धर्म्ममें निरत न होगा। इस मार्गपर चलनेवाला मोहजन्य संशय हरनेवाला तो विप्र ही होगा। जब इस तरह गुरुके आदेशसे अपने अपने धर्म्मका पालन कर चुकेगा, तब विषयोंसे वैराग्य होगा। गुरुविप्रचरणमें अतिप्रीति करके जब सदुपदेश ग्रहण और अभ्यास करेगा तब उसका फल होगा विषयोंसे वैराग्य। विषयोंसे वैराग्य होनेपर भगवद्धर्म्ममें अनुराग उपजेगा। इसी लिये विप्र, संत, गुरुचरणोंमें अतिप्रीति पहली शर्त्त रखी गयी है।

यहाँ ब्राह्मणोंसे पक्षपातकी कोई बात नहीं है। यहाँ तो प्राचीन हिन्दूसंस्कृतिके अनुकूल वर्णाश्रम धर्म और वैदिक रीतिके प्रतिपादनके साथ ही भक्ति बतलायी गयी है। हिन्दूकी भक्ति इसी प्रकारकी हो सकती है।

२—वैष्णवरत्न श्री १०८ रूपकलाजीका सत्संग इसी विषयपर कुछ वर्ष हुए हुआ। वे फ़र्माते थे कि हमारे शास्त्रोंके अनुसार पूर्व जन्मोंमें किए हुए कुछ कर्मोंके भोगके लिए उनके अनुकूल, कुल, जाति, संग इत्यादि प्राणीको प्राप्त होते हैं। पूर्व कर्म्मोंके फलसे यदि किसीको ब्राह्मकुलमें जन्म मिला तो और तीनों वर्णोंसे वह पूजनीय है चाहे उसके कर्म, धर्म, आचरण इस जन्ममें कैसे ही क्यों न हों। हमारा धर्म है उसको पूजना, हमको अपना धर्म करना चाहिए; उसका धर्म वह जाने। हम अपने कर्मका फल पावेंगे, वह अपने कर्मका फल पावेगा। हमारा धर्म यह नहीं है कि उसमें ऐब निकालें और अपना धर्म छोड़ दें।

प० प० प्र०—३ 'विप्रचरन अति प्रीती' इति। (क) यह प्रेमाभक्तिप्राप्तिकी प्रथम भूमिका है। 'चरन' शब्द देकर सेवा सूचित की। अत्यन्त प्रेमसे विप्रसेवाका फल अन्यत्र बताया है कि मोहजनित संशय दूर होंगे, समस्त देवताओंसहित भगवान् उसके वश हो जायेंगे। यथा 'बंदउँ प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना। १।२।३।', 'मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव। मोहिं समेत बिरंचि सिव बस ताके सब देव।' इसके समान दूसरा पुण्य नहीं है, यथा 'पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा। ७।४५।७।' (ख) उपर्युक्त उद्धरणोंसे 'अति प्रीति' का अर्थ 'मन कर्म वचन' निष्कपट सिद्ध हुआ। यदि इसमें कसर (न्यूनता) रही तो सब सेवा निष्फल होगी। विप्रचरणोंमें प्रेम होनेसे वह श्रीरामकथा-श्रवणका अधिकारी बनेगा तत्पश्चात् कथाके श्रवणसे मोह नष्ट होकर श्रीराम-चरणमें अनुराग होगा।

४ वि० त्रि०—'प्रथमहि'—(क) भाव यह है कि भक्तिपन्थपर पैर रखनेवालेको पहले साधनभक्तिका अङ्गीकार करना पड़ता है। 'प्रथमहि' कहकर यह दिखलाया कि यहाँ जो कुछ कहा जायगा, उसमें क्रम है। दूसरा, तीसरा कहकर स्पष्ट न गिनानेपर भी क्रम समझ लेना चाहिए। (ख) 'विप्रचरन अतिप्रीती'—विप्र वेदपाठी ब्राह्मणको कहते हैं। ब्राह्मणमें यदि ब्राह्मणोचित गुण न हो, तो भी उसका कर्मठ होना अनिवार्य है। वेदविहीन ब्राह्मण शोच्य हो जाता है। अतः गोस्वामीजीने विप्र शब्दका अधिक प्रयोग किया है, ब्राह्मण शब्दका अतिविरल प्रयोग है। सो पहला साधन यह है कि विप्रके चरणमें अतिप्रीति हो, क्योंकि द्विज-सेव-काई हरितोषण-व्रत है। विप्रके पूजित होनेसे भगवान् तुष्ट होते हैं। इसीलिए वे महिदेव कहलाते हैं। 'अतिप्रीती' कहनेका भाव यह है कि उनसे शापित, ताड़ित तथा अपमानित होनेपर भी क्रोध न करे, उनकी पूजा ही करे, क्योंकि शील-गुणहीन ब्राह्मणके पूजनका विधान है, गुण-ज्ञानप्रवीण शूद्रके पूजनका विधान नहीं है। पूर्वजन्मके कर्मोंसे ही जाति, आयु और भोगकी प्राप्ति होती है। जो रमणीयाचरण हैं, उनको रम-

णीय योनिकी प्राप्ति होती है, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य होते हैं और जो कपूयाचरण ( निन्दिताचरण ) हैं, उनको कपूय (निन्द्य) योनिकी प्राप्ति होती है, वे चाण्डाल या कुत्तेकी योनिको प्राप्त होते हैं। अतः शील-गुण-हीन विप्रकी पूजा वस्तुतः उसके पूर्वजन्मके रमणीयाचरणकी पूजा है, जिसके विपाकसे उसे ब्राह्मण शरीर मिला है और गुणवान प्रवीण शूद्रकी अपूज्यता उसके पूर्वजन्मके कपूयाचरणका परिपाकरूप है। इस जन्म का रमणीयाचरण अभी परिपक्व नहीं है, वह आगामी जन्ममें उसके जाति, आयु और भोगका कारण होगा। अतः जिस भाँति अश्वत्थ तुलसी आदि स्वयं अपने कल्याणसंपादनमें असमर्थ हैं, पर उनके पूजकों का कल्याण होता है, उसी भाँति शीलगुणहीन विप्र अपना कल्याण करनेमें असमर्थ हैं, पर उनके पूजकका कल्याण होता है।

५ श्रीचक्रजी—आक्षेप करनेवाले पूजा तथा आदर जैसे शब्दोंका अर्थतक नहीं समझना चाहते। पूजा और आदर एक बात नहीं है। गुणवान्, विद्वान्, शीलवान् शूद्रका आदर न किया जाय और शीलगुणरहित विप्रका आदर किया जाय यह अर्थ करना तो अनर्थ ही करना है। समाजमें आदर तो शीलवान, गुणवान विद्वानका ही होना चाहिए चाहे वह जिस जातिका हो। लेकिन यहाँ बात है पूजाकी। जो यह नहीं समझता कि हिन्दू-धर्म व्यक्ति-पूजाका समर्थक नहीं, वह अपनी नासमझीसे अटपटे तर्क करता है। शील, गुण, विद्या आदि होना या न होना ये व्यक्तित्वके धर्म हैं। गौ की अपेक्षा अधिक सीधा उपयोगी पशु हो सकता है, पर वह अपवित्र माना जाता है और गौ दूध न दे, मारनेवाली हो, तब भी पूज्य और पवित्र है। इसी प्रकार ब्राह्मण या शूद्रका न तो व्यक्तित्व पूज्य है न अपूज्य। पूजा तो होती है उसके सात्विक देहको प्रतीक बनाकर परमात्माकी। पूजा सात्विक पदार्थ, सात्विक देहके माध्यमसे होनी चाहिए-इसपर हिन्दू धर्मने बहुत अधिक ध्यान दिया है। पाषाणोंमें शालिग्राम और नर्मदेश्वरसे भी मूल्यवान, गुणवान, सुन्दर पाषाण मिल सकते हैं, पर वे पूज्य नहीं, क्योंकि उनमें वह दिव्य भाव नहीं। वृक्ष तो बहुत हैं, बहुत उपयोगी हैं, किन्तु तुलसी और पीपल अपनी सात्विकतासे ही पूज्य हैं। इसी प्रकार विप्र-शरीर पूज्य है क्योंकि पूर्वजन्मके पवित्र कर्मोंके कारण उसे वह सात्विक देह मिला है।

६ पं० रा० कु०—(क) विप्रचरणमें अत्यन्त प्रेम हो यह प्रथम साधन बताया। क्योंकि भक्ति सन्तोंके अधीन है—'मिलइ जो संत होइँ अनुकूला', 'सबकर फल हरिभगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई' ( भुशुण्डिवाक्य ७.१२० )। संतदर्शन विप्रोंके अधीन है, यथा 'पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता' और 'पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपदपूजा'। ( ख ) 'अति प्रीती' का भाव कि ब्राह्मणसे अधिक न बने, न उनकी बराबरी करे, उनका दास बनकर उनकी सेवा करे, तब भक्ति प्राप्त होगी। इसीसे प्रथम विप्रचरणमें अत्यन्त प्रेम करनेको कहा। [ 'विप्रचरणमें अति प्रेम' यह साधन प्रथम कहा, क्योंकि प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं। ( रा० प्र० ) ]। ( ग ) 'निज निज कर्म निरत श्रुति रीती'। श्रुतिके अधिकारी ब्राह्मण हैं। वे श्रुतिकी रीति बतायेंगे।

प० प० प्र०— 'निज निज कर्म निरत श्रुति रीती' इति। ( क ) यह साधन-भक्तिमें दूसरी भूमिका है। यद्यपि यह गीता १८.४५ "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः" का रूपान्तर ही है तथापि इसके 'श्रुति रीती' शब्द अधिक महत्वके हैं। इनसे गीताका अर्थ अधिक स्पष्ट हो गया है। ( ख ) 'निज निजकर्म' क्या हैं? इसका उल्लेख साररूपसे अयोध्याकांडमें 'सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना' १७२ (३) से लेकर 'निज तन पोषक निर्दय भारी' १७३ (३) तक है। इनमें बताया है कि जो यथास्थित कर्म नहीं करता वह शोचनीय है। इसी प्रकार उत्तरकांडमें 'धन्य नारि पतिव्रत अनुसरी। १२७.५।' से लेकर 'धन्य जनम द्विज भगति अभंगा ॥८॥' तक अत्यन्त संक्षेपसे यह बताया है कि निज-निजकर्म करनेवाले धन्य हैं। ( ग ) 'श्रुतिरीती' अर्थात् अपने-अपने वर्ण, जाति, आश्रम भेदके अधिकारानुसार श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त विधिसे अपने-अपने

कर्ममें लगा रहे। 'निरति'=नितरां रति=अति प्रीति। इस शब्दसे जनाया कि अपने-अपने कर्मोंको अति-प्रीतिपूर्वक करे। श्रुति भगवत्-वाक्य है। 'श्रुतिरीती' में यह भाव भी है कि भगवदाज्ञा समझकर इन्हें प्रेमसे करे। (घ) विप्रपदप्रेम कहकर 'निजनिजकर्म...' को कहा क्योंकि विप्र ही वेदों और कर्मोंका मर्म जानते हैं। वे प्रसन्न होंगे तब बतायेंगे।

वि० त्रि०—'निज-निज-कर्मनिरत'—अपने वर्ण और अपने आश्रमके कर्ममें लगा रहे। भाव यह है कि शोक-मोहादि दोषोंसे जिनका चित्त घिरा हुआ है, ऐसे सभी प्राणियों से स्वधर्मका त्याग और निषिद्ध धर्म-का सेवन स्वाभाविक ही होता है। ※ जैसे अर्जुन स्वयं ही पहले क्षात्र-धर्म-रूप युद्धमें प्रवृत्त हुआ था तब भी शोक-मोह द्वारा विवेकज्ञानके दब जानेसे उस युद्धसे उपरत हुआ और दूसरोंके धर्म-भिक्षाचरणमें प्रवृत्त होने लगा। अतः ब्राह्मणमें जो अन्य जातिके कर्म करनेकी प्रवृत्ति देखी जाती है, इसी भाँति संन्यस्तमें जो गृहस्थधर्मकी प्रवृत्ति तथा गृहस्थमें जो संन्यस्तधर्मकी प्रवृत्ति है, उसका कारण शोकमोहादिसे विवेक-विज्ञान का दब जाना ही है। यथा 'विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषलीस्वामी॥ सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥ गुनमंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि परपुरुष अभागी॥ सौभागिनी बिभूषन हीना। बिधवन्ह के सिंगार नवीना॥ तपसी धनवंत दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही।' इत्यादि। दूसरी बात यह है कि जिनका सम्बन्ध ब्राह्मणोंसे टूट गया, उनसे वर्णाश्रम धर्मका निर्वाह किसी भाँति सम्भव नहीं। मनु भगवान्ने स्पष्ट लिखा है कि यहींके क्षत्रिय, जो बाहर जाकर बसे, वे ब्राह्मणोंसे असम्बद्ध होनेके कारण वर्णाश्रमधर्मसे पतित होकर यवन, म्लेच्छ, पुल्कस, किरातादि अवस्थाको प्राप्त हो गये हैं। 'श्रुतिरीती' का भाव यह है कि वेदकी रीतिसे जो जिसका कर्म है वही करे, दूसरा न करे। अदृष्टार्थका ज्ञान वेद तथा तच्चरणाश्रित शास्त्रोंसे ही हो सकता है। ईश्वर, स्वर्ग या धर्मको किसीने देखा नहीं। उनका ज्ञान अन्य किसी प्रमाणोंसे नहीं हो सकता। 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।' जो भाव अचिन्त्य हैं, उनमें तर्कको स्थान नहीं देना चाहिये। अतः धर्म कैसे पालन करना चाहिये इसे श्रुति ही बतला सकती है। लाखों मनुष्योंके एकस्वरसे चिल्लानेसे भी न कोई वस्तु पुण्य हो सकती है, न कोई पाप हो सकती है। करोड़ों आदमियोंके एकसाथ आवाज उठानेपर भी न शीशा हीरा हो सकता है और न हीरा शीशा हो सकता है। इसका विवेक तो पारखी (जौहरी) ही कर सकता है। अतः कल्पित आचार न करे। जो कर्म एकके लिए धर्म है, वही दूसरेके लिए अधर्म हो जाता है, इसलिए कार्य्या-कार्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, शास्त्रविधानको जानकर ही कर्म करना चाहिये। जो शास्त्रविधिको छोड़कर अपने मनका करते हैं, उन्हें न तो सिद्धि मिलती है न सुख मिलता है न उनको परागतिकी प्राप्ति होती है। यथा 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ गीता १६। २४॥', 'यच्छास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ १६। २३ गीता॥' श्रुतिरीति कर्म करनेकी यह है कि शास्त्रविहित कर्मको सङ्गरहित होकर बिना रागद्वेष के, फलकी इच्छा न रखते हुए करे। तात्पर्य्यार्थ यह कि अपनी स्वाभाविकी प्रवृत्तिको शास्त्रीय बनाये और उसे ऐसा दृढ़ करे कि उसके त्यागमें उतनी ही कठिनता मालूम पड़े जितनी पहले स्वाभाविकी प्रवृत्तिके त्यागमें मालूम पड़ी थी। यथा 'सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरमहित कोटि कलेसा॥ रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरम धरेउ सहि संकट नाना॥ मैं सोइ धर्म सुलभ करि पावा। तजें तिहूँपुर अपजस छावा॥ संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू।'

**यह कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥ ७॥**

---

※ 'तथा च सर्वप्राणिनां शोकमोहादि दोषाविष्टचेतसां स्वभावत एव स्वधर्मपरित्यागः प्रतिषिद्धसेवा च स्यात्' (शां० भा०)।

अर्थ—फिर इसका फल विषयोंसे वैराग्य होगा तब मेरे धर्ममें प्रेम उत्पन्न होगा ॥ ७ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'यह कर फल पुनि विषय बिरागा', यथा 'धर्म ते विरति'। विप्रचरण-अनुराग धर्म है। धर्म करनेसे चित्त शुद्ध हो जाता है, उससे मन विषयोंसे विरक्त ( उदासीन ) हो जाता है। विराग और अनुराग दो पदार्थ हैं; विषयोंसे वैराग्य होगा, हमारे धर्म ( भगवद्धर्म ) में अनुराग होगा, तब हमारी भक्ति करने लगेगा। ( ख ) ज्ञान और वैराग्यका साधन धर्म है—'धर्म ते बिरति योग ते ज्ञाना'। और यहाँ दिखाया कि भक्तिका साधन भी धर्म है—'भक्तिके साधन कहौं बखानी।…निज निज कर्म निरत श्रुतिरीती'। [ ( ग ) 'वैराग्य' का अर्थ बाबाजी बनना नहीं है किन्तु विषयोंमें आसक्ति न जाना है। शरीर स्वस्थ रहे या अस्वस्थ, परिवार सुखी रहे या दुःखी, रहे या नष्ट हो जाय, सम्पत्ति रहे या कंगाली आ जाय, सब प्रशंसा करें या गाली दें—इनमेंसे किसीकी इच्छा ( की ) अपेक्षा न करना, सांसारिक स्थिति प्रारब्धवश जैसी बने, उसे ही भगवान्‌का मंगल विधान मानकर संतुष्ट रहना—यही वैराग्य है। शास्त्रविहित धर्मका ठीक ठीक आचरण करनेसे ही ऐसा वैराग्य आता है। ( श्रीचक्रजी ) ]

प० प० प्र०—'एहि कर फल पुनि विषय बिरागा' इति। ( क ) ज्ञानमार्गमें वैराग्यकी प्राप्ति धर्मसे कही गयी—'धर्म ते बिरति' और यहाँ भक्तिमार्गमें केवल अपने-अपने वर्णाश्रमाचार कर्मोंके अनुष्ठानसे वैराग्यकी प्राप्ति कहकर इसे अधिक सुलभ दिखाया। (ख) (शङ्का)—'कर्म तो बन्धनमें डालनेवाला कहा गया है उससे वैराग्य कैसे हो सकता है ? (समाधान)—यहाँ 'निज निज कर्म निरत श्रुति रीती' से जनाया है कि यह सब कर्म भगवदाज्ञा समझकर भगवत्प्रीत्यर्थ निष्काम भावसे ही करना चाहिए। इस भावसे जो कर्म किए जाते हैं वे बंधनका कारण नहीं होते। देखिए मनुजीने भगवदाज्ञा मानकर कर्म किये अतः उनको वैराग्य हुआ। प्रमाण, यथा 'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धि (वैराग्यं) अवाप्स्यसि'। ( ग ) कर्मोंके अनुष्ठानसे यदि विषयोंसे वैराग्य न हुआ तो आगेके साधनोंसे कुछ लाभ न होगा। इससे सिद्ध होता है कि भक्तिमार्गमें भी वैराग्य आवश्यक है। यथा 'रामप्रेमपथ पेखिए दिए विषय तन पीठि। तुलसी केंचुरि परिहरे होत साँपहू दीठि।', 'तुलसी जौं लौं विषयकी मुधा माधुरी मीठि। तौ लौं सुधा सहस्र सम रामभगति सुठि सीठि।' ( इति दोहावल्याम् ।८२, ८३ ), 'रमाविलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी। २.३२४।', 'पय अहार फल असन एक निसि भोजन एक लोग। करत राम हित नेम व्रत परिहरि भूषन भोग।'

वि० त्रि०—(क) 'एहिकर फल पुनि'—भाव यह है कि कार्य-कारणशृङ्खला चल रही है। 'विप्रचरण-प्रीति' का फल 'श्रुतिरीतिसे स्वधर्माचरण' है। अब उसका फल कहते हैं, इसीलिए 'पुनि' शब्दका प्रयोग किया। 'विषयबिरागा'—अर्थात् वशीकारसंज्ञा वैराग्य, जिसका वर्णन पहिले किया जा चुका है। भाव यह है कि शास्त्रीया वृत्ति दृढ़ होनेसे ही वस्तुविचारका उदय होता है। तब विषयके दोष* परिणामविरसत्वादि दिखायी पड़ने लगते हैं। विना दोषदर्शनके वैराग्य, नहीं होता। वैराग्योदयकी आवश्यकता दोनों मार्गोंमें अनिवार्य्य है। 'धर्मते बिरति' कहा गया है, और यहाँ भी वही बात कही जा रही है। पर इसके बादकी प्रक्रियामें भेद है। ज्ञानमार्गी वैराग्योदयके बाद योगद्वारा 'तत् त्वं' पदका शोधन करके 'सोऽहमस्मि' वृत्तिसे आत्मानुभव करते हुए चिज्जड़ग्रन्थिको सुलझाकर मोक्षलाभ करते हैं, पर सगुणोपासक यह रास्ता नहीं पकड़ते। वे मोक्ष नहीं चाहते। उन्हें सिद्धा भक्ति चाहिये। यथा 'सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्हकहुँ राम भगति निज देहीं ॥', 'साधन सिद्धि रामपद नेहू। मोहि लखिपरत भरत मत एहू ॥' (ग) 'तब मम धर्म'—श्रीरामजी कहते हैं कि मेरा धर्म। अब देखना यह है कि धर्म कौनसे हैं ? इसका निश्चय तो रामजीके मुखसे ही हो सकता है। सो प्रभुने स्वयम् भुशुण्डिजीसे वर्णन किया है। यथा 'अब सुनु परम

* तुरत विरत होके रोकके इन्द्रियोंको, स्मरण मननसे भी नारिके जी हटाऊँ। सुरत विरसताको देह विभत्सताको, प्रतिदिन जिय सोचूँ कामको यों नसाऊँ ॥…।' इत्यादि ( प्रबोधचन्द्रोदय )।

बिमल मम बानी । सत्य सुगम निगमादि बखानी ॥ निज सिद्धांत सुनावहुँ तोहीं । सुनु मन धरु सब तजि भजु मोहीं ॥ ७.८६.१-२ ।' से 'कोउ पितु भगत वचन मन कर्मा । सपनेहु जान न दूसर धर्मा ॥ सो सुत प्रिय पितु प्रानसमाना । जद्यपि सो सब भांति अयाना ॥ एहि विधि जीव चराचर जेते । त्रिजग देव मुनि असुर समेते ॥ अखिल बिश्व यह मोर उपाया । सबपर मोरि बराबरि दाया ॥ तिन्हमहँ जो परिहरि मद माया । भजै मोहि मन बच अरु काया ॥' 'पुरुष नपुंसक नारि वा, जीव चराचर कोइ । सर्वभाव भज कपट तजि मोहि परमप्रिय सोइ ॥' 'सत्य कहहुँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय । अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब ॥ ८७ ।' तक

प० प० प्र०—'मम धर्म' इति । भागवत धर्मोंका विवेचन भा० ११.२ में इस प्रकार है । यथा 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वाऽनुसृतस्वभावात् । करोति यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ।३६।'''खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन । सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ।४१।''' सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः । भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ।४५ ।' श्लोक ३५ से ५५ तक पढ़ने योग्य है । अर्थात् [ निमिमहाराजके प्रश्न करनेपर नवयोगेश्वरोंमेंसे कवि और हरिने भागवत धर्मोंका विवेचन किया है—भगवान्ने अपने साक्षात्कारके लिए जो सुगमसे सुगम उपाय स्वयं बतलाए हैं जिनसे भोलेभाले मनुष्य भी सुगमतासे उन्हें प्राप्त कर सकते हैं वे 'भागवतधर्म' कहे जाते हैं । इन धर्मोंका आश्रय एक दिव्य राज्यपथपर चलना है । वह तनसे, वचनसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहंकारसे, स्वभाववश जो कुछ भी करे वह भगवान्के लिये है इस भावसे उन्हें ही समर्पण करे । यह सरलसे सरल भागवतधर्म है । आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, नदी, समुद्र आदि जो कुछ भी हो उसे भक्त अनन्य भावसे प्रणाम करता है । जो सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्सत्ताको ही देखता है और समस्त प्राणियोंको भगवान्में ही देखता है वह उत्तम भागवत है । जो भगवान्से प्रेम, भक्तोंसे मित्रता, दुःखीपर कृपा और द्वेषीकी अपेक्षा करता है वह मध्यम कोटिका भागवत है । जो प्रतिकूल विषयोंसे द्वेष नहीं करता और न अनुकूलकी प्राप्तिमें हर्षित होता है, दोनोंको भगवान्की लीला जानता है वह उत्तम भागवत है । इत्यादि । मानसमें ये सब धर्म बहुत थोड़े शब्दोंमें नवधाभक्तिमें कहे हुए मिलते हैं । ]

वि० त्रि०—'उपज अनुरागा'—भाव यह है कि जबतक वैराग्यका उदय नहीं हुआ, तबतक तो विषयमें अनुराग था । मन सदा विषयके धर्मोंमें ही आसक्त रहता था । और जब विषयसे विराग हुआ तो स्वभावसे ही भगवान्की ओर जायगा, उनके करुणा, भक्तवत्सलतादि धर्मोंपर अनुरक्त होगा (यहांसे भाव-भक्तिका प्रारम्भ हुआ ), यथा 'समुझि समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ ।', 'मन मेरे मानै सिख मेरी । जौ निज भगति चहै हरिकेरी ॥ उर आनहि प्रभुकृत हित जेते । सेवहिं ते जे अपनपौ चेते ॥' ( त्रि० १२६ ) । इत्यादि ।

रा० प्र० श० —'तब मम धरम उपज अनुरागा' इति ।—अर्थात् जैसे पहले संसारी विषयमें अनुराग था वैसा ही अनुराग अब प्रभुमें होगा । वाल्मीकिजीने १४ स्थान प्रभुके निवासके बताए हैं उनमें इसका मन लगेगा । अर्थात् अब उसकी दशा यह हो जायगी कि—( १ ) संत सभा नित सुनहिं पुराना ( २ ) प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं । ( ३ ) हरिहि निवेदित भोजन करही । ( ४ ) लोचन चातक तिन्ह करि राखे । रहहिं दरस जलधर अभिलाषे ॥ निदरहिं सिंधु सरित सर भारी । रूपबिंदु जल होहिं सुखारी । ( ५ ) प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा । सादर तासु लहइ नित नासा । ( ६ ) कर नित करहिं रामपदपूजा । ( ७ ) रामभरोस हृदय नहिं दूजा । ( ८ ) चरन रामतीरथ चलि जाहीं । इत्यादि ये ही सब भागवत-भगवद्धर्म हैं ।

**श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं । मम लीला रति अति मन माहीं ॥८॥**

अर्थ—श्रवण आदि नवों भक्तियाँ दृढ़ होंगी । मनमें मेरी लीलामें अत्यन्त प्रेम होगा ॥८॥

पु० रा० कु०—'श्रवणादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं' से श्रीमद्भागवतमें कही हुई नवधा भक्तिका ग्रहण है। यथा 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्। ७.५.२३।'

नोट—१ (क) श्रवणका अर्थ अपनेसे ही ग्रन्थों का पठन नहीं है। श्रवण अनुभवी भगवद्भक्तके मुख से ही करना अभिप्रेत है 'श्रवणं तु गुरोः पूर्वम्'। 'श्रवण' शब्द स्वयं कह रहा है कि कहनेवाला दूसरा हो। नव साधनोंमें यह श्रेष्ठ है। प्रपंचमें भी श्रवणके विना कुछ भी विषयज्ञान नहीं हो सकता। श्रवण विना भाषा बोलनेकी भी शक्ति नहीं मिलती है। फिर परमार्थमें तो श्रवणकी आवश्यकता कितनी है यह कहनेकी भी बात नहीं रह जाती। ( प० प० प्र० )। नाम, चरित्र और गुणादिके सुननेको 'श्रवण' कहते हैं। नाम-श्रवण, यथा 'बेगि बिलंब न कीजिये लीजिय उपदेस। बीज मंत्र जपिये सोइ जेहि जपत महेस॥' चरित्र-श्रवण, यथा 'लागी सुनै श्रवन मन लायी। आदिहि ते सब कथा सुनायी॥' गुणश्रवण, यथा 'सुनत फिरौं हरिगुन अनुवादा। अव्याहतगति संभु प्रसादा॥' ( वि० त्रि० )। (ख) 'कीर्तन'—नाम, लीला और गुणादिके गानको 'कीर्तन' कहते हैं। नामकीर्तन, यथा 'राम नाम महिमा सुर कहहीं। सुनि सुनि अवध लोग सुख लहहीं॥' लीलाकीर्तन, यथा 'बटतर सो कह कथा प्रसंगा। आवैं सुनइ अनेक बिहंगा॥' गुणकीर्तन, यथा 'कतहुँ मुनिन्ह उपदेसहिं ग्याना। कतहुँ रामगुन करहिं बखाना॥' भगवन्नाम कीर्तनको नारदीय कीर्तन-पद्धति कहते हैं। गौराङ्ग महाप्रभुने इस पद्धतिका प्रचार-प्रसार किया और उन्नीसवीं बीसवीं शताब्दिमें श्री १०८ सीतारामशरण भगवानप्रसाद ( श्रीरूपकला ) जीने विहार और उत्तर प्रदेशमें इसीका अधिक प्रचार किया। लीला और गुण कीर्तन वैयासकीय कीर्तन-पद्धति है। महाराष्ट्रके संत श्रीतुकाराम आदि इसी प्रकार का कीर्तन करते थे। (ग) 'स्मरण'—जिस किसी भाँति मनद्वारा सम्बन्धको 'स्मरण' कहते हैं। यह इतना बड़ा प्रबल साधन है कि इसके प्रभावसे भगवद्विरोधियोंका भी उद्धार हो जाता है, यथा 'उमा राम मृदुचित करुनाकर। बैरभाव सुमिरत मोहि निसिचर॥ देहिं परमगति सो जिय जानी। अस कृपालको कहहु भवानी॥ ६.४४।' ( वि० त्रि० )। वैखरी आदि चारों वाणियोंसे नामका जप 'स्मरण' में आ गया। वैखरीसे जप करनेसे प्राणतत्वकी शुद्धि और विशुद्धि चक्रकी जागृति होती है। जबतक प्राणकी शुद्धि न हो जाय तबतक वैखरी जप ही हितावह है। प्राण और मनका साहचर्य है; अतः प्राणकी शुद्धि हुए विना मानस-जप करनेसे प्राण मनको विक्षिप्त कर देगा। भगवद्भक्तिके इच्छुकको मंत्रका ग्रहण गुरुसे ही करना चाहिए। (प० प० प्र०) श्रीचक्रजी लिखते हैं—'स्मरण भी दो प्रकारसे होते हैं—एक नाम और दूसरे गुण एवं लीलाका। स्मरण मनका धर्म है, अतः मानसिक जपको नाम-स्मरण मान सकते हैं। वाचिक या उपांशु जप एकाग्र मनसे हो तभी वे नाम-स्मरण हैं, अन्यथा जपकी क्रियामात्र ही हैं।' (घ) 'पादसेवन'—चरणोंकी पूजा-सेवा। कुछ भक्त ऐसे हैं, जो केवल चरणोंका ही ध्यान-चिन्तन-पूजन किया करते हैं, यथा 'कर नित करहिं रामपद पूजा। राम भरोस हृदय नहिं दूजा॥ २.१२९।', 'आगे परा गीधपति देखा। सुमिरत रामचरन जिन्ह रेखा॥ ३.३०।', 'नित पूजत प्रभु पाँवरी'''। २.३२५।' (वि० त्रि०)। ( प्रज्ञानानन्द स्वामीका मत है कि यहाँ सद्गुरुकी सेवा ही प्रधान है। ज्ञानेश्वरी गीता अ० १३ में 'आचार्योपासनापर टीका देखिए )। ( पर कुछ सन्त कहते हैं कि श्लोकमें 'विष्णोः' शब्द स्पष्ट आया है, अतः सभी भक्तियाँ भगवान्के प्रति ही करनेकी बात हैं, गुरु या अन्य किसीके प्रति नहीं )। (ङ) 'अर्चन'—शुद्धि न्यासादि पूर्वाङ्गोंके निर्वाहपूर्वक उपचारोंद्वारा मन्त्रोंसे पूजनको 'अर्चन' कहते हैं। यथा 'तब मुनि हृदय धीर धरि, गहि पद बारहिं बार। निज आश्रम प्रभु आनि करि पूजा बिबिध प्रकार॥' ( वि० त्रि० )। गुरु, इष्टदेवता आदिकी मानस-पूजा तथा बाह्य-पूजा 'यथा विभव विस्तार' से करे, 'वित्त शाठ्यं न कुर्यात्'। 'कर नित करहिं रामपद पूजा', 'पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा'। ( प० प० प्र० )। (च) 'वन्दन'=नमन भक्ति, दण्डवत् प्रणाम। नमनसे लीनता मिलती है। यह नमन भी भगवद्भावनासे ही करना चाहिए—'''हरेः शरीरं यत्किञ्चभूतं प्रणमेदनन्यः। भा० ११.२.४१।' यह एक ही साधन भगवान्की प्रसन्नताके लिए पर्याप्त है, 'दण्डवते' स्वामीका चरित्र इसका साक्षी है। (प० प० प्र०)।

अक्रूरजी वन्दनभक्तिके उदाहरण हैं। (छ) 'दास्य' भावकी भक्तिके ज्वलन्त उदाहरण श्रीहनुमान्जी हैं। 'राम काज कीन्हे बिना मोहिं कहाँ विश्राम' यह भाव सदा अचल बना रहे। ( प० प० प्र० )। मैं प्रभुका किंकर हूँ इस अभिमानको 'दास्य' कहते हैं। यथा—'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।', 'सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू।२.२४।', 'आजु रामसेवक जसु लेऊँ। २. २३०।' इत्यादि। (ज) 'सख्य' के दो भेद हैं। विश्वास और मित्रवृत्ति। विश्वास, यथा 'है तुलसीके एकगुन अवगुन निधि कह लोग। एक भरोसो रावरो राम-रीझिवे जोग॥' मित्रवृत्ति यथा 'तुलसी कही है साँची रेख बार बार खाँची, ढील किये नाममहिमाकी नाव बोरिहौं' ( विनय )।

श्रीचक्रजी—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन और वन्दन ये छः साधन भक्ति हैं। इनका आचरण करनेसे साध्य भक्ति, प्रेमरूपा भक्तिका हृदयमें प्रादुर्भाव होता है। दास्यभाव साध्य भी है और साधन भी। दास्य सार्वभौम भाव है। वह व्यक्तिकी प्रत्येक दशा, भक्तिके प्रत्येक अंशमें व्यापक है। सख्य और आत्मनिवेदनमें भी आराध्यके प्रति सेवाका भाव रहता है। उपासनाके द्वारा जब चित्त निर्मल हो जाता है, वासनाएँ सर्वथा दूर हो जाती हैं तब प्रभुसे अत्यन्त समीपता आत्मीयताका भाव जागृत होता है, 'वे अपने हैं' यह अनुभूति होने लगती है—यही सख्य भाव है।

प० प० प्र०—'आत्मनिवेदन' ( आत्मसमर्पण ) तीन प्रकारका है। एक 'जड़ आत्मनिवेदन', दूसरा 'चंचल आत्मनिवेदन' और तीसरा 'निश्चल आत्मनिवेदन'। पहलेमें केवल दृश्य जड़ पदार्थ ही भगवान्को 'यह भगवान्का ही है' समझकर समर्पण किये जाते हैं। दूसरेमें यह भाव रहता है कि 'मेरा यहाँ कुछ नहीं है, सब कुछ भगवान्का ही है' ऐसा नाता भगवान्से जोड़ना 'चंचल आत्मनिवेदन' है। 'जीवोनाहं देशिकोक्त्या शिवोऽहम्', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सः अहम् अस्मि' इस रीतिसे जीवभावको भी त्यागकर अपरोक्षसाक्षात्कारारूढ़ हो जाना ही 'निश्चल आत्मनिवेदन' है। यही व्यतिरेक ज्ञान है। 'आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहम्' ( मु० उप० ) यह श्रीहनुमान्जीका वचन इस निश्चय आत्मनिवेदनका दर्शक है। 'तुलसिदास जग आपु सहित जब लगि निर्मूल न जाई। तब लगि कोटि कलप उपाय करि मरिय तरिय नहिं भाई। वि० ११२।' में भी इसीका निर्देश है। [ मानसपीयूष बालकांडमें नवधाभक्तिका विस्तृत उल्लेख कई बार आ चुका है। वैष्णवोंमें भगवत् शरणागतिके समयके श्लोक यह हैं—'योऽहंममास्ति यत्किञ्चत् इह लोके परत्र च। तत्सर्वं भवतोरेव चरणेषु समर्पितम्।', 'मां मदीयं च निखिलं चेतनाचेतनात्मकम्। स्वकैङ्कर्योपकरणं वरद स्वीकुरु स्वयम्।' इनमें देही-देह सभीका समर्पण है। ]

वि० त्रि०—१ 'आत्मा' शब्दके पंडितोंने दो अर्थ माने हैं—एक तो अहन्तास्पद देही, दूसरा ममतास्पद देह। इन दोनोंका निवेदन 'आत्मनिवेदन' है। देहीनिवेदन, यथा 'मैं अब जन्म संसुहित हारा। को गुन दूषन करइ बिचारा॥' देह निवेदन यथा 'हृदय-घाउ मेरे पीर रघुबीरैं। पाइ सजीवन जागि कहत यों प्रेम पुलकि बिसराय सरीरैं। मोहि कहा बूझत पुनि पुनि जैसे पाठ अरथ चरचा कीरैं॥ सोभा सुख छति लाभ भूप कहँ, केवल कांति मोल हीरैं॥ उपमा राम-लखनकी प्रीतिकी क्यों दीजै खीरैं नीरैं॥' ( गी० )

श्रीचक्रजी—आत्मनिवेदन अर्थात् माधुर्यभाव तो भक्तिकी चरमसीमा है। अपना कुछ नहीं रहा, सब कुछ प्रभुके चरणोंमें विसर्जित हो गया और उनको छोड़कर दूसरेकी सत्ता भी शेष नहीं रही। 'सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं' यह सर्वोत्तम पतिव्रताकी स्थिति प्राप्त हो गई—यही आत्मनिवेदन है। ☞ यहाँ यह ध्यान रहना चाहिये कि सख्य या आत्मनिवेदनके भाव किये नहीं जाते। जब भी इन्हें किया जायगा, केवल दंभ होगा और दंभका फल तो पतन–नरक है। ये भाव तो जब स्वयं प्रकट हों, तब आते हैं। जहाँतक करनेकी बात है—केवल दास्य भाव किया जाता है—करणीय है। जीव परमात्माका दास है, यह परम सत्य है। अतः सेवक मानकर भजन करना चाहिये।

वि० त्रि०—२ (क) 'दृढ़ाहीं'—भाव यह है कि श्रवणादिक नवभक्तियोंका कर्त्तव्यरूपसे शास्त्रोंमें वर्णन

है। अतः इनकी गिनती साधनभक्तिमें है। साधक इनका आचरण स्वधर्मानुष्ठान समझकर करता आ रहा था, परन्तु अनुरागके बिना वे दृढ़मूलक नहीं हो पाती थीं। अब सरकारके धर्मोंमें अनुराग उत्पन्न हो जानेसे यह दृढ़मूलक हो गयी। (ख) 'मम लीलारति'—लीलाका अर्थ चरित्र है। भगवान् आप्तकाम हैं, अतः किसी प्रयोजनका उद्देश्य रखकर उनकी प्रवृत्ति नहीं होती, उनका चरित्र उनकी लीला है। परन्तु उनके चरित्रका कथन और श्रवणका उपयोग नवधाभक्तिके कीर्तन और श्रवण प्रकरणमें कहा जा चुका है। अतः यहाँपर लीलासे उनके चरित्रके अनुकरणसे तात्पर्य है। यथा 'खेलहुँ तहाँ बालकन मीला। करउँ सकल रघुनायक लीला ॥' श्रीमद्भागवतमें भी प्रेमाधिक्यसे गोपियोंद्वारा भगवान्‌के चरित्रके अनुकरणका वर्णन है, यथा 'लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः।' अतः यहाँ ममलीलाका अर्थ हुआ रामलीला।

श्रीचक्रजी—पूर्व जो कहा था कि 'तब मम धर्म उपज अनुरागा' वह 'मम धर्म' ये 'श्रवनादिक नव-भक्ति' हैं। ये दृढ़ कैसे होंगी? यह पहले ही बता आये कि विप्रचरणमें अति प्रीति और अपने-अपने वर्णाश्रम धर्मके अनुसार आचरण करनेसे 'मम धर्म' में प्रेम उत्पन्न होगा। अब यहाँ बताते हैं कि वह प्रेम दृढ़ कब होगा,—जब भगवान्‌के अवतारकी कथामें अत्यन्त रति अर्थात् लगन हो। लीला-श्रवण, लीला-चिन्तन तथा लीलानुराग ही भक्तिको दृढ़ करनेके साधन हैं।

टिप्पणी—१ 'मम लीला रति अति मन माहीं' यहाँसे लेकर 'बचन कर्म मन मोरि गति०' इस दोहे पर्यन्त वही भक्ति है जो श्रीरामजीने शबरीजीसे कही है। दोनों प्रकारकी भक्तियोंका साधन विप्रचरणा-नुराग और धर्मसहित व्यवहार करते रहना है। इन्हींसे दोनों प्रकारकी भक्तियाँ उत्पन्न और दृढ़ होती हैं।

टिप्पणी—२ इस प्रसंगमें अत्यन्त प्रेम करना कहा। (क) 'प्रथमहिं विप्रचरन अति प्रीती'। (ख) मम लीला रति अति मन माहीं। (ग) संतचरनपंकज अति प्रेमा। भाव यह है कि प्रीति तो सभीमें होना आव-श्यक है पर इन तीनोंमें अर्थात् विप्रचरण, मम लीला और संतचरणमें तो अतिशय प्रेम होना चाहिये। इसी प्रकार तीनमें दृढ़ होना कहा। (क) 'श्रवणादिक नव भगति दृढ़ाहीं' (ख) मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा। (ग) सब मोहिं कहँ जानै दृढ़ सेवा। इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि भक्ति, भजनका नियम और सेवा ये दृढ़ नहीं रह पाते, कुछ दिनोंमें शिथिल हो जाते हैं; अतएव इनको शिथिल न पड़ने देना चाहिये। इनमें दृढ़ रहना चाहिये।

३ श्रीशबरीजीको भी नवधा भक्ति कही गई है। दोनोंका मिलान यहाँ दिया जाता है।

| शबरीजीके प्रति | लक्ष्मणजीके प्रति |
|---|---|
| १ प्रथम भगति संतन्ह कर संगा | संतचरनपंकज अति प्रेमा। |
| २ दूसरि रति मम कथा प्रसंगा | मम लीला रति अति मन माहीं ॥ |
| ३ गुरपद पंकज सेवा तीसरि भक्ति अमान | गुरुपितुमातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानइ दृढ़ सेवा ॥ |
| ४ चौथि भगति मम गुनगन करै कपट तजि गान | मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा ॥ |
| ५ मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा | मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा |
| ६ छठ दमसील बिरति बहुकर्मा | काम आदि मद दंभ न जाके। |
| ७ सातवँ सम मोहिमय जग देखा (इसके दोनों अर्थों का ग्रहण हुआ) | गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मो कहँ जानै दृढ़ सेवा ॥—( यहाँ उपलक्षण है ) |
| ८ आठवँ जथा लाभ संतोषा | भजन करैं निहकाम ( बिनु संतोष न काम नसाहीं ) |
| ९ नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हिय हरष न दीना। | बचन करम मन मोरि गति |

टिप्पणी—४ 'मम लीला रति अति मन माहीं' इति। लीलामें अत्यंत प्रेम होनेसे प्रभुके करुणा, अनुकंपा, वात्सल्य, सौशील्य आदि गुणोंका ठौर-ठौरपर दर्शन और स्मरण होगा। लीलासे ही ज्ञात होगा कि प्रभु संतोंके लिये हीं अवतार लेते हैं, यथा 'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरेउँ देह नहिं आन निहोरे।', 'नरहरि प्रगट किये प्रहलादा।' अतः जब चरितमें अनुराग हुआ तब संतचरणमें प्रीति हुई। 'बिनु सतसंग न हरिकथा', कथाके सुननेसे, सत्संग करनेसे भजनमें दृढ़ नेम हुआ।

प० प० प्र०—(क) मम लीलासे सगुण ब्रह्मके चरित्र ही अभिप्रेत हैं। लीला = हेतु-रहित चरित्र। भगवान् आद्यशङ्कराचार्यको भी ज्ञानोत्तरा भक्ति मान्य है, यह उनके नृसिंहतापिनीभाष्य तथा प्रबोध-सुधाकर आदि ग्रंथोंसे स्पष्ट है। (ख) 'अति रति' क्योंकि बिना प्रेमके भक्ति दृढ़ न होगी। जब भगवल्लीला श्रवण करनेकी, देखनेकी, उसमें सहकारी होनेकी अतिशय प्रीति होगी तब नवधाभक्ति सिद्ध होगी। तथापि प्रेमसे भगवल्लीला सुनानेवाला निर्हेतुक वक्ता सन्तोंके अतिरिक्त दूसरा कोई भी नहीं है, इसीसे आगे कहते हैं—'संतचरन पंकज अति प्रेमा'।

**संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥ ९॥**

अर्थ—सन्तोंके चरणकमलोंमें अति प्रेम हो। मन, कर्म और वचनसे भजनका पक्का नियम हो॥९॥

प० प० प्र०—'संत चरन पंकज ···' इति। (क) पंकज शब्द भावगर्भित है। कमलका जन्म पंक (कीचड़) में होता है। वह पानीमें ही रहता है, पानी से ही जीता है और पानीमें ही बढ़ता है तथापि वह पंक और जलसे निर्लिप्त रहता है। वैसे ही संत भी मायारूपी देहमें जगत्‌में जन्म लेकर मायिक अन्नादिसे ही जीते हैं तथापि वे माया और मायाजनित प्रपंचसे सदा अलिप्त रहते हैं। जैसे कमल सुगंध मकरंद आदि देता है वैसे ही संत भी संगतिमें आनेवालेको 'सुरुचि सुबास सरस अनुराग' देते हैं। मानस मुखबंदमें 'अरथ अनूप सुभाव सुभासा।' को 'पराग मकरंद सुबासा।' कहा गया है। भगवल्लीलाओंके विविध अर्थ तथा लीलाचरित्रके शब्दों और वाक्योंके भाव संत ही जानते हैं। सन्तोंमें जब अत्यन्त प्रेम होगा तब वे उसके कुछ ध्वनित भाव कहेंगे जिससे श्रोताको 'सुरुचि रूपी सुगंध' प्राप्त होगी। बिना सन्तों की संगतिके सगुण परमात्माकी लीलामें प्रेम न होगा और न परमात्मामें। गरुड़जीने जब भुशुण्डीजीसे चरित सुना तब 'रामचरन नूतन रति' हुई। (ख) 'चरण' में 'अति प्रेम' का भाव कि उनकी अत्यन्त प्रेमसे सेवा करे। जब वे देख लेंगे कि यह अति आर्त्त है, श्रीरामभक्ति श्रीरामचरितश्रवणका अधिकारी है तब 'गूढ़ौ तत्व न साधु दुरावहिं', वे कहेंगे। (ग) सन्तचरणमें अत्यन्त प्रेम करनेको इससे भी कहा कि सन्त श्रीभक्तिके कोठारी हैं। वे भगवत्प्रेममय होते हैं, भगवान्‌में उनका निःस्वार्थ प्रेम होता है। वे भगवान्‌को शिशु-बालकके समान प्रिय होते हैं। अपने बालकपर अत्यन्त प्रेम करनेवालेपर उस बालकके माता-पिता सहज ही प्रसन्न हो जाते हैं। इसी तरह भगवान् जब देखते हैं कि यह मेरे बालक (संत-भक्त) में निःस्वार्थ अत्यन्त प्रेम करता है तब वे ही सन्तोंको निमित्त करके उसे अपनी प्रेमभक्ति प्राप्त कर देते हैं। (घ) सिद्धान्तरूपसे 'मिलइ जो सन्त होइ अनुकूला' से उपक्रम किया। फिर चार चौपाइयोंमें उपपत्तिरूपसे सन्तोंकी अनुकूलताकी प्राप्तिके साधन बताए। और 'संतचरन पंकज ···' पर उपसंहार किया।

श्रीचक्रजी—'संतचरन ···' इति। आराध्यकी अपेक्षा भी सन्तका अधिक आदर करना भक्तका आदर्श है; क्योंकि सन्तकृपासे ही भक्ति प्राप्त हुई और सत्संगसे ही भजनमें रुचि बढ़ती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि 'संतचरन पंकज अति प्रेमा होनेके कारण सन्तको ही आराध्य मान ले। सन्त मार्ग-दर्शक है, प्रकाशदाता है, किन्तु वही लक्ष्य नहीं है। सन्तके चरणोंमें प्रेम होनेसे सन्तके द्वारा भगवान्‌के भजनकी प्रेरणा मिलेगी, यदि वह सचमुच सन्त है। लेकिन भजन तो करना ही पड़ेगा। सब कुछ सन्त अपनी कृपासे कर देगा—इस भावसे बड़ा कोई धोखा नहीं है। इसीलिये भगवान् आगे कहते हैं—'मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा।'

वि० त्रि०—१ 'संतचरन पंकज अति प्रेमा।' इति। जब लीलाद्वारा साधक प्रत्यक्ष देखता है कि सन्तोंके परित्राणके लिये ही प्रभु अवतार धारण करते हैं, सन्तोंके मिलनकी उत्कट इच्छाके सामने उन्हें राजतिलक फीका ही मालूम पड़ता है और वनवास श्रेयस्कर प्रतीत होता है, जब लीलामें प्रभुको सन्तचरणमें अवनत होते देखते हैं, तब सन्तचरण-पङ्कजमें अतिप्रेमका न होना आश्चर्य है। जब श्रीमुखसे सन्तोंकी स्तुति सुनते हैं, तब उनके प्रति साधकका अत्यन्त अनुराग बढ़ जाता है। यथा 'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उनके बस रहऊँ॥' इत्यादि ३.४५.६ से 'कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते। ४६.८।' तक। परन्तु ऐसे सन्त-महात्माकी पहिचान अत्यन्त कठिन है। बिना सन्तोंके संसार चल नहीं सकता। वे सबको सब देशोंमें सुलभ हैं, परन्तु विषयी जीवको उनकी पहिचान नहीं। अतएव उनकी प्राप्ति नहीं होती। उनकी प्राप्तिके लिए पुण्यपुञ्ज चाहिये, भगवान्‌की कृपा चाहिये। सो साधक उसीके लिए यत्नशील है। यथा 'पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता…'; 'संत बिशुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥' भगवान भाववश्य हैं, इसलिए भावभक्ति करनेवालेपर हरिकृपा होती है—उन्हें सन्त मिलते हैं और उनसे उनको भक्तिचिन्तामणिकी प्राप्ति होती है। यथा 'भाववस्य भगवान सुखनिधान करुनाअयन। तजि ईर्षा मदमान, भजिय सदा सीतारमन॥'

२ 'मनक्रमबचन भजन दृढ़ नेमा'—भाव यह है कि पहिले श्रवणादिक नवभक्ति दृढ़ हुई थीं। अब संतोंके प्रसादसे मनसा, वाचा, कर्मणा दृढ़ नियमके साथ भजन आरम्भ हुआ। रामभक्तिके बाधकोंकी ओरसे वृत्ति फिर गयी, यथा—'जरउ सो संपति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद, करइ न सहस सहाय॥', 'मनक्रम बचन रामपद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥' अब साधक महात्मापदको प्राप्त हुआ। जो मनमें हो, वही वाणीमें हो, वही कर्ममें हो, यह महात्माका लक्षण है। मनमें दूसरी बात हो, वाणीसे कोई दूसरी बात कहे और कर्म उन दोनोंसे पृथक् ही कुछ करे, यह दुरात्माका लक्षण है—'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्। मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥' 'वाणीसे भजन करना और मन दूसरी ओर रहे, अथवा कर्मसे भजन करना, वाणीसे कुछ दूसरी बातें करते रहना तथा मनसे अन्य विषयोंका ध्यान करते रहना यथार्थ भजन नहीं है। मनमें भी भगवान् हों, वाणीसे उनकी स्तुति हो, कर्मसे उनकी परिचर्य्या होती रहे, तब उस भजनको मन-वचन-कर्मसे भजन कहेंगे। दूसरी बात यह है कि भोजनकी भाँति भजन हित है, अतः इसे नित्य नियमके साथ प्रीतिपूर्वक करना चाहिये, अन्यथा भजनका ठीक प्रभाव नहीं पड़ता। यथा 'भोजन करिअ तृपिति हित लागी। जिमि सो असन पचवै जठरागी॥ असि हरिभगति सुगम सुखदायी। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥७.११८॥'

श्रीचक्रजी—उत्तम भजन वह है जो मनसे हो। मन वशमें नहीं है, स्मरण चिन्तन आदिमें नहीं लगता तो कर्मसे दृढ़ नियम बनाकर भजन करना चाहिए। घरमें अर्चनके लिये द्रव्य नहीं, तीर्थाटनकी सुविधा नहीं, जीवननिर्वाह एवं परिवार-पोषणके कामोंसे समय ही नहीं मिलता कि अर्चा करे, कथा सुने। ऐसी अवस्थामें वाणीसे दृढ़ नियमपूर्वक भजन करना चाहिए। जप और कीर्त्तन इसके अन्तर्गत है। केवल जीभसे निरन्तर नाम जप होता रहे, यह अभ्यास हो जाना चाहिए। इस प्रकार प्रभुने 'मन क्रम वचन' में एक क्रम बतलाया। तीनोंसे भजन करना चाहिए यह तो मुख्य है ही।

प० प० प्र०—१ विप्रभक्ति, स्वकर्मभक्ति, भागवत-धर्मभक्ति, श्रवणादिभक्ति, भगवल्लीलाभक्ति और गुरु-संत-भक्ति ये छः प्रकारके साधन जब दृढ़ हो जायँगे तब सन्तकृपासे प्रेमलक्षणारूपी रसस्वरूपा भक्तिकी प्राप्ति होगी। 'रसः वैसः', 'हरिपदरति रस बेद बखाना'। इस मुख्य कृपासाध्य भक्तिका ही विवरण आगे की छः अर्धालियोंमें किया जाता है। इस भक्तिके साथ सात सोपान पूरे हो जाते हैं।

२ "मन क्रम बचन भजन…" इति। (क) आगे दोहेमें 'बचन कर्म मन' ऐसा अनुक्रम है। यहाँ 'मन क्रम बचन' रखा; क्योंकि—(१) बचन और भजनमें यमकानुप्रास मिलता है। (२) 'मन एव मनुष्याणां कारणं

वन्धमोक्षयोः', 'मनः कृतं कृतं लोके न शरीरकृतं कृतम् ।' ( श्रुति और गरुड़पुराण ), मन ही बंधमोक्षका कारण है । 'रहति न प्रभु चित चूक किये की । करत सुरति सय वार हिये की ।' इससे भी मनको प्रथम रक्खा । और यदि कर्म भी मनकी भावनाके अनुकूल हो तब तो विशेष आनन्दकी वात है । (३) वचनसे भी हृदयके भाव प्रकट होते हैं । स्मरण और प्रिय भाषण प्रेमके चिह्न हैं । अतएव मनको प्रथम और वचन को अन्तमें रख दिया । दोहेमें 'वचन' को आदिमें और 'मन' को अन्तमें रखनेका भाव यह है कि कर्म बीचका है । 'आदौ अन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तया' इस न्यायसे वचन और मन दोनोंकी जहाँ भक्ति होगी वहाँ कृतिकी इतनी महत्ता नहीं है । साथ ही 'म' का अनुप्रास भी साधना है और द्विरुक्तिसे वचना भी हेतु है । (ख) 'मनसे भजन'—मानसपूजा, ध्यान, मानसजप, भगवद्गुण-रूप-यशादिका चिन्तन इत्यादि मनका भजन है । यथा 'आम छाँह कर मानस पूजा', 'पीपर तरु तर ध्यान सो धरई', 'सरग नरक अपवरग समाना । जहँ तहँ देख धरे धनु वाना ।', 'तुम्ह सन सहज सनेह' । (ग) वाह्य पूजा, संत-गुरु-परिवार-पूजन, तीर्थयात्रा, दान, यज्ञ आदि 'कर्म' का भजन है । 'प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुवासा ।' से 'सकल भाय सेवहिं सनमानी' तक (२।१२६।१-८) विशेष करके कर्मभजनका ही वर्णन है । (घ) वैखरीसे जप, गुण-लीला-नाम-कीर्त्तन, स्तुति, स्तोत्रपाठ, भगवच्चर्चा आदि वचन का भजन है । (ङ) 'भजन दृढ़ नेमा' इति । भजन करते समय प्रापंचिक कार्योंको भूल जाना, 'भजिय राम सब काज बिसारी' । स्वप्नमें भी भजन होने लगे, अन्य विषय स्वप्नमें भी न आवें । भजनका त्याग करनेकी इच्छा होनेपर भी वह न छूटे तव जानना चाहिए कि भजन दृढ़ हो गया । (च) 'दृढ़ नेमा' का भाव कि नियमित अवसरपर नियमसे आमरणान्त भजन करता ही रहे ।

**गुरु पितु मातु बंधु पति देवा । सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा ॥१०॥**
**मम गुन गावत पुलक सरीरा । गदगद गिरा नयन बह नीरा ॥११॥**
**काम आदि मद दंभ न जाके । तात निरंतर बस मैं ताके ॥१२॥**

*शब्दार्थ*—पति = स्वामी । यथा 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे । मैं सेवक रघुपति पति मोरे ।', 'सेवक सुत पति मातु भरोसे । रहइ असोच वनइ प्रभु पोसे ।'

अर्थ—गुरु, पिता, माता, भाई, स्वामी और देवता सब मुझको ही जानकर सेवामें दृढ़ हो ॥१०॥ मेरे गुण गाते हुए शरीरमें रोमांच हो, वाणी गद्गद हो जाय, नेत्रोंसे जल ( आँसू ) वहे ॥११॥ काम आदि मद और दम्भ जिसके नहीं हैं, हे तात ! मैं सदा उसके वशमें रहता हूँ ॥१२॥

टिप्पणी—१ 'गुरु पितु मातु बंधु पति देवा । सब मोहिं''' इति ।—अर्थात् रामजी ही सब कुछ हैं, यथा 'तात तुम्हारि मातु बैदेही । पिता राम सब भाँति सनेही । २.७४ ।', 'गुर पितु मातु न जानौं काहू । कहउँ सुभाउ नाथ पतियाहू ॥ जहँ लगि जगत सनेह सगाई । प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥ मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी । दीनबंधु उर अंतरजामी ॥ २.७२ ।'

वि० त्रि०—१ 'गुर पितु मातु''' इति । (क) गुरु पिता माताके लिये स्वयं श्रुति कहती है—'मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव ।' ये ही तीनों देव हैं । ये ही तीन अग्नि हैं । इन्हींकी सेवासे लोक बनता है । इनकी आज्ञा पालनमें यदि बुरे रास्तेपर चलना पड़े तो भी अकल्याण नहीं होता । यथा 'गुरु पितु मातु स्वामि सिख पालें । चलेहुँ कुमग पग परहिं न खालें ॥ २.३१५ ।' (ख) 'बंधु पति देवा'—बन्धु वे ही हैं जो आड़े समय काम आते हैं । यथा 'होहिं कुठायँ सुबंधु सहाये । ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घाये ॥' पतिका अर्थ स्वामी है, जिसका सब भाँति छल छोड़कर सेवाका विधान है । यथा 'भानु पीठि सेइअ उर आगी । स्वामिहि सर्वभाव छल त्यागी ॥ ४.२३ ।' देवता इष्टफल देनेवाले हैं । यथा 'इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः । तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥' यहाँपर छःको गिनाया है, और भी जितने प्रेमके पात्र हैं, उन सबको भी साथ ही समझ लेना चाहिए । (ग) 'सब मोहि कहँ जानें'—

भाव यह है कि सबकी ओरसे ममता हटाकर श्रीरामजीसे प्रीति करे। श्रीरामजीको ही माता-पिता, गुरु, बन्धु, स्वामी और देवता माने। अर्थात् माहात्म्य ज्ञानयुक्त*, सुदृढ़ और सबसे अधिक स्नेह हो। यथा कवितरामायणे—'राम मातु पितु बंधु सुजन गुरु पूज्य परमहित। साहेब सखा सहाय नेहनाते पुनीतचित॥ देस कोस कुल कर्म धर्म धन धाम धरनि गति। जाति पाँति सब भाँति लागि रामहि हमारि पति॥ परमारथ स्वारथ सुजस सुलभ रामते सकलफल। कह तुलसिदास अब जब कबहुँ एक रामते मोर भल॥ ७.११०।', 'राम हैं मातु पिता गुरु बंधु औ संगी सखा सुत स्वामि सनेही। क. ७.३६।' (ग) 'दृढ़सेवा'—अर्थात् जिस साधककी सेवा दृढ़ हो गयी है। भाव यह है कि जिसके लिए ऊपर लिख आये हैं कि 'मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा'। वही दृढ़ सेवावाला भक्त सब नाता (सम्बन्ध) रामजीसे जोड़नेमें समर्थ हो सकता है। [रा० प्र० कारने भी यही अर्थ किया है। दृढ़ सेवा = दृढ़ है सेवा जिसकी। 'मोहि कहँ जानै' अर्थात् गुरु माता पिता बंधु आदि सबोंमें हमारी भावना करे, इससे पराभक्ति होगी जिसकी दशा आगे कहते हैं। (प्र०)। ऐसी भावना करनेसे भी 'सबकी ममता ताग' प्रभुकी ममतामें परिणत हो जायगी।]

प० प० प्र०—१ (क) यहाँ गुरु, पिता, माता इत्यादिका त्याग करनेकी बात नहीं है। श्रीमुखवचन है 'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी। ५.४८।'—इससे अर्धालीका भाव स्पष्ट हो जाता है। (ख) 'दृढ़ सेवा' = दृढ़ भजन भक्ति। ऊपर 'भजन दृढ़ नेमा' से उपक्रम, यहाँ 'दृढ़ सेवा (भजन)' से अभ्यास और आगे दोहेमें 'भजन करहिं निष्काम' से उपसंहार किया है। यह भक्तिका प्रकरण है।

श्रीचक्रजी—गुरु पितु मातु आदि पूज्यवर्ग हैं। इनको आराध्यका ही रूप समझे, इनकी सेवा-पूजा भी आराध्यकी पूजा समझकर करे, किन्तु प्रेम भगवान्‌से ही करे। जहाँ आराध्यके प्रेम एवं सेवामें इनके द्वारा बाधा पड़ती हो, वहाँ ये लौकिक सम्बन्ध त्याज्य हो जायँगे।

वि० त्रि०—२ (क) 'मम गुन गावत'—भाव यह है कि तब उस भक्तकी श्रीहरिमें अविच्छिन्न मनोगति हो जाती है। उन्हींका गुण बराबर गान किया करता है। उन्हींकी मूर्तिका ध्यान किया करता है, दूसरी कोई बात उसे अच्छी नहीं लगती। श्रीहरिको भी भक्तोंका गान परम प्रिय है। उन्हींका वचन है कि 'नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेन च। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥' इसकी कोई आवश्यकता नहीं कि वह गान सुर-तालसे भी ठीक हो। यह अभिप्राय होता तो कहते 'गायका यत्र गायन्ति', पर ऐसा नहीं कहते। अतः भक्तोंका गान उन्हें प्रिय है, चाहे वह संगीतकी दृष्टिसे कैसा ही हो। (ख) 'पुलक सरीरा, गदगद गिरा नयन बह नीरा' इति। शरीरमें रोमाञ्च होना, गला भर आना, आँखोंसे आँसूकी धारा चलना, ये सब प्रेममें डूबाडूब होनेके लक्षण हैं। यहाँपर भक्तोंके गानके प्रिय होनेका कारण कहते हैं। भक्त प्रेममें डूबाडूब है, वह प्रेमसे मग्न होकर गान करता है, उसे लय, सुर-तानका पता नहीं। श्रीहरि ऐसे ही गानपर रीझ जाते हैं। भीतरके प्रेमके बाहरी लक्षण, पुलक-शरीर, गद्‌गद् गिरा और नयन नीर हैं।

प० प० प्र०—२ 'पुलक सरीरा, गदगद गिरा, नयन बह नीरा।' पुलक आदि ये तीनों भक्तिप्रेमके सात्विक अनुभाव हैं। सात्विक भाव आठ हैं। यथा 'ते स्तम्भः स्वेदः रोमांचाः स्वरभेदोऽथ वेपथुः। वैवर्ण्यमश्रु, प्रलय इत्यष्टौ सात्विका मताः'।

☞ अब देखना चाहिये कि ये विविध भाव कैसे उत्पन्न होते हैं। श्रीरूपगोस्वामीजी 'भक्ति रसामृतसिंधु' में लिखते हैं "चित्तं सत्वीभवत् प्राणे न्यस्यत्यात्मानमुद्भटम्। प्राणस्तु विक्रियां गच्छन् देहं विक्षोभयत्यलम्॥ तदा स्तम्भादयो भावा भक्तदेहे भवन्त्यमी॥", "चत्वारि क्ष्मादि भूतानि प्राणो जात्ववलम्बते। कदाचित् स्वप्रधानः सन् देहे चरति सर्वतः॥१॥ स्तम्भं भूमिस्थितः प्राणस्तनोत्यश्रुं जलाश्रयः। तेज-

* 'माहात्म्यज्ञानयुक्तस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया सार्ष्ट्यादि नान्यथा॥'

स्थः स्वेद, वैवर्ण्य, प्रलयं वियदाश्रितः ॥२॥ स्वस्थ एकः क्रमान्मन्दमध्यतीव्रत्वभेदभाक् रोमाञ्च कम्प-वैस्वर्याण्यत्र त्रीणि तनोत्यसौ ॥३॥' अर्थात् जब चित्त सत्त्वगुणीभूत होकर जोरसे प्राणमें प्रवेश करता है तब प्राण विकारी होकर देहमें बहुत क्षोभ उत्पन्न करता है। उस समय स्तंभ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभंग, कंप, विवर्णता, अश्रु और प्रलय, ये आठ भाव शरीरमें प्रतीत होते हैं। अब किस कारणसे कौनसा भाव पैदा होता है यह भी जानना उचित है। जब पृथ्वीतत्व (मूलाधार) में प्राण प्रवेश करता है तब देह स्तंभ (खंभे) के समान अचल, स्थिर, जड़सी हो जाती है ( 'रहि गए कहत न खाटी मीठी' )। जब जलतत्वका (स्वाधिष्ठान) आश्रय करता है तब नयन नीर (अश्रुपात), जब तेजतत्त्वमें ( मणिपूर ) प्रवेश करता है तब स्वेद ( पसीना ) और शरीर निस्तेज-विवर्ण हो जाता है (वैवर्ण्य)—'बिवरन भयउ निपट नरपालू'। जब, वह कुपित प्राण अपने स्थानमें (अनाहत) ही बैठता है तब मन्द, मध्यम और तीव्र भेदसे रोमाञ्च, (पुलक सरीरा), कंप (शरीरका काँपना), 'कंप, पुलक तन, नयन सनीरा। २।७०।२।' और स्वरभङ्ग-('गद्गद गिरा, न कछु कहि जाई'); जब आकाश तत्त्वमें (विशुद्धि) प्रवेश करता है तब प्रलय तंद्रा, निद्रा, मूर्छा।

श्रीचक्रजी—भगवान् यहाँ आठों सात्विक भावोंकी बात नहीं कह रहे हैं। 'मम गुन गावत' की ही बात कह रहे हैं। और बता रहे हैं कि जिसके हृदयमें प्रेम है, उसका शरीर गुणगान करते समय रोमांचित हो जाता है, वाणी गद्गद हो जाती है और अश्रुप्रवाह चलने लगता है।

प० प० प्र०—३ ( क ) 'काम आदि मद दंभ न जाके' इति। काम आदि=काम क्रोध लोभ। यहाँ यद्यपि केवल पाँच ही विकारोंका निर्देश किया है तथापि तदनुषंगिक सभी मानस-विकारोंका ग्रहण करना उचित है, यथा 'तजि मद मोह कपट छल नाना।' ( सु० ४८।३ ), 'समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हर्ष सोक भय नहिं मन माहीं ॥ दंभ मान मद करहिं न काऊ' ( सु० ४८-६ ), 'राग रोष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहु इन्ह के बस होहू ॥ सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई।' ( अ० ७५।५-६ ), 'तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा', 'बैर न बिग्रह आस न त्रासा' इत्यादि अज्ञान, द्वैतजनित सब विकार जिसमें नहीं है। (ख) 'तात निरंतर बस मैं ताके' इति। मैं सदा सर्वकाल इसके अधीन ही रहता हूँ। यथा 'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी', 'धरउँ देह नहिं आन निहोरे', 'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसहि धन जैसे' ( सु० ४८-७ ), 'मैं इन्ह के बस रहऊँ' ( ४५-६ )।

वि० त्रि०—३ ( क ) 'काम आदि मद दंभ न जाके'—'काम, लोभ, मद, दम्भ आदि दुरभिसन्धि हैं। जो किसी कामनासे गान करता हो वह भले ही अर्थार्थी भक्त हो, पर प्रेमाभक्ति उसे नहीं है। जो मदसे गान करता हो कि मैं सङ्गीत-शास्त्रका आचार्य हूँ अथवा मुझसे गानेवाले दुर्लभ हैं, उसे भी भगवद्गुण-गानका कुछ फल तो होता ही है पर प्रेमाभक्तिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। अथवा जो लोभसे गान करता है, कि गान करनेसे मुझे कुछ मिलेगा या जो दम्भसे गान करता है कि लोग मुझे भक्त कहेंगे, उनका गान वैसा नहीं ( चाहे वह कितना ही लय, सुर और तानसे ठीक हो ) जो भगवान्को रिझा सके। अतः गान सभी दुरभिसन्धियोंसे रहित होना चाहिये। यथा 'प्रेम भगति बिनु सुनु खगराई। अभ्यंतर मल कबहुँ कि जाई।' [ ऊपर जो-जो कर्म कहे गए हैं वे सब कामादिद्वारा भी होते हैं। दम्भसे अश्रु बहाने, गद्गद स्वर हो जाने, रोमांचित होनेकी बात तो दूर रही मूर्छातकका अभिनय लोग करते हैं। नाटक और सिनेमामें जैसे अभिनेता अश्रु आदि दिखा लेते हैं, वैसे ही लोग कथा कीर्तनमें भी अश्रु बहाते हैं, गद्गद स्वर बना लेते हैं, रोमांच या कंप दिखलाते हैं। दंभ न भी हो तो भी मद हो जाता है। ( चक्रजी ) ]। (ग) 'तात'—प्रश्न है 'मोहिं समुझाइ कहौ सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा' और उत्तर हो रहा है-'तात निरंतर बस मैं ताके।' यहाँ भी उत्तर प्रश्नसे कहीं अधिक विशेषता रखता है, इसलिए फिर 'तात' सम्बोधन देते हैं। ( घ ) 'निरंतर बस मैं ताके'—श्रीमद्भागवतमें दुर्वासाजीसे स्वयम् भगवान्ने कहा है कि 'हे ब्राह्मण! मैं भक्तके पराधीन हूँ, एक प्रकारसे परतन्त्र ही हूँ—'अहं भक्तपराधीनः ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।९।४।६३।' सो भग-

वान् ऐसे ही भक्तके पराधीन ( वशमें ) रहते हैं । यथा, पाञ्चरात्रमें—'मनोगतिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता । अभिसन्धिविनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवशङ्करी ॥' श्रीहरिमें अविच्छिन्न और अभिसन्धिरहित, प्रेमपरिप्लुता मनोगतिका होना, ऐसी भक्ति है जो हरिको वशमें रखती है ।

टिप्पणी—१ ( क ) 'मम गुन गावत''', यथा 'पुलक गात हिय सिय रघुबीरू । नाम जीह जप लोचन नीरू' ( भरतः ) । सबके अन्तमें गुणगानको कहनेका अभिप्राय यह है कि भागवतमें लिखा है कि तबतक धर्म करे जबतक हमारी कथामें प्रीति न हो ।—( खर्रा ) । ( ख ) 'काम आदि मद दंभ न जाके ।' इति । ये सब कथाके बाधक हैं, यथा 'क्रोधिहि सब कामिहि हरिकथा । ऊसर बीज बये फल जथा', 'अति खल जे बिषई बक कागा । एहि सर निकट न जाहिं अभागा', 'तेहि कारन आवत हिय हारे । कामी काक बलाक बिचारे ।' इनके रहते हुए भगवान् कभी हृदयमें नहीं बसते । यथा 'हरि निर्मल मल ग्रसित हृदय असमंजस मोहि जनावत । जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत । वि० १८५।', 'करहु हृदय अति बिमल बसहिं हरि कहि कहि सबहिं सिखावौं ।'''वि० १४२।' ( ग ) 'तात निरंतर बस मैं ताके', यथा 'नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेन च । मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥'

**दोहा—बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम ।**
**तिन्हके हृदय कमल महुँ करौं सदा बिश्राम ॥१६॥**

**भगति जोग सुनि अति सुख पावा । लछिमन प्रभु चरनन्हि सिरु नावा ॥१॥**
**एहि बिधि गए कछुक दिन बीती । कहत बिराग ग्यान गुन नीती ॥२॥**

अर्थ—जिनको वचन, कर्म और मनसे मेरी ही गति है और जो कामनारहित होकर भजन करते हैं, उनके हृदयकमलमें मैं सदा विश्राम करता हूँ ॥१६॥ भक्तियोग सुनकर लक्ष्मणजीने अत्यन्त सुख पाया और प्रभुके चरणोंमें माथा नवाया ॥१॥ इस प्रकार वैराग्य, ज्ञान, गुण और नीति कहते हुए कुछ दिन बीत गए ।२।

प० प० प्र०—१ 'बचन कर्म मन मोरि गति' । जो वाणीसे, कर्मसे और मनसे भी एक श्रीभगवान्के सिवा दूसरे किसीकी भी आशा नहीं रखते हैं । दुःख होनेपर किसीके पास नहीं जाते कि यह हमारा दुःख दूर करो । न मुखसे दूसरे किसीकी सहायता चाहते हैं, न मनमें ऐसा लाते हैं । उनके लिये एक भगवानके सिवा अन्य रक्षक, पोषक हितकारक, सुखदायक, दुःख भय शोकनिवारक इत्यादि विश्वमें कोई भी है, ऐसा जिनके मनमें भी नहीं आता है वे अनन्यगति हैं । जिसके मनमें योग-यज्ञ-जप-तपादि किसी साधनकी आशा नहीं है कि मैं अमुक साधन करके दुःख-शोक-भयादिसे छुटकारा पा जाऊँ । "एक बानि करुना-निधान की । सो प्रिय जाके गति न आन की", "मोरे जिय भरोस दृढ़ नाहीं । भगति बिरति न ग्यान मन माहीं ॥ नहिं सत्संग जोग जप जागा । नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा" ये हैं सुतीक्ष्णजीके वचन जिनके संबंधमें भगवान् शंकरजी कहते हैं—"नाम सुतीछन रति भगवाना । मन क्रम बचन रामपद सेवक । सपनेहु आन भरोस न देवक ॥" इसका नाम है 'अनन्यगति' । एक भगवान्का भरोसा छोड़कर, साधन, वस्तु, व्यक्ति, देवी, देवता, कुटुम्बी, संबंधी, इत्यादि किसीके भी भरोसेपर न रहना ही है 'अनन्य गति' । "मोर दास कहाइ नर आसा । करइ त कहहु कहा बिस्वासा' । ऐसे अनन्य भक्तोंको मोक्षकी भी इच्छा नहीं होती है—"मुकुति निरादरि भगति लोभाने' । बस वे एक ही बात जानते हैं कि भजन करना ही अपना कर्तव्य है । कोई कामना भी जिनके चित्तमें नहीं है ऐसे भक्तोंके हृदयमें ही भगवान् विश्राम करते हैं !!

श्रीचक्रजी—पहिले 'मन क्रम बचन भजन' प्रभुने बताया था । वहाँ भजन करनेकी बात थी; अतः मन क्रम तथा वाणी यह क्रम बतलाया गया था । अब यहाँ वचन, कर्म तथा मनका क्रम बतला रहे हैं । वाणीकी गति भगवान्में ही हो अर्थात् भगवान्के नाम, गुण तथा लीलाका ही वर्णन वाणी करे । कर्मकी

गति भगवान् में हो; अर्थात् जितने भी कर्म किए जायँ सब भगवत्प्रीतिके लिए ही किए जायँ और मनकी गति भगवान्में हो; अर्थात् मनसे भगवान्के ही रूप, गुण तथा लीलाओंका चिन्तन हो।

मन, वाणी और कर्म तीनोंकी गति भगवान्में ही हो; भगवान्को छोड़ अपने लिये जीवनमें कुछ न बचा हो, न बोलना, न करना और न सोचना। जीवन भगवन्मय हो, भगवान्के लिये ही हो। शरीर, मन और वाणी एक यन्त्रके समान हो चुका हो जो कि प्रभुके लिये ही प्रयुक्त हो। और सर्वथा निष्काम भावसे हो। लोक, परलोक और मोक्षतककी कामना नहीं हो, भजन भजनके लिये ही हो। जहाँ भजनको छोड़कर न कुछ बोलना अच्छा लगता है, न करना और न सोचना ही, ऐसी स्थितिके भक्तके ही हृदय-कमलमें प्रभु विश्राम करते हैं।

प० प० प्र०—"करौं सदा विश्राम' इति। शंका—ईश्वर तो "सबके हृदय निरंतर बासी" हैं ही। यथा "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" ( गीता १८।६१ ), तब भक्तिसे विशेष क्या लाभ ? समाधान—(१) ईश्वर सर्वभूतहृदय निवासी हैं यह बात सत्य है। तथापि उन हृदयोंमें वे अप्रगट रूपसे ही रहते हैं। इससे अनुभवमें नहीं आते हैं। "दुरधिगमोऽसतां हृदिगतोऽस्मृत कण्ठमणि", ( वेद स्तुति )। अर्थात्—"मणि गलेमें ही रख दी है, यह भूल जानेसे त्रैलोक्यमें खोजनेपर भी वह नहीं मिलती है। है तो बिलकुल पास ही। यही बात बालकांडमें कही गई है, यथा "मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना", "सत चेतन घन आनँद रासी। अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी" ( बा० २३।६-७ )। इसीसे इस दोहेमें 'बास करउँ' ऐसा न कहकर "करउँ विश्राम" कहा। भाव यह कि ऐसे भक्तोंके हृदयमें ही भगवान्को विश्राम मिलता है। अन्य लोगोंके हृदय-काम-क्रोधादि मलोंसे भरे हुए हैं। पुनः, ( २ ) विश्रामका भाव कि अन्य सब जीव "पुत्रान् देहि, धन देहि, यशो देहि, द्विष से जहि" ऐसी बातें सुनाते ही रहते हैं। तब भगवान्को विश्राम कहाँ। "सब जीव प्रभुको प्रिय हैं। "सब मम प्रिय सब मम उपजाये' हैं, "सब पर पितहि प्रीति सम होई" तथापि वे आपसमें डाह, वैर, विग्रह, झगड़े करते हैं। किस पिताको विश्राम मिलेगा उस घरमें जिसमें उसके सभी पुत्र आपसमें निरंतर झगड़ते हों!! इस दोहेमें 'निवास', या 'वास' शब्द कवि लिख देते तो कितना अनर्थ हो जाता! धन्य है कविकी जागरूकता और पूर्वापर अखंड समन्वय पद्धति !! अयोध्याकाण्ड वाल्मीकि-संभाषणमें ही इसी भावसे, मंदिर, शुभसदन, निज गेह, सदन सुखदायक, शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'करौं सदा विश्राम'। इन शब्दोंसे इसे निज गृह सूचित किया, यथा 'जाहि न चाहिय कबहुँ कछु तुम्हसन सहज सनेह। मनमंदिर तिन्हके बसहु सो राउर निज गेह।' (ख) ज्ञानका फल मोक्ष है और भक्तिका फल उरमें भगवान्का वास है, यह 'बचन कर्म मन मोरि गति००।'''करौं सदा विश्राम' इस वाक्यमें परिपुष्ट सिद्धान्त कहा। ( ग ) सबके अन्तमें हृदयकमलमें विश्राम करना कहा। कारण कि 'सब साधन को एक फल जेहि जानेउ सोइ जान। ज्यों त्यों मन मंदिर बसहिं राम धरे धनुबान'। (दोहावली ९०)।

श्रीचक्रजी—यहाँ श्रीकौसल्यानन्दवर्धन स्वयं अपने लिये 'करउँ सदा विश्राम' कहते हैं। अर्थात् उस निष्काम भक्तके हृदयमें तो ये नव जलधर सुन्दर सगुण साकाररूपसे विश्राम करते हैं। देवर्षि नारदका भी ऐसा ही अनुभव है। यथा 'प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः। आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि। भा० १।६।३४।' देवर्षिजी व्यासजीसे कहते हैं—'जब मैं उन प्रियश्रवण ( जिनके गुण सुननेमें बहुत प्यारे लगते हैं ), तीर्थचरण ( जिनके श्रीचरण ही सबको परम पवित्र करनेवाले हैं ) का गुणगान करने लगता हूँ तो अपने गुण-पराक्रमका गान होते ही झटपट वे मेरे हृदयमें प्रगट होकर इस प्रकार दर्शन देने लगते हैं, जैसे उन्हें बुलाया गया हो।

वि० त्रि०—१ ( क ) 'बचन कर्म मन मोरि गति'—जिन्हें मनसा, वाचा, कर्मणा श्रीरामकी ही गति है—दूसरा चारा नहीं, वे ही जागते-सोते भगवानकी शरणमें रहते हैं। दूसरेसे बोलना भी पड़ा तो सत्य, प्रिय और विचारकर हितकी बात बोलते हैं। उन्हें दुःख, सुख, प्रशंसा और गाली समान होती है, वे सबके

हितकारी और प्रिय होते हैं। यथा 'सबके प्रिय सबके हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥ कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥ तुम्हहिं छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥ २।१३०।' (ख)—'भजन करहिं निष्काम'। वे ही भक्त निष्कामभजन कर सकते हैं, जिन्हें न तो परमार्थकी कामना है और न जो गूढ़गति जानना चाहते हैं। न उन्हें अणिमादिक सिद्धियाँ चाहियें और न किसी सङ्गसे विनिर्मुक्ति। यथा 'सकल कामनाहीन जे, रामभगति रस-लीन। नाम सुप्रेम पियूषह्रद, तिनहु किये मन मीन॥' (ग) 'तिन्हके हृदयकमल महुँ'—भाव यह है कि उन्हींके हृदयकी शोभा है इसीसे कमलकी उपमा दी है। वही हृदय ऐसा है, जहाँ भगवान् सगुणरूपमें रहते हैं। निर्गुण रूपसे तो उनका निवास सभी हृदयोंमें है। (घ) 'करहुँ सदा विश्राम'—जिनके हृदयमें कुछ और भी कामनाएँ हैं उनके हृदयमें सगुण रूपसे प्रकट होनेपर भी श्रीहरि विश्राम नहीं करने पाते। उनकी रुचि रखनेके लिए उन्हें सतत चंचल रहना पड़ता है। यथा 'राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुराण संत सब साखी॥' पर प्रेमाभक्तिवाले निष्काम भजन करते हैं, अतः भगवान्‌को विश्राम उन्हींके हृदयमें मिलता है। इस प्रेमाभक्तिके भी श्रीवाल्मीकिजीने चौदह भेद कहे हैं। यथा (१) 'जिन्हके श्रवन समुद्र समाना।''' तिन्हके हिय तुम्ह कहुँ गृहरूरे॥ २।१२८।४-५।' (२) 'लोचन चातक जिन्ह करि राखे।'''तिन्हके हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक॥ २।१२८।६-८।', (३) 'जसु तुम्हार मानस बिमल, हंसिनि जीहा जासु। मुकुताहल गुनगन चुनइ, राम बसहु हिय तासु। १२८।', (४) 'प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा।'''राम बसहु तिन्हके मन माहीं॥ २।१२६।१-५', (५) 'मंत्रराज नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा॥'''सबु करि मागहिं एक फलु, रामचरन रति होउ। तिन्हके मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥ १२६।', (६) 'काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा। जिन्हके कपट दंभ नहिं माया। तिन्हके हृदय बसहु रघुराया॥ २।१३०।१-२।', (७) 'सबके प्रिय सबके हितकारी। '''तुम्हहिं छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहुँ तिन्हके मन माहीं॥२।१३०।३-५।', (८) 'जननीसम जानहिं परनारी।'''जिन्हहिं राम तुम्ह प्रानपियारे। तिन्हके मन सुभसदन तुम्हारे॥ २।१३०।६-८।', (९) स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्हके सब तुम्ह तात। मनमंदिर तिन्हके बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥ १३०।', (१०) 'अवगुन तजि सबके गुन गहहीं।'''घर तुम्हार तिन्हकर मनु नीका॥ २।१३१।१-२।' (११) 'गुन तुम्हार समुझहिं निज दोसा।'''तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥ २।१३१।३-४।' (१२) 'जाति-पाँति धन धरम बड़ाई।'''तेहिके हृदय रहहु रघुराई॥ २।१३१।५-६।', (१३) 'सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरे धनुबाना॥ करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहिके उर डेरा॥ २।१३१।७-८।', (१४) 'जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेह। बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेह॥१३१।',

नोट—पं० श्रीकान्तशरणजीने श्रीरामगीताके इस चरम वाक्यका मिलान गीताके चरमवाक्य 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः। १८।६५,६६।' से इस प्रकार किया है कि—"उत्तरकांड दो० १०३ में सबके हृदयमें नित्य चारों युगोंकी वृत्तियोंका होना कहा गया है। तदनुसार सत्ययुगकी शुद्ध सत्वमय वृत्तिमें भगवान्‌में मन रक्खे, यह 'मन्मना भव' का अर्थ है। त्रेताकी वृत्तिमें थोड़े रजोगुणके संसर्गसे जब कुछ चपलता आवे, तब देवताओंको मेरे शरीररूपमें जानते हुए यज्ञरूप मेरी भक्ति करे; यह 'मद्भक्तः' का अर्थ है। द्वापरकी वृत्तिरक्षाके लिये 'मद्याजी' अर्थात् मेरी पूजा कर, यह कहा है और फिर कलियुगकी वृत्तिरक्षाके लिये 'मां नमस्कुरु' यह कहा है। अर्थात् चारों युगोंकी वृत्तियोंके उपायरूप मैं ही हूँ। इस श्लोकका भाव यहाँ 'वचन करम मन मोरि गति' में कहा गया।'''सर्वधर्मान्''' इस श्लोकके पूर्वार्धका भाव यहाँके 'भजन करहिं निष्काम' की अनन्यतामें आ गया। श्लोकके उत्तरार्धका भाव 'तिन्हके हृदय''' में कहा गया कि शेष आयुभोगमें कोई शोच न रहेगा।"

☞ दोनों वाक्योंका मिलान श्लोकके शब्दोंका अर्थ जान लेनेसे सरलतासे हो जाता है। मन्मना भव=मुझमें मन वाला हो अर्थात् जिस-तिस प्रकारसे हो मन मुझमें ही लगा रहे, अन्यत्र न जाय। यही बात 'मन मोरि गति' से कही गई है।

मद्भक्तो भव=मेरा भक्त हो। भजन करनेवाला भक्त कहलाता है। यही बात 'भजन करहिं' से कही गई। निष्काममें 'मत्' का भाव आ गया। मेरे सिवा भक्तिमें दूसरी कामना न हो। मद्याजी=मेरा यजन ( पूजन आदि ) करनेवाला हो। पूजन आदि कर्म हैं। यह बात 'करम मोरि गति' से कही गई है।

मां नमस्कुरु=मुझको ही नमस्कार कर। 'नमस्कार' में कर्म और वचन दोनोंका समावेश है। वचनसे 'नमामि' आदि कहा जाता ही है। यही बात 'वचन मोरि गति' से कही गई।

मामेवैष्यसि=तू मुझको प्राप्त होगा। यह बात 'तिन्हके हृदयकमल महँ करउँ सदा विश्राम' में आ गई। सदा हृदयमें सगुणरूपसे निवास करना भगवत्-प्राप्ति ही है।

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'=सवधर्मोका परित्याग करके मुझ एककी शरण आ जा। यही भाव 'गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा। १६।१०।' के साथ-साथ 'करम बचन मन मोरि गति' मेंआ गया। ऐसा सज्जन भगवान्‌को प्रिय है, यथा 'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥···अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धनु जैसे॥ तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। ५।४८।' गीताके पूर्व श्लोक के 'सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे' का भाव इसमें आ गया।

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'=मैं तुझे सारे पापोंसे छुड़ा दूंगा, तू शोक मत कर। यह भाव 'करम बचन मन मोरि गति···' इसमें ही आ गया। जिसके हृदयमें श्रीरामजी धनुषबाण लिये बसते हैं उसके निकट कामक्रोधादि जो पापके मूल हैं आ ही नहीं सकते, यथा 'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरें चाप सायक कटि भाथा। ५.४७।' और जिसे मन कर्म वचनसे प्रभुकी ही गति है उसे कभी विपत्ति नहीं आ सकती, यथा 'वचन काय मन मम गति जाही। सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही॥ कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई।५।३२.२,३।' अतः इसमें 'मा शुचः' का भाव है।

वि० त्रि०—'भक्तिके साधन कहहुँ बखानी' से लेकर 'तिन्हके हृदय कमल महँ करउँ सदा विश्राम' तक भक्तियोग है। यह सब योगोंमें उत्तम हैं। स्वयं भगवानने कहा है 'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्त-रात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।' (गीता ६।४७)। अर्थात् सभी योगियोंमें, मुझमें मन लगाकर श्रद्धापूर्वक, जो मेरा भजन करता है वह सबसे बड़ा योगी है।

प० प० प्र०—१ (क) 'भक्तियोग'। भक्तियोग ही आत्मा और परमात्माका सच्चा शाश्वत योग कर देता है। कारण 'जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभपदादपि परत हम देखत हरी' (वेदस्तुति ७.१३), 'भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे', 'भजन हीन सुख कवने काजा' (७.८४), इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है। भक्तको प्रभुका ही बल रहता है, प्रभु ही उसके सब आवश्यक कार्य कर देते हैं। अतः भक्तियोग सुलभ और सुखद है। यथा 'जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही', 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। गीता ७।१४।', 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्॥' (गीता १२।७), 'श्रेयः स्रुतिं भक्ति मुदस्य' 'ज्ञाने प्रयासमुद-पास्य' 'अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय' इत्यादि भाग० १०।१४४,२,२६। ब्रह्मस्तुतिके श्लोक अवश्य अवलोकन करने योग्य हैं। (ख) 'भक्ति योग सुनि अति सुख पावा।' कथनका सारांश यह है कि जो अति सुख चाहते हो तो निरंतर भक्तियोगका श्रवण संतमुखसे करते रहो। सम्पूर्ण मानस तो भक्तियोग से ही भरा है यथा 'जेहि

गाहँ आदि मध्य अवसाना । प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना'। इस छोटेसे अरण्यकाण्डमें भक्तिरस ठोस ठोस अर्थात् अपार ही भरा हुआ है।

टिप्पणी—२ 'भगति जोग....' इति। (क) भाव कि ज्ञान, वैराग्य और माया, ईश्वरजीवभेद (वा कर्मयोग और ज्ञानयोग) सुनकर भी सुख हुआ, पर भक्तियोग सुनने से 'अति' सुख प्राप्त हुआ। पुनः भक्ति सुखदाई है उससे शीघ्र प्रभु द्रवीभूत होते हैं, अतः इससे अत्यन्त सुख हुआ। [अथवा, प्रभुमुखकी वाणी सुननेसे सकल भ्रमकी हानि होती है। अतः भक्तियोगके अभ्रान्त ज्ञानसे परमसुखकी प्राप्ति हुई। (वि० त्रि०)। इससे यह भी सूचित किया कि जब श्रवणमात्रसे ही अतिशय सुख होता है तो भक्ति प्राप्त होनेसे अपार अनन्त परम अगाध सुख होगा इसमें आश्चर्य ही क्या? (प० प० प्र०)। श्रीलक्ष्मणजीने कहा था कि 'सकल कहौ समुझाइ। जातें होइ चरनरति।' श्रीरामजीने ज्ञानको सूक्ष्म रीतिसे कहकर ज्ञान और भक्तिका भेद कहते हुए भक्तिको विस्तारसे कहा, क्योंकि इस भेदको जान लेनेसे प्रभुके चरणोंमें अविच्छिन्न अनुराग होता है, और इस रहस्यको जान लेनेसे फिर मोह आदि नहीं होते। यथा 'यह रहस्य रघुनाथ कर वेगि न जानइ कोइ। जो जानइ रघुपति कृपा सपनेहु मोह न होइ॥ औरौ ज्ञान भगति कर भेद सुनहु सुप्रबीन। जो सुनि होइ रामपद प्रीति सदा अविछीन।७.११६।', अतः 'भगति जोग सुनि अति सुखपावा'। (ख) 'सिरु नावा'—उपदेश के अनन्तर प्रणाम पुनः करना श्रुतिस्मृतिसन्त सबका सिद्धान्त है। यह कृतज्ञता सूचित करता है। यथा 'सो पहिं होइ न प्रति-उपकारा, तव पद बंदउँ वारहिं वारा'। (ग) 'सब तजि करौं चरन रज सेवा' उपक्रम है और 'प्रभु चरनन्हि सिरु नावा' उपसंहार।

प० प० प्र०—इस प्रकरणका उपक्रम 'एक बार प्रभु सुख आसीना' से हुआ और उपसंहार भी 'अति सुख' और 'प्रभु' शब्दोंसे ही किया गया है-'अति सुख पावा। प्रभु चरनन्ह...'। इस तरह उपक्रमोपसंहारसे ही जना दिया कि जहाँ प्रभु हैं वहीं सुख है। बीचमें 'सचराचर स्वामी', 'प्रभु', 'देवा' और 'प्रभु' इस प्रकार चार बार आवृत्ति भी हो गई। (मानस गूढ़ार्थचन्द्रिका अप्रकाशित)।

टिप्पणी—३ (क) 'एहि विधि गये कछुक दिन बीती' इति। भाव कि अन्यत्र महीना या वर्षका वर्ष बीता यहाँ कुछ ही दिन बीते क्योंकि अब वनवासके दिन थोड़े ही रह गए हैं। [(ख) 'एहि विधि' अर्थात् श्रीलक्ष्मणजी सेवकभावसे कुछ पूछते और श्रीरामजी समझाते, इस प्रकार। (प० प० प्र०)]। (ग) 'कहत विराग ज्ञान गुन नीती', यथा 'कहिय तात सो परम विरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी'—(वैराग्य), 'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं'—(ज्ञान), 'एक रचै जग गुन बस जाके', 'तृनसम सिद्धि तीनि गुन त्यागी'—(गुण), 'निज निज कर्म निरत श्रुतिनीती'—(नीति)। (घ) [भक्तिको कहकर फिर कुछ न कहा। वैराग्यका स्वरूप पातंजलिशास्त्रमें, ज्ञानका सांख्यमें, गुण भागवतोंके और राजनीति कही। नीतिपर समाप्ति की क्योंकि आगे शूर्पणखाके नाक कान काटना है। (खर्रा)]।

प० प० प्र०—'कहत विराग···' इति। (क) इसमें भक्ति नहीं है। कारण कि भक्तिका विस्तृत विवेचन 'श्रीरामगीता' में श्रवण कर चुके हैं। वहाँ ज्ञान, वैराग्य और मायाका विवेचन संक्षिप्तरूपमें ही सुना था, अतः उनके सम्बन्धमें कुछ शंकाओंका उठना स्वाभाविक था। इसीसे उनको पूछा गया और भगवान् राम उत्तर देते गए। (ख) 'गुन' शब्दसे जनाया कि 'गुण' का अर्थ, गुणोंकी संख्या, जीव के ऊपर गुणोंके परिणाम, गुण कब और किसको बंधनकारक होते हैं, इत्यादि सब कहे गए। (ग) 'नीति' शब्दसे धर्मनीति, राजनीति, वैयक्तिक नीति, सामाजिक नीति, राष्ट्रीय नीति इत्यादिकी चर्चा तथा कब किस नीतिको महत्व देना चाहिए इत्यादि विवेचन सूचित कर दिया।

यहाँ 'पुनि लछिमन उपदेश अनूपा' अर्थात् श्रीरामगीता-भक्तियोग प्रकरण समाप्त हुआ।

## अरण्यकाण्ड पूर्वार्ध समाप्त हुआ।

(श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु)

श्रीरूपकलादेव्यै नमः श्रीहनुमते नमः श्रीहनुमते नमः
श्रीरूपकलादेव्यै नमः श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः

# अरण्यकाण्ड-उत्तरार्ध

## 'सूर्पणखा जिमि कीन्हि कुरूपा' प्रकरण

सूपनखा रावन कै बहिनी। दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी ॥३॥
पंचबटी सो गइ एक बारा। देखि बिकल भइ जुगल कुमारा ॥४॥
भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी ॥५॥
होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी ॥६॥

शब्दार्थ—'दारुन' (दारुण) = कठिन, क्रूर, क्रोधी स्वभाववाली।

अर्थ—नागिनकी-सी कठिन दुष्टहृदयवाली शूर्पणखा जो रावणकी वहिन थी, वह एक वार पंचवटीमें गई। दोनों राजकुमारोंको देखकर व्याकुल हो गई ॥३-४॥ (भुशुण्डिजी कहते हैं—) हे सर्पके शत्रु गरुड़जी! भाई, पिता, पुत्र कोई भी सुन्दर पुरुष हो उसे स्त्री देखते ही व्याकुल हो जाती है, मनको नहीं रोक सकती जैसे सूर्य्यकान्तमणि सूर्य्यको देखकर तेजको प्रवाहित करती है (यद्यपि सूर्य्यको सूर्य्यकान्तमणिके होनेतकका पता नहीं है) ॥५-६॥

शूर्पणखाः—कुवेरने अपने पिताको प्रसन्न करनेके लिए परम सुन्दरी तीन राक्षस-कन्याओं, पुष्पोत्कटा, राका और मालिनीको उनकी सेवामें नियुक्त कर दिया। इनकी सेवासे प्रसन्न होकर महात्मा विश्रवाने प्रत्येकको लोकपालोंके सदृश पराक्रमी पुत्र होनेका वरदान दिया। पुष्पोत्कटासे रावण और कुंभकर्ण, मालिनीसे विभीषण और राकासे खर और शूर्पणखा हुए। इस प्रकार शूर्पणखा रावनकी वहिन है। (महाभारत वनपर्व अ० २७५ के अनुसार यह कथा है। वाल्मीकीय (७।९) का रावण, कुंभकर्ण, शूर्पणखा और विभीषण चारों कैकसीकी संतानें थीं। पर यह मत मानसका नहीं है। विशेष १।१७६ (१-५) मानसपीयूष भाग २ देखिए)। इसका विवाह कालखञ्जवंशी मायावी राक्षस विद्युज्जिह्वसे हुआ था; रावणने उसको मार डाला। शूर्पणखाके विलाप करनेपर उसने खरदूषणत्रिशिरा और १४ हज़ार वलवान् राक्षसोंकी सेना देकर जनस्थानमें इसे रखा। इसके नख सूपके समान थे, अतः शूर्पणखा नाम पड़ा। खरदूषण भी इसके भाई हैं। यह स्वयं वलवती और स्वच्छन्दचारिणी थी।—'अहं प्रभावसंपन्ना स्वच्छन्दवलगामिनी। वाल्मी० ३। १७।२५।' अर्थात् मैं अपने स्वाधीन वलसे सर्वत्र विचरण करती हूँ—यह उसने स्वयं श्रीरामजीसे कहा है।

नोट—१ यहाँ दुष्टहृदय और दारुणके लिए नागिनकी उपमा वड़ी उत्तम है। वह भयङ्कर होती ही है पर साथ ही ऐसी दारुणहृदया है कि अपने ही अंडोंबच्चोंको खा जाती है। वैसे ही यह सारे निशाचरवंशके नाशका कारण होगी। २—'रावणकी वहिन' कहकर वैधव्य जनाया। दूसरे, रावण जगत्प्रसिद्ध है इससे उसका नाम दिया। [पुनः, रावणकी वहिन कहकर उसे वड़ी क्रूर, व्यभिचारिणी, परपुरुषरता, राक्षसी, विशाल देहवाली और रावणके समान जनाया। 'दुष्ट हृदय' अर्थात् जिसका हृदय कामविकार तथा अधर्मसे दूषित हो गया है। यथा 'प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः', 'स्त्रीषु दुष्टासु—वर्णसंकरः' (गीता १।४१)। 'अहिनी' से डाहशील, दूर रखने योग्य, क्रूर, चपल इत्यादि जनाया। (प० प० प्र०)]

३ 'सूपनखा रावन कै वहिनी'। यह प्रसंग 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः' का उदाहरण है। जो पुरुष परायी स्त्रीसे अनुचित प्रेम करता है, वह उस स्त्रीके पतिके परोक्षमें करता है। उसका एक कारण यह भी है

कि पति भड़ुआ नहीं है तो उसकी मरम्मत करेगा। इसी तरह जो स्त्री किसी दूसरी स्त्रीके पतिसे प्रेम करती है वह भी उस दूसरी स्त्रीके सामने नहीं करती। शूर्पणखाकी ऐसी मति भङ्ग हो गई कि उसने श्रीसीताजीके सामने अपना प्रेम प्रकट किया। इस बातको कालिदासने रघुवंशमें स्पष्टरूपसे लिखा है। [ गोस्वामीजीने भी श्रीसीताजीकी उपस्थिति 'तब खिसिआनि राम पहिं गई। रूप भयंकर प्रगटत भई॥ सीतहि सभय देखि रघुराई।' इन चरणोंमें जना दी है। ] रघुवंशके उस अंशका अनुवाद यह है—'प्रथम बरनि निज कुल कहि नामा। सिय सन्मुखहि बरयो तिन रामा॥ बढ़त काम तरुनी मन माहीं। समय कुसमय निहारत नाहीं॥'— इतनी निर्लज्जता! ऐसी मति मारी गई। श्रीजीने उसकी निर्लज्जतापर मुस्कुरा दिया। इसपर वह राक्षसी तो थी ही, उनको धमकाने लगी कि मैं तुमको खा जाऊँगी। इत्यादि। यहीं राक्षसविनाशका सूत्रपात हुआ।

नोट—४ 'पंचबटी सो गइ एक बारा' इति। – पंचवटीकैसे गई यह अ०रा० में लिखा है कि एक दिन पंचवटीके पास गौतमी नदीके तीरपर श्रीरामजीके कमल, वज्र और अंकुशकी रेखाओंसे युक्त चरणचिह्नोंको देखकर वह उनके सौन्दर्यसे मोहित होकर कामासक्त हुई। उन्हें देखती-देखती धीरे-धीरे रघुनाथजीके आश्रममें चली आई। यथा 'एकदा गौतमीतीरे पञ्चवट्याः समीपतः। पद्मवज्राङ्कुशाङ्कानि पदानि जगतीपतेः।२। दृष्ट्वा कामपरीतात्मा पादसौन्दर्यमोहिता। पश्यन्ती सा शनैरायाद्राघवस्य निवेशनम्।३। अ० रा० ३।५।' अथवा, अब निशाचरोंके नाशवाली लीलाका समय आ गया, अतः कालकी प्रेरणासे इस समय आई। अ० दी० कार कहते हैं कि 'क्या कारण था कि शूर्पणखा स्त्रीजाति होकर एक बार अकेली पंचवटीमें गई?' और उसका उत्तर देते हैं कि शूर्पणखाका विवाह होनेके छठे ही दिन उसके पुत्र हुआ। विद्युज्जिह्वको मार डालनेके बाद रावणने उसके पुत्रको जनस्थानमें लोहेके एक पिंजड़ेमें बंदकर क़ैदी बनाकर रक्खा था। एक बार फूल फल लेनेके लिये लक्ष्मणजी उधर जा निकले थे। उन्हें देखकर वह राक्षस हँसा तब लक्ष्मणजीने उसे अग्निबाणसे भस्म कर दिया। नारदने यह समाचार शूर्पणखाको दिया तब वह क्रोधित होकर प्रभुके निकट आई (पर यहाँ आते ही वह तो दोनोंपर आसक्त हो गई। पुत्रवधको उसने शकुन माना। न पुत्रवध होता न इधर आती। पर यह कथा कहाँसे ली गई यह नहीं मालूम है)। (अ० दी० च०)।

टिप्पणी—१ 'देखि बिकल भइ जुगल कुमारा' यहाँ कहा और आगे कहते हैं कि 'रुचिर रूप धरि…'। इससे अनुमान होता है कि उसने दोनों भाइयोंको देखा पर इन्होंने उसे नहीं देखा; क्योंकि यदि देख लेते तो रूप बनाते न बनता। 'युगल' का एक भाव यह भी है कि एकके स्त्री है वह न ब्याहेगा तो दूसरा तो अवश्य ब्याह लेगा (इससे कुलटा व्यभिचारिणी भी होना जनाया)। ['देखि बिकल भइ' अर्थात् कामातुरा हो गई, यथा 'दृष्ट्वा राक्षसी काममोहिता', 'राक्षसी मदनार्दिता', 'कामपाशावपाशिताम्' (वाल्मी० ३।१७।६,३।१७।२१, ३।१८।)। लक्ष्मणजीसे भी उसने कहा है कि तुम्हारे इस रूपके योग्य मैं ही तुम्हारी सुन्दरी स्त्री हो सकती हूँ। यथा 'अस्य रूपस्य ते युक्ता भार्याऽहं वरवर्णिनी। वाल्मी० ३.१८.७।' ]

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—१ 'देखि बिकल…' इति। (क) शुद्ध हृदयवाली स्त्री कभी ऐसी विकल नहीं होती। इससे 'दुष्ट हृदयत्व' जनाया। (ख) 'कुमारा'—यह शब्द कविने प्रयुक्त करके इससे 'कुमार-अवस्थावाला' यह अर्थ सूचित किया। 'देखत बालक बहु कालीना' होनेसे ही सनकादि चारों भाइयोंको भी 'सनत्—कुमार' कहते हैं। श्रीराम-लक्ष्मणादिका शरीर, रूपादि सदैव कुमारावस्थाका-सा रहता है, इसीसे तो इन सबोंकी मूर्तियाँ 'श्मश्रुविहीन' (दाढ़ीमूछरहित) होती हैं। यहाँ 'कुमार' शब्दके प्रयोगमें जो हेतु है वह चौ० ११ से संबंधित है।

टिप्पणी—२ 'भ्राता पिता पुत्र उरगारी' इति। (क) 'उरगारी' संबोधनका भाव कि आपका सर्प ही भोजन है तब तो आपके स्वामीके आगे अहिनी (साँपिनी) की दुर्दशा हुई। (पं०)। (ख) 'भ्राता पिता पुत्र' अर्थात् इनके देखनेसे कामकी उत्पत्ति न होनी चाहिए; पर इनके साथ भी स्त्री रहे तो काम न व्यापे, यह कठिन है। इसीसे मनुस्मृतिमें लिखा है कि 'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्' अर्थात् इनके साथ भी

कभी एकान्तमें वास न करे) । [पाँड़ेजी "भ्राताके तुल्य बराबरी अवस्थाका, पिताके समान अधिक अवस्थावाला और पुत्रके समान छोटी अवस्थावाला पुरुष हो उसकी मनोहरता देखकर"—ऐसा अर्थ करते हैं । ]

व्यापकजी—ग्रन्थकारकी शैली है कि जहाँ जिसकी प्रधानता दिखानी होती है वहाँ अन्य उदाहरणोंके साथ उसीको प्रथम देते हैं । जैसे, 'अनुजबधू भगिनी सुतनारी । सुनु सठ कन्या सम ये चारी ।' में भगिनी, सुतनारी और कन्याके साथ 'अनुज वधू' को ही प्रथम कहा, क्योंकि यहाँ प्रसंग अनुजवधूका ही है । बालि अपने अनुज सुग्रीवकी स्त्रीमें रत था । वैसे ही प्रस्तुत प्रसंगमें शूर्पणखा एक साथ ही दोनों भ्राताओंपर आसक्त हुई है, अतः यहाँ 'पिता पुत्र' के साथ प्रथम "भ्राता" ही को कहा ।

टिप्पणी—३ "पुरुष मनोहर निरखत नारी ॥ होइ बिकल···" इति । भाव कि ये दोनों पुरुष मनोहर हैं । इसीसे वह मनको रोक न सकी, देखकर कामातुर हो गई । स्मरण रहे कि वह दोनोंपर रीझी है, एक पर नहीं । यह बात कविने "जुगल कुमारा" पदसे लक्षित कर दिया है ।

श्री प्रज्ञानानंदस्वामीजी—२ (क) "पुरुष मनोहर निरखत नारी" इति । इसमें पहले तीन शब्द भावपूर्ण हैं । (१) 'पुरुष'—यहाँ मनुज, नर, मनुष्य इत्यादि शब्दोंका प्रयोग न करके 'पुरुष' शब्द प्रयुक्त करनेमें यह भाव है कि "जिसमें पौरुष है ऐसा नर ।" (२) "मनोहर"—इस शब्दसे एक और गुणका बोध कराया गया जो रुचिर, सुन्दर, सोहाए, चारु, मोहक इत्यादि शब्दोंमें नहीं है । इस शब्दसे जनाया कि वह "पुरुष" मनको हरन करनेवाले सौंदर्य, रूप आकृतिवाला हो । तथापि जो पुरुष एक स्त्रीको मनोहर होगा वह सभीको होगा ही ऐसा नियम नहीं है । जो सूर्य सूर्यकान्तको द्रवित करनेका निमित्त होता है वह हीरा, स्फटिकादिको द्रवित करनेमें समर्थ नहीं होता है । (३) "निरखत" इस शब्दसे भी दुष्ट हृदयका ही निदर्शन होता है, कारण कि परपुरुषोंके मुखको निरखना—निरीक्षण करना—कुलवन्ती स्त्रियोंका धर्म नहीं है । यह तो कुलटाओंका स्वभाव है । (४) बहुत मुस्कराकर परपुरुषसे बातचीत करना भी सुशील नारियोंका स्वभाव, इस कलियुगमें भी, नहीं है । शूर्पणखा कुलटा थी, इस कथनके लिये आगे भी बहुत आधार मिलते हैं । (ख) "सक मनहिं न रोकी" इति । भाव कि ऐसी स्त्रियोंमें फिर जाति पाँति, नाता, कुल, अवस्था, काल, समय, परिस्थिति, लाज, भय इत्यादि कुछ भी विचार करनेकी शक्ति नहीं रह जाती है । जैसे पतंग दीपज्योतिपर लुब्ध होते हैं वैसी ही स्थिति उनके मनकी हो जाती है । सत्य ही कहा है "कामातुराणां न भयं न लज्जा" । काम वात है । इसमें रोगीकी विवेक शक्ति ही नष्ट हो जाती है । ☞ नारदादि भगवद्भक्तोंको सुन्दर नारी देखनेपर जो मोह होता है वह अविद्याजनित नहीं होता है । वह तो भगवत्प्रेरणासे, योगमाया विद्यामायाजनित होता है, उनका अभिमानांकुर उखाड़नेके लिये ही वह प्रेरणा दी जाती है—'हरि सेवकहि न व्याप अबिद्या । प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि बिद्या ॥ ताते नास न होइ दास कर ।७।७६।२-३ ।'

गौड़जी—सुधारक-समालोचक इन पदोंको उद्धृत करके गोसाईंजीका स्त्री-द्वेष सिद्ध करते हैं । परन्तु गोस्वामीजीने तो नीतिके प्रसिद्ध श्लोकका अनुवाद दिया है और ऐसे प्रसंगपर दिया है जहाँ एक राक्षसीकी कामातुरताका आगे ही चलकर वर्णन करते हैं । सामान्य स्वभाव कहकर विशेषका उदाहरण देते हैं, जो उद्देश्य है । जो कवि ऐसी पतिव्रताओंका वर्णन करता है जिनके लिए "सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं" कहा है, वही उन अधम नारियोंका भी वर्णन कर रहा है जो सूपनखा-सी कामातुरा और निर्लज्जा होती हैं । ऐसी स्त्रियाँ संसारमें न होतीं तो अवश्य कविका स्त्रीद्वेष था ।

प० प० प्र०—"भ्राता··बिलोकी" । इन दो चौपाइयोंमें दिया हुआ सिद्धान्त नारि जातिके लिये नहीं है, यह पूर्वापर संबंधसे स्पष्ट होता है । रावणके बहिनी, दुष्ट हृदय, दारुण और अहिनी इन चार शब्दोंसे जिस स्वभावका ज्ञान होता है ऐसे स्वभाववाले स्त्रीसमुदायके लिये ही यह सिद्धान्त है । ग्रंथके वचनोंका अर्थ करनेमें पूर्वापर संदर्भ, प्रकरणार्थ इत्यादि ध्यानमें न रखनेसे अर्थका अनर्थ किया जाता है । और कवि-

पर मिथ्या दोषारोप भी किया जाता है तथा ऐसा करनेवाले स्वयं भ्रममें पड़ जाते हैं और दूसरोंको भी भ्रमपंकमें गिराते हैं। भला गोस्वामीजी जैसे महाभगवद्भक्तके हृदयमें समग्र नारिवर्गके लिये अनुदारताकी कल्पना भी करनेके लिए स्थान मिलेगा ?

"जिमि रविमनि द्रव रविहि बिलोकी"

उपर्युक्त चरणोंके "द्रव" शब्दका अर्थ करनेमें कितने ही टीकाकारोंने प्रायः असावधानताकी है, यथा—बाबू श्यामसुन्दरदासने अर्थ किया है कि "सूर्यमणि सूर्य्यको देखकर पिघल जाती है"। वीरकवि पं० महावीरप्रसाद मालवीयने यह लिखा है कि "सूर्य्यको देखकर सूर्य्यकान्तमणि पसीजने लगती है" एवं यह कि मणि "सूर्य्यको देखकर पिघलती है"। बाबा हरिहरप्रसादने भी "पसीजना" अर्थ किया है। वैजनाथजीने अक्षरार्थ न देकर केवल भावार्थ लिख दिया है कि शूर्पणखा कामाग्निसे पीड़ित हुई। करुणासिन्धुजी महाराजने लिखा है कि "रविकी मणि वह है जिसमेंसे, सूर्य्यके सम्मुख होनेपर, अग्नि निकलती है किन्तु एक सूर्य्यमणि होती है जब उसे सूर्य्यके सम्मुख करो तो उसमेंसे स्वर्ण द्रवता है"। और कई टीकाकारोंने 'द्रव' शब्द अर्थमें ज्योंका त्यों ही रख दिया है।

संपादकने दो तीन कोश देखे और कई महात्माओंसे इस विषयमें सत्संग किया पर उसको कहीं सूर्य्यकान्तमणिका सूर्य्यके सम्मुख रखे जानेपर पिघलने या पसीजनेका प्रमाण न मिला। सर्वसम्मत यही मिला कि उसमें अग्नि प्रगट होती है, उसमेंसे तेज प्रवाहित होता है। अतएव यही निश्चय करना पड़ता है कि टीकाकारोंने केवल भावको लेकर अर्थ कर दिया है।

हिंदी-शब्द-सागरमें सूर्य्यकान्तमणिके विषयमें ऐसा लिखा है—"यह एक प्रकारका स्फटिक या बिल्लौर है। सूर्य्यके सामने रखनेसे इसमेंसे आँच निकलती है। रत्नपरीक्षा-ग्रंथमें इसका गुण लिखा है।—"चन्द्रकान्तमणि अमृत उपजावे। सूर्य्यकान्तमें अग्नि प्रजावे"। इसको सूर्य्यमणि, रविमणि भी कहते हैं।

एक महानुभावका मत है कि—"द्रव" शब्दके स्थानपर 'दव' शब्द होना चाहिए। क्योंकि सूर्य्यकान्तमणि द्रवती (पसीजती) नहीं वरन् जल उठती है वा अग्नि प्रगट करती है जिसके प्रमाण ये हैं—यदचेतनाऽपि पादैः स्पृष्टा प्रज्वलित सवितुरिनकांता। तत्तेजस्वी पुरुषः परकृत विकृतिं कथं सहते ॥३७॥ ? (भर्तृहरिनीतिशक) अर्थात् सूर्य्यकान्तमणि यदि अचेतन है तौ भी सूर्य्यके किरणरूपी पादस्पर्श करनेसे जल उठती है। ऐसे ही तेजस्वी पुरुष परकृत अनादरको कैसे सहें ? "प्रभु सनमुख भये नीच नर होत निपट बिकराल। रविरुख लखि दरपन फटिक उगिलत ज्वाला जाल। दोहावली ३७५।"

"ऐसा अनुमान होता है कि 'दव' शब्दमें किसी प्रकार स्याहीका जरासा बिन्दु पड़ जानेसे 'द्रव' शब्द पढ़ा गया है। और उसीके अनुसार लोगोंने टीकाएँ लिखी हैं। इस ओर टीकाकारोंका ध्यान शायद नहीं गया कि वास्तवमें सूर्य्यकान्तमणि द्रवती है या नहीं"। अपनी सम्मतिको वे इस तरह पुष्ट करते हैं कि "होइ बिकल' और 'द्रवित होना' इन दोनों शब्दोंमें विरोध भाव पाया जाता है अर्थात् जो व्याकुल होगा वह द्रवित न होगा और जो द्रवित होगा वह व्याकुल न होगा, और आगे चलकर सूर्य्यकान्तमणिका रूपक भी ठीक मिलता है अर्थात् खरदूषणादि सेनासहित चले तब उन्होंने शूर्पणखाको आगे कर लिया और विनष्ट हुए। इसी प्रकार सूर्य्यकान्तमणि भी अपने पीछेवाले पदार्थको जला डालती है।"

प्राचीन एवं आधुनिक किसी प्रतिमें "दव" पाठ नहीं है। 'द्रव' ही पाठ सर्वत्र है। हितोपदेशके 'सुवेषं पुरुषं दृष्ट्वा भ्रातरं यदि वा सुतम्। योनिः क्लिद्यति नारीणां सत्यं सत्यं हि नारद'। पं० रामकुमारजीने अपने संस्कृत खर्रोंमें ऐसा ही दूसरा श्लोक यह दिया है—'सुस्नातं पुरुषं दृष्ट्वा भ्रातरं पितरं सुतम्। क्लिद्यन्ति योनयः स्त्रीणामामपात्रमिवांभसा' इति नीतिः। और वंदनापाठकजीने यह श्लोक दिया है—

'सात्विकं भावमापन्ना मन्मथेन प्रपीडिताः । तरुणं पुरुषं दृष्ट्वा योनिर्द्रवति योषितः ॥ इति सत्योपाख्याने' ।—इन श्लोकोंके अनुसार 'द्रव' शब्द बड़ा ही उत्कृष्ट है। भाव भी आ गया और भोंडी बात लेखमें न आई। कैसा मर्यादाका निर्वाह किया है। धन्य गोस्वामीजी! आपने ऐसे शब्द रखे कि स्त्री पुरुष बच्चा बूढ़ा कोई भी हो सबके सामने हर्षपूर्वक पढ़ा और कहा जा सकता है।

अब विचार करना है, 'रविमनि द्रव' की उपयुक्ततापर। यह बात मान्य है कि सूर्यमणिसे अग्नि प्रगट होती है।

☞ 'रबिमनि द्रव जिमि रबिहि बिलोकी' का भाव यह है कि स्त्रीकी ओरसे स्वयं सौन्दर्य्य और सुवेषको देखकर वासनाकी अग्निका उद्दीपन होने लगता है यद्यपि उस सुवेष और सौंदर्य्यके नायककी ओरसे प्रवृत्ति तो क्या ध्यानतक नहीं होता। प्रस्तुत प्रसंगमें इसी प्रकारकी प्राकृत नारि शूर्पणखाका वर्णन है जिसपर यद्यपि श्रीरघुनाथजीका ध्यान भी नहीं गया है तो भी अपनी ओरसे कामातुरा शूर्पणखा प्रवृत्त होती है।

श्रीस्वामी पं० रामवल्लभाशरणजी कहते हैं कि 'द्रव' शब्दका अर्थ 'प्रवाहित होना' है और 'रविमणि द्रव' का अर्थ हुआ—'रविमणिसे तेज प्रवाहित होता है।'

ब्रह्मचारी श्रीविन्दुजीने बताया है कि 'द्रव' शब्द 'द्रु' धातुसे बनता है जिसका अर्थ है—गति, गमन और मोक्ष। अतः 'द्रव' का अर्थ चलना, गमन करना तथा निर्गत और प्रवाहित होना होता है। अमरका भी यही मत है, यथा 'प्रद्रावोद्द्रावसन्द्रावसन्दावाविद्रवोद्रवः ॥' विद्रव और उपद्रव आदि बहुत प्रचलित शब्द हैं जिनका अर्थ गमन और चपलता ही है।

उपर्युक्त पादमें 'द्रव' शब्द 'रविमनि' के साथ है। रविमणिके दो भेद हैं, एक सामान्य और दूसरा विशेष। सामान्य सूर्य्यकान्तमणि है जिससे सूर्य्यके सम्मुख होनेसे ज्वाला उत्पन्न होती है और विशेष स्यमन्तकमणि।

यदि रविमनिका अर्थ सूर्य्यकान्तमणि किया जाय तो भी 'द्रव' शब्द सार्थक होता है और यदि स्यमन्तकमणि लिया जाय तो भी सूर्य्यकान्तमणिका अर्थ ग्रहण करनेपर उसका अनुवाद होगा कि 'जिस प्रकार सूर्य्यकान्तमणिसे उसके सूर्य्याभिमुख होनेसे ज्वाला निकलती है।' 'द्रव' क्रिया अपने वास्तविक अर्थमें अपने संज्ञापद 'रविमनि' के सर्वथा अनुकूल होकर आई है। ज्वाला या तेजके लिए निकलना, उद्गत होना, बहिर्गत होना तथा द्रवीभूत होना आदिका प्रयोग होता है। ज्वाला अथवा अग्निके लिए जैसे उद्गार प्रयुक्त होता है वैसे 'द्रव' भी, यथा 'सोमकान्तो मणिः स्वच्छः सूर्यकान्तस्तथा न किम्। उद्गारेतु विशेषोऽस्ति तयोरमृत वह्नयः ॥' इस श्लोकमें अमृत और अग्नि, दोनोंके लिये 'उद्गार' पदका प्रयोग हुआ है। चन्द्रकान्तमणिके अमृत अथवा रसके वर्णनमें जिस प्रकार 'द्रव' पदका प्रयोग हो सकता है उसी प्रकार सूर्य्यकान्तमणिकी ज्वालाके लिए भी। क्योंकि निर्गत, निस्सृत और प्रवाहित होना ही उसका अर्थ है, जैसे—'सुधाकरकरस्पर्शाद्बहिर्द्रवति सर्वतः। चन्द्रकान्तमणेस्तेन मृदुत्वं लोकविश्रुतम्'। यहाँ 'बहिर्द्रवति' का अर्थ बाहर निर्गत या प्रवाहित होना ही है। अतः जैसे रस या जलके निकलनेके लिए 'द्रव' शब्दका व्यवहार हो सकता है वैसे ही ज्वालाके लिए भी। जैसे रस और अमृत शब्द जलवाचक हैं और भावोत्कर्ष तथा दशा, आनंद, शोभा और मोहके अर्थमें उनका व्यवहार होता है उसी प्रकार द्रवका भी उसके गत्यर्थक होनेसे जैसे जल और तरल चञ्चल पदार्थोंके लिए व्यवहार हो सकता है वैसे ही परिणामपूर्वक गतिशीलताको प्राप्त होनेवाले मणि आदि दृढ़ पदार्थों और मनुष्यादि चर जीवोंके लिए भी अन्तःकरणके लिए जहाँ 'द्रव' शब्द आता है उसका अर्थ होता है दयाभावापन्न होकर अस्थिर अथवा चल-चित्त होना। इसीको ढुरना, पसीजना और रीझना कहते हैं।

जिस प्रकार 'द्रु' धातुसे 'द्रव' बनता है उसी प्रकार 'स्रु' धातुसे 'स्रव' शब्द सिद्ध होता है जिसका अर्थ भी प्रवाहित होना, पतित अथवा स्खलित होना है। जलके लिए जैसे इसका प्रयोग होता है वैसे ही ज्वालमालाके लिए भी। स्वयम् गोस्वामीजीने विरहिणी श्रीजनकनन्दिनीसे उसका प्रयोग कराया है, यथा 'पावकमय ससि स्रवत न आगी।' यहाँ अग्निके लिए 'स्रवत' कहा है। वर्षा भी इसी प्रकारका शब्द है। जैसे जल-वर्षा वैसे ही अग्नि, उपल, बाण तथा स्वर्ण-वर्षाका भी प्रयोग प्रसिद्ध है। 'द्रव' की तरह ज्वालमालाके उद्गारके लिए "वमन" शब्दका भी गोस्वामीजीने विनय-पत्रिकामें प्रयोग किया है, यथा 'प्रबल पावक-महाज्वालमाला वमन।' ( वि० ३८ )। अतः 'द्रव' का प्रयोग रविमणिसे ज्वालनिर्गत अथवा प्रवाहित होनेके अर्थमें सर्वथा सङ्गत है और कविको अभिमत है।

सूर्यमणिका दूसरा अर्थ-विशेष स्यमन्तकमणि है। यह मणि सूर्य्यनारायणने अपने प्रिय भक्त और सखा सत्राजित्को दी थी। यह सूर्य्याभिमुख होनेसे प्रतिदिन आठ भार सोना प्रस्रव करती थी ( जो सूर्य्य-किरणें उसमें प्रविष्ट होकर निकलती थीं उनका स्थूलरूप स्वर्ण हो जाता था ), यथा 'आसीत्सत्राजितः सूर्यो भक्तस्य परमः सखा। प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादात्सूर्यस्तुष्टः स्यामन्तकम्॥ भा० १०।५६।३। दिनेदिने स्वर्णभारानष्टौ स सृजति प्रभो॥' ( श्रीमद्भागवत १०।५६।११ )। अतः स्यमन्तकमणिको ही विशिष्ट रूपसे सूर्य्यमणि अथवा रविमणि कहते हैं। और, उससे स्वर्ण प्रवाहित होना प्रमाणित तथा प्रसिद्ध है। सुभाषित रत्नमालागारमें भी स्यमन्तकमणिको ही सूर्य्यकान्तमणि माना है। उसका गुण भी ऐसा ही था। उसमें इतना प्रकाश था कि उसका धारण करनेवाला दूसरा सूर्य्य ही प्रतीत होता था—'सतं बिभ्रन्मणिं कण्ठे भ्राजमानो यथा रविः।' (भा० १०।५६।४)।

दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक सिद्धान्तानुसार भी 'रविमनि' के लिए 'द्रव' शब्दका प्रयोग सर्वथा सार्थक सिद्ध होता है। वैशेषिक दर्शनकार भगवान् कणादका सिद्धान्त है कि अग्निमें निक्षिप्त हुए घटके परमाणु पहले द्रवीभूत हो जाते हैं, पश्चात् अग्निके संयोगसे रूपान्तरमें परिणत तथा एकत्र हो समष्टिरूप धारण करते हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि जब सूर्यकान्तमणिसे ज्वाला निकलेगी तब पहले सूर्यकिरणोंके योगसे उसके परमाणु अवश्य द्रवीभूत होंगे और तभी वे ज्वालारूपमें परिणत होंगे। पदार्थोंका परिणाम या रूपान्तर बिना उनके परमाणुके द्रवीभूत हुए नहीं हो सकता। अतएव 'द्रव' क्रियाका प्रयोग 'रविमनि' के लिए परमतत्त्ववेत्ता महाकविने बहुत ही सार्थक किया है।

यदि 'द्रव' के स्थानमें 'दव' का प्रस्तावित पाठान्तर मानें तो उसमें कई विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित होंगी। एक तो सब प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रतियोंमें 'द्रव' ही पाठ है। दूसरे 'दव' का पाठ बनता नहीं। क्योंकि वह ( दव ) 'द्रव' ही का समानार्थवाची है। दोनों पर्यायी हैं। 'द्रु' की भाँति 'दु' धातु भी, जिससे 'दव' बनता है, गत्यर्थक है। यदि 'दव' का वनाग्नि अर्थ ग्रहण करें तो वह सूर्यकान्तमणिकी ज्वालाके लिए सार्थक नहीं। तीसरे वनाग्निके अतिरिक्त ज्वालाकी क्रियाके रूपमें मानस या अन्य अपने काव्यमें गोस्वामीजीने उसका प्रयोग नहीं किया है तथा और भी किसी कविने ऐसा नहीं किया है। अतः 'द्रव' ही पाठ शुद्ध और सार्थक है।

रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई। बोली बचन बहुत मुसुकाई॥७॥
तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह संजोग बिधि रचा बिचारी॥८॥
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥९॥
तातें अब लगि रहिउँ कुमारी। मन माना कछु तुम्हहिं निहारी॥१०॥

अर्थ—सुन्दर रूप धरकर प्रभुके पास जाकर, बहुत मुस्कुराती हुई ( वह ) ये वचन बोली॥७॥

तुम्हारे समान कोई पुरुष नहीं और न मेरे समान स्त्री है, विधाताने यह संयोग विचारकर रचा है ।८। मेरे योग्य पुरुष संसार भरमें नहीं है, मैंने तीनों लोकोंमें ढूँढ़ देखा ।९। इसीसे अबतक कुमारी बनी रही। तुमको देखकर कुछ मन माना है ।१०।

नोट—१ 'रुचिर रूप धरि···' इति। यहाँ 'रुचिर' शब्द बड़ा मनोहर है। मानसमें कविने इस विशेषणको प्रभुके सम्बन्धी पदार्थोंके साथ ही प्रायः प्रयुक्त किया है। यथा 'अवधपुरी अति रुचिर बनाई' (जन्मभूमि), 'बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई। जहँ खेलहिं०' ( बालक्रीड़ा भूमि ), 'तेहि गिरि रुचिर बसइ खग सोई' ( शिशुपनका साथका खिलाड़ी भक्त ), 'सेज रुचिर रचि राम उठाये ।१.३५६।' ( शय्या )। 'उर अति रुचिर नागमनिमाला ।१.२१९।', 'धृत कर चाप रुचिर कर सायक', 'रुचिर चौतनी सुभग सिर०' और 'उर श्रीबत्स रुचिर बनमाला' ( आभूषण, धनुषबाण आदि )। 'छरस रुचिर ब्यंजन बहु जाती' ( जेवनारमें विवाहके समय )। वनवासमें प्रभु स्वयं 'रुचिर' शब्दका प्रयोग करते हैं, यथा 'तहँ रचि रुचिर परन तृनसाला। बास करउँ कछु काल कृपाला।', 'सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करब ललित नर लीला'। इन उदाहरणोंसे ज्ञात होता है कि प्रभुको 'रुचिर' शब्द परमप्रिय है। इसीसे कविने वही सब्द उन्हें ठौर-ठौरपर समर्पण किया है। यहाँतक कि शूर्पणखा उनसे सम्बन्ध करने आई तो उसका भी 'रुचिर' रूपसे आना कहा है। मानों वह जानती है कि यह शब्द उनको प्रिय है, अतः रुचिर रूप धरनेसे वे मेरा प्रिय करेंगे, मैं उन्हें प्रिय लगूँगी। मारीच भी 'परम रुचिर मृग' बनकर आता है। २७ (३) देखिए। (ख) रुचिर रूप धरकर आनेमें यह भी भाव है कि कामासक्त होनेपर उसने विचारा कि जाकर मिलूँ पर वे मनुष्य हैं और मैं राक्षसी हूँ, उनको मुझसे सुख न होगा, वे मुझे देखकर मोहित न होंगे, अतएव सुन्दर रूप धरकर चलना चाहिए और यही उसने किया भी। ( खर्रा )।

२ (क) 'प्रभु पहिं' का भाव कि वे समर्थ हैं, इसकी माया यहाँ न चलेगी, यहाँ 'प्रभु' विशेषण प्रारंभमें ही देकर जनाया कि यहाँ उसकी दाल न गलेगी। ( ख ) 'बोली बचन बहुत मुसुकाई' इति। इसमें अभिसारिका नायिकाका भाव स्पष्ट है। 'मुसुकाई' अर्थात् कटाक्ष करके, हाव-भाव दिखाकर। इस शब्दमें दाम्पत्य प्रेमका बीज प्रकट होता है, क्योंकि स्त्रीपुरुषमें प्रेमका प्रारंभ मुस्क्यानसे ही होता है। (दीनजी)। स्त्रीकी मुस्क्यान पुरुषके लिये फंदा वा फाँसी कही गई है। इसी भावसे वह मुसुकाई। ( पं० रा० कु० )। ( ग ) 'तुम्ह सम पुरुष न' अर्थात् इसीसे मैं तुम्हें देखते ही तुम्हारे ऊपर आसक्त हो गई, आजतक किसीका सौंदर्य मुझे मोहित न कर सकता था। यथा '····राम त्वापूर्वदर्शनात् समुपेताहिम भावेन भर्तारं पुरुषोत्तमम्। वाल्मी० ३.१७.२४।' आगे स्वयं कहती है 'मन माना कछु तुम्हहि निहारी।' ( घ ) 'न मो सम नारी'—भाव कि जो स्त्री तुम्हारे पास है वह मेरे सामने तुच्छ है, विकृता और विरूपा है, असती है, भयानक है, पतली कमरवाली है, वह तुम्हारे योग्य नहीं है। मैं तुम्हारे योग्य हूँ। यथा 'विकृता च विरूपा च न सेयं सदृशी तव। अहमेवानुरूपा ते भार्यारूपेण पश्य माम्। वाल्मी० ३.१७.२६। इमां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम्।···२७।' आगे 'मन माना कछु' में भी देखिए। ( ङ ) 'यह सँजोग बिधि रचा बिचारी' इति। अर्थात् तुम्हारा सौंदर्य अद्वितीय है और मेरा भी। यह सौंदर्यकी जोड़ी विधाताने इसीलिये रची है कि ये दोनों एक दूसरेके अनुकूल हैं, इन दोनोंमें दाम्पत्यप्रेम होगा, तुम अपने अनुकूल सुन्दर जानकर मुझे अंगीकार करोगे। तुम पति होगे, मैं पत्नी हूँगी। विधाता पैदा करते ही लिख देते हैं कि किससे किसका संयोग होगा, अतः कहा कि 'यह सँजोग बिधि रचा'। 'बिचारी' अर्थात् बहुत सोच समझकर रचा है, इससे यह अन्यथा नहीं हो सकता। विधाता संयोग रचते हैं, यथा 'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बरु रचेउ बिचारी ।१.२२३।', 'जौं बिधि बस अस बनै सँजोगू। तौ कृतकृत्य होइ सब लोगू ।१.२२२।' पं० रामकुमारजी एक खर्रेमें लिखते हैं कि विधिका रचना इससे कहा कि श्रीरामजी विधिको मानते हैं, यथा 'प्रभु बिधि बचनु कीन्ह चह साँचा ।१.४९।'

टिप्पणी—१ 'मम अनुरूप पुरुष जग माहीं···' इति। इन वचनोंसे उसका कपट खुल गया कि वह राक्षसी है, क्योंकि तीनों लोकोंमें स्वच्छन्दरूपसे राजकुमारी या किसी भलेमानसकी कन्या इस प्रकार न घूमती फिरती। इसी भावसे कविने यहाँ 'देखेउँ' पद दिया। जनकपुरमें जहाँ अष्टसखियोंका सम्वाद है वहाँ वे कहती हैं 'सुरनर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनियत नाहीं।१.२२०।' अर्थात् वहाँ कवि 'सुनियत' पद देते हैं, जिसका भाव यह है कि वे सब परदेवाली और भलेमानसोंकी स्त्रियाँ हैं। खरदूषणके प्रसंगमें भी देखना लिखा है, यथा 'नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे सुने हते हम केते। हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥''—[ वाल्मीकिजी कहते हैं कि श्रीरामजीने जान लिया कि वह राक्षसी है तभी तो उन्होंने उससे कहा भी—'त्वं हि तावन्मनोज्ञाङ्गी राक्षसी प्रतिभासि मे' (३.१७.१८)। अर्थात् हे सुन्दरी! तुम तो मुझे राक्षसी-सी जान पड़ती हो। यहाँ पूज्य कविने शिष्टताका कैसा मान किया है कि उन वचनोंको प्रभुके मुखसे नहीं कहलाया।]

प० प० प्र०—१ (क) जो स्त्री त्रैलोक्यके पुरुषोंको, अपने अनुरूप है या नहीं, इस भावसे खोजकर देखती है, क्या वह सुशीला कहने योग्य होगी? (ख) 'रहिउँ कुमारी' यह असत्य भाषण है। वह विधवा थी तथापि कौमारावस्थाका रूप बनाकर वह अपनेको 'कुमारी' कहती है। इसमें दंभ और कपट प्रगट हो गया। (ग) देखिए, यहाँ भी 'पुरुष' शब्दका ही प्रयोग हुआ है, 'मनुज' का नहीं। (घ) 'मन माना' में भाव यह है कि यद्यपि आप भी मेरे पूर्ण अनुरूप नहीं हैं तथापि आपसे अधिक मनोहर पुरुष मिलना असंभव है, अतः लाचारी है, आपसे ही काम चला लेना चाहिए। निशाचरगुण 'अधम अभिमानी' यहाँ भी प्रकट है।

टिप्पणी २—'ताते अब लगि रहिउँ कुमारी···' इति। (क) इन वचनोंसे पाया गया कि वह युवावस्थाका रूप धारण करके आई है जिसमें शीघ्र मनोकामना सिद्ध हो। छोटी अवस्था धारण करती तो मनोरथकी सिद्धिके लिये युवावस्था पहुँचनेतक रुकना पड़ता फिर भी न जाने कामना पूर्ण होती या न होती। आगेका संदेह मिटानेके लिए युवावस्थाका रूप बनाकर आई। अपनी इतनी अवस्था हो जानेका कारण प्रथम ही कह चुकी कि ढूँढ़ती फिरी, कोई पति होने योग्य पुरुष ही न मिला। अब आप मिले। (ख) 'कछु' का भाव कि तुम भी हमारे सदृश यथार्थतः हमारे अनुरूप नहीं हो। 'मन माना' से जनाया कि अपनी रुचि अनुकूल अपना स्वयंवर करती हूँ, यथा 'करइ स्वयंवर सो नृपबाला'। ☞ यहाँ यह बात देखने योग्य है कि शूर्पणखाने प्रभुके लिए बहुवचन और अपने लिए एकवचनका प्रयोग किया है। कारण कि वह पति बनाने आई है। पुरुष स्वामी है और स्त्री दासी है।

नोट—२ लालाभगवानदीनजी कहते हैं कि यहाँ 'कछु' शब्दमें व्यंग है। कुछ ही मन माना है, इसीसे दोपर आसक्त हुई। यही भाव लेकर कविने पूर्व कहा है कि 'देखि विकल भइ जुगल कुमारा'। नहीं तो यदि पूरा मन माना होता तो एक ही पर मुग्ध होती। दोनोंपर मुग्ध होनेसे भी 'तुम्ह सम', 'तुम्हहिं निहारी' में बहुवचनका प्रयोग उपयुक्त ही हुआ है। पुनः, 'कछु मन माना' से स्त्री-सुलभ अहंकार भी प्रकट होता है। इससे रूपगर्विता नायिका पाई जाती है—यह रसिकोंका अर्थ है। इसे भँवाकर भी अर्थ करते हैं जो भक्तोंका अर्थ है—'यद्यपि अभी हमने आपको कुछ ही देखा है, रूपमात्र ही, इतनेपर ही मेरा मन मान गया। इसमें आत्मसमर्पण है।

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता। अहै कुआर* मोर लघु भ्राता॥११॥

अर्थ—सीताजीकी ओर देखकर प्रभुने यह बात कही कि मेरा छोटा भाई कुमार है॥११॥

नोट—इस चौपाईमें 'चितइ' और 'कुआर' वा 'कुमार' शब्दोंपर टीकाकारोंने अनेक भाव लिखे हैं।

* 'कुआँर'—(छ०)। 'कुमार'—(का०, ना० प्र०)।

और 'कुमार' शब्दपर शंका उठाकर अनेक प्रकारसे उसके समाधानका प्रयत्न किया है। पहले टीकाकारोंके कुछ भाव देकर तब उनपर विचार किया जायगा।

### श्रीसीताजीकी ओर देखनेके भाव

पु० रा० कु०—(क) शूर्पणखाने कहा था कि मेरा 'मन माना कछु तुम्हहिं निहारी'। प्रभु सीताजीकी ओर देखकर जनाते हैं कि 'मोर मन माना इन्हहिं निहारी'; यहाँसे मेरा मन हटकर कहीं जाता ही नहीं, यथा 'सो मन सदा रहत तोहि पाहीं।५.१५।' और मैं एक पत्नीव्रत हूँ, मैं स्वप्नमें भी परस्त्रीपर दृष्टि नहीं डालता, यथा 'मोहिं अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी।१.२३१।' [ वाल्मीकिजीने भी कहा है कि श्रीरामजीने श्रीसीताजीको अपना हृदय दे दिया था, इसीसे उनका मन सीताजीमें ही रहता था। यथा 'मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः।१।७७।२६।' वे पर-स्त्री-की ओर नहीं देखते, यथा 'न रामः परदारान्स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति। २.७२.४८।' ]। (ख) दोहा—'सूर्पणखा माया करि रुचिररूप मुसुकाइ। सीतहि चितये राम हम यह मायापति आइ॥' अर्थात् शूर्पणखाने माया रची, कपटवेष बनाया, यथा 'रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई। बोली बचन बहुत मुसुकाई'॥ 'प्रभु चितइ' कर जनाते हैं कि हम और ये मायाके ईश (मायापति) हैं, यथा 'मायापति सेवक सन माया।०', 'मायापति भगवान्', 'सुरमुनि सभय देखि माया-नाथ अति कौतुक करेउ', 'माया सब सियमाया माहूँ'। अतएव तेरी माया यहाँ न चलेगी। (ग) दोहा—'हास्य झुठाई तब बनै चितै वे माया ओर। सीतहि लखि पुनि आपु लखु इन सम रूप न तोर॥'। अर्थात् केवल ईश्वरमें 'हास्य झुठाई' नहीं बन पड़ते, जैसे केवल ब्रह्म जगत्प्रपंच नहीं रच सकता। जब मायाका आश्रय लेता है तब 'हास्य झुठाई' करते बनै है। अतः 'सीतहि चितइ कही'। (घ) दोहा—'सीता मम पत्नी अहै सीतहि पर मम दीठि। लषनहि कहेउ कुमार प्रभु सीतहि की रुचि मीठि॥१॥ मम हित विधि सीतहिं रचेउ मम हित तोहि कहँ नाहि। यह पतिव्रतकी सींव है तू व्यभिचारिनि आहि॥२॥' अर्थात् श्रीसीताजी मेरी धर्मपत्नी हैं, मेरी दृष्टि सदा सीता ही पर रहती है, अन्यपर मेरी दृष्टि कदापि नहीं जाती। मेरे लिये तो विधाताने सीताको ही रचा, तुझको मेरे लिये नहीं रचा। यह भी जनाया कि यह पतिव्रताओंकी सीमा है और तू तो व्यभिचारिणी है। प्रभुको सीताजी ही प्राणप्रिय हैं, दूसरेमें उनकी रुचि नहीं, यह भाव भी 'कुमार' कहकर जनाया। (ङ) यहाँ इनकी ओर देखकर प्रत्यक्ष दिखाते हैं कि हमारे स्त्री है और मैं एक पत्नीव्रत हूँ तब मैं तुमको कैसे व्याहूँ। मेरा भाई लक्ष्मण कुमार है तब हम कैसे ( एक औरको ) व्याह लें। (च) कहीं लक्ष्मणजी यह न कह दें कि उनके भी स्त्री है अतः इस प्रकार इशारा किया जिसमें लक्ष्मणजी जान जायँ कि यहाँ हास्य हो रहा है।

पाँड़ेजी—'चितइ' का भाव कि—(क) हमारे स्त्री है। (ख) इसका रूप देख। यह तुम्हसे कहीं अधिक सुन्दर है। (ग) लक्ष्मणको थाँभनेके लिए। (घ) जानकीजी रावणकी इष्ट हैं, अतएव उनका रुख देखते हैं कि रावणसे विरोध करें या न करें। और (ङ) "हास्यकी भाँति कि देखो स्त्रीकी ऐसी प्रकृति होती है"।

व्यापकजी—श्रीसीताजीकी ओर देखनेका भाव यह है कि देख ले हमारे पास तो हमसे अधिक सुन्दर स्त्री है। श्रीसीताजी अधिक सुन्दर थीं, यथा 'गर्व करहु रघुनंदन जनि मन मांह। देखहु आपनि मूरति सिय की छांह। बरवै १.१७।' [ प० प० प्र०—देखनेका भाव कि क्या इसकी इच्छा मान्य कर लूं। ]

मा० म०—श्रीरामचन्द्रजीने श्रीसीताजीकी ओर देखा, उसकी ओर दृष्टि भी न की।

☞प्रायः यही भाव औरोंने भी लिखे हैं। इस चौपाईकी जोड़के श्लोक अध्यात्म और वाल्मीकीयमें ये हैं—'रामः सीतां कटाक्षेण पश्यन् सस्मितमब्रवीत्। भार्या ममैषा कल्याणी विद्यते ह्यनपायिनी॥१२॥ त्वं तु सापत्न्यदुःखेन कथं स्थास्यसि सुन्दरि। बहिरास्ते मम भ्राता लक्ष्मणोऽतीव सुन्दरः॥१३॥ तवानुरूपो भविता पतिस्तेनैव सञ्चर।'—( अध्यात्म स० ५ )। अर्थात् श्रीरामजीने सीताजीकी ओर संकेत करके मुसु-

कुमाकर कहा कि यह कल्याणी मेरी स्त्री है, जो मेरे पास सदा रहती है। तुम दूसरी पत्नी बनकर रहोगी तो सदा सवतके दुःखसे दुःखी रहोगी। मेरा भाई लक्ष्मण अत्यन्त सुन्दर है जो बाहर बैठे हैं। वे तुम्हारे अनुरूप पति होंगे। तुम उन्हींके साथ विहार करो। पुनश्च, 'स्वेच्छया श्लक्ष्णया वाचा स्मितपूर्वमथाब्रवीत् ॥१॥ कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम। त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता ॥२॥ अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान् प्रियदर्शनः। श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥३॥ अपूर्वी भार्यया चार्थी तरुणः प्रियदर्शनः। अनुरूपश्च ते भर्ता रूपस्यास्य भविष्यति ॥४॥ एनं भज विशालाक्षि भर्तारं भ्रातरं मम। असपत्ना वरारोहे मेरुमर्कप्रभा यथा ॥५॥" ( वाल्मी० स० १८ )। अर्थात् श्रीरामजी शूर्पणखासे मधुर स्वरमें साफ साफ हँसकर बोले। हे श्रीमति ! मेरा विवाह हो चुका है। यह मेरी प्रिय स्त्री है और मौजूद है। तुम्हारे समान स्त्रियोंके लिये सवतका होना बड़ा ही दुःखदायी है। यह मेरा छोटा भाई लक्ष्मण है, सुन्दर शीलवान् देखनेमें सुन्दर और सब प्रकारकी संपत्तिवाला है, इसके स्त्री नहीं है और यह बड़ा वीर्यवान् है। तुम्हारे इस सुन्दर रूपके अनुरूप यह तुम्हारा पति हो सकता है। हे विशालाक्षि ! तुम मेरे इस भाईको अपना पति बनाओ। वहाँ तुम बिना सवतकी रहोगी जैसे सूर्यकी प्रभा मेरुपर रहती है।

एक "चितइ" शब्दमें ही पूज्य कविने वाल्मीकि और अध्यात्मके भाव किस खूबीसे झलका दिये हैं। इतना ही नहीं वरन् उसमें अनेक भाव भर दिए हैं, जितने चाहें निकालते जायँ।

प० प० प्र०—"प्रभु" शब्द देकर जनाया कि सर्वज्ञ सर्वसमर्थ होनेसे वे उसका कपट इत्यादि जान गए। इसी भावमें "प्रभु पहिं जाई" में यह शब्द पूर्व आया है। इस प्रसंगमें यह शब्द पाँच बार आया है।

लक्ष्मणजीको "कुआर" वा "कुमार" कहनेके भाव—

पु० रा० कु०—(क) पदकी मैत्रीके लिए कुमार पद दिया। जैसे उसने कहा था कि 'अब लगि रहिउँ कुमारी', वैसे ही प्रभुने मिलता-जुलता उत्तर दिया कि 'अहै कुमार'। कुमारीका व्याह कुमारके साथ उचित ही है, दोनोंका जोड़ है—(पं०)। (ख) 'कुमार' का अर्थ 'लड़का', 'छोटा' और 'राजकुमार' भी होता है, उस अर्थमें भी ले सकते हैं। यथा 'तुम्ह हनुमंत संग लै तारा। करि बिनती समुझाउ कुमारा' में सुग्रीवने छोटा जानकर यही 'कुमार' शब्द लक्ष्मणजीके लिए प्रयुक्त किया है। वैसा ही यहाँ समझ लें। [ कविने भी अभी अभी 'कुमार' शब्द 'राजकुमार' अर्थमें प्रयुक्त किया है, यथा 'देखि बिकल भइ जुगल कुमारा।' आगे भी कहा है 'मुनि मख राखन गयउ कुमारा।' वैसा ही यहाँ भी समझ लें। ]

मा० म०—भाव कि 'मार' ( कामदेव ) इनके अलौकिक द्वादश वर्षके व्रतको देखकर लजाता है। यहाँ हास्यरसके अन्तर्गत नीतिका उपदेश है कि तुम्हारा तोष करनेवाला कोई नहीं, मुझे पत्नी विद्यमान ही है और मेरे भाईने कामको द्वादश वर्षके कठिन व्रतसे निरादर ही किया।

अ० दी० कार कहते हैं "रहित कुआर कुँआर कहि, अनट गिरा केहि हेतु। गत सम्वत रवि जोग रित, जित मन नृप सुत सेतु।२४।" अर्थात् जो कुँआरे नहीं हैं, विवाहित हैं, उनको प्रभुने कुआँरा कहा, यह मिथ्या कैसे कहा ? वे तो कभी असत्य नहीं बोलते ? और उत्तर देते हैं कि वे असत्य नहीं बोले। रवि अर्थात् बारह सम्वत् (वर्ष) बीतनेपर राजपुत्रोंकी कुमार पदवी होती है। अथवा, 'जोगरित' अर्थात् रतिसंयोगरहित और 'जित मन' मनके जीतने वालोंको कुमार कहते हैं, यह मर्यादा है। लक्ष्मणजी अभी वैसे ही हैं।

पं०, प्र०—अर्थात् इनकी स्त्री नहीं है। यहाँ प्रत्यक्ष स्त्रीके अभावसे कुमार कहा।

दीनजी—यहाँ राजनीति है। नीतिके विचारसे राजनीतिका उत्तर देना अनुचित नहीं।

मा० शं०—हास्यरसमें मिथ्या बोलना दोष नहीं है। पुनः, छलीके साथ छलमयी वार्ता करना नीति है। 'शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्'।

करु०—स्त्रीरहित पुरुष विदेशमें है तो एक देशमें उसकी "कुमार" संज्ञा है। वह विवाह कर ले तो दोष नहीं और यहाँ ऐसा कहनेका अवसर है।

व्यापकजी—इस चरणका अन्वय इस प्रकार करना चाहिए "कुमार मोर लघुभ्राता अहै" अर्थात् वह कुमार मेरा लघु भ्राता है। भाव यह कि तुम यह न समझो कि वह हमारा कोई नौकर है, उसके साथ विवाह करनेसे नौकरानी बनना पड़ेगी। वह रघुवंशी है, हमारा भाई है।

और भी अनेक भाव लोगोंने कहे हैं जैसे कि--(१) 'कुत्सितो मार्ग यस्मात् स कुमारः' अर्थात् जिसके आगे कामदेवकी सुन्दरता भी कुछ नहीं है। (२) कुमारसे जनाया कि ब्रह्मचर्यव्रत धारण किए हैं, वा, ब्रह्मचारी और इन्द्रियजित् हैं। (३) कुमार स्वामिकार्तिकको भी कहते हैं, उनके ये मोर हैं। तू सर्पिणी है, विवाह सजातीयमें होता है। (४) कु = पृथ्वी। मार = कामदेव। अर्थात् पृथ्वीपर कामदेवके समान सुन्दर है।—(पं०)। (५) कु = दुष्ट। कुमार = दुष्टोंको मारनेवाले। (६) कुमार = जिसने कामदेवको भी अपने रूपसे कुत्सित बना दिया। यथा 'कोटि काम उपमा लघु सोऊ', 'जय सरीर छवि कोटि अनंगा'। (७) शूर्पणखाको तो सुन्दर मनोहर पुरुष चाहिए। विवाहित व अविवाहितका प्रश्न वा विचार ही उसके आगे नहीं है। प्रभु भी यह स्पष्ट नहीं कहते कि हम व्याहे हैं। ( प० प० प्र० )

☞ यहाँ हास्य और व्यंगसे पूर्ण इस 'कुमार' शब्दका प्रयोग किया गया है। शूर्पणखा राक्षसी है, विधवा है और मायासे सुन्दर रूप बनाकर आई है। इसपर भी झूठ बोलती है कि मैं 'कुमारी' हूँ। जैसे उसने हँसी की, वैसे ही उसको उत्तर भी हास्यरसयुक्त दिया गया। इसीसे वाल्मीकिजीने श्रीरामजीको यहाँ 'वाक्यविशारद' विशेषण दिया है, यथा—"इत्येवमुक्तः काकुत्स्थः प्रहस्य मदिरेक्षणाम्। इदं वचनमारेभे वक्तुं वाक्यविशारदः॥ स० १७ श्लो० २६॥" अर्थात् वचनविशारद श्रीरामचन्द्रजी उस मतवाली आँखोंवाली शूर्पणखाके इस प्रकार वचन सुनकर हँसकर वचन बोले।

पुनः, हँसकर उत्तर देना भी हास्य ही जनाता है—'वाचा स्मितपूर्वमथाब्रवीत्। वाल्मी० ३.१८.१।' 'कुमार' शब्दका तोड़-मरोड़ करनेसे पाण्डित्य छोड़ असली बात हाथ नहीं लग सकती। वे जनाते हैं कि जैसी तू विधवा होती हुई भी 'कुमारी' है, वैसे ही यह मेरा भाई विवाह होनेपर भी 'कुमार' ही है। यहाँ उनकी स्त्री नहीं है, इससे यह हास्य भी पूरा गठा। वाल्मीकि आदि रामायणोंसे यही अर्थ निश्चय सिद्ध होता है और कविने पहले ही 'अहिनी' से इसकी समता देकर अहिराजके योग्य और भी उसे कर दिया। पूर्व वाल्मी० स० १८ के और अध्यात्मके उद्धृत श्लोकोंसे 'कुमार' का अर्थ 'बिन व्याहा' छोड़ और क्या लिया जा सकता है ? और यही भाव शूर्पणखाके हृदयमें बैठानेके लिए ही इस शब्दका प्रयोग हुआ है। फिर आगे चलकर वाल्मीकिजी और भी स्पष्ट कहते हैं कि यहाँ परिहास है, यथा--'इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी। मन्यते तद्वचः सत्यं परिहासाविचक्षणा। १८.१३।' अर्थात् शूर्पणखा परिहासमें प्रवीण न थी, इससे वह लक्ष्मणजी की बातको सत्य समझ गई।

हास्यमें झूठ अनिंद्य है, दोषावह नहीं है। प्रमाण यथा 'गोब्राह्मणार्थे हिंसायां वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे। स्त्रीषु नर्म विवादेषु नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्॥' अर्थात् गौ ब्राह्मणकी हिंसा होती हो, प्राण संकटमें पड़े हों, अपनी जीविका जाती हो, स्त्रियोंसे हँसी दिल्लगीमें या झगड़ेमें झूठ निन्दनीय नहीं है। [ उपर्युक्त श्लोक पूर्व संस्करणमें दिया गया था। भा० ८.१९. में श्लोक इस प्रकार है—"स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे। गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्। ४३।" ]

श्रीमानसी वंदनपाठकजीका भी यही मत है कि यहाँ हास्य प्रधान है। पुनः, यह श्लिष्ट पद है। उसको सुझाना तो यही है कि इनके स्त्री नहीं है, मेरे स्त्री है और साथ ही श्लेषार्थी होनेसे झूठ भी नहीं। क्योंकि 'कुमार' छोटे और 'राजकुमार' को भी कहते ही हैं।

प्रज्ञानानंद स्वामीजी लिखते हैं कि वाल्मीकीयका यह प्रसंग ( अरण्य सर्ग १८।२.३.४ ) भी आह्लाद दायक और द्व्यार्थी वचनोंसे युक्त है। देखिये 'कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम ।...अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान्प्रियदर्शनः । श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ अपूर्वी भार्यया चार्थी तरुण प्रियदर्शनः ॥' इधर भी उपहास है और असत्यका आभास भी स्पष्ट है। इतना स्पष्ट मानसमें नहीं है। तथापि इधर भी असत्य है ही नहीं। यथा—श्रीः च, मानः च कृतौ दाराः येन स श्रीमानकृतदारः। अपूर्वीन विद्यते पूर्वा यस्याः सा अपूर्वा तथा अपूर्वा भार्या यस्य स अपूर्वी भार्यया । अर्थी = पूर्वभार्यया अर्थी, यह दूसरा अर्थ हो सकता है। यह है रामजीके मनका अर्थ। इसके अनुसार अर्थ यह है—लक्ष्मी और मानको जिसने दासीके समान बना रक्खा है और जिसकी भार्या ऐसी है कि उसके समान न पहले कभी कोई थी और न इस समय कोई है और उस अपनी पत्नी को जो चाहता है। संस्कृत टीकाकारोंने दूसरे अर्थ दिये हैं पर वे क्लिष्ट जान पड़ते हैं। अब लक्ष्मणजीके उत्तरमें देखिये। "एतां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम्। भार्यां वृद्धां परित्यज्य त्वामेवैष भजिष्यति। १८।११।", इसके भी दो अर्थ केवल अन्वय भिन्न करनेसे होते हैं, विशेष विचार करना भी नहीं पड़ता है। यथा (१) एतां विरूपाम् असतीम् करालां निर्णतोदरीम्। वृद्धां भार्याम् परित्यज्य एष त्वाम् एव भजिष्यति। (२) विरूपाम् असतीम् करालाम् निर्णतोदरीम्, वृद्धां त्वाम् परित्यज्य एष एतां भार्याम् एव भजिष्यति। सारांश जब वाल्मीकीयमें केवल नरोत्तमरूपसे वर्णन करनेमें भी असत्य नहीं है तो भला मानसमें जहाँ ठौर ठौर-पर रामजीका परमात्मत्व उद्घोषित किया गया है वहाँ उपहासमें भी असत्य असंभव है।

पु० रा० कु०—लक्ष्मणजीके पास क्यों भेजा? उत्तर—१ इसमें भाव यह है कि वह तो दोनोंपर रीझी हुई है। केवल प्रभु ही पर रीझी होती तो यहीं सारा मामला भुगतान हो जाता। लक्ष्मणजीपर भी रीझी है, अतः वहाँ भेजना जरूरी समझा। [ 'लघुभ्राता' का भाव कि जैसे हम राजकुमार वैसे ही वह, जैसे हम राज्य ऐश्वर्यके अधिकारी हैं वैसा ही वह है और हमसे छोटा है इससे तेरे योग्य है। (पां० ) ]।

मा० हं०—"स्वामीजीकी शूर्पणखाकी तुलनामें अध्यात्मकार और वाल्मीकिजीकी शूर्पणखा बहुत ही भोली-सी दिखाई देती है। स्वामीजीकी शूर्पणखा यावनी अमलकी स्त्रियोंकी फ़सलमेंसे होनेके कारण अर्थात् वह बड़ी छिछोरी और षड्यंत्रवाली हुई है। उसी सबबसे वह 'ताते अब लगि रहिउँ कुमारी। मन माना कछु तुम्हहिं निहारी' इस तरह ललक उठ सकी। इस निर्लज्जताके परिणाममें स्वामीजीके रामचन्द्रजीको भी प्रसंगवशतः 'सीतहि चितइ कही प्रभु बाता। अहइ कुमार मोर लघु भ्राता' इस तरह एक रंगीला अलबेला-सा बनना पड़ा। ☞ अपने अभिलषित ध्येयपर एकाग्र ध्यान रख उसके अनुसार चरित्र चित्रण करनेमें गोसाईंजीकी बराबरी कदाचित् ही कोई कवि कर सके।"

गइ लछिमन रिपु भगिनी जानी। प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी ॥१२॥
सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा। पराधीन नहिं तोर सुपासा ॥१३॥
प्रभु समरथ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उन्हहिं सब छाजा ॥१४॥

अर्थ—वह लक्ष्मणजीके पास गई। लक्ष्मणजी, उसे शत्रुकी बहिन जानकर और प्रभु (श्रीरामजी) को देखकर, उससे कोमल वचन बोले ॥१२॥ हे सुन्दरी! सुन, मैं तो उनका दास हूँ। पराधीन रहनेमें तेरा सुपास (निर्वाह) न होगा ॥१३॥ प्रभु (रामजी) समर्थ हैं, अयोध्याके राजा हैं, वे जो कुछ करें उन्हें सब कुछ फबेगा ।१४

प० प० प्र०—केवल 'गइ' क्रिया-पदके प्रयोगसे कविने यहां बता दिया कि कितनी शीघ्रतासे गई। श्रीरामजीके मुखसे शब्द निकलने हीकी देर थी कि वह लक्ष्मणजीके समीप पहुँच गई। रिपु भगिनी है यह 'उर प्रेरक रघुवंशविभूषण' की प्रेरणासे जाना।

पु० रा० कु०—१ (क) 'रिपु भगिनी जानी'। उसके 'मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि

लोक तिहुँ नाहीं' इन वचनोंसे जान गए। 'रिपु' कहा क्योंकि जबसे 'निसिचरहीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह' तभीसे सब शत्रु हो चुके। यथा 'सेवक बैर बैर अधिकाई।'—[ खर्रा—रिपुभगिनी जाननेका यह भी कारण हो सकता है कि पहले अगस्त्यजी आदिसे सुना भी हो कि शूर्पणखा स्वतंत्र, बेमर्यादा, इस वनमें घूमा करती है। दूसरे, ऋषिपत्नी कोई न तो इस प्रकारसे स्वतंत्र विचरेगी और न ऐसी बातें करेगी और वनमें सिवाय मुनियों और राक्षसोंके दूसरा है नहीं जो आता। वाल्मीकीय और अध्यात्ममें तो उसने अपनेसे ही रावणकी बहिन होना बताया है पर मानसकी कथासे उससे भेद है। अतः वह भाव प्रसंगानुकूल नहीं है।]

(ख)—'प्रभु बिलोकि बोले मृदु बानी' इति। प्रभुकी ओर देखनेसे यह इशारा पाया कि इससे परिहास व विनोदपूर्ण बात करें, नहीं तो भला इनसे कब आशा थी कि ये शत्रुकी वहिन जानकर उसकी दुष्टताको सह सकते। यहाँ 'पिहित' और 'सूक्ष्म' अलंकार हैं। पुनः, 'प्रभु बिलोकि···' में भाव यह है कि दोनों भाई रघुवंश-की मर्यादाका पालन करते हैं। 'रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरै न काऊ।···नहिं पावहिं पर तिय मनु डीठी। १.२३१।' यह मर्यादा है। ये दोनों भी परस्त्रीका मुँह नहीं देखते। इसीसे प्रभुने श्री-सीताजीकी ओर देखकर उसको उत्तर दिया था। वैसे ही श्रीलक्ष्मणजी प्रभुकी ओर देखकर बोल रहे हैं, उसकी ओर नहीं देख रहे हैं। ( व्यापकजी )

२ (क) 'मैं उन्हकर दासा', क्योंकि लघुभ्राता हैं—'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकरकुल रीति सुहाई।२.१५।' (ख) 'पराधीन नहिं तोर सुपासा', यथा 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।' रातदिन सबकी सेवा ही करते बीतेगी। इससे भारी दुःख कौन है? 'दासी भविष्यसि त्वं तु ततो दुःखतरं नु किम्'—(अध्यात्मे-३।५।१६)। [वाल्मी० में भी यही कहा है कि मैं तो दास हूँ। तुम दासकी स्त्री अर्थात् दासी क्यों बनना चाहती हो। यथा 'कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि। ३।१८।९।' भाव कि तुम राजाकी बहिन हो अतः राजाके साथ तुम्हारा विवाह उचित है। 'नहि तोर सुपासा' से जनाया कि हमारे साथ दुःख भोगना पड़ेगा और राजाकी रानी बननेसे सुख ही होगा। सम्मानार्थ बड़ेके लिए बहुवचनका प्रयोग होता ही है। अथवा 'उन्ह' से 'श्रीसीता' और 'श्रीराम' दोनोंका सेवक बताया।]

[ व्यापकजीका मत है कि प्रभु ने जो कहा था कि वह कुमार मेरा लघुभ्राता है, उसीको लेकर ये उत्तर देते हैं कि मैं उनका छोटा भाई नहीं हूँ किन्तु उनका दास हूँ। यथा 'वारेहि ते निज हित पति जानी। लछि-मन रामचरन रति मानी।' तथा 'मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।', 'आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ, पति ते सनेह सावधान रहत डरत। साहब सेवक रीति प्रीति परिमित···।' ( वि० २५१ )। उनका मत है कि यहाँ भाई-भाईके परस्पर हासका भी उदाहरण है जो कविने मानसमुखवंदमें कहा था-'अवलोकनि बोलनि मिलनि प्रीति परस्पर हास।'; पर मेरी समझमें यहाँ परस्पर हास नहीं है। लक्ष्मणजी अपनेको सत्य ही दास मानते हैं, कभी यह नहीं सोचते कि भाई हैं जैसा वि० २५१ से भी सिद्ध है। ]

दीनजी—"सुंदरि सुनु···" यह व्यङ्ग्यपूर्ण वचन है। वे आचार्य्य हैं और सर्वज्ञ हैं, अतः कहते हैं कि बड़ी सुन्दरी हो न जो हमको खसम (पति) बनाने आई हो!—( नोट—'सुन्दरि' संबोधनमें यह भी भाव है कि तुम ऐसी सुन्दर हो कि रानी ही बनने योग्य हो, दासी नहीं। तुम्हारी ऐसी सुन्दरीको छोड़कर रामजी दूसरेसे प्रेम नहीं करेंगे, तुम उन्हींकी स्त्री बनो। यथा 'को हि रूपमिदं श्रेष्ठं संत्यज्य वरवर्णिनि। मानुषीषु वरारोहे कुर्याद्भावं विचक्षणः॥ वाल्मी० ३.१८.१२।' अर्थात् हे सुन्दरि! कौन बुद्धिमान् ऐसा सुन्दर रूप छोड़कर मानुषी से प्रेम करेगा?

टिप्पणी—३ (क) 'प्रभु समर्थ कोसलपुरराजा ··' इति। समर्थका भाव कि 'समरथ कहँ नहिं दोष गुसाईं। पावक सुरसरिकी नाईं।' वे कई रानियाँ कर लें तो भी उनको कोई दोष नहीं दे सकता। किसी जातिकी भी स्त्रीको रानी बनानेसे उन्हें कोई जातिसे बाहर नहीं कर सकता। (ख) 'कोसलपुरराजा'। भाव कि अवधेश-जीकी ७०० रानियाँ थीं तो इनको दो में क्या कठिनता है?' मिलान कीजिये 'समृद्धार्थस्य सिद्धार्था मुदिता-

मलवर्णिनी । आर्यस्य त्वं विशालाक्षि भार्या भव यवीयसी । वाल्मी० स० १८।१०।' अर्थात् रामजी सब तरह ऐश्वर्यमान हैं । तुम उन्हींकी स्त्री बनो, वहाँ तुम्हारे सब मनोरथ पूर्ण होंगे, तुम प्रसन्न रहोगी ।

सेवक सुख चह मान भिखारी । ब्यसनी धन सुभगति बिभिचारी ॥१५॥
लोभी जसु चह चार गुमानी* । नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी ॥१६॥

शब्दार्थ—ब्यसनी = जिसे किसी बातका व्यसन (शौक, लत) हो; जुआरी, नशेबाज, आदि । जुआ, स्त्री प्रसंग, नृत्य गान, शिकार आदि १८ व्यसन मनुजीने कहे हैं । जिसमेंसे १० कामज और ८ क्रोधज हैं । जिसमें ये कोई भी व्यसन हों वह व्यसनी है । चार = दूत । गुमानी = अभिमानी । = संशयी ।

अर्थ—सेवक सुखकी चाह करे, भिखारी प्रतिष्ठा चाहे, व्यसनी धन और व्यभिचारी (परत्रियगामी) सद्गति चाहे, लोभी यश चाहे और दूत अभिमानी हुआ चाहे अथवा, संशयी चार फल चाहे ( तो यह ऐसा जान पड़ता है कि) ये प्राणी आकाशसे दूध दुह लेना चाहते हैं । १५, १६ ।

दीनजी—१ 'सेवक सुख चह' का भाव कि विवाह सुखके लिये किया जाता है सो (सुख) न मिलेगा। दूसरे, मैं दास हूँ । दासकी स्त्री सुन्दर हुई तो कठिनाई ही पड़ती है; वह तो महलके लायक है ।

नोट—१ 'सेवक सुख चह', यथा 'कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि' (वाल्मी० १८।१०)। सेवकको तो अपना सारा प्रेम स्वामीकी सेवामें लगा देना होता है, उसे तो स्वार्थपरमार्थ सबपर लात मारनी पड़ती है। उसे सुख कहाँ ? यथा 'सब तें सेवक धरम कठोरा ।२.२०३।', 'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा' ( अपने मनके विरुद्ध भी करना पड़ता है), 'सहज सनेह स्वामि सेवकाई । स्वारथ छल फल चारि बिहाई ।२.३०१।'; तब हम तुमसे प्रेम कब कर सकते हैं और प्रेम न होनेसे तुमको भी सुख कब मिल सकता है ? प्रज्ञानानंद स्वामीजीका भी यही मत है । वे लिखते हैं कि शरीर-सुख तथा विषय-सुखको चाहनेवाला कभी सच्चा सेवक हो ही नहीं सकता "हर गिरि ते गुरु सेवक धरमू', 'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः' । कोई सेवाको श्व-वृत्ति कहते हैं, तथापि 'सेवाश्ववृत्तिर्यैरुक्ता न तैःसम्यगुदाहृतम् । स्वच्छन्दचरितः क श्वा विक्रीतासुश्च सेवकः' ( राम० चं० २ ) ।

दीनजी—२ 'मान भिखारी' का भाव कि तुम प्रेमभिक्षा चाहती हो फिर भी मान चाहती हो, मानका ख़याल हृदयमें घुसा हुआ है । जो स्वयं कहे कि मेरे पति बनो, वह व्यभिचारिणी ही समझी जायगी । [जो भिखारी बनकर भी मान चाहेगा उसको अपमान होनेपर दुःख और असमाधान ही होगा और अपमान तो भिक्षामें मिलता ही है, पर जिसको वह अपमान अमृतके समान लगेगा वह धन्य हो सकता है। ( प० प० प्र० ) ] । ३ 'व्यसनी धन' का भाव कि तुझे व्यसन है प्रेम करनेका ! तू श्रीरामजीसे भी प्रेम करती है कि जो हमारे स्वामी हैं और हमसे भी जो दास हैं । प्राणधन बनानेवाली कईके पास नहीं जाती—( पतिको प्राणधन कहते हैं ) । ४ एक तो तू विधवा । उसपर भी तू श्रीरामजीके पास गई, फिर मेरे पास आई; ऐसेको कौन स्वीकार कर सकता है ? ऐसेकी गति बुरी ही होती है । [ 'शुभगति बिभिचारी' यथा 'सुभ गति पाव कि पर-तिय-गामी ।' व्यभिचारी कामी होते ही हैं । और 'कामी पुनि कि रहै अकलंका' । (प० प० प्र०) ] । ५—लोभी = जिसकी इच्छा पूर्ण न हो । तुम्हारी पतिकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई, इससे तुम्हारा अपयश होगा, यश न होगा और पति यशके लिए किया जाता है । [ यश, कीर्ति पानेके लिये पुण्य-कर्म करने पड़ते हैं, जिसमें धनका व्यय करना पड़ता है । और धनका व्यय तो लोभीको मरणसे भी अधिक दुःखदायक होता है ।—"पावन जस कि पुन्य बिनु होई" । ( प० प० प्र० ) ] । ६ चार (सेवक) होकर चाहे कि स्वाभिमान क़ायम रहे सो नहीं रह सकता—यह आचार्यरूपसे फटकार है कि सुख और अभिमान ये दोनों अब न रहेंगे । सेवकको सुख मिलना, इत्यादि सब झूठ है, इनको 'नभसे दूध दुहना' इस झूठसे प्रमा-

* गुमानी—१७०४। विशेष पाठान्तरवाले नोटमें देखिए।

र्णित करना 'मिथ्याध्यवसित' अलंकार है। [ जो गुप्त दूतकर्म करता है वह यदि घमण्डी होगा तो उसका गौप्य स्फोट ( प्रकट ) हो जायगा। ( प० प० प्र० ) ]

नोट—२ यहाँ प्रस्तुत प्रसंग है दास और दासी ( दासकी स्त्री ) के सुखकी चाह करने और सुख मिलनेका, अतः "सेवक सुख चह" से ही इन नीतियोंको प्रारंभ किया गया।

श्रीविजयानंदत्रिपाठीजी—गुमानी = संशयी। यथा "तुलसी जु पै गुमानको होतो कहूँ उपाउ। तौ कि जानकिहि जानि जिय परिहरते रघुराउ'। और "चार" से चार फलका ग्रहण है, जैसे 'नव सप्त साजे सुंदरी' में "नवसप्त" से सोलहो शृङ्गारका ग्रहण होता है। अतः अर्थ हुआ कि "संशयी चार फल चाहे" तो उसका चाहना आकाशसे दूध दुहनेके समान है, क्योंकि "नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।" संशयात्माके दोनों लोकोंमेंसे कोई नहीं बनता। उसका चार फल चाहना व्यर्थ है।

शिला—यहाँ लक्ष्मणजीने छः बातें कहीं—सेवक सुख, भिखारी मान, व्यसनी धन, व्यभिचारी शुभ-गति, लोभी यश और चार गुमान—इनमेंसे तीन अपने लिए और तीन उसमें अयोग्य दिखाईं। १ "सेवक सुख"—भाव कि हम घरबार छोड़ शीत, गर्मी, वर्षा, हवा आदि सहते हैं, परस्त्रीभोगसुख कैसे योग्य हो सकता है? सुखभोग और रामसेवा यह मुझमें अयोग्य है। २ "भिखारी मान"—भाव कि तू कामासक्त होकर भिखारिनी बनकर याचना करने आई। तुझे जवाब मिल गया, तब तू हमसे अपना मान कराने आई। यह तुझमें अयोग्य है। ३ "व्यसनी धन"—"धन" लाभ है और "लाभ कि रघुपति भगति समाना"। पर-स्त्रीगामी होकर भक्ति भी बनी रहे, यह कैसे संभव है? ४ "शुभगति व्यभिचारी"—तू व्यभिचारिणी है। प्रथम तूने श्रीरामजीको वर बनाना चाहा, अब हमको पति बनाना चाहती है। यह शुभ चाल नहीं है। ५ "लोभी यश"—बिना कुलजाति जाने व्याह करना लोभ है, इससे यश नहीं मिल सकता। अतः ऐसा करना हमारे लिये अयोग्य है। ६ "चार गुमानी" तुझे अपने सौंदर्यका बड़ा गुमान है। तब ऐसी गर्ववाली स्त्रीको कौन व्याहेगा? यह तुझमें अयोग्य है।

स्वामी प्रज्ञानानंदजी—नीतिके वचन लक्ष्मणजीके मुखमें रखनेमें भाव यह है कि शूर्पणखाके आग-मनके पहले 'कहत ग्यान बिराग गुन नीती' दिन जाते थे। इस चर्चाको लक्ष्मणजीने कैसा आत्मसात् कर रखा है यह यहाँ दिखाया। और ये पांचों असंभव बातें शूर्पणखा और रावण दोनोंमें घटती हैं। यथा (क) सेवककी पत्नी होकर सुख चाहनेवाली तू महामूर्ख है। (ख) तू प्रणयकी भिक्षा माँगती है और तुझको घमंड है कि मेरे अनुरूप त्रिलोकमें कोई नहीं है। (ग) तू रावणकी भगिनी होनेसे उसके समान मदिरा, व्यभिचार इत्यादि दुर्व्यसनोंकी दासी है अतः तू और तेरा भाई दोनों भिखारी हो जायँगे। (घ) तुम दोनों व्यभिचार-प्रिय हो इससे तुम्हारी दुर्गति होगी। (ङ) यहाँ जो गुप्त दौतकर्म करनेका तेरा हेतु है वह सब निष्फल ही हो गया। पर अभी तेरा शासन भी करना चाहिए। तू दंडके योग्य है।

नोट—३ 'नभ दुहि दूध चहत'। आकाशसे दूध दुहना, यह मुहावरा है। अर्थात् असम्भव या असाध्य बातको संभव करना चाहते हैं, यह कैसे हो सकती है? आशय कि मैं दास हूँ, मेरे साथ रहकर सुख कैसे संभव है? सुख तो स्वामिनी बननेसे ही तुम्हें मिलेगा, तुम स्वामीकी स्त्री जाकर बनो।

४ मिलानके श्लोक, यथा 'सेवैव मानमखिलं ज्योत्स्नेव तमो जरेव लावण्यम्। हरिहरकथेव दुरितं गुणशत-मभ्यर्थिता हरति ॥'—( हितोपदेशे ) 'अर्थी लाघवमुच्छ्रितो निपतनं कामातुरो लाञ्छनम्। लुब्धोऽकीर्तिमसंगरः परिभवं दुष्टोऽन्यदोषे रतिम् ॥' —( नवरत्ने ) अर्थात् सेवा संपूर्ण मानको, चाँदनी अन्धकारको, बुढ़ापा सुन्दरताको, हरिहरकथा पापको और याचना सैकड़ों गुणोंको हर लेती है ॥१॥ अर्थी लघुताको, उच्च पतनको, कामातुर कलंकको, लोभी अपयशको, और रण-विमुख अपमानको प्राप्त होता है। दुष्ट दूसरेके दोषोंमें रति प्राप्त करता है। 'प्रानी' शब्दमें व्यंग है कि वे पशु हैं।

पाठान्तर—१७०४, रा० प० में 'चार गुनानी' पाठ है। चार गुनानी=चुगलखोर गुणसमूह चाहे। (रा०

प० )। चार=जो छिपकर पराया दोष देखे और फिर प्रकट करे। ( रा० प० प० )। १७२१, १७६२, छ०, को० रा० आदिमें "गुमानी" पाठ है। 'चार गुमानी' का अर्थ पूर्व आ गया। भा० दा० ने "चारु" पाठ दिया है। गौड़जी कहते हैं कि यहाँ अन्वय करनेमें [ 'लोभी जस चह (अरु) चार गुमानी ( हौन चह )' ] अन्तमें 'गुमानी' शब्दके बाद 'हौन चह' विवक्षित है। ऐसा माननेसे 'चार गुमानी' पाठ ठीक समझा जा सकता है। परन्तु भिन्न भिन्न प्रतियोंके पाठमें भेद है। यदि 'चार गुनानी' पाठ समझा जाय तो अर्थ होगा 'चार' ( जासूस और इसलिए चुग़लखोर ) 'गुनानी' (गुणोंका समूह) चाहे। यदि पाठ 'चारु गुमानी' है तो अन्वय होगा—'लोभी चारु (सुन्दर) गुमानी (गर्व करने लायक़) यश चह'।

पुनि फिरि राम निकट सो आई। प्रभु लछिमन पहिं बहुरि पठाई ॥१७॥
लछिमन कहा तोहि सो बरई। जो तृन तोरि लाज परिहरई ॥१८॥

शब्दार्थ—तिनका तोड़ना=संबंध छोड़ना—यह मुहावरा है।

अर्थ—वह पुनः लौटकर श्रीरामजीके पास आई। श्रीरामचन्द्रजीने उसे फिर लक्ष्मणजीके पास भेज दिया।१७। लक्ष्मणजी बोले कि तुझे वही व्याहेगा जो लज्जाको तिनकावत् तोड़कर त्याग देगा ( वा, तिनका तोड़कर लज्जाको छोड़ दे ) अर्थात् निर्लज्ज हो जाय।१८।

नोट—१ कुलटा स्त्रीकी यही दशा होती है। वह सभीको अपना पति बनाती है। लक्ष्मणजीके इस रूखे उत्तरसे अब वह समझ गई कि यह सब परिहास था। २—किसी किसी महानुभावने यहाँ प्रश्न किया है कि "प्रभुकी तो बानि है कि कोई भी कैसे ही शरणमें आवे तो उसका त्याग नहीं करते। यथा 'काम मोहित गोपिकन्ह पर कृपा अतुलित कीन्हि।' (वि० २१४)। शूर्पणखा शरणमें आई, चाहे काम लोभ या किसी रीति से आई, तब उसका त्याग क्यों किया ?" उत्तर यह है कि एक तो वह कपटवेष बनाकर आई, दूसरे वह व्यभिचारिणी बनकर आई। वह तो 'देखि विकल भइ जुगल कुमारा'। अतएव वह किसीके कामकी न रही और न उसका शरण होना कहा जा सकता है। यही हाल उनका होता है जो अनेक देवताओंकी शरणमें दौड़ते हैं, कोई भी ऐसेकी रक्षा नहीं करता। जैसे द्रौपदी और गजेन्द्र जबतक दूसरोंका भरोसा करते रहे तबतक भगवान्‌ने उनकी सहायता न की। यदि शूर्पणखा सत्य ही प्रेम करके उनकी शरणमें गई होती तो शरणागतवत्सल भगवान उसे अवश्य ग्रहण करते। (मा०म०, मयूख)। ३—यहाँ 'राम' शब्द 'रमु क्रीड़ायाम्' का भाव जनाता है। प्रभु क्रीड़ा कर रहे हैं। शूर्पणखा-प्रसंगमें इसके पूर्व 'राम' शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है। प्रज्ञानानंदस्वामीजी लिखते हैं कि इस समय शूर्पणखाके श्रीरघुनाथजीके निकट जानेपर 'राम' शब्द देकर कवि जनाते हैं कि वह अब भी यही समझती है कि उनको आराम मिलेगा। पर उसी चौपाईमें 'प्रभु' शब्दसे कवि बताते हैं कि आराम तो दूर रहा उसे दण्ड ही मिलेगा। इस प्रसंगमें पाँच बार 'प्रभु' शब्दके प्रयोगका भाव यह है कि श्रीरामजीका प्रभुत्व केवल रूप-विषयपर ही नहीं किन्तु पाँचों विषयोंपर है।

नोट—४ 'सो बरई'''जो तृन तोरि'''' इति। लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि यह आचार्यरूपसे मानो वरदान है कि वह अवतार तुझको वरेगा जिसमें लाज न होगी।

५ लक्ष्मणजीके वचन सुनकर वह श्रीरामजीके पास लौट आई। इससे जाना गया कि उनकी बात इसको भाई, इसको मनमें जँची कि सत्य है, बड़ेकी रानी बननेमें ये सब मेरी सेवा करेंगे और छोटेकी स्त्री बननेमें दासी बनना होगा। यथा 'इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी। मन्यते तद्वचः सत्यं परिहासाविचक्षणा।' ( वाल्मी० सर्ग १८।१३ )।

तब खिसिआनि राम पहिं गई। रूप भयंकर प्रगटत भई ॥१९॥
सीतहि सभय देखि रघुराई। कहा अनुज सन सयन बुझाई ॥२०॥

अर्थ—तब वह खिसियाई हुई श्रीरामचन्द्रजीके पास गई और भयंकर रूप प्रकट कर लिया ॥१६॥ सीताजीको भयभीत देखकर श्रीरघुनाथजीने भाई लक्ष्मणसे इशारेसे समझाकर कहा ॥२०॥

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—'तब खिसिआनि···' इसके दोनों चरण १५-१५ मात्राओंके हैं। ग्रन्थके आरंभसे यहाँतक एक भी चौपाई ऐसी नहीं है पर यहाँसे उत्तरकांडके अंततक कमसे कम १२७ अर्धालियाँ ऐसी मिलती हैं। २० वर्षके बाद २८।११।८१ को सहसा मेरा समाधान हो गया कि इसमें काव्यदोष नहीं है, ऐसा करनेमें गूढ़ भाव है। संपूर्ण स्थानोंमें खोज करनेपर यह साधार सिद्ध हुआ कि विशिष्ट भावोंका दिग्दर्शन करानेके लिये अन्तकी चार मात्राओंमेंसे एक-एक मात्रा न्यून रखकर गतिभंग कराया गया है। ठौर-ठौरपर यह गतिभंग और लयभंग खटकता है।

शूर्पणखा-आगमन होनेपर सीताहरणकी अतीव दुःखद घटना कविके मनश्चक्षुके सामने आ जानेसे रावणके वधकी कथा शीघ्रातिशीघ्र लिख देनेकी कल्पना और निश्चय भी खड़ा हो गया और यहाँसे कथाको अतिसंक्षिप्तरूप देनेका निश्चय हो गया। ऐसा करनेमें, विविध भावोंका शब्द-चित्र जैसा आदिके दो कांडोंमें खींचा गया वैसा खींचना असंभव जानकर भाव-प्रदर्शनकी एक नयी कला स्फूर्त हो गयी जो इन १५।१५ मात्राओंकी अर्धालियोंमें निहित है। अब इन दो आर्धालियोंका रहस्य प्रकट करके बताया जाता है।

"तब खिसिआनि राम पहिं गई" इति। जब दुष्ट राक्षसोंका तिरस्कार किया जाता है तब वे राक्षसी कर्म करते ही हैं। श्रीरामजीके पास श्रीसीताजी बैठी हैं जो 'चित्रलिखित कपि देखि डेराती' हैं। शूर्पणखा क्रोधाविष्ट होकर निकट जायगी तब भयसे उनकी दशा कैसी होगी, यह कल्पना कविके हृदयमें खड़ी हो गयी। पर, भीतिके भावोंको शब्दोंमें लिखकर कथाका विस्तार करना अनुचित है इससे ये भीतिके भाव निदर्शित करनेके लिये एक मात्रा न्यून कर दी गई। सीताजीमें भीतिसे उत्पन्न कंप, स्वेद, स्तंभ इत्यादि भाव शब्दोंमें लिखकर नहीं बताये। इसी प्रकार प्रत्येक स्थानमें कहीं भक्ति, कहीं भीति, कहीं शोक, कहीं आश्चर्य इत्यादि विविध भाव, केवल एक मात्रा कम करके, प्रकट करनेकी अपूर्व काव्यकला केवल मानसमें ही मिलती है। धन्य ! धन्य !

नोट—१ 'रूप भयंकर प्रगटत भई' इति। कामनाकी हानि होनेपर क्रोध होता ही है। उसकी कामना पूर्ण न हुई तब क्रोधमें भरकर वह भयंकररूप धारण कर श्रीसीताजीको खाने दौड़ी यह कहते हुए कि न यह रहेगी न सौतका डर रहेगा। यथा 'अद्येमां भक्षयिष्यामि पश्यतस्तव मानुषीम्। त्वया सह चरिष्यामि निःसपत्ना यथासुखम् ॥१६॥ इत्युक्त्वा मृगशावाक्षीमलातसदृशेक्षणा। अभ्यगच्छत्सुसंक्रुद्धा महोल्का रोहिणीमिव ॥१७॥ वाल्मी० सर्ग १८।' अर्थात् ज्वालाहीन अग्निकाष्ठके समान नेत्रोंवाली शूर्पणखा ऐसा कहकर कि 'तुम्हारे देखते ही देखते इस मानुषीको मैं इसी समय खाये डालती हूँ। सवतके न रहनेपर मैं सुखपूर्वक तुम्हारे साथ विचरण करूँगी', वह क्रोधपूर्वक बालमृगनयनी श्रीजानकीजीपर झपटी जैसे महान् उल्का रोहिणीपर झपटती है।

टिप्पणी—१ 'सीतहि सभय देखि रघुराई।' इति। 'अभय' देना रामजीका विरद है, व्रत है। जब कोई सभय होकर शरण हुआ उन्होंने अभय किया, यथा 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम' (वाल्मी ६।१८। ३४), 'मम पन सरनागत भय हारी। ५.४३।', 'जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रानकी नाईं। ५.४४।', 'जानि सभय सुर भूमि सुनि बचन समेत सनेह···। १.१८६।', 'सभय देव करुनानिधि जाने।', 'सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी भीरु। १.२७०।', 'सुर मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक करेउ···३.२०।', इत्यादि। तथा यहाँ 'सभय देखि' निर्भय करनेका उपाय तुरन्त रच दिया। भयकी निवृत्तिके विचारसे 'रघुराई' पद दिया।—दो-तीन बार घुमानेका कारण है—उसका अपराध सिद्ध करना।

प० प० प्र०—'रघुराई' शब्दका भाव बतानेके लिए 'सीता, सभय और देखि', ये तीन शब्द पर्याप्त हैं। श्रीसीताजी रघुवंशकी प्रिय वधू हैं, श्रीरामजी रघुवंशके राजा हैं, सीताजी सभीत हैं यह रघुराईने देखा है। फिर क्या ऐसी अवस्थामें रघुवंशके राजाको शान्त बैठकर वंशकी वनिताकी भयार्त्त अवस्था देखते

कहना शक्य है। भय और भयका कारण मिटा देना उनका कर्त्तव्य ही है वही अब ये करेंगे, यह भाव 'रघुराई' शब्दमें है।

प० प० प्र०—'बुझाई' शब्दका भाव कि इस रीतिसे कहा कि लक्ष्मणजी निस्संदेह समझ जायँ कि क्या करना है, नहीं तो फिर पूछनेमें कालक्षेप होगा, इतनेमें वह कामरूपिणी निशाचरी कहीं गुप्त न हो जाय। वह भयंकरा और कामरूपिणी है यह उसने स्वयं ही कहा है, यथा 'अहं शूर्पणखा नाम राक्षसी कामरूपिणी। अरण्यं विचरामीदमेका सर्वभयंकरा। वाल्मी० ३।१७।२०,२१।' और साधारणतः सभी राक्षस कामरूपी होते ही हैं, यथा 'कामरूप जानहिं सब माया।' भगवान्‌की इच्छा है कि इस समय निशाचरविनाशका बीज बो दें। यदि वह भाग गई तो निशाचरोंका विनाश करनेके लिए पर्याप्त सबल कारण ही न मिलेगा।

टिप्पणी—२ 'कहा अनुज सन सयन बुझाई' इति। यहाँ 'सूक्ष्म अलंकार' है, यथा 'पर आशय लखिके करै चेष्टा साभिप्राय। उत्तर रूप अनूप जहँ तहाँ सूक्ष्म कविराय॥ लषन लखेउ रघुनाथ दिशि निशिचरि च्याहन काम। तर्जनि पर धरि तर्जनी ऐंचि लई तब राम॥', 'वेद नाम कहि अंगुरिन खंडि अकास। पठयो सूपनखाहि लषन के पास। बरवै २८।'

नोट—२ आनंदरामायणमें अँगुलीसे इशारा करना कहा है—'वैदेहीं सभयां दृष्ट्वा अंगुल्या बोधितोऽनुजः' । बरवै रामायणके अनुसार यहाँ इशारा यों किया कि चार अँगुलियाँ दिखाकर वेदका अर्थ सूचित किया (क्योंकि वेद चार हैं) और वेद 'श्रुति' को कहते हैं। श्रुतिका एक अर्थ 'कान' है। फिर अंगुली आकाशकी ओर घुमाकर आकाशका खण्डन भी जनाया। आकाश "नाक" को कहते हैं।

दीनजी—यहाँ "युक्ति अलंकार" है। अपना मर्म लक्ष्मणजीको बताना और शूर्पणखासे छिपाना था। 'कहा अनुज सन सैन बुझाई' से जनाया कि लक्ष्मणजी इतने पास थे कि शब्द सुन सकें और उँगलीका इशारा देख सकें।

[ जहाँ गुप्त रीतिसे कुछ समझाना होता है, बातको दूसरोंसे गुप्त रखना होती है, वहाँ प्रायः संकेतसे काम लिया जाता है। यथा 'रघुपति सयनहि लखनु नेवारे। १.२७६।', 'सयनहि रघुपति लषनु नेवारे। प्रेम समेत निकट बैठारे। १.२५४।', 'निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि। २.११७।', 'कहेसु जानि जिय सयन बुझाई। ४.१.४।'—(व्यापकजी)]।

पं० रा० च० शुक्ल—कविलोग अपनी चतुराई दिखानेके लिए श्लेष, कूट, पहेलिका आदि लाया करते हैं, पर परमभावुक गोस्वामीजीने ऐसा नहीं किया। केवल एक (इसी) स्थानपर ऐसी युक्तिपटुता है, पर वह आख्यानगत पात्रका चातुर्य्य दिखानेके लिए ही है। लक्ष्मणजीसे शूर्पणखाके नाक-कान काटनेके लिए राम इस तरह इशारा करते हैं—'वेद नाम कहि अँगुरिन खंडि अकास। पठयो सूपनखाहि लषन के पास॥' (वेद=श्रुति=कान। आकाश=स्वर्ग=नाक)।

दोहा—लछिमन अति लाघव सो नाक कान बिनु कीन्हि।
ताके कर रावन कहँ मनो चुनवती दीन्हि॥१७॥

शब्दार्थ—लाघव=हाथकी सफाई, फुर्ती, सहजमें, जल्दी। यथा 'अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा'।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीने बड़ी फुर्तीसे उसको बिना नाक-कानका कर दिया, मानों उसके हाथ रावणको चुनौती दी (अर्थात् ललकारा कि मर्द हो तो सामने आओ)॥१७॥

टिप्पणी—"ताके कर" में यह भी ध्वनि है कि नाककान काटकर उसके हाथमें धर दिये।

प्रज्ञानानन्द स्वामीजी—१ 'अति लाघव' अर्थात् उसको विरोध करनेका अवसर ही न देकर तथा उसके शरीरको स्पर्श किये बिना अत्यंत फुर्तीसे यह काम किया। विरोधका अवसर मिल जाता तो कदाचित् स्त्रीहत्या करनेका प्रसंग आ जाता अथवा इस विरोधमें उस दुष्टाके शरीरका स्पर्श करना पड़ता।

नोट—१ 'नाक कान बिनु कीन्हि' इति । नाक कान काटनेका भाव कि—(क) व्यभिचारिणीका यही दंड है। उनको रूप और यौवनका गर्व होता है, नाक-कान काटनेसे कुरूपवती हो जायगी। आज भी न्यायालयोंमें ऐसे मामले देखनेमें आते हैं कि पति या जारने स्त्रीको दूसरे मनुष्यसे संग करते पा उसकी नाक काट डाली है। (ख) (वंदनपाठकजी लिखते हैं कि) नाक काटनेसे व्यभिचारिणीको विरूप कर दंड दिया और कान इसलिए काटा कि तूने इनसे सुना नहीं कि श्रीराम धर्मात्मा एकपत्नीव्रत हैं। (ग) पति-दासीजी लिखती हैं कि "सूपनखा गइ रामपहँ तजि वैधव्य विचार। 'दासी' याते नासिका काटे राज-कुमार॥" पुनः, (घ)—कानमें बहुतसे भूषण पहने जाते हैं। नाक-कानसे ही स्त्रीका शृङ्गार और शोभा होती है। इनके काटनेपर वह कुरूप हो जाती है। इस प्रकार उसकी अधर्ममें प्रवृत्ति आप ही मिट जाती है। (ङ) कान=श्रुति, नाक=स्वर्ग। नाक-कान काटनेका भाव कि श्रुति-और-सुर-विरोधी रावणको चुनौती दी। (प्र०)। (च) प्रश्न—नाक कान उसने काटने कैसे दिया, हाथ पैर न हिलाये? इसका उत्तर गोस्वामी-जीने स्वयं दे दिया है कि 'अति लाघव०' अर्थात् ऐसी फुर्ती की कि वह कुछ न कर सकी। अथवा, वह सीताजीकी ओर झुकी है। उसने उनको पास आते, तलवार चलाते न देखा। अथवा, समझी कि अब मुझसे डरकर मुझे मनाने, मेरे कपोल आदि स्पर्श करके मुझे प्रसन्न करने आए हैं।

नोट—२ (क) चुनवती=प्रवृत्ति बढ़ानेवाली बात, उत्तेजना, ललकार, प्रचार; यथा 'चतुरंगिनी सेन संग लीन्हे। बिचरत सबहिं चुनौती दीन्हे'।—"सूपनखा की गति तुम्ह देखी। तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी" यह चुनौती है।

## शूर्पणखा का नाक-कान काटना क्या अपमान है?

गौड़जी—आजकल कुछ सुधारक लोग अपनेको स्त्रीजातिपर अत्यन्त उदार दिखाते हुए यह भी कहते हैं कि "सूपनखाके कान-नाक काटकर लक्ष्मणजीने बड़ा ही कठोर दंड दिया। वैसे ही ताड़काको मारा था तो गुरुजीकी आज्ञा थी, परन्तु यहाँ श्रीरामचन्द्रजीने सूपनखाको क्षमा कर दिया होता तो उनको अधिक शोभा देता। स्त्रीजातिका अपमान उचित न था।" वह इस बातको भूल जाते हैं कि वह (दुष्ट हृदय दारुण जस अहिनी) राक्षसी थी और भयंकर रूप बनाकर सीताको उसने डराया और अपने विवाहके मार्गमें कंटकरूप सीताजीको खा जानेकी धमकी दी। उसे विवाहके प्रस्तावकी ढिठाईपर यह दंड नहीं दिया गया। उसे दंड इस लिये दिया गया कि उसने मार डालनेकी, मृत्युकी, धमकी दी। श्रीरामचन्द्रजीको यह निश्चय था कि मृत्युदंडसे कमसें ही वह भाग जायगी। इसीलिये उस ऋषिमांसपर वैधव्य व्यतीत करने-वाली राक्षसीको भी मृत्युदंड न देकर ऐसा दंड दिया कि उसके अपमानपर सभी सम्बन्धी राक्षस उबल पड़े। मृत्युदंडसे खरदूषण, त्रिशिरा और रावणको उतनी उत्तेजना भी दिलानेवाला कौन मिलता जितनी उत्तेजना सूपनखाने दिलायी। नाक कान काटकर छोड़ देना सूपनखाके साथ उतनी ही रिआयत थी जितनी जयन्तके साथ की गयी थी। क्षमा-याचना सूपनखाने कब की, जो उसे दी जाती? जो मुक़ाबलेमें आकर युद्ध करना चाहे, उसका सामना न करके उसकी याचनाके विपरीत ही उसे क्षमा करना तो कायरता है।

राम-रावणयुद्धका हेतु पैदा करने, लीलाका अंग संपन्न करने के लिये यह बीजारोपण था। सूप-नखाके हाथसे रावणको मानो चुनौती दी गयी थी। अगर इसे रावणके पक्षवाले अनुचित अपमान मानें तो भी ठीक है। यह तो भगवान्की ओरसे मनुष्योचित दौर्बल्यका बड़ा ही उत्तम अभिनय समझा जाना चाहिये। इस स्थलपर तो अनुपम माधुर्य्य भाव प्रदर्शित होता है।

बाबू शिवनंदन सहाय—कविने शूर्पणखाको निर्लज्जताकी मूर्त्ति खड़ी की है और लक्ष्मणके हाथसे उसकी नाक और कान कटवाकर उसे यथोचित दंड भी दिलवाया है। भक्त लक्ष्मणसिंहने लिखा है कि "पिताकी प्रतिज्ञापालनके लिए राज-परित्याग कर देनेकी प्रशंसा नहीं करनी तो असंभव है; परन्तु रावणके

संग युद्ध करके, जिसका अपराध केवल यही मालूम होता है कि उसने अपनी वहनके प्रति अयोग्य अपमान का बदला लिया, इतने रुधिर प्रवाहको समर्थन करना दुष्कर है"। हमारे जानते यह अयोग्य अपमान तब होता जब राह चलते वा बैठे-बैठे रामचन्द्र या लक्ष्मण उसकी वहनके साथ छेड़छाड़ करते, हँसी-मजाक उड़ाते या उसकी नाक-कान काटते। कोई भी सभ्य या शिष्टजन इस बातको सहन न करेगा कि जहाँ वह प्रियपत्नी, भ्राता, बन्धु या किसी और ही के संग बैठा हो, वहाँ एक कुलकलङ्किनी कामकी कुनारी पहुँचकर उससे प्रेमगाँठ जोड़ने--प्रीतिरीति करनेकी प्रार्थना करे, हठ करे और बलका प्रयोग करनेपर उद्यत हो जाय। लक्ष्मणने तो नाक कान काटना उचित समझा, परन्तु हमारे भाई लक्ष्मणसिंह ऐसी अवस्थामें क्या करते? उसका आदर करते या अपमान? - यह जाननेकी हमारे पाठकोंको निश्चय बड़ी उत्कंठा होगी।

पं० रा० चं० दूबे—शूर्पणखाके नाक-कान कटवाना भी स्त्रीजातिका अपमान बताया जाता है। हो सकता है। पर इसमें गुसाईंजीका दोष क्या? उसके नाक-कान गोसाईंजीके जन्मसे हजारों लाखों वर्ष पूर्व कट चुके थे। यह सजा अच्छी थी या बुरी, इसके जाँचनेका अधिकार हमको नहीं। इन बातोंमें सदा परिवर्तन होता रहता है। जो आज अच्छा समझा जाता है, वही कालांतरमें बुरा हो जाता है। आज भी अनेक दुष्टकर्मोंकी जो सजा बहुत कठोर समझी जाती है, आगे चलकर उसका असभ्यतासूचकतक समझा जाना संभव है। आज हम उसे ऐसा नहीं समझते, तो क्या आगामी पीढ़ियोंको इस समयके लोगोंको ऐसा दंड देनेपर खरा-खोटा कहना अच्छा होगा। एक बात और विचारणीय है; वह यह कि क्या जिसको हम सभ्यदंड कहते हैं, उससे हमारी इष्ट-सिद्धि होती है? जेलखाने सुधारघर हैं या दुराचार और अनाचारकी पाठशालाएँ? कितने अभियुक्त जेलखानेकी हवा खाकर सुधरकर निकलते हैं और भविष्यमें निंदित कर्मोंसे बचते हैं? यदि बहुत कम; तो फिर क्यों उस पुराने दंडकी, जिससे एक ही के प्रति पाशविक क्रूरता होती थी पर बहुतोंको उससे शिक्षा मिलती थी और फिर वैसा करनेका साहस न होता था, निन्दा की जाय? आजके समान तब अनेक प्रकारके अनाचारोंकी वृद्धि नहीं होने दी जाती थी, जेलखानोंके ग्रामके ग्राम नहीं बसते थे। सम्राट् अशोकके जन्मोत्सवपर केवल एक या दो बन्दी मुक्त होते थे। कारण कि होते ही बहुत कम थे। अस्तु।

हमारा आशय सिर्फ यही है कि जो रिवाज जिस समय प्रचलित होता है, उस समय वह साधारण प्रतीत होता है। उसके दोष जनताको दिखाई नहीं देते। वह बुरा नहीं दिखाई देता। आज भी यही है।

सभ्यता-अभिमानी अमेरिकानिवासियोंको 'लिंच ला' ( Lynch Law ) में कोई दोष दृष्टिगोचर नहीं होता है। वह न्याययुक्त और गुणमय ही दिखाई देता है। दूसरे की आँखोंमें वह काँटेके समान खटकता है, अन्यायमूलक और पाशविक प्रतीत होता है।

जैसे पुरुषोंको कामका चेरा बताया है और यहाँतक कह डाला है 'नहिं मानहिं कोउ अनुजा-तनुजा' तो फिर यदि—'सूपनखा रावन की बहिनी। दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी॥' की कामांधताका जिक्र करते हुए यह कह डाला कि—'भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी।' तो गुसाईंजीने पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंके प्रति कौन-सा घोर अन्याय किया? वे तो दोनोंको एक ही लाठीसे हाँक रहे हैं।

मा० सं०—कुछ लोगोंका कहना है कि "रामचन्द्रजीको चाहिए था कि शूर्पणखाकी प्रार्थना स्वीकार कर लेते। वे राजा थे, कई विवाह कर लेना उनके लिए अयोग्य न था। वरन् इसको पत्नी बना लेनेमें उनका संबंध त्रैलोक्यविजयी रावणसे हो जानेसे आगे बहुत लाभ संभव था।" हमारी समझमें यह शंका उन्हीं लोगोंकी है जो एकपत्नीमें संतोष नहीं कर सकते, वा जिन्हें पाश्चात्य सभ्यताने मोहित कर लिया है। उनकी यह कल्पना रामायणके सम्बन्धमें निरर्थक है। एकपत्नीव्रत तो रामायणकी मुख्य शिक्षाओंमेंसे है।

राजा दशरथकी यदि कई रानियाँ न होतीं तो श्रीरामचन्द्रजीका वनवास क्यों होता ? और, यदि पुरुषोत्तम श्रीरामजी बहुपत्नीवान् होते तो निश्चय ही आज शंका करनेवाले यह प्रमाणित करते कि उन्हों ( रामजी ) ने अपने घरके ही अनुभव से कुछ लाभ नहीं उठाया। आजकलकी दृष्टिसे भी यह प्रश्न मूर्खताका है क्योंकि आज भी पच्छाहीं रोशनीवाले दोनों पक्षोंका रजामन्दीसे ही विवाह होना न्याय-संगत मानते हैं। प्रस्तुत प्रसंगमें न श्रीरामचन्द्रजी राज़ी हैं न श्रीलक्ष्मणजी। इसलिए विवाहका संबंध ही कैसे हो सकता है ? यदि कहा जाय कि भगवद्विभूतियोंपर मोहित होना भक्तिका एक प्रकार है और भगवान्‌को भक्तका भी उद्धार करना चाहिए, नहीं तो भगवद्गुणोंमें एक त्रुटि-सी पाई जाती है। तो इसका उत्तर यह है कि वर्तमान समयमें भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम हैं, उनपर मोहित होनेसे सद्गति अवश्य होती है और यदि नीच वासनासे भी कोई भगवान्‌के निकट पहुँचे तो भी उसका भला हुए विना नहीं रह सकता। जनकपुरमें दोनों बंधुओंके रूपपर नगरकी सभी स्त्रियाँ मोहित हो गई थीं और उनमेंसे अनेकोंने भगवान्‌को पतिभावसे भी देखा था; परन्तु भगवान्‌ने इस भावसे किसीको न देखा। श्रीरामावतारमें एकपत्नीव्रतकी मर्यादा है परन्तु इन मोहित हो जानेवालोंके भावकी रक्षा भगवान्‌ने अपने कृष्णावतारमें की, जिसमें रामावतार में उनपर मोहित होनेवाली स्त्रियाँ जो पत्नीत्व नहीं चाहती थीं वरन् केवल सखित्वकी अभिलाषिणी थीं वे गोपियाँ हुईं और जो पत्नीत्वकी अभिलाषिणी थीं वे सब रानियाँ हुईं। कहा जाता है कि गर्गसंहितामें शूर्पणखाके विषयमें विस्तृत कथा है। श्रीरामचन्द्रजीने उससे कह दिया था कि इस अवतारमें हम तुम्हें ग्रहण नहीं कर सकते अगले अवतारमें तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करेंगे। वही शूर्पणखा कुब्जा हुई। करुणासिंधुजीने भी ऐसा ही लिखा है कि वह द्वापरमें कुबरी हुई। इस प्रकार भगवान्‌ने उसकी अभिलाषा भी पूर्ण कर दी। शंका करने-वाले महानुभावको यह जानकर आशा है कि संतोष हो।

नोट—ऐसी शंका करनेवाले भूल जाते हैं कि यह मर्यादापुरुषोत्तम अवतार है, जिसमें एकपत्नीव्रतकी मर्यादा स्थापित की गई है। श्रीरामजी ही नहीं वरन् उनके सब भाई, परिजन और सारी प्रजा एकपत्नीव्रत थी—'एक नारि व्रत रत सब झारी।'

देखिए सीतावियोगके लगभग १००० वर्ष बाद तक वे विना स्त्रीके रहे पर उन्होंने दूसरा विवाह न किया। यह व्रत पराकाष्ठाको पहुँच जाता है जब हम सोचते हैं कि यज्ञोंके समय जब ऋषियोंने उनसे दूसरा विवाह कर लेने की राय दी तब भी उन्होंने उसे स्वीकार न किया और यज्ञके लिए स्वर्णकी सीता बनायी गईं।

शूर्पणखा विधवा है। परस्त्रीको माताके समान देखना शास्त्राज्ञा है—'मातृवत्परदारेषु', 'जननी सम देखहिं परनारी'। उन्होंने स्वप्नमें भी परायी स्त्रीपर दृष्टि नहीं डाली तब इसको कैसे स्त्री बनाते। अच्छा दूसरी दृष्टिसे भी देखिये—शूर्पणखा दोनों राजकुमारोंपर मोहित हुई है। वह पहले श्रीरामजीके पास गई तब उन्होंने उसे लक्ष्मणजीके पास भेज दिया। यहाँ उसकी परीक्षा भी हो गई। यदि वह सत्य ही विवाह करने आई थी तो लक्ष्मणजीके पास न जाती, यही कहती कि मैंने तो आपके लिए आत्मसमर्पण कर दिया है, अब और कहाँ जा सकती हूँ ? पर वह कामकी चेरी उनको छोड़ लक्ष्मणजीके पास जाती है। फिर वहाँसे यहाँ आती है। श्रीरामजीसे विवाह करने आई, अतः लक्ष्मणजीके लिए वह मातारूप है। उसे वे कैसे ग्रहण करते और लक्ष्मणजीको पति बनाने गई, अतः वह अनुजवधू सरीखी हुई। उसे रामजी कैसे ग्रहण करते—वह तो कन्या समान हुई। दोनोंको पति बनाना चाहा; अतः स्पष्ट है कि वह निर्लज्जा है, कुलटा है।

इतनेपर भी प्रभु उसे क्षमा ही करते रहे, क्योंकि वे तो 'निज अपराध रिसाहिं न काऊ'। पर जब वह श्रीसीताजीको खाने दौड़ी और वे भयभीत हो गईं तब इस आततायनीके अपराधको वे न सह सके—'जो अपराध भगत कर करई। रामरोष पावक सो जरई'। फिर भी उसको प्राणदण्ड न दिया गया। स्त्री जानकर केवल इतना ही दंड दिया गया जो आजकल भी नेपाल आदि रजवाड़ोंमें दिया जाता है। वाल्मीकीयमें

इसका प्रमाण है कि ऐसी स्त्रियोंके लिए उस समय यही दण्ड था। उदाहरण में वाल्मी० आ० स० ६६। ११-१८ प्रमाण है। अयोमुखी नामकी एक राक्षसी आकर लक्ष्मणजीके लपट गयी और बोली कि आओ हम तुम इस वनमें आयुपर्यन्त रमण करें। इसपर लक्ष्मणजीने उसके नाक कान काट डाले। जो राजाका कर्त्तव्य है वही दंड शूर्पणखाको भी मिला।

एक महानुभाव शूर्पणखाके नाककान काटनेके सम्बन्धमें यह कहते थे कि वह पुलस्त्यकुलोद्भव होनेसे ब्राह्मणी हुई और प्रभु क्षत्रिय हैं। क्षत्रिय ब्राह्मणीके साथ विवाह नहीं कर सकता। अतः उन्होंने इसकी प्रार्थना स्वीकार न की। ऐसा विवाह प्रातिलोम्य विवाह कहलाता है और उसके लिए यही दंड देना राजाका कर्त्तव्य है। यथा—'सजातावुत्तमो दण्ड आनुलोम्ये तु मध्यमः। प्रतिलोम्ये वधः पुंसो नार्यः कर्णादि कर्त्तनम्॥ (याज्ञवल्क्यः)।'

☞ दूसरी कल्पना कि त्रैलोक्यपतिको रावणसे लाभ पहुँचता उपहासास्पद है।—(संपादक)।

नोट—प्राण न लेनेमें एक रहस्य अवतारके कार्य्यका भी है। रावणका उसके परिवारसहित उद्धार करना है। इसके द्वारा वह कार्य करना है। जैसे मारीचका वध न करके उसे प्रभुने लंकामें पहुँचा दिया था, क्योंकि उससे सीताहरण आदि लीलामें काम लेना था।

मु० हरिजनलालजी—कुछ अनभिज्ञ लोग शूर्पणखाके कर्ण-नासिकाके काटे जानेको श्रीरघुनाथजीके परमोज्ज्वल चरितमें धब्बा मानते हैं। यहाँतक भी कह डालनेमें उनको संकोच नहीं होता कि—'प्रथम अपराधका आरम्भ श्रीरामजी ही की ओरसे हुआ। उन्होंने अनायास रावणकी भगिनीके नाक-कान काट लिए। ऐसे अहित और अनर्थपर यदि रावणने उनकी स्त्रीका हरण किया तो क्या अपराध किया? अतएव रावण अपराधी नहीं कहा जा सकता।

वर्त्तमान-समयानुसार उत्तर यह है कि उनका यह अनुमान सर्वथा अयोग्य है। श्रीरामजीने शूर्पणखा तथा रावण दोनोंका परम हित किया है, अहित नहीं किया। शूर्पणखा विधवा थी। उसके पतिको स्वयं रावणने मार डाला था; यह कथा वाल्मीकि आदि रामायणोंमें सविस्तर दी हुई है। वह शूर्पणखा महात्मा रावण ऐसे प्रतापी वीर पुरुषकी बहिन होकर भी अपने वैधव्य धर्मके विरुद्ध काम करने तथा रावणके अनुपम पौरुष और प्रतापजनित सुयशको कलंकित करके उपहास करनेको उद्यत हुई थी। अर्थात् काम-विवश हो पर-पुरुषसे प्रसंग किया चाहती थी। इस अनर्थसे रोकनेके निमित्त उसके नाक कान काटे गए। इसका कारण यह है कि स्त्रियोंका धन स्वरूप है और स्वरूपमें प्रधान अंग नासिका है जिसके बिना स्त्री कुरूप हो जाती है फिर उसे कोई ग्रहण नहीं करता; इस तरह वह पर-पुरुष-प्रसंगसे बच जाती है। इसी विचारसे नाक-कान काटे गए जिसमें उसका वैधव्य धर्म सुरक्षित और रावणका सुयश सुरक्षित तथा प्रशंसनीय बना रहे, उपहासके योग्य न हो। परन्तु रावणने इस परमोपकारको न समझकर रघुनाथजीके साथ धृष्टता की; अतएव सुजान समाज रावण ही को दोषका भागी कहते आ रहे हैं और कहेंगे। मारीचने रावणसे यही कहा था कि शूर्पणखा उनके पास गई ही क्यों थी? अर्थात् उसका उनके पास जाना राक्षस-कुलकी मर्यादाका तोड़ना था।

## खर-दूषण-वध-प्रकरण

नाक कान बिनु भइ बिकरारा। जनु स्रव सैल गेरु कै धारा॥१॥
खरदूषन पहिं गइ बिलपाता। धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता॥२॥
तेहि पूछा सब कहेसि बुझाई। जातुधान सुनि सेन बनाई॥३॥

अर्थ—बिना नाक कानके वह बहुत ही कराल दिखने लगी, मानों (काले) पर्वतसे गेरूकी धारा बह रही हो॥१॥ विलाप करती हुई वह खरदूषणके पास गई। (और बोली—) अरे भाई! तेरे पुरुषार्थ

और बलको धिक्कार है, धिक्कार है ॥२॥ उन्होंने उससे पूछा (कि क्या बात है कह, तब) उसने सब समझाकर कहा। निशाचरने सुनकर सेना सजी ॥३॥

टिप्पणी—१ 'भइ बिकरारा' इति। भाव कि कराल तो पूर्व ही थी, अब नाक कान कटनेसे विशेष कराल हो गई, क्योंकि रक्तकी तीन धाराएँ चल रही हैं। बिकरार=विकराल। र और ल सावर्ण्य होनेसे 'ल' का 'र' कर लिया गया। यथा 'अस्थि सैल सरिता नस जारा। ५.१५।'

प० प० प्र०—१ ( क ) विकराला-शब्द न देकर यहाँ बिकरारा लिखनेसे ओज बढ़ गया। 'ल' मृदु है और 'क' के अनन्तर आनेवाला 'रा' कठोर है। ( ख ) 'जनु स्रव सैल'—यहाँ शैलके साथ कज्जल शब्द न होनेसे पाया जाता है कि वह रावणादि निशाचरोंके समान काली न थी। 'शैल' शब्दसे उसकी विशालता और भयावनता आदि बताई गई।

गौड़जी—"बिलपाता" शब्दपर भी लोग शंका करते हैं कि 'बिलपाती' क्यों नहीं? यदि अन्त्यानुप्रास की अन्तिम बढ़ी हुई मात्रा छोड़ दें तो अन्वय इस प्रकार होता है—'खरदूषन पहिं ( एहि प्रकार ) बिलपत वा बिलपात गई ( कि हे ) भ्राता धिग धिग तव बल पौरुष।' इस गद्यरूपके देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि बिलपात, बिलपत, बिलषात, बिलषत, रोवत, नाचत, गावत, कहत, बोलत आदि अपूर्ण या असमाप्त क्रियाओंमें लिङ्गभेदके चिह्नकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती; इसलिए यहाँ कोई अशुद्धि नहीं है और बिलपाताकी जगह बिलपाती नहीं चाहिए।

नोट—१ ( क ) 'बिलपाता' का भाव कि अनाथकी नाईं विलाप कर रही थी। यथा 'अनाथवद्विलपसि किं नु नाथे मयि स्थिते। वाल्मी० ३.२१.५।' ( ये खरके वाक्य हैं कि मैं तेरा रक्षक हूँ, तब तू अनाथकी तरह क्यों विलाप कर रही है?)। ( ख ) "धिगधिग" अर्थात् तुम्हारे बल पराक्रमके रहते हुए कोई मेरी अनाथ-की-सी दशा कर डाले, यह लज्जाकी बात है। यथा "तोहि जिअत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ।२१।" तुमने अपनेको व्यर्थ ही पराक्रमी समझ रक्खा है, तुम्हें अपनी शूरताका केवल अहंकार है, तुम शूर नहीं हो, कुलकलंक हो, यथा 'शूरमानी न शूरस्त्वं मिथ्यारोपितविक्रमः।१७।...। सर्ग २१।' ये सब भाव धिग-धिगके हैं।

पुरुषार्थ और बल दो बातें हैं, अतः इसमें पुनरुक्ति नहीं है। पुरुषार्थ पुरुषत्व और पराक्रमवाचक है और बलमें सेनाका बल एवं शारीरिक बलका भाव है। वा, यदि एक ही अर्थ भी मान लें तो भी क्रोधके आवेशमें पुनरुक्ति नहीं मानी जायगी।—(प्र०)।

टिप्पणी—२ 'तेहि पूछा सब कहेसि बुझाई।' इति। "बुझाई" अर्थात् बताया कि दो भाई हैं, सुन्दर स्त्री संगमें है, बड़े वीर जान पड़ते हैं, शस्त्र धारण किए हैं, इत्यादि। यहाँ कविने विस्तारसे नहीं लिखा क्योंकि आगे रावणसे यह फिर कहेगी; वहीं लिखेंगे।

नोट—२ ( क ) 'तेहि पूछा सब' इति। वाल्मीकीय तथा अध्यात्ममें लिखा है कि वह उनके सामने जाकर पृथ्वीपर गिर पड़ी और भयानक चीतकार करती रोने लगी। तब खरको उसकी दशा देखकर बड़ा क्रोध आया और उसने कहा कि सब बात कह, घबड़ाहटको दूर करके होशमें आकर बता कि तुझे किसने विरूप किया। तू तो बल और पराक्रमसे संपन्न है, इच्छानुसार रूप धारण कर जहाँ चाहे जा सकती है और स्वयं यमराजके समान है, किसके पास गई थी जिसने तेरी यह दुर्गति की? कौन ऐसा पराक्रमी है? इस लोकमें तो कोई ऐसा है नहीं और स्वर्गमें इन्द्रका भी साहस ऐसा नहीं पड़ सकता कि वह मेरा अप्रिय कर सके, तब बता तो सही कि विषैले काले सर्पके साथ कौन खेल रहा है?...इत्यादि जो वाल्मी० ३.१९.२-१२ में कहा है वह सब 'तेहि पूछा' में आ गया। ( ख ) "सब कहेसि बुझाई" में उपर्युक्त बातोंके अतिरिक्त यह भी आ गया कि उनके साथ जो स्त्री है उसीके कारण दोनोंने मिलकर मेरी यह दशा की है जैसी अनाथा असतीकी होती है। यथा 'ताभ्यामुभाभ्यां संभूय प्रमदामधिकृत्यताम्। इमामवस्थां नीताहं यथाऽनाथाऽसती तथा। वाल्मी० ३.१९.१८।' ( ग ) 'सेन बनाई' से सूचित हुआ कि परम पराक्रमी है जिसने ऐसा साहस किया है, ऐसा

अनुमान करके सेना सुसज्जित करके चले । इन शब्दोंसे वाल्मी० सर्ग २२ श्लोक ८ से १६ तकके भाव आ गए कि खरने दूषणसे कहा कि हमारे समरविजयी चौदह हजार राक्षसोंको सब युद्ध सामग्रियोंसे सुसज्जित करके ले आओ । इत्यादि ।

धाए निसिचर निकर बरूथा । जनु सपच्छ कज्जल गिरि जूथा ॥४॥
नाना बाहन नानाकारा । नानायुधधर घोर अपारा ॥५॥
सूपनखा आगे करि लीनी । असुभ रूप श्रुति नासा हीनी ॥६॥
असगुन अमित होहिं भयकारी । गनहिं न मृत्यु बिबस सब झारी ॥७॥
गर्जहिं तर्जहिं गगन उड़ाहीं । देखि कटकु भट अति हरषाहीं ॥८॥
कोउ कह जिअत धरहु द्वौ भाई । धरि मारहु तिय लेहु छड़ाई ॥९॥

अर्थ—समूह राक्षसोंके झुण्डके झुण्ड दौड़े मानों पक्षयुत काजलके पर्वतोंके झुण्ड हों ॥४॥ अनेक आकारके अनेक वाहन ( सवारियाँ जैसे रथ, घोड़े, हाथी, ऊँट आदि ), अनेक प्रकारके अगणित भयङ्कर अस्त्रशस्त्र धारण किए हैं ॥५॥ अमंगलरूपिणी नाककान कटी हुई अर्थात् नकटीबूची कानी शूर्पणखाको उन्होंने आगे कर लिया ॥६॥ अगणित भय देनेवाले अपशकुन हो रहे हैं, पर वे सबके सब मृत्युके वश हैं, इससे उनको कुछ नहीं गिनते ॥७॥ गरजते हैं, डपटते हैं, आकाशमें उड़ते ( उछलते ) हैं, सेनाको देखकर योधा बहुत ही प्रसन्न होते हैं ॥८॥ कोई कहता है कि दोनों भाइयोंको जीता ही पकड़ लो, पकड़कर मारडालो, स्त्रीको छुड़ा लो ॥९॥

नोट—१ ( क ) 'निकर बरूथा' अर्थात् प्रत्येक सेनापति अपना-अपना दल लिए था । ऐसी अनेक टोलियाँ थीं । ( ख ) "कज्जलगिरि" कहा क्योंकि काले हैं और शरीर पर्वताकार विशाल हैं । दूसरे, इससे जनाया कि इनमें कुछ सार नहीं है । ये ऐसे नष्ट हो जायँगे जैसे पवनके झकोरेसे काजलका पहाड़ ( जो सार रहित है ) छिन्न भिन्न हो जाय ।—(करु०) । पुनः, इससे महातमोगुणी जनाया । (ग) 'नानायुधधर घोर अपारा' इति । यथा 'मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः सुतीक्ष्णैश्च परश्वधैः । खड्गैश्चक्रै रथस्थैश्च भ्राजमानैः सतोमरैः ॥१८॥ शक्तिभिः परिघैर्घोरैरतिमात्रैश्च कार्मुकैः । गदासिमुसलैर्वज्रैर्गृहीतैर्भीमदर्शनैः ॥१९॥ राक्षसानां सुघोराणां सहस्राणि चतुर्दश । निर्यातानि जनस्थानात्खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥२०॥' ( वाल्मी० सर्ग २२ ) । अर्थात् मुग्दर, पट्टिश, तीक्ष्ण शूल, परश्वध, खड्ग, चक्र और चमकीले तोमर रथपर रक्खे हुए थे । शक्ति, भयानक परिघ, अनेक धनुष, गदा, तलवार, मुसल और वज्रको जो देखनेमें भयानक थे, लिये हुए थे । ऐसे चौदह हजार राक्षस जो परम आज्ञाकारी थे जनस्थानसे निकले ।

टिप्पणी—१ 'सूपनखा आगे करि लीनी' इति । (क) यह अपशकुन उन्होंने अपनी ही ओरसे कर लिया और सब प्रारब्धवश हुए । समस्त अपशकुनोंके पहले इसीको नाम लेकर गिनाकर सूचित किया कि समस्त अपर अपशकुनोंसे इसका आगे होना अधिक अपशकुन है । (ख) आगे करनेका कारण यह है कि यह शत्रुका पता चलकर बतावे ।

२ 'असगुन अमित होहिं भयकारी । गनहिं न···' इति । कालके वश होनेसे बुद्धि-विचार नहीं रह जाते, यथा 'काल दंड गहि काहु न मारा । हरै धर्म बल बुद्धि बिचारा । ६.३६ ।' इसीसे 'गनहिं न' । रावणको भी इसी प्रकार अपशकुन हुए थे । उससे मिलान कीजिए । भटोंका सवारीपरसे गिरना, घोड़े हाथियोंका चिग्घाड़ कर पीछे भागना, अस्त्रशस्त्रका हाथसे गिरना, इत्यादि अपशकुन हैं । यथा "असगुन अमित होहिं तेहि काला । गनै न भुजबल गर्ब बिसाला ॥ ६.७७.६ । अति गर्व गनै न सगुन असगुन स्रवहिं आयुध हाथ ते । भट गिरत रथ तें बाजि गज चिक्करत भाजहिं साथ ते ॥ गोमाय गीध कराल खर रव स्वान बोलहिं अति घने । जनु कालदूत उलूक बोलहिं बचन परम भयावने ॥"

नोट—२ (क) 'असगुन अमित होहिं' कहकर वाल्मी० ३.२३. श्लोक १—१८ में कहे हुए सब अपशकुन जना दिये। जो संक्षेपसे ये हैं—धूसर रंगके मेघोंने लाल जलकी वृष्टि की। रथमें जुते हुए घोड़े समतल भूमिमें सहसा गिर पड़े। सूर्यके चारों ओर अंगारेके समान गोलाकार परिधि हो गई। रथकी ध्वजापर गीध बैठ गया। भयानक मांसभक्षी पशु पक्षी अमंगलसूचक शब्द करने लगे। मेघों द्वारा भयानक रोमहर्षण अंधकार छा गया, खूनसे रँगे हुए वस्त्रके समान लाल संध्या हो गई। कंक, शृगाल, गीध, शृगाली ज्वाला निकलने वाले मुखसे सेनाके सामने बोलने लगी। बिना पर्वके ही सूर्यग्रहण होने लगा। बिना रातके ही तारे दिखाई देने लगे। तालावमें मछलियां और पक्षी छिप गए और कमल सूख गए। वृक्षोंके फल फूल नष्ट हो गए। सारिकाएँ 'चीं चीं कू चीं' शब्द करने लगीं। उल्कापात होने लगा। खरके आसपासकी भूमि, पर्वत और वन काँपने लगे, उसकी बाईं भुजा फड़कने लगी, उसकी आँख आँसुओंसे भर जाने लगी। (ख) 'गनहिं न' इति। यह वाल्मी० ३.२३.१९-२६ से स्पष्ट है। खरने उत्पातोंको देखकर हँसते हुए सबसे कहा है कि मैं इनको कुछ नहीं सोचता, जैसे बलवान् दुर्बलकी चिंता नहीं करता। मैं क्रोध करके मृत्युको भी मार दूँगा, देवराज इन्द्रको भी मार सकता हूँ, तब उन दो मनुष्योंकी बात ही क्या? यह सुनकर सेना प्रसन्न हुई। इसका कारण बताते हैं कि 'मृत्यु बिबस सब भारी'। यथा 'प्रहर्षमतुलं लेभे मृत्युपाशावपाशिता। सर्ग २३ श्लोक २६।' अर्थात् वे सब अत्यन्त प्रसन्न हुए क्योंकि उनपर मृत्युकी छाया पड़ चुकी थी।

टिप्पणी—३ 'गर्जहिं तर्जहिं···' इति। अपशकुन होनेसे उत्साह भंग हो जाता है, पर इनका उत्साह भंग न हुआ, वरन् इनका उत्साह बढ़ता ही जाता है। 'गर्जहिं तर्जहिं···' से जनाया कि उत्साहसे पूर्ण हैं। इसका कारण कवि स्वयं बताते हैं कि अपशकुनकी पर्वा नहीं करते क्योंकि 'मृत्यु बिबस सब भारी'। 'अति हरषाहीं' का भाव कि सारी सेनाको हर्ष है, पर जो भट हैं उन्हें 'अति हर्ष' है।

४—'कोउ कह जियत धरहु दोउ भाई···' इति। भाव कि उनको पूर्ण विश्वास है और वे निश्चय किए हुए हैं कि हम दोनोंको वध करेंगे, इसीसे ऐसा कह रहे हैं कि 'जियत धरहु', 'धरि मारहु' और 'तिय लेहु छड़ाई'। उन्होंने बड़ा भारी अपराध किया है, बधके योग्य हैं, पर शस्त्रास्त्रसे तुरत मर जायंगे, कष्ट न होगा, अतएव पकड़ लो, क्लेश भोगवा-भोगवाकर प्राण लेना चाहिए। स्त्री छीन लेनेसे मानसी खेद होगा जिससे आप ही मर जायंगे, यथा 'तव प्रभु नारि बिरह बल-हीना। अनुज तासु दुख दुखी मलीना'।

प० प० प्र०—जीवित पकड़नेमें भाव यह है कि शूर्पणखा अपने विरूप करनेवालोंके गलेका रक्त पान कर सकेगी, इससे उसका समाधान हो जायगा, वह संतुष्ट हो जायगी। 'धरि मारहु' अर्थात् पकड़ लेनेपर भी उनका वध करना ही चाहिए, नहीं तो पीछे वे न जाने क्या उपद्रव करें।

धूरि पूरि नभमंडल रहा। राम बोलाइ अनुज सन कहा ॥१०॥
लै जानकिहि जाहु गिरिकंदर। आवा निसिचर कटकु भयंकर ॥११॥
रहेहु सजग सुनि प्रभु कै बानी। चले सहित श्री सर धनु पानी ॥१२॥
देखि राम रिपु दल चलि आवा। बिहसि कठिन कोदंड चढ़ावा ॥१३॥

अर्थ—आकाशमण्डल धूलसे भर गया (तब) श्रीरामजीने भाईको बुलाकर कहा ॥१०॥ जानकीजीको लेकर पर्वतकी कंदरामें चले जाओ। निशाचरोंकी भयंकर सेना आ गई है ॥११॥ सचेत रहना। प्रभुके वचन सुनकर लक्ष्मणजी श्रीजानकीजी सहित हाथोंमें धनुष बाण लिये हुए चले ॥१२॥ यह देखकर कि शत्रुका दल चलकर आ गया श्रीरामचन्द्रजीने हँसकर कठिन धनुष चढ़ाया ॥१३॥

नोट—१ (क) 'धूरि पूरि नभमंडल रहा।···' इति। वाल्मीकीय और अध्यात्ममें उत्पातोंको देख और राक्षसोंके गर्जन तथा भेरी आदिकी ध्वनि सुनकर लक्ष्मणजीसे कंदरामें जानेकी बात कही है। मानसमें आकाशको (राक्षसोंकी भारी सेनासे उड़ी हुई) धूलसे पूर्ण देखकर कहा है। (ख) 'बोलाइ' से जनाया कि

लक्ष्मणजी कुछ दूरीपर बैठे हुए हैं पर इतनी ही दूर हैं कि साधारण स्वरसे बुलानेसे सुन सकें।

प० प० प्र०—'धूरि पूरि···।१०।' के दोनों चरणोंमें भी १५-१५ मात्राएँ हैं। धूल देखकर उधरसे राक्षसोंकी बड़ी सेनाका आगमन निश्चय कर एक ओर तो श्रीरामजीको चिन्ता उत्पन्न हुई कि श्रीजानकीजी भयभीत हो जायँगी, इनकी रक्षाका उपाय करना चाहिए और दूसरी ओर चित्तमें बड़ा आनन्द हो रहा है कि निशाचरोंके विनाशकी प्रतिज्ञा सत्य करनेका बड़ा ही सुन्दर अवसर प्राप्त हो गया। श्रीसीताजीकी चिन्ता से एक क्षण श्रीरामजी स्तंभित हो गए—'भगत-बछलता हिय हुलसानी'। तत्काल ही उसका उपाय मनमें आते ही आनंद तथा वीररससे सात्विक भाव प्रगट हो गए। यथा '···रन भिरत ··जिन्हहि न पुलक तन ते जग जीवन जाय। दोहावली ४२३'—ये सब भाव यहाँ केवल एक मात्राकी न्यूनतासे प्रकट होते हैं। यह कविकला कौशल है।

टिप्पणी—१ 'लै जानकिहि जाहु गिरिकंदर' इति। श्रीसीताजीसे घरपर रहनेके लिए कहते हुए प्रभुने कहा था कि 'डरपहिं धीर गहन सुधि आये। मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाये'। अर्थात् तुम स्वाभाविक ही डरपोक हो, अतएव लक्ष्मणजीसे कहा कि इन्हें कन्दरामें ले जाओ जिसमें हमारा और निशाचरोंका युद्ध इनको न देख पड़े। (अभी शूर्पणखाका भयंकर रूप देखकर भयभीत हो ही चुकी हैं और अब तो अनेक विकट राक्षस आ रहे हैं)।

नोट—२ (क) श्रीसीताजीको लक्ष्मणजीके साथ भेजनेका कारण यह है कि इनके रहनेसे आपत्तिकी विशेष आशंका है। आपत्तिकी आशंका होनेपर अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले बुद्धिमान पुरुषको पहले से ही उसका उपाय कर लेना चाहिए, ऐसा विधान है। यथा "अनागत विधानं तु कर्तव्यं शुभमिच्छता। आपदा शङ्कमानेन पुरुषेण विपश्चिता। वाल्मी० ३।२४।११।" अतएव लक्ष्मणजीको आज्ञा दी कि श्रीजानकीजीको कंदरामें ले जाओ। यथा "तस्माद्गृहीत्वा वैदेहीं शरपाणिर्धनुर्धरः। गुहामाश्रय शैलस्य दुर्गां पादपसंकुलाम्॥ श्लोक १२।" कंदरामें जानेको कहा, क्योंकि वहाँ पर्वत हैं और उनमें छिपनेके लिए ऐसी भी गुफाएँ हैं जहाँ सबका पहुँच सकना बहुत दुर्लभ है। और कोई स्थान वहाँ ऐसा नहीं है। (मा० सं०)।

(ख) 'रहेहु सजग' अर्थात् तुम्हारे रहनेके स्थानका पता कोई न पा सके, श्रीजानकीजीको उन राक्षसोंका दर्शन न होने पावे, तथा किसीपर विश्वास न करना, क्योंकि राक्षस बड़े मायावी होते हैं, इत्यादि सब तरह सावधान रहना। (प० प० प्र०)।

(ग) लक्ष्मणजीको क्यों भेज दिया? उत्तर—क्योंकि श्रीसीताजीको कंदरामें अकेली नहीं छोड़ सकते, न जाने कोई निशाचर वहाँ पहुँच जाय। दूसरे, यहाँ नीति भी काममें लाए हैं। लक्ष्मणजीने नाक कान काटे हैं, इन्हींसे वे लड़ पड़ेंगे और ये निशाचर उनके हाथसे मरेंगे नहीं। तीसरे उन राक्षसोंको एवं शूर्पणखाको अपना पराक्रम दिखाना है जिसमें वह रावणसे जाकर कहे। (पं०)। चौथे, श्रीरामजी इन सबोंको स्वयं मारना चाहते हैं, यद्यपि लक्ष्मणजी सबको मार सकते हैं। यथा 'त्वं हि शूरश्च बलवान्हन्या एतान्न संशयः। स्वयं निहन्तुमिच्छामि सर्वानेव निशाचरान्। वाल्मी० ३।२४।१४।'

टिप्पणी—२ (क) "रहेहु सजग सुनि प्रभु कै बानी। चले०" इति। दो आज्ञाएँ दी गईं। एक तो यह कि जानकीजीको कंदरामें ले जाओ, दूसरी कि "सजग रहना"। लक्ष्मणजीने दोनोंका पालन किया। 'लै जानकिहि जाहु' अतः 'चले सहित श्री'। "रहेहु सजग" अतः "सर धनु पानी"। हाथमें धनुषबाण लेनेसे 'सजगता' दिखा दी। (ख) 'सुनि प्रभु कै बानी चले'—फिर दुबारा कहनेका मौका न दिया, न कुछ उत्तर दिया; क्योंकि 'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवकु लखि लाज लजाई।२।२६९।' दूसरे प्रभुकी आज्ञा 'अपेल' है, यथा 'प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई।४।५९।' कोई उसका उल्लंघन नहीं कर सकता, यथा 'राम रजाइ सीस सबही कें।२।२५४।' लक्ष्मणजी रामस्वभाव जानते हैं, अतः वचन सुनते ही उन्होंने आज्ञाका पालन किया। [ 'प्रभु शब्दका भाव कि इनकी आज्ञाका पालन ही कर्त्तव्य है, धर्म है, कुछ भी बोलना, जैसे

कि आप जायँ, मैं ही इनका नाश आपके प्रतापसे कर दूँगा, अनुचित है। ☞ यहाँ सेवक-धर्मका उपदेश है 'आज्ञा पालनं सेवकानां धर्मः।' (प० प० प्र०) ]

प० प० प्र०—'चले सहित श्री···' इति। 'चले' अर्थात् अविलंब शीघ्रतासे चले। यहाँ 'श्री' की जगह 'सिय' लिखते तो अनुप्रास अधिक सुन्दर हो जाता पर कविने ऐसा न करके हेतुपूर्वक 'श्री' शब्द दिया। इससे वे जनाते हैं कि यहाँ वक्ता काकभुशुण्डीजी हैं (जैसा पूर्वके 'भ्राता पिता पुत्र उरगारी' से स्पष्ट है)। और यह कथा भुशुण्डीजी वाले कल्पकी है।

टिप्पणी—३ "देखि राम रिपु दल चलि आवा। बिहँसि" इति। (क) प्रथम धूलि उड़ती हुई देखकर मालूम हुआ कि निशाचरकटक आ रहा है, यथा 'धूरि पूरि नभमंडल रहा···आवा निसिचर०।'; अब ध्वजा पताका आदि दिखाई दिए। (ख) 'बिहँसि' से उत्साहकी वृद्धि जनाई—(१) उत्साह हुआ, भय नहीं है; क्योंकि क्षत्रिय हैं—'छत्रिय तन धरि समर सकाना। कुल कलंकु तेहि पावँर आना।१।२८४।' (२) आगे प्रभु कहेंगे 'हम छत्री मृगया बन करहीं।१६।६।' बिहँसकर जनाया कि मानों बहुत अच्छा शिकार आ गया। पुनः, (३) कठिन कोदण्डको 'बिहँसि चढ़ावा' अर्थात् कुछ श्रम नहीं हुआ। पुनः, (४) 'बिहँसि' से अन्तःकरणमें कृपा सूचित की और 'कोदण्ड' चढ़ाकर बाहरसे कठोरता दिखाई, यथा 'चितइ कृपा करि राजिव नयना'। पुनः, (५) बिहँसे क्योंकि 'जिमि अरुनोपल निकर निहारी। धावहिं सठ खग मांस अहारी॥ चोंच भंग दुख तिन्हहिं न सूझा। तिमि धाये मनुजाद अबूझा।६।३६।' अर्थात् इनकी मूर्खतापर हँसे कि इनको यही सूझ रहा है कि साधारण मनुष्य हैं, इनको शीघ्र ही हम मारकर खा डालेंगे, यदि प्रभाव जानते तो इस तरह न दौड़े आते। पुनः, (६) जो प्रतिज्ञा की उसका विधान अब आ बना, रावणसे युद्धका आज श्रीगणेश हुआ, क्योंकि खरदूषण रावणकी सीमाके रक्षक हैं। अतः हँसे। पुनः, (७) खर्रा—बिहँसे कि हमारे स्वरूपको नहीं जानते, इसीसे लड़ने आए हैं।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—'बिहँसि कठिन···' के भाव कि—(क) हास माया है। बहुतसे अवसरोंपर जब जब श्रीरामजी बिहँसे हैं तब तब योगमायाका प्रसार अथवा आकर्षण किया गया है। यथा 'बोले बिहँसि चराचर राया। बहुते दिनन्ह कीन्हि मुनि दाया।१।१२८।६।' (नारद-मोह), 'बोले बिहँसि राम मृदुबानी।१।५३।' (सती मोह), 'भ्रम तें चकित राम मोहि देखा। बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।७।७६।' (भुशुण्डि-मोह), 'देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर। बिहँसत ही मुख बाहर आयउँ सुनु मति धीर।७।८२।' (भुशुण्डि-मोह-मुक्ति)। इससे यह स्पष्ट है कि प्रभुने रिपुपर अपनी मायाको प्रेरित किया। वा, (ख) उस दुष्टा कामी व्यभिचारिणी स्त्रीका पक्ष लेकर ये सब व्यर्थ ही मारे जायेंगे यह सोचकर हँसे। अथवा, (ग) इनके स्वयं चढ़ आनेसे अगस्त्यजीके 'उग्र श्राप मुनिवर कर हरहू' और "कीजे सकल मुनिन्ह पर दाया" इस आज्ञाका बिना प्रयासके पालन होगा। दण्डकारण्य शापमुक्त होगा और मुनिगण निर्भय हो जायँगे, यह सोचकर हँसे। यह आनन्दसूचक हास है।

**छंद—कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जट जूट बाँधत सोह क्यों।**
**मरकत सैल पर लरत* दामिनि कोटि सों जुग भुजग ज्यों॥**
**कटि कसि निषंग बिसाल भुज गहि चाप बिसिष सुधारि कै।**
**चितवत मनहुँ मृगराज-प्रभु गजराज-घटा निहारि कै॥**

शब्दार्थ—कठिन=जो दूसरेसे चढ़ाया न जा सके; जिसे कोई काट न सके। घटा=समूह।

अर्थ—कठिन धनुष चढ़ाकर सिरपर जटाओंका जूड़ा बाँधते हुए श्रीरामजी कैसे शोभित हो रहे हैं

* लसत—को० रा०।

जैसे नीलगिरि पर्वतपर करोड़ों बिजलियोंसे दो सर्प लड़ रहे हों। कमरमें तर्कश कसकर अपने लंबे (आजानु) हाथोंसे धनुषको पकड़कर और बाणको सुधारकर इस तरहसे प्रभु शत्रुकी ओर देख रहे हैं मानों गजराजों-का समूह देखकर सिंह (उधर) देख रहा हो।

टिप्पणी—१ (क) कोदंड चढ़ाकर कंधेपर लटका लिया तब दोनों हाथोंसे जटाएँ बाँधी। जटाएँ बाँध कर कमरमें तर्कश कसकर अपनी विशाल भुजाओंमें धनुष और तीक्ष्ण बाण सुधारकर लिया और उनकी ओर देख रहे हैं। [प्रथम कोदण्ड चढ़ाकर पीछे जटाओंका बाँधना कहकर श्रीरामजीकी सावधानता दिखाई। (प० प० प्र०)। जटाएँ बाँधीं जिसमें संग्रामके समय ये नेत्रोंके आगे न आ जायँ।]

(ख) मरकतशैल और श्रीरामजीका श्यामल शरीर, करोड़ों बिजलियाँ और सुनहली जटाएँ (तपस्वी महात्माओंकी जटाओंका अग्रभाग प्रायः ललाईपन लिए होता है), सर्प और हाथ परस्पर उपमान और उपमेय हैं। दोनों हाथोंसे जटाओंको पकड़कर बाँधते हैं, यही मानों दो सर्पोंका बिजलियोंसे लड़ना है। [किसी-किसी विशेष दशामें बालोंसे बिजलीकी चिनगारियाँ वास्तवमें निकलती भी हैं। परन्तु यहाँ लटोंके अग्रभागकी चमकसे ही अभिप्राय है। (गौड़जी)। इस कलियुगमें आज भी जो कोई कुण्डलिनी योगी बन जाता है उसके सिरकी जटाएँ ही नहीं किन्तु सारे शरीरके रोम भी माणिक्यके समान चमकीले हो जाते हैं यह 'चक्षुर्वै सत्यम्' है। ज्ञानेश्वरी गीता अ० ६।२६४। भी देखिए। त्रेतामें सुवर्णके-से लाल और चमकीले होनेमें आश्चर्य क्या? जो योगी नहीं हैं, ऐसे तपस्वियोंकी जटाओंकेभी अग्रभाग लाल हो जाते हैं और धूपमें सुवर्णके समान चमकते हैं। (प० प० प्र०)]। (ग) 'सुधारि कै' क्योंकि आज इनका प्रथम-प्रथम काम पड़ेगा, अभी तक रक्खे ही रहे थे।

२ 'चितवत मनहुँ मृगराज···', यथा 'मनहुँ मत्त गजगन निरखि सिंहकिसोरहि चोप।१.२६७।' (श्रीसुतीक्ष्णजीके 'निसिचर करि बरूथ मृगराजः।११.३।' को यहां चरितार्थ किया।) भाव यह कि उनके दलनका उत्साह हृदयमें पूर्ण है। वे बहुतसे हैं; अतः गजराजघटा कहा। सिंह अकेला सबको दल डालता है और यहां प्रभु अकेले ही सबका नाश करेंगे।

दीनजी—टवर्ग, मूर्धन्य ष, ध, इत्यादि परुषावृत्तिसूचक शब्दोंका लाना तुलसीदासजीकी पूर्ण-साहित्य-मर्मज्ञता प्रगट करता है।

पु० रा० कु०—टवर्गके पाँचों अक्षर संस्कृतकाव्य ग्रन्थोंमें भी एक ही ठौर पड़ते नहीं देखनेमें आते; पर श्रीगोस्वामीजीने एक ही चरणमें देखिए 'ट, ठ, ड, ढ, चारोंको धर दिया है। 'कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जटजूट···।'

सोरठा—आइ गए बगमेल धरहु धरहु धावत* सुभट।
जथा बिलोकि अकेल बालरबिहि घेरत दनुज॥१८॥

अर्थ—बड़े बड़े योद्धा यह कहते हुए कि पकड़ो पकड़ो दौड़ते हुए निकट आ गए, जैसे (उदय-समयके) बालसूर्यको अकेला देखकर दैत्य घेर लेते हैं॥ १८॥

टिप्पणी—१ सवारोंकी दौड़को बगमेल कहते हैं। यथा 'हरषि परसपर मिलन हित कछुक चले बग-मेल।१.३०५।', 'बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल। सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल।३.३७।', 'सूर सँजोइल साजि सुबाजि सुसेल धरे बगमेल चले हैं। क० ६.३३।' तथा यहाँ 'आइ गये बगमेल' [दीनजीका मत है कि यहां बगमेलका अर्थ है 'निकट'। और कामदेवके प्रसंगमें 'मदन कीन्ह बगमेल' में लगाम छोड़कर बेतहाशा दौड़ाते हुए ले जानेका अर्थ है। बगमेलके दोनों अर्थ हैं। जब चढ़ाईके या दौड़नेके साथ आता है तब बाग छोड़नेका अर्थ देता है।१।३०५ भी देखिए]

* धावहु—को० रा०।

२ 'बालरबिहि घेरत दनुज ।' इति। 'रविहि घेरत' से जनाया कि मारे तेजके समीप नहीं आ सकते। इसीसे ये दूत भेजेंगे और जैसे रवि दनुजको जीत लेते हैं वैसे ही प्रभु इनको जीत लेंगे।

नोट—१ हेमाद्रि आदि ग्रन्थोंमें उल्लेख है कि मंदेह नामक दैत्य प्रातःकाल सूर्यको अस्त्रशस्त्र लिए घेर लेते हैं। प्रातः सन्ध्या करते समय जो अर्घ्य दिया जाता है अर्थात् गायत्री आदि मंत्रोंसे अभिमंत्रित जल जो पूर्व दिशाकी ओर फेंका जाता है, उसका प्रत्येक बूँद बाणरूप होकर उन दानवोंको मारता है। ये दैत्य बीस हज़ार कहे जाते हैं। उसीका यहाँ रूपक है। यहाँ अकेले श्रीरामजी और १४ हजार निशाचर हैं, सबका नाश होगा, रामजीका कुछ न बिगड़ेगा। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि ब्रह्माजीने दस हज़ार दैत्य उत्पन्न किए और उनको शाप दिया कि तुम नित्य मरो और नित्य जियो। गायत्रीमंत्र जाप करके जो जल देते हैं उससे ये मरते हैं।

पूर्व संस्करणमें ऐसा लिखा गया था। खोज करनेपर हमें विष्णुपुराण अंश २ अ० ८ में यह कथा मिली। उसमें लिखा है कि परम भयंकर सन्ध्याकाल प्राप्त होनेपर प्रतिदिन मंदेह नामक राक्षस सूर्यको खानेकी इच्छा करते हैं। ब्रह्माजीका उनको शाप है कि वे प्रतिदिन मरें पर उनका शरीर अक्षय रहे (अर्थात् वे फिर दूसरी प्रातः संध्याके पूर्व ही उसी शरीरमें जीवित हो जाया करेंगे। सूर्योदयके समय नित्यप्रति उनका सूर्यसे घोर युद्ध होता है। उस समय श्रेष्ठ ब्राह्मण लोग ॐकार ब्रह्मसंयुक्त गायत्रीमंत्रसे अभिमंत्रित जल फेंकते हैं जो उन राक्षसोंको वज्र समान लगता है। उस जल (अर्घ्य) से वे सब राक्षस जल जाते हैं। इस लिये सन्ध्योपासनका उल्लंघन न करना चाहिए। जो संध्या नहीं करते वे सूर्यका नाश करनेवाले हैं। यथा 'संध्याकाले च संप्राप्ते रौद्रे परमदारुणे। मन्देहा राक्षसा घोराः सूर्यमिच्छन्ति खादितुम् ॥ ५० ॥ प्रजापतिकृतः शापस्तेषां मैत्रेय रक्षसाम्। अक्षयत्वं शरीराणां मरणं च दिने दिने ॥ ५१ ॥ ततः सूर्यस्य तैर्युद्धं भवत्यत्यन्तदारुणम्। ततो द्विजोत्तमास्तोयं संक्षिपन्ति महामुने ॥ ५२ ॥ ॐकारब्रह्मसंयुक्तं गायत्र्या चाभिमन्त्रितम्। तेन दह्यन्ति ते पापा वज्रीभूतेन वारिणा ॥ ५३ ॥ तस्मान्नोल्लंघनं कार्यं संध्योपासनकर्मणः। स हन्ति सूर्यं सन्ध्याया नोपास्तिं कुरुते तु यः ।५७।' (वि० पु० अंश २ अ० ८)।

२ प्रज्ञानानंद स्वामीजी लिखते हैं कि ये दानव ब्राह्मण हैं। इससे ब्रह्महत्या पापके विनाशके लिए चतुः समुद्र वलयांकित पृथ्वी-प्रदक्षिणा, तांत्रिकरीत्या, भावनासे करनी पड़ती है। 'असौ आदित्यः ब्रह्म' ऐसा उच्चारण करते हुए पानीकी धारा (अपने चारों तरफ़) मंडलाकार गिरायी जाती है। यह है आधिभौतिक अर्थ पर इसमें आध्यात्मिक अर्थ भी है।

प० प० प्र० – (१) इसमें आध्यात्मिक अर्थ है—सूर्य = आत्मा। इसके दर्शनमें विघ्न डालनेवाले दानव हमारी 'मन्द ईहाः' विषय वासनाएँ हैं। यथा 'विषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब शूल', होहिं बिषय रत मंद मंदतर।', 'कांच किरिच बदले ते लेहीं। कर तें डारि परसमनि देहीं।' गायत्री मंत्रके अनुष्ठानसे, (समयपर यथा विधि) चित्त शुद्ध हो जाता है, दुर्वासनाओंका नाश होता है और आत्मागम-रविका दर्शन हो जाता है। (२) इस दृष्टान्तसे यह भी सूचित किया कि जैसे उन दानवोंसे सूर्यका कुछ भी बिगड़ता नहीं प्रत्युत उन्हींका क्षणमात्रमें नाश हो जाता है, वैसे ही इधर भी होनेवाला है। पाठकगण भयभीत सचिंत न हो जायँ। (३) बालरविसे भगवान्की कोमलता और छोटी अवस्था ध्वनित की गयी। (४) बालरविके उदयके समय उसके मंडलपर दृष्टि डालनेपर पश्चात् दश दिशाओंमें सूर्यका लाल-पीला तेज ही परिपूर्ण देखनेमें आता है वैसी ही इन राक्षसोंकी दशा हो जायगी, वे भगवान्के मुखमंडलको टकटकी लगाए देखते ही रह जायँगे और तत्पश्चात् सब दिशाओंमें वे रामरूप ही देखते रहेंगे। (५) बालरविका तेज नेत्रोंको अल्पकाल ही सह्य होता है पश्चात् नेत्र उसके मण्डलको देखनेसे अंधे-से हो जाते हैं, वैसी ही दुर्दशा सभी राक्षसोंकी होगी।

टिप्पणी—३ इस प्रसंगमें रसोंके उदाहरण देखिए। (१) 'रुचिर रूप' शृंगार। (२) 'बोली बचन

कहत मुसुकाई'-हास्य। (३) 'रूप भयंकर प्रगटत भई'—भयानक। (४) 'नाक कान बिनु भइ बिकरारा'—बीभत्स। (५) 'खरदूषन पहिं गै बिलपाता'—करुणा। (६) 'धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता'—वीर। (७) 'तेहिं पूछा सब कहेसि बुझाई'—शान्त। (८) 'सूपनखा आगे करि लीन्ही'—रौद्र। (९) अद्भुत रस आगे दो० २० छंद में 'मायानाथ अति कौतुक करयो। देखहिं परस्पर राम ···' में है।

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर धारी ॥१॥
सचिव बोलि बोले खरदूषन। यह कोउ नृपबालक नरभूषन ॥२॥
नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते† हम केते ॥३॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई ॥४॥
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा ॥५॥

अर्थ—प्रभुको देखकर वे बाण नहीं चला सकते, निशाचरसेना स्तब्ध हो गई ॥१॥ खरदूषणने मंत्री को बुलाकर कहा-ये कोई मनुष्योंमें भूषणरूप राजकुमार हैं। २। नाग, असुर, सुर, नर और मुनि जितने भी हैं, हमने कितने ही देख डाले, कितनोंको जीत लिया और कितनोंको मार डाला ॥३॥ पर, हे सब भाइयो! सुनो, हमने तो जन्मभर (जबसे हम पैदा हुए तबसे आज तक) ऐसी सुन्दरता कहीं नहीं देखी ॥४॥ यद्यपि इन्होंने हमारी बहिनको कुरूपा (बदसूरत, नकटी बूची) कर डाला है तथापि ये उपमारहित पुरुष वध किए जाने योग्य नहीं हैं ॥५॥

टिप्पणी—१ 'प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई···' इति। (क) प्रभुका माधुर्य्य ऐसा ही है, रूपको देखा नहीं कि मन उसीमें डूब गया, मोहिनी पड़ गई। यथा (१) 'रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन ॥ १.२६६।', (२) 'जिन्ह बीथिन्ह बिहरैं सब भाई। थकित होहिं सब लोग लुगाई ॥ १.२०४।', (३) 'थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें ॥ १.२३२।', (४) 'थके नारि नर प्रेम पियासे। मनहुँ मृगीमृग देखि दियासे ॥ २.११६।' तथा यहाँ (५) 'थकित भई रजनीचरधारी'। ☞ आपको देखकर मार्गकी तीक्ष्ण नागिनें और बिच्छियाँ विष छोड़ देती हैं, यथा 'जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिषु तामस तीछी। २.२६२।', तब इन राक्षसोंपर कुछ देर उसका प्रभाव पड़ा तो आश्चर्य्य ही क्या? अतः 'सर सकहिं न डारी'। दूसरे, वे प्रभुका तेज देख ठिठक रहे। यथा 'कोउ कहै तेज प्रताप पुंज चितए नहिं जात भियारे।' (गी० १.६६)। तीसरे, रूपने मोहित कर लिया, यथा 'रूप दीपिका निहारि मृग-मृगी नर नारि बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराइ के। गी० १.८२।'; अतः 'सर सकहिं न डारी' और "सचिव बोलि···"। (ख) 'धारि' = मारने लूटनेवाली सेना। ऐसी सेना भी छबि देखकर थकित हो गई।

प० प० प्र०—वस्तुसत्ताका प्रभाव दुष्ट राक्षसोंपर भी पड़ता है, यह यहाँ दिखाया गया है। यदि श्रीरामजीने "बिहँसि" कर अपनी मायाका प्रसार इनपर न किया होता तो कदाचित् ये लड़नेका साहस भी न करते। 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई।' यह सिद्धान्त अपेल है। 'सती-मोह, नारदमोह, खरदूषणवध, रावण-मोह, गरुड़-मोह, कैकेयि-कुटिल-करणी' इत्यादि रामायणकी संपूर्ण घटनाएँ केवल इस एक सूत्रपर ही अधिष्ठित हैं। "उन्होंने भुज उठाइ पन" किया है कि 'निसिचरहीन करौं महि' यही उनकी इच्छा है। अतएव उसीके अनुसार उनकी माया सबको नचाती है और रावणवध तक नचायेगी।

टिप्पणी—२ 'सचिव बोलि बोले खरदूपन···' इति। यह कार्य्य भारी समझ पड़ा; अतः मंत्रीको ही बुलाकर भेजा कि यह काम औरसे न हो सकेगा, मंत्री जाकर ठीक समझा देगा। पुनः, राजा समझ कर प्रतिष्ठापूर्वक मंत्रीको भेजा, यथा 'यह कोउ नृप बालक नर भूपन।' शूर्पणखासे सुना भी है कि राजकुमार

† हते--१७०४।

हैं, क्योंकि लक्ष्मणजीने उसे बताया था कि 'प्रभु समरथ कोसलपुर राजा ।', नाम नहीं सुना है, इससे नाम न कहा, केवल 'नृपबालक' कहा ।

३ (क) "नाग असुर सुर नर मुनि जेते । देखे···सुंदरताई" इति । सुन्दरताके विषयमें जनकपुर-वासियोंका भी यही अनुभव है, यथा 'सुर नर असुर नाग मुनि माहीं । सोभा असि कहुँ सुनियति नाहीं ॥१.२२०।' जिसीने यह शोभा देखी वह मुग्ध हो गया। यथा 'बालकवृंद देखि अति शोभा । लगे संग लोचन मनु लोभा। १.२१६।', 'देखि भानुकुलभूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान ॥१.२३३।', 'पंचवटी सो गइ एक बारा । देखि बिकल भइ जुगल कुमारा ॥३.१६।', "खगमृग मगन देखि छबि होहीं । लिए चोरि चित राम बटोही ॥२.१२३।", "देखन कहुँ प्रभु करुनाकंदा । प्रगट भये सब जलचरवृंदा ॥ तिन्हकी ओट न देखिअ बारी । मगन भए हरि-रूप निहारी ॥६.४।", वैसे ही यहाँ राक्षस मोहित हो गए हैं । (ख) 'देखे, जिते हते' अर्थात् नाग और असुरको देखा, देवताओंको जीता और नरों एवं मुनियोंको मारा और खाया । पर इनमेंसे कहीं भी ऐसा सौंदर्य्य न देखा ।

४ "जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा । बध···" इति । (क) बहिनकी नाक कान काट ली, वह कुरूपा हो गई इस अपराधसे वे वध योग्य हुए, यथा "कीन्ह मोहवस द्रोह जद्यपि तेहि कर बध उचित", पर ये अनूप (अनुपम पुरुष) हैं, इससे वध करना उचित नहीं । (ख) "पुरुष अनूपा", यथा "विष्णु चारिभुज बिधि मुख चारी । बिकट बेष मुख पंच पुरारी ॥ अपर देउ अस कोउ न आही । यह छबि सखी पटतरिय जाही । १.२२०।", 'मन भावहिं मुख बरनि न जाहीं । उपमा कहुँ त्रिभुवन कोउ नाहीं ।१.३११।' (यह अनु-भव जनकपुरवासिनियोंका है) ।

दीनजी—१ अत्यन्त शोभापर इतना मुग्ध हो गए कि बहिनका अपमान करनेपर भी नष्ट करनेकी इच्छा नहीं रह जाती । (इसीसे) 'सोभासिंधु खरारी' इत्यादिमें 'खरारी' शब्दका प्रयोग किया है । स्मरण रहे कि कविने कुछ शब्द मुकर्रर कर लिए हैं, जैसे कि 'सोभासिंधु खरारी' में । अत्यन्त सुन्दरता प्रकट करनेके लिए 'खरारी' शब्द लाते हैं, इसका प्रमाण यह प्रसंग है । इसी तरह जहाँ कथाका कोई प्रसंग मोड़ते हैं अर्थात् कुछ कहकर कुछ और कहना चाहते हैं वहाँ 'संध्या' शब्दका प्रयोग करते हैं । जैसे, पहले अभिषेकका सामान फिर "साँझ समय सानंद नृप ।" अर्थात् इससे जनाया कि यहाँसे प्रसंग उल्टा ही होगा। इसी तरह 'संध्या भई फिरी दोउ अनी' में रसपरिवर्तन सूचित करनेको दो विपरीत भावोंके जोड़में 'संध्या' शब्दका प्रयोग किया है। 'देखी नहिं असि सुंदरताई'—शत्रु तो सदा निंदा ही करता है, कभी शत्रुकी प्रशंसा नहीं करता । यहाँ शत्रुके मुखसे यह एकबाल होना उनके सौंदर्यका परिपूर्णराशि होना प्रमाणित करता है ।

२ शास्त्रकी मर्यादा है कि जितने पदार्थ अद्भुत और स्वयं परिपूर्ण होते हैं वे ईश्वरकी विभूति समझे जाते हैं—(यहाँ सौंदर्य पदार्थ परिपूर्ण है) और उनका विनाश करना पाप समझा जाता है । इसी विचारसे खरदूषणने कहा कि 'बध लायक नहिं पुरुष अनूपा ।'

प० प० प्र०—कोमल बालकोंपर आघात करनेमें खर-दूषण जैसे उन्मत्त, घोर, क्रूरकर्माओंके भी 'बहहिं न हाथ' ऐसी स्थिति सहज ही होती है । यह मानवी अन्तःकरणका सहज स्वभाव पाया जाता है । १६ (६) से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगिनीका अपमान सहन करनेको खरदूषणादि तैयार हैं तथापि 'नारी-लोभ', काम प्रताप बड़ाई-प्रभुता, कितनी प्रबल है । 'सीताजी प्राप्त हो जायँ' इस लोभसे वे निरपराधी चौदह सहस्र शूरवीरोंका पशुके समान समरयज्ञमें बलि देनेको सहज ही तैयार हो जाते हैं । रावणकी भी यही दशा है ।

देहु* तुरत निज नारि दुराई । जीअत भवन जाहु द्वौ भाई ॥६॥

---

* 'देहि'—(क०) । बंदनपाठकजीकी प्रतिमें 'देहु' के 'हु' पर हरताल लगाकर 'देहिं' बनाया है; पर पं० रा० गु० द्वि की छपी गुटकामें 'देहु' है ।

मोर कहा तुम्ह ताहि सुनावहु । तासु.वचन सुनि आतुर आवहु ॥७॥

अर्थ—'छिपाई हुई अपनी स्त्री हमको तुरत दे दो और जीतेजी दोनों भाई घर लौट जाओ।' मेरा यह कथन तुम उनसे जाकर सुनावो और उनका वचन ( उत्तर ) सुनकर तुम शीघ्र आ जाओ ॥६-७॥

टिप्पणी—१ 'देहु तुरत निज नारि दुराई'...' इति । शूर्पणखाने यह बात बताई है, दूसरेसे नहीं मालूम हुई—'तेहि पूछा सब कहेसि बुझाई'। "दुराई" अर्थात् जिसे हमारे डरसे तुमने छिपा दिया है, देनेका मन नहीं है, अतः कहा कि "देहु" दे दो। पूर्व कहा कि वधलायक नहीं हैं, अब कहते हैं कि दोनों भाई जीवित घर लौट जाओ अर्थात् स्त्री ही लेकर हम तुम्हें छोड़ देते हैं। स्त्री ले लेनेसे वधका दंड हो गया, यथा 'संभावित कहँ अपजस लाहू । मरन कोटि सम दारुन दाहू ॥', 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' ( गीता ) [ पुनः भाव कि स्त्रीका अपराध किया है, अतः उसके दंडमें स्त्री ले लेंगे, तुमको छोड़ देते हैं। (खर्रा)। पुनः, बाबा हरिदासजीका मत है कि खरदूषणने मनमें विचार किया कि इनको मार डालें तो यह कड़ी सजा न होगी और काम इन्होंने किया है भारी दंडका। इन्होंने हमारी बहिनके नाक कान काटे हैं, उसके अनुकूल ही सजा देनी चाहिए। यही सोचकर उन्होंने कहा कि 'देहु तुरत निज नारि दुराई'। इससे इनकी भी नाक संसारमें कटेगी, लोकमें इनकी निंदा होगी। अपनी निंदा सुनकर कान बहिरे कर लेंगे; यह मानों कान रहित होना है। 'देहु तुरत' में यह भी भाव है कि स्त्री देकर तुरत चले जायँ जिससे हमारी निंदा न हो कि एक नर बालक पर चौदह सहस्र शूरवीर निशाचर चढ़ आए। पुनः 'दुराई' और 'जाहु' का भाव कि चुराके चुपचाप घर चले जाओ, नहीं तो हमारे कोई निशाचर शत्रु जानकर भक्षण न कर लें। हम तो छोड़े देते हैं। (शिला) ]

दूतन्ह कहा राम सन जाई । सुनत राम बोले मुसुकाई ॥ ८ ॥
हम छत्री मृगया बन करहीं । तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं ॥ ९ ॥
रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं । एक बार कालहु सन लरहीं ॥१०॥
जद्यपि मनुज दनुजकुल घालक । मुनिपालक खलसालक बालक ॥११॥

अर्थ—दूतोंने रामचन्द्रजीसे जाकर कहा। सुनते ही श्रीरामजी मुस्कुराकर बोले ॥८॥ हम क्षत्रिय हैं, वनमें शिकार करते हैं, तुम्हारे सरीखे दुष्टरूप मृगों ( पशुओं ) को ढूँढ़ते फिरते हैं ॥ ९ ॥ शत्रुको बलवान् देखकर हम नहीं डरते। एक बार काल ( यदि वह लड़ने आवे तो उस ) से भी लड़ें ॥ १० ॥ यद्यपि हम मनुष्य हैं पर दैत्यकुलके नाशक, मुनियोंके पालक (पालन-पोषणकर्त्ता, रक्षक) और दुष्टोंके शालक (पीड़ा व दुःख देनेवाले, छेदन करनेवाले ) बालक हैं ॥ ११ ॥

नोट—१ (क) 'दूतन्ह कहा' इति। यहाँ दूतोंका जाना कहा और पूर्व कहा है कि खरदूषणने मंत्रियोंको बुलाकर उनसे कहा कि हमारा संदेसा उनसे कहो। इससे जान पड़ता है कि खरने मंत्रीसे कहा और मंत्रीने दूतोंको भेजा। (खर्रा)। अथवा, मंत्रियोंने दूतोंको भेजा हो वा कई मंत्री स्वयं ही गए हों। एक से अधिक गए, इसीसे 'दूतन्ह' पद दिया। दूतत्वके काममें गए, अतः उन्हींको अब दूत कहा (वंदनपाठकजी)। (ख) 'राम सन जाई', 'सुनत राम' इति। 'राम' शब्द देकर जनाया कि उन्होंने संदेसा कहनेपर भी 'राम' को प्रसन्न ही देखा, किंचित् भी भयका चिह्न न पाया।

टिप्पणी—१ (क) 'सुनत राम बोले' से जनाया कि दूतोंने आकर यह भी कहा कि हमको आज्ञा है कि शीघ्र लौटकर आओ, अतः तुरत उत्तर दो। इसीसे तुरत उत्तर दिया। (ख) 'मुसुकाई' का भाव कि तुम सीताको माँगते हो, हम उन्हें इसी कार्य्यके लिए ही तो संग लाए हैं, क्योंकि तुमको निर्मूल करना है। अथवा, मुस्कुराए कि बातें करके हमें डराना चाहते हो सो हम डरनेवाले नहीं। यही आगे कहते हैं—'रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं'। अथवा, हमको ऐसा निर्बल और अप्रतिष्ठित समझ लिया है कि हम स्त्री देकर चले जायँगे। छोटा आदमी भी इज्जत लेनेसे मर जाता है और हम तो क्षत्रिय हैं, उसपर भी आप ऐसे बलवान्

शत्रु सम्मुख आ उपस्थित हुए हैं तो भी हम न लड़ें, यह कैसे संभव है ? यथा 'छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंकु तेहि पाँवर आना ।१।२८४।' तुम्हारी क्या, हम तो काल भी आ जाय तो उससे भी बराबर लड़ेंगे, हटेंगे नहीं। यथा 'देव दनुज भूपति भट नाना। सम बल अधिक होउ बलवाना ॥ जौं रन हमहिं पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ ।१।२८४।' अथवा, हँसकर जनाया कि अभी हमें बालक समझते हो, आगे प्राणोंके लाले पड़ेंगे तब पराक्रम जान पड़ेगा। यहाँ हँसना निरादरसूचक है। अथवा [ मुस्कानमें भाव यह है कि ये सब डर गए हैं, ऐसा न हो कि युद्ध न करें, अतः इनके क्षात्र-तेजको उत्तेजित करना आवश्यक है इसीसे चिढ़ानेके लिए बोले। ( प० प० प्र० ) ]

| दूतोंने क्या कहा ? | | क्या उत्तर मिला |
|---|---|---|
| खरदूषणका बल कहा | १ | हम छत्री मृगया बन करहीं '' 'लरहीं |
| आप नरभूषण हैं | २ | जद्यपि मनुज दनुजकुल बालक |
| यह कोउ नृपबालक | ३ | हम मुनिपालक खलसालक बालक हैं |
| 'जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा'' 'दोउ भाई' | ४ | 'जौं न होइ बल घर फिरि जाहू'''कदराई। |

३ (क) 'तुम्ह से खल' अर्थात् जो परस्त्रीकी खोजमें रहते हैं जैसे तुम और रावण, विभीषण नहीं। [ ऊपर छन्दमें 'मृगराज' शब्द प्रभुके लिये आया है। उसीके अनुसार यहां राक्षसोंको 'मृग' कहा। भाव कि तुम सब मृगगण हो और हम मृगराज हैं। 'मृग खोजत फिरहीं' से यह भी जनाया कि तुम्हारे सरीखे दुष्टों को मारना हमारा खेल ही है। यथा 'बन मृगया नित खेलहिं जाई ।१।२०५।' (प०प०प्र०)। 'खोजत फिरहीं' का भाव कि हमें तो ढूँढ़ना पड़ता है और तुम तो बिना परिश्रम आ मिले तब तुमको कैसे छोड़ेंगे। (वै०)] (ख) 'मुनि पालक खलसालक', यथा 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगेयुगे। इति गीतायाम्।

नोट—२ काष्ठजिह्वास्वामीजी 'दनुजकुलघालक' को खरदूषणका सम्बोधन मानते हैं अर्थात् 'हे दनुज-कुलके नाशक !' और कहते हैं कि इससे जनाते हैं कि हमसे वैर करके माल्यवान् आदि दनुजकुल भरका नाश कराना चाहते हो। वैजनाथजी अर्थ करते हैं कि 'बालक परिवारसहित दुष्टोंके नाशकर्त्ता हैं।'

**जौं न होइ बल घर फिरि जाहू। समर बिमुख मैं हतौं न काहू ॥१२॥**
**रन चढ़ि करिअ कपट चतुराई। रिपु पर कृपा परम कदराई ॥१३॥**
**दूतन्ह जाइ तुरत सब कहेऊ। सुनि खरदूषन उर अति दहेऊ ॥१४॥**

अर्थ—यदि बल न हो तो घर लौट जाओ, लड़ाईमें पीठ दिए हुए, मुँह फेरे हुएको मैं कभी नहीं मारता ॥ १२ ॥ लड़ाईमें चढ़ाई करके कपट, चतुरता और शत्रु पर कृपा करना महान् डरपोकपन है ॥१३॥ दूतोंने तुरंत जाकर सब कहा। सुनकर खरदूषणका हृदय अत्यन्त जल उठा ॥ १४ ॥

टिप्पणी—१ 'जौं न होइ बल ···' यह खरदूषणके 'जीअत भवन जाहु दोउ भाई' इन वचनोंका उत्तर है। 'काहू' अर्थात् 'मत्तं प्रमत्तमुन्मत्तं सुप्तं बालं स्त्रियं जडम्। प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्। भा० १।७।३६।' अर्थात् मतवाला, सनकी या झक्की और पागल, सोया हुआ, बच्चा, स्त्री, मूर्ख, शरणागत, रथहीन डरा हुआ ऐसे शत्रुको धर्मवित् नहीं मारते। पुनश्च यथा 'नायुधव्यसनप्राप्तं नार्त्तं नातिपरिक्षतम्। न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन्। इति मनुस्मृतौ ।७.९३।' अर्थात् शस्त्रहीन, आर्त्त, अत्यन्त घायल, डरे हुए पर धर्मज्ञ पुरुष हाथ नहीं चलाते।

२ 'रन चढ़ि करिअ कपट चतुराई' अर्थात् हमारे प्राण बचानेके बहाने अपने प्राण बचाते हो, अपने प्राणके लाले पड़े हैं इसीसे हमपर दया जना रहे हो। यह 'कपट चातुरी' है। ( ख ) 'परम कदराई' का भाव कि चढ़ाई करके कपटचातुरी करना कायरपन है और शत्रुपर कृपा करना तो परम कादरता है।

[ 'रिपुपर कृपा परम कदराई' इति। यह श्रीमुखवाक्य भी गिरह बाँधने योग्य है। लोग इसे उदारता कहते हैं, परन्तु यह उनकी भूल है। इसी कृपाके कारण भारतके सम्राट् पृथ्वीराज छः बार गोरीको हराकर उसे छोड़ते गए और सातवीं बार जब पृथ्वीराज हारे तो गोरीने उनपर कृपा न की और पृथ्वीराजके साथ हिन्दू साम्राज्यका सूर्य अस्त हो गया। ( राय ब० लाला सीतारामजी )। इन शब्दोंसे उन्हें कायर सूचित किया। भाव यह कि वीरबाना धरकर आए हो और लड़नेमें शंकित होते हो, यह कायरपन है। (प०प०प्र०)]

३ 'दूतन्ह जाइ तुरत सब कहेऊ···' इति। ( क ) आज्ञा थी कि 'तासु बचन सुनि आतुर आवहु'। अतः 'जाइ तुरत···' कहा। ( ख ) 'उर अति दहेऊ' अर्थात् जलासुना तो पूर्वसे ही था जब भगिनीकी दशा देखी थी, अब कपटी, कादर बनाये गए, इससे अब अत्यन्त दाह हुआ। दाह हुआ था, इसीका भाव था कि 'कौन कह जियत धरौ दोउ भाई', "आइ गये बगमेल धरहु धरहु धावहु सुभट' इत्यादि। "अतिदाह" का प्रमाण, यथा "उर दहेउ कहेउ कि धरहु धाए बिकट भट रजनीचरा।···'। तात्पर्य कि निर्बल जानकर धर पकड़नेकी इच्छा की थी, क्योंकि आगे लिखते हैं कि 'जानि सबल आराति'। [ पुनः भाव कि हमने तो दया दिखाई थी कि स्त्रीको देदो और चले जाओ, हम प्राण न लेंगे, और वह इसको उल्टा ही समझ कर हमें कायर बनाता है, अतः अत्यन्त जल उठा। ( प्र० ) ]

प० प० प्र०—इस उदाहरणके कारण ये हैं—(१) विना प्राणोंपर खेले ही श्रीसीताजीको प्राप्तिका मनोरथ जो हृदयमें था वह धूलमें मिल गया। (२) नृपबालकोंके मुखसे त्रैलोक्यविजयी वीरोंका अपमान और शत्रुके अपमर्दनकारक वचन अपने ही सचिवोंके मुखसे सारी राक्षस सेनाके सम्मुख सुननेका असह्य अपूर्व प्रसंग। अत्यन्त असह्य दाह होनेसे सौन्दर्य देखकर जो दयार्द्रता आई थी वह भाग गई और स्वभाव प्रबल हो गया—'स्वभावो दुरतिक्रमः।'

नोट—दूत भेजनेका प्रसंग वाल्मीकीय और अध्यात्ममें नहीं है।

( हरिगीतिका )

छंद—उर दहेउ कहेउ कि धरहु धाए* बिकट भट रजनीचरा।
सर चाप तोमर सक्ति सूल कृपान परिघ परसु धरा॥
प्रभु कीन्हि धनुष टकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा†।
भए बधिर ब्याकुल जातुधान न ग्यान तेहि अवसर रहा॥

शब्दार्थ—तोमर=भालेकी तरहका एक प्रकारका अस्त्र। इसमें लकड़ीके डंडेमें आगेकी ओर लोहेका बड़ा फल लगा रहता था।=शर्पला, शापला। परशु=एक अस्त्र जिसमें एक डंडेके सिरेपर एक अर्द्धचन्द्राकार लोहेका फल लगा रहता है।=एक प्रकारकी कुल्हाड़ी जो पहले लड़ाईमें काम आती थी, फरसा, भलुवा। 'परिघ'=गँड़ासा, लोहांगी। "शक्ति"=एक प्रकारका प्राचीनकालका अस्त्र है। यह एक प्रकारकी बर्छी है जो भालेसे छोटी पर उसी आकारकी होती है और फेंककर चलाई जाती है। "शूल"=प्राचीन कालका एक अस्त्र है जो प्रायः बरछेके आकारका होता है।=पट्टिश ( शस्त्र या खाँड़ा। इसकी तीन मापें थीं—उत्तम ४ हाथ, मध्यम ३॥ हाथ और अधम ३ हाथ लंबा होता था। मुठियाके ऊपर चलानेवालेकी कलाईके बचावके लिए एक जाली बनी होती थी। दोनों ओर धार होती थी और नोक अत्यन्त तीक्ष्ण होती थी। आजकल जिसे पटा कहते हैं वह केवल लंबाईमें छोटा होता है)—( प्र० )। "टंकोर" ( टंकार ) = वह शब्द जो धनुषकी कसी हुई डोरीपर बाण रखकर खींचनेसे होता है = धनुषकी कसी हुई प्रत्यंचा खींच वा तानकर छोड़नेका शब्द। 'भयावह' = भयंकर, डरावना।

अर्थ—हृदय जल उठा तब उन्होंने कहा कि पकड़ लो। (यह सुनकर) निशाचरोंके विकट योद्धा बाण,

* धावहु—को० रा०। धाए—१७२१, १७६२, १७०४। † भयामहा—को० रा०।

धनुष, तोमर, शक्ति (साँग), शूल, कृपाण ( द्विधार खड्ग ), परिघ और फरसा धारण किए हुए दौड़ पड़े। प्रभुने पहले धनुषका टंकार किया जो बड़ा कठोर और घोर भयंकर था। निशाचर टंकारसे बहिरे और व्याकुल हो गए, उस समय उनको कुछ होश-हवास न रह गया।

नोट—'धरहु धाए···' इति। यद्यपि हृदयमें अत्यंत दाह हुआ तोभी मारनेको न कहा। केवल 'धरहु' पकड़ लो यही कहा। क्योंकि उनका सौंदर्य अनुपम है, नरभूषण हैं, यह बात अब भी उनके हृदयमें है। (प्र०)

टिप्पणी—१ (क) 'प्रभु कीन्हि धनुष टकोर····' इति। कुंभकर्णयुद्धके समय भी श्रीरामजीने टंकार किया है जिससे शत्रु-सेना बहिरी हो गई, यथा 'प्रथम कीन्ह प्रभु धनुष टँकोरा। रिपुदल बधिर भयउ सुनि सोरा ॥६.६७।' जिन्होंने स्वप्नमें भी रणमें पीठ न दी थी वे भी मुड़ चले, टंकार सुनकर व्याकुल हो गए। (ख) टंकार कठोर है, अतः निशाचर बहिरे हो गए। कठोर कानोंके लिये है और घोर भयकर्त्ता मनके लिए है, अतः 'भये व्याकुल'। (ग) 'न ज्ञान तेहि अवसर रहा' अर्थात् कुछ देर बाद होश आया जब टंकारका शब्द जो कानोंमें गूँज रहा था, जाता रहा, यथा 'सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल विकल विचारहीं। कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं। १.२६१।'

पं० रा० व० श०—'प्रभु कीन्ह धनुष टँकोर प्रथम' इति। यहाँ "प्रथम" का भाव यह भी है कि निशिचरोंसे युद्धमें प्रभुने आज ही प्रथम-प्रथम टंकार शब्द किया है। पूर्व मारीच सुबाहुके युद्धमें टंकारकी आवश्यकता न पड़ी थी। [ वाल्मी० ३.२५ में भी टंकार करना कहा है, यथा "स खरस्याज्ञया सूतस्तुरगान्समचोदयत्। यत्र रामो महाबाहुरेको धुन्वन्धनुः स्थितः ॥३॥" अर्थात् जिधर श्रीरामजी अकेले धनुषका टंकार कर रहे थे उस दिशामें सारथीने खरकी आज्ञासे घोड़ोंको हाँका। ]

**दोहा—सावधान होइ धाए जानि सबल आराति।**
**लागे बरषन राम पर अस्त्र सस्त्र बहु भाँति ॥**
**तिन्ह के आयुध तिल सम करि काटे रघुबीर।**
**तानि सरासन श्रवन लगि पुनि छाँड़े निज तीर ॥१९॥**

शब्दार्थ—'आराति'=शत्रु, यथा 'पुनि उठि झपटहिं सुर आराती। टरइ न कीस चरन एहि भाँती। ६.३३।', 'सुधि नहिं तव सिर पर आराती। ३.२१।' 'अस्त्र शस्त्र'—अस्त्र वह हथियार है जो दूरसे शत्रु पर फेंके या चलाये जाते हैं जैसे बाण, शक्ति, गोला इत्यादि और शस्त्र वह हैं जो फेंककर नहीं वरन् पाससे जिनसे आघात किया जाता है, जैसे खड्ग तलवार आदि।

अर्थ—शत्रुको बली जानकर उन्होंने सावधान होकर धावा किया। बहुत तरहसे अस्त्र शस्त्र श्रीरामजीपर बरसने लगे। श्रीरघुवीरने उनके हथियार काटकर तिलके समान टुकड़े टुकड़े कर डाले। फिर धनुषको कानपर्य्यन्त खींचकर अपने तीर चलाए ॥६॥

टिप्पणी—१ 'सावधान होइ धाए जानि ·।' इति। पहले असावधानीसे धावा कर बैठे थे, यह जानकर कि निर्बल हैं। जब टंकारमात्रका यह प्रभाव देखा तब सावधान होकर चढ़ाई की। [ पुनः, 'सावधान होइ' में यह भी भाव है कि टंकारसे सब राक्षस मूर्छित हो गए थे। अब सावधान होनेपर फिर धाए। यहाँ श्रीरामजीकी ओरसे धर्मयुद्ध दिखाया कि राक्षसोंके असावधान होनेपर इन्होंने उनपर बाण नहीं छोड़े ]

२ "लागे बरषन रामपर अस्त्र सस्त्र····।" इति। ऐसा ही वाल्मीकीयमें भी कहा है, यथा 'ते शरैः शरवर्षाणि व्यसृजन रक्षसां गणाः ॥१०॥ शैलेन्द्रमिव धाराभिर्वर्षमाणा महाघनाः।' (स० २५)। अर्थात् श्रीरामजीको मारने की इच्छासे उन राक्षसोंने उनपर बाणोंकी वृष्टि की मानों महामेघ पर्वतेन्द्रपर धारा बरसा रहे हों। वर्षासे पहाड़का नाश नहीं होता वैसे ही वे प्रभुका कुछ न कर सके।

( तोमर† )

छंद—तब चले बान कराल, फुंकरत जनु बहु ब्याल ।
कोपेउ समर श्रीराम, चले बिसिख निसित निकाम ॥१॥
अवलोकि खरतर तीर, मुरि चले निसिचर बीर ।
भए क्रुद्ध तीनिउ भाइ, जो भागि रन ते जाइ ॥२॥
तेहि बधब हम निज पानि, फिरे मरन मन महुँ ठानि ।
आयुध अनेक प्रकार,* सनमुख ते करहिं प्रहार ॥३॥

शब्दार्थ—'निसित' (निशित) = तेज, तीक्ष्ण, सानपर चढ़े हुए। 'निकाम' = अत्यन्त, बहुत; यथा "निकाम श्याम सुन्दरं"। फुंकरत=फूँ-फूँ शब्द करते जैसे सर्प बैल आदिके मुँहसे वा नथुनेसे बलपूर्वक वायु निकलनेपर शब्द होता है। बाणका अग्रभाग सुवर्णमयी सर्पकी जिह्वासम लपलपाता दिखता होगा।

अर्थ—तब भयंकर बाण चले मानों बहुतसे सर्प फुंकारते हुए जा रहे हैं। श्रीरामचन्द्रजीने संग्राममें कोप किया। अत्यन्त तीक्ष्ण पैने बाण चलने लगे ॥१॥ बाणोंको बहुत ही तीक्ष्ण देखकर वीर निशाचर मुड़ चले। तीनों भाई (खर, दूषण और त्रिशिरा) बड़े क्रुद्ध हुए (और बोले—) जो रणसे भाग जायगा, उसे हम अपने हाथों वध करेंगे। तब वे मनमें मरना निश्चय करके लौट पड़े और सामने आकर अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र चलाने लगे ॥२-३॥

टिप्पणी—१ 'तब चले बान कराल फुंकरत जनु बहु ब्याल' इति। (क) राक्षसोंका अस्त्रशस्त्र बरसाना कहा था और प्रभुके बाणोंको फुंकारते हुए सर्पकी उपमा दी। इस भेदसे जनाया कि वर्षासे पर्वतका नाश नहीं होता और सर्पसे मनुष्योंका मरण हो जाता है, वैसे ही उनके आयुध निष्फल हुए और प्रभुके आयुध उनका प्राण ही ले लेंगे। सर्पके दृष्टान्तसे उनका नाश जनाया। यथा 'राम बान अहिगन सरिस निकर निसाचर भेक। जब लगि ग्रसत न····'। 'फुंकरत' से सक्रोध और विषैले होना जनाया। (ख) 'तब चले बान' और 'चले बिसिख निसित' में बाणोंका चलाना भर कहा, तीरका लगना न कहा। इससे जनाया कि इन्हें देखते ही वीर मुड़ चले, पीठ फेरनेपर बाणोंने उनका पीछा न किया, क्योंकि प्रभु रणसे विमुखको नहीं मारते। प्रभुके वचन यहाँ चरितार्थ हुए, जो उन्होंने कहे थे कि 'समर बिमुख मैं हतौं न काहू।' [नोट—समरमें कोपकी शोभा है, अतः 'श्रीराम' कहा। वा, श्रीरामजीकी विजय-श्री इस समरमें होगी, यह जनाया। वा, श्रीके संबंधसे कोप हुआ। नहीं तो आप तो राम हैं, आपको कोप कहाँ? (वंदन-पाठकजी)। 'सिसुपन तें पितु मातु बंधु गुर सेवक सचिव सखाऊ। कहत राम बिधु बदन रिसौंहैं सपनेहु लखेउ न काऊ' (विनय), यह उनका शील स्वभाव है पर यहाँ नरनाट्य है, 'जस काछिय तस चाहिअ नाचा' और कोप रणकी शोभा है, अतः कोपे। वाल्मीकिजीने भी यहाँ कोप करना लिखा है। यथा 'क्रोधमाहारयत्तीव्रं वधार्थं सर्वरक्षसाम्। दुष्प्रेक्ष्यश्चाभवत्क्रुद्धो युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ॥३४॥ तं दृष्ट्वा तेजसाविष्टं प्राव्यथन्वनदेवता। तस्यरुष्टस्य रूपं तु रामस्य ददृशे तदा। दक्षस्येव क्रतुं हन्तुमुद्यतस्य पिनाकिनः ॥' अर्थात् सब राक्षसोंका वध करनेके लिये उन्होंने बड़ा क्रोध किया। प्रलयाग्निके समान वे दुष्प्रेक्ष्य हो गए। उनके तेजको देखकर वन-देवता घबड़ा गए। उनका क्रोधसे भरा हुआ रूप ऐसा दिखता था जैसे दक्षके यज्ञके नाशके लिए महादेवजीका रूप था (वाल्मी० ३.२४)]

२ 'अवलोकि खरतर तीर मुरि चले निसिचर बीर'। मुड़ चले, पीछे लौटे, पीठ दी, इससे बाणोंकी

† "तोमर" छन्दके चारों चरणोंमें १२-१२ मात्राएँ होती हैं और अन्तमें गुरु लघु वर्ण रहता है। इस कांडमें छः छन्द और एक अर्धाली इसी एक जगह आए हैं। तोमर एक आयुधका नाम भी है, अतः युद्धप्रसंगमें इस छन्दका प्रयोग सार्थक है। * अपार—१७०४, १७६२।

तीक्ष्णता जनाई। वीर निशाचरोंके पीठ देनेसे रघुवीरकी बड़ाई सूचित हुई। वे वीर न होते तो इनको यश न होता, यथा 'नहिं गजारि जसु बधे सृगाला। ६.३०।'

३ 'भए क्रुद्ध तीनिउ भाइ....' इति। तीनों भाइयोंका क्रुद्ध होना कहकर जनाया कि ये तीन बाक़ी रहे, ये नहीं मुड़े। पुनः यह कि वे तीनों मालिक हैं, तीनों तीन दिशाएँ घेरे हुए हैं। सेनाको तीन तरफ़से घेरे हुए हैं और चौथी तरफ़ लड़ाई हो रही है। वे भागती हुई सेनासे बोले कि शत्रुसे बचोगे तो हम अपने हाथसे मारेंगे, हमसे बचकर कहाँ जा सकोगे? यह सुनकर 'फिरे मरन मन महुँ ठानि'। भाव कि जीतनेकी आशा कौन कहे, यहाँ तो जीवनकी भी आशा जाती रही।

४ 'सनमुख ते करहिं प्रहार' इति। भाव कि मरना है, तो वीरोंकी-सी मृत्यु क्यों न मरें। [ पीठ देकर मरनेपर, कलंकित होकर अपने स्वामीके हाथसे मारे जानेसे अपयश होगा और नरकगामी होना पड़ेगा। इसी प्रकार रावणके डाँटनेपर कि 'जो रन बिमुख सुना मैं काना। सो मैं हतब कराल कृपाना।...। ६.४१।', उसके सेवकोंने भी यही सोचा था, यथा 'सन्मुख मरन बीर कै सोभा। तब तिन्ह तजा प्रान कर लोभा।....६.४१।' ☞हिन्दूधर्मावलंबियोंको स्मरण रखना और अपने भगवान् एवं महात्माओंके वाक्योंमें श्रद्धा तथा अटल विश्वास रखना चाहिए। ऐसा होनेसे न तो हमारा कोई कुछ बिगाड़ सकता है और न हमें कभी किसीसे भय हो सकता है। भगवान् गीतामें कह रहे हैं 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।...१।३७।' अर्थात् हे अर्जुन! धर्मके लिये युद्धमें यदि तू मारा गया तो तुझे स्वर्ग प्राप्त होगा। अतः तू युद्ध कर।—यह वाक्य प्रत्येक हिन्दू गाँठ बाँध ले तो अन्य धर्मावलंबियोंसे उनको कभी भय न रहे। ]

**रिपु परम कोपे जानि, प्रभु धनुष सर संधानि।**
**छाँड़े बिपुल नाराच, लगे कटन बिकट पिसाच ॥४॥**
**उर सीस भुज कर चरन, जहँ तहँ लगे महि परन।**
**चिक्करत लागत बान, धर परत कुधर समान ॥५॥**
**भट कटत तन सत खंड, पुनि उठत करि पाषंड।**
**नभ उड़त बहु भुज मुंड, बिनु मौलि धावत रुंड ॥६॥**
**खग कंक काक शृगाल, कटकटहिं कठिन कराल ॥७॥**

शब्दार्थ—चिक्करना=चिंघाड़ना जैसे हाथी चिल्लाते हैं, चीख़ मारना। 'कुधर'=कु (भू) + धर = पृथ्वीको धारण करनेवाले; पर्वत। नाराच—टिप्पणी २ में देखिए।

अर्थ—शत्रुको परम कुपित जानकर प्रभुने धनुषपर बाणका अनुसंधान करके (चढ़ाकर) बहुतसे नाराच नामके बाण छोड़े। बिकट राक्षस कटने लगे ॥४॥ छाती, सिर, भुजा, हाथ और पैर जहाँ तहाँ पृथ्वी पर कटकर पड़ने लगे। बाण लगनेपर चिंघाड़ते हैं, धड़ (सिर-रहित शरीर) पर्वतके समान गिर रहे हैं ॥५॥ योद्धाओंके शरीर कटकर सौ सौ टुकड़े हो जाते हैं, फिर माया करके उठ पड़ते हैं। आकाशमें बहुत-सी भुजाएँ और सिर उड़ते हैं, बिना सिरके धड़ दौड़ रहे हैं ॥ ६ ॥ पक्षी चील, कौए, गीदड़, कठिन भयङ्कर कटकट्ट शब्द करते हैं ॥७॥

टिप्पणी—१ 'रिपु परम कोपे जानि' इति। वीरोंको कोप तो प्रथमसे ही था अब चिक्कार फटकार सुनकर परम कोप हुआ। पुनः, प्राणोंपर खेलनेवालेका कोप बहुत अधिक हो ही जाता है।

२ 'प्रभु धनुष सर संधानि। छाँड़े बिपुल नाराच' इति। (क) प्रथम कह आए कि 'तानि सरासन श्रवन लगि पुनि छाँड़े निज तीर' और अब दुबारा लिखा 'छाँड़े बिपुल नाराच'। भाव कि प्रथम तीर छोड़े तब वीर भाग चले, भागनेपर बाण चलाना बंद कर दिया था, क्योंकि कह चुके हैं कि 'समर बिमुख मैं

हमौं न काहू'—इस अपने पूर्व वाक्यको यहाँ चरितार्थ कर दिखाया। जब वे फिर सम्मुख आए, तब पुनः बाण छोड़े। (ख) अब बाणोंकी दूसरी क़िस्म है। नाराच तीर लोहेका होता है। इसमें पाँच पंख लगे रहते हैं और शरमें चार पंख होते हैं। नाराचका चलाना बहुत कठिन है।

२ 'लगे कटन विकट पिसाच''' इति। (क) अब कटनेका ब्योरा देते हैं। उर, शीश, भुज, कर, चरण कटकटकर भूमिपर पड़ने लगे। जब उर कटा तब बाण लगते ही चीख़ते चिंघाड़ते हैं और जब सिर कटा तब धड़ पृथ्वीपर पर्वत सरीखा गिर पड़ता है। जिनके उर शीश आदि पृथ्वीमें गिरे उनके ही धड़ पृथ्वीमें गिरे औरोंके नहीं। यह प्रथम प्रकार हुआ :—(१)। 'भट कटत तन सतखंड। पुनि उठत करि पाखंड''' अर्थात् वे ऐसे मायावी हैं कि इनके तनके सौ सौ टुकड़े हो जाते हैं तो भी ये समूचे उठ खड़े होते हैं मानों शरीर कटा ही न था। यही माया है। पाखण्ड=माया, यथा 'जब कीन्ह तेहि पाखंड भे प्रगट जंतु प्रचंड'। यह दूसरी प्रकारके कहे।—(२)। 'नभ उड़त बहु भुज मुंड बिनु मौलि धावत रुंड' ये तीसरी प्रकारके हैं। जिनके भुज सिर उर आदि भी कटकर पृथ्वीपर नहीं गिरते, आकाशमें ही उड़ने लगते हैं, उनके धड़ भी पृथ्वीपर नहीं गिरते, आकाशमें ही उड़ते रहे—(३)। प्रथम पाँच टुकड़े होते थे—उर, सीस, भुज, कर, चरण। और जब बाणोंकी तीव्र धारा चली तब सौ सौ टुकड़े हुए।—(४)। (ख) 'खग कंक काक शृगाल ''' ये प्रथम प्रकार वाले राक्षसोंके खानेको आये। ये दूसरी प्रकारके वीरोंको नहीं खा सकते और न तीसरी प्रकारके वीरोंको ये खासके, क्योंकि उनके कटे हुए अंग आकाशमें उड़नेके कारण इनको मिलते नहीं।

प० प० प्र०—इस प्रसंगमें कविने 'तब चले' से 'बिनु मौलि धावत रुंड' तक वीर, भयानक और रौद्र रस भर दिया है। 'कटकटहिं' से 'गुड़ी उड़ावहीं' तक वीभत्सरस है। आगे धीरे-धीरे फिरसे वीररसमें आकर "पावहिं पद निर्वान" में शान्तरसपर समाप्त किया है।☞ मानसकी यह विशेषता है कि ठौर-ठौर पर सब रसोंका रूपान्तर अन्तमें भक्ति या शान्तरसमें ही हो जाता है।

( हरिगीतिका )—

छंद—कटकटहिं जंबुक भूत प्रेत पिसाच खर्प्पर* संचहीं।
बेताल बीर कपाल ताल बजाइ जोगिनि नंचहीं॥
रघुबीर बान प्रचंड खंडहिं भटन्ह के उर भुज सिरा।
जहँ तहँ परहिं उठि लरहिं धर-धरु धरु करहिं भयकर गिरा॥१॥

शब्दार्थ—'बेताल'=पुराणोंके अनुसार भूतोंकी एक प्रकारकी योनि है। इस योनिके भूत साधारण भूतोंके प्रधान माने जाते हैं और प्रायः श्मशानोंमें रहते थे। "योगिनी"=रणपिशाचिनी। आवरण देवता—ये असंख्य हैं, पर इनमेंसे ६४ मुख्य हैं।

अर्थ—गीदड़ कटक्कट करते हैं। भूत, प्रेत, पिशाच खपड़ेमें रक्त-मांस जमा कर रहे हैं। बेताल वीरोंकी खोपड़ियोंसे ताल बजाते हैं और योगिनियाँ नाच रही हैं। रघुवीरके प्रचण्ड बाण योद्धाओंके कलेजों, भुजाओं और सिरोंको काटकर टुकड़े टुकड़े कर डालते हैं। (वे टुकड़े) जहाँ तहाँ गिरते हैं, फिर उठते हैं, लड़ते हैं और धर पकड़ो, धरो, धरो ऐसा भयंकर शब्द करते हैं॥१॥

टिप्पणी—१ (क) 'कटकटहिं जंबुक भूतप्रेत पिसाच''' इति। जैसे 'खग कंक काक शृगाल' उधर मध्य संग्राममें आए वैसे ही जंबुक, भूतप्रेत आदि भी मध्य संग्राममें वर्णन किए गए। ६४ योगिनियोंका नाच हो रहा है। (ख) 'रघुबीर बान प्रचंड''' इति। भगवान्के कोपसे बाण भी कोपको प्राप्त हैं, यथा 'भए क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे। ६.९०।' (ग) पूर्व जो प्रथम प्रकार कहा उनमें उनका उठना नहीं कहा गया और यहाँ उनका ( सिर, भुज, उर, कर, चरणका ) उठना कहते हैं। सभी उठ पड़ते हैं तो गृध्र

* खर्प्पर—१७२१, १७६२। खप्पर—छ०, को० रा०। खर्प्प—१७०४।

आदि खाते किसको हैं ? उत्तर—जो अंग कटता है वह पड़ा रहता है, दूसरा तैयार हो जाता है, जैसे रावण के सिर, बाहु और महिषासुरके सिर।

२—'धर धरु धरु करहिं भयकर गिरा' इति। (क) राक्षसोंके हृदयमें जो बात प्रथमसे ही गड़ी हुई है वही कटनेपर भी उनके मुखसे बराबर निकलती जा रही है—(१) 'कोउ कह जियत धरहु दोउ भाई', (२) 'आइ गए बगमेल धरहु धरहु···', (३) 'उर दहेउ कहेउ कि धरहु'। तथा यहाँ (४) 'धर धरु धरु'। (ख) 'करहिं भयकर गिरा' जिसमें रामजी डर जायँ, उनके हृदयमें भय समा जाय।

अंतावरीं गहि उड़त गीध पिसाच कर गहि धावहीं।
संग्राम-पुर-बासी मनहु बहु बाल गुड़ी उड़ावहीं।

शब्दार्थ—'अंतावरी'=अँतड़ी; आँतोंका समूह।

अर्थ—गृध्र अंतड़ियाँ पकड़कर उड़ते हैं और पिशाच (उसके नीचेका एक छोर) हाथसे पकड़कर दौड़ते हैं (ऐसा जान पड़ता है) मानों संग्रामरूपी नगरके रहनेवाले बहुतसे बालक पतंग उड़ा रहे हैं।

नोट—१ "कर गहि धावहीं"—यह उनका कौतुक है। २—गृध्र अँतड़ी लिए आकाशमें पतंगसे जान पड़ते हैं। अँतड़ीका छोर पकड़े पिशाच रणभूमिमें खींचते हैं। यह मानों डोर है। पिशाच पुरवासी बालक हैं।

३☞दीनजी कहते थे कि इस प्रसंगमें तुलसीदासजीने अपनी कवित्वशक्तिका प्रकाशन बहुत अच्छी तरहसे किया है। कविका कर्त्तव्य है कि वह असुन्दर वस्तुसे भी सुन्दरता निकाल ले। यहाँ तुलसीदासजीने वीभत्ससूचक दृश्यसे माधुर्य्य निकाला है। अन्तावरीको लेकर गीधका उड़ना एक वीभत्स दृश्य है, परन्तु इस दृश्यकी भी समता बालगुड़ी-उड़ावन-रूपी माधुर्य्यमूलक घटनासे की है जिससे उनमें भी माधुर्य्य आ गया है। इसी प्रकार अयोध्याकांडमें महाराज दशरथजीकी चिताकी उपमा 'सुरपुर सोपान' से देकर निर्वेदमें भी माधुर्य्य निकाला है। और, लंकाकाण्डमें रामचन्द्रजीके श्यामशरीरपर रक्तबिंदुओंको देखकर (जो वीभत्ससूचक है) तमालपर रयमुनियोंका बिठलाना माधुर्य्यरूपमें हो गया है। ये बातें प्रकट करती हैं कि तुलसीदासजीमें कविकर्मकी बड़ी सूक्ष्म कुशलता थी।

मारे पछारे उर बिदारे बिपुल भट कहँरत परे।
अवलोकि निज दल बिकल भट तिसिरादि खरदूपन फिरे॥२॥
सर सक्ति तोमर परसु सूल कृपान एकहि वारहीं।
करि कोप श्रीरघुवीर पर अगनित निसाचर डारहीं॥
प्रभु निमिष महुँ रिपुसर निवारि पचारि डारे सायका।
दस दस बिसिख उर माँझ मारे सकल निसिचरनायका॥३॥

शब्दार्थ—"पछाड़ना"=कुश्ती या लड़ाईमें पटकना, गिराना। यहाँ 'पछारे' का अर्थ है 'बाणोंसे मूर्छित हो गिरे हुए'। "कहरत"=कराहते वा पीड़ाके मारे आह-आह करते हैं। कृपाण=दुधारा खड्ग, सैंफ। निवारि=रोककर, काटकर, नष्ट करके।

अर्थ—मारे गए, पछाड़े गए, हृदय फाड़ डाले गए हुए बहुतसे वीर पड़े कराह रहे हैं। अपने दलको व्याकुल देख त्रिशिरा आदि योद्धा और खरदूषणने इधर मुँह फेरा (आ झुके)॥२॥ अगणित निशाचर कोप करके एक बार ही बाण, शक्ति, तोमर, परशु, शूल और कृपाण श्रीरघुवीरपर डाल रहे हैं। प्रभुने पल-भरमें शत्रुके बाणोंको निवारणकर ललकारके अपने बाण छोड़े। समस्त निशाचरनायकों (सेनापतियों) के हृदयमें उन्होंने दस दस बाण मारे॥३॥

टिप्पणी—१ 'तिसिरादि खरदूपन फिरे' इति। (क) प्रायः सर्वत्र खरदूषण ही आदिमें लिखे गए हैं पर

यहाँ त्रिशिराको आदिमें रखा है। यह भी सहेतुक है। सब कामोंमें बड़ा भाई ही आगे रहता है ( यथा 'खरदूषन पहिं गइ बिलपाता । १८।२ ।', 'सचिव बोलि बोले खरदूषन । १६.२ ।', 'सुनि खरदूषन उर अति दहेऊ । १६.१५ ।', "खरदूषन तिसिरा बधेउ मनुज कि अस बरिबंड । २५ ।", 'खर दूषन तिसिरा कर घाता । सुनि दससीस जरे सब गाता । २२.१२ ।' ), पर संकट पड़नेपर छोटेका धर्म है कि वह आगे आवे, बड़ेको दुःख न होने दे। इस कारण त्रिशिराको आदिमें रखा। ( ख ) 'खरदूषन पहिं गै बिलपाता', 'सुनि खरदूषन उर अति दहेऊ' यहाँतक 'मजामामला' ( सुख ) में वे आगे रहे। इज्जतआबरूके काममें तीनोंको बराबर ( साथ ) कहते हैं, यथा 'भये क्रुद्ध तीनिउ भाइ', और संग्राममें त्रिशिराको आगे कहते हैं—"तिसिरादि खरदूषन फिरे"। इसी तरह 'कौसलेससुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा । ४.७ ।' में श्रीलक्ष्मणजीको प्रथम कहा है।

२ 'एकहि बारहीं । करि कोप श्रीरघुबीरपर अगनित निसाचर डारहीं' इति। (क) एकबारगी बहुतसे अस्त्रशस्त्र सब मिलकर डालते हैं जिसमें रोकते न बने; क्योंकि देख लिया है कि ये आयुध रोकनेमें बड़े प्रवीण हैं, यथा 'तिन्ह के आयुध तिल सम००'। पर यहाँ भी उनको धोखा ही हुआ, उनका अनुमान ठीक न निकला। क्योंकि 'प्रभु निमिष महुँ रिपु सर निवारि०'। पलमात्रमें सबके समस्त आयुधोंको निवारण कर दिया। (वाल्मीकिजी लिखते हैं कि रामचन्द्रजी कब बाण लेते हैं और कब चलाते हैं, यह बात राक्षसोंको नहीं मालूम होती थी। वे केवल यही देख सकते थे कि वे धनुष खींच रहे हैं। यथा 'नाददानं शरान्घोरान्विमुञ्चन्तं शरोत्तमान्। विकर्षमाणं पश्यन्ति राक्षसास्ते शरार्दिताः। ३.२५.३६ ।' यह भाव 'निमिष महुँ...' में आ गया)। ( ख ) यहाँ 'श्रीरघुबीर' पद दिया है। 'श्री' पद देकर यह जनाया कि विजय-श्री आपको प्राप्त है। अथवा, जनाया कि ये श्रीमान् वीर हैं कि निमिषमात्रमें समस्त आयुधोंको काट डाला। शत्रुके आयुधोंको क्षणभरमें व्यर्थ करना यह 'रघुकुलके वीर' की शोभा है।

प० प० प्र०—'श्रीरघुबीर' इति। ( क ) यहाँ 'श्री' = तेज और ऐश्वर्य (से युक्त), यथा 'भएउ तेजहत श्री सब गई । ६.५.४ ।', पुनः, श्री=योगमाया (युक्त)। यह अर्थ भी यहाँ सुसंगत होगा क्योंकि आगे 'मायानाथ कौतुक' होनेवाला है। ( ख ) इस स्थानपर श्रीरघुनाथजीकी पाँचों वीरताएँ प्रकट हुई हैं। अगणित निशाचर एक साथ ही अगणित शस्त्रास्त्रोंकी इनपर वृष्टि कर रहे हैं तथापि ये स्थिर और निर्भय लड़ रहे हैं। यह युद्धवीरता है। शत्रु 'करत माया अति घनी' पर श्रीरामजीने कपटका आश्रय नहीं लिया। यह धर्मवीरता है। चौदह हजार अजेय, अमर राक्षसोंसे अकेले युद्ध करना और 'सुर मुनि सभय' हो गए हैं यह जान लेना "विद्यावीरता" है। राक्षसोंको निर्वाण और देव-मुनिको अभय देना दानवीरता है। सबको मोक्ष प्राप्त हो जाय इस हेतुसे सबके मन रामाकार कर दिये, यह कृपा है। इसीसे कविने 'कृपानिधान' शब्द दोहेमें दिया है। रामाकार मन होनेसे वे मुक्त हो गए। यथा 'रामाकार भए तिन्ह के मन। मुक्त भए छूटे भवबंधन।' अनेकों जन्म मुनि यत्न करते हैं तब कहीं 'राम' मुखसे अंतमें निकल पाता है, वह इन राक्षसोंको क्षणमात्रमें सुलभ कर दिया गया। 'परम कृपा' शत्रु पर भी ! यह कृपावीरता है।

टिप्पणी—३ 'दसदस बिसिष उर माँझ मारे सकल निसिचरनायका' इति। दश दश बाण मारनेका भाव कि—(१) दशवीं दशा (मृत्यु) को प्राप्त कर दिया। वा, (२) ये वीर रावणसमान बली हैं। वहाँ 'दस दस बान भाल दस मारे' हैं, अतः यहाँ भी दस दस मारे। वा, (३) तीस तीरसे रावणको अनेक बार मारा है, अतएव यहाँ तीनोंको दस दस बाण एक साथ मारे, इस प्रकार एक बारमें ३० बाण हुए। ऐसा करके 'खरदूषन मो सम बलवंता' को चरितार्थ किया।

व्यापकजी - प्रभुने चौदह सहस्र राक्षसोंके हृदयमें दश दश बाण मारकर अपना बाणविद्याका कौशल दिखाया। इस बातको सुनकर मेघनाद उसे हृदयमें रक्खे रहा और जब लंकामें संग्राम करने आया तब अपनेको श्रीरामजीसे अधिक जनाते हुए उसने कह ही डाला 'कहँ कौसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल

लोक विख्याता ।' इसमें व्यंग्य यह है कि तुम तो केवल चौदह सहस्र निशाचरोंको दश-दश बाण मारकर धन्वी विख्यात हो गए, पर अब आइए मेरा बाणविद्या-कौशल तथा हस्त-लाघव देखिए। मैं आपके अठारह पद्म यूथपतियों और अपार सेनामें प्रत्येकको दश-दश बाण मार सकता हूँ। और यह कहकर उसने वैसा ही किया भी। यथा 'सो कपि भालु न रन महँ देखा। कीन्हेसि जेहि न प्रान अवसेषा॥ दस दस सर सब मारेसि परे भूमि कपि बीर। सिंहनाद करि गर्जा मेघनाद बल धीर। ६.४६।' यह उसका गर्जन अपनी विशेषता-प्रदर्शनके अहंकारका है।

> महि परत उठि भट भिरत मरत न करत माया अति घनी।
> सुर डरत चौदह सहस प्रेत बिलोकि एक अवधधनी॥
> सुर मुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक कर्यौ।
> देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मर्यौ॥४॥

अर्थ—योद्धा पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं, फिर उठकर भिड़ते हैं, मरते नहीं, अत्यन्त घनी माया करते हैं। प्रेत तो १४ हजार हैं और अवधके राजा (श्रीरामजी) अकेले—यह देखकर देवता और मुनि डर रहे हैं। प्रभुने सुर और मुनियोंको भयभीत देख उन मायापतिने अत्यन्त खेल किया कि सब आपसमें एक दूसरेको रामरूप देख आपसमें ही सब शत्रुदल संग्राम करके लड़ मरा॥४॥

टिप्पणी—१ 'महि परत उठि…करत माया अतिघनी' इति। 'माया अति घनी' यह कि १४ हजार सबके सब फिर फिर जी उठते हैं। इनको शिवजीका वरदान था कि तुम किसीके मारे न मरोगे, आपसमें लड़ोगे तभी मरोगे।

२ 'सुर डरत चौदह सहस प्रेत बिलोकि…' इति। (क) यहाँ राक्षसोंको प्रेत कहा क्योंकि वे मर-मरके फिर जी उठे हैं; इसीसे जितनेके तितने ही बने रहते हैं। (ख) 'अवधधनी' इति। भाव कि इस समय देवताओंकी दृष्टि माधुर्य्यरूपमें है, ऐश्वर्य्यपर नहीं। [यथा 'चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्। एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं भविष्यति॥ वाल्मी० ३.२४.२३।', 'बभूव रामः संध्याभ्रैर्दिवाकर इवावृतः। विषेदुर्देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः। वाल्मी० ३.२५.१५।' अर्थात् भयानक कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षस हैं और इधर अकेले धर्मात्मा राम हैं, युद्ध कैसे होगा? श्रीरामचन्द्रजी राक्षसोंके बाणोंसे विद्ध हुए। उनके उन स्थानोंसे रुधिर निकल रहा है, वे सायंकालीन मेघोंसे ढके हुए सूर्यके समान हो गए हैं, यह देखकर देवता, गंधर्व, सिद्ध और परमर्षि दुःखी हुए।]

३ 'सुर मुनि सभय देखि मायानाथ अति कौतुक कर्यो' इति। (क) 'मायानाथ' का भाव कि राक्षसोंने अति घनी माया की और ये मायापति हैं तथापि इन्होंने माया न की, इन्होंने एक कौतुक मात्र किया। पुनः, भाव कि वे कितनी माया करेंगे, यहाँ माया न लगेगी क्योंकि वे तो मायानाथ हैं। माया करना छल है, रामजी छली नहीं हैं, ये शुद्ध संग्राम कर रहे हैं, ये अधर्म युद्ध नहीं करते। अतः इन्होंने माया न रची। एक बड़ा भारी कौतुक कर दिया।

(ख) 'सुर मुनि सभय' इति। यहाँ पंचवटीके संग्राममें नर नहीं हैं, सुरमुनि देखते हैं। राक्षसोंके भयसे यहाँ साधारण मनुष्य न थे।

रा० प०—यह अद्भुत रस है। तीनों कालोंमें आश्चर्य्य उत्पन्न करनेवाली बात है कि सब परस्पर एक दूसरेको राम ही देखते थे।

प्र०—'कुछ लोगोंका कहना है कि इन सब निशाचरोंको शिवजीका वरदान था कि ये किसीसे न मरेंगे, आपसमें ही लड़कर मृत्यु होगी, अन्यथा नहीं। अतएव श्रीरघुनाथजीने मोहनास्त्र चलाया जिसका फल यह हुआ कि सब एक दूसरेको राम ही दीखते थे। इस भावमें 'मारे पछारे बिदारे' में शंका ही नहीं

यह जानी ।' [ अकंपन संग्रामभूमिसे भागकर जब रावणके पास गया तब उसके भी वचनोंसे यही बात सिद्ध होती है, यथा 'सर्पाः पञ्चानना भूत्वा भक्षयन्ति स्म राक्षसान् । येन येन च गच्छन्ति राक्षसा भयकर्षिताः ॥ १९ ॥ तेन तेन स्म पश्यन्ति राममेवाग्रतः स्थितम् । इत्थं विनाशितं तेन जनस्थानं तवानघ ॥२०॥' ( वाल्मी० सर्ग ३१ )। अर्थात् श्रीरामजीके छोड़े हुए बाण पंचमुखवाले सर्प होकर राक्षसोंको खा गए । डरे हुए राक्षस जिस मार्गसे जाते थे, उधर ही अपने आगे रामचन्द्रको स्थित देखते थे। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रने आपके जन-स्थानका नाश किया । ]

दोहा—राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्बान ।
करि उपाय रिपु मारे छन महुँ कृपानिधान ॥
हरषित बरषहिं सुमन सुर बाजहिं गगन निसान ।
अस्तुति करि करि सब चले सोभित बिबिध बिमान ॥२०॥

अर्थ—सब राम राम कहते हुए ( राम है इसे मारो ) शरीर छोड़ते हैं और मोक्षपद पाते हैं। दया-सागर श्रीरामजीने उपाय करके क्षणभरमें शत्रुको मार डाला। देवता प्रसन्न होकर फूल बरसाते हैं और आका-शमें नगाड़े बज रहे हैं। सब देवता स्तुति कर करके अनेक प्रकारके विमानोंमें सुशोभित होते हुए चल दिए ॥२०॥

टिप्पणी—१ 'राम राम कहि तन तजहिं' इति । ( क ) यहाँ नामके माहात्म्यसे मुक्ति होना कहा । ये रामबाणसे नहीं मरे । परस्पर युद्ध करके मरे, इससे मुक्ति न हो सकती थी, पर नामके प्रतापसे वे मुक्त हो गए। लंकामें बाणका माहात्म्य कहा, क्योंकि बाणों द्वारा मुक्ति होगी; यथा 'रघुबीर सर तीरथ सरीरन्ह त्यागि गति पैहहिं सही ।' ( सुं० ) । ( ख ) 'कृपानिधान' पद दिया क्योंकि देवताओं मुनियोंको अभय किया और राक्षसोंको मुक्ति दी । निशाचरोंको क्लेश न भोगना पड़ा । क्षणमात्रमें कौतुक करके निर्वाणपद दिया—यह कृपा है ।

२ 'हरषित बरषहिं सुमन सुर' इति । देवता पूर्णकाम हुए, अतः 'हर्षित वर्षहिं' कहा; यथा 'भरत राम संवाद सुनि सकल सुमंगल मूल । सुर स्वारथी सराहि कुल हरषित बरषहिं फूल ॥२.३०८।', पूर्ण कार्य न होता तो मलिन हृदयसे बरसाते । यथा "भरतहिं प्रसंसत बिबुध बरषत सुमन मानस मलिन से ॥२.३०१।"

३ 'अस्तुति करि करि सब चले...' इति । ( क ) 'करि करि' से प्रत्येकका पृथक्-पृथक् स्तुति करना जनाया। ( ख ) "सोभित बिबिध बिमान" इति । देवताओंके इस घोर निशाचर युद्ध और उनके नाशसे आनन्द हुआ, अतः शोभित हैं, यथा 'वर्षा घोर निसाचर रारी । सुरकुल-सालि सुमंगलकारी' । पुनः भाव कि पहले भुज, सिर, मुण्डसे आकाश अशोभित था अब विमानोंसे सुशोभित है ।

नोट—१ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि "देवता और चारण एकत्र होकर फूल बरसाते दुन्दुभी बजाते स्तुति करते हैं कि तीन मुहूर्त्तमें इन्होंने कामरूप १४ सहस्र निशाचरोंको युद्धमें मारा । यह बड़ा अद्भुत कर्म है । अद्भुत पराक्रम है, दृढ़ता विष्णुके समान है । स्तुति करके गए तब ब्रह्मर्षि, राजर्षि और अगस्त्यजीने पूजा की और कहा कि इन्हीं पापियोंके वधके लिए महर्षि आ करके आपको यहाँ लाए और इसीलिए इन्द्र शरभंगजीके पास आए थे । आपने हम सबोंका वह काम किया । अब महर्षि धर्मानुष्ठान करेंगे । यथा 'एतस्मिन्नन्तरे देवाश्चारणैः सह संगताः । दुन्दुभींश्चाभिनिघ्नन्तः पुष्पवर्षं समन्ततः ॥२९॥ रामस्योपरि संहृष्टा ववर्षुर्वि-स्मितास्तदा । अर्धाधिकमुहूर्त्तेन रामेण निशितैः शरैः ॥३०॥ चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां कामरूपिणाम् । खरदूषणमुख्यानां निहतानि महामृधे ॥३१॥ अहो बत महत्कर्म रामस्य विदितात्मनः । अहोवीर्यमहो दार्ढ्यं विष्णोरिव हि दृश्यते ॥३२॥ इत्येव-मुक्त्वा ते सर्वे ययुर्देवा यथागतम् । ततो राजर्षयः सर्वे संगताः परमर्षयः ॥३३॥ सभाज्य मुदिता रामं सागस्त्या इदमब्रुवन् । एतदर्थं महातेजा महेन्द्रः पाकशासनः ॥३४॥ शरभङ्गाश्रमं पुण्यमाजगाम पुरन्दरः । आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः

।।३५।। एषां वधार्थं शत्रूणां रक्षसां पापकर्मणाम् । तदिदं नः कृतं कार्यं त्वया दशरथात्मज ।।३६।। स्वधर्मं प्रचरिष्यन्ति दण्डकेषु महर्षयः ।' ( वाल्मी० ३० ) ।

दीनजी—'अनख' से रामनामके उच्चारणका उदाहरण यह प्रसंग है।

**जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुर नर मुनि सब के भय बीते ॥ १ ॥**
**तब लछिमन सीतहि लै आए। प्रभु पद परत हरषि उर लाए ॥ २ ॥**
**सीता चितव स्याम मृदुगाता। परम प्रेम लोचन न अघाता ॥ ३ ॥**

अर्थ—जब रघुनाथजीने संग्राममें शत्रुको जीता और सुरनरमुनि सबके भय दूर हुए। तब लक्ष्मणजी श्रीसीताजीको ले आए। चरणोंमें पड़ते ही प्रभुने उनको हर्षपूर्वक हृदयसे लगा लिया।१-२। श्रीसीताजी परम-प्रेमसे श्यामल कोमल शरीरका दर्शन कर रही हैं, नेत्र अघाते नहीं, तृप्त नहीं होते ।।३।।

प० प० प्र०—१ 'जब रघुनाथ समर रिपु···'—यहाँ 'रघुबीर' शब्दसे 'र' और 'ब' का अनुप्रास भी बढ़िया हो जाता है उसे न देकर "रघुनाथ" शब्द देनेमें भाव यह है कि इन्होंने वह कार्य कर दिखाया जो अन्य रघुवंशीय महावीरोंसे नहीं हुआ था। इस प्रकार 'रघुनाथ' नामकी सार्थकता बताई। इसी भावसे आगे 'श्रीरघुनायक' शब्दका प्रयोग किया गया है।

२ ( क ) 'सुर नर मुनि सबके' इन शब्दोंसे स्वर्ग, मर्त्य और पातालमें चराचर जीवोंका निर्भय होना बताया। क्योंकि खरदूषणादि इन सबोंको सताया करते थे जैसा उनके 'नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते' इन वचनोंसे स्पष्ट है। मुनियोंका निर्भय होना यह है कि राक्षस उनके स्नान, संध्या, जप, तप और यज्ञादि कर्मोंमें विघ्न डाला करते थे, मुनि समर्थ होते हुए भी अपनी तपस्याकी हानिके भयसे उनको शाप न दे सकते थे ( जैसा विश्वामित्रजीके प्रसंगमें बालकाण्ड २०७ (६) में लिखा जा चुका है), वह बाधा दूर हो गई अब निर्भय होकर जप-तपादि करेंगे। यथा 'स्वधर्मं प्रचरिष्यन्ति दण्डकेषु महर्षयः। वाल्मी० ३०.३७' यह अगस्त्यजीका वाक्य है। ( ख ) ( शंका )—अभी रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद तो जीवित ही हैं तब इन सबोंका निर्भय होना कैसे मान लिया गया ? (समाधान)—खरदूषण रावणके समान बलवान् थे, इनके वधसे उनको दृढ़ विश्वास है कि रावण भी मारा जायगा। श्रीरामजी निशाचर-नाशकी प्रतिज्ञा कर ही चुके हैं, दण्डकारण्यमें हैं ही, रावण समान बलवान् उसके भाइयोंको मार ही चुके हैं, अब उसका भी विनाश निश्चय है।

टिप्पणी—१ ( क ) 'जब रघुनाथ···भय बीते' अर्थात् समरके समय भी उनको बड़ा भय रहा, यथा 'सुर मुनि सभय प्रभु देखि००।' काण्डके प्रारम्भमें कहा था 'अब प्रभुचरित सुनहु अति पावन। करत जे बन सुर नर मुनि भावन' और "चले बनहिं सुर नर मुनि ईसा", वही 'सुर नर-मुनि' पद यहाँ देकर यह बात पुष्ट करते हैं कि इन्हींकी सहायताके लिये चले थे और सहायता की। ( ख ) [ 'तब' अर्थात् जब देवताओंने हर्षित होकर पुष्पोंकी वृष्टि की, नगाड़े बजाए और स्तुति कर-करके निर्भय होकर चल दिये तब आए। नगाड़ोंके शब्द तथा स्तुतियोंसे समझ गए कि 'रघुनाथ समर रिपु जीते।' स्तुतियाँ बन्द होनेसे देवताओंका चला जाना भी निश्चित हो गया। 'हरषि' देहली-दीपक-न्यायसे लक्ष्मणजी और प्रभु दोनोंके साथ है। बड़ोंको प्रणाम हर्षपूर्वक करना धर्म है। ( प० प० प्र० ) ]

२ (क) 'प्रभुपद परत' यह सेवक भावसे और "सीता चितव स्याम मृदुगाता" यह स्त्रीभावसे है, यथा 'नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप ।१.२४१।' 'श्यामो भवति शृङ्गारः ।' (ख) 'परम प्रेम लोचन न अघाता' इति। प्रेम तो सदा ही रहता है पर इस समय घोर संग्राममें विजयको प्राप्त हुए श्रीरामजीको देख रही हैं, अतः परम प्रेम है। यथा 'बभूव हृष्टा वैदेही भर्तारं परिषस्वजे। मुदा परमया युक्ता दृष्ट्वा रक्षोगणान्हतान्। रामं चैवाव्य ं दृष्ट्वा तुतोष जनकात्मजा ।४०···बभूव हृष्टा

जनकात्मजा तदा । वाल्मी० ३।३०।४१।' [ श्रीप्रज्ञानानन्दस्वामीजीका मत है कि नील सरोरुह श्याम शरीरपर रुधिरकी लाल बूँदें माणिक्यके समान और बीच-बीचमें पसीनेकी बूँदें मोतीके समान बड़ी सुन्दर शोभा दे रही हैं। जटाजूट बँधा हुआ है। लोचन लाल हैं। इस अद्भुत झाँकीका दर्शन अभीतक कभी नहीं किया था। अतः देखती ही रह गईं। (अ० रा० के 'शस्त्रव्रणानि चाङ्गेषु ममार्ज जनकात्मजा ।३।५।३७।' से यह भाव लिया जा सकता है। ऐसी ही झाँकी रावणवधके अंतमें जो कविने ६।१०२ में दिखाई है, यथा 'संग्राम अंगन राम अंग अनंग बहु सोभा लही ॥ सिर जटा-मुकुट प्रसून बिचबिच अति मनोहर राजहीं। जनु नीलगिरि पर तड़ित पटल समेत उडुगन भ्राजहीं ॥ भुज दंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने। जनु रायमुनी तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने ॥' उसके अनुसार भी यह भाव हो सकता है।) ]

३ खरदूषण और रावणका समान युद्ध कहकर 'खरदूषन मोहि सम बलवंता' रावणके इस विचारको चरितार्थ किया है।

| खरदूषण-युद्ध | | रावण-युद्ध |
|---|---|---|
| धाए निसिचर निकर बरूथा। जनु सपच्छ कज्जलगिरिजूथा | १ | चले बीर सब अतुलित बली। जनु कज्जल कै आँधी चली |
| नाना बाहन नानाकारा। नानायुधधर घोर अपारा | २ | चलेउ निसाचर कटक अपारा। चतुरंगिनी अनी बहु धारा |
| असगुन अमित होहिं भयकारी। गनहिं न मृत्युबिबस सब झारी | ३ | असगुन अमित होहिं तेहि काला। गनहिं न भुजबल गर्ब बिसाला |
| गर्जहिं तर्जहिं गगन उड़ाहीं | ४ | केहरिनाद बीर सब करहीं |
| धूरि पूरि नभमंडल रहा | ५ | उठी रेनु रबि गयउ छिपाई |
| कोदंड कठिन चढ़ाइ जटजूट बाँधत सोह क्यों | ६ | जटाजूट बाँधे दृढ़ माथे |
| कटि कसि निषंग बिसाल भुज गहि चाप बिसिख सुधारिकै | ७ | कटितट परिकर कस्यो निषंग कर कोदंड कठिन सारंग |
| उर दहेउ कहेउ कि धरहु धावहु बिकट भट रजनीचरा | ८ | कहेउ दसानन सुनहु सुभट्टा। मर्दहु भालु कपिन्ह के ठट्टा |
| आइ गए बगमेल | ९ | एही बीच निसाचर अनी। कसमसात आई अति घनी |
| प्रभु कीन्ह धनुष टंकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा। भये बधिर ब्याकुल जातुधान | १० | प्रथम कीन्ह प्रभु धनुष टकोरा। रिपुदल बधिर भयेउ सुनि सोरा ॥ |
| लागे बरसन राम पर अस्त्रसस्त्र बहु भाँति। तिन्हके आयुध तिलसम करि काटे रघुबीर ॥ | ११ | कोटिन्ह आयुध रावन डारे। तिल प्रमान करि काटि निवारे ॥ |
| तानि सरासन श्रवन लगि पुनि छाँड़े निज तीर | १२ | तानेउ चाप श्रवन लगि छाँड़ेउ बिसिख कराल |
| तब चले बान कराल फुंकरत जनु बहु ब्याल | १३ | चले बान सपच्छ जनु उरगा |
| कोपे समर श्रीराम, चले बिसिख निसित निकाम | १४ | रघुपति कोपि बान झरि लाई |
| अवलोकि खर तर तीर मुरि चले निसिचर बीर | १५ | चले निशाचर निकर पराई |
| भये क्रुद्ध···जो भागि रन ते जाइ तेहि बधब हम निज पानि। | १६ | फेरि सुभट लंकेस रिसाना ॥ जो रन बिमुख फिरा मैं जाना। सो मैं हतब कराल कृपाना |
| फिरे मरन मन महँ ठानि | १७ | उग्र बचन सुनि सकल डेराने। चले क्रोध करि |
| सनमुख ते करहिं प्रहार | १८ | सनमुख मरन बीर कै सोभा। तब तिन्ह तजा प्रानकर लोभा |
| छाड़े बिपुल नाराच लगे कटन बिकट पिसाच। | १९ | जहँ तहँ चले बिपुल नाराचा। लगे कटन भट बिकट पिसाचा |
| उर सीस भुज कर चरन जहँ तहँ लगे महि परन | २० | कटहिं चरन उर सिर भुजदंडा |
| चिक्करत लागत बान धर परत कुधर समान | २१ | लागत बान बीर चिक्करहीं। घुर्मि घुर्मि घायल महि परहीं |
| भट कटत तन सत खंड | २२ | बहुत बीर होइ सतखंडा |
| नभ उड़त बहु भुज मुंड | २३ | रहे छाइ नभ सिर अरु बाहू |
| बिनु मौलि धावत रुंड | २४ | रुंड प्रचंड मुंड बिनु धावहिं |

| | |
|---|---|
| खग कंक काक शृगाल कटकटहिं कठिन कराल | २५ काक कंक लै भुजा उड़ाहीं । जंबुक निकर कटकटहिं |
| भूतप्रेतपिसाच खर्प्पर संचहीं । बेताल बीर कपाल ताल बजाइ जोगिनि नंचहीं । | २६ जोगिनि भरि भरि खप्पर संचहिं । भूतपिसाचबधू नभ नंचहिं । भट कपाल करताल बजावहिं । |
| धरु धरु करहिं भयकर गिरा | २७ धरु धरु मारु मारु धुनि गावहिं |
| अंतावरी गहि उड़त गीध | २८ खैंचत गीध आँत तट भए |
| बिपुल भट कहरत परे | २९ कहरत भट घायल तट गिरे |
| अवलोकि निजदल बिकल भट तिसिरादि खरदूषन फिरे | ३० रावन हृदय बिचारा भा निसिचर संहार |
| सर सक्ति तोमर परसु सूल कृपान एकहि बारहीं । करि कोप श्रीरघुबीरपर अगनित निसाचर डारहीं ॥ प्रभु निमिष महँ रिपुसर निवारि प्रचारि डारे सायका । | ३१ कोटिन्ह चक्र त्रिसूल पबारइ । बिनु प्रयास प्रभु काटि निवारइ ॥ |
| दस दस बिसिष उर माँझ मारे | ३२ दस दस बान भाल दस मारे |
| महि परत पुनि उठि लरत | ३३ उठहिं सँभारि सुभट पुनि लरहीं |
| मरत न करत माया अतिघनी | ३४ मरत न रिपु श्रम भयेउ बिसेषा ॥ दस दिसि धावहिं कोटिन्ह रावन |
| सुर डरत | ३५ डरे सकल सुर |
| सुरमुनि सभय प्रभु देखि मायानाथ अति कौतुक करेउ | ३६ सुर सभय जानि रघुपति चाप सर जोरत भये |
| 'देखहिं परस्पर राम करि संग्राम रिपु दल लरि मरेउ' | ३७ पुनि पुनि प्रभु काटत भुज सीसा । |
| 'अति कौतुक करेउ' | ३८ अति कौतुकी कोसलाधीसा |
| राम राम कहि तनु तजहिं | ३९ कहाँ राम रन हतउँ प्रचारी |
| पावहिं पद निरबान | ४० तासु तेज समान प्रभु आनन |
| हरषित बरषहिं सुमन सुर बाजहिं गगन निसान । | ४१ सुर दुंदुभी बजावहिं हरषहिं |
| अस्तुति करि करि सब चले सोभित बिबिध बिमान | ४२ अस्तुति करहिं सुमन सुर बरषहिं |

रा० प्र० श०—इस प्रसंगमें नवों रसोंका वर्णन हुआ है । यथा "१ रुचिर रूप धरि प्रभु पहँ गई ।"—शृङ्गार । २ 'अहै कुमार मोर लघु भ्राता'—हास्य । ३ 'नाक कान बिनु भइ बिकरारा'—वीभत्स । ४ 'एक बार कालहु सन लरहीं'—वीर । ५ 'कोपेउ समर श्रीराम'—रौद्र । ६ 'उर सीस कर भुज चरन जहँ तहँ लगे महि परन'—भयानक । ७ 'देखहिं परस्पर राम करि संग्राम रिपु दल लरि मरयो'—अद्भुत । ८ 'राम राम कहि तनु तजहिं'—करुणा । ९ 'जब रघुनाथ समर रिपु जीते । सुर नर मुनि सबके भय बीते ।'—शान्त ।

**पंचबटी बसि श्रीरघुनायक । करत चरित सुर मुनि सुखदायक ॥४॥**

अर्थ—पंचवटीमें बसकर श्रीरघुनाथजी सुरों और मुनियोंको सुख देनेवाले चरित करते हैं ॥४॥

प० प० प्र०—"श्रीरघुनायक" इति । "सिय" शब्दसे तीसरा 'य' अक्षर आ जाता और अनुप्रास बढ़ जाता । 'सिय' न देकर 'श्री' शब्द लिखकर सूचित करते हैं कि यहाँ श्रीभुशुण्डीजी वक्ता हैं । [ 'सिय' नाम न देनेका कारण हम प्रारम्भमें दे आये हैं । यह माधुर्यका नाम है । अरण्यकांडसे ऐश्वर्य प्रधान है ]

टिप्पणी—१ 'करत चरित सुर मुनि सुखदायक' इति । यहाँ 'सुर मुनि' कहा और पूर्व प्रारंभसे 'सुर नर मुनि' तीनोंको कहते आए हैं; यथा "अब प्रभु चरित सुनहु अति पावन । करत जे बन सुर नर मुनि भावन', 'मुनिपदकमल नाइ करि सीसा । चले बनहिं सुर नर मुनि ईसा', 'सुर नर मुनि सबके भय बीते' । अतः यहाँ भी 'नर' शब्दका ग्रहण हुआ ।

[स्वामी प्रज्ञानानंदजीका मत है कि 'नर' शब्दका प्रयोग करनेसे इस वाक्यमें अति व्याप्ति हो जाती, कारण कि मनुष्यमात्रको भगवल्लीला-श्रवण प्रिय नहीं लगता । कितने ही उससे द्वेष रखते हैं । देवयोनि

भोग-योनि है, इससे देवताओंको भगवच्चरितसे लाभ उठानेका सामर्थ्य नहीं है। अतएव यहाँ 'सुर'=मृत्युलोकके वे जीव जिनको लीला-श्रवण अति प्रिय है। यथा 'सदा सुनहिं सादर नर नारी। ते सुर वर मानस अधिकारी।']

प० प० प्र०—'सुखदायक' अर्थात् जिनके श्रवण, कथन, गान और मननादिसे नित्य, शाश्वत, दुःखरहित सुखका लाभ हो जाय। यहाँ अवतारका एक मुख्य हेतु 'सुखदायक लीला' करना बताया। यथा 'गाइ गाइ भवनिधि नर तरहीं', 'कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं। ७.१२०।'

खरदूषणवध प्रकरण समाप्त हुआ

## 'जिमि सब मरम दसानन जाना'-प्रकरण

धुआँ देखि खरदूषन केरा। जाइ सुपनखा रावन प्रेरा ॥५॥
बोली बचन क्रोध करि भारी। देस कोस कै सुरति बिसारी ॥६॥
करसि पान सोवसि दिनु राती। सुधि नहिं तव सिर पर आराती ॥७॥

शब्दार्थ—धुआँ—धुर्रा, धज्जी, नाश, टुकड़े-टुकड़े होना।=मृतक शरीर—यह बुन्देलखण्डी भाषा है।—(रा० प्र०)। दीनजी इसे अवधी प्रयोग बताते हैं। क्रोधावेशमें आकर इस मुहावरेका प्रयोग लोग करते हैं कि हम तुम्हारा धुआँ (नाश) देखेंगे—(पं० रा० व० श०)। ☞ वाल्मी० २।६६।१८ में जो कहा है कि 'नरो यानेन यः स्वप्ने खरयुक्तेन याति हि। अचिरात्तस्य धूमाग्रं चितायां संप्रदृश्यते ।।' अर्थात् स्वप्नमें जो मनुष्य गधेपर सवार जाता देख पड़ता है, उसकी चितासे धुआँ उठता दिखाई पड़ता है। इससे भी 'धुआँ देखने' का अर्थ 'मरा हुआ' ही सिद्ध होता है। प्रेरणा=उस्काना, उत्तेजित करना।

अर्थ—खरदूषणका मरण देखकर शूर्पणखाने जाकर रावणको प्रेरित किया ॥५॥ बड़ा क्रोध करके (वह यह) वचन बोली—तूने देश और ख़ज़ानेकी सुधि भुला दी ॥६॥ मदिरा पी-पीकर रात-दिन सोया करता है। तुझे ख़बर नहीं कि शत्रु सिरपर आ गया ॥७॥

टिप्पणी—१ 'बोली बचन क्रोध करि भारी' इति। शूर्पणखा खरदूषणसे क्रोधपूर्वक बोली थी, यथा "धिग धिग तव पौरुष बल भ्राता" और यहाँ "भारी क्रोध" करके बोली। २-'देस कोस कै सुरति बिसारी' का भाव कि शत्रुने तेरा देश 'जनस्थान' दबा ही लिया, अब कोश भी लेगा। देश-कोशकी खबर न लेते रहना, बेख़बर या निश्चिन्त रहना कि हमारा कोई क्या कर सकता है, हमने तो इन्द्रतकको पकड़कर बाँध लिया, और शत्रुकी ख़बरदारी न रखना यह सब नीतिके विरुद्ध है, इसीसे आगे नीति कहती है।

३ खर्रा—शूर्पणखा बहिन है, इससे उसके द्वारा धर्म्मोपदेश होना उचित है। वाल्मीकीयमें इसका प्रमाण है। कैकयीके वर माँगनेपर महाराज दशरथने कहा है कि रामको वन देकर मैं कौसल्याको क्या उत्तर दूँगा कि जिसने हमें माता, स्त्री और भगिनीके समान सुख दिया है—धर्म्मोपदेशमें वह बहिन-की-सी है। यथा 'यदा यदा च कौसल्या दासीव च सखीव च ॥६८॥ भार्यावद्भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति। सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा ॥६९॥'—(वाल्मी० २.१२)।

वै०—कोशमें जनस्थान ख़ाली हुआ।

राज नीति-बिनु धनु बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा ॥८॥
बिद्या बिनु बिबेक उपजाए। श्रम फल पढ़े किए अरु पाए ॥९॥
संग ते जती कुमंत्र तें राजा। मान तें ज्ञान पान तें लाजा ॥१०॥
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी ॥११॥

सोरठा—रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि ।
अस कहि बिबिध बिलाप करि लागी रोदन करन ॥२१॥

शब्दार्थ—'प्रनय'--प्रणय प्रीतिका आदि अंग है, यथा 'प्रणय प्रेम आसक्ति पुनि लगन लाग अनुराग । नेह सहित सब प्रीतिके जानव अंग बिभाग ।', 'मम तव तव मम प्रणय यह प्रीति निरंतर होइ ।'—(वै०) । प्रणय =प्रीतियुक्त प्रार्थना, नम्रता, विश्वास । सौहार्द परिचय अर्थात् जिसके साथ प्रीति करे उसमें और अपनेमें अभेद समझना ऐसे प्रेमको 'प्रणय' कहते हैं—(पं० रा० व० श०) । जती (यती)=जो मोक्षके लिए यत्न करे, घर बार धन सब छोड़ दे । संग = विषयोंमें आसक्ति । मान = गर्व, अभिमान, प्रतिष्ठा ।

अर्थ—नीतिके बिना राज्य, धर्मके विना धन ( की प्राप्ति ) का, हरिको विना समर्पण किये हुये सत्-कर्मोंके करनेका ॥८॥ और विना विवेक उत्पन्न कराये हुए (अर्थात् विद्या पढ़नेसे ज्ञान उत्पन्न न हुआ तो उस) विद्याके पढ़नेका फल श्रममात्र है । अर्थात् ये सब व्यर्थ हैं ॥९॥ संगसे संन्यासी, बुरी सलाहसे राजा, मानसे ज्ञान, मदिरा पान करनेसे लज्जा, बिना प्रणयकी प्रीति और मदसे गुणवानका शीघ्र नाश होता है—ऐसी नीति सुनी है ॥१०-११॥ शत्रु , रोग, अग्नि, पाप, समर्थ (स्वामी), और सर्प इनको छोटा करके न समझना चाहिए । — ऐसा कहकर वह अनेक प्रकारसे विलाप करती हुई रोने लगी ॥२१॥

नोट—१ 'राज नीति बिनु' 'नासहिं बेगि' ' से मिलते हुए श्लोक भर्तृहरिनीतिशतकमें यह हैं = 'दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः संगात्सुतोलालनात् । विप्रोऽनध्ययनात्कुलंकुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ॥ ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रयात् । मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागात प्रमादाद्धनम् ॥ इति भर्तृहरिः नीति ४१ ।' अर्थात् बुरी सलाहसे राजा, लगावसे संन्यासी, लाड़प्यारसे बेटा, न पढ़नेसे ब्राह्मण, बुरी बेटीसे कुल, खलोंके संगसे चरित्र, मदिरासे लज्जा, देखभाल न करनेसे खेती, विदेशमें रहनेसे स्नेह, प्रणयके अभावसे मैत्री, अन्यायसे ऐश्वर्य, प्रमाद (मन-मुखी-त्याग) से धन नष्ट हो जाता है ।

टिप्पणी—१ ( क ) 'राज नीति बिनु' इति । नीति न जाननेसे, नीतिविरुद्ध करनेसे प्राप्त राज्य भी हाथसे निकल जाता है । यथा 'राजु कि रहइ नीति बिनु जानें । ७.११२ ।' 'दौर्मन्त्र्यान्नृपति विनश्यति ।' (भर्तृहरि) । ( ख ) [नीतिके अनेक अंग हैं । उनमेंसे मुख्य है, देशका बराबर क्षण-क्षणका हाल जानना । इनमें रावणकी असावधानता देखी गई कि सारा जनस्थान विनष्ट हो गया, वह देश हाथसे निकल गया, सब राक्षस सुभट मारे गए और रावणको खबर भी न हुई । वाल्मी० ३.३३ पूरे सर्गमें शूर्पणखाकी डाँट-फटकार है । उसने कहा है कि जिस राजाके गुप्त चर, कोष और नीति उसके अधीन नहीं रहते वह सामान्य मनुष्य हो जाता है । तुम मदिरा पिये स्त्रियोंमें आसक्त रहते हो, तुम्हारे नीतिरूप नेत्र नहीं हैं, इसीसे तुम्हें खबर नहीं कि तुम्हारा जन-स्थान विनष्ट हो गया । यथा 'येषां चाराश्च कोशश्च नयश्च जयतां वर । अस्वाधीनता नरेन्द्राणां प्राकृतैस्ते जनैः समाः । ६ ।' पुनश्च अध्यात्मे; यथा 'पानासक्तः स्त्रीविजितः'''। चारचक्षुर्विहीनस्त्वं कथं राजा भविष्यति ।४२।'''जनस्थानमशेषेण मुनीनां निर्भयं कृतम् । न जानासि विमूढस्त्वमत एव मयोच्यते ।४४।' (३.५) ।—ये सब 'राज नीति बिनु' में आ गए । प्रस्तुत प्रसंग नीतिका है अतः नीति ही से उपदेशका आरंभ हुआ ।] (ग) "धन बिनु धर्मा" इति । धन प्राप्त है पर यदि उसे धर्ममें न लगाया तो उस धनका होना न होना बराबर है । उस धनकी प्राप्तिमें जो श्रम हुआ वह व्यर्थ ही समझना चाहिए । यदि धन धर्ममें लग गया तो उसकी प्राप्तिका श्रम सफल है, वही धन धन्य है । यथा "सो धन धन्य प्रथम गति जाकी । ७-१२७.७।"

नोट—२ 'हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा' इति । सत्कर्म करके उनको भगवान्को अर्पण करना चाहिए। ☞ स्मरण रहे कि संपूर्ण कर्म मनुष्यके जन्ममरणरूप संसारके कारण हैं; पर यदि वे ही कर्म भगवदर्पण कर दिये जायँ तो वे कर्म आप ही अपने नाशके कारण हो जाते हैं अर्थात् फिर उन कर्मोंका फल नहीं भोगना पड़ता । ईश्वरार्पणबुद्धिसे रहित कर्म कभी भी शोभित नहीं हो सकता । कर्मोंके समर्पित कर देनेसे

वे मानत्रय की औषधि हो जाते हैं। यथा 'एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः। त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे। ३४।', 'कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ।१२।', '...ब्रह्मांस्तापत्रयचिकित्सितम्। यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम् । ३२ ।'—(भा० १.५)। भा० ३.९ में ब्रह्माजीके वाक्य हैं कि भगवानको अर्पण किया धर्म कभी क्षीण नहीं होता, यथा 'धर्मोऽर्पितः कर्हिचिद् म्रियते न यत्र ।१३।'; अतः कहा कि 'हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा। श्रम फल किएँ'। भा० १२.१२.५२ में भी कहा है कि जो कर्म भगवान्को अर्पण नहीं किया जाता, वह चाहे कितना ही ऊँचा क्यों न हो, सर्वदा अमङ्गलरूप और दुःख देनेवाला ही है वह शोभन हो ही कैसे सकता है ? ये सूतजीके वचन हैं। यथा 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्। कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यनुत्तमम् ॥'

श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षितसे भा० २.४ में कहा है कि बड़े-बड़े तपस्वी, दानी, कीर्तिमान्, मनस्वी और सदाचारपरायण मंत्रवेत्ता भी अपने-अपने कर्मोंको अर्पण किये विना कल्याण प्राप्त नहीं कर सकते। यथा 'तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः। क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥१७॥' गीतामें भगवान्के 'चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।...१८.५७।' से भी यही आशय निकलता है। इसीसे तो मानसमें राजा भानुप्रतापके संबंधमें कहा कि 'करै जे धरम करम मन बानी। बासुदेव अर्पित नृप ज्ञानी। १।१५६।' ☞ अतएव प्रत्येक हिन्दू क्या मनुष्यमात्रको सब कर्मोंको समर्पण करते रहना उचित है। इससे लोक परलोक दोनों बनेंगे।

टिप्पणी—२ (क) 'हरिहि समर्पे...' इति। जो बिंबमें क्रिया होती है वही प्रतिबिम्बमें होती है। ईश्वर बिम्ब है। बिना ईश्वरके अर्पण किए उसका फल जीवमें नहीं आप्राप्त हो सकता। सत्कर्मोंको हरिको समर्पण करना चाहिए। यथा 'क्लेश भूर्य्यल्पसाराणि कर्माणि विफलानि वा। देहिनां विषयार्त्तानां न तथैवार्पितं त्वयि' इति भागवते अष्टमे (अ०५।४७) (ख) 'बिद्या बिनु बिबेक उपजाए। श्रम फल पढ़े' इति। 'उपजाए' शब्दसे यह रूपक बना कि विद्यारूपिणी स्त्रीसे विवेकरूप पुत्र उत्पन्न किये बिना श्रम ही फल है। जैसे वंध्या (बांझ स्त्री) में पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता, उससे पुत्रकी चाह करनेमें श्रममात्र होगा, वैसे ही विवेक न हुआ तो विद्या बांझ सरीखी है। विद्याका पढ़ना व्यर्थ हुआ। (ग) 'धन बिनु धर्मा' से कर्मकाण्ड, 'हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा' से उपासना कांड और 'बिद्या बिनु बिबेक उपजाए' से ज्ञानकांड कहा। ज्ञान उत्पन्न हुआ तब विद्याका फल है। (घ) 'श्रम फल पढ़े किये अरु पाये' इति। यहाँ 'प्रथम विनोक्ति' अलंकार है। एकएकके बिना एकएककी न्यूनता कथनकी है। राज्य, धन, सत्कर्म और विद्या चार वस्तुएँ कहकर फिर कहा है कि यदि इनके साथ ये चार गुण न हों तो विद्याका पढ़ना, सत्कर्मका करना, धन और राज्यका पाना केवल श्रममात्र है। (यहाँ पूर्वोक्त वर्ण्य) वस्तुओंका क्रम पलट कर अर्थात् विपरीत क्रमसे वर्णन हुआ है, यह भी 'यथासंख्य अलंकार' है और इसको 'विपरीत क्रमालंकार' भी कहते हैं। यहाँ 'पढ़े', 'किये' और 'पाए' को क्रमशः 'विद्या', 'सत्कर्म', 'धन', 'राज्य' के साथ लगाकर अर्थ करना होगा।)

नोट—३ 'संग ते जती' इति। 'संग' = आसक्ति। आसक्तिसे काम उत्पन्न होता है। आसक्तिकी परिपक्वावस्थाका नाम काम है। जिस दशाको प्राप्त होकर मनुष्य विषयोंका भोग किये बिना रह नहीं सकता, वह दशा "काम" है। काम बना रहे और कामनानुसार विषयोंकी प्राप्ति न हो तो उस समय पास रहनेवाले पुरुषोंपर क्रोध होता है कि इन लोगोंके द्वारा हमारा अभीष्ट विषय नष्ट कर दिया गया। क्रोधसे कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विवेक नहीं रह जाता। उसके कारण मनुष्य सब कुछ कर डालता है। उससे फिर इन्द्रिय-जय आदिके लिए प्रारम्भ किए हुए प्रयत्नकी स्मृति नष्ट हो जाती है। स्मृतिके नाशसे आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए जो निश्चय किया था उसका अर्थात् बुद्धिका नाश हो जाता है, जिससे जीव संसार-सागरमें डूबकर नष्ट हो जाता है। "संग" सबका मूल है। इसीसे कहा कि संगसे यतमान पुरुषका नाश होता है। गीतामें भग-

वान्ने यही कहा है—'सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥ क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥ गीता अ० २ ।' [ यहाँ 'यती' शब्द परमार्थ-साधकके अर्थमें है । ( प० प० प्र० ) ]

नोट—४ 'कुमंत्र ते राजा' इति । कुमंत्रसे राजाका नाश होता है—'दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति' इति भर्तृहरे (पूर्वोक्त), 'सचिव बैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस । राज धर्म तन तीन कर होइ बेगि ही नास । ५।३७।' रावणको मंत्रियोंने भयसे ठीक सलाह न दी, इसीसे उसका नाश हुआ । प्रहस्तने कहा कि 'कहहिं सचिव सब ठकुरसोहाती । नाथ न पूर आव एहि भाँती । ···सुनत नीक आगे दुख पावा । सचिवन्ह अस मत प्रभुहि सुनावा । ६।८।'

५ 'मान ते ज्ञान' इति । ज्ञानमें एक भी मान न चाहिए, मानसे ज्ञानका नाश होता है । 'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं । १५।७।' देखिए । रावणको बड़ा अहंकार है कि मेरे समान कोई नहीं है, इसीसे उसका ज्ञान नष्ट हो गया । रावणको मान है, यथा 'परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस । ५।३९।' (विभीषण-वाक्य), 'की तजि मान···५।५६।' (लक्ष्मणवाक्य), 'तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू । मुधा मान ममता मद बहहू । ६।३६।' (मंदोदरीवाक्य) । उसका ज्ञान जाता रहा; यथा 'पियहि काल बस मति भ्रम भयऊ । ६।१६।', 'काल बिबस मन उपज न बोधा ।···तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं । लं० ३६।'

टिप्पणी—३ 'पान ते लाजा' अर्थात् मदिरा पीनेसे लज्जा जाती रहती है । प्रथम उसने यह कहा कि 'करसि पान सोवसि दिन राती' और फिर यहाँ 'पान ते लाजा' यह नीति कहकर जनाया कि तू निर्लज्ज हो गया है, मेरी यह दुर्गति हुई तो भी तुझे लज्जा नहीं । यथा 'सूपनखा कै गति तुम्ह देखी । तदपि हृदय नहिं लाज बिसेषी । ६।३५ ।'

वै०, रा० प्र० श०—'प्रीति प्रनय बिनु' इति । प्रीतिके आठ अंग हैं जिनमेंसे एक 'प्रणय' है । इन आठोंके अलग-अलग भेद हैं । प्रणय—'मम तव तव मम प्रणय यह'—मैं तुम्हारा हूँ तुम हमारे हो, मेरा तुम्हारा है, तुम्हारा मेरा है—यही प्रणय है । लंका छोड़ते समय विभीषणजीने भगवान्से कहा है कि—'देस कोस मंदिर संपदा । देहु कृपालु कपिन्ह कहँ मुदा । सब बिधि नाथ मोहि अपनाइय' । इसपर भगवान्ने कहा कि—'तोर कोस गृह मोर सब' अर्थात् तेरा कोश, गृह, सब कुछ मेरा है—यह प्रणय है । जबतक यह बातें नहीं हैं, प्रीति न रहेगी ।

नोट—६ वैष्णवरत्न स्वामी श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसादजी (रूपकला) 'आदर्श हिन्दू परिवार' शीर्षक लेखमें लिखते हैं—'प्रेमको सर्वोच्च भावोंसे पूर्ण बनानेके लिए उसमें विनयका समावेश होना चाहिए । प्रत्येक प्राणी किसी न किसी अंशमें आदरका पात्र है । केवल इसलिए कि वह मनुष्य है, ईश्वर उसे प्यार करता है और वह ईश्वरसे प्रेम करनेकी क्षमता रखता है । परन्तु जिन्हें हम सबसे अधिक प्यार करते हैं उनका सम्मान भी हम अवश्य उतना ही करते हैं । श्रीलक्ष्मणजी कितने गंभीर भावसे श्रीरामभद्रका अदब करते थे । वे उनके चरणचिह्नपर भी लात नहीं रखते थे—'सीयरामपद-अंक बराए । लखन चलहिं मगु दाहिन लाए ।' भगवती सीताजी पतिको ईश्वरसमान पूजती थीं और उनकी पतिभक्तिमें माधुर्य और पवित्रताका समावेश ऐसा हुआ था कि उनका चित्र और चरित्र सर्वतोभावसे नितान्त अनुपम प्रमाणित हुआ । पूज्यबुद्धि और प्रेमभावतत्त्व तभी चरितार्थ होगा जब हम अपने पूज्य और प्रेमपात्रको कभी भी स्वार्थसिद्धिका साधन न बनानेकी प्रतिज्ञा करें, हम उसके दर्शनका प्रतिफल भी उसीको समझें अर्थात् हमें तत्सुखभावना रखनी चाहिए और स्वसुख होनेकी क्षुद्रवासनाको निकाल देनी चाहिए । जो पति अपनी प्रियतमाको कामपिपासा शान्त करनेकी वस्तु या संतान उत्पन्न करने या गृहपरिचर्याका मुख्य साधन समझता है वह पतिके पवित्र नामको धारण करनेकी योग्यता नहीं रखता । इसी तरह वह भार्या भी पत्नी कहलाने योग्य नहीं है जो पतिको केवल रोटी लूगा देनेवाला और संतानका पालन-पोषण करनेवाला सम-

करती हो। सच्चा हिन्दू पति जिसने श्रीरामायण अच्छी तरह पढ़ी है अपनी भार्याको केवल उसी रामायणी आदर्शभावसे प्यार करेगा, क्योंकि वह अपनी प्रियतमा पत्नीको अपनेसे भिन्न कदापि नहीं समझता है। उसी तरह प्रीति, प्रतीति और पवित्रतामयी सच्ची हिंदूपत्नी भी अपने पतिको उसी आदर्शसे प्यार करेगी, क्योंकि कमसे कम उसकी दृष्टिमें मनुष्योंमें वह देवता तो अवश्य है। इस प्रकार प्यार करना भक्तिपूर्वक प्यार करना कहलाता है। परन्तु वह प्रेम जो चरितार्थ न हुआ या जिसका सेवा-धर्ममें विकास न हुआ वन या निर्गन्ध पुष्पके सदृश है। ऐसा प्रेम धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है और एक दिन उसका सर्वथा ह्रास हो जाता है। केवल संस्कारमात्र सूक्ष्मरूपमें रह जाता है। इसीसे कहा है कि 'प्रीति प्रनयबिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति अस सुनी।'

प्रेमकी सजीवता जाती रहती है यदि प्रेमी प्रियतमपर अपने आपको वार देनेकी प्रबल इच्छा न प्रदर्शित करे। साधारण अहर्निशिके मामूली व्यवहारमें भी अपने सुखको, अपने आरामको, अपने स्वत्वको दूसरेके लिये अर्पण करनेकी सदा चेष्टा करना ही सजीव प्रेम है।

वह उसी तरहका प्रेम था जिसे लक्ष्मणकुमारने उस समय प्रदर्शित किया जब एक दिन महान् कष्ट उठानेके पीछे भाई और भाभीके विश्रामस्थलकी उन्होंने रातभर जागकर पहरा दी। और वह भी इसी प्रकार का प्रेम था जिसकी प्रेरणासे श्रीरामभद्रने भगवती सीता और लक्ष्मणकुमारके व्याकुल मनको बहलानेके लिये तरह-तरहकी आख्यायिकाएँ कही थीं।

☞ मित्रके यहाँ जाकर भी उससे विदा माँगकर लौटना भी प्रीतिका प्रणय अंग है। दोहा १.४८. ५-६, भाग २ पृष्ठ ४६ देखिए।

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—१ "नीति अस सुनी" इति। शूर्पणखा रावणको नीतिके सिद्धान्त तो सुना रही है पर यह सब उपदेश शुद्ध भावसे रावणका हित करनेके लिये नहीं है किन्तु डाह बुद्धिसे है। नीति सुनाती है पर जो वचन आगे कहेगी वह केवल इसलिये कि रावण अनीति और महत्पाप परदारापहरण करनेको प्रवृत्त हो जाय।—"पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे"। रावणकी भी ऐसी ही स्थिति है; यथा "तिन्हहिं ज्ञान उपदेसा रावन। आपन मंद कथा सुभ पावन।" (गौड़जीका नोट २२ (८) में देखिए)।

२ शूर्पणखाके इन वचनोंसे इतना तो सिद्ध होता ही है कि क्रूर मायाविनी राक्षसी होकर भी उसने राजनीति, धर्मनीति इत्यादिका पर्याप्त श्रवण किया है। भले ही शब्दज्ञान ही क्यों न हो, तथापि "को कालः फलदायकः" यह कोई जानता नहीं। इसलिए शब्दज्ञानरूपी बीज बोना और उस शास्त्रज्ञानरूपी वृक्षका पालन-पोषण करना ही चाहिए। पर आज जो दशा है वह शोचनीय हो रही है।

टिप्पणी—४ (क) 'नीति अस सुनी'। 'सुनी' से जनाया कि पढ़ी लिखी नहीं है, इसीसे सुनी हुई कहती है। (ख) 'रिपु रुज पावक' इति। आते ही प्रथम कहा था कि 'सुधि नहिं तव सिर पर आराती', इसीसे यहाँ प्रथम 'रिपु' को गिनाया। इसीसे यहाँ प्रयोजन भी है और तो उदाहरण मात्र हैं। (ग) 'गनिय न छोट करि'। भाव कि राम लक्ष्मण दोनों देखनेमें छोटे हैं। उनकी छोटी अवस्थापर न भूल जाना।

नोट—७ बाबा हरीदासजी 'राज नीति बिनु' से लेकर 'गनिय न छोट करि' में आई हुई सब बातोंको रावणमें घटाते हैं। वे पहले इस दोहेको लेते हैं। 'रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि०' इति। रिपु तुम्हारे सब देवता हैं। वे श्रीराम-लक्ष्मणको सहायक पाकर इस अवसरपर बली हुए हैं। वानररूपसे वे प्रबल हैं जिनको तुमने छोटा मान रक्खा है। तुम्हारे शरीरसे तुम्हारे पुत्र नाती आदि जो उत्पन्न हुए वे कुमार्गी तुम्हारे शरीरके रोग हैं (रावणको कालरूप रोगने घेरा है। उसके मंत्री उसे कुमंत्ररूपी कुपथ्य देकर नाश करना चाहते हैं। मंदोदरीने कहा है—'निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं। ३.३६।', विभीषणजीने भी कहा है 'सभा काल बस तोरि')। विभीषण वैद्यरूप हैं। उनका सम्मत औषधरूप है। तुम

उसका निरादर करते हो, अतः तुम्हारा नाश होगा। हनुमान्जी ग्यारहवें रुद्र पावक-रूप हैं जिन्होंने बाल्यावस्थामें ही सूर्यके तेजको मंद कर दिया। उनको वैष्णव जानकर तुमने उनका पूजन न किया; दश रुद्रोंका किया। वे पावकमें अपना तेज प्रकट कर तुम्हारे नगरको जला देंगे। जीवहिंसा बड़ा भारी पाप है। तुमने जो मुनियोंको मार-मारकर खाया है वह सब पाप तुम्हारे नाशके लिये उदय हुआ है। तुमने अहि (शेषजी) का अनादर किया, वे धरणीधर हैं। तुम पृथ्वीपर भाररूप हुए, अतः वे लक्ष्मणरूपसे महिभार हरण करनेके लिये प्रकट हुए हैं। नाशके यह छः हेतु कहकर वह विलाप करने लगी। शूर्पणखाको लक्ष्मणजीके स्पर्शमात्रसे यह दिव्य ज्ञान उत्पन्न हो गया।

अब चौपाइयोंको लेते हैं। 'राज नीति बिनु'—भाव कि नीतिका मुख्य अंग है देशका बराबर क्षण-क्षणका हाल जानना, पर सारा जनस्थान विनष्ट हो गया और तुझे खबर भी नहीं। तब राजनीति तेरी रक्षा कब करेगी। 'धन बिनु धर्म' अर्थात् तू समझता है कि लंका सोने की है, पारसमणियोंकी कोठी भरी है, धन हमारी रक्षा करेगा। पर यह नहीं होनेका, क्योंकि तेरा धन धर्ममें नहीं लगा और सब अधर्मका कमाया हुआ है। अतः वह रक्षा न करेगा और लंका भस्मसात हो जावेगी। 'हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा' का भाव कि यदि कहो कि हमने बहुत सत्कर्म किये हैं वह रक्षा करेंगे, सो भी नहीं क्योंकि तेरे सत्कर्म हरिको समर्पण नहीं किये गए। 'बिद्या बिनु बिबेक उपजाए' का भाव कि यदि कहो कि हमने वेदोंपर भाष्य किया है विद्याबलसे हमारी रक्षा होगी, सो भी नहीं क्योंकि विद्या होती है ईश्वरको जाननेके लिये, तूने ईश्वरको जाना नहीं, अतः वह व्यर्थ हुई, रक्षा न करेगी। 'संग ते जती' का भाव कि यदि कहो कि हमने शिवजीको सिर चढ़ाकर कालको जीता है, यह यतीका काम किया है। अतः काल हमें नहीं जीत सकता। सो यह भी नहीं होनेका क्योंकि तुम्हारा मन विषयोंमें आसक्त होनेसे तुम योगभ्रष्ट हो। 'कुमंत्र ते राजा' का भाव कि तुम्हारे मंत्री कुमंत्री हैं अतः तुम्हारा नाश होगा। 'मान ते ज्ञान' का भाव कि तुम्हें बहुत अभिमान है अतः तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई, ज्ञान जाता रहा। इससे ज्ञान तुम्हारी रक्षा न करेगा। 'पान ते लाजा' का भाव कि निर्लज्जकी रक्षा कोई नहीं करता। तू मदिरा पान कर निर्लज्ज हो गया है। अपने भाई कुबेरकी पुत्रवधू उर्वशीके साथ तूने बलात्कार किया तब लज्जा कहाँ रह गई। 'प्रीति प्रनय बिनु' का भाव कि तू सोचता है कि मेरे मित्र मेरी रक्षा करेंगे पर तू कटुवादी है, तुझमें नम्रता है ही नहीं, अतएव वे भी तेरी सहायता न करेंगे। 'मद ते गुनी' का भाव कि तुमको राज्यमद है, इससे तुममें जो भी गुण हैं वे सब नष्ट हो गए। अंगदने कहा ही है—'धर्महीन प्रभु पद-बिमुख कालबिबस दससीस। तेहि परिहरि गुन आए सुनहु कोसलाधीस। ६.३७।'

यहाँ शूर्पणखाने सोलह बातें कहकर समझाया। कारण कि जीवोंमें सोलह कलाके तेजस्वी होते हैं। देवताओं और ईश्वरमें अनंत कलाएँ हैं। सोलह कहकर जनाया कि तेरी सब कलायें क्षीण हो गई हैं। ( शिला )।

नोट—८ चौपाइयों ( 'राजनीति' से 'नीति असि सुनी' तक ) में राजा ही वर्ण्य विषय है, शेष सब अवर्ण्य हैं, केवल लोक-शिक्षार्थ सबका धर्म एक ही होनेसे कह दिये गए। कारण भिन्न-भिन्न हैं, 'नासहिं' धर्म सबका एक है। इसी तरह सोरठामें 'रिपु' वर्ण्य है, रुज पावक पाप आदि अवर्ण्य हैं। सबका एक ही धर्म 'गनिय न छोट करि' होनेसे वे भी कह दिए गए। अतः दोनों जगह 'दीपक अलंकार' हुआ। (वीर)।

दोहा—सभा माँझ परि ब्याकुल बहु प्रकार कह रोइ।
तोहि जियत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ ॥२१॥

अर्थ—सभाके बीचमें व्याकुल पड़ी हुई बहुत प्रकारसे रो-रो-कर शूर्पणखा कह रही है कि अरे दसकंधर! तेरे जीतेजी क्या मेरी ऐसी दशा होनी चाहिए ॥२१॥

नोट—१ भाव यह है कि तुझ ऐसे विश्वविजयी भ्राताके जीवित रहते हुए कोई मेरे नाक-कान काट कर स्वच्छन्द सुखपूर्वक जीता रहे, यह न होना चाहिए, तेरे रहते मेरी दशा अनाथ विधवाकी-सी न होनी चाहिए। आशय कि तू चलकर उनसे जूझ, लड़कर उन्हें जीत जिससे मेरी छाती ठंढी हो या मर जा।

प० प० प्र०—स्त्री-जाति जब प्रबल हो जाती है तब स्त्री-मायाका फैलाना उनके बाएँ हाथका खेल-सा है। उनका रुदन, उनका विलाप वीरोंके हृदयको भी द्रवीभूत कर देता है। यथा 'तब कुबरी तिय माया ठानी।' देखिए 'नारिचरित जलनिधि अवगाहू। २.२७.६।' से 'मागि मकु लेहू। २.२८.३।' तक। नारि-चरित्र का एक नमूना (सतीजी) बालकांडमें, दो नमूने (मंथरा और कैकेयी) अयोध्यामें और एक (शूर्पणखा) अरण्यकांडमें है। इनमेंसे सतीजी सत्वप्रधान, मंथरा रजः प्रधान तम और कैकेयी सत्वप्रधान-तमोगुणी हैं। (२) इनसे विरुद्ध नमूने भी मानसमें अनेक हैं, जैसे, बालमें श्रीकौसल्या, सुमित्रा और कैकेयीजी, अयोध्या और सुंदरमें श्रीसीताजी, अरण्यमें अनुसूयाजी, किष्किंधामें तारा और लंकामें मन्दोदरी, इत्यादि।

नोट—२ 'दसकंधर' सम्बोधन करके जनाती है कि तेरे तो दश शिर हैं, तेरे रहते एक शिरवालेने मेरी यह दुर्दशा कर दी। ३ 'असि' से ऐसा भी भाव कहते हैं कि अभीतक मुँहपर कपड़ा ढाँपे हुए थी, अब मुँह खोलकर इशारा करके, दिखाकर कहती है कि ऐसी दुर्दशा मेरी हो। मुँह छिपाये न होती तो अबतक रावण चुप न बैठा रहता।

सुनत सभासद उठे अकुलाई। समुझाई गहि बाँह उठाई ॥१॥
कह लंकेस कहसि निज बाता। केइ तव नासा कान निपाता ॥२॥

अर्थ—यह सुनते ही सभासद अकुलाकर उठे, उसे समझाया और बाँह पकड़कर उसे उठाया ॥१॥ लंकापति रावणने कहा कि अपनी बात तो कह कि किसने तेरे नाक-कान काट लिए ॥२॥

टिप्पणी—१ (क) 'अकुलाई'। क्योंकि त्रैलोक्यविजयीकी बहिनके नाक-कान काटनेवाला कोई साधारण पुरुष नहीं हो सकता। सभी रावणसे काँपते हैं, ऐसा कौन करेगा? अवश्य कोई असाधारण पुरुष है। (ख) 'समुझाई गहि बाँह उठाई'। समझाया, बाँह पकड़कर उठाया, अर्थात् इतना करनेपर तब उठी, नहीं तो उठती ही न थी। (ग) इस कथनसे कवि जनाते हैं कि राक्षसोंमें मर्यादाका विचार बहुत कम है। सब लोकोंके राजा रावणकी बहिन होकर भी यह स्वतंत्र वनमें विचरण करती हुई श्रीरामजीसे कामकी वार्ता करने लगी, और यहाँ आकर सभाके बीचमें पड़ी है, सभासदोंने हाथ पकड़कर उठाया।

२ (क)—'कह लंकेस'। लंकाका राजा है, राजा नीतिज्ञ होते हैं, नीतिको मानते हैं, अतः नीतिको सुनकर उसे ग्रहणकर पूछा। इसीसे 'लंकेश' कहा। (ख) 'निज बाता' का भाव कि अभीतक और सब इधर उधरकी कही पर अपनी बात जरा भी न बतायी। (ग) सभासदोंके समझानेसे न समझी तब रावणने स्वयं समझाया और पूछा। इसीको प्रेरित करने आई थी—'जाइ सूपनखा रावन प्रेरा।२१.५।'; इसीसे इसके पूछनेपर कहेगी।

अवधनृपति दसरथ के जाए। पुरुषसिंघ बन खेलन आए ॥३॥
समुझि परी मोहि उन्ह कै करनी। रहित निसाचर करिहहिं धरनी ॥४॥
जिन्ह कर भुजबल पाइ दसानन। अभय भए बिचरत मुनि कानन ॥५॥
देखत बालक काल समाना। परम धीर धन्वी गुन नाना ॥६॥
अतुलित बल प्रताप द्वौ भ्राता। खलबधरत सुरमुनि-सुखदाता ॥७॥

अर्थ—अवधके राजा दशरथके पुत्र जो पुरुषोंमें सिंहवत् हैं वनमें शिकार खेलने आए हैं ॥३॥ मुझे उनकी करनी (यह) समझ पड़ी है कि वे पृथ्वीको निशिचरहीन कर देंगे ॥४॥ जिनकी भुजाओंका बल पाकर

हे दशमुख ! वनमें मुनि लोग निर्भय होकर विचर रहे हैं ॥५॥ देखनेमें ( तो वे ) बालक हैं पर हैं कालके सदृश । परम धीर, धनुर्विद्यामें निपुण और अनेक गुणयुक्त हैं ॥६॥ दोनों भाइयोंमें अतोल बल और प्रताप हैं । वे खलोंके वधमें तत्पर हैं, देवता और मुनियोंको सुख देनेवाले हैं ॥७॥

टिप्पणी १ (क) 'अवधनृपति दसरथके जाये' यह कैसे जाना ? लक्ष्मणजीके वचनसे । यथा 'प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा । १७.१४।' इस प्रसंगसे उसने इन्हें दशरथपुत्र कहा । (ख) 'पुरुषसिंघ बन खेलन आए' और 'रहित निसाचर करिहहिं धरनी' से जनाया कि उसने श्रीरामजीका उत्तर, जो खरदूषणको उन्होंने भेजा था, सुना है; यथा 'हम छत्री मृगया बन करहीं । तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं । १९.६।' इससे और खरदूषणादिके नाशको समझकर उसने कहा कि निशिचररहित कर देंगे । "रहित निसाचर करिहहिं" अर्थात् पृथ्वीका भार उतारेंगे । (ग) इस प्रसंगमें "पुरुषसिंघ···" से रावण और कुम्भकर्ण दोनोंका ( दोनोंके पूर्व जन्मका ) प्रसंग निकलता है । पूर्व जन्ममें जब रावण हिरण्यकश्यप था तब जो पुरुष (नर) सिंह हो अवतीर्ण हुए थे वे ही अब नृपतिरूपमें हैं । पुनः, जो वन खेलनेवाले शूकररूप अवतीर्ण हुए थे वे ही नृपतिरूप होकर आये । पहले वन ( = जल) में शूकररूपसे खेले, अब वन (जंगल) में खेलने आये । वनमें खेलनेसे शेष लक्ष्मणजी भी साथ आए हैं । (खर्रा) ।

नोट—१ अ० दी० कार शंका करते हैं कि "शूर्पणखाने श्रीरघुनाथजीसे तो छलयुक्त बातें कीं । यथा—'अब लगि रहिउँ कुमारी' इत्यादि । पर रावणके समीप उसने कपटरहित बात कही कि 'रहित निसाचर करिहहिं धरनी' । यह क्यों ?" और उसका समाधान यह करते हैं कि लक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य हैं । उनके हाथकी तलवारसे वह अंकित हुई । ☞ इस स्पर्शसे उसकी पूर्वकी छलबुद्धि जाती रही ।

२ 'पुरुषसिंघ बन खेलन आए' इति । वह उन्हींको सिंह समझती है और सबको नामर्द समझती है । इस शब्द (पुरुषसिंह) को देकर गोस्वामीजीने स्त्रीके उस मनोभावका अच्छा प्रदर्शन किया है जिस मनोभाव से स्त्री किसी पुरुषपर आसक्त होती है । अर्थात् इस पुरुषके सिवा उसे संसार भरमें कोई पुरुष ही नहीं दिखाई पड़ता । खेलन = सैर करने । (दीनजी) ।

३ 'पुरुषसिंह' का रूपक इस प्रकार है । रणस्थलमें उनका अवस्थान करना ही संधि और थाल हैं । रणकुशल राक्षस गजेन्द्र हैं जिनको यह नर-सिंह मारनेवाला है । शर ही इसके अंग हैं जिससे यह पूर्ण है । तीक्ष्ण अग्नि ही इसके दाँत हैं । यथा 'असौ रणान्तः स्थितिसंधिवालो विदग्धरक्षोमृगहा नृसिंहः । सुप्तस्त्वया बोधयितुं न शक्यः शराङ्गपूर्णो निशितासिदंष्ट्रः ॥ वाल्मी० ३.३१.४७।' यह मारीचने रावणसे कहा है । यह सब भाव 'पुरुषसिंह' से जना दिया है ।

टिप्पणी—२ (क) 'जिन्हकर भुज बल पाइ···'; यथा 'जब ते राम कीन्ह तहँ बासा । सुखी भए मुनि बीती त्रासा ॥१४।१।' (ख) 'देखत बालक काल समाना ।'; यथा 'मुनिपालक खल सालक बालक ।१६।११।' यहाँतक श्रीरामजीका उत्तर सुना हुआ कहा । और, 'परम धीर धन्वी गुन नाना' यह अपने आँखों (युद्धमें) देखी कही । प्रभुने जो खरदूषणको उत्तर दिया था वह और युद्धका पराक्रम इसके हृदयमें बिंध गया है । वही सब कह रही है । 'परम धीर' क्योंकि सेनासे घिरनेपर भी हँसते ही रहे ।

**सोभाधाम राम अस नामा । तिन्ह के संग नारि एक स्यामा ॥८॥**
**रूपरासि बिधि नारि[1] सँवारी । रति सत कोटि तासु बलिहारी ॥९॥**

शब्दार्थ—स्यामा = सोलह वर्षकी अवस्थाकी । यथा 'शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला । सर्वावयव शोभाढ्या सा श्यामा परिकीर्तिता"—( प्रदीपोद्द्योते ) । = जिसके अभी पुत्र न हुआ हो । = जो अपने मध्यस्थ युवावस्थामें हो । इत्यादि ।

---

१ रची—को० रा० ।

अर्थ—शोभाके धाम हैं। उनका "राम" ऐसा नाम है। उनके साथ एक श्यामा स्त्री है ॥८॥ जो रूप (सौंदर्य) की राशि है। ब्रह्माने उस स्त्रीको सँवारकर बनाया है। सौ करोड़ (असंख्य) रतियाँ उसपर निछावर हैं ॥ ९ ॥

टिप्पणी—१ 'सोभाधाम राम अस नामा' इति। (क) शूर्पणखा स्वयं इनको देखकर मोहित हुई है और अपने भाई खरदूषणको भी यह कहते सुना है कि 'हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई', अतः देखी-सुनी दोनोंके प्रमाणसे 'शोभाधाम' कहा। जान पड़ता है कि वह शोभा इसके हृदयमें गड़ गई है, इसीसे प्रथम इसीको कहा। (ख) 'तिन्हके संग नारि एक स्यामा' अर्थात् यह रामकी भार्या है। २ (क) 'रूपरासि' अर्थात् जैसे राम शोभाधाम हैं वैसे ही यह रूपकी राशि ही है। (ख) 'रति सत कोटि तासु''' इति। भाव कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक ही 'रति' होती है, सौ करोड़ ब्रह्माण्डोंकी 'रतियाँ' एकत्र हो जायँ तो भी उस रूपराशिको नहीं पा सकतीं, वे सब तुच्छ हैं, इसके रूपपर निछावर हैं। अर्थात् एक ब्रह्माण्डकी कौन कहे सौ करोड़ ब्रह्माण्डोंमें ऐसी सुन्दर स्त्री नहीं मिल सकती।

दीनजी—'रूपराशि'। जो सपत्नी होने गई थी उसीके मुखसे स्त्रीका सौन्दर्य्य परिपूर्ण वर्णन होना जनाता है कि कैसा अपूर्व सौंदर्य्य होगा, यद्यपि यहाँ रावणको उत्तेजित करनेके लिए ही यह कहा गया है तो भी वह (Uppermost idea) सर्वोपरि बात जो मनमें होती है किसी न किसी तरह निकल ही आती है, रुकती नहीं।

[ अकंपन और शूर्पणखा दोनोंने श्रीसीताजीके सौंदर्यके संबंधमें कहा है कि देवी, गंधर्वी, किन्नरी, अप्सरा, आदि कोई भी स्त्री सीताके समान नहीं है। यथा "नैव देवी न गन्धर्वी नाप्सरा च पन्नगी। तुल्या सीमन्तिनी तस्य मानुषी तु कुतो भवेत्।" (वाल्मी० ३।३१।३०) ]।

गौड़जी—शूर्पणखाने नीतिके वाक्य कहकर रावणकी शासनबुद्धिको उभारा। फिर वह रावणके कामी स्वभावको उत्तेजित करनेके लिये प्रसंगसे "नारि इक स्यामा" की भी सूचना देती है। अपने अपराधको ध्वनिसे बताती है कि शोभाधाम हैं, इनपर रीझी थी, परन्तु वह हमारी ओर क्यों निगाह डालने लगे, क्योंकि साथमें तो अप्रतिम सुन्दरी मौजूद थी। राक्षसीका अत्यन्त कामवश होना भी व्याजसे दिखाया है।

तासु अनुज काटे श्रुति नासा। सुनि तव भगिनि करहिं[1] परिहासा ॥१०॥
खरदूषन सुनि लगे पुकारा। छन महुँ सकल कटक उन्ह मारा ॥११॥
खरदूषन तिसिरा कर घाता। सुनि दससीस जरे सब गाता ॥१२॥

शब्दार्थ—'लगे पुकारा' मुहावरा है 'फरियाद सुनकर सहायता करनेका।'=सहाय हुए।

अर्थ—उसके भाईने नाक-कान काटे। 'तेरी बहिन हूँ' यह सुनकर हँसी करते थे ॥१०॥ मेरी पुकार लगनेपर अर्थात् फर्याद सुनकर खरदूषण उनसे भिड़े। उन्होंने सारा कटक क्षणभरमें मार डाला ॥ ११ ॥ खरदूषणका और त्रिशिराका मारा जाना सुनकर दशशीश रावणका सारा शरीर जल उठा। (वह आग भभूका हो गया) ॥ १२ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'तासु अनुज काटे श्रुति नासा' यह रावणके 'केहिं तव नासा कान निपाता' का उत्तर है। शूर्पणखाके नाक-कान काटनेके समय कविने कहा था 'लछिमन अति लाघव सों नाक-कान बिनु कीन्हि। ताके कर रावन कहँ मनहुँ चुनौती दीन्हि'। 'तासु अनुज काटे०' यह कहना ही मानों चुनौती देना है। (ख) 'सुनि तव भगिनि करहिं परिहासा' अर्थात् तुमको कुछ नहीं समझते। 'सुनि' से शंका होती है कि किससे सुना? इस शब्दसे वह जनाती है कि मैंने उनसे अपना नाम और तुम्हारा सम्बन्ध बताया, तब मुझसे यह सुनकर हँसी मसखरी करने लगे कि तू अपना विवाह हमारे साथ कर ले। जब मैं क्रुद्ध हुई तब

[1] करहि—१७०४। करी—को० रा०।

मेरी नाक-कान काट लिये । [ मानसके अनुसार तो श्रीरामजी अथवा लक्ष्मणजीने भी किसीके मुखसे सुना नहीं है कि "शूर्पणखा रावणकी भगिनी" है । उसमें "लछिमन रिपु भगिनी जानी" इतना ही उल्लेख है । शूर्पणखाने झूठ ही कहा कि 'सुनि···' इत्यादि । हाँ, वाल्मीकीयमें शूर्पणखा उनके निकट राक्षसीरूपमें ही जाती है और पूछनेपर सब बातें अपने मुखसे ही कह देती है, वहाँ दुराव, रुचिर रूप इत्यादि नहीं है । प० प० प्र०)] । (ग) यहाँ लक्ष्मणजीका नाम उसने नहीं लिया । 'तासु अनुज' कहा । कारण कि वह नाम न जानती थी । श्रीलक्ष्मणजीने रामजीका नाम बताया पर अपना नाम न बताया था । और श्रीरामजीने भी उनका नाम न बताया था । यही कहा था "अहइ कुमार मोर लघु भ्राता" । अथवा, ये शत्रु हैं और शत्रुका नाम न लेना चाहिए । इससे 'तासु अनुज' कहा । (घ) 'छन महुँ सकल कटक उन्ह मारा' । यथा 'करि उपाय रिपु मारे छन महुँ कृपानिधान' । तथा यहाँ 'छन महँ मारा' कहा । [अ० रा० में भी क्षणमें मारना कहा है । यथा 'ततः क्षणेन रामेण तेनैव बलशालिना ।५२। सर्वे तेन विनष्टा वै रक्षसा भीमविक्रमाः ।' (३।५) । वाल्मीकीयमें 'क्षण' के बदले 'अर्धाधिक मुहूर्त्तेन' कहा है । क्षणका अर्थ 'थोड़ी ही देरमें' लेनेसे सबका समन्वय हो जाता है । ] यहाँ श्रीरामजीकी करनी स्पष्ट कही, अभीतक मुँदी ढकी कही थी ।

२ 'सुनि दससीस जरे सब गाता' इति । जब "सभा माँझ परि व्याकुल बहु प्रकार कह रोइ' तब 'सुनत सभासद उठे अकुलाई ।०' और जो उसने कहा था कि 'तोहि जिअत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ' उसके उत्तरमें 'कह लंकेस कहसि निज बाता' यह चरण है । या यों कहिए कि रावणका ऐसा प्रबल बैरी सुनकर सभी व्याकुल हुए और खर-दूषण-त्रिशिराका वध सुनकर रावण व्याकुल हुआ । अब जो सुना कि खरदूषणको उन्होंने मार डाला तब शोचसे 'जरे सब गाता' सारा शरीर जल उठा, अत्यन्त दाह हुआ । यथा 'सूखहिं अधर जरहिं सब अंगू । मनहु दीन मनिहीन भुअंगू' ।

३ इस दोहेमें श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला, गुण और धाम ये पाँचों कहे गए हैं, यथा (१) 'राम अस नामा' से नाम । (२) 'अवधनृपति' से धाम । (३) 'सोभाधाम' और 'दसरथके जाये' से रूप । (४) 'परम धीर धन्वी गुन नाना' से गुण और (५) 'समुझि परी मोहि उन्हकै करनी । रहित निसाचर करिहहिं धरनी' से लीला कही ।

टिप्पणी—४ इस दोहेमें नवरसात्मक मूर्त्ति कही है, यथा ( १ ) 'सोभाधाम राम अस नामा । तिन्हके संग नारि एक स्यामा ।। रूप रासि बिधि नारि सँवारी । रति सतकोटि तासु बलिहारी ।।' में शृङ्गार । ( २ ) 'सुनि तव भगिनि करहिं परिहासा' में हास्य । ( ३ ) 'अभय भये बिचरत मुनि कानन' में करुण । ( ४ ) 'देखत बालक काल समाना' में रौद्र । ( ५ ) "परम धीर धन्वी गुन नाना" में वीर । ( ६ ) 'खलबधरत' में भयानक । ( ७ ) 'तासु अनुज काटे श्रुति नासा' में वीभत्स । (८) 'छन महँ सकल कटक उन्ह मारा' में अद्भुत और, ( ९ ) 'सुर मुनि सुखदाता' में शान्तरस कहा ।

इस प्रकार इस प्रसंगरूपी समुद्रसे १४ रत्न निकले । ५+९=१४ । नाम, रूप, लीला, गुण और धाम—ये पाँच हुए । और; शृङ्गार आदि नवोरस, दोनों मिलकर १४ हुए ।

५ 'खरदूषन त्रिसिरा कर घाता···' इति । पहले उसने कहा कि खरदूषणादिको क्षण भरमें मारा । फिर उसी बातको कविने दुहराकर लिखा है । तात्पर्य कि पहले वचन सुनते ही रावण सूख गया, उसके होश-हवास ठिकाने न रहे तब शूर्पणखाने सब लड़ाईका वृत्तान्त कहा और अबकी तीनों भाइयोंका नाम लिया कि तीनों मारे गए । इसीसे कविने दोहराया ।

दोहा—सूपनखहि समुझाइ करि बल बोलेसि बहु भांति ।
गएउ भवन अति सोच बस नीद परै नहिं राति ।।२२।।

अर्थ—शूर्पणखाको समझाकर ( रावणने ) बहुत तरहसे अपना बल बखान किया। ( फिर ) अपने महलमें गया। अत्यन्त शोचके वश ( उसे ) रातमें नींद नहीं पड़ रही है ॥२२॥

टिप्पणी—१ 'सूपनखहिं समुझाइ करि बल००' इति। ( क ) शूर्पणखाके 'तोहि जियत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ' इन वचनोंका प्रभाव रावणके हृदयपर बहुत पड़ा। इसीसे उससे सब हाल सुनकर उसने अब उसे समझाया और बहुत भाँति बलका बखानकर उसे धीरज दिया। ( ख ) पहले शूर्पणखाको सभासदोंने समझाया था, अब रावणने स्वयं समझाया। "बल बोलेसि बहु भाँति" जैसा अध्यात्म और वाल्मीकीयमें है।

नोट—१ वाल्मी० ३।३१ के अनुसार जनस्थानके नाश और खरदूषणादिके वधका समाचार रावणको अकम्पन राक्षससे मिला जो जनस्थानसे भागकर रावणके पास आया था। उससे समाचार पानेपर रावणने जो अकम्पनसे कहा है कि "मेरा विरोध करके इन्द्र, कुबेर, यम और विष्णु भी सुखपूर्वक नहीं रह सकते। मैं कालका काल हूँ, अग्निको भी जला सकता हूँ, मैं मृत्युको भी मार डालनेका उत्साह रखता हूँ। पवनका वेग अपने वेगसे बलपूर्वक रोक सकता हूँ। क्रोधमें आनेपर मैं सूर्य और अग्निको भी जला सकता हूँ।" वे सब भाव "बल बोलेसि बहु भाँति" से कविने जना दिये हैं। श्लोकोंका उद्धरण आगे २३।१-२ में दिया गया है।

मानसमें जो रावणने मन्दोदरी आदिसे कहा है वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिए। कविको आगे विस्तारसे लिखना था इससे यहाँ नहीं लिखा। 'कंपहिं लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा। ५.३७', ( मन्दोदरीसे ), 'कहसि न खल अस को जग माहीं। भुजबल जाहि जिता मैं नाहीं।५।४१।' (विभीषणजीसे ), 'जग जोधा को मोहि समाना। बरुन कुबेर पवन जम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला॥ देव दनुज नर सब बस मोरें। कवन हेतु उपजा भय तोरें ॥६।८।' ( मन्दोदरीसे ) इत्यादि सब 'बल बोलेसि बहु भाँति' में आ गया। अ० रा० में सुन्दर वाक्यों तथा दानमानादिसे उसको धीरज देना लिखा है।

टिप्पणी—२ 'गएउ भवन अति सोच बस नींद...' इति। समझाकर घर गया। अब उसे अत्यन्त चिन्ता व्याप गई है। अत्यन्त शोचका प्रमाण देते हैं कि 'नींद परै नहिं राति'। कहाँ तो राति दिन निश्चिंत सोया करता था; यथा 'करसि पान सोवसि दिन राती' और कहाँ अब दिनकी बात क्या रातमें भी सारी रात नींद न पड़ी। अति शोचके कारण ऐसा हुआ; यथा 'निसि न नींद नहिं भूख दिन भरत बिकल सुचि सोच।२.२५२।', 'सो किमि सोव सोच अधिकाई।१.१७०।'

खर्रा—अन्तःकरणमें भय है, मुखसे बल बोलता है। शूर्पणखाके 'तोहि जियत दसकंधर मोरि कि असि गति होइ' इन वचनोंके कारण बल बखाना और समझाया और जो उसने कहा था कि 'छन महँ सकल कटक उन्ह मारा' इससे सोच विचारमें पड़ गया है। रावणने अपना शोच गुप्त रक्खा, इसका कारण आगे स्पष्ट करते हैं कि वह भगवान्‌के हाथसे मरना चाहता है।

( रावणके मनके विचार )

**सुर नर असुर नाग खग माहीं। मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं ॥ १ ॥**
**खरदूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहिं को मारइ बिनु भगवंता ॥ २ ॥**

अर्थ—देवता, मनुष्य, दैत्य, नाग और पक्षियोंमें मेरे सेवकोंकी बराबरी करनेवाला ( जोड़का ) कोई नहीं है ॥१॥ खरदूषण (तो) मेरे समान बलवान् थे। उन्हें सिवाय भगवान्‌के और कौन मार सकता है ? ॥२॥

टिप्पणी—१ 'सुर नर असुर नाग खग माहीं...' इति। ( क ) यहाँ "सुरनर" का नाम दिया 'मुनि' को छोड़ दिया। क्योंकि मुनि किसीसे युद्ध नहीं करते। यहाँ रावण युद्धका प्रसंग कह रहा है, मुनियोंकी गिनती वीरोंमें नहीं है। शृङ्गार शोभाके प्रकरणमें 'मुनि' पद रक्खा जाता है, यथा 'सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं। नाग, असुर, सुर नर मुनि जेते। देखे सुने हते हम केते'। (ख) शूर्पणखाने यही कहा कि 'छन महँ सकल कटक उन्ह मारा' और यहाँ रावण भी वही सिद्धान्त करता

है "तिन्हहिं को मारइ···"। पूर्वापरसे मारना ही सिद्ध है। अतः "मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं" का भावार्थ है कि उनमेंसे कोई मेरे एक सेवकको भी मार नहीं सकता तो मेरे समान बली खरदूषणको कौन मार सकता है ? मेरा तो एक एक सेवक जगत्‌भरको जीत सकता है। यथा 'कुमुख अकंपन कुलिसरद धूमकेतु अतिकाय। एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय।१.१८०।'

२ 'खरदूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहि···' इति। अर्थात् मेरे साधारण सेवकको तो कोई तीनों लोकोंमें छू भी नहीं सकता फिर भला खरदूषणको मारना यह तो असम्भव ही है। भगवान् ही मार सकते हैं, दूसरा नहीं। 'भगवंत' पदका भाव कि जिसे तीनों लोकोंकी उत्पत्ति और प्रलयका सामर्थ्य है वह भगवान् ही हैं।

श्रीनंगे परमहंसजी—"यह मनके अनुमानसे भगवान्‌का अवतार सही किया। परन्तु उस मनके अनुमानको एक क्षणमें फिर विचार किया कि मनका अनुमान उत्तम नहीं माना गया है। इसलिए वह संदेहमें पड़ गया और उसने प्रत्यक्षमें निश्चय करना ठीक समझा, क्योंकि प्रत्यक्षका निश्चय उत्तम माना गया है। 'अतः नेत्रके सामने परीक्षा करके अवतार निश्चय करेंगे इसीसे संदेहका वचन कहा है।'

नोट—१ नहि मे विप्रियं कृत्वा शक्यं मघवता सुखम्। प्राप्तुं वैश्रवणेनापि न यमेन च विष्णुना ॥५॥ कालस्य चाप्यहं कालो दहेयमपि पावकम्। मृत्युं मरणधर्मेण संयोजयितुमुत्सहे ॥६॥ वातस्य तरसा वेगं निहन्तुमपि चोत्सहे। दहेयमपि संक्रुद्धस्तेजसादित्यपावकौ ॥७॥' वाल्मी० ३.३१ में यह जो रावणने अकंपनसे कहा है उसमें इन्द्र, कुबेर, यम, विष्णु, काल, अग्नि, मृत्यु, पवन और सूर्य इन तेजस्वी समर्थोंको गिनाया है। मानसका 'कोउ' शब्द इस गणनासे अधिक व्यापक और रुचिकर है। पुनः वहाँ रावण सोचता है कि मेरा अप्रिय करनेको समर्थ कोई नहीं और यहाँ 'मोरे अनुचर कहँ···'। पाठक स्वयं विचार देखें कि कौन अधिक अच्छा है, कौन वाणी अधिक बलवती है। 'मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं' अर्थात् उनके सामने कोई खड़ा नहीं रह सकता; यथा 'एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय। १.१८०', तब मेरे सामनेकी तो बात ही क्या ?

सुररंजन भंजन महिभारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा ॥३॥
तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ ॥४॥
होइहि भजनु न तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा ॥५॥
जौं नररूप भूपसुत कोऊ। हरिहौं नारि जीति रन दोऊ ॥६॥

अर्थ—देवताओंको आनन्द देनेवाले, भूभारका भंजन करनेवाले भगवान्‌ने यदि अवतार लिया है तो मैं जाकर हठपूर्वक वैर करूँगा। प्रभुके बाणोंसे प्राण छोड़नेपर भवपार हो जाऊँगा ॥३-४॥ तामसी शरीर से भजन न होगा (अतः) मन-कर्म-वचनसे पक्का मंत्र यही है ॥५॥ यदि मनुष्यरूप कोई राजपुत्र होंगे तो दोनोंको रणमें जीतकर स्त्रीको हर लूँगा ॥६॥

टिप्पणी—१ (क) "जौं भगवंत लीन्ह अवतारा···" इति। 'जौं' 'तौ' कहकर अवतारमें सन्देह जनाया। (ख) 'बैरु हठि करऊँ' का तात्पर्य कि ईश्वर तो किसीसे वैर नहीं करते, अतः मैं हठपूर्वक अपनी ओरसे उनसे वैर करूँगा। (ग) 'प्रभु सर प्रान तजे००' और 'हरिहौं नारि००' से स्वार्थ और परमार्थ दोनों सिद्ध देखे।—'रघुबीर-सर-तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही'। ईश्वरको जीतनेको नहीं कहता। मनुष्य को जीत लेनेमें निश्चय है—'जीति रन दोऊ'।

२ "होइहि भजनु न तामस देहा।००", यथा 'तामस तन कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं। ५.७।' भवपार होनेके दो उपाय हैं—प्रीति और विरोध। इनमेंसे 'विरोध' उपायको इसने निश्चय रखा और प्रीतिका निराकरण किया।

प० रा० गु० द्वि०—'मंत्र दृढ़ एहा' इति। रावणने मुख्य सिद्धान्त यही मनमें पक्का रखा। इसका प्रमाण यह है कि उसे १६ बार वैर छोड़कर राम भजन करनेका उपदेश दिया गया तब भी उसने किसीकी नहीं सुनी, अपने मनकी ही की। अतः 'दृढ़' पद दिया। वे १६ उपदेश ये हैं। मारीच और गृध्रराजका ( ये दो उपदेश अरण्यकांडमें ), श्रीजानकीजी, हनुमान्‌जी, मंदोदरी, विभीषण (२ बार,), माल्यवान, लक्ष्मणजी का पत्र द्वारा और शुकका—(ये ६ उपदेश सुन्दरकांडमें), और मन्दोदरी (३ बार), प्रहस्त, अंगद, माल्यवान, कालनेमि और कुम्भकर्णका—(ये ८ उपदेश लंकामें हुए)।

प० प० प्र०—"मन क्रम वचन मंत्र दृढ़" इति। (क) 'मंत्र' शब्द देकर जनाया कि जो कुछ निश्चय किया गया है उसको गुप्त रखनेका भी निश्चय साथ ही साथ किया गया है। क्योंकि 'जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहिं जब करिय दुराऊ।', 'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः चतुष्कर्णो न भिद्यते। द्विकर्णस्य तु मंत्रस्य ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति॥' (ख) इस निश्चयको रावणने मन-क्रम-वचनसे अंत तक गुप्त रखा। मनमें कभी विरोधके सिवा सामका विचार नहीं आने दिया। कर्म तो स्पष्ट है कि कोई भी कर्म ऐसा नहीं किया जिससे उसका निश्चय किसीको प्रकट हो जाय। विचार करते समय अवश्य उसके मुखसे 'भगवंता', 'भगवंत' और 'प्रभु' शब्द निकले हैं, पर वैरका निश्चय कर-चुकनेके पश्चात् उसने 'राम', 'रघुनाथ', 'प्रभु' आदि शब्दोंका उच्चार जीतेजी नहीं किया; तापस, भूपसुत आदि ही कहा है। इतना ही नहीं किन्तु जबतक शिर शरीरमें रहा तबतक उसने युद्धमें आह्वान (ललकार) के लिए भी 'राम' आदि शब्दोंका उच्चार नहीं किया। जब शिर धड़से अलग होकर आकाशमें उड़ते थे तभी वे 'राम' शब्दका उच्चार करते थे, पर वह भी "कहाँ राम रन हतौं प्रचारी" इस वैर-भावसे ही। मानसकी जोड़का रावण अन्यत्र मिलना असंभव है। ( हनुमन्नाटक और अध्यात्मके रावणोंने अपना विचार मन्दोदरी आदिसे प्रकट कर दिया है )।

टिप्पणी—३ 'जौं नररूप भूपसुत कोऊ।००' इति। (क) अर्थात् ईश्वरके अतिरिक्त और जो कोई मनुष्यरूप भूपसुत होगा तो उसे जीत लूंगा। (ख) मेरी मृत्यु और किसीके हाथ नहीं, इन्होंने खरदूषणको मारा तो क्या हुआ ? ['नररूप कोऊ' में भाव यह है कि ईश्वरके अतिरिक्त यदि कोई और देवता दैत्य आदि नररूपमें आया है तो उसे भी मैं जीत लूंगा। क्योंकि देवादिमें तो कोई मेरी जोड़का है ही नहीं, तब नररूपमें आनेसे उसमें अधिक बल कहाँसे आ सकता है और मनुष्य ही कोई है तब तो उसका जीतना क्या, वह तो हमारा आहार ही है। ( मा० सं० ) ]

प० प० प्र०—'नररूप भूपसुत' दो शब्दोंको आपाततः देखनेसे इसमें काव्यका शब्दगत दोष जान पड़ेगा पर ऐसा है नहीं। रावणने प्रथम तो यही निश्चय किया कि वे "भगवंत" ही हैं, पर पीछे उसका चित्त द्विधा हो गया। उसे संशय हो गया कि भगवान् होंगे अथवा नहीं भी होंगे। इसीसे वह कहता है 'जौं नररूप''' अर्थात् जो देखनेमें नररूप हैं वे यदि परमात्मा नहीं हुए, वरंच किसी राजाके पुत्र हुए, तब क्या करना होगा ? उत्तर तुरत मिल गया 'हरिहौं नारि', पर चोरी करके नहीं किन्तु 'जीति रन दोऊ'।

मा० हं०—रावण विरोधी भक्त था ऐसी कहावत है। जो कुछ हो परन्तु हम निश्चयसे कह सकते हैं कि गोसाईंजीका रावण वैसा न था। श्रीरामजीसे बदला लेनेके निश्चयसे शूर्पणखा रावणतक पहुँची और उसे सीताहरणके लिए तैयार कर सकी। यदि रावण विषय-लोलुप न होता तो शूर्पणखाका यत्न अवश्य ही विफल होता। रावणकी दुर्भर विषयलालसाका यही पहला प्रमाण लिया जा सकता है। बाद, रावण विचार करने लगा कि यदि रामजी कोई मनुष्य होंगे तो सीता स्वयंको पच सकेगी, परन्तु जो वे ईश्वर हों तो सीता-हरणसे निस्संदेह उसके प्राणोंपर बीतेगी। इस दूसरे विचारसे उसे एक तीसरा ही विचार सूझा—प्राणहानि भी अच्छी ही होगी, क्योंकि तामस देहसे ईश भक्ति कुछ भी बन नहीं सकती, इसलिए संसार पार होनेके लिए रामजीके ही हाथसे मरनेमें भला होगा। अब देखिए कि इस विचारमें भक्तिका नाम निशान तक नहीं। केवल एक विषयवासनासे प्रेरित होकर रावण साधकबाधक दृष्टिसे परिणामकी ओर देखता जा रहा है।

तामस देहसे ईश्वर भजन न हो सका, इससे साफ़ प्रतीत होता कि उसे उसके अनंत घोर कृत्योंका स्मरण हुआ जिससे उसका हृदय दहल उठा। जिसे पाश्चात्ताप कहते हैं सो यह नहीं है। यदि यह यथार्थ पाश्चात्ताप होता तो इन्द्रियलौल्यकी जड़ कायम रखकर रावण सीताहरणके लिए प्रवृत्त ही न होता। इस विचारके लिए यह प्रमाण देखिए—'सुररंजन भंजन महिभारा''' हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ', अन्तकी चौपाईमेंके विचार को रावणका अन्तिम निश्चय समझना चाहिए। भक्तिका अथवा पश्चात्तापका ऐसा अश्लील पर्यवसान होना कभी भी संभव नहीं।—विशेष देखो २४ (८) में।

पं० रा० चं० शुक्ल—जिस प्रकार राम राम थे, उसी प्रकार रावण रावण था। वह भगवान्‌को उन ललकारनेवालोंमेंसे था जिसकी ललकारपर उन्हें आना पड़ा था। बालकांडमें गोस्वामीजीने पहिले उसके उन अत्याचारोंका वर्णन करके जिनसे पीड़ित होकर दुनिया पनाह माँगती थी, तब रामका अवतार होना कहा है। वह उन राक्षसोंका सरदार था जो गांव जलाते थे, खेती उजाड़ते थे, चौपाए नष्ट करते थे, ऋषियोंको यज्ञ आदि नहीं करने देते थे, किसीकी कोई अच्छी चीज देखते थे तो छीन लेते थे और जिनके खाए हुए लोगोंकी हड्डियोंसे दक्खिनका जंगल भर पड़ा था। चंगेज़खाँ और नादिरशाह तो मानों लोगोंको उसका कुछ अनुमान करानेके लिए आए थे। राम और रावणको चाहे अहुरमज्द और अह्रमान समझिए चाहे ख़ुदा और शैतान। फ़र्क इतना ही समझिए कि शैतान और ख़ुदाकी लड़ाईका मैदान इस दुनियासे जरा दूर पड़ता था और राम रावणकी लड़ाईका मैदान यह दुनिया ही है।

ऐसे तामस आदर्शमें धर्मके लेशका अनुसंधान निष्फल ही समझ पड़ेगा। पर हमारे यहाँकी पुरानी अक़्लके अनुसार धर्मके कुछ आधार बिना कोई प्रताप और ऐश्वर्य्यके साथ एक क्षण नहीं टिक सकता, रावण तो इतने दिनोंतक पृथ्वीपर रहा। अतः उसमें धर्मका कोई न कोई अंग अवश्य था। वह अंग अवश्य था जिससे शक्ति और ऐश्वर्य्यकी प्राप्ति होती है। उसमें कष्ट-सहिष्णुता थी। वह बड़ा भारी तपस्वी था। उसकी धीरतामें कोई संदेह नहीं। भाई, पुत्र जितने कुटुम्बी थे, सबके मारे जानेपर भी वह उसी उत्साहसे लड़ता रहा। अब रहे धर्मके सत्य आदि और अंग जो किसी वर्गकी रक्षाके लिए आवश्यक होते हैं। उनका पालन राक्षसोंके बीच वह अवश्य करता रहा होगा। उसके बिना राक्षसकुल रह कैसे सकता था? पर धर्मका पूरा भाव लोकव्यापकत्वमें है। यों तो चोर और डाकू भी अपने दलके भीतर परस्परके व्यवहारमें धर्म बनाए रखते हैं। लोकधर्म वह है जिसके आचरणसे पहले तो किसीको दुःख न पहुँचे, यदि पहुँचे भी तो विरुद्ध आचरण करनेसे जितने लोगोंको पहुँचता है, उससे कम लोगोंको। सारांश यह कि रावणमें केवल अपने लिए और अपने दलके लिए शक्ति अर्जित करनेभरको धर्म था, समाजमें उस शक्तिका सदु-पयोग करनेवाला धर्म नहीं था। रावण पंडित था, राजनीति-कुशल था, धीर था, वीर था, पर सब गुणोंका उसने दुरुपयोग किया। उसके मरनेपर उसका तेज रामजीके मुखमें समा गया। सत्‌से निकलकर जो शक्ति असत्‌रूप हो गई थी वह फिर सत्‌में विलीन हो गई।

नोट—१ अ० रा० में भी कुछ इसी प्रकारके विचार रावणके हैं। मानसके 'सुर नर असुर नाग खग माहीं। मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं॥ खरदूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहि को मारइ' की जोड़में अ० रा० में 'एकेन रामेण कथं मनुष्यमात्रेण नष्टः सबलः खरो मे। भ्राता कथं मे बलवीर्यदर्पयुतो विनष्टो बत राघवेण। ३.५.५८।' (अर्थात् मनुष्यमात्र एक रघुवंशी रामने बलवीर्यसाहससंपन्न मेरे भ्राता खरको सेना सहित कैसे मार डाला?) यह श्लोक है। "सुररंजन भंजन महिभारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा।" की जोड़में 'यद्वा न रामो मनुजः परेशो मां हन्तुकामः सबलं बलौघैः। सम्प्रार्थितोऽयं द्रुहिणेन पूर्वं मनुष्यरूपोऽद्य रघोः कुलेऽभूत। ५६।' (अर्थात् अथवा यह राम मनुष्य नहीं हैं, साक्षात् परमात्माने ही पूर्वकालमें की हुई ब्रह्माकी प्रार्थनासे मुझे मारनेके लिये मनुष्यरूपसे रघुवंशमें अवतार लिया है), 'तौ मैं जाइ बैर हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ।' की जोड़में 'विरोधबुद्ध्यैव हरिं प्रयामि'''६१।' "वध्यो यदि स्यां परमात्मनाहं

वैकुण्ठराज्यं परिपालयेऽहम् ।…६० ।" ( अर्थात् मैं विरोधबुद्धिहीसे भगवान्‌के पास जाऊँगा यदि परमात्मा-द्वारा मारा गया तो वैकुण्ठका राज्य भोगूँगा ), 'होइहि भजन न तामस देहा' की जगह 'द्रुतं न भक्त्या भगवान्प्रसीदेत् । ६१ ।' ( अर्थात् भक्तिके द्वारा भगवान् शीघ्र प्रसन्न नहीं हो सकते ), और 'जौं नररूप भूपसुत कोऊ । हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ ।' की जोड़में 'नो चदिदं राक्षसराज्यमेव भोक्ष्ये चिरं राममतो व्रजामि । ६० ।' ( अर्थात् नहीं तो चिरकालपर्यन्त राक्षसोंका राज्य तो भोगूँगा ही । इसलिये मैं रामके पास अवश्य चलूँगा ), ये श्लोक हैं ।

चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ । बस मारीच सिंधुतट जहवाँ ।।७।।

अर्थ—(रावण) रथपर चढ़कर अकेला ही वहाँको चला जहाँ समुद्रके किनारे मारीच रहता था ।।७।।

नोट—१ मारीचके पास रावण कहाँ गया ? यह बात महाभारत वनपर्व अ० २७६ श्लोक ५८,५६ में मार्कण्डेय रामायणमें दी है कि रावण त्रिकूट और काल पर्वतोंको लाँघता हुआ गोकर्णक्षेत्रमें गया जहाँ उसका पुराना मंत्री रामचन्द्रजीके भयसे तपस्वी वेषमें रहता था । 'तहवाँ जहवाँ' से जनाया कि मारीच अब दूसरे देशमें रहता है । अ० रा० में इस चौपाईसे मिलता हुआ श्लोक यह है—'ययौ मारीचसदनं परं पारसमुद्रन्वतः ।…३.६.२ ।' अर्थात् समुद्रके दूसरे तटपर मारीचके घर गया । वाल्मी० ३.३५ में लिखा है कि रावणने समुद्रके उस पार जाकर एक आश्रम देखा जहाँ कृष्णमृगचर्म तथा जटा धारण करनेवाला मारीच रहता था । यथा 'तं तु गत्वा परं पारं समुद्रस्य नदीपतेः । ददर्शाश्रममेकान्ते पुण्ये रम्ये वनान्तरे । ३७ ।…' । इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि मारीचका आश्रम समुद्रके इस पार लंकासे बहुत दूरीपर था ।

२ अकेला गया जिसमें किसीको ख़बर न हो, वैरीको कोई पता न दे-दे जिससे काममें अड़चन पड़ जाय । यह बात मानी हुई है कि जब किसी भेदको कोई दूसरा जान जाता है तो वह कभी न कभी अवश्य खुल जाता है ।

प० प० प्र०—रावणके विचारोंका विश्लेषण करनेपर ज्ञात होता है कि उसने श्रीरामजीके साथ वैर करनेका निश्चय किया और वह भी पंचवटीमें जाकर सम्मुख करनेका । युद्धका परिणाम क्या होगा, इसमें उसके आगे दो ही परिणाम स्पष्ट हैं । राम भगवान् हुए तो उनके शरसे मरकर मुक्त हो जाऊँगा । और, यदि वे भूपसुत हुए ( भगवान् न हुए ) तो उनको मारकर उनकी स्त्रीको ले आऊँगा । तीसरा पर्याय उसके सामने कोई भी न था । तथापि रावण घरसे युद्धकी तैयारी करके नहीं निकला, अकेला ही रथ लेकर निकला और पंचवटीमें न जाकर मारीचके आश्रममें गया तथा कपटसे श्रीसीताजीको हर ले जानेका निश्चय किया ।—ऐसा क्यों हुआ ? इस विचार-परिवर्तनमें श्रीराममायाकी प्रभुता ही प्रेरक है ।

निश्चयके बदलानेमें कारण यह है कि यदि रावण पंचवटीमें युद्ध करता तो वह अकेला वहाँ मारा जाता । कुम्भकर्ण जानता था कि राम कौन हैं, अतः वह विरोध न करता । मेघनाद भी अपनी तरफ़से वैर न बढ़ाता । तब तो असंख्यों दुष्ट राक्षस बने ही रह जाते और श्रीरामजीको 'निसिचरहीन करउँ महि' इस प्रतिज्ञाका सत्य करना असंभव हो जाता । अतएव जिस शक्तिको ( दोहा ३३ में 'बिहसि कृपा-सुखबृंद' ने ) प्रेरणा दी है उसीने अपनी मायासे यह सूत्र संचालित किया है ।

इसीसे तो मारीच भी जब मायामृग बनकर आता है तो अपने 'अंतर प्रेम' के विरुद्ध कई कार्य कर जाता है । श्रीरामजीके बाणोंसे मरनेके लिये उसे उनको न तो सुदूर ले जानेकी आवश्यकता थी और न उनके स्वरमें "हा सीते ! हा लक्ष्मण" पुकारनेकी । मायाने ही प्रभुकी निशाचर-कुल-नाशकी इच्छा जानकर उसकी भी बुद्धि ऐसी कर दी ।

रावण यदि अपने निश्चयपर टिक जाता तो उसे न तो मारीचाश्रममें जानेकी आवश्यकता थी और

न अकेले सारथी विहीन चुपचाप जानेकी । वह स्पष्ट कहकर जा सकता था कि शूर्पणखाका बदला लेने, भूपसुतोंका शासन करने जाता हूँ ।

रावणका निश्चय-परिवर्तन कब हुआ ? रावणके शयनागारसे निकलकर बाहर आनेके बाद जब वह नित्य कर्ममें लगा होगा तथा जब युक्ति बनानेके पूर्व ही प्रभु विहँसे थे तभी यह कार्य हो गया ।

श्रीनंगे परमहंसजी— रावण मारीचके पास और अकेला क्यों आया ? ( उत्तर ) रावण चोरी और परीक्षा आदिमें कुशल था । शूर्पणखाने कहा था 'पुरुषसिंह वन खेलन आए' । अतः उसने सोचा कि शिकार खेलने आए हैं तो हम मारीचको कपट मृग बना दें । बस दोनों बातोंकी परीक्षा मिल जायगी । यदि अवतारी हुए तो जान जायँगे । यदि राजकुमार हुए तो उसके पीछे दौड़े जायँगे । किन्तु भगवान् देवकार्यके लिये मनुष्य बन गए, मृगके पीछे दौड़े । अकेला आया, क्योंकि प्राण देना है । प्राण देनेमें पलटनकी जरूरत नहीं होती ।

**'जिमि सब मरम दसानन जाना' यह प्रसंग समाप्त हुआ ।**

## (श्रीसीताजीका अपना प्रतिबिंब आश्रममें रखना)

**इहाँ राम जस जुगुति बनाई । सुनहु उमा सो कथा सुहाई ॥८॥**

**दोहा—लछिमन गए बनहिं जब लेन मूल फल कंद ।**
**जनकसुता सन बोले बिहसि कृपा सुखबृंद ॥२३॥**

शब्दार्थ—मूल=पृथ्वीके भीतर जिनकी उत्पत्ति एक पेड़के ही अनेक मूलों ( जड़ों ) से होती है वे 'मूल' कहलाते हैं, जैसे आलू, रतालू इत्यादि । कंद=जो पृथ्वीके भीतर एक पौधेमें एक ही पैदा होता है उसे कन्द कहते हैं जैसे सूरन इत्यादि ।—'अर्शोघ्नः सूरणः कन्दः' इत्यमरः । (प० प० प्र०) ।

अर्थ—यहाँ श्रीरामचन्द्रजीने जैसी युक्ति बनाई, हे उमा ! वह सुन्दर कथा सुनो ॥८॥ जब लक्ष्मणजी कंदमूलफल लेने वनको गए तब दया और आनन्दकी राशि श्रीरामजी हँसकर श्रीजानकीजीसे बोले ॥२३॥

नोट—१ पंचवटीका प्रसंग 'पंचवटी बसि श्रीरघुनायक । करत चरित सुर-मुनि-सुखदायक ।२१-४।' इस चौपाईपर छोड़कर फिर शूर्पणखाका रावणके पास जाना इत्यादि प्रसंग लंका और मारीचाश्रमतकके, कहे । अब पुनः पंचवटीका प्रसंग उठाते हैं । अतः 'इहाँ' पद दिया । पुनः, 'इहाँ' से जनाया कि जिस समय उधरका चरित लंका आदिमें हो रहा था उसी समय यहाँ यह चरित हुआ । एक साथ लिखे या कहे न जा सकते थे ।

☞ स्मरण रहे कि गोस्वामीजीके 'इहाँ' और 'उहाँ' शब्दोंका प्रयोग बड़ा विलक्षण है । अयोध्याकांडमें इसकी उत्कृष्टता खूब देखनेमें आती है । 'इहाँ' पद देकर कवि (वक्ता) अपनेको उस स्थानपर सूचित करते हैं और 'उहाँ' से जनाते हैं कि हम उनके साथ नहीं हैं जिनकी कथा हम लिख रहे हैं । कवि सदा अपनेको भगवान् और भागवतके साथ ही रखते हैं । और, जहाँ भागवत और भगवत दोनोंका प्रकरण पड़ता है (जैसे भरतजी और रामजीका) वहाँ या तो दोनों जगह 'इहाँ' ही का प्रयोग किया है—(टीकाकार पण्डितोंने उनके भावको न समझकर 'इहाँ' का 'उहाँ' कर दिया है )—या अपनेको परमभागवतके साथ दिखाकर—'मोते अधिक संत करि लेखे' को चरितार्थ किया है ।

प० प० प्र०—'जुगुति' इति । जिस साधनसे थोड़े ही परिश्रममें बड़े कार्यकी सिद्धि हो जाय और धर्ममार्गका विरोध न करना पड़े उसे कर्मतत्त्वज्ञ 'युक्ति' कहते हैं । यथा 'अल्पायासैरर्थसिद्धिर्धर्ममार्गाऽविरोधिनः । येन संसाध्यते युक्तिः सा प्रोक्ता कर्मकोविदैः ।' यहाँ अपनी प्रतिज्ञाको सत्य करना, पृथ्वीको निशाचरहीन करना साध्य है । बिना अपराधके रावणपर आक्रमण करना अधर्ममार्गावलम्बन होगा । रावण जब सीताजीको

( अपनी तथा विश्वकी कल्पनानुसार ) छलसे ले जायगा तब लंकापर आक्रमण करना, इत्यादि सब कार्य अधर्ममार्गके बिना ही साध्य हो सकते हैं। इसलिए यही करानेका निश्चय किया। और, सीताजीको रावण का स्पर्श होना भी अधर्म होगा; साथ ही यह भी संभव था कि सीताजी उसे अपने पातिव्रत्यतेजसे भस्म कर दें, इसलिए 'सीताजीका पावकमें निवास' और माया-सीताका हरण करानेका निश्चय किया।

टिप्पणी—१ 'इहाँ राम जसि जुगुति बनाई।…' इति। (क) 'राम' अर्थात् ये सब चराचरमें रमण करते हैं, अतएव सब समयके सारे वृत्तान्त जानते हैं। रावणके भीतरका अभिप्राय और उसका मारीचको साथ लेकर आनेका विचार यह सब वे जान गए। इसीसे रावणके आगमनके पूर्व ही उन्होंने यह उपाय किया जो आगे वर्णित है। [ अथवा जिस युक्तिसे अपनेको लीला करनेका और जिसके फलस्वरूप अपने चरित्रमें सज्जनों और मुनिगणोंको रमनेका सुअवसर मिलेगा तथा अपना खेल (क्रीड़ा) होगा, 'मम कौतुक होई', वह करने जा रहे हैं। अतः 'राम' नाम दिया। ( प० प० प्र० ) ] (ख) 'जुगुति' का भाव कि प्रभुको कपट नहीं भाता, यथा 'मोहि कपट छल छिद्र न भावा।५।४४।' रावणने कपट किया, मारीच कपटमृग बना, अतः श्रीरामजीने उसके साथ कपट किया। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'। वह हमको कपटका मृग देता है तो हम उसको मायाकी सीता देंगे। यह युक्ति बनाई। ( खर्रा )। ( ग ) 'उमा' संबोधन देकर कथाका पता दिया कि यह कथा उमामहेश्वरसंवादमें है। उमामहेश्वरसंवाद अध्यात्ममें भी है। अतः यह कथा वहाँ भी है।२४।१। भी देखिए। [ 'उमा' संबोधनमें यह भी भाव है कि सावधान हो जाओ, अब वह लीला होती है जिसे देखकर तुम्हें मोह हो गया था, यथा 'खोजै सो कि अज्ञ इव नारी।१।५१।'; देख लो, वह सब विलाप और खोजना झूठा है कि नहीं ? प्रभुने तो स्वयं ही मायाकी सीता बनवाकर उसका हरण कराया और स्वयं ही वियोगमें रोये। यह प्रसंग वाल्मीकीयमें नहीं है, इसीसे अन्य किसी श्रोताको संबोधन न किया। (खर्रा)। पुनः, 'उमा' संबोधनका भाव कि तुमने जो कहा था कि 'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयालु राखहु जनि गोई।' अब हम वही कहते हैं। यह प्रभुका अति गोप्यचरित है, इसे सुनो। ( पं० ) ] ( घ ) 'सुहाई' का भाव कि बड़ोंके हृदयकी बात है ( जो उन्हें भावे वह सुन्दर ही है। उन्हें कपटके बदले कपट भाया )। इस कथामें ईश्वरके हृदयकी अगाधता कहनी है, अतः उसे "सुहाई" कहा। खर्रा, पं० )। [ जो सीताहरण विश्वको दुःखदायक होगा, उसीको शिवजी 'सुहाई' कह रहे हैं। भाव यह है कि इस युक्तिका फल बड़ा मधुर होगा। निशाचरोंका नाश होगा, धर्मका संस्थापन होगा और भविष्यमें भगवज्जनोंको भवसागरतरणके सुलभ साधन 'श्रीरामचरित' का निर्माण होगा। फलके अनुसार ही सुन्दरता वा असुन्दरताका निश्चय किया जाता है। जो आरम्भमें दुःखदायक पर जिसका परिणाम सुखदायक हो वही सुन्दर कहे जाने योग्य है और जो आरम्भमें सुखदायक पर अन्तमें दुःखदायी हो वह सुन्दर नहीं है। ( प० प० प्र० ) ]

प० प० प्र०—१ (क) 'जनकसुता सन बोले' इति। जनकसुता (पिता संबंधी) नाम देकर जनाया कि आजसे दोनोंका प्रत्यक्ष संबंध छूट जायगा। ( ख ) बिहँसना और मुसुकाना इन दो क्रियाओंके परिणाम विभिन्न हैं। जब सम्बन्धी व्यक्तियोंमें उदित ऐश्वर्य भावको दबाकर वात्सल्यादि माधुर्य भावोंको जागृत और क्रियाशील करना होता है तब 'मुसकराते' हैं। यथा 'उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना…'। परिणाम यह हुआ कि 'माता पुनि बोली सो मति डोली।१।१९२।' पुनः यथा 'मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी', परिणाम यह हुआ कि विश्वामित्रजी तत्काल ही रामरूपका मर्म कहना छोड़कर कहने लगे कि 'रघुकुलमनि दसरथ के जाए'। और, जब किसीको, चाहे वह निकट हो अथवा अत्यन्त दूर हो, अपनी मायासे मोहित करना होता है तब वे 'बिहसते' हैं। यह 'बिहास' और 'मुसुकान' में भेद है।

टिप्पणी—२ (क) 'बिहँसि' का भाव कि अब निशाचरोंके नाशकी पूरी युक्ति बनी। वा, रावणको ठगनेके लिए स्वयं माया करना चाहते हैं, अतः हँसे। हास प्रभुकी माया है ही। अथवा, [ 'बिहँसि' का भाव

कि रावणके वधके लिए स्त्रीको लंका भेजनेमें यद्यपि हँसी है तो भी परोपकारहेतु हम तुम हँसी सहें। वा, लंकामें भेजना है, अतः हँसकर उनको प्रसन्न कर रहे हैं। वा, हँसकर जनाया कि यह कष्ट और लीला हमारे लिए हँसीखेल है, इसीसे 'सुख-वृंद' पद दिया। (पं०)। अथवा, भाव कि देखो तुम कहती थीं कि राक्षसोंका विना अपराध नाश करना उचित नहीं, देखो वह तुम्हींको हरने आ रहा है। अब तो अपराध होगा। वाल्मी० में सीताजीने राक्षसनाशकी प्रतिज्ञाके समय ऐसा कहा था। ] ( ख ) कृपासुखवृंदका भाव कि कृपा और सुखकी राशि हैं, इसीसे सबपर कृपा करके सबके सुखके लिए यह लीला करना चाहते हैं।

प० प० प्र०—इस दोहेमें कवि 'कंद' और 'वृंद' विषम यमक देकर जनाते हैं कि अब भगवत्प्रेरित विषम माया किसीको वशमें करेगी। यथा 'तव विषम माया बस···', 'श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुन कठिन करनी तेहि केरी।', इत्यादि।

**सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करवि ललित नर लीला ॥१॥**
**तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौ लगि करौं निसाचर नासा ॥२॥**

अर्थ—हे प्रिये! हे सुन्दर पातिव्रत्यधर्मका पालन करनेवाली और सुशीले! सुनो। मैं कुछ 'ललित' नरलीला (नरनाट्य) करूँगा ॥१॥ जबतक मैं निशाचरोंका नाश करूँ तबतक तुम अग्निमें निवास करो ॥२॥

टिप्पणी—१ ( क ) 'सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला' इति। श्रीसीताजी इन्हींकी नहीं किंतु समस्त गुणोंकी खानि हैं, इन्हीं गुणोंका स्मरणकर और मुखसे कह-कहकर प्रभुने श्रीसीताहरणपर विलाप किया है, यथा 'हा गुनखानि जानकी सीता। रूप सील व्रत नेम पुनीता॥' इत्यादि। ( ख ) यहाँ सब विशेषण साभिप्राय हैं। अब रावणके वधका समय आ गया। श्रीसीताहरणद्वारा ही उसकी मृत्यु होगी; क्योंकि 'बिनु अपराध प्रभु हतहिं न काऊ। जौं अपराध भक्त कर करई। राम रोष पावक सो जरई।' इसको चरितार्थ करनेके लिए श्रीसीताजीको रावणवधतकके लिए अलग करेंगे। अतः कहते हैं 'प्रिया, व्रत रुचिर, सुसीला' अर्थात् मैं तुमको अपनेसे पृथक् करता हूँ, इससे यह न जानना कि तुम मुझे अप्रिय हो। तुम तो हमारी सर्वदा प्रिया हो। कार्य्यके निमित्त ऐसा कहता हूँ। जो वे कहें कि ऐसा करनेसे हम दूषित हो जायँगी, तो उसपर कहते हैं कि नहीं, तुम तो 'व्रत रुचिर' हो। खलके यहाँ रहनेसे शीलका नाश होता है, उसपर कहते हैं कि तुम 'सुशीला' हो, तुम्हारे शीलका नाश नहीं हो सकता। अथवा, तुम हमारी प्रिया हो, व्रत-रुचिर हो, सुशीला हो, तुम हमारे वचनोंका पालन करो। 'व्रत रुचिर' कौन व्रत है? उत्तर—'एकै धर्म एक व्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा'।

२ "मैं कछु करबि ललित नर लीला"।—ललित अर्थात् जिसमें ऐश्वर्यकी छटामात्र भी नहीं; किंचित् ऐश्वर्य्यका मेल जिसमें नहीं है।

दीनजी—'ललित नर लीला', इसमें भी साहित्यिक मर्म है। ललित अलंकारमें जो कुछ कहा जाता है वह स्पष्ट शब्दोंमें न कहकर उसके प्रतिबिम्ब भावमें कहा जाता है। जैसे अयोध्याकांडमें 'लिखत सुधाकर लिखगा राहू'—राज न हुआ वनवास हुआ, इस घटनाको दूसरी घटना करके वर्णन किया। भाव कि जैसे 'ललित अलंकार' में वर्णित होता है उसी प्रकार यहांसे आगे तककी हमारी सब लीला ललित अलंकारमें समझनी चाहिए। इसी अभिप्रायसे आगे 'प्रतिबिंब' शब्द दिया है जो ललित अलंकारका वाचक है, यथा 'ललित अलंकृत जानिये कह्यो चाहिये जौन। ताहीके प्रतिबिंब ही वर्णन कीजे तौन'।

टिप्पणी—३ 'तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा' इति। ( क ) अग्निमें निवास करनेको कहते हैं क्योंकि अंतमें इसीकी साक्षी देकर इसीमेंसे इनको प्रकट कराना होगा, यथा 'सीता प्रथम अनल महुँ राखी। प्रगट कीन्हि चह अंतरसाखी। ६.१०७।' अग्निकी साक्षी देनेकी रीति है, यथा 'पावक साखी देइ करि जोरी

भूमि द्वाड़। ४.४।' (ख) पुनः भाव कि तुम भी ऐश्वर्य न रक्खो, कहीं उसके दुःख देनेपर शाप न दे दो कि वह भस्म हो जाय जो हमारी प्रतिज्ञा ही जाय। (खर्रा)।

नोट—१ 'तुम्ह पावक महँ करहु निवासा' इति। पावकमें निवास करनेका भाव श्रीकरुणासिंधुजी यह लिखते हैं कि 'पावकमें निवास करके अन्तर्भूत हमारे पास रहो।' श्रीसीताजी श्रीरामजीसे पृथक् कभी नहीं रहतीं, उनका नित्य संयोग है, वियोग कभी नहीं होता, यह बात सती-मोह-प्रकरणसे भली-भाँति प्रमाणित होती है। अग्निमें निवासका भाव भी यह सिद्ध करता है। अग्नि ब्रह्मका एक रूप है जैसा कि श्रुति कहती है—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।' अर्थात् सत् एक है, इसे ब्राह्मण भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारते हैं। कोई अग्नि कहता है, कोई यम कहता है और कोई पवन कहता है। मनुने भी अ० १२ में कहा है—"एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥" अग्निके इस अर्थसे वैजनाथजीका 'रामवल्लभा' का यह भाव सिद्ध होता है कि उनका वियोग सरकार क्षणमात्रको भी सह नहीं सकते।

श्रीपंजाबीजीका मत है कि श्रीरघुनाथजीने विचारा कि सब देवता रावणसे भयभीत हैं, हमें हनुमान द्वारा लंकादहन कराना है, कहीं ऐसा न हो कि अग्नि उसे न जलावे, अतः 'उसके बीच अपनी शक्ति रख दी' जिसमें वह निर्भय होकर लंकाको जला सके।

बालकांडके मंगलाचरणमें जो श्रीसीताजीका मंगलाचरण है—"उद्भव स्थिति संहारकारिणी', उसमेंकी संहारकारिणी शक्तिका यहाँ उल्लेख गुप्त रीतिसे किया गया है। श्रीसीताजी तो पावकमें समा गईं, अब यहाँ उनका 'प्रतिबिंब' है। यह उनकी संहारिणी शक्ति ही है जो कपटरूपसे यहाँ विराजमान है। ऐसा क्यों किया? इसका कारण यह है कि सरकार निशिचरनाशकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं और बिना संहारिणी-शक्तिके काम नहीं चल सकता। यह शक्ति रावणके साथ लंकामें जाकर राक्षस कुलका संहार करेगी। वे रामवल्लभा हैं, जो कुछ श्रीरामजीको प्रिय है वही वे करती हैं, उनकी राक्षस-संहारकी इच्छा देखकर वे अपनी संहारिणी-शक्ति प्रकटकर रावणके नाशके लिए भेजती हैं। यही मन्दोदरी और विभीषणजीका मत है जो उन्होंने रावणसे प्रकट किया था; यथा "तव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीतनिसा सम आई।', 'कालराति निसिचरकुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी॥' और वाल्मीकीय सुं० में हनुमान्‌जीने भी ऐसा ही कहा है—"यां सीतेत्यभिजानासि येयं तिष्ठति ते गृहे। कालरात्रीति तां विद्धि सर्वलङ्काविनाशिनीम्॥ (५।३४) अर्थात् जो तुम्हारे घरमें उपस्थित हैं, जिन्हें तुम सीता समझते हो, उन्हें कालरात्रि समझो, वे सर्व-लंकानाशिनी हैं। जो शक्ति महाकाली, महालक्ष्मी आदि रूपसे असुरनाशिनी है वही शक्ति यहाँ सीता-प्रतिबिंबरूपमें असुरसंहारिणी कालरात्रि है।

नोट—२ पावकमें निवास करनेके और भाव ये कहे जाते हैं—(क) श्रीरामजी अग्निको अपना पिता मानते हैं, क्योंकि अग्निके दिए हुए पिण्डसे इनका जन्म हुआ, और स्त्री अपने पिता अथवा पतिके घर शुद्ध रहती है। (पां०)। (ख) और किसी तत्वमें रखनेसे इनका तेज न छिपता। (पं०)। (ग) अग्नि सीताजीका पिता है इस तरह कि रावणने जब ऋषियोंसे कर माँगा तब उन्होंने अपना रुधिर एक घटमें देकर भेजा कि इसके द्वारा तेरी मृत्यु होगी। ऋषियोंका कोप ही अग्नि है। उससे श्रीसीताज़ीकी उत्पत्ति हुई। (पं०)। (घ) श्रीरामजी तपस्वी रहें तब सीताजी भोगस्थानमें रहना कब स्वीकार कर सकती हैं, यथा 'तुम्हहिं उचित तप मोकहुँ भोगू। २.९७।', अतः, पहलेसे उनके अनुकूल तप स्थान अग्निमें निवास करनेको कहा जिसमें साथका हठ न करें।

३ अ० रा० में मिलते हुए श्लोक ये हैं—'उवाच सीतामेकान्ते शृणु जानकि मे वचः॥१॥... अग्नावदृश्यरूपेण वर्षं तिष्ठ ममाज्ञया। रावणस्य वधान्ते मां पूर्ववत्प्राप्स्यसे शुभे॥३।७।३।' अर्थात् श्रीरामजीने रावणका सारा षड्यन्त्र जानकर एकान्तमें श्रीजानकीजीसे कहा—'हे सीते! मेरा वचन सुनो।...मेरी आज्ञा

से तुम अग्निमें प्रवेश कर वहीं अदृश्य रूपसे एक वर्ष रहो। रावणका वध हो जानेपर तुम मुझे पूर्ववत् पा लोगी'।

जबहिं राम सब कहा बखानी। प्रभु पद धरि हिय अनल समानी ॥३॥
निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता ॥४॥
लछिमनहूँ यह मरमु न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना ॥५॥

अर्थ—जैसे ही श्रीरामजीने सब बखानकर कहा वैसे ही प्रभुके चरणोंको हृदयमें धरकर वे अग्निमें समा गईं ॥३॥ श्रीसीताजीने अपना प्रतिबिंब वहाँ रखा जिसमें वैसा ही शील, सुन्दरता और अत्यन्त विनम्रता थी ॥४॥ भगवान्‌ने जो कुछ लीला रची उस भेदको लक्ष्मणजीने भी न जाना ॥५॥

टिप्पणी—१ 'जबहि राम सब कहा बखानी। प्रभु पद००' इति। (क) पूर्व 'व्रत रुचिर' कहा, उसीको यहाँ चरितार्थ किया। व्रत रुचिर है। 'काय वचन मन पतिपद प्रेमा' यही पातिव्रत्यकी रुचिरता है। इनका पतिपदमें ऐसा ही प्रेम है, अतः 'पतिपद धरि हिय' कहा। पतिपद हृदयमें धरना धर्म है। पुनः, इन चरणोंसे गंगा निकली हैं—'नख निर्गता सुरवंदिता त्रैलोक्यपावन सुरसरी', अतएव इनके धारण करनेसे अग्निमें शीतलता बनी रहेगी। (खर्रा)।

नोट—१ 'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता' इति। वाल्मी० ३.४५.३७ में सीताजीने लक्ष्मणजीके सामने प्रतिज्ञा की है कि मैं तीक्ष्ण विष पी लूँगी, अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगी, पर श्रीराघवके अतिरिक्त किसी अन्य पुरुषका स्पर्श न करूँगी। यथा 'पिबामि वा विषं तीक्ष्णं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्। न त्वहं राघवादन्यं कदापि पुरुषं स्पृशे।' इस वचनके आधारपर रामाभिरामीय टीकाकार कूर्म-पुराणका अवतरण 'जगाम शरणं वह्निं आवसथ्यं शुचिस्मिता।...' देकर कहते हैं कि वाल्मीकीयमें भी असली सीता अग्निमें समा गईं, रावण माया-सीताको हर ले गया, नहीं तो सीताजीकी उपर्युक्त प्रतिज्ञा ही असत्य हो जायगी।

अ० रा० में भगवान्‌ने सीताजीसे कहा है कि रावण भिक्षुकरूप धरकर आवेगा, अतः तुम अपने ही समान आकृतिवाली अपनी छायाको कुटीमें छोड़कर अग्निमें प्रवेश कर जाओ। यथा 'रावणो भिक्षुरूपेण आगमिष्यति तेऽन्तिकम्। त्वं तु छायां त्वदाकारां स्थापयित्वोटजे विश ॥३.७.२॥',

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी लिखते हैं कि यहाँ 'प्रतिबिंब' का अर्थ 'प्रतिकृति' या 'प्रतिमान' है। 'छाया सीता' शब्दका प्रयोग मानसमें नहीं मिलता है। हाँ, 'माया सीता' मिलता है—'पुनि माया सीता कर हरना'। इसी प्रकार 'प्रतिबिंब'=मायासे निर्मित सम्पूर्ण लक्षणोंवाली सीताजीकी प्रतिमूर्ति। इस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग मानसमें हुआ भी है। यथा 'हरि प्रतिबिंब मनहुँ अति सुंदर।७.२५.७' (लव और कुश दोनों भाई भगवान्‌की मानों दो प्रतिमूर्ति ही हैं)। अमरकोशमें भी यह अर्थ है। यथा 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया प्रतिकृतिरर्चापुंसि प्रतिनिधिः।'

वैजनाथजीका मत है कि ऋषिकन्या वेदवतीने प्रभुकी प्राप्तिके लिए तप किया। उसको देख कर रावणने उसे जबरदस्ती पकड़कर लंकाको ले जाना चाहा। तब उसने शाप दिया कि तेरा नाश मेरे ही द्वारा होगा। यह कहकर उसने अपना वह शरीर छोड़ दिया। वही यहाँ श्रीसीताजीका प्रतिबिंब है, उसीमें श्रीसीताजीका आवेश हुआ। इसी कारण श्रीसीताजीको अग्निमें निवास करनेको कहा गया। एक वेदवतीकी कथा वाल्मीकीय उत्तरकांडमें है पर वह वेदवती अयोनिजा सीता हुई है न कि सीताका प्रतिबिंब।

एक दूसरी वेदवतीकी कथा स्कन्द पुराण वैष्णवखण्डके भूमिवाराह खण्डमें है। वेङ्कटाचलनिवासी वीरपति भगवान्‌ने वकुलमालिका सखीसे वहाँ कहा है कि 'जब रावण सीताको हर ले जानेके लिए मेरे आश्रमके समीप आया उस समय मेरे अग्निहोत्रगृहमें विद्यमान अग्निदेव, रावणकी ऐसी चेष्टा जानकर, सीताको साथ ले पातालमें चले गए और अपनी पत्नी स्वाहाकी देख-रेखमें उन्हें रखकर लौट आए।

पूर्वकालमें कल्याणमयी वेदवतीको एक बार रावणने स्पर्श कर लिया था जिससे दुःखित होकर उन्होंने प्रज्वलित अग्निमें अपने शरीरको त्याग दिया। उसी वेदवतीको रावणका संहार करनेके उद्देश्यसे अग्निदेवने सीताके समान रूपवाली बना दिया और मेरी पर्णशालामें सीताके स्थानपर उसे लाकर रख दिया। रावण उसीको अपहरण करके लङ्कामें ले आया। रावणवध हो जानेपर अग्निपरीक्षाके समय वेदवतीने अग्निमें प्रवेश किया और असली सीताको लाकर अग्निदेवने देकर वेदवतीको मुझसे वरदान दिलाया। मैंने उसे वरदान दिया कि कलियुगमें यह आकाश राजाकी अयोनिजा कन्या होगी तब मैं इसे अङ्गीकार करूँगा, तबतक यह ब्रह्मलोकमें निवास करे।

मानसकी 'सीता' स्वयं अपना प्रतिबिंब अपने स्थानपर छोड़ती हैं और अग्निमें निवास करती हैं। मानसके राम रावणका निश्चय जानकर स्वयं यह लीला रचनेको, युक्ति बनानेको सीताजीसे कहते हैं और पति-रुख-लखकर वे वैसा करती हैं। इससे मानसकी यह कथा वाल्मीकीय और स्कन्दवाले कल्पोंसे भिन्न कल्पकी जान पड़ती है और साहित्यिज्ञ लोग ऐसा कहेंगे कि मानसके इस प्रसंगका मूल आधार स्कन्दपुराण है।

रा० प्र० कार लिखते हैं कि प्रतिबिंब अव्यवहित देशमें रहता है, व्यवहित ( पृथक् किये हुए ) देशमें उसका रहना असंभव है। और समाधान यह करते हैं कि इससे ईश्वरता दिखाई है। असंभवको संभव कर देना ईश्वरता है।

प० प० प्र०—श्रीसीताजीके और वेदवतीके अग्निप्रवेशसे यह सिद्ध होता है कि मानवी देहका रूपान्तर पाँच भूतोंमेंसे किसी भी एक भूतमें हो सकता है। श्रीतुकाराम महाराज शरीरको वायुरूप बनाकर सदेह वैकुण्ठको गये। श्रीरामानुजाचार्यजी अपनी देहको अग्निरूप बनाकर सदेह गये। श्रीनिवृत्तिनाथजीने अपनी कायाको कुशावर्त्तमें जलरूप बना दिया।

टिप्पणी—२ 'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता''' इति। श्रीरामचन्द्रजीने स्पष्ट न कहा कि प्रतिबिंब यहाँ रख दो। पर उन्होंने पतिरुख देख ऐसा किया। 'पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू।१.३३४।', माताओंकी इस शिक्षाको यहाँ चरितार्थ किया। स्त्रीमें चार गुण विशेष हैं—शील, स्वरूप, विनीत और व्रत रुचिर। इसीसे इन चारोंको यहाँ कहा।

टिप्पणी—३ (क) 'लछिमन गए बनहिं जब लेन मूल फल कंद' इतनी ही देरमें यह सब चरित रचा गया। जब वे आ गए तब वक्ता कहते हैं कि "लछिमनहूँ यह मरमु न जाना"। क्यों न जाना? इसका कारण प्रथम ही कह दिया कि "निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता"। ( ख ) यहाँ सूक्ष्मरीतिसे प्रकरणकी समाप्ति दिखाई। लक्ष्मणजी प्रातःकाल स्नान, संध्या, पूजन करके वनको गए। रावण प्रातःकाल उठकर मारीचके यहाँ गया, वहाँसे मारीचको लेकर मध्याह्नमें सीताहरण करने गया, अतएव मध्याह्नके पूर्व ही सीताजीका अग्निमें स्थापन हुआ। "लछिमन गए बनहिं०" उपक्रम है और 'लछिमनहू यह मरम न जाना' उपसंहार है। ( ग ) लक्ष्मणजीको यह लीला न जनाई, क्योंकि उनके जान लेनेसे विरह न करते बनता। प्रभुने महारानीजीसे कहा है कि 'मैं कछु करबि ललित नर लीला'। यदि लक्ष्मणजीको जना देते तो लीलाका वह लालित्य जाता रहता। इसीसे वहाँ "ललित" पद दिया। अथवा, नारदशापवाले अवतारमें नारदवचन सत्य करना है कि 'नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी'। ये जान लेंगे तो नारदवाक्य सत्य न हो पायेंगे। ( खर्रा )। 'लछिमनहूँ' का भाव कि ये ईश्वरकोटिमें रामरूप हैं, जब इन्होंने ही न जाना तो अपर देवादि किस गिनतीमें हैं। (प्र०)। जिस चरितको भगवान् गुप्त रखना चाहें उसे कौन जान सकता है? कोई भी नहीं। यथा 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई। १.१२८।', "होइहि सोइ जो राम रचि राखा। १.५२.७।", "सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।२.१२७।" रावणका निश्चय तो किसीने जाना नहीं, तब श्रीरामजीका रहस्य कौन जान सकता है जबतक उनकी स्वयं इच्छा न हो? ]।

४ "जो कछु चरित रचा भगवाना" इति ( क ) भगवान् वह है जो विद्या और अविद्याको जाने, यहाँ

मायाकी सीता बनीं, इसको आप ही जानते हैं। (ख) भगवान्ने यह चरित लक्ष्मणजीसे गुप्त रखा, अतः गोस्वामीजीने भी अक्षरोंमें ही गुप्त कहा। अर्थात् यह न कहकर कि 'जो यह चरित रचा', यह कहा कि 'जो कछु चरित रचा'। 'कछु' क्या? यह गुप्त रखा है, स्पष्टवाचक शब्द यहाँ नहीं दिया। धन्य गुसाईंजी !!

नोट—२ बालकाण्ड कैलासप्रकरणमें दिखाया जा चुका है कि श्रीपार्वतीजीके दो प्रश्न ये भी हैं—'औरौ राम रहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका।' और 'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयालु राखहु जनि गोई'। उन प्रश्नोंका उत्तर यहाँ (इस कांडमें) भी तीन स्थलोंपर दिया गया है—(१) मुनिसमूह महँ बैठे सनमुख सबकी ओर'; (२) 'मायानाथ अस कौतुक करयो। देखहिं परस्पर राम'; (३) 'लछिमनहू यह मरम न जाना।' ये सब गुप्त रहस्य हैं। पहला और दूसरा प्रथम प्रश्नका उत्तर है और तीसरा दूसरे प्रश्नका।

रा० प्र० श०—'उमा' आदि संबोधन दो ही स्थानोंमें हैं, या तो उनके गुप्त प्रश्नोंपर या 'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई' इस प्रश्नके उत्तरमें। जैसे—"औरउ एक कहौं निज चोरी। सुनु गिरिजा००", 'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ', 'छन महँ सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना'—ये सब इस प्रश्नके उत्तर हैं। और 'उमा जे रामचरन रत गत ममता मद क्रोध' यह गुप्त प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है। ☞ [ यह तो रघुनाथजीके रहस्यकी बात हुई। परन्तु जहाँ श्रीजानकीजीकी महिमा कही है वहाँ केवल रघुनाथजीका ही जानना लिखा है। वह भी ग्रंथभरमें केवल दो ही स्थानों में—एक तो बालकांडमें; यथा 'जानी सिय बरात पुर आई। कछु निज महिमा प्रगटि जनाई।'''।३०६।'''सिय महिमा रघुनायक जाना'। दूसरे अयोध्याकांडमें; यथा "सीय सासुप्रति बेष बनाई।'''लखा न मरमु राम बिनु काहू।२.२५२।' ये सब भी 'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई' का ही उत्तर है। ☞ इसी तरह श्रीजानकीजी ही श्रीरामजीके मनकी जानती हैं। यथा 'पिय-हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी।२.१०२।', 'अनुज सेवक सचिव हैं सब सुमति साधु सखाउ। जान कोउ न जानकी बिनु अगम अलख लखाउ॥ राम जोगवत सीय-मनु प्रिय मनहि प्रानप्रियाउ।' (गी० ७.२५)। इसका कारण यह है कि श्रीसीताजी और श्रीरामजी एक ही हैं, देखने मात्रको दो हैं। और कोई इनके गोप्य चरितोंको बिना इनके जनाये नहीं जान सकता।—'सो जानइ जेहि देहु जनाई'। ]

## दसकंधर-मारीच-बतकही-प्रकरण

दसमुख गयउ जहाँ मारीचा। नाइ माथ स्वारथरत नीचा ॥६॥
नवनि नीच कै अति दुखदाई। जिमि अंकुस धनु उरग बिलाई ॥७॥
भय दायक खल कै प्रिय बानी। जिमि अकाल के कुसुम भवानी ॥८॥

अर्थ—दशमुख (रावण) वहाँ गया जहाँ मारीच था और माथा नवाया (क्योंकि) स्वार्थपरायण (स्वार्थ ही जिसको प्रिय है) और नीच है ॥६॥ नीचका नवना (दीनता, नम्रता) अत्यन्त दुःखदायी होता है जैसे अंकुश, धनुष, सर्प और बिल्लीका ॥७॥ हे भवानी! दुष्टकी प्रिय वाणी भय देनेवाली होती है जैसे बिना समय (ऋतु) के फूल (भयदायक होते हैं) ॥८॥

टिप्पणी—१ (क) 'चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ। बस मारीच सिंधुतट जहवाँ' उपक्रम है और 'दसमुख गयो जहाँ मारीचा' उपसंहार है। (ख) 'दशमुख' का भाव कि इसके सामने एक मुखवाले मारीचकी कुछ न चलेगी। [इस प्रसंगमें "जाइ सूपनखा रावन प्रेरा। २७.५।" से लेकर 'हारि परा खल बहु बिधि'''। २६।' तक रावण नाम दो ही बार प्रयुक्त हुआ है। एक २७.५ में, दूसरे 'क्रोधवंत तब रावन लीन्हिसि रथ बैठाइ' दोहा २८ में। और 'दसमुख', 'दसानन', 'दसकंधर', वा 'दससीस' ये समानार्थक शब्द दश बार आए हैं। इन शब्दोंके प्रयोगका कारण यह है कि रावणके शरीरके आकारादिकी कल्पना चित्त-चक्षुके सामने

जितनी स्पष्ट इन शब्दोंसे खड़ी हो जाती है उतनी रावण, निशाचरपति, आदि अन्य शब्दोंसे नहीं होगी। (प० प० प्र०)। पुनः, 'दशमुख' का भाव कि वह ऐसे अभिमानसे कह रहा है मानों दशो मुखों से कह रहा है।] (ग) 'नाइ माथ स्वारथरत नीचा'। अर्थात् भक्तिसे मस्तक नहीं नवाया, स्वार्थवश प्रणाम किया, क्योंकि नीच है, नीच लोग स्वार्थ-साधनार्थ ऐसा करते हैं। इसीकी व्याख्या आगे कवि स्वयं करते हैं। यदि भक्तिसे प्रणाम करता तो आगे फिर मारनेको न तैयार होता। (घ) राजा गुरु, देवता, साधु, ब्राह्मणको मस्तक नवावे, यह धर्म है। अन्यको मस्तक नवाना उचित नहीं है। जिस रावणके सम्बन्धमें कहा है कि 'रवि ससि पवन वरुन धनधारी। अगिनि काल जम सब अधिकारी॥ आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन विनीता।१।१८२।', वह दूसरेको जो अपने अधीन हैं माथा नवावे, यह नीचता है। [वाल्मी० ३.४० में रावणने स्पष्ट कहा है कि "मैं राजा हूँ। राजा अग्नि, इन्द्र, चन्द्रमा, यम और वरुणका रूप है। उसका सब स्थानोंमें सम्मान करना चाहिए पर तुम मंत्रीका धर्म भूलकर बिना मेरे तुमसे मंत्र पूछे तुमने कठोर वचन कहे"। राजा होकर उसने मंत्री और अपनी प्रजाको प्रणाम किया। अतः 'नीच' कहा। स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि रावण एकमात्र अपने स्वार्थके कारण राक्षसकुलका नाश करायेगा, अतः उसे नीच कहा। यथा 'स्वारथरत परिवार विरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी।७.४०।', 'आपु गए अरु तिन्हहू घालहिं। जे कछु सतमारग प्रतिपालहिं।' जो स्वार्थरत होते हैं वे चाहे कितने ही ऊँचे क्यों न हों पर नीच कर्म करनेमें किंचित् भी नहीं हिचकते। स्वर्गस्थ इन्द्रादिकी भी यही दशा है। यथा 'आए देव सदा स्वारथी', 'ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराइ विभूती।' (रावण स्वार्थवश मारीचका नाश कराने जा रहा है। अतः उसे 'नीच' कहा।)]

टिप्पणी—२ 'नवनि नीच कै अति दुखदाई।००' इति। (क) नमित होनेमें अंकुशादिकी उपमा दी और मधुर बोलनेमें कुसुमकी उपमा दी। दो बार उपमा देकर जनाया कि मधुर वचन कहकर प्रणाम किया है। अतः दोनोंकी उपमा दी। खल स्वार्थ हेतु प्रिय वचन बोलते हैं; यथा 'बोलहिं मधुर वचन जिमि मोरा। खाहिं महाअहि हृदय कठोरा'। प्रिय वाणीकी उपमा प्रायः फूलकी दी जाती है, यथा 'बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत वचन झरत जनु फूला।१.२८०।', 'मातु वचन सुनि अति अनुकूला। जनु सनेह सुरतरु के फूला।२.५२।'; पर खलकी वाणी प्रिय होनेपर भी भयदायक है, यह जनानेके लिए 'अकालके कुसुम' की उपमा दी। विना समयके ऋतुके पहले या पीछे, फूल निकलना अपशकुनसूचक है, राजा और प्रजाको भय उपजानेवाला है। (ख) अंकुश नया और हाथीके मस्तकपर धँसा धनुष विशेष नया (जैसा खींचकर बाण चढ़ाने और निशाना करनेपर लचता है) कि किसीका घात किया, सर्प झुका कि लपककर काटा, बिल्ली दबकी (सिमिटकर बैठी) कि मूसा आदिको लिया। सब दूसरेको दुःख देनेके लिये ही नवते हैं। (शिला)। पुनः, (ग) अंकुश और धनुप दूसरेके प्रेरनेसे दुःख देते हैं, सर्प और बिल्ली स्वतः भी दुःख देते हैं और दूसरेकी प्रेरणासे भी। रावणको शूर्पणखाने प्रेरित किया और फिर अपनी इच्छासे भी रावणने यही निश्चय किया।

प० प० प्र०—श्रीमद्गोस्वामीजी प्रायः केवल अर्थ या सिद्धान्तके दृढ़ी-करणके लिए अनेक दृष्टान्त नहीं देते। वे अनेक दृष्टान्तोंका उपयोग प्रायः तभी करते हैं जब एक दृष्टान्तसे वक्तव्य पूरा नहीं होता और विशेषार्थका बोध कराना आवश्यक समझते हैं। इसी भावसे यहाँ चार दृष्टान्त दिये गए हैं। देखिए, अंकुश छोटा होता है। वह दुःख भर देता है और वह भी दूसरोंको शक्तिसे, पर वध नहीं करता। धनुप स्वयं पीड़ा नहीं देता पर दूसरोंको बहुत प्रेरणा और चैतन्यता तथा गति और शक्ति देता है, आप सुदूर रहता है। वैसे ही यह दृष्टान्त उन लोगोंके लिए है जो स्वयं बाजूमें रहकर बिना कारण ही दूसरेके हाथोंसे, दूसरोंके द्वारा प्राणघातक दुःख भी दे सकते हैं—'अन्यस्य दशति श्रोत्रम् अन्यः प्राणैर्वियुज्यते'। 'उरग' स्वयं ही डस-कर प्राण ले लेता है, पर बिना कारण नहीं। यह दृष्टान्त उन दुर्जनोंके लिए है जो दूसरोंको स्वयं ही शिक्षा

( दंड ) देते हैं जो भी उनका स्पर्श करें। 'बिलाई' के दृष्टान्तसे स्वाभाविक वैर जनाया। इस तरह यहाँ चार प्रकारके नीचोंका दिग्दर्शन कराया है। ( चारों प्रकारकी नीचता रावणमें दिखाई )।

☞ कथाके संदर्भका किंचित् आश्रय लेकर नीतिके सिद्धान्तोंको सहज सुलभ दृष्टान्तोंसे ग्रथित करना यह तुलसी काव्यकलाका एक वैशिष्ट्य है।

टिप्पणी—३ (क) [ नम्रता और प्रियवाणी ये दोनों गुण हैं और सुखदायक हैं, परन्तु खलमें इनका होना स्वार्थसाधनके प्रयोजनसे ही होता है। अतः उसमें ये अवगुण और दुःखदायी कहे गए। यहाँ उदाहरण, लेश और विरोधाभास अलंकार हैं। बिल्ली सर्प आदि झुके तो समझ लो कि घात करना ही चाहते हैं ] ( ख ) 'भयदायक खल कै प्रिय बानी' से जनाया कि कठोर वाणी तो भयदायक होती ही है और खल प्रायः कठोर वचन बोलते हैं; यथा 'बचन बज्र जेहि सदा पियारा'। जब कठोर बोलते हैं तब उनके लिए वज्रकी उपमा देते हैं, और 'प्रिय' बोलनेमें अकालके फूलकी उपमा देते हैं क्योंकि यह उनकी प्रकृतिके विरुद्ध है जैसे वह फूल प्रकृतिके नियमके प्रतिकूल हैं। अतः, दोनों भयदायक हैं। पुनश्च यथामत्स्यपुराणे—'अद्भुतानि प्रसूयन्ते तत्र देशस्य विद्रवाः। अकाले फलपुष्पाणि देशविद्रवकारकः ॥१॥ दुर्जनैरुच्यमानानि सम्मतानि प्रियाण्यपि। अकाल कुसुमानीव भयं संजनयन्ति हि ॥२॥' अर्थात् देशमें भयानक काल उपस्थित होनेपर आश्चर्यजनक बातें पैदा होने लगती हैं। अकालके फल फूल देशमें भयानकता उपजानेवाले होते हैं। यदि दुर्जनोंके मुँहसे प्रिय सम्मतियाँ भी निकलें तो अकाल कुसुमोंकी तरह अवश्य भय पैदा करती हैं। (मा०म० इसे पद्मपु० का और पं० रा० कु० मत्स्य पु० का श्लोक कहते हैं)। [ रामचन्द्रजीके लङ्कामें पहुँचते ही वहाँ बिना समयके फल-फूल हुए, यह रावणके लिए अपशकुन हुआ, श्रीरामजीको उससे लाभ हुआ—'सब तरु फरे रामहित लागी। रितु अरु कुरितु कालगति त्यागी। ६.५।' अकालके कुसुमकी उपमा देकर जनाया कि मारीचवध होगा और निशिचरकुलका नाश—यह प्रियवाणीका फल हुआ ]

मा० हं०—पूर्वोक्त दोहा २३ ( ३-६ ) का लेख देखिए। विचारोंसे स्वामीका अपना रावण कहींसे भी लिया हुआ नहीं है। उनका रावण कभी कामी, कभी क्रोधी, कभी वक्रध्यानी, कभी स्त्रियोंको डरानेवाला, कभी उनसे भी डरनेवाला, इस प्रकारका हुआ है। इसीलिए स्वयं गोसाईंजी कहते हैं कि अध्यात्म और वाल्मीकिकी अपेक्षा उनके रावणसे विशेष डरकर ही रहना भला है। क्योंकि 'नवनि नीचकी अति दुखदाई। जिमि अकालके कुसुम···' यानी "अव्यवस्थितचित्तस्य प्रसादोऽपि भयङ्करः"। इन सब कारणोंसे एवं कवि-परिचय* से ज्ञात होता है कि गोसाईंजीने अपने रावणका वर्णन अकबरका लक्ष्य करके बनाया है।

**दोहा—करि पूजा मारीच तब सादर पूछी बात।**
**कवन हेतु मन ब्यग्र अति अकसर आएहु तात ॥२४॥**

शब्दार्थ—अकसर [एक+सर (प्रत्यय)]=अकेले। ब्यग्र=उदास।

* गोसाईंजीकी रामायणका काल अकबर बादशाहीका था। उस अमलदारीकी जो भीतरी बातें थीं वे धूर्तताकी थीं, फलस्वरूप हिन्दूधर्मकी ग्लानि, राजपूत स्त्री-पुरुषोंकी घोर विडंबना, जातिव्यवस्थापर प्रहार, बालविवाहकी रुकावट, विधवाविवाह प्रोत्साहन, यावनी धर्मका प्रचार, फारसीभाषा और मुसलमानी प्रथाओंका मनमाना फैलाव, 'कंटकं कंटकेनैव' की राजनीति इ० इ० हैं। मुगलोंकी अमलदारीका हेतु और उसके भावी परिणाम, गोस्वामीजीके व्यापक निरीक्षणमें शीघ्र ही आ चुके थे। ये ही अत्याचार गोसाईंजी के दैनिक दृश्य बन गए और इन्हीं दृश्योंपर उन्होंने रावणके अत्याचारकी छाप लगा दी और दूसरे ही क्षण बड़े त्वेषसे 'जिन्हके यह आचरण भवानी। ते जानहु निसिचर सब प्रानी' इस असंबद्ध चौपाईको बीचहीमें घुसेड़कर उन्होंने अपने रावणको ध्वनित कर दिया।···अकबरकालीन देशस्थितिका वर्णन गोसाईंजीने ( कवित्त रामायणमें ) कैसी हृदयस्पर्शी वाणीसे किया है—शंकाकार उसे अवश्य देखें।—(मा० हं०)।

अर्थ—तब मारीचने पूजा करके आदरपूर्वक बात पूछी। हे तात! किस कारण तुम्हारा मन अत्यन्त चिन्तित है जो तुम अकेले आए हो ॥२४॥

टिप्पणी—१ रावणने स्वार्थवश होकर अपनी मर्यादा छोड़ दी, माथा नवाया। मारीचने अपनी मर्यादा रखनेके लिए पूजा की। पूजा करके तब आगमनका हेतु पूछा। इसी प्रकार पूछनेकी रीति है, यथा 'चरन पखारि कीन्हि अति पूजा। मो सम आजु धन्य नहिं दूजा॥'''केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावौं बारा। १.२०७।' इति दशरथवाक्य विश्वामित्रं प्रति। पुनः, यथा 'करि पूजा समेत अनुरागा। मधुर बचन तब बोलेउ कागा॥ नाथ कृतारथ भएउँ मैं तव दरसन खगराज। आयसु देहु सो करउँ अब प्रभु आयेहु केहि काज। ७.६३।'

नोट—१ अ० रा० में भी ऐसा ही है। यथा '''पूजयित्वा यथाविधि। कृतातिथ्यं सुखासीनं मारीचो वाक्यमब्रवीत् ।३.६.४। समागमनमेतत्ते रथेनैकेन रावण। चिन्तापर इवाभासि हृदि कार्यं विचिन्तयन्। ५।'

**दसमुख सकल कथा तेहि आगें। कही सहित अभिमान अभागें॥१॥**
**होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी। जेहि बिधि हरि आनौं नृप नारी॥२॥**

अर्थ—भाग्यहीन दशाननने अभिमानसहित सारी कथा उसके सामने कही॥१॥ (फिर बोला—) तुम छल करनेवाले कपटमृग बन जाओ, जिस प्रकारसे मैं राजाकी स्त्रीको हर लाऊँ॥२॥

नोट—१ अभिमानसहित बोलनेके सम्बन्धसे 'दसमुख' कहा, मानों दशों मुखोंसे कह रहा है। श्रीरामजीसे वैर ठाना, अतः अभागा कहा। यथा 'वेद पढ़ैं विधि संभु सभीत पुजावन रावन सों नित आवैं। दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहि तें सिर नावैं॥ ऐसेहु भाग भगे दसभाल तें जो प्रभुता कवि कोविद गावैं। राम से बाम भये तेहि बामहि बाम सबै सुख संपति लावैं॥ क० ७।२।', 'रामविरोध न उबरसि सरन विष्नु अज ईस'। जहाँ यह सुझाना होता है कि वैर करोगे तो दशशीश काटे जायँगे वहाँ प्रायः 'दशशीश' पद देते हैं।

२ अंकपनने आकर जब रावणसे खरदूषणादिके नाशका समाचार कहा और वह सुनकर बोला कि मैं अभी दोनोंको मारने जाता हूँ—'गमिष्यामि जनस्थानं रामं हन्तुं सलक्ष्मणम्' (वाल्मी० ३।३१।२१), तब अंकपनने दोनोंका बल प्रताप बखान कर कहा कि तुम उनको नहीं जीत सकते—'नहि रामो दशग्रीव शक्यो जेतुं रणे त्वया। रक्षसां वापि लोकेन स्वर्गः पापजनैरिव। वाल्मी० ३.३१.२७।'; यह कहकर उसने रावणसे उनके मारनेका यही उपाय बताया कि तुम उनको धोखा देकर उनकी सुन्दर स्त्रीको हर लाओ, उसकी सुन्दरताको देवी, गन्धर्वी, अप्सरा, पन्नगी कोई भी नहीं पा सकता, सीताके बिना रामचन्द्रजी जी नहीं सकते। इस सलाहको रावणने पसन्द किया। इसीसे सीताहरणका विचार उसके जीमें हुआ। अध्यात्ममें शूर्पणखाकी ही यह सलाह दी हुई जान पड़ती है। और मानसमें रावणका स्वयं अपना यह विचार जान पड़ता है। शूर्पणखाके 'तिन्ह के संग नारि एक स्यामा॥ रूपरासि बिधि नारि सँवारी। रति सत कोटि तासु बलिहारी॥' इन वचनोंने उसके कामी मनको उभारकर ये विचार उत्पन्न किये होंगे।

टिप्पणी—१ (क) 'तेहि आगे' अर्थात् इसीसे कहा, और किसीसे न कहा। एकान्तमें इससे कहा। (ख) 'सहित अभिमान' यह कि वे राजकुमार हैं, उनका छलना क्या? हमने तो देवताओं तकको छलसे वश कर लिया। (ग) "होहु कपटमृग तुम्ह छलकारी''नृपनारी"। शूर्पणखाने कहा था कि 'अवधनृपति दसरथ के जाये। पुरुषसिंघ बन खेलन आए' और 'तिन्ह के संग नारि एक स्यामा', यही मारीचको समझाकर कहा कि तुम कपटमृग बन जाओ, राजा हैं शिकार करेंगे, तुम उन्हें शिकारके बहाने सीताके निकटसे बहुत दूर ले जाकर कर दो, फिर स्त्रीका हरण हमारे हाथ है, हमने उसकी विधि सोच ली है। यती बनकर हरण करूँगा। उन्होंने हमारी बहिनको कुरूपा किया, हम उनकी स्त्री हरेंगे। (घ) छलकारी; यथा 'प्रगटत दुरत करत छल भूरी'। पुनः, रामजीके स्वरमें बोला यह छल किया। विशेष २७.१५ में देखिए।

तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा। ते नर रूप चराचर ईसा ॥३॥
तासों तात बयरु नहिं कीजै। मारें मरिअ जिआए जीजै ॥४॥

अर्थ—तब मारीचने (वा, मारीचने पुनः) कहा—'हे दशशीश! सुनो, वे मनुष्य रूपमें चराचरके स्वामी हैं ॥३॥ हे तात! उनसे वैर न कीजिए। उनके मारनेसे मृत्यु और जिलानेसे जीना होता है' ॥४॥

टिप्पणी—१ 'तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा...' इति। (क) 'पुनि' शब्द देकर जनाया कि एक बार पहले कहकर उसे वैरसे निवारण कर चुका है, अब 'पुनि' समझाता है। [पहले अकंपनने जनस्थानसे भागकर लंकामें आकर रावणको खबर दी तब वह मारीचके यहाँ गया और मारीचके समझानेपर लौट आया था। यथा 'एवमुक्तो दशग्रीवो मारीचेन स रावणः। न्यवर्तत पुरीं लङ्कां विवेश च गृहोत्तमम्॥ वाल्मी० ३.३१.५०।' इस कथाको 'पुनि' शब्दसे जनाकर वाल्मीकिके मतकी भी रक्षा की। दूसरा अर्थ 'पुनि' का तत्पश्चात् है।] (ख) 'दशसीसा'। जब कथा उसने मारीचसे कही तब 'दसमुख' पद दिया; यथा 'दसमुख सकल कथा तेहि आगे। कही सहित अभिमान अभागें'। कथा मुखसे ही कही जाती है। जब उसको वैरसे निवारण करनेकी बात कही तब 'दससीस' पद दिया, भाव कि वैर करनेसे दशो सिर काटे जायेंगे; यथा 'तब सिर निकर कपिन्हके आगें। परिहहिं धरनि राम सर लागें। ६.२७।' पुनः भाव कि बीसो कानोंसे सुनो और [दशों मस्तिष्कोंसे उसे विचार करो कि जो बात मैं कहता हूँ वह हित की है, उसे मानना चाहिए। (प० प० प्र०)] (ग) 'ते नररूप चराचर ईसा' इति।—भाव कि तुम उन्हें नृप समझते हो, यह भूल है। वे नृप नहीं हैं, नर रूप धारण किए हुए चराचरके ईश हैं।

२ 'तासों तात बयरु नहिं कीजै...' इति। (क) भाव कि वैर बराबरवालेसे करना चाहिए। बड़ेसे वैर करनेसे हानि है; यथा 'प्रीति विरोध समान सन करिय नीति अस आहि। ६.२३।', 'नाथ बयरु कीजे ताही सों। बुधि बल सकिय जीति जाहीं सों॥ तुम्हहिं रघुपतिहि अंतर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहि जैसा॥... तासु बिरोध न कीजिय नाथा। काल करम जिव जाके हाथा॥ ६.६।' [वैर करनेसे क्या होता है यह देखिये—'राम बिमुख सुख पाव न कोई', "राम बिमुख सठ चहसि संपदा।", 'राखि को सकइ राम कर द्रोही॥', 'मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥ मित्र करइ सत रिपु कै करनी। ता कहँ बिबुध नदी बैतरनी॥ सब जगु ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥ ३.२.५-८।' (प० प० प्र०)] (ख) 'मारे मरिय जियाये जीजै'। भाव कि वे त्रिदेवरूप हैं, शिवरूप मारनेमें, विष्णुरूप पालने या जिलानेमें और ब्रह्मारूप रचना करनेमें। उन्होंने सुबाहुको मारा, खरदूषणादि उनके मारनेसे मरे, हम उनके जिलानेसे जीवित हैं, नहीं तो कबके मार डाले गये होते। (खर्रा)।

मुनि मख राखन गएउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा ॥५॥
सत जोजन आएउँ छन माहीं। तिन्ह सन बयरु किए भल नाहीं ॥६॥
भइ मम कीट भृंग की नाई। जहँ तहँ मैं देखौं दोउ भाई ॥७॥

शब्दार्थ—'फर'=नोकीला अग्रभाग जो शरीरको वेध देता है, गाँसी। 'भृंग'—एक प्रकारका कीड़ा जिसे बिलनी भी कहते हैं। इसके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि यह किसी कीड़ेके ढोलेको पकड़कर ले आता है और उसे मट्टीसे ढक देता है और उसपर बैठकर और डंक मारमारकर इतनी देर तक और इतने जोरसे भिन्न भिन्न शब्द करता है कि वह कीड़ा भी इसीकी तरह हो जाता है।

अर्थ—वह कुमार मुनि (विश्वामित्र) के यज्ञकी रक्षाको गए थे। रघुनाथजीने बिना फलका बाण मुझे मारा ॥५॥ क्षण भरमें मैं सौ योजन (४०० सौ कोस) आ गिरा। (वा सौ योजन चौड़े समुद्रके पार यहाँ आया)। उनसे वैर करनेमें भला नहीं है ॥६॥ मेरी दशा भृंगवाले कीड़ेकी सी हो गई, मैं जहाँ तहाँ दोनों भाइयोंको ही देखता हूँ ॥७॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा…' इति। अर्थात् मुझे जीता रक्खा कि आगे सीताहरणमें इससे काम चलेगा और मेरे भाई सुबाहुको मार डाला। बचानेके लिये ही फर रहित बाणसे मुझे लंका तटपर फेंका था और अब फर सहित मारेंगे तो मेरा मरण अवश्य होगा जैसे सुबाहुका हुआ; यथा 'बिनु फर राम बान तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा॥ पावकसर सुबाहु पुनि मारा॥ १.२१०' बक्सरसे दक्षिण समुद्र ४०० कोश है और सागर भी ४०० कोश चौड़ा है। "मारे मरिय जियाये जीजै" को यहां चरितार्थ किया। [ नोट—कोष्ठकका अर्थ वालकाण्डके 'सत जोजन गा सागर पारा' के समानाधिकरणके विचारसे दिया गया है। वहाँ इसपर विचार भी किया गया है। ] (ख) 'कुमारा' से यह भी जनाया कि जब उनकी कौमारावस्था थी तब की यह बात है और अब तो वे बहुत बड़े हो गए हैं। ये यज्ञ रक्षाके लिए गए थे और मैं सेना सहित यज्ञ विध्वंस करने गया था। ( इसी तरह हनु० १४-३४ में मन्दोदरीके वाक्य हैं। यथा उत्पाटयन्किमपि कौणपकोटिमन्तस्तेजो हुताशनसमिन्धनसामिधेनीम्। हस्ताढकीमकृत बालतरः पृषत्कैरीषञ्जयं स्फुटमनेन दशाननोऽपि॥' अर्थात् अत्यन्त बाल्यावस्थामें उन्होंने ताड़काके हृदयकी अग्निमें अनेक राक्षसोंका हवन कर दिया था और अब तो वे तरुण और लघुहस्त हैं ) [ ( ग ) 'रघुपति' का भाव कि रघुवंशी किसी महावीरने जिस कार्यके करनेका कभी प्रयत्न भी नहीं किया उसीको इन्होंने केवल बालकेलिके धनुषसे साध्य किया। ( प० प० प्र० ) ]

२ 'भइ मम कीट भृंगकी नाईं' इति। ( क ) जैसे कृष्णभगवान् कंसको सर्वत्र देख पड़ते थे वैसे ही इसे 'राम-लक्ष्मण' सर्वत्र देख पड़ते थे। तात्पर्य कि मैं भयके मारे उनके समीप नहीं जा सकता। ( ख ) 'देखौं दोउ भाई' कहा, क्योंकि यज्ञरक्षामें दोनों भाई साथ थे। (ग) भृंग और कीटका दृष्टान्त दिया क्योंकि भृंग कीड़ेको चारों ओर फिराता और उसे शब्द सुनाता है, वैसे ही रामबाणने इसे चक्रकी तरह भँवाया फिराया और यहाँ फेंका, अतएव भयभीत हुआ सर्वत्र उन्हींको देखता है।—[ जो कीट भृङ्गीसे छूटा तो भयके मारे उसे सर्वत्र भृङ्गी ही देख पड़ता है। भृङ्गी कीटको उड़ा ले जाता है वैसे ही बाण मुझे उड़ा लाया। केवल भय होता तो कंसकी उपमा देते, भृङ्गीकी न देते। ( खर्रा )। पर कंस द्वापरमें हुए हैं और यह प्रसंग त्रेताका है। ]

नोट—१ दूसरी बार जब रावण मारीचके पास गया तब उसने अपना पूर्व वृत्तान्त कहते हुए यह भी कहा कि पूर्व बिना फरके बाणसे तो मैं इधर आ गिरा था तथापि मुझे कुछ ग्लानि न हुई थी और मैं मृगरूप धरकर दण्डकारण्यमें मुनियोंको डरवाता और खाता रहा। उसके उपरान्त जो अद्भुत बात हुई वह सुनो। एक बार मैं दण्डकारण्यमें तपस्वी रामके समीप गया और उनके पराक्रमको भूलकर पुराना वैर यादकर मैं उनको सींगोंसे मारनेको बढ़ा। उन्होंने तीन बाण चलाए। मेरे दो साथी मारे गए। मैं किसी तरह भागकर बचा। बस उसी समयसे भयभीत होकर मैं बुरे कर्मोंको छोड़कर योगाभ्यासी तपस्वी हो गया हूँ। वृक्षवृक्षमें चीर, कृष्ण मृगचर्म और धनुष धारण करनेवाले रामको पाश लिए हुए यमराजके समान देखता हूँ। एकबारगी ही सहस्रों रामको एवं सारे वनको राममय ही देखता हूँ। यद्यपि वे यहाँ नहीं हैं तो भी सर्वत्र वे ही मुझे देख पड़ते हैं। स्वप्नमें भी उन्हें देखकर मैं घबड़ाता हूँ। जिन शब्दोंमें रकार आदिमें है उन्हें सुनकर मैं भयभीत हो जाता हूँ। यथा 'वृक्षे वृक्षे हि पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम्। गृहीतधनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम्।१५। अपि रामसहस्राणि भीतः पश्यामि रावण। राममूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे। १६। राममेव हि पश्यामि रहिते राक्षसेश्वर। दृष्ट्वा स्वप्नगतं राममुद्भ्रमामीव चेतनः। १७। रकारादीनि नामानि रामत्रस्तस्य रावण। रत्नानि च रथाश्चैव त्रासं जनयन्ति मे॥१८। वाल्मी० ३.३९।'

**जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा॥८॥**

दोहा—जेहिं ताड़का सुबाहु हति खंडेउ हर कोदंड ।
खरदूषन तिसिरा बधेउ मनुज कि अस बरिबंड ॥२५॥

अर्थ—हे तात ! यदि वे मनुष्य ही हों तो भी बड़े ही शूरवीर हैं । उनसे वैर करके पूरा न पड़ेगा ।८॥ जिन्होंने ताड़का और सुबाहुको मारकर शिवजीका धनुष तोड़ा और खरदूषण त्रिशिराका वध किया, क्या मनुष्य ऐसा प्रतापी बलवान हो सकता है ? अर्थात् कभी नहीं ॥२५॥

टिप्पणी—१ "जौं नर तात तदपि अति सूरा..." इति । (क) रावणके 'जेहि बिधि हरि आनहुँ नृपनारी' इन वचनोंका यह उत्तर है । ये वचन रावणकी 'खातिरी' के लिए कहे । (ख) इन शब्दोंसे स्पष्ट किया कि मारीचको इनके अवतारमें निश्चय है, मनुष्य होनेमें सन्देह है । "जौं नर" रावणकी खातिरीके लिए कहे । स्वयं उनको ईश्वर ही जानता है; यथा 'ते नर रूप चराचर ईसा' । पुनः, रावणने 'नर' कहा, यथा 'जेहि बिधि हरि आनौं नृपनारी' इसीसे उसने भी कहा कि 'जौं नर···अति सूरा' अर्थात् यदि नर ही मानते हो, जगदीश नहीं, तो भी वे शूरोंमें सर्वोपरि हैं ।

नोट—१ "तिन्हहिं बिरोधि न आइहि पूरा' में भाव यह है कि मैं विरोध करूँगा तो मैं तो मारा ही जाऊँगा पर तुम्हारा तो सपरिवार नाश होगा, इसका मुझे शोक है, इसीसे मैं समझाता हूँ । यथा 'अत्रैव शोचनीयस्त्वं ससैन्यो विनशिष्यसि ॥१६॥ मां निहत्य तु रामोऽसावचिरात्त्वां वधिष्यति ।···आनयिष्यसि चेत्सीतामाश्रमात्सहितो मया । नैव त्वमपि नाहं वै नैव लङ्का न राक्षसाः ॥१६॥ वाल्मी० ३.४१।' अर्थात् यदि तुम मेरे साथ जाकर सीताको ले आओगे तो मुझे, तुम्हें, लंका और समस्त राक्षसोंको कोई न बचा सकेगा ।

टिप्पणी—२ 'जेहि ताड़का सुबाहु...बरिबंड', अर्थात् ये सब काम मनुष्योंसे होनेवाले नहीं हैं, यथा "मारग जात भयावनि भारी । केहि बिधि तात ताड़का मारी ॥ घोर निसाचर बिकट भट समर गनहिं नहिं काहु । मारे सहित सहाय किमि खल मारीच सुबाहु ॥१.३५६।...कमठ पीठि पबि कठिन कठोरा । नृपसमाजु महुँ सिवधनु तोरा । सकल अमानुष करम तुम्हारे । केवल कौसिक कृपा सुधारे ॥' खरदूषणवधसे रावणको स्वयं ही संदेह हो गया कि ये नर नहीं हैं । मारीच ताड़का और सुबाहु आदिका वध तो पूर्वसे ही जानता था किन्तु खरदूषणादिका वध उसने रावणसे सुना; यथा 'दसमुख सकल कथा तेहि आगे । कही', नहीं तो रात्रिभरमें इससे और कौन आकर कहनेवाला था ।

३ मारीचने पहले अपना हाल कहकर तब अपनी माता और भाईका हाल कहा । प्रथम ताड़का वध हुआ, अतः प्रथम उसे कहा । आधे दोहे ( पूर्वार्ध ) में बालकांड और आधे (उत्तरार्ध) में अरण्यकांड कहा ।

नोट—२ श्रीरामचरितमानस सच्चा इतिहास है । तथापि इस इतिहासी चरित्रको लेकर आत्मरामायण भी बनाया गया है । उसका आध्यात्मिक रूपक द्वारा वर्णन भी ग्रन्थकारने स्वयं विनयपत्रिका पद ५८ में किया है जिसमें इस शरीरको ही ब्रह्माण्ड, सुप्रवृत्तिको लंकादुर्ग, मोह, अहंकार, कामादिको क्रमशः रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद आदि, जीवको विभीषण, इत्यादिसे रूपक दिया गया है । प्रेमी पाठक वहाँ देख लें । 'आत्मरामायण' में बहुत विस्तृत रूपक देखनेमें आया था । समग्र मानसमें इसी प्रकार विरक्त महात्माओंने आध्यात्मिक दृष्टिसे उसके अपरोक्षार्थ लगाए हैं । इस अर्थका जितना आधार मानसमें मिलता है इतना अन्य किसीभी रामायणमें नहीं मिलता । स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीके ऐसे अपरोक्षार्थ कुछ यहाँ दिये जाते हैं । ( १.३२५ छंद ४ में भी देखिए ) ।

प० प० प्र०—श्रीरामचन्द्रजी ( एवं प्रत्येक स्वहितसाधक ) प्रत्यगात्मास्वरूप हैं । ताड़का देहबुद्धि ( स्थूलदेह तादात्म्यबुद्धि ) है । सुबाहु, मारीच क्रमशः कारण और सूक्ष्म शरीर हैं । विश्वामित्रका यज्ञ ज्ञानसत्र है । शंकरजीका धनुष भव अर्थात् संसृति है । श्रीसीताजी परम शान्तिस्वरूपा हैं । जैसे श्रीरामजीने प्रथम ताड़काको मारा वैसे ही प्रत्येक साधकको प्रथम देहबुद्धिरूपिणी ताड़काका नाश करना आवश्यक है ।

उसका नाश किये बिना सुबाहुरूपी कारणदेह ( अज्ञान ) का नाश असंभव है। श्रीरामजीने मारीचको वायव्यास्त्रसे रामाकार करके अत्यन्त दूर रख दिया क्योंकि उससे आगे काम लेना है। इसी तरह सूक्ष्म देहरूपी मारीचको प्राण-निग्रहरूपी योगाभ्याससे वश किये बिना 'सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा।' प्रज्वलित नहीं हो सकती और इस तुरीयाके बिना जड़-चेतन-ग्रंथिका छूटना असंभव है। जब कीट भृंगके समान आत्माकार वृत्ति होती है तब हृदयमें 'आतम अनुभव सुखप्रकासा' छा जाता है। तत्पश्चात् सुबाहुरूपी कारणदेह-मूलाज्ञान-मूलाविद्या-जड़चेतनग्रंथि तोड़ना पड़ती है। सुबाहुका नाश अग्निबाणसे किया गया और यहां योग अग्नि है, यथा 'जोग अगिनि करि प्रकट...'।

मारीचरूपी सूक्ष्मदेह-लिङ्गदेहको प्रथम ही मार डालनेसे अहंकार ( ज्ञानाहंकार भी ) रूपी रावणका वध हो ही नहीं सकता। ज्ञानानुभूतिका दृढ़ीकरण अशक्य होगा, इसी लिये उसे भर्जित बीजके समान प्रारब्धक्षयान्ततक रखना ही पड़ता है। यहां बाधक मुख्याहंकारको समझना चाहिये न कि शास्त्रीय-साधक अहंकार अथवा गौण अहंकारको।

**जाहु भवन कुल कुसल बिचारी। सुनत जरा दीन्हिसि बहु गारी ॥१॥**
**गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा ॥२॥**

अर्थ—अपने कुलका कुशल विचारकर घर लौट जाओ। यह सुनकर रावण जल उठा और बहुत गालियाँ दीं ॥१॥ रे मूर्ख ! गुरुकी तरह मुझे ज्ञानोपदेश करता है। कह तो, संसारमें मेरे समान कौन योद्धा है ? ॥२॥

नोट—१ वाल्मी० ३.३१ में मारीचकी शिक्षा पढ़ने योग्य है, अतः कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है—"सीतामिहानयस्वेति को ब्रवीति ब्रवीहि मे। रक्षोलोकस्य सर्वस्य कः शृङ्गं छेत्तुमिच्छति ॥४३॥ प्रोत्साहयति यश्च त्वां स च शत्रुरसंशयम्। आशीविषमुखाद्दंष्ट्रामुद्धर्तुं चेच्छति त्वया ॥४४॥ कर्मणानेन केनासि कापथं प्रतिपादितः। सुखसुप्तस्य ते राजन् प्रहृतं केन मूर्धनि ॥४५॥ विशुद्धवंशाभिजनाग्रहस्तस्तेजोमदः संस्थितदोर्विषाणः। उदीक्षितुं रावण नेहयुक्तः स संयुगे राघव-गन्धहस्ती ॥४६॥ असौ रणान्तः स्थितिसंधिवालो विदग्ध-रक्षोमृगहा नृसिंहः। सुप्तस्त्वया बोधयितुं न शक्यः शराङ्गपूर्णो निशितासिदंष्ट्रः ॥४७॥ चापापहारे भुजवेग-पङ्के शरोर्मिमाले सुमहाहवौघे। न राम पातालमुखेऽतिघोरे प्रस्कन्दितुं राक्षसराजयुक्तम् ॥४८॥' अर्थात् हमसे यह कहो कि सीताको लंकामें लानेके लिये कौन कहता है। कौन राक्षसोंके लोकका शृंग काटना, उनके गौरवका नाश करना, चाहता है ? ॥४३॥ जो आपको इस विषयमें प्रोत्साहित करता है वह आपका शत्रु अवश्य है, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि वह विषधर सर्पके मुखसे विषवाला दाँत तुम्हारे हाथों उखड़वाना चाहता है ॥४४॥ हे राजन् ! इस जानकीके हरणरूप कर्मसे तुम्हें कुकर्म-पथमें चलना किसने सिखलाया है ? अपने घरमें सुखस्वरूप सोते हुए आपके मस्तकपर यह थपेड़ा किसने जमाया ? ॥४५॥ जिसका विशुद्ध इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न होना मानो सूँड़ है, तेज प्रताप ही महामद हैं, दीर्घबाहु ही दोनों दाँत हैं, ऐसे रामचन्द्ररूपी मदान्ध हाथीको आप छेड़ने योग्य नहीं ॥४६॥ हे रावण ! रणके मध्यकी स्थितिके लिये उत्सुकता ही जिसके संधि और बाल हैं, रणकुशल राक्षसरूपी मृगोंके नाश करनेवाले तीक्ष्ण बाण ही अंग हैं, तीक्ष्ण असि ही दाँत हैं, ऐसे सोते हुए रामचन्द्ररूपी नृसिंहको आप न जगाइये ॥४७॥ हे राक्षसराज रावण ! धनुषके चढ़ानेमें जो भुजाओंका वेग है वही जिसमें कीचड़ है और बाणोंका चलाना जिसमें लहरें हैं ऐसे अतिघोर रामरूपी पातालमुखमें कूदने योग्य आप नहीं हैं ॥४८॥

टिप्पणी—१ 'सुनत जरा दीन्हिसि बहु गारी ॥ गुरु जिमि...' इति। १—मारीचने बारंबार वैर छोड़नेका उपदेश किया। यथा 'तासों तात बैर नहिं कीजै। मारे मरिय जियाये जीजै', 'सतजोजन आयेउँ छन

माहीं। तिन्ह सन बैर किए भल नाहीं', 'जौं नर तात तदपि अति सूरा। तिन्हहिं बिरोधि न आइहि पूरा।' इसीसे वह जल उठा।

२ वैर-निवृत्तिका उपदेश जो देता है उसपर वह क्रुद्ध होता है, यथा 'मृत्यु निकट आई खल तोहीं। लागेसि अधम सिखावन मोहीं'—(हनुमन्त), 'बूढ़ भएसि नतु मरतेउँ तोही। अब जनि नयन दिखावसि मोही'—(माल्यवन्तः), 'पुनि दसकंठ रिसान अति तेहि मन कीन्ह बिचार। रामदूत कर मरउँ बरु यह खल रत मल भार'—(कालनेमिः)।

३ जो कोई भी दूसरे वीरकी बड़ाई करता है उसपर रावण क्रोध करता है। यथा 'रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ है कोऊ।५।४०', 'आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहसि लाज पति त्यागे।६।२६।'

**तब मारीच हृदय अनुमाना। नवहि बिरोधे नहिं कल्याना ॥३॥**

**सस्त्री मर्मी प्रभु सठ धनी। बैद बंदि कवि भानस* गुनी ॥४॥**

शब्दार्थ—भानस गुणी=महानस अर्थात् रसोईके काममें गुणवान्=कुशल रसोइया। महानसका अपभ्रंश 'भानस' 'म्हनस' और मांनस' भी हो सकता है।

अर्थ—तब मारीचने हृदयमें विचार किया कि शस्त्री (शस्त्रका पूरा ज्ञाता), भेदी, समर्थ स्वामी, शठ (मूर्ख), धनवान्, वैद्य, भाट, कवि और रसोइया इन नवसे वैर करनेसे कल्याण नहीं होता ॥३-४॥

नोट—१ चाणक्यनीतिमें ऐसा ही कहा है—'शस्त्री प्रभेदी नृपतिश्शठो वैद्यो धनी कविः। वंदी गुणीतिव्याख्यातैर्नवभिर्न विरुद्ध्यताम् ॥', भेद केवल इतना ही है कि यहाँ "भानस गुणी" है और श्लोकमें केवल 'गुणी' नवाँ है।

२ शस्त्री जो शस्त्र विद्यामें निपुण है एवं शस्त्रधारी। मर्मी जो अपना गुप्त भेद जानता है जैसे विभीषण रावणके नाभिमें अमृतकुंडका होना जानते थे। समर्थ जैसे राजा। शठ वह है जो अपनी हानि लाभ स्वयं नहीं जानता। भानसगुणी रसोई करनेवाला। इनसे विरोध करनेसे शस्त्री सिर ही काट लेगा। मर्मी शत्रुसे भेद बता देगा, राजा जीता न छोड़ेगा, मूर्ख मित्र भी हो तो शत्रुता कर लेगा, धनी रुपयेके बलपर अनेक मुकदमे लगाकर वा दूसरोंको लालच देकर वैरीको कष्ट देगा, वैद्य उलटी दवा न दे दे, भाट और कवि संसारमें अपकीर्ति फैला देंगे, रसोइया विष मिला देगा।

शिला—रावण शस्त्री है मार ही डालेगा, इसके हाथमें शस्त्र है। मेरा मर्म जानता है कि कितना बल है। राजा है, ढूँढ़कर मारेगा। शठ है इसे विचार नहीं कि मेरे उपदेशपर न चलनेसे कुलका नाश होगा, बात काटनेसे वैर बिसाहेगा। धनवान् है दूसरेके पास जा छिपूँ तो ऐश्वर्यके बलसे मुझे लेकर मारेगा, दूसरोंको धन देकर मरवा डालेगा। वंदी और कवि कवितामें अगणगण डालकर उससे अकल्याण करते हैं,

*भानस गुनी पं० शिवलाल पाठक और काशिराजकी प्रतियोंमें भी है काष्ठजिह्वास्वामीने उसका अर्थ रसोइया लिखा है। पं० रामगुलाम द्विवेदीने 'मानस गुनी' पाठ दिया है। वन्दनपाठकने "मानस गुनी" का अर्थ ज्योतिषी और सगुणिया किया है। 'मानस गुनी'—१७२१, १७६२, में। प्रज्ञानानंदजी बताते हैं कि संस्कृतमें भी कहीं-कहीं 'ह' के स्थानपर 'भ' आता है। यथा 'दोष गृभीत गुणाम्' (वेदस्तुति श्लोक)=दोषगृहीत गुणाम्। अमरकोषमें 'रसोइया' के लिए सूपकार, बल्लव आरालिक, आन्धसिक, सूद, औदनिक और गुण, ये सात शब्द आये हैं। यथा 'सपकारस्तु बल्लवाः। आरालिका आन्धसिकाः सूदा औदनिका गुणाः।' इनमेंसे 'गुण' शब्दके लिए ही चाणक्यनीतिमें 'गुणी' शब्द आया है। 'गुणी' शब्द अनेकार्थवाची है और एकार्थनिर्णयके लिये श्लोकमें कुछ भी साधन नहीं है, इसीसे गोस्वामीजीने यहाँ उसका अर्थ स्पष्ट कर दिया कि 'गुणी' का अर्थ "भानस गुणी" अर्थात् "पाकशालामें निपुण' है।

वैसे ही यह पंडित है मेरा नाश करेगा। 'मानस गुणी' अर्थात् सगुणिया वा ज्योतिषी है जहाँ जाकर छिपूँगा जान लेगा। [ 🖙 पर यहाँ शस्त्री प्रस्तुत है, अतः उसे प्रथम कहा। शेष सब नीति उपदेशमें कहे गए। यह अभिप्राय नहीं है कि ये सब बातें रावणमें हों ही। ( मा० सं० ) ]

मा० म०—किनका कल्याण नहीं है? शस्त्रीसे विरोध करनेसे शस्त्ररहितका, मर्मीसे कमसल अर्थात् जारजका, प्रभुसे अनुगामीका, शठसे साधुका, धनीसे निर्धनका, वैद्यसे रोगीका, वंदीसे सूरका, कविसे राजाका, मानसगुणीसे खानेवालेका कल्याण नहीं। इन नवका कल्याण नहीं होता। सबका ही अकल्याण हो यह बात नहीं।

> उभय भाँति देखा निज मरना। तब ताकिसि रघुनायक सरना ॥५॥
> उतरु देत मोहि बधब अभागे। कस न मरौं रघुपति सर लागे ॥६॥
> अस जिय जानि दसानन संगा। चला रामपद प्रेमु अभंगा ॥७॥
> मन अति हरष जनाव न तेही। आजु देखिहौं परम सनेही ॥८॥

अर्थ—दोनों प्रकारसे अपना मरण देखा तब उसने रघुनायककी शरण ताकी ॥५॥ वह (मनमें विचारता है कि) यह अभागा उत्तर देनेसे मार डालेगा, तो रघुनाथजीके बाण लगनेसे ही क्यों न मरूँ? ॥ ६ ॥ हृदयमें ऐसा समझकर वह रावणके साथ चला। श्रीरामजीके चरणोंमें उसका अटल प्रेम है, मनमें अत्यन्त हर्ष है कि आज परम स्नेहीका दर्शन करूँगा; पर यह बात वह उसपर प्रगट नहीं करता ॥ ७-८ ॥

टिप्पणी—१ 'उभय भाँति देखा निज मरना''''' इति। अर्थात् जो इसके राज्यमें न बसे, इससे विरोध न करे, वह भले ही बच जाय, यह नीति तो औरोंके लिए है। और, हमारी तो दोनों प्रकार मृत्यु ही होनी है। इससे विरोध नहीं करते तो भी नहीं बच सकते और विरोध करते हैं तो भी मारे जायँगे। उधर रामजीके हाथ, इधर इसके हाथ।

नोट—१ शरण ताकी, क्योंकि वे वैरभावसे भी शरण होनेपर निजधाम ही देते हैं; यथा 'देहिं राम तिन्हहूँ निज धामा॥ उमा राम मृदुचित करुनाकर। वैर भाव सुमिरत मोहिं निसिचर।६।४४।' रामाज्ञामें कहा है—'इत रावन उत राम कर मीचु जानि मारीच। कपट कनक मृग बेपु तब कीन्ह निशाचर नीच। (प्र०)। हनुमन्नाटकमें यों कहा है—'रामादपि च मर्तव्यं मर्तव्यं रावणादपि। उभयोर्यदिमर्त्तव्यं वरं रामो न रावणः॥२४॥' (अंक ३) अर्थात् रामके हाथसे भी मरना ही है और रावणसे भी मरण है। जब दोनोंके हाथों मरण ही है तब रामके हाथों मरना ही श्रेष्ठ है, रावणके हाथसे नहीं।

वाल्मीकीयमें रावणके अंतिम वचन ये हैं—'नो चेत्करोषि मारीच हन्मि त्वामहमद्य वै। एतत्कार्यमवश्यं मे बलादपि करिष्यसि। राज्ञो विप्रतिकूलस्थो न जातु सुखमेधते।३।४०।२६। आसाद्य तं जीवितसंशयस्ते मृत्युर्ध्रुवो ह्यद्य मया विरुध्यतः। एतद्यथावत्परिगण्य बुद्ध्या यदत्र पथ्यं कुरु तत्तथा त्वम्।२७।' अर्थात् यदि तुम मेरा काम न करोगे तो मैं तुम्हें मार डालूँगा। तुमको मेरा यह काम जबरदस्ती करना होगा। राजाके प्रतिकूल चलनेसे कोई सुखी नहीं हो सकता। रामके सामने जानेसे तुम्हें मृत्युका भय है और मुझसे विरोध करनेपर तुम्हारी मृत्यु निश्चित है। यह सब बुद्धिसे विचारकर जो हित हो वह तुम करो।—यह सब 'उभय भाँति' का भाव है। इसपर वाल्मीकीयमें जो उसने रावणसे कहा है कि शत्रु रामके द्वारा मारे जानेमें मैं प्रसन्न हूँ; यथा 'अनेन कृतकृत्योऽस्मि म्रिये चाप्यरिणा हतः।३।४१।१७।', इसमें भी यही भाव निहित है कि तेरे हाथसे मरनेमें मैं प्रसन्न नहीं हूँ।

पं० श्रीकान्तशरणजी यह भाव कहते हैं—"मैं प्रसन्न हूँ, अर्थात् तुम मुझे मारोगे, तो मैं बदला नहीं ले सकता और इस तरह तो मैं तुम्हें सपरिवार मारकर मानो मरूँगा। इसीका मुझे संतोष है। इसीसे उसने श्रीरामजीके प्रति स्नेह रखते हुए भी छल किया कि जिससे इस दुष्टका सपरिवार नाश हो, तो मेरी डाह

मिटे।", पर दासकी समझमें यहाँ यह भाव नहीं है। उसको शोक है कि इसके कारण राक्षसकुलका नाश होगा। 'अत्रैव शोचनीयस्त्वं ससैन्यो विनशिष्यसि। वाल्मी० ३।४१।१६।'

टिप्पणी—२ 'उतरु देत मोहि बधब अभागे।०' इति। रावण प्रश्नका उत्तर माँगता है—'कहु जग मोहि समान को जोधा'। मैं उत्तर दे सकता हूँ कि 'बड़े योद्धा हो तब चोरी करनेको क्यों कहते हो, युद्ध करके सीताजीको जीत लाओ। धनुष तोड़कर क्यों न ले आए? यथा 'जनक सभा अगनित महिपाला। रहे तुम्हहु बल अतुल बिसाला॥ भंजि धनुष जानकी बिवाही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥'; पर उत्तर दूँगा तो यह मार डालेगा। 'अभागे' अर्थात् यह भाग्यहीन हो गया, इसका सर्वस्व नष्ट होगा।

३ 'कस न मरौं रघुपति सर लागे' अर्थात् रघुपतिके बाणसे मरनेका योग लगा तो मुक्ति होगी। यथा 'रघुबीर-सर-तीरथ सरीरन्ह त्यागि गति पैहहिं सही'। अध्यात्ममें कहा है कि दुष्टके हाथसे मरनेसे नरक होगा, इससे रामजीके हाथ क्यों न मरूँ, यथा 'यदि मां रावणो हन्यात्तदा मुक्तो भवाणवात्॥ मां हन्याद्यदि चेद्दुष्टस्तदा मे निरयो ध्रुवम्। इति निश्चित्य मरणं रामादुत्थाय वेगतः॥३।६।२६,२७।' बाणकी शरण मुक्तिके लिए ली, अतएव बाण द्वारा इसे मारकर प्रभु मुक्ति देंगे।

४ 'अस जिय जानि दसानन संगा।०' इति। 'तब मारीच हृदय अनुमाना' उपक्रम है और 'अस जिय जानि' उपसंहार। 'प्रेम अभंगा' कहा, क्योंकि मरणपर्यन्त इसका प्रेम भंग न हुआ, ऐसा ही बना रहा, यथा "प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि राम समेत सनेहा॥ अंतर प्रेम तासु पहिचाना"।

५ 'मन अति हरष जनाव न तेही।०' इति। (क) 'अति हर्ष' का भाव कि रघुनाथजीके बाणसे मरूँगा यह समझकर हर्ष हुआ और 'आज देखिहउँ परम सनेही' यह समझकर 'अति हर्ष' हुआ। (ख) जीवके स्त्री पुत्र आदि स्नेही हैं और ईश्वर 'परम स्नेही' हैं, क्योंकि वे गर्भसे भी संग नहीं छोड़ते। (ग) उससे प्रकट नहीं करता। क्योंकि यदि वह जान ले तो संदेह करेगा कि दुःखके समय इसे सुख क्यों हुआ, यह अवश्य छल करेगा, इसके मनमें कुछ कपट है, ऐसी शंका होनेपर वहाँ न ले जायगा, स्वयं ही मेरा वध करेगा।

नोट—२ ☞ स्मरण रहे कि रावणने अपना मंत्र, प्रभुने अपनी युक्ति और मारीचने अपनी मुक्तिका योग गुप्त रक्खा। तभी तीनों सफल-मनोरथ हुए। रावणने कुलसहित मोक्ष पाया, रावण माया-सीता द्वारा छला गया और मारीचने मुक्ति पाई। यदि वे दूसरेको जना देते तो सफल न होते। यथा 'जोग जुगुति जप मंत्र प्रभाऊ। फलइ तबहि जब करिय दुराऊ'।

छन्द—निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं।
श्रीसहित अनुज समेत कृपानिकेत पद मन लाइहौं॥
निर्बानदायक क्रोध जाकर भगति अवसहि बस करी।
निज पानि सर संधानि सो मोहि बधिहि सुखसागर हरी॥

अर्थ—अपने परम प्रियतम (प्यारे) को देखकर नेत्रोंको सुफल करके सुख पाऊँगा। श्रीजानकीजी-सहित और भाई लक्ष्मण समेत कृपाके स्थान (श्रीरामचन्द्रजीके) चरणोंमें मन लगाऊँगा। जिसका क्रोध मोक्षका देनेवाला है और जिसकी भक्ति उसे अवश्य ही वशकर लेनेवाली है† वही आनन्दसिन्धु भगवान् अपने हाथोंसे बाण (धनुषपर) लगाकर मेरा वध करेंगे।

टिप्पणी—१ 'निज परम प्रीतम देखि···' इति। 'निज' का भाव कि और सब स्नेही अपने नहीं हैं।

† रा० प०—'अवसहिं'=जो वशमें होनेवाला नहीं अर्थात् मनको। २ पांडेजी—'अवस'=जो किसीके वश नहीं=राम। पाठमें 'व' है। अवस=अवश्य।

और ये स्नेही अपने हैं। सच्चे स्नेही हैं, कभी साथ नहीं छोड़ते। 'निज' शब्द 'सच्चा, खास, अन्तरंग' अर्थमें अनेक बार आ चुका है। यथा "प्रभु सर्वज्ञ दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी।१।१४३।२।", 'जे निज भगत नाथ तव अहहीं।१।१५०।८।' 'देखि दसा निज जन मन भाए।३।१०।१६।" [आत्मा ही सबसे प्रिय है 'प्रेष्ठतमः आत्मा' और श्रीरामजी तो परमात्मा ही हैं। अतः 'परम प्रीतम' कहा। (प०प०प्र०)]

नोट—१ "लोचन सुफल करि सुख पाइहौं" इति। भगवान्‌के दर्शनसे नेत्र सुफल होते हैं। 'होइहैं सुफल आजु मम लोचन।३।१०।६।', 'करहु सुफल सबके नयन सुंदर बदन देखाइ।१.२१८।' देखिये। यह सिद्धान्त सातों कांडोंमें अनेक बार दिया गया है। यथा 'देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहै लाभ संकर जाना।१.२११।' 'सुफल सकल सुभसाधन साजू। राम तुम्हहिं अवलोकत आजू।२.१०७।', 'होइहैं सुफल...' (उपर्युक्त), 'सो नयन गोचर जासु गुन नित नेति कहि श्रुति गावहीं।४.१०।', 'अहोभाग्य मम अमित अति राम कृपा-सुखपुंज। देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेव्य जुगल पद कंज।५.४७।', 'अब कुसल पद पंकज बिलोकि बिरंचि संकर सेव्य जे।६.१२०।', 'निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करौं उरगारी।७.७५.६।' (प०प०प्र०)

टिप्पणी—२ 'श्रीसहित अनुज समेत कृपानिकेत पद मन...' इति। पूर्व केवल श्रीरघुनाथजीके दर्शनसे सुख पाना लिखा, इस लिए अब तीनोंको कहते हैं।—[यहाँ सहित और समेत दो शब्द आए हैं। ऐसा ही प्रयोग और भी स्थानोंमें हुआ है, यथा 'तेहि अवसर नारद सहित अरु रिषिसप्त समेत। समाचार सुनि तुहिनगिरि गवने तुरत निकेत।१.६७।' यहाँ 'श्रीसहित' में यह भी भाव है कि पूर्व जब मैंने देखा था तब वे श्रीसहित न थे और अब शक्तिसहित उनके दर्शन होंगे। इसके बाद साथ ही विचार उठा कि जो भाई उस समय साथ थे वह भी तो साथ हैं अतः फिर 'अनुज समेत' पद दिया।]

३ 'निर्बानदायक क्रोध जाकर भगति अबसहि०' इति। क्रोध और भक्ति दोनोंसे अपनी भलाई ही है। क्रोध यों कि 'निज पानि सर००', मुझे अपने हाथोंसे बाण चलाकर मारेंगे, मैं मुक्त हो जाऊँगा। और भक्ति तो ऐसी सबल है कि उससे तो प्रभु अवश्य ही वश हो जाते हैं। यथा 'रीझे बस होत खीझे देत निज धाम रे' (विनय)। ['अबसहि बस करी', यथा 'भाव बस्य भगवान', 'जातें बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई', 'मम गुन गावत...तात निरंतर बस मैं ताके।', 'प्रायशोऽजित, जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्। भा० ब्रह्मस्तुति, १०.१४.३।' (प० प० प्र०)]

४ 'बधिहि सुखसागर हरी' इति। (१) सुखसागर हैं, वे मेरा वध करेंगे, तो मैं उस सुखसागरमें प्राप्त हो जाऊँगा, ईश्वरमें मिलकर सुखसागर हो जाऊँगा, यथा 'सरिताजल जलनिधि महुँ जाई। होइ सुखी जिमि जिव हरि पाई' ['यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रे अस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।' (श्रुति), 'सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युः' (वेदस्तुति भा० १०।८७।३१)।—(प० प० प्र०)] (२) दर्शनसे सुखकी प्राप्ति कही 'निज परम-प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं' और बधसे सुखका सागर होना कहा। तात्पर्य कि जब जुदा रहा तब सुख पाना कहा, जब निर्वाणपदकी प्राप्ति हुई तब वही हो गया। [यह अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार भाव है। भक्तिमार्गका भाव है कि आनन्दसिंधु श्रीरामजीके हाथोंसे वध होनेसे मैं सुखसागर हरिको प्राप्त हो जाऊँगा जिससे फिर आवागमन न होगा। यथा 'प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ'। निर्वाणमुक्तिमें प्रभुके साधर्म्यगुणोंके द्वारा सुखसागर हो जाना इस प्रकार है जैसे मलयागिरिके चन्दनके साधर्म्य (गंधगुण प्राधान्य) से कंकोल, निंब, कुटजा आदि कड़वे वृक्षोंकी लकड़ी भी चन्दन ही कही जाती है। (सि० ति०)] दर्शन और वध दोनोंमें आनंद कहा। (३) 'हरी' का भाव कि 'भक्तानां क्लेशं हरतीति हरिः', जन्ममरणके क्लेशको छुड़ा देंगे, अतः हरि कहा।

दोहा—मग पाछे धर धावत धरे सरासन बान।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहौं धन्य न मो सम आन॥२६॥

अर्थ—धनुषबाण धारण किए हुए मेरे पीछे मुझे पकड़नेको दौड़ते हुए प्रभुको मैं पीछे फिरफिरकर देखूंगा—मुझसा धन्य कोई नहीं ! ॥२६॥

टिप्पणी—१ 'धर धावत' = धरने ( पकड़ने ) को धावते; यथा 'कपट कुरंग संग धर धाए'। जब नहीं पकड़ मिलेगा तब मारेंगे, इसीसे 'धरे सरासन बान' धायँगे। यथा 'कपट कुरंग कनकमनिमय लखि प्रिय सो कहति हँसि बाला। पाये पालिबे जोग मंजु मृग मारेहुँ मंजुल छाला। (गीतावली ३।३)। [प्र०-वा, 'धर धावत'=पीछा पकड़े हुए दौड़ते जैसा शिकारियोंकी रीति है।]

२ 'फिरि फिरि प्रभुहि...' इति। ( क ) दर्शनका उत्साह भारी है अतएव ग्रंथकार भी वारंवार उसका उत्साह लेखनी-द्वारा कह रहे हैं—( १ ) 'आजु देखिहौं परम सनेही'। ( २ ) 'निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं' और ( ३ ) 'फिरि फिरि...'। ( ख ) 'धन्य न मो सम आन' इति। धन्य=सुकृती, यथा "सुकृती पुण्यवान् धन्यः"। सुकृतसे भगवान्का दर्शन मिलता है; यथा 'जिन्ह जानकी राम छवि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेषी। १.३१०.५।' भाव कि शिवादि प्रभुके पीछे धावते हैं ( अर्थात् प्राप्तिके लिए उनका ध्यान करते हैं पर दर्शन नहीं पाते ) और प्रभु मेरे पीछे धावेंगे। अतः मेरा भाग्य उनसे भी बड़ा है। 'फिरि फिरि' का भाव कि इनका दर्शन योगियोंको एक वार भी दुर्लभ है और मुझे वारंवार दर्शन होंगे अतः मेरे समान वे भी भाग्यशाली नहीं। [ श्रीरामजीको पकड़नेके लिए कौसल्याजीको दौड़ना पड़ता था, यथा 'निगम नेति सिव अंत न पावा। मायामृग पाछे सो धावा।', 'निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा', पर वही श्रीराम मुझको पकड़नेके लिए स्वयं दौड़ेंगे। ( प० प० प्र० ) ]

## 'पुनि माया-सीता कर हरना'-प्रकरण

**तेहि बन निकट दसानन गयऊ। तब मारीच कपट मृग भयऊ ॥१॥**
**अति बिचित्र कछु बरनि न जाई। कनक देह मनि रचित बनाई ॥२॥**
**सीता परम रुचिर मृग देषा। अंग अंग सुमनोहर देषा ॥३॥**

अर्थ—जब रावण उस वनके निकट पहुँचा तब मारीच कपटमृग बन गया ॥१॥ वह अत्यन्त विलक्षण है, कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता। उसने मणियोंसे जटित सोनेकी देह बनाई है ॥२॥ श्रीसीताजीने परम सुन्दर हिरन देखा। उसके अंग-अंगका वेष अत्यन्त मनको हरनेवाला था ॥३॥

टिप्पणी—१ 'तेहि बन निकट दसानन गएऊ....' इति। ( क ) 'पंचवटी बसि श्रीरघुनायक। करत चरित सुर मुनि सुखदायक' और 'तेहि बन निकट दसानन गयऊ' का संबंध है। इसी प्रकार 'होहु कपटमृग तुम्ह छलकारी' का और 'तब मारीच कपट मृग भयऊ' का संबंध है। [ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि रावणने मारीचको अपने रथपर बिठा लिया। पर्वतों, नदियों, देशों और नगरोंको देखते हुए वे दोनों दण्डकारण्यमें पहुँचे और वहाँ जब श्रीरामचन्द्रजीका आश्रम देख पड़ा तब अपने रथसे उतरकर और मारीचका हाथ पकड़कर रावणने उससे कहा कि यही केलोंसे घिरा हुआ वह आश्रम है, अब शीघ्र वह कार्य करो जिसके लिए हम लोग यहाँ आये हैं। यथा 'ततो रावणमारीचौ विमानमिव तं रथम्। ३.४२.६। आरुह्याययतुः शीघ्रं तस्मादाश्रममण्डलात्।...समेत्य दण्डकारण्यं राघवस्याश्रमं ततः। १०-११। ददर्श सहमारीचो रावणो राक्षसाधिपः।...।'—यह सब भाव 'बन निकट दसानन गएऊ' से जना दिये। इससे यह भी जनाया कि पंचवटी मारीचाश्रमसे बहुत दूर थी। ] ( ख ) मृग ही बना क्योंकि इसका चर्म कामका होता है, शूकरादि मृगों ( पशुओं ) का चर्म कामका नहीं, दूसरे सुन्दर नहीं होता। मृगको देखकर श्रीसीताजी रामचन्द्रजीको प्रेरित करेंगी। पुनः, सिंह शूकरादि निकट नहीं जा सकते उनसे भय होता है, अतः मृग बना। [ अथवा, मारीच जितना सुन्दर हिरन बन सकता था इतना सुन्दर और किसी पशुका रूप नहीं बना सकता था। इसीसे प्रायः वह तीक्ष्ण

सींगोंवाला हिरण ही बना करता था और उनसे तपस्वी महात्माओंको मारकर उन्हें खाया करता था और उसी रूपसे वह श्रीरामजीसे अपना पुराना वैर निकालनेके लिए दण्डकारण्यमें एक बार पूर्व भी उनके समीप गया था, जैसा वाल्मी० ३.३९ से स्पष्ट है। यथा 'सहितो मृगरूपाभ्यां प्रविष्टो दण्डकावनम् ।२। दीप्तजिह्वो महादंष्ट्रस्तीक्ष्णशृङ्गो महाबलः। व्यचरन्दण्डकारण्यं मांसभक्षो महामृगः ।३।"' पूर्ववैरमनुस्मरन् ।६। अभ्यधावं सुसंक्रुद्धस्तीक्ष्णशृङ्गो मृगाकृतिः ।' संभवतः इसीसे रावणने इसे मृग बननेको कहा। (मा० सं०)। (ग) रावणकी आज्ञा थी कि 'होहु कपट मृग तुम्ह छलकारी ।', अतः मारीचने तुरंत कपट मृग रूप धारण करके उसे दिखा दिया कि देख लीजिए यह मृगरूप छल करने योग्य है या नहीं। यहाँ रावणकी आज्ञाका अर्धपालन हो गया, शेष पालन अब आगे पूरा कर देगा। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ "अति विचित्र कछु वरनि न जाई" अर्थात् विचित्र होता तो कुछ कहते भी, पर यह तो 'अति विचित्र' है, अतः कुछ कहा नहीं जाता। इतना ही कहते हैं कि कनककी देह मणिरचित बनाई है और बनाव कुछ नहीं कहते बनता। मृग प्रायः स्वर्णवर्णके होते हैं, अतः स्वर्णकी देह बनाई। [ 'कनक देह मनिरचित' से मृगका अलौकिकत्व जना दिया। (प० प० प्र०)]

नोट—१ श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्दजी बताते हैं कि महाराष्ट्रके पंचवटी इत्यादि विभागोंमें "चितल" नामकी एक हरिणकी जाति होती है, जिसके मुख और पेटके सिवा शेष शरीरका वर्ण पीला होता है, और इस पीले वर्णमें चाँदीकेसे सफेद बिंदु सैकड़ों होते हैं। मुखका वर्ण विचित्र होता है और पेटका वर्ण नील-छटाका होता है। दूसरे मृगोंसे यह जाति देखनेमें सुन्दर होती है। अब भी कुछ लोग इस जातिको पालते हैं। ये मृग बहुत बड़े नहीं होते हैं।

टिप्पणी—३ 'सीता परम रुचिर मृग देखा "' इति। (क) श्रीराम-लक्ष्मणजीने भी देखा पर वे बोले नहीं। वे जानते हैं; यथा 'तब रघुपति जानत सब कारन'। [ वाल्मीकीय, अध्यात्म रा० और हनु० नाटकसे जान पड़ता है कि परम रुचिर मृगको श्रीजानकीजीने ही प्रथम देखा। तब उन्होंने श्रीरामजीसे कहा। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि मारीच कपटमृग बना हुआ श्रीसीताजीको लुभानेके लिए आश्रमके पास सुखपूर्वक विचरण करने लगा। उसी समय श्रीजानकीजी फूल चुनती हुई कर्णिकार अशोक और आमके वृक्षके पास आई और वहाँ प्रथम-प्रथम इस अद्भुत मृगको देखकर उन्होंने पतिको और लक्ष्मणजीको पुकारा कि शीघ्र आइए, तब दोनों भाइयोंने आकर मृगको देखा। यथा 'प्रलोभनार्थं वैदेह्या"'।२१।"' रामाश्रमपदाभ्याशे विचचार यथासुखम्। २४।"' तस्मिन्नेव ततः काले वैदेही शुभलोचना ।३०। कुसुमापचये व्यग्रा पादपानत्यवर्तत ।"' सर्ग ४२।३१।' 'भर्तारमपि चक्रन्द लक्ष्मणं चैव सायुधम्। स० ४३।२। आहूयाहूय च पुनस्तं मृगं साधु वीक्षते। आगच्छागच्छ शीघ्रं वै आर्यपुत्र सहानुज। ३। तावाहूतौ नरव्याघ्रौ वैदेह्या रामलक्ष्मणौ। वीक्षमाणौ तु तं देशं तदा ददृशतुर्मृगम् ।४।'—इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि प्रथम वैदेहीजीने ही देखा। अ० रा० की मायासीताने स्वयं श्रीरामजीके पास आकर उनसे कहा है कि इसे देखिए। यथा 'मायासीता तदापश्यन्मृगं मायाविनिर्मितम्। हसन्ती राममभ्येत्य प्रोवाच विनयान्विता। ५। पश्य राम मृगं चित्रं कानकं रत्नभूषितम् ।...सर्ग ७।६।' इससे भी दोनोंका साथ न होना सिद्ध होता है। हनुमन्नाटकका मत स्पष्ट नहीं है, पर वहाँ भी श्रीजानकी ीका एकाएकी मृगको देखना कहा है। यथा '"' दशकण्ठोत्कण्ठितप्रेरितंद्राक्कनकमयकुरङ्गं जानकी सन्ददर्श। ३.२५।' पं० रामकुमारजीने जो भाव लिखा है वह संभवतः हनु० ना० के 'सुललितफलमूलैस्तत्र कालं कियन्तं दशरथकुलदीपे सीतया लक्ष्मणेन। गमयति दशकण्ठोत्कण्ठित...।३.२५।' और प्रायः उसीके अनुरूप जो गीतावलीमें कहा है, यथा 'बैठे हैं राम लषन अरु सीता। पंचवटी बर पर्नकुटी तर कहैं कछु कथा पुनीता। १। कपट कुरंग कनकमनिमय लखि प्रिय सों कहति हँसि बाला। ३.३।', उसीके आधारपर कहा है। इन दोनों ग्रन्थोंके मतानुसार तीनों एक साथ बैठे थे, कथा हो रही थी, उसी समय मृग आया। श्रीरामजी कथा कहनेमें और लक्ष्मणजी सुननेमें मग्न होंगे। माया-सीताका चित्त माया-मृगकी ओर जाना उचित है। अतः प्रथम माया-

सीताका ही देखना कहा। दूसरे प्रयोजन भी उन्हींके देखनेसे सिद्ध होना है; अतः उन्हींका देखना कहा गया।—इन आधारोंके अनुसार पंडितजीका भाव भी संगत हो सकता है ] (ख) मायाकी सीता, मायाका मृग। अतः मायाकी दृष्टिमें माया है, जहाँ मन जाता है वहीं हर जाता है। (खर्रा)।

नोट—२ हनुमन्नाटक अंक ३ श्लो० २६ से मिलान कीजिए—'देहं हेममयं हरिन्मणिमयं शृङ्गद्वयं वैद्रुमाश्चत्वारोऽपि खुरा रदच्छदयुगं माणिक्यकान्तिद्युति। नेत्रे नील सुतारके सुवितते तद्वचलं प्रेक्षितं, तत्तद्रत्नमयं किमत्र बहुना सर्वाङ्ग रम्यो मृगः ॥२६॥' अर्थात् स्वर्णकी जिसकी देह है, हरित मणियोंकी सींगें हैं, मूँगेके चारों खुर हैं, स्वच्छ कान्तियुक्त एवं माणिक्यकी कान्तिके समान दाँत हैं, नीले सुन्दर पुतलियोंवाले नेत्र हैं और उन्हींके अनुकूल जिनका चंचल अवलोकन है ऐसे-ऐसे रत्नोंसे युक्त देहवाला था। बहुत क्या कहा जाय? उसका सर्वांग शरीर रमणीय है।

वाल्मी० ४२, ४३ में इसके मनोहर वेषका वर्णन है—'नीलमणिके समान सींगें, मुख कहीं सफेद कहीं काला, मुख लालकमल और कान नीलकमल समान, गर्दन कुछ ऊँची, वैदूर्यमणिके समान खुर, चाँदीके सैकड़ों विन्दुओंसे चित्रित, पीठ लालकमलकेसर सदृश, होंठ मुक्तामणिसे चित्रित, बाल चाँदीके, सोनेके रोएँ, प्रौढ़ सूर्य्यके सदृश वर्ण, शङ्ख और मुक्ताकी कान्तिवाला पेट था। यथा 'मणिप्रवरशृङ्गाग्रः सितासितमुखाकृतिः। रक्तपद्मोत्पलमुख इन्द्रनीलोत्पलश्रवाः। १६। किंचिदभ्युन्नतग्रीव इन्द्रनीलनिभोदरः। मधूकनिभपार्श्वश्च कंजकिंजल्कसंनिभः। १७। वैदूर्य संकाशखुरस्तनुजंघः सुसंहतः। इन्द्रायुधसवर्णेन पुच्छेनोर्ध्वं विराजितः। १८। मनोहरस्निग्धवर्णो रत्नैर्नानाविधैर्वृतः। क्षणेन राक्षसो जातो मृगः परमशोभनः। १९। रौप्यैर्बिन्दुशतैश्चित्रं भूत्वा च प्रियदर्शनः। ...२२। राजीवचित्रपृष्ठः स विरराज महामृगः....। २४। मुक्तामणिविचित्राङ्गं ददर्श परमाङ्गना। तं वै रुचिर दन्तोष्ठं रूप्यधातुतनूरुहम्॥ ३३॥ वाल्मी० ३.४२।' इसीको यहाँ 'अति विचित्र', 'परम रुचिर' और 'सुमनोहर' तथा 'कनक देह मनिरचित' से जनाया है।

'सुमनोहर'—सत्य ही इसने श्रीसीताजीका मन हर लिया था। यथा 'अहो रूपमहो लक्ष्मीः स्वर संपच्च शोभना। मृगोऽद्भुतो विचित्राङ्गो हृदयं हरतीव मे'—( वाल्मी० ४३।१५ ) अर्थात् आहा! कैसा रूप है, कैसी श्री है, स्वर कैसा सुन्दर है, अद्भुत मृगा है, विचित्र अंग हैं, मेरे मनको हरे लेता है।

प० प० प्र०—श्रीरामजीका वर्णन करते हुए कविने उनको 'मनोहर' और 'चित चोर' कहा है। यथा "लोचन सुखद बिश्व चित चोरा। १.२१५।", 'मूरति मधुर मनोहर देखी। १.२१५।', 'स्यामल गौर मनोहर जोरी। १.२१६.४।', 'चितवत चितहि चोरि जनु लेहीं। १.२१६।', 'गाथें महामनि मौर मंजुल अंग सब चित चोरहीं। १.३२७ छंद।'; पर इस कपट मृगके संबंधमें लिखते हैं कि 'अंग अंग सुमनोहर वेषा', अर्थात् इसका प्रत्येक अंग केवल "मनोहर" ही नहीं है किन्तु सु ( अत्यंत ) मनोहर है। "सुमनोहर" विशेषणसे जनाया कि इसका वेष मनके अहंकारको चुरानेवाला है। ☞ यहाँ कविकी सावधानता और समन्वय कलाको देखिए और दाद दीजिए। श्रीसीताजीका रूप ऐसा मनोहर था, कि 'देखि रूप मोहे नर नारी' ऐसी रूपवतीको मोहित करनेके लिए अंग अंग "सु-मनोहर" होने ही चाहिए।

**सुनहु देव रघुबीर कृपाला। येहि मृग कर अति सुंदर छाला ॥४॥**
**सत्यसंध प्रभु बधि करि एही। आनहु चर्म कहति बैदेही ॥५॥**

अर्थ—वैदहीजी बोलीं—हे देव! हे कृपाल रघुवीर! सुनिए। इस मृगका चर्म (खाल) बड़ा ही सुन्दर है। हे सत्यप्रतिज्ञ प्रभो! इसको मारकर इसकी खाल लाइए ॥४-५॥

टिप्पणी—१ 'देव' अर्थात् आप दिव्य हैं, जानते हैं कि राक्षस मृग बनकर आया है। आप रघुवीर हैं और वीरका धर्म है दुष्टका वध करना। आप कृपालु हैं, दुष्टोंको मारकर मुनियोंपर कृपा कीजिए, यह मुनिद्रोही है; यथा "लै सहाय धावा मुनिद्रोही।" पुनः, मुझपर भी कृपा कीजिए, इसका चर्म ले आइए।

पुनः इसपर भी कृपा कीजिए, इसे मुक्ति दीजिए। पशुकी गति उसके हाथकी बात नहीं है, आपके हाथसे वध होनेसे ही यह मुक्त हो सकेगा। आप सत्यसंध हैं, निशाचर-वधकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं, उस प्रतिज्ञाको पूरी कीजिए। यदि कहें कि यह राक्षस है, इसका चर्म कैसे लावेंगे, उसपर कहती हैं कि आप 'प्रभु' (समर्थ) हैं, झूठको भी सत्य कर सकते हैं। प्रभु=कर्त्तुमकर्त्तुसमर्थः। इसकी छाल 'अति सुन्दर' होगी क्योंकि यह 'अति विचित्र' है।—(सत्यसंध, रघुबीर, कृपाला सबका चरितार्थ आगे दिखावेंगे)।

प० प० प्र०—१ 'सुनहु देव रघुबीर कृपाला'। (क) 'सुनहु'—भाव यह कि यद्यपि पतिको कुछ सुनाना हमारा धर्म नहीं है, तथापि मुझसे नहीं रहा जाता है, अतः सावधानीसे सुनिए। (ख) 'देव' अर्थात् आपही मेरे देव हैं—"नारि धर्म पति देव न दूजा"। मेरी माताने जो नारि-धर्म सिखाये उनमें इसे सबसे श्रेष्ठ बताया है। नारी-जातिको परिस्थिति वश कुछ इच्छा हो जाय तो भी पतिदेवसे कहना युक्त नहीं है (यथा—'कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम्। वाल्मी० ३।४३।२१।'), तथापि इस जंगलमें न तो माताजी हैं न सासुजी और न कोई परिचारक तब किससे माँगा जाय? आपको छोड़कर मैं किससे याचना करूँ? इससे आज कुछ याचना करनी है। (ग) 'रघुबीर' का भाव कि मैं जो कुछ माँगूँगी उसको प्राप्त कर देना आप जैसे रघुवंशीय वीरश्रेष्ठको सहज है। मैं तो आकाश-कुसुमोंकी अथवा कल्प-कुसुमोंकी माला नहीं माँगती हूँ। (ग) 'कृपाला' का भाव कि आप तो इतने कृपालु हैं कि भरत-माताकी विश्वदुःखदायक और भयानक इच्छा भी आपने पूरी कर दी, इतना ही नहीं किन्तु विश्वामित्रजी, अहल्याजी और बहुत क्या कहा जाय उस केवटकी दुर्लभ इच्छा भी आपने पूरी कर दी, तब मेरी इतनी सी सहज सुलभ कामना आप कृपा करके क्यों न पूरी करेंगे।

पं० रामकुमारजीने जो भाव (टिप्पणीमें) कहे हैं वे सुसंगत नहीं हैं, कारण कि "यह राक्षस है" ऐसा जान लेनेपर सीताजीका कहना कि "इस मृगको या मृगचर्म ले आइए" सिद्ध करेगा कि श्रीसीताजी जान-बूझकर मृगरूपी राक्षसको पालना चाहती थीं। [ वाल्मीकीय तथा गीतावलीकी सीताने इस हिरनको पकड़ लाने, और यदि जीता न पकड़ा जा सके तो उसका मृगचर्म लानेको कहा है। यथा—"यदि ग्रहणमभ्येति जीवन्नेव मृगस्तव।...जीवन्न यदि तेऽभ्येति ग्रहणं मृगसत्तमः। अजिनं नरशार्दूल रुचिरं तु भविष्यति। वाल्मी० ३.४३. १६,१९।', 'पाए पालिबे जोग मंजु मृग, मारेहु मंजुल छाला। गी० ३.३।' और अध्यात्म रामायणमें केवल बाँधकर लानेकी बात कही है, वधकी नहीं। यथा 'बद्ध्वा देहि मम क्रीडामृगो भवतु सुन्दरः। ३.७.६।'; पर मानसकी सीता उस मृगको पकड़ लानेको नहीं कह रही हैं, प्रत्युत उसका वध करके उसके 'अति सुन्दर' चर्मको लानेको कह रही हैं। अतः मेरी समझमें पं० रामकुमारजीके भावमें कोई असंगति नहीं है। ]

२ 'सत्यसंध प्रभु बधि करि एही ..बैदेही'। (क) सत्यसंध = सत्य प्रतिज्ञा। इस शब्दका सुसंगत भाव ध्यान में न आनेसे ऊपरके जैसे भाव निकले। यहाँ निशाचरवधकी प्रतिज्ञा अभिप्रेत नहीं है, वल्कि विवाहके समय 'धर्मेच अर्थेच कामे च नातिचरामि' यह प्रतिज्ञा सूचित है। प्रभुका भाव कि मैं जो वस्तु चाहती हूँ उसका प्राप्त करना आपके सामर्थ्यके बाहर नहीं है। 'बैदेही'—यहाँ 'बैदेही' शब्द रखकर ध्वनितार्थ प्रगट करनेका कविका कमाल है! विदेहकी कन्या, बापसे बेटी सवाई, विषयवासना जिनके चित्तको छू भी नहीं सकती, ऐसी होनेपर भी 'हरि इच्छा' (भावी बलवाना) क्या और कैसा कर देती है देखिये। इस भावकी पुष्टि आगे 'मर्म बचन जब सीता बोला। हरि प्रेरित' से होती है।

तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुर काजु सवारन ॥६॥
मृग बिलोकि कटि परिकर बाँधा। करतल चाप रुचिर सर साँधा ॥७॥

शब्दार्थ—परिकर=कटिबंधन, कमरका फेंटा। साँधना = तीरको धनुषपर लगाकर निशाना साधना, लक्ष्य करना। = बाणको धनुषमें लगाना।

अर्थ—तब रघुनाथजी, जो सब कारण जानते हैं, देवकार्य सँवारनेके लिए उत्साह और प्रसन्नतापूर्वक उठे ।।६।। मृगको देखकर कमरको वस्त्रसे बाँधा, और हाथोंमें सुन्दर धनुष ( लेकर उस ) पर सुन्दर बाण चढ़ाया ।। ७ ।।

टिप्पणी—१ 'तब रघुपति...' इति । [ (क) 'रघुपति' का भाव कि रघुश्रेष्ठको रघुवंशीय पतिव्रताकी सहज साध्य इच्छाको पूर्ण करना कर्त्तव्य है । ( प० प० प्र० ) ] (ख) 'जानत सब कारन' । प्रभु सब जानते हैं कि यह मारीच है और इसके साथ रावण भी आया है; यथा 'जद्यपि प्रभु जानत सब कारन', 'राजनीति राखत सुरत्राता' । पुनः यथा 'सो माया रघुबीरहिं बाँची । लछिमन कपिन्ह सो मानी साँची' । [ वाल्मीकि और अध्यात्ममें लक्ष्मणजीने स्पष्ट कहा है कि यह मारीच है । स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि श्रीरामजीने यह जान लिया कि मेरी दैवी मायाकी प्रेरणावश होकर ही वैदेही स्वभाव-विरुद्ध विनती करती हैं । ] (ग) 'उठे हरषि सुरकाज सँवारन' अर्थात् यदि देवकार्य न सँवारना होता तो वहींसे मार देते जैसे जयन्तको । पर विना यहाँसे उठकर दूर गए न तो रावण आयेगा, न सीताहरण होगा, न उसका वध होगा और न दैवकार्य्य होगा ।

प० प० प्र०—( शंका ) श्रीरामजी तो 'हर्ष विषाद रहित' हैं, तब यहाँ स्वभाव-विरुद्ध कैसे हुआ ? ( समाधान ) । मानसके श्रीरामजी केवल दो कारणोंसे हर्षयुक्त होते हैं, एक तो जब भक्तका अनन्य प्रेम देखते हैं, अथवा जब वे स्वयं भक्तपर परम अनुग्रह करना चाहते हैं । यथा 'बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि । माँगहु बर जोइ भाव मन....।१.१४८।' ( मनुप्रसंग ), 'परम प्रसन्न जानु मुनि मोही । जो वर माँगहु देउँ सो तोही । ३.११.२३।' ( सुतीक्ष्णजीसे ), 'पुनि हनुमान हरषि हिय लाए ।५.३०।', "अस कहि करत दंडवत देखा । तुरत उठे प्रभु हरष विसेषा ।...भुज बिसाल गहि हृदय लगावा ।५.३०।" ( विभीषण प्र० ) । यहाँ 'हरष' का अर्थ आनंद और उत्साह भी है । दूसरे, जब सुरकार्य अथवा महत्वका अवतार कार्य करनेको निकलते हैं तब भी हर्ष होता है, पर ऐसे अवसरोंपर 'हर्ष' का अर्थ 'उत्साह' होता है । ऐसे स्थानोंमें 'आनंद' अर्थ लेनेसे विसंगति दोष उत्पन्न हो जायगा । कारण कि जिसको महत्वके कार्यके लिए निकलते समय, प्रयत्नके आरंभमें हर्ष-आनंद होगा उसे कार्यकी सिद्धि होनेपर तो विशेष आनंद होता है, तथापि श्रीरामजीको जहाँ कार्यारंभमें हर्ष हुआ है वहाँ कार्यकी सफलतामें एक भी स्थानमें हर्षका उल्लेख नहीं मिलता है । कार्यारम्भमें उत्साह कार्यसिद्धिका दर्शक होता है ।

कार्य करनेमें प्रभाव-शक्ति, उत्साह शक्ति और मंत्र शक्ति, इन तीनों शक्तियोंकी आवश्यकता होती है । 'प्रभावोत्साहमंत्रजाः शक्तयः' ( अमर ) । कार्य सफल होनेपर उत्साह नहीं रहता है । उत्साह और आनंद भिन्न हैं—'राम बिबाह उछाहु अनंदू' । वाल्मी० में श्रीरामजीको विरह विलाप करते-करते सकोप, तथापि निरुत्साह देखकर लखनलालजी कहते हैं कि 'उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात्परं बलम् । सोत्साहस्य हि लोकेषु न किंचिदपि दुष्करम्' ।।| उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु । उत्साहमात्रमाश्रित्य प्रतिलप्स्याम जानकीम् ( वाल्मी० रा० सर्ग ६६ ) † । अवतार-कार्यके आरम्भमें श्रीरामजीको कहाँ कहाँ हर्ष हुआ है, यह देखिये । (१) 'हरषि चले मुनि भय हरन ।१.२०८।' यहाँ मुनि भय हरणके लिए हर्ष ( आनंद ) है और अवतारकार्यका प्रारम्भ करनेमें हर्ष ( उत्साह ) है । मारीचको रामाकार मन करके भगाकर भावीकार्यके लिए रखना यह अवतारकार्य है, तथापि मुनिमखरक्षण सिद्ध होनेपर हर्ष नहीं हुआ है । ( २ ) 'हरषि चले मुनि बृंद सहाया ।१.२१२।४।' अवतारके नाटकके मुख्य पात्र श्रीसीताजीकी प्राप्ति करना है, अतः उत्साह है । धनुर्भंग होनेपर अथवा जयमाला पहनायी जानेपर अथवा विवाह-समाप्तिमें हर्ष नहीं हुआ है । ( ३ ) वन-

† ये श्लोक सर्ग ६६ में नहीं हैं । सर्ग ६३ में इस प्रकारका श्लोक यह है—"शोकं विसृज्याद्य धृतिं भजस्व सोत्साहता चास्तु विमार्गणेऽस्याः । उत्साहवन्तो हि नरा न लोके सीदन्ति कर्मस्वतिदुष्करेषु ।१९।'

गमनके समय प्रसन्नता और उत्साह दोनोंका उल्लेख है, यथा 'मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ'। प्रसन्नता इसलिए कि भक्तोंपर अनुग्रह करनेको मिलेगा और चाव (उत्साह=हर्ष) इसलिए कि अवतार-कार्य (रावणादि-वध) के लिए प्रयाण करते हैं। (४) 'हरपि चले कुंभज रिषि पासा'—अवतार-कार्य-सिद्धिके लिए कुम्भज-जैसे प्रतापशील ऋषिश्रेष्ठसे ('अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही।१३।३।') मंत्र प्राप्त करना है, इससे प्रयाण समय उत्साह है। (५) 'हरपि राम तब कीन्ह पयाना।५.३५.४।' रावणवधके लिए किष्किंधासे प्रयाण करते समय हर्ष अर्थात् उत्साह है। (६) जब कार्य करनेको प्रयाण करते समय हर्ष (उत्साह) होता है तब वह कार्यसिद्धि, सफलता, सूचित करता है, यथा 'होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी।।५.१।' इत्यादि।

टिप्पणी—२ "मृग बिलोकि''' रुचिर सर साँधा"। [(क) "कटि परिकर बाँधा" क्योंकि वे जानते हैं कि इसके लिए दूर तक दौड़े जाना होगा, तभी रावणकी मनोकामना और देवकार्य सिद्ध होगा। (ख) 'चाप'—भगवान्‌का धनुष तीन स्थानोंपर नवा हुआ था, उसको लेनेपर वे अधिक सुशोभित हो गए। यथा 'अस्यामायत्तमस्माकं यत्कृत्यं रघुनन्दन। वाल्मी० ४३।४७।'] (ग) मृग परम रुचिर है; यथा 'सीता परम रुचिर मृग देखा', अतः 'रुचिर' मृगके लिए 'रुचिर-सर' का अनुसंधान किया जिसमें माया-शरीर वेधकर सत्य शरीरको भी वेध दे।

☞ देखिए श्रीरामजीके लिए मृग भी आता है तो वह भी परम रुचिर बनकर (जैसे पूर्व शूर्पणखा 'रुचिर रूप' धरकर आई थी) और प्रभु मारने चले सो भी 'रुचिर सर' से। मानों राक्षस जानते थे कि 'रुचिर' श्रीरामजीको अत्यन्त प्रिय है। विशेष दोहा १७ (७) में देखिए। आगे लंकाकांडमें प्रभुके काममें मृगचर्म आवेगा तब वहाँपर उसे भी 'रुचिर' दिखाया है; यथा 'तापर रुचिर मृदुल मृग-छाला। तेहि आसन आसीन कृपाला। ६.११.४।'

प० प० प्र०—"करतल चाप रुचिर सर साँधा"। 'रुचिर' शब्द करतल, चाप और शर तीनोंके साथ लेना उचित है। कारण कि श्रीरामजी परम मनोहर, श्रीसीताजी भी परम रुचिर, पंचवटी परम मनोहर, (यथा 'है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचवटी तेहि नाऊँ।') कपटमृग परम रुचिर, शूर्पणखा भी रुचिर तब केवल रुचिर शर कहनेसे कैसे सुसंगत होगा? धनुष भी रुचिर ही चाहिए।

**प्रभु लछिमनहि कहा समुझाई। फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई ॥८॥**
**सीता केरि करेहु रखवारी। बुधि बिबेक बल समय बिचारी ॥९॥**

अर्थ—प्रभुने लक्ष्मणजीसे समझा कर कहा—हे भाई! वनमें बहुतसे निशाचर फिरते हैं ॥८॥ तुम बुद्धि, विवेक, बल और समयका विचार करके सीताकी रखवाली करना ॥९॥

टिप्पणी—१ (क) 'कहा समुझाई।' इति। क्या समझाया यह कवि स्वयं कहते हैं—'फिरत००'। (ख) 'बुधि बिबेक बल समय बिचारी' का भाव कि समय विचार कर बुद्धि, विवेक और बलसे काम लिया जाय तो कोई कार्य्य संसारमें कठिन नहीं, सब सुलभ हो जाते हैं जैसे, 'पवनतनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना।', यह कहकर तब कहा है 'कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं ॥ ४-३०।' भाव कि जैसा मौका, स्थिति, प्रयोजन आ पड़े वैसा विचार कर करना।

नोट—१ 'समय' यह कि रावणसे वैर कर चुके हैं। छलरूपसे कोई आवे तो बुद्धि विवेकसे विचार कर लेना, सहसा विश्वास न कर लेना। सामना करे तब बलसे काम लेना। (वै०)। पुनः भाव कि बुद्धिसे विचारना, विवेकसे सोच समझ लेना, बल अनुमान कर काम करना। इनका चरितार्थ आगे दिखावेंगे। (पं० रा० व० श०)।

**प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी। धाए रामु सरासन साजी ॥१०॥**

निगम नेति सिव ध्यान न पावा । माया मृग पाछे सो* धावा ॥११॥

अर्थ—प्रभुको देखकर मृग भाग चला । श्रीरामचन्द्रजीने धनुष सजा (चिल्ला चढ़ा) कर उसका पीछा किया ॥१०॥ वेद जिसको 'नेति' कहते हैं, जिसे शिवजी ध्यानमें नहीं पाते, वही प्रभु मायामृगके पीछे दौड़े।११

टिप्पणी—१ (क) 'प्रभुहि बिलोकि चला मृग भाजी ।०' इति । दोनोंने परस्पर एक दूसरेको देख लिया । यथा 'मृग बिलोकि परिकर कटि बाँधा' और यहाँ 'प्रभु बिलोकि०' । और, जो पूर्व कहा था कि मारीचका निश्चय था कि 'फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहौं' उसको यहाँ चरितार्थ किया । अर्थात् इससे यह भी जनाया कि वह बारंबार प्रभुको फिर-फिरकर देखता है और भागता जाता है । हनु० ना० ४।३ में भी ऐसा ही कहा है । यथा "ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्पन्दने बद्धदृष्टिः" । गी० ३।३ में भी ऐसा ही है; यथा "चल्यौ भाजि फिरि-फिरि चितवत मुनिमख रखवारे चीन्हें ॥ सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम-हरनि के पाछे । धावनि नवनि बिलोकनि बिथकनि बसै तुलसि उर आछे ।" (ख) बाण पहले ही धनुषपर जो लगाया था वह (लक्ष्मणजीको) समझानेके समय उतार लिया था, इसीसे अब फिर कहा कि 'धाए राम सरासन साजी'। [ 'करतल चाप रुचिर सर साँधा' से उपक्रम किया और 'धाए साजी' से उपसंहार कर दिया । (प० प० प्र०) ] (ग) जिसको वेद और शिव नहीं पाते वे मृगको नहीं पकड़ पाते, यह माधुर्य्य लीलाकी शोभा है। यह लालित्य दिखाया जो 'करबि ललित नर लीला' में कहा था ।

२—वेद 'वाणी' रूप हैं । 'निगम नेति' अर्थात् जहाँ वेदरूपी वाणी नहीं पहुँच सकती । शिवजी ध्यानमें नहीं पाते । ध्यान मनसे होता है; यथा 'मगन ध्यान रस दंड जुग पुनि मन बाहर कीन्ह । १.१११।' अतः 'शिव ध्यान न पावा' का भाव कि जहाँ शिवजीका मन नहीं पहुँच पाता । 'यतोवाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । तैत्ति० २।४।', 'मन समेत जेहि जान न बानी । तरकि न सकहिं सकल अनुमानी । १. ३४१.७ ।' का जो भाव है वही सब भाव यहाँ सूचित किया । [ "निगम नेति····मायामृग पाछे सो धावा ॥" यह आश्चर्य है । तथापि यह आश्चर्य भक्तजनोंका उद्धार करनेके लिए लीलाचरित्र निर्माण करनेके लिए ही करते हैं, नहीं तो 'भृकुटि बिलास जासु लय होई' ऐसे रामजीको रावण और निशाचरवध करनेके लिये ऐसी अघटित घटना करनेकी दूसरी आवश्यकता ही क्या ? (प० प० प्र०)। 'भागा' क्योंकि रावणका कार्य निकट मरनेसे न होगा । (प्र०) ]

नोट—१ इसमें यह भी भाव है कि जगत् मात्रको मोहित करनेवाली माया जिनके वशमें है, नटीकी तरह जिनके इशारेपर नाचती रहती है, जो निर्विकार, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सच्चिदानंद घन हैं, वे उस माया-मृगके पीछे दौड़े, यह क्यों? यह इस लिये कि रावणका सीताहरण करनेका मनोरथ, मारीचका 'फिरि फिरि' कर अपने पीछे दौड़ते हुए प्रभुको बारंबार देखनेका मनोरथ, श्रीसीताजीका मृगचर्मका मनोरथ और देवकार्य सिद्ध हो । अ० रा० में कहा है कि इससे यह वाक्य सर्वथा सत्य है कि भगवान् हरि बड़े भक्तवत्सल हैं । वे सब कुछ जानते थे तथापि श्रीसीताजीको प्रसन्न करनेके लिए वे मृगके पीछे गए । यथा "इत्युक्त्वा प्रययौ रामो मायामृगमनुद्रुतः । माया यदाश्रया लोकमोहिनी जगदाकृतिः । सर्ग ७।१२। निर्विकारश्चिदात्मापि पूर्णोऽपि मृगमन्वगात् भक्तानुकम्पी भगवानिति सत्यं वचो हरिः ॥१३॥ कर्तुं सीताप्रियार्थाय जानन्नपि मृगं ययौ ॥' यह सब भाव इन दो चरणोंसे सूचित कर दिया है । गीतावलीमें भी कहा है—'प्रिया बचन सुनि बिहँसि प्रेम बस गवहिं चाप सर लीन्हें । ३.३।', 'प्रिया-प्रीति-प्रेरित बन बीथिन्ह बिचरत कपट-कनक-मृग-संग । ३.४ ।'

कबहुँ निकट पुनि दूरि पराई । कबहुँक प्रगटै कबहुँ छपाई ॥१२॥
प्रगटत दुरत करत छल भूरी । येहि बिधि प्रभुहि गयौ लै दूरी ॥१३॥
तब तकि राम कठिन सर मारा । धरनि परेउ करि घोर पुकारा ॥१४॥

* सोइ—१७२१, १७६२ । सो—छ०, भा० दा०, १७०४, को० रा० ।

शब्दार्थ—पुकार = शब्द, चीत्कार । दुरत = छिपता हुआ । भूरी = बहुत । पुकार-शब्द, गर्जन ।

अर्थ—कभी पास आ जाता और फिर दूर भाग जाता, कभी प्रगट होता और कभी छिप जाता ॥१२॥ इस प्रकार प्रकट होते, छिपते, बहुत छल करते हुए वह प्रभुको दूर ले गया ॥१३॥ तब श्रीरामजीने ताककर कठिन बाण मारा । ( जिससे ) वह घोर ( भयंकर ) शब्द करता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥१४॥

टिप्पणी—१ 'कबहुँ निकट पुनि दूर पराई', यह काम शरीरसे कर रहा है और 'कबहुँक प्रगटै कबहुँ छपाई' यह काम मायासे करता है । निकट आ जाता है, प्रगट हो जाता है जिसमें निराश होकर लौट न जायँ, और, दूर भाग जाता है एवं छिप जाता है जिसमें कहीं अभी मार न लें । रावणने जो कहा था कि 'होहु कपटमृग तुम्ह छलकारी' उस 'छलकारी' शब्दको यहाँ चरितार्थ कर रहा है ।

नोट—१ हनु० ना० अंक ४ में 'कबहुँ निकट···छल भूरी' का बड़ा सुन्दर वर्णन है । यथा 'आन्दोलयन्निशिखमेककरेण सार्धं, कोदण्डकाण्डमपरेण करेण धुन्वन् । सन्नह्य पुष्पलतया पटलं जटानां, रामो मृगं मृगयते वनवीथिकासु ॥१॥ हस्ताभ्यासमुपैति लेढि च तृणं न स्पृश्यता गाहते, गुल्मान्प्राप्य विवर्तते किसलयानाघ्राय चाघ्राय च । भूयस्तयति पश्यति प्रतिदिशं कण्डूयते स्वां तनुं, दूरं धावति तिष्ठति प्रचलति प्रान्तेषु मायामृगः ॥२॥' अर्थात् एक हाथसे बाण चलाते हुए और दूसरे हाथसे धनुषके ( धुन्ध ) बड़े शब्दको करते हुए, पुष्पोंकी लतासे जटाजूटको बाँधकर महाराज रामचन्द्रजी वनकी गलियोंमें मृगको ढूँढ़ने लगे । वह मायामृग कभी तो भागता-भागता हाथोंसे ही ग्रहण करने योग्य होकर तृणोंको चाटता है, कभी घासको छूतातक नहीं, कभी लता-गुल्मोंको पाकर नवीन पत्तोंकी सुगंधिको सूँघकर लौटने लगता है, फिर बारंबार चारों दिशाओंको देखने लगता है, कभी खड़ा हो जाता है और कभी इधर-उधरको चलने लगता है । पुनश्च यथा 'ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः, पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम् । दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा, पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति । हनु० ४।३।' अर्थात् ( श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं ) यह मृग बारबार मनोहर ग्रीवाको फेरकर पीछेकी ओर देखता है और चलनेमें दृष्टिको लगाकर बाण लगनेके भयसे अपने पिछले शरीरको शीघ्रतासे शिरमें सिकोड़कर कर लेता है । आधे खाए हुए तथा श्रमसे थकित हो जानेके कारण खुले हुए मुखमें गिरते हुए तृणोंसे मार्गको व्याप्त करनेवाला मृग घबड़ाकर आकाशमें बहुत और पृथ्वीमें थोड़ा-थोड़ा चलता है, अर्थात् इतना उछल-कूदकर आकाशमें भागता है कि पृथ्वीमें इसका चरण कम कम पड़ता है । वाल्मी० ३।४४। श्लोक ३-१२ में भी इसका विस्तृत उल्लेख है ।

टिप्पणी—२ 'येहि बिधि प्रभुहि गयौ लै दूरी' अर्थात् अब श्रीरामजी समझ गए कि रावणका कार्य अच्छी तरहसे हो सकता है, तब उन्होंने ताककर कठिन बाण मारा । 'कठिन सर' अर्थात् जिससे बच न सके । (इसीको हनुमन्नाटकमें 'दिव्य बाण' लिखा है)। बाण लगनेपर चिंघाड़ करना था सो न करके उसके बदले उसने लक्ष्मणजीका नाम लेकर पुकारा जिसमें लक्ष्मणजी आवें । ऋषियोंका इसमें मतभेद है कि कितनी दूर ले गया, अतएव केवल 'दूरी' पद देकर सबके मतकी रक्षा की गई है ।

नोट—२ "तब तकि राम कठिन सर मारा ।····" इति । यह बाण सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशमान था । यह दीप्त अस्त्र ब्रह्माका बनाया हुआ था । सर्पके समान तथा जलता हुआ यह बाण वज्रके समान कठिन था । इस शरने उसके मृगरूपको छेदकर मारीचके राक्षसरूपके हृदयको भी बेध डाला । यह सब भाव 'कठिन' विशेषणके हैं । यथा 'भूयस्तु शरमुद्धृत्य कुपितस्तत्र राघवः । सूर्यरश्मिप्रतीकाशं ज्वलन्तमरिमर्दनः ।१३। संधाय स दृढं चापे विकृष्य बलवद्बली । तमेव मृगमुद्दिश्य ज्वलन्तमिव पन्नगम् । १४ । मुमोच ज्वलितं दीप्तमस्त्रं ब्रह्मविनिर्मितम् । स भृशं मृगरूपस्य विनिर्भिद्य शरोत्तमः । १५ । मारीचस्यैव हृदयं बिभेदाशनिसंनिभः ।' (वाल्मी० ३।४४) ।

नोट—३ 'धरनि परेउ करि घोर पुकारा' यह कठिन शरका प्रभाव कहा । यथा 'व्यनदद्भैरवं नादं धरण्यामल्पजीवितः । वाल्मी० ४४।१७ ।' वाल्मीकीयसे सिद्ध होता है कि बाण लगनेपर उसने घोर गर्जन

किया, वही यहाँ 'घोर पुकारा' से जनाया गया है। इसके बाद उसने लक्ष्मणजीका नाम लिया। यही मानसके क्रमसे जनाया है।

**लछिमन कर प्रथमहि लै नामा। पाछे सुमिरेसि मन महुँ रामा ॥१५॥**
**प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि राम समेत सनेहा ॥१६॥**
**अंतर प्रेमु तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना ॥१७॥**

अर्थ—पहले लक्ष्मणजीका नाम लेकर पीछे (उसने) मनमें श्रीरामजीकार स्मरण किया ॥१५॥ प्राण छोड़ते समय अपनी (राक्षसी) देह प्रगट की और प्रेमसहित श्रीरामजीका स्मरण किया ॥१६॥ सुजान प्रभुने उसके अन्तःकरणके प्रेमको पहचानकर उसको मुनियोंकी भी दुर्लभ मुक्ति दी ॥१७॥

टिप्पणी—१ 'प्रभु लछिमनहि कहा समुझाई। फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई ॥ सीता केरि करेहु रखवारी।'; अतएव पहले 'लक्ष्मण' नाम पुकारकर लिया, जिसमें वे भी वहाँ न रह जायँ, वहांसे चले आवें, तब रावण जाकर कार्य्य साधे। "राम" नाम मनमें धीरेसे लिया; यथा "लषन पुकारि राम हरुये कहि बैर सँभारेउ" (गी० ३।६)। पुनः, यथा 'सुकृत न सुकृती परिहरै कपट न कपटी नीच। मरत सिखावन सो दियो गीधराज मारीच ॥' इति दोहावल्याम्। पुनः, छलके लिए लक्ष्मणका नाम लिया और मुक्तिके लिए रामनाम लिया—"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा। ३.३१.६।" [पुनः भाव कि लक्ष्मणजी आचार्य्य हैं, बिना आचार्य्यके प्रभुकी प्राप्ति नहीं। अतएव लक्ष्मणजीका नाम लेकर मानों उनकी शरण गया तब श्रीरामजीका स्मरण किया। (करु०, मा० म०, वै०)]

नोट—१ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि रावणके वचनका स्मरण करके राक्षस मारीचने सोचा कि किस उपायसे 'सीता' लक्ष्मणजीको भेजेंगी और रावण उनका हरण करेगा। उसने उसी समय निश्चय करके श्रीरामचन्द्रजीके समान स्वरमें 'हा सीते' 'हा लक्ष्मण' ऐसा जोरसे चिल्लाकर कहा। यथा 'स्मृत्वा तद्वचनं रक्षो दध्यौ केन तु लक्ष्मणम्। इह प्रस्थापयेत्सीता तां शून्ये रावणो हरेत् ।१७। स प्राप्तकालमाज्ञाय चकार च ततः स्वनम्। सदृशं राघवस्येव हा सीते लक्ष्मणेति च ।१८।···हा सीते लक्ष्मणेत्येवमाक्रुश्य तु महास्वनम्। २।४४।२४।' अ० रा० ३।३।१८ में 'हा हतोऽस्मि महाबाहो त्राहि लक्ष्मण मां द्रुतम्।' अर्थात् हे महाबाहो लक्ष्मण! मैं मारा गया, मेरी शीघ्र ही रक्षा करो—ऐसा उसने मरते समय कहा।

टिप्पणी—२ 'प्रान तजत···राम समेत सनेहा' इति। प्राण निकलनेके समय बेहोशी आ गई, इसीसे निजदेह प्रगट कर दी। [पर, बेहोशी आनेपर 'सुमिरेसि···सनेहा' कैसे संभव था? यह भाव कुछ शिथिल-सा है और इसका प्रमाण भी हमें नहीं मिला] वा, अपने स्वामीका काम करके अब प्राणप्रयानके समय निजदेह प्रगट की। छल छूट गया, लक्ष्मणजीका नाम छलके लिए लिया, अब उसे भी छोड़ा, अब केवल श्रीरामजीका स्मरण किया। [स्मरण रहे कि यहाँ दो बार श्रीरामका स्मरण करना कहा है। एक बार रावण-का कार्य सँवार देनेके बाद, फिर दूसरी बार स्नेहसे। इसीसे दो बार कहा गया। श्रीरामस्मरण वाल्मीकीय, अ० रा०, और हनुमन्नाटकमें नहीं है]

स्वामीप्रज्ञानानंदजी—"प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा"—(१) अपनी देह प्रगट करनेमें हेतु यह है कि कपट तो केवल रावणके कार्य-संपादनके लिये करता था, वह कार्य तो अब हो ही जायगा, अब भगवान्के सामने कपटका क्या काम? 'मोहि कपट छल छिद्र न भावा' यह है भगवान्का स्वभाव! देखिये किष्किन्धामें जबतक हनुमान्जी अपना कपटवेष नहीं त्यागते तबतक श्रीरामजी उनसे नहीं मिलते। (२) श्रीहनुमान्जी और श्रीलषनलालजीके हाथसे मरते समय कालनेमि और मेघनादका कपट भी न टिक सका, तब श्रीराम-जीका बाण लगनेपर कपटदेह कैसे रह सकती? (३) भाव यह है कि मनमें रामजीका स्मरण करनेसे मारीचके कपट, छल इत्यादि सब दोषोंका दलन हो गया। (दोष-दलन करुणायतन), वह 'निर्मल मन' हो

गया। तब उसने फिरसे "सुमिरेसि राम समेत सनेहा"। निर्मल मनसे सप्रेम स्मरण करनेका फल 'मुनि दुर्लभ गति' की प्राप्ति है। "अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। य प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः। गीता ८।५।", "निर्मल मन जन सो मोहि पावा"।

टिप्पणी—३ तनसे इसने छल किया कि मायाका मृग बना। पुनः, वचनसे छल किया कि लक्ष्मण-जीका नाम लेकर पुकारा। केवल मनसे शुद्ध है, मनमें प्रेम है, अतः 'अंतर प्रेम तासु पहिचाना'; यथा 'रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरत सय बार हिये की। १.२९.।'

४ 'मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना'। मनकी गति जानी, अतः सुजान कहा, यथा 'राम सुजान जान जन जी की', 'स्वामि सुजान जान सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की।'

प० प० प्र०—"अंतर प्रेम तासु पहिचाना।…" इति। (१) इससे यह सिद्ध होता है कि अन्तकालमें रामस्मरण करनेकी शक्ति श्रीरामजीने अपनी कृपासे ही दे दी। अन्यथा 'रामजीने मुनि दुर्लभ गति दे दी' ऐसा कहनेमें कुछ भी सार नहीं रह जाता है। "अन्ते मतिः सा गतिः'। (२) मारीच तो जातिका निशा-चर, अत्यन्त क्रूर, कपटी, महामायावी, द्विजमांस-भक्षक और यज्ञविध्वंसक था। ऐसा होनेपर अन्त समय श्रीरामजीका बारंबार दर्शन और प्राणोत्क्रमणके समय रामस्मरण, भगवान्‌की कृपा-बिना असंभव है। कोटि विप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥ सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं। ५।४४।' यह भगवान्‌का विरद यहाँ चरितार्थ हो गया। "तब ताकिसि रघुनायक सरना" से उसका सम्मुख होना कह आए हैं। 'रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिये की' यह सिद्धान्त भी यहाँ 'अंतर प्रेम तासु पहिचाना।' में चरितार्थ हो गया।

**दोहा—विपुल सुमन सुर बरषहिं गावहिं प्रभु गुनगाथ।**
**निज पद दीन्ह असुर कहुँ दीनबंधु रघुनाथ॥२७॥**

अर्थ—देवता बहुत फूल बरसाते हैं और प्रभुके गुणगाथ गा रहे हैं। 'रघुनाथजी ऐसे दीनबन्धु हैं कि उन्होंने असुरको अपना पद दिया'॥२७॥

टिप्पणी—१ क्या गुणगाथ गाते हैं? यह उत्तरार्द्धमें कहते हैं कि 'निजपद…'। अर्थात् 'अधम उद्धारणादि गुण गाए। 'असुर' गो द्विज आदिका भक्षण करनेवाला, मदिरा पीनेवाला, इसको भी हृदयका प्रेम पहचानकर मुनियोंको भी दुर्लभ ऐसी मुक्ति दी। प्रेम ऐसा ही पदार्थ है। मारीच अपनी मुक्ति करानेमें असमर्थ था, इसीसे 'दीनबंधु' विशेषण दिया अर्थात् वह दीन था।

२ पूर्व मृगको या चर्म लानेके लिए कहते हुए जो विशेषण श्रीसीताजीने दिये थे उनका चरितार्थ इस प्रसंगमें यों हुआ—देव—'तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुरकाज सँवारन।' (१)। रघुबीर—'खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा'। (२)। कृपाला—'निज पद दीन्ह असुर कहँ दीनबंधु रघुनाथ'। (३)। सत्य-संध—'तब तकि राम कठिन सर मारा'। (४) प्रभु हैं—चर्म लाए। चर्म लानेका प्रमाण लं० ११ में है—'तापर रुचिर मृदुल मृगछाला। तेहि आसन आसीन कृपाला'। पुनः, यथा 'हेम को हरनि हनि फिरे रघु-कुलमनि लषन ललित कर लिये मृगछाल। गी० ३।६।'

प० प० प्र०—कुछ रामायणियों और टीकाकारोंका मत है कि 'तापर रुचिर मृदुल मृगछाला। ६.११. ४।' में इसी 'परम रुचिर' मृगके चर्मका संकेत है, पर मेरी समझमें निम्न कारणोंसे यह अनुमान सयुक्तिक नहीं है—(१) प्राण त्याग करते समय 'परम रुचिर मृग' ही अन्तर्धान हो गया। उसने तो 'प्रान तजत प्रग-टेसि निज देहा'। (२) 'मैं कछु करबि ललित नर लीला। २४.१।' ये श्रीरामजीके वाक्य हैं। यहाँसे माधुर्य लीलाका ही चरित है। अतः यह मानना कि भगवान्‌ने अपने ऐश्वर्यसे चर्म पैदा किया प्रकरणार्थसे विरुद्ध होगा। (३) लंकाकांडमें "परम रुचिर मृगछाल" नहीं है। वहाँ केवल "रुचिर मृदुल मृगछाल" लिखा है।

'परम रुचिर' शब्द भी होते तब भी यह मान लेना कि वह इस 'कपट मृग' का ही है प्रसंगके विरुद्ध होगा। (४) श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामजी दोनों रास्तेमें मिलते हैं। अतः रामायणियोंका यह मत कि लक्ष्मणजी चर्मको निकालकर लाए निराधार है। (५) यदि श्रीरामजी ही इस चर्मको लाए होते तो वे विरह-विलापमें इसके लानेका निर्देश अवश्य करते, यह तो विलापका एक विशेष साधन बन जाता। (६) गीतावलीका जो आधार लिया जाता है वह यहां संगत नहीं है, क्योंकि वहाँ 'हरनि हनि', 'रघुवर दूरि जाइ मृग मार्यो' ये शब्द हैं। वहाँ 'मृग' का वध कहा है और मानसमें 'खल वधि तुरत फिरे' यह शब्द हैं, यहाँ 'मृग वधि' नहीं कहते। फिर वहाँ अपनी देह प्रकट करनेका किंचित् भी संकेत नहीं है। इतना ही नहीं, वहां तो लक्ष्मणजी सीताजीको समझाते हुए कहते हैं 'हत्यो हरिन'। गीतावलीमें चर्म लानेका उल्लेख वहाँके पूर्वापर संदर्भसे सुसंगत है, पर मानससे पूर्वापर संदर्भसे यह कल्पना विसंगत है। (७) श्रीलक्ष्मणजीने इसी चर्मको सुवेल-झाँखीके पूर्व तक गुप्त रक्खा और उस दिन सुवेल पर्वतपर बिछाया—ऐसा माननेपर एक प्रश्न यह होता है कि 'जिस चर्मकी अत्यंत लालसा श्रीसीताजीको थी वह चर्म अग्निदिव्य (अग्निपरीक्षा) के पश्चात् उन्होंने सीताजीको क्यों नहीं दिया? कनकमय मणिरचित मृगचर्म तो ऐसे अवसरपर उपहार-योग्य पदार्थ था? (८) एक टीकाकार ने यह प्रश्न किया है 'यदि इसे कपट मृगका चर्म न मानें तो सुवेलपर बिछा हुआ वह चर्म कहाँसे मिला? मानसमें तो इसका उल्लेख कहीं नहीं है कि श्रीरामलक्ष्मणजी मृगचर्मका उपयोग करते थे?' इसका उत्तर सुनिए। उल्लेख मानसमें तो है ही पर सावधानीसे देखनेसे ही देख पड़ता है। 'अजिन बसन, फल असन, महि सयन डासि कुस पात' यह श्रीरामजीकी वनवासचर्याका वर्णन मानसमें ही है। "मुनिव्रत बेष अहार" यह था वनवासका नियम। श्रीरामजीने जनकपुरमें परशुरामजीको मुनिवेषमें देखा ही था। उस समय परशुरामजीने मृगचर्मको ही प्रावरण किया था। यथा 'वृषभ कंध उर बाहु बिसाला। चारु जनेउ माल मृगछाला॥ कटि मुनि बसन···। १.२६८.७-८।' (९) इस कथा भागके वक्ता श्रीकाकभुशुण्डीजी हैं, यह 'इमि कुपंथ पग देत खगेसा' से स्पष्ट है। यह उस कल्पकी कथाका वर्णन है। और, 'मृग बधि बंधु सहित हरि आए। १.४९.६।' ( जो बालकांडमें कहा है जब श्रीशिवजी और सतीजीने वनमें श्रीरामजीको देखा था ) यह उस कल्पकी कथाका उल्लेख है जिसकी कथा श्रीशिवजीने पीछे श्रीपार्वतीजीसे कही है। इससे यह सिद्ध हो गया कि श्रीरामजी कपटमृगका चर्म नहीं लाए और लक्ष्मणजी लाते कब? वे तो वहाँ तक गए भी नहीं जहाँ मारीचका वध हुआ था। जब कल्प भेदानुसार कथा भेदका अनुसंधान छूट जाता है तब ऐसी बहुतेरी शंकाओंका मानसमें पैदा हो जाना सुलभ है।

(नोट—यह गोस्वामीजीकी काव्यकलाका कौशल है कि उसमें अनेक कल्पोंकी-कथाओंके भाव निकल आते हैं।)

## मारीच वध प्रसंग समाप्त हुआ।

—:०:—

खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा। सोह चाप कर कटि तूनीरा॥१॥
आरत गिरा सुनी जब सीता। कह लछिमन सन परम सभीता॥२॥
जाहु बेगि संकट अति भ्राता। लछिमन बिहसि कहा सुनु माता॥३॥

अर्थ—दुष्टको मारकर रघुवीर तुरत लौटे। उनके हाथोंमें धनुष और कमरमें तर्कश शोभा पा रहे हैं।१। जब श्रीसीताजीने दुःखभरी वाणी सुनी तब अत्यन्त भयभीत होकर उन्होंने लक्ष्मणजीसे कहा।२। शीघ्र जाओ, भाई बड़े संकटमें हैं। लक्ष्मणजीने हँसकर कहा। हे माता! सुनिए॥३॥

टिप्पणी—१ 'खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा···' इति। (क) श्रीरामकृपासे मुक्ति हुई थी, पर वह दुष्ट था, मरण पर्यन्त उसने छल न छोड़ा, [ वाल्मीकिजी कहते हैं कि 'स प्राप्तकालमाज्ञाय चकार च ततः स्वनम्। सदृशं राघवस्येव हा सीते लक्ष्मणेति च।३.४४.१९।' अर्थात् मारीचने बाण लगकर गिरनेपर विचार किया

कि रावणका काम कैसे करूँ कि जिसमें लक्ष्मणजी भी छोड़ कर चले आवें। उसी समय ऐसा विचारकर उसने श्रीरामजीके स्वरमें 'हा सीते', 'हा लक्ष्मण' ऐसा कहा। यही दुष्टता है।]; इसीसे वक्तालोग उसे 'खल' कहते हैं। अधमकी मुक्ति होती है पर उसका कुनाम नहीं जाता। [यहाँ मारीचको मरनेके बाद भी 'खल' कहा है। इसका कारण यह है कि संसारमें किसीकी कीर्ति या अपकीर्ति उसके बाह्य आचरणानुसारही होती है। अन्तकाल तक मारीचकी कृति खलकी-सी ही थी। अन्तःकरणकी भावना कोई विरला ही जानता है। इसमें यह उपदेश मिलता है कि जैसी भावना हो वैसी कृति और उक्ति भी चाहिए। 'मनस्येकं वचस्येकं कार्यमेकं महात्मनाम्। मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कार्यमन्यत् दुरात्मनाम्'। मनमें एक भावना और कृति उससे विलक्षण और वचन उनसे भी भिन्न यह दुर्जनोंका स्वभाव है। इससे ही 'खल' कहा (प० प० प्र०)।] (ख) 'तुरत फिरे' क्योंकि उसने लक्ष्मणजीका नाम लेकर पुकारा था, इससे चिन्ता है कि आश्रमपर कुछ छल होने ही चाहता है। [ यथा 'हा सीते लक्ष्मणेत्येवमाक्रुश्य तु महास्वनम्। ममार राक्षसः सोऽयं श्रुत्वा सीता कथं भवेत् ॥२४॥ लक्ष्मणश्च महाबाहुः कामवस्थां गमिष्यति। इति संचिन्त्य धर्मात्मा रामो हृष्ट तनूरुहः। २५॥ तत्र रामं भयं तीव्रमाविवेश विषादजम्। राक्षसं मृगरूपं तं हत्वा श्रुत्वा च तत्स्वनम् ॥२६॥ (३।४४)। अर्थात् हा सीते! हा लक्ष्मण! जोरसे चिल्लाकर यह मरा है। यह सुनकर सीताकी क्या दशा हुई होगी। महाबाहु लक्ष्मण किस अवस्थामें होंगे—यह सोचकर श्रीरामचन्द्रजीके रोंगटे खड़े हो गए। भयभीत होकर रामजी चले।] (ग) खलको मारकर लौटे, अतः 'रघुवीर' कहा। [ 'रघुवीर' नाम पाचों प्रकारसे यहाँ चरितार्थ किया है। 'युद्धवीर' हैं, क्योंकि महामायावी अद्वितीय, घोर भयानक राक्षसको एक बाणसे ही मार डाला। 'कृपावीर' हैं क्योंकि 'सुर काज सँवारन' (देवोंपर दया करनेके लिये ही) उन्होंने यह चरित किया। मारीचको 'निर्वाण' दिया, 'निजपद दीन्ह असुर कहुँ' यह दानवीरता है। 'विद्यावीर' का प्रमाण, यथा 'तव रघुपति जानत सब कारन', 'अंतर प्रेम तासु पहिचाना।··· सुजाना'। 'धर्मवीर' क्योंकि धर्म युद्ध करके और धर्म संस्थापनाके लिये ही राक्षस मारीचको मारा, अतः 'रघुवीर' कहा।] (घ) 'सोह चाप कर कटि तूनीरा'—धनुष बाण-तर्कशकी शोभा अब हुई जब खलको मारकर लौटे। अतः 'सोह' कहा।

२ 'आरत गिरा सुनी जब सीता···' इति। (क) 'आरत गिरा' अर्थात् 'त्राहि त्राहि लक्ष्मण', यथा 'आतुर सभय गहेसि पग जाई। त्राहि त्राहि दयालु रघुराई ॥···सुनि कृपालु अति आरत बानी'; 'प्रनतपाल रघुबंसमनि त्राहि त्राहि अब मोहि। आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करैगो तोहि। ६.२०।' [ 'त्राहि लक्ष्मण मां द्रुतम्। अ० रा० ३.७.१८।' यह वाक्य मारीचके (श्रीरामजीके स्वरमें) हैं। आर्त-शब्द वाल्मीकीयमें भी है। श्रीसीताजी कह रही हैं कि शरण चाहनेवाले तथा रक्षाके लिए पुकार करनेवाले अपने भाईकी रक्षा करो। जिस प्रकार गाय और बैल सिंहके पंजेमें आ जाते हैं वैसे ही तुम्हारे भाई राक्षसोंके पंजेमें आगए हैं। यथा क्रोशतः परमार्तस्य श्रुतः शब्दो मया भृशम्। ३।४५।२। आक्रन्दमानं तु वने भ्रातरं त्रातुमर्हसि। तं क्षिप्रमभिधाव त्वं भ्रातरं शरणैषिणम् ।३। रक्षसां वशमापन्नं सिंहानामिव गोवृषम् ।" ] (ख) 'परम सभीता' से जनाया कि देह काँपने लगी, अश्रुपात हो रहा है, रोएँ खड़े हो गए हैं। [ क्या दशा हुई होगी, इसकी कल्पना करना आज कलकी सुशील नारिवर्गको भी असंभव है। जिनको श्रीराघवकी शीतल 'सिख' भी दाहक हो गई थी ( अ०६४.२ ), उनका 'आरत गिरा' सुनकर सूख जाना असंभव नहीं। मुख विवर्ण हो गया, शरीर एकदम सूख गया। शरीरमें स्वेद (पसीना), छातीमें घबराहट इत्यादि बाह्य लक्षण लक्ष्मणजीके देखनेमें आए ही होंगे। (प०प० प्र०)। वाल्मी० ।३.४५.१। में श्रीसीताजीने कहा कि मेरे प्राण और हृदय अपने स्थानपर नहीं हैं, यथा 'नहि मे जीवितं स्थाने हृदयं वावतिष्ठते···', यह भी 'परम सभीता' का भाव है। वाल्मीकिजी उन्हें मृगीके समान डरी हुई लिखते हैं। यथा "अब्रवील्लक्ष्मणस्त्रस्तां सीतां मृगवधूमिव ।३।४५।१०।"

३ 'जाहु बेगि संकट अति भ्राता'। यहाँ 'परमसभीता' का कारण कहा कि तुम्हारे भाईपर बड़ा भारी संकट आ पड़ा है। इससे जनाया कि मारीचके शब्द, अतिसंकटमें जैसे शब्द उच्चारण होते हैं, वैसे ही हैं

और यह कि श्रीरामजीके स्वरसे मिलते हुए स्वरमें उसने लक्ष्मणजीको पुकारा था। [ यथा 'सुनत नाग कोउ तुम्हहि पुकारत प्राननाथ की नाईं'। गी० ३.६।', वाल्मी० और अ० रा० के प्रमाण पूर्व आ चुके हैं। 'अति' का भाव कि जब उन्होंने समझ लिया कि विना तुम्हारी सहायताके जीवित नहीं बच सकते तब तुमको सहायताके लिए पुकारा। ( पं० रा० व० श० ) ]

प० प० प्र०☞'जाहु वेगि संकट अति भ्राता' में पतिव्रता स्त्रीका स्वभाव-चित्र-चित्रण कितना सुन्दर है। यहाँ 'अधिक प्रीति मन भा संदेहा' भी चरितार्थ हो गया।

टिप्पणी—४ 'लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता' इति। लक्ष्मणजीको मालूम है कि राक्षस मारा गया। 'बिहँसना' सीताजीकी असंभव बातपर है। वे यह जानते हैं कि श्रीरामजीपर संकट पड़ नहीं सकता, संकट पड़ना असंभव है। वे यह भी जानते हैं कि यह श्रीरामजीके शब्द नहीं हैं; यथा 'नसतस्य स्वरो व्यक्तं न कश्चिदपि दैवतः ॥१६॥ गन्धर्वनगरप्रख्या माया तस्य च रक्षसः।' 'वाल्मी० ३।४५।१७।' अर्थात् लक्ष्मणजी श्रीसीताजीसे कहते हैं कि स्वर और शब्द न तो श्रीरामजीके हैं और न किसी देवताके। यह उसी राक्षसकी गंधर्वनगरके समान झूठी माया है। पुनः खर्रामें लिखा है कि लक्ष्मणजीके 'बिहँसने' से उन्होंने दूसरा भाव समझा पर इनका माताभाव दृढ़ रहा इसीसे इनने 'माता' संबोधन किया। (श्रीसीताजीमें माताभाव पूर्वसे ही है। माता सुमित्राकी भी शिक्षा है—'तात तुम्हारि मातु वैदेही')।

पं० रा० चं० दूबे—कविने यहाँ भी कैसा उच्च आदर्श स्थान स्त्रियोंका दरसाया है। 'मारीच मरते समय श्रीलक्ष्मणजीका नाम उच्च स्वरसे पुकारता है। यह आर्त्तनाद श्रीसीताजीके कर्णगोचर होता है। पतिपरायणा किसी अशुभकी शंकासे विह्वल हो जाती है और 'कह लछिमन सन परम सभीता…'। 'लछिमन बिहँसि कहा सुनु माता'—आहा, कैसा उदार मान है! माता शब्दमें कैसा उच्च भाव है! क्या पाश्चात्य लेखक इस भावको प्रदर्शित करनेमें समर्थ हुए हैं? अस्तु! सीतादेवी उस समय ऐसी कातर हो गईं कि उनको यह उपदेश बुरा लगा।—'मरम बचन सीता जब बोला…'। उन मर्मवचनोंकी ओर केवल संकेतकर साफ़-साफ़ न लिखना भी कविके उच्च आदर्शको ही दरसाता है। कवि उन शब्दोंको लेखनी द्वारा अंकित न करके दिखलाता है कि सतीका आदर्श उसकी दृष्टिमें कितना ऊँचा है। उस आदर्शके साथ ये शब्द शोभा नहीं पाते। वीर लक्ष्मणजीके समान तुनकमिजाज जो किसीकी बात सहन नहीं कर सकते थे, देवीके शब्दोंको सुनकर दमबखुद हो जाते हैं। उत्तरतक नहीं देते। वह एजेक्स Ajax की तरह यह नहीं कह उठते कि।'स्त्री! तेरा चुप रहना ही सबसे अच्छा भूषण है'। बल्कि 'बन दिसि देव सौंपि सब काहू…'। ऐसे कठोर वचन सुनकर भी वही आदर, वही भक्ति, वही स्नेह झलकता रहता है। भाईकी आज्ञाका उल्लंघन होता है। यह भी मालूम है कि सीताजीको सुनसान आश्रममें अकेले छोड़ना उचित नहीं। पर देवीकी आज्ञाका पालन किया जाता है और जब इस आज्ञा-उल्लंघनका इस प्रकार जवाब तलब होता है—'आयेहु तात बचन मम पेली', तब लक्ष्मण भाभीकी चुगली नहीं खाते—केवल इतना ही कह देते हैं—'नाथ कछु मोहि न खोरी'।

भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई। सपनेहु संकट परै कि सोई ॥४॥
मरम बचन सीता जब बोला। हरिप्रेरित लछिमन मन डोला ॥५॥
बन दिसि देव सौंपि सब काहू। चले जहाँ रावन ससि राहू ॥६॥

शब्दार्थ—डोलना = विचलित होना, दृढ़ न रह जाना। लय = प्रलय, नाश। मर्म = हृदयको भेदन करनेवाले।

अर्थ—जिसकी भौंहके फिरनेसे ( इशारा मात्रसे ) सृष्टिका नाश होता है, क्या उसे स्वप्नमें भी संकट पड़ सकता है? ( कदापि नहीं ) ॥४॥ जब श्रीसीताजीने मर्म वचन कहा तब प्रभुकी प्रेरणासे लक्ष्मणजीका

मन डाँवाडोल हो गया ॥ ५ ॥ वन और दिशाओं आदिके सब देवताओंको सौंपकर लक्ष्मणजी वहाँको चले जहाँ रावणरूपी चन्द्रमाको ग्रसनेवाले राहु श्रीरामजी थे ॥ ६ ॥

नोट—१ 'भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई...' इति । (क) भाव कि जिसके भ्रूविलासमात्रसे चराचर-मात्रका नाश होता है उसका नाश कौन कर सकता है ? भ्रू के कटाक्षमात्रका यह बल है, तब शरीरके बलकी क्या कही जा सके ? (पु० रा० कु० ) । लंकाकांडमें शिवजीने भी ऐसा ही कहा है, यथा 'भृकुटि भंग जो कालहि खाई ।६.६५.२।' इशारेमें किंचित् श्रम नहीं क्योंकि भृकुटि तो साधारणतया ही फिरती है । (ख) पुनः, 'सृष्टि लय' में 'उत्पत्ति, पालन और संहार' तीनों आ गए । 'सृष्टि' = सृष्टि-रचना और उसका पालन । (प्र०) । श्रीप्रज्ञानानन्दस्वामीजीका मत है कि 'सृष्टिलय' शब्दोंका अर्थ 'उत्पत्ति-स्थिति-लय' भी हो सकता है तथापि इस स्थानपर प्रकरणार्थानुसार 'सृष्टिका लय' ऐसा अर्थ करना ही योग्य होगा, कारण कि सीताजीके मनमें रामजीके मरणकी आशंकाने घर बना लिया है; इसीसे लक्ष्मणजीने कहा कि जिनकी इच्छा मात्रसे अखिल विश्व, विनाशके संकटमें पड़ेगा उनका जीवित संकटमें पड़ना असंभव है । (प० प० प्र० ) । इस मतका परिपोषण अ० रा० ३.७.३० से होता है । उसमें लक्ष्मणजीके वचन ये हैं—'रामस्त्रैलोक्यमपि यः क्रुद्धो नाशयति क्षणात् ।३०।' अर्थात् जो श्रीरामचन्द्रजी क्रोधित होनेपर एक क्षणमें संपूर्ण त्रिलोकीको भी नष्ट कर सकते हैं । पाठक देखेंगे कि "भृकुटि बिलास" शब्द 'क्रुद्धो' से कहीं अधिक उत्तम हैं ।☞'भृकुटि बिलास सृष्टि लय' इन ४ शब्दोंमें जितना बल भरा हुआ है, वह वाल्मीकीयके सर्ग ४५ के निम्न श्लोकोंसे कहीं बढ़कर है, पाठक स्वयं देख लें ।※

टिप्पणी—१ वाल्मीकीय सर्ग ४५ में जो मर्म वचन बोलना लिखा है उसे पूज्य कविने न लिखा, केवल 'मरम बचन' इतना मात्र लिखकर छोड़ दिया, आशयसे दिखाया कि जब 'लछिमन बिहसि कहा सुनु माता' तब उनके हँसनेपर कुपित हुई कि रामजीकी आर्त्तवाणी सुनकर भी हँस रहा है । इससे जान पड़ता है कि तुम चाहते हो कि उन्हें कुछ हो जाय तो हमको सीता प्राप्त हो जायँ । [ नोट—जिसे अनुचित जानकर पूज्य कविने नहीं लिखा उसे यह दीन उद्धृत नहीं कर सकता, जो चाहे वहाँ देख ले । हाँ, 'मर्म वचन' से जनाया कि ये हृदयमें भिदने और घाव करनेवाले हैं । ऐसा हुआ भी, यथा 'इत्युक्तः परुषं वाक्यं सीतया रोमहर्षणम् । वाल्मी० ४५।२७ ।' अर्थात् कठोर वचन सुनकर उनके रोंगटे खड़े हो गए । लक्ष्मणजीने स्वयं कहा है कि आपकी बातें कानोंमें तपे हुए बाणके समान मालूम होती हैं, मैं सह नहीं सकता । यथा 'न सहे ईदृशं वाक्यं वैदेहि जनकात्मजे ।३०। श्रोत्रयोरुभयोर्मेऽद्य तप्तनाराचसन्निभम् ।...३१ ।' ( वाल्मी० सर्ग ४५ ) ।

'मरम बचन जब सीता बोला'—

पु० रा० कु०—'बोला' पुल्लिङ्ग है । 'सीता बोली' ऐसा लिखना चाहिए था । 'बोला' कहना अनुचित है । इस अपने कथनसे कवि यह भाव दर्शित करते हैं कि सीताने लक्ष्मणको अनुचित बात कही । अयोग्य कहा है, तो हम उचित पद कैसे धरें । अनुचित बात लिखने योग्य नहीं, केवल भावसे दर्शित कर दिया है ।

---

※ अब्रवील्लक्ष्मणस्त्रस्तां सीतां मृगवधूमिव । पन्नगासुरगंधर्वदेवदानवराक्षसैः ॥ १० ॥ अशक्यस्तव वैदेहि भर्ता जेतुं न संशयः । देवि देव मनुष्येषु गन्धर्वेषु पतत्रिषु ॥ ११ ॥ राक्षसेषु पिशाचेषु किन्नरेषु मृगेषु च । दानवेषु च घोरेषु न स विद्येत शोभने ॥१२॥ न त्वामस्मिन्वने हातुमुत्सहे राघवं विना । अनिवार्यं बलं तस्य बलैर्बलवतामपि ॥ १४ ॥ त्रिभिर्लोकैः समुदितैः सेश्वरैः सामरैरपि । हृदयं निर्वृत्तं ते ऽस्तु संतापस्त्यज्यतां तव ॥ १५ ॥' अर्थात् हरिणीकी तरह डरी हुई श्रीसीताजीसे लक्ष्मणजी बोले—नाग, असुर, गन्धर्व, देव, दानव और राक्षस कोई भी श्रीरामजीको नहीं जीत सकते । हे देवि ! देवी, देवता, मनुष्य, गन्धर्व, पक्षी, राक्षस, पिशाच, किन्नर, पशु, और दानव कोई भी श्रीरामके सामने नहीं खड़ा हो सकता । मैं तुमको अकेली नहीं छोड़ सकता । तीनों लोकोंके बलिष्ट मिलकर भी युद्धमें रामजीको नहीं जीत सकते । अतः तुम अपने मनका दुःख दूर करो ।

श्रीगौड़जी—'मरम बचन जब सीता (द्वारा) बोला ( गया )', इस प्रकार अन्वय होना चाहिए। यह तो मायाका खेल था। सीताजी हों और लक्ष्मणजीको मर्म्म वचन कहें, यह तो असंभव था। इसीलिये यहां कर्म्मवाच्य पद दिया गया कि कर्म्मवाच्यमें कर्मकी प्रधानता रहती है। कर्त्तापदकी नहीं। लक्ष्मणजीके देखने-सुननेमें सीता-द्वारा ही वचन बोला गया। परन्तु कवि बड़े कौशलसे माया-सीताको गौण कर्तृ पद देकर मानों छिपाता है, परदेमें रखता है।

प०प०प्र०—"सीता बोला" यह व्याकरणदृष्ट्या दोष है ऐसा कोई कहेंगे भी पर यह दोष नहीं, गुण है। 'हरि प्रेरित' शब्दोंको देहली-दीपकसे लेना चाहिए, तब भाव यह होगा कि जब हरिकी प्रेरणासे सीताजीके मुखारविंदसे मर्म वचन निकल गये तब हरिकी ही प्रेरणासे लक्ष्मणका मन-निश्चय, चलित हो गया। अन्यथा सीताजीकी सेवा जिस देवरने १२ साल ६ महीने और अठारा दिन की और जो सीता लक्ष्मणपर बालक समान प्रेम करती थीं उनका लक्ष्मणको ऐसे मर्म वचन बोलना कब संभव था? भगवान् को 'ललित नर लीला' और 'निसाचर नास' करना है। वे ही सब पात्रोंके अन्तःकरणोंका संचालन करते हैं। नारद, सती, मंथरा, कैकेयी, वसिष्ठ, दशरथ, शूर्पणखा, रावण, मारीच, सीता, लक्ष्मण, जटायू, इत्यादि अवतार-नाटकके सब प्रमुख पात्र हरिप्रेरणासे ही सहज-स्वभाव, निश्चय, इत्यादिके विरुद्ध ही कार्य करते हैं। मानसमें 'हरि इच्छा भावी बलवाना' 'राम कीन्ह चाहैं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई' यह सिद्धान्त आदिसे अन्ततक चरितार्थ किया है और "काहुहि वादि न देइअ दोसू" यह उपदेश मंथरा, कैकेयी, रावण, मारीचादिके विषयमें भी सत्य है। इनमेंसे किसीको भी दोष नहीं है। यह सिद्धान्त मानसमें साधारण जितना स्पष्ट है इतना अन्य रामायणोंमें मिलना असंभव है।

श्रीनंगे परमहंसजी—'मरम बचन बोला' इति। इसके दूसरे चरणमें 'लछिमन मन डोला' लिखना था, इसीसे उसके अनुसार प्रथम चरणमें 'बोला' शब्द लिखा गया।

टिप्पणी—२ ( क ) 'हरि प्रेरित लछिमन मन डोला' इति। भाव कि माया द्वारा उनकी बुद्धि नहीं प्रेरित हो सकती थी। उनका मन प्रभुकी प्रेरणासे विचलित हुआ। "हरिप्रेरित" पद देकर आज्ञाभंग-दोष निवारण किया।—[ ☞'हरि प्रेरित' पदसे उस शंकाको दूर किया कि "यदि श्रीलक्ष्मणजीको श्रीरामजीकी प्रभुतापर इतना विश्वास था तो क्यों गए? कहीं छिपे रहते" ] (ख) 'मन डोला' अर्थात् सीताजीको छोड़कर श्रीरामजीके पास जानेकी इच्छा हुई। [ परतमकी मायाका लक्ष्मणजीको भी पता नहीं था। इसीलिए प्रेरणा हुई। नहीं तो आज्ञाका उल्लंघन उनसे असंभव था। ( गौड़जी ) ]

नोट—२ पाँड़ेजी आदिने 'सीता बोली', 'मति डोली' पाठ रखा है। गोस्वामीजीके गूढ़ भावोंके न समझनेसे ही हम लोग इस प्रकार पाठ बदलते हैं, यह हमारी बड़ी भूल है। पं० रामकुमारजी एवम् गौड़जीने इसका भाव स्पष्ट कर दिया है।

टिप्पणी—३ 'बन दिसि देव सौंपि सब काहू' इति। ( क ) श्रीरामजीने आज्ञा दी थी कि 'सीता केरि करेहु रखवारी। बुधि बिवेक बल समय बिचारी।' यहाँ तीनों प्रकारसे रक्षा दिखाते हैं। ( १ ) बनदेव, दिशिदेव आदिको सौंपा, यह बुद्धिसे रक्षा की। ( २ ) 'भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई।...', यह विवेकसे रक्षा की। और ( ३ ) रेखा खींच उसके भीतर सीताजीको रखा यह बलसे रक्षा की। यह मन्दोदरीके वचनसे स्पष्ट है—'रामानुज लघु रेख खँचाई। सोउ नहिं नाँघेहु असि मनुसाई'—( लं० ३५ )। तथा आनन्दरामायणमें—'तत्क्रूरवचनं तस्याः श्रुत्वा ज्ञात्वा महद्भयम्। ततः सधनुषः कोट्यारेखां कृत्वा समन्ततः, ननाम च पुनस्सीतां'। समग्र वनदेवताओंको सौंपना वाल्मीकिजी भी लिखते हैं—'रक्षन्तु त्वां विशालाक्षि समग्रा वनदेवताः। ३.४५.३४।' हनुमन्नाटकसे भी रेखाका खिचाना स्पष्ट है; यथा '[illegible] भिक्षामलङ्घयल्लक्ष्मणलक्ष्मरेखाम्। जग्राह०' अर्थात् रावणके भीख माँगनेपर ज्योंही सीताजीने लक्ष्मणजीके धनुषके चिह्नकी रेखाका उल्लंघन किया..." (अंक ४।६)। ( अ०दी०च० कार लिखते हैं कि यहां श्रीसीताजी

नाना कार्य कर रही हैं, इससे सीताजीको छोड़कर उन्होंने प्रभुके पास जाना उचित समझा—यह 'समय' विचारा। अकेली कैसे छोड़ें ? अतः वनदिशि देवको सौंपा। यह बुद्धि है। (रेखा खींचकर बल दिखाया कि जो इसके भीतर आयेगा वह भस्म हो जायगा।)

(ख) देव, दिक्पाल आदिने रक्षा की ? नहीं। कारण कि वे सब तो रावणसे डरते थे, दूसरे वे चाहते भी थे कि हरण हो जिसमें उसका सारा कुल नष्ट हो, नहीं तो एक रावण ही मारा जाता। ऐसा न होता तो वे पहले ही आकर लक्ष्मणजीको खबर दे देते (हरिप्रेरित लक्ष्मण 'मन डोला' तब हरिप्रेरित देवता भी क्यों रक्षा करने लगे ? लक्ष्मणजीने अपना कर्त्तव्य कर दिया। अ० रा० में लिखा है कि जब रावणने अपना रूप दिखाया तब वनके देवी देवता सभी भयंकर रूपको देखकर डर गये। इससे यह भाव निकलता है कि यदि रावणके अतिरिक्त कोई होता जिससे वे न डरते थे तो वे रक्षा अवश्य करते)।

प० प० प्र०—इस प्रकरणमें लखनलालजीके रेखा खींचनेका उल्लेख नहीं है। वाल्मीकीयमें भी नहीं है। तथापि मंदोदरी जब चौथी बार रावणको समझाती है, तब उसने कहा है कि 'रामानुज लघु रेख खचाई।…', इस कथनके आधारपर कोई कोई टीकाकार वह भाव इधर लगाते हैं पर यह ठीक नहीं है। कारण कि अरण्यकांडके कथाके वक्ता काकभुशुण्डिजी हैं; यह 'इमि कुपंथ पग देत खगेसा। रह न तेज तन बुधि बल लेसा' से स्पष्ट है। और यह कथा नारदशापसे क्षीरसागरशायी नारायणके अवतार की है। मन्दोदरीके कथनमें वैकुण्ठाधिपति विष्णुका अवतार सूचित होता है; यथा 'अति बल मधुकैटभ जेहि मारे'। 'महावीर दितिसुत संघारे', 'जेहि बलि बांधि सहसभुज मारा' ( लं० ६।७-८ )। वह रेखा खींचनेका उल्लेख अन्य कल्पका है, अर्थात् दीन घाटकी कथाका है। और यह कथा-प्रसंग भक्ति-घाटका है।

मानसमें चार कल्पोंकी कथाका ऐसा सुंदर मिश्रण है कि 'सहसा लखि न सकहिं नर नारी'। तथापि भेददर्शक शब्दोंकी योजना भी ऐसी खूबीसे की गई है कि 'ग्यान नयन निरखत मन माना'। आगे जटायूकी कथाके वक्ता शिवजी हैं, वह ज्ञानघाटकी कथा है। इससे यह लाभ हो गया कि सभी प्रकारकी भावनासे पाठकोंको अपना-अपना प्रिय मत, भाव इसमें मिल सकता है। वाद-विवाद, खंडन-मंडनके लिये स्थान ही नहीं है। तथापि चारों कल्पोंकी कथाओंको अलग-अलग समझे बिना ग्रन्थका समन्वय नहीं हो सकता है।

टिप्पणी—४ 'चले जहाँ रावन ससि राहू' इति। यहाँ 'रवि राहू' न कहकर 'शशि राहू' कहा। कारण कि—(क) रामजी सूर्य्यवंशी हैं, [ सूर्यवंशी रामजी उसे मारेंगे, उसके तेजको हर लेंगे, जैसे सूर्य्य चन्द्रमाके तेजको हर लेता है। यथा 'प्रभु प्रताप रवि छबिहि न हरिही। अ० २०६।', 'तासु तेज समान प्रभु आनन। ६.१०२।' ] अतः यहाँ सूर्य्यका ग्रास कैसे कहें ? पुनः, (ख) चन्द्रमा सकलंक है; यथा 'जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंक'। सूर्य्य कलंकी नहीं है—( रावण कुल-कलंक है; यथा 'रिषि पुलस्ति जस बिमल मयंका। तेहि ससि महँ जनि होहु कलंका। ५.२३।' )। सूर्य्य राहुकी उपमा यहाँ उपर्युक्त कारणोंसे अयोग्य जानकर न दी। [ (ग) रावण निशिचर है और चन्द्रमा भी 'निशि+चर'। यह निशिचरराज है और वह 'निशि-पति' ( राकेश, शर्वरीश ) है। (घ) यह जगज्जननीका हरनेवाला और वह गुरुतियगामी, इत्यादि। अतएव दोनोंका जोड़ खूब अच्छा है। (खर्रा) ] (ङ) राहु पूर्णचन्द्रको ग्रसता है, अतः रावणको पूर्णचन्द्रसे उपमा देकर जनाया कि अब उसका भोग पूर्ण हो चुका। अब वह मारा जायगा। (च) जैसे चन्द्रका ग्रासकर्त्ता राहु ही है वैसे ही रावणके वधकर्त्ता राम ही हैं, दूसरा कोई नहीं। (छ) चन्द्रमाका अपराध राहुने नहीं किया वरन् राहुका अपराध चन्द्रने किया, वैसे ही रामका अपराध रावणने किया, रामजीने उसका अपराध नहीं किया।

प० प० प्र०—'रावन रवि राहू' लिखनेसे अनुप्रास अधिक रम्य हो जाता, तथापि रावणको रविसे रूपित न करके शशिसे रूपित करनेमें विशेष हेतु हैं जो दोनोंके मिलानसे स्पष्ट हो जायँगे।

| शशि | | रावण |
|---|---|---|
| चन्द्र क्षीरसागरसे निकला है। | १ | यह समुद्रपरिखांकित लंकासे निकल कर आया है। |
| देवासुरोंके प्रयत्नसे चन्द्रकी उत्पत्ति। | २ | शिव-विरंचिके वरसे और कुंभकर्ण मेघनादादि असुरोंके सहायसे इसकी शक्ति। |
| चन्द्रको विष वारुणी ( बंधु ) प्रिय हैं। | ३ | इसको परधनरूपी विष और वारुणी प्रिय है। 'धन पराव विष तें विष भारी'। |
| चन्द्र निशा प्रिय। | ४ | रावणको मोह-निशा प्रिय। |
| चन्द्रके राज्यमें-रात्रिमें व्याघ्रसिंहादि हिंस्र प्राणियोंका बल बढ़ता है तथा चोरोंका | ५ | रावणराज्यमें दुष्ट, दुर्जनोंका बल बढ़ा, यथा—'बाढ़े खल बहु चोर जुआरा'। 'मत्सर मान मोह मद चोरा' बहुत बढ़ गये। |
| चंद्र विरहिणि दुखदाई | ६ | रावण देवयक्षगंधर्व-नर-किन्नर-नाग कुमारियोंको विरह दुःखमें डाल रहा है, और सीताजीको भी। |
| चंद्रबिंबमें अमृत रहता है,-'शशिहि भूषअहि लोभ अमीके'। | ७ | यहाँ 'नाभिकुण्ड पियूष बस याके'। |
| चंद्रका रूप सदा बदलता है। | ८ | रावण भी नाना रूप धारण करता है। |
| चंद्र पंकजद्रोही, कैरवसुखद है, उलूकोंका बल बढ़ाता है | ९ | यह 'ज्ञान विज्ञान-पंकज', 'संतकंज', को दुःखद है, अघ उलूकोंको बढ़ाता है, मोहादि कैरवको सुखद है। |
| कलापूर्ण होनेपर राहु ग्रास करता है। | १० | रावणके पापोंकी परमावधि होनेपर राम-राहु इसे ग्रसेंगे। |
| इसने गुरुपत्नीकी अभिलाषा की। | ११ | यह जगद्गुरुपत्नी और जगज्जननीकी अभिलाषा करता है 'जगद्गुरुं च शाश्वतम्' 'जगदंबा जानहु जिय सीता'।, 'उमा रमा ब्रह्मादि वंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता। ७,२४।' |
| चंद्र गुरुशाप दग्ध है। | १२ | यह अनरण्यराजा ( रामजीके पूर्वज ) और अन्य अनेकोंके शापोंसे दग्ध है। |

मिलान की चार बातें ऊपर टिप्पणी ४ (ख), (ग), (च), (छ) में आ चुकी हैं। इस तरह दोनोंमें १६-१६ गुण हैं।

जैसे चंद्रकी सोलह कलाएँ होती हैं वैसे ही रावणमें ये षोडश कलायें हैं। यद्यपि राहु रविको भी ग्रसता है तथापि रविमें कलंक, अमृत, विरहिनि-दुःख-दायित्व, दुर्जन-हिंसक-सुखदायित्व नहीं है। ऐसा रूपक करके कविने रावणका संक्षिप्त चरित्र इसके स्वभाववर्णनके साथ लिख दिया है। इस रूपकसे सीताहरणसे लेकर रावणवधपर्यंतकी कथा सूचित की गयी है।

नोट—श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'राहु पूर्णचन्द्रको ग्रसता है और रावण अभी पूर्णचन्द्र नहीं हुआ। जब वह पूर्णचन्द्र हो जायगा तब राहुरूप श्रीरामचन्द्रजी सर्वग्रास ग्रहण लगा देंगे। जब रावण विभीषणको लात मारेगा तब पूर्णचन्द्ररूप होगा। यथा 'तब लों न दाव दल्यो दसकंधर जब लों विभीषन लात न मार्यो'।-सीताहरणसमय वह अर्धचन्द्ररूप था, इसीलिये छोड़ दिया गया।'

सून बीच दसकंधर देखा। आवा निकट जती के बेषा॥ ७॥
जाकें डर सुर असुर डेराहीं। निसि न नींद दिन अन्न न खाहीं॥ ८॥
सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं॥ ९॥

इमि कुपंथ पग देत खगेसा । रह न तेज तन बुधि बल लेसा† ॥१०॥

शब्दार्थ—'सून'=शून्य, सूना, एकान्त, सन्नाटा । =०=रेखा । बीच=अवसर, मौक़ा, अवकाश, दूरी । ओड़ाई=चोरीके लिए । =घरघुसना । ( नं० प० ) ।

अर्थ—इसी बीचमें सन्नाटा देखकर रावण यतीवेषसे पास आया ॥७॥ जिसके डरसे देवता दैत्य डरते हैं, रातको नींद नहीं पड़ती और दिनमें अन्न नहीं खाने पाते ( अर्थात् नींद और भूख दोनों जाती रहीं) ॥८॥ वही दश सिरवाला रावण कुत्तेकी तरह इधर-उधर ताकता हुआ चोरीके लिए चला ॥९॥ हे पक्षि-स्वामी गरुड़ ! इसी प्रकार कुमार्गमें पैर रखते ही शरीरमें तेज, बुद्धि और बल लेशमात्र नहीं रह जाते ॥१०॥

'सून बीच दसकंधर देखा । आवा निकट जती···' इति ।

टिप्पणी—१ (क) सून (शून्य) के बीचमें दशकंधरने देखा तो शून्यसे बाहर करनेके लिए यतीके वेषसे आया । [ यथा—"सीतारक्षणदक्षलक्ष्मणधनुर्लेखापि नोल्लङ्घिता । हनु० ३.६ ।" ( विरूपाक्ष-वाक्य रावणं प्रति ), ] 'न त्याज्यधर्मिणि देहि भिक्षामलङ्घयल्लक्ष्मणलक्ष्मलेखाम् । हनु० ४.६ ।' (अर्थात् तपस्वी बोला—हे धर्माचरण करनेवाली ! मुझे भिक्षा दे । यह सुनकर ज्यों ही जानकीजीने लक्ष्मणजीके धनुषके चिह्नकी रेखाका उल्लंघन किया । अथवा, शून्य और बीच देखा कि दोनों भाई अब दूर निकल गए हैं तब वह आया, यथा 'सठ सूने हरि आनेसि मोही । अधम निलज्ज लाज नहिं तोही । ५.९.६ ।', "जानेउँ तव बल अधम सुरारी । सूने हरि आनिहि परनारी । ६.३० ।" (ख) "दसकंधर देखा" का भाव कि दशों ग्रीवाओंको फेर-फेरकर देखता था—(खर्रा) । (ग) आशयसे पाया जाता है कि रावण छोटा (सूक्ष्म) रूप धारण किए हुए देखता रहा था । लक्ष्मण-जीका रेखा खींचना भी उसने देखा और उनका दूर निकल जाना भी । (खर्रा) ।

प० प० प्र०—"दसकंधर देखा"—इससे ज्ञात होता है कि रावण आश्रमके आसमंतात् भागमें कहीं समीप ही गुप्त होकर बीसों नेत्रोंसे देख रहा था और बीसों कानोंसे सुन रहा था कि श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीमें क्या बातें होती हैं तथा लक्ष्मणजी किस उद्देश्यसे बाहर जाते हैं । एक साथ ही सभी ओर देखता है कि कोई भी आश्रमकी ओर आ तो नहीं रहा है । इत्यादि । दशमस्तिष्कोंसे विचारकर ही वहाँ यतीवेषमें आता है ।

नोट—१ यतीका वेष धारण करनेके कई कारण हो सकते हैं—(१) सबका इस वेषपर विश्वास होता है । (२) रेखासे बाहर निकालना है और अन्य वेषमें सन्देह होगा, बाहर न निकलेंगी । (३) जलन्धर रावण वाले अवतारमें यतीके ही द्वारा छल करनेका शाप वृन्दाका है । उसने कहा था कि तुमने हमको यतीरूपसे छला, तुम्हारी स्त्रीको मेरा पति इसी रूपसे छलेगा ।

नोट—२ महाभारतवनपर्व अ० २७६ मार्कण्डेयरामायणमें लिखा है कि रावण सिर मुँड़ाए हुए त्रिदंडधारी संन्यासीका रूप धारण करके गया था । इससे सिद्ध होता है कि वैष्णवसम्प्रदाय बहुत प्राचीन कालसे चला आ रहा है । यह लोगोंकी भूल है जो श्रीरामानुजाचार्य्य स्वामीके ही समयसे वैष्णवसम्प्रदाय-को समझते हैं ।* पुनः, वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वह उज्ज्वल काषाय (गेरुए) वस्त्र पहने था, शिखा भी

---

† रा० प० में "रह न तेज बल बुधि लवलेसा" पाठ है । अन्यमें उपर्युक्त पाठ है ।

* एक पारसी सज्जनने मुझसे प्रश्न किया था कि 'रामोपासनाको प्राचीन कैसे कहते हो । राम तो त्रेता में हुए ?' अतः इस प्रसंगमें इस संदेहके दूर कर देनेका योग्य स्थान समझ कर यहाँ कुछ इशारामात्र लिखा जाता है ।

श्रीध्रुवजी और प्रह्लादजी तो सत्ययुगमें हुए, यदि रामोपासना उस समय न थी तो ये रामनाम क्यों रटते रहे, यह उपदेश नारदद्वारा उन्हें कैसे हुआ ? यह तो प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ । दूसरा प्रमाण रावणका वैष्णवयतीवेष है । अर्थात् श्रीरामजीके आविर्भावके समय भी वैष्णव थे । तीसरा प्रमाण वेदोंका भी

थी, छाता और उपानही (जूती) धारण किए और बाएँ कंधेपर दंड एवं कमण्डल लिए था। संन्यासी अतिथि और उसमें ब्राह्मणके चिह्न देखकर उसका सीताजीने सत्कार किया। यथा 'श्लक्ष्णकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानही। वामे चांसेऽवसज्याथ शुभे यष्टिकमण्डलू ॥३॥ परिव्राजकरूपेण वैदेहीमन्ववर्तत ॥४॥ ''द्विजातिवेषेण हि तं दृष्ट्वा रावणमागतम्। सर्वैरतिथिसत्कारैः पूजयामास मैथिली ॥३३॥ ''' (वाल्मी० ३।४६)।

प० प० प्र०—यहाँ 'यति' शब्द त्रिदण्डी संन्यासीके लिए ही प्रयुक्त है, अन्यथा 'यति' शब्दका अर्थ है "जिसने इन्द्रियोंको जीत लिया है"—इसी अर्थसे श्रीसीताजी कपट-यतीको 'गोसाईं' संबोधन करेंगी। संन्यासके चार प्रकार हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। कुटीचकके लिए शिखा और यज्ञोपवीतका त्याग नहीं है। वह अपने ग्राममें ही अलग पर्णकुटी बनाकर उसमें जप-ध्यान-परायण होकर रहे, संध्या और पंचमहायज्ञोंका अनुष्ठान करे तथा प्रपंचोपाधिका त्याग करे। बहूदकके लिए नियम है कि वह तीर्थोंमें घूमता रहे, शुक्ल भिक्षा करके पंचमहायज्ञादिका अनुष्ठान करे और जपध्यानपरायण रहे। हंस त्रिदण्ड, शिखा, उपानह धारण करते और पकान्न भिक्षाहार करते हैं। परमहंस एकदण्डी, शिखायज्ञोपवीत विहीन, पक्वान्न-माधुकरी आदि भिक्षाहारी होते हैं। रावण हंस संन्यासीके रूपमें आया। सुभद्राहरणके लिए अर्जुनने भी त्रिदण्डीका ही रूप ग्रहण किया था।

टिप्पणी—२ 'जाके डर सुर असुर डेराहीं'' इति। (क) सुर और असुरसे स्वर्ग और पातालको गिनाया, मर्त्यलोकको न कहा, क्योंकि देवता और राक्षसोंके सामने इनकी गिनती ही क्या? यथा 'जितेउ सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं। ५.३७।' [सुर-असुरको ही कहा, क्योंकि जब एक बार नारदने उससे मनुष्योंको सताते हुए देख कहा था कि मृगपति मेढकोंको सतावे तो इसमें उसका पुरुषार्थ नहीं सराहा जा सकता, तबसे वह मनुष्योंके पीछे नहीं पड़ता था, उनको उपेक्ष्य समझता था। (प० प० प्र०)]

३ 'सो दससीस स्वान की नाईं''' इति। (क) कुत्ता जब चोरी करने चलता है तब इधर-उधर भयसे ताकता चलता है। पुनः, (ख) श्वानकी उपमासे जनाया कि यतीके वेषसे कुत्तेका काम करता है तब इसकी विजय कब हो सकती है; यथा 'सार्दूलको स्वाँग करि कूकुर की करतूति। तुलसी तापर चहत है कीरति बिजय बिभूति'। (दो० ४१२)। कुत्ता चोरी करे तो उसे भड़िहाई कहते हैं। [भा० ६.१०.२२ में श्रीरामजीने रावणसे ऐसा ही कहा है। यथा 'रामस्तमाह पुरुषादपुरीष यन्नः कान्तासमक्षमसतापहृता श्ववत् ते।' अर्थात् नीच राक्षस! तुम कुत्तेकी तरह हमारी अनुपस्थितिमें हमारी प्राणप्रिया पत्नीको हर लाए। तुमने दुष्टता-की हद कर दी। तुम्हारा-सा निर्लज्ज और निन्दनीय कौन होगा?]

४ 'इमि कुपंथ पग देत''रह न तेज''' इति। (क) 'बुद्धि, बल और तेजसे विजय प्राप्त होती है, यथा 'बुधि बल जीति सकिय जाही सों। ६.६।', 'देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकी जाहु। ५.१७।' (ख) जैसे रावणके तेज, बल और बुद्धिका नाश हुआ, ऐसे ही कुमार्गमें पैर रखनेसे बुद्धि, बल और तेजका नाश होता है। यह कुमार्गका प्रभाव है। श्रीसीताजीकी चोरी कुमार्गपर चलना है; यथा 'रे त्रियचोर कुमारग गामी। ६.३२.५।' तेजका नाश यह कि चोरकी तरह जा रहा है—'सो दससीस स्वान की नाईं। इत उत चितइ चला भड़िहाईं'। बलका नाश, यथा 'जानेउँ तव बल अधम सुरारी। सूने हरि आनिहि परनारी। ६.३०।', 'रामानुज लघु रेख खँचाई। सोउ नहिं नाघेहु असि मनुसाई। ६.३५।', 'चला उताइल त्रास न थोरी'। बुद्धि नष्ट हो गई, क्योंकि वह समझता है कि राजकुमारोंको जीत लूँगा और पहले तो उन्हें पता ही न

लीजिए—ऋग्वेद मण्डल ७ अनुवाक ८६ में मंत्ररामायण प्रकरणके १४१ वें मंत्रमें श्रीराममन्त्रोद्धारका वर्णन है। नीलकण्ठ सूरिजीने "मंत्ररहस्य प्रकाशिका" नामक व्याख्या भी की है। अगस्त्यजीने इसी मंत्रसे समुद्र सोख लिया था, शिवजीने कालकूट हालाहल पी लिया। स्वयं शिवजीने इसका जप करके इसके द्वारा काशी के जीवोंकी मुक्तिका वरदान श्रीरामजीसे ही पाया। प्रमाण; यथा 'श्रीरामस्य मनुं काश्यां जजाप वृषभध्वजः'—(रामोत्तरतापिनी)। इत्यादि।

लगेगा। [ स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि तेज और बल दोनोंको तन और बुद्धि दोनोंके साथ लेना चाहिए, कारण कि तपसे शरीर और बुद्धि दोनोंमें तेजकी वृद्धि होती है—'बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।' तपश्चर्यामें चोरी, असत्य, कपट, दंभ होंगे तो वह तपस्या निष्फल होगी। और यदि तपश्चर्य्या करनेके पश्चात् कुमार्गपर पैर रक्खा जायगा तो तपश्चर्यासे प्राप्त तेजादिका ह्रास ही हो जायगा। असत्य, कपट, दंभ और परदारापहरण इत्यादि पापोंसे बुद्धि भी मलिन, रजोगुणी और तमोगुणी हो जाती है। 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य।' बुद्धिके नष्ट होनेपर प्रणाश तो शीघ्र ही होता है—'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति' (गीता २।६३) ]।

दीनजी—'हमि' पद प्रकट करता है कि कवि इतने उस विचारमें मग्न हो गए हैं कि मानों स्वयं ही उस नीतिको समझा रहे हैं।

प्र०—रावण राजा होकर भिक्षुक बना और चोरी करने गया, अतएव उसका तेज और बल नष्ट हो गये।

नाना बिधि करि* कथा सुहाई। राजनीति भय प्रीति देखाई ॥११॥<br>
कह सीता सुनु जती गोसाईं। बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं ॥१२॥<br>
तब रावन निज रूप देखावा। भई सभय जब नाम सुनावा ॥१३॥

अर्थ—उसने अनेक प्रकारकी सुन्दर कथाएँ रचकर कहीं। राजनीति, भय और प्रेम दिखाया ॥११॥ श्रीसीताजी बोलीं—'हे यती गोसाईं! सुनो, तुमने दुष्टके-से वचन बोले हैं' ॥१२॥ तब रावणने अपना रूप दिखाया। जब नाम सुनाया तब डर गईं। (अर्थात् रूप देखकर न डरी थीं, पहले सुना भी न था। अब उसको सामने देखा, अतः डर गईं) ॥१३॥

टिप्पणी—१ 'नाना बिधि करि कथा सुहाई....' इति। (क) 'सुहाई' से शृङ्गाररसकी कथाएँ सूचित कीं। वह सीताजीके अंगोंकी शोभा कहने लगा, इन्द्र और अहल्याके प्रेमकी कथा कही, अहल्याने इन्द्रकी इच्छा पूर्ण की, इत्यादि, इसी प्रकार नानाविधिकी कथाएँ सुनाईं।

(ख) 'राजनीति भय प्रीति देखाई' अर्थात् ऐसा राजनीतिमें लिखा है कि स्त्रीरत्नको राजा ग्रहण करे, जो तुम हमारा वचन न मानोगी तो हम शाप दे देंगे, हम तुम्हारे ऊपर मोहित होकर आए हैं, तुमपर हमारी अत्यन्त प्रीति है, हमारा तिरस्कार न करो। तुम्हारे पतिने तुमको वनमें अकेली छोड़ दिया यह नीति-विरुद्ध किया। यहाँ देवगंधर्वादिका भी गम्य नहीं। [ यहाँ वानर, सिंह, चीते, व्याघ्र, मृग, भेड़िए, भालु-कंक तथा मतवाले क्रूर हाथी रहते हैं, तुम अकेली रहती हो, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले क्रूर राक्षसों का यह निवास स्थान है, क्या तुम्हें भय नहीं लगता? (वाल्मी० ४६।२५,२६-३२)] यहाँ तुम्हारे लिए भय है। तुम राजमहलोंमें रहनेयोग्य हो, हमसे प्रेम करनेसे हम तुम्हारी रक्षा सदैव करेंगे। इत्यादि। [ यह तुम्हारा श्रेष्ठरूप, यह सुकुमारता, यह उम्र और इस बीहड़ वनका निवास! इन बातोंसे मेरा मन व्यथित हो रहा है। तुम यहाँ रहनेके योग्य नहीं हो। देवी, गंधर्वी, पक्षी कोई भी स्त्री मैंने तुम्हारे समान नहीं देखी। तुमको तो रमणीय सुगंध-युक्त और समृद्धयुक्त नगरों और उपवनोंमें रहना चाहिए। श्रेष्ठ माला, श्रेष्ठ गंध और श्रेष्ठ वस्त्र तुम्हें धारण करना चाहिए। क्या तुम रुद्रों, मरुतों वा वसुओंकी देवता तो नहीं हो? इत्यादि प्रीतिके वाक्य हैं। (वाल्मी० ४६.२३-२८)] राजनीति, भय और प्रीति तीनों दिखाए। यथा 'भय अरु प्रीति नीति देखराई। चले सकल चरनन्हि सिरु नाई। ४.१६।'

२ 'कह सीता सुनु जती गोसाईं....' इति। श्रीसीताजी कितना साधुको मानती हैं, यह बात यहाँ दिखाई है कि उस दुष्टको यतीवेषमें ऐसे वचन कहते हुए सुनकर भी उसको दुष्ट न कहकर उसके वचनको 'दुष्टकी नाईं' कहा, जैसा कोई दुष्ट बोले ऐसा तुमने कहा है। यह न कहा कि तू बड़ा दुष्ट है। 'गोसाईं' अर्थात् यती तो इन्द्रियजित होते हैं, उन्हें ऐसे वचन शोभा नहीं देते, उनका तो स्त्रीमें माताभाव रहना चाहिए।

* ('कहि'—रा० प०, रा० गु० द्वि०)

३ 'तब रावण निज रूप देखावा···' इति । (क) 'तब' का भाव कि यतीरूपसे तुम हमारे वचन अयोग्य मानती हो तो लो हम अपना असली रूप दिखाते हैं, इस रूपसे हमें ग्रहण करो। हम त्रैलोक्य-विजयी राजा हैं । (ख) 'भई सभय जब नाम सुनावा' से पाया गया कि रूपसे नाम अधिक भयदायक था। यथा 'की धौं श्रवन सुनेसि नहिं मोहीं । देखौं अति असंक सठ तोही । ५.२१ ।' सीताजी रावणका नाम सुने हुए थीं कि वह बड़ा दुष्ट है, अतः 'भई सभय जब नाम सुनावा' ।

कह सीता धरि धीरजु गाढ़ा । आइ गएउ प्रभु रहु खल ठाढ़ा ॥१४॥
जिमि हरि-वधुहि छुद्र सस चाहा । भयसि कालवस निसिचरनाहा ॥१५॥
सुनत वचन दससीस रिसाना[1] । मन महुँ चरन वंदि सुख माना ॥१६॥

अर्थ—सीताजीने भारी धीरज धरकर कहा—रे दुष्ट ! खड़ा रह, प्रभु आ गए ॥ १४ ॥ जैसे सिंहकी स्त्रीकी तुच्छ खरगोश चाह करे, वैसे ही, हे निशाचरराज ! तू कालके वश हुआ है ॥ १५ ॥ वचन सुनते ही रावण क्रुद्ध हुआ । मनमें चरणोंकी वंदना करके सुखी हुआ ॥ १६ ॥

टिप्पणी—१ 'कह सीता धरि धीरजु गाढ़ा···' इति।(क) पहले यती मानकर बोली थीं, जब रावणने नाम और रूप प्रकट किया तब डर गईं, डरके मारे वचन नहीं निकलता, इससे बड़ा धैर्य धारण करके तब बोलना कहा । 'गाढ़ा' से जनाया कि बहुत डरी हैं, इसीसे बहुत धीरज धरना पड़ा । (ख) 'आइ गएउ प्रभु' अर्थात् तेरे मारनेके लिए वे समर्थ हैं । कैसे समर्थ हैं यह आगे कहती हैं—'जिमि हरि वधुहि···' अर्थात् सिंहनीकी चाह खरगोश करे तो उसकी जो दशा हो वही तेरी होगी । तू शश है, वे तेरे लिए सिंह हैं । (ग) 'रहु खल ठाढ़ा' । देखिए, जब साधुवेष था तब 'दुष्टकी नाईं' कहा, दुष्ट न कहा । अब जब साधु-वेष छोड़ दिया तब उसको 'खल' संबोधन किया ।

नोट—१ वाल्मी० ३.४७.३३-३६, ४५-४७ में जो श्रीसीताजीने रावणसे कहा है कि 'श्रीरामचन्द्रजी महागिरिके समान अविचल, समुद्रके समान अक्षोभ्य, वट-वृक्षके समान आश्रितोंकी रक्षा करनेवाले, सत्यसंध, सिंहके समान नरश्रेष्ठ, जितेन्द्रिय, महाकीर्ति महाबाहु हैं, मैं उन्हींकी अनुरागिणी हूँ । वनमें शृगाल और सिंहमें जो अन्तर है, क्षुद्र नदी और समुद्रमें, कांजी और अमृतमें, शीशा-लोहे और सुवर्णमें, कीचड़ और चंदनमें, बिल्ली और हाथीमें, कौआ और गरुड़में, मद्गु ( जलकाक ) और मयूरमें, गीध और हंसमें जो अन्तर है, वही तुझमें और श्रीरामजीमें है ।–'यह सब भाव मानसके 'प्रभु' शब्दसे सूचित कर दिये गए हैं । 'आइ गएउ प्रभु रहु खल ठाढ़ा' में वाल्मी० ३.४७.३७, ३६-४४ के भाव भी आ जाते हैं कि तू सियार-दुर्लभ सिंहिनीकी चाह करता है, भूखे मृगशत्रु सिंहके और विषैले सर्पसे उनकी दाढ़ निकालना चाहता है, कालकूट पीकर निर्विघ्न लौट जाना चाहता है, अपनी आँखें सूईसे खुजला रहा है, छूरेको जीभसे चाट रहा है, गलेमें पत्थर बाँधकर समुद्रमें तैरना, आगको कपड़ेमें बाँधकर ले जाना और लोहेके शूलोंपर चलना चाहता है । अर्थात् मेरे ले जानेकी चाह 'प्रभु' के रहते हुए करना ऐसा ही है, असंभव है ।

टिप्पणी—२ "जिमि हरि-वधुहि छुद्र सस चाहा····" इति । (क) यथा 'को प्रभु संग मोहि चितवनि-हारा । सिंघवधुहि जिमि ससक सियारा ।२.६७', 'मां को धर्षयितु शक्तो हरेर्भार्यां शशो यथा' इति अध्या-त्मे । जो वचन सीताजीने अवधमें कहे थे कि 'प्रभु संग मोहि को चितवनिहारा ।···' उन्हींको यहाँ कहकर चरितार्थ करती हैं । [सिंहभार्या कहनेमें भाव यह है कि मैं ही तेरा नाश करनेमें समर्थ हूँ जैसे शशका नाश करना सिंहनीको सहज सुलभ है । तथापि तपश्चर्या विनाशके भयसे मैं तेरा नाश करना नहीं चाहती हूँ । फिर भी तू यह न समझ रक्खे कि खरगोशके समान लंकारूपी बिलमें गुप्त रहनेसे तू बच जायगा । जैसे सिंह उस खरगोशको उसके परिवार-परिजनों सहित ही मारता है वैसे ही तेरा सकुल विनाश होगा । (प०प०प्र०) ]

1 लजाना—छ०

(ग) 'निसिचरनाहा' का भाव कि तू ही नहीं किन्तु निशिचरकुलसहित तू कालके वश हुआ है। यथा 'नव कुल कमल बिपिन दुखदाई। सीता सीत निसा सम आई। ५.३६।', 'काल-राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी।५.४०।',

३ 'रावणने जानकीजीको भय दिखाया था, यथा 'राजनीति भय प्रीति देखावा', 'भई सभय जब नाम सुनावा'। अब जानकीजी उसको भय दिखा रही हैं—'आइ गएउ प्रभु ···'। रावणको ये वचन सुनकर भय प्राप्त हुआ यह आगे स्पष्ट है।—'चला गगन पथ आतुर भय रथ हाँकि न जाइ'।

नोट—२ अ० रा० में मिलते हुए श्लोक ये हैं—'यद्येवं भापसे मां त्वं नाशमेष्यसि राघवात् ।४७। आगमिष्यति रामोऽपि क्षणं तिष्ठ सहानुजः। मां को धर्षयितुं शक्तो हरेर्भार्यां शशो यथा ।४८। रामबाणैर्विभिन्नस्त्वं पतिष्यसि महीतले। ३.७.४९।' अर्थात् यदि तू मुझसे ऐसी बात कहेगा तो रामचन्द्रजी तुझे नष्ट कर देंगे। जरा ठहर तो श्रीरामचन्द्रजी भाई सहित अभी आते हैं। मेरे साथ कौन बलात्कार कर सकता है? क्या सिंहपत्नीके साथ खरगोश बलप्रयोग कर सकता है? श्रीरामजीके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर तू अभी अभी धराशायी होगा।

टिप्पणी—४ 'सुनत बचन दससीस रिसाना ···' इति। श्रीरामजीकी प्रशंसा और अपनी न्यूनता सुनकर क्रोध हुआ। श्रीरामजीको 'हरि' और इसको 'क्षुद्र शश' कहा है, अतः क्रोध किया। यथा 'आपुहि सुनि खद्योत सम रामहि भानु समान। परुष बचन सुनि काढ़ि असि बोला अति खिसिआन।५.६।' (श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि रावणने सीताजीके 'जिमि हरिबधुहि छुद्र सस चाहा' इन वचनोंसे उनको पतिव्रता समझकर अपने मनमें उनको प्रणाम किया)।

☞ 'सून बीच···चरन बंदि····' इति। ☜

मा० हं०—इस वर्णनसे स्पष्ट दिखता है कि रावणकी उच्छृङ्खलतासे जब सीतादेवी उसपर बिगड़ीं, उस समय उनके पातिव्रत्यके तेजसे चकित होकर रावणने उनको मानसिक प्रणाम किया। वह प्रणाम मानसिक-शुद्धिका नहीं कहलाया जाता। 'डाँटे पै नव नीच' इस प्रकारका यह नमस्कार था। यदि वह सच्चे सत्वशुद्धिसे होता तो उसकी सत्वशुद्धि दूसरे ही क्षणमें उसे छोड़ चली न जाती। वह नमस्कार मानभंगकी लज्जासे किया हुआ था, न कि भक्ति अथवा पश्चात्तापसे। २—यदि यह प्रणाम सच्चे पश्चात्तापके आँचका होता तो बादमें रावण मित्र ही स्वरूपमें दिखाई देता। मानभंगकी लज्जाके स्थानमें अपने पूर्व पापोंकी लज्जा यदि उसे मालूम हुई होती तो भगवती सीताकी शरणमें जाकर उसने उनसे क्षमा ही माँगी होती; परन्तु गोसाईंजी कहते हैं—'क्रोधवंत तब रावन लीन्हिसि रथ बैठाइ···'। इस दोहेसे रावणकी स्थिति इतनी स्पष्ट हो रही है कि शंकाकी जगह ही नहीं रह सकती। दोहेमेंके 'क्रोध' और 'भय' शब्द बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। मनके सकाम रहे बिना ये विकार कभी भी उत्पन्न नहीं होते ऐसा सिद्धान्त है। अर्थात् यह निर्विवाद सिद्ध है कि रावणके मनमें पश्चात्ताप और भक्तिका लेशमात्र भी न था, दूसरे प्रकारसे देखनेपर भी रावणका पक्षहीन ही दिखता है। यदि मान लिया जाय कि उसने सीताहरण भक्तिपुरस्सर किया, तो क्रोध और भयकी उपपत्ति कैसी जम सकती? भक्तिकी भावनासे उसने सीताहरण किया होता तो उसका मन बड़ा ही शान्त रहता, क्योंकि भक्तिमें उद्वेग पैदा हो ही नहीं सकता। पश्चात् लङ्कामें भी उसने सीतादेवीको फुसलानेका निःसीम प्रयत्न किया। इस प्रयत्नकी मंजिल आखीर यहाँतक पहुँची कि 'सीता तैं मम कृत अपमाना। काटौं तव सिर कठिन कृपाना···'। (सुं०)। पश्चात्ताप और भक्तिकी अल्प-सी रेखा भी यदि रावणके मनको स्पर्शकर निकली रहती तो ऐसी गलकटियोंकी वृत्ति उसके मनको क्या छू भी सकती थी! अन्ततक भी ऐसी लहरने उसके मनको स्पर्श नहीं किया। उसकी मृत्यु केवल बदला लेनेकी भावनामें ही हुई। क्या 'कहाँ राम रन हतउँ प्रचारी' इस उक्तिसे और भी कोई बात स्थापित हो सकती है? स्वामीजीका रावण इस प्रकारका हुआ है। रज और तमका तो वह केवल पुतला है। सत्वगुण क्या चीज है वह

जानता ही नहीं। हमारे मतसे वह हदसे बाहर विषयी, मानी, खूनी और निर्लज्ज दिखाता है—मंदोदरीका शोक रावणमरणपर देखिए।

प० प० प्र०—'सुनत वचन दससीस रिसाना। मन महँ चरन वंदि सुख माना॥' रावणके इस परस्पर विरुद्ध कृतिके हेतुके विषयमें टीकाकारोंमें बहुत मतभेद है। (१) तथापि दोहा २३ की चौपाईमें रावणने जो निश्चय किया कि "तौ मैं जाइ वैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ" इस पूर्वनिश्चित कार्यप्रणालीमें यद्यपि फ़र्क़ हो गया है तो भी श्रीरामजीसे कर्म, वचन और मनसे वैर करनेके निश्चयमें लेश-मात्र फ़र्क़ नहीं पड़ा। यह निश्चय रावणने अंततक निबाहा है। (२) फिर इधर तो विरोध कहाँ है? इस शंकाका समाधान यह है कि इस स्थानमें श्रीरामजीसे विरोध ही है। इसने रामजीसे वैर करनेका निश्चय ठाना है न कि सीताजीसे। रावणके मनमें शंका पैदा हो गयी थी कि 'राम' नृपपुत्र ही हैं कि भगवान् हैं। इस शंकाका निरसन सीताजीके निर्भय और भयकारी उत्तरसे हो गया और 'प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ' यह अपना कार्य सिद्ध होगा ऐसा जानकर रावणको आनंद हो गया। 'आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सो अवतरिहि मोर यह माया'। श्रीसीताजी प्राकृत स्त्री नहीं हैं, प्रत्युत आदिशक्ति असुरमर्दिनी भगवन्माया ही हैं, ऐसा उसने जान लिया और मनमें चरणोंको वंदन किया। (३) इसपर यह शंका उठेगी कि फिर क्रोध क्यों और सुन्दरकांडमें तलवारसे सीताजीको मारनेको कैसे तैयार हुआ? यह केवल राम-विरोधके लिए ही है, सीताजीको मारनेकी इच्छा रावणको कभी हुई ही नहीं। (४) रावणने सीताजीके साथ जो विरोध किया है वह केवल रामविरोधांगभूत है। रावण सीताजीके ऊपर काममोहित हुआ ही नहीं। यदि वह अन्तःकरणसे सीताजीपर काम बुद्धिसे मोहित हो जाता तो एक महीनेकी अवधि कैसे दे देता? प्रति दिन सीताजीके पास जाकर अनुनय, विनय, भय, लोभ दिखाये विना कैसे रह सकता? इसको रोकनेवाला कौन था? (५) त्रिजटाके समान रामप्रेमी स्त्रीको सीताजीके रक्षणमें जानबूझकर क्यों नियुक्त कर देता? (वाल्मी० रा० देखिये)। किसी भी रामायणमें ऐसा उल्लेख नहीं है कि रावण सीताजीको वश करनेके लिये सुन्दरकांडके प्रसंगके पश्चात् पुनः गया है। (६) जिन राक्षसियोंको सीताको भय दिखाकर वश करनेको कहा था उनको ऐसा करना छोड़ देनेपर भी रावणने कुछ दंड नहीं दिया। (७) राम महती वानरसेनाके साथ समुद्रपार आये हैं और समुद्रबंधनका विचार कर रहे हैं, इतना दूतोंके मुखसे जान लेनेपर जब सेतुबंधनकार्य चार पाँच दिन अहोरात्र चलता रहा, वह भी बड़ी धूमधामसे, तब उसने सेतुके विनाशका प्रयत्न क्यों नहीं किया? (८) रामचंद्रजीके प्रत्येक कृत्यपर दूतोंसे समाचार मिलते ही थे। (९) इतने बलवान शत्रुको जिसका बल रावणने अपनी आँखोंसे जनकपुरीमें देखा था, जिस शत्रुका परशुरामजीको परास्त करना मारीचसे सुना है और जिसके संबंधमें रावणने "खरदूषन मोहिं सम बलवंता। तिन्हहिं को मारइ बिनु भगवंता" ऐसा स्वयं ही निश्चय किया है, रावणने विना विरोध किए लंकामें कैसे आने दिया? (१०) मायावी अधर्म युद्ध करनेवाले रावणने लक्ष्मणजीको जीवित करनेके लिये सुषेणको ले जाते समय विरोध क्यों न किया? जिस लंकामें 'मसक समान रूप' कपि भी सहज गुप्तरीतिसे जानेमें असमर्थ था, उस लंकामें सुषेणको विना विरोध ले जाना और फिरसे वापिस लाना कैसे संभव था? (११) लक्ष्मणजीके मूर्च्छामुक्त होनेतक और रामजीके नागपाश मुक्त होने तक युद्ध बंद रखनेमें क्या लाभ रावणको? (१२) इस नमनमें रावणके अंत-रंगमें राम भक्ति थी ऐसा कहनेका आधार बिलकुल नहीं है, 'होइहि भजनु न तामस देहा' यह तो रावण स्वयं जानता ही है। (१३) राम-विरोधका मुख्य साधन सीताजीने विरोध नहीं किया, उसको शापाग्निसे भस्म नहीं किया, इससे ही उसे सुख-आनंद हो गया और इस कृतज्ञता बुद्धिसे ही उसने मानसनमन किया है। २३ (५) और दो० २३ के अनंतरकी पाँच चौपाइयोंकी टीका देखिये।

नोट—३ पद्मपुराण उत्तरखण्डमें कहा है कि रावणने अपने वधकी इच्छासे श्रीरामजीकी पत्नी सीता-जीको हर लिया।...उसने सीताजीको अशोकवाटिकामें रखा और श्रीरामबाणसे मृत्युकी अभिलाषा रखकर

वह महलमें गया । यथा "जहार सीतां रामस्य भार्यां स्ववधकाङ्क्षया । ह्रियमाणां तु तां दृष्ट्वा जटायुर्गृध्रराड्बली ॥५५॥ रावणेन सोऽहत्संग्रामे युयुधे तेन रक्षसा । तं हत्वा बाहुवीर्येण रावणः शत्रुवारणः ॥५६॥ प्रविवेश पुरीं लङ्कां राक्षसैर्बहुभिर्वृतान । अशोकवनिका मध्ये निक्षिप्य जनकात्मजाम् ।.५७॥ निधनं रामबाणेन काङ्क्षन्स्वगृहमाविशत् ।" ( प० पु० उ० ख० स० अ० २४२ ) ।

**दोहा—क्रोधवंत तब रावन लीन्हिसि रथ बैठाइ ।**
**चला गगन-पथ आतुर भय रथ हाँकि न जाइ ॥२८॥**

अर्थ—तब क्रोधमें भरकर रावणने उन्हें रथमें बिठा लिया और आकाश-मार्गसे शीघ्रता और व्याकुलताके साथ चला । डरके मारे ( उससे ) रथ हाँका नहीं जाता ॥२८॥

नोट—१ 'क्रोधवंत'...' इति । श्रीसीताजीके वचन सुनकर उसे बहुत क्रोध हुआ, क्योंकि उसको खरगोश और श्रीरामजीको सिंह कहा था । अ० रा० में भी ऐसा ही कहा है-'इति सीतावचः श्रुत्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः । ३.७.४६ ।' 'क्रोधमूर्च्छितः' ही क्रोधवंत है । श्रीप्रज्ञानानंद स्वामी उपर्युक्त अपने लेखके समर्थनमें क्रोधका कारण यह कहते हैं कि-(१) रावणको श्रीसीताजीका स्पर्श करनेकी इच्छा न होते हुए भी उनका स्पर्श करना पड़ा, इसीसे क्रोध हुआ । रजोगुणी और तमोगुणी लोग अपनी माताको वंदन भी करते हैं और अपनी इच्छाके अनुकूल न चलनेपर उसपर क्रोध भी करते हैं । (२) रावण तो ध्येयवादी ही रहा । ध्येयसिद्धिके लिए परशुरामजीने माताको भी मार डाला और भरतजीने माताको दुरुत्कार दिया, प्रह्लाद पिताको वंदन तो करता था तथापि विरोध भी करता रहा । भीष्माचार्य और अर्जुन दोनों महामहाभागवतोंका युद्ध हुआ । वृत्रासुर और सहस्रार्जुन ब्रह्मनिष्ठ होते हुये भी अत्याचार और दुराचार करते रहे । (३) जहाँ क्रोध देख पड़ता है वहाँ वह बाह्य है या आन्तरिक इसका जानना सुलभ नहीं है । (४) 'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु', 'कर्म कि होहिं सरूपहिं चीन्हें' इत्यादि वचन सिद्धान्तरूप नहीं हैं । ये केवल पक्षाभिनिवेश जनित अनुमान हैं ।

टिप्पणी—१ किस प्रकार रथमें बिठाया इसमें मतभेद है, इससे पूज्य कवि सबके मतकी रक्षा करनेके लिए केवल रथमें बिठाना लिखते हैं । 'भय रथ हाँकि न जाइ', यथा 'कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ । भय बस अगहुड़ परै न पाऊ' । इससे जनाया कि सीताजीके वचन 'आइ गयउ प्रभु...' इत्यादि सुनकर उसे डर व्याप्त हो गया, उसका शरीर शिथिल पड़ गया, इसीसे हाथ काम नहीं देते । [ प० प० प्र० के मतानुसार भयके कारण ये हैं कि—(१) सीताजी रथसे कूदकर आत्महत्या न कर लें । (२) पातिव्रत्य तेज या योगबलसे अपनी देह भस्म न कर दें । (३) लंकातक पहुँचते रामलक्ष्मणसे युद्धका अनवसर प्रसंग न आ जाय । (४) राम विरोधका मुख्य साधन सीताजी हैं । यह साधन नष्ट न हो जाय । श्रीरामजीके साथ युद्ध करने या मरनेका भय नहीं है । यथा 'परम प्रबल रिपु सीस पर तदपि न सोच न त्रास । ६.१०।' क्योंकि वह निश्चय कर चुका है कि 'प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ' ] अ० रा० में लिखा है कि श्रीसीताजीके रुदन करनेसे रामके आनेकी आशंका रावणको हो रही है,—'इत्येवं क्रोशमानां तां रामागमनशङ्कया । ३.७.६१ ।'

टिप्पणी—२ रथ कहाँ था ? यहाँ मायामय रथ प्रकट कर लिया, प्रथम इसका होना नहीं पाया जाता जब वह सीताजीके पास आकर बातें कर रहा था । [ मारीचके पास जाते समय कहा है कि 'चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ । बस मारीच सिंधुतट जहवाँ । २३.७ ।' संभवतः इसी रथपर 'तेहि बन निकट दसानन गयऊ । तब मारीच कपट मृग भयऊ ।' वहीं वह रथ छोड़कर वह यतिके वेपसे श्रीसीताजीके पास आया । रथ आश्रम तक नहीं लाया, इसीसे तुरत मायामय रथ उसने बना लिया । यथा 'स च मायामयो दिव्यः खरयुक्तः खरस्वनः । प्रत्यदृश्यत हेमाङ्गो रावणस्य महारथः । वाल्मी० ३.४९.१९ ।' अर्थात् वहाँ मायाका बना हुआ दिव्य पिशाचमुखी खच्चरोंका रथ और खच्चरोंके शब्दसे युक्त सुवर्णके पहियोंवाला रावणका बड़ा भारी रथ दिखाई पड़ा । इसीके अनुसार यह भाव है । यह भी हो सकता है कि उसका रथ जिसपर वह वनके निकट चढ़कर

आया था वह भी दिव्य रथ था, वह अदृश्य रहा, उसके स्मरण करते ही वही रथ आश्रमपर आ गया। प्रज्ञानानन्दजी 'लीन्हिसि रथ बैठाइ' का अर्थ करते हैं कि 'ले गया और रथमें बिठा लिया'। वे कहते हैं कि 'यह वही रथ है जिसपर वह मारीचके यहाँ और वहाँसे पंचवटी तक आया। रथ अन्तर्धान होनेवाला नहीं था। ऐसा होता तो जटायुको देखनेपर अन्तर्धान हो जाता।' ]

नोट—२ हनुमन्नाटकके अनुसार सीताहरण चैत्र शुक्ल ८ शुक्रवारको मध्याह्नकालमें हुआ, यथा 'अर्धरात्रे दिनस्यार्धे अर्धचन्द्रेऽर्धभास्करे। रावणेन हृता सीताऽकृष्णपक्षे सिताष्टमी। हनु०। ५।१४।' अर्थात् देवदिनके आधे अर्थात् चैत्रमासमें, अर्धरात्रे अर्थात् पितरोंकी आधीरातमें, अकृष्ण अर्थात् शुक्लपक्षमें, अर्धचन्द्रे अर्थात् जब कि अष्टकलायुक्त चन्द्रमा होता है तब, अर्धभास्करे अर्थात् मध्याह्न समयमें, सिताष्टमी अर्थात् शुक्रवार सहित अष्टमीके दिन रावणने सीताहरण किया। पुनः, यथा 'चैत्रमासे सिताष्टम्यां मुहूर्ते वृन्दसंज्ञके। राघवस्य प्रियां सीतां जहार दशकन्धरः' इति वाराहे। उस समय विन्दयोग था। (प्र० सं०)।

वाल्मीकीयमें गृध्रराज जटायुने श्रीरामजीसे कहा है कि जिस मुहूर्तमें रावणने सीताहरण किया है उस मुहूर्तमें भूली हुई वस्तुको उसका स्वामी शीघ्र ही पाता है। वह विन्दनामक मुहूर्त था। यथा 'येन याति मुहूर्तेन सीतामादाय रावणः। विप्रनष्टं धनं क्षिप्रं तत्स्वामी प्रतिपद्यते ॥१२॥ विन्दोनाम मुहूर्तोऽसौ न च काकुत्स्थ सोऽबुधत्। वाल्मी० ३.६८.१३।' मास और तिथियोंके संबंधमें ग्रन्थोंमें मतभेद है। अग्निवेश रामायणमें तिथियोंका ही प्रायः उल्लेख है। हमने इनका उल्लेख समय-समयपर प्रसंग आनेपर किया है। प० पु० पाताल-खंड अ० ३६ में माघ कृष्णा अष्टमी वृन्दनामक मुहूर्तमें सीताहरणका होना कहा है। यथा 'आगतो राक्षसस्तां तु हर्तुं पापविपाकतः। ततो माघासिताष्टम्यां मुहूर्ते वृन्दसंज्ञिते ॥२३॥ राघवाभ्यांविना सीतां जहार दशकंधरः।...२४।' प० पु० में इसी जगह संपातीसे वानरोंके मिलाप, हनुमानजीके समुद्रोल्लंघन, सीताजीका दर्शन, अक्ष और मेघनादसे युद्ध, लंकादहन करके लौटने और श्रीरामजीको समाचार देने इत्यादिसे लेकर रामराज्याभिषेक तककी सब तिथियाँ दी हैं जो यत्र तत्र मानस-पीयूषमें दी गई हैं। स्कन्दपुराणमें भी प्रायः यही सब श्लोक ब्रह्मखण्डान्तर्गत धर्मारण्य माहात्म्यके अ० ३० में ज्योंके त्यों मिलते हैं। इन दोनोंमें 'वृंद' नाम दिया है और वाल्मीकीयमें 'विन्द' नाम है, साथ ही उस मुहूर्तका फल भी जटायुने बताया है कि इस मुहूर्तमें खोई हुई वस्तुके लेनेवालेका नाश होता है और वह वस्तु शीघ्र लौटकर मिल जाती है। वाल्मीकीयकी तिथियाँ प्रायः प० पु० से मिलती हैं।

## श्रीसीताहरण-रहस्य

भगवान्‌के चरित्रोंके रहस्य कौन जान सकता है? वही कुछ जान सकता है जिसे वे कृपा करके जना दें—'सो जानइ जेहि देहु जनाई', नहीं तो किसीका भी सामर्थ्य नहीं जो उसे जान ले। जान ले तो वह रहस्य ही क्या हुआ? श्रीसीताजी आदि-शक्ति हैं, श्रीरामजीसे उनका वियोग कभी किसी कालमें नहीं है, दोनों अभिन्न हैं, एक ही होते हुए भक्तोंके लिए युगल स्वरूपसे विराजमान् हैं।—'गिरा अरथ जल बीचि सम देखियत (कहियत) भिन्न न भिन्न'। माधुर्य्यमें पति-पत्नी-भावसे श्रीरामजीको वे अतिशय प्रिय हैं। ऐसी परम सतीशिरोमणिके हरणमें क्या रहस्य है, यह तो यथार्थ उस नरनाट्यके करनेवाले ही जानें। देखिए जिनके एक सींकके बाणसे पीछा किए जानेपर इन्द्रपुत्र जयन्त त्रैलोक्यमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र आदि किसीकी भी शरण न पा सका, क्या वे रावणको घर बैठे नहीं मार सकते थे? अवश्य मार सकते थे। पर ऐसा होता तो आज हमको उनके चरित्र-गान करके भव पार होनेका अवसर कहाँसे मिलता? उनके दिव्य गुणों, करुणा, भक्तवत्सलता इत्यादिको हम कैसे विश्वासपूर्वक स्मरण कर-करके अपनेको कृतार्थ समझ सकते?

स्मरण रहे कि यहाँ जो कुछ लिखा जा रहा है वह प्रधानतया धार्मिक वा भक्ति भावसे ही लिखा जा रहा है।

१—यह चरित जानबूझकर किया गया है। गोस्वामीजीने तो इसे स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया है और वाल्मीकीयसे भी स्पष्ट है कि श्रीरामलक्ष्मण दोनोंने जान लिया था कि यह कपट मृग मारीच ही है। यथा 'तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुरकाज सँवारन॥'

यदि जानबूझकर ऐसा न हुआ होता तो क्या रावण परम-सती-शिरोमणियोंकी भी सिरताज श्रीवैदेहीजीको कभी हाथ लगा सकता था? अनुसूयाजीसे त्रिदेवकी न चली, तब इनके आगे रावणकी क्या चलनी? वाल्मी० ५।२२ में श्रीजानकीजीने रावणसे यह स्पष्ट कहा है कि तुझे भस्म कर देनेकी शक्ति मुझमें है, तो भी मैं तुझे भस्म नहीं करती, क्योंकि श्रीरामजीकी आज्ञा नहीं है और ऐसा करनेसे मेरी तपस्या भंग होगी। यथा 'असन्देशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात्। न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा॥२०॥ नापहर्तुमहं शक्या तस्य रामस्य धीमतः। विधिस्तव वधार्थाय विहितो नात्र संशयः॥२१॥' (वाल्मी० सुं० २२)। यह बात न होती तो क्या जो सीताजी हनुमान्‌जीकी पूँछमें अग्निल गाए जानेपर अग्निको 'शीतो भव हनुमतः' यह आज्ञा देकर हनुमान्‌जीके लिए अग्निको शीतल कर देनेको समर्थ थीं, क्या वे रावणको भस्म कर देनेको समर्थ न थीं? अवश्य समर्थ थीं।

यह सीताहरणचरित्र ही हमारी समझमें वाल्मीकि रामायणमें दिये हुए परधामयात्रा चरितका बीज है। इसीके बलपर १० हजार वर्षसे अधिक राज्य करके अन्तमें श्रीसीताजीके त्यागकी लीला करके अवधवासियोंपर या यों कहिए कि समस्त प्रजापर अपना परम ममत्व दिखाया है—'अति प्रिय मोहि यहाँके बासी', 'ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी।' १.१५ (१-३) देखिए। यह लीला नहीं तो और क्या है? कि १०००० वर्ष तक कोई चर्चा नहीं और जब परधाम-यात्राकी इच्छा हुई, तब एक धोबी-द्वारा उनके विषयमें अपवाद सुना जाता है और उसीपर उनका त्याग किया जाता है।

२ पूज्य श्री पं० रामवल्लभाशरणजी (जानकीघाट, श्रीअयोध्याजी) ने इस विषयमें दो रहस्य बताये थे जो यहाँ लिखे जाते हैं। (१) रावणने देव, यक्ष, गन्धर्वादिकी कन्याओंको जबरदस्ती ला-लाकर उनसे विवाह किया। कितनी ही देवियाँ उसके यहाँ क़ैद थीं—अपने-अपने घरोंकी यह शोचनीय दशा देवताओंने आकर प्रभुसे बारबार कही। इन देवियोंकी दारुण विपत्ति सुनकर करुणावश महारानीजीने उनके संतोष एवं सान्त्वनाके लिए स्वयं रावणके यहाँ क़ैद होना स्वीकार किया। (उन्होंने अपने प्रतिबिंबद्वारा यह देवकार्य किया)। (२) सुतीक्ष्णजीके आश्रमसे चलते समय महारानीजीने प्रभुसे कहा था कि आपने दण्डकारण्यके ऋषियोंसे उनकी रक्षाके लिए निशिचरवधकी प्रतिज्ञा की है और अब दण्डकवनको चल रहे हैं, मुझे वहाँका जाना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि बिना अपराधके दण्डकारण्याश्रित राक्षसोंको मारना योग्य नहीं. यह पाप है। बिना अपराधके मारनेवाले वीरकी लोकमें प्रशंसा नहीं होती। यथा 'प्रतिज्ञातस्त्वया वीर दण्डकारण्यवासिनाम्। ऋषीणां रक्षणार्थाय वधः संयति रक्षसाम्॥१०॥ बुद्धिर्वैरं विना हन्तुं राक्षसान्दण्डकाश्रितान्। अपराधं विना हन्तुं लोको वीर न कामये (मंस्यते)। वाल्मी० ३.९.२५।' यद्यपि प्रभुने उस समय यही उत्तर दिया कि 'मुझे सत्य सदा प्रिय है, मैं जो प्रतिज्ञा कर चुका उसे नहीं छोड़ सकता। मैं अवश्य राक्षसोंका वध करके मुनियोंको अभय करूँगा', तथापि सीताहरणमें यह रहस्य कहा जा सकता है कि रावणको सापराध ठहरानेके लिए यह चरित हुआ। और, इस प्रकार 'बिनु अपराध प्रभु हतहिं न काहू॥ जो अपराध भगत कर करई। रामरोष पावक सो जरई॥' इस वाक्यको भी चरितार्थ कर दिखाया है।

इस प्रकार लोक-वेद दोनोंसे उनका यह कार्य्य (रावण-वध) अनिन्द्य वा निर्दोष हो गया और इससे प्रियाका भी मान्य रहा।

३ यह भाव तो ऐश्वर्य्य और भक्तिभावसे हुए। अब एक और भाव जो एक पतिव्रताशिरोमणि (पं० श्रीराजारामजीकी धर्म्मपत्नी) ने सीताहरणके सम्बन्धमें कहा है उसे उन्हींके शब्दोंमें सुनिए—'पति पर आयसु जनि करहु अस परिणाम विचार। 'पतिदासी' मृगछालहित सिय दुख सही अपार॥' अर्थात्

यह बात पतिव्रताके धर्मके प्रतिकूल है कि वह पतिको आज्ञा दे। श्रीपतिदासीजी पतिव्रताओंको सीताहरणका उदाहरण देकर उपदेश देती हैं कि पतिको कभी भूलकर आज्ञा न देना। वे अपने इस दोहेकी टिप्पणीमें लिखती हैं कि 'पति पर आज्ञा करना बिलकुल मना है। यथा—'सर्पिर्लवण तैलादिक्षयेऽपि च पतिव्रता। पतिं नास्ति न ब्रूयादायासेषु न योजयेत्' इति काशीखण्डे। अर्थात् घी, लोन, तेलके न रहनेपर भी पतिव्रता स्त्री पतिसे लानेको न कहे। सीताने पतिको मृगचर्म लानेकी आज्ञा दी, यथा 'आनहु चर्म कहति वैदेही'। यहाँ यह शंका होती है कि सीताजी तो पतिव्रताशिरोमणि हैं, इनके तो नामस्मरण करनेसे प्राकृत स्त्रियाँ पातिव्रत्यका पालन करती हैं; यथा 'सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं।०', तब उन सीताजीने जानबूझकर कैसे आज्ञा दी, जिसका परिणाम उनको भोगना पड़ा? इसका समाधान यह है कि श्रीरामजीने पुरुषोंके उपदेशके बहुत चरित किए, इसी प्रकार यह चरित स्त्रियोंके उपदेशके लिए हुआ है। इसमें उपदेश यह है कि जब किंचित् आज्ञा करनेसे साक्षात् श्रीजानकीजीको ऐसा दण्ड सहना पड़ा, तब जो स्त्रियाँ पतिका अनेक प्रकारसे निरादर करती हैं उनकी क्या दशा होगी? इसपर पुनः बहिनें यह प्रश्न करेंगी कि स्त्रियाँ बाहर नहीं निकलतीं और गृहस्थीकी अनेक वस्तुओंका एकत्र करना पतिके अधीन है, तब बिना कहे कार्य्य कैसे होगा? उत्तर यह है कि उपर्युक्त श्लोकका अभिप्राय यह नहीं है कि पतिको सूचना न दी जाय, किन्तु "ले आओ, ला दो" ऐसा न कहा जाय। यदि आवश्यकता हो तो इस रीतिसे कहा जाय कि अमुक वस्तु नहीं है। अभिप्राय दोनोंका एक ही है, पर इस प्रकार कहनेमें आज्ञा नहीं पाई जाती।'—(अप्रकाशित)।

यही भाव स्वयं श्रीसीताजीके इन शब्दोंसे ध्वनित हो रहा है—'कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम्। वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम॥ वाल्मी० ३।४३.२१।' अर्थात् अपनी इच्छाकी पूर्त्तिके लिए जो मैं आपसे यह कह रही हूँ, यह कठोर है और स्त्रियोंके लिए अनुचित है, यह मैं जानती हूँ, तथापि इस मृगको देखकर मुझे बड़ा विस्मय उत्पन्न हो गया, अतः आप इसे ले आवें—"आनयैनं महाबाहो क्रीडार्थं नो भविष्यति॥ वाल्मी० ३.४३.१०।"

इसी संबंधमें यहाँ एक और बात यह भी लिखनी उचित जान पड़ती है कि आज्ञा देनेमें तो महारानीको वाल्मीकिके अनुसार बहुत संकोच हुआ है, परन्तु इससे भी अधिक गर्हित कर्म महारानीने लाचार होकर पतिकी आज्ञाके उल्लंघनका किया है। वनगवनके समय श्रीरघुनाथजीकी आज्ञा थी कि घर रहकर माताओंकी सेवा करो परन्तु महारानीने देखा कि घर रहनेमें वियोग दुःख सहा न जायगा, प्राण त्याग करना पड़ेगा और आज्ञा न मानकर साथ रहकर आज्ञाके उल्लंघनका पाप भुगतना पड़ेगा। इन दोनोंमें वियोग अधिक दुःखदायी प्रतीत हुआ और संयोगके साथ आज्ञा न माननेके पापका परिणाम सहन करना उन्हें कम कठिन जँचा। श्रीरघुनाथजीने ध्वनिसे दोनों बातें श्रीजीके सामने रक्खीं और उनपर छोड़ दिया कि जो चाहें अंगीकार कर लें। यथा 'आपन मोर नीक जो चहहू। बचन हमार मानि गृह रहहू॥"

यहाँ 'नीक' में भाव यह है कि न तुम्हारा हरण होगा न आगे झंझट बढ़ेगा—'कहौं सुभाय सपथ सत मोही। सुमुखि मातु हित राखौं तोही॥ गुरु श्रुति संमत धरम फल पाइअ बिनहिं कलेस। हठ बस सब संकट सहे, गालव नहुष नरेस॥२.६१॥...जौं हठ करहु प्रेमबस बामा। तौ तुम्ह दुखु पाउब परिनामा।.... नर अहार रजनीचर चरहीं। कपट बेष बिधि कोटिक धरहीं...॥ सहज सुहृद गुरु स्वामि सिख, जो न करइ सिर मानि। सो पछिताइ अघाइ उर, अवसि होइ हित हानि॥ ६३॥'

इन पदोंसे यह स्पष्ट होता है कि भगवान्‌ने भावी संकटपर विचार करके महारानीको चेतावनी दी कि प्रेमके वश होकर हठ करोगी तो अन्तमें बड़ा दुःख उठाना पड़ेगा,—केवल रावण-द्वारा हरण और लंकावास ही नहीं बल्कि दसहजार वर्ष पीछे अपयशके परिणामसे वनवास भी करना पड़ेगा और चिर-वियोग-दुःख उठाना पड़ेगा। इतनी भारी चेतावनीपर भी महारानीजीने सद्यः वियोग-जात-दुःख उठाना क़बूल नहीं किया और पति-आज्ञाका उल्लंघन किया और उसके परिणामको जो स्वामीने बता रक्खा था

मनने मत्स्यमत्तीकी तरह सहना स्वीकार कर लिया। सीताहरण-चरितके व्याजसे महारानीजीको इस पापका कितना घोर दण्ड दिलाया गया यह सोचकर कलेजा काँप उठता है। हरण और केवल दस ग्यारह महीने तकका ही वियोग नहीं बल्कि पार्थिव-जीवनके अंतिम दस-ग्यारह सौ वर्षोंका चिर-वियोग जिसमें कि न केवल पतिकी आज्ञा थी, बल्कि राजाकी ओरसे वनवासका निरपराध दण्ड था।

४—और भी भाव सुनिए। भुशुण्डिजी, शिवजी आदिने मायाका हरण, माया-सीताका हरण होना स्पष्ट कहा है। यही बात गोस्वामीजीने भी स्पष्ट शब्दोंमें कही है—'पुनि माया सीता कर हरना', "निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता"।

श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि ऋषिकन्या वेदवतीने प्रभुकी प्राप्तिके लिए अखण्ड तप किया उसको देख रावणने जबरदस्ती उसे पकड़कर लंका ले जाना चाहा। उस समय उसने शाप दिया कि तेरा नाश मेरे द्वारा होगा यह कहकर उसने अपना वह शरीर छोड़ दिया। वही यहाँ सीताजीका प्रतिबिंब है। उसीमें सीताजीका आवेश हुआ। ( वेदवतीकी कथा वाल्मीकीय उत्तरकाण्डमें है। वेदवतीका शाप सत्य करना है और उसको तपस्याका फल भी देना है। इन बातोंकी पूर्त्तिके लिए सीताहरण चरित रचा गया। )

दोहा २३ (८) में कहा गया है कि रावणने कपट किया। उसने प्रभुको कपटका मृग दिया, अतः प्रभुने उसे कपटकी सीता दी। जैसेको तैसा! परम कौतुकी कृपाला! रावण छलने आया और स्वयं छला गया। वास्तवमें हमारे प्रोफ़ेसर श्रीरामदासजी गौड़ने जैसा कहा है वैसा ही है कि 'मायामानुषरूपिणौ' दोनों भाई, मायाकी सीता, मायामृग, मायाका संन्यासी, मायाका रथ, मायाका विलाप और विरह कथा सभी कुछ दोनों ओरसे मायाका खेल था।

इसमें महामाया और ईश्वरी-मायाके साथ राक्षसी-मायाकी लीला हो रही है, ईश्वरी अथवा दैवी-माया तामसी किंवा राक्षसी-मायासे खेल रही है। मूर्ख राक्षस खुश है कि मेरी माया चल गयी और इन मनुष्योंको मैंने मोहित करके स्त्रीहरण कर लिया, परन्तु वह यह नहीं जानता कि मैं स्वयं ईश्वरी-माया-जालमें बेतरह फँस गया हूँ और मेरी बुद्धिका हरण कबका हो चुका है। जब लक्ष्मणजीको ही परतमकी मायाका पता नहीं है तब देवदनुजादिकी तो बात ही क्या है—'सिव बिरंचि कहँ मोहई को है बपुरा आन ?'

☞(माया-सीताका हरण होनेसे "सीताहरण" संबंधी शंका ही निर्मूल हो जाती है)।

५ श्रीसीताहरणका एक रहस्य यह भी हो सकता है, जिसका बीज इस काण्डके आदिमें बो दिया है कि जयन्तने किंचित् सीतापराध किया, उसपर सींकास्त्र चलाकर प्रभुने दिखाया था कि देवराजपुत्रको त्रैलोक्यमें बचनेकी जगह न मिली तब सीताहरण करनेवालेको त्रैलोक्यमें कब कहीं शरण मिल सकती है। सीताहरण होनेसे देवताओंको पूर्ण विश्वास हो जायगा कि अब रावण मारा गया इसमें संदेह नहीं और निशाचरोंको भय होगा कि 'नहिं निसिचर कुल केर उबारा'।

६ एक और रहस्य यह भी कहा जाता है कि रावण ब्राह्मण है, और ब्राह्मणका वध करनेसे ब्रह्महत्या लगती है। इन्द्रको वृत्रासुरके वधसे घोर ब्रह्महत्या लगी थी। पर धर्मशास्त्रकी आज्ञा यह भी है कि आततायी-का वध करना उचित है, इसमें दोष नहीं। परस्त्रीहरण करनेवाला आततायी है। अतः स्त्रीहरणद्वारा इस दोषका भी निवारण हुआ*। ( प्र० सं० )।

---

* आततायी छः होते हैं। प्रमाण, यथा 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारा हरश्चैव षडेते आततायिनः ॥' ( वसिष्ठस्मृति ३।१६ ) अर्थात् घर जलानेके लिए आया हुआ, विष देनेवाला, हाथमें हथियार लेकर मारनेके लिए आया हुआ, धन लूटकर ले जानेवाले और स्त्री या खेतका हरणकर्त्ता—ये छः आततायी हैं। मनुस्मृति ८।३५०, ३५१ में मनुजीने कहा है कि आततायीको बेधड़क जानसे मार डाले, इसमें कोई पातक नहीं है।—( गीतारहस्य )।

श्रीप्रज्ञानानन्द स्वामीजी—श्रीसीताहरण 'मैं कछु करबि ललित नर लीला ।२४।१।' की 'कछु ललित लीला' मेंसे एक प्रमुख रामचरित्रलीला है। 'सीताहरण हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि सकै न कोई।' सीता और राम तो बारि-बीचि इव अभिन्न ही हैं, तब सीताहरण हुआ कहना भी साहस है। और, जब श्रीरामजी का विरह-विलाप देखकर भगवती-सतीजी भी भ्रमित हो गईं तब सीताहरण नहीं हुआ, ऐसा कहना भी साहस ही है। तथापि जो कुछ समझमें आया उसे लिखता हूँ—

(१) श्रीसीताजी आदिशक्ति हैं, आदि-माया हैं। मानसके अनुसार तो जनकनन्दिनीजीका हरण हुआ ही नहीं, उनके प्रतिबिंब अर्थात् प्रतिकृतिका ही हरण हुआ है। जैसे महायोगी एक ही समय स्वदेहाभिन्न अनेक देह धारण कर सकते हैं और मूल देहमें प्राप्त किया हुआ ज्ञान, अनुभव, स्मरण इत्यादि सब असली देहके समान ही होते हैं, वैसा ही यहाँ हुआ है, जैसे चूड़ामणिका देना, रामनामांकित मुद्रिकाको पहचानना, जयन्तकथाकी स्मृति देना, और श्रीअनुसूयाजीके दिये हुए दिव्य भूषणवस्त्रादिका माया-सीताके शरीरपर रहना।

(२) 'आपन मोर नीक जौं चहहू।···', 'जौं हठ करहु प्रेमबस बामा। तौ तुम्ह दुख पाउब परिनामा' इत्यादि आज्ञाओंका भंग करनेसे सीताजीको दुःख हुआ यह मानना उचित नहीं। प्रेमवश होकर, हठ करके श्रीलखनलाल जैसे अनन्य भक्त, अनन्य सेवकका अधिक्षेप, अनादर जिस माया-सीताने किया उस माया सीताको उसका ही दुःखरूप दुष्परिणाम भोगना पड़ा। 'भक्तिपच्छ हठ, नहिं शठताई' यह सिद्धान्त त्रिकालाबाधित नहीं है यह सिद्ध हुआ, अथवा 'भक्तिपच्छ, हठ नहिं शठताई' ऐसा अर्थ लेना पड़ेगा।

(३) मानसमें सीतहरणादि संपूर्ण घटनाओंका मूल केवल 'हरि इच्छा' 'रामरुख' ही है।

(४) सीताहरण घटना राजनीतिकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्वकी है। इससे यह उपदेश मिलता है कि राजकारणमें केवल शक्ति और धर्मसे भी नहीं निभेगा। गुप्त युक्तिका आश्रय भी लेना पड़ेगा।

(५) 'नारद साप सत्य सब करिहौं' इस ब्रह्मवाणीको तथा रावणको मिले हुए अनेक शापों और उच्छापोंको सत्य करना है।

☞ इस प्रसंगसे हमको बहुत उपदेश मिलते हैं—(१) लक्ष्मणजीके समान भगवद्भक्तका अपमान अधिक्षेप करनेवालेको दुःसह दुःख सहना ही पड़ेगा। (२) स्त्रियोंके अल्प हठसे कैसा महान् अनर्थ होता है। (३) परदारापहरणका परिणाम कितना भयंकर होता है। (४) आर्य सतीका अपमान करनेवालेको अवश्य दंड देना चाहिए, उसको क्षमा करना कायरों कुलकलंकोंका काम है—'क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम्। अपराधिषु सत्वेषु नृपाणां सैवदूषणम्।' इत्यादि।

हा जगदेक* बीर रघुराया। केहि अपराध बिसारेहु दाया ॥१॥
आरतिहरन सरनसुखदायक। हा रघुकुल सरोज दिन नायक ॥२॥
हा लछिमन तुम्हार नहिं दोसा। सो फलु पायउँ कीन्हेउँ रोसा ॥३॥
बिबिध बिलाप करति बैदेही। भूरि-कृपा प्रभु दूरि सनेही ॥४॥
बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा। पुरोडास चह रासभ खावा ॥५॥
सीता कै बिलाप सुनि भारी। भये चराचर जीव दुखारी ॥६॥

शब्दार्थ—पुरोडाश—१ यव आदिके आटेकी बनी हुई टिकिया जो कपालमें पकाई जाती थी। इसके

* 'जग एक'—(भा०दा०), इसमें 'दे' वा 'चे' पर हरताल देकर "ए" बना है।१७६२। "जगदेक"—१७२१, पं० रा० गु० द्वि०, ना० प्र०, छ०। जगदैक—गौड़जी, १७०४। हनुमन्नाटकमें भी 'जगदेक वीर' शब्द आए हैं।

टुकड़े काटकर यज्ञमें देवताओंके लिए मंत्र पढ़कर आहुति दी जाती थी। यह यज्ञका अंग है। २—हवि। ३—यह हवि या पुरोडाश जो यज्ञसे बच रहे। ४—यज्ञ भाग।—( श० सा० )

अर्थ—हा जगत्‌के एक ही ( अद्वितीय ) वीर रघुराज ! किस अपराधसे दया भुला दी ? ॥१॥ हे ( आर्त्तिके ) दुःखके हरनेवाले ! हे शरणागतको सुख देनेवाले ॥२॥ हा ! रघुकुलकमलके सूर्य्य ! हा लक्ष्मण ! तुम्हारा दोष नहीं। मैंने क्रोध किया, उसका फल पाया ॥३॥ वैदेही ( राजाविदेहकी कन्या ) अनेक प्रकारसे विलाप कर रही हैं—'कृपाके समूह वे स्नेही दूर निकल गए हैं ॥४॥ मेरी विपत्ति उनको कौन सुनावेगा एवं क्या किसीने सुनाया है ? यज्ञकी खीरको गधा खाना चाहता है' ॥५॥ सीताजीका भारी विलाप सुनकर जड़ चेतन सभी जीव दुःखी हो गए ॥६॥

नोट—१ ( क ) इन चौपाइयोंके भाव गी० ३.७ से मिलान करनेसे स्पष्ट हो जायेंगे। यथा 'आरत बचन कहति वैदेही। बिलपति भूरि बिसूरि 'दूरि गए मृग सँग परम सनेही' ॥१॥ कहे कटु वचन, रेख नाँघी मैं तात छमा सो कीजै। देखि बधिक बस राजमरालिनि लषन लाल छिनि लीजै ॥२॥ बनदेवनि सिय कहन कहति यों छल करि नीच हरी हौं। गोमर कर सुरधेनु, नाथ ! ज्यों त्यों पर हाथ परी हौं ॥३॥" (ख) 'जगदेक बीर' यह बात धनुषयज्ञ, जयन्त-प्रसंग और खरदूषणवधसे जानती हैं और हनुमान्‌जीसे सुन्दर-कांडमें इसीको कहा भी है कि किंचित् अपराध शक्रसुतने किया तब तो आपने ऐसा पराक्रम उसे दिखाया, अब मेरा दुःख क्यों नहीं मिटाते, वही पुरुषार्थ यहाँ दिखाइए। ( प्र० सं० )। पुनः, 'हा जगदेक बीर''', यथा 'हा राम ! हा रमण ! हा जगदेकवीर ! हा नाथ ! हा रघुपते ! किमुपेक्षसे माम्। हनु० ४.१४।' (अर्थात् हा राम ! हा रमण ! हा जगत्‌में मुख्य अद्वितीय वीर ! हा प्राणनाथ ! हा रघुपति ! आप मेरी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं), 'हा राम ! हा रमण ! हा जगदेकवीर ! तत्किं न स्मरसि। हनु० १०.३।' ( अर्थात् जगत्‌में एक ही वीर ! आप इसका स्मरण क्यों नहीं करते ), इन श्लोकोंके 'किमुपेक्षसे माम्' और 'तत्किं न स्मरसि' का भाव 'जगदेक बीर रघुराया' में है। श्लोकमें 'जगदेकवीर' और 'रघुपते' हैं वैसे ही यहाँ। भाव कि संसारमें आपके समान दूसरा वीर नहीं तब आप मुझे क्यों नहीं छुड़ाते ? ( ग ) 'रघुराया' का भाव कि इस कुलमें रघु ऐसे राजर्षि हो गए हैं कि उनके पराक्रमका लोहा रावण भी मान गया ( और वे ऐसे महात्मा हुये कि लोग इक्ष्वाकुका नाम ही भूल गए, इक्ष्वाकुकुल रघुकुल कहलाने लगा ) और आप तो उस कुलके शिरताज हैं ( जो काम आपने किये वह कोई न कर सका ) अतः आप मेरी रक्षा करें। ( प्र० सं० )। पुनः भाव कि रघुकुलके राजा धर्मात्मा हुए हैं और आपने तो धर्मरक्षार्थ ही जीवन-सुख और संपत्तिका त्याग किया तब अधर्मीद्वारा हरी जाती हुई मुझे आप क्यों नहीं बचाते। पुनः रघुवंशी दुष्टोंको दण्ड दिया करते हैं आप उन सबोंसे श्रेष्ठ हैं, तब आप रावणको दंड क्यों नहीं देते। यथा 'जीवितं सुखमर्थं च धर्महेतोः परित्यजन्। ह्रियमाणामधर्मेण मां राघव न पश्यसि ।२५। ननु नामाविनीतानां विनेतासि परंतप। कथमेवं विधं पापं न त्वं शाधि हि रावणम् ।२६।' ( वाल्मी० ३.४९ )। ( घ ) 'केहि अपराध बिसारेहु''' इति।—मायासीता अपना अपराध भूल गई। इसी तरह मायामें फँसा हुआ जीव अपने अपराधोंको भूला रहता है और ईश्वरको दोष देता है। इसीसे कहती हैं 'केहि अपराध'''।

२ ( क ) 'आरति हरन''' इति। भाव कि आप आर्तिहरण हैं और मैं आर्त्त हूँ। इस नाते आप मेरा दुःख दूर करें। आप शरणसुखदायक हैं, मैं आपकी शरण हूँ, मेरी रक्षा करके मुझे सुख दीजिए। भाव कि आप अपने आर्त्तिहरण और शरणपालत्व विरदको सत्य कीजिए। दुःखहरण होनेपर सुख होता है, अतः इसी क्रमसे कहा। ( ख ) 'रघुकुल सरोज''' इति।—आप रघुकुलरूपी कमलको खिलानेके लिए सूर्य समान हैं। भाव कि मेरा हरण होनेसे रघुकुलमात्र संकुचित हो जायगा, मुँह दिखाने योग्य न रहेगा, कलंकित हो जायगा, आप उसे कलंकसे बचानेके लिये मुझे शीघ्र छुड़ाइए, जिससे वह सदा प्रफुल्लित रहे। सीताहरण दिनमें हुआ उसके अनुसार 'दिननायक' का रूपक दिया।

३ 'हा लछिमन तुम्हार···' इति । (क) पहले कहा था कि 'केहि अपराध बिसारेहु दाया', अब अपना अपराध स्मरण हो आया, अतः उसे मानकर उसके लिए पश्चात्ताप करती हैं जैसा गीतावलीके 'कहे कटु वचन रेख नांघी मैं तात छमा सो कीजै' तथा अ० रा० के 'त्राहि मामपराधिनीम्' और 'क्षन्तुमर्हसि' से स्पष्ट है। (ख) 'तुम्हार नहिं दोषा' कहकर लक्ष्मणजीको निरपराध सूचित किया, दोष अपना स्वीकार किया और क्षमा माँगती हैं—जैसा किया, वैसा मैं भोग रही हूँ। मिलान कीजिए, यथा अध्यात्मे—'हा लक्ष्मण महाभाग त्राहि मामपराधिनीम् ।। वाक्शरेण हतस्त्वं मे क्षन्तुमर्हसि देवर । ३.७.६०-६१ ।' अर्थात् हा महाभाग लक्ष्मण ! हे देवर ! मैंने तुम्हें वाग्बाण मारे थे, मुझे क्षमा करो, मुझ अपराधिनीकी रक्षा करो ।—ये सब भाव 'तुम्हार नहिं दोषा' और 'सो फल पायउँ' में आ गए। माया-सीताको अब यह भागवतापराध सूझा तब रक्षाका कुछ उपाय हो गया। इसी तरह माया लिप्त जीव जब अपने दोषोंका स्मरण करता और क्षमाप्रार्थी होता है तब भगवान् उसकी रक्षाका उपाय कर देते हैं। बहुत विलाप करनेपर भी प्रभु न पहुँचे तब कहती हैं कि 'भूरि कृपा प्रभु दूरि सनेही' अर्थात् वे दूर चले गए हैं, हमारे वचन नहीं सुन पाते, नहीं तो अवश्य पहुँचते या वहींसे सहायता करते। उनका कोई दोष नहीं।

नोट—४ (क) 'बिबिध बिलाप···'; यथा 'बिलपति भूरि बिसूरि दूरि गए मृग सँग परम सनेही।···' ( गी० ३.७ ) । ग्रंथोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे विलाप लिखा है, सबके मतकी रक्षा 'बिबिध' शब्दसे हो गई। 'बैदेही' शब्द देकर जनाया कि शोकसे देहकी सुध जाती रही। प० प० प्र० स्वामीका मत है कि इससे जनाया कि वह प्राकृत स्त्री नहीं है, विदेहकी कन्या है तथापि भगवान्के विरहसे वह भी व्याकुल हो गई और हम जीवनिकाय भगवान्के विरहमें क्या कभी कुछ भी आँसू गिराते हैं! ( ख ) 'भूरि कृपा प्रभु दूरि सनेही' इति । पहले भगवान्को दोष लगाती थीं, अपना अपराध स्मरण होनेपर अब प्रभुकी कृपालताका स्मरण हुआ कि वे तो कृपापुंज हैं, परम दयाल हैं, वे अवश्य रक्षा करते यदि वे सुन पाते, पर वे बहुत दूर निकल गए हैं। यथा 'विदित्वा तु महाबाहुरमुत्रापि महाबलः । आनेष्यति पराक्रम्य वैवस्वतहृतामपि । वाल्मी० । ३.४६. ३५ ।' इस श्लोकका भाव 'प्रभु' शब्दसे जना दिया। यमराजके यहाँसे भी वे ले आनेको समर्थ हैं। 'सनेही'—अर्थात् जो उनसे स्नेह करते हैं उन पर उनका अवश्य स्नेह रहता है। जीवमात्रका ऐसा स्नेही दूसरा नहीं है।

५ (क) 'बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा' इति । भाव यह कि लक्ष्मणजी जाते समय मुझे वनदेवी देवताओं तथा दिशाओं आदिके देवताओंको सौंप गए थे; यथा 'बन दिसि देव सौंपि सब काहू । २८.६ ।' क्या उन आप सब देवताओंमेंसे किसीने मेरी विपत्तिकी सूचना दी या नहीं ? पुनः भाव कि जान पड़ता है कि किसीने सुनाया नहीं, इसीसे उन्होंने मुझे अबतक नहीं छुड़ाया। पुनः, भाव कि जो भी देवता वा जीव जन्तु यहाँ हैं उन सबसे मैं निहोरा करती हूँ कि प्रभुको मेरी विपत्ति सुना दीजिएगा, समाचार पानेपर वे मुझे अवश्य छुड़ा लेंगे। इन शब्दोंसे वाल्मी० ३.४६.३०-३५ के सब भाव ग्रहण कर लिये गए कि 'हे जनस्थानके पुष्पो ! हंस और सारसोंसे युक्त गोदावरी नदि ! वनवासी देवताओ ! तथा पशु-पक्षी आदि यहाँके सब जीव जन्तुओ ! मैं आप सबोंको प्रणाम करके विनती करती हूँ कि आप श्रीराघवजीसे कह दें कि आपकी प्रिय स्त्रीको रावण हरकर ले गया, वह विवश थी'। यथा 'आमन्त्रये जनस्थानं कर्णिकारांश्च पुष्पितान् । क्षिप्रं रामाय शंसध्वं सीतां हरति रावणः ।३०। हंससारससंघुष्टां वन्दे गोदावरीं नदीम् ।···दैवतानि च यान्यस्मिन्वने विविधपादपे । नमस्करोम्यहं तेभ्यो भर्तुः शंसत मां हृताम् ।३२। यानि कानिचिदप्यत्र सत्त्वानि विविधानि च । सर्वाणि शरणं यामि मृगपक्षिगणानि वै ।३३। ह्रियमाणां प्रियां भर्तुः प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् । विवशा ते हृता सीता रावणेनेति शंसत । ३४ ।' पुनश्च गी० ३.७ यथा "बनदेवनि सिय कहन कहति यों" अर्थात् वनदेवोंसे समाचार देनेके लिये कहती हैं। (ख) "पुरोडास चह रासभ खावा"—भाव कि जैसे गर्दभ इन्द्रका हविभाग खाना चाहे तो वह उसको न पानेसे मर भले ही जाय उसको इन्द्रहव्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती, एवं ऐसी इच्छा करनेसे वह मारा ही जायगा, वही गति रावणकी है। अर्थात् जो रावणके योग्य नहीं उसकी चाह वह कर रहा है। ( मा० म० )। यह

भी भेंट्या है जो सीताजी वनदेवों आदि द्वारा श्रीरघुनाथजीको पहुँचाना चाहती हैं । यहाँ सीताजी पुरोडास हैं, रावण गर्दभ है और श्रीरामजी इन्द्र हैं । (ग) मिलान कीजिए 'शुनको मन्त्रपूतं त्वं पुरोडाशमिवाध्वरे ? वा० रा० ३.७.५५ ।'

नोट—६ 'सीता कै बिलाप सुनि भारी' इति । यहाँ पाँच चौपाइयों ( अर्धालियों ) में श्रीसीताजीका श्रीरामविरहमें विलाप कहा है—'हा जगदेक बीर' से 'पुरोडास चह रासभ खावा' तक । और, आगे श्री-जानकी-विरहमें श्रीरामजीका विलाप दश चौपाइयोंमें कहा है—'हा गुनखानि जानकी सीता ।' से 'एहि बिधि खोजत बिलपत''' ३० ( ७-१६ ) तक । इससे अनुमान होता है कि यह भी एक कारण श्रीहनुमान्-जीके 'तुम्ह ते प्रेम राम के दूना' इन वचनोंका है ।

टिप्पणी—१ "सीता कै बिलाप०" इति । ( क ) 'चर' का सुनना और दुःखी होना तो ठीक है, अचरका सुनना कैसा ? उत्तर—'अचरसे उनके अधिष्ठातृ देवताओंका सुनना अभिप्रेत है । यथा 'सयल सकल जहँ लगि जग माहीं । लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं ॥ बन सागर सब नदी तलावा । हिमगिरि सब कहँ नेवत पठावा । कामरूप सुंदर तनु धारी । सहित समाज सहित बरनारी । गए सकल तुहिनाचल गेहा । गावहिं मंगल सहित सनेहा ॥' १।९४।३-५ देखिए । ( ख ) श्रीरामचन्द्रजीके वियोगमें चराचर दुःखी हुआ, यथा 'बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं । सरित सरोवर देखि न जाहीं ॥ हय गय कोटिन्ह केलिमृग पुर पसु चातक मोर । पिक रथांग सुक सारिका सारस हंस चकोर ।२.८३ । रामवियोग बिकल सब ठाढ़े ।'''सहि न सके रघुबर बिरहागी ।', वैसे ही यहाँ श्रीजानकीजीके वियोग और विलापसे इनकी दशा हो गई है । इससे जाना गया कि अचर भी दुःखी हुए और उन्होंने सुना भी । (ग) चराचर जीव दुःखी हुए, यह कहकर जनाया कि उनके किए कुछ न हुआ । जिससे कुछ बन पड़ा उसको आगे कहते हैं ।

नोट—७ वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि वायुका बहना बंद हो गया, सूर्य प्रभाहीन हो गए । तालावोंके कमल मुर्झा गए, जलचर डर गए, उत्साहहीन होकर मानों वे अपनी सखी सीताके लिये शोक करने लगे । सिंह, व्याघ्र, मृग आदि सीताजीकी छायाके पीछे पीछे क्रोधसे दौड़े । पर्वत मानों रो रहे हैं । सूर्यमंडल पीला पड़ गया । 'धर्म नहीं है । सत्य, ऋजुता और दयालुता कहाँ हैं ? जो आज रावण श्रीरामकी वैदेही सीताको हरण कर लिये जा रहा है' इस प्रकार सब प्राणी अपने-अपने दलमें रोने लगे । मृगशावक रोने लगे, वनदेवता काँपने लगे । यथा 'न वाति मारुतस्तत्र निष्प्रभोऽभूद्दिवाकरः । ३.५२.१० । नलिन्यो ध्वस्तकमलास्त्रस्तमीनजलेचराः । सखीमिव गतोत्साहां शोचन्तीव स्म मैथिलीम् ।३५। समन्तादभिसंपत्य सिंहव्याघ्रमृगद्विजाः । अन्वधावंस्तदा रोषात्सीताच्छायानुगामिनः ।३६। '''नास्ति धर्मः कुतः सत्यं नार्जवं नानृशंसता । यत्र रामस्य वैदेही सीतां हरति रावणः ।३८। इति भूतानि सर्वाणि गणशः पर्यदेवयन्' । इत्यादि ।—यह सब 'भए चराचर जीव दुखारी' कहकर कविने जना दिया । श्रीसीतारामजी विश्वात्मा हैं, सबकी अन्तरात्मा हैं; यथा 'सीयराममय सब जग जानी । १.८.१ ।', "अंतरजामी रामु सिय'''। २.२५६ ।", 'सबके उर अंतर बसहु'''। २.२५७ ।', 'जिन्ह कर नाम लेत जग माहीं । सकल अमंगलमूल नसाहीं ।'''ते सिय राम''' इत्यादि । अतः उनके दुःखी होनेसे चर अचर सब दुःखी हुआ ही चाहें ।

श्रीसीतात्यागपर जब श्रीलक्ष्मणजी श्रीजानकीजीको वाल्मीकिजीके आश्रमकी सीमामें छोड़कर चले हैं उस समय भी श्रीजानकीजीका कुररीके समान विलाप सुनकर चराचरकी ऐसी दशा हो गई थी । मोरोंने नृत्य करना छोड़ दिया था, वृक्षोंने फूलोंको और हरिणियोंने ग्रहण किये हुए कुशोंको छोड़ दिया । यथा 'तथेति तस्याः प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते । सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभारााच्चक्रन्द विग्ना कुररीवभूयः ॥ ६८ । नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः । तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद् रुदितं वनेऽपि ।६९।' ( रघुवंश सर्ग १४ ) ।

## "दाम्पत्य-प्रेम"

श्रीसीताजीका कितना अगाढ़ प्रेम श्रीरामजीमें था, यह वनयात्रा समय देखनेमें आया है। परन्तु सीताहरणसे लेकर लंका विजयके बाद पुनर्मिलापतक इसका लीलाके रूपमें अधिक परिचय मिलता है। वे श्रीरामजीके विरहमें कैसी विकल थीं यह बात उनके विलाप और सुन्दरकाण्डमें विशेष रूपसे देखनेमें आती है। उनके प्रेमको जाननेवाले एक रघुनाथजी ही हैं दूसरा नहीं। उन्होंने श्रीमुखसे यह कहा है—'तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा ॥'

प्रेमकी पहिचान है कि वह अपने प्रेमपात्रको दहला देता है, चाहे वह उससे कितनी ही दूर क्यों न हो। प्रेमी और प्रेमपात्र ये दोनों अन्योन्याश्रित शब्द हैं। जो प्रेमी है वही प्रेमपात्र भी है। जितना ही अधिक प्रेमपात्र व्याकुल हो, उतना ही अधिक प्रेमीका प्रेम समझना चाहिए। ठीक यही बात यहाँ देख लीजिए—। इधर महारानीजी स्वामीके विरहमें परम व्याकुल हैं तो उधर स्वामी श्रीरघुनाथजी उनसे अधिक उनके लिए व्याकुल हैं। महाविरही अति कामीकी नाईं बेसुध हो रहे हैं, 'लता तरु पाती' 'खग मृग पशु' इत्यादिसे पूछते, रूप-गुण-आदिका बखान करते, उनमत्त और स्त्रैणकी भाँति विलाप करते चले जा रहे हैं। महारानीजीसे अधिक विलाप उनका मानसमें दिखाया गया है। 'तुम्ह तें प्रेम राम के दूना'। आ० २९ (१५) और सु० १३ (१०) देखिए। यह सब क्यों ? क्योंकि भगवान्‌का बाना है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यम्'। इसीको यहाँ चरितार्थ कर रहे हैं और हम लोगोंको इस चरितसे उपदेश दे रहे हैं कि यदि तुम हमारे लिए व्याकुल होगे तो हम तुम्हारे लिए तुमसे द्विगुण व्याकुल होंगे।

यह लीला विशेषकर भक्तोंके लिए की गई है और उन्हें वियोगशृङ्गारका एक जीता-जागता रूप दिखाया गया है। यहाँका वियोग शृङ्गार कृष्णावतारके वियोग शृङ्गारसे कहीं ऊँची कोटिका है। परन्तु है यह लीलामात्र, क्योंकि महारानीसे तो वास्तविक वियोग कभी हुआ ही नहीं, वह तो अलक्ष्यरूपसे अग्निके भीतर निहित निरन्तर उनके साथ हैं—'लछिमनहू यह मरम न जाना। जो कछु चरित रचेउ भगवाना'। उनका वियोग तो कभी हो ही नहीं सकता। शक्तिमान्‌से शक्ति कभी अलग नहीं हो सकती। सूर्य्यसे सूर्य्यकी किरणें मिली हुई हैं, चाहे वह ९ करोड़ मीलतक क्यों न विस्तृत हों। भगवान्‌की शक्तिका विस्तार अनन्त देश और अनन्तकालमें होते हुए भी वह कभी भगवान्‌से अलग नहीं हो सकती। महारानीजी तो भगवान्‌की अनन्तशक्तिकी मूल स्रोत हैं। वे तो भगवान्‌के अन्तरकी अन्तरतम हैं, वे कभी अलग नहीं हो सकती। राजा राजधानीमें बैठा हजारों कोसपर अपनी राज्यकी सीमामें अपनी शक्तिसे शासन चलाता रहता है, परन्तु उसकी वास्तविक शक्ति तो बराबर उसीके पास मौजूद है। भगवान्‌की शक्तिसे भगवान्‌का वियोग नहीं हो सकता। यद्यपि रावणको मारनेके लिए उसका अंश मायारूप होकर अपने शत्रुके यहाँ चला जाता है और उसके नाशके समयतक उसके यहाँ बना रहता है। दाम्पत्यप्रेमकी इस सत्ताको, जिसमें कि किसी देश या कालमें उसी तरह वियोग नहीं है जिस तरह सूर्य्यमें रात्रिका अत्यन्ताभाव है, शब्दोंके द्वारा कल्पनामें लाना असम्भव है। इसी अगाध, अनन्त, अचिन्त्य और कल्पनातीत दाम्पत्यप्रेमके केलि और विहारका ही नाम अनन्त विश्वोंकी रचना, जीवन और संहार है। इस विश्व वा भवसागरवाले महानाटकका अभिनय है। 'भृकुटि विलास सृष्टि लय होई। राम बाम दिसि सीता सोई ॥' इस चिरन्तन अनादि अनन्त लीलामें वास्तविक वियोग कहाँ है ? जो कुछ वियोग दिखाया जाता है वह तो लीला और खेलका एक नगण्य अंग है जो केवल भक्तोंकी खातिर भक्तवत्सल भगवान् द्वारा अभिनीत होता है। भक्तवत्सल भगवान्‌की जय ! जय !! जय !!!

गीधराज सुनि आरत बानी। रघुकुलतिलक नारि पहिचानी ॥ ७ ॥
अधम निसाचर लीन्हे जाई। जिमि मलेछ बस कपिला गाई ॥ ८ ॥

सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा । करिहौं जातुधान कर नासा ॥ ९ ॥
धावा क्रोधवंत खग कैसे । छूटै पवि पर्वत कहुँ जैसे ॥ १० ॥
रे रे दुष्ट ठाढ़ किन होही । निर्भय चलेसि न जानेहि मोही ॥ ११ ॥

अर्थ—गृध्रराजने दुःख-भरी वाणी सुनकर पहिचाना कि यह रघुकुलतिलक श्रीरामचन्द्रजीकी पत्नी है ॥७॥ नीच निशाचर इसे लिए जाता है जैसे म्लेच्छके वशमें कपिला गाय पड़ी हो ॥८॥ हे सीते पुत्रि ! डरो मत, मैं निशाचरका नाश करूँगा ॥९॥ वह पक्षी क्रोधमें भरा हुआ कैसा दौड़ा जैसे पर्वतको तोड़नेको वज्र छूटे ॥१०॥ रे रे दुष्ट ! तू खड़ा क्यों नहीं होता ? निडर चला जा रहा है । मुझे नहीं जानता ? ॥११॥

नोट—१ (क) 'गीधराज सुनि' इति । यहाँ गीधराज पद दिया, क्योंकि रावण राजा है । राजासे राजा लड़ता है । अथवा, राजकुमारीकी सहायता करना है, यह कार्य्य राजाके योग्य है । गौको म्लेच्छसे छुड़ाना भी राजधर्म है । (ख) 'सुनि आरत बानी ।' इति । 'हा जगदेक बीर रघुराया ।'''हा रघुकुल सरोज दिननायक' इन आर्त्तवचनोंसे जाना कि रघुकुलतिलक श्रीरामजीकी धर्मपत्नी हैं । जटायु कहाँ था इसमें मतभेद है । कोई पहाड़की चोटीपर और कोई वृक्षपर होना कहते हैं; यथा—जटायुरुत्थितः शीघ्रं नगाग्रात्तीक्ष्ण-तुण्डकः । अ०रा० ३।७।५४ ।', 'वनस्पतिगतः श्रीमान्व्याजहार शुभां गिरम् । वाल्मी० ३.५०.२ ।' इसीसे कविने यहाँ किसी स्थानका नाम न दिया ।

२ 'रघुकुलतिलक-नारि' कहकर 'अधम निसाचर लीन्हे जाई' पद देकर इसकी बड़ी अयोग्यता जनाई । अर्थात् कहाँ तो रघुकुलमें शिरोमणि राम और कहाँ यह निशाचरोंमें अधम म्लेच्छ । म्लेच्छसे गऊकी रक्षा करना राजा, प्रजा सभीका कर्त्तव्य और धर्म है । यह म्लेच्छका राजा है, मैं गृध्रराज हूँ, मेरा धर्म है रक्षा करना । मिलान कीजिए; 'गोमर कर सुरधेनु नाथ ज्यौं त्यौं पर हाथ परी हौं ॥ तुलसीदास रघुनाथ-नाम धुनि अकनि गीध धुकि धायो । गी० ३.७ ।'; यह वाणी सुनी इससे 'म्लेच्छ वस कपिला गाई' ऐसा विचार उनके हृदयमें आया ।

३ (क) 'सीते पुत्रि' इति । जटायुजी दशरथजीके सखा हैं, यह दोहा १३ में बताया गया है । मित्रका पुत्र पुत्रके समान है । इस तरह श्रीरामजी पुत्र हुए । पुत्रकी स्त्री कन्या समान है, यथा 'अनुजवधू भगिनी सुतनारी । सुनु सठ कन्या सम ए चारी । ४.९.७ ।'; अतः 'पुत्रि' कहा । 'पुत्रि' शब्दमें कैसा माधुर्य्य और वात्सल्य झलक रहा है । (ख) 'करिहौं जातुधान कर नासा'—इसका सीधा अर्थ यही है कि निशिचरका नाश करूँगा यह कहकर उससे श्रीसीताजीको अभय देकर प्रसन्न किया । गीतावली और हनुमन्नाटकमें भी ऐसा ही कहा है । यथा 'पुत्रि ! पुत्रि ! जनि डरहि न जैहै नीचु मीचु हौं आयो । ३.७ ।'; 'मा भैषीः पुत्रि सीते व्रजति मम पुरो नैष दूरं दुरात्मा । हनु० ४.१० ।'

४ 'करिहौं जातुधान कर नासा' । यहाँ सरस्वतीकृत विलक्षण शब्द पड़े हैं, सरस्वती उसकी वाणीका यों अर्थ सिद्धकर सत्य करती है—"यातुधानके करसे अपना नाश करूँगा" अर्थात् तेरे लिए मैं आत्म-समर्पण करता हूँ । ( पु० रा० कु० ) । दीनजी कहते हैं कि यदि अनुस्वारका विचार न कर लें तो यह एक प्रकारका आशीर्वाद मानों दे रहे हैं कि तुम्हारा यह कुछ न कर सकेगा वरन् तुम्हारे ही द्वारा इसका नाश होगा ।

५ जटायुके संबंधमें 'धावा' शब्दका प्रयोग तीन बार किया है; यथा 'धावा क्रोधवंत', 'सुनत गीध क्रोधातुर धावा', "तबहिं गीध धावा करि क्रोधा" । तीन बार लिखकर जनाते हैं कि तीन मंडलमें जटायु रावणके रथपर पहुँच गया । गृध्र, चील आदि पक्षी आकाशमें सीधे, सरल रेखामें नहीं उड़ते, वे मँड़राते हैं । ( प० प० प्र० ) ।

६ प० प० प्र० का मत है कि जटायुने अभी यह नहीं जाना कि रावण है, इतना ही समझा कि

कोई निशाचर है। क्रमशः एक-से दूसरे मंडलमें जटायुको सीतापहारक की और रावणको आनेवाले विरोधककी अधिकाधिक पहचान होती गई। पहले मंडलमें जटायुने जाना कि कोई राक्षस है और रावणने समझा कि मैनाक होगा। दूसरेमें रावणने तर्क किया कि खगपति गरुड़ होगा। तीसरेमें दोनों एक दूसरे-को यथार्थ जान गए।

टिप्पणी—१ "छूटै पवि पर्वत कहुँ जैसे" अर्थात् ऊपरसे पंख समेटकर वज्र समान छूटा। वज्रके गिरनेसे पर्वत चूरचूर हो जाता है, वैसे ही यहाँ "चोचनि मारि बिदारेसि देही"। २—'रे रे दुष्ट ठाढ़...' इति। रावण दुष्ट था, अतः उसे सभी दुष्ट कहते हैं। यथा 'कह सीता सुनु जती गुसाईं। बोलेहु बचन दुष्ट की नाईं॥', 'रे रे दुष्ट ठाढ़ किन होई' (जटायु), "यह दुष्ट मारेउ नाथ भए देव सकल सनाथ" (इन्द्र), "परद्रोह रत अति दुष्ट पायो सो फल पापिष्ट" (इन्द्र)। ३-"न जानेहि मोही" अर्थात् यह नहीं जानता कि मैं इसका रखवाला हूँ, रक्षक हूँ।

नोट—७ (क) 'रे रे दुष्ट...'—परदारापहरणसे "दुष्ट" कहा; यथा 'रे त्रियचोर कुमारगगामी। खल मलरासि मंदमति कामी। ६.३२।' मिलान कीजिए हनु० ४.७ से। यथा "रे रे भोः परदारचोर किमरेऽधीरं त्वया गम्यते, तिष्ठाधिष्ठितचन्दनाचलतटः प्राप्तो जटायुः स्वयम्।" पुनश्च यथा 'रे रे रक्षः क्व दारान् रघुकुलतिलकस्यापहृत्य प्रयासि। (हनु० ४.९)। अर्थात् रे! रे! परस्त्रीचोर! तू क्यों शीघ्रतासे चला जा रहा है? अरे! खड़ा तो रह। स्वयं मैं जटायु आ प्राप्त हुआ हूँ। अरे राक्षस! तू रघुकुलतिलक रामकी स्त्रीको चुराकर कहाँ जा रहा है?—ये सब भाव इस चरणमें आ गए। पुनः, ये शब्द ललकारके ही हैं कि यदि तू वीर है तो ठहर-कर मुझसे युद्ध कर; यथा 'युद्ध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्त्तं तिष्ठ रावण। वाल्मी० ३.५०.२२।'

(ख) "न जानेहि मोही" अर्थात् क्या तू नहीं जानता कि मैं सनातनधर्म स्थित, सत्यप्रतिज्ञ, महाबली गृध्रराज और कश्यपका पौत्र जटायु हूँ। यथा 'दशग्रीव स्थितो धर्मे पुराणे सत्यसंश्रवः।...। जटायुर्नाम नाम्नाहं गृध्रराजो महाबलः।' (वाल्मी० ३.५०.३-४)। क्या तुझे ख़बर नहीं कि मैं कैसा वीर हूँ और यहाँ दोनों भाइयोंकी अनुपस्थितिमें मैं वैदेहीका रक्षक हूँ; यथा "सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे। वाल्मी० ३.१४.३४।" ☞ इन शब्दोंसे जान पड़ता है कि रावण जानता था कि गृध्रराज जटायु बड़ा पराक्रमी और बलवान् था। पुनः "न जानेहि मोही" का भाव कि मैं यद्यपि बूढ़ा हूँ तथापि मैं तुझसे युद्ध करनेका साहस रखता हूँ, मैं तुझे युद्धभूमिमें तेरे भाई खरकी तरह सुलाये देता हूँ, मैं अभी तुझे रथसे गिराता हूँ, इत्यादि। यथा 'तिष्ठ तिष्ठ दशग्रीव मुहुर्त्तं पश्य रावण। वृन्तादिव फलं त्वां तु पातयेयं रथोत्तमात्। युद्धातिथ्यं प्रदास्यामि यथाप्राणं निशाचर। वाल्मी० ३.५०.२८।', "शयिष्यसे हतो भूमौ यथा भ्राता खरस्तथा। ३,५०.२३, ५१.३०।"

## गोस्वामीजी और नारिजातिका आदर्श

पं० रामचन्द्रजी—कविने रामायणकी रचना करके ही यह दरसा दिया कि उसकी दृष्टिमें स्त्रीका पद कितना ऊँचा है। एक स्त्रीके अपमानके बदलेमें हजारों योद्धा अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। उसीके प्रतिकारमें सीताहरण होता है। फिर उनकी रक्षा, उनकी मानमर्यादाको पददलित करनेके प्रयत्नको विफल करनेके लिए लंकामें रक्तकी नदी बहती है।

सुनसान स्थान है। एक अकेली अबला पर्णकुटीमें बैठी है। रावण सा प्रतापी सम्राट् उसके रूप-लावण्यकी कथापर मुग्ध हो उसको उड़ाने तथा अपनी भगिनीके अपमानका बदला लेने आता है। पर उसे इतना साहस नहीं होता कि सम्मुख जाकर प्रेमभिक्षाकी याचना करे। अतः यतीका वेष करके जाता है। पर जब इस प्रकार सफल-मनोरथ नहीं होता तब अपना असली रूप दिखाता है। पर उत्तर क्या मिलता है?—'जिमि हरि बधू छुद्र सस चाहा'''।

इसका प्रभाव कामांध पर क्या पड़ता है?—'सुनत बचन दससीस लजाना। मन महुँ चरन बंदि

मुख माना'। पर प्रतिकारमिश्रित कामकी ज्वाला हृदयमें दहक रही है जिससे पड़कर यह विचार भस्म हो जाता है और वह श्रीसीताजीको बलात् ले जाता है। वे कातरध्वनिसे विलाप करती जाती हैं। यह क्रन्दन-का शब्द जटायुके कर्ण-कुहरमें पड़ता है। बेचारा जरासे अशक्त हो रहा है। तो भी—'गीधराज सुनि आरत बानी…', 'सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहौं जातुधान कर नासा।' एक अवला हरी जा रही है। एक असभ्य गृध्रपक्षी या नवीन दृष्टिके मतानुसार कोई वृद्ध अनार्य्य सरदार यह दृश्य देखता है। वह कातर हो उठता है। वह इस अनाचारको सहन नहीं कर सकता और अबलाके बचानेमें अपने प्राणोंकी आहुति दे देता है। क्या पाश्चात्य शिवेलरी (Chivalry) में इसकी समानता मिलती है? वहाँ तो किसी रमणीकी महायताके उपलक्षमें यह मानी हुई बात है कि आगे चलकर प्रेमकी भिक्षा माँगी जायगी। भारतके तुच्छ जीव भी अबलाके रक्षार्थ अपने प्राणोंकी परवा नहीं करते। 'पुत्रि' शब्दमें भी कैसा माधुर्य्य, कैसा वात्सल्य-स्नेह झलक रहा है।

आवत देखि कृतांत समाना। फिरि दसकंधर कर अनुमाना ॥१२॥
की मैनाक कि खगपति होई। मम बल जान सहित पति सोई ॥१३॥
जाना जरठ जटायू एहा। मम कर-तीरथ छाँड़िहि देहा ॥१४॥
सुनत गीध क्रोधातुर धावा। कह सुनु रावन मोर सिखावा ॥१५॥
तजि जानकिहि कुसल गृह जाहू। नाहिं त अस होइहि बहु बाहू ॥१६॥
राम रोष पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा ॥१७॥

अर्थ—यमराज वा कालके समान आते हुए देखकर दशकन्धर रावण फिरकर मनमें अनुमान (अट-कलसे विचार) करने लगा—॥१२॥ (यह) या तो मैनाक पर्वत होगा या पक्षियोंका स्वामी गरुड़ होगा। पर (यदि यह गरुड़ है तो) वह अपने स्वामी विष्णु सहित मेरे बलको खूब जानता है ॥१३॥ (निकट आने-पर) जाना कि (वा, अच्छा मैंने जान लिया)—यह तो बुड्ढा जटायु है। मेरे हाथरूपी तीर्थमें यह शरीर छोड़ेगा ॥१४॥ यह सुनकर गृद्ध्र क्रोधसे उतावला हो शीघ्र दौड़ा और बोला—हे रावण! मेरा सिखावन सुन ॥१५॥ जानकीको छोड़कर खैरियतसे घर चला जा। नहीं तो, हे बहुतसे भुजाओंवाले! ऐसा होगा कि श्रीरामचन्द्र-जीके क्रोधरूपी अत्यन्त भयङ्कर अग्निमें तेरा सारा वंश पतिंगा (की तरह) हो जायगा (जल मरेगा)। १६-१७

नोट—१ (क) 'आवत देखि कृतांत समाना' इति।—इससे सूचित किया कि जटायु क्रोधमें भरे हुए शीघ्रतासे उसकी ओर झपटे जा रहे हैं कि उसका ताड़न करें, जैसे यमराज पापी प्राणीको दंड देनेके लिए रोष करते हैं। (ख) 'दसकंधर कर अनुमाना' इति।—भाव कि दश शिर बीस भुजाओंका अहंकार मनमें लाकर दशों मस्तिष्कोंसे विचार करने लगा। 'अनुमाना' से जनाया कि रावणने अभी उसे पहचाना नहीं, अभी देख नहीं पाया।

२ 'की मैनाक कि खगपति…सहित पति सोई' इति। मैनाक हमारा बल जानता है कि इन्द्र हमारे डरसे भागा भागा फिरता है और वह तो इन्द्रके वज्रके भयसे समुद्रमें जा छिपा था तब भला मेरा सामना क्या कर सकता है? और गरुड़ है तो इसपर सवार होकर अनेक बार इसके स्वामीने मुझपर चक्र चलाया तो भी मेरा कुछ न बिगड़ा, अतः वह जानबूझकर अब क्यों सामना करेगा? यथा 'विष्णुचक्रनिपातैश्च शतशो देवसंयुगे। अन्यैः शस्त्रैः प्रहारैश्च महायुद्धेषु ताडितम् ॥१०॥ अहताङ्गैः समस्तैस्तं देवप्रहरणैस्तदा ॥११॥' (वाल्मी० ३।३२) "ऐरावतविषाणाग्रैरापीडनकृतव्रणौ। वज्रोल्लिखितपीनांसौ विष्णुचक्रपरिक्षतौ। वाल्मी सु० १०।१६।" अर्थात् विष्णुके साथ युद्धमें तथा अन्य बड़े-बड़े संग्रामोंमें भगवान् विष्णुके चक्रके सैकड़ों घाव तथा अन्य शस्त्रोंके प्रहारसे यह ताड़ित हुआ है। ऐरावतके दाँतोंके आघातसे उसकी विशाल भुजाओंमें चिह्न हो गए थे, वज्रसे मोटे

कंधोंमें छिद्र हो गए थे और विष्णुके चक्रसे उनमें घाव हो गए थे। हनुमन्नाटकमें रावणके इन विचारोंसे मिलता हुआ यह श्लोक है—"मैनाकः किमयं रुणद्धि पुरतो मन्मार्गमव्याहतं, शक्तिस्तस्य कुतः स वज्रपतनाद्भीतो महेन्द्रादपि ॥ तार्क्ष्यः सोऽपि समं निजेन विभुना जानाति मां रावणं, हा ज्ञातं स जटायुरेष जरसा क्लिष्टो वधं वाञ्छति ॥४.६॥' अर्थात् मेरे स्वच्छन्दमार्गको क्या यह मैनाक पर्वत अगाड़ीसे रोकता है ? उसकी क्या सामर्थ्य ? वह तो वज्र लगनेके भयसे इन्द्रसे डरता है। तो क्या यह गरुड़ है ? वह भी अपने स्वामी-सहित मुझ रावणको जानता है। ओहो ! जान लिया, यह जटायु ही है, बुढ़ापेसे क्लेशित होकर मरनेकी इच्छा करता है।

नोट—३ (क) 'जाना जरठ जटायू एहा'—भाव कि अरे ! यह मृतक-समान अत्यंत बूढ़ा होकर भी मुझे ललकारता है। वाल्मीकीयमें जटायुने रावणसे कहा है कि मुझे उत्पन्न हुए और पिता पितामहोंके राज्यका पालन करते हुए साठ हज़ार वर्ष हो गए। यथा 'षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम रावण। पितृपैतामहं राज्यं यथा वदनुतिष्ठतः। ३।५०।२०।' (ख) 'मम कर तीरथ छाड़िहि देहा।'—रावणका अभिमान इसीसे स्पष्ट है कि वह अपने मुख अपने हाथोंको तीर्थकी उपमा दे रहा है। हाथोंका तीर्थसे रूपक बाँधा। भाव यह कि लोग मोक्षके लिए अपना शरीर अयोध्या, काशी, प्रयाग, मथुरा आदि तीर्थोंमें छोड़ते हैं। रावण गर्वमें सोचता है कि हमारा सामना करनेको आ रहा है तो अवश्य इसे अपने प्राण देने हैं, यह मारा जायगा, मानों हमारे हाथोंसे वध होनेको ही यह तीर्थ समझकर आया है। जरा अवस्थामें क्लेश होता है, इसीसे वह मरनेकी इच्छा करता है। यथा 'जरसा क्लिष्टो वधं वाञ्छति' (उपर्युक्त)।

पं० रा० चं० शुक्ल—'की मैनाक कि खगपति होई'। 'संदेह' विशुद्ध अलंकार वहीं कहा जा सकता है जहाँ सदृश वस्तु लानेमें कविका उद्देश्य केवल रूप, गुण या क्रियाका उत्कर्ष या अपकर्ष दिखाना रहता है। ऐसा संदेह वास्तविक भी हो सकता है पर वहाँ अलंकारत्व कुछ दबा सा रहेगा। जैसे 'की मैनाक०' में जो संदेह है, वह कविके प्रबंधकौशलके कारण वास्तविक भी है तथा आकारकी दीर्घता और वेगकी तीव्रता भी सूचित करता है।

नोट ४-'सुनत गीध' इति। पूर्व कहा कि 'दसकंधर कर अनुमाना' और अब कहते हैं कि 'सुनत…'। इससे जान पड़ता है कि अनुमान मनमें ही नहीं किया किन्तु मुखसे कहा भी। अथवा, 'की मैनाक कि खगपति होई। मम बल जान सहित पति सोई' यह अनुमान है और समीप आनेपर पहचाननेपर गर्वमें आकर ये वचन प्रकट कहे—'जरठ जटायू एहा। मम कर तीरथ छाड़िहि देहा'। इन्हींको जटायुने सुना, तब बहुत क्रोधयुक्त हो गया। यह दूसरा भाव और अर्थ हनुमन्नाटकके अनुसार भी ठीक जान पड़ता है। इस प्रकार, "जाना"=अहा ! मैं जान गया।

टिप्पणी—१ 'क्रोधातुर धावा' से ज्ञात होता है कि रावण खड़ा होकर विचार करने लगा था तब जटायु भी धीमा हो गया, पर जब उसने ऐसे वचन कहे तब वह पुनः शीघ्रतासे दौड़ा और पास पहुँचकर उपदेश दिया। रावणने 'जरठ' कहा है और बूढ़े उपदेश देनेयोग्य होते ही हैं, अतः उपदेश दिया; यथा 'मनहु जरठपन अस उपदेसा' (अ०)। ('जरठ…' कहकर रावणने जटायुका अपमान किया, इसीसे उसका क्रोध और बढ़ गया। भाव यह कि तू युवा अवस्थाका है और अस्त्रशस्त्रधारी है तथा रथपर है और मैं बूढ़ा हूँ इसीसे तू मेरा अपमान करता हुआ सीताजीको लिये मेरे सामनेसे चला जा रहा है, मेरी ललकारपर भी रुकता नहीं)।

टिप्पणी—२ 'तजि जानकी कुसल गृह जाहू' अर्थात् नहीं छोड़ते तो अभी एक तो हमारे ही हाथों तुम्हारा कुशल नहीं और फिर रामरोष पावकसे कुल समेत तुम्हारा कुशल नहीं।

३ 'नाहित अस होइहि बहुबाहू' इति। रावणको अपने बाहुबलका एवं बीस भुजायें होनेका बड़ा अभिमान है। यथा 'भवन चलेउ निरखत भुज बीसा। ३.७।', 'मम भुजसागर बल जल पूरा। जहँ बूड़े

[illegible] ।', 'सील पयोधि अगाध अपारा । ६.२८ ।', 'हरगिरि जान जासु भुज लीला ।'''भुज विक्रम जानहिं दिगपाला । सठ अजहूँ जिन्हके उर साला । ६.२५।', "हरगिरि मथन निरखु मम बाहू । पुनि सठ कपि निज प्रभुहि सराहू ।६.२८।", 'कहसि न खल अस को जगमाहीं । भुजबल जाहि जिता मैं नाहीं ।५.४१।', 'निज भुज बल मैं बयरु बढ़ावा ।६.७७।' इत्यादि । इसीसे 'बहुबाहू' कहा । अर्थात् ये सब काट डाले जायँगे।

४ 'होइहि सकल सलभ कुल तोरा' इति । पतंगोंका संयोग दीपकसे है, यथा 'दीपसिखा सम जुवति तन मन जनि होसि पतंग ।३.४३।'; पर यहाँ 'दीपक' न कहकर 'रामरोष पावक' कहा । कारण कि बहुत पतिंगोंके आ पड़नेसे दीपक बुझ भी जाता है । यहाँ 'सकल ''कुल' बहुतसे पतिंगे हुए । उनके जलानेके लिए 'अति घोर पावक' कहा जिसमें कोई बचे नहीं और आग बुझे नहीं । ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है; यथा 'निसिचर निकर पतंग सम रघुपति बान कृसानु । जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु ।५.१५।' (हनुमद्वाक्य), 'लषनरोषु पावक प्रबल जानि सलभ जनि होहु ।१.२६६।' वाल्मीकीयमें भी ऐसा ही कहा है; यथा 'क्षिप्रं विसृज वैदेहीं मा त्वा घोरेण चक्षुषा । दहेद्दहनभूतेन वृत्रमिन्द्राशनिर्यथा ।३.५०.१६।', अर्थात् वैदेहीको छोड़ दे जबतक अग्निके समान जलती हुई भयानक आँखोंसे श्रीरामजी तुमको जला न दें, जैसे इन्द्रने वृत्रको जलाया था । इसी तरह जटायुने वहाँ बहुत समझाया है । सर्ग ५० और ५१ में पाठक देख लें ।

उतरु न देत दसानन जोधा । तबहिं गीध धावा करि क्रोधा ॥१८॥
धरि कच बिरथ कीन्ह महि गिरा । सीतहि राखि गीध पुनि फिरा ॥१९॥
चोचन्हि मारि बिदारेसि देही । दंड एक भइ मुरुछा तेही ॥२०॥
तब सक्रोध निसिचर खिसिआना । काढ़ेसि परम कराल कृपाना ॥२१॥
काटेसि पंख परा खग धरनी । सुमिरि रामु करि अद्भुत करनी ॥२२॥

शब्दार्थ—कच=बाल, केश । 'बिदारना'=विदीर्ण करना, फाड़ डालना ।

अर्थ—योद्धा दशमुख उत्तर नहीं देता । तभी गृद्ध्र क्रोध करके दौड़ा ॥१८॥ (और रावणके) बाल पकड़कर उसको बिना रथका कर दिया । रावण पृथ्वीपर गिर पड़ा । (तब) गृध्र श्रीसीताजीको (अपने स्थानपर) रखकर फिर लौटा ॥१९॥ और चोंचोंसे मार-मारकर उसके शरीरको विदीर्ण कर डाला (जिससे) उसे एक दंडभर मूर्च्छा आगई ॥२०॥ तब खिसियाये हुए निशाचरने क्रोधपूर्वक महाभयंकर खड्ग निकाला ॥२१॥ और उसके पङ्ख (पखने) काट डाले । अद्भुत करनी करके पक्षी श्रीरामजीका स्मरण करते हुए पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥२२॥

नोट—१ 'जोधा' पद देकर जनाया कि योद्धा करनी करते हैं, बकते नहीं; यथा 'सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आप ।१.२७४।' उसने अपना कर्त्तव्य निश्चय कर लिया है कि इसकी मृत्यु मेरे हाथ है । अतः उत्तर न दिया ।

टिप्पणी—१ 'तबहिं गीध धावा करि क्रोधा' इति । (क) गृध्रराजका तीन बार धावा करना और तीनों बार क्रोध करना लिखा गया । यथा 'धावा क्रोधवंत खग कैसे', 'सुनत गीध क्रोधातुर धावा' और यहाँ 'धावा करि क्रोधा' । इसका तात्पर्य यह है कि बीच बीचमें रुक जाता था । प्रथम जब रावण अनुमान करने लगा तब रुक गया, फिर रावणको समझाने लगा तब ठहर गया । (ख) प्रथम क्रोध सीताहरणपर हुआ, दूसरा क्रोध उसके अभिमानपूर्वक बोलनेपर हुआ और तीसरी बार उसके उत्तर न देनेपर क्रोधावेश हुआ । (प० प० प्र० का भाव चौ० १० में है ]।

२ 'धरि कच' से जनाया कि उसके सिरपर उड़ता रहा, इससे बाल पकड़ना ही सुगम जान पड़ा ।

❀ [ बाल पकड़कर धरना कहा गया । क्यों ? क्योंकि यह मर्मस्थल है, इनके पकड़ने खींचनेसे अत्यन्त पीड़ा होती है जिससे मनुष्य तुरंत काबूमें आ जाता है । दीनजी ]

३ "चोचन्हि मारि बिदारेसि देही ।० मुरुछा०" इति । पूर्व जो कहा था "छूटै पबि पर्वत कहँ जैसे" उसको यहाँ चरितार्थ किया । देह विदीर्ण करनेके लिए 'पबि पर्वत' की उपमा है । इसी प्रकार 'आवत देखि कृतांत समाना' की उपमा 'मूर्च्छित' करनेके विचारसे दी गई । इस चौपाईका भाव यह है कि उसने रावणको मृतप्राय कर दिया । ब्रह्माके वरसे वह मर नहीं सकता, नहीं तो मृत्युमें संदेह न था । देही=देह, शरीर, यथा 'पिता मंदमति निंदत तेही । दक्षशुक्र संभव यह देही ।१.६४।', 'नर तन सम नहिं कवनिउ देही । जीव चराचर जाचत जेही । ७.१२१।'

गौड़जी—एक दंड तक मूर्च्छित रहा । फिर इस दशामें सीताजी स्वयं क्यों न भाग गयीं ? गीधने स्वयं सीताजीको लेकर आश्रममें क्यों न पहुँचाया ? बात यह थी कि माया-सीताको तो रावणके नाशके लिए उसके साथ जाना ही था । गीधको भी यह बुद्धि इसीसे न आयी ।

नोट—२ वाल्मी० तथा अ० रा० में प्रथम भेंटपर जटायुजीने श्रीरामजीसे कहा है कि तुम्हारे और लक्ष्मण दोनोंके आश्रमसे बाहर जानेपर मैं सीताकी रक्षा करूँगा । यथा 'सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे ।३.१४.३४।'; 'मृगयायां कदाचित्तु प्रयाते लक्ष्मणेऽपि च ॥५॥ सीता जनककन्या मे रक्षितव्या प्रयत्नतः ।...' ( अ० रा० ३.४.६ ) । यही बात मानसमें कविने 'गीधराज सैं भेंट भइ बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ । गोदावरी निकट प्रभु रहे परनगृह छाइ ।३.१३।' से जनाई है । गीतावलीमें श्रीरामजीके 'सुनहु लषन खगपतिहि मिले बन मैं पितु मरन न जानेउ ।३.१३।', ये वाक्य भी इसी बातकी पुष्टि कर रहे हैं । पिताके सखा होनेके नाते वे रक्षक बने और उन्होंने जगत्-विख्यात योद्धा रावणसे सीताजीकी जीतेजी रक्षा की भी । उन्होंने यह जानते ही कि रावण लिये जाता है तुरत सीताजीको ढारस दिया—"सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा । करिहउँ जातुधान कर नासा ।', और साथ ही रावणपर वे यमके समान झपटे और उसको रथसे गिराकर सीताजीको लेकर पृथ्वीपर रखकर फिर रावणसे जाकर जूझे । इतना ही नहीं किन्तु रावणको चोंचोंकी चोटसे घायल और मूर्च्छित भी कर दिया । जटायुका यह पुरुषार्थ वे देख रही हैं । गी० ३.७ में भी गीधराजके वचन हैं—'पुत्रि पुत्रि ! जनि डरहि, न जैहै नीचु मीचु हौं आयो ।'

पिता या ससुरके समान 'पुत्रि' संबोधन करके गृध्रराज रक्षा कर रहे थे, तब सीताका भाग जाना क्योंकर उचित हो सकता था ? रक्षामें तत्पर जटायुका पुरुषार्थ देखकर भी भागनेसे उनकी रक्षाकी सरासर अवहेलना होती और उनपर अविश्वास भी प्रकट होता । फिर एक अबला होकर वे रावणसे बचकर छिप कहाँ सकती थीं ।—यह तो माधुर्यमें भाव हुआ । ऐश्वर्यमें भाव होगा कि भागकर छिपतीं तो सारी 'ललित नर लीला' ही समाप्त हो जाती ।

टिप्पणी—४ 'काढ़ेसि परम कराल कृपाना' इति । यह वही है जिससे वह श्रीसीताजीको डरावेगा; यथा 'सीता तैं मम कृत अपमाना । कटिहउँ तव सिर कठिन कृपाना ।' (५.१०) । यहाँ जटायुने उसका अपमान किया । अतः खिसियाकर उसके लिए कठिन कृपाण निकाला । वैसे ही श्रीसीताद्वारा अपमानित होने पर वहाँ निकालेगा । यहाँ पंख काट लिए और वहाँ (सुन्दरकांडमें) मंदोदरी आदिके समझानेसे कुछ दिनकी अवधि दी । (ख) इस कृपाणका नाम चंद्रहास है; यथा 'चंद्रहास हरु मम परितापं' ।

५ 'काटेसि पंख परा खग धरनी'—पंख ही द्वारा पक्षीका जीवन है, पंख कटनेपर बड़ा कष्ट होता है; यथा 'जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं । २.१४२ ।', 'जथा पंख बिनु खग अति दीना ६.६० ।', भोजन

❀ पु० रा० कु०—पं० रामगुलाम द्विवेदीजी यह भाव कहते थे कि 'धरि कच' से चोटी मुड़ाना हुआ, 'खिसिआया' यह मुँहमें कालिख लगी, खच्चर रथमें जुते हैं यही गदहेपर सवार होना है और लंका दक्षिण है उसी ओर जाही रहा है वा, शैव है, अतः भस्म रमाये है; यही कालिख है ।"

नहीं मिलता; यथा 'कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा। आजु दीन्ह बिधि एकहि बारा। ४.२७।' (संपाती-वाक्य)। इसीसे पक्ष ही काट डाले कि कष्ट झेलकर मरे।—(श्रीरामजी शत्रु हैं, इनका पक्ष लिया। अतः पक्ष काटे)। सिर क्यों न काट लिया? अपनी दुर्दशा समझकर मारा नहीं, पक्ष काटे जिसमें कष्ट झेल-झेलकर तड़प-तड़पकर मरे। पुनः, हरिइच्छासे ऐसा हुआ। सीताजीने कहा था कि 'बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा।'; जटायु सुनानेके लिए जीते रखे गए। सिर काटा होता तो सीताजीकी विपत्ति कौन कहता?

६ 'अद्भुत करनी' यही कि त्रिलोकविजयी रावणसे लड़ा, जीतेजी सीताजीको न ले जाने दिया। यथा 'फिरत न बारहिं बार पचार्यो। चपरि चोंच चंगुल हय हति रथ खंड खंड करि डार्यो ॥१॥ बिरथ बिकल कियो, छीनि लीन्हि सिय, घन-घायनि अकुलान्यो। तब असि काढ़ि काटि पर पाँवरु लै प्रभुप्रिया परान्यो ॥२॥ रामकाज खगराज आजु लर्यो जियत न जानकि त्यागी। तुलसिदास सुर सिद्ध सराहत धन्य बिहग बड़भागी ॥३॥'*

नोट—३ जटायु और रावणका बड़ा घोर और अद्भुत युद्ध हुआ मानों पक्षयुत दो महापर्वत लड़ रहे हों। यथा 'तद्बभूवाद्भुतं युद्धं गृध्रराक्षसयोस्तदा। सपक्षयोर्माल्यवतोर्महापर्वतयोरिव। वाल्मी० ३.५१.३।' वाल्मीकीयमें पढ़ने योग्य है। उससे इस 'जरठ' जटायुकी शक्ति और अद्भुत करनीका अनुमान होगा। हनुमन्नाटकमें थोड़ेमें बहुत सुन्दर वर्णन है। यथा 'अक्षं विक्षिपति ध्वजं दलयते मृद्नाति नद्धं युगं, चक्रं चूर्णयति क्षिणोति तुरगान्रक्षः पतेः पक्षिराट्। रुन्धन्गर्जति तर्जयत्यभिभवत्यालम्बते ताडयत्याकर्षत्यवलुम्पति प्रचलति न्यञ्चत्युदञ्चत्यपि। ४.११।' अर्थात् पक्षिराज जटायु रावणके रथके धुरीको तोड़ते हैं, ध्वजा तथा दोनों बाहोंको तोड़ते हैं, चक्रोंको चूर्ण करते, घोड़ोंको घायल करते और रावणको रोकते हुए गर्जन करते हैं तथा ललकारते हैं, उसका तिरस्कार करते हैं और उसे पकड़ लेते हैं। उस रावणको मारते भी हैं। कभी अपनी ओर खींच लेते हैं तथा उसके वस्त्रोंको पकड़कर झटक देते हैं। कभी आप उड़ जाते हैं, कभी उसके प्रहारसे आप नम्र हो जाते हैं और कभी कभी अपने पंजोंसे उसके शिरपर प्रहार करनेके लिये ऊपरको उड़ जाते हैं।

४ 'सुमिरि राम', यथा हनुमन्नाटके—'ईषत्स्थितासुरपतद्भुवि राम-राम-रामेति मन्त्रमनिशं निगदन्मुमुक्षुः। ४.१२।।' अर्थात् मोक्षकी इच्छासे राम राम राम इस मंत्रको निरंतर जपते हुए वह पक्षी जिसमें अब कुछ ही प्राण शेष हैं, पृथ्वीपर गिर पड़ा।

सीतहि जान चढ़ाइ बहोरी। चला उताइल त्रास न थोरी ॥२३॥
करति बिलाप जाति नभ सीता। ब्याध बिबस जनु मृगी सभीता ॥२४॥
गिरि पर बैठे कपिन्ह निहारी। कहि हरि नाम दीन्ह पट डारी ॥२५॥
एहि बिधि सीतहि सो लै गयऊ। बन असोक महँ राखत भयेऊ ॥२६॥

शब्दार्थ—'उताइल'=(उतायल) उतावलीसे, जल्दी जल्दी। जान (यान)=रथ।

अर्थ—श्रीसीताजीको फिर रथपर चढ़ाकर बहुत शीघ्रतासे चला, उसे बहुत डर लग रहा था (कि कहीं राम आ न जायँ, या और कोई उनका सहायक न बीचमें आ पड़े) ॥२३॥ आकाशमें श्रीसीताजी विलाप करती हुई जा रही हैं, मानों व्याधके वशमें पड़कर मृगी सभीत हो ॥२४॥ पर्वतपर बैठे हुए बंदरोंको देखकर हरि नाम लेकर उन्होंने वस्त्र डाल दिया ॥२५॥ इस प्रकार वह श्रीसीताको ले गया और अशोक वनमें रखा ॥२६॥

टिप्पणी—१ 'ब्याध बिबस जनु मृगी सभीता' इति। पहले जटायु द्वारा 'अधम निसाचर लीन्हे

* दीनजी—"अद्भुत" का यहाँ यही force है कि जो रामजीके सोचे हुए लीलामें हितकारी भी होकर अच्छी नियतसे भी बाधा करता है, उसकी भी वे दुर्दशा करा देते हैं।

जाई। जिमि मलेच्छ बस कपिला गाई' ऐसा कहा और अब कहते हैं कि 'व्याध विबस०'। कारण कि गायको म्लेच्छके हाथोंसे सभी छुड़ाते हैं, वहाँ गृध्रराज छुड़ानेको गये। और, व्याधाके हाथोंसे हरिणीको कोई नहीं छुड़ाता, वैसे ही अब इनको कोई छुड़ानेवाला नहीं है।

नोट—१ 'कहि हरि नाम दीन्ह पट डारी' इति। हनुमन्नाटकमें लिखा है कि श्रीरामजी और लक्ष्मणजीका नाम लिया कि इनको दे देना—'आकृष्यमाणाऽऽभरणानि मुक्त्वा सैरध्वजी मारुतिमद्रिमौलौ। उवाच रामाय सलक्ष्मणाय वराय देयानि सदेवराय। ४।१५।' अर्थात् पर्वतपर हनुमान्‌जीको देखकर आभूषणोंको उनके पास फेंककर कहा कि लक्ष्मण सहित मेरे पतिको दे देना। किष्किंधामें जो कहा है कि 'मंत्रिन्ह सहित इहाँ इक बारा। बैठ रहेउँ मैं करत बिचारा॥ गगनपंथ देखी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता॥ राम राम हा राम पुकारी। हमहिं देखि दीन्हेउ पट डारी।', वैसा ही वाल्मीकीयमें भी है, यथा 'ददर्श गिरिशृङ्गस्थान पञ्च वानरपुंगवान्॥१॥ तेषां मध्ये विशालाक्षी कौशेयं कनकप्रभम्। उत्तरीयं वरारोहा शुभान्याभरणानि च॥२॥ मुमोच यदि रामाय शंसेयुरिति भामिनी। वस्त्रमुत्सृज्य तन्मध्ये निक्षिप्तं सहभूषणम्॥३॥ सर्ग ३.५४।' अर्थात् पाँच वानरोंको एक पर्वतशृङ्गपर बैठे देखकर वस्त्रमें आभूषण लपेटकर गिरा दिया जिसमें ये मेरा पता श्रीरामजीको बता सकें। रावण घबड़ाहटके मारे सीताजीके इस कामको न समझ सका।

२ "कहि हरि नाम" इति। 'हरि' नाम श्लेषार्थी है, अतः उसे देकर जनाया कि—हे हरि (वानरो)! यह पटभूषण हरि (राम) को देना, जो भूभार हरनेको आ रहे हैं और तुम्हारे दुःखको भी वालिका वध करके हरण करेंगे, यह भी कहना कि मेरा हरण हुआ है। और यह भी जनाया कि मैं दुःखके हरनेवाले हरि (श्रीरामचन्द्रजी) की पत्नी हूँ, मेरा दुःख शीघ्र हरें। (पं०)। पर उपर्युक्त किष्किंधाके उद्धरणसे 'हरि' का अर्थ 'राम' ही ठीक है। 'पट डारी' से श्रीसीताजीकी सावधानता सूचित करते हैं कि वे रावणके मरणका उपाय करती जाती हैं और वह नहीं समझ पाता। (खर्रा)।

३ 'बन असोक महँ राखत भयेऊ' इति। अशोकवनमें रखा जिसमें इनका शोक दूर हो जाय, रामविरहमें शरीर न त्याग दें। वा, यह बाग रावणको प्राणोंसे अधिक प्रिय है, अतः सम्मानार्थ उसमें रखा।

दोहा—हारि परा खल बहु बिधि भय अरु प्रीति देखाइ।
तब असोक पादप तर राखिसि जतनु कराइ॥
जेहि बिधि कपट कुरंग सँग धाइ चले श्रीराम।
सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम॥२९॥

अर्थ—बहुत तरहसे डर और प्रीति दिखाकर वह दुष्ट हार गया तब उसने उनको यत्नपूर्वक अशोकवृक्षके नीचे रक्खा। जिस प्रकार श्रीरामजी कपट मृगके साथ दौड़े चले थे, वही छबि सीताजी हृदयमें रखकर हरि नाम रटती रहती हैं॥२९॥

नोट—१ "बहु बिधि प्रीति" से वह सब जना दिया जो वाल्मीकिजीने पूरे सर्ग ५५ में दिया है। 'भय' यह दिखाया कि १२ मासमें मुझे स्वीकार न किया तो मार डालूँगा, यथा 'सीताया वचनं श्रुत्वा परुषं रोमहर्षणम्॥२३॥ प्रत्युवाच ततः सीतां भयसंदर्शनं वचः। शृणु मैथिलि मद्वाक्यं मासान्द्वादश भामिनि॥२४॥ कालेनानेन नाभ्येषि यदि मां चारुहासिनि। ततस्त्वां प्रातराशार्थं सूदाश्छेत्स्यन्ति लेशशः॥२५॥—(स० ५६)।'

टिप्पणी—१ (क) अशोकवनमें क्यों रखा? इसका कारण यहाँ लिखते हैं कि "हारि परा००"। अशोकवनमें बहुतसे दिव्य स्थान बने हैं; उनमें जब ये न रहीं, तब अशोकवृक्षके नीचे रखा। (वाल्मी० सर्ग ५५-५६ से स्पष्ट जान पड़ता है कि उसने महलोंमें रखना चाहा और दिव्य रमणीय महल दिखाकर इनको लुभाना चाहा। पर वे किंचित् भी प्रसन्न न हुईं, प्रत्युत उससे कठोर वचन कहे, तब उसने अशोकवनमें

रक्खा ) । अथवा, (ख) सीताजीने वनवास-धर्म समझकर यहाँ रहना उचित समझा । (खर्रा) । (ग) 'जतनु कराइ'—उनकी अनुकूल सेवाका एवं कोई उनके पास न जा सके इसका प्रबंध करके ।

टिप्पणी—२ 'जेहि बिधि कपट कुरंग०' अर्थात् धनुषबाण हाथोंमें लिए, तर्कश कमरसें बाँधे, आगे आगे मृग पीछे पीछे आप उसे पकड़ने वा मारनेको जा रहे थे । वही छवि, यथा 'मम पाछे धर धावत धरे सरासन बान', 'कपट कुरंग संग धर धाये' । 'श्रीराम' से जनाया कि कपट कुरंगके पीछे धावा करते हुए वे बड़ी शोभाको प्राप्त थे, अतः उसी छविको हृदयमें धारण किया । [ "सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरनि के पाछे । धावनि नवनि बिलोकनि बिथकनि बसै तुलसी उर आछे । गी० ३.३ ।", "राघव भावति मोहि बिपिन की बीथिन्ह धावनि । अरुन कंज बरन चरन सोकहरन अंकुस कुलिस केतु अंकित अवनि । सुंदर स्यामल अंग बसन पीत सुरंग, कटि निषंग परिकर मेरवनि । कनककुरंग संग साजे कर सर चाप राजिव-नयन इत उत चितवनि । सोहत सिर मुकुट जटा पटल, निकर सुमन लता सहित रची बनवनि । गी० ३.४" ।—यह ध्यान यहाँ अभिप्रेत है ]

३ 'रटति रहति हरि नाम' । (क) 'रटति' से निरन्तर रटना जनाया; यथा 'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट । ५.३० ।' पुनः भाव कि नामके बलसे जीती हैं; यथा 'लोचन निज पद जंत्रित प्रान जाहि केहि बाट ।५.३०', नाम रटनेसे पुनः नामी ( मूर्त्ति, रूप ) की प्राप्ति होगी; यथा 'देखिय रूप नाम आधीना' । नाम और रूप ये दोनों न होते तो न जीवित रहतीं । यथा 'रसना रटति नाम, कर सिर चिर रहै, नित निज पद कमल निहारे । दरसन आस लालसा मन महँ राखे प्रभु ध्यान प्रान-रखवारे । गी० ५.१० ।' (ख) 'हरि नाम'—क्लेशं हरतीति हरिः । यहाँ नाम रटनेकी विधिका उपदेश दे रहे हैं कि दृष्टि और मन भी दूसरी ओर न जाय और न दूसरेसे बात करे । तब रूपकी प्राप्ति शीघ्र होती है ।

नोट—२ किसीका मत यह भी है कि यहाँ 'हरि' नाम कहा, क्योंकि पतिका नाम नहीं ले सकतीं । हरि श्रीरामजीके राशिका नाम भी है । (प्र०) ; पर सुग्रीवजीके वचनोंसे "राम" नाम लेना पाया जाता है—'राम राम हा राम पुकारी' । आपत्ति कालमें नाम लेनेका निषेध नहीं है ।

**यहाँ 'पुनि माया सीता कर हरना' प्रकरण समाप्त हुआ ।**

## 'श्रीरघुवीर-विरह-वर्णन—प्रकरण

रघुपति अनुजहि आवत देखी । बाहिज चिंता कीन्हि बिसेषी ॥१॥
जनकसुता परिहरिहु अकेली । आएहु तात बचन मम पेली ॥२॥
निसिचर निकर फिरहिं बन माहीं । मम मन सीता* आश्रम नाहीं ॥३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीने भाईको आते देखकर ऊपरसे (देखावमात्रकी) बहुत चिन्ता की ॥१॥ हे तात ! तुमने जानकीजीको अकेली छोड़ दिया । मेरी आज्ञाको टालकर यहाँ चले आये ॥ २ ॥ निशाचरोंके झुण्ड वनमें फिरते हैं । मेरे मनमें ( ऐसा आता है कि ) सीता आश्रममें नहीं हैं ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ 'रघुपति अनुजहि आवत देखी ....' इति । ( क ) यहाँ प्रथम श्रीरामजीका लक्ष्मणजीको देखना कहा, क्योंकि वे चिन्तातुर हैं, उनकी दृष्टि पंचवटीकी ही ओर है, कहीं लक्ष्मणजी आर्त्तनाद सुनकर आश्रम छोड़ न दें, यह चिन्ता लगी हुई है ।—'खल बधि तुरत फिरे रघुबीरा ।२८.१।' देखिये । (ख) 'बाहिज चिंता कीन्हि बिसेषी' अर्थात् चिन्ता तो मारीचके नाम लेकर पुकारनेपर ही उत्पन्न हो गई थी, अब उसका

* आश्रम सीता—को० रा० ।

प्रभाव यथार्थ देखा कि सत्य ही लक्ष्मणजी कुटी छोड़कर चले आए। अतः अब 'विशेष' चिन्ता की। (ग) 'बाहिज' बाह्यका अपभ्रंश है। = बाहरसे, ऊपरसे, यथा 'बाहिज नम्र देखि मोहि साईं' ।७.१०५।' चिन्ता जब होती है तब मनसे। यह मनका विषय है, इसीसे कवि कहते हैं कि इनके मनमें चिन्ता नहीं है, चिन्ताकी बात केवल मुखसे कही भर है, मुखसे ऐसी बात कही मानों चिन्ता हो। चिंताकी जो बात कही वह आगे है। (घ) कविने लेख द्वारा चिन्ताकी विशेषता दिखायी। प्रथम कम थी, अतः एक चरणमें जनाया था। अब अधिक है, अतः दो चौपाइयों (चार चरणोंमें) दिखायी। (ङ) केवल बाहिज चिन्ता है, क्योंकि लीला प्रथम ही वैसी रच रक्खी है—'मैं कछु करबि ललित नर-लीला'। यह चिंता भी लीला है। [कर्म बाहिज है तथापि दिव्य है, यथा 'जन्म कर्म च मे दिव्यं' इति गीतायाम्। (वंदनपाठकजी)। दिव्यका अर्थ क्रीड़ारूप भी है।]

टिप्पणी—२ (क) 'जनकसुता परिहरिहु अकेली' और 'आएहु बचन मम पेली' का भाव कि तुमने हमारा और जानकीजी दोनोंका अपमान किया। श्रीसीताजी अपने संदेश द्वारा इनको निरपराध ठहरायँगी। यथा 'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना'। यदि इनका अपराध होता तो इनको त्याग देतीं, इनका नाम न लेतीं और न ऐसा संदेश भेजतीं। (ख) चिन्ता क्या है और उसका कारण दोनों कह रहे हैं। 'जनकसुता' कहकर चिन्ताका कारण जनकमहाराजका सम्बन्ध जनाया। दूसरा कारण 'परिहरिहु०' इत्यादिमें है। यथा 'किं नु लक्ष्मण वक्ष्यामि समेत्य जनकं वचः ॥११॥ मातरं चैव वैदेह्या विना तामहमप्रियम् | वाल्मी० ३।६४। ११,१२'; अर्थात् हम जानकीजीके पिताके पास जानेपर उनसे क्या कहेंगे। उनकी मातासे यह अप्रिय बात मैं कैसे कहूँगा?

३ "मम मन सीता आश्रम नाहीं" इति। यथा 'मनश्च मे दीनमिहाप्रहृष्टं चक्षुश्च सव्यं कुरुते विकारम्। असंशयं लक्ष्मण नास्ति सीता हृता मृता वा पथि वर्तते वा। वाल्मी० ५.७।२३॥' अर्थात् मेरा मन बहुत ही दीन और हर्षरहित हो रहा है, बाईं आँख फड़ककर अपशकुन जना रही है। अतः निःसन्देह सीता आश्रममें नहं हैं। या तो उनका हरण हो गया, या वह मारी गईं, अथवा कोई लिए जा रहा है। श्रीरामचन्द्रजीके बाएँ अंग फड़क रहे थे। यथा 'आश्रम आवत चले सगुन न भए भले, फरके बाम बाहु लोचन बिसाल। गी० ३.६।', 'स्फुरते नयनं सव्यं बाहुश्च हृदयं च मे। दृष्ट्वा लक्ष्मण दूरे त्वां सीताविरहितं पथि। वाल्मी० ५९.४।' अर्थात् जिस समय मैंने तुमको अकेले बिना सीताके मार्गमें देखा, उसी समय मेरी बायीं आँख, वाम भुजा और हृदयका वाम भाग फड़कने लगे। इसीसे निश्चय करते हैं कि सीताजी आश्रममें नहीं हैं।

**गहि पदकमल अनुज कर जोरी। कहेउ नाथ कछु मोहि न खोरी ॥४॥**
**अनुज समेत गए प्रभु तहवाँ*। गोदावरि तट आश्रम जहवाँ* ॥५॥**

अर्थ—भाई लक्ष्मणजीने चरणकमल पकड़कर और फिर हाथ जोड़कर कहा कि हे नाथ! मेरा कुछ भी दोष नहीं है ॥४॥ भाई सहित प्रभु वहाँ गये जहाँ गोदावरीके किनारे आश्रम था ॥५॥

नोट—१ 'कछु मोहि न खोरी' अर्थात् इसमें दोष श्रीसीताजीका है जैसा उन्होंने स्वयं कहा है—'हा लछिमन तुम्हार नहिं दोषा। सो फल पायउँ कीन्हेउँ रोषा।' ☞ देखिए! गोस्वामीजीका कैसा उच्च आदर्श है। उनको लोकशिक्षाके लिये जैसे सीताजीके मुखसे निकले हुए 'मर्म' वचनोंका उल्लेख करना सर्वथा अयोग्य जान पड़ा, वैसे ही यहाँ लक्ष्मणजीसे उन वचनोंका रामजीके उत्तरमें अपनेको निरपराध साबित करने केलिये भी कहलाना सर्वथा अनुचित जान पड़ा। उनको यह न भाया कि जो वाल्मीकिजीने आर्ष सर्गमें उत्तर दिलाया है उसे यहाँ लिखकर अपना आदर्श गिरा देते। कैसा भोलाभाला, बड़े भाई और बड़ी भावजका पूर्ण सम्मान रखनेवाला और सुशील उत्तर है—इसपर सैकड़ों उत्तर भी निछावर हैं। 'मोहि न खोरी' में क्या नहीं आ गया?

* तहाँ ''जहाँ—१७०४।

आश्रम देखि जानकी हीना । भए बिकल जस प्राकृत दीना ॥६॥
हा गुन खानि जानकी सीता । रूप सील ब्रत नेम पुनीता ॥७॥
लछिमन समुझाए बहु भाँती । पूछत चले लता तरु पाती ॥८॥

शब्दार्थ—पाती=पंक्ति, यथा 'जासु बिरह सोचहु दिन राती । रटहु निरंतर गुनगन पाती' ।

अर्थ—आश्रमको श्रीजानकीजीसे रहित ( खाली ) देखकर व्याकुल हुए, जैसे साधारण मनुष्य व्याकुल होते हैं ॥६॥ हा गुणोंकी खानि जानकी ! हा रूप, शील, व्रत और नियममें पवित्र सीते ! ( तुम कहाँ गईं ? क्या हुईं ? ) ॥७॥ लक्ष्मणजीने बहुत तरहसे समझाया । वे लताओं और वृक्षोंकी पंक्ति (क़तारों) से पूछते हुए चले ॥८॥

नोट—१ सूने आश्रमका वर्णन, यथा 'सरित जल मलिन, सरनि सूखे नलिन, अलि न गुंजत, कल कूजैं न मराल । कोलिनि कोल किरात जहाँ तहाँ बिलखात, बन न बिलोकि जात खगमृगमाल ॥२॥ तरु जे जानकी लाए, ज्याये हरि करि कपि, हेरैं न हुँकरि, झरैं फल न रसाल । जे सुक सारिका पाले, मातु ज्यों ललकि लाले तेऊ न पढ़त न पढ़ावैं मुनिबाल ॥३॥ समुझि सहमे सुठि प्रिया तौ न आई उठि, तुलसी बिबरन परनतृनसाल । औरैं सो सब समाजु कुसल न देखौं आज गहबर हिय कहैं कोसलपाल ॥४॥ गी० ३।६।'

२ 'भए बिकल जस प्राकृत दीना' इति । भाव कि ये प्राकृत मनुष्य नहीं हैं, ये तो ब्रह्म हैं पर रावण-वधके लिये इन्होंने नररूप धारण किया है । उसीके अनुसार यहाँ विलापादि नरनाट्य कर रहे हैं—'जस काछिय तस चाहिय नाचा' । मिलान कीजिए 'सर्वज्ञः सर्वथा क्वापि नापश्यद्रघुनन्दनः । आनन्दोऽप्यन्व-शोचत्तामचलोऽप्यनुधावति । अ० रा० ३.८.१६ । निर्ममो निरहङ्कारोऽप्यखण्डानन्दरूपवान् । मम जायेति सीतेति विललापातिदुःखितः ॥२०॥'

३ 'जानकी सीता' में पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि यहाँ विलाप है, विषादमें यह दोष नहीं लिया जाता । यथा "विषादे विस्मये कोपे हर्षे दैन्येऽवधारणे । प्रसादे चानुकंपायां पुनरुक्तिर्नदूष्यते" (खर्रा) । दूसरे, यहाँ दो शब्दोंसे विभिन्न भाव सूचित किया है, अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है । 'जानकी' का भाव 'जनकसुता परिहरेहु । गी० २ ।' में देखिये । 'सीता' का भाव कि जैसे तुम भूमिसे प्रकट हुई थीं, वैसे ही कहीं भूमिमें गुप्त होकर मेरे प्रेमकी परीक्षा तो नहीं कर रही हो । ( प० प० प्र० ) । अथवा, हमें सदा शीतल किया करती थीं, आज हमें शीतल करने क्यों नहीं आ रही हो । वाल्मी० ३.६२.१२-१४ के 'निवृत्तवनवासश्च जनकं मिथिला-धिपम् ॥ कुशलं परिपृच्छन्तं कथं शक्ये निरीक्षितुम् । विदेहराजो नूनं मां दृष्ट्वा विरहितं तया ॥ सुता-विनाशसंतप्तो मोहस्य वशमेष्यति ।' इस उद्धरणमें 'हा जानकी' का, और ६४।१२-१३ के 'या मे राज्य-विहीनस्य वने वन्येन जीवतः ॥ सर्वं व्यपानयच्छोकं वैदेही क्व नु सा गता ।' इस श्लोकमें 'हा सीता' का भाव है । अर्थात् 'वनवाससे लौटनेपर मिथिलापति जब मुझसे कुशल पूछेंगे तब मैं उनकी ओर कैसे देख सकूँगा ! जानकीसे विरहित मुझको देखकर पुत्रीका नाश जानकर वे अवश्य मूर्छित हो जायँगे ।', 'राज्यहीन वनमें वनवासीके समान रहते हुए मेरे दुःखोंको जो दूर करती थी वह सीता कहाँ है ?' इस तरह यहाँ 'जानकी' शब्दसे जनकमहाराजके सम्बन्धसे शोकातुर जनाया और 'सीता' से अपने हृदयको शीतल करने-वाली होनेके सम्बन्धसे शोक जनाया । हनु० ५-८ में भी 'सीतेति हा जनकवंशजवैजयन्ति' कहा है ।

प० प० प्र०—'रूप सील ब्रत नेम पुनीता', यथा 'सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला ।२४.१' । भाव कि तेरे अनुपम रूपपर मोहित होकर कोई निशाचर तुझको ले तो नहीं गया । तुम्हारा शील, सतीत्व पातिव्रत्यके नियमों और तेरे पातिव्रत्यका रक्षण कैसे होता होगा ? 'भर्ता रक्षति यौवने' वाला कर्त्तव्य तो मुझसे बना नहीं । अब क्या होगा, क्या करना चाहिए, यह मुझे क्यों नहीं बताती ? 'कार्येष्ठ मंत्री' यह भी तो तेरा अधिकार है । [ 'रूप सील'''में गी० ३. १० के 'उठी न सलिल लिये प्रेम प्रमुदित हिये प्रिया न पुलकि प्रिय

वचन कहे' का भाव है कि जब मैं बाहरसे आता था तब तुम आगे आकर मुझे लेती थीं, तुम्हारे रूपको देखकर मैं श्रमरहित हो जाता था, तुम मुझे देखकर प्रेमसे प्रमुदित हृदय होकर चरण धोती थीं, मधुर प्रिय वचन बोलती थीं, आज क्यों नहीं दर्शन देतीं, आज उस शील और व्रत नियम आदिका पालन क्यों नहीं करती हो ? आज क्यों छिपी हो ? क्या हमारे प्रेमकी परीक्षा तो नहीं ले रही हो ? इत्यादि ]।

नोट—४ वाल्मीकीयमें बहुत लिखा है कि किस प्रकार समझाया। वही यहाँ 'बहु भाँती' से जना दिया। वाल्मीकीयमें लक्ष्मणजीने समझाया है कि आप शोक न करें, मेरे साथ सीताजीको ढूँढें। वे वनमें गई होंगी या किसी तालाबपर होंगी, जहाँ कमल खिल रहे होंगे या नदीतटपर होंगी...। जहाँ जहाँ उनके होनेकी संभावना हो वह सब स्थान हम लोग ढूँढें। इत्यादि। ( ३।६१ श्लोक १४-१८ )। इस आए हुए दुःखको यदि आप न सहेंगे तो प्राकृत मनुष्य कैसे सह सकेंगे। आप धैर्य धारण करें। आपत्ति किसपर नहीं आती ? सभीपर आती है और फिर चली जाती है। यह प्रकृतिका स्वभाव है।....आप अपने पौरुषको विचारें और शत्रुके नाशका प्रयत्न करें। ( सर्ग ६६। ४-२० )। इसी तरह बराबर जहाँ तहाँ समझाया है। '...पातालमें भी रावण होगा तो भी वह अब जीता नहीं रह सकता। उसका पता लगाना उचित है, तब या तो वह श्रीसीताजीको ही देगा या अपने प्राण देगा। वह अपनी माताके गर्भमें भी यदि पुनः प्रवेश करके बचना चाहे तो भी वह मुझसे बच नहीं सकता...इत्यादि। यथा 'संस्तम्भ रामभद्रं ते मा शुचः पुरुषोत्तम। नेदृशानां मतिर्मंदा भवत्यकलुषात्मनाम्।११५। स्मृत्वा वियोगजं दुःखं त्यज स्नेहं प्रिये जने। अतिस्नेहपरिष्वङ्गाद्वर्तिरार्द्रापि दह्यते ॥११६॥ यदि गच्छति पातालं ततोऽभ्यधिकमेव वा। सर्वथा रावणस्तात न भविष्यति राघव ॥११७॥ प्रवृत्तिर्लभ्यतां तावत्तस्य पापस्य रक्षसः। ततो हास्यति वा सीतां निधनं वा गमिष्यति ॥११८॥ यदि याति दितेर्गर्भं रावणः सह सीतया। तत्राप्येनं हनिष्यामि न चेद्दास्यति मैथिलीम् ॥११६॥ स्वास्थ्यं भद्र भजस्वार्य त्यज्यतां कृपणा मतिः। अर्थो हि नष्टकार्यार्थैरयत्नेनाधिगम्यते ॥१२०॥ उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात्परं बलम्। सोत्साहस्य हि लोकेषु न किंचिदपि दुर्लभम् ॥१२१॥ उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु। उत्साहमात्रमाश्रित्य प्रतिलप्स्याम जानकीम् ॥१२२॥' ( वाल्मी० ४.१. )।

टिप्पणी—१ 'पूछत चले लता तरु पाती' इति। भाव कि—(क) निर्जन वन है, यहाँ और कौन है जिससे पूछते। यहाँ उन्माद संचारी भाव है। जड़-चेतनका खयाल नहीं रह गया। पुनः, (ख) अयोग्यसे पूछना दिखाया, इसीसे आगे 'बिलपत' पद दिया गया है।

नोट—५ (क) 'पूछत चले लता तरु पाती' इति। ये लतायें, वृक्ष, आदि वे हैं जो सीताजीको प्रिय थीं, जहां दंपति बैठा करते थे; यथा 'अस्ति कच्चित्त्वया दृष्टा सा कदम्बप्रिया प्रिया···अथवार्जुन शंस त्वं प्रियां तामर्जुनप्रियाम्।···कर्णिकारप्रियां साध्वीं शंस दृष्टा यदि प्रिया। वाल्मी० ३.६०.१२,१४,२०।'; अथवा, जिन वृक्षों आदिके किसी अंगमें श्रीजानकीजीके अंगका सादृश्य पाते थे, उनसे पूछते थे। इस तरह उनका बिल्व, आम्र, नीम, साल, कटहल, कुरर और अनार आदि वृक्षोंसे पूछना पाया जाता है। अथवा, (ख) श्रीजानकीजीके अंगोंकी उपमा द्वारा सुन्दरता कह कहकर वृक्षों आदिसे पूछते थे। यथा "हे वृक्षाः पर्वतस्था गिरिगहनलतावायुना वीज्यमाना, रामोऽहं व्याकुलात्मा दशरथतनयः शोकशुक्रेण दग्धः। बिम्बोष्ठी चारुनेत्री सुविपुलजघना बद्धनागेन्द्रकांची, हा सीता केन नीता ममहृदयगता को भवान् केन दृष्टा ।५.१०।", 'हे गोदावरि पुण्यवारिपुलिने सीता न दृष्टा त्वया, सा हर्तुं कमलानि चागतवती याता विनोदाय वा। इत्येवं प्रतिपादपं प्रतिनगं प्रत्यापगं प्रत्यगं, प्रत्येणं प्रतिबर्हिणं तत इतस्तां मैथिलीं याचते। हनु० ५।११।' अर्थात् हे पर्वतस्थित वायुद्वारा कंपित वृक्षो ! बिम्बोष्ठी, सुन्दर नेत्रों, पुष्ट जंघाओं, मुक्ताओंसे जटित करधनी धारण करनेवाली, मेरे हृदयमें बसी हुई सीताको कौन ले गया ? क्या तुममेंसे किसीने देखा है ? हे पुण्यसलिला गोदावरि ! क्या तुमने सीताको नहीं देखा ? क्या वह कहीं कमल लेनेको तो नहीं गई, अथवा तुम्हारे तट-पर कहीं खेलनेको गई है ? इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी प्रत्येक वृक्ष, प्रत्येक पत्थर, प्रत्येक नदी, प्रत्येक मृग और प्रत्येक मयूर आदिसे जानकीजीको पूछते हैं। ( ग ) 'पूछत चले' से जनाया कि वे पूछते हैं पर कोई

उत्तर नहीं देता । सादृश्य देखकर वे शोकके कारण उद्भ्रान्त हो जाते हैं। यथा 'क्वचिदुद्भ्रमते योगात्क्वचि-द्विभ्रमते बलात् ।३।६० ३६।' वाल्मीकिजी लिखते हैं कि बहुतसे प्राणियोंको मालूम था कि रावण हर ले गया पर उसके भयानक रूप और कर्मोंसे डरकर कोई कहता न था। ( सर्ग ६४ )।

प० प० प्र०—जब किसीने न बतलाया तब संक्रुद्ध हो विश्वका संहार करनेपर उद्यत देख लक्ष्मण-जीने समझाया। 'भावार्थ रामायण' में इसका विशेष विस्तार है। इसी समय सतीजी सीताजीके वेषमें आती हैं और लक्ष्मणजी कहते हैं कि देखिए वे तो आ गईं। आप क्यों विलाप करते हैं। भावार्थरामायण में इस प्रसंग पर बीसों संस्कृत रामायणोंका प्रमाण दिया गया है। अध्याय २० देखिए।

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनयनी ॥९॥
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना ॥१०॥
कुंदकली दाडिम दामिनी। कमल सरद ससि अहिभामिनी ॥११॥
बरुनपास मनोज-धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ॥१२॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं ॥१३॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू ॥१४॥

शब्दार्थ—'कपोत' उस कबूतरको कहते हैं कि जिसकी गर्दन सुन्दर होती है जिसे लक्का कबूतर कहते हैं। पास=पाश—पाशके अवयव सूक्ष्म लोहेके त्रिकोण होते हैं, परिधिपर सीसेकी गोलियाँ लगी होती हैं। युद्धके अतिरिक्त अपराधियोंको दंड देनेमें भी इसका व्यवहार होता है। यह वरुणका आयुध है। पाश प्रायः दस हाथका और गोल होता है और इसकी डोरी सूत, गून, मूँज, तांत, चर्म आदिकी होती है। फंदा।

अर्थ—हे पक्षियो! हे मृगो! हे भ्रमरोंकी पंक्ति! तुमने मृगनयनी सीताको देखा है? ॥ ९ ॥ खंजन, तोता, कबूतर, हरिण, मछली, भौंरोंका समूह, सुन्दर स्वरमें निपुण कोयल, कुन्दकली, अनार, बिजली, शरद्ऋतुके कमल और चन्द्रमा, नागिन, वरुणकी फाँसी वा फंदा, कामदेवका धनुष, हंस, गज, सिंह ये सब आज अपनी प्रशंसा सुन रहे हैं। अर्थात् तुम्हारे सामने ये लज्जित होते थे, इनसे कोई कवि तुम्हारे अंगकी उपमा ( उन्हें महातुच्छ जानकर ) नहीं देते थे। १०-१२। बेल, सुवर्ण, केला* सब प्रसन्न हो रहे हैं, जरा भी शङ्का और संकोच मनमें नहीं है ॥ १३ ॥ हे जानकी! सुनो! आज तेरे बिना सभी प्रसन्न हो रहे हैं, मानों राज्य पा गए हैं ॥ १४ ॥

नोट—१ "हे खग मृग'''तुम्ह देखी मृगनयनी" इति। ( क ) यहांतक वृक्षों, लताओं, पक्षियों, पशुओं, भ्रमरोंसे पूछना कहा। 'सीता मृगनयनी' से जनाया कि सीताजीके अंगोंकी उपमा दे-देकर प्रत्येकसे पूछते हैं जैसा ऊपर चौ० ७-८ के नोटमें लिखा गया है। 'खंजन सुक' से 'गज केहरि' तक गिनाकर 'निज सुनत प्रसंसा' कहनेसे सूचित हुआ कि खंजन शुक आदिकी उपमायें दे-देकर वृक्षों, लताओं, पशुओं, पक्षियों आदिसे जानकीजीका पता पूछते हैं, इसीसे आज सब अपनी प्रशंसा सुन रहे हैं, नहीं तो पहले उनकी निंदा किया करते थे; यथा 'सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेहकुमारी ।१.२३०.८।' इन उपमानोंसे इस समय किस-किस अंगकी शोभा कही गई है यह आगे नोट ३ में लिखा गया है।

(ख) 'खग मृग' से ही प्रारंभ करनेका भाव कि इन्हींसे आगे जानकीजीका समाचार मिलेगा। खगराज जटायु और वानर सुग्रीवके द्वारा श्रीजानकीजीका पता मिलेगा।

---

* प० प० प्र०—'कनक कदलि' को एक ही शब्द मानना ठीक होगा अन्यथा 'दामिनि' और 'कनक' एकार्थ शब्द होनेसे द्विरुक्ति होगी।

२ ☞ स्त्रियोंके जिन अंगोंकी उपमा कवि जिस वृक्ष, पक्षी, पशु और फल आदिसे दिया करते हैं, उनको वनमें मार्गमें चलते हुए देखनेसे श्रीसीताजीके उन अंगोंका स्मरण हो आता है, जिससे विरहका उद्दीपन होता है। श्रीरामजी नरनाट्य करते हुए प्राकृत मनुष्य-सरीखे उन्हें देखकर व्याकुल होते हैं। उन्हीं उपमानोंके नाम यहाँ कहकर उनसे उपमेयोंका बोध कराया है।

☞ पूज्य कवि बालकांडमें श्रीसीताजीकी शोभाके संबंधमें लिख आए हैं कि 'सिय सोभा नहिं जाइ बखानी। जगदंबिका रूपगुनखानी॥ उपमा सकल मोहि लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागीं॥ सीय बरनि तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई।१.२४७।' अर्थात् माताके अंगोंका वर्णन पुत्र कैसे कर सकता है? दूसरे, जितनी उपमायें हैं वे सब अत्यन्त लघु हैं और प्राकृत स्त्रियोंके लिये दी जा चुकी हैं, वे उपमाएँ उनमें लगकर जूठी हो गईं। तब उनकी शोभा क्योंकर वर्णन की जा सकती है?

☞ यहाँ कविने गुप्त रीतिसे अंगोंकी शोभाका वर्णन पतिके मुखसे करा दिया है। पतिको पत्नीकी शोभावर्णनका अधिकार है। अतः कविने जगत्पिताके मुखसे जगज्जननीके अंगोंकी शोभाका वर्णन गुप्त रीतिसे कर भी दिया है और साथ ही अपने वचनोंका निर्वाह भी 'सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥ किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं।' इन शब्दों द्वारा कर दिया है।

नोट—३ कवि प्रायः खंजन, हिरन और मीनकी उपमायें आँखोंके लिये दिया करते हैं, यथा "खंजन मंजु तिरीछे नयननि।१.११७", 'मनहु इंदु बिंब मध्य कंज मीन खंजन लखि मधुप मकर कीर आए तकि तकि निज गौहैं। गी० ७.४।', 'मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ।२.६३।', 'जहँ बिलोकि मृगसावकनयनी'। इसी तरह शुकतुण्डसे नासिकाकी, यथा "चारु चिबुक सुकतुंड बिनिंदक सुभग सुउन्नत नासा। गी० ७.१२।", 'चारु भ्रू नासिका सुभग सुक-आननी। गी० ७.५।'; कपोतसे कंठ, ग्रीवा वा गर्दनकी*, भ्रमरावलीसे काले बालोंकी, यथा "कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं।१-२४३।", "कुटिल केस जनु मधुप समाजा।१.१४७"; कोकिलसे मधुर स्वर वा वचनकी, यथा 'सकुचि सप्रेम बालमृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी।२.११७"; कुंदकली और अनारदानेसे दाँतोंकी पंक्तिकी, बिजलीसे दाँतोंकी कान्ति और मुस्कानकी, यथा 'बर-दंत की पंगति कुंदकली अधराधरपल्लव खोलन की। क० १.५।', "कुलिस कुंद कुडमल दामिनिद्युति दसननि देखि लजाई। वि० ६२।'; दामिनिसे वर्णकी, यथा 'दामिनि बरन लषन सुठि नीके।२.१५५।'; शरद् कमल और शरद्चंद्रसे मुख और नेत्रकी, यथा 'सरद सरबरीनाथ मुख सरद सरोरुह नयन।२.११६।', "नवकंज लोचन कंज मुख… वि० ४५।'; नागिनसे चोटी वा लटकी*, वरुणपाशसे कंठकी रेखाओंकी*, मनोजचापसे भृकुटिकी, यथा 'भृकुटि मनोजचाप छबिहारी।१.१४७।'; हंस और गजसे चालकी, यथा 'हंसगवनि तुम्ह नहिं बनजोगू।२.६३।', "चलीं मुदित परिछनि करन गजगामिनि बर नारि॥१।३१७", 'जनकसुता कै सुधि भामिनी। जानहि कहु करि बर गामिनी।४.३६।' सिंहसे कमरकी, यथा 'केहरि कटि पट पीतधर।१.२३३।' श्रीफलसे पयोधर की‡। कनकसे वर्णकी, यथा 'इन्ह ते लहि दुति मरकत सोने।२।११६।', 'मरकत कनक बरन बर जोरी।' और कदलीसे जंघाकी उपमा देते हैं, यथा 'जंघा जानु आनु कदलि उर कटि किंकिनि पट पीत सुहावन। गी० ७.१६।', 'गूढ़ गुलुफ जंघा कदली जति। गी० ७.१७।' ( पु० रा० कु० )।

नोट—४ ☞ किस उपमासे अंगका क्या साम्य दिखाया जाता है यह भी सुनिये। नेत्रोंकी चंचलता, सफ़ेदी और स्याहीकी रेखाके लिए खंजनकी, जलभरी, विशाल और उभरी हुईमें मृगकी और आँखके आकार और चमकमें मीनकी, आर्द्र, कोमलता और दीर्घ होनेमें कमलकी उपमा दी जाती है। दाँतोंकी सुन्दरता यह है कि वे सटे हुए हों, जड़ोंमें ललाई लिये हों, चमकदार हों, इस साम्यके लिए कुन्दकी कली, अनारदानेकी सटी मिली हुई पंक्ति और बिजलीकी कान्तिकी उपमा दी जाती है। कमलकी उपमा हाथ,

* इनके उदाहरण गोस्वामीजीके ग्रंथोंमें अन्यत्र नहीं मिले।
‡ इनके उदाहरण गोस्वामीजीके ग्रंथोंमें अन्यत्र नहीं मिले।

दंत, सब सखीके लिए प्रयुक्त होती है। दामिनीकी उपमा शरीरके वर्णसे भी दी जाती है, यथा 'स्याम सरोज जलद सुंदर वर दुलहिनि तड़ित बरन तनु गोरी। गी० १.१०३।' करुणासिंधुजी वरुणपाशको नेत्रोंके कटाक्ष एवं नागिनी और बैजनाथजी छूटे हुए बालोंकी उपमा कहते हैं। मंदहास्यके लिये भी कोई पाशकी उपमा देते हैं। स्त्रीकी हँसी मनुष्यके लिए फाँसी है। शेष साम्य नोट ३ के उदाहरणोंमेंसे स्पष्ट हो जाता है।

वर्मा—'नेकु न संक सकुच मन माहीं' इति। (क) शंका इस बातकी नहीं है कि श्रीजानकीजी फिर आवेंगी और संकोच नहीं कि हम श्रीसीताजीके अंगोंके सदृश नहीं हैं, अर्थात् अपनी न्यूनताका संकोच नहीं रह गया। तुम्हारे रहते सबकी निंदा होती थी, ये निंदा सुना करते थे, अब अपनी प्रशंसा सुनते हैं। यह सहेतुक है इसलिए संजल्प है। आगे जो 'प्रिया वेगि प्रगटसि०' यह वाक्य मुद्रा व्यंजित किया। यहाँ हेतुपूर्वक पूर्ण अभिधेय कहा अतएव संजल्प हुआ। (ख) पहलेके अर्थात् 'खंजन' से लेकर 'गज केहरि' तकके लिए कहा कि "सुनत प्रशंसा" और श्रीफल आदिके लिए कहा कि 'नेकु न संक०'। कारण कि ये अंग जिनके ये उपमान हैं सदा आवरणमें (ढके) रहते हैं और वे सब निरावरण हैं। अतएव यहाँ संकोच और शंक पद दिए। भाव कि इन उपमानोंको लज्जा वा शंका नहीं है। ये बाहर स्पष्ट देख पड़ते हैं। (पं०रा०कु०)।

नोट—५ श्रीहनुमन्नाटकके निम्न श्लोकोंसे इस चौपाईका भाव कि पहले ये सब शंका और संकोच मानते थे शीघ्र समझमें आ जायगा।

(१) 'अरण्यं सारङ्गैर्गिरिकुहरगर्भाश्च हरिभिर्दिशो दिङ्मातङ्गैः श्रितमपि वनं पंकजवनैः। प्रिया चक्षुर्मध्यस्तनवदनसौन्दर्यविजितैः सतां माने म्लाने मरणमथवा दूरसरणम्। २.२४।' अर्थात् हरिण तेरे नेत्रोंको अपने नेत्रोंसे अधिक सुन्दर जानकर लज्जित हो वनको चले गए, सिंह तेरी कमरको अपनी कमरसे विशेष सूक्ष्म जानकर लज्जासे पर्वतोंकी गुहाओंमें छिप गए, अपने गण्डस्थलोंसे तेरे स्तनोंको विशेष सुन्दर जानकर दिक्कुंजर लज्जित हो दिशाओंमें चले गए तथा कमलोंने तेरे मुखकी शोभाको देख लज्जासे जलका आश्रय ले लिया।

(२) 'वक्त्रं वनान्ते सरसीरुहाणि भृंगाक्षमाला जगृहुर्जपाय। एणीदृशस्तेऽप्यवलोक्य वेणीमङ्गं भुजङ्गाधिपतिर्जुगोप। २.२५।' अर्थात् तेरे मुखको देखकर लज्जासे जलमें बैठकर कमल भृंगाक्षमाला (भ्रमररूपी माला) को लेकर जप करने लगा (कि ईश्वराराधनसे मेरी शोभा जानकीके मुखके समान हो जाय) और तेरी वेणीको देखकर सर्पराजने (यह सोचकर कि तेरी वेणी अधिक कोमल और श्यामवर्णवाली है) अपने शरीरको पाताल अथवा केंचुलमें छिपा लिया।

(३) 'स्वर्णं सुवर्णं देहने स्वदेहं चिक्षेप कान्तिं तव दन्तपंक्तिम्। विलोक्य तूर्णं मणिबीजपूर्णं फलं विदीर्णं ननु दाडिमस्य। २.२६।' अर्थात् सुन्दर वर्णको देखकर सुवर्णने अपने देहको (यह सोचकर कि स्यात् बारंबार अग्निमें तपनेसे मेरा वर्ण अधिक निर्मल हो जाय अथवा लज्जासे) अग्निमें डाल दिया और तेरे दन्तपंक्तिकी कान्तिको देखकर मणियोंके समान बीजों (दानों) से युक्त अनार शीघ्र ही विदीर्ण हो गए।

(४) 'वदनममृतरश्मिं पश्य कान्ते तवोर्व्यामनिलतुलनदण्डेनास्य वाधौ विधाता। स्थितमतुलयदिन्दुः खेचरोऽभूल्लघुत्वात्क्षिपति च परिपूर्त्यै तस्य तारः किमेताः। २.२७', अर्थात् हे सुन्दर वर्णवाली! ब्रह्माने तेरे मुखको और अमृत-किरण-वाले चन्द्रमाको वायुरूपी तराजूमें तोला तो चन्द्रमा हलका होनेसे आकाशगामी हो गया तब उस कमीकी पूर्तिके लिए तारागणको भी पलड़ेमें रखा फिर भी तेरे मुखके तुल्य न हुआ।*

(५) 'इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन गलिता दृष्टिर्मृगीणामिव, प्रम्लानारुणमेव विद्रुमदलं श्यामेव हेमप्रभा। पारुष्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं, सीतायाः पुरतस्तु हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव। हनु० ५.६६। यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं, मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी। येऽपि त्वद्गमनानुकारिगतयस्ते राजहंसा गतास्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते। ६७।'; अर्थात्

* ये चारों श्लोक विवाहके बाद राज्याभिषेकके प्रसंगके पहलेके हैं।

(श्रीजानकीजीकी मनोहरताका स्मरण करके कहते हैं) तेरे सामने चंद्रमा मानों अंजनसे लिप्त हुएके समान हो गया, मृगियोंकी दृष्टि लज्जित हो गई, मूँगेकी लाली मलिन हो गई, स्वर्णकी कान्ति श्याम हो गई, शब्दके लेशमात्रसे कोकिलोंके कंठोंमें मानों कठोरता प्रकट हो गई और मोरोंके पिच्छ निन्दनीय हो गए ॥६६॥ तेरे नेत्रोंके समान जो नीला कमल था वह जलमें मग्न हो गया। तेरे मुखका अनुकरण करनेवाला चन्द्रमा बादलमें छिप गया और तेरी चालके अनुकारी राजहंस भी चले गए। मेरे दैवसे तेरे समान पदार्थोंका विनोदमात्र भी न सहा गया।

इन उपर्युक्त श्लोकोंमें हिरन, कोकिला, अनार, कमल, चन्द्रमा, सर्पिणी, गज, सिंह, और सुवर्ण इतने नाम आ गए। इसी प्रकार खंजन, शुक, कपोत, मीन, भ्रमरावली, दामिनी, वरुणपाश, कामधनुष, हंस, श्रीफल और कदली उपमानोंके भाव पाठक एवं कथावाचक लगा लें।

टिप्पणी—१ 'हरषे सकल पाइ जनु राजू' इति। ( क ) पहले श्रीफल, कनक और कदलि तीनका ही हर्ष कहा, अब सबका हर्ष कहते हैं। जब इनसे पूछा और ये न बोले तब श्रीरामजीने कहा—हे सीते! ये मानों राज्य-सा पा गए कि बोलते ही नहीं। आज प्रशंसारूपी ऐश्वर्य पाकर अहंकार हो गया—'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं।' ( ख ) 'आजू' का भाव कि यह प्रथम दिवसका विरह है। अतएव कहा कि आज राज पा गए, इसीसे 'बेगि' प्रकट होकर तुरत इनके राज्य पानेका हर्ष हरण कर लो, बहुत दिन इनका हर्ष न रहने दो, इनको जीतकर इनका राज्य ले लो। राजाको जीतने अथवा राज्य खाली होनेपर राज्यपर बैठ जानेसे राज्य मिलता है। वही यहाँ कह रहे हैं—"सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥" उपमान उपमेयका तावेदार ( किंकर ) है। आज उपमेयके न रहनेपर वह राज्य करने लगा, यह अनखकी बात है। इसीपर आगे कहते हैं—'किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं।

नोट—६ "हरषे सकल···" इति। भाव कि उपमेयसे सदा उपमान अपमानित होते थे, इससे कभी दृष्टिमें न आते थे, आज तेरे न रहनेपर सब विरह बढ़ानेके लिये सामने आ रहे हैं। तुम्हारे वैरियोंका हर्ष हमसे सहा नहीं जाता। मिलान कीजिये। यथा "मध्योऽयं हरिभिः स्मितं हिमरुचा नेत्रे कुरङ्गीगणैः, कान्तिश्चम्पककुड्मलैः कलरवो हा हा हृतः कोकिलैः। मातंगैर्गमनं कथं कथमहो हंसैर्विभज्याधुना, कान्तारे सकलैर्विनाश्य पशुवर्ल्लीतासि भो मैथिलि। हनु. ना. ५।३।" अर्थात् तेरी कमरको सिंहोंने, हास्यको चन्द्रमाने, नेत्रोंको मृगगणने, कान्तिको चम्पककी कलियोंने, मनोहर शब्दको कोकिलाने, चालको हाथियों और हंसोंने हर लिया। बड़े आश्चर्यकी बात है कि किसी न किसी प्रकारसे आज सबोंने इस वनमें तुमको बाँटकर ले लिया।

लाला भगवानदीन (दीनजी)—इन चौपाइयोंमें (६ से १३ तक) श्रीसीतामहारानीजीके अंगोंका वर्णन बड़े सुन्दर ढंगसे 'रूपकातिशयोक्ति अलंकार' द्वारा मर्यादासहित उनके पतिसे ही कराया है। यह शृङ्गारकी मर्यादा है। दूसरेको किसी स्त्रीके अङ्गोंका वर्णन करना शिष्ट मर्यादाके विरुद्ध है। यह 'वियोग शृङ्गार' का एक अंश है। ग्यारह अवस्थाओंमेंसे यह 'गुणकथन' अवस्था है।

रा० प्र० श०—केशवदासजीने कहा है—'चारि चतुष्पद चारि खग मूल चारि फल चारि। केशौ पूरो पुण्य है मिलै जो ऐसी नारि'॥

☞ जैसे श्रीजानकीजी श्रीरामजीके नाम, रूप, गुणका स्मरण करती रहीं, वैसे ही श्रीरामजीने भी उनका स्मरण किया। परस्पर मिलान—

| | |
|---|---|
| नाम—हा जग एक बीर रघुराया | हा गुनखानि जानकी सीता |
| गुण—आरति हरण शरण सुखदायक | रूप शील व्रत नेम पुनीता |
| रूप—जेहि बिधि कपट कुरंग··· | खंजन शुक कपोत··· |
| बिबिध बिलाप करति बैदेही— | एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी |

किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं । प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं ॥१५॥
एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी । मनहुँ महाबिरही अति कामी ॥१६॥
पूरनकामु राम सुखरासी । मनुज चरित कर अज अबिनासी ॥१७॥

शब्दार्थ—'अनख'=ईर्ष्या, अपमानजनित क्रोध ।

अर्थ—तुमसे अनख कैसे सहा जाता है ? हे प्रिये ! शीघ्र प्रगट क्यों नहीं होती हो ॥१५॥ इस प्रकार (नरनाट्यके) स्वामी ढूँढ़ते और विलाप करते हैं, मानों महाविरही और बड़े ही कामी हैं ॥१६॥ श्रीरामजी पूर्णकाम और आनन्दकी राशि, अजन्मा और विनाशरहित हैं, वे मनुष्यके-से चरित कर रहे हैं ॥१७॥

खर्रा—'किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं ।०' इति । भाव कि सहता तो वह है जो दबनेवाला हो, कमजोर हो, या बराबरका न हो । तुमसे कैसे सहा जाता है ? हमसे तो उनकी ईर्ष्या नहीं सही जाती । तुम 'सर्वसहा' पृथ्वीकी कन्या हो और हम चक्रवर्तीके राजकुमार हैं, अतएव तुम भले ही सह सकती हो, पर हम नहीं सह सकते । पुनः, भाव कि तुम्हारे न रहनेसे सब प्रसन्न हैं । तुमसे सभी ईर्ष्या करनेवाले हैं, तब तुम क्यों नहीं ईर्ष्या करके प्रकट हो जाती हो । जो कम होता है, वह छिप बैठता है, यथा 'दरस लालसा सकुच न थोरी । प्रगटत दुरत बहोरि बहोरी' । तुम तो कम नहीं हो तब तुम क्यों छिपी बैठी हो । गुलाम ताबेदार राज्य खाली पाकर उसपर बैठ गया है, यह अनखकी बात है जो सहने योग्य नहीं है ।

टिप्पणी—१ 'एहि बिधि खोजत बिलपत स्वामी' इति । (क) 'पूछत चले लता तरु पाती ॥ हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी । तुम्ह देखी सीता मृगनयनी ।' एहि बिधि 'खोजत' और 'हा गुनखानि जानकी सीता' से 'प्रिया बेगि प्रगटसि कस नाहीं' तक "एहि बिधि बिलपत" प्रसंग है । (ख) "स्वामी"—वक्ता कहते हैं कि जो यह चरित कर रहे हैं वे हम सबके और चराचरमात्रके स्वामी हैं; यथा 'सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी । रघुबर सब उर अंतरजामी । १.११६.२ ।' [ पुनः, 'स्वामी' से जनाया कि ये मन और इन्द्रियोंके स्वामी हैं । मन और इन्द्रियां इनके वशमें हैं तथापि 'मनुज चरित कर अज अबिनासी ।' (प० प० प्र०) ] (ग) 'मनहुँ महा बिरही अतिकामी' अर्थात् ब्रह्माण्डमें जितने विरही और कामी हैं मानों उन सबोंसे ये बढ़-चढ़कर अधिक विरही और कामी हैं ।

२ 'पूरन कामु राम सुखरासी ।०' इति । (क) मनुष्योंके-से चरित करते हैं । मनुष्य जन्मते मरते हैं, पर ये जन्ममरणरहित हैं, इनका आदि अन्त नहीं; यथा 'आदि अंत कोउ जासु न पावा । मति अनुमान निगम अस गावा ॥ १.११८.४ ।' (ख) 'पूर्णकाम' हैं, इनकी सब कामनाएँ पूर्ण हैं, कोई कामना नहीं है तब वियोग और स्त्रीके लिए विलाप कैसे सिद्ध हो सकता है ? आनन्दराशि हैं, उनको दुःखका लेश नहीं, तब विरहसे दुःखी कैसे कहे जा सकते हैं ? [ इन सब विशेषणोंके भाव बालकांड सती और शिव चरित दोहा ४९ से ५१ तकमें आ चुके हैं । प्रारंभमें जैसे कहा है कि 'बाहिज चिंता कीन्हि बिसेषी ।३०.१।' वैसे ही यहाँ 'मनहुँ महा बिरही अति कामी' कहकर जनाते हैं कि यह सब केवल नरनाट्य है, यही आगे कवि स्वयं कहते भी हैं ]

## "पुनि प्रभु गीधक्रिया जिमि कीन्ही"—प्रकरण

आगे परा गीधपति देखा । सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा ॥१८॥
दोहा—कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर ।
निरखि राम छबिधाम मुख बिगत भई सब पीर ॥३०॥

अर्थ—गृध्रराजको आगे पड़ा हुआ देखा । वह श्रीरामजीका स्मरण करता था जिनके चरणोंमें ( वा,

रामजीके चरणोंका स्मरण करता था कि जिनमें ) चिह्न हैं ॥१८॥ कृपासिंधु रघुवीरजीने अपना कर कमल उसके सिरपर फेरा । शोभाधाम श्रीरामजीका छविपूर्ण मुख देखकर उसकी सब पीड़ा दूर हो गई ॥२०॥

नोट—१ रा० प० में 'चिन्ह रेखा' पाठ है, पर काशिराजकी प्रतिमें 'जिन्ह' है और यही अन्य प्राचीन पोथियोंका पाठ है । पं० रामकुमारजीके दो खर्रोंमें दो तरहके अर्थ इसके मिले । (१) जिन रामजीकी चरण रेखाओंका गीधराज स्मरण कर रहा था उनने गीधराजको आगे पड़ा हुआ देखा । (२) जिन रामजी की चरण रेखाओंका स्मरण कर रहा था उन रामजीने कर कमल सिरपर फेरा । अर्थात् इस चरणको दीपदेहली न्यायसे 'आगे परा गीधपति देखा' और अगले दोहे दोनोंमें लगाकर अर्थ किया है । श्रीमान् गौड़जीकी राय है कि—'अन्तिम चतुष्पदीका तीसरा चरण अन्वय करनेमें दीपदेहरीन्यायसे दो बार यों पढ़ा जाना चाहिये—'पूरनकामु राम सुखरासी । मनुज चरित कर अज अविनासी ॥ आगे परा गीधपति देखा । सुमिरत रामचरनजिन्ह रेखा ।' इस चौपाईका अन्वय यों होगा—'पूरनकाम, सुखरासी, अज, अविनासी राम (ने) मनुज चरित कर (के) आगे गीधपति परा देखा । गीधपति देखा (कि) आगे (सोइ) रामचरन परा, जिन्ह (की) रेखा सुमिरत (है) ।' भाव यह कि 'भगवान्ने मनुजचरित किया कि विरहीकी तरह पूछते फिरे । यह लीला करके कुछ बढ़े तो आगे जटायुको पड़ा देखा । पड़े पड़े जटायुने भी देखा कि जिनकी रेखाओंका स्मरण कर रहा हूँ वही चरणारविन्द मेरे सामने आ पड़ा है । गीधराज कराह रहा था । मरणासन्न था, उठकर चरण छूनेकी ताव न थी । चरणोंको केवल देख भर सका । इतनेमें भगवान्ने उसे अपने कर-कमलोंसे उठाया ।' दीनजीका अर्थ ऊपर कोष्टकवाला है । वीरकविजी और बाबू श० सु० दास-जीने "जिन्ह" का अर्थ "जो" किया है पर ऐसा प्रयोग कहीं मुझे नहीं मिला । और कई टीकाकारोंने तो अर्थमें अड़चन पड़ते देखकर 'चिन्ह' पाठ कर दिया है, पर चिन्ह और रेखा एक ही बात हैं ।

२ 'सुमिरत रामचरन···' इति । (क) 'सुमिरत' क्योंकि घायल होनेसे पीड़ाके कारण आँखें बंद हैं, इससे जो चरणचिह्न देखे थे उनका मनमें स्मरण कर रहे हैं । (प्र०) । जटायु एक अत्यन्त ऊँचे वृक्षपर रहते थे । गृध्रकी दृष्टि 'अपार' होती ही है । इससे उन्हें श्रीरामजीके चरणचिह्नोंका दर्शन बराबर उस वनमें हुआ करता था । अतः वे उन चिह्नों सहित भगवान्के चरणोंका ध्यान किया करते थे । मानसकारने प्रायः पाँच ही चिह्नोंका उल्लेख किया है, यथा 'रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे । १.१९९.३', 'ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे ।७.१३ छंद ।' रेखासे 'ऊर्ध्वरेखा' को भी ले सकते हैं । यह चिह्न मध्य एँड़ीसे लेकर अंगुष्ठमूलतक गया है । भवसागर तरनेके लिए इसका ध्यान सेतुका काम देता है । ( प० प० प्र० ) । इस समय गृध्रराजके प्राण कंठगत हो रहे हैं, प्राण निकलने ही चाहते हैं, इसीसे चरणचिह्नोंका ध्यान और स्मरण कर रहे हैं । बोलनेकी शक्ति नहीं है । साथ ही प्रभुके दर्शनकी लालसा हृदयमें है जैसा आगे उनने स्वयं कहा है; यथा 'दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना । चलन चहत अब कृपानिधाना ।' विशेष ३१ (४) में देखिए ।

नोट—३ "चरन जिन्ह रेखा" से यह भी जनाया कि सगुण ब्रह्मरामका स्मरण करते हैं, निराकारका स्मरण नहीं करते, निराकारके चरण कहाँ ? ☞ यह बात स्मरण रखने-योग्य है कि श्रीसीताराम युगल सर-कारके प्रत्येक चरणकमलमें २४,२४ चिह्न हैं । इतने चिह्न भगवान्के किसी और अवतार वा स्वरूपमें नहीं हैं ।

वे ४८ श्रीचरणचिह्न ये हैं—'ध्यावहीं मुनीन्द्र सियपदकंज चिह्नराज संतन सहायक सुमंगल संदोहहीं । ऊर्ध्वरेखा१ स्वस्तिक२ अरु अष्टकोण३ लक्ष्मी४ हल५ मूसल६ शेष७ सर जन-जिय जोहहीं ॥१॥ अंबर९ कमल१० रथ११ वज्र१२ यव१३ कल्पतरु१४ अंकुश१५ ध्वजा१६ मुकुट१७ मुनि मन मोहहीं । चक्र१८ सिंहासन१९ अरु यमदंड२० चामर२१ यों छत्र२२ नर२३ जयमाल२४ वामपद सोहहीं ॥२॥ सरयू२५ दक्षिण-पद गोपद२६ महि२७ कलश२८ पताका२९ जंबूफल३० अर्धचन्द्र३१ राजहीं । शङ्ख३२ षट्कोण३३ त्रिकोण३४ गदा३५ जीव३६ बिन्दु३७ शक्ति३८ सुधाकुण्ड३९ त्रिवली४० सुध्यान काजहीं ॥३॥ मीन४१ पूर्णचन्द्र४२

नौका४३ वंशी४४ औ धनुष४५ तृण४६ हंस४७ चंद्रिका४८ विचित्र चौवीस विराजहीं। एते चिन्ह जनक-किशोरी पद-पंकजमें 'तपसी' मंगलमूल सब सुख साजहीं'। इनका वर्णन महारामायणमें विस्तारसे है। जो चिन्ह रघुनाथजीके दक्षिणपदमें हैं वही श्रीसीताजीके वामपदमें हैं और जो श्रीरामजीके बाएँ चरणकमलमें हैं वे ही श्रीजानकीजीके दक्षिणपदकंजमें हैं। भगवद्भक्तोंको इनका वा इनमेंसे अपनी कामनाके अनुकूल दो चार छः का नित्य स्मरण बहुत लाभदायक होता है। बालकांडमें महारामायणके कुछ उद्धरण दिये गए हैं। विशेष व्याख्या श्री १०८ सीतारामशरण भगवानप्रसाद रूपकलाजीकृत नाभाजीके भक्तमालकी टीका एवं लालाभगवान् दीनजीके 'श्रीरामचरणचिह्न' में है।

४—गीतावलीमें लिखा है कि प्रभु कुछ आगे बढ़ गए थे। उसके नाम रटनेका शब्द सुनकर लौट पड़े और उसको देखकर प्रियाका विरह भूल गए। यथा 'रटनि अकनि पहिचानि गीध फिरे करुनामय रघुराई। तुलसी रामहिं प्रिया बिसरि गई सुमिरि सनेह सगाई ॥३.११।' हनु० ४.१२ में भी उसका राम नाम जपना कहा है। यथा 'राम राम रामेति मन्त्रमनिशं निगदन्मुमुक्षुः।' अर्थात् मोक्षकी इच्छासे वह राम राम राम इस मंत्रको जप रहा था।

टिप्पणी—१ (क) 'करसरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर' यह करकमलका स्पर्श तो श्रीरामजीकी ओरसे हुआ; यथा 'परसा सीस सरोरुह पानी ।४.२३.१०'; 'प्रभु कर पंकज कपि के सीसा ।५.३३।', 'कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ ।७.८३.४।' और "कबहुँ सो कर सरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे"। और उत्तरार्द्धमें 'निरखि राम···' अर्थात् उनका दर्शन करना यह भक्तकी ओरसे कहा। दोनोंके अन्तमें 'बिगत भई सब पीर' यह पद दिया। तात्पर्य कि चाहे श्रीरामजी अपने करसरोजका स्पर्श करें और चाहे उनका दर्शन हो, भक्तकी तो दोनों तरहसे समस्त पीड़ा जाती रहती है। यथा 'कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पीरा ।४.८.६।', 'सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति ताप पाप माया। निसि बासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया। वि० १३८।', 'बालि सीस परसेउ निज पानी। अचल करौं तनु···॥ मम लोचन गोचर सोइ आवा। ···बालि कीन्ह तनु त्याग। सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग ।४.१०।' [(ख) 'बिगत भई सब पीर', यह सब पीर रावण द्वारा पहुँचे हुए घावोंकी है जो दूर हुई। परन्तु जानकीजीका दुःख हृदयमें करक ही रहा है, वह दुःख नहीं गया, इसीसे आगे करुणारसपूरित वचन कहे हैं 'लै दच्छिन दिसि गएउ गुसाईं। बिलपत अति कुररी की नाईं'। (मयूख)] (ग) 'सब पीर' अर्थात् काल, कर्म, गुण, स्वभाव और मायाकृत जितनी पीड़ाएँ हैं; यथा "काल कर्म गुन सुभाव सबके सीस तपत" (विनय), 'फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा ।७।४४।', शरीरकी ये सब पीड़ाएँ मिट गईं। (घ) 'यहाँ करका सरोजसे रूपक दिया या यों कहिये कि करके साथ "सरोज" पद दिया और कई स्थलोंमें बिना इस विशेषणके केवल 'कर' या 'पानी' कहा। यहाँ 'सरोज' विशेषण देकर जनाया कि भक्त जानकर कृपा की है। जहाँ व्यवहार या युद्ध आदिका प्रसंग होता है, वहाँ कोई विशेषण नहीं देते। यथा "कर परसा सुग्रीव सरीरा" और 'बालि सीस परसेउ निज पानी', इसने कठोर वचन कहे थे और शरणागतको मारा था। (ङ) कर स्पर्श करते ही जटायुने नेत्र खोल दिये, दर्शन किया और स्वयं समाचार कहे।

नोट—५ वाल्मी० तथा अध्यात्म आदि रामायणोंमें श्रीरामजीके मनमें गृध्रराजको देखकर बहुत शंका हुई है और फिर जटायुसे उन्होंने प्रश्न भी किये हैं, पर यहां वैसी कोई बात नहीं है। यहां तो वे आते ही और गीधराजको देखते ही उसके शिरपर अपना कर-कमल फेरते हैं। अ० रा० में भी करका स्पर्श किया है, पर गीधराजके कहनेपर कि आपकी भार्याकी रक्षा करनेमें रावणद्वारा घायल हुआ हूँ, आप मेरी ओर देखिये, यथा 'तच्छ्रुत्वा राघवो दीनं कण्ठप्राणं ददर्श ह। हस्ताभ्यां संस्पृशन् रामो दुःखाश्रुवृतलोचनः। ।३।८।३०।"; वहां 'निरखि राम छबि धाम...' वाली बात नहीं है। अ० रा० के राम सीताजीकी सुध पानेके लिए उतावले हो रहे हैं और मानसके राम अपना सब शोक भक्तके कष्टको देखकर भूल जाते हैं। उसके

दुःख दूर करनेकी ही चिन्ता उन्हें होती है और वे भक्तका कष्ट दूर करनेको अपना कर कमल बढ़ाते हैं। भक्तवत्सल श्रीरामजीकी जय ! जय !! जय !!!

प० प० प्र०—(क) श्रीरामजीके करसरोजने जो 'ससिहि भूप अहि लोभ अमी के' (१.३२५।६) द्वारा अमृत प्राप्त किया था उसीसे आज गृध्रराजकी पीड़ा दूर की। उन्होंने गृध्रराजसे कुछ पूछ ताँछ न की। यह सब भगवान्‌की अतुल 'भगतबछलता हिय हुलसानी' का ही प्रदर्शक है। सीता-विरह-विलाप-शोक सब भाग गया। माधुर्यलीला दब गई, ऐश्वर्य-भाव प्रबल हो उठा। (ख) 'आगें परा गीधपति देखा' इस प्रसंगमें जठायु चंद्रमा हैं और भगवान्‌के नेत्र चकोर हैं, वे अनिमिष नेत्रोंसे कृपामय दृष्टिसे देख रहे हैं। अवाक् हो गए हैं। (ग) 'करसरोज''पीर'—इससे यह उपदेश मिलता है कि ऐसी दशामें मुमूर्षुसे कुछ पूछना न चाहिए, शान्त रहकर उसके कष्ट निवारणका प्रयत्न करना चाहिए। (घ) 'कृपासिंधु' से जनाया कि उसपर अगाध कृपा की। 'रघुवीर' शब्दसे यहाँ पाँचों वीरताओंकी प्रतीति कराई। 'कृपासिंधु' से दयावीरत्व, 'बिगत भई सब पीर' से पराक्रम, 'सुमिरत राम...' इसके जाननेसे विद्या, स्वरूप देनेसे दान और क्रिया कर्म करनेसे धर्मवीरता प्रकट हुई।

**तब कह गीध बचन धरि धीरा। सुनहु राम भंजन भव भीरा॥१॥**
**नाथ दसानन यह गति कीन्ही। तेहि खल जनकसुता हरि लीन्ही॥२॥**
**लै दच्छिन दिसि गएउ गोसाईं। बिलपति अति कुररी की नाईं॥३॥**

शब्दार्थ—'कुररी' = टिटिहरी। (श० सा०)। पानीके किनारे रहनेवाली एक छोटी चिड़िया जिसका सिर लाल, गरदन सफ़ेद, पर चितकबरे, पीठ खैरे रंगकी, दुम मिले-जुले रङ्गोंकी और चोंच काली होती है। इसकी बोली कड़वी होती है और सुननेमें टीं-टींकी ध्वनिके समान जान पड़ती है। (श० सा०)। इसको 'कुराकुल' भी कहते हैं।

अर्थ—तब धीरज धरकर गृध्रराज बोले—हे भवभयभंजन राम ! सुनिए॥१॥ हे नाथ ! दशमुखवाले रावणने मेरी यह दशा की है। उसी दुष्टने जानकीजीको हर लिया॥२॥ हे गोसाईं ! वह उन्हें दक्षिण दिशा को ले गया। जानकीजी कुररी पक्षीकी तरह अत्यन्त विलाप कर रही थीं॥३॥

टिप्पणी—१ 'तब कह गीध बचन धरि धीरा' इति। प्रभुके मुखारविन्दकी छवि ही ऐसी है कि देख कर सुध-बुध जाती रहती है, यहाँ भी वैसा ही हुआ। 'निरखि रामछबि' धीरज न रह गया, अतः "कह धरि धीरा" कहा। यथा 'केहरि कटि पटपीतधर सुखमा-सील-निधान। देखि भानुकुल-भूपनहि बिसरा सखिन्ह अपान।१.२३३। धरि धीरजु एक आलि सयानी।', 'मंजु मधुर मूरति उर आनी। भई सनेह सिथिल सब रानी॥ पुनि धीरज धरि कुअँरि हँकारी।१.३३७.५-६।', 'राम लषन उर कर बर चीठी। रहि गए कहत न खाटी मीठी॥ पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची।१.२९०.५-६।', 'पुलकित तनु मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥ पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही।४.२.६-७।' (ख) 'सुनहु राम भंजन भवभीरा।' इति। मुखारविन्दके दर्शनसे भवका नाश होता है, यथा 'देखि बदन पंकज भवमोचन।१०.९।' इसीसे दर्शन होने पर प्रथम ही 'भंजन भवभीरा' विशेषण दिया।

नोट—१ (क) 'सुनहु राम' इति। जटायुकी दशा देखकर श्रीरामजी अधीर हो गए थे। वे सोचते हैं कि ये मेरे पिताके मित्र हैं, आज मेरे ही कारण ये मारे जाकर जमीनपर पड़े हैं, यथा 'द्विगुणीकृततापार्तो रामो धीरतरोऽपि सन्।२२।'''अयं पितुर्वयस्यो मे गृध्रराजो महाबलः। शेते विनिहतो भूमौ मम भाग्यविपर्ययात्। वाल्मी० ३।६७।२७।', अतः जटायु कहते हैं—'सुनहु राम'। (ख) श्रीरामजीने इतनी देरतक कुछ न पूछा; इसका कारण है कि 'करुनामय रघुबीर गोसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराई'। वे इनकी दशा देखते ही इतने व्यथित हो गए कि तटस्थ हो गए। यह क्या हो गया ! कुछ पूछना असंभव हो गया। इस भाव-समाधिसे जगानेके

लिए जटायुको 'सुनहु राम' ऐसा कहना पड़ा। (प० प० प्र०)। (ग) 'भंजन भव भीरा'—भाव कि मेरी इतनी ही इच्छा है कि अब मैं पुनः भवमें न पड़ूँ।

टिप्पणी—२ 'नाथ दसानन यह गति कीन्ही०' इति। यहाँ पहले कहा कि रावणने मेरी यह दशा की, पीछे कहा कि सीताहरण किया। इस क्रमसे कहनेका तात्पर्य्य यह है कि मेरे जीतेजी (सामर्थ्य रहते भर) वह सीताजीको न ले जा सका; यथा 'राम काज खगराज आज लर्‌यो जियत न जानकि त्यागी। तुलसिदास सुर सिद्ध सराहत धन्य विहँग बड़भागी। गी० ३.८।'

३ देखिए 'यह गति कीन्ही' के साथ 'दशानन' कहा और 'जनकसुता हरि लीन्ही' के प्रसंगसे उसे 'खल' कहा, तात्पर्य कि मुझे अपनी इस गतिका इतना दुःख नहीं है जितना जानकीजीके हरणका है। भक्त लोग अपनेको दुःख देनेवालेको गाली या अपशब्द नहीं कहते, दूसरेको दुःख देनेपर भले ही उसको बुरा कहें। परस्त्रीहरण करनेसे उसे जटायुने 'खल' कहा। (पं० रा० व० श०)। पुनः दशाननसे जनाया कि वह बड़ा वीर है, उसके दश सिर और बीस भुजाएँ हैं, इसीसे मुझे उसने परास्त कर दिया।

प० प० प्र०—(क) वाल्मीकीय आदिके जटायुने, रावणसे उसने कैसा युद्ध किया यह सब, अपने मुखसे कहा है। मानसमें आदर्श भक्त सेवक जटायुका चरित्र है। सेवक जानता है कि उससे जो कुछ भी होता है, वह सब प्रभु ही करते कराते हैं। इसी तरह हनुमान्‌जीने भी अपनी करनी अपने मुखसे नहीं कही, जाम्बवान्‌जीने कही और जब प्रभुके पूछनेपर कुछ कहा भी तब 'विगत अभिमाना' कहा। (ख) 'गति कीन्ही' अर्थात् मेरा सब परिश्रम निष्फल हो गया। क्योंकि 'वर प्रसाद सो मरइ न मारा'। (ग) भावार्थ रामायण पृ० ७६ में जो कहा है वह सब भाव 'खल' में है।

टिप्पणी—४ 'लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं।०' इति। (क) 'गोसाईं' अर्थात् आप पृथ्वी भरके स्वामी हैं, आपसे बचकर वह कहाँ जा सकता है? जहाँ ले गया है वह आप जानते ही हैं। ['गोसाईं'—यह तीसरी बारका संबोधन है। अब भी श्रीरामजी तटस्थ हैं। (प० प० प्र०)। 'दच्छिन दिसि...' ऐसा ही अ० रा० में कहा है, यथा "आदाय मैथिलीं सीतां दक्षिणाभिमुखो ययौ ३।८।३३।"]। सीताजीने विलाप करते हुए कहा था 'बिपति मोरि को प्रभुहि सुनावा', सो यहाँ गृध्रराज सुना रहे हैं कि 'बिलपति०'। (ग) 'बिलपत अति कुररीकी नाईं' इति। जटायु स्वयं पक्षी है, अतः उसने पक्षीकी उपमा दी। पुनः, कुररी आकाशमें शब्द करती जाती है, वैसे ही जानकीजीको रावण आकाश मार्गसे ले गया, आकाशमें ही उनका विलाप हो रहा था, मानों कुररी विलाप कर रही हो।

दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना। चलन चहत अब कृपानिधाना॥४॥
राम कहा तनु राखहु ताता। मुख मुसुकाइ कही तेहि बाता॥५॥

अर्थ—प्रभो! आपके दर्शनोंके लिए प्राण बनाए रखे थे। हे कृपानिधान! अब वे चलना चाहते हैं॥४॥ श्रीरामचन्द्रजी बोले—हे तात! शरीर रखिए। तब उसने मुखसे मुस्कुराकर यह बात कही॥५॥

टिप्पणी—१ [(क) 'प्रभु' का भाव कि आप समर्थ हैं, रावणका वध करके जानकीजीको शीघ्र ले आयेंगे, तथा आप मेरे जीकी भी जानते हैं; यथा 'प्रभु जानत सब बिनहिं जनाए।१.१६२।'] (ख) 'राखेउँ प्राना'—भीष्मपितामहने उत्तरायण दक्षिणायन सूर्य्यके भेदसे प्राण रोक रखे थे। वैसे ही इन्होंने प्रभुके दर्शनार्थ प्राण रोके। दर्शन हो गया, अतएव अब प्राण छूटने चाहता है। 'कृपानिधाना' का भाव कि जिस लिए मैं प्राण रोके रहा वह आपने कृपा करके पूरा कर दिया; मुझे दर्शन दे दिये। (ग) गृध्रराजकी दो लालसाएँ थीं, इसीसे वे पछताते थे कि शरीर छूटने चाहता है, मैं प्रभुका दर्शन न कर पाया और न सीताकी सुध दे सका। इन दोनों अभिलाषाओंकी पूर्ति प्रभुने कर दी; यथा 'मरत न मैं रघुबीर बिलोके तापस बेष बनाये। चाहत चलन प्रान पाँवर बिनु सिय सुधि प्रभुहि सुनाये॥ बार बार कर मीजि सीस धुनि गीधराज पछिताई। तुलसी प्रभु कृपाल तेहि अवसर आइ गये दोउ भाई...गी०३.१२।', अतः 'कृपानिधाना' कहा।

नोट—१ गीतावलीके पूरे पदका भाव श्रीहनुमन्नाटकमें है—'न मैत्री निर्व्यूढा दशरथनृपे राज्यविषया न वैदेहीत्राता हठहरणतो राक्षसपतेः। न रामस्यास्येन्दुर्नयनविषयो ऽभूत्सुकृतिनोजटायोर्जन्मेदं वितथमभवद्भाग्यरहितम् ॥१३॥' (अंक ४)। अर्थात् राज्यके विषयरूप राजा दशरथकी मित्रताका ही मुझसे निर्वाह न तो किया गया और न राक्षसपति रावणसे जानकीजीकी रक्षा ही की गई तथा न सुकृती श्रीरामचंद्रके मुखचन्द्रका दर्शन ही हुआ, इसलिये मुझ भाग्यहीनका जन्म ही व्यर्थ हुआ। गी० २११ के प्रथम चरण ये हैं—'मेरे एकौ हाथ न लागी। गयो बपु बीति बादि कानन ज्यों कलपलता दव लागी ॥१॥ दसरथ सों न प्रेम प्रतिपाल्यो हुतो जो सकल जग साखी। बरबस हरत निसाचरपति सों हठि न जानकी राखी ॥२॥...।'

टिप्पणी—२ "राम कहा तनु राखहु ताता..." इति। 'तात' सम्बोधन करके गीतावलीके पदका अभिप्राय यहाँ सूचित किया। अर्थात् हमारे पिता नहीं हैं, आपने हमें पिताका सुख दिया, आपके पुत्र नहीं है तो हम आपको पुत्रका सुख देंगे। यथा 'मेरे जान तात कछू दिन जीजै। देखिये आप सुवन-सेवा सुख मोहि पितुको सुख दीजै ।३।१५।' [ बालिसे भी प्रभुने यही कहा है; यथा 'अचल करौं तन राखहु प्राना'। वही भाव यहाँ भी है पर 'अचल करौं', मैं आपके शरीरको अचल किये देता हूँ यह कैसे कहते, क्योंकि वे जटायुको पिताके समान मानते हैं, यह मर्यादापालनकी दक्षता है। प्रभुके वचनोंमें जटायु, गीध, पक्षि आदि शब्द एक बार भी नहीं आया, "तात" शब्द चार बार आया है। बालिको एक बार भी 'तात' संबोधन नहीं किया है। ( प० प० प्र० ) ]

टिप्पणी—३ ( क ) 'मुख मुसुकाइ' यहाँसे 'राखउँ नाथ देह केहि खाँगे' तक यह जनाते हैं कि मेरे मरणके समान चारों पदार्थ नहीं हैं। अर्थ, धर्म और कामसे बढ़कर मोक्ष है सो तुम्हारे नामसे मिलती है, जिनके नामसे मुक्ति मिलती है वही आप मेरे सामने प्रत्यक्ष खड़े हैं। यथा 'बोलेउ बिहग बिहसि रघुबर बलि कहौं सुभाय पतीजै। मेरे मरिबे सम न चारि फल, होहिं तौ क्यों न कहीजै। गी० ३.१५।' [ ( ख ) 'मुसुकाने' का भाव कि आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं ? (प्र०)। अथवा, 'मुसुकाये' प्रभुका भक्तवात्सल्य, कृतज्ञता और नम्रता देखकर अथवा यह जानकर कि प्रभु अपना ऐश्वर्य छिपा रहे हैं। जिस पितृभावसे श्रीरामजी 'तात' 'तात' संबोधन करते हैं, उस भावमें परीक्षा लेनेकी बुद्धि हो ही नहीं सकती। (प० प० प्र०) ]

**जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुकुत होइ श्रुति गावा ॥६॥**
**सो मम लोचन गोचर आगे। राखौं देह नाथ केहि खाँगे ॥७॥**

शब्दार्थ—'खाँगे' = कमी, घटी, कसर, टोटा।

अर्थ—जिसका नाम मरते समय मुखपर आनेसे अधमकी भी मुक्ति हो जाती है—ऐसा वेद कहते हैं वही मेरे नेत्रोंका विषय होकर मेरे आगे प्राप्त है। ( तो ) हे नाथ ! अब क्या बाक़ी रहा ? किस कमीके लिए शरीर बनाए रखूँ ? ॥६-७॥

टिप्पणी—१ ( क ) 'मुख आवा' अर्थात् मरण समय मुखसे नाम निकलना दुर्लभ है। यथा 'जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं'—( बालिः )। 'अधमौ मुकुत होइ...', यथा 'अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ ॥ १.२६.७।', [ पुनः यथा 'निभृत मरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।' ( श्रुतिगीत भा० १०।८७।२३ ), 'अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यःप्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः। गीता ८.५।', 'राम राम कहि तन तजहिं पावहिं पद निर्वान। २०।' प० प० प्र०। ] ( ख ) "गोचर आगे" इति। गोचरसे तो आगेका अर्थ हो गया, फिर आगे क्या ? भाव कि गोचर तो दृष्टिकी पहुँचमें कहीं भी होनेसे कह सकते हैं पर आप अत्यन्त निकट प्राप्त हैं। (खर्रा)। (ग) 'राखौं देह नाथ केहि खाँगे' अर्थात् इस देहसे ईश्वरकी प्राप्ति हो गई. अब और किस पदार्थकी प्राप्ति बाक़ी रही जिसके लिये शरीर बनाये रखूँ। भाव यह कि अब कोई भी वस्तु हमको अपेक्षित नहीं।

[ इससे जनाया कि जटायुके हृदयमें देहका लोभ, देहासक्ति, किंचित् भी नहीं थी और न अन्य कोई कामना ही थी, यह 'तुम्ह पूरनकामा' इस मुखवचनसे भी सिद्ध है। वालि-प्रसंगके मिलानसे स्पष्ट हो जायगा कि वालि पूर्णकाम नहीं था। मरते समय प्रभुके प्रत्यक्ष नयनगोचर होनेपर भी जीनेकी इच्छावालोंके लिये वालिके वचन ये हैं—'अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु वारि करिहि बबूरही।' (प० प० प्र०) ]

नोट—१ ☞ गी० ३।१३ से मिलान करें—'राघौ गीध गोद करि लीन्हो। नयनसरोज सनेह सलिल सुचि मनहुँ अरघजल दीन्हो ॥१॥ सुनहु लषन खगपतिहि मिले वन मैं पितु मरन न जान्यौ। सहि न सक्यो सो कठिन विधाता बड़ो पछु आजुहि भान्यौ ॥२॥ बहु विधि राम कह्यो तन राखन परम धीर नहिं डोल्यौ। रोकि प्रेम अवलोकि बदन बिधु वचन मनोहर बोल्यो ॥३॥ तुलसी प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लैहौं। जाको नाम मरत मुनि दुर्लभ तुम्हहिं कहाँ पुनि पैहौं ॥४॥' पुनः, गी० ३।१४—"नीके कै जानत राम हियो हौं। प्रनतपाल सेवक कृपाल-चित पितु पटतरहि दियो हौं ॥१॥ त्रिजग-जोनिगत गीध जनम भरि खाइ कुजंतु जियो हौं। महाराज सुकृती-समाज सब ऊपर आजु कियो हौं ॥२॥ श्रवन वचन मुख नाम रूप चख राम उछंग लियो हौं। तुलसी मो समान बड़भागी को कहि सकै बियो हौं ॥३॥" भक्तप्रवर निषादराजने जिस मृत्युकी सराहना और कामना प्रकट की थी, वह उन्हींके शब्दोंमें सुनिए; यथा 'समरु मरनु पुनि सुरसरि-तीरा। रामकाज छनभंगु सरीरा ॥ भरत भाइ नृप मैं जन नीचू। बड़े भाग अस पाइअ मीचू ॥ २.१९० ।'

गृध्रराजको ये सभी विधियाँ प्राप्त हुईं बल्कि इनसे अधिक, वह इस तरह कि समरमरण ( त्रैलोक्य-विजयी राजा रावणसे लड़कर जो पूर्वका सरकारी सखा है) और रामकाज तो प्रत्यक्ष है, रहा 'सुरसरि तीर' सो भी, वरन उससे अधिक उसे प्राप्त है; क्योंकि जिनके चरणकमलका मकरंद सुरसरिरूपसे पृथ्वीपर और शङ्करजीके मस्तकपर विराजमान है—('मकरंद जिन्हको संभुसिर सुचिता अवधि सुर बर नई।'), वे चरण-कमल ही स्वयं उसके शरीरसे सटे हुए उपस्थित हैं जिनमें अनेकों सुरसरि हैं, एककी बात ही क्या ? कार्य्य-की कौन कहे कारण ही आ प्राप्त हुआ अपने कार्य्यके सहित। निषादराजकी सराही हुई मृत्युके तो सब लक्षण यहाँ हैं ही, पर साथ ही उनसे अधिक बातें यहाँ गृध्रराजको प्राप्त हैं जैसा वे स्वयं कह रहे हैं 'श्रवन वचन मुख नाम, रूप चख, राम उछंग लियो हौं।' अर्थात् गृध्रराज कहते हैं कि आप मुझसे शरीर रखनेकी कहते हैं, भला आप ही कहिए कि मुझे जो अलभ्य और महर्षियोंको भी असम्भव लाभ आज प्राप्त है क्या दीर्घ-जीवी होनेसे इस शरीरको रखनेसे वह कभी भी फिर प्राप्त हो सकेगा ? कदापि नहीं। आज आप मुझे गोद-में लिए बैठे हैं, मेरे मुखसे आपका नाम उच्चारण हो रहा है, आपके मुखारविन्दका दर्शन मुझे हो रहा है, आपके मधुर मनहरण वचन मेरे श्रवणगोचर हो रहे हैं, आप मुझे पिता कह रहे हैं—ऐसा सुअवसर फिर कहाँ ? अतएव वे कहते हैं कि 'राखौं देह नाथ केहि खाँगे' क्या कोई बात बाक़ी है ? है तो बतलाइए ! प्रभु इसका क्या उत्तर देते ? वे चुप हो गए। और ये कहते हैं कि 'प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लैहौं'।

प्रेमी पाठकवृन्दने अधिकता देख ली। और भी देखिए कि दशरथजीको भी अग्निसंस्कार रामजी द्वारा न प्राप्त हुआ और इनका मृतकसंस्कार श्रीरामजीने स्वयं किया। ऐसी मृत्यु तो किसीकी भी नहीं हुई, ऐसा अतिशय भाग्यशाली दूसरा कौन होगा ? फिर इनका यश क्यों न समस्त लोकोंमें निरन्तर बना रहेगा ? श्रीमहात्मा जटायुजीकी जय ! जय !! जय !!!

**जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात कर्म निज तें गति पाई ॥८॥**
**पर हित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥९॥**
**तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरनकामा ॥१०॥**

अर्थ—नेत्रोंमें जल भरकर रघुनाथजी कह रहे हैं। हे तात ! आपने अपने कर्मसे सद्गति पाई ॥८॥ जिनके मनमें परायेका हित बसता है अर्थात् जो दूसरेका भला करनेमें लगे रहते हैं, उनको संसारमें कुछ भी

दुर्लभ नहीं है ॥९॥ हे तात ! तन त्यागकर मेरे धामको जाइए। आपको क्या दूँ, आप तो पूर्णकाम हैं ॥१०॥

टिप्पणी—१ 'जल भरि नयन कहहिं रघुराई ।०'। (क) जटायुके दुःखसे आँसू भर आए। इसी तरह हनुमान्‌जीसे सीताजीका दुःख सुननेसे नेत्र सजल हो गए; यथा 'सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव नयना ।५।३२।' (ख) खर्रा—'रघुराई' का भाव कि सब दानियोंमें शिरोमणि हैं, रघुकुलके राजा हैं, इतने बड़े होकर भी कैसा उपकार मानते हैं कि नेत्रोंमें जल भर लाए।

प० प० प्र०—१ एक यही प्रसंग है जिसमें किसीको प्राण त्याग करते देख श्रीरघुनाथजीके नेत्रोंमें जल भर आया। श्रीशरभंग और शबरीजीके मरते समय भी नेत्रोंमें जल नहीं आया और न पिताका मरण सुननेपर। कारण कि निष्काम प्रेमी भक्त, हितकर्ता, पिताके सखा, पितृवत्स्नेहकर्ता और श्रीसीताजीको भयमुक्त करनेमें अपने प्राणोंकी आहुति देनेवाले ऐसे जटायुका साथ छूट रहा है। अतः दुःख-शोक हो गया। कैसी माधुर्यलीला है !! जटायुमिलनमें प्रथम ऐश्वर्य्यलीला है, बीचमें माधुर्य और फिर ऐश्वर्यलीला है, और अन्तमें माधुर्य है। ऐश्वर्य और माधुर्यका मधुर कोमल संमिश्रण है। बालिके प्रसंगमें केवल ऐश्वर्य है।

२ 'रघुराईके नेत्रमें जल भरने' का भाव कि रघुकुलभूषण होकर भी मैं पितृतुल्य पिताके वृद्ध सखाकी रक्षा न कर सका, उलटे उन्होंने हमारे लिए प्राणोंकी आहुति दे दी।

टिप्पणी—२ "तात करम निज तें गति पाई" यह गृद्ध्रराजके इन वचनोंका उत्तर है कि 'जाकर नाम मरत मुख आवा०'। अर्थात् जो तुमने कहा कि जिनके नामसे मुक्ति होती है वही तुम मेरे सामने खड़े हो, यह बात यहाँ नहीं है, तुम्हारी मुक्ति न मेरे नामसे हुई, न मेरे रूपसे, तुमने तो अपने कर्मसे मुक्ति पाई है। किस कर्मसे ? यह आगे कहते हैं—'परहित···।' (पुनः भाव कि मैं तो आपका बालक हूँ, पिताजी ! आपने तो अपने कर्मसे यह गति पाई है। यहाँ ऐश्वर्यको छिपाकर माधुर्यभावको प्रकट कर रहे हैं। प. प. प्र.)

३ 'परहित बस जिन्हके मन माहीं ।०' अर्थात् परोपकारसे चारों फल प्राप्त होते हैं। 'गति पाई' यह मोक्ष है और 'जग दुर्लभ कछु नाहीं' से अर्थ, धर्म और कामकी प्राप्ति इस संसारमें जनायी।

प० प० प्र०—जबतक ऐहिक वा पारलौकिक स्वहितकी कामना हृदयमें रहेगी तबतक कोई सच्चा परहित करही नहीं सकता। 'हेतु रहित परहित रत सीला। ४९।७', 'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ।७.४७.५।', यह सन्त स्वभाव है। इस दृष्टिसे 'जग दुर्लभ कछु नाहीं' का भाव यही होगा कि जो भी शुभ गति वे चाहें वह उनको सुलभ है, इस जगमें जन्म लेनेपर जो गति चाहें उसे सहज ही प्राप्त कर लेते हैं।

गौड़जी—'परहित···माहीं। तिन्ह···नाहीं।' इति। इसका एक भाव यह भी है कि परहितनिरत मुक्त पुरुष भी जगत्‌में अपनी इच्छासे जब चाहें आ सकते हैं। फिर कभी जगत्‌का उपकार करनेकी इच्छासे तुम अवतार लेना चाहो तो तुम्हारे लिये कोई कठिनाई नहीं है। इस जरा जर्ज्जर शरीरको जो इस समय पीड़ाका कारण है, छोड़ देना भी अच्छा है।

टिप्पणी—४ 'तनु तजि तात जाहु मम धामा०' इति। गृद्ध्रराजके 'नाथ दसानन यह गति कीन्ही' इस वचनपर प्रभुने कहा कि 'तन राखहु ताता'। पर, जब उसने शरीर रखना न स्वीकार किया तब कहा कि 'शरीर छोड़कर हमारे धामको जाओ।'

प० प० प्र०—जब परहितनिरत भक्तोंकी बात कहने लगे तब ऐश्वर्यभाव बहने लगा और 'हरिधामा' आदि न कहकर वे "मम धाम" कह जाते हैं। "मम धाम" अर्थात् साकेत। यहाँ "मम धाम" से सारूप्य लेना विशेष संगत होगा। 'देउँ' दीपदेहली है। मैं अपना धाम देता हूँ कारण कि तुम पूर्णकाम हो, तुम कैवल्य मोक्ष नहीं चाहते। इससे जनाया कि जो पूर्णकाम होते हैं वे भगवत्सेवा, भजन, भगवत्प्रेम ही चाहते हैं, वे रामानुरागी होते हैं।

टिप्पणी—५ 'तुम्ह पूरन कामा' इति । पूर्णकाम इससे कहा कि 'देह प्रानते प्रिय कछु नाहीं', उस देह और प्राणको भी सेवा करनेभरके लिए रखा—श्रीसीताजीकी सुध दी और दर्शन किए। और, जो प्रभु-ने कहा कि हम तुम्हारी सेवा करेंगे, यह स्वीकार न किया । सेवा करानेके लिए शरीर न रखा । पुनः, यह प्रभुका स्वभाव है कि 'निज करतूति न समुझिये सपने । सेवक सकुच सोच उर अपने'। उसके अनुकूल ही ये वचन कहे गए हैं। देनेको गृद्ध्रराजको सर्वस्व दे दिया और फिर भी कहते हैं कि 'देउँ काह०'—यह उदारताका स्वरूप है।

नोट—१ देखिए गृद्ध्रराजजी तो अपनी इस परमभाग्यशाली मृत्युको प्रभुकी कृपा ही कहते हैं। क्यों न हो ? ये तो भक्तराजों और हरिवल्लभोंमें गिने गए हैं, वे ऐसा क्यों न कहते ? भक्तके मुखसे तो यही शोभा देता है जैसा ये कह रहे हैं—'त्रिजगजोनिगत गीध जनम भरि खाइ कुजंतु जियों हौं। महाराज सुकृती-समाज सब ऊपर आजु कियो हौं ॥'; पर प्रभु इनकी इस दीनताको खूब समझते हैं। वे उनको अपनेसे भी अधिक यश देते हैं, उलटे अपनेको उनका ऋणिया कहने लगते हैं जैसा कि वानरसेनासे रावणवधके पीछे कहा है, हनुमानजीसे सुन्दरकाण्डमें कहा है और यहाँ गृद्ध्रराजजीसे कह रहे हैं—'तात करम निज तें गति पाई', यह गति तो अपनी करनीसे पाई। और हमारे लिए प्राण दिए, यह ऋण हमपर बना है।

**दोहा—सीताहरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।**
**जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ ॥३१॥**

अर्थ—हे तात ! सीताहरणकी बात पितासे जाकर न कहना । जो मैं राम हूँ तो दशमुखवाला रावण कुल सहित आकर स्वयं कहेगा ॥ ३१ ॥

नोट—१ (क) 'जनि कहहु' का कारण गी० ३।१६ में इस प्रकार दिया है—'मेरो सुनियो तात सँदेसो। सीयहरन जनि कहेहु पिता सों ह्वैहैं अधिक अँदेसो ॥१॥ रावरे पुन्य-प्रताप-अनल महँ अलप दिननि रिपु दहिहैं। कुल समेत सुरसभा दसानन समाचार सब कहिहैं ॥२॥' ऐसा ही अंगदजीने रावणसे कहा है—'दिन दस गये बालि पहिं जाई। बूझेहु कुसल सखा उर लाई ॥ रामबिरोध कुसल जसि होई। सो सब तोहि सुनाइहि सोई ।६-२१।' पुनः, ये पिताके सखा थे, इससे भय था कि ये अवश्य जाकर कहेंगे, अतएव मना किया। (ख) (इसका मुख्य भाव 'पिता' शब्दमें है। पिताको वनवास देनेका पश्चात्ताप होगा, कैकयीके विषयमें उनके मनमें अधिक तिरस्कार बढ़ जायगा, वे स्वयं अपनेको दोष देने लगेंगे, वे सोचेंगे कि क्या मेरे पुत्रोंमें अपनी स्त्रीकी रक्षाकी भी शक्ति न रह गई, इत्यादि। प० प० प्र०)।

२ यह दोहा बिलकुल हनुमन्नाटकमेंके श्रीरामवाक्यसे मिलता है। यथा 'तात त्वं निजतेजसैव गमितः स्वर्गं व्रज स्वस्ति ते, ब्रूमस्त्वेकमिमां वधूहृतिकथां तातान्तिके मा कृथाः ॥ रामोऽहं यदि तद्दिनैः कतिपयैर्व्रीडानमत्कन्धरः, सार्धं बन्धुजनेन सेन्द्रविजयी वक्ता स्वयं रावणः ॥' (हनुमन्नाटक अंक ५ श्लो० १६)। अर्थात् हे तात ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम अपने तेजसे ही स्वर्गको जाते हो तो चले जाओ। परन्तु मैं आपसे एक बात कहता हूँ कि जानकीहरणकी कथा पिताजीसे न कहियेगा। यदि मैं राम हूँ तो कुछ ही दिनोंमें अपने बंधुवर्गों और इन्द्रजित मेघनाद सहित लज्जासे कंधोंको नम्र करके रावण स्वयं आकर कहेगा।

३ यहाँ 'प्रथम पर्य्यायोक्ति अलंकार' है। सीधे यह न कहा कि मैं रावणका कुलसहित नाश करूँगा, उसे इस प्रकार घुमाकर कहा।

टिप्पणी—१ 'जौं मैं राम त कुल सहित' इति। यहाँ उसी बातकी प्रतिज्ञा प्रभु कर रहे हैं जो उनके भक्तके मुखसे निकली है—'होइहि सकल सलभ कुल तोरा'। 'जौ मैं राम हूँ तो'—यह शपथ वा प्रतिज्ञाकी एक रीति है। भक्तके वचनकी सिद्धिके लिए 'कुल सहित' कहा, यथा 'होइहि सकल सलभ कुल तोरा'।

प० प० प्र०—इस दोहेमें फिर माधुर्य भाव अग्रसर हो गया। 'जौं मैं राम' अर्थात् यदि मैं ऐसा न

करूँ तो 'राम' नाम छोड़ दूँगा। परशुरामप्रसंगमें 'राम' नाम छोड़नेका विषय आ गया है, यथा 'करु परितोपु मोर संग्रामा। नाहिं त छाँड़ कहाउब रामा।' पुनः भाव 'राम' नाम होते हुये भी मैं पिताको यदि अभिराम न दे सका तो मेरा नाम निरर्थक ही हो जायगा। राम नामके अनेक अर्थ हैं—रामपूर्वतापनीयोपनिषद् श्लोक १-६ देखिए। जब रावण जाकर कहेगा तब उनको परमानंद होगा और केकयीके विषयमें उनका मन निर्मल हो जायगा।

**गीध देह तजि धरि हरिरूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा॥१॥**
**स्याम गात बिसाल भुजचारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी॥२॥**

अर्थ—गृद्ध्रराज जटायुने गृद्ध्रशरीर छोड़कर हरिरूप धारण किया—बहुतसे आभूषण और उपमा रहित (दिव्य) पीताम्बर पहने हुए हैं। श्याम शरीर है। विशाल चार भुजाएँ हैं—नेत्रोंमें जलभरे हुए स्तुति कर रहे हैं॥१-२॥

नोट—१ इस चौपाईके कुछ भाव और मिलान स्तुतिके अन्तिम छन्द और दोहा ३२ में भी देखिये।

२ हरिरूपासे चतुर्भुजरूपसे यहां अभिप्राय है। और आगे इसीको स्पष्ट किया है। यथा 'स्याम गात बिसाल भुजचारी'। चार भुजा विष्णु भगवान्के ही हैं—वैकुण्ठनिवासी वा क्षीरसागरवासी। पं० शिवलाल पाठकजीने मयूखमें यह शंका उठाकर कि 'चतुर्भुजरूप होकर रामधामको जाना कहा यह विरोध-सा दीखता है; क्योंकि रामधाममें द्विभुज स्वरूपसे जाना था', इसका समाधान यह करते हैं कि यहांसे चतुर्भुज रूपसे जायँगे जब इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ इत्यादि सब पार हो जायँगे तब चतुर्भुजसे द्विभुज होकर परमधाममें प्रवेश करेंगे। बाबा रामचरणदासजी लिखते हैं कि अभी वैकुण्ठमें चतुर्भुज रूपसे जटायु निवास करेंगे जैसे इन्द्रलोकमें दशरथजी महाराज। और जब प्रभु अपने परविभूतिलोकको जायँगे तब ये दोनों वहाँसे प्रभुके साथ उस लोकको जायँगे। बाबा हरिहरप्रसादजीने हरिरूपसे चतुर्भुजरूपका अर्थ नहीं लेना चाहा है, इसीसे 'बिसाल भुजचारी' के अर्थमें बहुत खींच की है। जो सर्वथा यहाँ अभिप्रेत नहीं है। इसीलिए यहाँ वे भाव नहीं दिये जाते। एक भाव उन्होंने यह दिया है कि कई कल्पकी कथा मिश्रित है, इससे चतुर्भुज-पार्षदोंमें मिलनेवालोंमें वह जटायु होगा। पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी मयूखसे सहमत हैं, वे भी यही कहते थे कि वैकुण्ठ तक चतुर्भुज ही रूप रहता है उसके आगे जानेपर द्विभुजरूप होता है।

☞यहाँपर पं० रामकुमारजीके कुछ भाव उन्हींके दोहोंमें उद्धृत किए जाते हैं जो हालहीमें प्राप्त हुए हैं और बालकाण्डकी टिप्पणीमें नहीं आए हैं। ये दोहे भगवान् रामचन्द्रजीके आविर्भावके समय चतुर्भुजरूपसे दर्शन देनेके सम्बन्धके हैं। पाठक बालकाण्डमें उस प्रसंगमें लिख लें कि इसपर आ० ३२(१) देखिए। और, आ० १० (१८) 'हृदय चतुर्भुजरूप दिखावा' में भी ये भाव पढ़ लेने चाहिएँ।

१ शंका—'प्रथमहि बालकरूप धरि प्रगटे किन सुरराउ। अद्भुत रूप दिखावनो याको लख्यो न भाउ॥'

समाधान—

'परखत पूरब ज्ञान मनु है धौं भूली माय। निज स्वरूप ते प्रगट भए अवरहु भाव सुहाय॥
बर दीन्हो जेहि रूप ते जो नहिं देखै मातु। मानै सुत सब जगत सम होइ न ज्ञान को घात॥
भावी बिरह न राखिहै प्राण रूप यह जान। कौसल्या-हितकारि पद देत ध्वनी यह मान॥
जिमि अद्भुत मम रूप तिमि अद्भुत करिहौं गाथ। जनमकाल सब लखन मनो रूप दिखायो नाथ॥'

२ शंख कमलको शस्त्र कैसे कहा? उत्तर—"मोह रूप दसमौलि दर नासत वेदस्वरूप। कमल प्रफुलित हृदय करि नासत शोक अनूप॥" अर्थात् ये वाह्यान्तर-शत्रुओंका निधन करनेवाले हैं।

३ "कल्प चतुर्थ प्रसंग में रामजन्म को हेतु। मनु-स्वयंभु-तप देखि प्रभु आए तजि साकेत॥
तेइ दसरथ अरु कौसिला भए अवध महँ आइ। जन्मकाल केहि हेतु प्रभु विष्णुरूप दरसाइ?"

उत्तर—'विष्णु आदि त्रयदेवता सोऊ मेरेहि रूप। निज माता के बोधहित धरयो चतुर्भुज रूप ॥
यहै बोध दृढ़ करन पुनि ते करि विश्वसरूप। विष्णु आदि सब देव से लखु मम रूप अनूप ॥
चारि भुजा ते सूच हरि चतुर्व्यूह मोहि जान। वासुदेव आदिक तथा विश्वादिक हूँ मान ॥
मात्रा चारि जो प्रणवके चारि भुजा मम अंग। अंगी पूरण ब्रह्म तिमि लखु ममरूप अभंग ॥
चारौ कर ते नाशिहौं चारो दुख के हेतु। कालरु कर्म स्वभाव गुण जनु प्रभु सूची देतु ॥
त्रेता त्रय पद धरमके यद्यपि हैं जग माहिं। चारों पद पूरन करौं चारों कर दरसाँहिं ॥
चारि भुजा ते सूच प्रभु नृप नयके पद चारि। सो सब मेरे हाथ हैं जानत बुध न गँवार ॥
चारिहु विधि मोहि भजत जन चारिभुजा तेहि हेतु। हरत दुःख दै ज्ञान पुनि धन दै मोक्षहु देतु ॥
भक्ति परीक्षा करन हित प्रभु निजरूप दुराइ। द्विभुज राम साकेत मनु भए चतुर्भुज आइ ॥
(यथा) 'भूपरूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप दिखावा ॥'
सूचत प्रभु धरि चारि भुज चारि वेद मोहि ग्रीव। तेहि प्रतिकूलहि मारिहौं राखौं तिनकी सींव ॥
निज भक्तनको चारि फल चारि भुजा ते देहुँ। चारि रूप अति चपल मन ध्याताके हरि लेहुँ ॥
सूचत प्रभु भुज चारि ते चारि खानि मैं कीन। जारज अंडज स्वेदज उद्भिज सो कहि दीन ॥

प० प० प्र०—१ जटायु तो सीधे साकेत पधारेंगे और दशरथजी तो अभी इन्द्रलोकमें हैं, यथा 'आपु इहां अमरावति राऊ'। तब दोनोंका मिलन कैसे होगा ? ऐसे प्रश्नका कारण अल्पश्रुतत्व ही है। स्कंदपुराण काशीखंड पूर्वार्धमें शिवशर्मा विष्णु सारूप्य प्राप्त करके पार्षदोंके साथ विमानमें बैठकर जाता है। उस समय वह सब लोकोंमें होकर ही वैकुण्ठमें जाता है। वैकुण्ठ और साकेत जानेका मार्ग ही सब लोकोंमें से ही है। पाठक वहीं विस्तारसे देख लें। त्रिपाद्विभूत महानारायणोपनिषत्‌में भी वैसा ही मार्ग कहा है। इसमेंसे कुछ अवतरण दे देना यहाँ आवश्यक जान पड़ता है। यथा 'प्रणव गरुड़मारुह्य महाविष्णोः समस्ताऽसाधारण चिह्न-चिह्नितो, महाविष्णोः समस्ताऽसाधारण···दिव्यभूषणैर्विभूषितो वैकुण्ठपार्षदैः परिवेष्टितः नभोमार्गमाविश्य पार्श्वद्वयस्थित अनेक पुण्य लोकान् अतिक्रम्य तत्रत्यैः पुण्य पुरुषैः अभिपूजितः, सत्य लोकम् आविश्य ब्रह्माणमभ्यर्च्य, ब्रह्मणा च सत्यलोकवासिभिः सर्वैः अभिपूजितः···वैकुण्ठवासिनः सर्व समायान्ति। तान् सर्वान् सुसंपूज्य, तैः सर्वैः अभिपूजितः, उपरि उपरि गत्वा···पञ्च वैकुण्ठान् अतीत्य···सुदर्शन वैकुण्ठ पुरं···गच्छति। ( अध्याय ५ और ६ देखने योग्य हैं )। यह अवतरण अति संक्षिप्त दिया है। इस श्रुतिके संक्षिप्त मंत्रमय कथनका विस्तार ही, इतिहासके उदाहरण सहित पुराणमें किया गया है। (अवतरणमें पदच्छेद सकारण ही लिखा है)।

२ 'गीध देह तजि धरि हरि रूपा।···' इति। (क) इस ३२ वें दोहेके अंगभूत केवल दो ही चौपाइयाँ हैं। ऐसा यह एक ही स्थल मानसमें है। पाँच चौपाइयोंका भी एक स्थल है, सातके बहुत हैं। चौपाइयाँ पुरइनि हैं और 'छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा।' इस स्थानमें केवल दो ही पुरइनिके पत्ते हैं और शेष कमल ही कमल हैं। इससे प्रतीत होता है कि कविकुलशेखरके हृदयमें गीधराजकी सुन्दर मृत्यु देखकर विशेष प्रसन्नता और विशेष आनन्द हो गया है इसीसे तो दोहावलीमें उन्होंने 'गीधराज की मीचु' की महत्ता २२२ से २२७ तक छः दोहोंमें गायी है। इनमेंसे केवल दो का ही यहाँ देना पर्याप्त होगा। 'मुए मरत मरिहैं सकल घरी पहर के बीचु। लही न काहूँ आजु लौं गीधराज की मीचु। २२४।', 'दसरथ तें दसगुन भगति सहित तासु करि काज। सोचत बंधु समेत प्रभु कृपासिंधु रघुराज ॥२२७।' यहाँका 'रघुराज' शब्द और 'जल भरि नयन कहहिं रघुराई' में का 'रघुराई' शब्द एक ही भावसे प्रयुक्त हैं। इन दो चौपाइयोंका भाव त्रिपाद्‌विभूति नारायण उपनिषत्‌के अवतरणमें मिलता है। (ख) 'भूषन बहु' इत्यादिसे शंख, चक्र, गदा, पद्म, वनमाला, किरीट कुंडलादि समस्त हरिभूषणोंसे युक्त नील-मेघश्याम वर्ण पीताम्बरधारी हरिके चतुर्भुज रूपकी प्राप्ति जनाई।

नोट—३ यहाँ 'हरि रूपा' का प्रयोग करके चारों कल्पोंके कथावक्ताओंकी भावनाओंका समन्वय कर

दिया है, इसी हेतुसे कविने चतुर्भुज और आयुध इत्यादिका उल्लेख भी नहीं किया है। जैसा 'निज आयुध भुज चारी' में भी समन्वय निहित है। चाहे द्विभुज रामरूप, चाहे चतुर्भुज विष्णुरूप अथवा चतुर्भुज नारायणरूप, वक्ताके कल्पकी कथानुसार समझ लें।

छंद—जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही।
दससीस-बाहु प्रचंड खंडन चंड सर मंडन मही॥
पाथोद गात* सरोज मुख राजीव आयत लोचनं।
नित नौमि रामु कृपाल बाहु बिसाल भवभयमोचनं॥१॥

शब्दार्थ—सही=सत्य, प्रामाणिक। =शुद्ध। प्रचंड=तीखे, प्रखर, प्रबल। चंड = तीक्ष्ण = उद्धत, कुपित। मंडन=भूषण; भूषित करनेवाले। पाथोद=जल देनेवाले श्याम मेघ। आयत=विस्तृत; बड़े।

अर्थ—हे राम! जिनका उपमारहित रूप है, जो निर्गुण हैं, सगुण हैं और सत्य ही शुद्ध गुणोंके प्रेरक हैं। ऐसे आपकी जय हो। दशशीश (रावण) की प्रचंड भुजाओंको खण्डन करनेके लिए तीक्ष्ण और कुपित बाण धारण करनेवाले, पृथ्वीको भूषित करनेवाले, सजल (श्याम) मेघवत् शरीर, कमल समान मुख और लालकमल (दल) के समान बड़े नेत्रवाले, कृपालु, आजानुबाहु (घुटने तक लंबी भुजावाले) और भवभयके छुड़ानेवाले राम! मैं आपको नित्य ही नमस्कार करता हूँ॥१॥

टिप्पणी—१ 'जय राम रूप अनूप निर्गुन' इति। अनूप, यथा 'उपमा न कोउ कह दास तुलसी कतहुँ कहुँ कबि कोबिद कहैं', 'निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहैं। ७.९२।' 'निर्गुन सगुन' यथा 'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूपसिरोमने ।७।१३।' निर्गुण अर्थात् गुणोंसे पृथक् त्रिगुणातीत हो, सत्व रज तम मायिक गुणोंसे रहित। सगुण अर्थात् गुणके सहित हो, और गुणोंके प्रेरक हो। [ निर्गुण= अव्यक्त गुणवाले। सगुण=व्यक्त गुणवाले। यथा 'व्यक्ताव्यक्तस्वरूपस्त्वं गुणभृन्निर्गुणः परः। प० पु० उत्तर २४. ७४।', 'कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहि श्रुति गाव। ६.११२।' विशेष १.२३ में देखिए। जो निर्गुण है वही सगुण है, जबतक गुण व्यक्त नहीं होते तबतक वह निर्गुण कहलाता है और जब उसके गुण प्रकट होते हैं तब वह सगुण कहलाता है। बालकांडमें 'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा', 'एक दारुगत देखिय एकू' दोहा २३.१,४ तथा 'जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। १.११६.३।' में देखिए। ] जब सगुण कहा तब गुणके वश होना पाया गया, अतः गुणका प्रेरक कहकर बताया कि वे गुणोंके वशमें नहीं हैं, गुण उनके वशमें हैं, ब्रह्मा विष्णु महेश जो त्रिगुणमय हैं वे इनके आज्ञाकारी हैं, यथा 'बिधिहरिहर बंदित पद रेनू' (मनु)।

प० प० प्र०—'गुण प्रेरक' इति। सब विषय, इन्द्रियाँ, त्रिगुण और त्रिगुणोंका सब कार्य अर्थात् माया और मायाका सब कार्य 'गुण' शब्दसे वाच्य है। इनका प्रेरक ब्रह्म है। यथा 'माया प्रेरक सीव। १४।', "विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥ सबकर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई। १.११७।' ब्रह्मगायत्रीमें भी भगवान्‌को बुद्धिका प्रेरक कहा है। यथा 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।' अर्थात् जो हम लोगोंकी बुद्धिको प्रेरणा करते हैं ऐसे जगत्स्रष्टा

---

* भा० दा० में 'गाद' पाठ है, अन्य सबमें 'गात' है। गादका अर्थ यहाँ कुछ समझमें नहीं आता अतः इस तिलकमें भी 'गात' ही रखा गया।

†१—बैजनाथजी अर्थ करते हैं कि 'आपका रूप निर्गुण (व्यापक), सगुण (अवतार आदि एवं विराट आदि) और त्रैगुण तीनोंका प्रेरक है, अतः अनुपम है'। २—उपर्युक्त अर्थमें अनुपमता यह है कि सगुण, निर्गुण गुणप्रेरक सभी हैं, एक ही रूपमें सब बातें; न निर्गुण ही कह सकें न सगुण और फिर भी यही रूप दोनोंका आधाररूप है।

[illegible] श्रेष्ठ तेजका हम लोग ध्यान करें। ('प्रचोदयात्' का अर्थ है 'प्रेरणा करें' किंतु यहाँ भाव उपर्युक्त है। प्रार्थनाका भाव भी ले सकते हैं)।

टिप्पणी—२ 'दससीस बाहु प्रचंड···' अर्थात् रावणने अपनी प्रचण्ड भुजाओंसे मेरे पक्ष काटे हैं उन भुजाओंके काटनेको आपके बाण चण्ड—अर्थात् कोपे हुए हैं। प्रचण्डको 'चण्ड' से नाश करनेवाले हैं। 'मंडन मही', यथा 'दससीस बिनासन बीस भुजा कृत दूरि महामहि भूरि रुजा। ७.१४।' अर्थात् रावणको मारकर आप पृथ्वीको भूषित करेंगे। यहाँ रावणके बाहुको इससे कहा कि आगे चलकर रामजीकी भुजाओंका वर्णन है।

नोट—१ 'महि मंडन', यथा 'महि मंडल मंडन चारु तरं। ७।१४।' यह शिवजीने 'दससीस बिनासन बीस भुजा' कहकर तब कहा है, वैसे ही जटायुजी कह रहे हैं। क्योंकि श्रीरामजी रावणवधके पश्चात् राजा हुए। राक्षसोंके वधसे ही भूषणरूप हुए, यथा 'मनुज तनु दनुज-वन-दहन मंडन मही। गी० ७.६।' (राम-भक्तोंके संबंधमें भी ऐसा ही कहा है, यथा 'सोइ महि मंडित पंडित दाता। राम चरन जाकर मन राता।', इस तरह भक्त और भगवान्‌में अभेद सिद्ध हुआ। प० प० प्र०)।

२ 'रावण अभी मरा नहीं तब 'दससीस बाहु प्रचंड खंडन' कैसे कहा? उत्तर—यह 'भाविक अलंकार' है। दूसरे कारण ये हैं कि—(१) यहाँ दिव्य शरीर होनेसे दिव्य ज्ञान प्राप्त है। (२) आशीर्वादात्मक स्तुति है, यह आशीर्वाद ही है कि ऐसा होगा। (३) राम सत्यसंध हैं, वे प्रतिज्ञा कर चुके हैं, अतः निस्संदेह है। (४) लीला नित्य है, सदा ऐसा होता आया है, यह वह जानता है अतः भविष्य कहा, यथा लक्ष्मणवाक्य—'प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी'।

टिप्पणी—३ 'पाथोद गात सरोज मुख···भवभय मोचनं' इति। यहाँ सब अंगोंको कहकर अन्तमें 'भव-भय-मोचन' पद देकर जनाया कि इस पदका अन्वय सबके साथ है, सभी अंगोंसे इसका संबंध है, यह सबका विशेषण है। अर्थात् प्रभुके सभी अंग मुख, नेत्र, बाहु आदि भवभयके छुड़ानेवाले हैं। श्याम गात भवभयमोचन है, यथा 'स्यामल गात प्रनत भय मोचन। ५.४५.४।' मुख, यथा 'होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भवमोचन। १०.६।' नेत्र, यथा 'राजीव बिलोचन भवभय मोचन पाहि पाहि सरनहि आई। १.२११।' "बाहु", यथा "सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहैं। होत सुगम भव उदधि अगम अति कोउ लाँघत कोउ उतरत थाहैं। गी०। ७.१३।" "आयत लोचनं" अर्थात् आकर्णपर्य्यन्त, कानोंके पास तक लंबे। यथा 'कर्णान्त दीर्घनयनं नयनाभिरामम्।'

४ 'रामकृपाल' का भाव कि मुझसे अधम पक्षीपर भी आपने कृपा की। बाहु विशाल हैं, अर्थात् आप आजानुबाहु हैं। पुनः, विशालता यह कि जहाँ ही दासपर संकट पड़ता है वहीं आपकी भुजाएँ संकट निवारणके लिए रक्षाको प्राप्त हैं।

नोट—२ 'जय राम' इस प्रकारसे स्तुतियोंका आरंभ रावणवधके पहले और पश्चात् एवम् राज्याभिषेक पर भी है। जैसे—(क) 'जय राम रूप अनूप००'। यहाँ 'जय राम सदा सुखधाम हरे०'—(ब्रह्माकृत)। 'जय राम सोभाधाम दायक प्रनत बिश्राम' (इन्द्रकृत) 'जय राम रमारमणं०' (शिव कृत) और 'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने'—(वेदस्तुति)। पर इस काण्डमें अत्रिजी आदिने जो स्तुतियाँ कीं उनमें यह रीति नहीं है। प्रथम और अंतिम स्तुति इस प्रकारसे प्रारंभकी हुई (वनवासके पश्चात् और रावणवधके पूर्व) यही है।

अतः यह भाव भी यहाँ संगत है कि रावणवधकी प्रतिज्ञा करनेके पश्चात् अब सीताहरण होनेके कारण उससे युद्ध होना निश्चित है। अतः गृद्धराज आशीर्वादात्मक वचनोंसे स्तुति प्रारंभ कर रहे हैं। दूसरे, गृद्धराज रामजीको पुत्र मानते थे ही, अतएव वे पितासरीखे आशीर्वाद दे रहे हैं। इस समय हरि-रूपसे यह आशीर्वाद है और देवताओंके वचन सत्य होते हैं; अतः ये अवश्य सत्य होंगे।

छंद—बलमप्रमेयमनादिमजमव्यक्तमेकमगोचरं ।
गोविंद गोपर द्वंद्वहर बिज्ञानघन धरनीधरं ॥
जे राममंत्र जपंत संत अनंत जन मन रंजनं ।
नित नौमि राम अकाम प्रिय कामादि खल दल गंजनं ॥२॥

शब्दार्थ—अव्यक्त = अप्रकट, अदृश्य। द्वंद्व = दो परस्पर विरुद्ध वस्तुओंका जोड़ा जैसे शीत-उष्ण, सुख दुःख, पाप-पुण्य, जन्म-मरण इत्यादि। गोविन्द = इन्द्रियोंके प्रेरक, उनको सत्ताके देनेवाले; भगवान्‌का नाम।

अर्थ—प्रमाण रहित बलवाले, अनादि, अजन्मा, अव्यक्त, अद्वितीय, अगोचर, गोविन्द, इन्द्रियोंसे परे, जन्म मरण आदि द्वन्द्वोंके हरनेवाले, विज्ञान समूह (वा विज्ञानके मेघ), पृथ्वीके आधार, जो संत राम-मंत्र जपते हैं उन अनन्त दासोंके मनको आनन्द देने वाले, निष्काम जिनको प्रिय हैं और जो निष्काम भक्तों-के प्रिय हैं, कामादि दुष्टोंकी सेनाका नाश करनेवाले—हे राम! ऐसे आपको मैं नित्य नमस्कार करता हूँ ॥२॥

टिप्पणी—१ 'अगोचर गोविंद गोपर०' इति। गोविन्द अर्थात् इन्द्रियोंसे जाने जाते हो—'विद् ज्ञाने'। गोपर अर्थात् इन्द्रियोंसे परे हो। 'गोविन्द गोपर' अर्थात् जो इन्द्रियोंसे परे हैं वही आप हमारे नेत्र इन्द्रियके विषय हो रहे हैं। सगुण-निर्गुणके भेदसे गोविन्द और गोपर कहा। [ बलमप्रमेय, यथा 'अतु-लित बल अतुलित प्रभुताई।० ।३.२।' अनादि—बालकाण्डमें मंगलाचरणमें जो कहा है—'अशेषकारणपरं' उसी भावसे अनादि। गोविन्द = इन्द्रियोंकी यावत् शक्ति और उनके विषय हैं उनमें अन्तर्यामी रूपसे प्राप्त। वा, गोविन्द = इन्द्रियोंके भोक्ता। = इन्द्रियोंके स्वामी। (रा० प्र०, रा० प्र० श०)। गोपर, यथा 'मन समेत जेहिं जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी' (जनकजी), 'मन गोतीत अमल अविनासी। ७. १११.५।' द्वंद्वहर, यथा 'द्वंद बिपति भवफंद बिभंजय। ७.३४.।' ] 'विज्ञानघन'=विज्ञान समूह, यथा 'ज्ञान-अखंड एक सीतावर।७.७८।' धरनीधर = कमठ और वाराह रूपसे पृथ्वीके आधार। अकाम प्रिय = जिनको कुछ भी कामना नहीं, अर्थात् निष्काम भक्तोंके आप प्यारे हैं; यथा "ते तुम्ह राम अकाम पियारे" (अत्रि)। इसीसे कामादि खल-सेना जो षट्‌विकाररूपी शत्रु हैं उनके नाशकर्ता हैं। पुनः, भाव कि सकाम लोगोंको आप स्वाभाविक ही प्रिय लगते हैं क्योंकि उनकी कामनाओंको आप पूर्ण करते हैं। पर जो निष्काम हैं उनको भी आप प्रिय हैं यद्यपि उनको किसी पदार्थकी कामना नहीं है। यथा 'जिन्हहिं न चाहिए कबहुं कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।'। (खर्रा—अकामियोंको प्रिय हो और कामादि खलदलके नाशक हो, ऐसा कहा, क्योंकि प्रभु 'कामी' बनकर खोज रहे हैं)।

प० प० प्र०—'कामादि खलदल गंजनं'; यथा 'खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं। ७.१२०.६।' इससे भक्ति और भगवान्‌का अभेद सिद्ध हुआ। 'दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुजबल हने। (वेदस्तुति)।' और 'कामादि खल…' इन दो वाक्योंसे सूचित किया कि रामायणके व्यक्तियोंके विषयमें अध्यात्म दृष्टिसे भी विचार करना चाहिए।

छन्द—जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक बिरज अज कहि गावहीं।
करि ध्यान ग्यान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं॥
सो प्रगट करुनाकंद सोभा-बृंद अग-जग मोहई।
मम हृदय पंकज भृंग अंग अनंग बहु छबि सोहई॥३॥

अर्थ—जिसे वेद निरंजन, ब्रह्म, व्यापक, निर्विकार, अजन्मा कहकर गाते हैं, जिसे मुनि अनेक प्रकारसे ध्यान, ज्ञान, वैराग्य, योग (आदि साधन) करके पाते हैं, वही आप करुणाकन्द (करुणारूपी जलकी

वर्षा करनेवाले मेघ), शोभाके समूह प्रकट होकर चराचरको मोहित कर रहे हैं। आपके अंग अंगमें बहुतसे कामदेवोंकी छवि शोभा दे रही है—वही आप मेरे हृदयरूपी कमलके भ्रमर हैं ॥३॥

नोट—१ (क) पूर्वार्धमें निर्गुणरूप और उत्तरार्धमें सगुणरूप कहा। प्रथम दो चरणोंमें "जेहि" कहकर उसका संबंध 'सो' शब्दसे तीसरे चरणोंमें मिलाकर जनाया कि जो व्यापक, विरज, अज ब्रह्म है अर्थात् निर्गुण है, अव्यक्तरूपमें है, वही आप सगुण (व्यक्त) हुए हैं। ब्रह्म, व्यापक आदि शब्दोंके अर्थ और भाव बालकांडमें आ चुके हैं। (ख) 'करि ध्यान ज्ञान···', यथा 'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं। ४.१०।' (वालि)।

प० प० प्र०—करुणाकंद, यथा 'कृपा वारिधर राम खरारी। ६.६६.४।', 'जय कृपाकंद मुकुंद'। भाव कि जैसे मेघ निर्हेतु, वैषम्यबुद्धि रहित सब पर वर्षा करते हैं वैसे ही आप सबपर दया करते रहते हैं। पर जैसे पाषाणपर पड़नेसे वह तत्क्षण सूख जाता है, एक सीकर भी उसमें प्रवेश नहीं करता तो इसमें वर्षाका क्या दोष ? वैसे ही यदि कोई जीव आपकी कृपाका लाभ नहीं उठाता तो आपका क्या दोष ?

टिप्पणी—१ (क) जिसका वेद गुणगान करते हैं, मुनिजन ध्यान धरते हैं, जो ऐसे दुर्लभ हैं वे ही आप करुणा करके प्रगट हुए हैं तो हमपर करुणा करके हमारे हृदयमें वास कीजिये। भगवान्के अवतार-का कारण करुणा है, कपिल सूत्रमें ऐसा उल्लेख है। ( 'भए प्रगट कृपाला···' १.१९२ छंद १ देखिए)। (ख) 'सोभावृंद अगजग मोहई' अर्थात् शोभाके समूह प्रगट हुए हो, इसीसे स्थावर जंगम सभीको मोहित कर रहे हो, यथा 'देखत रूप चराचर मोहा। १.२०४।', 'लिए चोर चित राम बटोही'। पुनः, [ यथा 'जिन्ह निज रूप मोहिनी डारी। कीन्हे स्ववस नगर नरनारी।१.२२६.५।' और कौन कहे खरदूषण भी थोड़ी देरके लिये मोहित हो गए। 'सो प्रगट' कहकर 'सोभावृंद अग जग मोहई' कहनेका भाव कि जबतक ब्रह्म अव्यक्त रहा तबतक उसमें शोभा न थी और न वह चराचरको मोहित कर सकता था जब वह व्यक्त हुआ तब उसकी शोभा हुई, यथा 'फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसा। ४.१७.२।', और तभी वह चराचरको मोहित करता है। ]

प० प० प्र०—'मम हृदय पंकज भृंग' इति। मधुप न कहकर भृंग कहनेका भाव कि मेरे हृदयमें आते तो हैं पर निवास नहीं करते। इसीसे अगले छन्दमें बसनेकी प्रार्थना करते हैं।

छन्द—जो अगम सुगम सुभाव निर्मल असम सम सीतल सदा।
पस्यंति जं जोगी जतनु करि करत मन गो बस सदा॥
सो राम रमानिवास संतत दास बस त्रिभुवन धनी।
मम उर बसउ सो समन संसृति जासु कीरति पावनी॥४॥

अर्थ—जो अगम्य और सुगम, निर्मल स्वभाव (वा, स्वाभाविक ही निर्मल), विषम और सम, और सदा शान्त है। जिनको योगी यत्न करके देखते हैं और सदा मन और इन्द्रियोंको वशमें किए रहते हैं। वही सदा दासोंके वश और त्रिलोकीके स्वामी रमानिवास रामचन्द्रजी! और जिनकी पवित्र कीर्ति ( यश ) संसारदुःखकी नाशक है वही आप मेरे हृदयमें बसिए ॥४॥

टिप्पणी—१ 'अगम सुगम' यह निर्गुण सगुण भेदसे; यथा 'निर्गुन सगुन विषम सम रूपं···'। एक अगम दूसरा सुगम। अथवा, कुयोगियोंको अगम्य और योगियोंको सुगम; यथा 'कुयोगिनां सुदुर्लभं' (अत्रिस्तुति), "पश्यन्ति यं योगी जतन करि"। इस कथनसे स्वभावमें विषमता पाई जाती है, अतः कहा कि स्वभाव निर्मल है, विकार रहित है। अथवा, निर्मल स्वभाववालेको सुगम और मलिन स्वभाववालेको अगम।

२—'असम सम' अभक्त भक्त भेदसे। यथा 'जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥···तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा। २१९।३', 'वेद वचन मुनि

मन अगम ते प्रभु करुना ऐन । वचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन । २।१३६ ।' इनसे भी विषमता पाई गई, अतः कहा कि 'सीतल सदा'।

प० प० प्र०—१ शंका हो सकती है कि 'एक ही पुरुषमें दो विरुद्ध धर्म कैसे रह सकते हैं?' इसका समाधान यह है कि भगवान्‌में वैषम्य, नैघृण्य कदापि नहीं हैं, विषमता साधकोंके अधिकारपर निर्भर रहती है। यथा 'तत् दूरे तद् अन्तिके। तद् अन्तरस्य सर्वस्य, तद् उ सर्वस्य अस्य बाह्यतः। ईशावास्य।'* 'यः तु अविज्ञानवान् भवति अमनस्कः सदा अशुचिः। न स तत् पदम् आप्नोति संसारं च अधिगच्छति। कठ०।'† छंद ३ के 'करि ध्यान ज्ञान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं' में यह बताया है कि किसको सुगम है। यही बात कठ० १.३.८ में कही गई है, यथा 'यः तु विज्ञानवान् भवति स मनस्कः सदा शुचिः। स तु तत् पदम् आप्नोति न स भूयः अभिजायते।'‡ भगवान् तो 'कल्पपादप आरामः' हैं, पर कल्पतरुके नीचे कोई जाकर कल्पना करे कि सिंह मुझे आकर खा जाय तो वैसा ही होगा, इसमें कल्पवृक्षका क्या दोष? यही बात विनयमें भी कही है—'तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु को सो ज्यों दरपन मुख कांति। २३३।'

२ 'असम सम' इति। जो अगम सुगमके विषयमें कहा गया वही इसके विषयमें समझिये। उनमें समविषमत्व नहीं है। वे तो कहते हैं कि 'पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ। सर्वभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ।' उत्तरकांड दोहा ८५ से ८७ तक अवश्य पढ़िए। 'सीतल सदा', यथा "भगत उर चंदन", "तुम्ह चहुँ जुग रस एक राम" (वि० २६६)।

टिप्पणी—३ 'पस्यंति जं जोगी…' इति। कामक्रोधादिके वश होनेसे रूप नहीं देख सकते; अतः मन और इन्द्रियोंको वश करके देखना कहा; यथा 'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना। १.११५.४।'

प० प० प्र०—१ (क) 'पश्यंति यं योगी जतन करि…' इति। यह चरण निर्गुणविषयक भी है।

शंका—तब तो छंद ३ के दूसरे चरण और इन चरणोंमें पुनरुक्ति दोष पड़ेगा?

समाधान—छंद ३ में 'अनेक शब्दसे जो वाक्य अधूरा रह गया था वह यहाँ पूरा किया गया है। कि० १० में बालिने कहा है 'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।' छंद ३ और ४के दूसरे चरणोंमें 'योग' का अर्थ स्पष्ट नहीं किया है, वह बालिकी उक्तिमें 'जिति पवन' से कर दिया गया। छंद ३ के 'ध्यान' का अर्थ यहाँ 'मन गो बस करि' से स्पष्ट किया है। (ख) 'पश्यन्ति' शब्दसे साकार और निराकार दोनोंका बोध होता है। ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये भी 'पश्यन्ति' का प्रयोग होता है। बाल० में श्लो० २ 'याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्' देखिए। (ग) इस छंदके प्रथम और दूसरे चरणोंके अंतमें 'सदा' शब्द आया है। इसमें कविकी सावधानताका परिचय मिलता है। 'जदा' लिख देनेसे अनर्थ हो जाता, उसमें अतिव्याप्ति दोष आ जाता। क्योंकि तब अर्थ होता कि 'जब कोई एक क्षणभर भी मन और इंद्रियोंको वशमें करेगा तो उसको साक्षात्कार हो जायगा'। पर ऐसा नहीं है। मन और इन्द्रियोंको

---

* यह ईशावास्योपनिषद्‌की पाँचवीं श्रुति है जिसको स्वामीजीने पदच्छेद करके लिखा है। गी० प्र० ने इसका प्रथम अर्थ यही किया है कि—"एक ही कालमें परस्पर विरोधी भाव, गुण तथा क्रिया जिनमें रह सकती हैं, वे ही परमेश्वर हैं। यह उनकी अचिन्त्य शक्तिकी महिमा है। पुनः,…वे श्रद्धा-प्रेम रहित मनुष्योंके लिये दूरसे दूर हैं और प्रेमियोंके लिये समीपसे समीप हैं।…।"

† यह कठ १।३।७ का पदच्छेद है। अर्थ—"जो सदा विवेकहीन बुद्धिवाला, असंयतचित्त और अपवित्र रहता है, वह उस परम पदको नहीं पा सकता, किंतु बारबार भवमें पड़ता रहता है।"

‡ यह श्रुतिका पदच्छेद है। अर्थात् "जो सदा विवेकशील बुद्धिसे युक्त, संयतचित्त और पवित्र रहता है वह उस परमपदको प्राप्त होता है जहाँसे पुनः लौटना नहीं होता।"

सदा सर्वदा वशमें रखनेवालेको ही 'स्थितप्रज्ञ' 'ब्रह्मनिष्ठ' कहते हैं। एक निमिषभर इन्द्रियोंको वशमें करनेसे सदा शीतलता, शान्ति सुखकी प्राप्ति नहीं होगी। जो योगी मन को 'सदा' वश नहीं कर सकते उनके लिये ही कहा है—'पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी। मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी।'

प० प० प्र०—"संतत दास बस···" इति। (क) जो मुनियोंको अनेक साधन करनेपर कहीं ध्यानमें आते हैं, वे दासके वशमें रहते हैं, 'संतत' सदाके लिये, यह आश्चर्य है पर सत्य है। जटायु पूर्णकाम हैं, वे 'दास' शब्दका प्रयोग कर रहे हैं इससे इसमें वैशिष्ट्य झलकता है। 'सब के प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती।'. इस वचनामृतमें 'सेवक' और 'दास' दोनों शब्द आए हैं। दासकी व्याख्या मानसकी इन चौपाइयोंसे हो जाती है—'विश्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे। जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं···।७.१३।', 'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा विश्वासा।' अर्थात् सब आशायें जिसने छोड़ दीं, एक मात्र प्रभुपर निर्भर है, प्रभुमें पूर्ण विश्वास है, किसी मनुष्यसे कभी कोई आशा नहीं करता, वही 'दास' है। सेवककी व्याख्या यह है—'सेवक सो जो करइ सेवकाई', 'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानइ जोई'। (पुरजनगीता ७.४३)। (ख) 'संसृति'—'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्' यही संसार है। प्रपंच और संसारमें भेद यह है कि प्रपंचमें विषयोंका संचय और विस्तार होता है—'प्रपंचः संचयेऽपि स्यात् विस्तरे च प्रतारणे।' इति मेदिनी। विषयोंमें ममत्व प्रपंच है और उसका फल है संसरण, भवचक्रपर घूमते रहना।

टिप्पणी—४ 'त्रिभुवनधनी···' का भाव कि तीनों लोक आपके अधीन हैं, ऐसे होते हुए भी आप दासोंके वशमें हैं, उनके लिए अवतार लेते हैं, पवित्र कीर्तिको फैलाते हैं; यथा 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तन धरहीं।'

☞ ५ (क) प्रथमही स्तुतिके प्रारंभमें कहा कि आप ही निर्गुण हैं आपही सगुण हैं, इसीसे दोनों रूपोंकी व्याख्या स्तोत्रभरमें की। 'जेहि श्रुति निरंजन···' इस छन्दमें निर्गुणका वर्णन किया और 'जो अगम सुगम···' इसमें सगुणका वर्णन किया। (ख) ब्रह्म और विष्णु दोनोंके अवतार होते हैं, यथा "ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद।१।५०।', "विष्णु जो सुरहित नरतनु धारी।" इस स्तुतिमें दोनों अवतरणोंका वर्णन है। विष्णुके छन्दमें 'रमानिवास' पद देकर उस छन्दमें विष्णुके रामावतारकी स्तुतिका होना स्पष्ट कर दिया। दोनोंके अवतारोंमें हृदयमें निवास माँगकर जनाया कि दोनों आपही हैं। (ग) प्रभुने कहा था कि 'देउँ काह तुम्ह पूरनकामा', इसपर गृद्ध्रराजने 'मम उर बसउ' और 'अविरल भक्ति' माँगी।

खर्रा—१ इस स्तवमें चार छन्द हैं। जान पड़ता है कि इनमें चारों वेदोंका अभिप्राय पृथक् पृथक् (एक एक छन्दमें एक एकका) दर्शित किया गया है।

२ गृद्ध्रराजके छन्दमें कई बातें स्मरण रखने योग्य हैं। इसमें कई नियम भंग हुए हैं। देखिए, एक ही चौपाईपर छन्द कहीं और ग्रंथभरमें नहीं आया। पुनः, छन्दोंमें पिछली चौपाईके अंतिम शब्द प्रायः सर्वत्र आए हैं पर यहाँ ऐसा नहीं हुआ। वैसे ही गृद्ध्रराजकी गतिमें यह अद्भुत बात हुई है कि 'धरि हरि रूप' अर्थात् यहीं हरिरूप हो गए। गति तो दशरथजी, शबरीजी, शरभंगजी इत्यादि कई भक्तोंने पाई, पर यह सारूप्यमोक्ष यहीं पृथ्वीपर ही प्रत्यक्ष इन्हींको मिला। प्रभुके लिए शरीर समर्पण कर दिया उसीका यह फल है, उसीसे यह अद्भुत गति और यह विलक्षणता यहाँ दिख रही है। दोहा ३२ का नोट भी देखिए।

दोहा—अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम।
तेहि की क्रिया* जथोचित निज कर कीन्ही राम ॥३२॥

---

* क्रया भा० दा०। क्रिया -का०, रा० प०।

अर्थ—अविरल भक्तिका वरदान माँगकर गृद्ध्रराज भगवद्धामको गए। श्रीरामचन्द्रजीने उनकी क्रिया जैसी उचित थी विधिपूर्वक अपने हाथोंसे की ॥३२॥

टिप्पणी—१ देखिए मुक्ति तो भगवान्ने अपनी ओरसे दी; यथा 'तन तजि तात जाहु मम धामा', पर भक्ति मांगनेपर मिली; यथा 'भगति माँगि वर', इससे मुक्तिसे भक्तिका दर्जा अधिक पाया गया; यथा 'प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही ॥ भगतिहीन गुन सब सुख कैसे। लवन बिना बहु व्यंजन जैसे ।७।८४।', 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् नहि भक्तियोगं' इति भागवते। विशेष ११(२१) में देखिये।

२ 'तेहि की क्रिया जथोचित....' इति। यथोचित=शास्त्रोक्त रीतिसे, जैसा कुछ शास्त्रमें विधान है। श्रीरामजी गृद्ध्रराजको पिताके समान मानते थे, अतः उसकी क्रिया स्वयं की। लक्ष्मणजीसे दाहकर्म न कराया, क्योंकि पिताकी क्रियाका ज्येष्ठपुत्र विशेष अधिकारी कहा गया है।

३ इस स्तोत्रमें नाम, रूप, लीला और धाम चारोंका महत्व कहा है।—(१) नाम—'ये राममंत्र जपंत संत०'। (२) रूप—'जय राम रूप अनूप...'। (३) लीला—'दससीस बाहु प्रचंड खंडन चंड सर०'। (४) धाम—'मागि वर गीध गयउ हरिधाम'।

नोट—१ दोहावलीके निम्न दोहे गृद्ध्रराजकी गतिपर स्मरण रखने योग्य हैं—

'दसरथ ते दसगुन भगति सहित तासु करि काज। सोचत बंधु समेत प्रभु कृपासिंधु रघुराज ॥'

अर्थात् दाहकर्म होनेपर जैसे प्राणीका शोक किया जाता है, वैसे ही प्रभुने शोक भी किया।

'प्रभुहि बिलोकत गोदगत सिय हित घायल नीचु। तुलसी पाई गीधपति मुकुति मनोहर मीचु ॥

रघुवर बिकल बिहंग लखि सो बिलोकि दोउ वीर। सियसुधि कहि सियराम कहि देह तजी मतिधीर ॥

मुये मरत मरिहैं सकल घरी पहरके बीच। लही न काहू आज लगि गीधराज की मीच ॥'

२—'क्रिया यथोचित कीन्ही।' इति। वाल्मी स० ६८ में लिखा है कि श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे जटायुके मरनेपर कहा कि यह पक्षी बहुत वर्षोंसे दण्डकारण्यमें बसता रहा है, आज वह मारा गया, काल बड़ा प्रबल है, उससे किसीकी नहीं चलती। देखो, आज यह हमारा उपकारी मारा गया! सीताकी रक्षा करनेके कारण बली रावणने इसे मारा। अपने पिता पितामहसे आया हुआ गृध्रोंका राज्य हमारे लिए त्यागकर हमारे लिए इसने अपने प्राण अर्पण कर दिए। धर्मात्मा सज्जन, शूर, शरणागतरक्षक पक्षिसमाज में भी पाये जाते हैं। सीताहरणका आज मुझे वैसा शोक नहीं है जैसा हमारे निमित्त प्राण न्योछावर कर देनेवाले इस गृध्रका—'सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य तथागतम्। यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परंतप। वाल्मी० ६८।२५।' जैसे महाराज दशरथ हमारे पूज्य और मान्य हैं, वैसे ही ये पक्षिराज भी हैं—'राजा दशरथः श्रीमान्यथा मम महायशाः। पूजनीयश्चमान्यश्च तथायं पतगेश्वरः ॥२६॥' लक्ष्मण! लकड़ी एकत्र करो मैं इन गृद्ध्रराजका जो मेरे लिए मारे गए, अग्नि संस्कार करूँगा। 'यज्ञ करनेवालोंको, अग्निहोत्रियों, युद्ध में सम्मुख लड़नेवालों और पृथ्वी दान करनेवालोंकी, जो गति प्राप्त होती है तुम उसीको प्राप्त हो, मैं तुम्हारा संस्कार कर रहा हूँ।' ऐसा कहकर अपने बान्धवोंकी तरह दुःखी होकर उनका संस्कार किया। उनको पिण्ड-दान दिया। उसके लिए उन मंत्रोंका जप किया जो ब्राह्मण मृतप्राणीको स्वर्ग प्राप्तिके लिए जपा करते हैं, गोदावरीमें स्नान करके उनके लिए जल दिया—'ततो गोदावरी गत्वा नदीं नरवरात्मजौ। उदकं चक्रतुस्तस्मै गृध्रराजाय तावुभौ ॥३५॥' (वाल्मी० स० ६८)

प० प० प्र०—१ 'धरि हरि रूपा' से उपक्रम करके 'गयउ हरिधाम' पर उपसंहार किया गया। 'हरि' शब्दका वैशिष्ट्य 'हरिरूपा' में लिखा गया।

२—'क्रिया जथोचित', यथा 'पितु ज्यों गीधक्रिया करि रघुपति अपने धाम पठायो। ऐसे प्रभुहि बिसारि तुलसी सठ तू चाहत सुख पायो। गी० ३.१६' पक्षियोंकी अन्त्यक्रिया किस शास्त्रमें लिखी है; आधुनिक चिकित्सक यह प्रश्न करेंगे अतः यह उद्धरण दिया गया। यह है प्रेमसद्भावना शास्त्र जो हरिविमुखों-

को अगम है। जिस विधिसे पिताकी क्रिया की-जाती है, उसी विधिसे की-गई । ऐसे अवसरोंमें जैसी भावना वैसी विधि !

प० प० प्र०--श्रीजटायुकृत स्तुति हस्तनक्षत्र है। दोनोंमें अनुक्रम, नाम, (तारा) संख्या, ( नक्षत्रका ) आकार और देवता इन पांचों बातोंका साम्य और 'गुणग्राम' की फलश्रुतिका साम्य नीचे दिखाया जाता है।

अनुक्रम--यह तेरहवीं स्तुति है और तेरहवाँ नक्षत्र 'हस्त' है।

नाम--यहाँ 'कर सरोज सिर परसेउ' से उपक्रम और 'निज कर कीन्हीं राम' से उपसंहार है। प्रत्यक्ष श्रीरामजीका 'कर' (हस्त) है और नक्षत्रका नाम भी 'हस्त' है।

आकार--हस्त नक्षत्रका आकार उसके नाम (अर्थात् मनुष्यके हाथ) के समान है। स्तुतिमें नक्षत्राकार साम्य बतानेमें एक बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि जैसा नक्षत्रके तारोंसे ही नक्षत्रका आकार बनता है वैसा स्तुति-नक्षत्रका आकार भी स्तुति-ताराओंसे ही बना हुआ बताना चाहिए। यह हाथ है रामजीका, अतः स्तुतिके तारे भी रामजीसे संबंधित होने चाहिएँ। हाथका आकार अंगुष्ठ और चार अंगुलियोंसे बनता है। आगे ताराओंका मिलान बताया जाता है उससे स्पष्ट हो जायगा।

तारा संख्या--हस्त नक्षत्रमें पाँच तारे हैं। (कहीं कहीं ज्योतिष ग्रन्थोंमें छः भी बताये गये हैं)। इधर स्तुतिके प्रत्येक छंदमें निर्गुणरूप, सगुण रूप, नाम, गुण और महिमा ( महिमाके दो विभाग, निर्गुणकी महिमा और सगुणकी महिमा, करनेपर छः तारोंका अस्तित्व भी मिलता है) इन पाँचोका अस्तित्व देखिए। 'जय राम रूप अनूप निर्गुण सगुण' इसमें नाम, सगुणरूप, निर्गुण रूप। 'गुणप्रेरक' से महिमा, 'अनुपम' से गुणका ग्रहण हो गया। दूसरे चरणमें, 'दससीस बाहु प्रचंड खंडन' में महिमा, 'चण्डसर' से सगुणरूप, 'मंडन मही' से गुण, 'पाथोदगात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं' में सगुण रूप। 'नित' से गुण, 'नौमि' से महिमा, 'राम' नाम, 'कृपाल' से गुण, 'बाहु बिसाल' से सगुण रूप, और 'भव-भयमोचन' से महिमा। इसी प्रकार चारो छंदोंमें 'महिमा नाम रूप (सगुण, निर्गुण) गुण' इन पांचोंका अस्तित्व देख लीजिए।

देवता—यह स्तुति है श्रीरामचन्द्रजीकी। श्रीरामजीको सूर्य कहा है। यथा 'राम सच्चिदानंद दिनेसा', 'भानुकुलभूषण भानु'। हस्तका देवता रवि है।

फलश्रुति--गुणग्राममें तेरहवीं फलश्रुति है—'काम कोह कलिमल करिगन के। केहरि सावक जन मन बन के।' और इस स्तुतिके "कामादि खल दल गंजनं", 'द्वंद्वहर'--( ये 'काम कोह कलिमल करिगण' हैं ), 'हृदय पंकज भृंग', "हृदय बसहु"—( इनमें 'केहरि सावक जन मन बनके' का भाव है )।

नोट--पाँच अंगुलियोंमें, अंगूठेकी जातिकी दूसरी नहीं है। (एकमेवाद्वितीय) इससे अंगूठा=निर्गुण रूप, और चार अँगुलियोंमें मध्यमांगुलि=सगुण रूप। तर्जनी=महिमा। अनामिका=नाम। और कनिष्ठिका=गुण। पं० वि० त्रि० लिखित 'मानस प्रसंग' के हस्तनक्षत्र-वर्णनसे जरूर मिलान कीजिए। ( प० प० प्र० )

कोमल चित अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला ॥१॥
गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी ॥२॥
सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी ॥३॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी अत्यन्त कोमल चित्त अत्यन्त दीनदयाल और कारणरहित कृपालु हैं ॥१॥ गृद्ध्र अधम पक्षी, मांसका खानेवाला—उसको वह गति दी जो योगी माँगा करते हैं ॥२॥ हे उमा ! सुनो वे लोग अभागे हैं जो भगवानको छोड़कर विषयोंसे अनुराग करते हैं (विषयासक्त होते हैं) ॥३॥

प० प० प्र०--(क) जटायुजीके उद्धारकी कथाका सार शिवजी पार्वतीजीको तीन चौपाइयोंमें बताते हैं। (ख) 'कोमल चित अति दीनदयाला' और 'कोमल चित दीनन्ह पर दाया' इन दोनों चरणोंमें 'कोमल

चित' कहकर 'दीनोंपर दया करनेवाले' ऐसा कहनेमें भाव यह है कि कोमल चित होनेपर भी सबका दुःख देखनेपर भगवान्‌का चित्त इतना द्रवीभूत नहीं होता जितना दीनोंके दुःख क्लेशादि देखनेपर होता है। यहाँके दीनका भाव 'नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना' में मिलता है। जो 'जन' (दास) होनेपर भी 'सकल साधन हीन' हैं, अथवा सब साधन करते रहनेपर भी जिनका दृढ़ विश्वास है कि मुझसे कुछ भी साधन नहीं बनता वे ही 'दीन' हैं।

टिप्पणी--१ 'कोमल चित अति दीनदयाला।०' इति।--'अति' दीपदेहरी है। भाव कि कोमल चित्त और दीनदयाल कहीं कहीं ही मिलते हैं और ये तो अत्यन्त कोमल चित हैं और अत्यन्त दीनदयाल हैं। कोमल चित हैं, अतः गृद्ध्रराजका दुःख देखकर न सह सके, सुनते ही आँसू भर आए और शरीर रखनेको कहा। दीनदयालु हैं, अतः मुक्ति दी, अपने हाथोंसे क्रिया की। और लोग कारणसे कृपालु होते हैं और ये कारणरहित कृपालु हैं, यथा 'हेतुरहित जग जुग उपकारी। तुम्ह···।७।४७।५।', 'अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल। १.२११।'

२ 'गीध अधम खग आमिषभोगी' इति। यहाँ 'आमिषभोगी' कहकर मांस-भक्षणको दोष ठहराया। यथा 'यस्त्विह वा उग्रः पशून्पक्षिणो वा प्राणत उपरन्धयति तमपकरुणं पुरुषादैरपि विगर्हितममुत्र यमानुचराः कुम्भीपाके तप्त तैले उपरन्धयन्ति। भा० ५.२६.१३।' अर्थात् जो महाक्रूर पुरुष इस लोकमें जीवित पशु या पक्षियोंको राँधता है, राक्षसोंद्वारा भी निन्दित उस निर्दय प्राणीको परलोकमें यमराजके सेवक कुंभीपाक नरकमें ले जाकर खौलते हुए तैलमें राँधते हैं। अधम और मांसभोजीको मुक्ति नहीं मिलती, ऐसेको भी मुक्ति दी और कैसी मुक्ति? 'जो जाचत जोगी' अर्थात् योगी लोग अष्टांगयोग साधन करके जिसकी याचना करते हैं। यह कारणरहित कृपालुता है। 'गति दीन्ही', यथा 'खल मनुजाद द्विजामिषभोगी। पावहिं गति जो जाचत जोगी। ६.४४.२।'

३ 'सुनहु उमा ते लोग अभागी।' इति। ( क ) विषयको त्यागकर श्रीरामपदानुरागी होनेसे मनुष्य भाग्यमान् कहा जाता है, भगवान्‌के धामको जाता है और हरिको त्यागकर विषयानुरागी होनेसे नरकको प्राप्त होता है, अतः उनको अभागी कहा। यथा 'अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी॥ ६.४४.६।', 'देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी॥ ६.४४.५।' (ख) 'ते लोग' का भाव कि जब गृद्ध्रने गति पाई तो मनुष्यको गति पानेमें सन्देह ही क्या हो सकता है? मनुष्य देह तो 'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा' है, इसे 'पाइ न जेहि परलोक सँवारा। सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ। कालहिं कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाइ। ७.४३।'

४ खर्रा-(क) यहाँ तो जटायुने सीताजीके लिए शरीर ही दे दिया तब 'कारन बिनु कृपालुता' कैसी?

उत्तर--जीवमें जो पुरुषार्थ है वह रामकृपासे है। गीतामें भगवान्‌ने यही कहा है कि पुरुषोंमें पुरुषत्व मैं ही हूँ, बलवानोंका काम-रागसे सर्वथा रहित बल और प्राणियोंमें धर्मसम्मत काम मैं ही हूँ, यथा 'पौरुषं नृषु।८। बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्। धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।११।' (अ० ७)। देखिए, संपातीने जब जटायुकी मृत्यु, सारूप्य प्राप्ति तथा परधाम-यात्रा आदिका वृत्तान्त वानरोंसे सुना तब उसने इसे रघुनाथजीकी महिमा, उनकी कृपा कही है। यथा 'सुनि संपाति बंधु कै करनी। रघुपति महिमा बहु बिधि बरनी।४.२७।' इसके पास भगवत्प्रेम और परोपकारशीलता छोड़ और क्या साधन था? यह देखकर भी जो भगवान्‌में प्रेम नहीं करते वे अभागे हैं। (ख) 'गीध अधम खग' कहनेसे अधमोद्धारण संबन्ध लग गया। [☞इससे उपदेश ग्रहण करना चाहिए कि भक्त भूलकर भी कभी यह न समझे कि यह कार्य मेरी करनीसे हुआ, यह विचार उठा कि वह गिरा, भक्ति गई। देखिए जटायुमहात्माने अपनेको अधम जन्तु-भक्षक इत्यादि कहा और प्रभुके दर्शन एवं अपनी सबको ईर्ष्या करानेवाली सद्‌गतिका भी कारण प्रभुकी कृपा ही मानी और क्यों न मानते? यथा 'त्रिजगजोनिगत गीध जनम भरि खाइ कुजंतु जियो हौं। महा-

गज मुहनी-समाज सब ऊपर आजु कियो हौं । गी० ३.१४ ।'; ऐसा कहना उनके योग्य ही था। यही नहीं यदि कभी कोई आपके पुरुषार्थकी प्रशंसा करे तो उसे अपना शत्रु ही समझिये। दूसरा भक्त भी उसमें प्रभुकी करनी और भक्त वत्सलता देखेगा । यही कारण है कि जटायुके भाई सम्पातीने भी बन्धुकी करनीको 'रघुपति महिमा' कही और पूज्य कवि भी इस गतिमें प्रभुकी ही प्रभुता, कृपालुता आदि कह रहे हैं—"गति दीन्ही" कहते हैं न कि 'गति पाई' ।--पूर्व भी इस विषयमें लिखा जा चुका है ]

'पुनि प्रभु गीध क्रिया जिमि कीन्ही' प्रसंग समाप्त हुआ ।

## 'कबंध-वध'-प्रकरण

पुनि सीतहि खोजत द्वौ भाई । चले बिलोकत बन बहुताई ॥४॥
संकुल लता बिटप घन कानन । बहु खग मृग तहँ गज पंचानन ॥५॥

शब्दार्थ--बहुताई = बहुतायत, अधिकता, सघनता । संकुल = परिपूर्ण ।

अर्थ--फिर दोनों भाई श्रीसीताजीको ढूँढ़ते हुए चले। वनकी बहुतायत और सघनता देखते जाते हैं ॥ ॥ लताओं और वृक्षोंसे भरपूर वह वन सघन है। उसमें बहुतसे पक्षी, मृग, हाथी और सिंह हैं ॥५॥

टिप्पणी—१ 'पुनि सीतहि खोजत द्वौ भाइ···' इति । ( क ) खोजतेसे प्रसंग छोड़ा था; यथा 'एहि विधि खोजत बिलपत स्वामी ।', वहींसे फिर प्रसंग उठाया। बीचमें गृद्ध्रराजके पास देर लगी। उनसे सीताजीकी खबर मिल गई, अतः अब विरहमें कुछ बीच पड़ गया। कुछ कमी उसमें आ गई। पहले "खोजत और बिलपत" दोनों बातें दिखाईं, अब विलाप नहीं करते, केवल खोजते हैं--यह विरहमें कमी जना रहा है। (ख) 'चले बिलोकत बन बहुताई' से भी विरहकी कमी सूचित होती है। कहाँ तो 'पूछत चले लता तरु पाती' और कहाँ अब उनसे पूछते नहीं, अब उन्हें देखते जा रहे हैं।

२ (क) खबर तो मिल गई कि रावण ले गया, पर यह न मालूम हुआ कि किस स्थानको ले गया, दिशाका निश्चय हुआ। यथा 'लै दच्छिन दिसि गयउ गुसाईं', न जाने कहाँ छिपा रखा हो। इसीसे कहते हैं कि 'पुनि सीतहि खोजत०'। (ख) 'बन बहुताई' वही है जिसकी आगे व्याख्या है--'संकुल लता०'। यथा 'तां दिशं दक्षिणां गत्वा शरचापासिधारिणौ। अविप्रहतमैक्ष्वाकौ पंथानं प्रतिपेदतुः ॥२॥ गुल्मैर्वृक्षैश्च बहुभिर्लताभिश्च प्रवेष्टितम्। आवृतं सर्वतो दुर्गं गहनं घोर दर्शनम् ॥३॥ वाल्मी० ३.६९ ।' अर्थात् दोनों भाई दक्षिण दिशाकी ओर गये। वह मार्ग अनेक गुल्मों और लताओंसे भरा और घिरा हुआ था, देखनेमें भयानक और प्रवेश करनेमें कठिन था।

आवत पंथ कबंध निपाता । तेहि सब कही साप कै बाता ॥६॥
दुर्बासा मोहि दीन्ही सापा । प्रभु पद पेखि मिटा सो पापा ॥७॥

अर्थ—रास्तेमें आते हुए कबन्धको मारा। उसने सब शापकी बात कही ॥६॥ मुझे दुर्वासाने शाप दिया था। प्रभुके चरणके दर्शनसे वह पाप मिट गया ॥७॥

'तेहि सब कही साप कै बाता' इति ।

किसी पुराणमें कथा है कि दुर्वासा ऋषिका भयङ्कर स्वरूप देखकर कबंध अपने रूपसौंदर्य्यके अभिमानसे उनपर हँसा था। कोई कहते हैं कि इन्द्रकी सभामें नाचगान कर रहा था, दुर्वासाजीको देखकर हँसा, उससे तालमें चूक गया, तब मुनिने शाप दिया। और कोई कहते हैं कि दुर्वासा इसके गानपर प्रसन्न न हुए तब यह उन्हें अनभिज्ञ कहकर हँसा इसपर मुनिने शाप दिया कि राक्षस होजा। अस्तु।

अ० रा० में अष्टावक्रका शाप कहा गया है और वाल्मी रा० में स्थूलशिरा ऋषिका शाप देना कहा है। यथा 'कश्चिन्नवनान्साम भक्षयामि ततस्ततः । ततः स्थूलशिरानाममहर्षिः कोपितो मया ॥३॥ स चिन्वन्विविधं वन्यं

रूपेणानेन धर्षितः । तेनाहमुक्तः प्रेक्ष्यैवं घोरशापाभिधायिना ॥४॥ एतदेवं नृशंसं ते रूपमस्तु विगर्हितम्। ३।७१।५।' अर्थात् मैं वनमें रहनेवाले ऋषियोंको डरवाया करता था। स्थूलशिरा मुझपर अप्रसन्न हो गए। वे वनमें फल चुन रहे थे, मैंने इस रूपसे उन्हें डरवाया। तब उन्होंने शाप दिया कि यह क्रूर रूप तेरा सदाके लिए रहेगा।

कबंधकी कथा—जनस्थानसे तीन कोसपर क्रौञ्चवन है। यहाँसे तीन कोस पूर्वकी ओर जाकर क्रौञ्चवनको पार करनेपर मतङ्गऋषिका आश्रम देख पड़ता है जो बड़े भयानक वनमें है। इस वनके बाद फिर एक गहन वन मिला, उसमें कबन्ध रास्तेपर मिला।

वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वह नीले मेघके समान भयानक था। उसके न मस्तक था न गला ही। शरीरके रोएँ तीक्ष्ण थे। छातीमें एक भयानक आँख थी और चारकोस लम्बी भुजाएँ थीं ज्योंही भयानक मुँह फैलाकर वह दोनों भाइयोंकी ओर उन्हें खानेको लपका, त्योंही दोनोंने उसकी एक-एक भुजा कंधेसे काटकर अलग कर दी। बाहुके कटनेपर वह पृथ्वीपर घोर शब्द करता हुआ गिर पड़ा और बड़ा दीन होकर उसने पूछा कि आप लोग कौन हैं? परिचय देनेपर वह बहुत प्रसन्न हुआ और अपना हाल श्रीराम-लक्ष्मणजीसे यों कहने लगा—

मैं इन्द्र, सूर्य्य और चन्द्रमाके समान सुन्दर अचिन्तनीय रूपवाला था, बड़ा पराक्रमी और महाबलवान् था। पर ऋषियोंको भयानकरूप धरकर डरवाया करता था। अन्ततोगत्वा स्थूलशिरामुनिने (जिनको मैंने फूल चुनते समय इस रूपसे डरवाया था) मुझे शाप दे दिया कि तेरा सदैव यही निन्दित रूप बना रहे। मेरी प्रार्थना पर उन्होंने शापानुग्रह यों किया कि जब श्रीरामचन्द्रजी तेरी भुजाएँ काटकर तुझे जलायेंगे तब तू पुनः अपने असली रूपको प्राप्त होगा। मैं दनुका पुत्र हूँ। मुनिके शापके पश्चात् मैंने तप करके ब्रह्माजीसे दीर्घायु पाई। तब इस अभिमानसे कि अब इन्द्र मेरा क्या कर सकता है, मैंने इन्द्रको ललकारा। उन्होंने ऐसा वज्र मारा कि मेरा मस्तक और जंघे शरीरमें घुस गए। मैंने प्रार्थना की कि मेरा सिर और मुख तो वज्रसे टूट गए। मैं बिना खाए कैसे जीवित रहूँगा? तब उन्होंने मुझे एक योजन लंबी भुजाएँ और पेटमें एक तीक्ष्ण दाँतवाला मुँह दिए जिसके द्वारा मैं चार कोस तकके पशु-पक्षी आदिको पकड़कर खा जाता था। जो भी सुन्दर पदार्थ देखनेमें आता, उसे मैं इस विचारसे खींच लाता कि एक न एक दिन श्रीरामचन्द्रजी भी मेरी पकड़में आजावेंगे, तब मेरा यह शरीर छूटेगा। (वाल्मी० ७१।१-१७)। अब आप मेरा अग्निसंस्कार सूर्य्यास्तके पूर्व ही कर दीजिए। शरीर जलते ही उसका दिव्य शरीर अग्निमेंसे प्रकट हुआ। वह हंसोंके रथपर तेजस्वी प्रकाशमय शरीरसे सुशोभित था। उसने शबरीजी और सुग्रीवका पता दिया। (सर्ग ७१।३१, सर्ग ७२, ७३)।

टिप्पणी—'प्रभुपद पेखि मिटा सो पापा' इति। इससे जाना गया कि शाप और अनुग्रह दोनों कहे। मुनिने अनुग्रह किया कि रामदर्शन होगा, उससे पाप शाप मिट जायगा। शापरूपी पापका प्रायश्चित्त रामचरणदर्शन हुआ।

सुनु गंधर्ब कहौं मैं तोही। मोहि न सोहाइ ब्रह्मकुल द्रोही ॥८॥

दोहा—मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव।
मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताकें सब देव ॥३३॥

अर्थ—हे गन्धर्व! सुन, मैं तुझसे कहता हूँ। मुझे ब्राह्मण कुलसे वैर करनेवाला नहीं सुहाता ॥८॥ मन कर्म वचनसे कपट छोड़कर जो भूदेव (ब्राह्मणों) की सेवा करता है, मुझ समेत ब्रह्मा शिव आदि सभी देवता उसके वशमें हो जाते हैं ॥३३॥

टिप्पणी—१ 'मोहि न सुहाइ ब्रह्मकुल द्रोही' अर्थात् हम ब्रह्मण्यदेव हैं, ब्राह्मणद्रोही हमारा द्रोही है।

सन:, मैं तुम्हें वध करता हूँ। पुनः, भाव कि ब्राह्मणके वैरीका मैं वैरी हूँ और उनके भक्तका मैं भक्त हूँ। मैं और त्रिदेव सभी ब्राह्मणभक्तके वश रहते हैं; यथा 'जौं विप्रन्ह बस करहु नरेसा। तौ तुअ बस बिधि बिस्नु महेसा। १।१६५।,' पर यहां दोहेमें विरञ्चि और शिवका नाम दिया, विष्णुका नहीं, ऐसा करके अपनेमें और विष्णु तथा नारायणमें अभेद दर्शाया।

२ (क) 'जो कर' अर्थात् जाति या वर्णाश्रमका नियम नहीं, कोई भी हो पर मनकर्मवचनसे कपट छोड़कर सेवा करे। कपटसे सेवा हो तो वह हमें नहीं वश कर सकता; क्योंकि 'मोहि कपट छल छिद्र न भावा। ५।४४।५।' ब्राह्मणसे कपट करना भगवान्‌से कपट करना है, क्योंकि वे भगवान्‌के रूप हैं; यथा 'मम मूरति महिदेवमई है। वि० १३९।', 'मन कर्म वचन' अर्थात् मनमें उनकी भक्ति रखे, तनसे सेवा करे, वचनसे मधुर बोले, स्तुति करे। स्वार्थकी चाह कपट है, यथा 'स्वारथ छल फल चारि बिहाई २।३०१।३।'; स्वार्थवश या दिखानेके लिए सेवा न करे। (मिलान कीजिए,—'किं तस्य दुर्लभतरमिहलोके परत्र च। यस्य विप्राः प्रसीदन्ति शिवोविष्णुश्च सानुगः॥ भा० ४।२२।८।', अर्थात् जिससे ब्राह्मणगण तथा अनुचरों सहित श्रीशिवजी और भगवान् विष्णु प्रसन्न हों, उसे लोक परलोकमें क्या दुर्लभ है।

प० प० प्र०—'विप्र चरन पंकज अति प्रीती' भक्ति-सोपानकी नींव है। अतः जिनको भगवत्कृपाकी आकांक्षा हो, उनको विप्र सेवा करनी चाहिए। 'कपट तजि' अर्थात् माया, आशा और विषयासक्तिको छोड़कर।

प्र०—भाव कि गंधर्व आदि देवताओंकी ब्राह्मण अपमानसे यह दशा पहुँच जाती है, तब अन्य जीव किस गिनतीमें हैं, इसीसे जान लो कि ब्राह्मणद्रोही हमको नहीं भाता।

सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता ॥१॥
पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुनगन ग्यान प्रबीना ॥२॥

शब्दार्थ—'कहंता' = कहनेवाला। परुष=कठोर।

अर्थ—सन्त ऐसा कहते हैं कि शाप देता हुआ मारता हुआ, और कठोर वचन कहनेवाला ब्राह्मण भी पूज्य है*। १। शील और गुणसे रहित ब्राह्मण पूजनीय है, गुणगण और ज्ञानमें निपुण शूद्र (पूजनीय) नहीं है। २।

टिप्पणी—१ (क) कवन्धने पहले दुर्वासाका शाप देना कहा था, इसीसे प्रभुने शापसे ही प्रारंभ किया। फिर ताड़न और परुषवचन बोलनेके संबंधमें कहा। (ख) तीन बातें दोषकी कहीं, उसपर भी विप्रको पूज्य कहा। ये तीनों बातें स्वयं अपने ऊपर बीतीं—नारदने शाप दिया और कठोर वचन कहे; यथा 'मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे', 'साप सीस धरि हरषि हिय प्रभु बहु बिनती कीन्ह।१।१३७' भृगुजीने लात मारी तो भी भगवानने उनकी प्रतिष्ठा ही की और भृगुचरणचिह्न आजदिन वक्षस्थलपर धारण किए ब्राह्मण-भक्तिका उदाहरण दे रहे हैं। लात मारनेपर उलटे उनके पैर दबाने लगे कि चोट न लगी हो, मेरी छाती कठोर है, आपके चरण कोमल हैं। यथा 'उर मनिहार पदिक की सोभा। बिप्रचरन देखत मन लोभा।१। १९९।६।', 'विलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं।' (मं० श्लोक)। परशुरामजी कटु वचन कहते गए तब भी यही कहा कि 'छमहु बिप्र अपराध हमारे', 'कर कुठार आगे यह सीसा'॥

२ (क) 'पूजिय बिप्र सील गुन हीना…' यह कहकर जनाया कि ब्राह्मण जातिसे (जन्मसे) पूजनीय है और शूद्र जातिसे नहीं पूजनीय हैं। इन दोषोंसे वह अपूज्य नहीं हो जाता और न उसे दोषी समझना

* यथा भागवते—'विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः। घ्नन्तं बहु शपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः॥१०।६४।४१।' अर्थात् मुझको माननेवाले लोग अपराधी ब्राह्मणोंका द्रोह न करें, चाहे वह हमारा नाश ही क्यों न करता हो, वह सदा पूजनीय ही है। (यह श्रीकृष्णजीने अपने कुटुम्बियोंको आज्ञा दी है)।

चाहिए। गुण अर्थात् सम, दम, तप, शौच आदि । (ख) विप्रके संग क्षत्रिय और वैश्यको न कहकर शूद्रको ही कहा। इसका कारण यह है कि शीलगुणहीन होनेसे ब्राह्मण शूद्रतुल्य है तथापि शूद्रको न पूजे पर शूद्रतुल्य ब्राह्मणको पूजे।

पं० रा० चं० शुक्ल—गोस्वामीजी कट्टर मर्यादावादी थे, यह पहले कहा जा चुका है। मर्यादाका भंग वे लोकके लिए मंगलकारी नहीं समझते थे। मर्यादाका उल्लंघन देखकर ही बलरामजी वरासनपर बैठकर पुराण कहते हुए सूतपर हल लेकर दौड़े थे। शूद्रोंके प्रति यदि धर्म और न्यायका पूर्ण पालन किया जाय, तो गोस्वामीजी उनके कर्मको ऐसा कष्टप्रद नहीं समझते थे कि उसे छोड़ना आवश्यक हो। यह पहले कहा जा चुका है कि वर्णविभाग केवल कर्मविभाग नहीं है, भाव-विभाग भी है। श्रद्धा, भक्ति, दया, क्षमा आदि उदात्त वृत्तियोंके नियमित अनुष्ठान और अभ्यासके लिए भी वे समाजमें छोटी बड़ी श्रेणियोंका विधान आवश्यक समझते थे। इन भावोंके लिए आलम्बन ढूँढ़ना एकदम व्यक्तिके ऊपर ही नहीं छोड़ा गया था। इनके आलम्बनोंकी प्रतिष्ठा समाजने कर दी थी। समाजमें बहुतसे ऐसे अनुन्नत अन्तःकरणके प्राणी होते हैं जो इन आलम्बनोंको नहीं चुन सकते। अतः उन्हें स्थूलरूपसे यह बता दिया गया कि अमुक वर्ग यह कार्य करता है, अतः वह तुम्हारी दयाका पात्र है; अमुक वर्ग इस कार्य्यके लिए नियत है, अतः वह तुम्हारी श्रद्धाका पात्र है। यदि उच्च वर्गका कोई मनुष्य अपने धर्मसे च्युत है, तो उसकी विगर्हणा उसके शासन और उसके सुधारका भार राज्यके या उसके वर्गके ऊपर है, निम्न वर्गके लोगोंपर नहीं। अतः लोक-मर्यादाकी दृष्टिसे निम्नवर्गके लोगोंका धर्म यही है कि उसपर श्रद्धाका भाव रक्खें, न रख सकें तो कम-से-कम प्रगट करते रहें। इसे गोस्वामीजीका Social discipline समझिये। इसी भावसे उन्होंने कहा है—'पूजिय बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुनगन ग्यान प्रबीना॥' जिसे कुछ लोग उनका जातीय पक्षपात समझते हैं। जातीय पक्षपातसे उस विरक्त महात्मासे क्या मतलब जो कहता है 'लोग कहैं पोचु सो सोचु न सँकोचु मेरे, ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं॥' काकभुशुण्डिकी जन्मान्तरवाली कथाद्वारा गोस्वामीजीने प्रकट कर दिया है कि लोकमर्य्यादा और शिष्टताके उल्लंघनको वे कितना बुरा समझते थे।

श्रुति प्रतिपादित लोकनीति और समाजके सुखका विधान करनेवाली शिष्टताके ऐसे भारी समर्थक होकर वे अशिष्ट सम्प्रदायोंकी उच्छृङ्खलता, बड़ोंके प्रति उनकी अवज्ञा चुपचाप कैसे देख सकते थे? ब्राह्मण और शूद्र, छोटे और बड़ेके बीच कैसा व्यवहार वे उचित समझते थे यह चित्रकूटमें वशिष्ट और निषादके मिलनसे देखिए [ अ० २४३ (६) देखिए ]। केवट अपनी छोटाईके विचारसे वशिष्ठ ऐसे ऋषीश्वरको दूरसे प्रणाम करता है, पर ऋषि अपने हृदयकी उच्चताका परिचय देकर उसे बार-बार गले लगाते हैं। वह हटता जाता है, वे उसे बरबस भेंटते हैं। इस उच्चतासे किस नीचको द्वेष हो सकता है? यह उच्चता किसे खलनेवाली हो सकती है?

☞ दोहा १६ चौ० ६ के लेख भी देखिए।

प० प० प्र०—स्कंद-पुराणमें इसी विषयपर एक दृष्टान्त दिया है—"दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न शूद्रो विजितेन्द्रियः। दुष्टां गां तु परित्यज्य कोऽर्चेच्छीलवतीं खरीम्।' शास्त्रकारोंने उत्तम, मध्यम, कनिष्ट और अधम ब्राह्मणोंके लक्षण दिये भी हैं तथापि उत्तम मध्यमादि ब्राह्मण अप्राप्य होनेपर ( जहाँ शास्त्रमें विप्रपूजा कही हो वहाँ ) ब्राह्मणका ही पूजन करना चाहिए, चाहे वह अधम ही क्यों न हो, उसके स्थानमें विजितेन्द्रिय शूद्र नहीं चलेगा। दुष्ट गौको त्यागकर गुणवती, शीलवती, रासभी (गदही) का ग्रहण कौन करेगा?

शास्त्र और संत निर्हेतुक उपदेशक होते हैं। अधिकारानुसार वे अधिकारियोंको भिन्न-भिन्न उपदेश देते हैं। श्रीतुकारामजी, श्रीसावंता मालीजी, श्रीगोराकुम्हारजी इत्यादि संत तो ब्राह्मणेतर वर्णके थे। उन्होंने ब्राह्मणोंके हितके लिए उनको भी कड़ी भाषामें उनका हित कर्त्तव्य बताया है। तथापि अन्य वर्गोंको उनके हितकी दृष्टिसे ब्राह्मण पूज्य हैं ऐसा ही उपदेश दिया है।

हम यहाँ शास्त्रका एक ही दृष्टान्त देते हैं—गृहस्थको सूर्य्यग्रहणमें श्राद्ध करने और ब्राह्मण भोजन करानेकी आज्ञा है तथापि ब्राह्मणके लिये शास्त्रने यही कहा है कि 'सूर्यग्रहणे श्राद्धान्त' भोजन करना महान् पाप है। दोनोंके हितमार्ग परस्पर विरोधी हैं। फिर भी यदि कोई लोभी ब्राह्मण मिल जाय तो गृहस्थको बड़ा पुण्य प्राप्त होगा। मनुष्यको अपने परम हितका विचार करना चाहिए। दूसरेके अवगुणोंकी चर्चा करनेसे लाभ तो होगा नहीं, हानि ही होगी।

'शूद्र न गुनगन ज्ञान प्रवीना' का अर्थ यह नहीं है कि विद्वान् शूद्रको मान सम्मान न देना चाहिए और अपमान तो किसी भी जीवका न करना चाहिए। फिर मानसमें ही 'सोचिय विप्र जो वेद विहीना। तजि निज धर्म विषय लय लीना।', 'विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी।' ऐसे भी तो वचन बहुत हैं। धर्मभ्रष्ट ब्राह्मणको क्या शिक्षा-दण्ड करना चाहिए यह भी शास्त्रोंने बताया है।

**कहि निज धर्म ताहि समुझावा। निज पद प्रीति देखि मन भावा ॥३॥**
**रघुपतिचरन कमल सिरु नाई। गयउ गगन आपनि गति पाई ॥४॥**

अर्थ—अपना खास धर्म कहकर उसे समझाया। अपने चरणोंमें उसका प्रेम देखकर वह मनको भाया अर्थात् उसपर प्रसन्न हुए ॥३॥ श्रीरघुनाथजीके चरण कमलोंमें माथा नवाकर, अपनी गति पाकर वह आकाशको गया।

टिप्पणी—१ (क) 'निजधर्म'=ब्रह्मण्यधर्म, द्विजभक्ति। [ वा, भागवतधर्म; यथा 'तब मम धर्म उपज अनुरागा ।१६।७।' (प० प० प्र०)। अथवा, वर्णाश्रम धर्म कि छोटेको बड़ेकी बराबरी न करना चाहिए। वा, 'निज निश्चित तत्व' (प्र०)। पर यहाँ प्रसंग 'ब्राह्मण पूज्य हैं' इसी धर्मका है और प्रभुने इस धर्मका पालन स्वयं करके दिखाया है, अतः यह उनका 'निजधर्म, ब्रह्मण्यदेव कहलाते भी हैं। भागवतधर्म भी संगत है।] (ख) 'निज पद प्रीति देखि।' ब्राह्मणभक्तिका फल हरिपदप्रीति है; यथा 'भूत दया द्विज गुर सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥ जहँ लगि साधन बेद बखानी। सबकर फल हरि भगति भवानी। ७.१२६।' जब ब्रह्मण्यधर्म कहकर समझाया तब तत्क्षण रामपदप्रीति उत्पन्न हो गई। उपदेशका फल तुरत लगा हुआ देख प्रसन्न हुए, अतः 'मन भावा' कहा। यथा 'सबके बचन प्रेमरस साने। सुनि रघुनाथ हृदय हरषाने। ७.४८।' [ 'मन भावा' से यह भी जनाया कि उसका प्रेम कपट-छल-छिद्र रहित था और उसका मन निर्मल था; यथा 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।' ( प० प० प्र० ) ]

२ 'रघुपतिचरनकमल सिरु नाई ।००' इति। (क) धर्मोपदेश सुननेके पश्चात् चरणोंमें माथा नवाया, अब स्वर्गको जा रहा है। (ख) चरणदर्शनसे पाप मिटा, यथा "प्रभुपद पेखि मिटा सो पापा", तब प्रभुके चरणोंमें प्रीति हुई; यथा 'निजपद प्रीति देखि मन भावा"। अतः चरणोंको माथा नवाकर स्वर्गको चला। अथवा, (ग) प्रथम पाप मिटा तब धर्मकी प्राप्ति हुई, यथा 'कहि निज धर्म ताहि समुझावा'। धर्मका फल है—रामचरणानुराग; सो प्राप्त हुआ, यथा 'जप जोग धर्म-समूह ते नर भगति अनुपम पावई'। तब चरणोंमें माथा नवाया कि इन चरणोंकी प्रीति मेरे हृदयमें सदा रहे।

३ 'आपनि गति' अर्थात् पूर्व गन्धर्व था, वही गन्धर्व हो गया। गोस्वामीजीके वचन बड़े सँभालके हैं। वाल्मीकिजी पूर्वरूप होना और कोई गन्धर्वरूप होना कहते हैं और अध्यात्ममें परमपद पाना कहा है—'याहि मे परमं स्थानं योगिगम्यं सनातनम्। ३.९.५५।' अतः 'आपनि गति' कहा।

'बधि कबंध'-प्रसंग समाप्त हुआ।

# 'सबरी गति दीन्ही'—प्रकरण

**ताहि देइ गति राम उदारा। सबरी के आश्रम पगु धारा ॥५॥**

अर्थ—उदार श्रीरामजी उसको गति देकर श्रीशबरीजीके आश्रमको पधारे ॥५॥

टिप्पणी—१ विराध, शरभंग, खरदूषणादि १४ सहस्र राक्षसों, मारीच, गीधराज और कबन्ध, इतनोंको गति देते चले आ रहे हैं और अब शबरीजीको गति देने जा रहे हैं। अर्थात् खोज-खोजकर गति देते हैं, अतः 'उदार' विशेषण दिया। यथा 'देखि दुखी निज धाम पठावा' ( विराध ), 'रामकृपा बैकुंठ सिधारा' (शरभंग), "रामराम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्बान" (खरदूषणादि), "मुनिदुर्लभ गति दीन्हि सुजाना" (मारीच), 'अबिरलभगति माँगि बर गीध गयउ हरिधाम', और 'गयउ गगन आपनि गति पाई'। शबरी गति, यथा 'तजि जोगपावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे'। [ जिसने न जाने कितने ऋषियों मुनियों, पशु-पक्षियों आदिका भक्षण किया और वाल्मीकीयके अनुसार स्वयं इन दोनों भाइयोंको पकड़ा था, उसको कितना कष्ट उठाकर गति दी, (लकड़ियाँ एकत्र कीं, गड्ढा खोदा, अग्नि प्रकट करके उसको जलाया); अतः उदार कहा। इस प्रसंगमें केवल ऐश्वर्य भाव ही प्रधान है। (प० प० प्र०) ]।

२ 'पगु धारा'=पधारे। यह मुहावरा आदर सूचित करता है। इसका प्रयोग मानसमें बड़े लोगों (गुरुजनों) के आगमनके समय किया गया है, यथा 'भयेउ समय अब धारिय पाऊ। १।३१३।७।', 'सब समेत पुर धारिय पाऊ। २।२४८।७।', 'पुर पग धारिय देइ असीसा। २.३१६.३।', "धन्य भूमि बन पंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाउँ तुम्ह धारा। २.१३६.१।", इत्यादि। तथा यहाँ 'सबरीके आश्रम पगु धारा'।

३ आश्रम मुनियोंके तथा भगवद्भक्तोंके स्थानको कहते हैं। शबरीजी परम भागवता हैं, यथा 'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें'। अतएव सभी वक्तालोग शबरीजीके निवासस्थानको 'आश्रम' कह रहे हैं। और, शबरीजी अपनेको अधम, कुजाति आदि समझती और कहती हैं, अपनी कुटीको घर कहती हैं, जैसे कोल-किरातोंके घर वनमें होते हैं तो भी वे कुटी या आश्रम नहीं कहलाते, वैसे ही ये अपनी कुटीको मानती हैं।

नोट—१ यह मान श्रीशबरीजीको वाल्मीकि और अध्यात्म रामायणमें भी दिया गया है, यथा 'अपश्यतां ततस्तत्र शबर्या रम्यमाश्रमम्। वाल्मी० ३.७४.४।', 'शनैरथाश्रमपदं शबर्या रघुनन्दनः।' (अ०रा० ३.१०.४)। यह आश्रम भी श्रीमतङ्गऋषिके आश्रममें ही जान पड़ता है या उन्हींका आश्रम है, जिसमें अब शबरीजी रह रही हैं, जैसा कबन्धके वचनसे सिद्ध होता है। यथा "तेषां गतानामद्यापि दृश्यते परिचारिणी। श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी॥ त्वां तु धर्मे स्थिता नित्यं सर्वभूतनमस्कृतम्। दृष्ट्वा देवोपमं राम स्वर्गलोकं गमिष्यति। वाल्मी० ३.७३.२६,२७।"; अर्थात् वे ऋषि तो चले गए, पर उनकी सेवा करनेवाली दीर्घजीवी शबरी-नामकी संन्यासिनी आज भी वहाँ है। सब प्राणियोंद्वारा नमस्कृत देवतुल्य शबरी आपका दर्शन करके स्वर्गको जायगी।

**सबरी देखि राम गृह आए। मुनि के बचन समुझि जिय भाए ॥६॥**
**सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला ॥७॥**
**स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई ॥८॥**
**प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा ॥९॥**

शब्दार्थ—'जिय भाए'=मन प्रसन्न हो गया, यथा "निजपद प्रीति देखि मन भाए"। 'समुझि'=विचार कर, याद करके।

अर्थ—श्रीरामजीको घरमें आए हुए देख मुनिके वचन स्मरणकर श्रीशबरीजी मनमें प्रसन्न हुईं ॥६॥ कमलनयन, विशालभुज (आजानुबाहु), सिरपर जटाओंका मुकुट और हृदय (वक्षस्थल) पर वनमाला धारण

निज प्रभु सुन्दर साँवले और गोरे दोनों भाइयोंके चरणोंमें शबरीजी लिपट पड़ीं ॥७,८॥ वे प्रेममें डूबी हैं, मुँहसे वचन नहीं निकलता, बारबार चरणकमलोंपर सिर नवा रही हैं ॥९॥

टिप्पणी—१ "मुनिके वचन समुझि जिय भाए"। श्रीमतङ्गजीने कहा था कि तुम इसी आश्रममें रहो, यहीं रामदर्शन होगा। उन्हीं वचनोंका स्मरण करके कृतकृत्य हो रही हैं, श्रीरामजीका आगमन अपने पुण्य-प्रभावसे नहीं मान रही हैं, सोचती हैं कि मेरे ऐसे पुण्य कहाँ! यह तो मुनिके आशीर्वचनका प्रभाव है।

नोट—१ वाल्मी० रा० के—'अद्य प्राप्ता तपः सिद्धिस्तव सन्दर्शनान्मया। अद्य मे सफलं जन्म गुरवश्च सुपूजिताः।११। अद्य मे सफलं तप्तं स्वर्गश्चैव भविष्यति। त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ।१२। तवाहं चक्षुषा सौम्य पूता सौम्येन मानद। गमिष्याम्यक्षयाँल्लोकांस्त्वत्प्रसादादरिन्दम।१३। चित्रकूटं त्वयि प्राप्ते विमानैरतुलप्रभैः। इतस्ते दिवमारूढा यानहं पर्यचारिषम्।१४। तैश्चाहमुक्ता धर्मज्ञैर्महाभागैर्महर्षिभिः। आगमिष्यति ते रामः सुपुण्यमिममाश्रमम्।१५। स ते प्रतिग्रहीतव्यः सौमित्रिसहितोऽतिथिः। तं च दृष्ट्वा वराँल्लोकानक्षयांस्त्वं गमिष्यसि।१६। (एवमुक्ता महाभागैस्तदाहं पुरुषर्षभ)। मया तु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्षभ।१७। वाल्मी० ७४।' अर्थात् 'श्रीशबरीजीसे कुशल प्रश्न करनेपर उन्होंने यह उत्तर दिया है—आपके दर्शनसे आज मैंने तपस्याकी सिद्धि पाई, मेरा जन्म सुफल हुआ, गुरुपूजा सफल हुई, आपके कृपावलोकनसे मैं पवित्र हो गई, आपके प्रसादसे मैं अक्षय लोकोंको जाऊँगी, जिन ऋषियोंकी मैं सेवा करती थी, वे आपके चित्रकूटमें आनेपर, स्वर्गको चले गए। उन महर्षियोंने मुझसे कहा था कि श्रीरामचंद्रजी इस पवित्र आश्रममें आवेंगे। लक्ष्मणसहित उनका आतिथ्य सत्कार करना। उनके दर्शनसे तुम अक्षय श्रेष्ठ लोकको प्राप्त होगी। उसी दिनसे मैंने आपके लिए अनेक जंगली फल संचित कर रखे हैं। ☞ इन वचनोंसे महर्षि मतङ्गजीकी परधामयात्रा श्रीरामजीके चित्रकूटागमनके पश्चात् सिद्ध होती है। टीकाकारोंने दश हजार वर्ष पूर्व महर्षिका परलोकगमन लिखा है।

टिप्पणी—२ 'सरसिज लोचन बाहु बिसाला…' इति। प्रभुने शबरीजीको शृङ्गाररूपसे दर्शन दिए। विश्वामित्रजीके साथ जाते समय वीररूप कहा और विभीषणजीके मिलापमें भी वीररूप कहा—इन दोनोंमें वीररूपका ही काम था, क्योंकि दोनों शत्रुओंसे पीड़ित थे। स्त्रियोंको शृंगाररूपकी ही भावना प्रायः रहती है, अतः यहाँ शृंगाररूप कहा गया। [ लोचनसे शृंगार जब शुरू होता है, तो वह शृंगार-भावना जरूर सूचित करता है।—( दीनजी ) ]

खर्रा—'उर बनमाला' इति। वनमालामें तुलसी भी होती है, यथा 'सुंदर पट पीत बिसद भ्राजत उरसि तुलसिका प्रसून रचित बिबिध बिधि बनाई'—(गी०)। इसके पूर्व वनमें कहीं वनमालाका वर्णन नहीं किया गया। जान पड़ता है कि मुनियोंने पहनाया है। इसे दिखाकर शबरीजीको जनाते हैं कि तुम सोच न करो, हमने तो दैत्य (जलंधर) की स्त्रीको पावन करके धारण किया है ( फिर तुम्हें क्यों न धारण करेंगे )। यहाँके ध्यानमें धनुषबाण आदि नहीं कहे गये क्योंकि शबरीजी वीररसकी उपासिका नहीं हैं।

नोट—२ गीतावलीसे स्पष्ट है कि श्रीशबरीजी वात्सल्यरसकी उपासक थीं। यथा 'सो जननि ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भायके॥', 'अति प्रीति मानस राखि रामहि रामधामहि सो गई। तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जलअंजलि दई॥' ( आ० पद १७ )। 'वनमाला', यथा "तुलसी कुन्द मंदार पारिजात सरोरुहैः। पंचभिर्ग्रथितं माला वनमाला विभूषितः' ॥ दोहा—'तुलसी अरु मंदार पुनि पारिजात एक होय। कुन्द कमल ग्रंथित जहाँ वनमाला कहि सोय।'

श्रीमनुशतरूपाजीके सामने जब श्रीसीतारामजी प्रकट हुए, तब भी वनमाल पहने थे—'उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला।१.१४७.३।', और श्रीकौसल्याजीके सामने जब सूतिकागारमें प्रकट हुए तब भी वनमाल पहने थे; यथा "भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी।१.१९२।" श्रीशतरूपाजी तथा श्रीकौसल्याजीको भी वात्सल्य भाव था। मातायें मुखारविंद देखा करती हैं, बच्चोंका शृङ्गार उनको प्रिय लगता है।

अतः उसी भावसे श्रीशबरीजी दोनों भाइयोंका छविसिंधु मुखारविंद देख रही हैं। फिर इतना ही नहीं, श्रीशबरीजीको इनके ऐश्वर्यका ज्ञान है, यह मानसके इस प्रसंगभरसे स्पष्ट है और वाल्मीकीयके पूर्वोक्त उद्धरणसे भी; अतः वे अपना परम भाग्य मानकर प्रेममें मग्न हैं।

टिप्पणी—३ 'सबरी परी चरन लपटाई' इति। प्रेमकी विह्वलतासे चरणोंमें लपटना कहा। यथा 'जाइ जननि उर पुनि लपटानी।१.१०२।' (पार्वतीजी), 'बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी ॥२.५७.६।' (कौसल्याजी), तथा यहाँ 'सबरी परी चरन लपटाई'।

४ 'प्रेम मगन मुख बचन न आवा...' इति। 'प्रेम मगन' यह मनकी दशा है, 'बचन न आवा' वचन और 'पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा' यह तनकी दशा है। मन, वचन, कर्म तीनोंसे प्रेममें डूबी हुई हैं। (ख) "पुनि पुनि सिर नावा" यह प्रेमके मारे; यथा 'देखि राम छबि अति अनुरागीं। प्रेम बिबस पुनि पुनि पग लागीं।१.३३६.१।', 'तब मुनि हृदय धीर धरि गहि पद बारहिं बार।१०।', 'बारबार नावइ पद सीसा। प्रभुहि...।४.७।' ये सब प्रेमकी दशायें हैं; यथा 'कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूछा।२.२४२।' (प्र०)।

प० प० प्र०—शबरीका मन प्रेममें डूब गया। अपने युगल कमल नयनोंके प्रेमजलसे चरणोंको नहला रही हैं। उठ नहीं सकतीं, शरीर शिथिल है, अतः पुनः पुनः चरणोंपर अपना सिर-सरोज रखती हैं। यह क्रम चल रहा है। सरोजको शिरका ही विशेषण लेना उचित है। मानों सिररूपी कमलको चढ़ाकर बार बार पूजा कर रही हैं। 'पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा।'—इस भावसे कि 'सोतें होइ न प्रत्युपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा।'

**सादर जल लै चरनि पखारे। पुनि सुंदर आसन बैठारे ॥१०॥**

**दोहा— कंदमूल फल सुरस अति, दिये राम कहुँ आनि।**
**प्रेम सहित प्रभु खाए, बारंबार बखानि ॥३४॥**

अर्थ—आदरपूर्वक जल लेकर (दोनोंके) चरण धोये। फिर सुन्दर आसनपर उनको बिठाया ॥१०॥ अत्यन्त रसीले और स्वादिष्ट कन्दमूल फल लाकर श्रीरामजीको दिए। प्रभुने बारम्बार उनकी प्रशंसा करते हुए प्रेमपूर्वक उन्हें खाया ॥३४॥

नोट—१ "सादर...चरन पखारे" इति। सादर अर्थात् श्रद्धा-भक्तिपूर्वक परात आदि किसी बर्तनमें चरण रखकर प्रेमसे पुलकित शरीर होकर इत्यादि रीतिसे चरण धोये, चरणोदकको पान किया, शरीरपर छिड़का इत्यादि सब कृत्य इस शब्दसे जना दिये। यथा "रामलक्ष्मणयोः सम्यक्पादौ प्रक्षाल्य भक्तितः। तज्जलेनाभिषिच्याङ्गम्" "आ० रा० ३.१०.७", "लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तन पुलकावली।१.३२४ छंद।" ऐसे प्रेमसे चरण धोये कि आज प्रभुका पंथश्रम जाता रहा, यथा 'पद पंकजात पखारि पूजे पंथ श्रम बिरहित भए। गी० ३.१७' अभी दोनों भाई खड़े ही हैं, यह चरण-प्रक्षालन आदि खड़े ही समयका व्यवहार है।

प० प० प्र०—१ अभीतक दोनों भाई खड़े ही हैं, यह प्रेम-मग्न होनेसे जाना भी न गया। यह स्थिति कितनी श्लाघनीय है। यहाँ केवल 'चरन' शब्द है, पंकज आदि विशेषण नहीं हैं। आगे भी 'बार बार प्रभु पद सिरु नाई।३६.१३।' कहा है। शबरी भीलिनी थी, मुनियोंकी सेवा करती थी, इससे उसके करोंका कोमल होना असंभव था, कठोर हाथोंसे कोमल-चरणको धोनेकी बात सुनकर उपासकोंको दुःख होता, इसीसे प्रभुके चरणोंको कमल न कहा। चरण शब्दसे दिखाया कि घूमते-घूमते पैरोंमें ढट्ठे पड़ गये थे। हाँ, जब शबरीजी हृदयमें धारण करती हैं तब 'पंकज' विशेषण देते हैं, क्योंकि हृदय भी कोमल है, उसमें कोमल चरणोंको रखा है—'हृदय पद पंकज धरे।' [ गीतावलीमें 'आश्रम लै दिए आसन पंकज पाय पखारि॥ पदपंकजात पखारि पूजे पंथ श्रम बिरहित भए।३.१७।' ऐसा कहा है। ]

नोट—२ 'सुंदर आसन'—पुष्प आदिका वा अन्य पवित्र सुन्दर आसन। ( पं० रा० कु० )। स्मरण रहे कि यह वसंतऋतुका समय है। शबरीजी प्रति दिन भगवान्‌के लिये सुन्दर सुगंधित वन-पुष्पों तथा कोमल नव पल्लवोंसे रमणीय, मनोहर, मृदु आसन रचकर रखती थीं, जिनसे सुगंध निकला करती थी, इन आसनोंपर बिठाया। इसीसे 'बैठारे' कहा, आसन लाकर दिये ऐसा न कहा। भाव कि जहाँ ऐसे आसन बनाकर रक्खे थे, वहाँ ले जाकर बैठाया। ( प० प० प्र० )।

टिप्पणी—१ 'कंदमूल फल सुरस अति०' इति। 'सुरस अति' का भाव कि सुरस तो सभी मुनियोंके कन्दमूलफल थे, पर इनके अत्यन्त सुरस हैं, इससे इनके प्रेमको भी अति सरस जनाया। यथा 'जानत प्रीति रीति रघुराई। नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई॥···घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जब पहुनाई। तब तब कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई।' ( वि० १६४ )। जो रस इनमें है उसके जानकर भी प्रभु ही थे। इसीलिए ऋषियोंके फलोंका बखान न करके शबरी फलोंकी प्रशंसा सर्वत्र की है।

२ 'प्रेम सहित प्रभु खाये बारंबार बखानि'। भाव की फलोंकी मिठाई प्रधान नहीं है, प्रधान है यहाँ प्रेमकी मिठाई जो फलोंमें आ गई है। "बारंबार" अर्थात् जितने बार मुखमें ग्रास लेते हैं कमसे कम उतनी बार तो अवश्य ही प्रसंशा करते हैं। भोजनकी प्रसंशा करनेका निषेध भारतमें किया गया है? पर यहाँ तो प्रेम है, प्रेममें नेम नहीं रह जाता। अथवा, यहाँ इसीसे 'प्रभु' पद दिया कि वे तो समर्थ हैं और 'समरथ कहँ नहीं दोष गोसाईं'। वे ईश्वर हैं, दोष जीवोंके लिए है। शबरीके फलोंकी प्रशंसा श्रीरघुनाथजीने अवध-मिथिलामें भी की; यथा 'घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे०', क्योंकि प्रेम ही प्रेम है।

नोट—३ कुछ महात्माओंका मत है कि लक्ष्मणजीने फल नहीं खाए और यहाँ भी कुछ स्पष्ट नहीं लिखा है कि लक्ष्मणजीने भी खाए। अन्य स्थानोंमें खानेका स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—(क) निषादराजके यहाँ 'सिय सुमंत्र भ्राता सहित कंदमूल फल खाइ। २।८६।' ( ख ) भरद्वाज मुनिके यहाँ 'सीय लषन जन सहित सुहाये। अति रुचि राम मूल फल खाये। २।१०७।३।' और, ( ग ) वाल्मीकिजीके यहाँ भी 'सिय सौमित्रि राम फल खाये। २।१२५।४।' स्पष्ट लिखा गया है। यहाँ स्पष्ट न लिखनेका कारण यह है कि अध्यात्ममें लक्ष्मणजीका १२ वर्ष भोजन न करना कहा है। ( खर्रा )। परन्तु गीतावलीमें दोनोंका खाना लिखा है; यथा 'केहि रुचि केहि छुधा सानुज मांगि मांगि प्रभु खात।···बालक सुमित्रा कौसिलाके पाहुने फल साग के। सुनु समुझु तुलसी जानु रामहिं बस अमल अनुराग के'। ( गीतावलीका यह पूरा पद पढ़ने योग्य है। अतः उसे आगे उद्धृत किया जाता है )।

इस तरह यहाँ "दिये राम कहुँ आनि", "प्रभु खाए बारंबार बखानि" मात्र कहकर मानसकविने सब ऋषियोंके मतोंकी रक्षा कर दी है। स्वामी प्रज्ञानानंदजीका भी मत यही है कि वाल्मीकिजीके आश्रमपर फल खानेके पश्चात् फिर कहीं लक्ष्मणजीका फल खाना न लिखकर जनाया गया है कि तत्पश्चात् उन्होंने फल भी खाना छोड़ दिया। इसीसे अत्रिके आश्रममें भी 'दिये मूल फल प्रभु मन भाए। ३।३।८।' कहा है, लक्ष्मणजीका नाम नहीं लिया गया। ( यह भाव लंकाकांडमें मेघनादके प्रसंगमें प्र० सं० में दिया गया है )। इसीने जानबूझ कर लक्ष्मणजी का नाम नहीं रखा गया है। विश्वामित्रने बला और अति बला विद्या दोनों भाइयोंको दी ही थीं—'जाते लाग न छुधा पिपासा।'

गी० ३.१७।—"सबरी सोइ उठी फरकत बाम बिलोचन बाहु। सगुन सुहावने सूचत मुनि मन अगम उछाहु॥
मुनि अगम उर आनंद लोचन सजल तनु पुलकावली। तृनपर्नसाल बनाइ, जल भरि कलस, फल चाहन चली॥
मंजुल मनोरथ करति, सुमिरति बिप्रबर बानी भली। ज्यों कलपबेलि सकेलि सुकृत सुफूल फूली सुखफली॥१
प्रानप्रिय पाहुने ऐहैं राम लषन मेरे आजु। जानत जन जिय की मृदु चित राम गरीबनिवाजु॥
मृदु चित गरीबनिवाज आजु बिराजिहैं गृह आइकै। ब्रह्मादि संकर गौरि पूजित पूजिहौं अब जाइकै॥
लहि नाथ हौं रघुनाथ बानो पतितपावन पाइकै। दुहुँ ओर लाहु अघाइ तुलसी तीसरेहु गुन गाइकै॥२

दोना रुचिर रचे पूरन कंद मूल फल फूल। अनुपम अमियहु तें अंबक अवलोकत अनुकूल ॥
अनुकूल अंबक अंब ज्यौं निज डिंभ हित सब आनि कै। सुंदर सनेह सुधा सहस जनु सरस राखे सानि कै ॥
छन भवन छन बाहर बिलोकति पंथ भू पर पानि कै। दोउ भाइ आये सबरिका के प्रेमपन पहिचानि कै ॥३
स्रवन सुनत चली आवत देखि लषन रघुराउ। सिथिल सनेह कहे, है सपना बिधि कैधौं सतिभाउ ॥
सति भाउ कै सपनो ? निहारि कुमार कोसलराय के। गहे चरन जे अघहरन नतजन बचन मानस कायके ॥
लघुभागभाजन उदधि उमग्यो लाभसुख चित चाय कै। सो जननि ज्यों आदरी सानुज राम भूखे भाय के ॥४
प्रेम पट पाँवड़े देत सुअरघ बिलोचन बारि। आस्रम लै दिए आसन पंकज पायँ पखारि ॥
पद पंकजात पखारि पूजे पंथ श्रम बिरहित भए। फल फूल अंकुर मूल धरे सुधारि भरि दोना नए ॥
प्रभु खात पुलकित गात स्वाद सराहि आदर जनु जये। फल चारिहू फल चारि दहि परचारि फल सबरी दये ॥५
सुमन बरषि हरषे सुर, मुनि मुदित सराहि सिहात। केहि रुचि केहि छुधा सानुज माँगि माँगि प्रभु खात ॥
प्रभु खात माँगत देत सबरी राम भोगी जाग के। पुलकत प्रसंसत सिद्ध सिव सनकादि भाजन भाग के ॥
बालक सुमित्रा कौसिला के पाहुने फल साग के। सुनु समुझि तुलसी जानु रामहि बस अमल अनुराग के ॥६
रघुबर अँचइ उठे सबरी करि प्रनाम कर जोरि। हौं बलि बलि गई पुरई मंजु मनोरथ मोरि ॥
पुरई मनोरथ स्वारथहु परमारथहु पूरन करी। अघ अवगुनन्हि की कोठरी करि कृपा मुद मंगल भरी ॥
तापस किरातिनि कोल मृदु मूरति मनोहर मन धरी। सिर नाइ आयसु पाइ गवने परमनिधि पाले परी ॥७
सिय सुधि सब कही नखसिख निरखि निरखि दोउ भाइ। दै दै प्रदच्छिना करति प्रनाम न प्रेम अघाइ ॥
अति प्रीति मानस राखि रामहि रामधामहि सो गई। तेहि मातु ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल-अंजलि दई ॥
तुलसी भनित सबरी प्रनति रघुबर प्रकृति करुनामई। गावत सुनत समुझत भगति हिय होइ प्रभुपद नितनई ॥८'

नोट—४ वाल्मीकि, अध्यात्म और मानसमें कहीं जूठे फलोंका खाना नहीं लिखा है, पर भक्तमालमें जूठे फलोंका खाना कहा है, यथा 'ल्यावै वन बेर लागी रामकी औसेर फल चाखे धरि राखे फिरि मीठे उन्हीं योग हैं। मारगमें रहे जाइ लोचन बिछाइ कभू आवैं रघुराई दृग पावैं निज भोग हैं।' (भक्तिरसबोधिनी टीका क० ३५)। कुछ लोगोंका मत है कि वृक्षका एक बेर लेकर चखती थीं, यदि वह मीठा होता तो उसीके बेर लेकर रख लेती थीं और वही प्रभुको खिलाए। जूठेमें यह आपत्ति है कि मर्यादापुरुषोत्तम ऐसा न करते। यह कहना भी उचित ही है, पर साथ ही यह भी है कि शबरीजी इनको राजकुमार नहीं समझती थीं, भगवान् ही समझती थीं—यह सभी रामायणोंसे सिद्ध है और भगवान् प्रेमके भूखे हैं, उनके लिए क्या जूठा क्या अनूठा। प्रेमी ही इस बातको समझ सकता है दूसरा नहीं। दूसरे, इसका उत्तर क्या है कि 'जिस हाथसे बेर खाया, उसी जूठे हाथसे फिर तोड़े, तब वे फल भगवान्‌के योग्य रहे ? क्या वे भी जूठे नहीं तो अनूठे कहलायँगे ? 'क्या शबरी बार-बार वनमें हाथ धोनेके लिए जल लिए रहती थीं ? कदापि नहीं। इस प्रश्नका उत्तर प्रेमियोंको क्या दिया जायगा। हमारी समझमें नहीं आता। यह कहना पड़ता है कि यह (प्रेम) गली कुछ और ही है। आज भी जहाँ कट्टर कर्मकाण्डी उपासक भगवान्‌को विना चखे भोग लगाते हैं वहाँ हम देखते हैं कि प्रेमी विना चखे कभी प्रभुको कोई पदार्थ अर्पण नहीं करते, यद्यपि लोक व्यवहारमें तो किंचित् भी चख लेनेसे वह पदार्थ भगवान्‌के योग्य नहीं समझा जाता। प्रेम-पंथमें अधर्म भी धर्ममें गिना जाता है, जैसे वसुदेवजीने कंससे प्रतिज्ञा की-थी कि सब लड़के दे देंगे पर प्रतिज्ञा छोड़ नन्दजीके यहाँ कृष्णजीको पहुँचा दिया। यह अधर्म भी धर्म ही माना जायगा। कहा जाता है कि पद्मपुराणमें लिखा है कि शबरी बेरोंकी परीक्षा लेकर मीठे बेर रखती थी। पुनः, यथा "प्रेम्नावशिष्टमुच्छिष्टं भुक्त्वा फल चतुष्टयम्। कृतारामेण भक्तानां शबरी कबरी मणिः ॥" (इति प्रेमपत्तने), 'फलमूलंसमादाय परीक्ष्य परिभक्ष्य च। पश्चान्निवेदयामास राघवाय महात्मने ॥' अर्थात् 'प्रेमसे अवशिष्ट जूठे चार फलोंको भोजन करके श्रीरघुनाथजीने शबरीको भक्तोंकी चूड़ामणि बना दी ॥ 'फल और मूल लाकर और खाकर उनकी परीक्षा करके तदनन्तर रघुपतिजीको निवेदन किया।' (पद्म पु०)। कोई कोई कहते हैं कि पद्म पु० में ऐसा नहीं है।

☞ गोस्वामीजी इस ग्रन्थमें सब ऋषियोंकी मर्यादा सर्वत्र रखते चले आये हैं। इससे उन्होंने इस जिसमें 'सुरस' पद देकर जूठेका भी भाव गुप्त रीतिसे दरसा दिया है। प्रभुमें शबरीजीका वात्सल्य भाव था, जैसा गीतावलीसे स्पष्ट है। इस भावसे तो जूठे फल खिलानेमें कोई आपत्ति ही नहीं रह जाती। फिर आगे प्रभु स्वयं उससे कहते हैं कि मैं तो केवल भक्तिका नाता मानता हूँ, मुझे जाति-पाँतिसे किसीके सरोकार नहीं है।

पानि जोरि आगे भइ ठाढ़ी। प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी ॥१॥
केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़ मति भारी ॥२॥
अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी ॥३॥

अर्थ—हाथ जोड़कर आगे खड़ी हुई। प्रभुको देखकर प्रेम अत्यन्त बढ़ गया ॥१॥ मैं किस प्रकार आपकी स्तुति करूँ। मैं अधम जातिकी हूँ, बड़ी ही जड़बुद्धि ( मूढ़ ) हूँ ॥२॥ हे अघारी ( पापके शत्रु, पापके नाशक )! जो अधमसे अधममें भी अत्यन्त अधम स्त्रियाँ हैं, उनमें भी मैं मन्दबुद्धि हूँ ॥३॥

टिप्पणी—१ 'पानि जोरि आगे भइ ठाढ़ी।००'। (क) 'खड़ी हुई' से जनाया कि बैठे-बैठे खिला रही थीं। जब वे भोजन कर चुके, तब हाथ जोड़कर खड़ी हुई। अबतक चित्तकी वृत्ति पूजा करने, भोजन करानेमें लगी रही। (ख) प्रभुको देखकर प्रीति अत्यन्त बढ़ी अर्थात् बढ़ी तो पूर्वसे ही थी, अब चित्तकी वृत्ति केवल दर्शनमें लगी; इससे वह प्रीति और भी अधिक बढ़ गई। पुनः, भाव कि शबरी नहीं खड़ी हुई वरन् प्रभुको देखकर मानों मूर्त्तिमान प्रीति आकर खड़ी है ( बढ़ आई है )। (ग) पूजाके बाद स्तुति चाहिए, उसपर कहती हैं कि किस प्रकार करूँ? स्तुति करनेकी सामर्थ्य विद्या पढ़नेसे होती है और मैं अधम हूँ, विद्या पढ़नेका मुझे अधिकार नहीं और बुद्धि जड़ ही नहीं किन्तु भारी जड़ है। [ भाव कि आप अपनी कृपासे ही प्रसन्न हों, यथा, अध्यात्मे—'स्तोतुं न जाने देवेश किं करोमि प्रसीद मे।' ( ३.१०.१६ )। ब्रह्मादिक समर्थ नहीं हैं तब मैं तो अवगुणोंसे भरी हुई हूँ, कैसे स्तुति करनेको समर्थ हो सकूँ? (प्र०)। भाव कि आपकी महिमा अमित है और मेरी बुद्धि अत्यन्त क्षुद्र है। ] 'भारी जड़' का भाव कि प्रायः स्त्रियों की बुद्धि जड़ होती है, यथा—'अबला अबल सहज जड़ जाती' और मेरी तो सबसे अधिक जड़बुद्धि है और मैं भारी जड़ हूँ।

२ अधम ते अधम अधम अति नारी।००' इति। (क) जातिसे अधम पहले कह चुकीं। भीलकी जाति अधम कही गई है; यथा 'जासु छाँह छुइ लेइय सींचा', 'जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा' ( ७.१०० )। अब कहती हैं कि मैं अधमसे भी अधम हूँ अर्थात् अपनी जातिमें भी भ्रष्ट हूँ, यथा 'जातिहीन अघजन्म महि०'। पुनः, (ख) स्त्री हूँ अतः अति अधम हूँ। 'अति' का आशय यह है कि स्त्रियाँ स्वभावसे अधम मानी जाती हैं, मैं सब स्त्रियोंसे बढ़कर अधम हूँ और स्त्रियाँ मंद मैं 'अति मंद'। ( 'अति मंद' पाठ पं० रामकुमारजीने रखा है और काशीकी प्रतिमें भी है )। उत्तरोत्तर अपकर्ष वर्णन 'सार अलङ्कार' है।

खर्रा—'अधम ते अधम०' ब्राह्मणकी अपेक्षा क्षत्रिय, क्षत्रियकी अपेक्षा वैश्य और वैश्यकी अपेक्षा शूद्र अधम हैं। शूद्र और नारी एक समान हैं, इससे दोनोंको समीप ही कहा। उन स्त्रियोंमें भी मैं अति मंद हूँ। वा, ब्राह्मणकी स्त्री शूद्र तुल्य, क्षत्रियकी उससे अधम और क्षत्रियसे वैश्यकी अधिक अधम है। शूद्रकी स्त्री सबसे अधम है और मेरी जाति तो वर्णसंकर है, अतएव मैं 'अति अधम' हूँ।❀

---

❀ वन्दनपाठकजी—यथा 'आभीराः कुर्म्मणोध्राः कैवर्त्ता नापितस्तथा। पंच शूद्राः प्रशंस्यन्ते षष्ठोपि द्विजसेवकः ॥ १ ॥ रजकः चर्मकारश्च नटो कुरट एव च। कैवर्त्तमेदभिल्लाश्च सप्तैते ह्यन्तजाः स्मृताः ॥ २ ॥ ब्राह्मणात्क्षत्रिया नीचाः क्षत्रात्वैश्यास्ततोऽन्त्यजाः। सतान्त्यजा नीचाः न नीचो यवनात्परः ॥३॥' इति पाराशरी स्मृतिः ॥

टिप्पणी—३ 'अघारी' = अघके शत्रु, पापोंके नाश करनेवाले। भाव कि मैं पापिनी हूँ और आप पापके नाशक एवम् निष्पाप हैं; यथा 'मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन पाहि पाहि सरनहि आई।' ( अहल्या वाक्य )। मैं आपके सामने होने योग्य नहीं हूँ पर आपका जगपावन गुण समझकर शरण हूँ, मेरी रक्षा कीजिए। [ अघारी = अघी। जैसे सुखारी=सुखी।—( प० प० प्र० ) ]।

नोट—१ भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम सभी अघनाशक हैं, यथा 'जासु नाम पावक अघतूला', 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं', 'मन क्रम वचन जनित अघ जाई। जो एहि सुनै श्रवन मन लाई' और 'देखत पुरी अखिल अघ भागा'।

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानौं एक भगति कर नाता ॥४॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई ॥५॥
भगतिहीन नर सोहै कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा ॥६॥

शब्दार्थ—पाँति = पङ्क्त, एक साथ भोजन करनेवाले बिरादरीके लोग; परिवारसमूह; यथा 'मेरे जाति पाँति न चहौं काहूकी जाति पाँति मेरे कोऊ कामको न हौं काहूके कामको'—( क० ७.१०७ )।

अर्थ—रघुनाथजी बोले—हे भामिनि! बात सुनो। मैं एक भक्तिका ही सम्बन्ध मानता हूँ ॥ ४ ॥ जाति-पाँति, कुल, धर्म, बड़ाई, धन, बल, कुटुम्ब, गुण, चतुरता, (इनके होते हुए भी) भक्तिसे रहित मनुष्य कैसा सोहता है जैसा बिना जलका मेघ ( शोभाहीन ) देख पड़ता है ॥ ५,६ ॥

प० प० प्र०—'कह रघुपति सुनु भामिनि''''' इति। (क) 'रघुपति'—भाव कि इतने बड़े होनेपर भी जिस शब्दसे सीताजीको संबोधित किया है, वही शब्द भीलिनीके लिये प्रयुक्त किया। यथा 'सब बिधि भामिनि भवन भलाई।' (२.६१.४)। ( ख ) 'सुनु'—एकवचनका प्रयोग या तो अत्यंत प्रेमका निदर्शक होता है या हीनताका। जब प्रभुमें दीनदासोंका प्रेम उमड़ता है तब वे एकवचनका प्रयोग करते हैं। यथा 'परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही।११.२३।', 'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।५.३२।', 'कहु कपि रावन पालित लंका।५.३३।', 'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा', 'सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता', 'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ' ( नारदप्रति दोहा ४३-४५ )। (ग) 'भामिनि' का अर्थ यहाँ है दीप्तिमती, अत्यंत सुन्दर। तीन बार यह संबोधन इस प्रसंगमें आया है। इसपर प्रश्न होगा—क्या शबरी शरीर-सौन्दर्ययुक्त थी? क्या शरीरसौन्दर्यको लक्षित करके 'भामिनि' सम्बोधन किया गया है?' उत्तर है—'कदापि नहीं। स्वप्नमें भी नहीं'। समाधानके लिए 'मानउँ एक भगति कर नाता' और 'भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा' ये श्रीमुखवचन ही पर्याप्त हैं। जिसमें प्रेमभक्तिकी रमणीयता है वह कुरूप होनेपर भी भगवान्‌की दृष्टिमें सुन्दर और शोभाधाम है। भक्तिविहीन-शरीरसौन्दर्य कुरूपता है। (घ) सब नाते मायाजनित और मिथ्या हैं। भक्ति भगवान्‌का स्वरूप ही है। भक्तिको रस कहा गया है 'प्रभुपद रति रस वेद बखाना।', 'रसो वै सः'। इसीसे भक्त, भक्ति, भगवान्, नाम, महिमा, भगवद्गुण इन सबोंका सम्पूर्ण, अभेद्य, शाश्वत परमैक्य है। 'मुक्तोऽहम्' अहंकारके विनाशके लिए भक्तिरसायन एक ही अकसीर दवा है।

टिप्पणी—१ 'मानौं एक भगति कर नाता' अर्थात् भक्ति छोड़ मैं और कोई भी नाता नहीं मानता, यथा 'जानत प्रीति रीति रघुराई। नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई' ( वि० १६४ )। कौन नाते हैं जिनको नहीं मानते? प्रभु स्वयं आगे उन्हें गिनाते हैं—'जाति पाँति००'।

रणबहादुरसिंहजी—शाण्डिल्यसूत्रे १३ 'दृष्टत्वाच्च'। अर्थ—प्रत्यक्ष देखनेमें भी भक्ति ही मुख्य प्रतीत होती है। संसारमें ऐसे बहुतसे प्रत्यक्ष उदाहरण दिख रहे हैं जिनमें भक्ति ही का नितान्त प्राधान्य अनुमित होता है, ज्ञानादिकी प्रधानता पूर्णतः नहीं पाई जाती। जैसे पूर्णज्ञानके अतिरिक्त भी कौमारावस्थामें

ध्रुवजीको परमेश्वरकी प्राप्ति हुई, उसमें केवल दृढ़ प्रेमरूपा भक्ति ही कारण थी। इसी भाँति अनेक भक्तोंको पूर्ण ज्ञानके बिना भी केवल दृढ़ प्रेमरूपा भक्तिसे ईश्वरकी प्राप्ति हुई, देखो व्याध कौन-सा ज्ञानवान् था? वाल्मीकिजी पहले कौनसे विज्ञानी थे? ये सब पूर्वके दृष्टान्त हैं। इसके पश्चात् थोड़े दिनके प्रसिद्ध भक्त रैदासजी, कर्माबाईजी, सदनजी, धनाजी, नामदेवजी आदि अनेक भक्त हुए, उनमें कौनसे विद्यावान् अथवा ज्ञानी थे? इसमें विद्या ज्ञानादि कुछ भी नहीं। उच्च नीच किसी भी जातिमें हो, पर जिसने दृढ़ प्रेमसे ईश्वरकी भक्ति की है उसको ईश्वरकी प्राप्ति हुई है। वर्तमान समयमें भी अनुसन्धान करनेसे ऐसे भक्त मिलते हैं कि विद्या या ज्ञान या शौचाचार रखते हों या नहीं, पर परमेश्वरकी पराभक्तिमें सदा निष्ठ रहनेसे ईश्वरभक्ति सुलभ हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं—अन्यच्च 'भक्त्या तुष्यति केवलैर्न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः', माधव भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं, गुणोंसे नहीं; क्योंकि उनको भक्ति प्यारी है।

टिप्पणी—२ 'जाति पाँति कुल धरम बड़ाई ।००' इति। शबरीजीने अपनेको 'अधम जाति' कहा, अतः नाता तोड़नेमें पहले जातिके नातेको ही कहा।* [ खर्रा—जाति आदि खाली मेघवाली शीतल छाया है। ये लोक सुख देनेवाले हैं। मेघ दूर हुए कि तीक्ष्ण घामसे व्याकुल हुए। वैसे ही शरीर छूटनेपर भक्तिहीन को यमदण्ड व्याकुल करता है। ]

नोट—१ भगवानने गीतामें कहा है—'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्। ९.२९।'; अर्थात् सब प्राणियोंमें मैं सम हूँ, न मेरा कोई द्वेषपात्र है, न प्रिय। परंतु जो मुझको भक्तिसे भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ। भाव यह कि 'यह प्राणी जाति, आकार स्वभाव और ज्ञानादिके कारण निकृष्ट है' इस भावसे कोई भी अपनी शरण प्रदान करनेके लिये मेरा द्वेषपात्र नहीं है, अर्थात् उद्वेगका पात्र समझकर त्यागने योग्य नहीं है। तथा शरणागतिकी अधिकताके सिवा, अमुक प्राणी जाति आदिसे अत्यंत श्रेष्ठ है, इस भावको लेकर अपना समाश्रय देनेके लिये मेरा कोई प्रिय नहीं है, इस भावसे मेरा कोई ग्रहण करने योग्य नहीं है। बल्कि मुझमें अत्यंत प्रेम होनेके कारण मेरे भजनके बिना जीवन धारण न कर सकनेसे जो केवल मेरे भजनको ही अपना एकमात्र प्रयोजन समझने-वाले भक्त मुझे भजते हैं, वे जाति आदिसे चाहे श्रेष्ठ हों या निकृष्ट, वे मेरे समान गुण सम्पन्न होकर मुझमें ही वर्तते हैं और मैं भी, मेरे श्रेष्ठ भक्तोंके साथ जैसा वर्ताव होना चाहिए, उसी प्रकार उनके साथ वर्तता हूँ।' (श्रीरामानुजभाष्य)—यह सब भाव 'मानौं एक भगति कर नाता ···चतुराई' में आ जाता है।

टिप्पणी—३ 'भगतहीन नर सोहइ कैसा ।००' इति। (क) उपर्युक्त दसों नाते वा गुण बिना जलवाले बादल हैं। भक्ति जल है; यथा 'राम भगति जल बिनु रघुराई। अभ्यंतर मल कबहुँ न जाई। ७.४९.६।' (ख) 'देखिअ जैसा' का भाव कि वह बादल देखने ही भरका है, उससे कुछ कार्य नहीं हो सकता। [ यहाँ 'सोहै' पद देकर जनाया कि वह अपनी शोभा इन गुणोंसे युक्त होनेके कारण समझता है पर जैसे जलहीन बादल दूसरोंकी दृष्टिमें शोभाहीन देख पड़ता है वैसा ही वस्तुतः यह शोभाहीन है। (प्र०सं०)। पुनः भाव कि जैसे 'जलरहित' मेघको 'वारिद' कहना 'वदतो व्याघात' है। वैसे ही जिसमें भक्ति नहीं है, उसे 'नर' कहना अनुचित है। जल न देनेवाले मेघको 'अभ्र' कहते हैं। वह देखनेमें सुन्दर, शुभ्रवर्ण होता है, पर उससे शस्यकी उत्पत्ति या वृद्धि नहीं होती। और 'वारिद' काला होनेपर भी पृथ्वीको 'सुजलां, सुफलां सस्यस्यामलां' कर देता है। बिना जलवाले मेघ खेतीका नाश करते हैं. वृक्षोंके फल-फूलको गिरा देते हैं। वैसे ही भक्ति-हीन नर होते हैं। (प० प० प्र०) ]।

* 'पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः। न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम्॥ अ० रा० ३.१०.२०।' अर्थात् पुरुषत्व स्त्रीत्वका भेद अथवा जाति, नाम और आश्रम ये कोई भी मेरे भजनके कारण नहीं हैं। उसका कारण तो एकमात्र मेरी भक्ति ही है।

टिप्पणी—४ पहले जाति-पाँति कुल धर्म बड़ाई आदि १० गुण वा नाते गिनाए, तब कहा कि 'भगति हीन नर सोहै कैसा ।००' । इस क्रमका भाव यह कि ये सब गुण भक्तिके बाधक हैं; यथा 'सुख संपति परिवार बड़ाई । सब परिहरि करिहौं सेवकाई ॥ ए सब राम भगति के बाधक । कहहिं संत तव पद अवराधक'—( सुग्रीववाक्य ) ।

**नवधा भगति कहौं तोहि पाहीं । सावधान सुनु धरु मन माहीं ॥७॥**
**प्रथम भगति संतन्ह कर संगा । दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥८॥**
**दोहा—गुर-पद-पंकज सेवा तीसरि भगति अमान ।**
**चौथि भगति मम गुनगन करइ कपट तजि गान ॥३५॥**

अर्थ—मैं तुमसे नवधाभक्ति कहता हूँ, सावधान होकर सुनो और मनमें धारण करो ॥७॥ संतोंकी संगति प्रथम भक्ति है । मेरी कथाओंके प्रसंगमें प्रेम यह दूसरी भक्ति है ॥८॥ गुरुजीके चरण कमलोंकी सेवा अभिमानरहित होकर करना तीसरी भक्ति है । कपट छोड़कर मेरे गुणसमूहका गान करे यह चौथी भक्ति है ॥३५॥

नोट—१ 'सावधान सुन' अर्थात् मन बुद्धि चित्त लगाकर सुन । भाव कि यह बड़े महत्वका विषय है । १५ (१) देखिए ।

टिप्पणी—१ (क) जिस भक्तिके बिना सब गुण व्यर्थ हैं, अब उस भक्तिको कहते हैं । उपदेश करते हैं कि सुनकर मनमें धारण करो । मन, वचन और कायमेंसे मन दोनोंसे अधिक श्रेष्ठ है, अतः मनमें धरनेका उपदेश करते हैं । (ख) 'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा' यहाँ बहुवचन देकर जनाया कि बहुतसे संतोंकी संगति करे, न जाने किस महात्माके द्वारा पदार्थकी प्राप्ति हो जाय । ['संत' कौन हैं, यह स्वयं श्रीरघुनाथजीने दोहा ४५ (६) से ४६ (७) तक नारदजीसे, और ७.३७ (७) से ७.३८ तक श्रीभरतादिसे कहे हैं और कविने बालकांडमें कहे हैं । जिनमें वे लक्षण हों वे ही संत हैं] । (ग) 'दूसरि रति मम कथा प्रसंगा' इति । 'कथा प्रसंगा' का भाव कि भगवतकथाकी पुस्तककी पूजा, उसका दर्शन आदि भी जो भक्ति कही जाती है वह 'कथा-प्रसंगमें अनुरक्ति' नहीं है । कथाके प्रसंगमें प्रेम होना यह है कि उसके श्रवण-मननमें प्रीति हो । ('रति' का भाव वाल्मीकिजीके 'जिन्हके श्रवन समुद्र समाना । कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ॥ भरहिं निरंतर होहिं न पूरे । २.१२८.४-५ ।' इस कथनको ही समझिये ) । (ख) पहले सत्संग होता है तब कथामें प्रेम होता है, यथा 'बिनु सतसंग न हरि कथा' । अतः 'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा' कहकर तब कथामें प्रीति कही । ( देखिए भागवतमें श्रुतियाँ स्तुति करती हुई कहती हैं कि 'आपके परमात्मतत्वका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त दुर्गम है । उसीका ज्ञान करानेके लिए आप अनेक प्रकारके अवतार ग्रहण करके लीलायें करते हैं । ..नको सेवन करनेसे भवश्रम दूर हो जाता है । और कुछ प्रेमी भक्त तो ऐसे होते हैं कि आपकी कथाओंको छोड़कर मोक्षकी भी चाह नहीं करते । वे आपके चरण-कमलोंके प्रेमी परमहंसोंके सत्संगमें जहाँ आपकी कथा होती है, इतना सुख मानते हैं कि अपना घरबार भी छोड़ देते हैं । यथा 'दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोश्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः । न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ।' ( भा० १०.८७.२१ ) । यही सब भाव 'रति कथा प्रसंगा' का है । इसीसे 'संत संग' कहकर तब 'कथामें अनुरक्ति' कही ) ।

२ (क) 'गुरुपदपंकज सेवा तीसरि भक्ति अमान' इति । 'अमान' अर्थात् दास होकर गुरुजीकी सेवा करे । [ भाव यह है कि गुरुको 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः गुरुरेव परब्रह्म' इस बुद्धिसे उनकी सेवा करे । यह बुद्धि रहनेसे सदा मानरहित होकर सेवा बनेगी, अन्यथा नहीं । गुरुवन्दना-प्रकरण बालकांडमें विस्तारसे लिखा गया है तथा मंगलाचरण श्लोक ३ 'वन्दे बोधमयं···' में । ] । (ख) उनका मान करे, आप

अमान कहे । ( प० प० प्र० का मत है कि यहाँ 'अमान' से गीता १३.७ के 'अमानित्वमदम्भित्वं' से लेकर 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् । श्लो० १२ ।' तकके सब लक्षणोंका ग्रहण करना चाहिए ) । ( ग ) 'गुनगन करै कपट तजि गान' इति । अर्थात् दिखाने, रिझाने या धन कमानेके लिए नहीं । ( घ ) शंका—'रति कथा प्रसंगा' दूसरी भक्ति और 'गुणगान' चौथी भक्ति ये दोनों तो एक ही हैं । समाधान—दूसरी भक्तिका तात्पर्य यह है कि कथा श्रवण करे और चौथीका तात्पर्य है कि स्वयं गान करे । एक श्रवण दूसरा कीर्त्तन यह भेद है । भा० १२.१२ में श्रीसूतजीने शौनकादि ऋषियोंसे कहा है कि भगवानके कीर्तन अथवा श्रवणसे वे स्वयं ही हृदयमें आ विराजते हैं और श्रवण तथा कीर्तन करनेवाले पुरुषके सारे दुःख मिटा देते हैं—ठीक वैसे ही जैसे सूर्य अंधकारको और आँधी मेघोंको तितर-बितर कर देती है । यथा 'संकीर्त्यमानोः भगवाननन्तः श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम् । प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवाऽतिवातः । ४७ ।' ] (ङ) कथा-श्रवणसे गुरुसेवामें निष्ठा होती है । गुरुकी प्रसन्नतासे कपट-रहित गुण-ग्राम-गानकी शक्ति होती है । प्रथम गुरुसेवा कहकर तब गुणगान कहनेका भाव कि गुरुमुखसे सुनकर तब गान करे; यथा 'मैं पुनि निज गुरुसन सुनी कथा सो सूकरखेत…', 'भाषा बद्ध करब मैं सोई ।'

नोट—२ गुरुभक्तिपर रुद्रयामल, श्रीधर्मकल्पद्रुम, गुरुगीता, श्वेताश्वतर, ३.६ आदि देखिए । )

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा । पंचम भजन सो बेद प्रकासा ॥ १ ॥
छठ दमसील बिरति बहु कर्मा । निरत निरंतर सज्जन धर्मा ॥ २ ॥
सातव सम मोहि मय जग देखा । मो तें संत अधिक करि लेखा ॥ ३ ॥
आठव जथा लाभ संतोषा । सपनेहुँ नहि देखइ पर दोषा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—दम=इन्द्रियनिग्रह । दमशील=मनसमेत समस्त इन्द्रियोंको सदा वशमें रखनेवाला होना ।

अर्थ—मेरे मंत्रका जप और उसमें दृढ़ विश्वास, यह पाँचवीं भक्ति है, वेदोंमें प्रसिद्ध है ॥१॥ इन्द्रिय-दमनशील, बहुतसे कर्मोंसे बहुत वैराग्य और निरन्तर सज्जनोंके धर्ममें तत्पर रहना छठी भक्ति है ॥२॥ जगत्-भरको एक समान मुझ-मय (राम-मय) देखे और सन्तोंको मुझसे अधिक समझे, यह सातवीं भक्ति है ॥३॥ जो कुछ प्राप्त हो उसीमें संतोष करे, स्वप्नमें भी पराये दोषको न देखे, यह आठवीं भक्ति है ॥४॥

टिप्पणी—१ 'मंत्रजाप', यथा 'मंत्रराज नित जपहिं तुम्हारा । २ । १२९ । ६ ।' 'दृढ़ बिस्वासा' अर्थात् जपके साथ ही उसमें ( तथा गुरुजीके वचनमें, यथा 'सद्गुरु बैद्य बचन बिश्वासा' ) पूर्ण विश्वास भी रहना चाहिए, नहीं तो बिना विश्वासके सिद्धि नहीं प्राप्त होनेकी; यथा 'कवनिउ सिधि कि बिनु बिस्वासा । बिनु हरिभजन न भवभय नासा', 'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ । याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम् । ( प्र०—रामतापनी उपनिषद् तथा रामोपनिषद्से राममंत्र प्रसिद्ध हुआ, अतः 'बेद प्रकासा' कहा ) ।

प० प० प्र०—१ जिसका मनन करनेसे पंचक्लेशोंसे त्राण होता है उसको मंत्र कहते हैं । 'मननात्त्राणनात् मन्त्रः' । एक ही उपास्य देवताके अनेक मंत्र होते हैं और उनके फलमें भी कुछ न कुछ भेद होता है । मंत्रके अक्षरोंमें अक्षरोंके शक्त्यनुसार विशिष्ट अदृष्ट शक्ति रहती है । पर जबतक मंत्र चेतन नहीं होता तबतक वह शक्ति भी जड़वत् और सुप्तस्थितिमें ही रहती है । जिस महापुरुषने मंत्रको चेतन कर रखा हो, मंत्रको जागृत करके वह यदि योग्य अधिकारी शिष्यको उसका उपदेश करे तो उपदेशकालमें ही अथवा गुरूपदिष्ट विधिसे पथ्यका पालन करके अनुष्ठान करनेपर एक वर्षके भीतर ही, शिष्यको मंत्रचैतन्यके अनुभव मिलते हैं । अन्यथा शिष्य अथवा गुरुको अनधिकारी समझना चाहिए । यदि गुरुके अन्य शिष्योंको प्रतीति मिल गई हो तो शिष्यको अनधिकारी समझना चाहिए ।

२ 'जाप'—कलियुगमें उपास्य देवताके मंत्रका जप ही प्रधान और अमोघ है । मानसजप चाहे जिस

स्थितिमें करनेमें दोष नहीं ।—'अशुचिर्वा शुचिर्वापि गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन्नपि । मंत्रैकशरणो विद्वान् मनसैव सदाभ्यसेत् ।' अन्यथा निम्नलिखित दोषोंका त्याग करके ही मंत्रजप करना चाहिए । मन्त्रार्णवे, यथा 'उष्णीषी कञ्चुकी नग्नो मुक्तकेशो मलावृतः । अपवित्र करोऽशुद्धः प्रलपन्नजपेत्क्वचित् ॥ अप्रावृतौ करौ कृत्वा शिरसाऽप्रावृतोऽपि च । चिन्ता व्याकुलचित्तो वा क्रुद्धो भ्रान्तः क्षुधान्वितः ॥ अनासनः शयानो वा गच्छन्नुच्छिष्ट एव वा । रथ्यायामशिवस्थाने न जपेत्तिमिरान्तरे ॥ उपानद्गूढपादो वा शय्यायां च गतस्तथा । प्रसार्य न जपेत्पादौ कुक्कुटासन एव च ॥ पतितानामन्त्यजानां दर्शने भाषणे श्रुते । क्षुतेऽधोवायुगमने जृम्भणे च समुत्सृजेत् ॥ प्राप्तावाचम्य चैतेषां प्राणायामं षडङ्गकम् । कृत्वा सम्यग्जपेच्छेषं यद्वा सूर्यादि दर्शनम् ॥...' ( रा० चं० प० ४ ) । अर्थात् मस्तकमें वस्त्र लपेटकर, कपड़ा पहनकर, नंगे, बाल खुले हुए, मलावृत, अशुद्ध हाथके समय, बात करतेमें जप न करे । माथा खुला होनेपर भी हाथ खुले हुए, चिन्तायुक्त, क्रुद्ध, भ्रमयुक्त, भूखसे व्याकुल, भ्रान्त, विना आसन, सोते हुए, चलते हुए, जूठे मुँह, अशुभस्थानमें एवं गाढ़ अन्धकारमें जप न करे । जूता पहने, बिस्तरे ( बिछौने ) पर, पैर फैलाए, उकड़ूँ बैठे हुए, पतितोंके दर्शन तथा उनका भाषण सुनते समय, थूकते हुए, अधोवायुके निकलते समय, जँभाई लेनेपर जप छोड़ दे । और यदि यह हो जाय तो आचमन करके साष्टांग प्रणाम करके और सूर्यका दर्शन करके जप प्रारम्भ करे ।

वाचिक और मानसिक जपके ये दो मुख्य प्रकार हैं । 'मनोमध्येस्थितो मन्त्रो मन्त्र मध्ये स्थितं मनः । मनोमंत्रसमायोगो जप इत्यभिधीयते ।' अर्थात् मनमें मंत्र और मंत्रमें मन स्थिर है, मन और मंत्रका इस प्रकारका योग 'जप' कहलाता है । ( नोट—जपके सम्बन्धमें बालकाण्डमें बहुत कुछ लिखा जा चुका है ) ।

टिप्पणी—२ गुरुभक्तिके पीछे गुणगान और मंत्रजाप कहा—क्योंकि ये दोनों गुरुसे प्राप्त होते हैं, यथा 'उघरहिं बिमल बिलोचन ही के । मिटहिं दोष दुख भवरजनी के ॥ सूझहिं रामचरित मनि मानिक ।१।१।७-८ ।' [ संतोंको अधिक मानना इस कारण कहा कि पहुँचे हुए सन्त भगवान्‌से मिला देते हैं । अथवा, दास पुत्रसम हैं, संसारमें प्रत्यक्ष देखा जाता है कि पुत्रको प्यार करनेवाला मनुष्य पिताको अपने प्यार करनेवालेसे अधिक प्यारा होता है; अतः संतोंको अधिक माननेका उपदेश किया ( प्र० ) । ]

प० प० प्र०—'दमशील' से 'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता' (गीता २।६१), यह गीताके स्थितप्रज्ञका लक्षण कहा । "विरति बहु कर्मा" में 'उपरति' का निर्देश है ।

टिप्पणी—३ 'छठ दमसील बिरति बहु कर्मा...'; यथा 'नर बिबिध कर्म अधर्म बहुमत सोकप्रद सब त्यागहू । ३६ ।' अर्थात् बहुतसे जो नाना प्रकारके कर्म हैं उनसे वैराग्य करे और सज्जनधर्ममें निरत रहे । 'बहुकर्म' अर्थात् नित्य नैमित्तिक कर्म—(खर्रा) ।—[ खर्रा—सत्संग, कथा, गुरुसेवा, गुणगान, मन्त्रजाप, भजनमें दृढ़ता ये वेदमें लिखे हैं । चौथी भक्तितक वाह्यकृत्य और पंचमसे नवमतक अन्तरकी कहते हैं । पुनः, बहुकर्माका भाव कि केवल निर्वाह मात्रको कर्म करे, अधिक नहीं । यथा 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् । गीता ४।२१ ।' ]

प० प० प्र०—१ 'नर बिबिध कर्म अधर्म बहुमत सोकप्रद सब त्यागहू । बिश्वास करि कह दास तुलसी रामपद अनुरागहू । ३६ ।' यह नवधाभक्तिका सार इस प्रसंगमें जो कविने कहा है उससे 'बिरति बहु कर्मा' का अर्थ 'बहु कर्मोंका त्याग' होता है । पर साथ ही 'निज निज कर्म निरत श्रुति रीती' यह भी श्रीमुखवचन है, अतः 'वर्णाश्रमधर्मके अतिरिक्त अन्य अनेक कर्मोंका त्याग' ही 'बिरति बहु कर्मा' का अर्थ विशेष योग्य होगा । २ 'सज्जन धर्मा', यथा 'ज्ञान दया दम तीरथ-मज्जन । जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन ।७.४९.२।' ये सज्जनोंके धर्म हैं । अथवा, सज्जन=संत । संतोंके धर्म दोहा ४५, ४६ में भगवान्‌ने स्वयं कहे हैं । कैसा सज्जन भगवान्‌को प्रिय है, यह उन्होंने स्वयं बताया है । यथा "जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥ सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी ॥ समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥ अस सज्जन मम उर बस कैसे ।...।५।४८।'

टिप्पणी—४ 'सातवें सम मोहिमय जग देखा···' इति। यथा 'स्वर्ग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना।७।१३०।' [ यह रामोपासकोंका लक्षण है, यथा 'भूमौ जले नभसि देवनरासुरेषु भूतेषु देव सकलेषु चराचरेषु। पश्यन्ति शुद्ध मनसा खलु राम रूपं रामस्य ते भुवितले समुपासकाश्च।' (महा-[illegible]), 'खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः। (भा० ११।२।४१)' अर्थात् जो पृथ्वी, जल सभी चराचरमें श्रीरामरूप ही देखते हैं वे उत्तम रामोपासक हैं। इस प्रकार सभी भगवानका शरीर हैं, अतः सबको अनन्य भावसे प्रणाम करे ] जब सब जगत् मैं प्रभुमय देखेगा तो सन्तोंमें भी वही समान भाव हुआ, इसीसे आगे कहते हैं कि 'मोते संत अधिक करि लेखा।' यही बात भरतजीने कही है; यथा 'मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। रामते अधिक राम कर दासा॥ राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदनतरु हरि संत समीरा।७।१२०।'; इसमें भगवत् और भागवत दोनोंकी भक्ति कही। [खर्रा—सन्त जगत्से निर्लिप्त रहते हैं, यथा 'जे बिरंचि निर्लेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जल जाये', अतः अधिक कहा ]

टिप्पणी—५ 'आठवँ जथा लाभ संतोषा···' इति। जब भगवान्के स्वरूपकी प्राप्ति हुई तब सन्तोष प्राप्त हुआ। [ सन्तोष होनेसे किसीपर मन नहीं जायगा, न किसीसे शत्रुता होगी, किसीमें छिद्र देखेगा ही नहीं; यह उत्तम सन्तोंका लक्षण है; यथा 'जिमि परद्रोह संत मन माहीं'। और, छिद्र देखकर छिपाना, ( यथा 'जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। बंदनीय जेहिं जग जसु पावा' ) यह मध्यमका लक्षण है। उत्तमके स्वप्नमें भी परदोष मनमें नहीं आता और इनके मनमें आता है। (खर्रा) ]।

नोट—१ देह प्रारब्धवश है, इसलिए भोजन वस्त्रके लिए चिन्ता करना व्यर्थ है, वह तो आप ही मिलेगा। जो कुछ लाभ (प्राप्त) हो उसीमें सन्तोष करे। पराये दोष देखनेसे हमारा अंतःकरण मलिन होगा। जब दूसरा भी प्रभुका है, तब हम दूसरेके दोष क्यों देखें, हमें तो गुण ही देखना चाहिए, क्योंकि वह मनुष्य भी तो परवशीन है। जब मनमें दोष न रहेगा तो वह भीतर बाहर एक हो जायगा। (पं० रा० व० श०)। 'जथालाभ संतोष सदाई।७।४६।' यह भक्ति पुरजनसे कही है। जब दोषोंपर दृष्टि ही न जायगी, तब दोष-दर्शनरूपी पापसे तो सदा बचा ही रहेगा—'परनिंदा सम अघ न गरीसा'। श्रीमुखवचन है कि '···माया कृत गुन अरु दोष अनेक। गुन यह उभय न देखिअहिं देखिय सो अबिबेक।७.४१।' गुण और दोष सब मायाकृत हैं। उनपर दृष्टि डालना मायापर दृष्टि डालना है। संसारमें निर्दोष कोई नहीं है। जो मनुष्य प्रार्थना करता है कि 'भगवन्! मेरे दोषोंकी तरफ न देखिए, मैं तो दोषोंसे भरा हुआ हूँ और फिर भी दूसरोंके दोषोंको देखता रहता है, उसको ऐसी प्रार्थना करनेका क्या अधिकार है? ( प० प० प्र० )।

नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना ॥५॥
नव महुँ एकउ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई ॥६॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ॥७॥

अर्थ—सरल (कपटछलरहित, सीधासादा) स्वभाव, सबसे छलरहित, हृदयमें मेरा भरोसा, हर्ष और दीनता ( शोक वा दुःख ) रहित होना नवीं भक्ति है ॥ ५ ॥ नौमेंसे एक भी भक्ति जिनके होती है, स्त्री पुरुष, चराचर सहित कोई भी हो, वही, हे भामिनि! मुझे अतिशय प्रिय है और तुममें तो सभी प्रकारकी दृढ़ भक्ति है ॥६-७॥

प० प० प्र०—'सरल सब सन छल हीना।···' इति। (क) कपट छलके कारण 'मैं और मोर' तथा 'भगवानपर पूर्ण भरोसा न होना' हैं। जबतक ये न जायँगे सरलता आदि गुण आ ही नहीं सकते। जब तक यह भावना न होगी, कि दुःख-सुख, अनुकूल-प्रतिकूल जो कुछ भी सामने आता है वह सब भगवान्का प्रसाद है, हमारा हित इसमें ही होगा इसीसे प्रभुने कृपा करके यह परिस्थिति भेजी है, तबतक दर्प और

विषाद कैसे जा सकते हैं ? अन्य किसीका भी आशा-भरोसा न करना यही एकमात्र भगवान्‌के भरोसेका लक्षण है। यथा 'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा'। जिस भोगको अन्य लोग दुःख कहते हैं वह जब सुखरूप अनुभव हो तभी भगवान्‌पर भरोसा उत्पन्न हुआ समझिए। इसीसे तो चतुराननजी प्रार्थना करते हैं कि 'मति मोर बिभेद करी हरिये ॥ जेहि ते बिपरीत क्रिया करिये। दुख सो सुख मानि सुखी चरिये ।६.११०।' [ भगवान्‌पर निर्भर हो जाना ही भरोसा है; यथा 'है छरुभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं। वि० १०३।', तब फिर चिंता कहाँ ? ]

टिप्पणी—१ (क) 'सरल सब सन छल हीना', यथा 'सरल सुभाउ न मन कुटिलाई।' यह सन्त-लक्षण है और श्रीमुख-वचन है। (ख) 'मम भरोस हिय हरष न दीना'—हर्ष उत्तम पदार्थके लाभसे और दीन पदार्थकी हानिसे। जब पारसकी प्राप्ति हुई तब रुपये पैसेके हानि-लाभमें दुःख-सुख नहीं होता, वैसे ही श्रीरामजीकी प्राप्ति होनेपर मायिक पदार्थोंके हानि लाभमें दुःख सुख नहीं होता। (ग) 'नारि पुरुष सचराचर कोई' इति। शबरीजीने अपनेको स्त्री कहकर 'अति अधम' कहा है, इसीसे प्रथम यहाँ 'नारि' पद दिया। [नोट—स्त्री-पुरुष बोलनेका मुहावरा है]। (घ) 'सोइ अतिसय प्रिय' अर्थात् प्रिय तो सभी हैं पर भक्त अतिशय प्रिय हैं, यथा 'सब मम प्रिय सब मम उपजाये ।०'। [ 'भामिनी' अर्थात् जिसका विषयादि सांसारिक तुच्छ सुखोंपर क्रोध है। (प्र०)। ३५ (४) 'कह रघुपति सुनु भामिनि बाता' भी देखिए। ]

प० प० प्र०—१ शबरीजीका मुख्य साधन सन्त-गुरुसेवा ही थी। गुरुके वचनपर उनकी कितनी दृढ़ निष्ठा थी यह वाल्मी० ३.७४ से स्पष्ट है। ऐसे प्राणियोंके हृदयमें श्रीसीताराम-लक्ष्मणजी निवास करते हैं। यथा 'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी।···तिन्ह के मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ ।२.१२६।'; यहाँ "सोइ अतिसय प्रिय" का यही भाव है। 'अतिसय प्रिय'=प्रियतम।

२ सब आशाओंको छोड़कर भगवान्‌का भजन करनेवाला ही भगवान्‌को प्रिय है। श्रीरामजीने पुरवासियोंसे कहा है कि 'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई।७.३.५।', अब देखिए उनकी आज्ञा क्या है। 'अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम। सदा सर्वगत सर्वहित जानि करेहु अति प्रेम ।७.१६।' यह सब वानरयूथपोंसे कहा है। 'जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन क्रम वचन धरम अनुसरेहू ।७।२०।२।···' यह निषादराजसे कहा है। 'मोहि भगत प्रिय संतत अस बिचारि सुनु काग। काय वचन मन मम पद करेसु अचल अनुराग ।७।८५।', 'सुनु मन धरु सब तजि भजु मोही ।७।८६।२।', '···जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच औ काया॥ पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ। सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥ सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय। अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब ।७।८७।···सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही॥' इत्यादि भुशुण्डिजीसे कहा है।—इन आज्ञाओंका पालन करनेवाला ही भगवान्‌को परम प्रिय होता है।

३ "भामिनि" इति। 'सुन्दरी रमणी रामा कोपना सैव भामिनी इत्यमरे'। यद्यपि इतने अर्थ हैं तथापि यहाँ 'रामा' (=रमयति रमयते वा। अस्यां वा रम्यते) अर्थ लेना उचित है। उसमें श्रीरामजीका मन रम गया। भगवान् भक्तिरूपी परम पवित्र शाश्वत सौन्दर्यमें ही रमते हैं। विशेष 'सुनु भामिनि बाता। ३५।४।' में देखिए। ( भामिनी=भक्तितेजसे दीप्तिमती )।

टिप्पणी—२ (क) 'एकौ होई' का भाव कि लोगोंमें इन नौमेंसे एक भी होना दुर्लभ है और होती भी है तो दृढ़ नहीं होती, पर तुझमें ये नवों हैं और दृढ़ हैं। (ख) 'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें', 'श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं', 'मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा', 'सब मोहि कहँ जानइ दृढ़ सेवा', 'मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा' ये सब भक्तियाँ दृढ़ होकर करनी चाहिएँ। तुममें एक दो प्रकारकी भक्ति कौन कहे ये सब प्रकारकी भक्तियाँ दृढ़ हैं। पुनः, (ग) "सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें" का भाव कि इसका फल हमारा दर्शन है अर्थात् तेरी भक्तिसे मैं यहाँ आया। यथा 'यस्मान्मद्भक्तियुक्ता त्वं ततोऽहं त्वामुपस्थितः।' ( अ० रा०

[illegible] फल सहज स्वरूपकी प्राप्ति है। सो आगे कहते हैं। सहज स्वरूपकी प्राप्तिके [illegible] नहीं है, अतः उसे अनूप कहेंगे।

[illegible] सर्ग १०वें श्लो० ३.४ की जोड़के श्लोक ये हैं—'एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य [illegible] स्त्रियो वा पुरुषस्यापि तिर्यग्योनिगतस्य वा। भक्तिः सञ्जायते प्रेमलक्षणा शुभलक्षणे।२८' [illegible] क्रमेण तु।३०।' देखिए, 'एकउ' शब्द अ० रा० के 'प्रथमं साधनं यस्य भवेत्तस्य [illegible]' से कितना अधिक जोरदार है और 'सोइ अतिसय प्रिय' यह वाक्य 'भक्तिः सञ्जायते प्रेमलक्षणा' से [illegible] बलवान, उत्कृष्ट और भावगर्भित है।

[illegible] त्रिपाठीजी—'नवधा भगति कहौं तोहि पाहीं' ३६ इति। 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्' यही नवधाभक्ति प्रसिद्ध है और भगवान्ने भी [illegible] उपदेश लक्ष्मणजीको किया; यथा "श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं।" परन्तु शबरीको जिस नवधाभक्तिका उपदेश दिया, वह तो स्पष्ट ही श्रवणादिक नवधाभक्तिसे [illegible] है। इस पार्थक्यका कारण होना चाहिये।

लक्ष्मणजीको सरकारने भक्तियोगका उपदेश दिया, जिसमें साधनभक्ति, भावभक्ति तथा प्रेमाभक्ति तीनोंका समावेश है, उसमें कोई बात छूटी नहीं है, यथा 'थोरेहि महँ सब कहौं बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई।' और यह भी मानना पड़ेगा कि 'दोनों उपदेशोंका हृदय एक है, फिर भी प्रकारमें इतना बड़ा भेद क्यों है?', यह प्रश्न बिना उठे नहीं रह सकता।

दोनों प्रकरणोंको निर्विघ्न चित्तसे मनन करनेसे यह बात मनमें आती है कि भक्तियोगका लक्ष्य भगवान्को अपना प्रेमपात्र बनाना है। भक्तको कोई कामना न होनी चाहिये, यहाँतक कि प्रेमपात्रकी प्रगाढ़ताकी भी अपेक्षा न रहे; यथा 'जानहु राम कुटिल करि मोही। लोक कहौ गुरु साहिब द्रोही॥ सीताराम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥' भक्तियोगका यही लक्ष्य मालूम होता है; यथा 'बचन कर्म मन मोरि गति भजन करैं निःकाम। तिन्ह के हृदय कमल महँ करौं सदा बिश्राम।' अर्थात् भक्तियोगका पर्यवसान भगवान्को प्रेमपात्र बनानेमें है।

परन्तु शबरीको जिस नवधाभक्तिका उपदेश दिया है, उसका पर्यवसान स्वयम् भगवान्के प्रेमपात्र बननेमें है, यथा 'नव महँ एकउ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥ सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥'

शबरी अपनेको भक्तियोगका अधिकारी नहीं मानती, यहाँतक कि उसे स्तुति करनेमें भी सङ्कोच है, कहती है कि 'केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़ मति भारी॥ अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मति मंद अघारी'। इसपर भगवान् उसे भक्तके वे नव लक्षण बतलाते हैं, जिनसे वह भगवान्का प्रेमपात्र बन जाता है। और शबरीको आश्वासन देते हैं कि तू अपनेको अधम मत मान, तू मुझे अतिशय प्रिय है। इसका प्रमाण यह है कि 'जोगिबृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई।'

अतः निष्कर्ष यह निकला कि भक्तियोगका पर्यवसान भगवान्को प्रेमपात्र बनानेमें है और शबरीको जिस नवधा भक्तिका उपदेश दिया गया उसका पर्यवसान भगवान्का प्रेमपात्र बननेमें है। अतः दोनोंमें पार्थक्य निष्कारण नहीं है।

नोट—५ कोई ऐसा भी कहते हैं कि श्रीरामगीतावाली नवधाभक्ति प्रवृत्ति मार्गमें पड़े हुए लोगोंके लिए है और यह निवृत्तिमार्गमें प्राप्त लोगोंके लिये है।

नोट—३ अ० रा० में भी भगवान्ने शबरीजीसे नवधाभक्ति कही है। इनमेंसे सात भक्तियाँ तो प्रायः किंचित् क्रमभेदसे मिलती-जुलती हैं। दोमें भावार्थसे मेल हो सकता है।

| मानसकी नवधा भक्ति | अध्यात्म रामायणकी नवधा भक्ति ( सर्ग १० ) |
|---|---|
| प्रथम भगति संतन्ह कर संगा | १ सतां सङ्गतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम् ॥२२॥ |
| दूसरि रति मम कथा प्रसंगा | २ द्वितीयं मत्कथालापः |
| गुरपदपंकज सेवा तीसरि भक्ति अमान | ३ आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्यामायया सदा ॥२४॥ |
| चौथी भगति मम गुनगन करइ कपट तजि गान | ४ तृतीयं मद्गुणेरणम्। व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं |
| मंत्रजाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम··· | ५ मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते ॥२५॥ |
| छठ दम सील बिरति बहु कर्मा। | ६ ···पुण्य शीलत्वं यमादि नियमादि च ॥२४॥ |
| निरत निरंतर सज्जन धर्मा॥ | निष्ठा मत्पूजेन नित्यं षष्ठं साधनमीरितम् ॥२५॥ |
| सातँव सम मोहि मय जग देखा। मो तें संत अधिक करि देखा | ७ मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः।२६। |
| आठव जथा लाभ संतोषा। सपनेहु नहिं देखइ परदोषा | ८ बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादिसहितं तथा ॥२६॥ |
| नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना | ९ नवमं तत्वविचारो मम ॥२७॥ |

जैसे मानसमें 'भामिनि' शब्द उपक्रम और उपसंहारमें है, वैसे ही अ० रा० में। यथा यहाँ 'कह रघुपति सुनु भामिनि बाता', "सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें" तथा वहाँ "तस्माद्भामिनि संक्षेपाद्वक्ष्येऽहं भक्तिसाधनम् ॥२२॥" "नवमं तत्वविचारो मम भामिनि ॥२७॥" आगेकी चौपाइयाँ अ० रा० से मिलती हैं। मानसकी तीसरी, चौथी, पाँचवीं और सातवीं भक्तियाँ अ० रा० की क्रमशः पाँचवीं, तीसरी, चौथी, सातवीं और आठवीं हैं।

जोगिबृंद दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई ॥८॥
मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा ॥९॥

शब्दार्थ—सहज = प्राकृत, स्वाभाविक जो वास्तव-रूप है।

अर्थ—योगी लोगोंको जो गति दुर्लभ है, आज तुझे वह सुगमतासे प्राप्त हो गई ॥८॥ मेरे दर्शनका परम उपमारहित फल यह है कि जीव अपना सहज स्वरूप पा जाता है ॥९॥

टिप्पणी—१ 'जोगिबृंद दुर्लभ गति जोई···' इति। भाव कि योगियोंको अष्टांगयोगादि कठिन साधन करनेपर भी जो दुर्लभ है, वही गति भक्तिसे सुलभ हो जाती है। वह कौन गति है?—'मम दरसन···'। पुनः, 'योगिबृंद' का भाव कि एक दोकी क्या कहें, वृन्दको भी दुर्लभ है। [ योगी कैवल्य या सायुज्य मुक्तिके लिये प्रयत्न करते हैं। तथापि उनको भी जो दुर्लभ है वह है 'कैवल्य', यथा 'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद।७.११९।३'; वह विना योगादि साधनोंका कष्ट उठाये तुझे सुलभ हो गई। ( प० प० प्र० )। वाल्मी० सर्ग ७४ में श्रीरामजीने कहा है कि तुमने मेरी पूजा की। अब अपनी इच्छाके अनुसार सुखपूर्वक अपने गुरुके लोकमें जाओ। यथा "अर्चितोऽहं त्वया भद्रे गच्छ कामं यथा सुखम्।३१।···"]

२ 'जीव पाव निज सहज सरूपा' इति। सहज स्वरूप जीवका क्या है? उत्तर—मायारहित जो स्वरूप है। यथा 'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥ ७.११७.२-३।', 'मायावस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते नाना दुख पायो॥' दोनों भावसे—ज्ञानसे पाया तो असत् छूट सत्की प्राप्ति हुई, भक्तिसे पाया तो स्वामीमें प्रीति हुई अनन्य हुआ।

नोट—विनयका यह पद भी देखिए, इसमें भी सहज स्वरूपका वर्णन है—

'जिय जब तें हरि ते बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो॥ मायाबस स्वरूप बिसरायो।··· आनंदसिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥ मृग-भ्रम-बारि सत्य जल जानी। तहँ तू मगन

।१०।३१)। अब हमारे दर्शनका फल सहज स्वरूपकी प्राप्ति है। सो आगे कहते हैं। सहज स्वरूपकी प्राप्तिके समान और किसी पदार्थकी प्राप्ति नहीं है, अतः उसे अनूप कहेंगे।

नोट—१ अ० रा० सर्ग १० में चौ० ३,४ की जोड़के श्लोक ये हैं—'एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा ॥२७॥ स्त्रियो वा पुरुषस्यापि तिर्यग्योनिगतस्य वा। भक्तिः सञ्जायते प्रेमलक्षणा शुभलक्षणे ।२८।' 'प्रथमं साधनं यस्य भवेत्तस्य क्रमेण तु ।३०।' देखिए, 'एकउ' शब्द अ० रा० के 'प्रथमं साधनं यस्य भवेत्तस्य क्रमेण तु' से कितने अधिक जोरके हैं और 'सोइ अतिसय प्रिय' यह वाक्य 'भक्तिः सञ्जायते प्रेमलक्षणा' से कितने अधिक बलवान्, उत्कृष्ट और भावगर्भित हैं।

पं० विजयानंद त्रिपाठीजी—'नवधा भगति कहौं तोहि पाहीं' ३६ इति। 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्' यही नवधाभक्ति प्रसिद्ध है और भगवान्‌ने भी इसी नवधाभक्तिका उपदेश लक्ष्मणजीको किया; यथा "श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं।" परन्तु शबरीको जिस नवधाभक्तिका उपदेश दिया, वह तो स्पष्ट ही श्रवणादिक नवधाभक्तिसे पृथक् है। इस पार्थक्यका कारण होना चाहिये।

लक्ष्मणजीको सरकारने भक्तियोगका उपदेश दिया, जिसमें साधनभक्ति, भावभक्ति तथा प्रेमाभक्ति तीनोंका समावेश है, उसमें कोई बात छूटी नहीं है, यथा 'थोरेहि महँ सब कहौं बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई।' और यह भी मानना पड़ेगा कि 'दोनों उपदेशोंका हृदय एक है, फिर भी प्रकारमें इतना बड़ा भेद क्यों है?', यह प्रश्न बिना उठे नहीं रह सकता।

दोनों प्रकरणोंको निविष्ट चित्तसे मनन करनेसे यह बात मनमें आती है कि भक्तियोगका लक्ष्य भगवान्‌को अपना प्रेमपात्र बनाना है। भक्तकी कोई कामना न होनी चाहिये, यहाँतक कि प्रेमपात्रकी प्रसन्नताकी भी अपेक्षा न रहे; यथा 'जानहु राम कुटिल करि मोही। लोक कहौ गुरु साहिब द्रोही॥ सीताराम चरन रति मोरे। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे॥' भक्तियोगका यही लक्ष्य मालूम होता है; यथा 'बचन कर्म मन मोरि गति भजन करै निःकाम। तिन्ह के हृदय कमल महँ करौं सदा बिश्राम।' अर्थात् भक्तियोगका पर्यवसान भगवान्‌को प्रेमपात्र बनानेमें है।

परन्तु शबरीको जिस नवधाभक्तिका उपदेश दिया है, उसका पर्यवसान स्वयम् भगवान्‌के प्रेमपात्र बननेमें है, यथा 'नव महँ एकउ जिन्ह के होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥ सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥'

शबरी अपनेको भक्तियोगका अधिकारी नहीं मानती, यहाँतक कि उसे स्तुति करनेमें भी सङ्कोच है, कहती है कि 'केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़ मति भारी॥ अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मति मंद अघारी'। इसपर भगवान् उसे भक्तके वे नव लक्षण बतलाते हैं, जिससे वह भगवान्‌का प्रेमपात्र बन जाता है। और शबरीको आश्वासन देते हैं कि तू अपनेको अधम मत मान, तू मुझे अतिशय प्रिय है। इसका प्रमाण यह है कि 'जोगिबृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई।'

अतः निष्कर्ष यह निकला कि भक्तियोगका पर्यवसान भगवान्‌को प्रेमपात्र बनानेमें है और शबरीको जिस नवधा भक्तिका उपदेश दिया गया उसका पर्यवसान भगवान्‌का प्रेमपात्र बननेमें है। अतः दोनोंमें पार्थक्य निष्कारण नहीं है।

नोट—२ कोई ऐसा भी कहते हैं कि श्रीरामगीतावाली नवधाभक्ति प्रवृत्ति मार्गमें पड़े हुए लोगोंके लिए है और यह निवृत्तिमार्गमें प्राप्त लोगोंके लिये है।

नोट—३ अ० रा० में भी भगवान्‌ने शबरीजीसे नवधाभक्ति कही है। इनमेंसे सात भक्तियाँ तो प्रायः किंचित् क्रमभेदसे मिलती-जुलती हैं। दोमें भावार्थसे मेल हो सकता है।

| मानसकी नवधा भक्ति | अध्यात्म रामायणकी नवधा भक्ति ( सर्ग १० ) |
|---|---|
| प्रथम भगति संतन्ह कर संगा | १ सतां सङ्गतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम् ॥२२॥ |
| दूसरि रति मम कथा प्रसंगा | २ द्वितीयं मत्कथालापः |
| गुरपदपंकज सेवा तीसरि भक्ति अमान | ३ आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्यामायया सदा ॥२४॥ |
| चौथी भगति मम गुनगन करइ कपट तजि गान | ४ तृतीयं मद्गुणेरणम्। व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं |
| मंत्रजाप मम दृढ़ बिस्वासा । पंचम… | ५ मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते ॥२५॥ |
| छठ दम सील बिरति बहु कर्मा । | ६ …पुण्य शीलत्वं यमादि नियमादि च ॥२४॥ |
| निरत निरंतर सज्जन धर्मा ॥ | निष्ठा मत्पूजेन नित्यं षष्ठं साधनमीरितम् ॥२५॥ |
| सातँव सम मोहि मय जग देखा। मो तें संत अधिक करि देखा | ७ मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः ।२६। |
| आठव जथा लाभ संतोषा । सपनेहु नहिं देखइ परदोषा | ८ बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादिसहितं तथा ॥२६॥ |
| नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना | ९ नवमं तत्त्वविचारो मम ॥२७॥ |

जैसे मानसमें 'भामिनि' शब्द उपक्रम और उपसंहारमें है, वैसे ही अ० रा० में। यथा यहाँ 'कह रघुपति सुनु भामिनि बाता', "सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें" तथा वहाँ "तस्माद्भामिनि संक्षेपाद्वक्ष्येऽहं भक्तिसाधनम् ॥२२॥" "नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि ॥२७॥" आगेकी चौपाइयाँ अ० रा० से मिलती हैं। मानसकी तीसरी, चौथी, पाँचवीं और सातवीं भक्तियाँ अ० रा० की क्रमशः पाँचवीं, तीसरी, चौथी, सातवीं और आठवीं हैं।

**जोगिबृंद दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई ॥८॥**

**मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा ॥९॥**

शब्दार्थ—सहज = प्राकृत, स्वाभाविक जो वास्तव-रूप है।

अर्थ—योगी लोगोंको जो गति दुर्लभ है, आज तुझे वह सुगमतासे प्राप्त हो गई ॥८॥ मेरे दर्शनका परम उपमारहित फल यह है कि जीव अपना सहज स्वरूप पा जाता है ॥९॥

टिप्पणी—१ 'जोगिबृंद दुर्लभ गति जोई…' इति। भाव कि योगियोंको अष्टांगयोगादि कठिन साधन करनेपर भी जो दुर्लभ है, वही गति भक्तिसे सुलभ हो जाती है। वह कौन गति है?—'मम दरसन…'। पुनः, 'योगिबृंद' का भाव कि एक दोकी क्या कहें, वृन्दको भी दुर्लभ है। [ योगी कैवल्य या सायुज्य मुक्तिके लिये प्रयत्न करते हैं। तथापि उनको भी जो दुर्लभ है वह है 'कैवल्य', यथा 'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद ।७.११९।३।'; वह विना योगादि साधनोंका कष्ट उठाये तुझे सुलभ हो गई। ( प० प० प्र० )। वाल्मी० सर्ग ७४ में श्रीरामजीने कहा है कि तुमने मेरी पूजा की। अब अपनी इच्छाके अनुसार सुखपूर्वक अपने गुरुके लोकमें जाओ। यथा "अर्चितोऽहं त्वया भद्रे गच्छ कामं यथा सुखम् ।३१।…"]

२ 'जीव पाव निज सहज सरूपा' इति। सहज स्वरूप जीवका क्या है? उत्तर—मायारहित जो स्वरूप है। यथा 'ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥ ७.११७.२-३।', 'मायाबस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते नाना दुख पायो॥' दोनों भावसे—ज्ञानसे पाया तो असत् छूट सत्की प्राप्ति हुई, भक्तिसे पाया तो स्वामीमें प्रीति हुई असत् छूटा।

नोट—विनयका यह पद भी देखिए, इसमें भी सहज स्वरूपका वर्णन है—

'जिय जब तें हरि ते बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो॥ मायाबस स्वरूप बिसरायो।… आनंदसिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥ मृग-भ्रम-बारि सत्य जल जानी। तहँ तू मगन

भयो सुख मानी ॥ तहँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ। निज सहज अनुभव रूप तव खल भूलि चलि आयो तहाँ ॥ निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहर्यो। निःकाज राज बिहाइ नृप इव स्वप्न कारागृह परयो ॥२॥…अनुराग जो निजरूप तें जगतें विलच्छण देखिए। संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिए॥ निर्मम निरामय एकरस तेहि हर्ष सोक न व्यापई। त्रैलोक्य-पावन सो सदा जाकहुँ दसा ऐसी भई ॥११॥' (विनय १३६)। विशेष 'संकर सहज सरूप सँभारा ।१.५८.८।' में देखिए। वहाँ इसपर विस्तारसे विचार किया गया है।]

जीवके जो स्वरूप संसारमें दिखाई देते हैं वे कर्मकृत हैं। सतोगुणी कर्मसे देवयोनि, और रज-सत्वसे राजा आदिकी योनि इत्यादि मिलती है। जब समस्तकर्मोंका विध्वंस हो जाय तब वह सहज स्वरूप जो वचनसे अगोचर शुद्ध सच्चिदानन्दमयस्वरूप है, प्राप्त हो। जिसे प्राप्त हो वही जान सकता है, पर वह भी कह नहीं सकता। भगवत्-साक्षात्कार होनेपर इस स्वरूपकी प्राप्ति होती है।

श्रीबैजनाथजी—प्रभुका दर्शन किस प्रकार होता है और जीवका सहज स्वरूप कैसा है? वेदरीति यह है कि करोड़ों कल्पोंतक जप, तप, होम, योग, यज्ञ और ब्रह्मज्ञानमें रत रहे तब अन्तरबाहर शुद्ध होकर भक्ति प्राप्त होती है, तब दर्शन होते हैं। यह साधन साध्य ( क्रियासाध्य रीति ) है। कृपासाध्य ऐसी है कि नवधाभक्ति जो कही है उससे विमुख विषयी आदि सब जीवोंको प्रभुके दर्शन स्वाभाविक होकर जीवको सहज स्वरूप प्राप्त हो जाता है—प्रभुके कैंकर्यमें लगे रहना 'सहज स्वरूप' है। नौ आवरण हैं जिनमेंसे शुद्ध आत्मा, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, शब्द, स्पर्श और रूप यहाँतक जीवमें चैतन्यता रहती है और इनकी सातों भूमिकाएँ ज्ञानसे शुद्ध हो सकती हैं। जब रसके वश हुआ तब विमुख होता है और गन्ध आवरणके वश होकर विषयी होता है—ये नवो आवरण नवधाभक्तिसे हट सकते हैं। इस प्रकार कि सत्संगसे विषयसे विरक्त हो भू-तत्व गंध जीते। हरियश सुनकर हरिसम्मुख हो जलतत्व रस आवरण जीते। गुरुसेवासे मन स्थिर होकर रूप और हरियशगानसे पवनतत्व स्पर्श आवरण हटें, इत्यादि।

श्रीचक्रजी—जीवका स्वस्वरूप ज्ञान क्या? अद्वैत वेदान्तीको तो 'स्वस्वरूप' शब्द सुनते ही ब्रह्मके स्वप्न दीखने लगते हैं, किन्तु भक्तिमार्गके अनुगामी भी कदाचित् इस शब्दसे चौंकें। बात यह है कि यह जगत् और जगत्का यह अपार नानात्व कहाँसे आया? इस प्रश्नका उत्तर तो देना ही चाहिए। नानात्वकी प्रतीति अज्ञानसे है, यह कह देना तो सरल है, किन्तु यह सोचनेकी बात है कि एक ही ज्ञानस्वरूप नित्य ब्रह्म जब सत्य है तो अज्ञान किसे? दूसरी बात यह है कि अज्ञान अन्धकार-धर्मा है, उसका स्वभाव अभेद दिखलाना है, भेद दिखलाना नहीं है! जो अनपढ़ है उसके लिये अक्षर एक-से, जो स्वरोंका ज्ञाता नहीं, उसके लिये सब राग समान। अक्षरों तथा रागोंके भेदका ज्ञान उनके जानकारको ही होता है। रात्रिका अंधकार सारे रूप-भेदको एकाकार कर देता है, भेदका ज्ञान तो प्रकाश कराता है। इसलिये जगत्के इन नाना रूपों, असंख्य भेदोंको अज्ञानका भ्रम कहना ठीक नहीं है।

ये नानात्व यद्यपि इस रूपमें मिथ्या हैं, भ्रम हैं, किन्तु उनका एक सत्य आधार है। वह आधार है भगवान्का सत्यधाम। भगवान्के नित्य धाममें तरु हैं, लतायें हैं, सरोवर हैं, सरितायें हैं, पशु हैं, पक्षी हैं, नर-नारी पार्षद हैं, नित्य हैं। उनकी प्रतिछाया इन नाना रूपोंमें प्रतिभासित है। प्रतिबिंब या छाया सत्य नहीं, वह तो मिथ्या है ही; अतः शास्त्र जगत्को मिथ्या कहता है तो चौंकनेकी कोई बात नहीं। लेकिन इस मिथ्याका एक आधार है और वह सत्य है, शाश्वत है, चिन्मय है।

इतनी बात समझमें आ जाय तो समझमें आ जायगा कि जगत्के प्रत्येक पदार्थ एवं प्राणीका नित्य भगवद्धामके किसी पदार्थ या प्राणीसे सम्बन्ध है। जगत्का प्राणी या पदार्थ नित्यधामके प्राणी या पदार्थकी छाया मात्र है। अतः इस छायाका स्वस्वरूप वह है जो नित्य भगवद्धाममें है। अपने उस स्वस्वरूपका ज्ञान होनेपर जीव उस नित्य स्वरूपमें एक हो जाता है।

कोई अपनेको मान ले कि मैं अमुक-सखी, अमुक अली या अमुक पार्षद हूँ—यह मानना ज्ञान नहीं है। वैसे तो आज अपनेको श्रीजानकीजी और श्रीराधाजीकी सखियाँ माननेवालोंकी संख्या बहुत बड़ी है। लोग तो अपनेको श्रीजानकीजी और श्रीराधाका ही अवतार मानते हैं। इससे भी आगे बढ़कर दर्जनों ऐसे भी हैं जो अपनेको कल्कि अवतार या श्रीकृष्णका अवतार घोषित करते हैं। यह सब तो दम्भ है या बुद्धिका उन्माद। यदि ये दोनों बातें हों तो ऐसी मान्यता उपासनाका साधन होती है; किन्तु मान्यता तो मान्यता है, वह न सत्य है, न ज्ञान।

स्कन्दपुराणमें श्रीमद्भागवतका माहात्म्य है। उसमें यह कथा है कि श्रीकृष्णचन्द्रके परमधाम चले जानेपर वज्रनाभ बची-खुची श्रीकृष्णचन्द्रकी रानियोंके साथ हस्तिनापुर अर्जुनद्वारा पहुँचाये गए और पाण्डवोंके महाप्रस्थान कर जानेपर परीक्षितके साथ मथुरा आए। वहाँ उन्हें उद्धवके दर्शन हुए। उद्धवजीने उनको श्रीमद्भागवत सुनाया। अन्तमें भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए। वज्रनाभने देख लिया कि श्रीनन्दनन्दनके दाहिने चरणमें जो वज्रका चिह्न है वही उनका स्वस्वरूप है। रानियोंको भी अपने-अपने 'स्वस्वरूप' के दर्शन हुए। इसके बाद सांसारिक लोगोंके लिये तो वज्रनाभ तथा वे रानियाँ अदृश्य हो गईं। क्योंकि स्वस्वरूपका दर्शन और उससे सायुज्य एकत्व ये दोनों क्रियायें साथ-साथ संपन्न हो गईं।

'स्वस्वरूप' का अपरोक्ष साक्षात्कारका अर्थ है भगवत्कृपासे भगवद्दर्शन करके यह प्रत्यक्ष देख लेना कि भगवान्के नित्यधाममें अपना क्या स्वरूप है। इस 'स्वस्वरूप' दर्शनके होनेपर वज्रनाभकी भाँति सभी तत्काल अदृश्य हो जायँ यह आवश्यक नहीं है। प्रारब्ध शेष हो तो ये संसारमें रह सकते हैं। वज्रनाभ तो थे ही भगवत्-पार्षद। लेकिन भक्ति-मार्गका सच्चा ज्ञान यही है। और, इस ज्ञानके बिना जीव मायाके बंधनसे मुक्त नहीं होता। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति' समझनेके लिये यह समझ लेना बहुत आवश्यक है।

प० प० प्र०—शरभंग, जटायु और बालिको भी मरते समय भगवान्का दर्शन हुआ पर उनको सायुज्य या कैवल्यकी प्राप्ति नहीं हुई। कारण स्पष्ट है कि शरभंगने 'प्रथमहि भेद भगति बर लएऊ', बालि ने 'जेहि जोनि जनमउँ कर्मबस तहँ रामपद अनुरागऊँ' यह माँगा था और जटायुने कहा था कि 'प्रान चलन चहत अब कृपानिधाना' अर्थात् प्राणोंके उत्क्रामणकी भावना की गई, इससे प्राण लीन नहीं हुए। यथा—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव तस्यं प्रविलीयन्ति कामाः।'

जनकसुता कइ सुधि भामिनी। जानहि कहु करिबरगामिनी* ॥१०॥
पंपासरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई ॥११॥
सो सब कहिहि देव रघुबीरा। जानतहू पूछहु मति धीरा ॥१२॥
बार बार प्रभुपद सिरु नाई। प्रेम सहित सब कथा सुनाई ॥१३॥

अर्थ—हे भामिनि! यदि करिवरगामिनी जनकसुताकी कुछ खबर जानती हो तो कहो ॥१०॥ हे रघुराई! पंपासरपर जाइए, वहाँ सुग्रीवसे मित्रता होगी ॥११॥ हे देव! हे रघुवीर! वह सब हाल कहेगा। हे धीरबुद्धि! जानते हुए भी आप मुझसे पूछते हैं ॥१२॥ बारंबार प्रभुके चरणोंमें माथा नवाकर उसने प्रेमसहित सब कथा सुनाई ॥१३॥

टिप्पणी—१ 'भामिनी' अर्थात् दीप्तियुक्त, कान्ति छविसे भरी। 'करिवरगामिनी' कहा, क्योंकि वनमें रहनेसे हाथीका गमन इसने देखा है—'संकुल लता विटप घन कानन। बहु खग मृग तहँ गज पंचानन। ३३.५।' हंसगामिनी न कहा कि कदाचित् इसने हंस न देखा हो तो संदेह होगा कि हंस कैसे चलते हैं।

नोट—१ यहाँ "करिवरगामिनी" पद जनकसुताका विशेषण है। एक तरहसे भगवान् श्रीसीताजी

* पाठान्तर—'गजबरगामिनी'—( काशी )। कुछ लोग इसे सीताजीमें लगाते हैं।

का हुलिया देते हैं। यहाँ यह शबरीके लिए सम्बोधन नहीं हो सकता। क्योंकि भगवान् उसमें माताका भाव रखते हैं। माताके गति-सौंदर्य्यकी चर्चा यहाँ प्रयोजनीय नहीं है।

२ 'यदि जानती हो' यह अर्थ अ० रा० के अनुकूल है, यथा 'यदि जानासि मे ब्रूहि सीता कमललोचना। कुत्रास्ते केन वा नीता'''।३.१०.३२-३३।' और स्वाभाविक है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि 'तुम जनकसुताकी सुध जानती हो, कहो'। उसे भक्तिके कारण गुरुद्वारा यह दिव्य ज्ञान था।

३ चौ० १० के दोनों चरणोंमें एक एक मात्रा कम है। इससे जनाया कि जनकसुताका स्मरण होते ही विरहभावना जागृत हो गई, वे गद्गदकण्ठ हो गए। दोहा १७ से ग्रन्थकी समाप्तितक कमसे कम १३१ चरण ऐसे हैं। यह काव्य दोष नहीं है। ☞तुलसीकी एक कला है। जहाँसे कथाका संक्षेप प्रारम्भ हुआ है वहाँसे इस कलाका आश्रय लिया गया है। सात्त्विक भावों अथवा भय, आश्चर्यादि भावोंका प्रदर्शन, तालभंग और यतिभंग करके किया गया है। ( प० प० प्र० )।

टिप्पणी—२ (क) 'पंपासरहि जाहु रघुराई।०' यह शबरीजीने अपने अनुभवसे अथवा अपने गुरुमुखसे सुनी हुई कही। [ वा, दर्शनसे सहजस्वरूप प्राप्त होते ही त्रिकालका ज्ञान हो गया। खर्रा—'रघुराई' का भाव कि आप भी राजा हैं और सुग्रीव भी राजा है जो वहाँ मिलेगा]। (ख) 'जानतहूँ पूँछहु मति धीरा' अर्थात् माधुर्य्यमें मतिको धीर किए हो, माधुर्य्यकी मर्यादा रखनेके लिए जानकर पूछते हो। 'देव' अर्थात्, दिव्य हो, सब जानते हो, वीर और मतिधीर हो, शत्रुको मारोगे।

नोट—४ 'देव' संबोधन अ० रा० में भी है; यथा 'देव जानासि सर्वज्ञ सर्वं त्वं विश्वभावन। तथापि पृच्छसे यन्मां लोकाननुसृतः प्रभो।३।१०।१४।', अर्थात् हे देव! हे सर्वज्ञ! हे विश्वभावन! आप सब जानते हैं। लोकाचारका अनुसरण करते हुए यदि आप मुझसे पूछते हैं तो मैं बतलाती हूँ। श्लोकके पूर्वार्धमें 'देव' का और उत्तरार्धमें 'रघुवीर' का भाव है। भाव कि माधुर्यमें आप रघुवीर बने हैं।

५ 'रघुवीर' का भाव कि सर्वज्ञ होनेसे विद्यावीरता, सुग्रीवपर दया करके दयावीरता, वालिको मारनेसे युद्धवीरता, दारापहारक राक्षसको दंड देकर धर्मवीरता और शत्रुओंको भी सद्गति देकर दानवीरता पाँचों वीरतायें प्रकट करेंगे। 'मति धीर' अर्थात् स्थितप्रज्ञ हैं। मिलान कीजिए—'तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं।४.२।'

टिप्पणी—३ 'बारबार प्रभु पद सिरु नाई'। नवधा भक्ति श्रीमुखसे सुनी। अतः अनेक बार प्रणाम किया। पुनः, यह प्रेमकी दशा है, यथा 'पद अंबुज गहि बारहिं बारा। हृदय समात न प्रेम अपारा', 'तब मुनि हृदय धीर धरि गहि पद बारहि बार', 'पुनि पुनि मिलति परति गहि चरना। परम प्रेम कछु जाइ न बरना'। वा, कुछ देर ठहरनेके लिए, यथा 'तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि तुम्हहिं मिलउँ तनु त्यागी।' [ 'पुनि पुनि पद सरोज सिरु नावा।३४.६।' से उपक्रम किया था और 'बार बार प्रभुपद सिरु नाई' में उपसंहार करते हैं। ( प्रभुके माधुर्यमें कहीं भूल न जाय, इस भयसे उसे त्राहि त्राहि करना था जैसे हनुमान्‌जीने किया है। यथा "चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत।५.३२।" )। बारंबार शिर चरणोंमें नवाकर मानों वह 'त्राहि त्राहि भगवंत' और 'संतत दासन्ह देहु बड़ाई। ताते मोहि पूछहु रघुराई।१३.१४।' अपने प्रत्येक प्रणामसे कह रही है। (प० प० प्र०) ]

४ "सब कथा सुनाई" जो गुरु कहनेको कह गये थे कि दर्शन करके शरीर त्याग देना। ( कथा पूर्व ३४.६में दी गई है)। [रा०प्र०-कारका भी यही मत है कि यहाँ जानकीजीके समाचारकी कथासे तात्पर्य्य नहीं है, क्योंकि उसे पहले बता चुकी है कि सुग्रीव कहेगा। अभी कह देनेसे संभव है कि सुग्रीवसे न मिलें, तो सुग्रीवका कार्य्य कैसे होगा? ]

[अ० रा० में सीताहरण और सुग्रीवका बल पराक्रम और वालिसे भयभीत पंपासरके निकट ऋष्यमूकपर मंत्रियोंसहित निवास करना कहा है। प० प० प्र० स्वामीका मत है कि वाल्मी० ३.७२ में जो कबंधने

सुग्रीवके संबंधमें बताया है कि उसके सख्यसे क्या लाभ होगा, इत्यादि, वही सब कथा यहाँ अभिप्रेत है।]

खर्रा—'भामिनी करिवरगामिनी' इति। भामिनी संबोधन देनेका भाव यह भी होता है कि इसे अपनेमें मिला लेना है, और स्त्री अपना रूप है, इसीसे स्त्री कहकर संबोधन किया। गीतावलीमें शबरीको किरातिनी कहा है क्योंकि वहाँ अपनेमें मिलाना नहीं कहा है, वहाँ केवल धाम देना लिखा है। तात्पर्य्य कि सायुज्य मुक्ति देनेमें 'भामिनी' कहा और सालोक्य देनेमें 'किरातिनि' कहा।

नोट—६ गोस्वामीजीने विनयमें कहा है कि शबरीजीको माताके समान और जटायुको पिताके समान माना।—'मातु ज्यों जल अंजलि दई'।

☞ 'भामिनी' शब्दका प्रयोग माताके लिये भी होता है। आर्ष ग्रंथोंमें भी इसका प्रयोग पाया जाता है। यथा "अथ तं सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम्। श्रुतानुभावं शरणं व्रज भावेन भामिनि।" (भागवते कपिल-वाक्य माताप्रति।३।३२।११), पुनश्च यथा वाल्मीकीये—'न रामेण वियुक्ताशास्वप्नमर्हति भामिनी।' (श्रीमारुति वाक्य श्रीजानकी प्रति)।

**छन्द—कहि कथा सकल बिलोकि हरिमुख हृदय पदपंकज धरे।**
**तजि जोगपावक देह हरिपद लीन भै जहँ नहिं फिरे॥**
**नर बिबिध कर्म अधर्म बहुमत सोकप्रद सब त्यागहू।**
**बिस्वास करि कह दास तुलसी रामपद अनुरागहू॥**

अर्थ—सब कथा कहकर, प्रभुके मुखका दर्शन कर, हृदयमें उनके चरणकमलोंको रखे हुए योगाग्निमें देहको त्यागकर वह हरिपदमें लीन हो गई, जहाँसे फिर (जीव) लौटते नहीं। तुलसीदासजी कहते हैं—हे मनुष्यो! अनेक प्रकारके कर्म, अधर्म और बहुतसे मत, सब शोक देनेवाले हैं, सबको छोड़ो और विश्वास करके श्रीरामपदमें प्रेम करो।

नोट—१ अ० रा० में इससे मिलता हुआ श्लोक यह है—"भक्तिर्मुक्तिविधायिनी भगवतः श्रीरामचन्द्रस्य हे, लोकाः कामदुघांघ्रिपद्मयुगलं सेवध्वमत्युत्सुकाः। नानाज्ञानविशेषमंत्रविततिं त्यक्त्वा सुदूरे भृशं, रामं श्यामतनुं स्मरारिहृदये भान्तं भजध्वं बुधाः॥३.१०.४४", अर्थात् भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी भक्ति मुक्ति-विधान करनेवाली है। अतएव हे मनुष्यो! कामनाके पूर्ण करनेवाले दोनों चरणकमलोंका उत्सुक होकर सेवन करो। हे पण्डितो! अनेक विशेष मंत्र, ज्ञान आदिको दूर हीसे छोड़कर शंकर-मानसमें विराजमान साँवले श्रीरामचन्द्रजीका अत्यंत भजन करो।-'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' इति भगवद्गीतायाम्। (१८।६६)।

टिप्पणी—१ (क) योग पावक=योगाग्नि।१.६४.८ में देखिए। (ख) 'हरिपद लीन भइ'—शबरीजी श्रीरामपदानुरागी थीं; यथा 'सबरी परी चरन लपटाई', 'पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा।', 'सादर जल लै चरन पखारे।', 'बारबार प्रभु पद सिरु नाई।', 'हृदय पद पंकज धरे।' अतः 'हरिपदलीन भई' कहा। इसीसे कवि भी श्रीरामपदमें दृढ़ अनुराग करनेको कहते हैं, यथा 'विश्वास करि कह दास तुलसी रामपद अनुरागहू।' (ग) 'जहँ नहिं फिरे', यथा 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' इति गीतायाम् ८.२१।', 'अन्यानमनिवर्तनम्। भा० ६.५.२१।'

नोट—२ गीताके श्लोकका अर्थ भगवान् श्रीरामानुजाचार्यने यह किया है-'(वह) अव्यक्त अक्षर है, ऐसा कहा गया है, उसीको परमगति कहते हैं। जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते, वह मेरा परमधाम है।२१।' (व्याख्या)—'इस श्लोकमें परमगति नामसे निर्दिष्ट भी यही 'अक्षर' है अर्थात् प्रकृति-संसर्गसे रहित स्व-रूपमें स्थित आत्मा है। इस प्रकार स्व-रूपमें स्थित जिस अव्यक्तको प्राप्त करके पुरुष वापस नहीं लौटता, वह मेरा 'परम धाम' है, परम नियमनका स्थान है। अभिप्राय यह है कि एक नियमन स्थान जड़

प्रकृति है, उससे युक्त हुये स्वरूपवाली जीव रूपा प्रकृति दूसरा नियमन-स्थान है, और जड़के संसर्गसे रहित स्व-रूपमें स्थित मुक्तस्वरूप परम नियमन स्थान है । वह अपुनरावृत्तिरूप है—आवागमनसे रहित है । अथवा यहाँ धाम-शब्द प्रकाशका नाम है, और प्रकाशका तात्पर्य ज्ञानसे है, सो प्रकृतिसे युक्त परिच्छिन्न ज्ञानवाले आत्मासे अपरिच्छिन्न ज्ञानस्वरूप होनेके कारण मुक्तस्वरूप (मुक्तात्मा) परमधाम है ।'

नोट—३ गीतावलीमें रामधाममें जाना कहा है, यथा 'सिय सुधि सब कही नख सिख निरखि निरखि दोउ भाइ । दै दै प्रदच्छिना करति प्रनाम न प्रेम अघाइ ॥ अति प्रीति मानस राखि रामहि रामधामहि सो गई ।' और कवितावलीमें प्रभुमें लीन होना कहा है, यथा 'छलिन की छौंड़ी सो निगोड़ी छोटी जाति पाँति, कीन्हीं लीन आपु में सुनारी भोड़े भील की ।७.१८।'; इससे जान पड़ता है कि 'राम-धाम' को जाना और 'प्रभुमें लीन होना' एक ही बात है ।

करुणासिंधुजी—लीन भई=प्राप्त हुई । हरि पदको प्राप्त हुई, जिस पदको प्राप्त होकर फिर संसारमें जीव नहीं आते । अथवा, 'हरिपदलीन भई'=परमपदको प्राप्त हुई । यह अर्थ कि हरिपदमें लय हो गई, अर्थात् एक हो गई ठीक नहीं है क्योंकि स्वरूपमें लीन होना जहाँ तहाँ पाया जाता है परन्तु पदमें लीन होना कहीं नहीं पाया जाता । अतएव 'प्राप्त हुई' अर्थ ठीक है ।

प० प० प्र०—भगवान्‌के चरणकमलोंको प्रथम हृदयमें धारण करके तब योगाग्निसे देहको त्याग किया, कुछ भी इच्छा न रही । अतः 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' इत्यादिमें धाम शब्द रहनेपर भी 'निज सहज सरूपा' और 'मुक्त कीन्हि अस नारि' इन वचनोंसे कैवल्य मुक्ति प्राप्त हुई ऐसा ही अर्थ लेना चाहिए। 'मुक्ति निरादरि भगति लोभाने' ऐसा यहाँ हुआ ही नहीं, यह 'मुक्त कीन्हि' से स्पष्ट है। तथापि शब्दोंकी रचना इस कुशलतासे की गई है कि 'सगुण सायुज्य' भी लिया जाय । 'हरिपद लीन भइ', 'हृदय पद पंकज धरे' इन वचनोंका आधार लेकर 'सगुण सायुज्य' अर्थ विशिष्टाद्वैती कर सकेंगे। मानसमें गीताके समान सब मतोंके स्थान हैं और सभी मतोंकी (आस्तिक, अधिकारभेदसे) आवश्यकता भी है ।

नोट—४ 'बिबिध कर्म' अर्थात् भगवद्भक्तिसे भिन्न जो भी कर्म हैं वे सब शोकप्रद हैं, वे अधर्मरूप ही हैं । इनसे पापोंका नाश नहीं हो सकता; यथा 'करतहु सुकृत न पाप नसाहीं । रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं । वि० १२८।'; अतः इनको त्यागनेको कहा । 'बहुमत' अर्थात् मुनियोंमें भी अनेक मत हैं, अनेक मार्ग कहे गए हैं, सबमें झगड़ा ही है । यथा 'बहु मत मुनि, बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो । गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहि लागत राम राज डगरो सो । वि० १७३।'

टिप्पणी—२ 'नर बिबिध कर्म००' इति । ( क ) 'नर' संबोधनका भाव कि जब ऐसी स्त्रीको मुक्ति दी तब तुम तो नर हो, तुम्हारी मुक्तिमें क्या संदेह है ? यह मनुष्योंको उपदेश है । [ ( ख ) यहाँ नरको गति दी है अतः उसी वर्गके समस्त नरोंसे श्रीगोस्वामीजी कहते हैं । ( रा०प्र० श० ) ] । ( ग ) 'बिस्वास करि कह दास तुलसी००' इति । विश्वास करनेको कहा, क्योंकि 'बिनु बिस्वास भक्ति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम' । विश्वास रखकर कि हम इससे ही कृतार्थ होंगे । श्रीशबरीजी रामपदानुरागिनी थीं, हरिपदमें लीन हुई, अतः कहते हैं "राम पद अनुरागहू" । रामपदानुराग चौथी भक्ति है । यही पादसेवन भक्ति है । इसमें विश्वास चाहिए, इसीसे कहा कि विश्वास करके अनुराग करो । ( विश्वासपर सर्वत्र जोर दिया गया है । क्योंकि विना इसके मनुष्य दृढ़ होकर भक्ति नहीं कर सकेगा । दृढ़ न होनेसे वह कभी न कभी उसे छोड़ देगा । इसीसे बारंबार यह बात कही गई है । यथा 'बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे । जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे । देवस्तुति । ७.१३ ।', 'सदगुर बैद बचन बिस्वासा । संजम यह न बिषय कै आसा ॥ रघुपति भगति सजीवन मूरी । अनूपान श्रद्धा मति रूरी । ७.१२२.६-७ ।', 'बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु ।७.८७।' 'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा ।७.९०।', इत्यादि ।)

महामंद मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहि बिसारि ॥३६॥

अर्थ—जातिहीन, पापकी जन्मभूमि अर्थात् जहांसे पाप उत्पन्न हुआ करते हैं, ऐसी स्त्रीको भी मुक्त किया—अरे महामन्द मन ! तू ऐसे प्रभुको भूलकर सुखकी चाह करता है (अर्थात् तुझे धिक्कार है) ॥३६॥

टिप्पणी—१ 'जाति हीन' से लोकमें नष्ट और अघजन्ममहिसे परलोक नष्ट। अथवा, 'जातिहीन अघजन्ममहि' और 'नारि' इनसे कर्मका अधिकार न होना जनाया। ( ख ) 'मुक्त कीन्हि' अर्थात् केवल भक्तिसे इसे मोक्ष दिया। [ 'जातिहीन'; यथा 'नृपान्यां वैश्यतो जातः सवरः परिकीर्तितः। मधूनिवृत्तदानीय विक्रीणीते स्ववृत्तये' इति नारदीये। अर्थात् जो वैश्य और क्षत्रियाणीके संयोगसे उत्पन्न हो उसे सवर कहते हैं, वृक्षोंसे मधुको लेकर बेचे और उससे अपनी जीविका करे। (खर्रा) ]

प० प० प्र०—१ अघ जन्म महि=पापोंको प्रसवन करनेवाली भूमि। काशीको 'मुक्ति जन्म-महि' कहा है। (कि० मं०)। भूमिके प्रकृत्यनुसार उसमें अनाज होता है। इस न्यायसे कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो पुण्यजन्मभूमि हैं और कुछ पापजन्मभूमि हैं। चित्रकूटके किरातोंके ही वचन हैं कि 'पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं कटि पट नहिं पेट अघाहीं।', 'सपनेहु धर्मबुद्धि कस काऊ।' अभी-अभी कुछ दिनों तक परधर्मीय सत्तामें भी कई जातियोंको क़ानूनसे ही 'गुनहगारी जाति' (criminal tribes) समझा जाता था। स्वराज्य होनेपर वह बंधन निकाल देनेसे अनर्थ भी होने लगे हैं। पूर्व-संस्कार-परिस्थिति, रहनी, संगति, शिक्षण, रोज़गार इत्यादि अनेक बातोंपर शीलसंवर्धन अवलंबित रहता है। इसीसे 'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा' कहा है, क्योंकि 'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई।'

नोट—१ इस दोहेसे मिलता जुलता श्लोक यह है—'किं दुर्लभं जगन्नाथे श्रीरामे भक्तवत्सले। प्रसन्ने ऽधमजन्मापि शबरी मुक्तिमाप सा ।४२। किं पुनर्ब्राह्मणा मुख्याः पुण्याः श्रीरामचिन्तकाः। मुक्तिं यान्तीति तद्भक्तिर्मुक्तिरेव न संशयः। अ० रा० ३.१०.४३।' अर्थात् भक्तवत्सल जगन्नाथ श्रीरामके प्रसन्न होनेपर क्या दुर्लभ है ! (देखो, उनकी कृपासे) नीच जातिमें उत्पन्न हुई शबरीने भी मोक्षपद प्राप्त कर लिया। फिर भला श्रीरामजीका चिन्तन करनेवाले पुण्यजन्मा ब्राह्मणादि यदि मुक्त हो जायँ तो इसमें क्या आश्चर्य है? निस्संदेह श्रीरामजीकी भक्ति ही मुक्ति है।—यही सब भाव पूर्वार्धका है। गीतामें भी भगवान‌ने कहा है कि मेरा आश्रय लेकर स्त्रियाँ वैश्य, शूद्र अथवा जो भी कोई पापयोनि हों, वे भी परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं फिर पुण्ययोनि ब्राह्मणों और राजर्षिभक्तोंके लिये तो कहना ही क्या ? यथा 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।' ( गीता ९।३२-३३ )।

२ 'महामंद मन....' इति। भाव कि ऐसे भक्तवत्सल प्रभुकी भक्तिको छोड़कर, प्रभुसे विमुख होकर जो सुख, शान्तिकी चाह करे, वह महानीच बुद्धिवाला है। श्रीरामभक्ति ही शाश्वत सुखकी देनेवाली है। यही भुशुण्डीजीने कहा है। यथा 'श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥ कमठ पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्यासुत बरु काहुहि मारा॥ फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥ तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥ अंधकारु बरु रबिहि नसावै। रामबिमुख न जीव सुख पावै॥ हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥ बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल। बिनु हरिभजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल।७.१२२।'—यह 'महामंद ! सुख चहसि' की ही पूरी व्याख्या समझिए। पुनः 'महामंद' का भाव कि तू मूर्ख है, जड़बुद्धि है, शठ है जो ऐसा समझता है कि अन्य साधनसे सुख मिलेगा। यथा "जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥ ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥ सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥ ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी।७।११५।"

'सबरी गति दीन्ही'-प्रसंग समाप्त हुआ।

'वहुरि विरह वरनत रघुवीरा ।' (कामिन्ह कै दीनता देखाई)-प्रकरण

चले राम त्यागा वन सोऊ । अतुलित बल नर-केहरि दोऊ ॥१॥
विरही इव प्रभु करत विषादा । कहत कथा अनेक सवादा ॥२॥
लछिमन देखु विपिन कइ सोभा । देखत केहि कर मन नहिं छोभा ॥३॥

अर्थ – श्रीरामचन्द्रजीने उस वनको भी छोड़ा और (आगे) चले । दोनों भाई अतुल बलवान और (मनुष्योंमें सिंहके सामान) हैं ॥१॥ प्रभु विरहीकी तरह दुःख कर रहे हैं, अनेक (विरह विषादके) संवादकी कथायें कहते हैं ॥२॥ लक्ष्मण ! वनकी शोभा देखो । उसे देखकर किसका मन विचलित न होगा ? ॥३॥

नोट—१ 'चले' शब्दसे नये प्रकरणका आरंभ जनाया । श्रीरघुवीर-विरह-प्रकरणमें पंचवटीसे चलनेपर 'पूछत चले लता तरु पाँती' कहा, बीचमें जटायुको गति देनेको रुके । वहाँसे 'चले विलोकत वन बहुताई' । कबंधको गति देकर फिर 'सबरीके आश्रम पगु धारा' । अब वहाँसे पंपासरको चले, अतः 'चले राम…' कहा । यहाँ प्रभु-नारदका संवाद होगा ।

टिप्पणी—१ 'त्यागा वन सोऊ' इति । यहाँ वन-विभाग दिखाते हैं । (१) गंगातटसे अत्रिके आश्रम-तक एक वन है; यथा "तब गनपति सिव सुमिरि प्रभु नाइ सुरसरिहि माथ । सखा अनुज सिय सहित वन-गवनु कीन्ह रघुनाथ । २.१०४ ।" और "कहेउँ रामवनगवनु सुहावा । २.१४२.४ ।"

(२) अब दूसरा वन दिखाते हैं; यथा 'तब मुनि सन कह कृपानिधाना । आयसु होइ जाँउँ वन आना । ३.६.२ ।', "चले वनहिं सुर नर मुनि ईसा । ३।७।१ ।" यह विराधवाला वन है, इसीमें शरभंगजी थे । महर्षि अत्रिजीके आश्रमके पश्चात् शरभंगाश्रमतक यह वन है ।

(३) तीसरा वन, यथा 'पुनि रघुनाथ चले वन आगे । ६।५ ।', यह वन शरभंगऋषिके आश्रमके आगे अगस्त्याश्रम तक वाला है ।

(४) चौथा 'दंडकवन पुनीत प्रभु करहू ।१३।१६।' यह दंडकवन है । इसीमें पंचवटी और जनस्थान हैं ।

(५) आगे बहुत अधिक और गहन वन मिले, यथा 'चले विलोकत वन बहुताई' । यहाँ क्रौंचवनके आगे कवन्धवाला वन था, उसके आगे मतंगवन था, जिसमें शबरीजीका आश्रम था ।

(६) 'चले राम त्यागा वन सोऊ' अर्थात् मतंगवनसे आगे पंपावाले वनमें गए ।

२—'अतुलित बल नर-केहरि दोऊ' अर्थात् दोनों ही पुरुषसिंह और अतुलित बली हैं, तथापि (श्रीराम-जी) विरहीकी तरह विलाप करते हैं । पुनः, ऐसे घोर वनमें मनुष्यकी सामर्थ्य नहीं है कि आ सके, उसमें ये दोनों विचर रहे हैं, क्योंकि दोनों 'अतुलित बल०' हैं । पुनः, भाव कि एक ही सिंह वनके सभी जीवोंके लिए बहुत होता है, एक ही विश्व-विजयको बहुत है और ये तो दो हैं तब इनका क्या कहना ? पुनः, वनमें निर्भय विचरणसे "केहरि" कहा । पुनः, सिंहका आनन्द वनमें ही है और ये तो अतुलित बली हैं; अतएव इन्हें गहरेसे गहरे वनमें पहुँचकर भी आनन्द ही आनन्द है ।

प्र०—'विरही इव' पद देकर उनको विरहीसे भिन्न जनाया । अतएव भाव यह हुआ कि श्रीसीताजीसे रामका वियोग ही नहीं हुआ । यदि कहो कि जानकीजी तो अग्निमें निवास करती हैं तब वियोग कैसे नहीं हुआ ? तो उसका समाधान यह है कि अग्नि तो श्रीरघुनाथजीके शरीरका तेज विशेष है, भिन्न नहीं है । वालकाण्डमें 'नर इव' पद दिया था । मिलान करो 'विरह विकल नर इव रघुराई । खोजत विपिन फिरत दोउ भाई ॥ कबहूँ जोग वियोग न जाकें । देखा प्रगट विरह दुख ताकें ॥ अति विचित्र रघुपति चरित जानहिं परम सुजान । जे मतिमंद विमोह बस हृदय धरहिं कछु आन ॥१।४९।', 'एहि विधि खोजत विलपत स्वामी । मनहु महा विरही अतिकामी ॥३०.१६।', इन प्रसंगोंमें जो भाव 'नर इव', 'मनहु महा विरही' के दिये गये हैं वही यहाँ हैं ।

टिप्पणी—३ 'कहत कथा' अर्थात् अनेक विषादके संवादकी कथाएँ कहते हैं, जैसे नल, पुरुरवा आदिकी। [ अथवा, वन शोभा, वसंतवर्णन यही कथायें हैं और मृग-मृगीका संवाद है। ( प० प० प्र० )] 'देखत केहि कर मन नहिं छोभा' अर्थात् किसको कामोद्दीपन नहीं होता।

नोट—२ वाल्मी० और अ० रा० में शबरीजीके आश्रमसे चलनेपर मन प्रसन्न है, विरह विलाप नहीं है।

नारि सहित सब खग मृग बृंदा। मानहुँ मोरि करतहहिं निंदा ॥४॥
हमहिं देखि मृगनिकर पराहीं। मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं ॥५॥
तुम्ह आनंद करहु मृग जाए। कंचनमृग खोजन ए आए ॥६॥

अर्थ—सब पक्षी पशुओंके झुण्ड स्त्री सहित हैं, मानों मेरी निंदा कर रहे हैं ( अर्थात् तुम भी यदि अपनी स्त्रीको इसी तरह साथ रखे होते तो यह विषाद क्यों करना पड़ता ) ॥४॥ हमें देख मृगोंके झुण्ड भागते हैं तब मृगियाँ कहती हैं कि मृगपुत्रो! तुमको डर नहीं ( तुम न भागो ) ॥५॥ तुम मृगसे पैदा हुए हो, तुम आनन्द करो। ये तो सोनेके मृगको खोजने आए हैं ॥६॥

प० प० प्र०—१ 'मोरि करतहहिं निंदा' इति। इसमें पश्चात्ताप है कि कनक-मृगके लिये न जाता तो निंदा क्यों करते। नारि विवश होकर 'नट-मर्कटकी नाईं' नाचनेसे ऐसी निन्दा सुननेका पात्र बनना पड़ता है। यह उपदेश है। यहाँ दोनों चरणोंके यमकमें विषमताद्वारा जनाया कि कहाँ क्षुद्र पशु पक्षी और कहाँ रघुबीर, ऐसा अपार अंतर होनेपर भी बड़े भी निन्दाका पात्र होते हैं। मृगछालाका लोभ ही निन्दाका हेतु है—'अल्प लोभ भल कहै न कोई'।

२ 'हमहिं देखि मृग...' इति। पूर्व चरणमें 'मोरि' कहा और यहाँ 'हमहिं'। 'हमहिं' से श्रीराम-लक्ष्मण दोनोंका बोध होता है। यद्यपि लक्ष्मणजी कंचनमृगके लिये नहीं गए फिर भी श्रीरामजीके संग होनेसे वे भी निन्दाका विषय हो गये। इससे उपदेश देते हैं कि निन्दापात्र व्यक्तिकी संगतिमें रहनेवाले भी निन्दाका विषय हो जाते हैं। देखिये, पहले मृग रामबटोहीको देखकर खड़े होकर एकटक देखा करते थे, यथा 'अवनि कुरंग, बिहँग द्रुम डारन रूप निहारत पलक न प्रेरत। मगन न डरत निरखि कर कमलनि सुभग सरासन सायक फेरत। गी० २.१४।', आज भागते हैं यह विपरीत बात कैसी? इसका कारण है' उर प्रेरक रघुवंस बिभूषन'। विषयी, स्त्री-विवश लोगोंको उपदेश देनेके लिये सब अघटित लीला करते कराते हैं।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—१ 'नारि सहित''''निंदा' इति। पहले कह आए हैं कि 'कहत कथा अनेक संबादा।' पहले कथा आरंभ हुई। प्रभु कहते हैं कि देखो लक्ष्मण! जितने पक्षी हैं, वे सब अपने जोड़ेके साथ हैं। मृगगण भी मृगीके साथ हैं। कोई भी तो विना स्त्रीके नहीं है। मनुष्य होकर मैं स्त्रीरहित हूँ। मुझे मालूम होता है, मानों वे हमारी निंदा करते हैं कि हम लोगोंने पशु-पक्षी होकर अपनी-अपनी स्त्रीकी रक्षा की है और ये मनुष्य होकर भी रक्षा न कर सके। इतना ही नहीं, मानों मृगी भी मेरे अज्ञान-पर व्यङ्गोक्ति कर रही है; यथा 'कंचन मृग खोजन ये आए'।

२ 'हमहिं देखि''''खोजन ये आए' इति। हमें धनुर्बाण धारण किये हुए देखकर मृग भाग चलते हैं। मृगी कहती हैं कि मत भागो। इसपर प्रश्न उठता है कि क्यों न भागें? इस महावनमें ये धनुर्धर अन्य अहेरियोंकी भाँति मृग ही न खोज रहे हैं; अतः हम लोगोंको भय उपस्थित हुआ है! अतएव न भागनेका कोई कारण नहीं। इसपर मृगी कहती हैं कि तुम तो मृगसे उत्पन्न हो, तुम्हें भय नहीं है, तुम भय न करो। ये तो सोनेका मृग खोजने आए हैं, जिसका कि जन्म मृगजातिमें असंभव है। और भी बात है हाथी मानों मुझे नीतिशास्त्रानभिज्ञ समझकर शिक्षा दे रहे हैं।

टिप्पणी—१ 'हमहिं देखि मृगनिकर पराहीं।०' इति। हरिण लोगोंको देखकर भागते हैं फिर कुछ दूरपर खड़े हो जाते हैं और पीछे देखते हैं, यह मृगका स्वभाव है। इन दोनों स्वभावोंपर दो बातें लिखते

हैं, एक तो 'हमहिं देखि०' और दूसरी 'मृगी कहहिं'। अर्थात् पहले देखकर भागते हैं कि हमको मारेंगे, जब हरिणी कहती है कि तुम न डरो तब खड़े हो जाते हैं।

पं० रा० चं० शुक्ल--१ दूसरोंका उपहास करते तो आपने बहुत लोगोंको देखा होगा, पर कभी आपने मनुष्यकी उस अवस्थापर भी ध्यान दिया है जब वह पश्चात्ताप और ग्लानिवश अपना उपहास आप करता है ? गोस्वामीजीने उसपर भी ध्यान दिया है। उनकी अन्तर्दृष्टिके सामने वह अवस्था भी प्रत्यक्ष हुई है। सोनेके हिरनके पीछे अपनी सोनेकी सीताको खोकर राम वन-वन विलाप करते फिरते हैं। मृग उन्हें देखकर भागते हैं, और फिर जैसा कि उनका स्वभाव होता है थोड़ी दूरपर जाकर खड़े हो जाते हैं। इसपर राम कहते हैं 'हमहिं देखि मृगनिकर पराहीं०' कैसी क्षोभपूर्ण आत्मनिन्दा है।

२ यहाँ एक और बात ध्यान देनेकी है। कविने मृगोंके ही भयका क्यों नाम लिया ? मृगियोंको भय क्यों नहीं था ? बात यह है कि आखेटकी यह मर्य्यादा चली आती है कि मादाके ऊपर अस्त्र न चलाया जाय। शिकार खेलनेवालोंमें यह बात प्रसिद्ध है। यहाँ गोस्वामीजीका लोक व्यवहार परिचय प्रगट होता है।

टिप्पणी—२ 'तुम्ह आनंद करहु मृग जाए।' अर्थात् तुम मृगसे उत्पन्न हुए हो और ये उसको ढूँढ़ते हैं जो मृगसे पैदा न हुआ हो। अर्थात् जो कपटसे मायाका मृग बनकर आते हैं उनका ये शिकार करते हैं। 'मृग जाये' में लक्षणामूलक अगूढ़ व्यंग है। कंचन-मृगसे जनाया कि ऐसे लोभी हैं कि कंचनके लिए स्त्री गँवादी। कंचन देकर स्त्रीको बचाना चाहिए और इनने उलटा किया। यह उपदेश स्त्रियाँ दे रही हैं।

दीनजी—यहाँ 'कंचन मृग खोजन' में मृगियोंका ताना तो है ही कि ऐसे बुद्धिहीन हैं कि सोनेके मृगके पीछे दौड़े। यह नहीं जानते कि सोनेके हिरन नहीं होते। यथा 'असंभवं हेममृगस्य जन्म तथापि रामो लुलुभे मृगायः।' पंडित लोग ऐसा भी अर्थ करते हैं कि 'मृ' (=मट्टी) +'ग' (=चलनेवाला) अर्थात् सोनेकी पृथ्वीपर चलनेवाले रावणको ये ढूँढ़ते हैं।

प० प० प्र०—भगवान् इस चरितसे हमें उपदेश करते हैं कि सोनेका मृग नहीं होता। मैं एक बार उसके पीछे दौड़ गया जिससे मेरी निंदा पशु-पक्षी करते हैं और आप सब पंडित भी करते होंगे। पर ज़रा विचार तो कीजिये कि अनेकों कल्पोंसे आप अनेक योनियोंमें भ्रमते आए, सुर-दुर्लभ मनुष्य शरीर आपको मिला तब भी विषयरूपी मिथ्या मृगजलके पीछे आप दिनरात दौड़ते हैं। जैसे सोनेका मृग असंभव है वैसे ही 'धन दार अगार' आदि समस्त विषयोंमें सुख असंभव है। विषयोंके पीछे दौड़ते रहनेसे तुम्हारे 'मानुष तन गुन ज्ञान निधाना' की निंदा होगी।

**संग लाइ करिनी करि लेहीं। मानहु मोहि सिखावनु देहीं ॥७॥**
**सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ ॥८॥**
**राखिअ नारि जदपि उर माहीं। जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं ॥९॥**
**देखहु तात बसंत सुहावा। प्रियाहीन मोहि भय उपजावा ॥१०॥**

अर्थ—हाथी हथिनियोंको साथ लगा लेते हैं॥ मानों मुझे शिक्षा देते हैं ( कि इस प्रकार स्त्रीको साथ रखना चाहिए था ) ॥७॥ अच्छी तरह मनन किए हुए शास्त्रको भी बारबार देखना चाहिए। भली प्रकारसे सेवा किए हुए राजाको वशमें न समझिए ॥८॥ स्त्रीकी सदा रक्षा ( रखवाली ) करते रहना चाहिए चाहे वह

---

॥ १ युवती, शास्त्र और नृपति तीनोंका एक ही धर्म 'वस नहिं लेखिअ' कहना 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है। सुहावना होकर भय पैदा करनेमें 'प्रथम व्याघात' अलंकार है। प्यारीके बिना ऐसा होना 'प्रथम विनोक्ति' है। २ 'जुवती सास्त्र नृपति बस नाहीं' में क्रमभंगयथासंख्य है। (दीनजी)।

हृदयमें ही रहती हो। स्त्री, शास्त्र और राजा वशमें नहीं रहते† ॥९॥ हे तात ! सुंदर वसन्त ऋतुको देखो। प्यारी स्त्रीके विना वह मुझे भय उत्पन्न कर रहा है ॥१०॥

नोट—१ 'राखिय नारि जदपि उर माहीं।' का यही ( उपर्युक्त ) अर्थ बाबा हरिहरप्रसादजी और प्राचीन महानुभावोंने किया है। यह अर्थ शुक्रनीतिके अनुकूल भी है। यथा 'शास्त्रं सुचिन्तितमथोपरिचिन्तनीयम् आराधितोऽपि नृपतिः परिशंकनीयः। क्रोडेस्थितापि युवतिः परिरक्षणीया शास्त्रे नृपे च युवतौ च कुतो वशित्वम् ॥', अर्थात् खूब चिन्तवन किए या विचारे हुए शास्त्रको फिर भी विचार करते रहना चाहिए, राजा भली प्रकार विधिवत् सेवा किया गया हो तो भी उससे शंकित ही रहना योग्य है और स्त्री गोदमें भी की हुई क्यों न हो तो भी वह रक्षा किए जाने योग्य है। शास्त्र, राजा और स्त्रीपर किसका वश है ? भाव कि इनसे जरा भी चूकना वा असावधान रहना उचित नहीं।

आधुनिक टीकाकारोंने यह अर्थ किया है कि 'चाहे स्त्रीको हृदयमें रखिये तो भी०'। 'पुनि पुनि देखिअ', 'बस नहिं लेखिय' के योगसे 'राखिय नारि' का उपर्युक्त अर्थ ठीक है। श्लोकके 'परिचिन्तनीया' 'परिशंकनीया' और 'परिरक्षणीया' के ही यहांके तीनों पद प्रतिरूप या अनुवाद ही समझने चाहिएँ।

२☞यहाँपर अवसर प्राप्त होनेपर कविने उपर्युक्त नीतिके वचनका अनुवाद ही रख दिया है। पर मूलसे अधिकता अनुवादमें है। इसमें वशमें न रहनेवालोंमें पहिला नंबर ( प्रथम स्थान ) युवतीको दिया है और मूलमें युवतीका नंबर तीसरा है। (वि० त्रि०)।

मा० म०—स्त्री, शास्त्र, नृपको अपने वशमें न समझना चाहिए। उदाहरण ये हैं—पिता दशरथ महाराजकी आज्ञापालनके लिए वनवास करना पड़ा अर्थात् राजा विश्वसनीय नहीं होता, क्योंकि उसने पुत्रके साथ भी ऐसा बर्ताव किया। वसंत भी राजा है, दुःख देता है। वेद भी अभ्यास विना संग त्याग देता है अर्थात् विस्मरण हो जाता है यद्यपि भलीभाँति अध्ययन किया हुआ है। और, स्त्रीका विरह दुःख प्रत्यक्ष ही है; अतएव इन तीनोंको वशमें न समझना चाहिए।

नोट—३ ( क ) पहले कहा कि हाथी मानों शिक्षा देते हैं फिर चार चरणोंमें उस शिक्षाका स्वरूप कहा है। खगमृग छोटे हैं, अतः उनका निंदा करना कहा। हाथी बड़े हैं, अतः उनका उपदेश देना कहा। ( शिला )। यह उपदेश पुरुष देते हैं कि तुम्हारे तो हाथ हैं, हाथ पकड़े चलते तो कैसे जाती। ( ख ) यहाँ दिखाया कि कोई शिक्षा देते हैं, कोई लोभी आदि कहकर निंदा करते हैं और कोई भय देते हैं। (ग) 'वसंत सुहावा'। सुहावा कहकर दुःखदायी जनाया, क्योंकि विरहीको सुहावनी वस्तु भयदायक होती है। भय यह भी कि विना हमारे सीताजी वसन्तसें कैसे रह सकेंगी। यथा 'श्यामा पद्मपलाशाक्षी मृदु पूर्वाभिभाषिणी। नूनं वसन्तमासाद्य परित्यक्ष्यति जीवितम् ॥ वाल्मी० ४.१.५०।', 'भय उपजावा' इसका कारण आगे कहते हैं कि 'बिरह···बगमेल'।

वि० त्रि०—'देखहु तात···उपजावा' इति। भाव कि प्रियाके साथमें वसन्त कैसा सुखद था—मैं फूलोंका गहना बनाकर प्रियाका शृङ्गार करता था। यथा "एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए॥ सीतहि पहिराए प्रभु सादर। ३.१.३-४।' वही सुहावना वसन्त प्रियाहीन होनेसे मुझे भयप्रद हो गया है—'सो कहँ सकल भये विपरीता।'

दीनजी—वसन्त आदि कामोद्दीपक पदार्थोंको देखकर कुछ भय होता है, यह वियोगकी दश दशाओंमें

† १ रा० व०—'संग लाइ०० मानहुँ००'। अपनी अवस्थाके समान जहाँ औरोंको उपदेश देना कथन किया वह निदर्शना अलंकारका दूसरा भेद है। वही अलंकार यहाँ है। इस उदाहरणके उत्तरार्द्धमें 'मानहु' शब्द होते हुए भी उत्प्रेक्षा नहीं है क्योंकि हाथी हथिनीकी समकल्पना इसमें नहीं कथन की गई, केवल शिक्षाका आरोपण किया गया है। २ वीर०—शिक्षाकी कल्पना 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है।

से एक दशा है। [दश दशाएँ, यथा "अभिलाषश्चिन्तास्मृति गुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च। उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता-स्मृतिरिव दशात्र कामदशाः॥" (साहित्यदर्पण)। अर्थात् अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, संप्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृत्यु ये कामकी दश दशाएँ हैं। वाल्मी०। ४.१ में पंपासरपर वन, पक्षी और वसंतकी शोभा देखकर जो श्रीरामजीने लक्ष्मणसे कहा है वह सब 'भय उजावा' की व्याख्या जानिए।]

प० प० प्र०—१ 'भूप सुसेवित वस नहिं लेखिए' अर्थात भूप वशमें है ऐसा मान लेनेपर भी वह भाग्यसे अधिक नहीं देगा; यथा 'तुष्टो हि राजा यदि सेवकेभ्यो भाग्यात्परं नैव ददाति किंचित्।' [साधारणतः इसका आशय यही है कि राजा कितने ही मित्र क्यों न हों, पर थोड़े हीमें वे शत्रु हो जाते हैं, प्राण ही ले लेते हैं, उनकी मित्रता वा प्रसन्नतापर विश्वास न करना चाहिए।] 'जुवती सास्त्र नृपति वस नाहीं' से सूचित किया कि सीताजी रावणके वश नहीं होंगी।

२ 'प्रिया हीन मोहि भय उपजावा' से सूचित किया कि 'सती पतिव्रता पत्नी सहित' होनेपर कामदेव भयका निर्माण नहीं करता। प्रिय पत्नीके सहायसे कामदेवपर विजय संपादन करनेके लिये ही गृहस्थाश्रमका स्वीकार है।

दोहा—बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल॥
देखि गएउ भ्रातासहित तासु दूत सुनि बात।
डेरा कीन्हेउ मनहु तब कटकु हटकि मनजात॥३७॥

अर्थ—मुझे विरहसे व्याकुल, निर्बल और बिल्कुल अकेला जानकर कामदेवने वन, भौंरों और पक्षियों सहित चढ़ाई की (धावा किया)। उसका दूत पवन मुझे भाईसहित (अर्थात् अकेला नहीं) देख गया, तब मानों उसकी बात सुनकर कामदेवने सेनाको रोककर डेरा डाल दिया।३७।

नोट—१ (क) 'बिरह बिकल बलहीन'—विरहसे व्याकुल मनुष्यकी बुद्धि और शरीर दोनों क्षीण हो जाते हैं, वह कर्तृत्व और उत्साहहीन हो जाता है। (प० प० प्र०)। 'निपट अकेल' अर्थात् प्रियाके साथ ही वह मुझे सदा पाता था, अतः उसका वश न चलता था, उनके न रहनेसे वह समझता था कि अब तो बिल्कुल अकेले हैं। पूर्व लक्ष्मणजी प्रायः विहारस्थल एवं प्रभुकी कुटीसे कुछ दूर रहा करते थे। अतः वह समझा कि बिल्कुल अकेले होंगे। पूर्वकी तरह भाई साथ न होंगे। (ख) 'सहित बिपिन मधुकर खग' इति। भाव कि कामी विरही लोगोंमें भ्रमरकी गुञ्जार, पक्षियोंकी बोली और उनके रंग रूप अंग आदिकी सुन्दरता ये सभी विरह और कामको उद्दीपन करनेवाले होते हैं, उनसे वियोगीका विरह-विषाद बढ़ता है। (ग) बगमेल—दोहा १८ देखिए।

वि० त्रि०—भाव कि कामसे मेरी अनबन बहुत दिनोंसे चली आती है। पुष्पवाटिकामें भी इसने विजयके लिए दुन्दुभी दी थी, पर कुछ कर न सका, विश्वविजय मुझे मिल गया। यथा 'बिस्व बिजय जसु जानकि पाई', तबसे जानकीका विरह कभी हुआ नहीं। अतः इसका घात न बैठा। आज मुझे विरह विकल और अकेला जानकर अपने मित्र वसन्तके साथ मुझपर चढ़ाई करनेकी धृष्टता की है।

टिप्पणी—१ (क) जहाँ कामकी चढ़ाई होती है वहाँ वसन्त सेनासहित साथ रहता है। यथा 'तेहि आश्रमहि मदन जब गयऊ। निज माया बसंत निरमयऊ॥ कुसमित बिबिध बिटप बहुरंगा। कूजहिं कोकिल गुंजहिं भृंगा॥ चली सुहावनि त्रिबिध बयारी। कामकृसानु बढ़ावनिहारी।१।१२६।१-३।', 'भूपबागुबर देखेउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लोभाई॥ लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना॥ नव-

पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुररूख लजाए॥ चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा॥'''मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही।१.२२७-२३०।", तथा यहाँ 'देखहु तात बसंत सुहावा। प्रिया-हीन मोहि भय उपजावा' और 'बिरह-बिकल००' कहा। (ख) 'मदन कीन्ह बगमेल'। भाव कि जैसे किसी राजाको निर्बल देख दूसरा उसके ऊपर चढ़ाई करता है वैसे ही मानों मुझे बलहीन और अकेला जान कामने चढ़ाई की, ऊपर चढ़ ही आया था पर जब उसे मालूम हुआ कि मेरे साथ एक बड़े प्रबल साथी हैं जिनसे वह जय नहीं पा सकता तब वहीं रुक गया। (ग) 'देखि गएउ भ्राता सहित'''—इससे व्यावहारिक नीतिकी शिक्षा देते हैं कि साथमें दूसरेके रहनेपर काम प्रबल नहीं होने पाता, अकेलेमें वह अपना पूरा प्रभाव डालता है। 'तासु दूत सुनि बात'। दूत यहाँ पवन है; यथा "त्रिबिधि बयारि बसीठी आई"। बसीठी दूतद्वारा होती है; यथा 'गयेउ बसीठी बीरवर जेहि बिधि बालिकुमार।७. ६७।' (घ) बसीठी भेजनेमें 'बयारि' शब्द दिया जो स्त्रीवाचक है क्योंकि स्त्रीद्वारा पुरुष शीघ्र कामके वश होता है। (ङ) 'मनजात' मनसे उत्पन्न है, सो लक्ष्मणजी के मनसे कामकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। पूर्व जो कहा है कि 'बिरही इव प्रभु करत बिषादा' वही दिखाते जा रहे हैं।

बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिये जनु तानी॥१॥
कदलि ताल बर धुजा पताका। देखि न मोह धीर मन जाका॥२॥
बिबिध भाँति फूले तरु नाना। जनु बानैत बने बहु बाना॥३॥
कहुँ कहुँ सुंदर बिटप सुहाये। जनु भट बिलग बिलग होइ छाए॥४॥
कूजत पिक मानहु गज माते। ढेक महोख ऊँट बिसराते॥५॥
मोर चकोर कीर बर बाजी। पारावत मराल सब ताजी॥६॥
तीतिर लावक पदचर जूथा। बरनि न जाइ मनोज बरूथा॥७॥
रथ गिरि सिला दुंदुभी झरना। चातक बंदी गुनगन बरना॥८॥
मधुकर मुखर भेरि सहनाई। त्रिबिधि बयारि बसीठी आई॥९॥
चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हे। बिचरत सबहि चुनौती दीन्हे॥१०॥

शब्दार्थ—ढेक=पानीके किनारे रहनेवाली एक चिड़िया जिसकी चोंच और गरदन लम्बी होती है। महोख—यह पक्षी कौएके बराबर होता है। विशेषकर उत्तरी भारतमें झाड़ियों और बँसवाड़ियोंमें मिलता है। चोंच, पैर और पूँछ काली, आँखें लाल और सिर, गला और डैने खैरे रंगके या लाल होते हैं। यह कीड़े मकोड़े खाता है। बोली तेज और लगातार होती है। बिसरात (सं० वेशरः)=खच्चर।

अर्थ—बड़े-बड़े वृक्षोंमें लतायें लपटी हुई हैं, मानों अनेक तंबू तान दिए गए हैं॥ १॥ सुन्दर केले और ताड़ (के वृक्ष) ध्वजा पताका हैं। इन्हें देखकर जिसका मन मोहित न हो वही धीर पुरुष है॥ २॥ अनेक वृक्ष अनेक प्रकारसे फूले हुए हैं, मानों बहुतसे बाना धारण किए हुए बानैत बने सुशोभित हैं॥३॥ कहीं कहीं सुन्दर वृक्ष शोभा दे रहे हैं मानों योद्धा हैं जो (सेनासे) अलग अलग होकर छावनी डाले हैं अर्थात् ठहरे हैं॥४॥ कोयल बोलती है। वही मानों मतवाले हाथी (चिंघाड़ते) हैं। ढेक पक्षी और महोख मानों ऊँट और खच्चर हैं अर्थात् ढेक और महोखका शब्द ऐसा जान पड़ता है मानों ऊँट और खच्चर शब्द कर रहे हैं॥ ५॥ मोर, चकोर, तोते, कबूतर और हंस ये सब सुन्दर उत्तम ताजी घोड़े हैं॥ ६॥ तीतर और लवाके झुण्ड पैदल सिपाहियोंका झुंड है। कामदेवकी सेनाका वर्णन नहीं हो सकता॥७॥ पर्वतकी शिलाएँ (चट्टानें) रथ हैं। पानीके झरने नगाड़े हैं। चातक (पपीहा) भाट हैं जो गुणगण (बिरदावलि) वर्णन कर रहे

हैं ॥८॥ भौंरोंकी गुञ्जार ( बोली ) भेरी और शहनाई हैं, शीतल, मंद, सुगंध तीनों प्रकारकी आती हुई वायु दूतका आना है ॥ ९ ॥ चतुरंगिनी सेना साथ लिये हुए ( काम ) सबको चुनौती देता ( ललकारता ) हुआ विचर रहा है ॥ १० ॥

टिप्पणी—१ 'कदलि ताल'। केला छोटा होता है, ताड़ बड़ा, वैसे ही ध्वजा छोटा और पताका बड़ा। २ 'जनु बानैत बने बहु बाना' इति। सिपाही अनेक अस्त्र-शस्त्र धारण किए रहते हैं, जैसे धनुष बाण, खड्ग, शक्ति, त्रिशूल आदि। उनके अनेक रंग-रंगके पृथक् पृथक् यूथ होते हैं, अनेक प्रकारकी वर्दियाँ होती हैं, इत्यादि भावसे 'बने बहु बाना' कहा। [ फूल बाण हैं। (करु०) ]।

३ (क) काली कोयल रसालपर बैठी है, वसन्त है, बौर फूल रहा है, यह बौर ही मानों सोनेकी सीकड़ (जंजीर) है। पवन लगनेसे आम्रपल्लवके साथ ही साथ वह हिलती है, अतः उसे 'गज माते' कहा। (ख) पारावत और मराल ये झुण्डके झुण्ड साथ रहते हैं। (ग) यहाँ सेना पड़ी हुई है। इसीसे रथको गिरि-शिला कहा (अचल)। (ग) यहाँ प्यादा, पैदल न कहकर 'पदचर' साभिप्राय पद दिया है। तीतर और लावक पदसे बहुत चलते हैं, अतएव 'पदचर'—पद दिया। अर्थात् जो पैरसे चले। (खर्रा)।

४ 'चातक बंदी गुनगन बरना' इति। यह कामका क्या गुणगण कहता है? चातक 'पियपिय' कहता है अर्थात् तुम सबको प्रिय हो, क्योंकि सुन्दर हो, सुखरूप हो; यथा 'समुझि कामसुख सोचहिं भोगी। १.८७' पुनः, कहता है कि पिय हो अर्थात् सबके पति तुम ही हो, तुमसे ही सबकी उत्पत्ति है। यथा 'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः। गीता १०।२८' ( अर्थात् उत्पत्तिका कारण काम भी मैं हूँ)। बन्दी गुणगण वर्णन करते हैं; यथा 'बंदी बेद पुरानगन कहहिं बिमल गुन ग्राम।२.१०५।' वेद पुराण प्रयागका यश गाते हैं और चातक कामका गुण गाते हैं।

५ हमको देखकर पहले कामने डेरा डलवा दिया; यथा 'देखि गयउ भ्रातासहित तासु दूत सुनि बात। डेरा कीन्हेउ...'। अब वहाँसे हमारे यहाँ बसीठी लाया—'त्रिबिधि बयारि बसीठी आई'। 'आई' अर्थात् वहाँसे कामके पाससे चलकर आई है कि चलकर कामकी शरण हो; यथा 'चली सुहावनि त्रिबिध बयारी। काम कृसानु बढ़ावनि हारी। १.१२६.३।' तात्पर्य कि त्रिविधि हवा लगनेसे कामोद्दीपन होता है। कामकी सेना पञ्चविषययुक्त है, इसीसे सबको विषयी कर देती है। ( ३९ (३) देखो )।

६ (क) 'चतुरंगिनी सेन'—गजमातेसे 'गजदल', 'बर बाजी' से घोड़े ( अश्वदल ), "तीतर" आदि पदचर और "गिरिसिला" रथ। ये चारों मिलनेसे चतुरंगिनी सेना हुई। (ख) 'बिचरत सबहि चुनौती दीन्हे'। 'बिचरत' से जनाया कि योद्धाको खोजता फिरता है, पर कोई मिलता नहीं, यथा—'रनमदमत्त फिरइ जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा। १.१८२।'

## ( 'धीरन्ह के मन भगति दृढ़ाई'—प्रसंग )

लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका ॥११॥
एहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोइ भारी ॥१२॥
दोहा—तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ ॥
लोभ के इच्छा दंभ बल काम के केवल नारि।
क्रोध के परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि ॥३८॥

अर्थ—हे लक्ष्मण! कामकी सेना देखकर जो धैर्यवान् बने रहते हैं उनकी संसारमें साख है, संसारमें उनकी धीरोंमें प्रसिद्धि और गणना है ॥११॥ स्त्री इस ( कामदेव ) का एक (प्रधान, अद्वितीय) परमबल है।

उससे जो वच जाय वही बड़ा भारी योद्धा है ॥१२॥ हे तात ! काम, क्रोध और लोभ ये तीन अत्यन्त प्रवल दुष्ट हैं, विज्ञानके धाम ऐसे मुनियोंके मनको भी पलमात्रमें ये विचलित कर देते हैं । इच्छा ( चाह ) और दम्भ लोभका बल है, कामका बल एक स्त्री ही है, क्रोधका कठोर वचन बल है—मुनिश्रेष्ठ विचारकर ऐसा कह रहे हैं ॥३८॥

टिप्पणी—१ 'लछिमन देखत काम अनीका···' इति । (क) कामकी सेना कहने लगे तब लक्ष्मणजी-से उसे देखनेको न कहा और बसन्त एवं वनकी बहार देखने लगे तब उनसे भी देखनेको कहा,—'देखहु तात बसंत सुहावा', 'लछिमन देखु बिपिन कै सोभा' और यहाँ कहा 'लछिमन देखत काम अनीका'। काम-सेना, वन और वसन्त तीनोंको पृथक्-पृथक् वर्णन किया और तीनोंके वर्णनमें लक्ष्मणजीको सम्बोधन करके तीनों की विलक्षणता या अद्भुतता दर्शित की । (ख) 'रहहिं धीर···' अर्थात् इस सेनाको देखकर वीर भाग जाते हैं, यथा 'भागेउ बिबेकु सहाय सहित सो सुभट संजुग महि मुरे । १.८४ ।'; जो न भागें धीर वने रहें, उनकी जगत्में भटोंमें गिनती है । लीक=रेखा, गणना, यथा 'भट महुँ प्रथम लीक जग जासू । १. १८०.७ ।' (ग) पूर्व कहा था कि 'देखत केहि कर मन नहिं छोभा' उसीका यहाँ सँभाल करते हैं कि 'देखि न मोह धीर मन जाका' और 'रहहिं धीर तिन्ह···'। यथा 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीरा ।' इति कुमारसंभवे । (घ) यह मानों लक्ष्मणजीकी बड़ाई है कि तुम भारी सुभट हो ।

२ 'एहि के एक परम बल नारी' इति । (क) चतुरंगिनी सेना जो कह आए वह बल है । और 'नारी' परम बल है । [ 'परमबल' का भाव कि ब्रह्मदत्त शक्तिसे भी अधिक बलवान् है, कामदेवके पंच-बाणोंका समूह इसमें बसता है । (रा०प्र०) । पुनः, नारी नरकी अर्धाङ्गिनी है और वही कामका परमबल है । जब नरकी वह आधी सेना कामरूपी शत्रुसे मिल गई तब उससे जय पाना बड़े प्रतापी वीरका ही काम है । पुनः, इसी नरकी अर्धाङ्गिनीद्वारा ही कामके पंचबाण चलते हैं । उसकी चालमें आकर्षण, चितवनमें उच्चा-टन, हँसीमें मोहन, बोलमें वशीकरण और रतिमें मरण है । (वै०) । अपने पुरुषार्थद्वारा काम बली है, सेवा-द्वारा प्रबल है और नारीद्वारा परम वा अति बली है । (खर्रा) । 'एक' और "परम" से जनाया कि मुख्य परम बल यही है । कामदेवका गौण बल ही लोभका परम बल हो जाता है । वहुतसे विषयोंकी इच्छा कामका गौण बल है । ( प० प० प्र० ) ] । (ख) 'जनु भट बिलग बिलग होइ छाये ।' यह चतुरंगिनी सेना है । इससे जो लड़े वह भट है । ऊपर कह आए कि इनके मुक़ाबलेमें जो खड़ा रह जाय उसकी भटमें गणना है और अब कहते हैं कि इनसे जो जीते वह सुभट है । और जो नारिरूपी कामके 'प्रबल बल' रूपी प्रबल सेनाको जीत ले, उससे बच जाय, वह तो 'भारी सुभट' है । इस प्रकार यहाँ धीर, भट, सुभट और भारी सुभट दिखाए ।

३ ( क ) 'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ···' इति । यथा 'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि । तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि ।४३।' पहले कहा कि 'एहि के एक परम बल नारी' और अब कहते हैं कि काम, क्रोध और लोभ ये तीनों अत्यन्त प्रबल खल हैं । कामके ही प्रकरणमें तीनोंको कथन करनेका भाव यह है कि एक काम ही ये तीन रूप धारण किए हुए हैं—'कामै क्रोध लोभ बनि दरसै तीनों एकै तनमें' ( काष्ठजिह्वास्वामी ) । [ गीतामें भी भगवान्ने यही कहा है । यथा "ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।२.६२।" अर्थात् विषयोंका चिंतन करनेसे उनमें आसक्ति बहुत बढ़ जाती है, आसक्तिसे काम उत्पन्न होता है और उस (आसक्ति) की परिपक्वावस्था का नाम "काम" है । काम ही मनुष्यको खींचकर शब्दादि समस्त विषयोंमें लगाता है । काम बना रहे और कामनानुसार विषयोंकी प्राप्ति न हो तो उस समय उस बाधामें हेतु बने हुए प्राणियोंके प्रति अथवा पास रहनेवाले पुरुषोंपर क्रोध होता है कि इनके द्वारा ही हमारा अभीष्ट नष्ट हुआ । इसीसे भगवान्ने कहा है कि "काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः । गीता ३.३७ ।" अर्थात् रजोगुणसे उत्पन्न यह काम ही क्रोध है । ]

(ख) एक-एकका बल पृथक् पृथक् बताते हैं कि लोभके 'इच्छा दंभ बल' कामके 'केवल नारि बल' और क्रोधके 'परुष वचन बल'—तीनों अपनी इस इस सेनाके बलसे अति प्रबल हैं। (ग) इस प्रकरणमें इन तीनोंकी प्रधानता कही गई है, यथा—(१) 'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ', इसमें 'काम' को प्रथम कहकर कामकी प्रधानता कही। 'लोभके इच्छा दंभ बल कामके केवल नारि। क्रोध के०', इसमें लोभ को प्रथम कहकर उसको प्रधान जनाया। और, 'क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं००' में क्रोधको प्रधान किया। इस प्रकार तीन ठौर पृथक् पृथक् एकको प्रथम लिखकर तीनोंको एक समान प्रधान और अति प्रबल बताया। कोई एक दूसरेसे कम नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग कामका है अतः यहाँ कामको प्रथम कहा।

४ "मुनि बिज्ञान धाम मन करहिं००", यथा 'भयउ ईस मन छोभ बिसेषी।१।८७।४।', 'नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनिनायक आतमबादी॥…को जग काम नचाव न जेही।…केहि कर हृदय क्रोध नहिं दहा। ज्ञानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार। केहिकै लोभ बिडंबना कीन्ह न एहि संसार ॥७.७०।' विज्ञानधाम श्रीनारदजी सो कन्याको देख कामवश हुए, फिर उसके पानेकी इच्छा की, न मिली तब क्रोध किया। मुनिवर इस बातको जानते हैं, इससे वे साक्षात् नहीं जीते जाते।

५ (क) "लोभके इच्छा दंभ बल००" का भाव कि ज्यों ही पंच विषयोंमेंसे किसीकी भी चाह मनमें हुई और उसकी प्राप्तिके लिए दंभ रचा गया कि लोभकी जय हुई। स्त्रीसे संभाषण, व्यवहार, प्रीति हुई कि कामकी जय हुई और कठोर वचन मुखसे निकले कि क्रोधकी जय हुई। [ (ख) अपनेको अच्छे सुशील, जितेन्द्रिय महात्मा इत्यादि जतानेकी इच्छा ही दंभ है। यहाँ काम क्रोध लोभको जीतनेके उपायका उपदेश हुआ। जो काम क्रोध लोभके बलको सदैव दृष्टिमें रखेंगे वह उनको वशमें रख सकते हैं। जैसे यह इच्छा उठे कि यह मिले उसे दबाओ। स्त्रीका खयाल भी मनमें न आने दो, यह कामको जीतनेका उपाय है। कठोर वचन सुनकर उसको उत्तर न दे, कठोर वचन न बोले, यह क्रोधके जीतनेका उपाय है। (पं०रा०व० श०)। अब तो वैरागियोंके यहाँ स्त्रियाँ ही पैर दबाने लगी हैं, अकेले कमरेमें साथ रहती हैं।]

पं० विजयानंद त्रिपाठी—'लछिमन देखत…छोभ' इति। (क) 'लछिमन देखु बिपिन कै सोभा। ३७.३।' से 'कामिन्ह कै दीनता देखाई' प्रसंग आरंभ किया। अब उसे समाप्त करके 'धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई'—प्रसंगको प्रारंभ करते हुए फिर 'लछिमन' संबोधन देते हैं। कहते हैं कि इस सेनाके दर्शन करनेपर जिसका धैर्य बना रहे उसीकी सच्ची लीक जगत्में है, और, 'भट महँ प्रथम लीक' वालोंकी लीक झूठी है। (ख) 'तीनि अति प्रबल खल…' इति। भाव कि खल तो बहुत हैं जो निष्कारण दूसरेका अपकार किया करते हैं, पर कामादि बड़े प्रबल खल हैं। देखिए, विज्ञानधाम मुनि सबका कल्याण चाहनेवाले हैं, उनके निर्मल मनमें भी पलक मारते क्षोभ उत्पन्न करते हैं। अतः ये तीनों संसारभरके शत्रु हैं, इनके मारे कोई निःश्रेयस्य पथारूढ़ होने नहीं पाता। अतः उनके बलको जान लेना चाहिए, जिससे अपनी रक्षा हो सके। कामका परम अस्त्र स्त्री है। स्त्रीके जीते जानेसे संपूर्ण कामकी सेना जीती जाती है। स्त्रीका जय वस्तुविचारसे होता है। इसी भाँति क्रोधका परम बल परुष वाक्य है। इसका जय क्षमासे होता है। लोभको दो बल हैं—एक इच्छाका, दूसरा दम्भका। इन दोनोंका जय संतोषसे होता है। यथा 'सम संतोष दया बिबेक ते ब्यवहारी सुख कारी।' इस प्रकारसे उपदेश देकर धीरोंके हृदयमें वैराग्य दृढ़ किया।

प० प० प्र०—१ इच्छानुकूल विषयकी प्राप्ति होनेपर यह इच्छा होती है कि निरंतर अपने पास रहे और बढ़ता जाय, यही लोभ है। काम (इच्छा) से ही लोभकी उत्पत्ति है। विघ्न होनेसे क्रोध होता है। लोभकी वृद्धि होनेपर विषयकी प्राप्ति और अधिक संचय होनेपर 'मद' हो जाता है। जब अपनी नैसर्गिक शक्ति, गुण, कर्तृत्व इत्यादिसे इच्छित वस्तुकी प्राप्ति असंभव या दुर्लभ जान पड़ती है, तब दंभका आश्रय लिया जाता है। कपट, छल इत्यादि दंभके सगे भाई हैं। २—'कामके केवल नारि' इति। केवल एक स्त्री-विषयरूपी ग्राम्य सुखके कारण मनुष्य अनेक विकारोंका शिकार बन जाता है, सद्गतिदायक को सद्गुणों

खो बैठता है, सुख और शान्ति जवाब दे देते हैं। लाखों करोड़ों वीरोंके प्राण इसके ही कारण हवन कर दिए जाते हैं। राम-रावण युद्ध तथा महाभारतयुद्धका मूल भी तो यही था।

☞ स्मरण रहे कि शास्त्रोंमें स्त्रियोंके विरुद्ध जो कुछ लिखा गया है वह पुरुषोंके परम हितकी दृष्टिसे ही। पुरुषोंके लिये स्त्री जितनी हानिकारक होती है, नारिवर्गके लिये पुरुष उतना हानिकारक नहीं होता। ☞ फिर हमारे शास्त्रोंमें सती, पतिव्रता, भगवद्भक्त स्त्रियोंकी महिमा भी तो खूब गाई गई है। जो यह चिन्ता करते हैं कि सभी ब्रह्मचारी, संन्यासी हो जायँगे तो विश्व कैसे चलेगा, उनसे मेरा प्रश्न है कि आपने कभी यह भी चिंता की कि "धन कमाते कमाते सभी धनी हो जायँगे तब जग कैसे चलेगा? अतः हम धनी नहीं बनना चाहते, वनमें जाकर कंदमूल फल खाकर जीवन बिता देंगे।" यदि ऐसी चिंतावाले कोई प्राणी होंगे तो वे यही सिद्धांत करेंगे—'माया रूपी नारि' 'एहि ते उबरु सुभट सोइ भारी।'

गुनातीत सचराचर स्वामी। राम उमा सब अंतरजामी ॥१॥
कामिन्ह कै दीनता देखाई। धीरन्ह के मन बिरति दृढ़ाई ॥२॥
क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम की दाया ॥३॥
सो नर इंद्रजाल नहिं भूला। जा पर होइ सो नट अनुकूला ॥४॥
उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत सब सपना ॥५॥

शब्दार्थ—सचराचर=चर-अचर-सहित जितना प्रपंच है। गुणातीत—सारा प्रपंच त्रिगुणमय है। शोक हर्ष इत्यादि सब गुणके ही कार्य हैं, भगवान् रामजी इनसे परे हैं। दीनता=दीन-हीन दशा। दुःखसे उत्पन्न अधीनताका भाव, संतप्त दशा।

अर्थ—हे उमा! श्रीरामजी त्रिगुण (सत् रज तम) से परे हैं, चराचरमात्रके स्वामी हैं, सबके अन्तःकरणको जाननेवाले हैं ॥१॥ उन्होंने कामी लोगोंकी दीन दशा दिखाकर धीर पुरुषोंके मनमें वैराग्यको दृढ़ किया है (कि वैराग्य छोड़ स्त्रीमें प्रेम करोगे तो इस दीन दशाको प्राप्त होगे) ॥२॥ क्रोध, काम, लोभ, मोह मद और माया ये सबके सब श्रीरामजीकी कृपासे छूट जाते हैं ॥३॥ जिसपर वह नट प्रसन्न होता है वह, मनुष्य इन्द्रजालमें नहीं भूलता ॥४॥ हे उमा! मैं अपना अनुभव कहता हूँ कि हरिभजन सत्य है। और सब जगत् स्वप्नवत् है ॥५॥

खर्रा—भाव कि जो त्रिगुणसे परे सचराचरके भीतर-बाहर व्याप्त है उसमें अज्ञान कैसे संभव है? तब ऐसा रुदन आदि क्यों करते हैं उसका समाधान करते हैं कि 'कामिन्ह कै०'।

पं० विजयानंद त्रिपाठीजी—'गुनातीत…' इति। अब प्रश्न यह उठता है कि जिसे इतना दिव्य ज्ञान है कि काम, क्रोध और लोभको शत्रु समझता है, उनके बलाबलको जानता है, उसे विरहसे विकलता कैसी? इसपर महादेवजी कहते हैं कि वस्तुतः उन्हें विरह नहीं है, वे गुणातीत हैं, परन्तु चराचरके स्वामी हैं, अन्तर्यामी हैं, लोकशिक्षाके लिये चरित्र करते हैं। पहले कामियोंकी दीनता दिखाई, तत्पश्चात् धीरोंके हृदयमें वैराग्य दृढ़ करनेके लिए उपदेश देते हैं।

टिप्पणी—१ 'कामिन्ह कै दीनता देखाई' इति।—'देखहु तात बसंत सुहावा। प्रियाहीन मोहि भय उपजावा' और 'बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल' यह अपने द्वारा कामियोंकी दीनता (दीन दशा) दिखाई और धीरोंके मनोंमें वैराग्यको दृढ़ किया। विरही बनकर दोनों ही बातें दिखाईं। 'देखि न मोह धीर मन जाका' और 'रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका' यह जो पूर्व वचनका सँभाल किया यह धीर जनोंमें वैराग्यको दृढ़ करनेवाला है। भाव कि जो कामी होते हैं उन्हें इसी तरह क्लेश होते हैं। जब परात्पर ब्रह्मको भी संसारमें इस प्रकार संकट सहना पड़े तब हमको तो संसारके सारे पदार्थ असार जानकर छोड़ ही देने चाहिए, इनमें कभी आसक्ति न होने दें। भा० स्क० ९ अ० १० श्लो० ११ में भी यही

भाव है—'भ्राता वने कृपणवत्प्रियया वियुक्तः स्त्रीसङ्गिनां गतिमिति प्रथयंश्चचार ।' अर्थात् स्त्री-संग करनेवालोंको ऐसा दुःख होता है, यह जगत्को दिखानेके लिए प्रियके विरहसे विलाप करते हुए दीनोंकी भाँति भाईके साथ सीताजीकी खोजमें वनवन घूम रहे हैं। देखिए, दोहावलीमें क्या लिखते हैं—'जन्मपत्रिका वरति कै देखहु मनहिं विचारि। दारुन वैरी मीचुके बीच विराजति नारि ॥२६८॥' अर्थात् जन्मकुंडलीका व्यवहार करके मनमें विचार देखो कि स्त्रीका स्थान ( सातवाँ ) दारुण शत्रु और मृत्युके स्थानोंके बीचमें है, अर्थात् कठिन शत्रुता और मृत्यु दोनों इसके द्वारा होते हैं। पुनः, यथा 'रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः। कामिनां दर्शयन्दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम्। इति भागवते १०.३०.३५।' अर्थात् भगवान् आत्माराम हैं, वे अपने आपमें ही संतुष्ट और पूर्ण हैं। वे अखण्ड हैं, उनमें दूसरा कोई है ही नहीं, तब उनमें कामकी कल्पना कैसे हो सकती है? फिर भी उन्होंने कामियोंकी दीनता स्त्रीपरवशता और स्त्रियोंकी कुटिलता दिखाते हुए एक खेल रचा था।

२ 'क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं···' इति। ( क ) भगवान् शङ्करजी कहते हैं कि श्रीरामजीकी कृपाकटाक्षसे क्रोधादि सब छूट जाते हैं, तब भला उनको काम क्रोधादि विकार कैसे छू सकते हैं? यथा 'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई। १.११८.३।', 'जासु नाम भ्रमतिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिय विमोह प्रसंगा। १।११६।४।' देखिए। ( ख ) श्रीरामजीकी दयासे छूटते हैं; तो प्रश्न हुआ कि दया कैसे हो? उत्तर—(क) उनकी भक्ति करनेसे, यथा 'कहहु सो भगति करहु जेहि दाया', पुनः, यथा 'भगतिहि सानुकूल रघुराया। तातें तेहि डरपत अति माया॥ रामभगति निरुपम निरुपाधी। वसइ जासु उर सदा अवाधी॥ तेहि विलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥··· यह रहस्य रघुनाथ कर वेगि न जानइ कोइ। जो जानइ रघुपतिकृपा सपनेहु मोह न होइ ॥७.११६।', 'अतिसय प्रवल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥ नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥ लोभपास जेहि गर न वँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥ यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥ कि० २१.२-६।', 'मन क्रम वचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।१.२००.६।'

टिप्पणी—३ कामकी सेना पंच-विषययुक्त है। (१) रूप विषय—'देखि न मोह धीर मन जाका'। (२) रस—'दुंदुभी झरना'। झरनामें जल होता है और 'जल बिनु रस कि होइ संसारा'। (३) गंध—'विविध भाँति फूले तरु नाना'। (४) शब्द—'कूजत पिक मानहुँ गजमाते'। (५) स्पर्श—'त्रिविध बयारि वसीठी आई' और 'परस कि होइ विहीन समीरा'। पंचविषययुक्त होनेसे जो उसे देखते हैं वे विषयी हो जाते हैं।

नोट—१ वनकी लीला अरण्य, किष्किंधा और सुन्दर तीन काण्डोंमें कही गई। इन तीनों काण्डोंमें रघुपतिकृपासे ही कामादिक विकारोंका छूटना संभव कहा गया है। आ०, कि० के प्रमाण ऊपर आ ही गए। सुन्दरमें सुनिए। यथा 'तव लगि हृदय वसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना॥ जब लगि उर न वसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥ ममता तरुन तमी अँधियारी। रागद्वेष उलूक सुखकारी॥ तव लगि वसत जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रवि नाहीं॥···तुम्ह कृपाल जा पर अनुकूला। ताहि न व्याप त्रिविध भवसूला।४७।'

२ 'सो नर इंद्रजाल···' इति। भाव कि जिसके ऊपर वे कृपा कर दें, उसका काम क्रोध लोभ मद माया छूट जाय। तव उनपर काम क्रोधादिका क्या वल चलेगा? ऐन्द्रजालिक नट जब अपना प्रपंच फैलाता है तब सभी उसके चक्करमें आ जाते हैं, पर नटका सेवक चक्करमें नहीं आता, क्योंकि वह नटका कृपापात्र है। यथा 'नट कृत विकट···'। उसी प्रकार जिसपर श्रीरामजीकी कृपा होती है वह मायाजालके तत्वको समझता है, उसके चक्करमें नहीं आता। उदाहरणके रूपमें शिवजी अपना अनुभव कहते हैं। ( वि० त्रि०)। मिलान कीजिए—'जथा अनेक वेष धरि नृत्य करै नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ

न सोइ ।७.७२।', 'नटकृत विकट कपट खगराया । नट सेवकहि न व्यापइ माया ॥' नट क्योंकर अनुकूल हो यह आगे अपने अनुभवसे बताते हैं ।]

वि० त्रि०—'उमा कहउँ मैं अनुभव···' इति । (क) शिवजी उमाजीसे कहते हैं कि मैं सुनी-सुनाई बात नहीं कहता, स्वयं अपना अनुभव कहता हूँ कि यह जगत्‌जाल मुझे स्वप्न-सा प्रतीत होता है । स्वप्नकी प्रतीतिमात्र होती है, पर उसमें वास्तविकता कुछ नहीं होती । इसी भाँति मुझे जगत्‌की प्रतीतिमात्र होती है, उसकी वास्तविकतापर मुझे विश्वास कभी नहीं होता । यही गति श्रीरामजीके अन्य कृपापात्रोंकी समझ लेनी चाहिए । यथा 'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई । गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ।'

टिप्पणी—४ 'सत हरिभजन जगत सब सपना' इति । प्रथम रामचरितको इन्द्रजालके समान कहा । इन्द्रजाल झूठा होता है, इससे रामचरितमें मिथ्यात्वकी शंका हुई, अतएव उसकी निवृत्तिके लिए कहते हैं कि 'सत हरि भजन ··' । जगत् स्वप्नवत् झूठा है, पर सत्य-सा मालूम होता है । हरिभजन सत्य है, अतः झूठको त्यागकर सत्यको ग्रहण करो, यह उपदेश है । (ख) इन्द्रजाल झूठा होता है पर जहाँ वह होता है वह जगह सत्य है और यहाँ इन्द्रजाल सत्य है, जगह (संसार) झूठी है । (इन्द्रजाल तंत्रका एक अंग है । माया-कर्म या जादूगरी)।(ग) 'अनुभव अपना' का भाव कि और महात्माओंका चाहे और अनुभव हो, जैसे किसी किसीका मत है कि जगत् सत्य है, यथा 'कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै'—[कर्म उपासना देशमें सत्य है, इसीसे याज्ञवल्क्य और भुशुण्डीद्वारा यह न कहलाया । ज्ञानमें असत्य है इसीसे शिवउमासंवाद यहाँ रखा । (खर्रा) ] * (घ) हरिभजनसे स्वप्नका नाश है; यथा 'जेहि जाने जग जाइ हेराई । जागे जथा सपन भ्रम जाई ।१.११२.२।' (ङ) 'उमा' संबोधनका भाव कि इसी लीलाको देखकर सतीजीको मोह हुआ था—"खोजइ सो कि अज्ञ इव नारी । ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी" । अतः इस प्रकरणमें 'उमा' संबोधन दिया ।—'सुनहु उमा ते लोग अभागी', "राम उमा सब अंतरजामी", 'उमा कहौं मैं अनुभव अपना' । अर्थात् जहाँसे सीताजीको खोजना प्रारंभ हुआ है वहाँसे 'उमा' को ही बराबर संबोधन किया है । 'आश्रम देखि जानकी हीना' से इस काण्डकी समाप्तितक यही संबोधन है ।

खर्रा—'सत हरिभजन जगत सब सपना', इस कथनका प्रयोजन यह है कि हरिभजन सत्य है, इसमें चित्त देना चाहिए और जो विरहादि जगत्-व्यवहार प्रभु कर रहे हैं, वे सब स्वप्न रूप हैं, उनपर दृष्टि न डालनी चाहिए; यथा 'रामहि भजिय तर्क सब त्यागी' ।

मा० म०—'कामिन्ह कै दीनता देखाई' अर्थात् जो स्त्रीके विश्वासी हैं उनके लिये उपदेश है कि कामवश स्त्रीका विश्वास न करो, नहीं तो जैसे मुझे दुःख हुआ वैसे ही असह्य दुःख तुमको होगा । फिर यह भी उपदेश किया कि स्त्री निरन्तर साथ रहे, यदि बिछुड़ जाय तो उसके मिलनेका अभंग उपाय करना चाहिए । 'धीरन्हके मन बिरति दृढ़ाई' अर्थात् जो स्त्रीके चितवनरूपी बाणसे अधीर नहीं होते उनको उपदेश किया कि सदैव निसोत (असंग) रहना ही कर्त्तव्य है क्योंकि संगमें असह्य दुःख होता है ।

'बहुरि बिरह बरनत रघुबीरा'—प्रसंग समाप्त हुआ ।

## 'जेहि बिधि गए सरोवर तीरा'—प्रकरण

पुनि प्रभु गये सरोवर तीरा । पंपा नाम सुभग गंभीरा ॥६॥
संत हृदय जस निर्मल बारी । बाँधे घाट मनोहर चारी ॥७॥
जहँ तहँ पिअहिं बिबिध मृग नीरा । जनु उदार गृह जाचक भीरा ॥८॥

* इस विषयमें पूर्व बालकांड १.११२.२ में लिखा जा चुका है । पाठक वहीं देखें ।

दोहा—पुरइनि‡ सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म ।
मायाछन्न न देखिऐ जैसे निर्गुन ब्रह्म ॥
सुखी मीन सब एकरस अति अगाध जल माहिं ।
जथा धर्मसीलन्ह के दिन सुख संजुत जाहिं ॥३९॥

अर्थ—फिर प्रभु पंपा नामके सुन्दर और गहरे सरोवर (तालाब) के तटपर गए ॥ ६ ॥ उसका जल सन्त हृदय-जैसा निर्मल है । उसमें मनको हरनेवाले चार सुन्दर घाट बाँधे गए हैं ॥ ७ ॥ अनेक प्रकारके अनेक पशु जहाँ तहाँ जल पी रहे हैं (वे ऐसे मालूम होते हैं) मानों दाताके घर भिक्षुकोंकी भीड़ लगी हो ॥८॥ घनी पुरइनकी आड़में जलका शीघ्र पता नहीं मिलता, जैसे मायासे ढके होनेसे निर्गुण ब्रह्म नहीं दिखता (भासित होता)। सब मछलियाँ अत्यन्त गहरे जलमें एकरस सदा सुखी रहती हैं, जैसे धर्मात्मा पुरुषोंके दिन सुखसहित बीतते हैं ॥३६॥

टिप्पणी—१ 'पुनि प्रभु गये' में 'पुनि' पद देकर प्रसंगको पूर्व प्रसंगसे पृथक् किया । यहाँतक 'जेहि विधि गए सरोवरतीरा' प्रसंग हुआ । अब सरका वर्णन करते हैं । गंभीर=अगाध, गहरा ।

नोट—१ पंपा नामकी नदीसे पंपासर बना । इसीसे यह नाम पड़ा । पंपानदी अब कौनसी नदी है और ऋष्यमूकपर्वत कहाँ है यह ठीक निश्चय नहीं होता । विलसनसाहब लिखते हैं कि यह नदी ऋष्यमूकसे निकलकर तुंगभद्रामें मिल गई है । रामायणसे पता लगता है कि ऋष्यमूक और मलय पास पास थे । आज कल ट्रावनकोर राज्यमें एक नदीका नाम पंबे है जो पश्चिमीघाटसे निकलती है जिसे वहाँवाले 'अनमलय' कहते हैं । अस्तु यही नदी पंपा जान पड़ती है । ( श० सा० ) । प्र० का मत है कि इसमें पंकजका पालन होनेसे पंपा नाम हुआ । वंदनपाठकजी कहते हैं कि यह ब्रह्मकृत दिव्य सर है । पंपासरका कुछ वर्णन कबंधने वाल्मी० ३.७३,१०-२२ में किया है और फिर सर्ग ७५ और कि० सर्ग १ में कुछ वर्णन मिलता है ।

२ 'सुभग गंभीरा' अर्थात् वह ऐसा स्वच्छ और गहरा तथा जलके गुणोंसे पूर्ण था मानों स्वच्छ शीतल जलका समुद्र हो, यथा 'शीतवारिनिधिं शुभाम् । वाल्मी० ३.७५.१६।' 'सुभग' से जनाया कि वह कमल, केशर, वृक्ष, लता, हंस, चक्रवाक आदि अपने ऐश्वर्यसे पूर्ण था जिससे वह अत्यन्त शोभायमान था । लाल कमलोंसे लाल, श्वेत कमलोंसे श्वेत और नील कमलोंसे वह नील वर्णका देख पड़ता था ।

३ 'संत हृदय जस निर्मल वारी' । अ० रा० में भी कहा है कि उसका कमल-केशरसे सुवासित जल सज्जनोंके चित्तके समान स्वच्छ था । यथा 'सतां मनः स्वच्छजलं पद्मकिञ्जल्कवासितम् ।४.१.४।' यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है । प्रज्ञानानन्द स्वामीजी लिखते हैं कि उपमेय उपमानसे सदा न्यून होता है । यहाँ 'वारी' उपमेय है और 'संत हृदय' उपमान । इससे ध्वनित किया कि संतोंका हृदय निर्मल जलसे भी अधिक निर्मल होता है ।

टिप्पणी—२ निर्मलसे जनाया कि काई आदि कुछ उसमें नहीं है। हृदयका मल विषय है और विषयको काई कहा ही है; यथा 'काई विषय मुकुर मन लागी' । पुनः, जलका मल 'संबुक भेक सिवार' है और हृदयको मलिन करनेवाली विषयकथा है । संत न विषय सेवन करें, न विषयकी कथा सुनें । यथा 'संबुक भेक सेवार समाना । इहाँ न विषयकथा रस नाना । १.३८.४।' पुनः निर्मलका भाव कि अगाध होनेपर भी नीचेभी मल नहीं है, नीचेकी भूमि स्वच्छ देख पड़ती है जैसे संतका हृदय भीतरसे छलकपटरहित होता है।

३ 'जनु उदारगृह जाचक भीरा' अर्थात् जैसे उदारदानीके घर सभी माँगनेवाले पाते हैं, वैसे ही यहाँ सभी जीवोंके जल पीनेका सुपास है, कोई विमुख नहीं जाता। ( इससे जनाया कि पशु पक्षी सभी यहाँ रहते हैं । यथा 'मृगद्विजसमाकुला । वाल्मी० ४.१.७।'' तथा पशुओंको जलतक पहुँचनेका सुपास है ) ।

‡ पुरइनि—का०, ना० प्र० । पुरैनि—भा० दा० ।

४ (क) 'पुरइनि सघन ओट जल००' इस दोहेमें जलको निर्गुणब्रह्म समान कहा और आगे सगुण होना कहते हैं। 'बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा'। (ख) 'जैसे निर्गुन ब्रह्म' इस कथनका भाव यह है कि सगुण ब्रह्म मायाकी आड़में देख पड़ता है पर निर्गुण नहीं देख पड़ता। (ग) जैसे जल निराकार है। जब जलका गुण कमल प्रकट हुआ, तब पक्षी उसे देखकर बोलते और सुखी होते हैं, भ्रमर रसका पान करते हैं। वैसे ही निर्गुण ब्रह्म जब सगुण हुआ तब वेद और मुनिजन गुणगान करते हैं, भृत्य छवि-मकरंदका पान करते हैं, यथा 'बोलत खगनिकर मुखर मधुर करि प्रतीति सुनहु श्रवन प्रानजीवन-धन मेरे तुम बारे। मनहु बेदबंदी मुनिबृंद सूतमागधादि बिरुद बदत जय जय जय जयति कैटभारे। बिकसित कमलावली चले प्रपुंज चंचरीक गुंजत कल कोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे। जनु बिराग पाइ सकल सोक कूपगृह बिहाइ भृत्य प्रेममत्त फिरत गुनत गुन तिहारे। गी० १.३६।' पुनः, यथा ''फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥ गुंजत मधुकर मुखर अनूपा। सुंदर खग-रव नाना रूपा॥४.१७.१-२।''

खर्रा—जैसे पुरइनका एक ही पर्त एक दो पत्ते ही हटानेसे जल देख पड़ता है, वैसे ही अपने हृदयसे मायाका आवरण हटानेसे ब्रह्मका स्वरूप देख पड़ेगा, संसारभरकी माया हटानेकी जरूरत नहीं है, केवल अपने ही हृदयकी माया हटानी है।

पं० रा० व० श०—जिस तालाबमें पुरइन हो उसका जल बड़ा स्वादिष्ट, ठंडा और गुणकारक होता है। पुरइनकी स्थिति जलकी सत्तासे है, यदि जलकी सत्ता न होती तो पुरइन हो नहीं सकती थी, वैसे ही माया भी ब्रह्मकी सत्तासे है। पंच इन्द्रिय ही परदा हैं, इनको हटानेसे हमें जगत् न देख पड़ेगा जो हमारी दृष्टिमें पहले आया है। किन्तु फिर तो ब्रह्मजल ही देख पड़ेगा।

प० प० प्र०—'माया छन्न न देखिऐ···' इति। (क) बुद्धिके सामने मायाका पटल आ जानेसे निर्गुण ब्रह्मका अनुभवमें आना सहज नहीं है। ब्रह्मसाक्षात्कार होनेके लिये मायाका पटल हटाना ही होगा। (ख) जैसे पुरइनि, कमलकी उत्पत्ति और वृद्धि जलमें ही होती है और उन्हींसे जल आच्छादित हो जाता है, वैसे ही माया ब्रह्मके आश्रित होनेपर भी ब्रह्मको आच्छादित सी करती है, जैसे नेत्रमें उत्पन्न होनेवाला पटल नेत्रको ढक देता है। (ग) जैसे पुरइनको हाथसे हटानेपर जलकी प्राप्ति, वैसे ही माया अज्ञानावरणको श्रीसद्गुरुकृपारूपी करसे हटानेपर ब्रह्मसाक्षात्कार होगा। जिसको यह ज्ञान नहीं है कि पुरइनके नीचे सुन्दर जल है, वह पुरइनको हटाने ही क्यों लगा। अतः उसे सद्गुरुरूपी मर्मी सज्जनकी आवश्यकता है।

पं० श्रीकान्तशरणजी—'जैसे पुरइनिके हटनेसे जल प्रत्यक्ष हो जाता है, वैसे नानात्वदृष्टिके हटनेसे जगत् ब्रह्मके शरीररूपमें दिखलाई पड़ता है, तब 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म। छां० ३।१४।' अर्थात् यह सब (जगत्) निश्चय ही ब्रह्म है यह सगुणका देखना होता है। पुनः, ब्रह्म सर्वजगत्का आधार होता हुआ भी इन सबसे निर्लिप्त है, ऐसा निश्चय होना निर्गुण ब्रह्मका देखना है, यथा 'कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।६.११२।', 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। गीता ९।४।' अर्थात् मुझ अव्यक्त मूर्त्ति ब्रह्मसे यह सब जगत् व्याप्त है, (मैं सर्वत्र व्यापक हूँ) सब भूत मुझमें स्थित हैं, (मेरे आधारसे ही उनकी स्थिति है) किन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ (उनसे निर्लिप्त हूँ)। अतः भगवान्का सर्वाधार होना सगुणत्व और सबसे निर्लिप्त रहना उनका निर्गुणत्व है।

नोट—'माया' की व्याख्या 'मैं अरु मोर···।१५.२-३।' में तथा बालकांडमें अनेक स्थानोंमें हो चुकी है।

वि० त्रि०—'पुरइन सघन···' इति। तालाबमें तमाम पुरइन छाये हुए हैं। देखनेवालेको कहीं जलका दर्शन नहीं होता, केवल पुरइन ही पुरइन दृष्टिगोचर होती है। विचारसे पता चलता है कि पुरइनका आधार जल है। और पुरइनके आवरणके कारण जल नहीं दिखाई पड़ रहा है, नहीं तो अगाध जलसे लबालब तालाब भरा पड़ा है। इसी भाँति यह मांस-चर्ममय चक्षु भगवान्के पर (निर्गुण) रूपका

साक्षात्कार नहीं कर सकता; उसका अनुभव तो स्वाध्याय और योगरूपीनेत्रों द्वारा ही हो सकता है, यथा 'तद्वीक्षणाय स्वाध्यायश्चक्षुर्योगस्तथा परम। न मांसचक्षुषा द्रष्टुं ब्रह्मभूतः स शक्यते। विष्णुपुराणे ।६।६।३।'

टिप्पणी—५ 'जथा धर्मसीलन्हके दिन सुख संजुत जाहिं' इति। (क) धर्मका फल सुख है, यथा 'बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग।७.२०।', 'तिमि सुख संपति बिनहिं बुलाये। धरमसील पहिं जाहिं सुभाए।१.२९४.३।', "सब दुख बरजित प्रजा सुखारी। धरमसील सुंदर नर नारी" इत्यादि।

(ख) यहाँ धर्मशीलोंके दिनोंसे मछलियोंके सुखकी उपमा दी और किष्किन्धामें कहा है कि 'सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरिसरन न एकउ बाधा' इससे जनाया कि यहाँ बाधा है। धर्मशीलोंके दिन सुखसे 'जाहिं' अर्थात् बीत जाते हैं, पुण्य क्षीण हो जाता है तब वे मर्त्यलोकमें पुनः आ पड़ते हैं और हरि-शरणमें कोई बाधा नहीं; यथा 'न मे भक्तः प्रणश्यति'। [यहाँ 'धर्मशील' से केवल वेदत्रयी प्रतिपादित धर्मके आश्रित और भोगोंकी कामनावाले मनुष्योंका अर्थ लिया गया है, क्योंकि ये ही लोग विशाल स्वर्गको भोग-कर पुण्यके क्षीण होनेपर पुनः मर्त्यलोकमें आ गिरते हैं। यथा 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रैधर्म्यमनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते। गीता ९।२१।' जो सब धर्मोंको प्रभुकी आज्ञा समझकर उन्हींके लिये करते हैं वे तो प्रभुको प्राप्त होते हैं, जहाँसे फिर लौटना नहीं होता]।

खर्रा—'सुखी मीन सब' कहा इसीसे 'धरमसीलन्ह' बहुवचन पद दिया। सब प्रकारके धर्मात्मा सब मीन हैं। धर्मका फल सुख है। धर्म और हरिशरण जल है। 'अति अगाध' का भाव कि धर्म अत्यन्त भी हो तो भी काल पाकर क्षीण होता है और हरिभक्ति थोड़ी भी हो तो उसका नाश नहीं, यथा—'भगति बीज पलटै नहीं जौ जुग०'। इसीसे धर्म करके भी भक्ति माँगनी चाहिए।

खर्रा—यहाँ शान्तरस कहते हैं। पूर्व शृङ्गार कहकर पीछे शान्त कहनेका तात्पर्य्य यह है कि निकट आते ही कामका वेग शान्त हो गया। इसीसे प्रथम शृङ्गार कहकर तब शान्त कहा।

प० प० प्र०—इस सिद्धांतपर आक्षेप किया जाता है कि 'जगत्‌में तो अनुभव इसके विरुद्ध ही मिलता है। धर्मात्मा विशेष दुःखी देखे जाते हैं और अधर्मी सुखी पाये जाते हैं?' समाधान—लोग स्नान, संध्या, देवपूजा आदि करनेवालोंको धर्मशील मानते हैं और यह सब करनेवाला भी अपनेको ऐसा ही समझता है; तथापि धर्मशीलता इससे बहुत व्यापक है। केवल बाह्याचारसे कोई धर्मशील कहने कहलाने योग्य नहीं हो जाता। 'अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। एष सामासिको धर्मो वर्णानां मनुरब्रवीत्।' अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अन्तर्बाह्य शौच और इन्द्रियनिग्रह इन पाँचोंका सतत अस्तित्व जिसमें पाया जाय वही धर्मशील होगा। पूर्व श्रीरामगीतामें इसकी परीक्षाका साधन भी बताया है—'धर्म ते बिरति।' धर्मशीलताका फल है वैराग्य। जबतक वैराग्यकी प्राप्ति नहीं होती तब तक धर्मशीलता नहीं है। दूसरोंमें वैराग्य है या नहीं, यह जानना बड़ा दुष्कर है। गुरु-विप्र-धेनु-सुर सेवासे भी धर्मशीलता प्राप्त होती है। १.२९४.१-३ देखिए। धर्मसे वैराग्य होता है तब निर्भयता आती है और अभय होनेसे मनुष्य सुखी होता है।—'वैराग्यमेवाभयम्' (भर्तृहरि)।

बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा ॥१॥
बोलत जलकुक्कुट कल हंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा ॥२॥
चक्रबाक बक खग समुदाई। देखत बनइ बरनि नहिं जाई ॥३॥
सुंदर खगगन गिरा सोहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई ॥४॥
ताल समीप मुनिन्ह गृह छाए। चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाए ॥५॥

अर्थ—अनेक रंग बिरंगके कमल खिले हुए हैं। बहुतसे भौंरे मधुर शब्दसे गुञ्जार कर रहे हैं ॥१॥ जलमुर्गे और कलहंस* ऐसा सुन्दर बोल रहे हैं मानों प्रभुको देखकर उनकी प्रशंसा कर रहे हैं ॥२॥ चकवाक, बगले आदि पक्षियोंका समुदाय देखते ही बनता है, वर्णन नहीं किया जा सकता ॥३॥ सुन्दर पक्षीगणकी बोली बड़ी सुहावनी लगती है। मानों रास्तेमें जाते हुए पथिक ( बटोही, मुसाफिर को बुलाए लेती है ॥४॥ तालाबके पास मुनियोंने अपने आश्रम बनाए हैं। चारों ओर वनके वृक्ष शोभित हो रहे हैं ॥५॥

टिप्पणी १—"बिकसे सरसिज" इति। (क) पुरइनको कहकर कमलको कहना चाहिए था, पर ऐसा न करके बीचमें मछलियोंका सुख वर्णन करने लगे। इसका तात्पर्य यह है कि पुरइनकी ओटसे जल नहीं देख पड़ता और जलमें मछली है वह भी उनकी ओटमें नहीं देख पड़ती। अतः जलके साथ ही मीनको भी कह दिया। [ कमल कई रंगके होते हैं। राजीव और कोकनद लाल होते हैं, पुण्डरीक श्वेत और नीलोत्पल श्याम। ( मानसमें चार प्रकारके कमलोंका उल्लेख मिलता है। यथा—'सुभग सोन सरसीरुह लोचन।', 'जनु तहँ बरिस कमल सित श्रेनी', 'नील पीत जलजाभ सरीरा', 'मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा'। विशेष १.३७.५ भाग १ में देखिए। एक एक रंगके भी अनेक जाति और नामके कमल होते हैं )। "पुरइन...." से जनाया कि ब्रह्मको जाने, उसका निरूपण करे। और 'बिकसे सरसिज' से जनाया कि भगवान्की पूजा करे।—(खर्रा) ]। (ख) कमलका पूर्ण स्नेही भ्रमर है, उसके बाद जलपक्षीकी भी स्नेहीमें गणना है; यथा 'बाल चरित चहुँ बंधु के बनज बिपुल बहुरंग। नृप रानी परिजन सुकृत मधुकर बारि बिहंग।' बा० ४० देखिए।

नोट—१ शंका की जाती है कि 'हंस तो मानसरोवरमें पाए जाते हैं, दक्षिणमें कहाँसे आए?' समाधान यह है कि हंसोंका पंपासरपर त्रेतामें होना वाल्मी० और अध्यात्म आदि रामायणोंमें भी पाया जाता है और मानस रामचरित भी उसी समयका है, तब शंकाकी बात ही नहीं रह जाती। प्रमाण यथा—'हंसकारण्डवाकीर्णं पम्पा सौगन्धिकायुता। वाल्मी० ४.१.६३।', 'हंसकारण्डवाकीर्णं चक्रवाकादिशोभितम्। अ० रा० ४.१.३।' पुनः, १.३७.७ में बताया जा चुका है कि अमरकोशमें हंसके तीन भेद कहे गए हैं—राजहंस, मल्लिकाक्ष और धार्तराष्ट्र। स्वामी प्रज्ञानानंदजी कहते हैं कि राजहंसका सारा शरीर शुभ्रवर्णका होता है पर चंचु और चरण लाल होते हैं—ये मानससरनिवासी हैं। मल्लिकाक्षके चंचु और चरण किंचित् धूसर रंगके होते हैं। धार्तराष्ट्रके चंचु और चरण कृष्णवर्णके होते हैं। मल्लिकाक्षको मल्लिकाख्य और मल्लिक भी कहते हैं। [ संभवतः स्वामीजीका आशय यह है कि 'मल्लिक' जिनको कहते हैं वे पंपासरपर पाये जाते हैं, वे हंस ही हैं। मानससरके अमराई आदिकी शंकाके सम्बन्ध में जो वहाँ ( १.३७.७ में ) लिखा गया है वह भी देखिए। ]

प० प० प्र०—'जनु करत प्रसंसा' इति। यहाँ कविका अन्तःकरण भगवान्के ऐश्वर्यभावसे भर जानेसे उसको ऐसा ही लग रहा है कि पक्षी और भ्रमर भगवान्की स्तुति ही कर रहे हैं। जिसका मन जिस भावनासे व्याप्त रहता है उसको उस समय निसर्गमें भी वही भाव जहाँ तहाँ प्रतीत होता है। श्रीरघुनाथजीको वसन्तकी शोभा देखकर कामदेवका कटक ही प्रतीत हुआ।

टिप्पणी—२ 'जनु करत प्रशंसा'। क्या प्रशंसा करते हैं? यह कि बड़े कृपालु हैं, हमको भी दर्शन दिए। ३६ (६-८) देखो। जल निराकार निर्गुण ब्रह्म है, जहाँ वाणी नहीं पहुँचती, वहाँ केवल अनुभव है। वह जब गुण-ग्रहण करके सगुण हुआ अर्थात् नाना अवतार लेकर इन्द्रियोंका विषय हुआ, देख पड़ा, मुखसे उसका कथन हुआ, श्रवणसे सुन पड़ा, तनसे स्पर्श हुआ, भगवान्में सुगंध होती है सो नासिकाको प्राप्त हुई, तब जल कमल-स्नेही-रूप भक्त प्रभुको देखकर प्रशंसा स्तुति करते हैं। (खर्रा)।

३ 'बिकसे सरसिज नाना रंगा' से 'देखत बनइ०' तक तालाबके भ्रमर और पक्षियोंको कहा; यथा

* प० प० प्र०—'कल' को हंसके साथ लेना उचित नहीं है।

'वापी तड़ाग अनूप ।', 'वहु रंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं ।७.२९।', 'सुंदर खगगन गिरा सुहाई' और "कुहूकुहू कोकिल धुनि करहीं" में वागके पक्षी और भ्रमर कहे; यथा 'आराम रम्य पिकादि खगरव जनु पथिक हंकारहीं । ७.२९ ।'

४ आषाढ़ शुक्लमें रामजी पंचवटी पर आए। जब पंचवटीसे चले तब कहा कि 'देखहु तात वसंत सुहावा' और पंपासरसे सुग्रीवके यहाँ गए तब कहा कि 'गत ग्रीषम वरषारितु आई'। दो घड़ी दिन चढ़े पंपासर पर आए, क्योंकि यहाँ नारदजीको उपदेश देकर फिर चार कोश चलकर किष्किंधा पहुँचे। इस चौपाईसे जान पड़ता है कि वहाँ दोपहरको पहुँचे—'सहत दुसह बन आतप वाता' इससे सिद्ध है कि लपट बहुत चलने लगी थी जब किष्किंधा पहुँचे।

टिप्पणी—५ 'जात पथिक जनु लेत बोलाई' इति। भाव कि स्वाभाविक शब्द सुनकर समीप जाकर पथिक बैठ जाते हैं, यही बुलाना है। [ इससे सूचित किया गया कि श्रीरघुनाथजी अब वहाँ अवश्य जायेंगे। खगगण मानों सेवक हैं, जो इसी कामपर नियुक्त किये गये हैं कि पथिकोंको बुला लेवें कि आइए, यहाँ जरा विश्राम कर लीजिए, और भी पथिक यहाँ आए हैं और आयेंगे, उनके सत्संगका आनंद लूटिए, अपना श्रम दूर कीजिए, इत्यादि। (प० प० प्र०)। मिलान कीजिए—'आहूतं मन्यते पान्थो यत्र कोकिलकूजितैः। भा० ४.२५.१९।' अर्थात् जहाँ कोकिलकी कूकसे मार्गमें जानेवाले पथिकको अपने बुलाये जानेका भ्रम होता था। ] यथा 'आराम रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हंकारहीं'। और 'देखत बनइ बरनि नहिं जाई' से जनाया कि स्वरूपसे ऐसे सुन्दर हैं।

शंका—जहाँ हंस हैं वहाँ जलमुर्गे, बगले आदि तो नहीं होने चाहिए। यथा 'जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत। वि० ८५।'

समाधान—यह पंपासरकी उदारता है। ऊपर उसे उदार कह आए हैं—"जनु उदार गृह जाचक भीरा ।३९.८।", यहाँ उसे चरितार्थ किया। 'विटप सुहाए' से जनाया कि इन्हें कोई काटते नहीं हैं।

**चंपक बकुल कदंब तमाला । पाटल पनस पनास* रसाला ॥६॥**
**नव पल्लव कुसुमित तरु नाना । चंचरीक पटली कर गाना ॥७॥**
**सीतल मंद सुगंध सुभाऊ । संतत बहइ मनोहर बाऊ ॥८॥**
**कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं । सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं ॥९॥**
**दोहा—फल भारन† नमि विटप सब रहे भूमि निअराइ ।**
**पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ ॥४०॥**

अर्थ—चम्पा, मौलसरी, कदम्ब, तमाल, पाटल‡, कटहल, छूल ( ढाक ) आम आदि अनेक वृक्ष नए पत्तों और सुगन्धित पुष्पोंसे युक्त हैं। भ्रमरोंकी पंक्तिकी पंक्ति गान (गुञ्जार) कर रही है ॥ ६-७ ॥ शीतल, धीमी और सुगन्धित मन हरनेवाली सुन्दर वायु सदा स्वाभाविक ही चलती है ॥ ८ ॥ कोयलें कुहूकुहू ध्वनि

* परास—(का०, ना० प्र०)। पनास और परास दोनों पलाशके अपभ्रंश हैं।

† यह पाठ १७२१ की प्रतिका है। रा० प० में 'फल भर नम्र' है।

‡ पाड़र या पाढरके पेड़ पत्ते वेलके समान होते हैं। यह दो प्रकारका होता है, एक सफ़ेद फूलका दूसरा लाल फूलका। वाल्मी० ३.७३ में कवन्धने कई नाम गिनाए हैं, कि० स० १ के श्लोक ७५ से ८३ में तो बहुतसे नाम हैं। गोस्वामीजीने दो चरणोंमें कुछ नाम देकर फिर 'तरु नाना' कहकर वे सब वृक्ष जना दिए जो वाल्मीकीयमें ११ श्लोकोंमें कहे गए हैं।

कर रही हैं। उनके रसीले शब्द सुनकर मुनियोंका ध्यान टूट जाता है ॥ ६ ॥ फलके बोझसे सब वृक्ष नम्र होकर अर्थात् झुककर पृथ्वीके पास आ लगे अर्थात् उनकी शाखाएँ पृथ्वीतक बोझसे झुक आई हैं। जैसे परोपकारी पुरुष उत्तम और अत्यन्त ऐश्वर्य पाकर नवते हैं ॥४०॥

नोट—१ 'नव पल्लव…', क्योंकि वसंतका समय है। चैत्र मास है। इसीसे कोकिलका कुहूकुहू करना कहा। (खर्रा)।

२ पंपातटके वृक्षोंको कहकर चंचरीकको कहनेसे पाया गया कि ये भौंरें इन वृक्षोंके विकसित पुष्पोंके रसोंके ग्राही हैं जो इन वृक्षोंपर क्रीड़ा कर रहे हैं। यथा 'इदं मृष्टमिदं स्वादु प्रफुल्लमिदमित्यपि ।८७। रागरक्तो मधुकरः कुसुमेष्वेव लीयते। निलीय पुनरुत्पत्य सहसान्यत्र गच्छति। मधुलुब्धो मधुकरः पम्पातीरद्रुमेष्वसौ। वाल्मी०४.१ ८८।''

नोट—३ (क) 'सुनि रव सरस…' में 'संबंधातिशयोक्ति अलंकार' है। इससे जनाया कि पंपासरकी शोभा इसके शब्दसे बहुत बढ़ रही है। (ख) 'फल भारन नमि बिटप सब…' इति। इससे जनाया कि सब कालमें ये वृक्ष फले फूले रहते हैं, फलसे लदे होनेसे झुके रहते हैं जिसमें पथिक मीठे फलोंको सुगमतासे प्राप्त कर सकें, उनको खायें, उनका रस पियें। इत्यादि। यथा "फलभारनतास्तत्र महाविटपधारिणः ।३.७३.८।", 'सर्वकालफला यत्र पादपा मधुरस्रवाः ।७।' बिटपको परोपकारीसे उपमा दी, क्योंकि जैसे वृक्ष अपने फल फूलसे पल्लव छाल लकड़ी सब दूसरोंके लिये ही धारण करते हैं, वैसे ही परोपकार-परायण लोग अपनी सारी संपत्ति परोपकारके लिये ही समझते और उसमें लगाकर अपनेको कृतार्थ समझते हैं। ☞ यहाँ परोपकारका अर्थ स्पष्ट किया, यथा 'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्हि कै करनी।'

खर्रा—सुसंपति अर्थात् वह संपत्ति जो धर्मसे कमायी गई है, अधर्मका जिसमें लेश नहीं। चोरी डाका, किसीका जी दुखाकर झूठ बोलकर, पाखंड इत्यादिसे कमाया ऐश्वर्य अधर्मका है। यहाँ परोपकारीको वृक्ष कहा, क्योंकि परोपकारी लोग पर-उपकार करनेमें जड़वत् दुःख सहकर पर-उपकार करते हैं। इस दोहेकी जोड़का श्लोक यह है—'भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्भूमि विलम्बिनो घनाः। अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।' (भर्तृहरिनीतिशतके)।

**देखि राम अति रुचिर तलावा। मज्जन कीन्ह परम सुख पावा ॥१॥**
**देखी सुंदर तरुबर छाया। बैठे अनुज सहित रघुराया ॥२॥**
**तहँ पुनि सकल देव मुनि आये। अस्तुति करि निज धाम सिधाये ॥३॥**
**बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला ॥४॥**

अर्थ—अत्यन्त सुन्दर तालाब देखकर श्रीरामचन्द्रजीने स्नान किया और परम सुख पाया ॥१॥ एक सुन्दर उत्तम वृक्षकी सुन्दर छाया देखकर श्रीरघुनाथजी भाईसहित बैठ गए ॥२॥ तब वहाँ फिर सभी देवता और मुनि आए और स्तुति कर करके अपने अपने स्थानोंको चले गये ॥ ३ ॥ कृपालु श्रीरामजी परम प्रसन्न बैठे हुए भाईसे रसीली कथाएँ कह रहे हैं ॥४॥

प० प० प्र०—जहाँ श्रीरघुवीर निसर्गकी शोभा अवलोकन करके सुखी होते हैं वहाँ कविने बहुधा 'राम' शब्दका प्रयोग जानबूझकर ही किया है ऐसा प्रतीत होता है। यथा 'पुर रम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेषी।१.२१२.५।', 'परम रम्य आरामु यहु जो रामहि सुख देत ।१.२२७।' 'रमेउ राम मन देवन्ह जाना ।२.१३३.६।', 'राम दीख मुनि बासु सुहावन। सुंदर गिरि कानन जलु पावन।…हरषे राजिव नेन ॥२.१२४।' 'भ्रातन्ह सहित राम एक बारा…सुंदर उपवन देखन गए ।७.३२।२।'

टिप्पणी—१ 'देखि राम…' इति। पंपासरमें इतने लक्षण दिखाकर तब कहा कि 'देखि राम अति रुचिर तलावा'। भाव कि जो पुरुष ऐसे ही लक्षणोंसे युक्त होता है उसको आप दर्शन देते हैं और देखकर सुखी होते हैं। वे गुण क्रमशः पंपासरके वर्णनमें दिखाये हैं। जैसे, (१) 'पंपा नाम सुभग गंभीरा'—जिनका

हृदय गंभीर है। (२) 'संत हृदय जस निर्मल बारी'—जिनका हृदय निर्मल है। (३) 'बाँधे घाट मनोहर चारी'—जो वर्णाश्रममें रत हैं। (४) 'जनु उदार गृह जाचक भीरा'—जो उदार हैं। (५) 'मायाछन्न न देखिये जैसे निर्गुन ब्रह्म'—जो माया और ब्रह्मके स्वरूपको जानते हैं। (६) 'जथा धर्मसीलन्हके दिन सुख-संजुत जाहिं'—जो धर्मशील हैं। (७) 'बिकसे सरसिज नाना रंगा'—जो सदा प्रसन्न रहते हैं। (८) 'प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा''—जो सगुणब्रह्मके उपासक हैं। (९) 'सुंदर खगगन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई' जो मधुरभाषी हैं। (१०) 'ताल समीप मुनिन्ह गृह छाए'—जो साधुसेवी हैं। (११) 'सीतल मंद सुगंध सुभाऊ। संतत बहइ'—जो सबके सुखदाता हैं। (१२) 'चहुँ दिसि कानन बिटप सुहाए॥ चंपक बकुल००'—जो आश्रितोंके सुखदाता हैं। (१३) 'कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं'—जो संतोंसे अति मधुर बोलते हैं। (१४-१५) 'पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ'—जो परोपकारी और नम्र हैं।

खर्रा—तालाबके किनारे आकर खड़े हुए तब यह शोभा देखी; यथा 'पुनि प्रभु गये सरोवर तीरा।' 'अति रुचिर' का भाव कि रुचिर तो वन भी था पर यह सर 'अति रुचिर' है।

टिप्पणी—२ 'मज्जन कीन्ह परम सुख पावा' इति। (क) 'परम सुख' का भाव कि उपर्युक्त विशेषण-युक्त विचित्र सर देखकर सुख हुआ और स्नानसे परम सुख। (ख) वैद्यकशास्त्रका नियम है कि श्रम निवारण करके तब स्नान करे, वही यहाँ प्रभुने किया। खड़े खड़े शोभा देखते रहे। इतने समयमें श्रम दूर हो गया, तब स्नान किया।

नोट—१ 'परम सुख पावा' इति। वाल्मीकीयमें श्रीशबरीजीके आश्रमसे तो प्रसन्न चले, पर पंपासरके समीपस्थ वृक्षों, सरोवरों, पक्षियों, पशुओं, इत्यादि प्राकृत सौंदर्यको देखकर श्रीरामजीका विरह उद्दीप्त हो गया। श्रीलक्ष्मणजीके समझानेपर उन्होंने धैर्य धारण किया है। अ० रा० में शबरीजीके यहांसे चलनेपर विरहका वर्णन नहीं है। वाल्मी० कि० १ में श्रीरामजीने पंपाके वन सर आदिका सौंदर्य विस्तृतरूपसे वर्णन करते हुए विलाप किया है। अ० रा० में केवल तीन श्लोकोंमें पंपाका वर्णन है। मानसका-सा मनोहर प्राकृतिक सौन्दर्य वर्णन इनमेंसे किसीमें नहीं है।

ऐसा प्राकृत सौन्दर्य विरहीके विरहाग्निको बहुत प्रज्वलित करनेवाला होता है, पर मानसकार उससे परम सुख पाना लिखते हैं। प्रज्ञानानन्द स्वामीजी लिखते हैं कि इस तरह वे अपने 'बिरही इव प्रभु करत बिषादा। ३७.२।', इस कथनको चरितार्थ कर रहे हैं। जो क्षणमें विरहविह्वल होता है और क्षणमें ही परम सुखी, उसको कौन बुद्धिमान विरही कहेगा? वस्तुतः उस समय पत्नीविरहविषादका नाट्य किया, अब प्रसन्नताका नाट्य करते हैं।

टिप्पणी—३ 'तहँ पुनि सकल देव मुनि आए' इति। 'पुनि' का भाव कि चित्रकूटमें पूर्व आए थे, यथा 'अमर नाग किंनर दिसिपाला। चित्रकूट आए तेहि काला॥ २.१३४.१।', 'बिबुध बिलोकि दसा रघुबर की। बरषि सुमन कहि गति घर घर की। प्रभु प्रनाम करि दीन्ह भरोसो।२.३२१.७-८।' अब फिर आए। यहाँ साफ़ साफ़ ऐश्वर्य्य कहा है। यहाँ देवताओंने प्रणाम किया और स्तुति की, नारदजीने दंडवत् की। अयोध्याकाण्डमें माधुर्य्य वर्णित है, वहाँ चित्रकूटमें माधुर्य्य ही वर्णन किया गया है, यथा 'अमर नाग किन्नर दिसिपाला। चित्रकूट आए तेहि काला॥ राम प्रनाम कीन्ह सब काहू। २.१३४।' देव मुनि इस समय रावणकृत दुःख सुनाने आए। श्रीरामजीने अभय किया, तब वे निज धामको गए। [इस कांडमें भी खरदूषणादिके वधपर आए थे, पर अपना दुःख सुनाने नहीं आए थे। पंपासरकी रमणीयतामें श्रीरामजी सीताविरहको भी भूल गए, यह देखकर देवता डरे कि कहीं सीताशोध और रावणवधका कार्य भी न भूल जायँ। अतः, यह समझकर कि 'बनी बात बिगरन चहत' वे अपने कार्यकी स्मृति दिलानेके लिये आए; इसीसे तो उनको 'सदा स्वारथी' विशेषण दिया गया है। (प० प० प्र०)]।

वि० त्रि०—सरकारको दुःखी देखकर देवता लोग इसके पहिले चित्रकूटमें आए थे, यथा 'बिबुध बिलोकि दसा रघुबर की । बरषि सुमन कह गति घर घर की ।'; अब विरह विकल भगवान्‌को देखकर देवता और मुनियोंको शोच हुआ, अतः वे लोग फिर आए और स्तुति कर-करके अपने अपने धामको चले गए, कुछ कहा नहीं, क्योंकि देख लिया कि कार्य आरंभ हो गया, रावणवधके लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। नारदजीके शापके सत्य करनेके लिए सरकारने विरहावस्था स्वीकार कर ली थी, अतः नारदजीको विशेष शोच हुआ।

नोट—२ ☞ पूर्व लिखा जा चुका है कि इस काण्डमें और इसके आगे ऐश्वर्य्यकी प्रधानता है। ऐश्वर्य्यकी प्रधानता इस काण्डके प्रारंभमें-प्रथम मङ्गलाचरणमें ही 'श्रीराम' पद देकर जना दी गई है; यही कारण है कि माधुर्य्यप्रधान 'लषन' और 'सिय' नाम काण्डभरमें कहीं नहीं आये हैं और रामजीके नामके पहिले 'श्री' कई ठौर आया है, एवम् 'श्रीराम, प्रभु, देव, ईश, नाथ' इत्यादिका ही प्रायः प्रयोग हुआ है। यहाँ भी ऐश्वर्य है, प्रभुका देवताओंको इसीसे प्रणाम करना नहीं कहा। अब उदाहरण सुनिए—

श्रीराम भूप प्रियम् मं० श्लो० १···
उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ६.३
अब जानी मैं श्री चतुराई। ६.७।
मम हिय बसहु निरंतर सगुन रूप श्रीराम ।८।···
नौमि निरंतर श्रीरघुबीरं ।११.४।
तदपि अनुज श्री सहित खरारी ।११.१८।
बसहु हृदय श्री अनुज समेता ।१३ (१०)।
चले सहित श्री सरधनुपानी ।१८ (१२)।
करि कोप श्रीरघुबीरपर अगनित निसाचर डारहीं ।२० छं०
कोपे समर श्रीराम ।२० छन्द।
श्री सहित अनुज समेत कृपानिकेत पद मन लाइहौं २५
जेहि बिधि कपट कुरंग संग धाइ चले श्रीराम ।२६···
एवमस्तु कहि रमानिवासा ।१२ (१)
चले बनहि सुर नर मुनि ईसा ।७.१।
जहँ जहँ जाहिं देव रघुराया ।७.५।
सो कछु देव न मोहि निहोरा ।८.५।

अब प्रभु चरित सुनहु अति पावन ।१.२।
अब प्रभु पाहि सरन तकि आयउँ ।२.१३।
धरम धुरंधर प्रभु कै बानी ।६.४।
प्रभु आगवन श्रवन सुनि पावा ।१०.३।
प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई ।१०.१३।
कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी ।११.१।
प्रभु जो दीन्ह सो बर मैं पावा ।११.२७।
अब प्रभु संग जाउँ गुर पाहीं ।१२.३।'
है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ ।१३ (१५)
दंडकवन पुनीत प्रभु करहू ।१३ (१६)
मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं ।१४ (६)
ईश्वर जीव भेद प्रभु० ।१४।
सीतहि चितइ कही प्रभु बाता ।१७।११।
मुनि आश्रम पहुँचे सुरभूपा ।१२ (५)
मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा ।१४.७।
सुनहु देव रघुबीर कृपाला ।२७ (४)

'लषन' के स्थानपर यहाँसे अब "लछिमन" नाम मिलेगा जो ऐश्वर्यसूचक है, यथा 'लच्छनधाम रामप्रिय सकल जगत आधार। गुरु बसिष्ट तेहि राखा लछिमन नाम उदार।' (१.१६७)। 'सिय' के बदले "सीता" 'श्री' और 'रमा' प्रायः इन तीन ऐश्वर्य्यद्योतक नामोंका प्रयोग हुआ है। चार पाँच स्थानोंपर "जानकी" 'जनकसुता' का भी प्रयोग हुआ है जहाँ माधुर्य्य बरता गया है। जैसे—'सुनि जानकी परम सुख पावा' (क्योंकि अनुसूयाजीका वात्सल्य इनपर है); 'अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम' (क्योंकि मुनि माधुर्य्यके उपासक हैं), 'लै जानकिहि जाहु गिरि कंदर' (क्योंकि अभी अभी वे शूर्पणखाको देखकर भयभीत हो चुकी हैं और अब 'निसिचर कटक भयंकर' आ रहा है) और 'जनकसुता परिहरेहु अकेली' (क्योंकि यहाँ ललित नरलीला कर रहे हैं)। इत्यादि।

टिप्पणी—४ 'बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत००' इति। (क) क्या कहते हैं? उत्तर—पंपासरकी उत्पत्तिका कारण और माहात्म्य तथा नामका हेतु कहते हैं, यथा 'सुनि मन मुदित कहत रिपिराऊ। हेतु नाम गुन पुन्य प्रभाऊ ।२.३१२.४।', 'सचिवहि अनुजहि प्रियहि सुनाई। बिबुध नदी महिमा अधिकाई ।२.८७.६।',

'कहि सिय लषनहि सखहि सुनाई । श्रीमुख तीरथराज बड़ाई ।२.१०६.३।', तथा यहाँ 'कहत अनुज सन कथा रसाला' । [ पुनः, परम प्रसन्न इसलिए कि अब अपने प्रिय भक्त नारद आवें और मैं तुरत उनकी अभिलाषाओंको पूर्ण करूँ । भगवान् परम प्रेमी भक्तोंकी कामनाओंके पूर्ण करनेमें उनको वर देनेमें परम प्रसन्न होते हैं । यथा 'बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि । माँगहु बर···।१.१४८।', "परम प्रसन्न जानु मुनि मोही । जो वर माँगहु देउँ सो तोही ।११.२३।", इत्यादि । "रसाला" से जनाया कि प्रिय भक्तों शबरी जटायु आदिकी भक्तिरस-प्रधान कथायें कहते थे । ( प० प० प्र० ) ]

टिप्पणी—५ 'परम प्रसन्न' और 'परम सुख पावा' कहनेके बाद लिखते हैं कि कथा कही । भाव यह है कि वक्ताको सुखपूर्वक कथा कहनी चाहिए । यथा 'एक बार तेहि तर प्रभु गयऊ । तरु बिलोकि उर अति सुख भयऊ ॥ निज कर डासि नागरिपुछाला । बैठे सहजहिं संभु कृपाला ॥१.१०६।', 'एक बार प्रभु सुख आसीना । लछिमन वचन कहे छलहीना ।१४.५।', 'फटिकसिला अति सुभ्र सुहाई । सुख आसीन तहाँ द्वौ भाई ॥ कहत अनुज सन कथा अनेका । भगति बिरति नृपनीति बिबेका ।४।१३।६-७।'

६ (क) यहाँ दो बार बैठना कहा—'बैठे अनुज सहित रघुराया' और 'बैठे परम प्रसन्न कृपाला' । इससे जनाया कि जब देव मुनि आए तब वे उठे थे, और अभ्युत्थान देकर पुनः बैठ गए ।

७ पंपासर और मानससर दोनों सदृश हैं, यह दिखानेके लिए दोनोंमें एकसे अंग वर्णन किए गए हैं । ( मानस पीयूषके प्रथम संस्करणमें यहाँ मिलान दिया गया था, पर इन संस्करणोंमें वह मिलान बालकांड दो० ३६ (७-८) भाग १ में आ चुका है, अतः यहाँ नहीं दिया जाता ) ।

**'जेहि बिधि गए सरोवर तीरा'-प्रकरण समाप्त हुआ ।**

## 'प्रभु नारद-संवाद' प्रकरण

**बिरहवंत भगवंतहि देखी । नारद मन भा सोच बिसेषी ॥५॥**
**मोर साप करि अंगीकारा । सहत राम नाना दुख भारा ॥६॥**
**ऐसे प्रभुहि बिलोकउँ जाई । पुनि न बनिहि अस अवसरु आई ॥७॥**
**यह बिचारि नारद कर बीना । गये जहाँ प्रभु सुख आसीना ॥८॥**
**गावत रामचरित मृदु बानी । प्रेम सहित बहु भाँति बखानी ॥९॥**

अर्थ—भगवान्‌को विरह-युक्त देखकर नारदजीके मनमें बड़ा शोच हुआ ॥५॥ मेरा शाप स्वीकार करके श्रीरामचन्द्रजी अनेक भारी दुःख सह रहे हैं ॥६॥ ऐसे प्रभुको जाकर देखूँ, फिर ऐसा मौका न बन आयेगा अर्थात् न हाथ लगेगा ॥७॥ यह विचार करके नारदजी हाथमें वीणा लिये वहाँ गये जहाँ प्रभु सुखसे बैठे हुये थे ॥८॥ वे कोमल वाणीसे प्रेमसहित, बहुत तरहसे बखान करके रामचरित गा रहे हैं ॥९॥

नोट—१ 'बिरहवंत भगवंतहि देखी ।···' इति । (क) यद्यपि 'देखी' का अर्थ प्रायः 'नेत्रोंसे देखकर' ही होता है तथापि यहाँ 'विचारकर, समझकर' ऐसा अर्थ करना चाहिए; क्योंकि अभी तो नारद पंपासरके पास आए नहीं और न प्रभुको देखा है, जैसा 'ऐसे प्रभुहिं बिलोकउँ जाई' से स्पष्ट है । ऐसे ही 'भाग्य विभव अवधेश कर देखि देव ब्रह्मादि ।१.३१३।' में 'देखि' का अर्थ होगा, क्योंकि वहाँ भी देवता अभी अपने लोकों हीमें हैं । ( प० प० प्र० ) । अथवा, सीताहरणके पश्चात् जब प्रभु महाविरही और अति कामीकी तरह खोजते और विलाप कर रहे थे, वा शबरीजीको गति देकर जब 'बिरही इव प्रभु करत बिषादा', तब देखकर मनमें विचार करने लगे कि चलकर दर्शन करना चाहिए । विरहीकी दशा दूरसे देखी, जबतक यहाँ पहुँचे तबतक प्रभु पंपासरमें स्नान करके सुखपूर्वक बैठ गए थे । पं० श्रीधरमिश्रजीका मत है कि 'बैठे

परम प्रसन्न कृपाला' तक परतम प्रभुके अवतारकी कथा है। 'बिरहवंत भगवंतहि देखी' यह श्रीमन्नारायण रामकी कथा है। नारदजीने उनको 'विरहवंत' देखा, इसीसे "बिरहवंत भगवंतहि देखी" कहा।

पं० विजयानंद त्रिपाठी—'मोर साप करि······अस अवसर आई।' इति। मैंने क्रोधावेशमें शाप तो दे दिया, पर मायाविनिर्मुक्त होनेपर मेरी प्रार्थना स्वीकृत नहीं हुई, कहा कि मेरी इच्छा है कि तुम्हारा शाप व्यर्थ न जाय। अब उसी शापको सत्य करनेके लिये, जैसे मैं विकल हुआ था, वैसी ही विकलता अपने ऊपर लिये हुए हैं। सेवकपर ऐसी ममता और प्रीति तो किसी अवतारमें नहीं देखी गई। इस समय मेरे ऊपर अत्यन्त प्रीति लक्षित होती है। अतः सरकारकी इस कीर्तिको चिरस्थायी करनेके लिये, तथा इस अवतारके उपासकोंके कल्याणके लिए रामनामके माहात्म्याधिक्यकी वरप्राप्तिका सुअवसर है फिर ऐसी कृपा कब होगी, कौन कह सकता है! दूसरी बात यह भी है कि 'सरकार यदि मुझे व्याह कर लेने देते, तो मैं उन्हें शाप ही क्यों देता, और सरकारको विरह व्यथा क्यों स्वीकार करनी पड़ती?' इस शंकाके समाधानका भी यही अवसर है। तीसरी बात यह कि कुछ बातें तो मुझमें ऐसी हैं जिससे सरकार मुझपर इतनी प्रीति करते हैं, अतः इनके मुखसे ऐसे गुणोंका पता चलना चाहिए जो इनकी प्रसन्नताका कारण हो सकते हों। अतः यही अवसर सरकारके दर्शन करने तथा अपने संशयोच्छेदनके लिये अत्यन्त उपयुक्त है।

टिप्पणी—१ (क) 'मोर साप करि अंगीकारा' इति। भाव कि वे ईश्वर हैं। उनको सामर्थ्य है। वे चाहते तो हमारा शाप न स्वीकार करते। हमारे शापका सामर्थ्य नहीं था कि जबरदस्ती उनके सिर पड़ सकता और उनको दुःख दे सकता। (ख) कौन शाप? उत्तर—'नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी। श्राप सीस धरि हरषि हिय।' (१.१३७)। इसी सम्बन्धसे यहाँ 'बिरहवंत भगवंतहि देखी···' कहा। 'दुख भारा' अर्थात् शीत, घाम, वर्षा, कंदमूल भोजन, भूमिशयन, इत्यादि, यह दुःख तो था ही, यथा 'अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुसपात। बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥२.२११। एहि दुःख···।'; उसपर अब सीताहरण हुआ। सीता-विरहका दुःख भारी दुःख है। इससे अधिक दुःख क्या होगा। विश्वविमोहिनीके प्रसंगमें विरहका किंचित् अनुभव मुनिको हो ही चुका है। अतः 'दुखभारा' कहा। (ग) 'पुनि न बनी अस अवसर' अर्थात् इस समय सुखी हैं, एकान्त है। आगे वानरोंकी भीड़ हो जायगी। मुनिको आजके बाद फिर उत्तरकाण्डमें शीतल अमराईमें मिलनेका अवसर मिला है।

२ (क) 'कर बीना' अर्थात् वीणाका स्वर सँभाले हुये गाते हैं, यथा देवीभागवते "आजगाम तदाकाशान्नारदो भगवानृषिः। रणयन्महतीं वीणां स्वरग्रामविभूषिताम्"। (ख) 'गावत रामचरित मृदुबानी' क्योंकि जानते हैं कि भगवान्‌को कीर्त्तन-गान प्रिय है, यथा 'मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद'; पर वह कैसा गान है जो भगवान्‌को प्रिय है, यह 'प्रेम सहित बहु भाँति बखानी' से जनाया अर्थात् जिस कीर्त्तनमें प्रेम प्रधान है। गंधर्व, किन्नर, कत्थक, वेश्या आदि गवैयोंका जहाँ गाना होता है वहाँ नहीं जाते, क्योंकि उनमें भक्तका-सा प्रेम नहीं है, वे तो राग स्वर तालके ज्ञाता हैं, उसीमें उनका प्रेम है और भगवान्‌को प्रेमयुक्त गान प्रिय है। 'मृदु बानी' अर्थात् जिसमें वाणी वीणाके स्वरसे मिलती रहे। (ग) यहाँ 'रामचरित' कहा। 'प्रभुचरित' या 'हरिचरित' पद लिखते तो अन्य सब अवतारोंका गाना पाया जाता। 'रामचरित' से केवल इसी अवतारका चरित जनाया। 'राम' शब्द देकर यहाँ दाशरथी राम सगुण ब्रह्मके चरित प्रसंगद्वारा सूचित कर दिये हैं। 'मोर साप करि अंगीकारा' इत्यादिसे दाशरथी रामका ही बोध होगा, दूसरेका नहीं।

रा० प्र० श०—"गए जहाँ प्रभु सुख आसीना" इति। प्रथम 'विरहवंत' कहा, फिर 'सुख आसीना' कहते हैं। इसमें भाव यह है कि (क) देखनेवालोंकी दृष्टिमें विरही और अपने स्वरूपमें सुखासीन हैं। वा, (ख) पंपासर और उसके समीपके अनेक वृक्षोंकी सुन्दरता देखकर सुखासीन हैं। वा, (ग) स्त्रीविरहसे विरही और परोपकारमें सुखासीन हैं—कामियोंके मनमें दीनता और धीरोंके मनमें वैराग्य दोनोंसे तात्पर्य है।

नोट—२ ☞ यहाँ शंका होती है कि "यह चरित तो क्षीरशायी भगवान्‌का नहीं है, किन्तु निर्गुण

अज आदि परब्रह्म साकेतविहारी द्विभुज रामजीके अवतारका है, यथा 'अपर हेतु सुनु सैलकुमारी। कहौं विचित्र कथा बिसतारी॥ जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयेउ कोसलपुर भूपा। १.१४१।', तब नारदजीने कैसे कहा कि 'मोर साप करि अंगीकारा'?" इसका समाधान आकाशवाणी आदि प्रकरणोंमें आ चुका है। शिवजी रामावतारकी कथा कह रहे हैं। विस्तृतरूपसे परब्रह्म नित्य द्विभुज श्रीरामजीके रामावतारकी कथा है, पर साथ ही साथ अन्य रामावतारोंकी कथायें भी मिश्रित हैं जो कारण वा प्रसंग पाकर कही गई हैं। जैसे आकाशवाणीमें 'नारद बचन सत्य सब करिहउँ', वैसे ही यहाँ नारद-प्रसंग। श्री पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज कहते हैं कि यह अवतार पूर्णपरात्पर ब्रह्मका है, पर स्मरण रहे कि जब जब अवतार होता है, चाहे विष्णु भगवान् अवतार लें, चाहे कोई और, सबमें यही लीला की जाती है। देवर्षि नारद सोचते हैं कि हमने तो क्षीरशायी भगवान्‌को शाप दिया था, पर आप भी उस शापको अपने ऊपर लेकर दुःख सह रहे हैं, अतः ऐसे प्रभुसे बढ़कर कौन होगा? 'करि अंगीकारा' का भाव मयंककार यह कहते हैं कि शाप तो श्रीमन्नारायणको ही दिया पर उसको परतम प्रभुने भी अवतार लेनेपर ग्रहण कर लिया। पं० श्रीधरमिश्रजी कहते हैं कि 'बैठे परम प्रसन्न कृपाला' तक परतम अवतारकी कथा है, आगे श्रीमन्नारायण-वाले अवतारकी कथा है और सीताहरणके पश्चात् शबरीजीसे विदा होकर जो विरह-कथन है वह दोनों अवतारोंका है। परंतु परतम राम पंपासरपर जाकर परम प्रसन्न बैठे और श्रीमन्नारायण-राम 'बिरहवंत बैठे', अतः 'बिरहवंत भगवंतहि देखी' लिखा। किष्किंधासे फिर दोनों अवतारोंकी कथा चलेगी।

श्रीहरिदासाचार्यजीका मत है कि रामावतार सदा साकेतविहारी श्रीरामजीका ही होता है, विष्णु-भगवान् अथवा श्रीमन्नारायण राम कभी नहीं होते। शाप चाहे विष्णुभगवान्‌को हो, चाहे श्रीमन्नारायणको, किन्तु अवतार सदा साकेतसे होता है। जैसे अठपहले, सतपहले आदि बल्लोरी शीशोंमें अनेक रंग दिखलाई पड़ते हैं, यद्यपि वह स्वच्छ श्वेत ही होता है, वैसे ही साकेताधीशका अवतार होनेपर अपनी अपनी भावनानुसार भक्तोंको प्रतीति होती है। देखिए, वृन्दाका शाप तो हुआ विष्णुभगवान्‌को पर शालग्राम हुए विष्णु, नारायण, राम, सभी। पृथक् पृथक् शालग्रामोंमें भगवान्‌के पृथक् पृथक् रूपोंके विशेष चिह्न पाये जाते हैं और साधारणतया सभी शालग्रामोंमें भगवान्‌के सभी रूपोंकी पूजा होती है। इसी तरह भृगुजीने लात मारी विष्णुको, पर चरण-चिह्न धारण करते हैं सभी विग्रह। अवतार लेनेपर श्रीरामजी भी उसे धारण करते हैं। (विशेष बालकांडमें देखिए)।

नोट—३ 'पुनि न बनिहि अस अवसरु आई' इति। वीरकविजीका मत है कि "इस वाक्यमें 'अगूढ़ व्यंग' है कि जब मैं स्त्रीवियोगसे विकल हुआ था, तब उन्होंने मुझे बहुत ज्ञानोपदेश किया था। अब वही आपदा उनके सिरपर पड़ी है, इस समयके क्लेशकी दशा पूछनी चाहिए।"; पर मेरी समझमें श्रीनारदजीका ऐसा भाव कदापि नहीं हो सकता और न है। एक तो उस समय कोई ज्ञानोपदेश नारदको किया नहीं गया है, प्रत्युत उनको पश्चात्ताप हुआ है। दूसरे, इस प्रसंगभरसे इस भावका खंडन हो रहा है। तीसरे, भगवान्‌का उनको आशीर्वाद हो चुका है कि 'अब न तुम्हहि माया निअराई।१।१३८।८'; ऐसी बुद्धि होना मायाका लगना है।

करत दंडवत लिए उठाई। राखे बहुत बार उर लाई॥९॥
स्वागत पूँछि निकट बैठारे। लछिमन सादर चरन पखारे॥१०॥
दोहा—नाना बिधि बिनती करि प्रभु प्रसन्न जिय जानि।
नारद बोले बचन तब जोरि सरोरुह पानि॥४१॥

अर्थ—दण्डवत करते हुए उनको श्रीरामचन्द्रजीने उठा लिया और बहुत देरतक छातीसे लगाए रखा॥१०॥ स्वागत पूछकर पास बिठा लिया। श्रीलक्ष्मणजीने आदरपूर्वक उनके चरण धोए॥११॥ अनेक

प्रकारसे प्रार्थना करके और प्रभुको मनमें प्रसन्न जानकर तब श्रीनारदजी कमलसमान हाथोंको जोड़कर ये वचन बोले ॥४१॥

प० प० प्र०—'निकट बैठारे' इति। जितना ही अधिक निकट बैठाया जाता है उतना ही अधिक प्रेम सूचित होता है। पास बैठानेका सौभाग्य विभीषण तथा सनकादिको भी प्राप्त हुआ है, यथा 'अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी ।५।४६।३।', 'कर गहि प्रभु मुनिवर बैठारे ।७।३३।६।', पर 'परम निकट' बैठानेका सौभाग्य परम दुलारे श्रीहनुमान्‌जीको ही प्राप्त हुआ है। यथा 'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा ।५।३३।४।'

टिप्पणी—१ (क) 'नारदजीने श्रीरामजीको स्वामी मानकर दण्डवत की, इसीसे लक्ष्मणजीने सादर चरण प्रक्षालन किया। अपराध क्षमा करानेके लिए विविध विनती की। (खर्रा)। अथवा 'सहत राम नाना दुखभारा' के संबंधसे 'नाना विधि विनती' की। (ख) 'तब' का भाव कि वर माँगना है, स्वामी इस समय प्रसन्न हैं, वर अवश्य मिल जायगा, अतः प्रसन्न जानकर बोले।

> **सुनहु उदार सहज* रघुनायक। सुंदर अगम सुगम बर दायक ॥१॥**
> **देहु एक बर मागौं स्वामी। जद्यपि जानत अंतरजामी ॥२॥**
> **जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ। जन सन कबहुँ कि करौं दुराऊ ॥३॥**
> **कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह मागी ॥४॥**
> **जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरें। अस बिश्वास तजहु जनि भोरें ॥५॥**

शब्दार्थ—दुराऊ (दुराव)=छिपाव, पर्दा, कपट। जन=अनन्य दास, भक्त। अदेय = न देने योग्य।

अर्थ—हे स्वाभाविक ही उदार रघुनायक! सुनिए। आप सुन्दर, अगम और सुगम वरके देनेवाले हैं ॥१॥ हे स्वामिन्! यद्यपि आप अन्तर्यामी हैं, जानते हैं, तोभी मैं एक वर माँगता हूँ, मुझे दीजिए ॥२॥ (श्रीरामजी बोले—) हे मुनि! तुम मेरा स्वभाव जानते हो। क्या मैं अपने भक्तसे कभी भी छिपाव करता हूँ? ॥३॥ कौनसी चीज मुझे ऐसी प्रिय लगती है, जो, हे मुनिश्रेष्ठ! तुम न माँग सकते हो ॥४॥ मेरे पास जनके लिए कुछ भी अदेय नहीं है ( अर्थात् सब कुछ देनेवाले ही पदार्थ हैं, ऐसा पदार्थ कोई मेरे पास नहीं है जो देने योग्य न हो ) ऐसा विश्वास भूलकर भी न छोड़ना ॥५॥

टिप्पणी—१ 'सुनहु उदार सहज रघुनायक…' इति। [ (क) "सुनहु सहज उदार" और 'सुंदर सुगम अगम' लिखनेसे अनुप्रासका सौन्दर्य विशेष बढ़ जाता तो भी ऐसा न लिखनेमें भाव यह है कि इस समय अगम वर माँगना है, अतः भगवान्‌का ध्यान उदारताकी ओर आकर्षित करना प्रथम कार्य है, इनीसे 'सुनहु उदार' कहकर तब सहज आदि शब्द कहे। 'अगम' शब्दको प्रथम देकर जनाते हैं कि मैं अगम वर माँगने को हूँ। ( प० प० प्र० ) ] (ख) 'रघुनायक' पद देकर उदारता दिखाई कि इसी कुलके पुरुषा रघुजी ऐसे उदार हुए कि उन्होंने अपना सर्वस्व दे दिया, उसी उदारवंशके आप राजा हैं। उदार और राजा कहकर तब वर माँगते हैं, यह रीति है, यथा 'नृपनायक दे वरदानमिदं। चरनांबुज प्रेम सदा सुभदं ।६.११०।' (ग) "सुंदर अगम सुगम वरदायक" इति। 'सुन्दर' का भाव कि आप दासको सुखदाता वर देते हैं, हमने दुःखदाता वर माँगा था कि हमें सुन्दर मोहनीरूप दीजिए सो आपने न दिया; यथा "आपन रूप देहु प्रभु मोही।…१।१३२.६।…कुपथ माँग रुजव्याकुल रोगी। वैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥ एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ।

* भा० दा० में 'परम' पर हरताल लगाकर "सहज" बनाया गया है। १७२१ की प्रतिमें "सहज" है, पं० रा० गु० द्वि० का पाठ 'परम' है और काशिराज-वालीमें 'परम' है। 'परम उदार' का भाव कि उदार तो रघुवंशमात्र है पर आप 'परम उदार' हैं। पं० रामकुमारजीने 'परम' पाठ रक्खा है।

१.१३३।'' पहले अगम जानकर वरको प्रकट न किया, पर जब श्रीरामजीने कहा कि 'कवन वस्तु अस प्रिय मोहि लागी। जो मुनिवर न सकहु तुम्ह माँगी' तब अगमताका विचार जाता रहा और वे हर्षपूर्वक माँगने लगे। 'अगम सुगम' अर्थात् आपके लिए सुगम है पर माँगनेवालेको अगम्य जान पड़ता है; यथा 'एक लालसा बड़ि उर माहीं। सुगम अगम कहि जात सो नाहीं॥ तुम्हहिं देत अति सुगम गोसाईं। अगम लागि मोहि निज कृपनाईं॥'''तथा हृदय सम संसय होई।१.१४६।'

टिप्पणी—२ 'देहु एक वर माँगौं स्वामी' अर्थात् आप मेरे स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ. अतः मैं आपसे माँगता हूँ, यथा 'ताको कहाइ कहै तुलसी तू लजाहि न माँगत कूकुर कौरहि। जानकीजीवनको जन ह्वै जरि जाउ सो जीह जो जाँचत औरहि। क० ७.२६।' ।(ख) 'एक बर माँगौं' अर्थात् आप एक क्या अनेक वर दे सकते हैं, किंतु मैं एक ही माँगता हूँ। वा, यह मुख्य वर है जो मैं चाहता हूँ।

नोट—१ 'मोर सुभाऊ' इति। यहाँ प्रभुने अपना स्वभाव अपने मुखसे कहा है कि मैं भक्तसे कभी भी दुराव नहीं करता। इसी तरह विभीषणजीसे अपना स्वभाव कहा है, यथा 'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ। जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥ जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥ समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥ अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदय बसइ धन जैसें॥''''सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम। ते नर प्रान समान मम जिन्ह के द्विज पद प्रेम।५.४८।' ग्रंथमें श्रीभरतजी, शंकरजी तथा कविने भी उनका कुछ न कुछ स्वभाव प्रसंगानुकूल कहा है। यथा 'मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ।२.२६०.५।', 'देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ। जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोच। मागत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच।२.२६७।' (श्रीभरतवाक्य), 'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥ संसृतमूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥ तातें करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥ ७.७४।' (श्रीभुसुंडिजी), इत्यादि। ☞यहाँ मैंने कुछ उल्लेख इससे कर दिया है कि भगवान् शंकरजीका वाक्य है कि 'उमा राम सुभाउ जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥ ५.३४.३।' स्वभावका स्मरण करनेसे श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग होगा।

२ 'जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ' इति। भाव कि मैं अपने और उसके बीचमें कोई पर्दा नहीं रखता, मेरा जो कुछ भी है वह सब बे-रोक-टोक उसका है। भगवान् जनसे दुराव नहीं करते; यथा 'सत्य कहउँ मेरो सहज सुभाउ। सुनहु सखा कपिपति लंकापति तुम्ह सन कौन दुराउ।''''यह जानत रिषिराउ। जिन्ह के हौं हित सब प्रकार चित नाहिंन और उपाउ। तिन्हहिं लागि धरि देह करौं सब डरौं न सुजस नसाउ।'''नहिं कोउ प्रिय मोहिं दास सम'''।गी० ५।४५।'

टिप्पणी—३ 'कौन वस्तु असि प्रिय''''।', इस चौपाईमें स्वामी और सेवक दोनोंका पक्ष कहा। कौन वस्तु ऐसी प्रिय है जो मैं तुमसे दुराऊँगा (छिपाऊँ) और कौन ऐसी वस्तु है जो तुम (सेवक) माँग न सको। पुनः, इससे जनाया कि मुझे कोई वस्तु प्रिय नहीं, अपना जन प्रिय है। 'मुनि' और 'मुनिवर' का भाव कि मुनि मननशील, भजननिष्ठ, शास्त्रोंके ज्ञाता होते हैं, अतः मेरा स्वभाव जानते हैं—और आप तो मुनिवर हैं देवर्षि हैं, तब आप क्यों न जानेंगे?

४ 'अस बिस्वास तजहु जनि भोरे।' यह कथन सहेतुक है। विश्वासका छूट जाना संभव है, क्योंकि बालकाण्डमें ('आपन रूप देहु प्रभु मोही') वर माँगनेपर न मिला था। इसीसे कहते हैं कि भूलकर भी विश्वास न छोड़ना। [ 'जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरे'—इससे शंका होती है कि 'जब नारदने माँगा था कि 'आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहिं पावउँ ओही।' तब क्यों न दिया?' समाधान यह है कि

इतना ही माँगा होता तो अवश्य दे देते, पर उन्होंने तो यह भी कहा था कि 'जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो वेगि दास मैं तोरा।", अतः भगवान्ने हित किया। (प० प० प्र०) ]।

तब नारद बोले हरषाई। अस बर माँगौं करौं ढिठाई ॥६॥
जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक तें एका ॥७॥
राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका ॥८॥
दोहा—राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उड़गन बिमल बसहु भगत उर ब्योम ॥
एवमस्तु मुनि सन कहेउ कृपासिंधु रघुनाथ।
तब नारद मन हरष अति प्रभु पद नायउ माथ ॥४२॥

शब्दार्थ—बधिका (बधिक)=व्याधा, बहेलिया। राका=पूर्णमासी। जिस तिथिमें चन्द्रमा सोलहों कलासे पूर्ण हो।—'राका पूर्ण निशाकरे'। सोम=चन्द्रमा। उडगन=नक्षत्र, तारागण।

अर्थ—तब नारदजी प्रसन्न होकर बोले—मैं ऐसा वर माँगता हूँ। यह ढिठाई करता हूँ ॥६॥ यद्यपि प्रभुके अनेक नाम हैं और वेद एकसे एकको अधिक बताते हैं ॥ ७ ॥ तो भी, हे नाथ! 'राम' यह नाम सब नामोंसे अधिक हो और पापरूपी पक्षिसमूहके लिए सबसे बढ़कर व्याधारूप होवे ॥८॥ आपकी भक्ति पूर्णिमा की रात्रि है। रामनाम उस पूर्णिमाका चन्द्रमा है अर्थात् पूर्ण चन्द्रमा है। अन्य सब नाम निर्मल तारागण हैं। ( इस प्रकार आप सबके सहित ) भक्तके निर्मल हृदयरूपी आकाशमें बसिये। दयासागर रघुनाथजीने मुनिसे 'एवमस्तु' ( ऐसा ही हो ) कहा। तब नारदजीने मनमें अत्यन्त प्रसन्न होकर प्रभुके चरणोंमें माथा नवाया ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—१ 'तब नारद बोले हरषाई। अस बर माँगौं०' इति। (क) नारदजी पहले वर माँगनेको कहकर चुप हो गए कि देखें भगवान्का रुख क्या है, वे क्या कहते हैं। जब भगवान्ने कहा कि 'जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरे। अस बिस्वास तजहु जनि भोरे', तब वर देनेकी रुचि जानकर बोले। पहले जब माँगनेको कहा तब हर्ष नहीं था—'नारद बोले बचन तब जोरि सरोरुह पानि' और अब 'बोले हरषाई'। (ख) "करौं ढिठाई" इति। ढिठाई क्या है? यही कि प्रभुके सभी नाम हैं, उनमें न्यूनाधिक्य भाव करके एक विशिष्ट नामको सर्वश्रेष्ठ बनानेका वर माँग रहे हैं। जो मुनि यह न कहते तो कपट निश्चित ठहरता, कह देना ही गुण है।—[ शाप देनेके बाद जब अपराध क्षमाकी प्रार्थना की तब प्रभुने कहा था कि 'जपहु जाइ संकर सत नामा', अब मुनि रामनामहीको समस्त पापोंके लिए प्रायश्चित्त बनाना चाहते हैं—(खर्रा) ]

२ 'जद्यपि प्रभुके नाम अनेका। श्रुति०'। (क) भाव कि न्यूनाधिक्य जो मैं कहनेको हूँ यह कुछ मैं ही नहीं कह रहा हूँ, वेदोंने स्वयं कहा है कि एकसे एक अधिक है। (ख) रामनाम मेरा इष्ट है, यह नाम सबसे बड़ा होवे और सबसे अधिक पापनाशक हो; इस कथनसे इस मंत्रके ऋषि नारदजी सिद्ध हुए। जिसके द्वारा जिस बातका आविर्भाव होता है वही उसका ऋषि कहा जाता है। (ग)—'अघ खगगन बधिका'—नामपर व्याधाका आरोप करनेका भाव कि व्याधाको दया नहीं होती और चिड़ियोंको मारना ही उसका काम है। वह पक्षियोंको ढूँढ़कर मारा करता है। नारदजीके वर माँगनेका भाव यह है कि जो, कोई आपका "राम" नाम जपे उसके समग्र गुप्त-प्रकट सभी पाप नष्ट हो जायँ। वर्ण, मात्रा, व्यापकता सर्वस्वताका विचार करें तो सबसे बड़ा यही है, यही एक नाम विशेष्य है। जितने नाम हैं उनमेंसे यदि र, म निकाल दें तो वे निरर्थक हो जायँ।

नोट—१ परमेश्वरके अनंत नाम हैं और सब पापका नाश करने तथा मुक्ति देनेमें समर्थ हैं, फिर भी श्री 'राम' नाम सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। कारण कि राम नाम स्वतः प्रकाशित है और सब नामोंका आत्मा और प्रकाशक है। इसके प्रत्येक पद र, अ, म में सच्चिदानंदका अभिप्राय स्पष्ट झलकता है। अन्य नामोंमें यथार्थतः सच्चिदानंदका अर्थ घटित नहीं होता। किसीमें सत् और आनंद मुख्य हैं, चित् गौण है, किसीमें सत् चित् मुख्य हैं, आनंद गौण है। इत्यादि। प्रमाण तथा विशेष नामवंदनाप्रकरण एवं १.१९.१ में देखिए।

२ रामनाममें यह गुण तो सदासे है, जो बात पहलेसे ही बनी बनाई है उसीको माँगते हैं, केवल जगत्‌में प्रसिद्ध होनेके लिये। जिसमें लोक जान जाय कि यह नाम औरोंसे विशेष है, तथा यह कि जैसे गायत्री आदिके ऋषि विश्वामित्रादि हैं, वैसे ही रामनामके ऋषि नारद मुनि हैं। (रा०प्र०)। नंगे परमहंसजी 'अघ खगगन बधिका' को संबोधन मानते हैं। यहाँ 'परंपरित रूपक अलंकार' है।

टिप्पणी—३ (क) 'राम सकल नामन्ह तें अधिका' इस कथनसे और नामोंमें अभक्ति पाई गई, अतः कहते हैं कि 'राकारजनी····'। अर्थात् सब नामोंसे बड़ाईमें अधिक हो, पापके नाश करनेमें अधिक हो, प्रकाशमें अधिक हो, दर्जा (पदवी)में अधिक हो। चन्द्रमा तारापति है और रजनीपति भी, वैसे ही रामनाम सब नामोंका पति और भक्तिका पति है।

श्रीवैजनाथजी—हृदयाकाशमें बसनेका भाव कि जैसे शरद्‌चन्द्र अमृत स्रवता है जिससे सब ओषधियाँ सजीव होती हैं, वैसे ही मेरे द्वारा रामनामके प्रकाशसे प्रेमामृत स्रवे जिससे समस्त लोकोंके जीव भक्तिरूपी सजीवता प्राप्त करें।

पं०—रामनामको सोम और अन्य नामोंको नक्षत्र कहनेसे भक्तिरूपी पूर्णमासीकी शोभा बन गई और निर्दोष उपासना भी हुई तथा श्रीरामनामकी श्रेष्ठता भी रही।

प० प० प्र०—१ 'राका रजनी भगति तव···' इति। (क) इससे सूचित किया कि जैसे जबतक पूर्णचन्द्र नहीं है तबतक राकारजनीका अस्तित्व ही नहीं है, वैसे ही जबतक रामनामकी निष्ठा नहीं तबतक भक्तिका अस्तित्व ही नहीं है। इस सिद्धांतकी पुष्टि 'बर्षारितु रघुपति भगति····। १.१९।' से होती है। जब रकार-मकार-रूपी श्रावण-भादों मास ही न होंगे तब भक्तिरूपी वर्षाऋतुका अस्तित्व ही कहांसे होगा। यद्यपि पूर्णिमामें नक्षत्रोंकी तेजस्विता न्यून हो जाती है तथापि अन्य नक्षत्रगणोंका अस्तित्व न हो तो राकारजनीकी शोभा घट जायगी। अतः अन्य नामोंको उड़गण कहा। (ख) 'उड़गण' से अट्ठाईस नक्षत्रोंका ही ग्रहण होगा। क्योंकि चन्द्रमा आकाशमें स्थिर नहीं रहता। उसके भ्रमणका मार्ग निश्चित है। वह अट्ठाईस नक्षत्रोंमें होकर ही भ्रमण करता है। अतः उड़गणसे नक्षत्रमंडल ही गृहीत है। (ग) 'बिमल' का भाव कि अमावस्याकी निरभ्र रात्रिमें जितने तारे देखनेमें आते हैं, उतने पूर्णिमाकी रात्रिमें देखनेमें नहीं आते, जो अत्यन्त तेजस्वी होते हैं वही पूर्णिमाको देख पड़ते हैं। अतः उन्हींको 'बिमल' कहा। इसी तरह भगवन्नामोंमें कितने ही ऐसे हैं जिनका उपयोग सकाम कर्मोंकी सिद्धिमें शीघ्र सफल होता है, कितने ही मारणादि प्रयोगों में उपयुक्त होते हैं। ये सब विमल नहीं हैं। काम्य, निषिद्ध अभिचारादिको वर्ज्य करके जिन नामोंका उपयोग किया जाता है वे ही निर्मल हैं। विमल नाम और उड़गन दोनोंके साथ है। [ अथवा, भगवन्नाम सभी निर्मल हैं, पर नक्षत्र सब निर्मल नहीं होते। अतः नामोंको निर्मल नक्षत्र कहा ]।

२ 'भगत उर ब्योम'—श्रीरामनाम और शशिमें एक महान् भेद है। आकाश मेघोंको हटानेमें असमर्थ है। अतएव नारदजीने प्रथम ही बड़ी दक्षता और सावधानतासे काम लिया। उन्होंने पहले पापके नाशकी शक्ति रामनामके लिये माँग ली, तब उसके बसनेकी प्रार्थना की। "खग" का अर्थ व्युत्पत्तिदृष्ट्या वायु और मेघ भी लेनेमें हानि नहीं है। (खग = आकाशमें गमन करनेवाला)। इस तरह 'अघ खग गन बधिका' = पापरूपी मेघसमूहोंका नाशक वायु। = पापरूपी पक्षिगणका विनाशक खग बाज़। यदि नारदजी

यह वर न माँग लेते तो चित्तरूपी आकाशस्थ पापरूपी मेघोंका विनाश करनेकी शक्ति रामनामरूपी सोममें न होनेसे दोहेमें जो कुछ माँगा वह निरर्थक-सा हो जाता। केवल शुद्ध चित्त साधकोंको ही उस सोमसे अमृत मिल सकता और 'नव महँ एकउ जिन्ह के होई' यह वाक्य भी मिथ्या हो जाता, क्योंकि 'मंत्रजाप मम दृढ़ बिस्वासा' यह उनमेंसे एक है। रामनाममें सब शक्ति है, वह हृदयाकाशको निर्मल भी बना देता है और फिर अमृतादिकी प्राप्ति भी कर देता है। (दोहेमें भी 'परंपरित रूपक अलंकार' है।)

टिप्पणी—४ 'बसहु भगत उर ब्योम'। 'बसहु हृदय मम ब्योम' नहीं कहते, क्योंकि वे कुछ अपने लिए ही ऐसा वर नहीं माँगते, सभी भक्तोंके लिए श्रीरामनाममें यह प्रताप माँग रहे हैं कि अन्य समस्त नामोंसे इसमें अधिकता हो। अतः 'बसहु भगत उर ब्योम' कहना उपयुक्त ही नहीं किन्तु आवश्यक ही है।

५ (क) 'कृपासिंधु' हैं, इसीसे नारदपर समुद्रवत् गहरी कृपा हुई, उनको अगम्य वर मिला। (ख) 'तब नारद मन हरष अति' इति। प्रथम प्रभुको प्रसन्न बैठे देख वर माँगनेको कहा, जब उनका रुख देखा कि जो वर चाहो माँग लो 'तब नारद बोले हरषाई' और अब वरकी प्राप्ति हुई, अतः अब मनमें 'हरष अति' हुआ। अति हर्ष हुआ, अतः प्रभुके चरणोंमें माथा नवाया। कृतज्ञता जनाई।

वि० त्रि०—यद्यपि ऐसा वर माँगना वस्तुतः नारदजीकी ढिठाई थी। जीवको क्या अधिकार है कि ईश्वरके नामोंके माहात्म्यमें हस्तक्षेप करे। परन्तु रघुनाथ ठहरे माँगनेवालेको "नहीं" यहाँसे कभी मिलती नहीं, और कृपासिन्धु हैं, नारदजीकी नाना विधिकी विनतीपर प्रसन्न होकर 'एवमस्तु' कह दिया।

तब तो नारदजीके मनमें बड़ा हर्ष हुआ, उनकी अभिलाषा पूरी हो गई। वे चाहते थे कि श्रीरामावतारके लिये कीर्तिस्तम्भ खड़ा कर दें, रामनामका माहात्म्य सरकारके अन्य नामोंसे अधिक हो जाय। सो सरकारके इस वरदानसे अधिक हो गया।

नारदजीको ऐसा चाहनेका कारण यह था कि जैसी भक्तवत्सलता इस अवतारमें दिखलाई गई कि भक्तके मुखसे क्रोधमें निकली हुई बात भी असत्य न हो, इसलिये इतने क्लेशका भार उठाना, ऐसी भक्तवत्सलता तो किसी अवतारमें देखी नहीं गयी। अतः इस अवतारका कीर्तिस्तम्भ स्थापित होना चाहिये। इस अवतारके नामके माहात्म्यका उत्कर्ष होना ही सच्चा कीर्तिस्तम्भ है, उसे नारदजीने खड़ा कर ही दिया, इसीलिये कृतकृत्य होकर प्रभुके चरणोंमें सिर झुकाया।

नारदजी और मनुजीका वर माँगनेमें मिलान—

| नारदजी | | मनुजी |
|---|---|---|
| सुनहु उदार सहज रघुनायक | १ | दानिसिरोमनि कृपानिधि नाथ कहउँ सतिभाउ। |
| सुंदर अगम सुगम बरदायक | २ | एक लालसा बड़ि उर माहीं सुगम अगम। |
| देहु एक बर माँगउँ स्वामी। | ३ | एक लालसा बड़ि उरमाहीं।'''पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी |
| जद्यपि जानत अंतरजामी॥ | ४ | सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। |
| जन कहँ नहिं अदेय कछु मोरे। | ५ | मोरे नहिं अदेय कछु तोहीं॥ |
| अस बिस्वास तजहु जनि भोरे॥ | ६ | सकुच बिहाइ माँगु नृप मोही। |
| अस बर माँगउँ करउँ ढिठाई | ७ | प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई। |
| राम सकल नामन्ह ते अधिका होहु | ८ | चाहौं तुम्हहिं समान सुत |
| एवमस्तु मुनि सन कहेउ | ९ | एवमस्तु करुनानिधि बोले। |
| ये रामनामके ऋषि हुए | १० | ये रामरूपके ऋषि हुए। नाम नामी एक ही हैं। |

☞इस प्रसंगको मनुप्रसंगके समान लिखनेमें भाव यह है कि नारदजीने नाम माँगा और मनुजीने रूप। नाम रूप दोनों तुल्य हैं, यथा 'समुझत सरिस नाम अरु नामी' एवं 'न भेदो नाम नामिनः' और माँगनेवाले भी दोनों तुल्य हैं। क्योंकि दोनों ही ब्रह्माजीके ही पुत्र हैं। मनुजीने इस रूपके पिता होनेक

चाह की और नारदजी इस नामके ऋषि होना चाहते हैं। इसीसे और किसी देव या ऋषिकी समता न कही, और कोई मालिक नहीं बने, औरोंने नाम, रूप, भक्तिका ( हृदयमें ) निवासमात्र माँगा है।

मा० हं०—"यह संवाद वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायणमें नहीं है...इस राम-नारद-संवादके कारण स्वामीजीको यह दोष लगाया जाता है कि वे अपनी भक्तिकी लहरोंमें पक्षपातकी ओर एकायक बहुत झुक पड़ते हैं। उनपर इस दोषके लगाये जानेका कारण "राम सकल नामन्ह ते अधिका" यह चौपाई है। हमारी समझमें यह अपवाद निरर्थक है। यह न तो पक्षपात हो सकता है न अंधप्रेम। सत्यमें यह ऊर्जित भक्तिनिष्ठा है"।

नोट—३ बारंबार ग्रन्थमें दिखाया गया है कि रामचरितमानस शंकरदत्त चरित है। वाल्मीकि आदिसे लिया हुआ नहीं है। तथापि लोग अल्पज्ञताके कारण संदेह करते हैं। यदि मान लें कि यह तुलसीहृदयसे कल्पना किया हुआ अनेक ग्रन्थोंसे लिया हुआ ही है, तो धन्य है पूज्यपाद गोस्वामीजीकी व्यापकबुद्धिको! कि आजतक लोग पूरा पता नहीं लगा पाते कि कहाँका कौन चरित है !!

अति प्रसन्न रघुनाथहि जानी। पुनि नारद बोले मृदु बानी ॥१॥
राम जबहिं प्रेरेहु निज माया। मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया ॥२॥
तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा ॥३॥
सुनु मुनि तोहि कहौं सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥४॥
करौं सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी ॥५॥
गह सिसु बच्छ* अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई† ॥६॥

शब्दार्थ—'सहरोसा'=सहर्ष। 'सरबस देउँ आज सहरोसा। १.२०८.३' देखिए। अरगाई=अलग करके, चुपकेसे।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीको अत्यन्त प्रसन्न जानकर नारदजी फिर कोमल वचन बोले ॥१॥ हे श्रीरामजी! हे रघुराज! सुनिए जब आपने अपनी मायाको प्रेरित करके मुझे मोहित किया ॥२॥ तब मैंने विवाह करना चाहा था। हे प्रभो! आपने किस कारणसे विवाह न करने दिया? ॥३॥ ( प्रभु बोले—) हे मुनि! सुनो, मैं तुमसे प्रसन्नतापूर्वक कहता हूँ, जो सब आशाभरोसा छोड़कर मेरा भजन करते हैं, मैं उनकी सदा रक्षा करता हूँ, जैसे माता बालककी रक्षा करती है ॥४-५॥ ज्योंही छोटा बच्चा अग्नि या सर्पको दौड़कर पकड़ना चाहता है त्योंही माता उसे दौड़कर अलग करके बचा लेती है ॥६॥

टिप्पणी—१ 'अति प्रसन्न रघुनाथहि जानी।...' इति। (क) 'अति प्रसन्न जानी' का भाव कि प्रथम जब नारद आए तब प्रभुको प्रसन्न जाना था; यथा 'नाना बिधि बिनती करि प्रभु प्रसन्न जिय जानि' और जब उन्होंने वरदान दिया तब उनको अपने ऊपर "अति प्रसन्न" जाना। (ख) इससे यह भी जनाया कि भक्तके मनोरथ पूर्ण करनेमें प्रभुको अत्यन्त हर्ष होता है और प्रसन्न आनन्दकन्द तो वे सदैव ही हैं। (ग) "पुनि" से जनाया कि एक बात समाप्त हुई, अब दूसरी बात कहते हैं। इसी कारण प्रभुने भी कहा कि 'सुनु मुनि तोहि कहउँ००'। जब वे दूसरी बात कहने लगे तब 'सुनु' कहा। आगे भी फिर जब नई बात कहेंगे तब प्रभु पुनः 'सुनु' कहेंगे; यथा 'सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता'। अर्थात् 'सुनु' से नया प्रसंग जनाया जाता है।

टिप्पणी—२ 'राम जबहिं प्रेरेहु निज माया।००' इति। (क) इससे नारदमदमोचन प्रसंगकी चर्चा जनाई। 'श्रीपति निज माया तब प्रेरी। १.१२९.८', जो वहाँ कही गई वही 'निज माया' यहाँ अभिप्रेत है। 'निज माया' से विद्यामायाको प्रेरित करना जनाया। अविद्यामाया दासके पास नहीं जाती; यथा 'हरि

* बिच्छु—पं० शिवलाल पाठक, को० रा०। † अरुगाई—वीरकवि।

सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापै तेहि विद्या ।। ७.७६.२।', अर्थात् विद्यामाया भी प्रभुकी इच्छासे ही व्यापती है, नहीं तो वह भी न व्यापे। (ख) 'मोहेहु मोहि', यथा 'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी ।१.१३१।', 'मुनिहि मोह मन हाथ पराए ।१.१३४।' इत्यादि।

३ (क) [ 'तव बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा', अर्थात् मायाकी प्रेरणासे ही मैंने विश्वमोहिनीपर मोहित होकर उसको पत्नीरूपमें पानेकी इच्छा करके उसकी प्राप्तिके लिए आपसे प्रार्थना की थी। यथा 'अति आरति कहि कथा सुनाई।''''आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहिं पावौं ओही ।१.१३२।' 'प्रभु करै न दीन्हा' अर्थात् आपने अपना रूप न देकर बंदरका रूप मुझे दे दिया, जिसमें वह मेरे गलेमें जयमाल न डालै। इसका क्या कारण?] (ख) 'प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा'—बालकांडमें पूछनेका योग न था, क्योंकि वहाँ कठोर वचन कहे थे, शाप दिया था जिससे (भाव) निरस हो गया था, अब पूछनेका उचित अवसर मिला।

वि० त्रि०—१ इस प्रश्नका बीज ऊपरके सम्वादमें स्वयम् सरकारने बो दिया, कहा कि 'कवन बस्तु अस प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह माँगी।'; ऐसा सुननेपर इस बातका मनमें आना स्वाभाविक है कि वह प्रिय वस्तु विश्वमोहिनी राजा शीलनिधिकी कन्या थी, जिसे आपने वरण कर लिया और मुझे मिलने न दिया। अतः वरदान मिलनेके बाद नारदजी पूछ बैठे कि जब यह बात है तो मैंने तो राजा शीलनिधिकी कन्यासे विवाह करना चाहा था, आपने मुझे करने क्यों नहीं दिया? यदि मेरा विवाह उससे हो जाता, तो मैं क्यों क्रोध करके शाप देता और आपको उसे सत्य करनेके लिए इतना कष्ट क्यों उठाना पड़ता!

२. 'सुनु मुनि''''' इति। भगवान् उत्तर देते हैं कि विश्वमोहिनीको मैं वरना चाहता था इस लिये तुम्हें बरने नहीं दिया, यह बात नहीं है। मैंने तुम्हारे साधु धर्मकी रक्षा की जो सब भरोसा छोड़कर मेरा भजन करते हैं, उनकी मैं उसी भाँति रक्षा करता हूँ, जैसे माँ छोटे बालककी रक्षा करती है। छोटा बालक अपना हित अनहित नहीं जानता, वह अनिष्टकारक वस्तुको लेना चाहता है। माँ उसे नहीं लेने देती। इसका यह अर्थ नहीं है कि माँ उस अनिष्टकारक वस्तुको प्रिय समझती है, इस लिये बच्चेको नहीं लेने देती।

टिप्पणी—४ (क) 'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा' इति। [ निस्पृही अनन्य भक्तोंके विषयमें नारदके प्रश्नसे बोलनेका अवसर प्राप्त हुआ। ☞ यह सोचकर भगवान् हर्षित हो गए। ( प० प० प्र० ) ] 'तजि सकल भरोसा' इति। ३६.५ 'मम भरोस हिय' देखिए। (ख) 'जिमि बालक राखै महतारी'। भाव कि जैसे माता सब काम करती है पर उसका चित्त बच्चेमें ही लगा रहता है वैसे ही मैं रक्षा करता हूँ।

५ 'गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई००', यथा दोहावल्याम्—'खेलत बालक ब्याल संग मेलत पावक हाथ। तुलसी सिसु पितुमातु ज्यौं राखत सिय रघुनाथ ।।१४७।' 'अरगाई'=चुप होके, यथा 'अस कहि राम रहे अरगाई ।२.२५६.८।'=अलग करके। क्रोध अनल है; यथा 'लपन उतर आहुति सरिस भृगुबर कोप कृसानु।१.२७६।', 'रावन क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड ।५.४६।' काम सर्प है, यथा 'काम भुअंग डसत जब जाही। बिषय निंब कटु लगै न ताही। वि० १२७।' माता सर्प और अग्निसे रक्षा करती है, मैं दासकी रक्षा काम-क्रोध-रूपी सर्प और अग्निसे करता हूँ।

'गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ''''' इति।

१—१७२१ वाली प्रति और भा० दा० जीका पाठ 'अरगाई' है। काशिराजका पाठ "अलगाई" है।

२—पं० शिवलालपाठकजी 'सिसु बिच्छु' पाठ देते हैं।

३—कोई तो 'शिशु' और 'बच्छ' को दो शब्द मानते हैं और कोई बच्छको शिशुका विशेषण मानते हैं। बच्छ = बछड़ा। = वत्स, प्यारा, यथा 'बहुरि बच्छ कहि लाल कहि रघुपति रघुबर तात। अ० ६८।' बच्छ शिशु = प्यारा छोटा अबोध बच्चा। यह अर्थ पं० रामकुमारजी और पांड़ेजीने लिया है और इसके प्रमाणमें दोहावली है। श्री पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज भी यही भाव कहते हैं कि 'बच्छ' बालक-शब्दका वाचक है और शिशु बहुत छोटेको कहते हैं। दो प्रमाण भी मिलते हैं, अतः यही निस्सन्देह अर्थ

है और यही पाठ शुद्ध जान पड़ता है। पं० शिवलालपाठकजी 'विच्छु' पाठ शुद्ध कहते हैं और 'वच्छ' पाठ देनेवालोंको गाली देते हैं जो उनका स्वभाव जान पड़ता है। विच्छुसे वे लोभका भाव लगाते हैं। अर्थात् विच्छू (लोभ), अनल (काम) और अहि (क्रोध) से बचाती है। इस तरह काम क्रोध लोभ तीनों आ गए। पर इससें एक शंका होती है कि गोस्वामीजीने 'विच्छु' शब्द कहीं नहीं दिया, जहाँ दिया है वहाँ 'बीछी' शब्द दिया है। दूसरे, अहि और अनलके प्रमाण भी काम और क्रोधके लिए प्रयुक्त किए जानेके मिलते हैं, विच्छूका लोभके लिए प्रमाण नहीं मिलता। तीसरे, दोहावलीमें जोड़का दोहा मिलता है। उसमें भी 'विच्छू' नहीं है। चौथे आगे भी प्रभु दोही रिपु गिनाते हैं—'दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही'। इन कारणोंसे उनके दुर्वचनको शिरोधार्य्य करते हुए हमें भी उनका पाठ गृहीत नहीं है।

'अरु गाई' पाठ लेकर लोगोंने इधर तो बालक और बछड़ा और उधर माता और गौ अर्थ किया है। पर इसमें संदेह है कि बछड़ा दौड़कर अग्नि और सर्पको पकड़ता है और गौ उसे दौड़कर अलग करती है। पं० रामगुलामद्विवेदीकी प्रतिलिपिमें भी "अरगाई" पाठ है पर जो उनकी छपी गुटका है उसमें जान पड़ता है कि पाठ बदल दिया गया है, क्योंकि वीरकविजी गुटकाका पाठ 'अरुगाई' बताते हैं। पं० शिवलाल पाठकजी भी 'अरगाई' पाठ देते हैं।

दीनजीकी राय है कि "'विच्छु' पाठ अधिक ठीक है। पहले कहा कि जैसे माता बालककी रक्षा करती है, तब सहज ही प्रश्न होता है कि कैसे रक्षा करती है? उसका उदाहरण दिया कि 'गह सिसु विच्छु' यह पूर्व अर्थका प्रमाण है।"

☞ऊपर 'जिमि बालक राखै महतारी' कहा है और 'सिसु वच्छ राखै जननी'। मैं भी इसी अर्थसे सहमत हूँ। 'अरगाना' के दोनों अर्थ कोशमें मिलते हैं और मानसमें भी दोनों अर्थ 'अब रहु अरगाई' के लिए जा सकते हैं—'चुप रह' वा 'दूर हो'। 'अस कहि राम रहे अरगाई' अर्थात् चुप हो गए वा कहकर अलग हुए। दूसरे बहुतसे ऐसे शब्द ग्रन्थमें हैं जिनका एक अर्थमें एक ही स्थानपर प्रयोग हुआ है वैसे ही यहाँ ले सकनेमें आपत्ति क्या? विशेषकर कि जब प्रमाण पूरी चौपाईकी जोड़का मिल रहा है। पुनः जैसे आगे 'बालक सुत सम दास अमानी' कहा, वैसे ही यहाँ 'सिसु वच्छ' कहा अर्थात् छोटा अज्ञान बच्चा। छः चरणोंमें उसी भावके शब्द इसी स्थानपर हैं। इनका पूर्वापर प्रसंग मिलानेसे यही अर्थ सिद्ध होता है।

☞मा० पी० के प्रथम संस्करणके इस लेखपर जो श्रीनंगेपरमहंसजीने विचार प्रकट किये हैं वे यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—"श्रीगोस्वामीजीके हस्तलिखित मानस बीजकसे क्रमशः चार प्रतियोंकी जो नक़लें हुई हैं, उनमें विच्छू ही पाठ है।⊛ और विच्छूका अर्थ भी ठीक बैठता है, क्योंकि दो वर्षका बालक जैसे

---

⊛ यदि चौथी प्रति बीजकसे उतारी गई है तो गोस्वामीजीकी लिखी हुई उस प्रतिको जनताके समक्ष लाना चाहिए था। परन्तु आजतक वह असली प्रति किसीने देखी नहीं। उस परम्पराके पढ़े हुए महात्मा श्रीजानकीशरणजी स्नेहलताजीसे संपादकने अपना संदेह प्रकट किया था। वे कहते थे कि उस प्रतिमें भी बहुत काट छांट संशोधन आदि देख पड़ता है। कोदोरामजीने जब असली प्रतिसे लिया तो उनके समयतक उसका होना सिद्ध हुआ। 'तब वह प्रति है कहाँ?' यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठता है।

प्रस्तुत प्रसंग काम और क्रोधका ही है। स्त्रीको देखकर कामोद्दीपन हुआ, विवाहकी इच्छा हुई। क्रोध हुआ, भगवान्‌को शाप दिया। काम और क्रोधपर नारदने विजय पाई थी; उसीपर उन्हें गर्व हुआ था जिससे भगवान्‌ने उनके साथ वह लीला की जिसमें वे काम क्रोध दोनोंके वश होगए। अतएव प्रस्तुत प्रसंगके अनुसार दो को कहा गया। आगे 'बालक सुत सम दास अमानी' की जोड़में भी 'शिशु वच्छ' ठीक जान पड़ता है। शिशु वच्छ = बालक सुत। ☞दासकी समझमें 'वच्छ' पाठ ही समीचीन है। पाठकोंको जो रुचै वे उसे ग्रहण करें।

सांप और अग्निको खेल समझकर पकड़ने लग जाता है, वैसे ही विच्छूको भी खिलौना समझकर पकड़ता है तथा जैसे उस बालकको सांप और अग्नि दुखदायी हैं, वैसे ही विच्छू भी दुखदाई है, बल्कि घरोंमें बहुधा विच्छू अधिक निकला करते हैं, सांप कभी कभी निकलते हैं तो विच्छूसे माता यदि न बचायेगी तो कौन बचायेगा ? वैसे ही श्रीरामजीके भक्तोंको काम और क्रोधकी अपेक्षा लोभका अधिकतर संयोग रहा करता है····। यदि लोभसे प्रभु न रक्षा करेंगे···तो लोभका रक्षक कौन होगा ?···पुनः वच्छ पाठसे कोई मतलब भी यहाँ नहीं निकलता है और विना मतलबके ग्रंथमें कोई शब्द नहीं रक्खे गए हैं।···'

'बहुरि बच्छ कहि···' के आधारपर वच्छका अर्थ करना असंगत है, क्योंकि यहाँ लाड़-प्यारका प्रसंग नहीं है।···यहाँ रक्षाके प्रसंगमें लाड़-प्यार-संबंधी शब्दका अर्थ करना निरर्थक है।···वच्छका यहाँ प्रसंगानुकूल कोई अर्थ है ही नहीं। दूसरे रक्षामें त्रुटि अलग आ जाती है कि 'विच्छू' से माता नहीं बचाती। ···यदि कहिए कि आगे लिखा है कि 'दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही' तो उसका तात्पर्य यह है कि जब शत्रुका प्रसंग आयेगा तब काम क्रोध दो ही लिए जायेंगे और जब दुखदाई होनेका प्रसंग होगा तब काम क्रोध और लोभ तीनोंका ग्रहण होगा।"

**प्रौढ़ भए तेहि सुत पर माता। प्रीति करै नहिं पाछिलि बाता ॥७॥**
**मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी ॥८॥**
**जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही ॥९॥**
**यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहु ग्यान भगति नहिं तजहीं ॥१०॥**

अर्थ—सयाना होनेपर उस पुत्रपर माता प्रीति करती है पर वह पिछली बात नहीं करती (अर्थात् जैसा प्रेम, जैसी रक्षा शिशुपनमें करती थी वैसी अब नहीं करती, क्योंकि वह स्वयं रक्षा कर सकता है) ॥७॥ ज्ञानी मेरे बड़े पुत्रके समान हैं और मानरहित दास मेरे बालक (छोटे) पुत्रके समान हैं ॥८॥ दासको मेरा बल है और उस (ज्ञानी) को अपना बल है। काम और क्रोध दोनोंके शत्रु हैं ॥९॥ ऐसा विचारकर बुद्धिमान् लोग मुझे भजते हैं और ज्ञान प्राप्त होने पर भी भक्ति नहीं छोड़ते ॥१०॥

प० प० प्र०—१ "प्रौढ़ भए···" इति। जैसे-जैसे पुत्र बड़ा होता जाता है वैसे ही वैसे उसके हृदयमें यह बात आने लगती है कि अब मैं बड़ा हो गया, अपना हित अनहित मैं समझता हूँ। जब पुत्रकी भावना ऐसी होती है तब स्वभावतः माताकी प्रीतिकी रीतिमें फ़र्क पड़ जाता है। उस पुत्रके संरक्षण, पालन-पोषण-की जिम्मेदारी अब मातापर नहीं रह जाती। 'एक पिता के बिपुल कुमारा।७.८७.१।' से 'सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।८७।' तक देखिए।

२ 'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी'—पुत्र जब अपने जीविकोपार्जनमें समर्थ हो जाता है, तब माता-पिताका उत्तरदायित्व छूट जाता है। वही बात ज्ञानी और भगवान्के विषयमें है। ज्ञानीको ऐसा लगता है कि मैं अब मुक्त हो गया, कुछ प्राप्तव्य रह ही नहीं गया, काम क्रोधादि तो मेरे पास फटक ही नहीं सकते, वे तो मनके धर्म हैं। मैं शुद्ध, बुद्ध, नित्य-मुक्त स्वभाव-वाला ब्रह्म हूँ। 'ब्रह्म ही मैं हूँ'—इतना ही रह जाय तो विशेष हानि नहीं है। तथापि वह कहता है कि ईश्वर मिथ्या है, ईश्वरके भजनकी मुझे आवश्यकता ही क्या ?—यह है ज्ञानाहंकार। ज्ञान पूर्वकालमें अकृतोपास्ति और पश्चात् कालमें कृतोपास्ति। जिस भक्तिके सहारे ज्ञानकी प्राप्ति हुई उसको भूलना कृतघ्नता है।

३ 'दास अमानी' इति। 'दास' शब्दका विवेचन बहुत बार आ चुका है। अमानी—जिसको अपने कर्तृत्व, साधनबल इत्यादिका भरोसा नहीं है, जो केवल भगवान्की कृपापर ही अवलंबित रहता है, 'भगवान् कृपा करेंगे तभी मेरा उद्धार हो सकता है' ऐसी जिसकी दृढ़ निष्ठा है—वही 'अमानी, दीन, अनन्यगतिक' है। श्रीशरभंगजी, श्रीसुतीक्ष्णजी, श्रीनारदजी, श्रीहनुमान्जी, अमानी दासोंके उदाहरण हैं।

'नाथ सकल साधन मैं हीना । कीन्ही कृपा जानि जन दीना ।' ( श्रीशरभंगजी ), 'एक बानि करुनानिधान की । सो प्रिय जाकें गति न आन की ।' ( श्रीसुतीक्ष्णजी ), 'मोरे हित हरि सम नहिं कोऊ । एहि औसर सहाय सोइ होऊ । १.१३२.२।' ( देवर्षि नारदजी ), 'जदपि नाथ अवगुन बहु मोरें । सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें ।।""तापर मैं रघुबीर दोहाई । जानउँ नहिं कछु भजन उपाई ।। सेवक सुत पति मातु भरोसे । रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें ।४.३.१-४।' ( श्रीहनुमान्‌जी ) ।—ये हैं अमानी दासोंके भाव । और श्रीशबरीजीको देखिए—'अधम ते अधम अधम अति नारी । तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी ।'—इन सब महाभागवतोंके अधिकार और इनकी दीनता देखनेमें बहुत प्रिय लगती है ।

☞दीन बनना बड़ा कठिन है । बड़ा बनना सहज सुलभ है । पर बड़ाई ही तो परम हानि है, तथापि हम लोगोंको यही भाती है । दीन अमानी दासका सर्वश्रेष्ठ नमूना श्रीसुतीक्ष्णजी ही हैं ।

टिप्पणी—१ "बालक सुत सम दास अमानी" इति । ज्ञानी अमानी होते हैं; ( यथा 'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं । १५.७।' ) और दास अमानी है एवं बालक सुतके समान है । बालकके मान नहीं होता है तथा दासको मान नहीं होता; यथा 'सबहि मानप्रद आपु अमानी ।७.३८.४।' मान दोनोंको खराब करता है । ज्ञानीका ज्ञान नष्ट करता है । यथा 'मान ते ज्ञान पान ते लाजा ।""।२१.१।', और भक्तकी भक्तिका नाश करता है; यथा 'परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस ।५.३६।', 'कृषी निरावहिं चतुर किसाना । जिमि बुध तजहिं मोह मद माना ।४.१५.८।'

२ 'दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही' इति । यथा 'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः । महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् । इति गीतायाम् ।३।३७।' अर्थात् रजोगुणसे उत्पन्न यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला और महापापी है, यहाँ तू इसीको वैरी मान । नारदजीकी रक्षा काम और क्रोध दोनोंसे की थी, यथा 'काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी ।१.१२६.७।', 'भयउ न नारद मन कछु रोषा ।' (१.१२७.१) । वे फिर दोनोंके वश हो गए—हरि इच्छासे, यथा 'मम इच्छा कह दीनदयाला' । इन शत्रुओंसे सदा रक्षा करते हैं; यथा 'सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू । बड़ रखवार रमापति जासू ।१.१२६.८।'; इसीसे नारदकी रक्षा की । जब 'गर्व उर अंकुरेउ भारी' तब उसके उखाड़नेके लिए पुनः दोनोंके वश उनको करके उनका गर्व मिटाया ।

प० प० प्र०—(क) काम क्रोधादिका प्राबल्य स्वयं भगवान्‌ने कहा है—'मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ' भुशुण्डीजी भी कहते हैं—'सोउ मुनि ज्ञाननिधान मृगनयनी बिधुमुख निरखि । बिबस होइ हरिजान नारि बिष्नुमाया प्रगट ।७।११५।' (ख) अमानी भक्तोंकी रक्षा स्वयं भगवान् करते हैं । भगवान् सर्वसमर्थ हैं ।—'भगतिहि सानुकूल रघुराया । ताते तेहि डरपति अति माया ।' (ग) ज्ञानियोंके पीछे माया कैसी लगी रहती है, यह भी देखिए—'छोरत ग्रंथि जानि खगराया । बिघ्न अनेक करइ तब माया ।। कल बल छल करि जाइ समीपा । अंचल बात बुझावै दीपा ।' उत्तरकांडमें श्रीनारदजी और श्रीब्रह्माजीके वचन जो गरुड़प्रति हैं वे देखने योग्य हैं । गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।', अतएव उन्होंने अर्जुनजीसे यही कहा है कि 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।'

टिप्पणी—३ 'पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं' इति । ( क ) अद्वैतमें ज्ञान है, द्वैतमें भक्ति है । यहाँ 'पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं' में भाव यह है कि अद्वैतमें द्वैत रखे; यथा 'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत । मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत' । (ख) 'नहिं तजहीं' क्योंकि भक्ति होनेसे भगवान् रक्षा करते हैं, ज्ञान होनेसे रक्षा नहीं करते ।

दोहा—काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि ।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि ।।४३।।

अर्थ—काम, क्रोध, लोभ, मद आदि मोहकी प्रबल सेना है। इनमें भी मायारूपिणी स्त्री अत्यन्त घोर दुःख देनेवाली है ॥४३॥

टिप्पणी—१ (क) 'काम क्रोध लोभादि' में 'आदि' पद देकर षट्-विकारकी पूर्त्ति की। कामक्रोध दो शत्रु प्रथम कहकर ('दुहुँ कहँ काम-क्रोध रिपु आही'), अब इस दोहेमें षट्शत्रु गिनाए। अर्थात्—काम, क्रोध लोभ, मद, मत्सर और मोह। (ख) 'अतिदारुन दुखद' का भाव कि काम क्रोधादि 'दुःखद' हैं। दारुण दुःखदका स्वरूप आगे दिखाते हैं। (ग) 'धारि' = सेना। सेना शत्रु को लूटती है। ये जीवोंके उत्तम गुणोंको लूट ले जाते हैं। यहाँ काम प्रस्तुत है, अतः प्रथम उसीको कहा।

प० प० प्र०—'अति दारुन दुखद माया रूपी नारि' इति। स्त्रीके अतिरिक्त अन्य विषय स्वयं मनुष्यके पीछे नहीं लगते हैं, यह देखकर मानों मायाने स्वयं नारीका रूप ले लिया। माया स्वयं अजा है, अनंग है, अतएव स्त्रीका रूप धारण करके 'मैं और मोर' का पाठ पढ़ाती है। कौमार्यमें विषय-ममताका रूप लेती है और तारुण्यमें प्रत्यक्ष स्त्री बनकर अपने अंगसंगके लोभमें डालकर भुलाती है। मायारूपी स्त्री देखनेमें तो सुन्दर और सुखद है, पर है अति दारुण और दारुण दुःखद। श्रुति भगवती भी कहती है—"स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम् ।१०।…दुःख शृंखलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ।१३।" (याज्ञवल्क्योप०)।

नोट—विरक्तों भगवद्भक्तोंके उपयोगी जानकर हम यहाँ याज्ञवल्क्योपनिषत्‌के इस प्रसंगकी कुछ श्रुतियाँ उद्धृत किये देते हैं। अर्थ सरल है।

"मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोकेऽङ्गपञ्जरे। स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्यः स्त्रियः किमिव शोभनम् ।५। त्वङ्मांस रक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने। समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि ।६। मेरुशृंगतटोल्लासिगङ्गा-जलरयोपमा। दृष्टा यस्मिन्मुने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता।७। श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः। श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः।८। केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः। दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ।९। ज्वलना अतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः। स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम्।१०। कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः। नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः।११। जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम्। पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारीबडिशपिण्डिका। १२। सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयानया। दुःखश्रृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया।१३। यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निस्त्रीकस्य क्व भोगभूः। स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ।१४।"

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता ॥१॥
जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोषै सब नारी ॥२॥
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहि हरषप्रद बरषा एका ॥३॥
दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई ॥४॥
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहै सुखमंदा‡ ॥५॥
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई ॥६॥
पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी ॥७॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना ॥८॥

दोहा—अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि।
ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि ॥४४॥

‡ "देति दुख मंदा"—(का०)।

शब्दार्थ—पलुहना = पल्लवित होना, हराभरा होना।

अर्थ—हे मुनि ! सुनो। पुराण, वेद और सन्त कहते हैं कि मोहरूपी वनके लिये स्त्री वसन्त ऋतु है ॥१॥ जप-तप-नियमरूपी सारे जलाशयोंको स्त्री ग्रीष्मरूप होकर पूरा सोख लेती है ॥२॥ काम, क्रोध, मद, मत्सर मेंढक हैं, इन्हें वर्षारूप होकर प्रसन्न करनेमें वह एक ही है ॥३॥ समस्त दुर्वासनाएँ कुमुदका समुदाय ( समूह ) हैं, उनको यह सदा सुख देनेवाली शरद्‌ऋतु है ॥४॥ समस्त धर्म* कमलोंका झुंड है वह मन्द सुखवाली उन्हें हिमऋतु होकर जला डालती है ॥५॥ फिर ममतारूपी यवासका समूह स्त्रीरूपी शिशिरऋतुको पाकर हराभरा हो जाता है ॥६॥ पापरूपी उल्लुओंके समूहको सुख देनेको स्त्री घोर अँधेरी रात है ॥७॥ बुद्धि, बल, शील, सत्य ये सब मछलियाँ हैं और स्त्री बंसीके समान है। प्रवीण लोग ऐसा कहते हैं ॥८॥ अवगुणकी जड़, पीड़ा देनेवाली और सब दुःखोंकी खानि स्त्री है। हे मुनि ! मैंने जीसे ऐसा जानकर इसी कारण तुमको रोका ॥४४॥

नोट—इस प्रसंगमें 'भिन्नधर्मामालोपमा' और 'परंपरित रूपक' अलंकार हैं।

टिप्पणी—१ दोहेमें जो कहा 'अति दारुन दुखद मायारूपी नारि', अब उसी 'अति दारुण दुःखद'का स्वरूप दिखाते हैं। दोहावलीमें इसकी दारुणता यों कही है—'जन्मपत्रिका बरति कै देखहु हृदय विचारि। दारुन वैरी मीच के बीच बिराजति नारि ॥२६८॥' ( यह दोहा और उसका अर्थ पूर्व आ चुके हैं )

२ 'सुनु मुनि' से जनाया कि एक बात समाप्त हो गई, यह दूसरी बात है। पुनः भाव कि तुम मनन-शील हो, वेदादिके मनन करनेवाले हो, अतः मैं तुमसे कहता हूँ, सुनो।

प० प० प्र०—१ 'सुनु मुनि कह पुरान···' इति। (क) प्रत्यक्ष परमेश्वर होते हुए भी यह नहीं कहते कि मैं अपना मत कहता हूँ, किन्तु कहते हैं कि श्रुति, पुराण और सन्त जो कहते हैं वह कहता हूँ। इससे यह भी जनाया कि इसमें पुराण, श्रुति और सन्त तीनोंका ऐकमत्य है। (ख) श्रुतिको पुराण और संतके बीचमें रखकर बताया कि जिन श्रुतियोंका पुराण और सन्तोंके मतमें समन्वय होगा वह ग्राह्य हैं और उनके अनुकूल ही चलना चाहिए। श्रुतिका अर्थ पुराण और इतिहाससे स्पष्ट किया गया है। तथापि पुराणोंमें भी बहुशः परोक्षवाद ही होनेसे पुराणोंका भी यथार्थ मर्म संत ही जानते हैं। इसीसे संतलक्षणोंमें 'बोध जथारथ वेद पुराना। ४६.६।' ऐसा कहा गया है। भक्तशिरोमणि तुकारामजी भी कहते हैं—'वेदांचा तो अर्थ आम्हां सींच ठावा। इजानीं वाहावा भारमाथां' ( हम संत लोग ही वेदोंका मर्म यथार्थ जानते हैं। दूसरे तो केवल शिरसे बोझा ढो रहे हैं )।

२ 'मोह बिपिन कहँ नारि बसंता' इति। इस रूपकको समझनेके लिये वसन्त ऋतु और विपिनका अन्योन्य संबंध जान लेना चाहिए। वसन्तागमनके पूर्व जो वृक्षादि सूखे मरे हुएसे देखनेमें आते थे वे ही वसन्तागमनसे पल्लवित, प्रफुल्ल और फलित हो जाते हैं। उनको जल आदिकी आवश्यकता नहीं रहती। पल्लव फूल फल आनेसे पक्षी, भ्रमर, अहिंस्र तथा हिंस्र पशु भी वहाँ आ जाते हैं। इसी तरह पत्नी-परिग्रह करनेपर घर, धन धान्य, वस्त्र, पात्रकी आशारूपी पत्तियाँ उसमें फूटती हैं। पुत्रप्राप्ति-कामनारूपी फूल और मान, बड़ाई प्रतिष्ठा आदिकी कामनारूपी फल लगते हैं। सास ससुर इत्यादि पक्षी और भौंरे इकट्ठे होते हैं। पुत्र, कन्या, जामाता आदि अहिंस्र पशुओंकी भीड़ लगती और काम क्रोधादि सिंह, वृक, शूकर आदि हिंस्र पशुओंका वह मनुष्य शिकार बन जाता है। इसी प्रकार इस रूपकका विशेष विस्तार किया जा सकता है। वसन्तऋतुका वर्णन पूर्व आ ही चुका है।

टिप्पणी—३ "मोह बिपिन कहँ नारि बसंता" इति। (क) मोह सबका राजा है, यथा 'मोह दसमौलि तद्‌भ्रात अहंकार०', 'जीति मोह महिपाल दल सहित बिबेक भुआल। करत अकंटक राज पुर सुख संपदा सुकालु। अ० २३५।' और बसंत ऋतुराज है। राजा अपने दलको सदा बढ़ाया ही करता है, वैसे ही मोह

* महाभारत वन पर्व अ० २०० में अनेक धर्मोंका वर्णन है।

सदा अपनी सेनाकी वृद्धिमें लगा रहता है। वृद्धि करनेमें वसन्त-समान है। पुनः, (ख) मोहको इससे भी प्रथम कहा कि मोह ही अन्य सब विकारोंका मूल है, यथा 'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह तें पुनि उपजहिं बहु सूला। ७।१२१।२९।'; अतएव स्त्रीके संगसे सबसे प्रथम मोहकी वृद्धि कही। (ग) यहाँ स्त्रीका स्वरूप वसंत आदि छहो ऋतुओंसे बाँधा है। ऋतु रजोधर्मको भी कहते हैं और ऋतुमती स्त्रीको शास्त्रमें सर्वथा त्याज्य कहा है। रजोधर्मके समय उसका स्पर्श, उसका संग ब्रह्म-हत्यादि पातकोंका भागी करता है और आयुर्वेद भी मना करता है। यहाँ भगवान् नारदजीको वैराग्यमें दृढ़ करनेके लिए स्त्रीत्यागका उपदेश दे रहे हैं, अतः 'ऋतु' का रूपक दिया। भाव कि विरक्त संतोंको वह सर्वथा त्याज्य है। (घ) स्मरण रहे कि यहाँ जो जो अवगुण दिखा रहे हैं वे सब नारदजीमें प्राप्त हो गए थे, अतः उन्हीं उन्हींको यहाँ लिया। आगे मिलानके नक़शेसे सब स्पष्ट हो जायगा।

४ 'जप तप नेम जलासय झारी···' इति। (क) गंभीर जलाशय ग्रीष्ममें भी नहीं सूखते और सब तो सूख जाते हैं पर इनमें जल बना रह जाता है। अतएव यहाँ 'झारी' शब्द दिया। अर्थात् स्त्रीरूपी ग्रीष्म ऋतुसे जपतपादि कोई भी नहीं बचते, वह सबको 'झारिकै' ( निपट, संपूर्ण, झाड़ पोंछकर ) सोख लेती है कि बूँदभर भी न रह जाय। (ख) जैसे सब जलाशय सूखकर भ्रष्ट हो जाते हैं, वैसे ही जपतपनियमादिके नष्ट होनेसे लोग भ्रष्ट हो जाते हैं। (ग) यहाँ 'जप तप नेम' तीन ही नाम दिए, क्योंकि जलाशय भी तीन ही प्रकारके हैं—'कर्मकमंडल कर गहे···सरिता कूप तड़ाग'।(घ) 'झारी' का भाव यह भी है कि क्रियमानकी कौन कहे संचितको भी विनष्ट कर देती है।

५ कामक्रोधादि चारको मेंढक कहा, क्योंकि मेंढक भी ४ प्रकारके होते हैं। 'हरषप्रद' क्योंकि ग्रीष्ममें टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं और प्रथम वर्षा पाते ही जी उठते हैं, टरटर मचाने लगाते हैं। वैसे ही मुए हुए मनमें भी कामादि स्त्रीको पाकर जग उठते हैं।

६ (क) 'दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद०' कहकर तब 'धर्म सकल सरसीरुह' कहा, क्योंकि कुमुद भी कमलकी ही एक जाति है। [ स्त्रीकी प्रसन्नताके लिए अनेक उपाय ही दुर्वासनायें हैं। (खर्रा) ] (ख) "होइ हिम दहइ तिन्हहिं सुखमंदा"—'सुखमंदा' स्त्रीके लिए है अर्थात् यह नीच-सुख देनेवाली है। ['उन्हें निकम्मा सुख देती है अर्थात् प्रत्यक्षमें शीतलता सुख प्रतीत होता है किन्तु अन्तमें उसीसे कमल जल जाता है।' ( वीरकवि )। पुनः भाव कि द्रव्य आदि नारीसे ही नहीं बच पाता, तब बिना द्रव्य धर्म कहाँसे हो सके। ( खर्रा ) ]

७ 'पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ०' इति। शिशिर ऋतुमें यवास बहुत बढ़ता है, वैसे ही स्त्रीके द्वारा ममता बढ़ती है।पहले कामादिकी हर्षप्रद वर्षा हुई, अब पुत्र पौत्रादि स्त्री द्वारा हुए, उनमें ममत्व बढ़ा। (खर्रा)। यहाँ षट् ऋतु पूर्ण हुए।

टिप्पणी—८ 'पाप उलूक' पापको उल्लू कहा, क्योंकि चोरी, व्यभिचार आदि अनेक पाप रात्रिमें ही हुआ करते हैं और उल्लू भी रातमें ही विचरता है।

९ 'बंसी सम', यथा—'विस्तारितं मकर केतन धीवरेण स्त्रीसंज्ञितं बड़िशमत्र भवांबुराशौ। येनाचिरात्तदधरामृत लोलमर्त्यमत्स्यान्विकृष्य पचत्यनुरागवह्नौ ॥' ( भर्तृहरि शृंगार शतक ८२ )। 'बुद्धि, बल, शील, सत्य' चारको मछली कहा, यथा 'धुनि अवरेव कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती'। स्त्री पुरुषको फाँसकर फिर एक-एक करके सब गुणोंको बाहर निकाल फेंकती है, जैसे लोग बंशीसे मछलीको फाँसकर निकाल लेते हैं।

नोट—☞ १ 'मोह बिपिन कहँ नारि बसंता' से लेकर "बंसी सम त्रिय००" तक का सारांश यह है कि मोहके होनेसे जपतपका नाश हुआ, जपतपके नाशसे काम-क्रोध-मद-मत्सर बढ़े। इनके बढ़नेसे धर्म-का नाश हुआ, धर्मके नाशसे ममता बढ़ी। ममत्वके बढ़नेसे पापकी वृद्धि हुई और पापकी वृद्धिसे बुद्धि-बल-शील-सत्यका विनाश हुआ। इसीसे मोह, काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि और जप, तप, नेम, धर्म आदि इस क्रमसे कहे गए।

२—छः चौपाइयोंमें छः ऋतु कहकर अंतमें दो और भी चौपाइयाँ रखीं, जिनमें पाप उलूक और बुद्धि बल आदि मीनको कहा । भाव कि पाप-उलूकका वास मोह-विपिनमें रहता है और बुद्धिबलशीलसत्य-रूपी मछलियोंका निवास जपतपनियमरूपी जलाशयोंमें रहता है । इससे इनको भी कहा ।

श्रीगौड़जी—इस समस्त प्रसंगमें 'नारि' की व्यक्तितापर आक्षेप नहीं है, क्योंकि 'नारि' शब्दके अन्तर्गत ऐसी व्यक्तियाँ भी शामिल हो सकती हैं जिनसे कि ये सारे विषय संबंधी दोषका कोई लगाव नहीं, प्रत्युत उनके स्मरणसे यह दोष दूर हो सकता है । इस स्थलपर 'नारि' शब्दसे भाव है 'काम प्रवर्तिनी नीच वासना', जिसपर नारि शब्दका लक्ष्य है । इसीसे अन्तमें 'प्रमदा' शब्द दिया गया है । जो अरसिक पाठक इसे नारि जातिकी निन्दा समझते हैं वे 'नारि' शब्दके लक्ष्यार्थपर ध्यान नहीं देते और उसका अर्थ काम-वासना प्रवृत्तिमात्र नहीं लगाते ।

टिप्पणी—१० 'प्रमदा सब दुखखानि', यथा भर्तृहरे शृँगारशतके—'सत्यं जना वच्मि न पक्षपाताल्लोकेषु सर्वेष्वति तथ्यमेतत् । नान्यं मनोहारि नितंबिनीभ्यो दुःखस्य हेतुर्नहि कश्चिदन्यः ॥' प्रमदा नाम देकर जनाया कि सब कालमें मदमें भरी हुई मतवाली रहती है ।

☞'ताते कीन्ह निवारन' इति । स्त्रीसंगके दोष कहकर दूसरेको तो उससे निवारण करते हैं और स्वयं विरही हैं, यह तो वही हुआ कि 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे । जे आचरहिं ते नर न घनेरे ।' यह प्रसंग यहाँ वक्ताओंने कहकर सूचित किया कि वस्तुतः श्रीरामजी विरही नहीं हैं, उनका विरह लीलामात्र है । नारदका प्रश्न था 'केहि कारन प्रभु करै न दीना', इसीसे कहते हैं कि 'ताते०' अर्थात् इस कारणसे ।

११—जो स्त्रीमें दोष गिनाये हैं, वे सब नारदमें स्त्रीकी इच्छा करते ही प्राप्त हो गए थे, यह निम्न नक़शेसे स्पष्ट देख पड़ेगा—

| स्त्रीमें आसक्ति होनेपर दोष | श्रीनारदजीमें चरितार्थ |
| --- | --- |
| मोह बिपिन कहँ नारि बसंता । | १ 'मुनिहि मोह मन हाथ पराए । १.१३४.५ ।' 'मुनि अति बिकल मोह मति नाठी । १.१३५.५ ।' |
| 'जप तप नेम जलासय झारी । होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी ॥' | २ 'जप तप कछु न होइ तेहि काला । १.१३१.८ ।' |
| 'काम क्रोध मद मत्सर भेका । इन्हहि हरषप्रद बरषा एका ॥' | ३ 'हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला । १.१३१.८ ।' (काम है), 'सुनत बचन उपजा अति क्रोधा । १.१३६.६ ।' 'फरकत अधर कोप मन माहीं । १.१३६.२ ।' (क्रोध), 'जेहि समाज बैठे मुनि जाई । हृदय रूप अहमिति अधिकाई । १.१३४.१ ।' (मद), 'मुनिमन हरष रूप अति मोरे । मोहि तजि आनहि बरिहि न भोरे । १.१३३.६ ।' (मत्सर)❀ |
| 'दुर्वासना कुमुद समुदाई । तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई ॥' | ४ 'करउँ जाइ सोइ जतन बिचारी । जेहि प्रकार मोहि बरै कुमारी । १.१३१.७ ।' योगी के लिये यह दुर्वासना है |
| 'धर्म सकल सरसीरुह बृंदा । होइ हिम तिन्हहि दहै सुखमंदा ॥' | ५ 'पर संपदा सकहु नहिं देखी । तुम्हरे इरिषा कपट बिसेखी ॥ मथत सिंधु रुद्रहि बौरायहु । सुरन्ह प्रेरि |

❀ रामायणीजीकी टिप्पणीमें यह उदाहरण 'मद' का है । मत्सरका उदाहरण—'संग रमा सोइ राजकुमारी ।' देकर 'पर संपदा सकहु नहिं देखी । तुम्हरे इरिषा कपट बिसेषी ॥'—यह दिया है और कहते हैं कि अपना मत्सर विष्णुमें आरोपण किया है ।

'पुनि ममता जवास बहुताई । पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई ॥'
'पाप उलूक निकर सुखकारी ।
नारि निविड रजनी अँधियारी ॥'
"बुधि बल सील सत्य सब मीना ।
बंसी सम तिय कहहिं प्रवीना ॥"

बिष पान करायेहु ॥ असुर सुरा बिष संकरहि आपु रमा मनि चारु । स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहार ॥१.१३६।' इत्यादि कठोर वचन कहने से सकल सेवक-धर्म नष्ट हुए ।

६ 'मनि गिरि गई छूटि जनु गाँठी ॥१.१३५.५।' यह ममता है ।

७ 'मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे । कह मुनि पाप मिटिहि किमि मेरे ।१.१३८.४।' यह पाप है ।

८ 'जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी । समुझि न परहि बुद्धि भ्रमसानी ।१.१३४.६।' यह बुद्धिका नाश है; 'अति आरत कहि कथा सुनाई । करहु कृपा हरि होहु सहाई ।१.१३२.५।' यह बलका नाश है । 'मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे' यह शीलका नाश है । "कछुक बनाइ भूपसन भाषे ।१.१३१.५।" यह सत्यका नाश है ।

**सुनि रघुपति के बचन सुहाए । मुनि तन पुलक नयन भरि आए ॥१॥**
**कहहु कवन प्रभु कै असि रीती । सेवक पर ममता अरु प्रीती ॥२॥**
**जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी । ग्यान रंक नर मंद अभागी ॥३॥**
**पुनि सादर बोले मुनि नारद । सुनहु राम बिग्यान बिसारद ॥४॥**
**संतन्ह के लच्छन रघुबीरा । कहहु नाथ भवभंजनभीरा ॥५॥**

अर्थ—श्रीरघुनाथजीके सुन्दर वचन सुनकर मुनिका शरीर पुलकित हो गया । नेत्र ( में आँसू ) भर आए ।१। (वे मनमें सोचने लगे) कहिये तो, किस स्वामीकी ऐसी रीति है? किसका सेवकपर इस प्रकार ममत्व और प्रेम है ।२। जो लोग भ्रम छोड़कर ऐसे प्रभुको नहीं भजते वे ज्ञानरंक (ज्ञानके दरिद्र या कंगाल, ज्ञान-रहित, ज्ञानशून्य ), मन्द (बुद्धि) और अभागे हैं ।३। फिर नारदमुनि आदरपूर्वक बोले—हे विज्ञान-विशारद श्रीरामजी सुनिये ।४। हे रघुकुलवीर ! हे भवभयके नाश करनेवाले ! हे नाथ ! सन्तोंके लक्षण कहिये ।५।

टिप्पणी—१ 'सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता' उपक्रम है और 'सुनि रघुपतिके वचन' उपसंहार । [ 'सुनि रघुपति के बचन सुहाए' इति । वचन 'सुहाए' हैं; क्योंकि इनमें प्रभुका निर्हेतुक हितकारी स्वभाव वर्णित है । सेवककी अकल्याण, दुःख, दैन्य, अधः पात इत्यादि संकटोंसे माताकी तरह रक्षा करते हैं, यह जानकर जीव यह जान लेगा कि उसका हित क्या और किसमें है । ( प० प० प्र० ) ]

२ 'कहहु कवन प्रभु कै असि रीती ।···' इति । ['असि रीती'—भाव कि सेवककी गाली, शाप, क्रोध इत्यादि शान्त चित्तसे सहन भी कर ले और सेवकका परमहित करे ऐसा सारे संसारमें कोई नहीं है । सन्त भगवंतमें अभेद है । 'संत सहहिं दुख पर हित लागी ।','भूर्जतरू सम संत कृपाला । पर हित नित सह बिपति बिसाला ।' (प०प०प्र०)] । मिलान कीजिए-'सबके प्रिय सेवक यह नीती । मोरे अधिक दास पर प्रीती ।७.१६।' अपने सेवककी सेवा माताकी तरह करते हैं, यह रीति इन्हींकी है और स्वामी तो सेवकको नीच दृष्टिसे देखते हैं ।

३ 'जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी । ग्यानरंक···' इति । भ्रमको छोड़कर प्रभुका भजन करना कहा । भ्रमसे ज्ञानका नाश होता है; यथा 'प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा ।७.५६.१।' यह भजनका बाधक है; यथा 'भ्रम तजि भजहु भगतभयहारी ।५.२२।' "न भजहिं" से उपासनारहित, 'ज्ञानरंक' से ज्ञानहीन और 'मंद' से कर्महीन अर्थात् त्रिकांडरहित जनाया, अतएव अभागी हुए ।

२ "पुनि सादर बोले" से पूर्व प्रसंगकी समाप्ति जनाई। श्रीनारदजी अभीतक अपकार ही जानते रहे, अब स्वामीके कथनसे जाना कि हमारे साथ बड़ा भारी उपकार किया। 'विज्ञान-विशारद' का भाव कि आपका ज्ञान अखण्ड एकरस है, कोई उसका अवरोधक या विनाशक नहीं है। (श्रीकान्तशरणजीका मत है कि 'विज्ञान विशारद' विशेषणका भाव यह है कि "ये जो प्रश्न करेंगे उसका उत्तर विज्ञानकी दृष्टिसे चाहते हैं। प्रकृति-वियुक्त जीवात्माके ज्ञानको विज्ञान कहते हैं। जैसे 'तव विज्ञाननिरूपिनी…' से तेजरासि विज्ञानमय ।७.११७।' तकसे स्पष्ट है। यहाँ श्रीरामजी संत लक्षण कहेंगे। उन्हींका ग्रहण करना विज्ञान साधन है।")

नोट—१ "संतन्हके लच्छन रघुबीरा। कहहु…" इति। नारीरूपी षड्‌ऋतुवर्णनके प्रारंभमें ही 'सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता ।४४.१।' ये प्रभुके वचन हैं। इनमें 'संत' शब्द आ जानेसे यह जिज्ञासा खड़ी हो गई कि 'संत' के लक्षण भी इस सुअवसरपर पूछ लेने चाहिएँ, अतः मुनिने पूछा। ☞ यह वक्ताकी कला है, वह कुछ ऐसे शब्द कह देता है जिससे यह पता चल जाता है कि श्रोता मन बुद्धि चित्त लगाकर सुन रहे हैं या नहीं। जैसे शंकरजीने कहा था 'कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहनायक गरुड़ ।१.१२०।' इसीपर अंतमें पार्वतीजीने इस संबंधमें प्रश्न किया। गरुड़जीके सप्त प्रश्न भी इसी कलासे प्रादुर्भूत हुए हैं। (प० प० प्र०)

२ ☞ संतोंके लक्षण पूछनेमें भाव यह है कि हम अपनेमें नित्य देखा करें कि कौन कौन लक्षण हममें नहीं हैं जिनका हम भगवान्‌के प्रिय होनेके लिए उपार्जन करते रहें। ☞ दूसरोंकी परीक्षा लेनेके लिए लक्षणोंका ज्ञान करना निरर्थक है। क्योंकि संतोंके गुण अनंत हैं। श्रीएकनाथजी महाराज भागवत एकादशस्कंधकी टीकामें लिखते हैं कि संतोंके लक्षणोंकी पोथी हाथमें लेकर कोई उनकी परीक्षाके लिए त्रैलोक्यमें भले ही घूमे तो भी उसे कोई संत मिलेगा ही नहीं। 'मियां न सांगितल्या लक्षणांची पोथी। जो कोणी घेवनियां हातीं हिंडेल जरी त्रिजगती। तरी न सांपड़ती संत।' यह भगवान्‌का वाक्य है।

वि० त्रि०—सरकारके दिये हुए उपदेश सुननेपर नारदजीके हृदयमें प्रभुके चरणोंमें अत्यन्त प्रीति बढ़ी, वे सोचने लगे कि ऐसे भक्तवत्सलको जो नहीं भजते वे अज्ञानी अभागी हैं। भाग्यवान् भजन करनेवाले सन्तलोग हैं, अतः भगवान्‌के मुखसे ही उनके भक्त सन्तोंके गुण सुनना चाहिये, जिसके जान लेनेसे, उनकी प्राप्तिके लिये सदा यत्नशील होनेका सौभाग्य प्राप्त हो, अतः नारदजी सन्तोंके लक्षण पूछते हैं।

**सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उन्ह के बस रहऊँ ॥६॥**
**षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा ॥७॥**
**अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्य सार कबि कोबिद जोगी ॥८॥**
**सावधान मानद मद हीना। धीर धर्मगति परम प्रबीना ॥९॥**

**दोहा—गुनागार संसार-दुख-रहित बिगत-संदेह।**
**तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह ॥४५॥**

शब्दार्थ—षट् विकार—'षट् विकार' कौन हैं, इसमें मतभेद है। १ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर। २ पाँचों ज्ञानेंद्रिय और मनके मलिन व्यवहार। ३ 'अस्ति जायते वर्द्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति' (प्र०)। ४ क्षुधा, प्यास, हर्ष, शोक, जन्म, मरण। ५ प्राणीके छः विकार या परिणाम अर्थात् उत्पत्ति, शरीर वृद्धि, बालपन, प्रौढ़ता, जरा, मृत्यु।

अर्थ—मुनि! सुनिए, सन्तोंके गुण कहता हूँ जिन (गुणों) से मैं उनके वशमें रहता हूँ (अर्थात् गुण तो अनन्त हैं, पर मैं केवल इन्हींको कहता हूँ) ॥६॥ छहो विकारोंको जीते हुए, निष्पाप, निष्काम, चंचलतारहित (स्थिर चित्त), अकिंचन, पवित्र, सुखके स्थान ॥७॥ अमित (जिसका अटकल नहीं किया जा सकता। असीम) ज्ञानवाले, चेष्टारहित, अल्पभोगी (स्वल्पाहारी), सत्यके सार रूप (प्रियसत्यवादी)

कवि, पण्डित, योगी ॥८॥ ( सदा कर्तव्यमें ) सावधान, दूसरोंको मान देनेवाले, स्वयं मान-मद-रहित ( वा, मादक पदार्थोंसे अलग रहनेवाले होते हैं। पं० रा० कु० ), धीर, धर्मकी गतिमें बड़े चतुर ॥९॥ गुणोंके घर, संसारके दुःखों वा संसाररूप दुःखसे रहित और संदेहसे विशेपरहित होते हैं। मेरे चरण कमलोंको छोड़कर उनको न देह ही प्रिय है न घर ही ॥४५॥

टिप्पणी—१ 'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ।००बस रहऊँ' इति। (क) 'सुनु मुनि'—यहाँ पुनः 'सुनु' शब्द देकर पूर्व प्रसंगकी समाप्ति और नवीन प्रसंगका प्रारम्भ जनाया। (ख) 'गुन कहऊँ' और 'बस रहऊँ' से जनाया कि इन गुणोंसे मैं उनके वश हो जाता हूँ; इन गुणोंमें मैं बँध जाता हूँ। गुण सूतको भी कहते हैं मानों ये गुण रस्सीरूप हैं जो मुझे बाँध लेते हैं। [ नारदजीने संतोंके लक्षण पूछे, यथा 'संतन्ह के लच्छन रघुबीरा। कहहु…', और श्रीरामजी कहते हैं 'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ' और 'सुनु मुनि साधुन्ह के गुन जेते। ४६.८'; इससे संत और साधु, लक्षण और गुणको पर्याय जनाया। ( प० प० प्र० ) ]

२ 'षट्-विकारजित'। षट् विकारकी षट्शत्रु संज्ञा है, अतः 'जित' पद दिया। [ षट्विकारजित, अकाम और अनीहमें द्विरुक्ति स्पष्ट है, क्योंकि षट्विकारमें अकामका अन्तर्भाव है। यदि अकामका अर्थ निष्काम, इच्छारहित लें तो भी पुनरुक्तिसे बचना असंभव है, क्योंकि 'अनीह' शब्दसे यही अर्थ प्रतिपादित है। लोभमें इच्छाका अन्तर्भाव होता ही है। इसी तरह और भी द्विरुक्तियाँ इस गुणगणवर्णनमें मिलेंगी। तथापि यह द्विरुक्ति दोष नहीं है, भूषण है। इस द्विरुक्तिमें एक सुन्दर भाव यह प्रकट हो रहा है कि श्रीरामजी अपने भक्तोंके गुणवर्णनमें इतने प्रसन्न हो गए हैं कि पूर्वापर संदर्भ भी भूल गए—"विषादे विस्मये कोपे हर्षे दैन्येऽवधारणे। प्रसादेऽचानुकम्पायां पुनरुक्तिर्न दूष्यते।" यहाँ पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है।(प०प०प्र०)]

नोट—१ 'अचल' धर्ममें। एवं रागद्वेषादिसे विचलित न होनेवाले। ( प्र० )। अकिंचन अर्थात् धन संपत्ति आदि स्वर्गादि सभीके संग्रहसे रहित। ( प्र० )। अपने पास कुछ नहीं रखते। ( प्र० )। 'तेहि ते कहहिं संत श्रुति टेरे। परम अकिंचन प्रिय हरि केरे।१।१६१।३।' देखिए। शुचि=मन वचन कर्मसे पवित्र। 'अमितबोध'=आत्मज्ञानी (पु० रा० कु०)।=अपार ज्ञानवाले ( प्र० )। [ भगवान् अमित एवं अप्रमेय हैं, उनका बोध रहनेसे संत अमितबोध कहलाते हैं, क्योंकि भगवान्के जाननेपर फिर कुछ भी जानना नहीं रह जाता। (श्रीकान्तशरणजी) ] मित भोगी=शरीरका निर्वाहमात्र करने भरको, यथा 'युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा। गीता ६।१७।' अर्थात् नियमित आहार-विहार-वालेका, कामोंमें नियमित चेष्टा करनेवालेका और नियमित सोने तथा जागनेवालेका दुःख नाशक योग संपन्न होता है। यश-वर्णनमें कवि, शास्त्रादिके ज्ञानमें कोविद (पंडित), अष्टांगयोगयुक्त एवं सदा भगवत्में चित्तकी वृत्ति रखनेमें योगी। 'सत्यसार'=सत्यके साररूप।=सत्यनिष्ठ।=सत्यको साररूप जाननेवाले—(प्र०)। सत्यसार कवि=सत्यका जो सार है उसके कवि; अर्थात् सत्य ही कहते हैं। (वै०)। 'सावधान' अर्थात् व्यवहार और परमार्थमें सदा अपने मनको देखते रहते हैं जिसमें विषयादिके वशमें न हो जायँ। 'धीर धरम-गति परम प्रबीना'—धर्मकी गति बहुत सूक्ष्म है! उसके जानने और करनेमें परम प्रवीण हैं। 'धीर', यथा "ते धीर अछत बिकार हेतु जे रहत मनसिज बस किए। पार्वती-मंगल।१५।" पुनः 'धीर' अर्थात् दुःख सुखसे मन चंचल नहीं होने पाता।

'गुणागार' से जनाया कि जो गुण गिनाए ये ही नहीं वरन् गुणसमूह हैं मानों गुणोंके घर ही हैं; सब गुण यहीं वास करते हैं। 'संसार दुःखरहित', यथा 'ताहि न व्याप त्रिविध भवसूला'। 'संसारदुःखरहित' से जनाया कि वे आत्माको देहसे पृथक् जानते हैं, दुःख है तो यही कि भजन नहीं होता। "बिगत संदेह" का भाव कि जिस मार्गपर कल्याणके लिये चलते हैं, उसमें कुछ संदेह नहीं कि हमारा कल्याण होगा कि नहीं। 'देह न गेह' का भाव कि मैं मेरा सभी त्याग किए हैं, किसीमें ममत्व नहीं है। यथा 'राम बिलोकि बंधु कर जोरें। देह गेह सब सन तृन तोरें।२.७०.६।' (श्रीलक्ष्मणजी)।

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। परगुन सुनत अधिक हरषाहीं ॥१॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती ॥२॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुर गोविंद बिप्र पद प्रेमा ॥३॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया ॥४॥
बिरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ बेद पुराना ॥५॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ ॥६॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला ॥७॥
मुनि सुनु† साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते ॥८॥

शब्दार्थ—सम = अन्तरिन्द्रियनिग्रहवान् = सबको समान देखनेवाले। अमाया=कपटरहित, दिखावे का नहीं। दम = वाह्येन्द्रिय-निग्रह। हेतु रहित = विना कारण, बदलेकी चाहसे नहीं।

अर्थ—कानोंसे अपने गुण सुनते सकुचाते हैं, दूसरोंके गुण सुनकर बहुत खुश होते हैं ॥१॥ सम और शीतल हैं। नीतिको नहीं छोड़ते। सरल स्वभाव, सभीसे प्रेम (अर्थात् वैर किसीसे नहीं) रखते हैं ॥२॥ जप, तप, व्रत, दम, संयम और नियममें रत रहते हैं। गुरु, भगवान और विप्रचरणमें प्रेम रखते हैं ॥३॥ श्रद्धा, क्षमा, मित्रता, दया, प्रसन्नता, मेरे चरणोंमें कपटरहित प्रेम ॥४॥ वैराग्य, विशेष नम्रता, विज्ञान, वेदपुराणोंका यथार्थ (ठीक) ज्ञान—ये गुण उनमें होते हैं ॥५॥ दम्भ, अभिमान और मद कभी नहीं करते, बुरे रास्तेपर भूलकर भी पैर नहीं देते ॥६॥ सदा मेरे चरित कहते सुनते हैं, बिना कारण परोपकारमें तत्पर रहना उनका स्वभाव है ॥७॥ हे मुनि! सुनिए, साधुओंके जितने गुण हैं उनको शारदा और वेद भी नहीं कह सकते (कि ये यही हैं) ॥८॥

टिप्पणी—१ (क) 'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं' अर्थात् वे गुणागार हैं, उनकी प्रशंसा जो करता है वह झूट नहीं करता, पर तो भी सुनकर उन्हें संकोच होता है। जो गुणहीन हो वह सकुचे तो ठीक ही है। पुनः, भाव कि निजके हर्ष शोकसे रहित हैं। (ख) 'पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं' अर्थात् जैसे जैसे सुनते हैं तैसे तैसे अधिक हर्ष होता है। (ग) 'सम' शत्रु मित्रके विषयमें। "शीतल" अर्थात् दुष्टके वज्र-वचन सहनेमें गर्म नहीं होते। 'नहिं त्यागहिं नीती' अर्थात् कैसा ही अवरेब पड़ जाय नीति नहीं छोड़ते। यथा 'कोटि विघ्न ते संत कर मन जिमि नीति न त्याग।' (६.३३)। 'सरल'=कपट छल-रहित, किसीसे क्रूर नहीं। (घ) 'जप तप···पद प्रेमा' इति। प्रेमका अन्वय सबमें है। जप तप आदि सबमें प्रेम है।

प० प० प्र०—१ मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा ये चार प्रकार हैं जिनसे साधकोंको इस जगतके विभिन्न प्रकृतिके व्यक्तियोंसे व्यवहार करना चाहिए। यहाँ जो लक्षण गिनाए हैं उनमें 'उपेक्षा' का उल्लेख नहीं है, कारण कि संत किसीकी भी उपेक्षा नहीं करते हैं। यह है परमोच्च आदर्श। दुर्जनोंसे व्यवहार करनेमें साधकोंको उपेक्षावृत्ति रखनी चाहिए। भुशुण्डिजीने भी कहा है—'खल सन कलह न भल नहिं प्रीती ॥ उदासीन नित रहिअ गोसाईं। खल परिहरिअ स्वान की नाईं ।७।१०६।१४-१५।' भगवान्ने भी कहा है—'वरु भल वास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ विधाता ।५.४६.७।'—पर यहाँ मुनिसे जो गुण कहे हैं वे संतोंके गुण हैं, साधकोंके नहीं। 'मुदिता'—बराबरवालोंके साथ मुदितावृत्तिसे व्यवहार करना चाहिए—"पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं।" करुणा—दीनोंपर, अपनेसे जो नीची भूमिकापर हों उनके साथ करुणा—'कोमल चित दीनन्ह पर दाया', 'साधवो दीन-वत्सलाः।' यह लक्षण साधकोंके लिए भी है। संत तो दुर्जनोंसे भी करुणावृत्तिसे ही वर्ताव करते हैं। मैत्री—जो अपनेसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि पारमार्थिक गुणोंमें श्रेष्ठ

† 'सुनु मुनि' (का०)।

हों उनके साथ मित्रता रखते हैं। यथा 'कै लघु कै वड़ मीत भल, सम सनेह दुख सोइ। तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस मिले महाविष होइ।दो० ३२३।', 'वड़ो गहे ते होत वड़ ज्यों वावन कर दंड। श्री प्रभु के संग सो वढ़ो गयो अखिल ब्रह्मंड।दो० ५३२।', श्रेष्ठोंके साथ मित्रता होनेसे अभिमान न होने पायगा और उच्च भूमिका का अनुकरण सुलभ होगा। बरावरवालोंसे मुदिता होनेसे, मत्सर, द्वेष, स्पर्धा आदि दोषोंकी उत्पत्ति न होगी।

२ 'मम पद प्रीति अमाया' इति। ऊपर 'गोविंद पद प्रेमा' से भगवानके चरणोंमें प्रेमका कथन तो हो गया। 'गोविंद गोपर द्वंद्वहर। ३२ छंद।' से रघुनाथजीका 'गोविंद' होना सिद्ध हो चुका है। तब यहाँ 'मम पद प्रीति' क्यों कहा गया? उत्तर---'गोविंद' से यहाँ वेदान्तवेद्य निर्गुण ब्रह्म कहा और 'मम' कहकर बताया कि भगवान्‌में इस भावनासे प्रेम करे कि जो वेदान्तवेद्य निर्गुण ब्रह्म हैं वही सगुण भगवान् श्रीरामचंद्रजी हैं। ( अथवा, जनाया कि वह गोविन्द मैं ही हूँ, दूसरा नहीं )। अथवा, भगवद्भक्ति-प्रीतिका विवेचन करनेमें परमानन्दके कारण पुनरुक्तिका भान न रहा।

३ [ ( क ) विवेक=सत् असत्‌का ज्ञान। विज्ञान=सर्वात्मभाव। वोध=श्रुतिस्मृतिमें निस्संदेह होनेका भाव। ( प० रा० कु० )।=प्रकृतिवियुक्त आत्माका ज्ञान। (श्रीकान्तशरण)। (ख) 'वोध जथारथ वेद पुराना', कवि कोविद योगी, अमित-वोध, धर्मगति परम प्रवीण—इन गुणोंकी आवश्कता संतोंमें नहीं है। इनकी आवश्यकता मान लेने पर शवरी, गीध, विभीषण आदि अनेक महापुरुषोंकी गणना संतोंमें नहीं होगी। शबरीजी स्तुति करनेमें समर्थ नहीं थीं तव कवित्व पाण्डित्य कहां से आई? भीलिनी होनेसे वेदका यथार्थ ज्ञान भी नहीं हो सकता था—ये सब सद्‌गुरुके लक्षण हैं। सद्‌गुरुको इन सवोंकी आवश्यकता है—'स गुरु-मेवोपगच्छेत्'''श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ( श्रुति )। अरण्यकांडके मं० श्लोक १ में सद्‌गुरुलक्षण ध्वनित किये हैं और यहाँ उपसंहारमें भी सद्‌गुरुके लक्षण कहे हैं। गुरुकी कृपाके विना महामोह संशय भ्रमका निरास नहीं हो सकता, इसीसे इस काण्डमें सद्‌गुरुका वैशिष्ट्य ही जहाँ तहाँ वताया गया है। महाराष्ट्रमें सेनान्हावी, गोरा कुम्हार, रोहीदास चमार, चोखामेला म्हार, जनावाई, वहिणावाई, वेणावाई वड़े-वड़े संत भगवद्भक्त हो गए। उनमेंसे किसीको 'बोध जथारथ वेद पुराना' का अधिकार शास्त्रविधिसे था ही नहीं और वे शास्त्राज्ञा माननेवाले भी थे। [ मेरी समझमें संतलक्षणमें 'कवि, कोविद, बोध जथारथ वेद पुराना' इत्यादि जो कहा है वह ठीक ही कहा है। भगवान् शंकर कहते हैं—'श्रुति सिद्धांत नीक तेहि जाना॥ सोइ कवि कोविद''' जो छल छांड़ि भजइ रघुबीरा।७।१२७' श्रीरामजीके चरणोंमें निष्छल अविरल अमल अनुराग करे यही श्रुति-सिद्धान्त है जो वे यथार्थ जानते हैं—'श्रुति सिद्धांत इहै उरगारी। भजिय राम सब काम बिसारी।' ]

टिप्पणी—२ 'दंभ मान मद करहिं न काऊ' यहाँ कहा और पूर्व कहा था कि 'सावधान मानद मद-हीना' इस प्रकार इस प्रसंगमें "मद" की पुनरुक्ति हुई है। कारण कि वाह्य अंतरके भेदसे ऐसा कहा गया। दम्भ और मानके योगसे यहाँ अंतःकरणका मद जनाया और पूर्व सावधानके योगसे वाह्य मद सूचित किया अर्थात् कोई मादक अमलका सेवन नहीं करते। (पूर्व लिखित प० प० प्र० का टिप्पण भी देखिए)।

३ 'गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित'''।' इति। (क) सदा गाते सुनते हैं, क्योंकि 'मम लीला रति अति मन माहीं।१६।८; यह नवधा भक्तिकी दो भक्तियाँ हैं। ( ख ) 'हेतुरहित' दीपदेहरी है। 'गावहिं सुनहिं'''हेतु रहित' अर्थात् द्रव्यकी लालचसे नहीं। [जैसे आजकल प्रायः (काशीजी ऐसे पुण्यप्रदेशों-में भी और अब अयोध्याके साधुओंमें भी यह अवगुण आ चला है ) व्यास लोग ठहरौनी करके कथा कहते हैं, वैसा नहीं, धनके लोभसे नहीं कहते सुनते ]। और 'हेतुरहित परहितरतसीला' अर्थात् परोपकार भी विना किसी कारणके करते हैं; यथा 'पर उपकार वचन मन काया।७।१२४।१७।' परहितमें तत्पर रहते हैं क्योंकि 'पर हित सरिस धरम नहिं भाई।७।४१।१।' दूसरे यह इनका सहज स्वभाव है। (ग) स्वयं गाते हैं और दूसरेसे सुनते भी हैं, यह नहीं कि अभिमानसे समझते हैं कि हमारे समान दूसरा नहीं, हम किससे सुनें। रामचरितसे अधिक कोई गुण नहीं है, इसीसे उसे अंतमें लिखा। श्रीरामगीतामें भी अंतमें कहा था

कि 'मम गुन गावत पुलक सरीरा।'

४ जो जो स्त्रियोंके दोष गिनाए उन्हींके विपर्य्ययमें संतोंके गुण कहे हैं—

| स्त्रियोंके दोष | सन्तके गुण |
|---|---|
| मोह बिपिन कहँ नारि बसंता | १ अमित बोध |
| जप तप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोषै सब नारी॥ | २ जप तप व्रत संयम नेमा |
| स्त्री कामको बढ़ाती है | ३ अकामा |
| स्त्री क्रोधको बढ़ाती है | ४ छमा मयत्री दाया |
| स्त्री मदको बढ़ाती है | ५ दंभ मान मद करहिं न काऊ |
| स्त्री मत्सरको बढ़ाती है | ६ परगुन सुनत अधिक हरषाहीं |
| दुर्वासना कुमुद समुदाई | ७ भूलि न देहिं कुमारग पाऊ |
| 'धर्म सकल सरसीरुह० होइ हिम० दहै सुख' | ८ धीर धरम गति परम प्रबीना |
| 'पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ०' | ९ तजि मम चरनसरोज प्रिय जिन्हके देह न गेह। |
| पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी॥ | १० अनघ |
| बुधि बल सील सत्य सब मीना। बंसी सम त्रिय०॥ | ११ 'कबि कोबिद' (बुद्धिमान्) |
| बुद्धि, बल सील और सत्यको हर लेती है। | योगी 'प्राणायाम् परमं बलं' वा 'षट्-विकार-जित', 'सरल सुभाव सबहि सन प्रीती', 'सत्यसार'। |
| स्त्री अवगुणमूल, शूलप्रद, दुःखखानि | १२-४ गुणागार, संसारदुःखरहित, सुखधाम। |

☞ इस मिलानका तात्पर्य यह है कि स्त्रीके त्यागसे ही ये सब गुण सन्तोंमें निवास करते हैं।

प०प०प्र०—श्रीरघुवीरप्रोक्त संतलक्षणोंमें 'अमानित्वमदंभित्वमादि' सब ज्ञानके लक्षण हैं यह तालिका-से बताया जाता है। इसमें अत्रि आदिकृत पाँच स्तुतियोंमें भी उन्हीं लक्षणोंका अस्तित्व बताया जाता है।

| भगवद्गीतोक्त ज्ञान लक्षण | अत्रि आदिकी पाँच स्तुतियोंमेंसे | श्रीरघुबीरप्रोक्त संतलक्षण |
|---|---|---|
| १ अमानित्वम् | मदादि दोष मोचनम् | १ मान करहिं न काऊ। मानद। |
| २ अदम्भित्वम् | | २ दंभ करहिं न काऊ। निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। |
| ३ अहिंसा | | ३ सबहिं सन प्रीती। दया, मुदिता, छमा, मयत्री। |
| ४ क्षान्तिः | हीन मत्सराः | ४ धीर धरम गति परम प्रबीना। |
| ५ आर्जवम् | ५ मोरि मति थोरी, रबि सन्मुखखद्योत अँजोरी। | ५ सरल सुभाउ; बिनय; |
| ६ आचार्योपासनम् | ६ अब प्रभु संग जाउँ गुरु पाहीं। करि दंडवत। | ६ गुरु-बिप्र-पदपूजा, श्रद्धा |
| ७ शौचम् | ७ होहु सकल गुन | ७ शुचि, अनघ, भूलि न देहिं कुमारग पाऊ |
| ८ स्थैर्यम् | ८ बहुत दिवस गुर दरसन पाएँ | ८ अचल |
| ९ आत्मविनिग्रहः | ९ करत मन बस सदा, बिरति, बिराग, | ९ संयम, अनीह |
| १० इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् | १० निरस्य इन्द्रियादिकम्। करत गो बस सदा | १० नेमा, बिरति, अकिंचन, दम, छमा, |
| ११ अनहंकार (एव च) | ११ नाथ सकल साधन मैं हीना। दीना। | ११ मद करहिं न काऊ, मदहीना, परगुन सुनत अधिक हरषाहीं |
| १२ आसक्तिः | १२ छाँड़ि सब संगा | १२ षट् बिकारजित, मित भोगी। |
| १३ अनभिष्वङ्गः पुत्रदार गृहादिषु | १३ जोग अगिनि तनु जारा | १३ प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह। |

| | | |
|---|---|---|
| १४ समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिपु | १४ गुनागार | १४ सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। |
| १५ मयि अव्यभिचारिणी भक्तिः | १५ भक्ति संयुताः। अविरल भगति। अकामिनां। त्वदंघ्रिमूल भजन्ति। | १५ गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। मम पद प्रीति अमाया, गोविन्द पद प्रीति |
| १६ विविक्तिदेशसेवित्वम् | १६ विविक्त वासिनः | १६ जोगी, व्रत |
| १७ अरतिर्जनसंसदि | १७ ध्यान, जोग, जतन करि | १७ जप, तप, सावधान, व्रत |
| १८ जन्म मृत्यु जरा व्याधि दुःख दोषानुदर्शनम् | १८ समस्त दूषणापहम् , स्वकम् | १८ संसार दुःख रहित, सुखधामा, विवेक |
| १९ अध्यात्म ज्ञान नित्यत्वम् | १९ सकल'''ग्याननिधाना। ग्यान | १९ बोध जथारथ वेद पुराना। कोविद |
| २० तत्वज्ञानार्थ दर्शनम् | २० विशुद्ध बोध, विज्ञान | २० अमित बोध, विग्याना, कवि, विगत संदेह |

"गुनागार" शब्दोंमें यह भाव है कि दूसरे लक्षण इतने हैं कि 'कहि न सकहिं श्रुति सारद तेते ॥" इस प्रकार गीता अध्याय १३ के वीस ज्ञान लक्षणोंका उल्लेख अत्रि, सुतीक्ष्ण और जटायु इन तीनोंकी विनयमें और श्रीरघुवीर-प्रोक्त साधु-गुरु लक्षणोंमें भी स्पष्ट किया गया है। यह है विस्तारसे वचके सिद्धान्त-तत्त्व प्रतिपादनकी मानस-कला-कौमुदीकी शीतलता और सुधामयता। (प० प० प्र०)।

नोट—१ 'सुनु मुनि संतन्हके गुन कहऊँ। ४५.६।' उपक्रम है और 'सुनु मुनि साधुन्ह के गुन जेते। ४६.८।' उपसंहार है। यहाँ प्रसंगकी समाप्ति की।

मुख्य 'प्रभु-नारद-संवाद' समाप्त हुआ।

छंद—कहि सक न सारद सेष नारद सुनत पदपंकज गहे।
अस दीनबंधु कृपाल अपने भगत गुन निज मुख कहे॥
सिरु नाइ बारहिं बार चरनन्हि ब्रह्मपुर नारद गए।
ते धन्य तुलसीदास आस बिहाइ जे हरि रँग रँए॥

दोहा—रावनारि जसु पावन गावहिं सुनहिं जे लोग।
रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग॥
दीपसिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सतसंग॥४६॥

अर्थ—'शारदा शेष नहीं कह सकते' यह सुनते ही नारदजीने प्रभुके चरणकमल पकड़ लिए। इस प्रकार दीनबंधु कृपालु प्रभुने अपने मुखसे अपने भक्तोंके गुणोंको ऐसा (महत्त्वका) कहा है। बारंबार चरणोंमें माथा नवाकर नारदजी ब्रह्मलोकको गए। तुलसीदासजी कहते हैं कि वे लोग धन्य हैं जो आशा छोड़कर हरिके प्रेम-रंगमें रँग गए हैं। जो लोग रावणके शत्रु श्रीरामजीका पवित्रयश गाते सुनते हैं वे बिना वैराग्य, जप और योगके ही दृढ़ रामभक्ति पाते हैं। युवा स्त्रीका शरीर दीपक (चिराग, दिया) की लौके समान है, अरे मन! तू उसका पतिंगा न बन। काम और मदको छोड़कर श्रीरामचन्द्रजीका भजन कर और सदा सत्संग करता रह॥४६॥

टिप्पणी—१ 'कहि सक न सारद सेष···' इति। (क) शारदा स्वर्गकी और शेष पातालके वक्ता हैं। जब ये ही न कह सके, तब मनुष्य कैसे कह सकते हैं? पुनः, (ख) शेषजीके हजार मुख हैं और सरस्वतीजी अनन्त मुखोंमें बैठकर कहती हैं, सो वे भी इतने मुखोंसे भी न कह सके। यथा 'बिधि हरि हर कवि कोविद

बानी । कहत साधु महिमा सकुचानी ।' उनमेंसे कुछ गुण श्रीरामजीने अपने मुखसे कहकर यह कहा कि 'कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते' । वा, स्वर्ग और पातालवाले नहीं कह सकते, रहा मर्त्यलोक सो इसमें आपने कुछ कहा है—'जानहिं राम न सकहिं बखानी' ( खर्रा ) । (ग) दीनबंधु और कृपालुका भाव कि आपके ही भजनसे इतनी बड़ाई मिलती है कि 'इनके गुण शेषशारदा भी नहीं कह सकते' । यह प्रभुकी दीनबंधुता है और कृपा कि स्वयं अपने मुखसे उनके गुण कहते हैं और बखान करते हैं ।

टिप्पणी—२ (क) साधुगणकी 'इति' लगाना अत्यन्त अगम्य है, इसीसे कविने भी दो बार कहा कि इनके गुण कोई नहीं कह सकता, यथा 'कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते' और 'कहि सक न सारद सेष' । (ख) इससे सन्तगुणकी अगाधता और अपारता तथा कहनेमें अत्यन्त असामर्थ्य जनाया ।

३ 'नारद सुनत पदपंकज गहे' इति । सुनकर चरणोंको पकड़नेका भाव कि ये सब गुण आपके इन चरणोंकी कृपासे ही प्राप्त होते हैं । ( इससे कृतज्ञता प्रकाश भी सूचित होता है ) ।

४ 'अस दीनबंधु कृपाल ... निज मुख कहे' इति । भाव कि ये संपूर्ण गुण आप ही देते हैं, यथा 'यह गुन साधन ते नहिं होई । तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई ।४.२१.६।', और आप ही अपने संतोंके गुणोंकी प्रशंसा करते हैं, स्वयं गुण देकर स्वयं ही उनपर रीझते हैं, ऐसे कृपालु हैं ।

५ 'सिर नाइ बारहिं बार ...' इति । जानेके समय स्वामीको प्रणाम करना उचित ही है । श्रीरामजीके मुखारविन्दसे सन्तलक्षण सुने, अतः परम कृतज्ञता और प्रेमके कारण बारबार माथा नवाते हैं । यथा "मो पहिं होइ न प्रति उपकारा । बंदउँ तव पद बारहिं बारा ।७.१२५।", 'पुनि पुनि प्रभु पद कमल गहि जोरि पंकरुह पानि । बोलीं गिरिजा बचन बर मनहुँ प्रेमरस सानि ।१.११६।', 'सुनत बिभीषन प्रभु कै बानी । नहिं अघात श्रवनामृत जानी ।। पद अंबुज गहि बारहिं बारा । हृदय समात न प्रेम अपारा ।' (५.४६.३-४) । पुनः, इससे जनाया कि इन चरणोंमें माथा नम्र होनेसे ब्रह्मलोक क्या कोई भी लोक अलभ्य नहीं है जहाँ चाहे वहाँ जा सकते हैं । पुनः, प्रभुका उपकार और अपना अपराध समझकर उसकी क्षमाके लिए भी बारंबार प्रणाम किया । 'आस बिहाइ' क्योंकि आशाके रहते हरिरङ्ग नहीं चढ़ता । [ 'ते धन्य आस ...'— यह धन्य होनेका साधन बताया । जिसमें यह लक्षण हो वही धन्य है । 'हरि रंग' अर्थात् प्रेमलक्षणा भक्ति । यह रंग जब अन्तःकरणरूपी पटपर चढ़ जाता है तब जीव धन्य हो जाता है । कृतकृत्य हो जाता है । अन्तःकरण भक्तिरसमय हो जाना चाहिए । यह कैसे हो ? इसका साधन अगले दोहेमें बताते हैं । (प०प०प्र०)]

प० प० प्र०—'रावनारि जसु पावन' इति । (क) बालकाण्डके उपसंहारमें 'राम जसु' और 'रघुबीर चरित' ऐसा कहा है—'मंगलायतन रामजसु' । यहाँ 'रावनारि जसु पावन' कहनेमें भाव यह है कि इस काण्डमें रावणसे वैर हो गया है । सीताहरण करनेसे वह वैरी हो गया है और यह वैर ( शत्रुत्व ) ही श्रीरघुवीर-यशकी परम सीमा प्राप्त कर देगा । (ख) इस काण्डमें ही शूर्पणखाविरूपीकरणमें रावण वैरका बीज बोया गया । वह सीताहरणमें वृक्षरूप बनकर फूला है । किष्किंधा और सुन्दरमें फल लगेगा, लंकामें फल परिपक्व होगा और उत्तरकाण्डमें उस फलका रसास्वाद मिलेगा । (ग) 'पावन' में भाव यह है कि रावणारि-यशका श्रवण वा गान करनेसे प्रथम अन्तःकरण निर्मल होगा, उसमेंसे कलिमल-मानसरोग हट जायेंगे । (घ) 'बिनु जप' का भाव कि राममंत्रके सिवा अन्य मन्त्रोंके जपकी आवश्यकता नहीं है । कारण कि रामचरित ही तो रामयश है । और 'रामचरित' तो 'राकेशकर' हैं और 'राम नाम राकेश' है । राकेशके बिना राकेशकर-निकरका अस्तित्व ही नहीं रहेगा । (ङ) सार यह है कि रावणारिका पावन यश सतत गाते सुनते रहनेसे विराग योग आदि सब कुछ अनायास ही आ प्राप्त होता है । तथापि एक बातमें परम सावधानता रखनी चाहिये । वह एक बात अगले दोहेमें कहते हैं ।

नोट—१ यह हरिगीतिका छन्द है । इसके प्रत्येक चरणमें २८ मात्राएँ और १६-१२ में विश्राम होता है और चरणान्तमें लघु गुरु वर्ण आते हैं ।

टिप्पणी—६ 'रावनारि जस पावन गावहिं···' इति। (क) यह तीन वक्तालोगोंकी इति लगी। गोस्वामीजीकी इति आगे है। (ख) रावणारियश पावन कैसे ? क्योंकि निष्कपट युद्ध है। क्षत्रियका काम है कि दुष्टोंको मारें और संतोंको सुख दें। यह उनका परम धर्म है; अतः पावन है। (खर्रा)। 'गावहिं सुनहिं जे लोग'=वक्ता और श्रोता दोनों, वर्णाश्रम कोई भी हो, इसमें सबका अधिकार जनाया। कैसा भी अधम क्यों न हो वह भी गा सुन सकता है। (ग) विना वैराग्य, जप और योगके ही दृढ़ भक्ति पानेका एक यही साधन है कि श्रीरामजीका यश कहे और सुने। जो 'जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावईं। रघुबीरचरित पुनीत निसि दिन दास तुलसी गावईं। ६ छंद।' में कहा था, वही बात यहाँ फिरसे कही। अंतर केवल इतना है कि वहाँ 'धर्म' कहा और यहाँ 'विराग'—यह कोई भेद नहीं है, क्योंकि वहाँ 'धर्म-समूह' पद है और धर्मसमूहसे वैराग्य होता ही है; यथा 'धर्मते बिरति जोग ते ज्ञाना'। इस प्रकार दोनों ठौर एक ही बात कही। पुनः, वहाँ बताया था कि समूह जप योग धर्म ये सब अनुपम भक्तिके साधन हैं; अतः यहाँ कहा कि इन साधनोंके विना ही दृढ़भक्ति 'रामयशके श्रवण कीर्तनसे' मिलती है।

नोट—☞ २ यह दोहा आशीर्वादात्मक है। गोस्वामीजी एवम् सभी वक्ता आशीर्वाद देते हैं कि श्रीरामयश कहने-सुननेसे विना जप, योग, वैराग्यके ही दृढ़ भक्ति हो जायगी।

३ अयोध्याकांडमें कहा था कि भरतचरित नियमसे सुननेसे श्रीसीयरामपदप्रेम और वैराग्य अवश्य होगा और यहाँ कहते हैं कि विना वैराग्य ही दृढ़ भक्ति मिलेगी।

टिप्पणी—७ 'दीपसिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग···' इति। (क) अब श्रीरामजीके उपदेशमें गोस्वामीजी अपनी इति लगाते हैं। 'अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि' ये वचन श्रीरघुनाथजीके हैं, इन्हीं वचनोंको लेकर इन्हींसे काण्डकी इति लगाई। पूर्व दोहेसे इसका संबंध लगाया। (ख) दीपशिखा देखनेमें सुन्दर है पर पतिंगोंको भस्म कर देती है। वैसे ही स्त्रीका शरीर देखनेमें सुन्दर है पर वह सब धर्म, कर्मोंको भस्म कर देती है। (ग) यह प्रसंग कहकर जनाया कि इसी कारण रावण कुल-समेत मारा गया। (घ) इस उपदेशसे यह भी जनाते हैं कि प्रभुके स्त्री-विरहपर दृष्टि न करो, वरन् उनका भजन करो। बाल और वृद्धावस्थामें स्त्रीका तन दीपशिखासम प्रकाशमान नहीं होता, युवावस्थामें ही होता है। अतएव 'युबति तन' पद दिया गया।

प० प० प्र०—'दीपसिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।' इति। याज्ञवल्क्योपनिषद्‌के इस श्लोकसे मिलान कीजिये—'केश कज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचन प्रियाः। दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम्।१०।' इस श्लोकमें 'अग्निशिखा' शब्द है और यह दुष्कृताग्नि है। इस श्लोकके आधारसे ऊपरकी उपमाका विकास करना सुलभ है। (२) यहाँ शंका होगी कि 'दीपशिखा पर कूदनेसे पतंग मर जाता है या दीप बुझ जाता है। इसमें हानि क्या है?' पर ध्यानमें रखना चाहिये कि यहाँ मन पतंग है। पुरुषका शरीर पतंग नहीं है। मन तो ऐसी विलक्षण वस्तु है कि वज्र, ब्रह्मास्त्र, ऐटम बाम्बसे भी नहीं मरता है। स्त्रीरूपी दीपशिखा भी ऐसी है कि मनरूपी पतंगके उसपर आसक्त होनेसे वह मरेगी ही नहीं। पर प्रत्येक वारके संसर्गसे मन अधिकाधिक मैला होता जायगा।

टिप्पणी—८ 'भजहि राम तजि काम मद' इति। (क) काम और मद भक्तिके बाधक हैं और सत्संग साधक है। अतः उसका त्याग और इसका ग्रहण कहा। (ख) भाव कि इन्हीं काम और मदमें पड़नेसे नारद-सरीखे महात्माकी दुर्दशा हुई थी। (ग) 'करहि सदा सतसंग', यथा 'तुलसी घट नव-छिद्र-को सतसंगति-सर बोरि। बाहर रहै न प्रेम-जल कीजै जतन करोरि।' तनरूपी घट नवछिद्रका है। यह जलमें डूबा रहे तभी भरा रहता है नहीं तो करोड़ों उपाय करो उसमें बूँदभर भी जल नहीं रह सकता।

नोट—४ सत्संगतिसे भजन बराबर होगा, मनुष्य संसारसे सदा मुक्त रहेगा, मोह पास न आवेगा, यथा 'बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग।' (७.६१)।

दृढ़ अटल प्रेम बना रहे इसके लिये सत्संग आवश्यक है । पुनः 'सत्संगति संसृति कर अंता' । यही कारण है कि शिवजी आदिने भी सत्संग-प्राप्तिका वर माँगा है; यथा 'बार-बार वर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग । पद सरोज अनपायनी भक्ति सदा सतसंग ।७.१४।', "यत्रकुत्रापि मम जन्म निजकर्मबस भ्रमत जग जोनि संकट अनेकं । तत्र त्वद्भक्ति सज्जन समागम सदा भवतु मे राम विश्राममेकं ।" (विनय), "त्वच्चरणाचलां भक्तिं त्वज्जनानाञ्च संगमम् । देहि मां कृपासिन्धो मह्यं जन्मनि जन्मनि ।" 'दृढ़' का भाव कि समय पाकर भक्ति छूट जाती है पर यश कहते सुनते रहनेसे वह अन्तःकरणमें जम जाती है, फिर नहीं छूटती ।

रा० प्र०—इस काण्डमें अद्भुतरस कहा है । सींकके बाणसे जयन्तको शिक्षा, खर आदिका आपसमें ही लड़ मरना, कनकमृग, ये सभी अद्भुत ही कथायें हैं ।

प० प० प्र०—उपसंहार—(१) स्वान्तस्थ मंगलायतन परमात्माके अवतार मंगलमूलत्व और मंगलमयत्वका वर्णन बालकांडमें किया (बा० मंगल १) । उनकी प्राप्तिके लिये विश्वासयुक्त श्रद्धाजनित धर्माचरणसे वैराग्य प्राप्त करना चाहिये यह अयोध्याकाण्डका विषय है । (बा० मंगल २) । (२) वैराग्य प्राप्तिके लिये सद्गुरुरूपी शंकरजीका आश्रय करनेपर मायाके विनाशका साधन, संत-सद्गुरु-संगति और सद्गुरुकृपाप्राप्तिसे ज्ञानलाभ, मायाविनाश मोहनाश और मोहनाशका फल रामपद अनुराग प्राप्त करना है । ( बा० मंगल ३ ) । पर यह सब प्राप्त होनेके लिये सद्गुरु कृपासे रामनामरूपी सोमकी प्राप्ति ही करनी चाहिये । अतः किष्किंधाकाण्डका उपन्यास भी इस काण्डके ४२ वें दोहेमें कर रखा है । उसीका उपक्रम मंगलाचरणरूपसे किष्किंधाकाण्डके प्रथम श्लोकद्वयमें किया गया है । प्रथम श्लोकमें उलटे रामनामका और दूसरेमें सीधे 'राम' नामका । यह उन श्लोकोंकी टीकामें स्पष्ट किया है ।

इति श्रीरामचरितमानसे सकल कलिकलुषविध्वंसने विमलवैराग्य

सम्पादनो नाम तृतीयः सोपानः

अर्थ—सम्पूर्ण कलिके पापोंका विनाश करनेवाला और निर्मल वैराग्यका सम्पादन कर देनेवाला श्रीरामचरितमानसका तीसरा सोपान ( अरण्यकांड ) समाप्त हुआ ।

## ( प्रभु-नारद-संवाद-प्रकरण समाप्त हुआ )

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

( दूसरा संस्करण ) गुरुपूर्णिमा आषाढ़ शुक्ल १५ सं० २०१० वि०, २६ जुलाई १६५३ को प्रकाशित हुआ ।

श्री खरदूषणादिनिधनकारी, भक्तहृत्तापहारी श्रीसीतापरिमार्गणे-काननविहारी

श्रीरावणारि श्रीरघुवीर की जय ! श्रीसन्त-भगवन्त-गुरु-हनुमत्कृपालूकी जय !

यह तीसरा संस्करण श्रीजानकीजयन्ती वै० शु० ६, सं० ०१५ को प्रकाशित हुआ ।

श्रीसीतारामचन्द्रर्पणमस्तु

यो नित्यमच्युत पदाम्बुज युग्मरुक्म व्यामोहतस्तदितराणि तृणायमेने । अस्मद्गुरोर्भगवतोऽस्य दयैकसिन्धोः श्रीरूपकलाब्जचरणौ शरणं प्रपद्ये ।

* श्रीलक्ष्मणाय नमः *

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

# मानस-पीयूष

( श्रीरामचरितमानस का संसार में सबसे बड़ा तिलक )

## चतुर्थ सोपान ( किष्किंधाकांड )

श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासजीकी रामायणपर काशीके सुप्रसिद्ध रामायणी श्री पं० रामकुमारजी, पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज (व्यास), श्रीरामायणी रामबालकदासजी, एवं श्रीमानसी बंदनपाठकजी आदि साकेतवासी महानुभावोंकी अप्राप्य और अप्रकाशित टिप्पणियाँ एवं कथाओंके भाव; बाबा श्रीरामचरणदासजी ( श्रीकरुणासिंधुजी ), श्रीसंत-सिंहजी पंजाबी ज्ञानी, देवतीर्थ श्रीकाष्ठजिह्व स्वामीजी, बाबा श्रीहरिहरप्रसादजी ( सीतारामीय ), श्रीहरिदासजी, पांडे श्रीरामबख्शजी, श्री पं० शिवलाल पाठकजी, श्रीबैजनाथजी आदि पूर्व मानसाचार्यों टीकाकारोंके भाव; मानस राजहंस पं० विजयानंद त्रिपाठीजी तथा प० प० प्र० श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजीके अप्रकाशित टिप्पण; आजकलके प्रायः समस्त टीकाकारोंके विशद एवं सुसंगत भाव तथा प्रो० श्रीरामदासजी गौड़ एम० एस-सी०, प्रो० लाला भगवान-दीनजी, प्रो० पं० रामचन्द्रजी, शुक्लजी, पं० यादवशंकरजी जामदार रिटायर्ड सबजज, श्रीराजबहादुर लम-गोड़ाजी, श्रीनंगेपरमहंसजी ( बाबा श्रीअवधविहारी-दासजी ) और बाबा जयरामदास दीनजी आदि स्वर्गीय तथा वेदान्तभूषण साहित्यरत्न पं० रामकुमारदासजी आदि आधुनिक मानसविज्ञोंकी आलोचनात्मक व्या-ख्याओं का सुंदर संग्रह ।

तृतीय संस्करण

संपादक एवं लेखक

श्रीअंजनीनन्दनशरण

मानसपीयूष कार्यालय, श्रीअयोध्याजी

मार्गशीर्ष शु० ५ सं० २०१५ ]



मूल्य ७॥)

* श्री भरताय नमः * श्रीशत्रुघ्नाय नमः *

श्रीहनुमते नमः श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासायनमः श्रीरूपकलादेव्यै नमः

# आवश्यक निवेदन

'मानस-पीयूष' तिलकमें रुपयेमें लगभग बारह आना सामग्री अप्रकाशित टिप्पणियाँ हैं। साकेतवासी पं० रामकुमारजी, प्रो० श्रीरामदासगौड़जी, प्रो० श्रीलाला भगवानदीन ('दीन' जी), पं० रामचरण मिश्र ( भयस्मरी; हमीरपुर ) श्री० पं० रामवल्लभाशरणजी, मानसी श्रीवन्दनपाठकजी आदिके नामसे जो भाव इसमें दिये गए हैं वे प्रायः सब अप्रकाशित टिप्पण हैं। श्रीरामशंकरशरणजी, श्री पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी, श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी, श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजी, वे० भू० पं० रामकुमारदासजी ( श्रीअयोध्याजी ) ने जो भाव मानस-पीयूषमें छपनेके लिये लिख भेजे थे, वे भी उनके नामसे इसमें छपे हैं। इसके अतिरिक्त जो उनकी टिप्पणियाँ पत्रिकाओंसे ली गई हैं, उनमें प्रायः पत्रिकाओंका नाम दे दिया गया है। प्राचीन प्राप्य और अप्राप्य टीकाओंके भाव हमने अपने शब्दोंमें लिखे हैं।

'मानस-पीयूष' में जो कुछ भी आया है उसका सर्वाधिकार 'मानस-पीयूष' को प्राप्त है। जिनकी वे टिप्पणियाँ हैं उनके अतिरिक्त किसीको भी इसमेंसे कुछ भी लेनेका अधिकार नहीं है।—यह लिखने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि पुस्तक-भंडार ( लहेरियासराय व पटना ) के व्यवस्थापक रायबहादुर रामलोचनशरणने पं० श्रीकान्तशरणसे ( विशिष्टाद्वैत ) 'सिद्धांत-तिलक' लिखवाकर प्रकाशित किया था, वह 'मानस-पीयूष' के प्रथम संस्करणकी ही चोरी थी। पटना उच्च न्यायालयके एक निर्णयसे उसका छपना तथा विक्रय करना दण्डनीय निश्चित किया गया है। लेखकों एवं विद्वानों को इस कारण इस सम्बन्धमें सतर्क होनेकी आवश्यकता है। 'वेदोंमें रामकथा' पुस्तकमें लेखक महोदय लिखते हैं—"बहुतोंको साहित्यिक चोरी करनेका चस्का लग जाता है, किसीकी कविता उड़ा लेना साधारण बात हो चुकी है। त्यागी विरक्तसाधु कहानेवालोंको तो ऐसी मनोवृत्ति सर्वथा पतित कर देती है। कुछ लोग तो अपने परिचितोंमें प्रतिष्ठा पानेके लोभसे दूसरोंकी पूरी पुस्तककी पुस्तक अपने नामसे प्रकाशित करके बेंचते या बाँटते हैं।" यह लिखकर फिर उन्होंने उसके कुछ प्रमाण भी दिये हैं।

लेखको पढ़कर मुझे आँखों देखी बात याद आ गई कि चोरी करनेवालेको उसे छिपानेके लिये लज्जा छोड़कर एक झूठके लिये सैकड़ों झूठ बनाने और कहने पड़ते हैं, फिर भी क़लई खुल जाती है। जिनको चोरीकी लत है वे चोरी करेंगे ही, रुपयेवालोंसे कौन लड़ता फिरेगा। पर साहित्यज्ञ लोग जो Research Scholars हैं और होंगे वे पता लगा ही लेंगे।

—अंजनीनन्दनशरणजी।

( दूसरे संस्करणके सम्बन्धमें )

## दो शब्द

'मानस पीयूष' का प्रकाशन जिस कठिनाईसे अबतक हुआ और हो रहा है यह कुछ घनिष्ट संबंध रखनेवाले प्रेमियोंको छोड़कर अन्य लोगोंको नहीं मालूम हो सकता। यह श्रीअंजनीनंदनजी तथा श्रीगुरुदेवजी की असीम कृपासे प्रकाशित हो रहा है। 'स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदर दियेउ।'

'मानस पीयूष' के कतिपय प्रेमियों और संतोंके आशीर्वादों और प्रार्थनाओंसे भगवान् कार्यके लिये शक्ति दे रहे हैं, नहीं तो इस अत्यन्त रुग्णावस्थामें भला यह महान् कार्य कौन कर सकता है ?

प्रकाशनमें बहुत ऋण हो जानेसे कभी-कभी जी घबड़ा जाता था। पर श्रीसीतारामजीकी कृपा भी उन अवसरोंपर प्रत्यक्ष देखनेमें आती थी जिससे साहसपूर्वक कार्य बराबर जारी रहा और अब भी चल रहा है।

स्वर्गीय श्रीआनन्दकृष्णजीकी माता श्रीमती चन्दा देवीने अपनी इच्छा प्रकट की कि वे अपने पुत्रके नामपर कुछ रुपया किसी धर्मकार्यमें लगाना चाहती हैं। मैंने उनके सामने यह प्रस्ताव रक्खा कि वे किष्किंधाकांडको छपा दें। उन्होंने तथा उनके पुत्र चिरञ्जीवी श्रीगोपालकृष्णजीने मेरे प्रस्तावको स्वीकार किया।

इस तरह श्रीसीतारामकृपासे किष्किंधाकांडका यह संस्करण श्रीआनन्दकृष्णजीकी वृद्धा तथा दुःखी माताने उनकी आत्माकी शान्ति के लिए उनकी ही पवित्र स्मृतिमें श्रीभगवत् अर्पण किया है।

श्री आनन्दकृष्णजी बी० ए० ( आनर्स ), एम० ए०, बलरामपुर ( गोंडा ) निवासी स्वर्गीय श्री रामरत्नलाल, डिप्टी कलेक्टर के ज्येष्ठ पुत्र श्री त्र्यम्बकेश्वरलाल बी० ए०, एल-एल० बी०, ला ऐण्ड ट्रेजरी आफिसर, बलरामपुर राज्यके कनिष्ठ पुत्र थे। इनका जन्म बलरामपुरमें १६।४।१९२२ ई० को हुआ था। ये सरल, कर्तव्यपरायण और सच्चरित्र थे।

१९३८ में इनके पिताका और १९४० में इनके सबसे बड़े भाई श्रीबालकृष्णजी एम० ए० का ( जो उस समय केवल २४ वर्षके थे ) देहान्त हो गया। सन् १९४१ में इन्होंने इन्टरमिडियेट, सन् '४३ में बी० ए०, सन् '४४ में ( बी० ए० ) आनर्स और १९४५ में इकानमिक्समें लखनऊ विश्वविद्यालयसे एम० ए० की परीक्षा पास की। उसी वर्ष लखनऊके इसाबेला थाबर्न ( गर्ल्स ) कालेजमें इकानमिक्स प्रोफेसरका स्थान रिक्त हुआ। कालेजकी प्रिन्सिपलने कोई महिला न मिलनेके कारण लखनऊ विश्व-विद्यालयके इकानमिक्स विभागके अध्यक्ष श्रीराधाकमल मुकर्जीसे किसी योग्य युवककी माँग की। श्रीमुकरजी इनके सच्चरित्र तथा पढ़ाई पर ऐसे मुग्ध थे कि उन्होंने इनसे बिना पूछे ही लिख दिया कि आनंदकृष्णको नियुक्त कर दिया जाय। इसके उपरान्त उन्होंने इन्हें भी लिखा कि इस पदको स्वीकार कर लो। गुरु आज्ञा मानकर इन्होंने यह पद स्वीकार कर लिया और नियमपूर्वक पाँच वर्षतक वहाँ पढ़ाते रहे।

इस कालेजमें ऐसी व्यवस्था है कि पाँच वर्ष तक निरन्तर पढ़ाने के बाद वहाँके अध्यापकोंको एक वर्षका 'फरलो' मिलता है। जुलाई सन् '५१ से इन्हें भी 'फरलो' मिलनेको था और इस संबंधमें इनके सामने दो बातें थीं। एक यह कि प्रयाग विश्वविद्यालयमें रिसर्च करें और दूसरा यह कि विदेश जाकर अमेरिकामें इकानमिक्स विषयको आगे पढ़ें। किन्तु गर्मियोंकी छुट्टीमें जब ये बलरामपुर १९ मई को आए, ईश्वरीय गतिसे ये ३० मई को बीमार पड़ गए और १४ जून १९५१ ई० को केवल २९ वर्षकी ही अवस्थामें उनका देहान्त हो गया।

बीमारीकी अवस्थामें भी ये बहुत शान्त रहे। १२ जून ५१ की संध्या समय उनका ज्वरताप १०६ डिगरी था, उस समय इन्होंने अपने भाई श्रीगोपालकृष्णजीसे एकान्तमें कुछ देर तक बातें कीं, फिर बड़ी भाभी, बहिन तथा मातासे बातें कीं और उनको समझाते रहे कि घबड़ाएँ नहीं। सिविल सर्जनके आने और आश्वासन देनेपर उन्होंने हँसते हुए यही कहा कि शुद्ध वायु, श्रीसरयूजल और राम नाम ही मेरा उपचार है। रामनाम लेते ध्यान करते हुए उन्होंने इस नश्वर शरीरको छोड़कर नित्य धामको प्रस्थान किया।—

श्री आनन्दकृष्णजी तो मेरी समझमें मुक्त जीव थे और अंतमें भी वे श्रीरामधामको प्राप्त हुए तथापि लोकव्यवहारानुसार हमारी प्रार्थना है कि श्रीसीतारामजी उनकी आत्माको तथा उनकी दुःखी वृद्धा माता और परिवारको शान्ति दें। श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः।

अंजनीनंदन शरण

## तृतीय संस्करणके सम्बन्धमें

साकेतवासी श्री पं० रामकारजीका मत है कि किष्किन्धाकाण्डमें सातो काण्डोंकी कथा आ जाती है, इसलिए इसके पाठसे सातो काण्डोंका पाठ हो जाता है। सुन्दरकाण्ड श्रीहनुमान्जीको प्रिय है। वे इसके पाठसे प्रसन्न होते हैं। किष्किन्धाकाण्डकी फलश्रुति है—'तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि।' और सुन्दरकाण्डमें हनुमच्चरितकी फलश्रुति है—'यह संवाद जासु उर आवा। रघुपति चरन भगति सोइ पावा।३४।४।' काण्डके अन्तमें फलश्रुति है—'सकल सुमंगल दायक रघुनायक गुनगान। सादर सुनहिं ते तरहिं भवसिंधु बिना जलजान॥'

अतएव ये दोनों काण्ड छोटे और बड़े महत्वके होनेसे विशेष जनप्रिय हैं। इन काण्डोंके 'मानस-पीयूष' तिलकका मूल्य भी कम है, अतः इसकी माँग विशेष रहती है।

सन् १९५८ के प्रारंभमें ही इसकी प्रतियाँ बहुत कम रह गई थीं। पूरा सेट खरीदनेवालोंको देना परम आवश्यक समझकर तबसे किष्किंधाकांडकी फुटकर बिक्री बन्द रही। हरि इच्छा। अस्तु।

सुन्दरकाण्डमें सुन्दरकाण्डके पाठकी विधि जो अनन्त श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसाद (श्रीरूपकला) जीने प्रेमियोंको बताई थी, छपा दी गई थी। इस काण्डकी फुटकर विशेष बिक्री होती है, इसलिये इसमें भी जनता के हितार्थ मानसके कुछ मंत्र इस काण्डके अन्तमें प्रकाशित किये देता हूँ। ये वे मंत्र हैं जो अनन्त श्रीगुरुदेवजीने यदा-कदा उनके पास आए हुए आर्त्तजनोंको जपनेको बताये थे जिनसे उनके मनोरथ पूर्ण हुए थे।

जिन प्रेमियोंको इनसे लाभ पहुँचे वे इस दीन (संपादक) के लिए श्रीयुगल सरकार श्रीसीताराम-जीसे प्रार्थना कर दें कि इस दीनको अपने चरणकमलोंका मधुकर बना लें।

☞ मेरे नेत्र कमजोर होनेसे इस संस्करणका प्रूफ प्रायः इस शरीरसे सम्बंध रखनेवाली पुत्री श्रीमती मीरादेवीने ही देखा है, भगवान् उसको अपनी भक्ति दें।

दीन—अंजनीनन्दन शरण।

श्रीगुरवे नमः

# प्रकरणोंकी सूची



☞संकेताक्षरोंका विवरण भी प्रायः वही है जो सुंदर-कांडका है।

## किष्किन्धा काण्डके संस्करण

| संस्करण | आकार | प्रकाशनकाल | प्रेस |
|---|---|---|---|
| प्रथम | डेमाई अठ पेजी | तु० सं० ३०८ | श्रीसीताराम प्रेस, काशी। |
| द्वितीय | २० × ३० / ८ | आश्विन शुक्ल सं० २०११ | " |
| तृतीय | " | मार्गशीर्ष शुक्ल ५, सं० २०१५ सन् १९५८ | राष्ट्रभाषामुद्रणालय, लहरतारा, वाराणसी—४ |

## बालकांड भाग २ (ख) के संस्करण

| | | |
|---|---|---|
| प्रथम संस्करण | तु० सं० ३०६, श्रावण शुक्ल ७ संवत् १९८५ | श्रीसीताराम प्रेस, काशी। |
| द्वितीय संस्करण | अगस्त सन् १९५३ | " |
| तृतीय संस्करण | भाद्र शुक्ल श्रीवामन द्वादशी सन् १९५८, सम्वत् २०१५ | राष्ट्रभाषा मुद्रणालय, लहरतारा, वाराणसी—४ |

# शब्दों तथा कुछ स्मरण रखने योग्य बातों की अनुक्रमणिका

॥ श्रीः ॥

ॐ नमो भगवते श्रीमते रामानन्दाचार्याय ।

श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचन्द्राय नमः ।

ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्य्यायै श्रीरूपकलादेव्यै ।

श्रीसद्गुरुभगवच्चरणकमलेभ्यो नमः ।

ॐ नमो भगवते मङ्गलमूर्तये कृपानिधये गुरवे मर्कटाय श्रीरामदूताय सर्वविघ्नविनाशकाय क्षमामन्दिराय शरणागतवत्सलाय श्रीसीतारामपदप्रेमपराभक्तिप्रदाय सर्वसंकटनिवारणाय श्रीहनुमते ।

ॐ साम्बशिवाय नमः । श्रीगणेशाय नमः । श्रीसरस्वत्यै नमः ।

परमाचार्य्याय श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासाय नमः ।

श्रीरामचरितमानसाखिलटीकाकर्तृभ्यो नमः ।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गत नानाविधभावाधारग्रन्थकर्तृभ्यो नमः ।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गत नानाविधभावसूचकमहात्मभ्यो नमः ।

सुप्रसिद्ध मानसपंडितवर्य्य श्रीसाकेतवासी श्रीरामकुमारचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

अथ श्री

# मानसपीयूष

( नामक तिलक सहित )

# श्रीरामचरितमानस चतुर्थ सोपान

## ( किष्किन्धाकाण्ड )

**कुंदेंदीवर सुंदरावतिबलौ विज्ञानधामावुभौ । शोभाढ्यौ वरधन्विनौ श्रुतिनुतौ गोविप्रवृंदप्रियौ ॥**
**माया मानुष रूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हितौ । सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ भक्तिप्रदौ तौ हि नः ॥ १ ॥**

शब्दार्थ—कुंद—जुहीकी तरहका एक पौधा जिसमें सफेद फूल लगते हैं जिनमें बड़ी मीठी सुगंध होती है । गौरवर्णकी उपमा इससे देते हैं, यथा—'कुंद इंदु सम देह उमारमन करुनाअयन । बाल मं० सो० ४ ।' इंदीवर = नीलोत्पल, नील कमल । सुंदर = मनोहर, यथा—'सुंदरं मनोहरं रुचिरं इत्यमरः' । उभौ = दोनों । आढ्य = संपन्न, पूर्ण, युक्त । शोभाढ्य = शोभाके सब अंगोंसे परिपूर्ण । शोभाके अंग, यथा—'द्युति लावण्य स्वरूप पुनि सुन्दरता रमणीय । कान्ति मधुर मृदुता बहुरि सुकुमारता गणीय ॥' धन्वी, धन्विन् = धनुर्धर, धनुर्विद्यामें पूर्ण निपुण । नुत = स्तुत, प्रशंसित, जिसकी स्तुति या वंदना की गई हो । वर्म = कवच, जिरा-बख्तर । अन्वेषण = खोज, ढूँढ । पथि = पंथमें । मार्गमें ।

अर्थ—कुन्दके पुष्प और नीलकमलके समान सुंदर, अत्यन्त बलवान, विज्ञानके धाम, शोभा-संपन्न, श्रेष्ठ धनुर्धर, वेदोंसे स्तुत्य, गौ और ब्राह्मणवृंद जिनको प्रिय हैं एवम् जो उनके प्यारे हैं, 'माया' से मनुष्य रूप धारण किए हुए, रघुकुलमें श्रेष्ठ, सद्धर्मके लिए कवचरूप (अर्थात् उसके रक्षक, उसपर चोट न आने देने वाले), हितकारी, श्रीसीताजीकी खोजमें तत्पर, मार्गमें प्राप्त दोनों रघुवर श्रीलक्ष्मणजी और श्रीरामजी हमको निश्चय ही भक्तिके देनेवाले हैं । १ ।

गौड़जी—इस छन्दमें कुछ लोग व्याकरणकी भूल देखते हैं। उनका कहना यह है कि यहाँ साधारण व्याकरणकी दृष्टिसे 'धामानौ' 'वर्म्माणौ' होना चाहिये था, क्योंकि 'धा' और 'वृ' धातुओंमें 'मनिन्' प्रत्यय साधारणतया लगानेकी प्रथा है। प्रमाण है, 'सर्व धातुभ्यो मनिन्' (उणादि ४।१४५)। परन्तु 'उणादयो बहुलम्' (पाणिनि ३।३।१) के प्रमाणसे 'मन्' प्रत्ययान्त धर्म शब्दकी तरह 'धाम' और 'वर्म्म' यह अकारान्त शब्द भी सिद्ध हो सकते हैं। द्विरूपकोषप्रकारके सिद्धान्तसे 'नान्त-सान्ताःसर्वे अदन्ता' सभी 'न्' और 'स्' से समाप्त होनेवाले शब्द अदन्त अर्थात् अकारान्त माने जा सकते हैं। पुराणोंमें इसके उदाहरण मिलते हैं। इन दोनों प्रमाणोंसे 'धामौ' और 'वर्मौ' दोनों शुद्ध हैं।

'धामानौ' साधारणतया शुद्ध है, प्रसिद्ध है, और 'धामौ' अप्रसिद्ध; अतः अप्रसिद्ध दोष आता है सही, परन्तु 'अपि मापमषं कुर्यात् छन्दोभंगन्नकारयेत्' इस प्रमाणसे यहाँ भारी दूषणसे बचनेको यह छोटा दूषण नगण्य है। साथ ही यह अप्रसिद्धि वैयाकरणोंके निकट है। भाषा पाठकोंके निकट नहीं।

टिप्पणी—१ (क) कुंदके समान गौर वर्ण श्रीलक्ष्मणजी और नीलकमल समान श्यामवर्ण श्रीरामचंद्रजी। यथा—'गौर किसोर बेपु वर काछें।....लछिमन नाम राम लघु भ्राता।१।२२१', 'स्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभु०।५।१०।' (ख) दोनों सुंदर हैं, यथा—'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक।१।२१६।' और 'इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा।१।२१६।' (ग) दोनों अतिबली हैं, यथा—'छन महँ सबहि हते भगवाना', 'राजन रामु अतुल बल जैसें। तेजनिधान लषन पुनि तैसें॥ कंपहिं भूप बिलोकत जाकें। जिमि गज हरिकिसोर के ताकें॥ १।२९३।'; 'लषन लखेउ रघुवंसमनि ताकेउ हर कोदंड। पुलकि गात बोले वचन चरन चापि ब्रह्मंड। १।२५९।' (घ) दोनों विज्ञानधाम हैं, यथा—'संग सुबंधु पुनीत प्रिया मनो धर्म क्रिया धरि देह सुहाई। राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाउ कि नाई॥ कवितावली २।१।', 'सर्वगुन-ज्ञान-विज्ञानसाली' (वि० ५५)। विशेष 'श्रुतिनुतौ' में देखिए। (ङ) दोनोंमें पूर्ण शोभा है, यथा—'सोभासींव सुभग दोउ बीरा।१।२३३।' (च) 'वरधन्विनौ' अर्थात् दोनों उत्तम धन्वी हैं, यथा—'कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता। धन्वी सकल लोक बिख्याता।६।४६।' (छ) दोनों श्रुतिसे प्रशंसा किए गए हैं, यथा 'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप....।७।१३।', 'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं दिनकर बंस उदारा। १।१८७।' [ब्रह्मही चार रूपसे प्रकट हुआ है, यथा—'ततः पद्मपलाशाक्षः कृत्वात्मानं चतुर्विधम्। पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम्। वाल्मी० १।१५।३१।', 'अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत्सुतौ। वीरौ सर्वास्त्रकुशलौ विष्णोरर्धसमन्वितौ। वाल्मी० १।१८।१४।', 'चतुर्धात्मानमेवाहं सृजामीतरयोः पृथक्। अ० रा १।२।२७।', 'कथं लोकाश्रयं विष्णुं तोलयेत्क्षुद्रराक्षसः। अ० रा० ६।६।१२।' (लक्ष्मणजीको रावणने उठाना चाहा था, उस समय वक्ता उनको 'लोकाश्रय विष्णु' कहकर जना रहे हैं कि ये विष्णु ही हैं)। अतः इस स्तुतिमें श्रीलक्ष्मणजीकी भी स्तुति आ गई।] (ज) गोविप्रवृन्दप्रियौ, यथा—'भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल। करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जगजाल। २।९३।', 'प्रभु ब्रह्मन्य देव मैं जाना', ('सेष सहससीस जगकारन। जो अवतरेउ भूमिभयटारन।', 'तुम्ह प्रभु सब देवन्हि निस्तारा। ६।७६।' भूमिभय दूर करनेसे प्रिय हैं)। (झ) मायामानुषरूपिणौ, यथा—'कृपासिंधु मानुष तनु धारी', 'माया मनुष्यं हरिं'—(सुं० मं० १), 'अंसन सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत-सुख-दाता। १।१५२।' (ञ) सद्धर्मवर्म्मौ हितौ = निश्चय करके उत्तम धर्मके बख्तर और सबके हितकारी। यथा—'धर्म वर्म नर्मद गुणग्रामः। ४।११', 'जयति सीतेससेवासरस विषयरसनिरस निरुपाधि धुरधर्मधारी। वि० ३८।', 'तनु धनु धाम राम हितकारी। ७।४७।', 'लाड़िले लषनलाल हित हौ जन के। वि० ३७।' (ट) सीतान्वेषणमें दोनों तत्पर हैं, यथा—'पुनि सीतहिं खोजत दोउ भाई। ३।३३।' (ठ) पथिगतौ, यथा—'चले बिलोकत बन बहुताई। ३।३३।' और, (ड) भक्तिप्रदौ हैं, यथा—'सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सियरघुबीरचरन रति होहू। २।९४।' (लक्ष्मणजी); 'भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा। जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा। ७।८५।' (श्रीरामजी)।

टिप्पणी—२ कुन्द आदि विशेषणोंके क्रमका भाव। कुन्द और कमल फूल हैं। फूलके समान सुन्दर और कोमल कहनेसे बलमें शंका न हो इसलिए 'अति बलौ' कहा। बलवान् होनेसे अहंकार होकर ज्ञान नष्ट हो जाता है, इस शंकाके निवारणार्थ 'विज्ञानधाम' कहा। विज्ञानी लोग शोभासे युक्त होते हैं, अतः 'शोभाढ्यौ' कहा। [अथवा, 'विरहसे संतप्त पुरुष 'अति बली' कैसे होगा ?' इसके निराकरणार्थ 'विज्ञानधाम' कहा। अर्थात् वे सब जानते हैं कि श्रीजानकीजी कहाँ हैं और कैसे मिलेंगी। कैसे जानें कि वे सब जानते हैं, इसके उत्तरमें 'शोभाढ्यौ' कहा। अर्थात् न जानते होते तो चिन्तासे शरीर कान्तिहीन हो जाता। (मा० म०)] शोभासे युक्त देखकर वीरतामें सन्देह वा धोखा न हो जाय; इससे 'वरधन्विनौ' कहा। ये सब बातें एकसाथ मनुष्यमें होनी असंभव हैं; अतएव 'श्रुतिनुतौ' कहकर ईश्वरता सूचित की। ['वरधन्विनौ' कहकर 'श्रुतिनुतौ' कहनेका भाव कि धनुर्विद्या वेदसे निकली है, वही वेद इनकी स्तुति करता है। जो वेदधर्मके प्रतिकूल हैं उनको ये दंड देते हैं। (मा० म०)] वेद स्तुति करते हैं। ऐसे महान् होनेपर भी गौ और विप्र प्रिय हैं; अतः 'गोविप्रवृन्दप्रियौ' कहा। [इस विशेषणमें बड़ी विशेषता यह है कि यज्ञके समय मंत्रोंके साथ जो आहुति अग्निमें डाली जाती है वह परमेश्वरतक पहुँचती है, परन्तु इस आहुतिके मुख्य कारण गौ और ब्राह्मण हैं; ब्राह्मण मंत्र उच्चारण करते हैं और गायके घीसे आहुति दी जाती है। इसीसे दोनों प्रिय हैं।—(र० ब०)। (ख)—'वृन्द' पद देनेका भाव यह है कि ब्राह्मणों और गौओंकी वृद्धि आप सदा चाहते हैं, इनके झुण्डकेझुण्ड देखकर आपको हर्ष होता है। नहीं तो 'वृन्द' शब्द की कोई आवश्यकता न थी] 'गोविप्रवृन्दप्रियौ'की पुष्टताके लिए 'माया मानुषरूपिणौ' कहा अर्थात् ये प्रिय हैं, अतः इनका दुःख हरनेके लिए अवतार लिया। यथा, 'विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।' 'रघुवरौ' का भाव यह कि रघुकुलमें हरिश्चन्द्र आदि बहुतसे राजा सद्धर्म करनेवाले हुए पर उनमें ये श्रेष्ठ हैं, इसीसे 'सद्धर्मवर्म्मौ' कहा और 'सीतान्वेषणतत्परौ, पथिगतौ' कहकर उस धर्मरक्षाका कार्य प्रत्यक्ष दिखाया; क्योंकि पतिव्रता स्त्रीकी खोज करना पतिका धर्म है। इतना स्तव क्यों करते हैं ? इसका कारण अंतमें देते हैं 'भक्तिप्रदौ' अर्थात् ये दोनों भाई हमको भक्तिके देनेवाले हैं।

वि० त्रि०—'कुंदेन्दीवरसुंदरौ' इति। फूलसे ही उपमा देनेका भाव यह है कि भगवान् मारुती-को दोनों सरकार कुन्देन्दीवर फूलोंकी भाँति ही मृदुल मनोहर सुन्दर दिखाई पड़े, और उनका आतप वात सहना, कठिन भूमिपर कोमलपदगामी होना, हनुमान्‌जीसे सह्य न हुआ, और फिर उन्हें एक पग भी पैदल नहीं चलने दिया,—'लिये दोउ जन पीठि चढ़ाई।'

पथिगतौ भक्तिप्रदौ—सरकार रास्ता चलते चलते जिस भाँति भक्ति वितरण करते चलते थे उस भाँति अयोध्यामें रहते हुए भक्ति वितरण करते नहीं दिखाई पड़ते। भावुक कविने देखा कि इसी अवसर में भी क्यों न भक्ति माँग लूँ, अतः कहते हैं 'भक्ति प्रदौ तौहिनः'।

रा० प्र० श०—कामनाके अनुकूल ही कवि अपने सेव्यके गुण कहते हैं। पर यहाँ 'अतिबलौ' और 'सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ' कहकर भक्ति माँगते हैं, यह असंगत है ? इस शंकाका समाधान यह है कि—'अतिबलौ' से जनाते हैं कि हमारे हृदयमें कामादि शत्रु बहुत प्रबल हो रहे हैं; उनका शमन कीजिए। 'सीतान्वेषणतत्परौ०' से जनाया कि 'आप आश्रितवत्सल हैं, अपने भक्तोंके वियोगमें स्वयं दुःखी हो जाते हैं और उनके मिलनेके उपायमें तत्पर रहते हैं। अपने भक्तोंपर अधिक दया करते हैं।' यह देखकर और श्रीरामजीको भक्तवत्सल जानकर (यथा—'भगतबछल प्रभु कृपानिधाना', 'भगत बछलता हिय हुलसानी', 'नमामि भक्तवत्सलं' इत्यादि) भक्तिका वर माँगा।

मा० म०—'कुन्देन्दीवरसुन्दरौ' में माधुर्य, 'अति बलौ' में ऐश्वर्य, 'विज्ञानधामावुभौ' से शुद्ध शान्त, 'शोभाढ्यौ' से शृङ्गार, 'वरधन्विनौ' में वीर और 'गोविप्रवृन्दप्रियौ' में वात्सल्य रस भरा है। 'श्रुतिनुतौ' के 'नुतौ' में धारणा परत्व है।

टिप्पणी—३ यहाँ प्रथम 'कुंद' पद दिया गया जो श्रीलक्ष्मणजीके गौरवर्णकी उपमा है, तब 'इंदी-

वर' पद दिया गया जो श्रीरामजीके श्यामवर्णकी उपमा है। अर्थात् इस मंगलाचरणमें रामचन्द्रजीसे पहले लक्ष्मणजीको कहा है। ऐसा करनेका आशय यह है कि लक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य हैं और विना आचार्यके प्रभुका मिलना दुर्लभ है, यथा—'गुर बिनु भवनिधि तरै न कोई। जौ बिरंचि संकर सम होई।'

नोट—१ 'कुन्देन्दीवर' के और भाव ये हैं—(क) ग्रंथकारने प्रातःकाल पंपासरस्थित दोनों राजकुमारोंका जब ध्यान किया तो उस समय श्रीलक्ष्मणजी सरके कूलपर खड़े थे। अतएव ऊँचे स्थानपर रहनेसे प्रथम वेही दृष्टिगोचर हुए। श्रीरघुनाथजी नीचे सरमें स्नान कर रहे थे; इससे वे पीछे देख पड़े। अतएव प्रथम कुन्द तब इन्दीवर कहा। (पं० श्रीधर मिश्र)। (ख) इस कांडमें दो कार्य करना मुख्य हैं—एक तो सुग्रीवको अंगीकार करना, दूसरे उनको राज्य देना। विना आचार्यके ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होती। यहाँ लक्ष्मणजी आचार्य हैं। इनके द्वारा सुग्रीवको श्रीरामजीकी प्राप्ति होगी, यथा—'लछिमन रामचरित सब भाषा'। चरित द्वारा उनको परविभूतिका उपदेश दिया। पुनः, राज्याभिषेक भी इन्हींके द्वारा होगा। (मा० शं०)। (ग) छंदोभंगके विचारसे जैसा जहाँ उचित होता है वैसा कवि लिखते हैं। दूसरे, कुन्द शब्द छोटा है और इन्दीवर बड़ा है। प्रायः व्याकरणकी रीति है कि जब ऐसे दो नाम साथ आते हैं तब छोटा प्रथम रक्खा जाता है। (मा० शं०) (घ) वियोगजनित दुःखसे व्याकुल हो जानेपर लक्ष्मणजीहीके समझानेसे चित्त शान्त होता है। वाल्मी० कि० सर्ग १ इसका प्रमाण है। (रा० प्र० श०)। (ङ) 'अल्पाच्तरं पूर्वं निपातः'। वा, लक्ष्मण श्रीरामप्राप्ति के द्वार हैं और योगियोंके ध्यानमें प्रत्याहारसे केवल नील घनश्याम पीछे समाधिमें रहता है। (प्र०)। अथवा, (च) श्रीरामजी विरहमें मग्न हैं, इससे श्रीलक्ष्मणजी आगे-आगे चल रहे हैं। अतएव लक्ष्मणजीको पहले कहा।

मा० म०—फूलका ही रूपक यहाँ क्यों कहा गया? इसका कारण यह है कि अरण्यकांडमें कहा गया था कि 'विरही इव प्रभु करत बिषादा' इत्यादि; इस विरहव्यथाको सुनकर भक्त संकुचित हो गए; अब फूलका रूपक आदिमें देकर जनाया कि अब प्रभुको प्रफुल्लित देखकर सब आनंदित होंगे।

रा० प्र० श०—'कुन्द' श्वेत होता है। यह शान्तरसका रंग है। इस काण्डको शान्तरससे प्रारंभ करनेका कारण यह है कि—(क) वस्त्र मिलने और सुग्रीवके यह कहनेपर कि 'सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई' इत्यादि, खोजनेमें जो परिश्रम था उससे दोनों भाइयोंको शान्ति प्राप्त हुई। (ख) जो सेना दक्षिण गई थी वह प्याससे मरणप्राय हो गई थी, स्वयंप्रभाके आश्रममें जानेसे उसको और स्वयंप्रभाको रामदर्शनसे शान्ति मिली। (ग) संपाती सत्ययुगसे, पक्ष जलजानेके कारण, दीन पड़ा था। उसे वानरोंके मिलनेसे पुनः पक्ष निकलनेसे शान्ति मिली।—अर्थात् इस काण्डमें बहुतोंको शान्ति प्राप्त होगी, इस बातको कविने प्रथमही शान्तरसको देकर जनाया है।

नोट—२ 'माया मानुषरूपिणौ' इति। भाव यह कि मनुष्य हैं नहीं, पर अपनी दिव्य शक्तिसे वे मनुष्यरूप जान पड़ते हैं। जैसा कहा है कि 'इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे', 'निज इच्छा प्रभु अवतरइ ।४।२६।' मनुष्योंकी तरह बाल्य, कौमार, पौगण्ड, युवा, आदि अवस्थाएँ धारण करना और विरह विलाप आदि चरित करना यही मनुष्यरूप होना है, क्योंकि ये अवस्थाएँ नित्य स्वरूपमें नहीं होतीं, वह तो सदा षोडश वर्षकी अवस्थाका रूप रहता है। हमारी दृष्टि मायामय है इससे हमको मायासे मनुष्य जान पड़ते हैं। पुनः, माया कृपाको भी कहते हैं। (प्र०)। वैदिक निघन्टमें 'माया ज्ञान वयुनम्' से 'माया' और 'ज्ञान' को पर्याय कहा है। 'माया' शब्द यहाँ ऐसा दिया है कि अद्वैती विशिष्टाद्वैती आदि सभी अपने अनुकूल अर्थ कर सकते हैं। विशेष १।१५२।४ देखिए।

३ इस कांडका नाम 'किष्किन्धा' क्यों हुआ? काण्डोंके नामके विषयमें अरण्य और सुन्दरमें काफी लिखा गया है। 'किष्किन्धा' वालि और सुग्रीवकी नगरीका नाम है। किष्किंधापर्वतश्रेणीका भी नाम है जो किष्किंधा देशमें है। इस काण्डमें जो चरित हुए वे किष्किंधा देशमें हुए। अतएव किष्किंधासे

संबंध रखनेके कारण इसका नाम किष्किंधा हुआ।‡

वि० त्रि०—यद्यपि श्रीगोस्वामीजीके काण्डोंके अन्तकी पुष्पिकाओंमें प्रथम सोपान, द्वितीय सोपान, आदि नाम दिये हैं, परन्तु आदिमें उनका बालकाण्डादि नाम देना भी सिद्ध है। इसका बड़ाभारी प्रमाण यही है कि इस काण्डमें कहीं 'किष्किंधा' नाम ही नहीं है, अब यदि इसे किष्किंधा काण्ड न कहकर चतुर्थ सोपान या चतुर्थ प्रबन्ध कहा जाय, (जैसा कि आजकलके नई खोज करनेवालोंका मत है), तो 'अर्ध राति पुर द्वार पुकारा' इस पदसे यह पता ही न चलेगा कि किस पुरके द्वारपर पुकारा। अतः सिद्ध है कि गोस्वामीजीने इसका नाम किष्किन्धा काण्ड रख दिया, अन्तः पुरके नाम देनेकी आवश्यकता न हुई।

नोट—४ जैसे अरण्यमें मङ्गलाचरण शार्दूल विक्रीडित छंदमें किया था वैसेही यहाँ भी किया गया। निर्भय होकर घने-घने वनोंमें घूमते फिरे यह सिंहका ही काम है। (अरण्य मं० श्लो० १ तथा बाल मं० श्लो० ६ देखिए)।

५—कुछ महानुभाव इस श्लोकको काण्डकी सूची बताते हैं। वे कहते हैं कि यहाँ नाम, रूप, गुण, लीला और धाम पाँचों दिखाये हैं और इन्हीं पाँचोंकी व्याख्या काण्डभरमें है।—'रघुवरौ' से नाम, 'कुन्देन्दीवर' से रूप, 'अतिबलौ' इत्यादिसे गुण, 'गोविप्रवृन्दप्रियौ सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ' से लीला और 'विज्ञानधामावुभौ' से धाम सूचित किया। आगे हनुमानजीसे मिलनेपर भी इन पाँचोंको प्रभुने कहा है। (प्र०)।

इसपर स्वामी प्रज्ञानानन्दजी कहते हैं कि इन पाँचोंका अस्तित्व प्रायः सातो काण्डोंमें पाया जाता है। इतना ही नहीं अपितु स्तुतियोंमें भी पाँचों पाये जाते हैं। सूक्ष्मदर्शी महानुभाव सूक्ष्म दृष्टिसे देख लें।

**ब्रह्मांभोधि-समुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं। श्रीमच्छंभु-मुखेंदु सुन्दर वरे* संशोभितं सर्वदा॥**
**संसारामयभेषजं सुखकरं† श्रीजानकीजीवनं। धन्यास्ते कृतिनः पिबंति सततं श्रीरामनामामृतम्॥२॥**

शब्दार्थ—ब्रह्मांभोधि = ब्रह्म + अंभोधि। ब्रह्म = वेद, यथा—'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म विप्रः प्रजापतिरित्यमरः'। अंभोधि = जलधि = समुद्र। अव्यय = निर्विकार, सदा एकरस, नित्य, नाशरहित। आमय = रोग। भेषज = दवा, ओषधि। कृतिनः = जिनके सब प्रकारके सुकृत जमा हों, सुकृती, पुण्यवान्।

अर्थ—वे सुकृती धन्य हैं जो वेदरूपी समुद्रसे उत्पन्न, कलिमलके सर्वथा नष्ट करनेवाले और नाशरहित, श्रीमान् भगवान् शंभुके सुन्दर-श्रेष्ठ मुखचन्द्रमें सदैव शोभायमान, भवरोगकी औषधि, सुखके करनेवाले और श्रीजानकीजीके जीवनस्वरूप सुन्दर श्रेष्ठ श्रीरामनामरूपी अमृतको निरंतर पान करते हैं।२।

टिप्पणी—१ ब्रह्मांभोधिसमुद्भवं, यथा—'वेद प्रान सो।१।१९।१', 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा।१।१०।' (ख) 'कलिमल प्रध्वंसनं', यथा—'कलिमल विपुल विभंजन नाम।३।११।१५।' (ग) अव्यय, यथा—'कहउँ नाम बड़ ब्रह्म राम ते।' नाम रामसे भी बड़ा है और राम अविनाशी हैं। अतः नाम भी अविनाशी है। (घ) शिवजी सदा जपते हैं, यथा—'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती।१।१०८।' (ङ) संसाररोगके लिए ओषधि, यथा—'जासु नाम भवभेषज हरन घोर त्रयसूल। ७।१२४', 'संजम जप तप नेम धरम व्रत बहु भेषज समुदाई। तुलसिदास भवरोग रामपद-प्रेमहीन नहिं जाई।—(वि०

---

‡ मा० त० भा०—कीशके किए (बसाये) हुए नगरके चरित्र इसमें वर्णन किये गए हैं, अतः किष्किधा नाम हुआ। वा, इस काण्डमें कीशको धावन बनाया गया अतएव 'किष्किधा—'किस' (कीश) = वानर, किं = कीन = किया, धा = धावन, दूत।

मा० त० सु०—कीश सुग्रीवको राज्य धारण कराया गया और सब वानरोंका पोषण किया गया अतः 'किष्किधा' नाम रक्खा। यहाँ 'धा' धातुका अर्थ 'डुधाञ् धारण पोषणयोः' के अनुसार है।

* वरे (का०)। † 'सुमधुरं' पाठ पंजाबीजीने दिया है। 'सुमधुरं' क्योंकि अमृत है। यथा—'आखर मधुर मनोहर दोऊ'।

८१)। नाम नामीके अभेदसे दूसरा उदाहरण दिया गया। (च) सुखकर, यथा—'जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी।१।२२।५।', 'फिरत सनेह मगन सुख अपनें। नाम प्रसाद सोच नहिं सपने।१।२५। ८।' (छ) श्रीजानकीजीवन, यथा—'नाम पाहरू राति दिन ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित प्रान जाहिं केहि बाट।५।३०।', 'धन्यास्ते कृतिनः', यथा—'सकल कामनाहीन जे रामभगतिरस लीन। नाम सुप्रेम-पियूष-हृद तिन्हहुँ किए मन मीन।१।२२।', 'तेन तप्तं तेन दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्म जालं। येन श्रीरामनामामृतं पानकृत-मनिशमनवद्यमवलोक्य कालं। वि० ४६।'

टिप्पणी—२ (क) यहाँ श्रीरामनामका रूपक अमृतसे बाँधा है। अमृत समुद्रसे निकला था, यह किस समुद्रसे निकला? यही आदिमें बताया कि यह वेदरूपी समुद्रसे निकला अर्थात् वेदोंका मंथन करके उसमेंसे साररूप रामनाम निकाला गया। वहाँ दैत्योंके नाश करने और देवताओंको बल देनेके लिए अमृत निकाला गया। यहाँ कलिमलके नाशके लिए और जापकोंको अमर करनेके लिए रामनामामृत निकाला गया। उस अमृतके पीनेवालोंका पुनर्जन्म होता है और श्रीरामनामामृत पीनेवालेका आवागमन नहीं होता। [पूरा रूपक यह होगा कि मुनि और संत देवता हैं, विचार मंदराचल है। वेदोंमें कर्म, उपासना और ज्ञान काण्डत्रय आदि बहुत-सी बातें हैं। उनमेंसे निर्णय करके यह सिद्धान्त निकाला गया कि सार वस्तु राम नाम है। अथवा शंकरजी मंथन करनेवाले देवता हैं। इसपर कोई-कोई यह शंका करते हैं कि मानसमें शंकरजीका वेदोंको मंथन करके श्रीरामनामामृत निकालनेका उल्लेख नहीं पाया जाता। उसका समाधान यह है कि वेद ही वाल्मीकिजीके मुखसे रामायणरूप होकर निकले, यथा—'स्वयम्भू कामधेनुश्च स्तनाश्च चतुराननाः। वेददुग्धामलं शुक्लं रामायण रसोद्भवम्। इति स्कन्द पुराणे', 'वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना।' (वाल्मी० श्रीलवकुशकृत मंगलाचरण)। इस तरह रामायण वेदोंका ही उपबृंहणरूप है। और मानसमें शंकरजीका रामचरितसे राम-नामका निकालना कहा ही है। यथा—'रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि।१।२५।' विनयमें शत-कोटि रामचरितको अपार दधि समुद्र कहा है, यथा—'सतकोटि चरित अपार दधिनिधि मथि लियो काढ़ि वामदेव नाम घृतु है।' (वि० २५४)। दूसरे, यहाँ श्लोकमें शंकरजीका निकालना नहीं कहा गया है, केवल उनके मुखमें सर्वदा सुशोभित होना ही कहा गया है। अतः यह शंका ही निर्मूल है। रामनाम वेदोंका प्राण है, सार है; यह तो गोस्वामीजीने अनेक स्थलोंमें कहा है।] 'प्रध्वंसनं' का आशय यह है कि रामनाम ही कलिमलके लिए समर्थ है, और कोई नहीं। (वह अमृत स्वर्गमें रहकर भी अपने आश्रित देवताओंके कामक्रोधादि किंचित् पापोंका भी 'ध्वंस' नहीं कर सकता और श्रीरामनाम अपने आश्रित जापकके समस्त कलिमलोंका 'ध्वंस' ही नहीं किन्तु 'प्रध्वंस' कर डालता है, यह विशेषता है)। (ख) 'श्रीमत्' विशेषण देनेका भाव कि शिवजी सब प्रकारकी 'श्री' से संपन्न हैं और कल्याण उनसे उत्पन्न होता है; ऐसे शंकरजी भी सदा इसे जपते और इसीमें रमते हैं, यथा—'राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे'। [यहाँ यह भी भाव है कि भगवान् शंकर श्रीरामनामकी बदौलत (अर्थात् उसीके जपके प्रभावसे) विभूतिके रखनेवाले (श्रीमत्) और कल्याणके पैदा करनेवाले (शंभु) हुए। अर्थात् श्रीमत् और शंभु ये दोनों विशेषण रामनामसे ही प्राप्त हुए। यथा—'नाम प्रसाद संभु अबि-नासी। साजु अमंगल मंगल रासी।१।२६।१।', 'संतत जपत संभु अविनासी।१।४६।३।', 'तप बल संभु करहिं संघारा। १।१६३।' इत्यादि। (गौड़जी)] (ग) मुखको चंद्र कहनेका भाव कि जैसे वह अमृत सदा चन्द्रमामें रहता है, वैसे ही यह नामामृत सदा शिवजीके मुखचन्द्रमें रहता है। 'संशोभित' पदसे जनाया कि शिवजीकी शोभा इस नामसे ही है अतः 'श्री' पद दिया। (जिस मुखमें राम नाम नहीं है वह सर्पके बिलके समान कहा गया है, अतः वह अशोभित है। मुखमें सदा शोभित कहकर जनाया कि इसे वे स्वयं जपते तो हैं ही, साथ ही इससे दूसरों को भी मोक्षरूपी अमृत देते हैं। यथा—'कासी मुकुति हेतु उपदेसू'। इसीसे सदा मुखमें नामको रखते हैं जिसमें काशीके जीवोंके कानोंमें डालनेमें देर न होने पावे)। (घ) 'संसारामयभेषज' कहकर इसकी उस अमृतसे विशेषता दिखाई। वह सांसारिक जीवन दे सकता है पर भवरोगसे नहीं छुड़ा सकता।

(रामनाम भवको छुड़ाकर 'अव्यय' अविनाशी पद प्राप्त कर देता है, यथा 'राम राम कहि तनु तजहिं पद निर्वान ।', 'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं')। वह अमृत पीनेसे घट जाता है एवं प्रलयमें उसका नाश है और रामनाम (चाहे जितना जपो) कभी घटता नहीं और प्रलयमें भी बना रहता है; इसीसे 'अव्यय 'सुखकर'का भाव कि योगज्ञानादि साधनोंकी कठिनता सुखद नहीं है, उनमें कष्ट होता है और श्रीरामना है; यथा 'सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू।' वह अमृत देवताओंको सुख न रावणादिसे वे सदा पीड़ित रहे और रामनामने जापक जन प्रह्लादादिको सुख दिया, यथा—'राम नाम कनककसिपु कलिकाल। जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल।' (ङ) 'श्रीजानकीजीवनं' कहकर गुणका अत्यंत महत्व बतलाया। (च) 'धन्यास्ते कृतिनः' का भाव कि जो स्वर्गप्राप्तिके लिए सुकृत जिसमें अमृत पीनेको मिले वे धन्य नहीं कहे जा सकते, क्योंकि पुण्य क्षीण होनेपर फिर यहाँ पड़ता है, भवप्रवाहसे उनका छुटकारा नहीं होता और जो नामामृत पीते हैं वे उपर्युक्त कारणों हैं। 'पिबन्ति' अर्थात् सोते जागते उठते बैठते चलते फिरते सभी अवस्थाओंमें नामका जप क हैं, कभी जिह्वा खाली नहीं रहती। ['सतत' शब्दसे जनाया कि जो निरंतर पान करते हैं वेही सु कोई भी पेय पदार्थ ऐसा नहीं है जिसका सतत पान करना संभव हो। स्वर्गीय सुधा तो नश्वर सुनी भर जाती है; 'सुनिअ सुधा देखिय गरल....' (अ०)। (प० प० प्र०)]

वि० त्रि०—'धन्यास्ते कृतिनः।' यहाँ पर सतत श्रीरामनामामृत पान करनेवालोंकी स्तुति यह है कि इस काण्डमें योग जप तप करनेवाले ऋषियोंसे भेंट न होगी, इस काण्डमें तो केवल उन (बन्दर भालुओं जटायु या शबरी आदि) से भेंट होगी, जिन्हें केवल रामनामामृत पानका अ और वे सानन्द पान करते हैं। उन्हींको सरकारने अपना सहायक चुना, अतः वे धन्य हैं।

टिप्पणी—३ प्रथम श्लोकमें नामीकी और दूसरेमें नामकी वंदना करके जनाया कि दे हैं। नामसे ही नामीकी प्राप्ति होती है।

**सो०—मुक्ति जन्म महि जानि ज्ञान खानि अघ हानि कर।**
**जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइअ कस न॥**
**जरत सकल सुरबृंद बिषम गरल जेहिं पान किय।**
**तेहि न भजसि मन मंद* को कृपाल संकर सरिस॥१॥**

अर्थ—मुक्तिकी जन्मभूमि, ज्ञानकी खानि, पापोंका नाश करनेवाली और जहाँ श्रीशिव रहते हैं, यह जानकर, उस काशीका सेवन कैसे न किया जाय। अर्थात् उसमें वास करना उ

* मन मंद—का०, ना० प्र०। भा० दा० में 'मति' पर हरताल देकर 'मन' बनाया है हुई प्रतिमें 'मति' पाठ है। मा० म० में 'मतिमंद' पाठ है। 'मन' पाठ हमने उत्तम समझा है ग्रंथमें पूज्य कविने 'मन' को ही यत्र-तत्र उपदेश दिया है। यथा—'दीपसिखा सम जुबति तन मन पतंग। भजहि राम....। ३।४६।', 'तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि संतत सठ मना। ५। ६०।', मन तेहि राम को काल जासु कोदंड। ६। मं०।', 'यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार। ६ (उपसंहार), 'ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। ७। १३०। ८।', 'पाइ न केहि गति पतितपावन राम भजि मना। ७। १३०।' प० प० प्र० का भी यही मत है।

† कुछ महानुभावों (श्रीकरुणासिंधुजी आदि) ने इसका रामचरित या रामनाम-परक किया है। इस तरह कि—(१) रामायण मुक्तिकी जन्मभूमि है, ज्ञानकी खानि है, अघ नाश

जिस कठिन (भीषण, घोर) हालाहल विषसे समस्त देववृन्द जल रहे थे उसे जिन (शंकरजी) ने पी लिया, हे मन्दबुद्धि मन ! तू उनको क्यों नहीं भजता ? शंकरजीके समान कौन कृपालु है ? । १ ।

टिप्पणी—१ 'मुक्तिजन्ममहि' आदि विशेषणोंके क्रमका भाव—(क) मुक्तिकी जन्मभूमि है अर्थात् मुक्तिकी उत्पत्ति यहाँसे है, यहाँ मरनेसे मुक्ति होती है, यथा—'काश्यां मरणान्मुक्तिः' इति श्रुतिः। इसपर शंका होती है कि श्रुति तो यह भी कहती है कि 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' अर्थात् ज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती; अतएव कहते हैं कि यह 'ज्ञानखानि' है अर्थात् यहीं पुरी ज्ञान उत्पन्न कर देती है। पर पापके विनष्ट हुए विना ज्ञान नहीं होता, यथा—'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' अर्थात् पापकर्मोंके क्षय होनेपर पुरुषोंमें ज्ञान उत्पन्न होता है; अतएव कहा कि 'अघहानिकर' है। इस प्रकार तीनों श्रुतियोंके भावोंको यहाँ ग्रन्थकारने कहकर शंकाकी जगहही नहीं रक्खी और इस कथनको सर्वश्रुतिसम्मत दिखाया। यहाँतक काशीका माहात्म्य कहा। (ख) 'जहँ बस संभु-भवानि' इति। अब बताते हैं कि यह किसका निवासस्थान है।—शंभुभवानिका।—[नोट—शंभुभवानी नाम देकर जनाया कि ये कल्याणकर्त्ता हैं, जीवोंको मरते समय मुक्ति बाँटते रहते हैं, यथा—'कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करौं बिसोकी।१।११९।१।' और 'भवानी' नामसे जनाया कि जबसे शंकरजी यहाँ बसते हैं तभीसे ये भी यहाँ हैं, क्योंकि भवकी पत्नी हैं। इसीसे सती, पार्वती आदि नाम न दिए; क्योंकि ये नाम पीछे हुए।]—यह कहकर तब 'सेइय कस न' कहा। तात्पर्य यह कि शिवजी अपने स्थानमें निवास करते हैं; जीवोंको चाहिए कि काशीको इष्टदेव मानकर इसका सेवन करें। (प्र० कारका मत है कि 'शंभु-भवानि' से अर्धनारीश्वर, अनिर्वचनीय, तुरीय ब्रह्मरूप जनाया। और, 'सेइय' से जनाया कि 'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग बेद बखाने। २।२७७।', इन तीनों प्रकारके जीवोंको इसके सेवनका अधिकार है। सबको इसके सेवनसे लाभ होता है। सिद्धको 'मुक्ति जन्ममहि' अर्थात् मुक्तिदायिनी है। साधकको 'ज्ञानखानि' है। और विषयीके लिए 'अघ हानिकर' अर्थात् अघनाशिनी है। और जो निष्काम हैं उनके लिए 'शम्भुभवानी' के सत्संगकी प्रापक है। अथवा इन विशेषणोंसे जनाया कि सहज वाससे पाप हरती है, सत्संगसे ज्ञान देती है और मरनेपर मोक्ष देती है)।

वि० त्रि०—'सो कासी सेइय कस न'—इससे स्पष्ट है कि काशीके सेवन न करनेका गोस्वामीजी कोई कारण नहीं देखते और निश्चय करते हैं कि यहीं काशीमें बसकर कृपालु शंकरकी सेवा करेंगे और रामनामामृत पान करेंगे, यथा—'तुलसी बसि हरपुरी राम जपु जो होइ चहै सुपासी।' स्वयम् ग्रन्थकर्ताके लेखके सामने, दूसरोंका लेख इस विषयमें प्रमाण नहीं माना जा सकता।

पं०—काशीका महत्व कहकर आगे काशीके स्वामीकी बड़ाई करते हैं। ☞इस सोरठेमें वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण है।

टिप्पणी—२ (क) 'जरत सकल सुरबृंद' से विषकी विषमता कही कि ऐसा विष था कि देवता न सह सके, और 'बिषम गरल जेहि पान किय', इस कथनसे शिवजीका सामर्थ्य कहा।—इसकी पूरी कथा १।१९ (८) 'कालकूट फल दीन्ह अमी को' में देखिए। 'सकल सुरबृंद' अर्थात् देवताओंके जितने भी भेद हैं, उनमेंसे प्रत्येकके वृन्द। जैसे कि वसु वृन्द, रुद्रवृन्द, आदित्यवृन्द, इत्यादि। समुद्रमंथनके समय

---

जिसमें शंभुभवानी अन्तःकरणसे सदा बसते हैं और जो शोकके नाशके लिए असि (तलवार) रूप है, उसका सेवन क्यों नहीं करते ?-(करु०)। (२) रामनामको बालकाण्डमें 'हेतु कृसानु भानु हिमकर को' कहा है। 'र' अग्निबीज है, वह पापोंका नाश करता है, 'अ' भानुबीज है, वह ज्ञानको उत्पन्न करता है और 'म' चन्द्रबीज है। यह 'म' निश्चय [महि=म+हि (=निश्चय)। 'हानिक'+'र'=हानिकर] मुक्तिका दाता है; ऐसा रामनाम जिसमें शिवपार्वतीजी निवास करते हैं और जो समस्त शोकोंके लिए तलवार है, उसका सेवन क्यों नहीं करते ?—पर ये क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं। वस्तुतः यहाँ काशीजीका ही मंगलाचरण है।

सभी वहाँ थे। (ख)—'मन मंद' का भाव कि ऐसे उपकारी कृपालु शिवको नहीं भजता; अतः तू नीच है। 'तेहि न भजसि मन मंद' का तात्पर्य कि जैसे शिवजीने सब देवताओंको विषकी ज्वालासे बचाया वैसे ही यदि तू उनका भजन करेगा तो तुझको भी विषयाग्नि ज्वालासे बचायेंगे, क्योंकि तू विषयाग्निसे जल रहा है, यथा—'मन करि विषय अनलबन जरई। १।३५।८।' (पं०)। (ग)—'कृपालु संकर सरिस', इति। समस्त देववृन्दपर कृपा करके उनके कल्याणके लिए हालाहल पी लिया; इससे 'कृपाल' और 'शंकर' (कल्याणकर्ता) पद दिए। भाव कि उनका भजन करनेसे तुझपर भी कृपा और तेरा कल्याण करेंगे।

३ दोनों सोरठोंके क्रमका भाव।—प्रथम सोरठेमें काशीवास करनेको कहा और दूसरेमें शंकर-जीका भजन करनेको। तात्पर्य यह कि प्रथम काशीवास करे तब पापका नाश होकर ज्ञान मिले, तब शिवसेवाका अधिकारी हो और शिवसेवासे श्रीरामचन्द्रजीकी अविरल भक्ति मिले, यथा—'सिव सेवा कर फल सुत सोई। अविरल भगति रामपद होई।'

नोट—१ गोस्वामीजी अपने मनके उपदेश द्वारा समस्त जीवोंको उपदेश दे रहे हैं। जिसने अपनेको उपदेश न दिया वह दूसरेको क्या उपदेश देगा। उसके उपदेशका कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ सकता। (पं० रा० ब० श०)।

२ (क)—बाल, अयोध्या और अरण्य काण्डोंमें प्रथम श्रीशिवजीका मंगलाचरण है तब श्रीराम-चन्द्रजीका, पर यहाँसे वह क्रम पलट गया है। प्रथम श्रीरामजीका मंगलाचरण है तब श्रीशिवजीका। यह क्रमभंग भी साभिप्राय है। अभीतक शिवजीकी वन्दना मानसके आचार्य होनेके भावसे करते आए। (आगे नोट-४ भी देखिए)। आचार्यका दर्जा भगवान्से अधिक है। और अब शिवजी हनुमान्‌रूपसे आकर श्रीरघुनाथजीकी सेवामें प्राप्त हुए हैं, अर्थात् इस कांडसे उन्होंने सेवक-भाव ग्रहण किया है, अतः उनके स्वामी श्रीरामलक्ष्मणजीकी प्रथम वंदना की गई। जबतक सेवक बनकर नहीं आए थे तबतक प्रथम वंदना करते आए। शिवजीके अवतार हनुमानजी हैं, यथा—'जेहि सरीर रति राम सों, सोइ आदरहिं सुजान। रुद्र देह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान', 'जानि रामसेवा सरस समुझि करब अनुमान। पुरुषा ते सेवक भये हर ते भे हनुमान'—(दोहावली १४२, १४३)। (ख) यही कारण इसका भी कह सकते हैं कि 'यहाँ संस्कृतमें शिवजीका मंगल न करके सोरठामें क्यों किया और सुन्दरकाण्डमें हनुमान्‌जीका मंगलाचरण क्यों किया गया?' (क्योंकि उसमें उनका चरित कहा है।) अतएव आगेके कांडोंमें शिवजीकी वन्दना श्रीरामजीके पीछे ही की गई है। (ग) ऐतिहासिक दृष्टिसे ऐसा भी कहा जाता है कि शैव-वैष्णव-विद्रोह मिटानेके विचारसे दूर-दृष्टि पूज्यकविने बराबर शिवजीकी भी वंदना की और इसी विचारसे प्रथम तीन काण्डोंमें उनको प्रथम स्थान दिया गया। परन्तु ग्रन्थके अनुसार तो यही सिद्ध होता है कि मानसके आचार्य होनेके भावसे एवं इससे कि 'संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि। ७-४५।' एवं 'सिव सेवा कर फल सुत सोई। अविरल भगति रामपद होई। ७।१०६।' अर्थात् श्रीरामभक्तिके आचार्य भी जानकर उनका मंगलाचरण बराबर किया गया।

## इस कांडमें काशीकी महिमाका वर्णन करनेका हेतु

१ मानसका प्रारंभ अयोध्यामें हुआ और वहीं तीन काण्ड समाप्त किए। प्रारम्भमें अवधकी महिमा कही और वहाँ ही इसका प्रारंभ होना कहा, यथा—'रामधामदा पुरी सुहावनि। लोक समस्त बिदित जगपावनि॥ चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजे तन नहि संसारा। सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धि प्रद मंगलखानी। बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा।' इत्यादि। काशीमें किष्किंधाकांड प्रारम्भ किया; अतः यहाँ उसकी महिमा कही। (पं०)। (पर यह अनुमान श्रीवेणीमाधवदासकृत मूलगुसाईं चरितसे स्पष्ट अशुद्ध सिद्ध होता है। समस्त रामचरितमानस श्रीअवधमें ही लिखा गया। 'अवधपुरी यह चरित प्रकासा' यह स्वयं कविने कहा है।)

२—इस मानसमें सप्त प्रबन्ध हैं। उनमेंसे यह चतुर्थ है। सप्त मुक्तिदायिनी पुरियोंमें अयोध्याका

नाम प्रथम है और काशीका चतुर्थ। यथा—'अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका। पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैतामुक्तिदायिकाः।' अतः प्रथम सोपानमें अयोध्याका और चतुर्थमें काशीका माहात्म्य कहा। (पं०)।

३—किष्किंधाकाण्डकी समता काशीसे जनानेके लिए इस काण्डमें काशीका महत्व कहा। (क) किष्किंधाकाण्ड श्रेष्ठ काशी है। वह मुक्ति जन्मभूमि है और इसमें जितने कपि आए सब मुक्त हुए। (ख) वह ज्ञानखानि है और यहाँ रामदर्शन पानेसे श्रीहनुमान्‌जी, सुग्रीव, जाम्बवान्, और वालि इत्यादि सबको यह ज्ञान हुआ कि राम ब्रह्म हैं, हम अपने उन स्वामीको पा गए—(यथा—'उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला'। वालिको ज्ञान हुआ। जाम्बवन्तने साथके सब वानरोंको ज्ञान दिया। श्रीहनुमान्‌जीको अपनी शक्तिका ज्ञान हुआ। इत्यादि)। (ग) 'अघहानिकर' यह काशीका शुद्ध कर्म है और सीताखोजमें प्रयत्न करना यह यहाँ शुद्ध कर्म (कर्त्तव्य) है। (इस कांडमें अधम अभिमानी पापी वालि निष्पाप हो गया; यथा—'प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि।' संपातीका कर्मजनित पाप रामदूतोंके दर्शनसे मिट गया। प० प० प्र०।) (घ) वहाँ अर्द्धनारीश्वर शंकरजी एक ही रूपमें सशक्ति और यहाँ रुद्रावतार हनुमान्‌जी सशक्ति हैं, उन्होंने इसी शक्तिसे लंकादहन किया। [भवानी=भवकी शक्ति, हनुमान्‌जीकी शक्ति उनमें ही है, स्वतन्त्र साकार स्त्री देहधारी रूपमें नहीं है। शापग्रस्त होनेसे श्रीहनुमान्‌जीकी वह उन्हींमें निहित शक्ति अबतक प्रकट नहीं हुई है। इस कांडके अन्तिम दोहेमें प्रकट होगी। इसीसे यहाँ मंगलाचरणमें उनका प्रत्यक्ष वंदन नहीं किया गया। शक्ति प्रकट होनेपर तुरत ही उनका मंगलाचरण सुंदरकांडमें करेंगे। क्योंकि प्रभाव जाने विना कोई वंदन नहीं करता। (प० प० प्र०)] (ङ)—शिवजीने विष पिया। लंकादहनपर रावणकी आज्ञासे यमराजने विष बरसाया जो पावकके संयोगसे ऊपरको बढ़ा जिससे देवता जलने लगे तब हनुमान्‌जीने उसे पीकर देवताओंको बचाया और लंकादहनसे उनको बहुत सुख दिया। यह भाव हनुमान् चम्पू ग्रंथसे पाया जाता है। इत्यादि। (नोट—मयंक और मयूषमें विस्तृत मिलान दिया है। क्लिष्ट कल्पना समझकर यहाँ नहीं दिया जाता)।

नोट—३ ऊपर दो श्लोकोंमें रघुनाथजीका मंगलाचरण किया। एकमें नामीकी वंदना, दूसरेमें नामकी। वैसे ही यहाँ शंकरजीकी वंदना दो सोरठोंमें की। एकमें धामकी, दूसरेमें धामीकी। नामकी वंदना इससे न की कि ये स्वयं श्रीरामनामको ही जपते हैं और उसीके प्रभावसे ऐसे शक्तिमान हैं। इनके नामकी वन्दना करनेसे इष्टकी समताका दोष होता।

रा० प्र०—'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना' में कहा गया है कि ये सप्त सोपान सप्त शास्त्र हैं। उनमेंसे इस चतुर्थ सोपानको योगशास्त्र कहा है। शिवजी योगीशशिरोमणि पतंजलि आदि योगप्रवर्त्तकोंके आचार्य हैं। अतः इस योगशास्त्ररूपी सोपानमें योगियोंके आचार्यकी बंदना की गई। दूसरे रुद्रावतार हनुमान्‌जीसे इसमें मिलाप हुआ है।

नोट—४ काशीजीका कामधेनुसे साङ्गरूपक बाँधकर विनयमें उसका सेवन करनेको कहा है। 'सेइय' का वही भाव यहाँ भी है अर्थात् प्रेमपूर्वक जन्मभर वास करो। यह पद पढ़ने योग्य है—'सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी। समनि सोक संताप पाप रुज सकल सुमंगलरासी ॥१॥ मरजादा चहुँ ओर चरन वर सेवत सुरपुरबासी। तीरथ सब सुभ अंग रोम सिवलिंग अमित अबिनासी ॥२॥ अंतर अयनु-अयनु भल थन फल बच्छ बेद बिस्वासी। गलकंवल वरुना बिभाति जनु लूम लसति सरितासी ॥३॥ दंडपानि भैरव बिषान मल रुचि खल गन भयदासी। लोल दिनेस त्रिलोचन लोचन करनघंट घंटा सी ॥४॥ मनिकर्निका वदन ससि सुंदर सुरसरि-सुख सुखमासी। स्वारथ परमारथ परिपूरन पंचक्रोस महिमासी ॥५॥ बिस्वनाथ पालक कृपालुचित लालति नित गिरिजा सी। सिद्धि सची सारद पूजहिं मन जुगवत रहत रमासी ॥६॥ पंचाच्छरी प्रान मुद माधव गव्य सुपंचनदा सी। ब्रह्मजीव सम रामनाम जुग आखर बिस्वबिकासी ॥७॥ चारितु चरति करम कुकरम करि मरत जीव गन घासी। लहत परमपद पय

पावन जेहि चहत प्रपंच उदासी ॥८॥ कहत पुरान रची केसव निज कर करतूति कला सी। तुलसी बसि हरपुरी राम जपु जौं भयो चहै सुपासी ॥९॥'—(विनय पद २२)

## 'मारुति मिलन'—प्रकरण

**आगे चले बहुरि रघुराया। रिष्यमूक पर्वत नियराया ॥१॥**

अर्थ—श्रीरघुनाथजी फिर आगे चले और ऋष्यमूक पर्वत निकट आगया अर्थात् उसके पास पहुँचे।१।

टिप्पणी—१ (क) 'आगे चले' इति। श्रीसीताजीको खोजनेके निमित्त आगे चले; परन्तु यहाँ खोजना नहीं लिखते, क्योंकि खोजना प्रथम लिख आए हैं, यथा—'पुनि सीतहि खोजत द्वौ भाई। चले बिलोकत वन बहुताई।३।३३।४।' (यह भी हो सकता है कि जब श्रीशवरीजीने श्रीरामजीसे कहा कि 'पंपासरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई॥ सो सब कहिहि देव रघुबीरा।', तब वे पंपासर पर आए। यहाँ स्नानकर बड़े प्रसन्न होकर बैठे—'बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला।३।४१।४।' अब शान्त हैं; सुग्रीवसे मिलनेकी आशासे ऋष्यमूक पर्वतकी ओर जा रहे हैं। अतः सीताजीको खोजना न कहा। वाल्मी० ४।३। से भी इसकी पुष्टि होती है। यथा 'विदिता नौ गुणा विद्वन्सुग्रीवस्य महात्मनः। तमेव चावां मार्गावः सुग्रीवं प्लवगेश्वरम् ।२७।' अर्थात् महात्मा सुग्रीवके गुण हम लोगोंको मालूम हैं, हम लोग भी उन्हींको ढूँढ़ रहे हैं। इस तरह वाल्मीकिजीके मतकी भी रक्षा हो गई)। (ख) 'बहुरि' का भाव कि श्रीशवरीजीके आश्रमसे चलकर पंपासरपर आकर स्नान करके वहाँ बैठ गए थे; अब वहाँ से फिर आगे चले।

नोट—१ 'आगे चले बहुरि' के और भाव ये कहे जाते हैं।—(क) जैसे पहले आप आगे चला करते थे और लक्ष्मणजी पीछे, वैसेही फिर आप आगे चले। (प्र०, शीला)। (ख) राज्य छूटा, मातापिता छुटे, देश छूटा और वनमें आनेसे सब लोग छूटे, उसपर भी सीताहरण हुआ; इतनी विपत्ति पड़नेपर भी पीछे फिरनेका विचार न किया, किन्तु फिर भी आगेहीको चले, क्योंकि 'रघुराई' हैं। (प्र०)। (ग) 'रघुराया' का भाव कि शूरवीर (और धीर एवं धर्मधुरंधर) हैं। दूसरा भाव कि इस काण्डमें राजधर्मको प्रधान करेंगे। (प्र०)। (घ) श्रीसीताजीकी खोजमें श्रीरामलक्ष्मणजी कभी उलटे कभी सीधे चलते थे अर्थात् कभी लक्ष्मणजी आगे हो जाते थे और कभी श्रीरामजी। पर पंपासरपर बैठनेके बाद अब वहाँसे आगे चले। (मा० म०)।

☞जब जब कहीं ठहरना लिखा है तब उसके बाद पुनः चलना लिखा गया है। इसी तरह पंचवटी-निवासके पूर्व कहा है—'पुनि रघुनाथ चले बन आगे'। और जहाँ आगे और पीछे चलनेका क्रम दिखाया है वहाँ दोनों भाइयोंका नाम दिया है, यथा—'चले बनहिं सुरनरमुनि ईसा।', 'आगे राम लखन पुनि पाछे।३।६।', 'आगे रामु लखन बने पाछे।२।१२३।' इन उदाहरणोंके अतिरिक्त वनयात्रामें 'आगे' पद नहीं आया है। साधारण अर्थ तो यही है कि पंपासरसे आगे चले जैसे 'चले बन आगे' में। शेष भाव पांडित्यके हैं। रामायण कामधेनु है, जितने भाव चाहो निकालते जाओ।

टिप्पणी—२ (क) पंपासरपर नारदजीसे श्रीरामचन्द्रजीने स्त्रीके अनेक दोष वर्णन किए और आप स्वयं स्त्रीको खोजते फिरते हैं—इस चरितसे यह सूचित करते हैं कि गृहस्थको स्त्रीसंग्रह उचित है और विरक्तको अनुचित। (ख) इस कांडके प्रारंभमें 'रघुराया' शब्द देनेका भाव कि-(१) ये रघुवंशके राजा हैं, अतएव ये नीतिके अनुकूल कार्य करेंगे—सुग्रीवसे मित्रता करेंगे, उसके शत्रुको मारेंगे और अपना कार्य करावेंगे—(राजाकी मित्रता राजासेही होना योग्य है। अपराधीको दंड देना राजाकाही काम है, इत्यादि)। [नारदजीको 'दारुन दुखद मायारूपी नारि' ऐसा उपदेश देकर भी स्वयं स्त्रीकी खोज करनेसे 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे' यह दोष लागू होता है। इसके निवारणार्थ 'रघुराया' शब्द दिया। अर्थात् राजा हैं अतः उनका कर्तव्य है कि अन्यायी, अत्याचारी, आततायीको दण्ड दें। यदि राजाही अपनी स्त्रीको चुरा ले

जानेवालेको दंड न देगा तो वह प्रजाका संरक्षण कैसे कर सकेगा, यह शंका प्रजाके हृदयमें उत्पन्न हो जानेसे वह राजाका अपमान करेगी। अपराधीको दंड देना राजाका कर्त्तव्य है और क्षमा करना विरक्त संन्यासीका कर्तव्य है। पत्नीके अपराधीको दंड न देनेसे रघुकुल कलंकित होगा। (प० प० प्र०)] (२)—'रघुराया' शब्दपर ही चलनेका प्रसंग छूटा है, यथा—'देखी सुंदर तरुवर छाया। बैठे अनुज सहित रघुराया।३।४१।' बीचमें नारद-संवाद कहा। अब फिर उसी 'रघुराया' शब्दसे चलनेका प्रसंग उठाया है। [यहाँ 'आगे चले बहुरि रघुराया' कहकर पूर्व अरण्यकाण्डसे संबंध मिलाया है। वहाँ 'बैठे अनुज सहित रघुराया' और यहाँ 'आगे चले बहुरि रघुराया'। (पां०)] (ग) 'रिष्यमूक पर्वत....' इति। बीचमें अनेक पर्वत मिले, पर उनका नाम कविने नहीं दिया; क्योंकि वहाँ प्रभुका कोई कार्य नहीं हुआ और यहाँ सुग्रीवसे मित्रता होगी, सीता-शोध कार्यका आरंभ होगा; अतएव इस पर्वतका नाम दिया।

नोट—२ 'ऋष्यमूक' नाम क्यों पड़ा? मयंककारका मत है कि सात शृंग होनेसे यह नाम पड़ा। वा, मतंगऋषि मूक (मौन) होकर यहाँ तपस्या करते थे, इससे यह नाम हुआ। काष्ठजिह्वास्वामीजी कहते हैं कि मतंगऋषिकी यहाँ अमूक ज्योति जागती रहती है; अतएव ऋष्यमूक नाम हुआ।—'ऋषि मतंग जहँ मूकन गाजत' अर्थात् बड़े वक्ता और किसीसे दबनेवाले नहीं थे। (रा० प० प०)। श्री पं० रामवल्लभाशरणजी महाराजसे सुना था कि मृगोंकी कई जातियाँ हैं, जैसे गोकर्ण, केन, ऋष्य आदि। यहाँ ऋष्यनामके मृग बिलकुल मूक होकर रहते थे, अतः ऋष्यमूक नाम पड़ा। यहाँ सत्यवादी ऋषि रहा करते थे, झूठ बोलनेवाले और अधर्मी वहाँ जाकर मर जाते हैं। अथवा, ऋषि यहाँ अमूक होकर वेद, नाम और चरित्र उच्चारण किया करते थे, अतः यह नाम पड़ा। (वै०)

कबंधने श्रीरामचंद्रजीसे बताया था कि यह पर्वत पुष्पवाले वृक्षोंसे युक्त है। उसपर बड़े दुःखसे चढ़ा जा सकता है, साँप उसके रक्षक हैं। इसे बहुत पहले ब्रह्माने बनाया था। इसपर सोता हुआ पुरुष जो धन पानेका स्वप्न देखता है वह उसे जागनेपर मिलता है। दुराचारियोंको सोतेमें राक्षस मार डालते हैं। यथा 'उदारोब्रह्मणाचैव पूर्वकालेऽभिनिर्मितः।....' इत्यादि। (वाल्मी० ।३।७३।३२-३४)

र० ब०—इस काण्डमें प्रथम 'छत्रबंध' चौपाई लिखी। कारण यह है कि इसमें सुग्रीवको राज्य देना और छत्रधारी वालिका वध वर्णन है। जो स्वयं छत्रधारी न होगा वह दूसरेको क्या छत्रधारी बनायेगा। गोस्वामीजीकी स्वामिभक्तिका यह भी एक उदाहरण है—राज्य देना है, अतः पहलेही उन्होंने स्वामीपर छत्र लगा दिया।

**तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा। आवत देखि अतुलबलसींवा॥२॥**
**अति सभीत कह सुनु हनुमाना। पुरुष जुगल बल रूप निधाना॥३॥**

अर्थ—वहाँ (उस पर्वतपर) श्रीसुग्रीवजी मंत्रियोंसहित रहते थे। अतुलितबलकी सीमा श्रीराम-लक्ष्मणजीको आते हुए देख अत्यन्त डरकर वे बोले—हे हनुमान्! सुनो, ये दोनों पुरुष बल और रूपके निधान (सिंधु हैं)। २-३।

टिप्पणी—१ (क) 'सचिव सहित' का भाव कि राज्यके सात अंग हैं—'राजा, मंत्री, मित्र, कोष, देश, क़िला और सेना। इनमेंसे सुग्रीवके पाँच अंग नष्ट हो गये हैं, दो बचे हैं, एक राजा (स्वयं आप) और एक मंत्री। सात अंगोंमेंसे मंत्री प्रधान अंग है; अतः वे इनको साथ रखे हुए हैं। (प्रयागराजके वर्णनमें ये सातो अंग कविने दिखाए हैं। यथा—'सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी। माधव सरिस मीतु हितकारी॥ चारि पदारथ भरा भँडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू॥ छेत्र अगम गढ़ु गाढ़ सुहावा। सपनेहु नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा॥ सेन सकल तीरथ बर बीरा।२।१०५।' श्रीविभीषणजी भी जब लंकासे देश, कोष, मित्र आदि सबको छोड़कर निकले तब उन्होंने भी एक अंग मंत्रीको न छोड़ा, मंत्रियोंको साथ रक्खा। यथा—'सचिव संग लै नभपथ गएऊ।५।४१।६।'

इससे जनाया कि यदि यह एक अंग राजाका साथ न छोड़े तो राज्य आदि अन्य पाँचों अंग राजाको पुनः प्राप्त हो सकते हैं; जैसे सुग्रीव और विभीषणको प्राप्त हुए)। (ख) श्रीशबरीजीने कहा था कि 'पंपासरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई', पर मित्रता ऋष्यमूकपर हुई। इससे निश्चय हुआ कि यहाँतक पंपासरकी भूमि है। प्रमाणं अध्यात्मे, यथा—'इतः समीपे रामास्ते पंपानाम सरोवरम्। ऋष्यमूकगिरिर्नाम तत्समीपे महानगः॥ ३।१०।३६।' अर्थात् हे राम! इस स्थानके निकटही पंपानामक सरोवर है और उसके समीप ऋष्यमूक नामक एक बड़ा पर्वत है। (ग)—'आवत देखि अतुल बल सींवा' इति। रूप देखकर अतुलबलसींव जान लिया, यथा—'सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझै। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझै॥ चितइ न सकहु रामतन, गाल बजावहु। बिधिबस बलउ लजान, सुमति न लजावहु।३७।' इति जानकीमंगल ग्रंथे। अर्थात् साधु राजा कुटिल राजाओंसे कहते हैं कि जहाँ तेज, प्रताप और रूप है वहाँ बल भी जान लेना चाहिये।

नोट—१ बलवान वीर पुरुष देखकर दूसरेका अंदाज़ा कर लेते हैं। श्रीहनुमान्‌जीने लंकाभरके योद्धाओंको देखकर यही निश्चय किया था कि ऐसा कोई नहीं है जिसे हम न जीत सकें। यथा—'देखी मैं दस-कंठ सभा सब मोतें कोउ न सबल लो। गी०५।१३।' (रावणकी सभाके सब श्रेष्ठ वीरोंको देखकर हनुमान्‌जीने उससे यह कहा है)। इसी तरह हनुमान्‌जीने पर्वतपर चढ़कर लंकाके अत्यंत बलवान मल्लोंको देखकर ('कहुँ माल देह बिसाल सैल समान अति बल गर्जहीं') निश्चय किया था कि हम अकेले सबको परास्त कर सकते हैं, तभी तो वे सीताजीसे कहते हैं—'परम सुभट रजनीचर भारी॥ तिन्ह कर भय माता मोहिं नाहीं। ५।१७।' मेघनादको देखतेही वे उसे दारुण भट समझ गए, यथा—'कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥'

बाबा हरिदासजी 'अतुल बलसींव' जाननेके कारण ये कहते हैं। १—सर्व-उरवासी श्रीरामजीने जना दिया, जिसमें वे हनुमान्‌जीको भेजें। शिवरूप-आचार्य हनुमान्‌जी द्वारा सुग्रीवको प्राप्ति करानेके लिये ऐसा किया। २ श्रीरामजी सूर्यवंशी और सुग्रीव सूर्यके पुत्र; अतएव सूर्यने जना दिया जिसमें दोनों मिल जायँ। ३—देव अंश होनेसे। वा, ४—भावी प्रबल है, वालिका काल निकट है, इससे जान गए।

२ (क) 'अति सभीत' का भाव कि सुग्रीव तो वालिसे सदा सभीत रहते ही थे, यथा—'यहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहौं मन माहीं। ४।६।१३।'; अब इनको निःशंक घोर वनमें विचरण करते और 'अतुलबलसींव' देखकर 'अति सभीत' हुए। (पं०, पां०)। 'अतिसभीत' से सूचित हुआ कि सुग्रीवके हृदयमें भयानकरसका स्थायी भाव भय बहुत दिनसे है। श्रीसुग्रीवजीको वीरका प्रयोजन है, अतः रघुनाथजीने वीरस्वरूपका बोध कराया। (मा० त० भा०)। पुनः भाव कि मंत्री सभीत थे और ये 'अति सभीत' थे। (मा० त० प्र०)। अथवा, यह सोचकर सभीत हुए कि यदि भाग चलूँ तो आगे कहीं वालि न खड़ा हो और यदि तपस्वी समझकर बैठा रहूँ तो कहीं ऐसा न हो कि ये आकर मुझे मार डालें या बाँधकर वालिके पास ले जायँ तब क्या होगा, यह सोचकर 'अति सभीत' हुए। (पं०)।

(ख) 'अति सभीत' होना सुग्रीवके 'सुनु हनुमाना' संबोधनसे भी सूचित हो रहा है। अत्यन्त त्वरामें आतुरता और आर्त होनेसे 'सुनु' एकवचनका प्रयोग किया है। (प्र०)। नहीं तो अन्य प्रसंगोंमें बहुवचनमें संबोधित करते हैं, यथा—'अब मारुतसुत दूत समूहा। पठवहु जहँ तहँ बानर जूहा। ४।१६।४। कहहु पाख महँ आव न जोई।' इसी तरह लक्ष्मणजीको क्रुद्ध देखकर अत्यंत भय हो जानेसे पुनः एकवचनका प्रयोग हुआ है, यथा 'कह कपीस अति भय अकुलाना। सुनु हनुमंत संग लै तारा। ४।२०।' (प० प० प्र०)।

नोट—३ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि श्रेष्ठ आयुध धारण किये हुए दोनों वीर भाइयों महात्मा श्रीरामलक्ष्मणको देखकर सुग्रीव शंकित हो गया। उसका हृदय बेचैन हो गया, वह चारों दिशाओंमें देखने लगा। वह वानरश्रेष्ठ किसी स्थानमें स्थिर न रह सका। दोनों महाबली वीरोंको देखकर उसका चित्त परम भयभीत हो गया, उसका मन स्थिर नहीं होता, वह कहीं स्थिर होकर बैठ न सका। ऋष्यमूक पर्वतके समीप विचरनेवाले अद्भुत दर्शनीय दोनों वीरोंको देखकर वह विषादयुक्त हो गया, अत्यन्त चिन्ता व्याप गई और

भयके भारसे वह दब गया। यथा—'तौ तु दृष्ट्वा महात्मानौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ। वरायुधधरौ वीरौ सुग्रीवः शंकितोऽभवत् ।१। उद्विग्नहृदयः सर्वा दिशः समवलोकयन्। न व्यतिष्ठत कस्मिंश्चिद्देशे वानरपुंगवः ।२। नैव चक्रे मनः स्थातुं (स्थाने) वीक्षमाणौ महाबलौ। कपेः परमभीतस्य चित्तं व्यवससाद ह ।३।'—(सर्ग २)। पुनः यथा—'तावृष्यमूकस्य समीपचारी चरन्ददर्शाद्भुतदर्शनीयौ।....दृष्ट्वा विषादं परमं जगाम चिन्तापरीतो भयभारभग्नः।' सर्ग १।१२८; १२९।' सुग्रीवजीकी यह सब दशा कविने 'अतिसभीत' शब्दोंसे जना दी है। भयका कारण आगे कवि स्वयं लिखते हैं।

४ (क) 'पुरुष' से जनाया कि ये अपने बातके धनी हैं, जो प्रतिज्ञा करते हैं उसको पूर्ण करनेका इनमें पुरुषार्थ भी है। वचनके लिए प्राण तक देना उनको सहज है यह दृढ़तासे ज्ञात होता है। यही पुरुषत्व है। (मा० म०)। (ख) 'बलरूप निधान' का भाव कि ये दोनों बातें एक साथ प्रायः नहीं होतीं पर इनमें ये दोनों हैं, अतः ये कोई विलक्षणही पुरुष हैं।

**धरि बटु रूप देखु तैं जाई। कहेसु जानि जिय सयन बुझाई ॥४॥**

**पठए* बालि होहिं मन मैला। भागौं तुरत तजौं† यह सैला ॥५॥**

अर्थ—ब्रह्मचारीका रूप धारण करके तुम जाकर देखो और उनके हृदयकी अपने जीसे जानकर इशारेसे हमको समझाकर कह देना।४। मैले मनवाले बालिके भेजे हुए हों तो (एवं बालिके भेजे हुए होंगे तो इनका मन मैला होगा। वा, बालिके भेजे हुए हों और मनमें मैल हो तो) मैं तुरत भाग जाऊँ और इस पर्वतको छोड़ दूँ।५।

नोट—१ अ० रा० सर्ग १ में इन चौपाइयोंसे मिलते हुए श्लोक इसी प्रसंगमें हैं। यथा—'गच्छ जानीहि भद्रं ते वटुर्भूत्वा द्विजाकृतिः ॥८॥ वालिना प्रेषितौ किंवा मां हन्तुं समुपागतौ। ताभ्यां संभाषणं कृत्वा जानीहि हृदयं तयोः ।९। यदि तौ दुष्टहृदयौ संज्ञां कुरु कराग्रतः ।१०।' अर्थात् हे सखे! तुम्हारा कल्याण हो। तुम ब्राह्मण ब्रह्मचारी बनकर इनके पास जाओ। उनसे बातचीत करके उनके हृदयकी जान लेना कि वे बालिके भेजे हुए हमारे मारनेके लिए तो नहीं आ रहे हैं। यदि वे दोनों दुष्ट हृदय हों तो हाथके अग्रभागसे हमको इशारा कर देना।

२ 'धरि बटु रूप' इति। 'बटु' का अर्थ आगे कवि स्वयं करते हैं, यथा—'बिप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊ'। बटु=विप्र। बटु रूप क्यों धारण करनेको कहा गया? उत्तर—(क) वानररूप मनुष्योंसे बातचीत करनेके उपयोगी नहीं, यह वाल्मीकिजीका मत है। यथा—'कपिरूपं परित्यज्य हनुमान्मारुतात्मजः। भिक्षुरूपं ततो भेजे शठबुद्धितया कपिः। ४।३।२।' कपि शठबुद्धि होते हैं और यहाँ वचनप्रवीणताका काम है, अतः उसके योग्य शरीर धारण किया। (ख) श्रीरामलक्ष्मणजी तपस्वी वेषमें हैं पर धनुष, बाण, तरकश आदि धारण किए हैं, इससे देखनेसे क्षत्रिय जान पड़ते हैं, जैसा हनुमान्जीके प्रश्नसे विदित है, यथा—'छत्रीरूप फिरहु बन बीरा'। क्षत्रिय ब्राह्मणभक्त होते हैं। अतः विप्ररूपसे गए। (मा० त० भा०)। (ग) ब्रह्मचर्याश्रममें रहनेवाला, विद्याध्ययन करनेवाला यह बटुरूप सबका कृपापात्र होता है; क्योंकि छोटी अवस्थासे ही ये विद्याध्ययन और धर्ममें लग जाते हैं जब कि अन्तःकरण शुद्ध होता है। अतः इनसे लोग अपना हाल कहनेमें हानि नहीं समझते। भस्मासुरसे शिवजीको बचानेके लिए भगवान्ने ब्रह्मचारी बनकर उनसे सब मर्म पूछा था कि क्या करना चाहता है—(व्यासजी)। (घ) ब्राह्मण अवध्य है, दुष्ट हृदय भी होंगे तो भी ब्रह्मचारीको न मारेंगे। दूसरे, ब्रह्मचारी प्रायः वनमें रहाही करते हैं, इससे वहाँ बटुको देखकर किसी प्रकारका संदेह भी न होगा। (मा० म०)। हनुमान्जी सुग्रीवके बुद्धिमान मंत्री और बलवान हैं। यदि ये मार डाले गए तो सुग्रीवको एक बड़े भारी मित्रकी हानि हो जायगी; इससे बटुरूपसे जानेको कहा क्योंकि यह अवध्य है। (शीला)। (ङ) विद्यार्थीका स्वभाव चंचल होता है। विना प्रयोजन भी उनका पूछना अनुचित नहीं होगा। (पां०)।

* पठवा—को० रा०। † तजौ-भा० दा०। तजौं—का०। तजउँ-ना० प्र०।

(च) यह वेष मंगलकारी माना जाता था। ☞ स्मरण रहे कि हनुमान्‌जीने विभीषणजी एवम् भरतजीसे (उत्तरकांडमें) मिलनेके लिए भी विप्ररूप ही धारण किया, यथा—'विप्ररूप धरि बचन सुनाये' और 'विप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत'। पर सीताजीके पास वानररूपसे ही गए जिसका कारण उस प्रसंगमें दिया गया है। प० प० प्र० स्वामीजीका मत है कि "सुग्रीवने बटुरूप धारण करनेको कहा और हनुमान्‌जीने विप्ररूप लिया। क्योंकि बटु अल्पवयस्क होते हैं, कोई बुद्धिमान उनके साथ महत्वके विषयकी चर्चा न करेंगे। दूसरे पासमें कोई ऋषिकुल भी नहीं है, ब्रह्मचारीरूपमें कपटकी शंका संभव थी। बटु और विप्र एक नहीं हैं, यथा 'सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना।....सोचिय बटु निज ब्रत परिहरई।' (२।१७२); परन्तु मेरी समझमें प्रथम 'बटु' और यहाँ 'विप्र' शब्द देकर यह जनाया है कि ब्राह्मण ब्रह्मचारी बनकर गए, क्षत्रिय आदि वर्णोंके ब्रह्मचारी नहीं बने। इस प्रकार दो जगह दो भिन्न शब्द देकर अ० रा० के 'बटुर्भूत्वा द्विजाकृतिः। ३।१।८' का भाव यहाँ बता दिया गया। यही भाव मेरी समझमें 'प्रभु हनुमंतहि कहा बुझाई। धरि बटु रूप अवधपुर जाई॥ भरतहि कुसल हमारि सुनाएहु।६।१२०।' और 'विप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत।७।१।' का है। श्रीरामजीने बटुरूपसे जानेको कहा, अतः ब्राह्मण बटुरूपसे गए।

३ (क) 'जानि जिय' इति। संभाषण द्वारा, उनके वचनों, चेष्टाओं और रूपके द्वारा उनके हृदयके भावोंको जाननेको कहा। और यह कहा कि शुद्ध हृदय हों तो भी वचनों और रूपोंके द्वारा इनके भीतरी भावोंको जाननेका प्रयत्न करो। दुष्टभावनासे तो यहाँ नहीं आए हैं। यथा—'इङ्गितानां प्रकारैश्च रूपव्याभाषणेन च।२४। लक्षयस्व तयोर्भावं....।शुद्धात्मानौ यदि त्वेतौ जानीहि त्वं प्लवङ्गम। व्याभाषितैर्वा रूपैर्वा विज्ञेया दुष्टताऽनयोः।२७। वाल्मी० ४।२।' (ख) 'सैन बुझाई'। अध्यात्ममें हाथके अग्रभाग अर्थात् अँगुलीसे इशारा करनेको कहा है। मतभेदके कारण कविने केवल 'सैन बुझाई' पद देकर सबके मतोंकी रक्षा की। (मा० त० भा०)। दोनों भाई उत्तरसे दक्षिणको आते थे और हनुमान्‌जी दक्षिणसे उत्तरको जाते हैं; अतएव सुग्रीवके पीछे पड़नेसे सैन बताना नहीं बनता, इस कारण सुग्रीवके वचनमें यह ध्वनि है कि तुम दक्षिणकी तरफ फिरकर खड़े होना जिसमें सैन बताते बने। (मा० म०)। यह भाव वाल्मी० ४।२।२६ 'ममैवाभिमुखं स्थित्वा पृच्छ त्वं हरिपुंगव।' (अर्थात् तुम मेरे सम्मुख खड़े होकर उनसे बातचीत करना) से सिद्ध होता है। यद्यपि सुग्रीवने संकेत करनेको कहा था तथापि कोई संकेत अ० रा० में भी नहीं पाया जाता। कारण कि संकेत तब किया जाता जब वे शत्रुपक्षके होते। मित्रपक्षके होनेका संकेत 'लिये दुऔ जन पीठि चढ़ाई' से हो गया। यही संकेत है।

४ 'पठए बालि होहिं मन मैला' इति। (क) बालिको पापी कहनेका भाव यह है कि उसने सुग्रीवकी स्त्रीको हरण करके उसके साथ संभोग किया, यथा—'हरि लीन्हेसि सरबस अरु नारी'। तात्पर्य यह कि पापीके भेजे होंगे तो इनके हृदय भी पापी होंगे, संभाषण करनेसे जान लिए जायँगे। (मा० त० भा०)। (ख) बालिने अवश्य इन्हें भेजा होगा, यह संदेह होनेका कारण है, अतः कहा कि 'पठए बालि होहिं'। फिर कारण कहा कि वह 'मन मैला' है। इसीको विस्तारसे वाल्मी० सर्ग २ श्लोक २१, २३ में यों कहा है कि 'राजाओंके बहुत मित्र होते हैं। विश्वास करना उचित नहीं। बालि बुद्धिमान और दूरदर्शी है। अपने शत्रुके नाशका प्रयत्न बड़ी योग्यतासे करेगा।' यथा—'वालिप्रणिहितावेव शङ्केऽहं पुरुषोत्तमौ। राजानो बहुमित्राश्च विश्वासो नात्र हि क्षमः।२१। कृत्येषु वाली मेधावी राजानो बहुदर्शिनः। भवन्ति परहन्तारस्ते ज्ञेयाः प्राकृतैर्नरैः।२३।' नीति भी है कि 'रिपु रिन रंच न राखब काऊ। २।२२९।२।' यहाँ हम उससे निर्भय हैं; क्योंकि वह यहाँ शापवश आ नहीं सकता, अतएव उसने दूसरेको यहाँ हमारे मारनेको अवश्य भेजा होगा। इस प्रकार 'मन मैला' बालिका विशेषण हुआ। पुनः, यह दोनों भाइयोंके लिए भी है। यदि यह शंका हो कि भला बालिके भेजे हुए होंगे तो वह अपना मर्म क्यों कहेंगे तो उसके लिए चिह्न बताते हैं कि उसके भेजे होंगे तो इनका मन भी मैला होगा, जो बिना कारण दूसरेका वध करने जायगा उसका मन प्रसन्न नहीं होगा, वे ठीक उत्तर न देंगे, इधर-उधर टालेंगे, बातों और चेष्टासे हृदयकी साधुता एवं दुष्टता प्रकट हो जायगी। यह भाव अध्यात्मके 'यदि तौ

दुष्टहृदौ' और वाल्मी० के 'विज्ञेया दुष्टताऽनयोः।२।२७।' इन वचनोंसे प्रमाणित होता है। (मा० त० भा०, पं०, वै०, प्र०)। (ग) 'कहेसु जानि जिय सैन बुझाई' में दुष्टहृदय होनेपर संकेत करनेको कहा है। वह संकेत भी 'मन मैला' शब्दोंसे इस प्रकार अर्थ करनेसे निकल आता है कि 'पठए बालि, होहिं मन मैला' अर्थात् बालिके भेजे हों तो तुम 'मन मैला' (उदास) हो जाना। (तो हम जान लेंगे)। (पां०)। अथवा, (घ) 'पठए बालि होहिं मन मैला'=बालिने भेजा है (यह इससे समझता हूँ कि मेरा) मन मलिन (उदास) हो रहा है। (मा० म०)। इस प्रकार मा० म० कार 'मन मैला' का संबंध बालि और सुग्रीव दोनोंके साथ मानते हैं। यदि बालि, सुग्रीव और श्रीराम लक्ष्मण तीनोंके साथ इसे लेलें तो और भी उत्तम अर्थ हो जाता है। ☞ मा० त० भा० में 'होहि' पाठ है। जिससे दोनों भाव निकल सकते हैं। पर 'होहिं' पाठ जो भा० दा० और का० में है, उससे ये भाव नहीं निकल सकते। (ङ) 'बालिके भेजे हुए हों और मन मैले हों' इस अर्थमें भाव यह है कि प्रथम तो यह जाननेका प्रयत्न करना कि बालिके भेजे हुए तो नहीं हैं; क्योंकि हमें सदा उसीकी शंका रहती है। यदि वे बालिके भेजे हुए हों तब यह जाननेका प्रयत्न करना कि उनके मनमें मैल है या उनके मन शुद्ध हैं अर्थात् वे हमारे हित हैं या अनहित। क्योंकि यह संभव है कि वे हम दोनों भाइयोंमें सुलह करानेके लिए भेजे गए हों। (श्रीनंगेपरमहंसजी)।

मा० त० भा०—'भागौं तुरत०' का भाव कि पास आ जानेपर इनसे न बच सकेंगे। यहाँसे भागकर कहाँ जायँगे? इसका उत्तर यह है कि सुग्रीवको भागनेका बल है। वे जानते हैं कि भागनेसे बालि हमको न पायेगा जैसे पहले नहीं पाता रहा। बालि दौड़नेमें सुग्रीवको क्यों नहीं पाता था? इसका उत्तर यह है कि ये सूर्यके अंशसे हैं और सूर्य अत्यन्त शीघ्रगामी हैं। यहाँ भयानक रसका तर्क संचारी भाव है। [सुग्रीव चारों दिशाओंमें भागकर गए पर कहीं वे बालिसे न बचे, तब ऋष्यमूकपर आकर रहे जहाँ बालि शापके कारण आ नहीं सकता था, तो अब भागकर कहाँ जायँगे? यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर अ० दी० कार यह देते हैं कि सुग्रीव पर्वतके चारों शिखर छोड़कर पर्वतके भीतर बीचमें घर बनाकर निवास करनेको कहते हैं।]

नोट—४ हनुमान्‌जी हीको क्यों यहाँ संबोधन किया और इन्हींको क्यों भेजा? इसका कारण यह है कि जब सुग्रीव अत्यन्त भयभीत हुए और उन्होंने सबसे कहा तो और सब भी बहुत भयभीत हो गये थे। केवल हनुमान्‌जी निर्भय रहे और इन्होंने सुग्रीवको समझाया कि डरनेका कारण नहीं, विज्ञान बुद्धिसे राजाको काम लेना चाहिये, इत्यादि। तब सुग्रीवने हनुमान्‌जीके सुंदर वचन सुनकर इन्हें सबमें परम बुद्धिमान समझकर इन्हींको सम्बोधन करके इन्हींसे ब्राह्मणरूपसे जाकर पता लगानेको कहा। ऐसा वाल्मीकीयमें कहा है। यथा—'ततस्तु भयसंत्रस्तं वालिकिल्विष शङ्कितम्। उवाच हनुमान् वाक्यं सुग्रीवं वाक्यकोविदः।१३। संभ्रमस्त्यज्यतामेष सर्वैर्वालिकृते महान्। मलयोऽयं गिरिवरो भयं नेहास्ति वालिनः।१४।....बुद्धिविज्ञानसंपन्न इङ्गितैः सर्वमाचर! नह्य बुद्धिंगतो राजा सर्वभूतानि शास्ति हि।१८। सुग्रीवस्तु शुभं वाक्यं श्रुत्वा सर्वं हनूमतः। ततः शुभतरं वाक्यं हनुमन्तमुवाच ह।१६। (सर्ग २)।' अर्थात् बालिके कुचक्रसे शंकित और डरे हुए सुग्रीवसे वाक्यमें पंडित हनुमान्‌जी बोले कि बालिके द्वारा अनिष्टकी शंका आप छोड़ दें, इस मलय पर्वतपर वह नहीं आ सकता।....बुद्धि और विज्ञानसे युक्त होकर आपको दूसरों की चेष्टाओंसे उनका भाव समझकर अपनी रक्षाका उपाय करना चाहिए। जो राजा बुद्धिका त्यागकर देता है वह अपनी प्रजाका शासन नहीं कर सकता। हनुमान्‌जीके ये सुंदर वचन सुनकर सुग्रीव हनुमान्‌जीसे अधिक सुंदर वचन बोले। ☞ सुग्रीवजी जानते हैं कि इनके समान तेजस्वी, बली, बुद्धिमान, पराक्रमी, देशकालानुवर्ती तथा नीतिज्ञ पृथ्वीपर नहीं है। यथा—'तेजसा वापि ते भूतं न समं भुवि विद्यते।....त्वय्येव हनुमन्नास्ति बलं बुद्धिः पराक्रमः। देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डित। वाल्मी० ।४।४४।६-७।' सुग्रीवको पूर्णविश्वास है कि हनुमान्‌जी ही कार्य सिद्ध करेंगे—'स हि तस्मिन्हरिश्रेष्ठे निश्चितार्थोऽर्थसाधने। ४।४४।१।', 'कार्यसिद्धिं हनुमति', 'ततः कार्यसमासङ्गमवगम्य हनूमति।४।४४।८।' और ऐसा हुआ भी। हनु-

मान्‌जीसे सब बात भी पूछ ली और दोनों भाइयोंको पीठपर चढ़ाकर ले चले जिसमें सुग्रीवजी समझ जायँ कि इनसे भय नहीं है, प्रत्युत इनसे सहायताकी आशा है।—अतः इन्हींको भेजा।

**बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ। माथ नाइ पूछत अस भयऊ ॥६॥**

अर्थ—ब्राह्मणरूप धारण करके कपि हनुमान्‌जी वहाँ गए और माथा नवाकर इस प्रकार पूछने लगे।६।

नोट—१ 'माथ नाइ' इति। 'ब्राह्मण होकर क्षत्रियोंको मस्तक कैसे नवाया?' यह शंका उठाकर उसका समाधान महानुभावोंने अपनी अपनी मतिके अनुसार जो किया है वह नीचे दिया जाता है—

१ पां०, प्र०, मा० त० भा०—ईश्वर जानकर वा देवबुद्धिसे प्रणाम किया। हनुमान्‌जीके प्रश्नसे यह बात स्पष्ट है, यथा—'की तुम्ह तीन देव महँ कोऊ। नर नारायन की तुम्ह दोऊ।०० की तुम्ह अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार'। 'ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नर नारायण और अखिल भुवनपति' ये सब प्रणाम करने योग्य हैं। इसीसे प्रणाम किया।

२ श्रीरामचन्द्रजी और श्रीलक्ष्मणजीके तेज प्रतापका यह प्रभाव है कि श्रीजनक महाराज और उनके मंत्री भूसुरवृन्द आदि जो उनके साथ विश्वामित्रजीसे मिलने गए थे सभीने बिना जाने ही बरबस उनका अभ्युत्थान किया था। यथा—'उठे सकल जब रघुपति आये।१।२१५।' और उनके चित्तमें इनकी ईश्वरता झलक पड़ी, यथा—'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय वेष धरि की सोइ आवा।....१।२१६।'; जब 'भूसुर बर गुरु ज्ञाति' शतानंदजी आदिने अभ्युत्थान दिया तब यहाँ आश्चर्य क्या? अपनेसे अधिक तेजस्वी प्रतापशाली महात्माको देखकर स्वतः ही ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो जाती है कि बिना जानेही हमारा मस्तक उनके सामने झुक जाता है। इसके प्रमाणमें यह श्लोक भी है—'ऊर्ध्वं प्राणाह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति। अभ्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान प्रतिपद्यते।' (मनुस्मृति, आचाराध्याय)। अर्थात् बूढ़ेके आनेसे जवानके प्राण ऊपरको चढ़ जाते हैं। उठने और अभिवादनसे फिर ज्योंके त्यों हो जाते हैं। (विशेष १।२१५।६ में देखिए)।

प्रणाम करना वाल्मी० और अ० रा० में भी है। यथा—'विनीतवदुपागम्य राघवौ प्रणिपत्य च। वाल्मी० ४।३।३।', 'विनयावनतो भूत्वा रामं नत्वेदमब्रवीत्। अ० रा० ४।१।११।' दोनों रामायणोंसे सिद्ध होता है कि दोनों भाइयोंमें बड़ा तेज उन्होंने देखा तभी तो उनके वचन हैं कि 'द्योतयन्तौ दिशः सर्वाः प्रभया भास्कराविव। अ० रा० ४।१।१२।', 'प्रभया पर्वतेन्द्रोऽसौ....। वाल्मी० ४।३।११।' अपने शरीरकी कान्तिसे आपने समस्त दिशाओंको सूर्यके समान प्रकाशमान कर रक्खा है। यह सारा पर्वत आपकी प्रभासे जगमगा गया है। अतः अपनेसे अधिक तेजस्वी देखकर प्रणाम करना स्वाभाविक है। देखिए महाराज परीक्षितकी सभामें वसिष्ठादि ऋषि भी शुकदेवजीको आते देख उठकर खड़े हो गए थे। रावणकी सभामें अंगदके पहुँचनेपर सभी सभासद आसनोंसे उठकर खड़े हो गए थे। तब तेजराशि तेजनिधान श्रीराम-लक्ष्मणजीको देखकर बटुका मस्तक झुकनेमें क्या आश्चर्य है!

वाल्मीकीय आदिसे भी यही स्पष्ट है कि हनुमान्‌जी इनको देवताही समझे, यथा—'देवलोकादिहागतौ' (४।३।१२), अर्थात् क्या आप देवलोकसे आये हैं। ऐसा प्रभाव पड़नेपर कैसे प्रणाम न करते? बाबा हरिहरप्रसाद का भी यही मत है कि जितने विकल्प हनुमान्‌जीके चित्तमें हुए वे सब प्रणाम योग्य स्वरूपके हैं, अतः प्रणाम किया। (मा० सं०)।

३ प० प० प्र०—भगवद्भक्तोंकी इन्द्रियोंका यह सहज स्वभाव हो जाता है कि 'सीस नवहिं सुर गुर द्विज देखी।', उनके मनको ऐसी प्रेरणा प्रकृतिसे ही मिलती है। उनको ऐसे समयपर तर्क या विचार नहीं करना पड़ता। श्रीज्ञानेश्वरजी महाराज 'सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा०। गीता १४।११।' इस श्लोककी व्याख्यामें कहते हैं कि जब रजोगुण और तमोगुणको जीतनेपर सत्वगुणकी वृद्धि होती है तब शरीरमें ये लक्षण प्रकट होते हैं—प्रज्ञा हृदयमें नहीं समाती, इन्द्रियद्वारोंसे बहने लगती है, समस्त इन्द्रियोंमें

विवेक हो जाता है, मानों हाथों और पैरोंमें भी दृष्टि आ जाती है। इत्यादि। श्रीहनुमान्जीको यह प्रेरणा प्रकृतिसे मिली, उनका मस्तक स्वभावतः झुक गया। (ख) श्रीहनुमान्जी अभी निश्चयपूर्वक यह नहीं जानते कि ये क्षत्रिय हैं या नहीं, यह उनके 'छत्री रूप फिरहु बन बीरा' इस प्रश्नसे स्पष्ट है। कारण कि वेष तो हैं मुनियोंका और धनुर्बाणादि तथा गति वीर्यादि क्षत्रियके लक्षण हैं। ब्राह्मण हुए और प्रणाम न किया तो 'पूज्यातिक्रम दोष' रूपी पाप लगेगा। क्षत्रिय होनेपर प्रणाम करनेसे पाप तो लगेगा नहीं। अतः मस्तक नवानेमें कोई शंकाकी बात नहीं है।

४ मा० स०—(क) श्रीरामजी वानप्रस्थ हैं और ये ब्रह्मचारी। अपनेसे उनको श्रेष्ठ जानकर प्रणाम किया। पुनः, (ख) वे लख गए कि ये त्रिदेवसे परे हैं।

५ वेदान्त भूषणजी—स्मृतियोंमें वेदके विद्यार्थीकी संज्ञा 'विप्र' शब्दसे बताई गई है—'वेदपाठी भवेद्विप्रः ब्रह्म जानाति ब्रह्मणः।' ब्रह्म अर्थात् वेदके विज्ञाताकी संज्ञा ब्राह्मण है। 'विप्र' शब्दकी तरह 'बटु' शब्दका अर्थ भी विद्यार्थी ही है। अतः बटु और विप्र पर्यायवाची शब्द हैं। 'महावीर चरितम्'में जब जनकजीने परशुरामजीको परुषवादी 'द्विज' कहकर पुनः कटु रटनेवाला बटु कहा, यथा 'कस्य द्विजे परुषवादिनिचित्तादेः। कर्णोरटन्कटू कथं न बटुर्विसह्यः।३।३१।'; तब परशुरामजीने क्रुद्ध होकर कहा कि क्या मैं अभी तक विद्यार्थी हूँ जो बटु कहकर तुमने मेरा अपमान किया—'मामेवं बटुरित्याक्षिपसि'। इससे यह निश्चय हुआ कि ब्रह्मचर्याश्रम (विद्यार्थी जीवन) आश्रम दृष्टिसे न्यून कोटिका है।

अस्तु। सुग्रीवने बटुरूप धरकर जानेको कहा तब 'बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ'। इसीसे श्रीरामलक्ष्मण दोनों भाइयोंने विप्रवेष देखकर भी स्वयं आश्रममें श्रेष्ठ होनेसे बटु-छात्रको प्रणाम न किया। और, स्वयं क्षत्रिय होनेसे विप्र विद्यार्थीके प्रणाम करनेपर आशीर्वाद भी न दिया। अतः विप्र वेषधारी हनुमान्जीका प्रणाम करना सर्वथा उचित ही हुआ, इसमें अनौचित्यका आभास तक नहीं है।

पुनः धर्मशास्त्रोंकी आज्ञा है कि किसी अपरिचितका अनावश्यक परिचय आदि न पूछना चाहिए। यदि परिचय प्राप्त करना आवश्यक हो तो उसे नमस्कार करके परिचय प्राप्त करे। परन्तु गोत्रोच्चारणपूर्वक नमस्कारका बंधन नहीं है। हनुमान्जी अभी श्रीरामजीसे अपरिचित हैं। इसलिये वे नमस्कार करके परिचय पूछते हैं।

६ दीनजी—ब्रह्मचारी अवध्य और अबाध्य है, अतः यह रूप धारण किया। यह हर एकको प्रणाम कर सकता है, अतएव यह शंकाही निर्मूल है।

७ वै०—ये नित्य पार्षद हैं, इसीसे देखते ही ऐश्वर्य इनके हृदयमें प्रविष्ट हो गया।

(नोट—और भी अनेक भाव और अर्थ लोगोंने लगाये हैं जो अधिक संगत नहीं जान पड़ते। उनमेंसे कुछ यहाँ नीचे दिये जाते हैं और कुछ पृष्ठ १९ पाद-टिप्पणीमें)।

८ पं० श्रीधरमिश्र—हनुमान्जीका भीतर शरीर तो वानरका है और ऊपरसे रूप ब्राह्मणका धारण किए हैं जैसे बहुरुपिया करता है। अतः हनुमान्जीने विचारा कि सन्मुख मुँह करके बात करते ही प्रभु हमको पहिचान लेंगे कि यह वानर है इससे भयसे सिर झुकाकर पूछा। [पर जो रूप हनुमान्जीने धारण किया वह ऐसा नहीं है कि उसको देखकर कोई यह जान लेता कि ये वानर हैं। हनुमान्जीको यह सिद्धि प्राप्त थी कि जो रूप चाहते वे धारण कर सकते थे; यह बात स्वयं उन्होंने श्रीरामजीसे (वाल्मी० ४।३।२३ में) कही है—'कामगं कामचारिणम्।']

९ करु०—ब्रह्मर्षिके बालक जाना, वा, देखतेही परमेश्वरबुद्धि आ गई। अथवा, यों अन्वय कर लें कि—'बिप्ररूप धरि (सुग्रीव कहँ) माथ नाइ कपि तहँ गयऊ और अस पूछत भयऊ' अर्थात् सुग्रीवको प्रणाम करके कपि वहाँ गए और इस प्रकार पूछने लगे।—[पर इस अर्थका प्रमाण कहीं नहीं मिलता। प्रायः सभी रामायणोंमें हनुमान्जीका दोनों भाइयोंको प्रणाम करना पाया जाता है] [नोट—पं० श्रीधरमिश्र

कहते हैं कि ब्रह्मर्षिके बालक जानते तो यह कैसे कहा कि 'छत्री रूप फिरहु बन बीरा'। और परमेश्वरी बुद्धि होनेमें यह शंका होती है कि तब यह कैसे पूछा कि 'को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा'। परमेश्वर जानकर तो चरणोंपर गिरना था, यथा—'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना'। पर हमारी समझमें परमेश्वरी बुद्धिसे यह तात्पर्य है कि देवबुद्धि हुई, अर्थात् ये देवता हैं मनुष्य नहीं। पर अभी निर्णय नहीं होता है कि कौन देवता हैं। देवता समझकर प्रणाम किया और आगे अपना प्रभु जानेंगे तब चरणों पर पड़ेंगे।ॐ

को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा ॥ ७ ॥
कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी ॥ ८ ॥
मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत दुसह बन आतप बाता ॥ ९ ॥

अर्थ—साँवले और गोरे शरीरके आप कौन हैं? जो वीर हैं और क्षत्रियरूप धारण किए हुए वनमें फिर रहे हैं।७। हे स्वामी! यह कठिन भूमि है और आप कोमलपदगामी हैं, आप किस कारणसे वनमें विचर रहे हैं?।८। आपके कोमल मन हरण करनेवाले सुन्दर शरीर हैं और आप वनमें कठिन घाम और हवा सह रहे हैं—यह किस कारणसे?।९।

नोट—१ (क) 'को तुम्ह स्यामल गौर' इति। हनुमान्‌जी जान गए कि श्रीरामचन्द्रजी बड़े हैं और लक्ष्मणजी छोटे। क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी आगे-आगे चल रहे हैं और लक्ष्मणजी पीछे-पीछे। पुनः इससे कि श्रीरामजीमें अधिक तेज झलक रहा है, यथा—'चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा।१।१९८।६।', अतएव क्रमसे पूछ रहे हैं—पहले स्याम शरीर रामजीको पूछा तब गौरवर्ण लक्ष्मणजीको। (ख) 'छत्री रूप फिरहु बनबीरा' इति। धनुषबाण, तरकश और खड्ग धारण किए हैं, अतः क्षत्रियरूप कहा और यह वीरका बाना भी है, यथा—'देखि कुठार बान धनु धारी। भै लरिकहि रिस बीर बिचारी।१।२८४।१।' ये रूपसे भी वीर जान पड़ते हैं और घोर वनमें दोनों निःशंक अकेले फिर रहे हैं, अतः 'वीर' कहा। वाल्मीकीयमें जो हनुमान्‌जीने कहा है कि 'सिंहविप्रेक्षितौ वीरौ महाबलपराक्रमौ। शक्रचापनिभे चापे गृहीत्वा शत्रुनाशनौ।४।३।९। उभौ योग्यावहं मन्ये रक्षितुं पृथिवीमिमाम्।१५। ससागरवनां कृत्स्नां विन्ध्यमेरुविभूषिताम्।....१६। संपूर्णाश्च शितैर्बाणैस्तूणाश्च शुभदर्शनाः।१७। जीवितान्तकरैर्घोरैर्ज्वलद्भिरिव पन्नगैः।१८।' 'सिंहके समान देखनेवाले महाबली और पराक्रमी आप दोनों इन्द्रके धनुषके समान धनुष धारण करके इस देशमें क्यों आये हैं? मैं तो आप दोनोंको समस्त पृथ्वीकी रक्षा करने योग्य समझता हूँ। सागर, वन और विन्ध्य मेरु आदि पर्वतोंसे युक्त समस्त पृथ्वीकी रक्षा आप लोग कर सकते हैं। आपके तरकश प्राण लेनेवाले सर्पके समान भयानक, प्रकाशमान तीखे बाणोंसे भरे हुये हैं'—इससे ज्ञात होता है कि दोनों भाइयोंके अस्त्रशस्त्रसे भी वे जान गए कि ऐसे आयुध धारण करनेवाला कैसा वीर हो सकता है। यह सब 'वीर' का भाव है। पुनः, स्मरण रहे कि जिस वेष-भूषामें श्रीराम-लक्ष्मणजी इस समय थे उस वेषमें अनेक मुनि रहा करते थे। यथा 'कटि मुनि बसन तून दुइ बाँधे। धनु सर कर कुठार कल काँधे।' (परशुरामजी), 'पुरतश्च यस्य वै वेदा कराग्रे वै धनुश्शराः। उभयोर्द्रोण सामर्थ्यं शापादपि शरादपि।' (श्रीद्रोणाचार्यजी), इत्यादि। (ग) 'छत्रीरूप' का भाव कि वस्तुतः आप क्षत्रिय नहीं हैं, वरन कोई देवता हैं जैसा आगे स्वयं कहेंगे।

---

ॐ १ स्वामीसे कपट किया, यह समझकर लज्जावश सिर नीचे कर लिया। (पं०, मा० म०)। वा, २ अपनेसे श्रेष्ठसे वार्ता करनेमें सिर नीचे करके बोलना शिष्टता है—(पं०)। वा, ३—[illegible] जानते हैं, कपट वेष ब्रह्मचारीका बनाया है और ये मनुष्य हैं और क्षत्रिय; अतः प्रणाम किया—(पं०)। वा, ४—शास्त्रमर्यादा है कि कोई वनान्तर वा तीर्थादिमें अपूर्व रूप देख पड़े तो उसमें देवबुद्धि करके उसको प्रणाम कर ले।—(पां०)। ५ उनके तेजसे इनका सिर नीचा हो गया—(पं०)।

अध्यात्ममें भी ऐसा ही कहा है—'भूभारहरणार्थाय भक्तानां पालनाय च।१४। अवतीर्णाविह परौ चरंतौ क्षत्रियाकृती।००'—(स० १)। अर्थात् भूभार उतारने और भक्तोंकी रक्षा करनेके लिए आपने यहाँ अवतार लिया और क्षत्रियरूपसे पृथ्वीपर विचर रहे हैं। (मा० त० भा०)।

टिप्पणी—१ (क) 'कठिन भूमि' का भाव कि आप कठोर पृथ्वीपर चलने योग्य नहीं हैं, यथा—'जौं जगदीस इन्हहिं बन दीन्हा। कस न सुमनमय मारग कीन्हा।२।१२१।४।' (ख) 'कोमल पद गामी' का भाव कि आप कोमल पदसे पैदल चलने योग्य नहीं हैं, सवारीपर चलनेके योग्य हैं, यथा—'ये बिचरहिं मग बिनु पदत्राना। रचे बादि बिधि बाहन नाना।२।११९।६।' (मयंककार लिखते हैं कि 'कठिन भूमि कोमल पद गामी।०' में यह ध्वनि है कि काँटे कंकर पत्थरसे आच्छादित मार्गके चलने योग्य आपके चरण नहीं हैं; फिर भी ऐसी कठिन भूमिपर चलनेपर भी आपके चरण कोमल ही बने हैं और आपके चरण जहाँ पड़ते हैं वहाँकी भूमि भी कोमल हो जाती है। इस बातसे आपका ऐश्वर्य झलक रहा है। अतएव बताइए कि वास्तवमें आप कौन हैं?' मिलान कीजिए—'पथिक पयादे जात पंकज से पाय हैं। मारग कठिन कुस-कंटक निकाय हैं। सखी भूखे प्यासे पै चलत चित चाय हैं। गी० २।२८।', 'भइ मृदु महि मुद मंगल मूला', 'परसत मृदुल चरन अरुनारे। सकुचति महि जिमि हृदय हमारे।२।१२१।')। (ग) 'बिचरहु बन' का भाव कि आप दिव्य स्थानमें रहनेके योग्य हैं, यथा—'तरु बर बास इन्हहिं बिधि दीन्हा। धवल धाम रचि रचि श्रमु कीन्हा।२।११९। ८।' (घ) 'स्वामी' का भाव कि आप कोई चक्रवर्ती राजा हैं। यथा—'राजलखन सब अंग तुम्हारे।२।११२।४।' (अथवा, मा० म० के उपर्युक्त उद्धरणसे भाव यह निकला कि कठिन भूमि भी इनके कोमल चरणोंके लिये मृदुल हो गई है, यह देखकर हनुमान्‌जीको संदेह हो गया कि ये अवश्य कोई देवता हैं, यह मनमें आनेसे 'स्वामी' संबोधन मुखसे निकल पड़ा। यही मत प० प० प्र० का भी है)।

नोट—२ 'स्वामी' संबोधन कैसे किया, इसका समाधान 'माथ नाइ' के समाधानमें ही हो गया। पंजाबीजीने दूसरी प्रकार भी अर्थ किया है—'हे वन-स्वामी! अर्थात् ऐसे कठिन वनमें फिरनेसे संदेह होता है कि आप कोई वनदेवता तो नहीं हैं।' पुनः, वे और भाव ये लिखते हैं-(क) सेवककी योग्यता दिखानेके लिए सरस्वतीने 'स्वामी' पद भी मुखसे कहला दिया। वा, (ख) ये भक्तशिरोमणि हैं, भक्तोंकी वाणी जो प्रभुके विषयमें होती है वह अन्यथा नहीं होती। इसीसे संदिग्ध होनेपर भी रघुवीरजीको स्वामी ही कहा। इत्यादि। (इसीको प० प० प्र० स्वामी इस प्रकार लिखते हैं कि 'भक्तहृदयमें भगवान्‌की प्रेरणा ही ऐसी होती है कि असत्य वचन उनके मुखसे स्वाभाविक ही नहीं निकलते हैं। इस संबोधनसे ज्ञात होता है कि हनुमान्‌जी मानों अपना विप्रत्व भूल गए। दास्य भाव जागृत हो गया और ग्रीष्मकी कड़ी धूपमें ऐसे कोमल पुरुषोंको पदगामी देख उनका हृदय द्रवित हो गया। इस भागकी पुष्टि अगले वचनोंसे होती है।')

३ यहाँ बारंबार 'बन' शब्द आया है, यथा—'छत्री रूप फिरहु बन बीरा', 'कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी' और 'सहत दुसह बन आतप बाता'। प्रत्येक अरधालीमें एक-एक बार आया है। इससे जनाया कि इनको वनमें विचरते देखकर हनुमान्‌जीको बड़ा दुःख हुआ, इसीसे आगे उन्होंने दोनोंको पीठपर चढ़ा लिया, यथा—'लिये दुऔ जन पीठि चढ़ाई।' (प्र०)। इसी प्रकार भरतजी दुःखी हुए थे, यथा—'राम लषन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं। एहि दुख दाह दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती।२।२११-२१२।'

'कठिन भूमि कोमलपदगामी' और 'मृदुल मनोहर....बाता' में विषमालंकार है।

४ (क) 'मृदुल मनोहर सुंदर गाता....' इति। 'मृदुल' का भाव कि यह गात रसिकोंके अंकमें विनोद करने एवं कुंकुम कस्तूरी आदिके लेपने योग्य हैं। मनोहर और सुंदरका भाव कि ये इस योग्य हैं कि रसिकोंके मनको हरण करें और वे इसके सौंदर्यका दर्शन करते ही रहें।—यह भाव 'लिए दुऔ जन पीठ चढ़ाई' से पुष्ट होता है। (मा० त० प्र०)। पुनः, 'मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत दुसह००' का भाव यह भी है कि दुःसह 'आतप बात' को सहनेपर भी ये गात 'मृदुल मनोहर सुंदर' बने हैं, इनकी कान्ति चढ़ती ही जाती है,

...ससे भी ऐश्वर्य झलकता है कि आपके तनमें आतप और वात प्रवेश नहीं करते जैसे कवचमें शस्त्राघात ...हीं लगता। नहीं तो 'झलका झलकत पायन्ह कैसे। पंकज कोस ओस कन जैसे।' यह दशा होनी ...ाहिए थी; अतः ज्ञात होता है कि आप मनुष्य नहीं हैं, प्रकृतिगुणपरिणामातीत कोई बड़े देव हैं। (मा० म०, प्र०)। (ख) मनोहर और सुंदर यद्यपि पर्याय हैं तो भी यहाँ व्युत्पत्तिदृष्ट्या 'मनोहर' = मनको चुरानेवाला। और, सुंदर = सु-द्रियते। दृङ् आदरे। = जिससे उत्तम आदर पैदा होता है। वा, 'सु उनत्ति चित्तं द्रवी करोति' (उन्दी क्लेदने) जिससे चित द्रवित होता है वह सुंदर है। (प० प० प्र०)। (ग) पूर्व केवल पदको कोमल कहा और यहाँ 'गात' से जनाया कि समस्त अंग कोमल हैं।

प्र०—पूर्व अ० ६२ (४) में श्रीजानकीजीको समझानेके समय रघुनाथजीने कहा है कि 'कानन कठिन भयंकर भारी। घोर घाम-हिम-बारि-बयारी' और श्रीभरतजीने भी ऐसा ही कहा है, यथा—'बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात। अ० २११।' दोनों स्थलोंपर घाम, वर्षा, हिम और पवन चारोंको कहा पर यहाँ केवल 'आतप और वात' दोही कहे—'सहत दुसह वन आतप वाता'। कारण कि यह ग्रीष्मका समय है जब हनुमान्‌जी उनसे मिले। इस समय घोर घाम और लू दो ही हैं। वर्षा आगे होगी, यथा—'गत ग्रीषम बरषा रितु आई।' और वे अभी जानते नहीं कि ये १३ वर्षसे वनमें विचरण कर रहे हैं, अतः वर्षा और हिम कैसे कहते?

की तुम्ह तीनि † देव महँ कोऊ। नर नारायन की तुम्ह दोऊ ॥१०॥

**दोहा—जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।**
**की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार ॥१॥**

अर्थ—क्या आप तीन देवताओं अर्थात् ब्रह्मा विष्णु महेश त्रिदेवमेंसे कोई हैं या कि आप दोनों नर नारायण हैं?। १०। या कि आप जगत्‌के कारण (उत्पन्न करनेवाले), भवसागर (आवागमनसे) पार कर देनेवाले, समस्त लोकों (१४ भुवनों) के स्वामी हैं (और) पृथ्वीका भार भंजन (तोड़ने, नाश) करनेके लिए मनुष्य अवतार लिया है।१।

टिप्पणी—१ (क) 'की तुम्ह तीनि देव महँ....' इति। दोनोंको विशेष तेजस्वी देखकर पहले संदेह हुआ कि कोई विशेष देवता न हों, अतः तीन जो विशेष देवता हैं उन्हींमेंसे पूछते हैं कि आप कोई हैं। (ख) 'कोऊ' का भाव कि ये दो हैं, दोमें तीनका पूछना अयोग्य है, अतः पूछा कि आप इन तीन देवताओंमेंसे कौन दो हैं—'ब्रह्मा विष्णु हैं, या हरि हर हैं। विष्णु भगवान् श्याम वर्ण हैं, ब्रह्मा पीत और महेश गौरवर्ण हैं। अतएव पूछते हैं कि इन दो जोड़ियोंमेंसे आप कोई हैं। ऐसा पूछनेसे श्यामगौरवर्णकी भी जोड़ी बनी रही, ब्रह्मा और महेश दोनों पीत तथा गौर वर्ण हैं इससे इनकी जोड़ीसे तात्पर्य नहीं है। (बरवै रा० में भी मगवासियोंने त्रिदेवमेंसे केवल हरिहर इन्हीं दोका लक्ष्य किया है, यथा—'कोउ कह नर नारायन हरि हर कोउ। २।२ २।' पर यहाँ 'तीन देवमहँ कोऊ' कहनेसे एकसे अधिक जोड़ियाँ बनेंगी)। (ग) [ये दो हैं और त्रिदेव तीन। अतः फिर सोचा कि नर नारायण दो हैं और उनकी भी गौर-श्याम जोड़ी है एवं वे दोनों सदा साथ ही रहते हैं, अलग नहीं होते। ऐसी परस्पर उनमें प्रीति है, यथा—'नर नारायन सरिस सुभ्राता।' और वे भी अवतार लिया करते हैं तो ये कहीं वे ही न हों। अतएव 'त्रिदेवमेंसे पूछकर तब पूछा कि आप नर नारायण तो नहीं हैं? जब इतनेपर भी उत्तर न मिला तब सोचे कि अखिल-ब्रह्माण्ड-नायकही न हों; अतः तीसरा प्रश्न इसका किया। यहाँ हनुमान्‌जी ठीक किसीमें निश्चय न कर सके, यह संदेहालंकार है।])

प्र०—'जग कारन' और 'तारन भव' दो विशेषण देकर जनाया कि जगत्‌में जन्म होना और जगत्‌से छूटना (मुक्त होना) दोनों आपके ही अधीन हैं, यथा—'नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरै तुम्हारेहि...

† तीनि—(भा० दा०), तीन—(का०)।

छोरा। ४।३।२।' 'तुलसिदास यह जीव मोह रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै।' (वि० १०२), 'बंध मोच्छप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव।' (आ० १५), 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। तैत्ति० भृगु१।' 'भंजन धरनी भार' और 'लीन्ह मनुज अवतार' में यह भाव है कि हम सब जिसकी (ब्रह्मा द्वारा) आज्ञासे आकर वानर भालु बने, यथा—'अंसन सहित मनुज अवतारा। लेहौं दिनकर बंस उदारा।' 'हरिहौं सकल भूमि गरुआई। १।१८७।' और 'वानर तनु धरि धरि महि हरिपद सेवहु जाइ। १।१८७।', आप वही तो नहीं हैं ?

टिप्पणी—२ (क) 'अखिल भुवन पति' कहनेका भाव कि सभी भुवन रावण द्वारा पीड़ित हैं। 'मनुज-अवतार' लेनेका भाव कि रावणकी मृत्यु मनुष्यके हाथ है। यथा—'रावन मरन मनुज-कर जाँचा। १।४९।१।' (ख) हनुमान्‌जीने प्रथम दो दो मूर्तिमें प्रश्न किया—आप ब्रह्माविष्णु हैं, या शिवविष्णु हैं, या कि नरनारायण हैं—अब यहाँ एक ही मूर्तिमें दो मूर्तियोंका प्रश्न करते हैं कि आप अखिल भुवनोंके पति तो नहीं हैं जो दो स्वरूप धारण किए हैं। ऐसा ही प्रश्न श्रीजनकमहाराजजीका है, यथा—'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा। १।२१६।२।' (ग) प्रथम तीन देवमें प्रश्न किया तब नर नारायण दो में और अन्तमें अखिलभुवनपति एकमें प्रश्न किया; इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम स्थूल अनुमान करके पीछे सूक्ष्म अनुमान किया। भगवान्‌के रूपके समझने और अनुमान करनेकी यही रीति है। प्रमाणं यथा भागवते पंचमस्कन्धे—'श्रुत्वा स्थूलं तथा सूक्ष्मं रूपे भगवतो यतिः। स्थूले निर्जितमात्मानं शनैः सूक्ष्मं धियान येत्।' अर्थात् यती (भगवान्‌की प्राप्तिके लिए यत्न करनेवाला) भगवान्‌के स्थूल और सूक्ष्म रूपको सुनकर स्थूल स्वरूपमें चित्तको स्थापन करके धीरे धीरे सूक्ष्मरूपमें बुद्धिके द्वारा चित्तको ले जाय। श्रीहनुमान्‌जीकी यहाँतक यथार्थ पहुँच कि 'की तुम्ह अखिल-भुवन-पति०' उनके भक्तिशिरोमणि और श्रीजनक समान योगीश्वर होनेका परिचय दे रहा है। योगियोंके हृदयमें सत्यका ही अनुभव हुआ करता है, यह बालकाण्डमें लिखा जा चुका है और उत्तम भक्तोंके भी अनुमान और अनुभव ऐसे ही होते हैं, यथा—'की तुम्ह हरिदासन्ह महँ कोई। मोरे हृदय प्रीति अति होई। ५।६।७।' (विभीषण-वाक्य)।

☞यहाँ हनुमान्‌जीका मन स्वाभाविक स्वामीकी सूचना दे रहा है।

गौड़जी—जनकजी भी तीनों प्रश्न करते हैं, (१) मुनिकुल तिलक = नरनारायण, (२) नृपकुल पालक = विष्णु, जो नृपकुलमें हुए हैं, यह गूढ़ोक्ति है। (३) ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा, इत्यादि = अखिल भुवनपति।

मयूख—हनुमान्‌जीने चार प्रश्न इन पदोंमें किए*। वे एकही प्रश्न करके चुप हो जाते परन्तु ऐसा न करके वे क्रमशः एकसे परे दूसरा प्रश्न करते ही गए। इसका कारण यह है कि ज्यों-ज्यों श्रीरामचन्द्रजीकी मधुरताको, जो उनके शरीरसे स्रव रही थी, पान करते गए त्यों त्यों कुछ और दर्शित होता गया—अर्थात् ईश्वरता झलकती गई और तर्क होता गया। दूसरे, हनुमान्‌जीके प्रश्नका उत्तर प्रभु नहीं देते, इससे वे पूछते पूछते अन्तिम प्रश्नतक पहुँच गए। जबतक इन्होंने अन्तिम प्रश्न न कर लिया इनको संतोष न हुआ। प्रथम तीन प्रश्नोंका उत्तर श्रीरामजीने इससे न दिया कि उनसे श्रेष्ठ हैं और परतम अवतारको गोपनीय समझकर उसका स्पष्ट उत्तर न देकर नररूपका ही परिचय दिया।

मा० त० प्र०—'जग कारन' से त्रिपाद-विभूति वैकुण्ठवासी वासुदेवसे तात्पर्य है। और 'अखिल भुवनपति' से त्रिपादविभूतिसे परे साकेतपति जनाया। 'तारन भव भंजन धरनीभार' देहलीदीपक है।

नोट—१ यहाँ 'अखिलभुवनपति' और 'मनुज अवतार' भी बड़े गूढ़ पद हैं। शिवजीने विष्णु रामावतार और नारायणरामावतार कहकर तब कहा था कि अब 'कहउँ विचित्र कथा बिसतारी। जेहि कारन

---

* पं० शिवलाल पाठकजी दोहेमें दो प्रश्न मानते हैं। १—जगकारन भवतारण और पृथ्वीका भार हरनेवाले हो ? २—अखिल भुवनपति हो और मनुष्य अवतार लिया है।

अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुरभूपा।'; यहाँ हनुमान्‌जीके शब्दोंमें वही अवतार अभिप्रेत है। उस अवतारमें मनुजीको द्विभुज परात्पर परब्रह्म साकेतविहारीका दर्शन हुआ था, वे ही मनुजीके पुत्र हुए। 'मनुज' शब्दका साधारण अर्थ तो मनुष्य ही है पर यहाँ संकेतसे 'मनुसे जायमान' मनुके पुत्र वा मनुजीके वरदानवाले रामावतारको भी जना दिया है जिनके विषयमें मनुजीने कहा था कि 'बिधि-हरि-हर-बंदित पद रेनू', 'सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा' इत्यादि।

नोट—२ मिलान कीजिए—'युवां त्रैलोक्यकर्ताराविति भाति मनो मम। युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ।१३। मायया मानुषाकारौ चरन्ताविव लीलया। भूभारहरणार्थाय भक्तानां पालनाय च।१४। अवतीर्णाविह परौ चरन्तौ क्षत्रियाकृती। जगत्स्थितिलयौ सर्गंलीलया कर्तुमुद्यतौ।१५। स्वतन्त्रौ प्रेरकौ सर्वहृदयस्थाविहेश्वरौ। नरनारायणौ लोके चरन्ताविति मे मतिः।१६। अ० रा० ४।१।' अर्थात् मेरा मन तो यह कहता है कि आप दोनों त्रिलोकीके रचनेवाले संसारके कारणभूत, जगन्मय प्रधान और पुरुष ही हैं। आप मानों पृथ्वीका भार उतारने और भक्तजनोंकी रक्षा करनेके लिये ही लीला वश अपनी मायासे मनुष्य-रूप धारणकर विचर रहे हैं। आप साक्षात् परमात्मा ही क्षत्रिय रूपमें अवतीर्ण होकर पृथ्वीपर घूम रहे हैं। आप लीलासे ही संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश करनेमें तत्पर हैं। मेरी बुद्धिमें तो यही आता है कि आप सबके हृदयमें विराजमान, सबके प्रेरक, परम स्वतंत्र भगवान् नरनारायण ही इस लोकमें विचर रहे हैं।

| | | |
|---|---|---|
| युवां प्रधान पुरुषौ जगद्धेतू | १ | जगकारन |
| भूभारहरणार्थाय | २ | भंजन धरनी भार |
| भक्तानां पालनाय च | ३ | तारन भव |
| मायया मानुषाकारौ अवतीर्णाविह परौ | ४ | अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार |
| भक्तानां पालनाय च चरन्तौ क्षत्रियाकृती | ५ | छत्री रूप फिरहु बन बीरा |
| नरनारायणौ लोके चरन्तौ | ६ | नर नारायन की तुम्ह दोऊ |

उपर्युक्त मिलानसे पाठक देखेंगे कि मानसका उत्तरोत्तर क्रम कितना सुंदर है!

**कोसलेस दसरथ के जाए। हम पितु बचन मानि बन आए॥ १॥**
**नाम राम लछिमन दोउ भाई। संग नारि सुकुमारि सुहाई॥ २॥**
**इहाँ हरी निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥ ३॥**
**आपन चरित कहा हम गाई। कहहु बिप्र निज कथा बुझाई॥ ४॥**

अर्थ—हम कोसलके राजा दशरथ महाराजके पुत्र हैं, पिताका वचन मानकर वनमें आये हैं।१। हमारा राम लक्ष्मण नाम है, दोनों भाई हैं। साथमें सुन्दर सुकुमारी स्त्री थी।२। यहाँ (वनमें) निशाचरने वैदेहीको हर लिया। हे विप्र! हम उसे ढूँढ़ते फिरते हैं।३। हमने अपना चरित विस्तारसे कह सुनाया। हे विप्र! अब अपनी कथा समझाकर कहो।४।

नोट—१ अ० रा० में इन चौपाइयोंसे मिलते-जुलते श्लोक ये हैं—'अहं दाशरथी रामस्त्वयं मे लक्ष्मणोऽनुजः। सीतया भार्यया सार्धं पितुर्वचनगौरवात्।४।१।१९। आगतस्तत्र विपिने स्थितोऽहं दण्डके द्विज। तत्र भार्या हृता सीता रक्षसा केनचिन्मम। तामन्वेष्टुमिहायातौ त्वं को वा कस्य वा वद।२०।' अर्थात् मैं श्रीदशरथजीका पुत्र राम हूँ और यह मेरा छोटा भाई लक्ष्मण है। पिताकी आज्ञा मानकर मैं अपनी स्त्री सीताके सहित (वनमें) आया था और दण्डकवनमें हम लोग रहते थे। वहाँ किसी निशाचरने मेरी स्त्री सीताको हर लिया। उसे ढूँढ़नेके लिये हम यहाँ आये हैं। कहिये, आप कौन हैं और किसके पुत्र हैं?

☞ मानसमें 'कोसलेस' शब्दसे जाति और जन्मभूमि भी कही है। अ० रा० में यह नहीं है।

मा० त० भा०, पां०—१ 'कोसलेस' से धाम वा नगर और क्षत्रिय जाति, 'दसरथ के जाये' से

पिताका नाम एवं जाति और ऐश्वर्य, 'पितु वचन मानि बन आये' से वनमें आनेका हेतु, 'नाम राम लछिमन' से नाम, 'दोउ भाई' से अपने दोनोंका सम्बन्ध और 'संग नारि....खोजत तेही' से यहाँ पंपासर आदिमें विचरणका कारण कहा।

| श्रीहनुमान्‌जीके प्रश्न | श्रीरामजीका उत्तर |
|---|---|
| को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा | १ 'कौसलेस दसरथके जाये', 'नाम राम लछिमन दोउ भाई।' |
| छत्रीरूप फिरहु बन बीरा | २ हम पितु वचन मानि वन आए। |
| 'कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन हेतु बिचरहु वन स्वामी।....सहत दुसह वन आतपवाता' | ३ 'संग नारि सुकुमारि सुहाई। इहाँ हरी निसिचर वैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही।' |

पं० रामकुमारजी 'कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन००' का उत्तर 'हम पितु वचन मानि वन आए' और 'मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत०' का उत्तर 'संग नारि' इत्यादि लिखते हैं।

प्रथम तीन प्रश्नोंके उत्तर दिए, पर शेष तीनका उत्तर न दिया। 'की तुम्ह तीन देव महँ कोऊ', 'नरनारायन की तुम्ह दोऊ' और 'की तुम्ह अखिल भुवनपति०', इन तीनोंके उत्तर न देनेका कारण यह है कि नरतनमें अपनेको छिपाये हुए हैं, यथा—'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ' (बा० ४८)। इत्यादि (भगवान् शंकरके विचार)। (पां०)। पुनः, उत्तर न देनेसे 'मौनं सम्मति लक्षणम्' न्यायसे और हनुमान्‌जीके प्रश्नोंके अस्वीकार न करनेसे 'अखिल भुवनपति' भगवान् होना भी ध्वनित है। (प० प० प्र०)

टिप्पणी—१ 'सुकुमारि सुहाई' का भाव कि वह वनमें आनेके योग्य न थी, अत्यन्त सुकुमारी थी पर हमारे प्रेमसे वनमें साथ आई। 'सुहाई' का भाव कि उनपर मेरा इतना ममत्व है कि विना उनके कहीं सुख नहीं देख पड़ता। यथा—'पुर तें निकसी रघुबीरबधू धरि धीर दये मग में डग द्वै। झलकीं भरि भाल कनी जल की पुट सूख गये मधुराधर वै। फिरि बूझति है चलनोव कितो पिय पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै। तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै। क० २।११।' (मा० म०)

प० प० प्र०—श्रीहनुमान्‌जीने दोनों भाइयोंको 'मृदुल मनोहर सुंदर' कहा और श्रीरामजीने श्रीसीताजीको 'सुकुमारि सुहाई' कहा। इसमें ध्वनि यह है कि वह तो हम दोनोंसे भी अधिक सुंदर और अधिक कोमल होनेपर भी मेरे साथ वनमें रही। भाव कि वह महान् पतिव्रता है।

नोट—२ नाम, रूप, लीला और धाम ये चारों भक्तोंके इष्ट हैं, क्योंकि ये चारों सच्चिदानंद नित्यरूप हैं, यथा—'रामस्य नाम रूपं च लीला धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानंद विग्रहम्।'; अतः इतनेमें अपने नामरूपादि चारों कहे। 'कौसलसे' से धाम, 'दसरथके जाये' से रूप, 'नाम राम लछिमन' से नाम और 'इहाँ हरी निसिचर वैदेही।०' से लीला सूचित की।—(प्र०)।

### 'इहाँ हरी निसिचर वैदेही।०'

यहाँ लोग शंका करते हैं कि सीताहरण तो पंचवटीमें हुआ तब 'इहाँ हरी' कैसे कहा? श्रीरामजीने प्रथम कहा कि हम पिताकी आज्ञासे वनमें आए, हमारे साथ यह भाई और हमारी स्त्री भी आए। उसीके सिलसिलेमें कहते हैं कि 'इहाँ' अर्थात् वनमें ही हरी। वस्तुतः यह कोई शंकाकी बात नहीं है।

मा० म०—कार और पं० रामकुमारजी इसका समाधान यों करते हैं कि जहाँ सीताहरण हुआ वहाँसे यहाँ तक वन सब एक ही है अर्थात् मिला हुआ है, अतः 'इहाँ' कहा।

बाबा हरिहरप्रसादजी शंकाके निवारणार्थ दूसरा अर्थ यह करते हैं कि 'वैदेहीको निशाचरने हर लिया, हम उसे यहाँ ढूँढ़ते फिरते हैं।' यह अन्वय अ० रा० के 'तत्र भार्या हृता सीता....तामन्वेष्टुमिहागतौ' (उपर्युक्त) के अनुसार है।

श्री० प्र० स्वामीजी कहते हैं कि 'इहाँ' शब्द देकर कवि श्रीरामजीके मनकी दशा दिखा रहे हैं कि यद्यपि सीताहरणको नौ दस मास हो गए तथापि श्रीसीतावियोग दुःख आज भी उनके हृदयमें वैसा ही है जैसा

प्रथम दिन था, मानों सीताहरण आज ही हुआ है। उनको ऐसा ही लग रहा है। मुख्य भाव यही है, नहीं तो 'उहाँ हरी' लिख सकते थे।

कोई महानुभाव ऐसा कहते हैं कि—यहाँ हरी (वानर सुग्रीव) को, निशिचर रावणको और वैदेहीको खोजते हैं। तीनोंके खोजनेका कारण है—श्रीशवरीजीने कहा है कि 'पंपासरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई', अतः सुग्रीवको ढूँढ़ते हैं। और जटायुने कहा था कि 'यह गति मोरि दसानन कीन्हीं। तेहि खल जनकसुता हरि लीन्हीं', अतएव रावणको ढूँढ़ते और 'लेइ दच्छिनदिसि गयउ गोसाईं' अतः यहाँ वैदेहीको भी खोजते हैं। भाव अच्छा है पर इसमें सीताहरणकी बात ऊपरसे लगानी पड़ेगी; अथवा, 'हरी निसिचर वैदेही'का दो वार दो प्रकारसे अर्थ करना होगा। एक अड़चन और यह पड़ेगी कि 'तेहि' एकवचन है और 'हरी' 'निसिचर' और 'वैदेही' तीन मिलकर बहुवचन हो जाते हैं। यदि कविका अभिप्राय तीनोंसे होता तो 'तेही' के बदले 'तिन्हहीं' या कोई अन्य बहुवचनवाचक पर्यायी शब्द दे देते। अतः मेरी समझमें यह अर्थ शब्दोंके अनुकूल नहीं है।

नोट—३ 'वैदेही' पद 'हरी निसिचर' के साथ देनेका भाव यह है कि वह निशिचरके डरसे एवं हमारे वियोगमें देहरहित हो जानेवाली है। पंजाबीजी लिखते हैं कि 'वैदेही' विशेषण और 'विप्र' संबोधनका भाव यह है कि विदेह राजाका ऋषियोंसे अत्यन्त घनिष्ठ स्नेह है, इस संबंधसे उनकी कन्याके खोजनेमें ये भी हमारी सहायता करेंगे।

गौड़जी—माया देहरहित है। उसीकी बनी हुई 'वैदेही' अर्थात् मायाकी सीताका निशिचरने हरण किया, उसी निशिचरको हम खोजते फिरते हैं। गूढ़ोक्ति है।

प० प० प्र०—'वैदेही' से जनाया कि वह विषयपराङ्मुख पूर्ण वैराग्यशीला है, वह विरहावस्थामें विदेहस्थितिमें ही रहेगी, निशाचरके वश होनेवाली नहीं है। अतः हम उसे खोजते फिरते हैं।

'विप्र फिरहिं हम', 'कहहु विप्र'—यहाँ विप्र, विप्र दो वार कहकर जनाया कि हनुमान्जीके 'कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी' के 'स्वामी' शब्दसे भगवान्के हृदयमें भक्त-वात्सल्य जागृत हो गया है, वे कृपा करना चाहते हैं, पर हनुमान्जी अभी कपट वेषमें ही हैं, इसीसे वार-बार विप्र संबोधन करके उनको सावधान कर रहे हैं कि शीघ्र कपट वेष त्याग दें।

आपन चरित कहा हम गाई। विप्र कहहु निज कथा०'

मा० त० भा०—(क) 'आपन चरित' अर्थात् जो हमने कहा है वह हमारा चरित है अर्थात् रामायण है, यथा—'कौसलेस दसरथ के जाए' यह बालकाण्ड है, 'हम पितु बचन मानि बन आये' यह अयोध्याकाण्ड है, 'इहाँ हरी निसिचर वैदेही' यह अरण्य है और 'विप्र फिरहिं हम खोजत तेही' यह किष्किंधा है। वर्तमान तककी कथा कही। (ख)—नरलीलाकी मर्यादा रखनेके लिए हनुमान्जीको विप्र कहा और कथा पूछी, नहीं तो प्रभु तो सब जानतेही हैं।

शीला—'कहहु विप्र निज कथा बुझाई' ये वचन भी गूढ़ हैं। भाव यह है कि जैसे तुमने हमने कहा कि तुम क्षत्रियरूप हो, नर नहीं हो, इत्यादि, वैसेही हम तुमसे पूछते हैं कि तुम कौन हो, क्योंकि तुम्हारे वचन सर्व शास्त्रवेदादिके पूर्ण ज्ञाताके-से हैं, संस्कार और उच्चारणकी शास्त्रोक्तपद्धतिके अनुसार हैं [यथा—'नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः। नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम् ॥२८॥ नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम् ।....' (वाल्मी० ४।३)। अर्थात् जिसने ऋग्वेदकी शिक्षा नहीं पाई, जो यजुर्वेदका ज्ञाता एवं सामवेदका विद्वान नहीं, वह ऐसी बातें नहीं कर सकता, इन्होंने बारंबार व्याकरण पढ़ा है....] ऐसे वचन तुम्हारे ऐसे ब्रह्मचारी मनुष्य नहीं कह सकते। अतः तुम बताओ कि तुम कौन हो?

मा० म०, पां०—'निज कथा' अर्थात् पिताका नाम, कुल, अवस्था, तुम्हारे गुरुका नाम, विद्याध्ययन और गुरुसेवा छोड़ वनमें फिरनेका कारण और किसके भेजनेसे यहाँ आए इत्यादि। (नोट—अपने

लिए 'चरित' और हनुमान्‌जीके लिए 'कथा' पदका प्रयोग किया। इस भेदपर पाठक विचार करें)। गूढ़-भाव यहाँ यह है कि हम तो, विपत्ति पड़ी इससे, वनमें फिरते हैं और तुमपर क्या विपत्ति आ पड़ी जो तुम ऐसे भीषण वनमें आये हो।

**प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना ॥५॥**

अर्थ—प्रभुको पहचानकर हनुमान्‌जी चरण पकड़कर (पृथ्वीपर) पड़ गए अर्थात् साष्टाङ्ग दण्ड-वत् की। (शिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं—) हे उमा! वह सुख वर्णन नहीं किया जा सकता।५।

'प्रभु पहिचानि'—कैसे पहिचाना?

मा० त० भा०—१ आकाशवाणी और प्रभुकी वाणीका मिलान करके एक समझकर पहिचान लिया। आकाशवाणी है कि 'कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरब बर दीन्हा॥ ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नर भूपा॥ तिन्ह के गृह अवतरिहौं जाई।१।१८७।' अर्थात् कोसलपुरी-में राजा दशरथके यहाँ अवतार लेंगे। वही यहाँ कहते हैं कि 'कौसलेस दसरथ के जाए'। २—'नारद बचन सत्य सब करिहौं', यह आकाशवाणी है। और, नारदवचन ये हैं—'बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा॥ कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥ मम अप-कार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी॥ १।१३७।' ये सब बातें श्रीरामजीमें देखीं—नृपतन धारण किए हैं, नारि-विरहसे दुःखी हैं और सुग्रीवके यहाँ आये हैं; अब वानर सहायता करेंगे। हनुमान्‌जी शिवरूपसे वहाँ थे जहाँ आकाशवाणी हुई थी। पुनः, ३—भगवान्‌ने अपने मुखसे कहकर अपने चरित जनाए हैं—'आपन चरित कहा हम गाई', इसीसे उन्होंने प्रभुको पहिचान लिया। पुनः, ४—प्रभुके पहिचाननेका तीसरा प्रकार यह है कि मायाके वस भूले रहे, इससे नहीं पहिचाना। यथा—'तव माया बस फिरौं भुलाना। तातें मैं नहिं प्रभु पहिचाना'। पर जब प्रभुकी वाणी सुननेसे माया निवृत्त हुई तब पहिचाना। जब प्रभुको नहीं पहिचाना था तब माथा नवाकर प्रश्न किया था और जब पहिचान लिया तब चरणोंपर पड़े।

प० प० प्र०—वस्तुतः जब भगवान् स्वयं कृपा करके किसीको जनाया चाहें तभी वह जान सकता है। यथा—'तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत-उर-चंदन।२।१२७।४।', 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। २।१२७।३।' जब भगवान् अपनी इच्छा, वचन वा हास्यसे योगमायाका आवरण हटाते हैं तभी जीव उनको पहचान सकता है, अन्यथा नहीं। इस भावकी पुष्टि श्रीहनुमान्‌जीके ही 'तव माया बस फिरौं भुलाना। तातें मैं नहिं प्रभु पहिचाना' इन वचनों तथा सुग्रीवके 'अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया।२१।२।' से होती है। जीवके प्रयत्नोंसे या विचारशक्तिसे मायाका आवरण कभी नहीं हटता। 'श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।७।११७।'

पां०, प्र०—ब्रह्मासे सुना था कि शक्तिसमेत वनमें आवेंगे—'नारद बचन सत्य सब करिहौं। परम सक्ति समेत अवतरिहौं।१।१८७।६।'; यहाँ शक्तिसमेत न देखा इससे न पहिचाना। जब जानकीहरणवृत्तान्त सुना तब पहिचाना। (वि० त्रिपाठीजीका भी यही मत है। वे लिखते हैं कि हनुमान्‌जीने प्रभुको तो पहिचान ही लिया था। उनका अन्तिम प्रश्न ही था 'की तुम्ह अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार'; कसर इतनी ही थी कि साथमें आदिशक्ति न थीं। प्रभुके 'इहाँ हरी....तेही' इस उत्तरसे वह शंका दूर हो गई।)

वै०—'पहिचान' से पूर्व परिचय पाया जाता है। पद्मरामायणमें बालपनेके समयकी पहिचान पाई जाती है। बालपनमें श्रीरामजीने बन्दर माँगा। बहुतसे बंदर मँगाए गए, पर प्रभुका माँगना बंद न हुआ, वे किसीसे संतुष्ट न हुए, तब वसिष्ठजी बुलाए गए। उन्होंने कहा कि ये अंजनीनंदनको पाकर संतुष्ट होंगे। सुमंत्रजी जाकर अंजनासे हनुमान्‌जीको माँग लाए। इनको देखकर प्रभु बहुत प्रसन्न होते थे। जब प्रभु पाँच वर्षके हुए और विद्या पढ़ने लगे तब (और कोई कहते हैं कि जब दोनों भाई विश्वामित्रजीके साथ गए तब)

हनुमानजीको लौटा दिया (और तब उनसे प्रभुने यह कह दिया था कि तुम चलो, हम किष्किंधामें आवेंगे वहाँ फिर मिलेंगे)। अतएव प्रभुके वचनोंसे पहिचान गए।—[भाव अच्छा है; पर इतनी दूरसे खींचने और क्लिष्ट कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है। दूसरे, इसमें यह शंका होती है कि हनुमान्‌जीको तो इस पूर्व परिचयसे केवल 'कौसलेस दसरथ के जाये' से ही तुरत पहिचानकर चरणोंपर गिर पड़ना था। इसी प्रकार श्रीरामाज्ञा-प्रश्नका 'राम जनम सुभ काज सब कहत देवरिषि आइ। सुनि सुनि मन हनुमानके प्रेम उमँग न अमाइ। सर्ग ४ दोहा २२।' यह दोहा भी पूर्व परिचयको सूचित करता है। देवर्षि नारदसे जन्म और चरित सुने हुए थे, चरितका परिचय था, वही चरित प्रभुके मुखसे सुना; अतः जान गए कि ये वही भगवान् राम हैं। यह दोहा भी मानसकविका ही बनाया हुआ है, इससे यह कुछ संगत हो सकता है]

पं० रा० व० श०—हनुमान्‌जी समस्त वेद, शास्त्र आदि सूर्य भगवान्‌से पढ़े हुए थे, उसीके ज्ञानसे जान गए। अथवा, सूर्यने गुरुदीक्षामें इनसे यह कहा था कि हमारे अंशसे सुग्रीव वानर है, उसपर विपत्ति पड़ेगी, तुम उसकी सहायता करना। वहाँ तुम्हें लाभ होगा। परात्पर-परब्रह्म अवतार लेंगे और उनकी स्त्रीका हरण होगा, वे खोजते हुए वहाँ जायँगे। अतएव जान लिया। ☞ इनके अतिरिक्त और भी अनेक कारण लोगोंने कहे हैं पर वे बहुत क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं।*

नोट—१ 'सो सुख उमा जाइ नहिं बरना' से ज्ञात होता है कि शिवजीने उसका अनुभव किया पर वह अकथनीय है इससे कह न सके।

## श्रीहनुमान्‌जी

श्रीहनुमान्‌जीके जन्मकी कथा जाम्बवान्‌ने उनसे वाल्मी० स० ६६ में यों कही है—पुञ्जिकस्थल नामकी एक अप्सरा जो परम सुन्दरी थी, वह शापवश कुंजरवानरकी कन्या अंजना वानरी हुई, जो केशरीकी स्त्री हुई। एक बार वह मनुष्यरूप धारणकर माला, आभरण आदिसे विभूषित पर्वतके शिखरपर बैठी थी। पवनदेवने उसपर मोहित हो मनसे उसका आलिंगन किया जिसके प्रभावसे महाबली, महापराक्रमी, महा-तेजस्वी, सब प्रकार पवनके समान हनुमान्‌जी पवनके औरस और केसरीके क्षेत्रजपुत्र उत्पन्न हुए। बाल-

* १ श० सुं० दा०—हनुमान्‌जीने 'कौसलेस दसरथके जाए। हम पितु' का यह अर्थ समझा कि 'कुशलानां समूहः कौशलं तस्य ईशः कोसलेशः स चासौ दशरथश्च' अर्थात् जो समस्त कल्याणभाजन गरुड़-वाहन विष्णुके अवतार और सकल जगत्‌के पिता हैं वे हम वनको आए हैं। 'बचन मानि' अर्थात् यह वचन मान लो। २—विनायकीटीकाकार कहते हैं—कि 'कुशलानां समूहः....' अर्थात् संपूर्ण कुशल प्राणियोंमें श्रेष्ठ दश (=पक्षी विशेष) है रथ (वाहन) जिसका, ऐसे विष्णुके जाये (अवतार); पितु (=जो सबके आदिकारण हैं)। बन आए (=कपटसे वटुवेषधारी हनुमान तुम) बचन मानि (हमारे वचनका विश्वास करो)। इस तरह गुप्तरूपसे अंतिम तीन प्रश्नोंका उत्तर हो जाता है। इत्यादि।

नोट—ये दोनों भाव पंजाबीजीकी टीकाके हैं। वे लिखते हैं कि 'प्रभुने तो यही कहा कि हम दाशरथी राम हैं। इतनेसेही हनुमान्‌जीने कैसे जान लिया कि ये प्रभु हैं? इतनेसेही जान लिया होता तो पहिले ही क्यों न जाकर अयोध्यामें ही मिलते? दशरथ नामसे संदेह हो सकता था कि न जाने दशरथ नामके और भी कोई राजा हों। इससे पूर्व न मिले। यहाँ हनुमान्‌जीने विचार किया कि यदि ये वही प्रभु हैं तो यह वाणी ईश्वरी वाणी है, इसमें अपने स्वरूपका द्योतक गूढ़ अर्थ अवश्य होगा; तब इन्होंने उन वचनोंकी ओर चित्तकी वृत्ति लगाई। जो प्रभुने कहा कि 'आपन चरित कहा हम गाई', इसमें 'गाई' (अर्थात् गाकर कहा है) यह शब्द हर्षका सूचक है और इनके वाक्योंका स्पष्ट अर्थ तो शोकमय भासित होता है। इससे गूढ़ अर्थ इन शब्दोंमें अवश्य है। वह सुनो'—(नोट—इसके बाद ऊपर दिए हुए दोनों अर्थ और भाव लिखे हैं। और फिर और भी विस्तृत लेख है। पर ये सब बहुत क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं)।

पनमें ही वे महावनमें सूर्यका उदय देखकर उसे फल समझकर लेनेके लिए उछले। (उस दिन सूर्यग्रहणका पर्व था। राहुने इन्द्रको खबर दी) उन्होंने देखकर वज्र चलाया जिससे बायीं ठोढ़ी (हनु) टेढ़ी हो गई; इसीसे हनुमान् नाम हुआ। तभीसे कीर्तियुक्त हनुमान् नाम पड़ा। यह सुनकर कि उनका पुत्र मारा गया, पवनने कोप करके अपना वहना रोक दिया जिससे समस्त देवता घबड़ाकर पवनदेवको मनाने लगे। वायुके प्रसन्न होनेपर ब्रह्मासहित समग्र देवताओंने अपने अपने अस्त्रशस्त्रसे इन्हें अभय कर दिया और सबने वर दिया। ब्रह्मपुराणमें इनकी विस्तृत कथा है। इनका आविर्भाव कोई कार्तिक कृ० १४, कोई मार्गशीर्ष और कोई चैत्र पूर्णिमाको मानते हैं। कथाएँ इनकी सब जानते हैं, इसीसे अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। वाल्मी० उ० ३५, ३६ सर्गमें विस्तारसे है।

पं० रामचन्द्र शुक्लः—इनके संबंधमें इतना समझ रखना आवश्यक है कि ये सेवकके आदर्श हैं। सेव्य-सेवकभावका पूर्ण स्फुरण इनमें दिखाई पड़ता है। बिना किसी प्रकारके पूर्व परिचयके रामजीको देखते ही उनके शील, सौंदर्य और शक्तिके साक्षात्कारमात्रपर मुग्ध होकर पहले पहल आत्मसमर्पण करनेवाले भक्तिराशि हनुमान् ही हैं। उनके मिलते ही मानों भक्तिके आश्रय और आलंबन दोनों पक्ष पूरे हो गए और भक्तिकी पूर्ण स्थापना लोकमें हो गई। इसी रामभक्तिके प्रभावसे हनुमान्‌जी सब रामभक्तोंकी भक्तिके अधिकारी हुए।

सेवकमें जो जो गुण चाहिएँ सब हनुमान्‌में लाकर इकट्ठे कर दिए गए हैं। सबसे आवश्यक बात तो यह है कि निरालसता और तत्परता स्वामीके कार्योंके लिए, सब कुछ करनेके लिए, उनमें हम हर समय पाते हैं। समुद्रके किनारे सब बंदर बैठे समुद्र पार करनेकी चिंता कर ही रहे थे, अंगद फिरनेका संशय करके आगा-पीछा कर ही रहे थे कि वे चट समुद्र लाँघ गए। लक्ष्मणजीको जब शक्ति लगी तब वैद्यको भी चट हनुमान् ही लाए और औषधिके लिए भी पवनवेगसे वेही दौड़े। सेवकको अमानी होना चाहिए। प्रभुके कार्यसाधनमें उसे अपने मान अपमानका ध्यान न रखना चाहिए। अशोकवाटिकामेंसे पकड़कर राक्षस उन्हें रावणके सामने ले जाते हैं। रावण उन्हें अनेक दुर्वाद कहकर हँसता है। इसपर उन्हें कुछ भी क्रोध नहीं आता। अंगदकी तरह 'हौं तव दसन तोरिबे लायक' वे नहीं कहते हैं। ऐसा करनेसे प्रभुके कार्यमें हानि हो सकती थी। अपने मानका ध्यान करके स्वामीका कार्य बिगाड़ना सेवकका कर्तव्य नहीं। वे रावणसे साफ कहते हैं—'मोहि न कछु बाँधे कर लाजा। कीन्ह चहौं निज प्रभु कर काजा'।

**पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना ॥६॥**
**पुनि धीरजु धरि अस्तुति कीन्ही। हरष हृदय निज नाथहि चीन्ही ॥७॥**

अर्थ—शरीर रोमांचित हो गया, मुखमें वचन नहीं आता, सुन्दर वेषकी सुन्दर रचनाको देख रहे हैं।६। फिर धीरज धरकर स्तुति की, अपने नाथ (उपास्यदेव, इष्ट, ध्येय) को पहिचानकर हृदयमें हर्ष एवं प्रेम हो रहा है।७।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ हनुमान्‌जीके मन, कर्म और वचन तीनोंकी दशा दिखाई। 'सो सुख उमा जाइ नहिं बरना' यह मनकी दशा है, क्योंकि सुख होना मनका धर्म है। 'पुलकित तन', यह शरीरकी दशा है और 'मुख आव न बचना' यह वचनकी दशा है। (ख) 'आव न बचना' का भाव कि स्तुति करनेकी इच्छा है जैसा आगेके 'पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही' से स्पष्ट है। (ग) 'धीरज धरि' से जनाया कि प्रभुका स्वरूप देखकर धीरज छूट गया था। 'तब मुनि हृदय धीर धरि....' आ० १० और 'नयन नीर पुलकित अति गाता। मन धरि धीर कही मृदु बाता। ५।४५।६।' देखिए। (घ) पूर्व कहा था कि प्रभुको पहिचानकर सुख हुआ और अब कहते हैं कि नाथको 'चीन्हनेसे' हर्ष हुआ। तो हर्ष और सुखमें पुनरुक्ति हुई ? नहीं। हर्ष शब्द प्रीतिका भी वाचक है यथा—'श्लोकमुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः इत्यमरः'। यहाँ अर्थ है कि

अपने नाथको पहिचाननेसे प्रीति हुई। (ङ)—यहाँ स्वरभंग सात्विक अनुभावका उदय है। मुखकी दशा जो ऊपर देखनेमें आती है उसका वर्णन यहाँ किया है।

प० प० प्र०—यहाँ वर्णनमें क्रमभंग हुआ है। वास्तविकरीत्या 'हरष हृदय निज नाथहि चीन्ही' यह चरण पहले होना चाहिए तब 'पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्हा'। कारण कि स्तुति तो अगली अर्धालीसे करते हैं। इससे दर्शित होता है कि श्रीहनुमान्‌जी अवर्णनीय सुखानुभव और प्रेमातिशयसे अपनी विचारशक्तिसे बाहर हो गए हैं और कविका हृदय उनके हृदयसे तदाकार हो गया है।

प्र०—रुचिर वेषकी रचनाके यथार्थ जानकार हनुमान्‌जीही हैं। देखिए श्रीजानकीजीने इनसे रघुनाथजीके जाननेका प्रश्न किया तब इन्होंने सर्वाङ्गका वर्णन किया है। वाल्मी० सुं० स० ३५। यथा—'यानि रामस्य चिह्नानि लक्ष्मणस्य च वानर। तानि भूयः समाचक्ष्व न मां शोकः समाविशेत्। ३। कीदृशं तस्य संस्थानं रूपं तस्य च कीदृशम्। कथमूरू कथं बाहू लक्ष्मणस्य च शंस मे। ४। एवमुक्तस्तु वैदेह्या हनूमान्मारुतात्मजः। ततो रामं यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे। ६।' इसके आगे १७ श्लोकोंमें सूक्ष्मरीतिसे अंगोंका वर्णन है। श्लोक १५ से २३ तक सामुद्रिकका वर्णन है और श्लोक ८ से १४ तक उनके फल कहे गये हैं। अयोध्याकाण्ड ११२ (४) में उनका उल्लेख आ चुका है। पाठक वहीं देखें।

नोट—१ प्रभुके 'कहहु विप्र निज कथा बुझाई' इस गूढ़ वाणीका प्रभाव हनुमान्‌जीपर पड़ा, उनकी क्या दशा हो गई, इत्यादिका पता 'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना' इत्यादि चौपाइयोंमें कविने भली भाँति दरसाया है। जिस परानंदका अनुभव वे करके मग्न हो गए हैं वह वही जाने जिसे वह प्राप्त हुआ हो, शिवजी ही जब नहीं कह सकते तब दूसरा कौन कह सकता है? वे बोल नहीं सकते हैं। प्रभुके प्रश्नका उत्तर वे अपने 'परेउ गहि चरना' से दे रहे हैं। इस मूक उत्तरमें क्या नहीं भरा है? जो कुछ वे आगे कहते हैं वह इस मूक उत्तर-राशिका एक कण मात्र है। इस दशाका सुन्दरकाण्डके 'सुनि प्रभुवचन विलोकि मुख गात हरष हनुमंत। चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत।३२।' इस दोहेसे मिलान कीजिए।

दोनों जगह हनुमान्‌जी अपनी अत्यन्त दीनता और मन, कर्म, वचनसे शरणागति दिखा रहे हैं। यहाँ पश्चात्ताप है, वे बहुत घवड़ा गए हैं और सच्ची दीनता प्रकट कर रहे हैं कि मैं मायाके फेरमें पड़ गया जो प्रभुको न पहिचान सका था। और, सुंदरकांडमें यह सोचकर घवड़ा गए कि कहीं मुझे मोह न ग्रस ले। पुनः, वचन सुनतेमात्रही इस दशाका प्राप्त हो जाना हनुमान्‌जीकी असाधारण भक्ति और उनके पराकाष्ठाके अलौकिक प्रेमका परिचय दे रहा है।

गौड़जी—'निज नाथहि चीन्हा' इति। बालकांडमें कहा है कि 'हरिमारग चितवहिं मतिधीरा। १। १८८।४।' कपिलोग जिसकी बाट जोह रहे थे। आज वही मिले। हनुमान्‌जीने प्रभुको पहचान लिया। यहाँ एक भाव और है। बाल्यावस्थामें हनुमान्‌जी प्रभुकी सेवामें रह चुके थे। पचीस वर्ष पीछे देखते हैं। फिर राजकुमार नहीं, तपस्वीके वेषमें। ऐसी जगह जहाँ कि कोई आशा न थी। इसलिये न पहचान सके। इसी लिये यह उपालंभ है कि 'मोर न्याउ, मैं पूछा साईं' पर 'तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं।'

**मोर न्याउ मैं पूछा साँई। तुम्ह पूछहु कस नर की नाँई ॥८॥**

**तव माया वस फिरौं भुलाना। तातें मइँ नहिं प्रभु पहिचाना ॥९॥**

**दोहा—एकु मैं मंद मोहवस कुटिल* हृदय अज्ञान।**

**पुनि प्रभु मोहि विसारेउ दीनबंधु भगवान ॥२॥**

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीने कहा कि हे स्वामी! मैंने जो पूछा वह मेरा (पूछना) न्याय था (अर्थात्

---

* मा० म० का पाठ 'एक मंद मैं मोह वस कीस हृदय अज्ञान' है।

मेरा पूछना उचित ही था, क्योंकि मैंने मायावश होनेसे नहीं पहचाना था)। पर आप कैसे मनुष्योंकी तरह पूछते हैं? (अर्थात् आपका पूछना अयोग्य है, न्याय नहीं है, क्योंकि आप तो सर्वज्ञ हैं, ज्ञान-घन हैं, विज्ञानरूप हैं, आपमें अज्ञान कैसा? अज्ञान ही अन्याय है)।८। मैं तो आपकी मायाके वश भूला हुआ फिरता हूँ; इसीसे मैंने प्रभुको नहीं पहिचाना।९। एक तो मैं मंद हूँ, मोहके वश हूँ, हृदयका कुटिल और अज्ञानी हूँ, उसपर भी, हे प्रभो! हे दीनबन्धु भगवान्! आपने मुझे भुला दिया। (अर्थात् भुलाया न होता तो हमसे प्रश्न न करते)। दो. २।

वै०—'मोर न्याउ' इति। हनुमान्‌जीने विचारा कि जिन्होंने बालपनमें तो हमको बुलाकर शरणमें रक्खा वेही अब हमसे पूछते हैं। मैं स्वयं भूला हूँ तब क्या उत्तर दूँ। अतएव न्यायशास्त्रसे उत्तर दिया कि मैंने तो 'मोर न्याय' से पूछा। अर्थात् मैं और मोर माया है, मैं उस मायामें पड़कर भूल गया। मोर न्याय=मायाके कारण; मायावश जीवोंके न्यायानुसार।

टिप्पणी—१ (क) 'तव मायाबस फिरउँ भुलाना' इति। तात्पर्य कि मायावश होनेसे ईश्वरकी पहिचान नहीं रहती। इससे यह पाया गया कि मायाने भुला दिया, न पहिचाननेमें मायाका दोष है, हमारेमें कुछ दोष नहीं, इसीपर आगे अपने दोष कहते हैं। (ख) 'तव माया' कहकर जनाया कि आपकी माया प्रबल है, यथा—'अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया। २१।२।'

२ 'एकु मैं मंद०' इति। भाव कि एक तो मायाने हमको वशमें कर लिया, फिर आपने भी भुला दिया और मैं तो अवगुणोंका कोश हूँ ही तब आपको कैसे पहिचान सकता? (ख) 'प्रभु, दीनबंधु और भगवान' का भाव कि दीनके कष्ट निवारण करनेमें आप समर्थ हैं और दीनकी दीनता छुड़ानेमें ऐश्वर्यवान् हैं। 'दीनबंधु'से कृपालुता और 'भगवान'से योग्यता दोनों गुण कहे। तात्पर्य यह है कि आप कृपालु हैं, सब लायक़ हैं ऐसे होकर भी आपने हमको भुला दिया।

वि० त्रि०—'एकु मैं मंद मोह बस' इत्यादि। मोहवश अर्थात् मायाके वश पड़ा हुआ स्वरूपको भूल गया हूँ, (यथा—'माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते नाना दुख पायो'), इसलिये मन्द हूँ। पर संसारमें तो प्रायः सभी स्वरूपको भूले हुए हैं, इसपर कहते हैं कि मैं कुटिल हूँ, माया करके ब्राह्मणका स्वरूप धारण करके सरकारको ठगने आया हूँ, क्योंकि हृदयमें प्रकाश नहीं है, अज्ञानान्धकार छाया हुआ है, मैं यदि सरकारको भूल गया, तो उसके कारण प्रत्यक्ष हैं, परन्तु आप तो किसी जीवको नहीं भूल सकते, क्योंकि आपका वचन है कि 'सब मम प्रिय सब मम उपजाये' सो आप मुझसे पूछते हैं कि 'कहहु बिप्र निज कथा बुझाई।' आप दीनबन्धु भगवान् होकर मुझे भूल गये। 'उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव जीवानामगतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति।' जीव मात्रकी गति अगतिके जाननेवाले आप मुझे कैसे भूले?

नोट—१ (क) 'एकु मैं मंद मोहबस....' इति। मंद क्योंकि वानर कुटिल अर्थात् अन्याय करनेवाला होता है। मोहवश इससे कि वानर मरा बच्चा लिये रहता है और अज्ञान कि दानेके लिए घट आदिमें हाथ डालकर क्षणमें ही भूलकर पकड़ा जाता है। (शीला)। ये तीनों दोष (मंद, मोहबस और कुटिल-हृदय) कपि जातिके धर्म हैं और 'अज्ञान' तमोगुणी रुद्रका धर्म कहा। पर यहाँ ये दोष अपनेमें कार्पण्य शरणागतिकी रीतिसे कहे गये हैं। (रा० प०)। (ख) मदादि अपने दोष और 'दीनबंधु भगवान' ये प्रभुके गुण जनाए, यह सेवकका धर्म है, यथा—'गुन तुम्हार समुझहिं निज दोषा' (विनयपत्रिकामें भी—'हरि तुम बहुत अनुग्रह कीन्हो।०', 'कैसे देउँ नाथहिं खोरि०' और 'है प्रभु मेरोई सब दोष।०' इत्यादि पद इसी भावका समर्थन करते हैं) (मा० त० प्र०) [नोट—'एकु मैं मंद....' का भाव कि 'दीनबंधु, भगवान् और प्रभु' होकर आपने भी बिसार दिया, यह मेरा अभाग्य है।]

रा० प्र० श०—मोहवश होनेसे बुद्धि मन्द हो जाती है जिससे अज्ञान पाकर जीव कुटिल हो जाता है। ये सब हों परन्तु यदि भगवान् न भुला दें तो जीवकी हानि न हो। (इसीसे गोस्वामीजी कवितावलीमें

कहते हैं—'कलि की कुचालि देखि दिन दिन दूनी देव पाहरुई चोर हेरि हिय हहरानु है'। तुलसी की दलि वारवार ही संभार कीबी जद्यपि कृपानिधान सदा सावधान है।७।८०।')। प्रभुके दीनबंधुता-गुणसे ही जीव मायासे छूटकर प्रभुको पहिचान सकता है।

मा० त० प्र०—'एक' का अर्थ 'प्रधान' वा 'शिरोमणि' है। अर्थात् मैं मंद, मोहवश और कुटिलोंका शिरोमणि हूँ। (पर आगे 'पुनि' शब्द इस अर्थ का समर्थक नहीं है)।

प० प० प्र०—साहित्यिक पंडित इस दोहेमें यतिभंग दोष कहते हैं, पर वे भूल जाते हैं कि मानस नाट्य काव्य है। नाट्यमें जैसा पात्र होगा वैसी भाषा भी चाहिए। इस पात्रका धैर्य छूट गया है, वह सोचता है कि 'प्रभु मोहि बिसारेउ'। वह स्वयं कह रहा है कि मैं मतिमंद मोहवश हूँ। अतः यह 'स्वभावोक्ति' अलंकार है। नाटकमें 'जो बालक कह तोतरि बाता।' तो वह बात तोतली भाषामें लिखनी चाहिए। यह तो काव्य गुण है न कि दोष।

**जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे। सेवक प्रभुहि परै जनि भोरे॥ १॥**
**नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरै तुम्हारेहि छोहा॥ २॥**

अर्थ—हे नाथ! यद्यपि मुझमें बहुत अवगुण हैं तथापि सेवक प्रभुको भोरे न पड़े अर्थात् अवगुणी हानेपर भी स्वामी सेवकको न भुलावैं।१। हे नाथ! जीव आपकी मायासे मोहित है, वह आपकी ही कृपासे छूट सकता है।२।

टिप्पणी—१ (क) 'बहु अवगुन' इति। प्रथम अपनेमें चार अवगुण कहे—मंद, मोहवस, कुटिलहृदय, अज्ञान। अब कहते हैं कि हममें ये ही चार अवगुण नहीं हैं वरन् अगणित हैं। (ख) प्रथम मायाके वश होना और सेवकके अवगुणोंके कारण स्वामीका उसको भुला देना ये दो बातें कहीं, फिर दोनोंके छूटनेके लिए प्रार्थना करते हैं। पहले जो कहा था कि 'तव माया बस फिरौं भुलाना', उसके लिए प्रार्थना की कि 'नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरै तुम्हारेहि छोहा'। आशय यह है कि मैं मायामोहित हूँ, मायामोहसे कृपा करके छुड़ाइये। फिर जो कहा था कि 'एकु मैं मंद मोहवस कुटिलहृदय अज्ञान। पुनि प्रभु मोहि बिसारेहु....' उसके लिए प्रार्थना करते हैं कि 'जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे....' अर्थात् हमारे अवगुणोंसे हमको न भुलाइए। क्योंकि 'जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी।७।१।५।'

☞ 'जीव, पर, विरोध, उपाय और फल', इन पाँचों स्वरूपोंका ज्ञान जीवके निस्तारके लिए परमावश्यक कहा गया है। इन पाँचोंका ज्ञान अर्थपञ्चक ज्ञान कहा गया है। यथा 'प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः। प्राप्त्युपायं फलं चैव तथा प्राप्तिविरोधि च॥ ज्ञातव्यमेतदर्थानां पञ्चकं मंत्रवित्तमैः।' ये पाँचों स्वरूप हनुमान्‌जीकी इस स्तुतिमें दिखाए गए हैं, यथा—

१ जीवस्वरूप—'तव मायावस फिरउँ भुलाना', 'सो निसतरै तुम्हारेहि छोहा' और 'मोर न्याउ मैं पूछा साँई' यह जीवका स्वरूप है। जीव मायाके वश है और उसका छूटना प्रभुके अधीन है। गोस्वामीजीने अन्यत्र भी कहा है—'हर्ष विषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना।१।११६।७' एवं 'तव माया बस जीव जड़ संतत फिरइ भुलान।७।१०८।'

२ परस्वरूप—'तव मायावस', सो निस्तरै तुम्हारेहि छोहा', 'पुनि प्रभु मोहि बिसारेहु दीनबंधु भगवान' और 'तुम्ह कस पूछहु....' में परस्वरूप कहा। जैसा अरण्यकाण्डमें कहा है, यथा—'बंध-मोच्छप्रद सर्वपर मायाप्रेरक सींव'।

३ विरोधस्वरूप—अर्थात् मायाका स्वरूप जो भगवत्-शरणागतिका बाधक है। 'मायावस', 'माया मोहा' में विरोधस्वरूप कहा गया। क्योंकि 'मोहवस' करना यह मायाका वा विरोधस्वरूप है। यथा 'बरिआई बिमोह बस करई'। इत्यादि।

४ उपायस्वरूप—'सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनै प्रभु पोसे॥', इसमें शुद्ध उपायशून्य प्रपत्ति ही तरनेका उपाय बताया।

५ फल स्वरूप–'परेउ गहि चरना' और 'अस कहि परेउ चरन अकुलाई'। प्रभुकी प्राप्ति ही परम फल है।

नोट—१ 'जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे....' इति। भाव यह कि अवगुण देखकर तो प्राकृत स्वामी त्याग देते हैं; पर आप तो समर्थ स्वामी हैं, आप तो अवगुण कभी लेते न थे, यथा—'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।७।१।६।', 'अवगुन कोटि विलोकि बिसारन'। तब मुझे भी भुलाना न चाहिए था। पुनः भाव कि आप समर्थ हैं, मैं असमर्थ हूँ।

२ 'सो निस्तरै....', यथा–'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। इति गीतायाम् ७।१४।' अर्थात् यह मेरी त्रिगुणात्मिका माया निःसन्देह दुस्तर है, जो एक मात्र मेरी शरणमें प्राप्त होते हैं वे ही इससे पार पाते हैं। पुनः, यथा—'व्यापि रहेउ संसार महँ माया कटक प्रचंड।....सो दासी रघुबीर कै समुझे मिथ्या सोपि। छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि।७।७१।', 'है श्रुति विदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरै। तुलसिदास यहि जीव मोहरजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरै। विनय १०२।' अर्थात् जिसने जीवको मोहरूपी रस्सीसे बाँधा है वही छोड़नेको समर्थ है, दूसरा नहीं।

☞ भगवान् रामानुजाचार्यजी उपर्युक्त गीता ७।१४ की व्याख्या करते हुए लिखते हैं–सत्व, रज और तमोमयी माया दैवी है। लीलाके लिये प्रवृत्त परम प्रभुके द्वारा निर्मित है। इसलिये इसको पार करना नितान्त ही कठिन है। असुरों, राक्षसों और अस्त्रादि की भाँति विचित्र कार्य करनेवाली होनेके कारण इसका नाम माया है।....अतएव 'माया' शब्द मिथ्या वस्तुका वाचक नहीं है। बाजीगर आदिको भी किसी मंत्र या औषधिके द्वारा मिथ्या वस्तुके विषयमें सत्यता बुद्धि उत्पन्न कर देनेवाला होनेके कारण ही 'मायावी' कहते हैं। वस्तुतः वहाँ मंत्र और औषध आदि ही माया है। सब प्रयोगोंमें अनुगत एक ही वस्तुको (माया) शब्दका अर्थ माना जा सकता है। अतः मिथ्या वस्तुओंमें जो माया शब्दका प्रयोग है वह माया-जनित बुद्धिका विषय होनेके कारण औपचारिक है। जैसे कि 'मचानें चिल्ला रही हैं' यह प्रयोग है। यह गुणमयी सत्य वस्तु भगवान्‌की माया ही 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। श्वेता० ४।१०।', इत्यादि श्रुतियोंसे कही गई है।

भगवान्‌के स्वरूपको छिपा देना और अपने स्वरूपमें भोग्यबुद्धि करा देना इस मायाका कार्य है। इसलिये भगवान्‌की मायासे मोहित हुआ सब जगत् असीम अतिशय आनंदस्वरूप भगवान्‌को नहीं जानता।

श्लोकके उत्तरार्धमें मायासे छूटनेका उपाय बताया है। भगवत्-शरणागति ही एकमात्र उपाय है। और यह शरणागति भी श्रीहरिकृपासे ही होती है, इसीसे 'सो निस्तरै तुम्हारेहि छोहा' कहा।—'छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि।' यह श्रीभुशुण्डीजीका वाक्य है।

**ता पर मैं रघुबीर दोहाई। जानौं नहिं कछु भजन उपाई॥ ३॥**
**सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहै असोच बनै प्रभु पोसे॥ ४॥**
**अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तन प्रगटि प्रीति उर छाई॥ ५॥**

अर्थ—उसपर भी, हे रघुवीर! मैं आपकी दोहाई (शपथ) करके कहता हूँ कि मैं न तो कुछ भजन जानता हूँ और न कुछ उपाय ही (वा, भजनका उपाय नहीं जानता)।३। सेवक स्वामीके और सुत माताके भरोसे निश्चिन्त रहता है, तो प्रभुको पालन करते ही बनता है।४। ऐसा कहकर (श्रीहनुमान्‌जी) अकुलाकर चरणोंमें गिर पड़े, प्रीति हृदयमें छागई और उन्होंने अपना (कपि) तन प्रकट कर दिया।५।

नोट–१ 'रघुवीर दोहाई' का भाव कि आप दया पराक्रम विद्या आदि पंचवीरता युक्त हैं, समर्थ हैं, यदि मैं झूठ कहता हूँ तो आप मुझे दण्ड देंगे और यदि सत्य कहता हूँ तो आप मुझपर दया करेंगे, मुझे

अपना लेंगे। 'कछु भजन उपाई' का भाव कि यदि भजन थोड़ा भी हो तो भी आप उसे बहुत मान लेते हैं। पर मुझमें कुछ भी भजन नहीं है। (रा० प्र०)

टिप्पणी—१ (क) 'भजन उपाई' = भजनका उपाय अर्थात् साधन। यथा—'भगति के साधन कहउँ बखानी।३।१६।५।' 'कछु' का भाव कि भजन थोड़ा भी हो तो माया कुछ नहीं कर सकती, यथा—'नेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकै कछु निज प्रभुताई।७।११६।७।' (ख) 'जानौं नहिं कछु भजन उपाई' कहने का भाव कि मायामोहित जीवका तरना दो तरहसे है। एक तो आपके छोहसे, दूसरे भजनसे। जो मैं भजनका उपाय नहीं जानता, आपकी कृपासे ही निस्तार होगा। मायासे तरना कृपासाध्य है, क्रियासाध्य नहीं।

☞यह प्रपन्न-शरणागतिका लक्षण है। इसमें दो भेद हैं। एक पुरुषार्थ-युक्त, दूसरा पुरुषार्थ-हीन। अतः दोनोंके उदाहरण देते हैं। 'सेवक सुत पति मातु भरोसे'—सेवकके समान और जीव हैं, सेवकमें कुछ पुरुषार्थ है, हम छोटे बालकके समान पुरुषार्थहीन हैं। केवल आपहीके भरोसे हैं। यही शरणागति श्रीरामजीने नारदजीसे कही है, यथा—'सुनु मुनि तोहि कहौं सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करौं सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।३।४३।'

२ (क) 'सेवक सुत पति मातु भरोसे।....' इति। श्रीहनुमान्‌जीने अपनेमें अनेक अवगुण कहे हैं, यथा—'जदपि नाथ बहु अवगुन मोरे'। अब एक गुण कहते हैं—स्वामीका भरोसा। इसी गुणसे स्वामी प्रसन्न होते हैं, यथा 'है तुलसी के एक गुन अवगुननिधि कहैं लोग। भलो भरोसो रावरो राम रीझिबे जोग। दो० ८५।' (ख) यहाँ हनुमान्‌जीका तनमनवचनसे शरण होना दिखाया। तनसे चरणपर पड़े, मनसे प्रीति की और वचनसे स्तुति की।

[नोट—प्रपत्ति और अनन्य उपाय अर्थात् उपायशून्य शरणागति इसीको कहते हैं कि उपाय और उपेय दोनों आपही हैं, कोई वसीला या कोई साधन और नहीं है।]

पं० रा० व० श०—ऊपर कहा था कि 'पुनि धीरज धरि अस्तुति कीन्ही'। वह स्तुति क्या है? यही है कि अपना जीवका स्वरूप कहा, अपने और श्रीरामजीमें सेवक स्वामीका भाव दिखाया, अपने अवगुण और प्रभुके गुण कहे।

मा० त० प्र०—'सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच' का भाव कि आप मेरे पति (स्वामी) और माता दोनों हैं तब कैसे नहीं पालन करेंगे। ['रहै असोच' का भाव कि योगक्षेमका कोई उपाय नहीं करता। भगवान्‌ने गीतामें भी यही कहा है कि जो अनन्य भक्त लोग मुझे चिन्तन करते हुये भली भाँति मेरी उपासना करते हैं उन नित्ययुक्त पुरुषोंका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ—'तेषां नित्याभि-युक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।९।२२।' यही भाव 'रहै असोच' का है। (पं० रा० व० श०)] 'रहइ असोच' के उदाहरण अम्बरीषजी, प्रह्लादजी और भरतजी आदि हैं। यथा—'जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई....', 'सेवक छोह ते छाँड़ी छमा तुलसी लख्यो राम सुभाव तिहारयो। तौ लौं न दाप दल्यो दसकंधर जौं लौं बिभीषन लात न मारयो॥'—(क०), 'लोकहु वेद विदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरवासा।२।२१८।७।' इत्यादि।

पां०, प्र०—श्रीरामजीके यथार्थतत्वके ज्ञाता भक्तशिरोमणि हनुमान्‌जी अपनेको 'अज्ञानी' कहते हैं, यह कार्पण्यशरणागति है जो शरणागतिके छः अंगोंमेंसे प्रधान अंग है जैसे गोसाईंजीने कहा है कि 'कवित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे'। धनकी कृपणता मनुष्यको मंद करती है और गुणकी कृपणता (अर्थात् बड़े होकर अपनेको छोटा मानना) अति उत्तम करती है। जैसा बिहारी सतसईमें कहा है—'नर की अरु नलनीरकी गति एकै करि जोय। ज्यों ज्यों नीचे है चलै त्यों त्यों ऊँचो होय'॥

प्र०—'बनै प्रभु पोसे' से दीन साधनहीनकी गुरुता दिखलाई कि प्रभुको अवश्य इन दोनोंका पालन करना पड़ता है।

५

प० प० प्र०—श्रीहनुमान्‌जीके 'तापर मैं....पोसे' ये वचन जीवोंके मार्गप्रदर्शक ध्रुव हैं। इनसे यह उपदेश मिलता है कि—(१) सब साधनाहङ्कार और जप तपादि साधनोंका भरोसा छोड़कर श्रीरामजीकी शरण ग्रहण करे और एक मात्र उन्हींकी कृपाका भरोसा रक्खे। (२) प्रपन्न होनेपर 'मेरा निस्तार कैसे होगा अथवा कब होगा' इत्यादिकी भी चिन्ता न रहनी चाहिए। (३) 'पति मातु भरोसे रहै असोच' यह शरणागति का मुख्य लक्षण है।

मा० म०—'परेउ अकुलाई' इसका कारण यह है कि हनुमान्‌जीने अनेक प्रकारसे कहा, पर रामचंद्रजी कुछ न बोले। अतएव व्याकुल हो गए। रामचंद्रजी अपनी टेक मिटाकर क्योंकर उत्तर देते, उनकी टेक है कि कपटसहित किसीको ग्रहण नहीं कर सकते। जब हृदयमें प्रीति छा गई तब कपट छूट गया और अपना स्वरूप प्रगट होगया, तब प्रभुने उठाकर हृदयमें लगा लिया।

वि० त्रि०—आपके छोहसे ही निस्तार होता है सो आप ही भूल गये, मुझमें कोई साधन भी नहीं है, ऐसा कहकर अति आकुल होकर चरणपर गिरे। प्रीतिमें यह विशेषता है, कि वह भेदको सहन नहीं कर सकती। हनुमान्‌जीने अपने वानरी शरीरको प्रकट नहीं किया, प्रीतिके हृदयमें छा जानेसे दुरावको स्थान नहीं रह गया, अतः अपने आप असली शरीर प्रकट हो गया, यथा—'प्रगट बखानत राम सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ।' शुकका राक्षसी शरीर प्रकट हो गया। रिपु कर दूत कपिन्ह तब जाने। इसी भाँति प्रेमके हृदयमें छा जानेसे आपसे आप कपितन प्रगट हो गया।

मा० त० प्र०—(१) इतनी स्तुतिपर भी प्रभु नहीं बोले तब व्याकुल होगए और चरणोंपर गिर पड़े। (२) कपितन प्रकट करनेका भाव कि मैं सुग्रीवके कल्याणार्थ कपट-विप्र बना, पर ये बालीके भेजे हुए नहीं हैं; अब यदि मैं कपट-वेष नहीं छोड़ता हूँ तो मैं और सुग्रीव दोनोंही अनाथ रहे जाते हैं, अतएव कपितन प्रगट किया।

प० प० प्र०—श्रीहनुमान्‌जी कृत स्तुति मानसकी चौदहवीं स्तुति है और नक्षत्रोंमें चौदहवाँ नक्षत्र 'चित्रा' है। इन दोनोंका साम्य इस प्रकार है—(१) चित्रामें एक ही तारा है। वैसेही इस स्तुतिमें 'सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहै असोच' यही तरणोपाय तारा है। (२) चित्रा विशुव वृत्तिके समीप और बीचों-बीचमें है, वैसे ही यह स्तुति (किष्किंधाकांडरूपी) मानसके मध्यमें है। (३) नक्षत्रका नाम चित्रा। वैसेही यह स्तुति चमत्कृति निधान है, अलौकिक है। और हनुमान्‌जीका चरित्र भी विचित्र है। (४) चित्राका रूप मोती-सा है। मोती चन्द्रका रत्न है और हनुमान्‌जी श्रीरामचन्द्रजीके अमूल्य रत्न हैं। चन्द्रमाकी कर्तृत्व शक्ति मोतीके धारण करनेसे बढ़ती है वैसेही रघुवीर चन्द्रकी इनसे। मुक्ता धारण करनेसे चन्द्रमा अनुकूल होते हैं वैसे ही श्रीहनुमान्‌जीको सहायक बनानेसे श्रीरामचन्द्रजी। (५) चित्राका देवता त्वष्टा, वैसेही सीताशोध और रामकार्यके त्वष्टा श्रीहनुमान्‌जी। (६) बालकांडमें चौदहवें गुणग्रामकी फलश्रुति है 'अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के।१।३२।८।' हनुमान्‌जी शंकरजीके अवतार हैं ही। शिवजी पुरारि हैं तो ये भी रावणके पुरके अरि हैं। श्रीरामजी अतिथिके समान अनपेक्षित आये। भाव यह है कि इस स्तुतिका पाठ जो प्रेमसे करेगा वह श्रीरामजीका प्रियतम हो जायगा जैसे श्रीरामजी शिवजीके प्रियतम हैं।

**तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा ॥६॥**
**सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना ॥७॥**

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजीने (श्रीहनुमानजीको) उठाकर हृदयसे लगा लिया और अपने नेत्रोंके जलसे सिंचन करके शीतल किया।६। (फिर बोले) हे कपि! सुनो, जीमें अपनेको न्यून मत मानो। तुम मुझे लक्ष्मणसे दूने प्रिय हो।७।

टिप्पणी—१ (क) 'तब' अर्थात् जब मनवचनकर्मसे शरण हुए। पुनः, दूसरा भाव कि प्रथम बार

जब हनुमान्‌जी चरणोंपर पड़े थे तब श्रीरामजीने उनको हृदयसे न लगाया, पर जब विप्रतन छोड़कर निज तन प्रगट किया तब हृदयमें लगाया; क्योंकि श्रीरामजीको कपट नहीं भाता, यथा—'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा'। हनुमानजी वानर हैं और विप्र रूप धारण किए हैं, यही कपट है। ☞ उपदेश है कि यदि प्रभुकी कृपाकी चाहो तो कपट त्यागकर प्रभुमें प्रेम करो। देखिए, प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं तो भी उन्होंने कपटी विप्रको अङ्गीकार न किया तब दूसरे वर्णोंका कहना ही क्या? भरतजीके भी वचनोंसे यह उपदेश पुष्ट होता है, यथा—'कपटी कुटिल नाथ मोहि चीन्हा'। (ख)—'सींचि जुड़ावा' का भाव कि हनुमान्‌जीके हृदयमें प्रभुके 'बिसरावने' की ताप थी, जब श्रीरामजीके नेत्रोंसे प्रेमरूपी जल चला तब हनुमान्‌जी, यह जानकर कि मुझपर श्रीरामजीका प्रेम है, शीतल हो गए, प्रभुने मुझे भुला दिया यह हृदयका संताप मिट गया। [प० प० प्र० का मत है कि हनुमान्‌जीके हृदयमें पश्चात्ताप था कि 'कीन्ह कपट मैं' 'प्रभुसन' इस पश्चात्तापरूपी अग्निसे संतप्त थे। वह संताप मिटा। जैसे श्रीसतीजीको संताप था कि 'कीन्ह कपट मैं संभु सन....१।५७।....तपै अवाँ इव उर अधिकाई।' सात्विक प्रेम भावसे जो जल नेत्रोंमें आता है वह शीतल होता है, और क्रोध, शोक, भय, विषाद आदि भावोंसे जो अश्रु निकलते हैं वे उष्ण (गर्म) होते हैं। हर्ष और दुःखके अश्रु, पुलक, नेत्र आदिके चिह्न बालकांड दोहा २२८ में लिखे जा चुके हैं। (ग) 'सुनु कपि'—जब जब श्रीरामजी बालक सुत सम दासोंपर परम प्रसन्न होते हैं तब तब वे एकवचनका ही प्रयोग करते हैं। यथा—'परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही। ३।११।२३।', 'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा। ३।४३।४।', 'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं', 'सुनु कपि तोहि समान उपकारी।' (५।३२), इत्यादि। अतः 'सुनु कपि' कहकर जनाया कि भगवान् परम प्रसन्न होकर बोले। इस भावकी पुष्टि 'तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना' से होती है। (प० प० प्र०) ] (घ) 'मानसि जनि ऊना'—अपनेको बहु-अवगुण-संपन्न, बताना और प्रभुका दासको भुलाना समझकर घबड़ाना, इत्यादि, न्यून मानना है।

### ❦ लछिमन ते दूना के भाव ❦

मा० त० भा०—(क) लोगोंमें इस प्रकार बोलनेकी रीति है कि जो अत्यन्त प्रिय होता है उसके समान या उससे अधिक प्रिय कहकर अपना अत्यन्त प्रेम जनाते हैं, यथा—'तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई। २१।७।' (यह सुग्रीवसे कहा है), 'भरतहु ते मोहि अधिक पियारे। ७।८।८।' (यह गुरुजीसे वानरोंके संबंधमें कहा है)। इत्यादि। वा, (ख)—लक्ष्मणजीसे भाईका नाता है, हनुमान्‌जीसे दासका नाता है और प्रभुको दास सबसे अधिक प्रिय है, यथा—'अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना'। अतः 'दूना' कहा।

पं० रा० व० श० जी—जब एक बच्चेके बाद फिर दूसरा बच्चा पैदा होता है तो माँको यह दूसरा बच्चा अधिक प्यारा होता है, यद्यपि दोनों उसीके बच्चे हैं। इसी प्रकार जो नया शरणागत होता है वह अधिक प्यारा होता है। पुनः, भाव यह कि लक्ष्मणजी तो हमारे अंगभूत हैं, सम्बन्धी हैं और तुम तो स्नेही हो। स्नेहीके सामने अन्य सब नाते फीके पड़ जाते हैं। यथा—'नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई। वि० १६४।'

प० प० प्र०—यह वचन केवल लौकिक भाषा प्रयोग नहीं है परंच वास्तविक है। यहाँ श्रीरामजी माधुर्य भावमें नहीं किन्तु ऐश्वर्यभावमें हैं, यह अगली अर्धाली और दोहेसे सिद्ध है। लक्ष्मणजी तो दास्य भावसे सेवा करते हैं पर श्रीरामजी तो उनके साथ बंधुभावनासे ही व्यवहार करते हैं। वे छोटे भाई हैं और 'ज्येष्ठो भ्राता पितुः समः' इस न्यायसे बड़े भाईकी सेवा करना उनका कर्तव्य है। इसमें कुछ विशेषता नहीं है। श्रीहनुमान्‌जीसे कुछभी नाता नहीं है, फिर वे मनुष्यभी नहीं हैं तो भी वे श्रीरामजीके अनन्य सेवक शरणागत हैं। अतः उनकी सेवामें विशेषता है। 'दूना' का केवल शब्दार्थ अभिप्रेत नहीं है किन्तु भाव यह है कि तुम लक्ष्मणसे भी अधिक प्रिय हो। उत्तरकांडमें सबसे कहा है—'सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहउँ मोरि यह बाना। सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती। ७।१६।७-८'।

वि० त्रि०—अपने हृदयके भावको दूसरेके हृदयमें अङ्कित कर देना ही भाषाका प्रयोजन है। शोभन रीतिसे वह भाव हृदयमें उदित हो, इसलिये अलङ्कारिक भावका प्रयोग होता है। कुम्भकर्ण कितना विशाल था इस भावका उदय 'नाथ भूधराकार सरीरा। कुंभकर्न आवत रनधीरा' विना ऐसे कहे नहीं हो सकता था। यहाँ तात्पर्य कुम्भकर्णके बहुत बड़े डील डौलसे है, पहाड़के नाप जोखसे नहीं। इसी भाँति हनुमान्‌जीके अति प्रिय होनेके भावको उनके हृदयमें अङ्कित करनेके लिये 'तैं मम प्रिय लछिमन तें दूना' कहा गया, प्रेमके नाप जोखके लिये नहीं। हनुमान्‌जीके हृदयमें भी नाप जोखका भाव उदय ही नहीं हुआ। उन्होंने इतना ही अर्थ लगाया कि सरकार अनुकूल हैं, यथा—'देखि पवनसुत पति अनुकूला'। हनुमानजीने ऐसे शब्दोंके प्रयोगका प्रभाव देख लिया था, अतः सीताजीके यह कहनेपर कि 'अहह नाथ हौं निपट बिसारी' तुरन्त बोले कि 'जननी जनि मानहु जिअ ऊना। तुम्ह ते प्रेम रामके दूना। ५।१४।१०', तो क्या यह अर्थ लगाया जायगा कि श्रीसीताजीका प्रेम रामजीसे कम था?

पां०—लक्ष्मणजी केवल रघुनाथजीके सेवक हैं और महावीरजी श्रीरामलक्ष्मण दोनोंके सेवक हैं; अतः दूना कहा।

मा० म०—हनुमान्‌जी अपने कपटवश सकुचा गये तब श्रीरामचन्द्रजीने दूना प्रिय कहकर वह संकोच मिटा दिया। ☞कपट धारण किए हुए द्विजको भी श्रीरामचन्द्रजी नहीं अपनाते, यह स्मरण रखने योग्य है।

पं०, प्र०—दूना कहनेके हेतु—(क) कपि केवल दुःखमें सहायक, लक्ष्मण सुख दुःख दोनोंमें। (ख) लक्ष्मणके प्रमादसे प्रिया वियोग हुआ और इनके श्रमसे संयोग। (ग) लोकोक्ति है कि तुम हमारे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हो। (घ) लक्ष्मणको शक्ति लगेगी तब ये सहाय होंगे। वा, (ङ) दूना=दू ना=दो नहीं, जैसे 'सुख सुहाग तुम्ह कहँ दिन दूना' में। अर्थात् समान प्रिय हो, दोनोंमें भेद नहीं। वा, (च) लक्ष्मण नररूपसे सेवा करते हैं और तुम्हारी सेवा कपिरूपसे होना अयोग्य है, अयोग्यमें योग्य होनेसे दूना कहा। वा, (छ)—हनुमान्‌जीके जीमें 'ऊनता' है और लक्ष्मणजीके नहीं है। जितना ही मनुष्य अपनेको नीच मानता है उतना ही श्रीरघुनाथजी उसे ऊँचा मानते हैं। वा, (ज) रघुनाथजीकी ऐसी ही बान है, यथा—'पितु कौसिक बसिष्ठ सम जाने', 'भरतहु ते मोहि अधिक पियारे', 'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी' इत्यादि। वा, (झ) लक्ष्मणजी रघुनाथजीके दुःखमें सहायक हैं और हनुमान्‌जी रघुनाथजी और जानकीजी दोनोंके दुःखमें सहायक हुए। वा, (ञ) महादेवजीके शेषजी भूषण हैं और हनुमान्‌जी रुद्रावतार हैं (शिव और शेष दोनों होनेसे दूना)।—[भूषणसे उसका धारण करनेवाला अधिक प्रिय होता ही है—(रा० प्र० श०)] वा, (ट) (उत्तरकांडमें सब भाइयोंसे अधिक प्रिय इनको कहा है, यथा—'भ्रातन्ह सहित राम एक बारा। संग परम प्रिय पवनकुमारा', अतएव दूना हुए।

करु०—लक्ष्मणजी मुझे अतिप्रिय हैं और तुम हम दोनोंको अतिप्रिय हो, इससे दूने हुए।

रा० प्र० श०—(क) लक्ष्मणजीने किसीसे मित्रता नहीं कराई, श्रीहनुमान्‌जीने सुग्रीवसे मित्रता कराई जिससे सब कार्य हुआ। (ख) लक्ष्मणजीसे शत्रुको अधिक हानि नहीं पहुँची, हनुमान्‌जीने लंकाभर जला दी और सबके नाकमें दम कर दिया। (ग) हनुमान्‌जीने जानकीजीको रामजीका संदेसा और रामजीको जानकीजीकी सुध और सँदेसा सुनाकर दंपतिको विरहानलसे बचाया। (घ) जब श्रीभरतजी चित्रकूट जाते थे तब लक्ष्मणजीने शत्रुभावसे आना कहा और देवताओंके समझानेपर उनका संदेह दूर हुआ था, हनुमान्‌जीने अपने मनमें ही भरतजीके विषयमें संदेह किया था कि—'मोरे भार चलिहि किमि बाना।' फिर स्वयंही यह समझकर सँभल गए कि ये श्रीरघुनाथजीके भाई हैं और प्रभुका प्रताप अप्रमेय है। अतः दूना कहा।

र० ब०—लक्ष्मणजी रामजीके रक्षक हैं, यथा—'कछुक दूर सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि बीरासन'। और हनुमान्‌जी लक्ष्मणजीके रक्षक हैं, यथा सुदर्शनसंहितायाम्—'लक्ष्मणप्राणदाता च दशः ग्रीवस्य दर्पहा'।

मा० त० प्र०—'दूनाका भाव एक यह भी हो सकता है कि—लक्ष्मणजी तो पूर्व भी सेवक थे और अब भी सेवक ही हैं और तुम तो स्वामीसे सेवक हुए (क्योंकि पूर्व शंकररूपसे माधुर्यमें स्वामी थे अब हनुमान् रूप होकर सेवक बने हो)। अतः दूना प्रिय कहा।

**समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥ ८॥**

**दोहा—सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।**
**मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥ ३॥**

अर्थ—सब कोई (सभी) मुझे समदर्शी कहते हैं, पर मुझको सेवक प्रिय है (क्योंकि) वह (सेवक) भी अनन्यगति होता है अर्थात् उसको मैं ही प्रिय हूँ दूसरा नहीं।८। हे हनुमन्त! वही अनन्य है जिसकी ऐसी बुद्धि टले नहीं कि जड़ चेतन (सारा जगत्) स्वामी भगवान्‌का रूप है और मैं सेवक हूँ।३।

नोट—१ 'समदरसी....' इति। इससे मिलता हुआ श्लोक गीतामें यह है—'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।९।२९।' (अर्थात्) सब प्राणियोंमें मैं सम हूँ. न मेरा कोई द्वेषपात्र है और न प्रिय है। परंतु जो मुझको भक्तिसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ। 'समदर्शी' में भाव यह है कि जो देव, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावरोंके रूपमें स्थित हो रहे हैं तथा जाति, आकार, स्वभाव और ज्ञानके तारतम्यसे अत्यंत श्रेष्ठ और निकृष्ट रूपमें विद्यमान हैं, ऐसे सभी प्राणियोंके प्रति उन्हें समाश्रय देनेके लिये मेरा सम भाव है। 'यह प्राणी जाति, आकार, स्वभाव और ज्ञानादिके कारण निकृष्ट है' इस भावसे कोई भी अपनी शरण प्रदान करनेके लिये मेरा द्वेषपात्र नहीं है अर्थात् उद्वेगक। पात्र समझकर त्यागने योग्य नहीं है। तथा शरणागतिकी अधिकताके सिवा, अमुक प्राणी जाति आदिसे अत्यंत श्रेष्ठ है, इस भावको लेकर अपना समाश्रय देनेके लिये मेरा कोई प्रिय नहीं है, इस भावसे मेरा कोई ग्रहण करने योग्य नहीं है।

'सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ' में गीताके श्लोकके उत्तरार्धका भाव है। भाव यह कि मुझमें अत्यंत प्रेम होनेके कारण मेरे भजनके बिना जीवन धारण न कर सकनेसे जो केवल मेरे भजनको ही अपना एकमात्र प्रयोजन समझनेवाले भक्त मुझे भजते हैं, वे जाति आदिसे चाहे श्रेष्ठ हों या निकृष्ट, वे मेरे समान गुणसंपन्न होकर मुझमें वर्तते हैं और मैं भी मेरे श्रेष्ठ भक्तोंके साथ जैसा वर्ताव होना चाहिए, उसी प्रकार उनके साथ बर्तता हूँ। (श्रीरामानुजभाष्य)। 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या' का भाव 'अनन्यगति' में है। इसीको भगवान्‌ने दुर्वासाजीसे इस प्रकार कहा है—'नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा।९।४।६४।' अर्थात् जिन भक्तोंकी एकमात्र परमगति, परम आश्रय मैं ही हूँ, उन साधुस्वभाव भक्तोंको छोड़कर मैं न तो अपने आपको चाहता हूँ और न सर्वदा निकट रहनेवाली लक्ष्मीको।—यह अनन्यगतिक सेवकके प्रियत्वका भाव है।

कैसा सेवक प्रिय है यह मानसमें भगवान्‌ने स्वयं ही कहा है—'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥ समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं। अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धन जैसें॥ तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे।५।४८।' इसी तरह उत्तरकांडमें जो प्रभुने भुशुण्डीजीसे कहा है—'सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग।८६।' उसके 'शुचि सुशील सेवक सुमति' शब्द भी 'अनन्यगति' की ही व्याख्या हैं।

जैसे गीतामें 'मयि ते तेषु चाप्यहम्' कहा है वैसे ही भागवतमें भगवान्‌ने अनन्य भक्तोंके गुण—'ये दारागार....मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टयम्। नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः....' (९।४।६५-६६)—कहकर फिर यह कहा है कि 'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो

मनागपि ।६८।' अर्थात् मेरे प्रेमी भक्त तो मेरे हृदय हैं और प्रेमी भक्तोंका हृदय स्वयं मैं हूँ । वे मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं जानते और मैं उनके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता ।—यह सब अनन्यगतिकके प्रियत्वका भाव है । 'अनन्य' कौन है यह स्वयं आगे कहते हैं ।

मिलान कीजिये—'रामहि सेवक परम पिआरा ।। जद्यपि सम नहिं राग न रोषू । गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू ।। करम प्रधान बिस्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फलु चाखा ।। तदपि करहिं सम बिषम बिहारा । भगत अभगत हृदय अनुसारा ।२।२१९।१-५।', 'निर्गुन सगुन विषम सम रूपं ।३।११।११।'

टिप्पणी—१ सब लोग मुझे समदर्शी कहते हैं, इस कथनका तात्पर्य यह है कि हम सेवकके लिए विषमदर्शी होते हैं, यह बात सब नहीं जानते, कोई-कोई ही जानते हैं ।

☞ श्रीरूपकलाजी—'जाके असि मति न टरइ' इति । 'मति न टरइ' यह क्यों कहा ? इस कारणसे कि बुद्धिके चलायमान वा टलनेका कारण उपस्थित है । जब कहा कि सचराचरमात्रको स्वामी-भगवान्का रूप देखे तब यह बुद्धि अवश्य हो जाती है कि हम भी तो चराचरमें हैं, अतः हम भी भगवान् ही हैं । इस भ्रममें पड़ जानेकी बहुत बड़ी संभावना है । इसीसे कहते हैं कि 'मति न टरै' और इसीसे स्वामी और सेवक दोनों शब्द दिए गए कि अपनेको सेवक ही माने । जहाँ बुद्धि टली कि हानि हुई ।

रा० प्र०—मति टलनेका संयोग है, क्योंकि जो चराचरको स्वामीका रूप देखेगा वह अपनेको कैसे उससे भिन्न मानेगा । इसीसे भक्तिपथमें हठका करना शठता नहीं माना गया है, यथा—'भगति पच्छ हठ नहिं सठताई' ।

श्रीसीतारामीय ब्रजेन्द्रप्रसादजी सबजज कहते हैं कि—'सचराचररूप प्रभु और मैं सेवक कैसे ? जब प्रभु सचराचर रूप हो गये, तब मैं अलग रहा कहाँ ? भक्त अलग रह कहाँ सकता है जैसे पैर शरीरसे अलग रह कहाँ सकता है ? मगर पैर शरीरका सेवक ही तो है । वैसे ही मैं भी सचराचररूप भगवान्के चरणोंका सेवक हूँ । यथा—'सेवक कर पद नयनसे मुख सो साहिब होइ २।३०६।'

टिप्पणी—२ (क) 'हनुमंत' इति । यहाँ श्रीरामजी हनुमान्जीका नाम लेते हैं, इससे सूचित होता है कि हनुमान्जीने अपना नाम बताया है । [वाल्मी० और अ० रा० में हनुमान्जीने अपना नाम और सुग्रीव द्वारा भेजा हुआ बताया है, यथा—'हनुमान्नाम वानरः । वाल्मी० ४।३।२१।' 'हनूमान्नाम विख्यातो ह्यञ्जनीगर्भसम्भवः । अ० रा० ४।१।२४।', पर मानसमें ये दोनों बातें गुप्त रहीं । जब 'प्रीति उर छाई' और कपि-तन प्रकट हुआ, तब भगवान्ने 'कपि' संबोधन किया—'सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना' । इस प्रकरणमें ऐश्वर्य है यह 'हरप हृदय निज नाथहिं चीन्ही ।२।७।' से लेकर 'रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे ।३।४।' तक हनुमान्जीके सभी शब्दोंसे स्पष्ट है । अतः यहाँ पूर्व बालपनके परिचयसे कि जो किसी पुराणमें कहा जाता है, नाम जानना विशेष संगत नहीं है । श्रीहनुमान्जीने जो कहा है कि 'मोर न्याउ मैं पूछा साईं । तुम्ह कस पूछहु नर की नाईं', उसीके अनुसार यहाँ ऐश्वर्यभावसे जानना विशेष संगत है । जब हनुमान्जीका कपट बटुरूप छूटा तब इन्होंने भी अपना माधुर्यभाव छोड़ ऐश्वर्यभाव प्रकट कर दिया । ईश्वर सर्वज्ञ है, अतः 'हनुमान' नाम जानते हैं ।]

टिप्पणी—३ 'मैं सेवक सचराचर रूप०' अर्थात् चराचरमात्रको अपने स्वामीका रूप देखते हैं । चराचरको स्वामीका रूप कहनेका भाव यह है कि अद्वैत भावसे न देखे अर्थात् द्वैत बुद्धिसे देखे । अथवा, स्वामी कहनेसे सब देवताओंकी उपासना रक्षित रह गई कि जो जिसका उपासक है वह अपने स्वामीका रूप चराचरमें देखे । 'भगवंत' कहनेका तात्पर्य कि सबमें षडैश्वर्यसम्पन्न रूप देखे, विषम दृष्टि न होने पावे । [मिलान कीजिए—'खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन् । सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः ।। भा० ११।२।४१।' (अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, जीव, दिशा, वृक्ष, नदी और समुद्र और जो कुछ है, वह हरिका शरीर है, ऐसा मानकर भगवान्में

अनन्य होके प्रणाम करे), 'भूमौ जले नभसि देव नरासुरेषु भूतेषु देवि सकलेषु चराचरेषु। पश्यन्ति शुद्ध मनसा खलु रामरूपं रामस्य ते भुवितले समुपासकाश्च।' (महारामायण ४९।८) अर्थात् हे देवि! जो लोग पृथ्वी, जल, आकाश, देव, मनुष्य, असुर, चर और अचर सभी जीवोंमें शुद्ध मनसे श्रीरामरूप ही देखते हैं, पृथ्वीमें वे ही श्रीरामजीके उत्तम उपासक हैं।] इस प्रकरणमें ऐश्वर्य है, माधुर्य नहीं। प्रथम हनुमान्‌जीने कहा कि 'जानौं नहिं कछु भजन उपाई', उसीके उत्तरमें यहाँ रामजीने भक्तिका स्वरूप कहकर भजनका उपाय बताया। [सब सखाओंको राजगद्दीके पश्चात् विदा करते समय भी श्रीभगवद्वचनामृत है कि 'अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम। सदा सर्वगत सर्वहित जानि करेहु अति प्रेम।७।१६।']

प० प० प्र०—अनन्य भक्तिका यही लक्षण केवलाद्वैतसाम्प्रदायी श्रीज्ञानेश्वरजी, श्रीसमर्थ रामदासजी तथा श्रीएकनाथजी आदिने लिखा है। क्रमसे यथा 'जे जे दिसे भूत ते तें भावि जे भगवंत।', 'नारायण असे विश्वीं तयाची पूजा करीत जावी। म्हणोनियां तोषवावी कोणी तरी काया।', 'तत्काल पावावया ब्रह्मपूर्ण। सर्वां भूतीं भगवद्भजन। सांडोनियां दोष गुण। हें चि साधन मुख्यत्वें।' इस अभ्याससे काम, क्रोधादिका जीतना सुलभ हो जाता है।

नोट—२ मिलान कीजिए—'जड़ चेतन जग जीवजन सकल राममय जानि। बंदौं सबके पद कमल सदा जोरि जुग पानि।१।७।', 'सीयराम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।१।८।२।', 'सातवँ सम मोहि मय जग देखा।३।३६।३।',—'सदा सर्वगत जानि।७।१६।', 'उमा जे रामचरनरत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।७।११२।'

३. बाबा हरिहरप्रसादजीने उत्तरार्धका यह अर्थ लिखा है—'चराचरसहित मैं स्वामी-भगवंतके रूपका सेवक हूँ।'

**देखि पवनसुत पति अनुकूला। हृदय हरष बीती सब सूला॥ १॥**

अर्थ—स्वामीको अनुकूल देखकर पवनसुत हृदयमें हर्षित हुए और सब शूल जाता रहा।१।

टिप्पणी—१ (क) 'देखि' कहनेका भाव कि प्रथम हनुमान्‌जीने मनमें यह मान रक्खा था कि स्वामी मुझपर अनुकूल नहीं हैं, उन्होंने मुझे 'बिसरा' दिया है सो अब पतिकी अनुकूलता आँखोंसे देखते हैं कि उन्होंने हृदयमें लगाया, नेत्रोंके जलसे सींचकर ठंढा किया, लक्ष्मणजीसे दूना प्रिय कहा और भजनका उपदेश किया। (ख) 'सबशूल' वही हैं जो पूर्व कह आए हैं कि मैं मायाके वश हो गया; प्रभुको नहीं पहिचाना; उसपर भी प्रभुने भुला दिया। यही तीन शूल हैं। सब शूल नाशको प्राप्त हुए। पुनः; प्रभुकी अनुकूलतासे त्रिविधभवशूल—जन्म, जरा और मरण भी नाश हुए, यथा—'तुम्ह कृपाल जापर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिबिध भवसूला।५।४७।६।'

प्र०—'सब सूला'—एक यह कि वालिके अभावमें सुग्रीवको राज्यका अधिकार नहीं था, पुत्रके होते भाई राज्याधिकारी नहीं होता। दूसरे, सुग्रीवके दुःखसे चारों वानरोंने दुःखी होकर उन्हें राज्य दे दिया था, उसीसे सुग्रीवकी परमहानि हुई। तीसरे, उसी हेतुसे अतिसभीत हैं। पुनः, पवन प्रतिकूल होनेसे सबको शूल होता है, ये उन्हींके पुत्र हैं। उनको भी सब शूल—प्रभुको मोहवश न पहिचानना, प्रभुका भुला देना, इत्यादि, हुए—प्रभुकी अनुकूलता देखकर वह सब मिटे।

प० प० प्र०—'बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना।७।१२१।३२।', 'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह तें पुनि उपजहिं बहु सूला।७।१२१।२९।' ये सब शूल मिट गए। भाव कि श्रीहनुमान्‌जी निर्मोह और कामक्रोधादि समस्त विकारोंसे रहित हो गए। सुग्रीवको राज्य देना काम है, वालिको दंड देनेकी इच्छा क्रोध है। भगवान्‌के स्पर्श और भाषणादिसे अब वे अकाम हो गए और परमधामके अधिकारी हो गए।

नोट—१ श्रीहनुमान्‌जी प्रथम तो आप कृतार्थ हुए, और अब आगे श्रीसुग्रीवजीकी भलाई करके उनको कृतार्थ करनेकी प्रार्थना करते हैं।

श्रीमारुति-मिलन-प्रसंग समाप्त हुआ।

## 'सुग्रीव-मिताई'–प्रकरण

### नाथ सैल पर कपिपति रहई। सो सुग्रीव दास तव अहई ॥ २ ॥

अर्थ—(तब श्रीहनुमान्‌जीने कहा)—हे नाथ! (इस) पर्वतपर वानरोंका स्वामी (सुग्रीव) रहता है। वह सुग्रीव आपका दास है।२।

टिप्पणी—१ (क) शंका—कपिपति तो वालि है, सुग्रीवको कपिपति कैसे कहा? समाधान—सब मंत्री सुग्रीवको राज्य दे चुके हैं, यथा—'मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं। दीन्हेउ मोहि राज बरिआईं।६।६।' [सुग्रीवके सम्मानहेतु 'कपिपत' कहा; जैसे ग्रंथकारने हनुमान्‌जीको 'कपिराई' कहा है, यथा—'नव तुलसिकावृंद तहँ देखि हरष कपिराइ', और लक्ष्मणजीने शूर्पणखासे कहा था कि 'प्रभु समरथ कोसलपुरराजा'। (पं०)। वा, भावी लक्षकर (कि अब ये अवश्य कपिपति हो जायँगे) कपिपति कहा। (पं०)। अथवा, वानरोंमें महान् चारों वानरोंके पति होनेसे ऐसा कहा (रा० प्र०)। कपिपति तो थे ही, पर वालिने देश छुड़ा लिया और निकाल दिया। सभी मंत्रियोंने राज्याभिषेक किया ही था। पुनः, आगे, मित्रता करनेको कहना है। लोग अपने समानसे मित्रता करते हैं। श्रीरामजी राजा हैं, अतः सुग्रीवको पूर्व कुछ दिन राजा होनेसेही राजा कहा]। (ख) 'कपिपति' कहनेपर नाम जाननेकी इच्छा होगी कि कौन कपिपति है; अतएव दूसरे चरणमें नाम भी कहा—'सो सुग्रीव....'। जो केवल 'सुग्रीव' कहते तो सुग्रीव नामके अनेक पुरुष हो सकते हैं, इसमें संदेह रहता कि कौन 'सुग्रीव' है, इससे 'कपिपति' कहा। (ग) 'कपिपति' हैं (अर्थात् राजा होकर) शैलपर रहते हैं, इस कथनसे सूचित किया कि सुग्रीव दुःखी हैं। वनका दुःख समझकर श्रीरामजीने भी वनमें वसनेका कारण सुग्रीवसे पूछा है। यथा—'कारन कवन बसहु वन मोहि कहहु सुग्रीव।५।'

शंका—सुग्रीवसे और श्रीरामजीसे तो अभी भेंट नहीं हुई है, तब सुग्रीव श्रीरामजीके दास कैसे हुए? समाधान—(क) सुग्रीव ईश्वरके भक्त हैं। और ये ईश्वर हैं। अथवा, (ख) ब्रह्माजीका वचन है कि–'बानर-तनु धरि धरि महि हरिपद सेवहु जाहु।१।१८७', इस वचनको मानकर वे आपका स्मरण करते हैं और दर्शनकी राह देखते हैं, यथा—'हरि मारग चितवहिं मति धीरा। १।१८७।'; इस प्रकारसे सुग्रीव रामजीके दास हैं।

वि० त्रि०—जब हनुमान्‌जीने सरकारको पहिचान लिया, तब 'सो सुग्रीव दास तव अहई' कहनेमें आपत्ति क्या है? सुग्रीवजीके बड़भागी रामोपासक होनेमें तो सन्देह हो नहीं सकता, यथा—'हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी। निज इच्छा अवतरइ प्रभु सुर महि गो द्विज लागि। सगुन उपासक संग तब रहहिं मोच्छ सुख त्यागि।' यह शंका अत्यन्त निर्मूल है कि अभी तो रामजीसे भेंट ही नहीं हुई, सुग्रीवजी दास कैसे हुए? उत्तर यही है कि आज भी ऐसे अनेक महात्मा हैं, जो सरकारके दास हैं, पर अभीतक उन्हें दर्शनका सौभाग्य प्राप्त नहीं है।

### तेहि सन नाथ मयत्री† कीजै। दीन जानि तेहि अभय करीजै ॥ ३ ॥

अर्थ—हे नाथ! उससे मित्रता कीजिए और उसे दीन जानकर अभय कीजिए ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम हनुमान्‌जीने कहा कि सुग्रीव कपिपति हैं और आपके दास हैं। अब दोनों वचनोंको क्रमसे घटाते हैं—सुग्रीव कपिपति हैं, उनसे मित्रता कीजिए। वे राजा और आप राजा, राजाको राजासे मित्रता करना योग्य ही है। यथा—'प्रीति विरोध समान सन करिय नीति असि आहि।६।२३।' सुग्रीव आपके दास और दीन हैं, यथा—'कृत भूप बिभीषन दीन रहा।६।११० छंद।' वे दीन हैं और आप दीनबंधु हैं,

† 'मैत्री, कीजे' 'करीजे'—(भा० दा०)। उपर्युक्त पाठ काशी और ना० प्र० का है। उत्तम पाठ 'मइत्री' है। (गौड़जी)

सुग्रीव शत्रुके भयसे पीड़ित हैं (यथा—'बालि त्रास व्याकुल दिन राती। तन बहु व्रन चिंता जर छाती।२।२।', 'ताके भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरउँ बिहाला।') और आप दासोंको अभयदाता हैं। (ख) 'दीन जानि' इति। दीन कहनेका भाव कि जिसमें सुग्रीवकी दीनता सुनकर शीघ्र कृपा करें। यथा—'सुमिरत सुलभ दास दुख सुनि हरि चलत तुरत पटपीत सँभार न। साखि पुरान निगम आगम सब जानत द्रुपदसुता अरु बारन। वि० २०६।' 'तेहि अभय करीजै' का भाव कि उसके शत्रुको मारकर उसे अभय कर दीजिए और उसकी दीनता छुड़ाइए अर्थात् राज्य दीजिए।

**सो सीता कर खोज कराइहि। जहँ तहँ मरकट कोटि पठाइहि ॥४॥**
**येहि बिधि सकल कथा समुझाई। लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई ॥५॥**

अर्थ—वह श्रीसीताजीकी खोज करायेगा। जहाँ तहाँ करोड़ों बन्दरोंको भेजेगा।४। इस प्रकार सब कथा समझाकर दोनों जनों (प्राणियों) को पीठपर चढ़ा लिया।५।

टिप्पणी—१ 'सो सीता कर खोज कराइहि।....' इति। (क) अब अपने दूसरे वचनको—कि 'सुग्रीव आपका दास है'—घटित करते हैं। दासका धर्म है कि सेवा करे; इसीसे कहते हैं कि 'सीता कर खोज कराइहि'। श्रीसीताजीकी खोज कराना सेवा है, यथा—'सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई।४।५।८।' (ख) 'तेहि अभय करीजै' पहले कहकर तब कहा कि 'सो सीता कर खोज कराइहि'। इस क्रमसे सूचित किया कि जब आप सुग्रीवको शत्रु-रहित राजा करेंगे तब वे आपका कार्य करने योग्य होंगे। (ग) जहँ तहँ = चारों दिशाओंमें। कोटि-अनन्तवाची है।

नोट—१ 'सो सीता कर खोज कराइहि' इति। "श्रीरामजीने तो कहा था कि 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही'। हनुमान्‌जीने कैसे जाना कि 'वैदेही' का नाम 'सीता' है? क्योंकि यह मान लेनेपर भी कि बचपनमें हनुमान्‌जी अयोध्यामें श्रीरामजीकी सेवामें थे यह सिद्ध नहीं होता कि वे 'सीता' नाम जानते थे, कारण कि उस समय विवाह नहीं हुआ था।"—यह शंका उठाकर प्र० स्वामीजी यह अनुमान करते हैं कि जिस समय 'कहि हरि नाम दीन्ह पट डारी', उसी समय सीताजीने अपना नाम भी कहा था। पर इसमें भी प्रश्न होगा कि 'वैदेही' ही 'सीता' हैं यह क्योंकर सिद्ध हुआ, जब तक कि 'वैदेही' और 'सीता' दोनों शब्द उन्होंने न कहे हों। दूसरे, दो चार ग्रंथ जो देखने सुननेमें आते हैं उनमेंसे किसीमें सीताजीका अपना नाम बताना नहीं पाया जाता। मेरी समझमें तो 'श्रीरामाज्ञा प्रश्न' सर्ग ४ के 'राम जनम सुभ काज सब कहत देवरिषि आइ। सुनि सुनि मन हनुमानके प्रेम उमँग न अमाइ।२२।' इस दोहेसे समाधान हो जाता है। देवर्षि नारदसे समस्त शुभ 'काज' का समाचार श्रीहनुमान्‌जीको मिलता रहा है। जन्म, उपनयन, विवाह आदि सब 'मंगल काज' हैं। जब विवाह कहा गया तब सीताजीका विदेहराजकी कन्या होना भी कहा गया। दूसरे, सूर्यसे विद्या पढ़ना भी तुलसीके ही ग्रंथोंसे स्पष्ट है—'भानु सों पढ़न हनुमान गए' (बाहुक)। सूर्य भगवान्‌ने ही इन्हें सुग्रीवकी रक्षाके लिये नियुक्त किया। तब सूर्य भगवान्‌ने यह भी कहा कि श्रीरामलक्ष्मणजी श्रीसीताजीकी खोजमें आवेंगे इत्यादि। अतः जब ये जान गए कि ये श्रीरामलक्ष्मण हैं तो यह भी जान गए कि वैदेही सीता हैं। तीसरे, जब श्रीहनुमान्‌जी यह जान गए कि ये ब्रह्म राम हैं, हमारे प्रभु हैं, तब यह भी जानते ही हैं कि इनकी शक्ति श्रीसीताजी हैं।

टिप्पणी—२ 'येहि बिधि सकल कथा समुझाई।०' इति। (क) श्रीरामजीका प्रश्न हनुमान्‌जीसे था—'बिप्र कहहु निज कथा बुझाई', उसका उत्तर इन्होंने यहाँ दिया—'येहि बिधि सकल कथा समुझाई'। 'येहि बिधि' अर्थात् जैसा पूर्व कह आए कि 'नाथ सैल पर कपिपति रहई' से 'जहँ तहँ मरकट कोटि पठाइहि' तक। (ख) 'समुझाई' का भाव कि व्यवहार साफ चाहिए। सुग्रीवसे और श्रीरामजीसे मित्रता

जानती हैं। पीछे कोई तर्क न उठे; इसलिए सब बात समझाकर कही। पुनः, श्रीरामजीका प्रश्न वा उनकी आज्ञा भी ऐसी ही है कि 'कहहु बुझाई'; अतः 'कथा समुझाई'।

३ 'पीठि चढ़ाई' इति। रामचन्द्रजीको कोमलपदसे पैदल चलते देख हनुमान्‌जीको दुःख हुआ। इसीसे उन्होंने पीठपर चढ़ा लिया कि आप पैदल चलने योग्य नहीं हैं, यथा—'कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी'।

नोट—२ 'पीठि चढ़ाई' पद देकर जनाया कि हनुमान्‌जी उनको कंधेपर नहीं लिए हैं वरन् वानररूपसे चारों पैरोंसे पर्वतपर चढ़ेंगे, अतएव पीठपर चढ़ाया है। यह बात वाल्मी० ४।३४ से भी सिद्ध है—'भिक्षुरूपं परित्यज्य वानरं रूपमास्थितः। पृष्ठमारोप्य तौ वीरौ जगाम कपि कुञ्जरः॥' अर्थात् भिक्षुक (ब्रह्मचारी) का रूप त्यागकर वानर रूप धारण करके 'कपिकुंजर' हनुमान्‌जी उन दोनोंको पीठपर बिठाकर ले चले। 'वानर रूप', 'कपिकुंजर' और 'पृष्ठमारोप्य' इस भावको पुष्ट कर रहे हैं। और यहाँ ग्रन्थकारने भी 'पीठि' शब्द दिया है। अध्यात्ममें कंधेपर बैठनेको कहा, ऐसा लिखा है, यथा—'हनुमान् स्वस्वरूपेणस्थितो राममथाब्रवीत्। आरोहतां मम स्कंधौ गच्छामः पर्वतोपरि॥'—(स० १।२७)। अर्थात् अपना वानर स्वरूप प्रकट करके श्रीरामजीसे यह बोले कि आप हमारे कंधोंपर चढ़ लें, मैं पर्वतपर आपको लेकर चलता हूँ। पर यहाँ गोस्वामीजीका मत पीठपर चढ़ानेकी ओर है।

प्र०—पीठपर चढ़ाया जिसमें सुग्रीव पीठपर चढ़े हुए देखकर इनको मित्र समझें। दूसरे, पर्वत दुर्गम है, स्वामीको पैदल ऊपर चढ़नेमें कष्ट होगा। इससे पीठपर चढ़ाया। (आगे श्रीरामजी हैं, पीछे श्रीलक्ष्मणजी)।

**जब सुग्रीव राम कहुँ देखा। अतिसय जन्म धन्य करि लेखा॥६॥**
**सादर मिलेउ नाइ पद माथा। भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा॥७॥**

अर्थ—जब सुग्रीवजीने श्रीरामचन्द्रजीको देखा तब अपने जन्मको अत्यन्त धन्य माना।६। (वे श्रीरामजीके) चरणोंमें माथा नवाकर आदरपूर्वक मिले। श्रीरघुनाथजी भाई सहित उनसे गले लगकर मिले।७।

प० प० प्र०—'राम कहुँ देखा' इति। 'राम' शब्द मानसमें प्रायः इस भावसे प्रयुक्त हुआ है कि देखनेवालेको रूपदर्शनसे ऐसा आनंद हुआ कि वह सब कुछ भूलकर उस रूप-दर्शनमें रम गया। यथा—'देखि राम मुख पंकज मुनिवर लोचन भृंग। सादर पान करत अति धन्य जन्म सरभंग।३।७' (यहाँ भी 'अतिसय जन्म धन्य करि लेखा' है ही), 'राम बदनु बिलोकि मुनि ठाढ़ा। मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढ़ा।३।१०' (सुतीक्ष्णजी), 'राम देखि मुनि देह बिसारी। १।२०७।५।' (विश्वामित्रजी), 'रामहि चितइ रहे थकि लोचन।१।२६९।८।' (परशुरामजी), इत्यादि। वैसे ही यहाँ भी 'राम कहुँ देखा' से ही सूचित कर दिया कि सुग्रीवजीको दर्शन पाते ही अतिशय आनंद हुआ।

टिप्पणी—१ 'जब सुग्रीव राम कहँ देखा....' इति। (क) 'जब देखा' पदसे जनाया कि सुग्रीवने दर्शनमात्रसेही अपनेको धन्य माना; ये बलवान हैं, हमारे शत्रुको मारकर हमें राज्य देंगे, इत्यादि, किसी प्रयोजनको समझकर नहीं (धन्य माना है)। (ख) 'अतिसय' का भाव कि श्रीरामजीके दर्शनसे अतिशय पुण्य है। अतिशय पुण्य होनेसे जन्म भी अतिशय धन्य हुआ। [पुनः भाव कि प्रभुके दर्शनसे सुग्रीवको उनके प्रतापकी प्रतीति हुई, अतः अपनेको अतिशय धन्य माना। (पं०)। पूर्व जो पीठपर चढ़ाना कहा गया वह इस चरणसे भी पुष्ट होता है। पीठपर श्रीरामजी आगे हैं, लक्ष्मणजी पीछे, इसीसे सुग्रीवका रामको देखना कहा। यदि अध्यात्मके अनुसार लें तो 'राम कहँ देखा' का समाधान यह होगा कि श्रीरामजी मुख्य हैं इससे उनका नाम देकर दोनोंको देखना जना दिया है।

२ 'सादर मिलेउ नाइ पद माथा....' इति। हनुमान्‌जीके वचन 'सो सुग्रीव दास तव अहई' यहाँ

चरितार्थ हैं; दास हैं अतः मस्तक नवाकर दासभावसे सुग्रीव मिले। और, 'भेंटेउ अनुजसहित रघुनाथा' में रामजीकी ओरसे 'तेहि सन नाथ मयत्री कीजै' ये वचन चरितार्थ हुए। सुग्रीव पैरोंपर मस्तक रखते हैं पर ये उनको मित्रभावसे गले लगाते हैं। [ 'सादर' मिलनेका कारण यह है कि पूर्वकी जो शंकाएँ थीं कि 'पठए बालि' 'होहि मन मैला' वे सब प्रभुको देखते ही अब जाती रहीं। (रा० प्र०)। पुनः, 'सादर' का भाव कि सुग्रीव फल फूल दलादि लेकर मिले। (मा० म०)]

३ ☞ 'नाइ पद माथा' से जनाया कि दंडवत् प्रणाम किया। केवल मस्तक झुकाना ही अभिप्रेत होता तो 'पद' शब्द न देते। यथा—'विप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ। माथ नाइ पूछत अस भयऊ।४।१।६।', 'पुनि सिरु नाइ बैठ निज आसन।५।३८।', 'नाइ सीस करि विनय बहूता। नीति विरोध न मारिय दूता।५।२४।७', 'अस कहि नाइ सबन्हि कहुँ माथा।५।१।' इत्यादि। 'भेंटेउ' दोनों अर्थ दे रहा है।

मा० म०—जैसे काशीमें मूल विश्वेश्वर हैं वैसे ही किष्किंधामें 'सादर मिलेउ नाइ पद माथा। भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा' यही बीज है। जैसे विश्वेश्वरद्वारा कर्म ज्ञान प्राप्त होकर अन्तमें रामपदकी प्राप्ति होती है वैसे ही इस पदके जपसे कर्म और ज्ञान प्राप्त होता है और अन्तमें स्वयं रामजी बाँह पकड़कर भवपार करते हैं।

**कपि कर मन बिचार येहि रीती। करिहहिं बिधि मो सन ए प्रीती॥ ८॥**

अर्थ—श्रीसुग्रीवजी मनमें इस रीतिसे विचार कर रहे हैं—'हे विधि! क्या ये मुझसे प्रीति करेंगे?' अर्थात् मैं इनसे प्रीति करनेके योग्य नहीं हूँ, मैं तो दीन हूँ, दूसरे वानर हूँ और ये राजकुमार मनुष्य हैं॥ ८॥

नोट—१ (क) 'येहि रीती' अर्थात् उपर्युक्त रीतिसे, जिस रीतिसे मुझसे मिले हैं। मैं तो उनके चरणोंपर पड़ा था, पर उन्होंने मुझे सख्यभावसे गलेसे लगाया, दोनों भाई गले लगकर मिले। अतः वे सोचते हैं कि यदि मित्र-भावसे प्रीति करें तो मेरे बड़े भाग्य हैं। (ख) 'कपि कर मन बिचार....' इति। उधर जो श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरामजीसे प्रार्थना की थी कि 'तेहि सन नाथ मयत्री कीजे। दीन जानि तेहि अभय करीजे।' उसीकी स्फूर्ति वा वही मित्रताकी प्रीति करनेका भाव इधर सुग्रीवजीके मनमें उत्पन्न हुआ।

टिप्पणी—१ हनुमान्‌जीके कहनेसे श्रीरामजीके हृदयमें सुग्रीवसे मित्रता करनेकी इच्छा हुई। [श्रीसबरीजीने तो प्रथमसे ही कह रखा था कि 'पंपासरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई'। अतएव पूर्वसे ही इच्छा थी। हनुमान्‌जी द्वारा उसकी पूर्ति हुई]। श्रीरामजीसे मित्रता करनेकी इच्छा सुग्रीवके हृदयमें अब हुई; अतएव उस इच्छाको यहाँ कहते हैं—'कपि कर मन बिचार....'। तात्पर्य कि एकहीकी इच्छासे प्रीति नहीं होती, इसीसे दोनों ओरकी इच्छा वर्णन करते हैं। दोनों ओरसे परस्पर प्रीति न हुई तो वह दृढ़ नहीं रह सकती।

नोट—२ (क) 'करिहहिं बिधि' से जनाया कि सुग्रीवजी अपनेको उनसे मित्रता करनेके योग्य नहीं समझते, क्योंकि मित्रता समान पुरुषोंमें होती है। वे सोचते हैं कि मैं तो वानर हूँ, ये मनुष्य हैं; मैं भ्रष्टराज्य

---

* पंजाबीजी यों भी अर्थ करते हैं—'प्रभुके स्नेहकी यह रीति देखकर सुग्रीव मनमें विचार करते हैं कि क्या ये मुझसे विधिपूर्वक प्रीति करेंगे।' बाबा हरिहरप्रसादजीने भी लगभग यही अर्थ रक्खा है—'कपि मनमें इस प्रकार विचार करते हैं कि क्या ये मुझसे 'विश्वासार्थ अग्न्यादि-साक्षि-विधिसे प्रीति करेंगे?' ☞ पर यह अर्थ क्लिष्ट है। जान पड़ता है कि 'विधि' सम्बोधन न करना पड़े इस विचारसे ये अर्थ किए गए हैं। 'हे विधि', 'हे विधाता', 'हे भगवान्' इत्यादिका प्रयोग ऐसी अवस्थामें करना मनुष्यका सहज स्वभाव है। वैसा ही प्रयोग यहाँ भी है और अन्यत्र भी अनेक स्थलोंपर हुआ है। यथा—'हे विधि दीनबंधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया।३।१०।४।' (श्रीसुतीक्ष्णजी)। यदि ऐसा ही अर्थ करना हो तो 'प्रीति-विधि करिहहिं' अर्थात् प्रीतिका विधान करेंगे, ऐसा अन्वय कम क्लिष्ट होगा। पर ठीक अर्थ वही है जो ऊपर दिया गया है।

हूँ, ये राजकुमार हैं; मैं दीन हूँ ये वीर हैं, ये प्रसन्न हैं, मैं भयग्रस्त हूँ, ये घोर वनमें निर्भय फिर रहे हैं, इत्यादि। अतः वे सोचते हैं कि भला ये कब मुझसे मित्रता करने लगे। इसीसे विधाताको मनाते हैं; आप ऐसा विधान रच दीजिए कि ये मुझसे सख्य भावसे मित्रता कर लें। आपके करनेसे ही यह संभव हो सकता है, अन्यथा नहीं। श्रीसुग्रीवजीकी यह पूर्वाभिलाषा आर्तप्रपन्नभावसे हुई। भाव यह कि यदि ये मेरे सखा हो जायँ तो मैं परम भाग्यवान हो जाऊँ।—'तन्ममैवैष सत्कारो लाभश्चैवोत्तमः प्रभो। वाल्मी० ४।५।१०।'

३ इससे सिद्ध हुआ कि भगवान् जब जीवको अपनानेकी इच्छा करते हैं, तभी जीवमें उनकी ओर झुकने, उनकी शरण होनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। वह प्रभुकी प्राप्तिके लिये, उनकी कृपाके लिये अत्यन्त आर्त्त हो जाता है और तब तो श्रीमुखवचन ही है—'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्। वाल्मी० ६।१८।३।'

## दोहा—तब हनुमंत उभय दिसि की॰ सब कथा सुनाइ।
## पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति† दृढ़ाइ ॥ ४ ॥

अर्थ—तब श्रीहनुमान्‌जीने दोनों ओरकी सब कथा सुनाकर अग्निको साक्षी देकर दोनोंमें दृढ़ प्रीति जोड़ दी। अर्थात् प्रतिज्ञापूर्वक दृढ़ प्रीति करा दी।४।

टिप्पणी—१ (क) 'तब' अर्थात् जब दोनोंके हृदयमें परस्पर प्रीति करनेकी इच्छा हुई तब। (ख) दोनों तरफ़की कथा सुनानेका भाव कि दोनों सब बातें समझकर प्रीति करें जिसमें फिर मित्रतामें बीच न पड़े।

नोट—१ दोनों ओरकी मित्रता कही। अर्थात् श्रीरामचन्द्रकी ओरसे बताया कि—ये इक्ष्वाकुकुल-नंदन श्रीदशरथ महाराजके पुत्र हैं, पिताकी प्रेरणासे धर्मपालनके लिए वनमें स्त्री सहित आए। रावणने इनकी स्त्री हर ली, उसीको ढूँढ़ते हुए यहाँ आए हैं। ये सत्यसंध और अजेय हैं। तुम्हें इनकी स्त्रीका पता लगाना होगा।—(वाल्मी० ४।५।१–७)। और, सुग्रीवकी ओरकी कथा यह कही कि—सुग्रीवको बालिने राज्यसे निकाल दिया है, उसका राज्य और स्त्री छीन ली और इनसे शत्रुता रखता है जिससे ये भागे-भागे फिरते हैं। सूर्यपुत्र सुग्रीव हमलोगोंके साथ श्रीसीताजीका पता लगानेमें अवश्य आपकी सहायता करेंगे। आपको इनकी सहायता करनी होगी। आप दोनोंकी समानावस्था है। आप इनका राज्य और स्त्री दिलावें, ये आपकी स्त्रीको खोजें। (वाल्मी० ४।४।२६–२८)। दोनोंने तब अग्निको साक्षी देकर एक दूसरेकी सहायताकी प्रतिज्ञा की, यह बात वाल्मीकीयके श्रीहनुमानजीके 'त्वत्प्रतिज्ञामवेक्षते' (४।२९।२२) इन वचनोंसे स्पष्ट सिद्ध है जो उन्होंने सुग्रीवसे कहे हैं। पंजाबीजीका भी यही मत है कि यहाँ प्रभुका कुल और गुण बताए।

टिप्पणी—२ 'पावक साखी देइ०' इति। अग्निको साक्षी किया। क्योंकि अग्नि धर्मका अधिष्ठान है। जो बीच रक्खेगा उसके धर्मका नाश होगा, क्योंकि अग्निदेव सबके हृदयकी जानते हैं, यथा—'तौ कृसानु सब कै गति जाना।६।१०८।८।' अग्निको साक्षी इस तरह दिया कि दोनोंके बीचमें अग्नि जला दी और दोनोंसे भेंट कराई।

नोट—२ वाल्मीकिजी लिखते हैं—'काष्ठयोः स्वेन रूपेण जनयामास पावकम्। दीप्यमानं ततो वह्निं पुष्पैरभ्यर्च्य सत्कृतम् ॥१४॥ तयोर्मध्ये तु सुप्रीतो निदधौ सुसमाहितः। ततोऽग्निं दीप्यमानं तौ चक्रतुश्च प्रदक्षिणम् ॥१५॥ सुग्रीवो राघवश्चैव वयस्यत्वमुपागतौ। ततः सुप्रीतमनसौ तावुभौ हरिराघवौ ॥१६॥ अन्योन्यमभिवीक्षन्तौ न तृप्तिमभिजग्मतुः। त्वं वयस्योऽसि हृद्यो मे एकं दुःखं सुखं च नौ ॥१७॥' (वाल्मी० कि० स० ५) अर्थात् हनुमान्‌जीने दो लकड़ियोंको रगड़कर आग प्रकट की। उस जलती हुई अग्निकी उन्होंने पुष्पोंसे पूजा की और सावधान होकर दोनोंके बीचमें वह आग रख दी। दोनोंने उसकी प्रदक्षिणा

॰ 'कह'—(का०)। † 'दिढाइ'—(का०)।

की। इस प्रकार दोनों मित्र बन गए और दोनों प्रसन्न हुए।....सुग्रीवने प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामचन्द्रजीसे कहा कि 'आप मेरे मित्र हैं, मेरे हृदयके प्रिय हैं; हम दोनोंका सुखदुःख समान है'। पुनः, यथा अध्यात्मे—'ततो हनूमान् प्रज्वाल्य तयोरग्निं समीपतः। तावुभौ रामसुग्रीवावग्नौ साक्षिणि तिष्ठति ॥४४॥ बाहू प्रसार्य चालिङ्ग्य परस्परमकल्मषौ....॥४५॥'—(स० १) अर्थात् तब हनुमान्‌जीने दोनोंके समीपही अग्नि जलाकर रख दी। दोनोंने अग्निको साक्षी देकर निष्कपट शुद्ध हृदयसे परस्पर हाथ फैलाकर गलेसे लग कर भेंट की।

टिप्पणी—३ 'जोरी प्रीति दृढ़ाइ' इति।—दोनों ओरकी कथा सुनानेसे व्यवहारकी सफ़ाई हुई, अब किसी प्रकारसे तर्क न उठेगा और अग्निको साक्षी देकर प्रीति जोड़ी कि यदि हम बीच रक्खेंगे तो अग्निदेव हमारे धर्मका नाश करेंगे। ('दृढ़ाइ' में सुग्रीवके 'गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा वध्यतां ध्रुवा। वाल्मी०। ४।५।११' का भाव है। आप मेरे हाथको अपने हाथसे पकड़ लें जिसमें न टूटनेवाली मित्रता हो जाय)। अग्निको साक्षी देनेके अनेक भाव लोगोंने कहे हैं—

१—प्रीति करनेके समय अग्नि आदिकी साक्षी देनेकी परम्परा है। सहस्रार्जुन और रावणमें पुलस्त्यजीने मित्रता कराई, तब तथा बालि और रावणकी मित्रतामें भी अग्निकी साक्षी दी गई थी। यथा 'अहिंसकं सख्यमुपेत्य साग्निकं प्रणम्य तं ब्रह्मसुतं गृहं ययौ। वाल्मी० ७।३३।१८', 'ततः प्रज्वालयित्वाग्निं तावुभौ हरिराक्षसौ। ७।३४।४२।'

२ अग्नि सबके हृदयमें बसता है, यथा—'तौ कृसानु सब कै गति जाना। ६।१०८।८'; हृदयमें बसनेसे सबके हृदयकी जानते हैं। फिर ये वचन देवताके हैं और मित्रता भी वचन द्वारा की जा रही है। अतः प्रतिज्ञा भंग करनेवालेको दण्ड देंगे। (शीला)।

३—पावक, सूर्य और तपस्वी तीनोंमें एकता है, तीनों तेजस्वी हैं। अग्नि और सूर्यका तेज प्रकट ही है और 'बिनु तप तेज कि कर बिसतारा' यह तपस्वीका तेजस्वी होना सिद्ध है। सूर्यपुत्र सुग्रीव हैं, तपस्वी रामजी हैं। अतः दोनोंकी प्रीतिकी दृढ़ताके लिए तीसरे तेजोमय पुरुषकी साक्षी दी—(शीला)।

४ सूर्य्यको साक्षी न दिया क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी सूर्य्यवंशके हैं और सुग्रीव सूर्यके अंशसे हैं। (रा० प्र० श०)।

५ अग्निकोही साक्षी दिया, क्योंकि इस लीलामें अग्निही कारण है—जानकीजीको अग्निमें सौंपा है, अग्निसे लंकादहन करेंगे और अन्तमें अग्निदेवही जानकीजीको देंगे। यहाँ यह प्रीति भी श्रीजानकीजीके लिए ही जोड़ी जा रही है। अतः यहाँ भी अग्निको साक्षी दिया। (करु०)। (नोट—इसमें यह भी बढ़ा सकते हैं कि श्रीरामजन्म अतएव श्रीरामचरितके आदिकरण भी अग्निदेव ही हैं। इन्होंने हवि दिया जिससे चारों पुत्र हुए। इस तरह चरितके आदि, मध्य और अन्त तीनोंमें अग्निदेवकी प्रधानता प्रत्यक्ष है।)।

६ अग्नि शिवका रूप है। अतएव शिवकी साक्षी भी हो गई। और साक्षीकी यही परिपाटी है। (मा० म०)।

७ अन्य देवताओंसे अधिक सहायता इस चरितभरमें अग्निदेवकी ही हुई, इसीसे यहाँ भी वही साक्षी हुए।

**कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा। लछिमन रामचरित सब भाषा ॥१॥**

शब्दार्थ—बीच रखना=भेद रखना, दुराव रखना, पराया समझना। यह मुहावरा है।

अर्थ—दोनोंने प्रीति की, कुछ अन्तर न रखा। श्रीलक्ष्मणजीने सब रामचरित कहा।१।

टिप्पणी—१ (क) 'बीच न राखा' का भाव कि बीच रखनेसे प्रीतिका नाश होता है। रामचरित्र कहनेका भाव यह है कि जिसमें श्रीरामजीका पुरुषार्थ सुनकर सुग्रीव श्रीरामजीको सामान्य न समझें, सामान्य समझनेसे प्रीति घट जाती है जिससे मित्र-धर्मकी हानि होती है। (ख) सब चरित कहनेका भाव कि हनुमान्‌जीने दोनों ओरकी कथा संक्षेपसे कही है इस प्रकार कि 'श्रीरामजीकी स्त्रीका हरण हुआ है, तुम खोज

कराओ और तुम्हारी स्त्रीका हरण हुआ है, श्रीरामजी तुम्हारे शत्रुको मारकर तुमको सुखी करेंगे। आप दोनों परस्पर मित्रता करें।' हनुमान्‌जीने इतना ही कहा। उन्होंने श्रीरामजीका जन्म, कर्म और प्रताप नहीं कहा। लक्ष्मणजीने ये सब चरित भी कहे। (ग) लक्ष्मणजीके कहनेका भाव कि श्रीरामजी अपने मुखसे अपना प्रताप और पुरुषार्थ नहीं कह सकते। अथवा, श्रीसुग्रीवकी कथा हनुमान्‌जीने कही और श्रीरामजीका चरित्र लक्ष्मणजीने कहा। (घ) प्रीति होनेके पीछे रामचरित कहनेका भाव कि नीतिका मत है कि जब निष्कपट प्रीति हो जाय तब अपनी गुप्त बात कहे—(पं०)। यथा भर्तृहरिशतके—'ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति। भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्।' अर्थात् दे और ले, अपनी गुप्त बात कहे उसकी पूछे, आप मित्रके यहाँ भोजन करे और मित्रको अपने यहाँ भोजन करावे-मित्रताके ये छः प्रकारके चिह्न हैं। [उपर्युक्त श्लोकमें प्रीतिके गुण कहे हैं और प्रीतिका स्वरूप यह है—'अत्यन्त भोग्यता बुद्धिरानुकूल्यादि शालिनी। परिपूर्ण स्वरूपा या सा स्यात्प्रीतिरनुत्तमा ॥' अर्थात्—स्वरूपमें पूर्ण, अनुकूलता आदि गुणवाली, जो (स्वविषयक) अत्यन्त भोग्यता (मेरा सब कुछ इनके अर्पित है ऐसी) बुद्धि है, वही सबसे श्रेष्ठ (इष्ट देवादि विषयक) प्रीति है। अन्य प्रकारकी प्रीति निकृष्ट प्रीति है। (वै०)]

शीला—हनुमान्‌जीने तो कहा ही था, अब लक्ष्मणजीने क्यों कहा? इसका उत्तर कविने 'कथा' और 'चरित' इन्हीं दोनों शब्दोंमें दे दिया है। हनुमान्‌जीने कथा कही। कथा शब्द स्त्रीलिङ्ग है, वह स्त्रीसंबंधी कथाका कहना सूचित करता है। अर्थात् हनुमान्‌जीने सीताहरण और सीता-वियोग-जनित रामविरहवाली दुःखमयी कथा सुग्रीवसे और सुग्रीवका प्रियाविहीन वनवास रामजीसे कहा। लक्ष्मणजीने 'चरित्र' कहा। चरित पुल्लिङ्ग है, पुरुषार्थ-वाचक है, जैसा अरण्यकांडके प्रारंभमें कहा है—'अब प्रभुचरित सुनहु अति पावन। करत जे बन सुर-नर-मुनि-भावन'। वही एवं वैसेही पुरुषार्थ-सूचक चरित लक्ष्मणजीने कहे—ताड़का, सुबाहु मारीच, कबंध, विराध और खरदूषणादिके वध कहे, जो हनुमान्‌जीको अभी मालूम न थे।†

**कह सुग्रीव नयन भरि बारी। मिलिहि नाथ मिथिलेस कुमारी ॥२॥**

अर्थ—नेत्रोंमें जल भरकर सुग्रीवजीने कहा—'हे नाथ! मिथिलेशकुमारी मिलेंगी'।२।

टिप्पणी—१ (क) 'नयन भरि बारी' इति। ऊपर जो कहा है कि 'जोरी प्रीति दृढ़ाइ' और 'कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा', उसको 'नयन भरि बारी' से चरितार्थ करते हैं। श्रीसुग्रीवजीका प्रेम निष्कपट है, शुद्ध है, स्वार्थका नहीं है; वे श्रीलक्ष्मणजीसे चरित सुनकर मित्रका दुःख सुनकर उनके दुःखसे दुःखी हो गए इसीसे उनके नेत्रोंमें जल भर आया है। क्योंकि 'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी। ४।७।१।' [नेत्रोंमें जल भर आनेका कारण यह भी हो सकता है कि रघुनाथजीके स्त्रीवियोगको देखकर उन्हें अपनी स्त्रीके वियोगका स्मरण हो आया और यह समझकर उनको कष्ट हुआ कि इनको भी हमारे हीसमान बहुत दुःख है। सुग्रीव स्त्रीवियोगके दुःखको भली भाँति जानते हैं, क्योंकि उनपर भी यह आपदा पड़ चुकी है। इसीसे मित्रके दुःखसे वे दुखी हो गए। अपने दुःखको भूल गए। (पं०)। इससे सुग्रीवजीमें 'निज दुख गिरि सम रज कर जाना। मित्र क दुख रज मेरु समाना। ४।७।२।' यह मित्र लक्षण चरितार्थ किया]। (ख) 'मिलिहि' अर्थात् अवश्य मिलेंगी। ऐसा सुग्रीवने कैसे कहा? उत्तर—उनको इससे पूर्ण विश्वास है कि सीताजीने हमको देखकर अपनी निशानी डाल दी थी और अब श्रीरामचन्द्रजी भी आपसे ही हमको आ मिले, इससे निश्चय है कि आगेका कार्य अवश्य होगा। (ग) सुग्रीवने 'मिथिलेशकुमारी' को कैसे जाना? उत्तर—लक्ष्मणजीने सब रामचरित कहा, उसीमें धनुर्भंगके संबंधमें मिथिलेशजीके यहाँ परा-

† प्र०—१ दूसरा अर्थ यह है कि हनुमान्‌जीने लक्ष्मण और राम दोनोंका चरित सब कहा।२—लक्ष्मणजीके कहनेमें भाव यह है कि विरहादि के कथनमें लक्ष्मणजी ही योग्य हैं। 'सब' अर्थात् वनगमन, जानकीहरण आदि सम्पूर्ण चरित।

क्रम-शुल्क-स्वयंवरका होना और उनकी कन्याका नाम कहा। इस तरह मिथिलेशकुमारीका नाम आया, इसीसे जाना।—[नोट—वाल्मी० ४।६ में सुग्रीवने कहा है कि हनुमानजीने हमसे कहा है कि आपकी स्त्री मैथिली जनकात्मजाको राक्षसने हर लिया है।—'हनुमान्यन्निमित्तं त्वं निर्जनं वनमागतः।४।....रक्षसापहृता भार्या मैथिली जनकात्मजा।३।' और अध्यात्ममें लक्ष्मणजीसे सब रामचरित सुनकर तब सुग्रीवका कथन है, यथा—'लक्ष्मणस्त्वब्रवीत्सर्वं रामवृत्तान्तमादितः। वनवासाभिगमनं सीताहरणमेव च।३४। लक्ष्मणोक्तं वचः श्रुत्वा सुग्रीवो राममब्रवीत्।' (सर्ग १)। दोनों मतोंकी रक्षा यहाँ कविने कर दी। श्रीहनुमान्जी भी जानते ही हैं, यथा 'इहाँ हरी निसिचर बैदेही' (यह श्रीरामजीने बताया था), 'सो सीताकर खोज कराइहि' (यह हनुमान्जीके वचन हैं)। अतः हनुमान्जीसे भी 'उभय दिसिकी कथा'में नाम सुना हो, यह भी संभव है।

नोट—१ 'मिलिहि नाथ मिथिलेसकुमारी'। मिथिलेसकुमारीका नाम यहाँ साभिप्राय है, अर्थानुकूल है। मिथिलेश नाम इससे हुआ कि राजा निमिके शरीरके मथन करनेसे इस कुलके आदि पुरुष उत्पन्न हुये थे। ये उनकी कुमारी हैं। अतः इनके लिए बहुत मंथन करना पड़ेगा। पुनः इनके लिए हम पृथ्वीभर मथ डालेंगे, कोई स्थान बिना देखे न रहने देंगे, और दुष्टोंका मान मथकर हम श्रीजानकीजीको लावेंगे।—(मा० म०, पां०, रा० प्र० श०)। प्र० स्वामीका मत है कि अवधेश और मिथिलेश 'पुण्यपयोनिधि भूप दोउ' हैं, यह विश्रुत है। अतः 'मिथिलेशकुमारी' में भाव यह है कि मिथिलेश ऐसे पुण्यात्माकी कन्या न मिले यह कैसे संभव है, उनके पुण्यप्रभावसे वे अवश्य मिलेंगी।

**मंत्रिन्ह सहित इहाँ एक बारा। बैठ रहेउँ मैं करत बिचारा॥ ३॥**
**गगन पंथ देखी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता॥ ४॥**

अर्थ—यहाँ एक बार मैं मंत्रियों सहित बैठा हुआ (कुछ) विचार कर रहा था।३। पराये वा शत्रुके वशमें पड़ी हुई बहुत विलाप करती आकाशमार्गसे जाती हुई (मिथिलेशकुमारीको) मैंने देखा।४।

टिप्पणी—१ 'मंत्रिन्ह सहित इहाँ एक बारा।०' इति। (क) 'इहाँ' कहकर देश निश्चित किया कि इसी स्थानसे हमने देखा है, नहीं तो श्रीरामजी पूछते कि तुमने सीताजीको कहाँ देखा। देश कहकर फिर काल कहा, पर कालका नियम नहीं करते, केवल 'एक बार' कहते हैं। इससे जनाया कि दिनका स्मरण हमको नहीं है। काल कहकर आगे वस्तु कहेंगे, यथा—'हमहिं देखि दीन्हेउ पट डारी'। वस्त्र वस्तु है। इस प्रकार यहाँ देश, काल और वस्तु तीनों कहे। [ (ख) 'करत बिचारा' इति। क्या विचार कर रहे थे? यही कि हमारी सारी आयुही बीती जाती है, न जाने भगवान् मुझे फिर स्त्री, राज्य आदिका सुख देंगे। न जाने वालिके भयसे कभी प्रभु मुझे मुक्त करेंगे! क्या उपाय करें? इत्यादि। (मा० त० प्र०) ]

२ 'परबस परी बहुत बिलपाता' इति। 'पर' शब्दके चार अर्थ हैं—दूर, अन्य, शत्रु और परमात्मा। यहाँ अन्य और शत्रु दो अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। यथा—'परोदूरान्यवाचीस्यात् परोऽरि परमात्मनोः' इति वैजयंती कोशे। ['परबस परी बहुत बिलपाता', यथा—'लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं। बिलपति अति कुररी की नाईं॥ ३।२१।३।' 'बहुत बिलपाता' का वही भाव है जो ३।२१ (३) में कहा गया है।]

नोट—१ इनका समानार्थी श्लोक अध्यात्ममें यह है—'एकदा मंत्रिभिः सार्द्धं स्थितोऽहं गिरिमूर्द्धनि। विहायसा नीयमानां केनचित् प्रमदोत्तमाम्।४।१।३७।' अर्थात् एकबार मंत्रियों सहित मैं पर्वत-शिखरपर बैठा था, उसी समय एक पुरुष एक उत्तम स्त्रीको आकाशमार्गसे लिए जाते हुए मैंने देखा।

२ नल, नील, जाम्बवान् और हनुमान्जी ये चार मंत्री हैं।

**राम राम हा राम पुकारी। हमहिं देखि दीन्हेउ पट डारी॥५॥**
**मागा राम तुरत तेहिं दीन्हा। पट उर लाइ सोच अति कीन्हा॥६॥**

अर्थ—हमको देखकर राम! राम! हा राम! पुकार कर (अपना) वस्त्र गिरा दिया।५। श्रीरामजीने

उसे तुरंत माँगा और सुग्रीवने तुरंतही (ला) दिया। वस्त्रको छातीसे लगाकर रामचन्द्रजीने अत्यंत शोच किया।६।

टिप्पणी—१ राम राम कहकर पट डालनेका तात्पर्य यह था कि वानर जान जायँ कि ये श्रीरामजीकी स्त्री हैं, वे श्रीरामजीसे हमारा हाल कहें और उनको हमारा वस्त्र दें। इसीसे पतिका नाम लिया, नहीं तो पतिका नाम न लेना चाहिए। पुकारकर कहनेका भाव कि विमान बहुत ऊँचेसे जा रहा था; पुकारकर न कहतीं तो वानर न सुन पाते।

नोट–१ यहाँ यह समझकर कि सीताजी पतिका नाम कैसे लेंगी, मयङ्ककार एवम् करुणासिन्धुजीने 'राम राम हा राम पुकारी' का अर्थ यों किया है कि 'श्रीजानकीजीका दुःखमय विलाप सुनकर मैंने राम! हा राम! ऐसा पुकारा' (उच्चारण किया)। तब यह समझकर कि ये कोई रामभक्त हैं हमारी ओर देखकर उन्होंने वस्त्र गिरा दिया। ऐसा अर्थ करनेके लिए 'सो छवि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम', इसका प्रमाण दिया जाता है। पाँड़ेजीने दोनों अर्थ दिए हैं। वैजनाथजीने भी इसी अर्थको ग्रहण किया है। पर वाल्मीकि और अध्यात्म आदि रामायणोंसे यही सिद्ध होता है कि 'राम! राम! हा राम!' ऐसा कहकर श्रीजानकीजी विलाप करती चली जाती थीं। सुग्रीवने भी यही कहा और संपातीने भी वानरोंसे यही बात कही कि वह राम! राम! लक्ष्मण! लक्ष्मण! चिल्लाती जाती थीं। यथा वाल्मीकीये—'क्रोशन्ती रामरामेति लक्ष्मणेति च विस्वरम्' (सर्ग ६।१०), 'क्रोशन्ती रामरामेति लक्ष्मणेति च भामिनी। भूषणान्यपविध्यन्ती गात्राणि च विधुन्वती॥ सर्ग ५८।१६।' और 'तां तु सीतामहं मन्ये रामस्य परिकीर्तनात्।५८।१८।'

अर्थात् राम, राम, लक्ष्मण लक्ष्मण चिल्लाती थीं और आभूषणोंको फेंकती एवं अंगोंको पटकती थीं। उसे सीता इससे समझता हूँ कि वह राम राम पुकारती थी। ऐसा ही हनुमन्नाटकमें भी कहा है। यथा—'पापेनाकृष्यमाणा रजनिचरवरेणांबरेण व्रजन्ती, किष्किन्धाद्रौ मुमोच प्रचुरमणिगणैर्भूषणान्यर्चितानि। हा राम प्राणनाथेत्यहह जहि रिपुं लक्ष्मणेनालपन्ती। यानीमानीति तानि क्षिपति रघुपुरः कापि रामाश्च नेयः॥' (अङ्क ५ श्लो० ३७)। अर्थात् राक्षसोंमें श्रेष्ठ पापी रावणसे ग्रहणकी हुई; 'हा राम! हा प्राणनाथ! अहह इस शत्रुको जीतो' इस प्रकार कहते आकाशमार्गसे जाती हुई अनेक मणिगणयुक्त जिन आभूषणोंको किष्किन्धापर्वतपर डाल दिया था, वेही आभूषण पवनकुमार हनुमान्जीने रामजीके अग्रभागमें रख दिए।

ये सब प्रमाण उस अर्थके पोषक हैं जो ऊपर दिया गया है। और यही अर्थ ठीक जँचनेका एक कारण तो संपातीहीके वचनोंमें मिलता है कि इसी नामके पुकारनेसे मैं उन्हें श्रीरामजीकी स्त्री समझता हूँ। इस विषयमें अरण्यकांड दोहा २९।(२५) और २९ में भी लिखा जा चुका है; वहाँ देखिए।

गौड़जी—एक तो यह मायाकी सीता हैं। इन्हें नाम लेनेमें कोई हर्ज भी नहीं है। दूसरे आपद्ग्रस्ता पत्नी रक्षार्थ पतिका नाम न ले, विशेषतः जब कि और कोई उपाय नहीं है, तो करे क्या? अतः आपद्धर्मके लिए ज्येष्ठ पुत्र, अपना, गुरुका, पति वा पत्नीका नाम न लेनेवाला नियम बाधक नहीं हो सकता।

स्मृतिका श्लोक यह है जिसके प्रमाणसे नाम लेनेका निषेध है। 'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयात ज्येष्ठापत्य कलत्रयोः' इसमें 'श्रेय चाहने वाला' नाम न ले ऐसा आदेश है। यह उक्ति साधारण दशाके लिये है। यहाँ सीताजी की आपद्ग्रस्त दशा है।

क्षीरस्वामीने अमरकोशीकी टीकामें भी लिखा है। 'किमाह सीता दशवक्त्रनीता, हा राम! हा देवर! तात! मातः!'

२—तीन बार, राम! राम! हा राम!, कहकर जनाया कि ऐसेही बराबर कहती रहीं। तीनसे बहुत बार जनाया। पंजाबीजीने अनेक भाव कहे हैं पर क्लिष्ट कल्पना समझकर यहाँ वे भाव उद्धृत नहीं किए गए।

वि० त्रि०—रावणने ऐसी चालाकीसे सीताहरण किया था, जिसमें श्रीरामजीको पता न चल सके कि सीता हुई क्या? और आकाश मार्गसे इतने ऊँचेसे ले जाता था कि पर्वत पर बैठे हुए बन्दरोंने इतना ही देख पाया कि आकाशमार्गसे कोई स्त्री लिये चला जा रहा है। ऐसी परिस्थितिमें रामजीको अपना पता देनेके

लिये जो कुछ किया जा सकता है, सो सब जगदम्बाने किया। रावण भी समझ न सका कि क्या हो रहा है। जगदम्बाने अपना चिह्न कपड़ा ही नहीं फेंका, क्योंकि इतने ऊपरसे फेंका हुआ कपड़ा नीचे लक्ष्यस्थान-पर पहुँच नहीं सकता, अतः उसमें केयूर, नूपुर और कुण्डल बाँधकर फेंका। कोई रास्तेमें नहीं मिला तो बन्दरोंमें फेंक दिया। सम्भव है कि खोजते-खोजते श्रीरामजीके हाथ लग जाय तो इतना पता तो उन्हें लग जायगा कि सीता जीती हैं; और अमुक दिशाको हरण करनेवाला ले गया है। देखा कि बन्दर आपसमें विचार कर रहे हैं, मुझे नहीं देख रहे हैं; अतः तीन बार पुकार-पुकारकर सरकारका नाम लिया, और कपड़ेको उनके बीचमें फेंका। तीन बारके पुकारनेमें जो कहना था, सो सब कुछ कह दिया। पहिली बार 'राम' ऐसा पुकारा, उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षण करनेके लिये। दूसरी बार पुकारनेका भाव यह है कि इसे रामको देना। तीसरी बार 'हा राम' पुकारनेका भाव यह है कि मैं रामको चाहती हूँ, मैं बल-पूर्वक हरण की जा रही हूँ। श्रीगोस्वामीजी बार-बार पट कहते हैं, भूषणका नाम नहीं लेते। भाव यह कि सुग्रीवजी 'धन पराव विष ते विष भारी' समझते हैं। उन्होंने पटको खोलकर देखा भी नहीं कि इसमें क्या बँधा है। उसे रामजीके लिये धरोहर समझकर, गुफामें रख दिया, और कहते हैं कि 'मम दिसि देखि दीन्ह पट डारी'। जगदम्बाका उपाय अमोघ है, उस पटके पानेपरही यथार्थरूपसे सीतान्वेषण आरम्भ हुआ।

ऐसी अवस्थामें पड़ी हुई स्त्री यदि पतिका नाम न ले, तो सदाके लिये पतिसे हाथ धोवे। पतिके नाम न लेनेका नियम सामान्य है, विशेष अवसरके लिये यह नियम लागू नहीं है। गुरुदेवका भी नाम नहीं लिया जाता, पर पिण्ड देनेके समय तो नाम लेना ही पड़ता है। ऐसे विशेष अवसरोंपर सामान्य नियमपर हठ करना भारी चूक है।

नोट—३ प० प० प्र० स्वामी मयङ्ककारसे सहमत होते हुए लिखते हैं—(१) 'मानसकी सीताने अन्यत्र एक भी समय 'राम' शब्दका उच्चारण नहीं किया। रावणके साथ संभाषणके समय 'रघुबीर बान की', 'प्रभु भुज', 'रघुपति बिरह' का, हनुमान्‌जीसे संभाषण करनेमें 'रघुराई', 'रघुनायक' आदिका, लंका काण्डमें त्रिजटा-संबादमें 'रघुपति सर', 'हरिपद', 'रघुपति बिरह', 'कृपाल रघुबीरा' का, अग्निदिव्यके समय 'सुमिरि प्रभु', 'तजि रघुबीर आन गति नाहीं' शब्दोंका प्रयोग किया है, 'राम' शब्दका नहीं। (२) केवल वाल्मीकीयके आधारपर यह मान लेना कि श्रीसीताजीने ही 'राम राम हा राम' पुकारा ठीक नहीं; कारण कि वाल्मीकीयमें तो उपर्युक्त सभी प्रसंगोंमें सीताजीने श्री 'राम' शब्दका उच्चारण अनेक बार किया है। (३) 'गिरिपर बैठे कपिन्ह निहारी। कहि हरिनाम दीन्ह पट डारी' से भी विसंगति होती है। (४) श्रुतिसेतु संरक्षणकी दक्षता मानसके समान अन्य रामायणोंमें नहीं है।

मेरी समझमें (१) में जो उदाहरण दिये हैं वे कोई इस प्रसंगमें लागू नहीं हैं, क्योंकि वे कोई प्रसंग ऐसे नहीं हैं जिनमें अपना परिचय देना आवश्यक आ पड़ा हो कि मैं किसकी भार्या हूँ, किसको मेरे हरणका समाचार दिया जाय। वाल्मी० रा०, अ० रा०, ह० ना० आदि प्रायः सभी ग्रंथोंमें इस प्रसंगमें 'राम' का उच्चारण पाया जाता है, तथापि इनको न भी लें तो भी हानि नहीं। आपत्ति समय पतिके नामके उच्चारणसे श्रुतिसेतु भी रक्षित है। श्रीहनुमानप्रसादपोद्दारजी, श्रीनंगेपरमहंसजी तथा श्रीविजया-नंदत्रिपाठीजी मेरे मतसे सहमत हैं। 'हरि नाम'=हरिका नाम=राम।

टिप्पणी—२ 'मागा राम तुरत तेहि दीन्हा' इति। यहाँ 'तुरत' दीपदेहरी है। श्रीरामजीने शीघ्र माँगा, यथा—'तमब्रवीत्ततो रामः सुग्रीवं प्रियवादिनम्। आनयस्व सखे शीघ्रं किमर्थं प्रविलंबसे। वाल्मी० ४।६।१३' अर्थात् प्रिय संदेश देनेवाले सुग्रीवसे श्रीरामचन्द्रजी बोले—हे सखे! शीघ्र लाओ, किसलिए बहुत विलंब कर रहे हो। और सुग्रीवजी तुरत लाए, यथा—'एवमुक्तस्तु सुग्रीवः शैलस्य गहनां गुहाम्। प्रविवेश ततः शीघ्रं राघवप्रिय-काम्यया॥१४॥ उत्तरीयं गृहीत्वा तु स तान्याभरणानि च। इदं पश्येति रामाय दर्शयामास वानरः॥ १५॥' अर्थात्

ऐसा कहनेपर सुग्रीवने पर्वतकी छिपी हुई कंदरामें तुरत प्रवेश किया और 'वस्त्र और आभूषण देखिये' ऐसा कहते हुए श्रीरामचन्द्रजीको उन्होंने ला दिखाया।

नोट—४ मिलानके श्लोक ये हैं–'क्रोशन्तीं रामरामेति दृष्ट्वास्मान् पर्वतोपरि। आमुच्याभरणान्याशु स्वोत्तरीयेण भामिनी।३८।...नीताहं भूपणान्याशु गुहायामक्षिपं प्रभो॥३९॥...हृदि निक्षिप्य तत्सर्वं रुरोद प्राकृतो यथा॥४१॥' (अध्यात्म स० १)। अर्थात् 'राम राम' कहकर विलाप कर रही थी। हमको पर्वतपर देखकर अपने आभूषण उतार वस्त्रमें बाँधकर हमारी तरफ़ देखकर वस्त्र गिरा दिये। मैंने उन्हें गुहामें रक्खा है। श्रीरामजीने उसे हृदयसे लगा लिया और प्राकृत मनुष्योंकी तरह रोने लगे। अ० रा० में माँगना नहीं कहा, सुग्रीव स्वयं ले आये हैं। वाल्मी० ४।६ में 'राम राम लक्ष्मण' कहकर विलाप करना कहा है—'क्रोशन्तीं रामरामेति लक्ष्मणेति च विस्वरम्।१०।', पर उसमें माँगना भी कहा है—'आनयस्व सखे शीघ्रं।१३।' ऐसा कहनेपर वे शीघ्र ले आए—

टिप्पणी—३ 'सोच अति कीन्हा' इति। भाव कि सोच तो प्रथम ही करते रहे, अब प्रियका चिह्न पानेपर सोच बहुत अधिक हो गया अर्थात् रोने लगे। यथा अध्यात्मे—'विमुच्य रामस्तद्दृष्ट्वा हा सीतेति मुहुर्मुहुः।४।१।४१।' अर्थात् बारंबार हा सीते! हा सीते! ऐसा कहकर रोने लगे। यहाँ विप्रलंभका उद्दीपन है, यथा—'सुधि आवत जिनके लखे ते उद्दीप बखान'। वाल्मी०रा० में भी कहा है 'अभवद्बाष्पसंरुद्धो नीहारेणेव चन्द्रमाः।४।६।१६। सीतास्नेहप्रवृत्तेन स तु बाष्पेण दूषितः। हा प्रियेति रुदन्धैर्यमुत्सृज्य न्यपतत्क्षितौ।१७।' अर्थात् अश्रुओंसे उनका मुख छिप गया जैसे कुहरेसे चन्द्रमा। श्रीसीताजीके स्नेहसे निकले हुये आँसुओंसे वे भीग गए, धैर्य जाता रहा और वे, हा प्रिये! कहकर रोते हुये, पृथ्वीपर गिर पड़े।

नोट—५ 'सोच अति कीन्हा' इति। गीतावली ४।१में जो कहा है–'भूषन बसन बिलोकत सिय के। प्रेम बिबस मन पुलकित तनु नीरजनयन नीर भरे पिय के॥ सकुचत कहत सुमिरि उर उमगत सील सनेह सुगुनगन तिय के। स्वामि दसा लखि लपन सखा कपि पघिले हैं आँच माठ मानो घिय के॥ सोचत हानि मानि मन गुनि गुनि गये निघटि फल सकल सुकिय के। बरने जामवंत तेहि अवसर बचन बिबेक बीररस पिय के॥ धीर बीर सुनि समुझि परसपर बल उपाय उघटत निज हिय के। तुलसिदास यह समउ कहे तें कबि लागत निपट निठुर जड़ जिय के॥' यह सब भाव 'सोच अति कीन्हा' से जना दिया गया। प्रभु ऐसे विह्वल हो गए कि उन्हें समझाना पड़ा। यही बात आगे कहते हैं।

**कह सुग्रीवँ सुनहु रघुबीरा। तजहु सोच मन आनहु धीरा॥७॥**
**सब प्रकार करिहौं सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥८॥**

अर्थ—सुग्रीवजीने कहा–'हे रघुवीर! सुनिए। सोचका त्याग कीजिए, मनमें धीरज लाइए (धारण कीजिए)।७। मैं सब प्रकार आपकी सेवा करूँगा जिस प्रकारसे श्रीजानकीजी आकर आपको मिलें।८।

नोट—१ 'रघुबीर' और 'तजहु सोक मन आनहु धीरा' में वे सब भाव गृहीत हैं जो वाल्मी० ७। ५-१३ में कहे हैं—इस दैन्यको त्याग कीजिए, अपने धैर्य्यका स्मरण कीजिए, आप सदृश पुरुषोंको ऐसी क्षुद्रबुद्धिका कार्य उचित नहीं। मुझे भी पत्नी विरहका महान्‌शोक है, फिर भी मैंने धीरताका त्याग नहीं किया, न ऐसा शोक करता हूँ। फिर आप सदृश महात्मा, धीर, शिक्षितकी तो बातही क्या है! अपने अश्रुओंको अपनी धीरतासे रोकिए, सत्पुरुषों द्वारा बाँधी हुई धीरताका त्याग आप न करें। व्यसनमें कष्ट, गरीबी, भय एवं जीवनसंकट उपस्थित होनेपर जो धीरतापूर्वक बुद्धिसे काम लेते हैं वे दुःखी नहीं होते।...जो शोक करते हैं उन्हें सुख नहीं होता, उनका तेज नष्ट हो जाता है। अतएव आपको शोक न करना चाहिए। जो शोकके अधीन हो जाते हैं उनका ज़ीवन संशयमें पड़ जाता है। अतएव आप शोक छोड़ें और धैर्य धारण करें। यथा—'अलं वैक्लव्यमालम्ब्य धैर्यमात्मगतं स्मर। त्वद्विधानां न सदृशमीदृशं बुद्धिलाघवम्॥५॥...महात्मा च विनीतश्च

किं पुनर्धृतिमान्महान् ॥ ७ ॥ बाष्पमापतितं धैर्यान्निग्रहीतुं त्वमर्हसि । मर्यादां सत्वयुक्तानां धृतिं नोत्स्रष्टुमर्हसि ॥ ८ ॥ व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा भये वा जीवितान्तगे । विमृशंश्च स्वया बुद्धया धृतिमान्नावसीदति ॥६॥ ये शोकमनुवर्तन्ते न तेषां विद्यते सुखम् । तेजश्च क्षीयते तेषां न त्वं शोचितुमर्हसि ॥१२॥ शोकेनाभिप्रपन्नस्य जीविते चापि संशयः । स शोकं त्यज राजेन्द्र धैर्य्यमाश्रय केवलम् ॥१३॥' वाल्मी० सर्ग ६ में जो कहा है कि 'तव भार्यामहाबाहो भक्ष्यं विषकृतं यथा । त्यज शोकं....।८।' हे महाबाहो ! आपकी भार्या विष मिले अन्नके समान है, उसे कोई पचा नहीं सकता । अतः आप शोक छोड़ें ।—यह भी इसीमें आगया ।

पुनः, भाव कि रघुवंशी सभी वीर होते हैं, यथा—'रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई । तेहि समाज अस कहै न कोई ।१।२५३।१।', 'कालहु डरहिं न रन रघुबंसी ।१।२८४।४।' और आप तो उस कुलमें वीरशिरोमणि हैं, आपको तो कादरकी तरह सोच न करना चहिए वरन् पुरुषार्थका भरोसा रखना चाहिए । पुनः, तात्पर्य यह कि सोच वीररसका नाश करनेवाला है, इससे उसका त्याग जरूरी है और धैर्य वीररसका बढ़ानेवाला है, अतएव धैर्य धारण करना उचित है, इसीसे शत्रुका पराजय कर सकेंगे ।

टिप्पणी—१ 'सुनहु रघुबीरा' इति । 'रघुवीर' सम्बोधनका भाव कि आप वीर हैं, वीर होकर सोच करना और अधीर होना अयोग्य है; अतएव आपको सोच न करना चाहिए और न अधीर होना चाहिए । सोचके रहनेसे धीरज नहीं आता; इसीसे प्रथम सोचको त्याग करनेको कहा, तब धीरज लानेको ।

२ 'सब प्रकार करिहौं सेवकाई' इति । (क) सब प्रकारकी सेवा अर्थात् श्रीसीताजी का पता लगाना, पता मिलनेपर शत्रुसे लड़ना और श्रीजानकीजीको ले आना, इत्यादि । (ख) 'सेवकाई' करनेको कहते हैं, सहायता करनेको नहीं कहते, क्योंकि सुग्रीव दास हैं । दास सेवा करते हैं और मित्र एवं बड़े सहायता करते हैं । सुग्रीव अपनेको बराबरका या बड़ा नहीं मानते । (ग) 'जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई' इति । 'आई' का भाव कि आपको कहीं जाना न पड़ेगा, मैं आपके शत्रुको मारकर श्रीसीताजीको आपके पास ले आऊँगा । ☞ सुग्रीवने अपना दुःख भुलाकर श्रीरामजीको धीरज दिया और सेवा करनेकी प्रतिज्ञा की; इसी प्रकार रघुनाथजी अपना दुःख भुलाकर सुग्रीवके दुःखका कारण आगे पूछते हैं—'तिय बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रानप्रिया बिसराई । वि० १६४ ।'

नोट—२ 'सब प्रकार करिहौं सेवकाई ।....' इति । वाल्मी० स० ६ में 'अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेद श्रुतीमिव ।५। रसातले वा वर्तन्तीं वा नभस्तले । अहमानीय दास्यामि तव भार्यामरिन्दम ।६। इदं तथ्यं मम वचस्त्वमवेहि च राघव । न शक्या सा जरयितुमपि सेन्द्रैः सुरासुरैः ।७।....तां कान्तामानयामि ते ।८।' 'मैं राक्षसोंके द्वारा हरी गई वेदवाणीके समान उन्हें लौटा लाऊँगा । चाहे वे पातालमें हो या आकाशमें, मैं उन्हें ले आऊँगा । आप मेरे इस वचनको सत्य समझें । इन्द्रादि देवता तथा राक्षस कोई भी आपकी स्त्रीको छिपा नहीं सकता ।' जो यह कहा है और अध्यात्ममें 'सुग्रीवोऽप्याह हे राम प्रतिज्ञां करवाणि ते । समरे रावणं हत्वा तव दास्यामि जानकीम् ॥४३॥' (स० १), अर्थात् सुग्रीव भी बोले कि 'हे राम ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि रावणको समरमें मारकर जानकीजीको आपसे मिलादूँगा ।' यह कहा है तथा वाल्मी० ४।७।३-४ में 'सत्यं तु प्रतिजानामि त्यज शोकमरिंदम् । करिष्यामि तथा यत्नं यथा प्राप्स्यसि मैथिलीम् ॥३॥ रावणं सगणं हत्वा परितोष्यात्मपौरुषम् । तथास्मि कर्ता न चिराद्यथा प्रीतो भविष्यसि ।४।' अर्थात् मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा कि आप मैथिलीजीको पावें । मैं रावणको सेनासहित मारकर अपने पुरुषार्थको संतुष्ट कर वह करूँगा जिससे आप प्रसन्न हों ।—यह जो कहा है वह सब इस अर्धालीसे जना दिया । 'करिहौं' से प्रतिज्ञा जना दी ।

**दोहा—सखा बचन सुनि हरषे कृपासिंधु बलसींव ।**
**कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीव ॥ ५ ॥**

अर्थ—दयाके सागर, बलकी मर्यादा श्रीरामजी मित्रके वचन सुनकर प्रसन्न हुए, (और बोले) हे सुग्रीव ! तुम किस कारण वनमें रहते हो, मुझसे कहो ।५।

टिप्पणी—१ 'सखा बचन सुनि हरषे' इति । भाव कि जैसा कुछ सखाका धर्म है वैसा ही सुग्रीवने कहा है। यथा 'कर्तव्यं यद्वयस्येन स्निग्धेन च हितेन च । अनुरूपं च युक्तं च कृतं सुग्रीव तत्त्वया ।' अर्थात् हे सुग्रीव ! तुमने वही किया जो स्नेही और हितैषी मित्रका कर्तव्य है । वाल्मी० ४।७ (१७) । मित्रके दुःखको देखकर उसकी अपने पुरुषार्थभर सहायता करना, उसके दुःखको दूर करनेका उपाय करना, दुःखमें विशेष स्नेह करना, यही सखा वा मित्रका लक्षण है । यथा—'बल अनुमान सदा हित करई ॥ बिपति काल कर सत गुन नेहा । श्रुति कह संत मित्र गुन एहा ।४।७।५-६।' (ख) कृपासिंधु हैं, अतएव सुग्रीवपर बड़ी कृपा कर रहे हैं और बलसींव हैं, अतएव उसके शत्रुको मारेंगे । (ग) 'कारन कवन बसहु बन०' इति । वनमें बसनेका कारण तो हनुमान्‌जी कह ही चुके हैं, यथा—'येहि बिधि सकल कथा समुझाई ।', फिर यहाँ श्रीरामजी सुग्रीव-जीसे क्यों पूछते हैं ? सुग्रीवके मुखसे कहलानेमें कारण यह है कि जब वह स्वयं वालिका अपराध कहे तब हम वालिका दण्ड दें—यह नीतिका मत है ।

वाल्मी० ४।८ में श्रीरामजीने सुग्रीवजीसे पूछा है कि किस कारण तुम्हारा वैर हुआ, वैरका कारण सुनकर और तुम दोनोंमें कौन निर्बल है यह जाननेके अनन्तर मैं तुम्हें सुखी बनानेका प्रयत्न करूँगा। यथा—'किं निमित्तमभूद्वैरं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।४१। सुखं हि कारणं श्रुत्वा वैरस्य तव वानर। आनन्तर्याद्विधास्यामि संप्रधार्य बलाबलम् ।४२।'

पं०—'कृपासिंधु बलसींवँ' का भाव यह है कि किसीके आश्रित इनका काम नहीं है वरन इनके बलके आश्रित औरोंके कार्य होते हैं । इन्होंने मित्रता भी केवल कृपा करके की है और सुग्रीवका काम भी उसपर दया होनेके कारण ही करेंगे। सुग्रीवसे कारण पूछनेमें कृपाही प्रधान है, पूछा जिसमें वे अपने मुखसे वालिका विरोध कहें और उसको मारनेकी प्रार्थना करें। क्योंकि 'बिनु अपराध प्रभु हतहिं न काहू ।'

नाथ बालि अरु मैं द्वौ भाई । प्रीति रही कछु बरनि न जाई ॥ १ ॥
मयसुत मायावी तेहि नाऊँ । आवा सो प्रभु हमरे गाऊँ ॥ २ ॥
अर्ध† राति पुर-द्वार पुकारा । बाली रिपुबल सहै न पारा ॥ ३ ॥

अर्थ—हे नाथ ! बालि और मैं दोनों भाई हैं । हम दोनों भाई हैं । हम दोनोंमें ऐसी प्रीति थी कि वर्णन नहीं की जा सकती ।१। हे प्रभो ! मयदानवका पुत्र जिसका नाम मायावी था वह हमारे ग्राममें आया ।२। और, आधी रातके समय नगरके द्वार (फाटक) पर उसने पुकारा (अर्थात् ललकारा) । वालि शत्रुके बलको न सह सकता था ।३।

टिप्पणी - १ (क) 'बालि अरु मैं....' इति। वालिको प्रथम कहकर उसको बड़ा भाई जनाया। यथा 'नाम राम लछिमन दोउ भाई ।४।२।२।', 'रामु लषनु दसरथके ढोटा ।१।२६९।७।', इत्यादि । (ख) 'प्रीति रही' का भाव कि पहले थी, अब नहीं है । (ग) 'मय'—यह दानवों राक्षसोंका कारीगर है जैसे विश्वकर्मा देवताओंके। यह दानव था । (घ) 'मायावी तेहि नाऊँ ।' 'मायावी' और 'नाऊँ' दोनों शब्द देनेमें भाव यह है कि मायावीका अर्थ है—'जो मायासे युक्त हो' । इस शब्दके कहनेपर पूछा जा सकता था कि उसका नाम क्या है, 'मायावी' तो केवल विशेषण है ? अतएव 'नाऊँ' पद देकर जनाया कि यह उसका नाम ही है ।

२ (क) 'आवा सो प्रभु हमरे गाऊँ' -'प्रभु' श्लिष्ट शब्द देकर जनाया कि वह भी बड़ा समर्थ था जैसे आप समर्थ हैं, इसीसे आगे सामर्थ्यकी परीक्षा हड्डियों द्वारा ली है। 'गाऊँ'—अर्थात् किष्किन्धा नगरीमें।

† 'अर्द्ध'—( भा० दा०, का० )। 'अर्ध'—( ना० प्र० ) ।

गाँव, पुर और नगर यहाँ पर्याय शब्द हैं। आगे इसीको पुर कहा है—'पुर द्वार पुकारा', और फिर नगर भी। यथा—'नगर लोग सब व्याकुल धावा।११।१।' [(ख) 'हमरे गाऊँ'। पहले जब प्रेम था तब दोनोंका यह नगर था। फिर सुग्रीव राजा हुआ तब भी उसका वह नगर था। अतः 'हमरे' कहा। अथवा अब विश्वास है कि फिर हमें मिलेगा इससे 'हमरे' कहा। ( मा० म० ) ]

३ 'अर्धराति पुरद्वार पुकारा' इति। आधीरातमें आनेका कारण यह था कि रातमें राक्षसोंका बल अधिक हो जाता है, उसपर भी आधीरातमें आया, जो रात्रिकी तरुणावस्था है, यथा—'पाइ प्रदोष हरष दसकंधर।६।६७।११।', 'जातुधान प्रदोष बल पाई। धाए करि दससीस दुहाई।६।४५।४।' इत्यादि। भाव कि पूर्ण बल पाकर आया। पुरके द्वारपर खड़ा होकर पुकारा क्योंकि भयके मारे भीतर न गया कि कहीं वालि घेरकर पकड़ न ले। द्वारपर ही खड़ा हो गया कि जो निकले उसे मैं मारूँ और यदि वालि बाहर निकला तो भाग जाऊँगा। (पं०)। [अर्द्धरात्रिमें ललकारनेका भाव यह है कि मनमें समझता है कि वालिसे जीत न सकूँगा। रातमें जब वह सोता हो तब पुकारकर यह कहता हुआ लौट जाऊँ कि वालि भाग गया। इस तरह मेरी जीत हो जायगी। इसी कारण वालि अर्द्धरात्रिमें उसका पीछा करने चला; नहीं तो भागे हुएको खेदना एवं अर्द्धरात्रिका युद्ध ये दोनों विपरीत (अर्थात् वीरोंके लिए अयोग्य और निषिद्ध) हैं। (शीला)। अथवा, वानरको रात्रिमें दिखाई कम देता है; अतः वह पीछा न कर सकेगा, यह समझकर रातमें आया। अथवा, रात्रिमें स्त्रियोंके साथ कामकल्लोलमें प्रवृत्त होगा, उसके भंग होनेसे अवश्य शत्रु समझकर वालि मुझसे लड़ने आवेगा, अतएव अर्द्धरात्रिमें आया। (मा०म०)]

नोट—१ 'रिपु बल सहै न पारा' इति। यह हिमवानने दुंदुभी दैत्यसे कहा है—'स हि दुर्मर्षणो नित्यं शूरः समरकर्मणि। वाल्मी० ४।११।२३।' अर्थात् बाली युद्धमें बड़ा निपुण है, किसीकी ललकार सहता ही नहीं। अ० रा० में भी कहा है कि 'सिंहनादेन महता वाली तु तदमर्षणः। निर्ययौ क्रोधताम्राक्षो जघान दृढमुष्टिना।४।१।४८।' अर्थात् बाली मायावीकी ललकार सह न सका, उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो गईं....। पारना=सकना, यथा—'सोक विकल कछु कहै न पारा।'

नोट—२ 'पुकारा' शब्दमें सिंहनाद करना, क्रोधपूर्वक गर्जन करना और ललकारना—ये सब भाव आ गए जो अध्यात्म और वाल्मीकीयमें हैं। यथा—'किष्किंधां समुपागत्य वालिनं समुपाह्वयत्।४७। सिंहनादेन महता वाली तु तदमर्षणः'। अध्य० स० १।' अर्थात् आकर वालिको लड़नेके लिए ललकारा, घमण्डसे सिंहकी तरह गरजने लगा। वाली उसका वह दर्प न देख सकता था। 'नर्दति स्म सुसंरब्धो वालिनं चाह्वयद्रणे (वाल्मी० ४।९।५)।' अर्थात् क्रोधपूर्वक गरजने और युद्धके लिये ललकारने लगा।

## १—वालि और सुग्रीव।

कहते हैं कि एक बार मेरु पर्वतपर तपस्या करते समय ब्रह्माकी आँखोंसे गिरे हुए आँसुओंसे एक प्रतापी बंदर उत्पन्न हुआ जिसका नाम ऋक्षराज था। एक बार ऋक्षराज पानीमें अपनी छाया देखकर उसमें कूद पड़ा। पानीमें गिरते ही उसने एक सुन्दर स्त्रीका रूप धारण कर लिया। एक बार उस स्त्रीको देखकर इन्द्र और सूर्य मोहित हो गए। इन्द्रने अपना वीर्य उसके मस्तकपर और सूर्यने अपना वीर्य उसके गले पर डाल दिया। इस प्रकार उस स्त्रीको इन्द्रके वीर्यसे वालि और सूर्यके वीर्यसे सुग्रीव नामक दो बंदर उत्पन्न हुए। इसके कुछ दिनों पीछे उस स्त्रीने फिर अपना पूर्व रूप धारण कर लिया। ब्रह्माकी आज्ञासे उसके पुत्र किष्किंधामें राज्य करने लगे। (वाल्मी० सर्ग ५७, श० सा०)।

वालि महाबली था। सुग्रीवने श्रीरामजीसे वाल्मीकीय सर्ग ११ में कहा है कि वालि पश्चिम समुद्रसे पूर्व समुद्रतक और दक्षिण समुद्रसे उत्तरसमुद्रतक सूर्योदयके पूर्व ही बिना परिश्रम जाता और लौट आता है। बड़े-बड़े पर्वतोंके शिखर पकड़कर उखाड़कर ऊपर फेंकता है और फिर लोक लेता है। बड़े-बड़े वृक्षोंको उखाड़ डालता है।

रावण इसे छलसे जीतने आया। वालि उस समय समुद्रमें सन्ध्या तर्पण कर रहा था। उसी दशामें उसने रावणको पकड़कर बगलमें दाब लिया। छः मास तक दबाए रक्खा। इत्यादि। हनु० ८।३९ में अंगदने रावणसे कहा है कि वालि तुझे बाँधकर चारों समुद्रोंमें क्षणमात्रमें ही फिरकर संध्यावंदन करते हुए लौट आया; क्या तू उसे भूल गया। यथा—'त्वां बद्ध्वा चतुरम्बुराशिषु परिभ्राम्यन्मुहूर्तेन यः। सन्ध्यामर्चयति स्म निस्त्रप कथं तातस्त्वया विस्मृतः॥' ऐसाभी कोई-कोई कहते हैं कि इन्द्रने जो माला इसे दी थी उसका यह प्रभाव था कि उसको पहनकर जब वालि किसीसे लड़ता तो वालिमें शत्रुका आधा बल खिंच आता था, पर इसका प्रमाण कहीं मिला नहीं है। वाल्मी० २२ में वालिने सुग्रीवको यह माला देते हुए इतना ही कहा है कि इसमें प्रशस्त विजयलक्ष्मी वर्तमान है, मेरे मरनेपर इसकी श्री नष्ट हो जायगी, अतएव तुम इसे धारण करो। 'इमां च मालामाधत्स्व दिव्यां सुग्रीव काञ्चनीम्। उदारा श्रीः स्थिता ह्यस्यां संपुजह्यान्मृते मयि।१६।' वाल्मी० २२ में लिखा है कि इसने गोलभनामक गंधर्वसे १५ वर्षतक बराबर युद्ध किया और अंतमें उसको मार डाला। ऐसा पराक्रमी था।

## २—मयसुत मायावी और दुंदुभी

मय नामका एक महातेजस्वी मायावी दैत्य था जो दितिका पुत्र था। यह शिल्प-विद्यामें परम निपुण था। एक हज़ार वर्ष घोर तपस्या करके उसने ब्रह्मासे शुक्राचार्यका समस्त धन शिल्पविद्या और उसकी सामग्री वरमें प्राप्त की। यह हेमा नामकी अप्सरामें आसक्त हो गया था। इन्द्रने इसको वज्रसे मार डाला। (वाल्मी० ५१)। इसके दो पुत्र मायावी और दुन्दुभी हुए। वालिने दुंदुभीको मार डाला था। दुंदुभीकी कथा वाल्मी० ११ में इस प्रकार दी हुई है—दुंदुभी नामका एक बड़ा बली असुर था। उसके हज़ार हाथियोंका बल था। वह कैलासशिखर सरीखा बड़ा ऊँचा और विशालकाय था। वरदानसे मोहित होकर वह दुष्ट समुद्रसे युद्ध करने गया, समुद्रने उससे कहा कि मैं तुम्हारे युद्धके योग्य नहीं हूँ, तुम हिमवान्‌के पास जाओ जो शङ्करजीके श्वसुर और ऋषियोंके आश्रयदाता हैं। तब वह हिमवान्‌के पास गया। उन्होंने भी अपनी असमर्थता कही और पूछने पर बताया कि तुम इन्द्रपुत्र वालिके पास जाओ, वह प्रसिद्ध बलवान् है, किसीकी ललकार सह नहीं सकता। दुंदुभीका वेष भैंसेका सा था। और उसके सींग बड़े तीक्ष्ण थे। वह किष्किंधामें आकर गरजने लगा, सींगोंसे नगरके द्वारको तोड़ने लगा। यह सुनकर वालि फाटकपर आया और उससे समझाकर कहा कि अपने प्राण लेकर चले जाओ। इसपर उसको क्रोध आगया और उसने वालिको बहुत ललकारा जो वाल्मी०में श्लोक ३२से ३५ तक वर्णित है। वालिने उसकी सींगोंको पकड़कर और उसे खूब घुमाकर पटक दिया। फिर मुक्कों, घुटनों, पैरों, पत्थरों और वृक्षों द्वारा घोर युद्ध हुआ। वालिने उसे पटककर उसको मर्दन कर डाला। उसके मरनेपर उसके शवको वालिने एक योजनपर वेगसे फेंक दिया। वेगसे फेंके हुए दुंदुभीके मुखादिसे निकली हुई रुधिरकी बूँदें हवासे मतंगजीके आश्रममें जा पड़ीं। जिसे देखकर मुनिने कुपित होकर शाप दे दिया कि जिसने इस शवको फेंककर इस वनके वृक्ष तोड़े और इस आश्रमको रुधिरबिंदुसे अपवित्र किया है वह यदि आश्रमके आस पास एक योजन तक आयगा तो उसके सिरके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे। वालिके पक्षवाले जो भी वानर यहाँ देख पड़ेंगे वे पाषाण हो जायँगे।

दुंदुभीके मारे जानेपर मायावी अपने भाईका बदला वालिसे लेनेके लिए आया। वालिसे मायावीका स्त्रीके कारण भी वैर हो गया था, इसीसे वह वालीकी घातमें रहता था। (वाल्मी० स० ९)। संभव है कि इसीसे वह गुहामें घुस गया।

धावा बालि देखि सो भागा। मैं पुनि गएउँ बंधु सँग लागा॥ ४॥
गिरि-बर गुहा पैठ सो जाई। तब बाली मोहि कहा बुझाई॥ ५॥

अर्थ—वालि उसे देखकर दौड़ा और वह वालिको देखकर भागा। मैं भी भाईके संग लगा चला गया।४। वह एक बड़े पर्वतकी एक श्रेष्ठ (बड़ी) गुफामें जा घुसा। तब वालिने मुझसे समझाकर कहा।५।

टिप्पणी—१ (क) 'धावा बालि' का भाव कि राजाको विचारकर शत्रुके पास जाना चाहिए, पर बालि बिना विचारे अर्द्धरात्रिको अकेले ही शत्रुके पीछे दौड़ा। इसका कारण पूर्व ही कह दिया है कि 'बाली रिपु-बल सहै न पारा', अर्थात् उसे अपने बलका बड़ा अभिमान है। इसीसे उसने कुछ विचार न किया। (ख) 'देखि सो भागा' कहकर सूचित किया कि बालिको देखते ही शत्रुके लड़नेका उत्साह नहीं रह जाता। (ग) 'मैं पुनि', यह चित्रकूटदेशकी बोली है। दोनों शब्द मिलकर एक ही अर्थका बोध कराते हैं। मैं पुनि = मैं। यथा—'मैं पुनि करि प्रवान पितु बानी।२।६२।१।', 'मैं पुनि पुत्रवधू प्रिय पाई।२।५६।१।' (घ) 'बंधु सँग लागा' अर्थात् बालिने मुझसे साथ चलनेको नहीं कहा, मैं स्वयं ही भाईके प्रेमसे संग हो गया। यथा—'ततोऽहमपि सौहार्दान्निः सृतो बालिना सह'—(वाल्मी० ६।८) अर्थात् तब मैं भी प्रेमके कारण बालिके साथ निकला। भाईके साथ लगे चले गए यह सुग्रीवकी प्रीति है। और, बाली स्वयं गुहामें घुसा सुग्रीवको साथ न घुसने दिया, यह बालिका प्रेम छोटे भाईपर दिखाया। पूर्व जो कहा था कि 'प्रीति रही कछु बरनि न जाई' वह यहाँ चरितार्थ हुआ।

२ (क) 'गिरि बर गुहा पैठ सो जाई' इति। भारी गुहामें यह समझकर जा घुसा कि बालि भयानक गुफा देखकर लौट जायगा। वानर अँधेरे स्थानमें नहीं जाते। (ख) 'कहा बुझाई'। भाव कि यह राक्षस सम्मुख बलसे नहीं लड़ सका, गुफामें घुस गया; इससे जान पड़ता है कि वहाँ पर और भी राक्षस हैं, न जानें क्या माया रचें, तब हम दोनों भाई मारे जायँगे। अतएव तुम दरवाजे पर रहो।

नोट—१ मायावीने देखा कि बालि आया और पीछे-पीछे कुछ दूर उसका भाई सुग्रीव भी है; अतएव वह डरकर भागा. यथा—'स तु मे भ्रातरं दृष्ट्वा मां च दूरादवस्थितम्। असुरो जातसंत्रासः प्रदुद्राव तदा भृशम्। वाल्मी० ६।६।', 'अनुयातश्च मां तूर्णमयं भ्राता सुदारुणः। स तु दृष्ट्वैव मां रात्रौ सद्वितीयं महाबलः॥ वाल्मी० १०।१५।' अर्थात् यह मेरा अत्यन्त दारुण भाई भी साथ था, मेरे साथ एक दूसरे बली पुरुषको देखकर वह भागा। मयङ्ककार लिखते हैं कि दोनोंको देखकर भागा कि कहीं ऐसा न हो कि दोनों मिलकर मुझे घेर लें, अतः भागा। अथवा, छलसे भागा कि इनको दूर ले जायँ तो बालि निस्सहाय रह जायगा। यह संभव है कि इससे भागा हो कि ये पीछा करें तो मैं इन्हें गुहा में ले जाऊँ जहाँ मेरे सब सहायक हैं और रात भी है, बालिको वहाँ सब मिलकर मार लेंगे। यह अनुमान भी ठीक हो सकता है क्योंकि उस गुहामें सत्य ही उसके बहुत साथी मिले। यथा 'निहतश्च मया सद्यः स सर्वे सह बन्धुभिः।१०।२०।' अर्थात् (बालि कहता है कि) मैंने उस शत्रुको बान्धवोंके सहित शीघ्र मार डाला।

२ 'कहा बुझाई' में यह भी भाव है कि ऐसा न हो कि इसके कुछ साथी इधर-उधर बाहर छिपे हों, वे हम दोनोंको गुहामें जाते देख पीछेसे आ घेरें और प्रहार करें; इससे तुम यहाँ सावधान होकर ठहरो जिसमें इधर पीछेसे कोई न आने पावे। मैं इसे मारकर आता हूँ। यथा—'इह तिष्ठाद्य सुग्रीव बिलद्वारि समाहितः। यावदत्र प्रविश्याहं निहन्मि समरे रिपुम्॥ वाल्मी० ६।१३।' पुनः भाव कि उसने यह समझाया कि यह बारम्बार उपद्रव करेगा, इससे अब इसे मार डालना ही उचित है। (प्र०)। यह भी समझाया कि गुहा तंग है, एक दो दैत्यसे अधिक इसमें सामने आ नहीं सकते, जो जो सामने आते जायँगे उनको मैं मारता जाऊँगा, अतः तुम मेरी ओरसे निश्शंक रहो।

**परिखेसु* मोहि एक पखवारा। नहिं आवौं तब जानेसु† मारा॥ ६॥**

**मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी। निसरी रुधिर धार तहँ भारी॥ ७॥**

शब्दार्थ—परखेसु = परखना, प्रतीक्षा करना, राह देखना, आसरा देखना। पखवारा = पक्ष + वार = १५ दिन। चन्द्रमासका पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध दोनों पक्ष कहलाते हैं। एक कृष्णपक्ष दूसरा शुक्ल। दोनोंमें १५, १५ दिन होते हैं। पक्षके अपभ्रंश पाख और पखवारा हैं। मास दिवस = महीना दिन = ३० दिन,

* 'परखेउ'—(का०)। † 'जानेसि'—(का०)।

यथा-'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ १।१९५।', 'मास दिवस बीतें मोहि मारिहि निसिचर पोच ।५।११।'

अर्थ—पन्द्रह दिन तक मेरा आसरा देखना। उतने दिनोंमें न आया तो जानना कि वालि मारा गया (तात्पर्य कि तब यहाँसे चले जाना) ।६। हे खरारि! मैं वहाँ महीना भर रहा। उस (गुहा) से रुधिर (रक्त, खून) की भारी धार निकली ।७।

टिप्पणी—१ 'परखेसु मोहि एक पखवारा' इति। वालिने सुग्रीवपर कृपा करके पक्षभर रहनेको कहा जिसमें वह बहुत दिन तक आशामें बैठा न रहे। वीर अपने पराक्रमको समझते हैं, वे अनुमान कर लेते हैं कि कितने दिनमें वे अमुक कार्य कर सकेंगे। यहाँ वालिने यह समझ लिया कि मैं मायावीको पक्ष-भरमें मार लूँगा, इसीसे सुग्रीवसे उसने पक्ष ही भर ठहरनेको कहा।

२ 'मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी' इति। (क) वालिने पक्षभरको कहा, मैं वहाँ दो पक्ष रहा। इससे सुग्रीवकी प्रीति सूचित हुई कि भाईके स्नेहसे, उसकी आज्ञा न होनेपर भी, वह इतने दिन ठहरा रहा।* (ख) 'खरारी' सम्बोधनका भाव कि आप खरके शत्रु हैं जो दुष्ट था; मेरी कोई दुष्टता नहीं है, सब दुष्टता वालिकी है। [पुनः 'खरारी' का भाव कि आपने खरादिके समरमें देख लिया कि राक्षस कैसे मायावी होते हैं। आपने अपनी मायासे उन्हें जीत लिया, पर हम सब बानर हैं; माया क्या जानें। मायावी पूर्ण मायावी था; इसीसे वालिको उसके मारनेमें मासभरसे अधिक लग गया। (शीला)] (ग) 'रुधिर धार तहँ भारी'। इति। भारी धार निकलनेका हेतु यह है कि मायावी दैत्यका शरीर भारी था, इसीसे शरीरसे रुधिरकी धार भी भारी निकली।

नोट—१ वाल्मी० ९।१४से मालूम होता है कि सुग्रीवने भी गुहामें साथ जानेकी प्रार्थना की, पर वालिने अपने चरणोंकी शपथ की इससे वह बाहर ही रहा। यथा—'मया त्वेतद्वचः श्रुत्वा याचितः स परंतपः। शापयित्वा स मां पद्भ्यां प्रविवेश बिलं ततः।' वाल्मी० में वालिने कहा है कि मैंने इससे कहा था कि जबतक मैं मारकर लौटता हूँ तब-तक बिलके द्वारपर प्रतीक्षा करो—'बिलद्वारि प्रतीक्ष त्वं यावदेनं निहन्म्यहम् ।४।१०।१८।' वाल्मीकीयमें सुग्रीवका एक वर्षतक बिलद्वारपर ठहरना लिखा है। अतः यह प्रसंग वाल्मीकीय कल्पका नहीं है।

अर्धाली ७ से मिलता हुआ श्लोक अध्यात्म १।५०-५१ में है—'इत्युक्त्वाविश्य स गुहां मासमेकं न निर्ययौ॥ मासादूर्ध्वं गुहाद्वारान्निर्गतं रुधिरं बहु।' अर्थात् यह कहकर कि मैं गुहामें जाता हूँ वह उस गुहामें घुस गया और एक मास तक न निकला। महीनाभरके उपरान्त होनेपर उसमेंसे बहुत रुधिर निकला। बाहर रुधिर निकलनेका कारण यह था कि मारे जाने पर मायावी पृथ्वीपर गिरकर गरज रहा था, उसके मुँहसे

---

* १—पंजाबीजी यह शंका करके कि 'वालि धर्मात्मा था। पक्षका क़रार करके मासभर राह देखनेवालेपर कोप क्यों करता? और, राज्य तो जबरदस्ती मंत्रियोंने दिया था. सुग्रीवका इसमें अपराध न था, तब सुग्रीवको क्यों मारकर निकाल देता?', उसका समाधान यह करते हैं कि 'मास दिवस' से यहाँ १२ दिन का अर्थ होता है क्योंकि मास बारह होते हैं। १५ दिन ठहरनेको कहा; यह तीन दिन पहले चला आया। इसीसे वालिने कोप किया। पर यह अर्थ यहाँ प्रसंगानुकूल नहीं है। क्योंकि यहाँ तो सुग्रीव वालिका अपराधी और अपना निरपराध होना दिखा रहे हैं। दूसरे 'मास दिवस' बाल और सुन्दरमें भी ३० दिनके ही अर्थ में आया है, यथा—'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ', 'मास दिवस महुँ कहा न माना। तौ मैं मारब काढ़ि कृपाना॥' और 'मास दिवस महुँ नाथ न आवा। तौ पुनि मोहि जियत नहिं पावा।' एवं 'मास दिवस बीते मोहि मारिहि निसिचर पोच'—(सुं० ११)। तीसरे, अध्यात्म आदि रामायणोंसे यही पता लगता है कि सुग्रीव वालिकी दी हुई अवधिसे अधिक वहाँ ठहरा था।

२ बाबा हरिदासजी कहते हैं कि १५ दिन की अवधि देनेका भाव यह था कि १४ दिनमें चौदहो लोकोंमें जहाँ होगा मैं उसे देखकर मार डालूँगा और पन्द्रहवें दिन लौट आऊँगा।

रुधिरकी धार निकली जिससे वह बिल भर गया और जिसके कारण पृथ्वीपर चलना कठिन हो गया। (वाल्मी० १०।२१)। वह धार बाहर तक आई।

**बालि हतेसि मोहि मारिहि आई। सिला देइ तहँ चलेउँ पराई॥ ८॥**
**मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं। दीन्हेउ मोहि राज बरिआईं॥ ९॥**

अर्थ—उसने बालिको मार डाला, (अब) आकर मुझे मारेगा (यह समझकर) गुहाके द्वारपर एक शिला लगाकर मैं भागकर चला आया।८। मंत्रियोंने नगरको बिना स्वामी (राजा) का देखकर मुझे ज़बरदस्ती राज्य दिया।९।

टिप्पणी—१ 'बालि हतेसि०'। सुग्रीव महीनाभर वहाँ रहे तो भी कुछ निश्चय न हुआ कि कौन मारा गया, इसीसे सुग्रीव वहाँसे जा न सके। जब रुधिरकी धार निकली तब निश्चय हुआ कि बालि मारा गया; क्योंकि बालिने पक्षभर परखनेको कहा था और रुधिर महीनेभरमें निकला—(करु०)। 'मोहि मारिहि आई' यह इससे निश्चय किया कि जब बालि ऐसे महाबली वीरको उसने मार डाला तब मैं उसके सामने क्या हूँ।

नोट—१ बालिका मारा जाना कैसे निश्चय हुआ? इस विषयमें वाल्मी० ९ में लिखा है कि राक्षसोंके गर्जनका शब्द सुनाई पड़ता था और बालिका शब्द एक भी न सुन पड़ा, बहुत दिन भी बीते और रुधिर निकला—इन लक्षणोंसे अनिष्टकी शंका हुई। यथा—'नर्दतामसुराणां च ध्वनिर्मे श्रोत्रमागतः। न रतस्य च संग्रामे क्रोशतोऽपि स्वनो गुरोः।१८। अहं त्ववगतो बुद्धया चिह्नैस्तैर्भ्रातरं हतम्। पिधाय च बिलद्वारं शिलया गिरिमात्रया।१९।' कैसे जाना कि बालि ही मारा गया, इसके संबंधमें ऐसा भी कहा जाता है कि रुधिरके साथ बालिके रोएँ देख पड़े। मयङ्ककारका मत है कि यहाँ सुग्रीवका दोष जान पड़ता है, वह समझ सकता था कि बालिवधपर इतनी बड़ी धार रुधिरकी न निकल सकती थी।

पं० विजयानंद त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'जिस भाँति आजकल भी किसी पहलवानमें दो घण्टेका दम होता है, उस बीचमें उसका मारा जाना कठिन है। दक्ष योद्धा बिना दम टूटे जल्दी मारे नहीं जाते। उन्हें अपने दमका भरोसा रहता है। भगवान् देवकीनन्दन जब स्यमन्तक मणिके लिये गुफ़ामें घुसे, तो लोगोंसे कहते गये कि एक महीनेतक मेरी प्रतीक्षा करना, यदि न आऊँ तो समझना कि मैं मारा गया। जब उतना समय बीतनेपर भी कृष्णजी नहीं आये तो लोग लौट गये, और उनका और्द्ध दैहिक कृत्य भी कर डाला, किसी ने उनके जीते रहनेकी शंका न उठाई। इसी भाँति दो पखवारा बीतनेपर भी बालिके बाहर न आनेपर उसके जीते रहनेकी शंका उठाना ही जबरदस्ती है। दम टूटनेके पन्द्रह दिन बाद रक्तधार निकलनेका अर्थ ही यही है कि बाली दम टूटनेपर भी पंद्रह दिन लड़ता रहा, बिल्कुल बेदम होनेपर मारा गया। सुग्रीवजीने शिलासे गुफ़ाका द्वार बन्द कर दिया कि जिसमें गुफ़ामें बिल्कुल अँधेरा हो जाय और शत्रुको द्वारतक पहुँचनेमें कठिनाई हो। जबतक वह ढूँढ़ता टटोलता द्वारतक पहुँचेगा, और द्वारको रोकनेवाले पत्थरोंको हटावेगा, तबतक मैं किष्किन्धा पहुँच जाऊँगा। अतः सुग्रीवजीका शिलासे द्वार रोकना उचित था। यदि सुग्रीवजीकी इन बातोंमें कचाई होती, तो सरकार बालिको अपराधी मानकर उसके वधकी प्रतिज्ञा नहीं करते।'

नोट—२ जिस शिलासे द्वार बंद किया गया वह पर्वत समान बड़ी थी। यह शिला लगानेका भाव यह था कि मायावी इसे हटाकर न निकल सकेगा, भीतर ही मर जायगा। यथा—'शिला पर्वतसंकाशा बिलद्वारि मया कृता।७। अशक्नुवन्निष्क्रमितुं महिषो विनशिष्यति। वाल्मी० ४।४६।८।'

३ 'मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं।....बरिआईं' इति। (क) वाल्मी० के सुग्रीवने श्रीरामजीसे कहा है कि मैं मंत्रियोंसे यथार्थ बात छिपाता रहा पर उन लोगोंने जान लिया—'गूहमानस्य मे तत्त्वं मन्त्रिभिः श्रुतम्।४।९।२०।' और अ० रा० के सुग्रीवने कहा है कि मैंने सबसे कह दिया कि बालि गुफ़ामें राक्षसके हाथसे मारा गया। यथा—'ततोऽब्रवं मृतो बाली गुहायां रक्षसा हतः।४।१।५३।' मानसमें कुछ न लिखकर

दोनोंके मतोंकी रक्षा कर दी गई। (ख) राज्य राजासे शून्य है, यह देखकर कोई शत्रु आक्रमण न कर दे, ऐसा विचारकर मंत्रियोंने बलात् मुझे राजा बना दिया। ऐसा ही सुग्रीवने वालिसे वाल्मी० में कहा है। यथा—'बलादस्मिन्समागम्य मन्त्रिभिः पुरवासिभिः ।४।१०।१०।' 'बरिआईं' शब्दसे जनाया कि मेरी इच्छा राज्य ग्रहण करनेकी न थी फिर भी उन्होंने न माना। यथा—'....मामनिच्छन्तमप्युत। राज्येऽभिषेचनं चक्रुः सर्वे वानरमन्त्रिणः। अ० रा० ४।२।५३।' इच्छा न होनेका कारण भाईका शोक अथवा अंगदके रहते अपनेको अधिकारी न समझना कहा जाता है। अंगद अभी छोटा था इससे मंत्रियोंने इनको राज्य ग्रहण करनेके लिए हठ किया।

बाबा हरीदास—ईश्वर सर्वउरप्रेरक है। मंत्रियोंने सुग्रीवको बरिआई राज्य दिया यद्यपि वालिका पुत्र अंगद राज्याधिकारी था। ऐसा न होता तो क्यों सुग्रीव नगरसे निकाला जाता और क्यों वह वनमें निवास करता?—'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई'। रावणमरणमें नर वानर दोनों कारण हैं—'हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे ।१।१७७।' बिना सुग्रीवके वनवासके श्रीरामजीसे उनसे भेंट और मित्रता कैसे हो सकती थी? श्रीरामजी नगरमें जा नहीं सकते थे और वालि वनमें क्यों आता? दूसरे, वालि अभिमानी प्रकृतिका था, इससे भी यदि वह मिलता भी तो उससे मित्रता कदापि न हो सकती थी। श्रीरामजी तो गरीबनिवाज़ हैं और सुग्रीव दीन है, इसलिए उससे मित्रता की गई। फिर वालि रावणका मित्र था—'मम जनकहि तोहि रही मिताई', यह अंगदने रावणसे कहा है, तब वह श्रीरामजीकी सहायता कब कर सकता था। अतः यह सब हरि इच्छासे हुआ।

नोट—४ यहाँ तक सुग्रीवने अपनी सफ़ाई कही कि मैं सहायताके लिए संग गया, उसने पखभर राह देखनेको कहा, मैं दूने दिन रहा, और मैं राजा होना नहीं चाहता था, मुझे मंत्रियोंने ज़बरदस्ती राजा बनाया। अब आगे वालिका अपराध कहते हैं। (पं० रा० कु०)।

बाली ताहि मारि गृह आवा। देखि मोहि जिय भेद बढ़ावा ॥१०॥
रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी। हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी ॥११॥
ता के भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मइँ फिरेउँ बिहाला ॥१२॥

अर्थ—वालि उसे मारकर घर आया। मुझे (अभिषिक्त) देखकर जीमें बहुत बुरा माना।१०। उसने मुझे शत्रुके समान अत्यन्त भारी मार मारी अर्थात् खूब मारा और मेरा सर्वस्व (सब कुछ) और स्त्री हर ली।११। हे रघुवीर! हे कृपालु! उसके भयसे मैं समस्त लोकोंमें बेहाल (विह्वल, व्याकुल) फिरा।१२।

टिप्पणी—१ (क) 'देखि मोहि०'। देखनेका भाव कि यदि राज्यसिंहासनपर मुझे बैठे न देखते तो जीमें भेद न बढ़ाते। समझते कि इनका कोई दोष नहीं है, हमने १५ दिन रहनेको कहा था, ये १५ दिन रहकर चले आए। (ख) भेद यह बढ़ाया कि इनके जीमें यही था कि वालि मरे तो हम राज्य करें; इसीसे गुहाद्वारपर शिला लगाकर राजगद्दीपर आकर बैठ गए।

नोट—१ 'देखि मोहि०' से यह भी सूचित किया कि यदि वह लोगोंसे पूछता तो उसे मालूम हो जाता कि मैंने जो कहा है वह सत्य है। मैं नियुक्त अवधिसे अधिक ठहरा, मुझे ज़बरदस्ती राज्य दिया गया। पर उसने देखते ही क्रोधमें आकर किसीसे कुछ न पूछा, मुझे मारकर निकाल दिया।

२ शत्रुके समान मारनेके कई कारण उपस्थित हो गए। वालिने समझा कि यह चाहता था कि मैं मारा जाऊँ तो इसे राज्य मिल जाय। इसीसे पर्वत सदृश शिला बिल द्वारपर बंद करके चला आया। इसे चाहिए था कि वहाँ बैठा रहता कि कहीं मायावी ही मारा गया हो और भाई लौटा तो कैसे निकलेगा। निकलनेका मार्ग न पाकर मैं 'सुग्रीव' 'सुग्रीव' चिल्लाता रहा। अनेक बार लातोंसे मारकर तब कहीं पत्थर हटा सका, नहीं तो उसके भीतर मर जाता। स्वयं राजा बननेके लिये ही इसने ऐसा किया है। यथा 'तत्रानेनास्मि

संरुद्धो राज्यं मृगयतात्मनः। सुग्रीवेण नृशंसेन विस्मृत्य भ्रातृसौहृदम्। वाल्मी० ४।१०।२५।' दूसरे, अंगद राज्याधिकारी था तब सुग्रीवने क्यों राज्य ग्रहण किया? तीसरे, ताराके साथ सुग्रीव सुखपूर्वक रहने लगा था जैसा कि वाल्मी० ४।४६ से पत्ता चलता है—'राज्यं च सुमहत्प्राप्य तारां च रुमया सह। मित्रैश्च सहितस्तस्य वसामि विगतज्वरः।९।' अर्थात् वड़ा राज्य और ताराको पाकर रूमा तथा मित्रोंके साथ में सुखपूर्वक रहने लगा। इत्यादि कारणों से शत्रु समझा, अतः जैसा शत्रुके साथ करना चाहिए वैसा किया।

नोट—३ 'हरि लीन्हेसि सर्वस अरु नारी' इति। शत्रुका सर्वस्व हरण किया जाता है, अतः सर्वस्व हरण कर लिया। अथवा, यह सोचकर कि सुग्रीव मेरे सर्वस्व राज्य धन आदिका मालिक वन बैठा है, उसने सर्वस्व हर लिया। 'अरु नारी' का भाव कि सुग्रीवने मुझ वड़े भाई की स्त्रीको मेरे जीतेजी अपनी स्त्री बना लिया। यथा 'धर्मेण मातरं यस्तु स्वीकरोति जुगुप्सितः ४।५५।३।' (यह अंगदने हनुमान्‌जीसे कहा है)।—यह समझकर उसने मुझ छोटे भाईकी स्त्री जीतेजी छीन ली।

टिप्पणी—२ (क) 'सर्वस' कहकर 'नारी' को पृथक् कहनेका भाव कि उनको हमारी स्त्रीका हरण करना अत्यन्त अयोग्य था सो भी उन्होंने किया। 'सकल भुवन', यथा अध्यात्मे—'लोकान्सर्वान्परिक्रम्य ऋष्यमूकं समाश्रितः। (१।५६। अर्थात् समस्त लोकोंकी परिक्रमा करके ऋष्यमूक पर्वतका आश्रय लिया)। [यहाँ 'सकल भुवन' से समस्त पृथ्वीका अर्थ लेना विशेष संगत है। वाल्मी० ४।१०।२७ से भी यही अर्थ ठीक जान पड़ता है, यथा—'तद्भयाच्च महीं सर्वां क्रान्तवान्सवनार्णवाम्' अर्थात् उसके भयसे वनों और पर्वतोंवाली समस्त पृथ्वी मैं घूम आया। इसका विस्तृत उल्लेख वाल्मी० ४।४६ में है। चारों दिशाओंकी सीमातक बालीने सुग्रीवका पीछा किया। कोई जगह बची नहीं।] (ख) 'रघुबीर कृपाला' का भाव कि आप कृपालु हैं, अतएव मुझपर कृपा कीजिए। [यथा—'वालिनश्च भयात्तस्य सर्वलोकभयापह। कर्तुमर्हसि मे वीर प्रसादं तस्य निग्रहात्।' (वाल्मी० १०।३०)। अर्थात् सर्वलोकोंके भयके दूर करनेवाले! वालिके भयसे मेरी रक्षा कीजिए। हे वीर! आप उसे दण्ड देकर मुझपर कृपा करनेके योग्य हैं]।

**इहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहौं मन माहीं॥ १३॥**

अर्थ—वह यहाँ शापके कारण नहीं आता तो भी मैं मनमें डरता ही रहता हूँ।१३।

टिप्पणी—१ (क) शापवश—मतङ्गऋषिका शाप था कि यदि वालि यहाँ आये तो उसके मस्तकके सौ टुकड़े हो जायँ। यथा—'मतङ्गेन तदा शप्तो ह्यस्मिन्नाश्रममण्डले। प्रविशेद्यदि वा वाली मूर्धास्य शतधा भवेत्। वाल्मी० ४।४६।२२।' (ख)-'तदपि सभीत रहौं', कारण कि वालि स्वयं यहाँ नहीं आ सकता पर वह दूसरोंका भेजता रहता है; इस प्रकार हमारे विनाशके उपायमें सदा लगा रहता है। यथा—'यत्नवांश्च स दुष्टात्मा मद्विनाशाय राघव। बहुशस्तत्प्रयुक्ताश्च वानरा निहता मया। वाल्मी० ४।८।३४।' अर्थात् हे राघव! वह दुष्टात्मा मेरे विनाशके लिए प्रयत्न करता रहता है, उसके भेजे हुए बहुतसे वानरोंको मैंने मार डाला है।

२ यहाँ तक सुग्रीवने अपने तन, धन और मन तीनोंका दुःख कहा। तनका दुःख—'रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी।' धनका दुःख—'हरि लीन्हेसि सर्वस अरु नारी', मनका दुःख—'इहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहौं०'।

३ श्रीरामजीने सुग्रीवसे वनमें निवासका कारण पूछा; वह कारण उन्होंने यहाँतक कहा। और, बालिका अपराध भी कहा कि बिना अपराध हमको मारकर पुरसे निकाल दिया, हमारा सर्वस्व और स्त्री हरण कर लिए; तब भी हमारे प्राण नहीं बचते।

नोट—१ ऋष्यमूक पर्वतपर ठहरनेकी राय हनुमान्‌जीने दी थी। वाल्मी० ४६ में सुग्रीवने श्रीरामजीसे कहा है कि जब चारों दिशाओंमें कहीं भी वालिके पीछा करनेसे मुझे शरण नहीं मिली तब बुद्धिमान् हनुमान्‌ने मुझसे कहा कि मुझे इस समय याद आया कि मतङ्गऋषिने वालिको शाप दिया है कि यदि वह इस आश्रमको

भूमिपर आवे तो उसका मस्तक टुकड़े-टुकड़े हो जाय। वहीं हम लोग निरुद्विग्न होकर सुखपूर्वक रह सकेंगे। वालि मतंगके भयसे यहाँ नहीं आता। शापका कारण पूर्व ६ (१–३) पृष्ठ ५४ में लिखा जा चुका है।

☞ 'नाथ सयल पर कपिपति रहई' से 'तदपि सभीत रहौं मन माहीं' तक 'सुग्रीव मिताई' का प्रसंग है।

## 'बालि-प्राण-भंग'—प्रकरण

**सुनि सेवक दुख दीनदयाला। फरकि उठी दोउ† भुजा बिसाला॥ १४॥**

अर्थ—सेवकका दुःख सुनकर दीनोंपर दया करनेवाले श्रीरघुनाथजीकी दोनों विशाल (घुटनेतक लंबी) भुजाएँ फड़क उठीं।१४।

टिप्पणी—१ (क) 'सेवक दुख' इति। सुग्रीवने जो कहा था कि 'सब प्रकार करिहौं सेवकाई', बस इतने ही वचनपर श्रीरामजीने उनको सेवक मान लिया, अतएव यहाँ 'सेवक' पद दिया (और हनुमान्‌जीने भी पूर्व यही कहा था, 'सो सुग्रीव दास तव अहई'।) (ख) 'दीनदयाला' पद साभिप्राय है। सुग्रीव दीन हैं। उसपर कृपा करके उसका दुःख हरेंगे। दीनके दुःखको सुनकर दयावीरकी भुजाएँ फड़कती ही हैं।—(यहाँ 'परिकरांकुर अलंकार' है। हनुमान्‌जीकी भी यही प्रार्थना है कि 'दीन जानि तेहि अभय करीजे'।)

नोट—दोनों भुजाओंके फड़कनेके विषयमें महानुभावोंके विचार ये हैं—

पं० रामकुमारजी—उत्साहमें वीरोंकी दोनों भुजाएँ फड़कती हैं, वही कारण यहाँ है। यहाँ शकुन या अपशकुनका विचार नहीं है।

मा० म०—सुग्रीवके दुःखको सुनकर उसके अवगुणोंको वात्सल्यवश भूल गए, दोनों भुजाएँ फड़क उठीं। वालिके मारनेसे कुछ अपयश होगा, अतएव बायीं भुजा भी फड़की और दाहिनी भुजाने फड़ककर यह सूचित किया कि सुग्रीवका पालन करेंगे।

पं०—दोनों भुजाओंका फड़कना रणका सूचक है। अथवा, तलवारसे मारना होता तो दाहिनी ही भुजा फड़कती (क्योंकि खड्ग एक हाथसे चलाया जाता है), पर वालिवध बाणसे करना है (जिसमें दोनों भुजाओंका काम है) अतएव दोनों भुजाएँ फड़कीं।

करु०—दोनों विशाल भुजाओंका फड़कना कहकर जनाया कि वीररसको प्राप्त हुए।

शिला—बाईं भुजाका फड़कना अपशकुन है। अतः विशाल विशेषण देकर जनाया कि ये भुजाएँ शाल अर्थात् छिद्ररहित हैं। तात्पर्य यह कि इनकी दक्षिण भुजा न फड़के तो भी शुभ ही हो और वाम भुजा फड़के तो भी अशुभ नहीं होनेका।

प्र०—विसाल = विगत-पीर करनेवाली।

[नोट—अंतिम दो भाव खींचके अर्थ हैं। विशाल विशेषण प्रायः आजानुबाहु होने और आर्त्तके दुःख हरण एवं उसको आलिंगन करनेके प्रसंगमें कविने बहुत ठौर प्रयुक्त किया है। कोई महानुभाव ऐसा भी कहते थे कि भुजाओंका प्रेरक इन्द्र है। भुजाओंका फड़कना कहकर जनाया कि इन्द्र भी वालिके अनीतिको देखकर न सह सके और बाहु-फड़कन-द्वारा मानों प्रभुसे प्रार्थना कर रहे हैं कि अब आप इसको मारिए।]

**दोहा—सुनु सुग्रीव मारिहौं बालिहि एकहि बान।**
**ब्रह्म रुद्र सरनागत गए न उबरिहि प्रान॥ ६॥**

अर्थ—हे सुग्रीव! सुनो। मैं वालिको एक ही बाणसे मारूँगा। ब्रह्मा और रुद्रकी शरणमें प्राप्त हो जाने पर भी उसके प्राण न बचेंगे।६।

† दोउ—(का०), दो—(भा० दा०)।

☞ मिलान कीजिए—'जौ खल भयेसि राम कर द्रोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही ॥६।२७।२।'
उदाहरण यथा—'ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका। फिरा श्रमित व्याकुल भय सोका॥ काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही ॥३।२।'

वि० त्रि०—'सुनु सुग्रीव....प्रान' इति। 'तदपि सभीत रहौं मन माहीं' इस कथनसे सरकारने वालीको पक्का अपराधी मान लिया। सुग्रीवने सब कुछ कहा, पर सरकारने तबतक वालीको अपराधी नहीं माना जबतक कि उसने यह न कहा कि 'इहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहौं मन माहीं'। समझा कि क्रोधके वेगमें उसने मारकर निकाल दिया। सुग्रीवकी बहूका कोई अपराध नहीं था, इसलिये उसे नहीं निकाला। परन्तु इस घटनाको बहुत दिन हुए, क्रोधके वेगके शान्त होने तथा सुग्रीवके निरपराध होनेके प्रमाण मिलनेका यथेष्ट समय मिल गया। अब जहाँ वह स्वयम् नहीं जा सकता वहाँ सुग्रीवके वधके लिये अन्य योधाओंको भेजता है, अतः सिद्ध है कि उसका हृदय पापी है, सुग्रीवको मारकर निष्कण्टक होकर रूमाको भोगना चाहता है, अतः सरकारने वालिबधकी प्रतिज्ञा कर ली।

सुग्रीवके मुखसे सुना कि वह सकल लोकोंमें बिहाल फिरा, पर वालिके भयसे किसीने शरणमें नहीं रक्खा। अतः सरकार कहते हैं कि एक बाणसे मारूँगा, और ब्रह्मा-रुद्रकी शरणमें जानेपर भी वह न बचेगा, जिस भाँति जयन्त नहीं बच सका। प्रतिज्ञाका कारण कहते हैं 'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी' इत्यादि।

टिप्पणी—१ एक ही बाणसे बालिको मारनेकी प्रतिज्ञाका तात्पर्य यह है कि उसके मारनेमें विलंब नहीं करेंगे। मित्रके दुःखसे दुःखी हुए हैं इसीसे मारनेकी प्रतिज्ञा की। यथा 'मित्र दुःखेन सन्तप्तो रामो राजीवलोचनः ॥५८॥ हनिष्यामि तव द्वेष्यं शीघ्रं भार्यापहारिणम्। इति प्रतिज्ञामकरोत्सुग्रीवस्य पुरस्तदा ॥५९॥ अ० रा० सर्ग १।' अर्थात् मित्रके दुःखसे राजीवलोचन श्रीरामजी दुःखित हो गए और सुग्रीवके सामने उसी समय प्रतिज्ञा की कि स्त्रीके हरनेवाले तुम्हारे शत्रुको मैं शीघ्र मारूँगा। (नोट—दूसरा कारण वालिवधका यह है कि आर्यसंस्कृतिकी मर्यादा स्थापित करनेके लिए प्रतिज्ञा हुई है, यथा—'यावत्तं नहि पश्येयं तव भार्यापहारिणम्। तावत्स जीवेत्पापात्मा वाली चरित्रदूषकः। वाल्मी० १०।३३।' अर्थात् तुम्हारी स्त्रीको अपहरण करनेवाले बालिको जबतक मैं नहीं देखता तबतक वह मर्यादा नष्ट करनेवाला वाली जीवे)।

पं०—प्रभुने उसकी भावी देखकर, अथवा, सुग्रीवको अपने बलपर विश्वास दिलानेके लिए वालिको एक ही बाणसे वध करनेकी प्रतिज्ञा की। (प० प० प्र० स्वामीजी इस मतसे सहमत नहीं हैं कि प्रतिज्ञा केवल विश्वास उत्पन्न करनेके लिये की गई। प्रतिज्ञा रोषसे की गई है। 'जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई।')। यदि कोई कहे कि वालिसे सुग्रीवसे शत्रुता थी, रघुनाथजीसे तो न थी तब ऐसी प्रतिज्ञा क्यों की? इस संदेहके निवारणार्थ प्रभु नीतिके अनुसार मित्रके लक्षण कहते हैं। सुग्रीव मित्र है, इससे उसका दुःख दूर करना अपना परम कर्त्तव्य है। मित्रका शत्रु अपना शत्रु है।

नोट—१ मुख्य और यथार्थ भाव तो ऊपर दिए गए पर बाबा हरीदासजी और भी भाव लिखते हैं। जो पाद टिप्पणीमें दिये जाते हैं। † ब्रह्मा और शिवकी शरणमें भयभीत होकर देवता और मुनि इत्यादि सभी जाते हैं; इससे उनकी शरण जाना कहा। 'हरि' 'विष्णु' की शरण लेना न कहा क्योंकि 'हरि', 'विष्णु', 'नारायण' आदि सब रामजीके ही सात्विक रूप हैं। यहाँ रुद्र नाम देकर जनाया कि शिवजीके भयंकर काल-स्वरूपकी शरणमें भी जानेसे न बचेगा।

---

† यहाँ रामजी सुग्रीवको उभय भाँति अभय देते हैं। एक तो यह कि वालि जीतेजी कुछ न कर सकेगा, मैं एक ही बाणसे उसे गिरा दूँगा। दूसरे, मरनेपर भी न डरो कि प्रेत होकर दुःख देगा क्योंकि उसको हमारे पार्षद तुरत हमारे धामको ले जायँगे। मार्गमें ब्रह्म और रुद्रलोक पड़ेंगे पर ब्रह्मा और रुद्र भी उन पार्षदोंसे नहीं बचा सकते। प्रेत होना इससे कहा कि अभी सुग्रीवका रामजीमें ईश्वरभाव निश्चित नहीं है।—(पर यह भाव क्लिष्ट कल्पना है।)

या। निर्दोषश्च सदोषश्च वयस्यः परमा गतिः ।८। धनत्यागः सुखत्यागो देशत्यागोऽपि वानघ। वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेहं दृष्ट्वा तथाविधम् ।९।' अर्थात् मित्र सोने चाँदीके आभूषण आपसे बँटे हुए नहीं समझते। एक मित्रकी चीजें दूसरे मित्रकी भी होती हैं। धनी हो या दरिद्र, दुखी हो या सुखी, निर्दोष हो या सदोष, मित्र ही मित्रके लिये गति है। इसी कारण मित्रका उत्कट प्रेम देखकर उसके लिये मित्र धनत्याग, सुखत्याग तथा देशत्याग भी करता है।— श्लोक ९ को 'बल अनुमान सदा हित करई' की व्याख्या समझिए। साहित्यिक दृष्टिकोणसे कह सकते हैं कि इसीको लेकर गोस्वामीजीने यहाँ मित्रके लक्षण श्रीरामद्वारा कहलाये हैं।

३ 'बिपति कालकर सत गुन नेहा' कहकर जनाया कि आपत्ति आनेपर ही मित्रकी परीक्षा होती है। यदि दुःखके समय मित्रके साथ विशेष प्रेम न हुआ तो वह मित्र नहीं है। मिलान कीजिए—'धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी ।३।५।७।' (श्रीअनुसूयाजी)।

४ 'संत' को दीपदेहली मानकर अर्थ करनेसे भी पूरा मेल हो जाता है। अन्वय यह हुआ— 'श्रुति संत कह संत-मित्र गुण एहा (है)।'

**आगे कह मृदु बचन बनाई। पाछे अनहित मन कुटिलाई ॥७॥**
**जा कर चित अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहि भलाई ॥८॥**

अर्थ—सामने मुखपर तो कोमल मीठे वचन बनाकर कहे, पीछे अहित (अपकार, बुराई, हानि, शत्रुता) करे और मनमें कुटिलता (कपट) रक्खे ।७।* हे भाई! जिसका चित्त सर्पकी चालके समान टेढ़ा है ऐसे कुमित्रके त्यागनेमें ही भलाई है ।८।

टिप्पणी १ (क)—'बनाई' से जनाया कि बात झूठी है पर ऐसी बनाकर कहते हैं कि सच्ची-सी लगती है। (ख) कपटी मित्रके मन, वचन और कर्म तीनोंमें कपट रहता है—'मन कुटिलाई' मनका, 'आगे कह मृदु बचन बनाई।' वचनका और 'पाछे अनहित' यह कर्मका कपट है। ☞यहाँ कर्मके कपटमें कवि 'पाछे अनहित' ही लिखते हैं, 'कर' क्रिया नहीं दी है। इसमें अभिप्राय यह है कि जैसे कुमित्र गुप्त अहित करते हैं वैसे ही कविने भी 'करने' की क्रिया गुप्त की है।

२ (क) प्रथम कुटिलको मित्रता करनेसे मना किया, यथा—'जाके असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई।' कदाचित् मना करनेसे वह न माने क्योंकि वह शठ है तो ऐसे कुमित्रका आपही त्याग करे। (ख) 'परिहरेहि भलाई' अर्थात् उसको न त्याग करोगे तो वह शूल सम पीड़ा देगा, यथा—कपटी मित्र शूल सम चारी।' छोड़नेके अतिरिक्त उसके अहितसे बचनेका अन्य उपाय है ही नहीं।

३ ☞कुमित्रके मन, बुद्धि और चित्त तीनों मलिन होते हैं, यथा—'पाछे अनहित मन कुटिलाई।', 'जिन्ह के असि मति सहज न आई।' और 'जाकर चित अहि गति सम भाई।'

नोट—१ 'अहिगति' इति। सर्प टेढ़ा ही चलता है, सीधा कभी नहीं चलता। कुटिलताका अर्थ भी टेढ़ापन है। मनमें कुटिलता कही, इसीसे अहिगतिकी उपमा दी। कपट रखना ही कुटिलता है।

प० प० प्र०—सर्पकी गति कुटिल होती है, पर वह शरीरकी गति होनेसे आसानीसे देखी जाती है। किन्तु कपटीका चित्त कुटिल होता है; इससे उसकी गति सहजमें दिखाई नहीं देती। 'चित्त' की गतिको अहिगतिके समान कहकर जनाया कि वह सर्पसे भी अधिक भयंकर और दुःखद है। पुनः भाव कि जैसे सर्पकी गति नैसर्गिक होनेसे उसका पलटना असंभव है, वैसेही कपटी मित्रकी कुटिलता दूसरेके प्रयत्नसे पलट नहीं सकती। अतः कहा कि 'अस कुमित्र परिहरेहि भलाई।'

---

* यथा—'परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्। वर्जयेत् तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्।' इति चाणक्यनीति। अर्थात् जो परोक्षमें काम बिगाड़े और सामने प्रिय बोले ऐसे मित्रको त्याग दे, वह विष भरा हुआ घड़ा है जिसके मुखपर देखने मात्रको दूध है।

**सेवक सठ नृप कृपन † कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी॥ ९॥**

अर्थ—शठ सेवक, कृपण (कंजूस) राजा, कुत्सित (बुरी, कर्कशा) स्त्री और कपटी मित्र ये चारों शूलके समान (पीड़ा देनेवाले) हैं। अर्थात् ऊपरसे हित बने रहते हैं और भीतर पीड़ा देते हैं।९।

☞ यहाँ तक मित्र-धर्म कहकर आगे उस धर्मको पालन करनेको स्वयं उद्यत होते हैं। आचरण द्वारा उपदेश प्रभावशाली होता है।

नोट १—इस अर्धालीके भाव इन श्लोकोंसे स्पष्ट हो जाते हैं,—(क) 'अविधेया भृत्यजनाः शठानि मित्राण्यदायकः स्वामी। अविनयवती च भार्या मस्तक शूलानि चत्वारि॥' (प्रस्तावरत्नाकर); अर्थात् आज्ञा न माननेवाला सेवक, शठ मित्र, कृपण राजा और कर्कशा स्त्री, ये चारों मस्तकके शूल हैं। पुनः, (ख) यथा (चाणक्यनीतिदर्पणे)—'दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः। ससर्पे च गृहेवासो मृत्युरेव न संशयः॥' अर्थात् दुष्टा स्त्री, उत्तर देनेवाला सेवक, शठ मित्र और सर्पके घरमें वाससे मृत्यु निश्चय है, इसमें संदेह नहीं।

२—आज्ञा न मानने वा हठ करने वा स्वामीको उत्तर देनेसे 'शठ' कहा। यथा—'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई'—(अ० दोहा २६९)।

३—शूल=प्राचीन कालका एक अस्त्र जो प्रायः बरछेके आकारका होता है। =वायुके प्रकोपसे होनेवाला एक प्रकारका बहुत तेज़ दर्द जो प्रायः पेट, पसली, कलेजे या पेड़ू आदिमें होता है। इस पीड़ामें ऐसा अनुभव होता है कि कोई अंदरसे बहुत नुकीला काँटा या शूल गड़ा रहा है, इसीसे इसे शूल कहते हैं। यहाँ दूसरा अर्थ विशेष संगत है, क्योंकि पीड़ा प्रत्यक्ष देख नहीं पड़ती है पर प्राणघातिनी होती है, वैसे ही मित्रका कपट गुप्त है पर है प्राणघातक।

**सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥ १०॥**

शब्दार्थ—'घटब'=करूँगा। यथा—'सो सब भाँति घटिहि सेवकाई। अ० २५८।५।'

अर्थ—हे सखे! मेरे बलपर (भरोसे) तुम शोच छोड़ो, मैं तुम्हारे काम सब प्रकारसे करूँगा।१०।

नोट—'सब बिधि'=नीति आदि रीतिसे। (प्र०)। वा, 'सब बिधि' अर्थात् बल बुद्धि आदिके व्यवहारसे एवं परमार्थ भी सुधारूँगा अर्थात् लोकपरलोक दोनों बनाऊँगा। (मा० म०, पं०)। इससे जनाया कि जो धर्म हमने कहे उन सबको मैं तुम्हारा काम करनेमें निबाहूँगा। जिस प्रकारसे वालिवध होगा और तुम्हारी स्त्री और राज्य मिलेगा वह सब करूँगा। गाली भी सहूँगा।

टिप्पणी—गोस्वामीजीने श्रीरामजी और सुग्रीवजीका मित्रधर्म समान वर्णन किया है।

| श्रीरामजी | | श्रीसुग्रीवजी |
|---|---|---|
| सुनि सेवक दुख दीनदयाला | १ | सुनि सुग्रीव नयन भरि बारी |
| सखा सोच त्यागहु बल मोरे | २ | तजहु सोच मन आनहु धीरा |
| सब बिधि घटब काज मैं तोरे | ३ | सब प्रकार करिहौं सेवकाई |
| सुनु सुग्रीव मारिहौं बालिहि एकहि बान | ४ | जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई |

वि० त्रि०—'सखा सोच....तोरें' इति। मित्रताके पात्र, मित्रके गुण तथा कुमित्रके दोषका वर्णन करके, तब सरकार कहते हैं कि मेरे भुजबलके भरोसे तुम शोकका परित्याग करो, मैं सब विधिसे तुम्हारा काम बनाऊँगा। सुग्रीवजीने तो आश्वासनमात्र दिया था कि 'तजहु सोच मन आनहु धीरा। सब प्रकार करिहौं सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई'; पर सरकार तो सोच मिटानेके लिये सन्नद्ध हो गये, कहते हैं कि किसी अन्य उपकरणकी आवश्यकता नहीं, भुजाबलसे ही तुम्हारा सब कार्य साध देवेंगे, और चलनेको तैयार हो गये। पर सुग्रीवके मनमें बात जमी नहीं। उसने समझा कि इन्होंने वालीके बलको बिना जाने ही ऐसी

† कृपिन—(का०), कृपन—(भा० दा०)।

प्रतिज्ञा कर दी। ये इस भाँति वहाँ चलकर अपने प्राण तथा मेरे प्राणको भी संकटमें डाल देवेंगे। तब सुग्रीवने कहा कि वालीके वलको समझ लीजिये कि वह कितना वड़ा पराक्रमी है, अतः 'दुंदुभि अस्थिताल देखराए'।

प० प० प्र०—यद्यपि दोनोंमें मित्रलक्षण समानसे मालूम होते हैं तथापि 'सीता-शोध-कार्य सुग्रीव करेगा या नहीं' ऐसा संदेह श्रीरामजीके मनमें नहीं ही है; इसके विपरीत सुग्रीवके मनमें पूरा विश्वास नहीं है कि श्रीरामजीमें वालिवध करनेकी शक्ति है। वह चाहता है कि अपना कार्य पहले किया जाय। श्रीरामजीमें यह आकांक्षा नहीं है।

कह सुग्रीव सुनहु रघुवीरा। वालि महावल अति रनधीरा॥ ११॥
दुंदुभि अस्थि ताल देखराए। विनु प्रयास रघुनाथ ढहाये॥ १२॥

अर्थ—सुग्रीवने कहा—हे रघुवीर! सुनिए, वालि महावली और अत्यन्त रणधीर है।११। दुंदुभी की हड्डियाँ और ताड़के वृक्ष दिखाए। श्रीरघुनाथजीने उन्हें विना परिश्रम ही गिरा दिए।१२।

टिप्पणी—१ 'महावल अति रनधीरा' इति। श्रीरामचन्द्रजीने कहा कि 'सखा सोच त्यागहु बल मोरे' उसपर सुग्रीवने यह कहा, जिसका भाव यह है कि आपके वल है और वालिके महावल है, आप वीर हैं और वह अति रणधीर है, तब उसे आप कैसे मारेंगे? यह कहकर फिर सुग्रीव वालिका वल दिखाते हैं कि उसने दुंदुभीको मारके एक योजनपर फेंक दिया—'चिक्षेप बलवान्वाली वेगेनैकेन योजनम्। वाल्मी० ४।११।४७।' अब किसीका इतना भी सामर्थ्य नहीं कि उसके अस्थि-पंजरको ही उठा सके। फिर सप्ततालवृक्ष दिखाए कि वालि इनको हिलाकर पत्ररहित कर देता है, यथा 'एते ताला महासाराः सप्त पश्य रघूत्तम। एकैकं चालयित्वासौ निष्पत्रान्कुरुतेऽञ्जसा।' (अ० रा० १।७२)। जो इनको एक वाणसे काट डाले वही वालिको मार सकेगा।

नोट—१ अ० रा०में कहा है—'सुग्रीवोऽप्याह राजेन्द्र वाली वलवतां वली। कथं हनिष्यति भवान्देवैरपि दुरासदम्॥ अध्यात्म १।६०।' अर्थात् सुग्रीव बोले कि हे राजाधिराज! वाली वड़े-वड़े वलवानोंसे भी वली हैं, देवताओंसे भी उसका जीता जाना कठिन है, तब आप उसे किस प्रकार जीतेंगे? वाल्मीकिजी लिखते हैं कि ऐसा कहनेपर लक्ष्मणजीने उससे पूछा कि आपको क्योंकर विश्वास हो सकता है कि श्रीरामजी उसका वध कर सकेंगे? तब सुग्रीवने कहा कि हड्डियोंको एक पैरसे उठाकर दोसौ धनुषकी दूरी पर फेंक दें....तब विश्वास हो! यथा—'कस्मिन्कर्मणि निर्वृत्ते श्रद्दध्या वालिनोवधम्॥६६॥....हतस्य महिषस्यास्थि पादेनैकेन लक्ष्मण। उद्यम्य प्रक्षिपेचापि तरसा द्वे धनुः शते॥७२॥'—(स० ११)। लक्ष्मणजीसे ऐसा कहनेके पश्चात् सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा है कि 'वालि शूर है। शूर होनेका उसे अभिमान है। उसका पराक्रम प्रसिद्ध है। वह युद्धमें कभी पराजित नहीं हुआ। जो कार्य देवताओंको भी दुष्कर है वह भी वह कर डालता है।' यथा 'शूरश्च शूरमानी च प्रख्यातवलपौरुषः। वलवान्वानरो वाली संयुगेष्वपराजितः। वाल्मी० ४।११।७४। दृश्यन्ते चास्य कर्माणि दुष्कराणि सुरैरपि।७५।'—यह सब 'महावल अति रनधीरा' से जना दिया गया। यही कारण जान पड़ता है कि श्रीरघुनाथजीने उसे अँगूठेसे क्यों फेंका।

अ० रा० में यह कहकर कि वह वलवानोंमें अग्रणी है, आप उसे कैसे जीतेंगे, सुग्रीव उसके वलका वृत्तान्त सुनाने लगे। गोस्वामीजीने वीचमें कुछ न लिखकर दोनोंके मतोंकी रक्षा की।

टिप्पणी—२ 'विनु प्रयास' इससे कहा कि श्रीरामजीने दुंदुभीके अस्थिको चरणके अँगूठेसे ही दशयोजन दूर फेंक दिया। सुग्रीवने पहले दुंदुभीकी हड्डीका ढेर दिखाया पीछे तालवृक्ष, वैसा ही यहाँ आगे पीछे लिखा गया। भाव यह कि दुंदुभीके शरीरके अस्थिपंजरके फेंकनेपर सुग्रीवको पूरा विश्वास नहीं हुआ, तब उसने ताल दिखाया।

नोट—२ वाल्मी० स० ११ से स्पष्ट है कि सुग्रीवको दुंदुभीकी हड्डियोंके फेंकनेपर भी विश्वास न हुआ। क्योंकि सुग्रीवने यह पराक्रम देखकर भी ये अर्थयुक्त वचन कहे कि 'मेरा भाई युद्धमें थक गया था जिस

समय उसने दुंदुभीका शरीर फेंका था और उस समय शरीरमें मांस भी था, वह गीला होनेके कारण भारी था और तत्कालका मारा हुआ था। और आपने जो हड्डियाँ फेंकी हैं वे तृणके समान मांसहीन होनेसे हलकी हो गई हैं। इससे यह नहीं जाना जा सकता कि आपका बल अधिक है या उसका; क्योंकि गीले और सूखेमें बड़ा अन्तर होता है। यदि आप एक वृक्षको भेद दें तो मुझे विश्वास हो जाय। (श्लोक ८४-९०)। अध्यात्म रामायणमें भी यही क्रम है। भेद केवल इतना है कि वाल्मीकीयमें शालवृक्ष कहा है और इसमें सप्ततालवृक्ष कहे गए हैं, वहाँ एकको भेदनेको कहा है और यहाँ सातोंको। यथा—'राघवो दुन्दुभेः कायं पादांगुष्ठेन लीलया ॥८४॥ तोलयित्वा महाबाहुश्चिक्षेप दशयोजनम्। असुरस्य तनुं शुष्कां पादांगुष्ठेन वीर्यवान् ॥८५॥ क्षिप्तं दृष्ट्वा ततः कायं सुग्रीवः पुनरब्रवीत्।....हरीणामग्रतो वीरमिदं वचनमर्थवत् ॥८६॥ आर्द्रः समांसः प्रत्यग्रः क्षिप्तः कायः पुरा सखे। परिश्रान्तेन मत्तेन भ्रात्रा मे वालिना तदा ॥८७॥ लघुः संप्रति निर्मांसस्तृणभूतश्च राघव।.... ॥८८॥ नात्र शक्यं बलं ज्ञातुं तव वा तस्य वाधिकम्। आर्द्रं शुष्कमिति ह्येतत्सुमहद्राघवान्तरम् ॥८९॥' (वाल्मी० सर्ग ११)। पुनः यथा अध्यात्मे—'दृष्ट्वा रामः स्मितं कृत्वा पादाङ्गुष्ठेन चाक्षिपत्।....७०....यदि त्वमेकबाणेन विद्ध्वा छिद्रं करोषि चेत्। हतस्त्वया तदा वाली विश्वासो मे प्रजायते (१।७३)'

२—जो भाव अध्यात्मके 'स्मित' (मुसुकराते हुए) और वाल्मीकिके 'लीलया' (खेल सरीखे) में हैं वही भाव मानसके 'बिनु प्रयास' का है। ३—दुन्दुभी की कथा ६ (१-३) में देखिए।

## 'दुंदुभि-अस्थि ताल'

१ दुन्दुभीका शरीर जो मतङ्गजीके आश्रममें गिरा था वह पर्वत-समान बड़ा था, उसे दिखाया। २—ताल वृक्षके संबंधमें कई प्रकारकी कथाएँ कही जाती हैं—(क) करुणासिंधुजी लिखते हैं कि "दुन्दुभीके अस्थिपर सात ताल वृक्ष जमे जो मण्डलाकार थे। किसी मुनिका शाप है कि जो सप्ततालको एकही बाणसे एकही बार नाश करदे वही बालिको मार सकेगा। ये सप्ततालवृक्ष किसी मुनिके शापसे देवलोकसे च्युत हुए थे, इनका उद्धार रामबाण द्वारा हुआ और वे दिव्यरूप हो परमपदको प्राप्त हुए।" (ख) हनुमन्नाटकमें लिखा है कि इन सप्ततालोंकी जड़ें पातालमें शेषजीकी पीठमें स्थित थीं। और, इनके विषयमें यह कथा है कि यदि कोई इनका नाश करना चाहे और एक बाणसे नाश न कर सका तो ये सप्तताल बाण चलानेवाले-कोही मार डालते हैं। यथा—'सौमित्रिस्तानकृत सरलाञ्छेषपृष्ठस्थमूलान्भारेणांघ्रेरथ रघुपतिः संदधे दिव्यमस्त्रम् ॥४७॥ देव ज्ञात्वा बाणः प्रहन्तव्यः। यतः। एकदैव शरेणैकेनैव भिन्नकलेवराः। म्रियन्ते सततालास्तं घ्नन्ति हन्तारमन्यथा ॥४८॥' (हनु० अङ्क ५); अर्थात् लक्ष्मणजीने शेषजीकी पीठमें स्थितमूलवाले उन ताल वृक्षोंको चरणके अग्र-भागसे सीधा कर दिया, फिर रामचन्द्रजीने दिव्य अस्त्र धारण किया। लक्ष्मणजी बोले—स्वामिन्! समझ-कर बाण मारना उचित है, क्योंकि एक साथही एक बाणसे इन सातों वृक्षोंका नाश कर देना योग्य है, नहीं तो ये फिर मारनेवालेही को मार डालते हैं। श्रीरामचन्द्रजीने कहा कि तुम भय न करो।

वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि 'बलवान् रामचन्द्रजीके द्वारा फेंका हुआ वह स्वर्णमण्डित बाण तालों-को भेदकर पर्वत और पृथ्वीको फोड़ता हुआ पातालमें चला गया और एकही मुहूर्तमें सप्ततालोंको भेदकर पुनः उनके तरकशमें लौट आया'। इससे भी शेषजीकी पीठमें उनकी जड़ोंका स्थित होना सिद्ध है। यथा—'स विसृष्टो बलवता बाणः स्वर्णपरिष्कृतः। भित्त्वा तालान्गिरिप्रस्थं सप्तभूमिं विवेश ह ॥३॥ सायकस्तु मुहूर्तेन तालान्भित्त्वा महा-जवः। निष्पत्य च पुनस्तूर्णं तमेव प्रविवेश ह ॥४॥'—(सर्ग १२)। (ग) कहीं यह कथा है कि वाली एकबार एक फल लाकर सरके तीर रखकर स्नान करने लगा; इतनेमें तक्षक सर्पका पुत्र आकर गुड़री लगाकर उसपर बैठ गया। वालीने आकर इसे फलपर बैठे देख शाप दे दिया कि तूने हमारा भक्ष्य मलिन कर दिया, अतः तेरे शरीरसे यह फूटकर वृक्षरूप हो जायगा। गुड़री लगाए हुए सर्पके ऊपर इन वृक्षोंकी स्थिति होनेसे एक तालसे अधिक एक बारमें कोई वेध न सकता था और ये ऐसे दिखते थे मानों कोई सर्प सो रहा हो

देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि बधब † इन्ह भइ परतीती ॥१३॥

अर्थ—श्रीरामजीका अतुलनीय बल देखकर सुग्रीवकी प्रीति बढ़ी और इनपर विश्वास हुआ कि ये वालिका वध करेंगे।१३।

टिप्पणी—१ (क) 'देखि अमित बल'। भाव यह कि सुग्रीवने लक्ष्मणजीके मुखसे धनुर्भंग, विराध, खरदूषण और कबंधका वध इत्यादि श्रीरामजीका पराक्रम सुना, यथा 'लछिमन रामचरित सब भाषा।' और रामचन्द्रजीने भी अपने मुखसे अपना बल कहा, यथा 'सुनु सुग्रीव मारिहौं बालिहि एकहि बान। ब्रह्मरुद्रसरनागत गए न उबरिहि प्रान।' इतनेपर भी सुग्रीवको प्रतीति न हुई। जब उन्होंने आँखोंसे देख लिया कि इन्होंने तो अस्थि और ताल 'बिनु प्रयास ढहाये' तब प्रतीति हुई। अतः 'देखि' पद दिया। (ख) 'अमित बल'। भाव कि जब श्रीरामजीने अपना बल कहा कि 'सखा सोच त्यागहु बल मोरे' तब सुग्रीवने वालिको महाबली कहा—'बालि महाबल अति रनधीरा।'; अब महाबली वालिसे अधिक बल रामजीमें देखा अतएव महाबलसे अधिक होनेसे अमित बल कहा। इनके बलकी थाह नहीं। (ग) 'प्रीति बाढ़ी' अर्थात् प्रीति तो पहलेसे ही थी, यथा—'कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा'; अब वह प्रीति अधिक हो गई।

नोट—१ वालिको ये अवश्य मारेंगे, यह विश्वास हुआ। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जब मुहूर्तमात्रमें श्रीरामजीका वह बाण सप्ततालोंको वेधकर पुनः तरकशमें लौट आया तब सुग्रीव बहुत विस्मित हुए, हाथ जोड़कर प्रणाम किया और बोले कि समस्त देवताओं सहित इन्द्रको भी आप मार सकते हैं फिर वालिकी बात ही क्या? जो सप्त महातालोंको भूमि और पर्वत सहित एक बाणसे वेध सकता है उसके सामने युद्धमें कौन ठहर सकता है? आपको मित्र पाकर अब मेरा शोक दूर हो गया।—'सेन्द्रानपि सुरान्सर्वांस्त्वं बाणैः पुरुषर्षभ। समर्थः समरे हन्तुं किं पुनर्वालिनं प्रभो।८। येन सप्त महातालां गिरिर्भूमिश्च दारिता। बाणेनैकेन काकुत्स्थ स्थाता ते को रणागतः।९। अद्य मे विगतः शोकः प्रीतिरद्यपरा मम।' (स० १२)। ये सब भाव 'बालि बधब इन्ह भइ परतीती' में भरे हुए हैं।

बार बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा ॥१४॥
उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भएउ* अलोला ॥१५॥

अर्थ—(वह) बारबार चरणोंमें माथा नवाता है। प्रभुको पहचानकर कपीश (सुग्रीव) मनमें हर्षित हुआ।१४। जब ज्ञान उत्पन्न हुआ तब (यह) वचन बोला—हे नाथ! आपकी कृपासे मेरा मन अचल हुआ।१५।

टिप्पणी—१ (क) सुग्रीवजी मन वचन कर्मसे श्रीरामजीकी शरण हुए। यथा—'प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा', 'उपजा ज्ञान बचन तब बोला', 'बारबार नावइ पद सीसा'। (यह कर्म है)। (ख) प्रभुको जाननेसे प्रतीति होती है, प्रतीतिसे प्रीति और प्रीतिसे भक्ति होती है, यथा—'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती। प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई।' (७।८९)। 'प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा' यह जानना है। जाननेसे प्रतीति हुई, यथा—'बालि बधब इन्ह भइ परतीती'। प्रतीतिसे प्रीति हुई, यथा—'देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती।' प्रीतिसे भक्ति हुई, यथा—'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई।' सेवा करना भक्ति है।

नोट—१ बारंबार सिर नवानेका भाव। (क) ज्ञान हुआ कि ये ईश्वर हैं, हमारे प्रभु हैं और ईश्वरको अनेक प्रणाम करना उचित ही है। इसी तरह अर्जुनका, ऐश्वर्य देखनेपर, भगवान् कृष्णको बारंबार प्रणाम पाया जाता है, यथा—'नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।' (गीता ११।३९)। वा, (ख) अत्यन्त हर्षके कारण। (पं०)। वा, (ग) पहिले प्रभुको वालिका भेजा हुआ जानकर उनमें शत्रु-भावकी आशंका हुई थी, फिर उनकी परीक्षा दुन्दुभि अस्थि और ताल द्वारा ली; अब प्रभुको सर्वज्ञ जानकर अपनी अवज्ञा क्षमा करानेके लिए बारंबार प्रणाम करते हैं। (पं०)। (घ) बाल, अरण्य और सुंदरमें लिखा जा

† 'बधब फी'—(का०)। * भयो—(भा० दा०), भएउ—(का०)।

चुका है कि प्रेममें यह दशा हो जाती है। यथा—'देखि राम छबि अति अनुरागीं। प्रेम बिबस पुनि पुनि पग लागीं। १।३३६।', 'प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिरु नावा। ३।३४।' (श्रीशबरीजी), 'पद अंबुज गहि बारंबारा। हृदय समात न प्रेम अपारा।' इत्यादि। कृतज्ञता सूचित करनेके लिये भी ऐसा किया जाता है—'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा।७।१०५।'

नोट—२ 'मन हरष' के साथ 'कपीश' शब्द बड़ा उत्तम पड़ा है। 'कं (=आनंद) पिबन्ति इति कपयः' एवं 'क (=इन्द्रियाणि)+ईशः इति कपीशः'। जो आनंदका पान करनेवाला है उसके मनमें हर्ष होना ही चाहिए। प० प० प्र० स्वामी यह व्युत्पत्ति देकर लिखते हैं कि भाव यह है कि 'अब मर्कटोंका ईश होनेमें क्या लाभ है, मैं तो इसी समय कपीश हो गया हूँ।'

टिप्पणी—२ (क) प्रभुको जाननेपर ज्ञान उपजा। इस कथनसे सूचित हुआ कि प्रभुका जाननाही ज्ञान है। (ख) 'उपजा ज्ञान बचन तब बोला' इति। भाव कि जब मन प्रेममें मग्न हो जाता है तब बोल नहीं आता; ज्ञानमें धीरज होता है तब बोल आता है, यथा—'प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर। बोले मुनिपद नाइ सिरु गदगद गिरा गँभीर।१।२१५।' (ग) भगवत् कृपासे और ज्ञानसे मन स्थिर होता है। सुग्रीव अपने मनके स्थिर होनेमें श्रीरामजीकी कृपाको मुख्य समझते हैं, इसीसे कहते हैं कि 'नाथ कृपा मन भयउ अलोला।'

रा० प्र० श०—प्रभुकी कृपासे मनसे चंचलता जाती है; चरित्रसेही अज्ञान नहीं रहता; जैसा श्रीपार्वतीजीने कहा था, यथा—'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथकथा बिधि नाना।' सुग्रीवने श्रीलक्ष्मण-जीसे चरित्र सुना और श्रीरामजीने ताल गिराकर स्वयं (अपना चरित) दिखाया; इससे अज्ञान दूर हुआ और ज्ञान उपजा।

प० प० प्र०—ज्ञान उत्पन्न होनेका कारण 'नाथ कृपा' है। ज्ञान=आत्मानुभव। आत्मानुभव ही सुख है, यथा—'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा।'; उससे मन स्थिर होता है, यथा 'निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा। ७।९०।७।', इसीसे कहा कि 'मन भयउ अलोला'। इससे यह भी जनाया कि सुग्रीव निष्काम निस्पृही हो गए, उनको संतोष प्राप्त हो गया। क्योंकि बिना संतोष कामका नाश नहीं होता और कामके रहते सुख नहीं होता। यथा—'बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।' आत्मानुभव सुख बिना भक्तिके रह नहीं सकता, इसीसे आगे प्रार्थना करते हैं कि 'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन राती।'

पं० रा० व० श०—पहलेवाले वचन अज्ञानके थे कि वाली शत्रु है, आप बली हैं, वह महाबली है, इत्यादि। ज्ञान होनेसे समता आ गई, शत्रुभाव जाता रहा। यथा—'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं। ३।१५।', 'निज-प्रभु-मय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध। ७।११२।' यह भाव उदय हो गया, अतः वैर भूल गया। निश्चल मनके लक्षण आगे कहते हैं; यही ज्ञान उत्पन्न होनेके लक्षण हैं।

वि० त्रि०—'उपजा ज्ञान....अलोला' इति। जब सुग्रीवने देखा कि दुन्दुभीकी अस्थिको सरकारने बायें पदके अंगुष्ठसे दश योजनपर फेंक दिया, और एक बाणसे मण्डलाकार सात तालोंको वेधते हुए, अगाध भूतलको वेध दिया, तो इस अचिन्त्य पराक्रमको देखकर चकित हो गया; जान लिया कि ये तो नर-रूपमें साक्षात् हरि हैं। माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक सरकारके दर्शनसे सारी वासनाएँ शान्त हो गईं, चित्त स्थिर हो गया, संसार मालूम पड़ने लगा, वाली भी मित्र दिखाई पड़ने लगे जिसके कारणसे भगवत्प्राप्ति हुई, 'सर्वं त्यक्त्वा हरिं भजेत्' यह भावना मनमें उठी, यथा 'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती। प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगेस जलकै चिकनाई।'

नोट—३ 'सुग्रीव वालीको मन-कर्म-वचनसे महाबलवान् समझता था—'रिपुबल सहै न पारा', 'परिखेहु मोहि एक पखवारा', 'बाली ताहि मारि गृह आवा', 'दुंदुभि अस्थिताल देखराये' इत्यादि, इसके उदाहरण सुग्रीवके वचनोंमें ही आये हैं। श्रीरामजीने भी मन वचन कर्मसे अपना अमित बल उसे

दिखाकर संतुष्ट किया, यथा क्रमसे—'मारिहौं वालिहि एकहि वान' और 'ब्रह्म रुद्र सरनागत गए न उब-रिहि प्रान' में वचन और मन दोनों आगए, और 'विनु प्रयास रघुनाथ ढहाए' कर्म है।

सुख संपति परिवार वड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई ॥१६॥
ये* सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तब पद अवराधक ॥१७॥
सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं ॥१८॥

अर्थ—सुख, संपत्ति, परिवार और वड़ाई, (इन) सबको छोड़कर मैं आपकी सेवा करूँगा।१६। हे राम! आपके चरणोंकी आराधना करनेवाले संत कहते हैं कि ये सब रामभक्तिके बाधक हैं।१७। संसारमें जितने शत्रु, मित्र, और सुख-दुःख हैं वे सब मायाके किए हुए हैं; अर्थात् सब मिथ्या हैं, परमार्थ नहीं हैं (वा, परमार्थमें ये कुछ नहीं हैं)।१८।

नोट—१ सुग्रीवके ज्ञानमय वचनोंका श्रीलक्ष्मणजीके गुहप्रति-उपदेशसे मिलान कीजिए—'जोग वियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥ जनम मरन जहँ लगि जगजालू। संपति बिपति करम अरु कालू॥ धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरग नरक जहँ लगि व्यवहारू॥ देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं॥ सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ। जागे लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ॥अ० ९२॥ मोहनिसा सब सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥ जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास बिरागा॥ होइ बिवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥ सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम वचन रामपद नेहू॥ सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सियरघुवीर-चरन रत होहू।'

इस उद्धरणके 'हित[1] अनहित'; 'भोग[2] भल मंदा' वा 'संपति विपति'; 'धरनि[3] धाम धन पुर';—'परिवारू'[4]; 'प्रपंच'[5]; 'मोहमूल[6] परमारथ नाहीं'; 'सपने[7] होइ भिखारि नृप....।९२।...देखिअ सपन अनेक प्रकारा।'; 'होइ[8] विवेक मोह भ्रम भागा' और 'जानिअ[9] तबहि जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा।' की जगह उसी भावके शब्द यहाँ क्रमसे ये हैं—१ 'सत्रु मित्र'; २ सुख दुख; ३ 'सुख संपति वड़ाई', ४ परिवार; ५ जगमाहीं; ६ मायाकृत परमारथ नाहीं; ७ 'सपने जेहि सन होइ लराई। जागे समुझत मन सकुचाई।'; ८ 'उपजा ज्ञान वचन तब वोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला', और ९ 'ए सब रामभगति के वाधक', 'सब परिहरि करिहउँ सेवकाई' 'अब प्रभु कृपा करहु....॥ सुनि विराग संजुत कपि बानी।'

दोनोंके मिलानसे स्पष्ट हो गया कि—'मोहमूल' और 'मायाकृत' का भाव एक है। 'उपजा ज्ञान....' में 'होइ विवेक मोह भ्रम भागा' का भाव है। अर्थात् उसका मोह भ्रम जाता रहा, उसको निश्चय हो गया कि ये केवल दशरथनन्दन ही नहीं हैं किन्तु परब्रह्म परमात्मा हैं। मोह भ्रम दूर होनेसे श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग उत्पन्न हुआ और उसने सोचा कि 'सब परिहरि करिहउँ सेवकाई', अतएव यही बर आगे माँग रहे हैं। 'मन भयउ अलोला' में 'सब विषय विलास विरागा' का भाव है।

टिप्पणी—१ 'सुख संपति....' इति। सुग्रीवको विश्वास हो गया कि ये वालिको मारकर मुझे राज्य देंगे, मुझे फिर सुख, संपत्ति, परिवार और वड़ाई प्राप्त होगी। इसीसे उन सबको त्याग करनेको कहते हैं।

२ 'ये सब रामभगतिके वाधक।०' इति। तात्पर्य कि जो भक्ति करते हैं उन्हें ये सब वाधक जान पड़ते हैं और अन्य लोग तो इन्हें गुण समझते हैं। 'वाधक' कहनेका भाव कि इनके रहनेसे रामजीका स्मरण भूल जाता है। इसके उदाहरण स्वयं सुग्रीवही हैं, यथा—'सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी'।

३ 'मायाकृत परमारथ नाहीं।' इति। रामजीके चरणोंमें अनुराग होना परमार्थ है, यथा—'सखा परम

* 'ए'—(क०)।

परमारथ एहू। मन क्रम बचन रामपदनेहू'। इसीसे कहते हैं कि सब छोड़कर आपके चरणोंमें अनुराग करूँगा, यथा—'सब परिहरि करिहौं सेवकाई'।

प० प० प्र०—राम 'ब्रह्म परमारथ रूपा' हैं, आत्मानुभव सुख ही परमार्थकी प्राप्ति है। परमार्थप्राप्तिसे दोष दुःखादि मिट जाते हैं। यथा—'करत प्रवेस मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथ पावा।२।२३६।३।'

सुग्रीवजीने परमार्थ तो पा लिया, पर अभी उन्हें परम परमार्थकी प्राप्ति करना है। 'मन कर्म बचन राम पद नेह' होना परम परमार्थ है। इसीसे उसकी प्रार्थना करते हैं।

नोट—२ 'ये सब रामभगतिके बाधक।०' इति। सांसारिक विषय सुख पाकर मनुष्य आलसी हो जाता है; इसीसे परमभागवत अंबरीष आदि ने भगवत् सेवामें भी अपनी रानीतकसे (पार्षदमंजन चौकालेपन आदि) किंचित् सेवा भी लेना स्वीकार न किया। संपत्ति (=धन, ऐश्वर्य) तो पंचमदोंमेंसे ही एक है, परिवारवाला उन्हींकी चिन्तामें मग्न रहता है, यथा—'अबुध कुटुंबी जिमि धनहीना'। आज किसीका ब्याह है, तो कल कोई रोगवश होता है, इत्यादिमें ही चित्त फँसा रह जाता है। बड़ाईमें तो अभिमानका होना सहज ही है; हमें सब मान्य देते हैं, हम सबके सामने मूर्तिको वा संतवेषको मस्तक कैसे नवावें, इत्यादि। यथा—'बड़ाईमें समाई मति भई पै न नित ही विचार अब मन पर खीजिये'....(भक्तिरसबोधिनी-टीका, कवित्त १३८)। भगवान्‌की नीचटहल करनेमें लज्जा लगती है। अतएव सबको बाधक कहा।

३ 'कहहिं संत' का भाव कि ये संत हैं, इससे उनका वचन प्रामाणिक है, असत्य नहीं हो सकता। संतोंको ये सब बाधक अनुभव हुए हैं, तब हम ऐसे पामर प्राणियोंकी गिनती ही क्या? अतएव ये त्याग-योग्य हैं।

४ 'सत्रु मित्र सुख दुख०' इति। यहाँ प्रस्तुत प्रसंग वालिकी शत्रुता है। इसीसे 'शत्रु' को प्रथम कहा। 'माया कृत' का भाव वही है जो श्रीलक्ष्मणगीताके 'मोहमूल' का है। अ० ९२ (८) देखो। अर्थात् ये सब स्वप्नवत् अनित्य हैं, जबतक अज्ञान है तभीतक ये सत्य जान पड़ते हैं, पर हैं ये सब असत्य; सब मनरूपी चित्रकारने गढ़ लिये हैं; वस्तुतः संसारमें अपना न कोई शत्रु है न मित्र, अपना मन ही शत्रु है जो भगवत् विमुख करके हमको सांसारिक वासनाओंमें डालता है। पुनः, 'मैं अरु मोर तोर तें' यही मायाका स्वरूप है। अहंममसे ही शत्रुमित्रभाव उत्पन्न होता है, जब अहंमम नहीं तब न कोई शत्रु है न मित्र। पहिले बालि मित्र था। जब उसने राज्य और स्त्री ले ली तब (इनमें ममत्व होनेके कारण) वह शत्रु मान लिया गया। कोई किसीको सुख वा दुःख न देता है, न दे सकता है। यथा—'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।२।९२।४।'

नोट—५ अ० रा० कि० सर्ग २ में भी इसी प्रकारका प्रसंग है। सप्ततालोंके वेधनेपर सुग्रीवको विस्मय और हर्ष हुआ और उन्होंने ज्ञान और वैराग्यके वचन कहे हैं। मिलान कीजिए—'ततोऽतिहर्षात्सुग्रीवो राममाहातिविस्मितः।७५। देव त्वं जगतां नाथः परमात्मा न संशयः।....७६। त्वां भजन्ति महात्मानः संसारविनिवृत्तये। त्वां प्राप्य मोक्षसचिवं प्रार्थयेऽहं कथं भवम्।७७। दाराः पुत्रा धनं राज्यं सर्वं त्वन्मायया कृतम्। अतोऽहं देवदेवेश नाकाङ्क्षेऽन्यत्प्रसीद मे।७८। आनन्दानुभवं त्वाद्य प्राप्तोऽहं भाग्यगौरवात्। मदर्थं यतमानेन निधानमिव सत्पते।७९। तत्तिष्ठतु मनो राम त्वयि नान्यत्र मे सदा।८३। न काङ्क्षे विजयं राम न च दारसुखादिकम्। भक्तिमेव सदा काङ्क्षे त्वयि बन्धविमोचनीम्।८५। त्वन्मायाकृतसंसारस्त्वदंशोऽहं रघूत्तम।८६। पूर्वं मित्रार्युदासीनास्त्वन्मायावृतचेतसः। आसन्मेऽद्य भवत्पाददर्शनादेव राघवः।८७। सर्वं ब्रह्मैव मे भाति क्व मित्रं क्व च मे रिपुः।....८८। मायामूलमिदं सर्वं पुत्रदारादिबन्धनम्।' अर्थात् तब सुग्रीवने आश्चर्यचकित होकर श्रीरामचन्द्रजीसे अत्यन्त हर्षके साथ कहा—हे देव! आप जगत्‌के स्वामी परमात्मा हैं इसमें संशय नहीं। महात्मा लोग संसारसे निवृत्तिके लिये आपका भजन करते हैं; तब मोक्षको देनेवाले आपको पाकर अब मैं संसारी पदार्थोंकी याचना कैसे कर सकता हूँ? हे देवदेवेश! अतः,

पुत्र, धन, राज्य आदि सब आपकी मायाके कार्य हैं, अतएव अब मुझे किसी पदार्थकी इच्छा नहीं है, आप मुझपर कृपा करें। आज मुझे बड़े भाग्यसे आनन्दस्वरूप आप प्राप्त हुए हैं, मिट्टी खोदते हुए जैसे किसीको खजाना मिल जाय। मेरा मन सदा आपमें ही लगा रहे अन्यत्र कहीं न जाय। अब मुझे वाली-को जीतने अथवा स्त्री आदिका सुख प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं है। भवबंधन छुड़ानेवाली आपकी सतत भक्तिको ही चाहता हूँ। यह संसार आपकी मायाका विलास है। मायाकृत चित्त होनेसे पहले मुझे शत्रु-मित्र उदासीन दिखाई देते थे। अब आपका दर्शन पाते ही मुझे सब कुछ ब्रह्मरूप ही भासता है, मेरा कौन मित्र है कौन शत्रु०? ये पुत्र स्त्री आदि संपूर्ण बन्धन मायामय ही हैं।

(क) 'देव त्वं जगतां नाथः परमात्मा न संशयः' ही यहाँ 'प्रभुहि जानि' है। अतः 'प्रभुहि जानि' का भाव कि ये संपूर्णजगत्‌के स्वामी परब्रह्म परमात्मा हैं यह जाना। (ख) 'ततोऽतिहर्षोत्सुग्रीवो' ही 'मन हरष कपीसा' है। 'अतिविस्मितः' का भाव 'बार बार नावइ पद सीसा' में आ जाता है, अमित बल देखकर विस्मित आश्चर्यान्वित हो गये हैं, अतः महिमा जानकर वारंवार प्रणाम करते हैं, सोचते हैं कि मुझसे बड़ा अपराध हुआ; मैंने इनको राजकुमारमात्र ही समझ लिया था और सखा समझकर इनकी परीक्षा ली, मुझसे यह बड़ा अनर्थ हुआ, अतः बार बार प्रणाम करते हैं। इसी तरह सतीजी श्रीरामजीका प्रभाव देखकर 'पुनि पुनि नाइ रामपद सीसा। १।५५।८।' और श्रीकौसल्या अंबाजीने भी 'चरननि सिरु नावा'। (ग) 'त्वां भजन्ति महात्मानः। संसार विनिवृत्तये।....७७।' का भाव 'ए सब रामभगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक' इस अर्धालीमें है। अर्थात् सुख संपत्ति परिवार बड़ाई इत्यादिको संसार बंधनमें डालनेवाले, प्रभुसे विमुख करनेवाले, अतएव भजनके बाधक जानकर वे इन सबका त्याग करके आपका भजन करते हैं, तब मुझे भी इस बन्धनमें न पड़कर भजन करना ही उचित है। सन्तोंके अनुभवका लाभ उठाना ही हमारा कर्तव्य है। (घ) 'दाराः पुत्रा धनं राज्यं सर्वं त्वन्मायया कृतम् ।७८।', 'त्वन्मायाकृत संसारः' और 'मायामूलमिदं सर्वं पुत्रदारादिबन्धनम् ।८०।' ही मानसका 'सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं।' है। भाव कि जबतक आपकी मायाका आवरण बना रहा तबतक शत्रु, मित्र आदि भाव हृदयमें बने रहे, त्रिविध ऐषणायें रहीं, अब आपकी कृपासे मायाका आवरण हट जानेसे, ज्ञान होनेसे मेरा चित्त शान्त हो गया। अतः अब मुझे किसीकी चाह नहीं रह गई। (ङ) 'आनन्दानुभवं त्वाद्य प्राप्तोऽहं भाग्यगौरवात् ।७९।' 'नाकाङ्क्षेऽन्यत्प्रसीद मे' का भाव 'नाथ कृपा मन भयउ अलोला' में है। अर्थात् बड़े भाग्यसे (आपकी आक-स्मिक कृपासे) मुझे आनन्दानुभव, आत्मज्ञान प्राप्त हो गया, 'अनाद्यविद्यासंसिद्धं बन्धनं छिन्नमद्य नः ।८०।' अनादि अविद्या जन्य बन्धन आज कट गया, मोह जाता रहा। सारा जगत् राममयही दिखाई दे रहा है, न कोई मेरा शत्रु है न मित्र। 'सर्वं ब्रह्मैव मे भाति क मित्रं क च मे रिपुः।' इत्यादि सब भाव इसमें आ गए। (च) 'पूर्वं मित्रार्युदासीनस्त्वमायावृतचेतसः ।....।८७।' का भाव 'सपनें जेहि सन होइ लराई। जागें समुझत मन सकुचाई' में है। अर्थात् मायाका आवरण हटनेपर अब वह सब भ्रम जान पड़ा। (छ) 'तत्तिष्ठतु मनो राम त्वयि नान्यत्र मे सदा ।८३।', 'न काङ्क्षे विजयं राम न च दारसुखादिकम्। भक्तिमेव सदा काङ्क्षे त्वयि बन्धविमोचनीम् ।८५।', ही यहाँ 'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करउँ दिन राती।' है। (ज) 'दिन रात भजन करें' इसमें अ० रा० के श्लोक ११, १२, १३ आ जाते हैं।

**बालि परमहित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥ १९॥**
**सपने जेहि सन होइ लराई। जागत समुझत मन संकुचाई॥ २०॥**

अर्थ—हे राम! बालि तो मेरा परम हितु आ है कि जिसकी कृपासे दुःखके नाश करनेवाले आप मुझे मिले (अर्थात् यदि बालिने मेरा सर्वस्व हरण न किया होता, मुझे निकाल न दिया होता और मुझसे शत्रुता न रखता तो मैं यहाँ क्यों आता और तब मुझे आप क्यों मिलते? उसका विरोध मेरे लिए उसकी

कृपा है, उसीसे मेरा परम हित हुआ।१९। जिससे स्वप्नमें लड़ाई हो तो जागनेपर उसे समझकर मनमें संकोच हो (कि ऐसे परमहितसे मैं कैसे स्वप्नमें भी लड़ा ?)।२०।

टिप्पणी—१ (क) 'परम हित' इति। जो सांसारिक उपकार करे वह हित है और जो आपको मिला दे वह परमहित है। तात्पर्य कि अब आप वालिको न मारें। जिसके क्रोधसे ईश्वर मिले उसका क्रोध क्रोध नहीं है वह तो प्रसाद है; इसीसे सुग्रीव वालिके कोपको 'प्रसाद' कह रहे हैं। यहाँ 'अनुज्ञा अलंकार' है।-(वीरकविजी और दीनजी यहाँ 'लेश अलंकार' कहते हैं)। (ख)—'समन विपादा' अर्थात् जन्म मरणादि दुःखके दूर करनेवाले।

२—'सपने जेहि सन होइ लराई।....' इति। भाव कि स्वप्नमें भी जब उससे लड़ाई होनेसे मुझे संकोच होगा तो अब उससे मैं स्वप्नमें भी नहीं लड़ूँगा।

दीनजी—भाव यह है कि वालिसे हमारी लड़ाई स्वप्नवत् है। अब मुझे संकोच हो रहा है कि उसने तो मेरी कोई बुराई नहीं की, बल्कि मेरा परम हित किया है।

नोट—१ पंजाबीजी लिखते हैं कि वालीको परमहित कहनेपर संभव था कि प्रभु कहते कि अभी-अभी तो तुम उसे शत्रु कहते थे और इतनी ही देरमें अपना हितुआ कहने लगे; इसपर सुग्रीव कहते हैं कि 'सपने जेहि०'। अर्थात् आप सत्य कहते हैं, परन्तु जैसे कोई स्वप्न देखे कि मुझसे किसीसे लड़ाई हुई और फिर जाग पड़े तो उस पुरुषको देखकर मनमें संकोच और लज्जा प्राप्त हो, वैसे ही मैंने जो कुछ कहा था वह सब अज्ञान दशामें कहा था, अब अज्ञानरूपी स्वप्न मिट गया, अतः शत्रुता झूठ जान पड़ी। अब पूर्व वचनोंको याद करके लज्जा होती है। ['सपने....' इति। यह दृष्टान्त है। दार्ष्टान्तमें 'मोह' रात्रि है। उसीमें जीव पड़ा सो रहा है। मैं राजा हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं धनी हूँ, वह मेरा शत्रु है, यह मित्र है, ये मेरी स्त्री है, इत्यादि सब जगत्‌के व्यवहार स्वप्न हैं जो जीव देख रहा है। विषयोंसे विधिप्रपंचसे वैराग्य होना जागना है। यथा 'जानिय तबहि जीव जग जागा। जब सब विषय बिलास बिरागा।'] करुणासिंधुजी आदिने भी ऐसा ही अर्थ किया है।

**अब प्रभु कृपा करहु येहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिनुराती ॥२१॥**

अर्थ—हे प्रभो ! अब इस प्रकारकी कृपा आप करें कि सब छोड़कर मैं दिनरात भजन करूँ।२१।

टिप्पणी—१ (क) 'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती', इस चरणका सम्बन्ध पूर्व और पर दोनोंसे है। 'जो स्वप्नमें हमसे और वालिसे लड़ाई हो तो जागनेमें हमारा मन सकुचाय', अब इस प्रकारकी कृपा कीजिए—यह पूर्वसे सम्बन्ध है। और, 'सब छोड़कर दिनरात भजन करूँ, अब इस भाँतिसे कृपा कीजिए'—यह परसे सम्बन्ध है। (ख)—'इस भाँति कृपा करो' इस कथनका भाव यह है कि जो आपकी प्रथम मुझपर कृपा हुई थी—'सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब बिधि घटब काज मैं तोरे॥ सुनु सुग्रीव मैं मारिहौं बालिहि०'—वह कृपा अब न कीजिए, उसे अब मैं नहीं चाहता। अब तो इस भाँतिकी कृपा कीजिए कि दिन रात आपका भजन करूँ।

२ (क)☞भजनके संबन्धमें तीन बार वचन कहे। (१) सब परिहरि करिहौं सेवकाई। (२) ये सब रामभगतिके बाधक। और, (३) सब तजि भजन करौं दिनराती। तीनों स्थानोंमें 'सब' पदका प्रयोग किया है। इसमें भाव यह है कि इन विकारोंमेंसे यदि एक भी विकार रह जाय तो वह रामभक्तिमें बाधा करेगा। (ख) ज्ञान और वैराग्य होनेपर भजन माँगते हैं। इससे यह सूचित हुआ कि ज्ञान और वैराग्यका फल भक्ति है—(पं०)। (ग) 'कृपा करहु' से जनाया कि बिना आपकी कृपाके भजन नहीं बनता। ☞सुग्रीवके मतानुसार सभी कामोंकी सिद्धिके लिए रामकृपा ही मुख्य है। यथा—'नाथ कृपा मन भयो अलोला।', 'अब प्रभु कृपा करहु एहिं भाँती। सब तजि भजन करौं०।', यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपा

पाव कोइ कोई।' इत्यादि। (घ) यहाँ निर्वेद है। यथा—'जेहि तेहि विधि संसार सुख देखत उपजै खेद। उदासीनता जगत ते सो कहिए निर्वेद।' इसीसे इन वचनोंको आगे कवि 'विराग संजुत वानी' कहते हैं।

नोट—१ 'अब प्रभु कृपा करहु' से सूचित करते हैं कि मायाका आवरण दूर होनेपर ज्ञानका उदय भी हो जाय तो भी बिना रामकृपाके उसकी स्थिति असंभव है। सुग्रीव 'भजन' (भक्ति) माँगते हैं, ज्ञान विज्ञान मोक्षादि नहीं माँगते; क्योंकि भक्तिसे ये सब स्वतः ही आ जाते हैं, यथा—'भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृतिमूल अविद्या नासा।', 'राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं।....तथा मोच्छसुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई।७।११९।' एवं 'तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना'!

२ 'भजन करउँ दिन राती' इति। अ० रा० में जो प्रार्थना की है—'त्वत्पादपद्मार्पितचित्तवृत्तिस्त्वन्नामसङ्कीतकथासु वाणी। त्वद्भक्तसेवानिरतौ करौ मे त्वदङ्गसङ्गं लभतां मदङ्गम्। १।९१। त्वन्मूर्तिभक्तान् स्वगुरुं च चक्षुः पश्यत्वजस्रं स शृणोतु कर्णः। त्वज्जन्मकर्माणि च पादयुग्मं व्रजत्वजस्रं तव मन्दिराणि।९२। अङ्गानि ते पादरजोविमिश्रतीर्थानि बिभ्रत्वहिशत्रुकेतो। शिरस्त्वदीयं भवपद्मजाद्यैर्जुष्टं पदं राम नमत्वजस्रम्।९३।' 'प्रभो! मेरा चित्त आपके चरणकमलोंमें, वाणी आपके नाम संकीर्तन तथा कथामें और मेरे दोनों हाथ आपके भक्तोंकी सेवामें लगे रहें। मेरा शरीर आपका अङ्गसङ्ग करता रहे। नेत्र आपकी मूर्ति, आपके भक्तों और अपने गुरुका दर्शन, कान निरंतर आपके जन्म कर्म अर्थात् लीलाओंका श्रवण, और पैर आपके मंदिरोंकी यात्रा करते रहें। मेरा शरीर आपके चरणरजसे युक्त तीर्थोदकको धारण करे और मेरा शिर शिवब्रह्मादिसे सेवित आपके चरणोंमें प्रणाम किया करे।'—यही दिनरात भजनका मार्ग है।

वाल्मीकिजीके बताये चौदह स्थानोंमेंसे यही प्रथम चार स्थान हैं—२। १२८(४) से १२९ (५) तक।

३ 'भजन' करनेवालेको क्या करना चाहिए, यह गोस्वामीजीने स्वयं अपने मनको उपदेश करते हुए यों बताया है—'जौ मन भज्यो चहै हरि सुरतरु। तौ तजि विषय बिकार सार भजु अजहूँ ते जो मैं कहौं सोई करु। सम संतोष बिचार बिमल अति सतसंगति ये चारि दृढ़ करि धरु। काम क्रोध अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निसेष करि परिहरु॥ श्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु। नयनन निरखि कृपासमुद्र हरि अग-जग-रूप भूप सीतावरु॥ इहै भगति बैराग्य ज्ञान यह हरितोषन यह सुभ ब्रत आचरु। तुलसिदास सिवमत मारग यहि चलत सदा सपनेहुँ नाहिंन डरु॥ वि० २०५।' 'भजन करउँ दिन राती' कहकर जनाया कि यही सब अब मैं करना चाहता हूँ, आपसे यही वर माँगता हूँ। उपर्युक्त पद्यमें जो कहा है वह सुग्रीवके वचनोंमें चरितार्थ है।—'उपजा ज्ञान' में 'सम संतोष बिचार बिमल अति' चरितार्थ हुआ। स्त्री की कामना न रह गई, वालीपर क्रोध न रह गया, राज्य संपत्तिका लोभ न रह गया, बड़ाईका मद न रह गया, कामादिके न रहनेसे राग द्वेष भी न रह गए। पुनः, 'मन भयउ अलोला' अतः सम संतोष और अत्यन्त विमल विचार उत्पन्न हो गए; 'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥' से लेकर 'मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा।' तक सब अत्यंत विमल विचार हैं और इन्हींमें कामक्रोधादिका त्याग भी करनेकी बात है। पर विनयमें जो कहा है कि 'ए चारि दृढ़ करि धरु' वह अपने वशकी बात नहीं है, अतः प्रार्थना करते हैं कि ऐसी कृपा कर दीजिए कि दृढ़तापूर्वक भजन कर सकूँ। आगे कहा ही है 'यह गुन साधन ते नहि होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई। २१।६।' पुनः यथा 'सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। रामकृपा काहू एक पाई। ७।१२६।८।' कृपा होनेसे अन्य सभी प्रकारसे भजन होने लगेगा।

पुनः, 'दिन राती'=जागते सोते दोनों दशाओंमें, क्योंकि दिन जागनेके लिये और रात्रि विश्रामके लिये है।=निरन्तर।

प० प० प्र०—'दिन राती' इति। दिन जागृतिका समय है और रात्रिमें निद्रा तथा स्वप्न होते हैं। 'दिन राती' कहकर जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें भजन कर सकनेकी शक्तिकी प्रार्थना जनाई।

सुनि बिराग संजुत कपि बानी। बोले बिहँसि राम धनुपानी ॥२२॥
जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई ॥२३॥

अर्थ—कपिकी वैराग्ययुक्त वाणी सुनकर धनुर्धर श्रीरामजी हँसकर बोले।२२। जो कुछ तुमने कहा वही सब सत्य है, (पर) हे सखे! मेरा वचन झूठ न होगा। अर्थात् वालि मारा जायगा और तुमको राज्य और स्त्री मिलेगी।२३।

नोट—१ इन चौपाइयोंसे मिलते हुए श्लोक अ० रा० में ये हैं—'रामः सुग्रीवमालोक्य सस्मितं वाक्यमब्रवीत्।४।२।१। मायां मोहकरीं तस्मिन् वितन्वन् कार्यसिद्धये। सखे त्वदुक्तं यत्तन्मां सत्यमेव न संशयः।२। किन्तु लोका वदिष्यन्ति मामेवं रघुनन्दनः। कृतवान्किं कपीन्द्राय सख्यं कृत्वाग्निसाक्षिकम्।३। इति लोकापवादो मे भविष्यति न संशयः।' अर्थात् सुग्रीवजीकी ओर देखते हुए श्रीरामचन्द्रजी कार्य सिद्ध करनेके लिये उसपर अपनी मोह उत्पन्न करनेवाली मायाका विस्तार करते हुए मुस्कुराकर बोले—'सखे! तुमने जो कुछ मुझसे कहा है सब सत्य है, इसमें संदेह नहीं। किन्तु लोग मेरे सम्बंधमें कहेंगे कि रघुनन्दनने वानरराजसे अग्निको साक्षी बनाकर मित्रता की थी, सो उन्होंने सुग्रीवका कौन कार्य सिद्ध किया? इस प्रकार मेरी लोगोंमें निन्दा होगी, इसमें संदेह नहीं है।

जो इन श्लोकोंमें कहा गया है वही इन चौपाइयोंके तीन चरणोंमें सूक्ष्म रीतिसे कहा है। दोनोंके मिलानसे भाव स्पष्ट हो जाते हैं। अतः हम दोनोंका मिलान यहाँ देते हैं। 'बोले' से 'सुग्रीवमालोक्य वाक्यमब्रवीत्' का अर्थ जना दिया। अर्थात् सुग्रीवकी ओर देखकर ये वचन बोले। 'बिहँसि' में ही 'सस्मितं मायां मोहकरीं तस्मिन्वितन्वन कार्यसिद्धये' का भाव है। अर्थात् कार्य सिद्ध करनेके लिये उसपर अपनी मोह उत्पन्न करनेवाली मायाका विस्तार करते हुए मुस्कुराकर। इसमें हँसनेका कारण भी आगया। 'राम' शब्द दोनोंमें है।

'जो कछु कहेहु' 'त्वदुक्तं यत् मां' (जो कुछ तुमने मुझसे कहा) का अनुवाद है। 'सत्य सब सोई' ही 'सत्यमेव न संशयः' है। 'सोई' में 'जो कुछ कहेहु' और 'न संशयः' दोनोंका भाव है। 'सखा बचन मम मृषा न होई' में 'सखे!', 'किन्तु लोका वदिष्यन्ति····भविष्यति न संशयः' इन श्लोकोंका भाव कहा गया है। भाव कि पहले तो तुम्हारे सचिव एवं दूत हनुमान्‌ने तुम्हारे लिये मुझसे प्रार्थना की कि 'तेहि सन नाथ मयत्री कीजे। दीन जानि तेहि अभय करीजे।४।४।३।', फिर अग्निको साक्षी बनाकर उन्होंने हम दोनोंकी मित्रता कराई। मित्रता हो जानेपर तुमने अपने वनवासका कारण कहते हुए वालिको अपना शत्रु बताया और कहा कि 'रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी। हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी॥ ताकें भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला॥ इहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहउँ मन माहीं।४।६।११-१३।' 'रघुबीर कृपाला' संबोधन देकर तुमने मुझसे दुःख दूर करने और शत्रुको मारनेकी प्रार्थना की। तब मैंने तुम्हारे दुःखसे दुःखी होकर प्रतिज्ञा की कि 'मारिहउँ बालिहि एकहि बान।०।' और मित्रका धर्म कहकर मैंने तुमको वचन दिया था कि 'सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब बिधि घटब काज मैं तोरे।' समस्त लोक जानता है कि मैं सत्यप्रतिज्ञ हूँ। मेरे मुखसे जो वचन निकल गया वह होकर रहेगा, वह असत्य नहीं हो सकता। यद्यपि तुमने जो कहा है वह सत्य है। सुख संपत्ति आदि सब भक्तिके बाधक हैं. संसारमें कोई किसीका शत्रु मित्र स्त्री पुत्र आदि नहीं है, इत्यादि। भगवान्‌का भजन ही सार है—'सत हरि भजन जगत सब सपना'....। तथापि यदि तुम राज्यादिसे उपराम हो जाओगे तो मेरी अपकीर्त्ति होगी। लोग कहेंगे कि श्रीरघुनाथजीने सुग्रीवसे मित्रता की, उसका दुःख दूर करनेकी प्रतिज्ञा की, उन्होंने सुग्रीवका कौन काम किया? कोई भी तो नहीं। अतः मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ सकता। वालि अवश्य मारा जायगा और तुमको तुम्हारी स्त्री और राज्य पुनः प्राप्त होंगे। 'सखा' संबोधनमें यह भी भाव है कि तुम हमारे 'सखा' हो, जिस हेतुसे हमारा तुम्हारा सख्य भाव स्थापित हुआ वह मुझे और तुम्हें दोनोंको कर्तव्य है। क्या तुम

कभी चाहोगे कि मुझे अपयश प्राप्त हो? कदापि नहीं। 'धनु पानी' शब्दकी जोड़का विशेषण अ० रा० में नहीं है। इसके भाव आगे टिप्पणियोंमें आगए हैं।'

टिप्पणी—१ 'सुनि बिराग संजुत....' इति। (क) इस समय सुग्रीवको ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनों प्राप्त हैं। यथा क्रमसे 'उपजा ज्ञान बचन तब बोला', 'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि०' और 'सब तजि भजन करौं दिनु राती'। [पहिले सुग्रीवने लौकिक त्याग कहा। 'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई॥ ये सब रामभगति के बाधक।' यह लौकिक वस्तुओंका त्याग है। फिर चारों मोक्षोंका अन्ततः त्याग किया। 'अब प्रभु कृपा....। सब तजि भजन करउँ....' यह मोक्षों वा परमार्थका त्याग है। अतः वाणीको 'बिराग संजुत' कहा। (मा० म०)। यहाँ 'बिराग संयुत बानी' के साथ 'कपि' शब्द देकर जनाया कि इनका यह वैराग्य स्थिर रहनेवाला नहीं है। कपि चंचल प्रसिद्ध ही है, यथा—'कपि चंचल सब ही बिधि हीना।५।७।७।' अतः इसके वैराग्यकथनका कारण इसका चंचल स्वभाव ही है] (ख) 'बोले बिहँसि'। अपना कार्य सिद्ध करनेके लिए प्रभुने सुग्रीवपर अपनी मायाका विस्तार किया, क्योंकि प्रभुका हँसना माया है, यथा—'माया हास०'। उनका विहँसना था कि सुग्रीव मायामें फँस गए। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनोंमेंसे एक भी न रह गया, सभी जाते रहे। ज्ञान न रहा, यथा—'बिषय मोर हरि लीन्हेउ ज्ञाना।१६।३।' वैराग्य जाता रहा; यथा—'पावा राज कोस पुर नारी। १८।४।' और भक्ति न रही, यथा 'सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी।१८।४।'

नोट—२ पंजाबीजी हँसनेके कारण ये लिखते हैं कि-(१) सुग्रीवकी जातिकी चपलता विचारकर हँसे कि अभी अभी तो वालिको शत्रु कहता था और अब परमहित कहने लगा। वा, (२) यह सोचकर हँसे कि जब हमने वालिवधकी प्रतिज्ञा की तब ज्ञानकी चर्चा करके भ्रातृवधसे अपनेको निर्दोष करना चाहता है। वा, (३) इससे अपनी प्रसन्नता प्रकट की कि सुग्रीवको ज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह ज्ञानकी वार्ता करने लगा है, आगे दृढ़ भी हो जायगा।

प० प० प्र० स्वामीका मत है कि सुग्रीवकी इस प्रार्थनासे श्रीरामजी बड़े असमंजसमें, धर्मसंकट-में पड़ गए, क्योंकि सुग्रीवकी इच्छा पूर्ण करनेसे प्रतिज्ञा भंग होगी और 'रघुकुलरीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई।' और उधर इच्छा पूरी न करनेसे 'दीनबंधु कृपाल रघुराई' इस सुयशका नाश होगा। अतः अपनी योगमायाको प्रेरित करनेके लिये 'बिहँसे'।

नोट—३ 'धनुपानी' विशेषणका भाव कि धनुष इनके हाथमें है, ये पहले इसका कार्य करेंगे, वालिको मारेंगे। जिस लिये धनुषको हाथमें ले चुके हैं वही कार्य प्रथम करेंगे। सुग्रीवने जो प्रार्थना की है वह इस समय न पूरी करेंगे। यद्यपि सुग्रीव अब वालिको परम हित कहता है तथापि वे अपनी प्रतिज्ञा-में अटल हैं, अतएव जो वचन कहेंगे वे इसीके अनुकूल होंगे। (पं० रा० कु०, पं०)।

प० प० प्र०—मिलान कीजिये—'निज माया बल हृदय बखानी। बोले बिहँसि राम मृदु बानी।१।५३।६।' दोनों जगह 'बोले बिहँसि राम' यही तीनों शब्द हैं। पर वहाँ सतीमोह प्रसंगमें 'मृदुबानी' बोले और यहाँ 'धनुपानी' (हाथमें धनुष लिये हुए) बोले। यह भेद करके जनाया कि यहाँ 'कृपा' का (जैसा सुग्रीव चाहते हैं—'अब प्रभु कृपा करहु....') अवसर नहीं है, इस समय धनुषको हाथमें लेनेका ही कार्य करना है।

☞ बिहँसने, हँसने, मुस्कुराने आदिके भाव अनेक बार उदाहरण समेत लिखे जा चुके हैं। 'उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना।१।२११। छंद ३।', 'मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी।१।२१६।७।' इत्यादि देखिए।

गौड़जी—'सुनि बिराग संजुत कपि बानी' इति। सुग्रीवको कच्चा वैराग्य हो गया है, सच्चा वैराग्य नहीं है। उसका मत इतनी जल्दी बदल गया कि वह वालिके मारे जानेकी फिक्रमें अब नहीं है, क्योंकि वह समझता है कि मैं तो अब श्रीरघुनाथजीकी रक्षामें निर्भय विचरूँगा, वालि मेरा कुछ कर न सकेगा, क्योंकि

श्रीरघुनाथजीकी मैत्रीकी मेरे ऊपर छत्रछाया है। वालि अब मेरा वाल भी बाँका नहीं कर सकता ! यह वास्तविक वैराग्य नहीं है वल्कि सुग्रीवके चित्तकी अव्यवस्थाका प्रमाण है। मित्रके इस कच्चे वैराग्यपर भगवान् मुसुकुराये। कपिकी वाणी विरागसंयुत है, उसका मन और कर्म वस्तुतः विरागसंयुत नहीं है। इसलिये आगे चलकर कहते हैं कि तुमने जो कुछ कहा है 'सोई'—(वही, उतनाही)—सब सत्य है (अर्थात् कहनाभर सत्य है, कर्म और मन वैसा नहीं है। अभी तो तुम कहते हो कि वालि परमहित है, परन्तु शरीरपर जब वज्रकी तरह घूँसा लगेगा तब असली बातका पता लगेगा तब यह वैराग्यसंयुत वाणी बदल जायगी और कहोगे कि 'बंधु न होइ मोर यह काला'। परन्तु, हे मित्र ! मेरा वचन भूठा नहीं हो सकता। सुग्रीव आर्त्त और अर्थार्थी भक्त हैं, भगवान्से मैत्री होते ही उसकी पीड़ा मिट गई। इसलिये वह अब भगवान्की प्रतिज्ञा भूल गया और उसे एतमीनान हो गया कि जब मैत्री होगई है तो मेरी तो सारी जरूरतें रफ़ा हो गईं। परन्तु भगवान् अपने बचनको कैसे भूल सकते थे। अगर सुग्रीवमें वालिके परमहित होनेका विश्वास दृढ़ जम गया होता तो पहिले तो वह बालिके सामने आते ही उसके चरणोंपर गिर पड़ता और उसे राजी कर लेता। इसीके विपरीत पहिले ही घूँसेपर परमहितके बदले अपने कभीके स्नेही बन्धुको अपना काल समझने लगा।

भगवान्ने हँसकर सुग्रीवपर अपनी माया नहीं डाली; बल्कि उसकी विरागसंयुत खोखली बातोंपर मुसकुराये और परिणामको थोड़ेसे शब्दोंमें यों कह दिया कि मेरा वचन असत्य न होगा। कच्चा वैराग्य भी भगवान्की माया है जिसमें जगत् फँसा हुआ है और आर्त्त और अर्थार्थी भक्त सुग्रीव भी मैत्री हो जानेपर भी उससे छूटा न था। इसी मायाजालकी चर्चा आगे की गई है कि भगवान् उसी तरह अपनी मायासे सबको नचाते हैं जैसे मदारी बंदरको नचाता है। यहाँ वन्दरोंके ही प्रसंगमें यह दृष्टान्त भी बड़ा सुसंगत और सुन्दर हुआ है।

टिप्पणी—२ 'सत्य सब सोई'। यहाँ 'सोई' शब्दसे नियम करते हैं कि उत्तम बात तो वही है जो तुमने कही अर्थात् वैर छोड़कर शान्त रहना चाहिए पर मेरी जो वालिवधकी प्रतिज्ञा हो गई है वह मिथ्या नहीं हो सकती।

वि० त्रि०—सरकार कहते हैं कि तुमने कहा सो सत्य तो वही है, ज्ञानीको कर्म त्याग करना चाहिये, यथा—'कर्म कि होहिं सरूपहिं चीन्हें। ७।११२।३।' उसे सर्वारम्भ परित्यागी होना चाहिये, परन्तु आरब्ध कर्मका परित्याग कैसे होगा ? क्योंकि इस प्रकारका त्याग भी तो कर्म ही है। मैंने तो प्रतिज्ञा कर दी है, उसे मैं मिथ्या नहीं कर सकता, मैं तो ऐसे अपराधीको विना दण्ड दिये नहीं छोड़ सकता।

नोट—४ 'वचन मम मृषा न होई'। वे वचन ये हैं—'सब विधि घटब काज मैं तोरे' और 'मारिहौं बालिहि एकहि बान' इत्यादि। ये दोनों वचन प्रभु सत्य करेंगे। सुग्रीवको भक्ति भी देंगे क्योंकि कहते हैं कि वही सत्य है। पर भजन तभी हो सकता है जब बाहरके दुष्टोंसे भी छुटकारा मिले। अतः वालिवध अवश्य करेंगे, नहीं तो जैसे रावणके कारण ऋषि तपस्या नहीं कर सकते थे, वैसे ही वालिके कारण सुग्रीवका भजन निवह जाना असंभव था। और अंतमें अपने साथ अपने धामको ले जायँगे, जहाँ दिन-रात दिव्य शरीरसे सेवा कर सकेंगे।

सुन्दरकांड विभीषणशरणागति प्रसंगमें बताया गया है कि शरणागतिके लिये चलते समय जो वासना भक्त लेकर चलता है भगवान् उसकी उस वासनाकी भी पूर्ति अवश्य करते हैं।

श्रीविभीषणजीने स्वयं कहा है 'उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।५।४९।३। अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु।'; वैसे ही यहाँ सुग्रीवजीने प्रथम वालिको रिपु कहा, उसके वध इत्यादिकी प्रार्थना की और प्रभुको पहचाननेपर अब 'सब तजि भजन करौं दिन राती' इस वरकी प्रार्थना करते हैं। प्रभुने प्रथम दोनोंकी पूर्वकी वासनायें पूरी कीं। रावणका वध करके विभीषणजीको एक कल्प तक लंकाका राज्य दिया और वालीका वध करके सुग्रीवको किष्किन्धाका राज्य दिया। पर एक मार्केकी बात

स्मरण रखनेकी है। वह यह कि भगवान्‌ने दोनोंही प्रसंगोंमें यह नहीं कहा कि तुम्हारी वासनाकी मैं पूर्ति करता हूँ। जैसे विभीषणजीसे कहा है कि 'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं' वैसेही यहाँ सुग्रीवजीसे कहते हैं कि 'जो कछु कहेहु सत्य सब सोई'; इस प्रकार दोनोंकी भक्तिकी प्रशंसा करते हुए उनकी वासनायें पूर्ण कीं। विभीषणजीसे तो यह कहा कि हम तुम्हें अपने दर्शनका यह फल देते हैं, 'मम दरसन अमोघ जग माहीं'। और, सुग्रीवजीसे कहा कि 'सखा वचन मम मृषा न होई'। कितना दयालु स्वभाव है !!

नट मरकट † इव सबहि नचावत। रामु खगेस बेद अस गावत ॥२४॥

लै सुग्रीव संग रघुनाथा। चले चाप सायक गहि हाथा ॥२५॥

अर्थ—(भुशुण्डिजी कहते हैं) हे खगेश! वेद ऐसा कहते हैं कि श्रीरामजी नट-मर्कटकी तरह (अर्थात् जैसे मदारी बंदरको नचाता है वैसे ही) सभीको नचाते हैं।२४। सुग्रीवजीको साथ लेकर और हाथोंमें धनुषबाण धारण करके श्रीरघुनाथजी चले।२५।

टिप्पणी—१ 'नट मर्कट इव'। जब श्रीरामजीने सुग्रीवको उत्तर दिया कि 'सखा वचन मम मृषा न होई', तब सुग्रीवने श्रीरामजीकी इच्छाके अनुकूल ही काम किया अर्थात् वालिसे लड़नेके लिए तुरंत किष्किंधाके उपवनमें गए। इसीपर भुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं कि सुग्रीव ही क्या, सारा संसार श्रीरामजीकी इच्छाके अनुसार काम करता है।

नोट—१ जैसे मदारी बंदरको जैसा चाहे नाच नचाता है, वैसेही श्रीरामजी जीवोंको जैसा चाहते हैं नचाते हैं, जैसा कार्य उससे चाहते हैं करा लेते हैं। जैसे वानर नटके अधीन, वैसेही जीव ईश्वरके अधीन है। ईश्वर स्वतंत्र है, जीव परतंत्र। जीवका कुछ वश नहीं। उसे विवश होकर सब करना पड़ता है। यह नटमर्कटके दृष्टान्तका भाव है। मिलान कीजिए—'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई।१।१२८।१', 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा।१।५२।७', 'राम रजाइ सीस सबही के। २।२५४।८', 'उर प्रेरक रघुवंस विभूषन ॥ कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेमपरिच्छा मोरी।७। ११३', 'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं', इत्यादि। विशेष देखिए ११ (७)। गीतामें भी कहा है 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' (१८।६१)। अर्थात् हे अर्जुन। ईश्वर सभी जीवोंके हृदयरूपी देशमें स्थित है और मायारूपी यंत्रपर चढ़े हुए सब प्राणियोंको घुमाता है। २—नट शब्द प्रथम देकर नटकी प्रधानता कही, वैसे ही यहाँ श्रीरामजी प्रधान हैं। ३—यहाँ 'नचावत' के साथ 'राम' पद सार्थक है। रमु क्रीड़ायाम्। अर्थात् वे राम हैं, अतएव क्रीड़ा करना उनका यथार्थ ही है; वही वे कर रहे हैं। नचाना क्रीड़ा है। (पं० रा० कु०)।

वि० त्रि०—जिस बातको अर्जुन बड़ी कठिनतासे समझ पाये; उसे सुग्रीवने तुरन्त समझ लिया। इसपर कवि कहते हैं कि इसमें सुग्रीवकी बुद्धिकी कुशाग्रताकी प्रशंसा नहीं है, कपिके नृत्यमें उसके नृत्य कौशलकी प्रशंसा नहीं है, उसकी गति नटके अधीन है। यथा—'कपि नाचत सुक पाठ प्रवीना। गति मति नट पाठक आधीना।' प्रभुकी प्रेरणा ही ऐसी थी कि बात तुरन्त सुग्रीवके समझमें आ गई। 'ईश्वरः सर्व भूतानां....'। सरकार उठ पड़े, सुग्रीव साथ चले।

टिप्पणी—२ 'लै सुग्रीव संग', इससे रघुनाथजीकी प्रधानता पाई गई कि वालिके मारनेमें उनका मुख्य प्रयोजन है; उनको अपना वचन सत्य करना है। यदि चलनेमें रघुनाथजीकी प्रधानता न होती तो ऐसा कहते कि रघुनाथजीको संग लेकर सुग्रीव चले।

गौड़जी—यहाँ इस चरितसे यह भी दरसाया कि मित्रके कामके लिये स्वयं अगुवा होकर चलना चाहिए। मित्रके तकाजेकी इन्तजारी करना सन्मित्रका काम नहीं है। उसका काम तो अपने कामसे बढ़कर

† मर्कट—(का०)

और ज्यादा जरूरी समझना चाहिये। मर्यादापुरुषोत्तम हैं। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते।' अपने प्रत्येक चरितसे आचरणका उपदेश देते हैं।

पं०—(१) 'रघुनाथा' का भाव कि रघुवंशीमात्र शरणपाल और सत्यसंध होते हैं—'प्रान जाहु बरु बचन न जाहीं'—और ये तो रघुवंशियोंके नाथ हैं तब इनका, साथ जाकर शरणकी, रक्षा करना उचितही है। (२) यहाँ लक्ष्मणजीको साथ लेना न कहा क्योंकि एक बाणसे मारनेकी प्रतिज्ञा है। वही बाण और धनुष लेकर चले।

मा०त०प्र०—प्रायः तर्कश कसकर जहाँतहाँ लड़ाईमें जाना कहा गया है पर यहाँ तर्कशका लेना नहीं कहा गया। कारण यह कि जिस बाणसे मारना है वही हाथमें लेलिया है, शेष शस्त्र लक्ष्मणजीके पास रहे।

नोट—२ खरदूषण-प्रसंगमें 'कटि कसि निषंग विसाल भुज गहि चाप विसिप सुधारि कै।३।१८।' और 'कटि पटपीत कसे बरभाथा। रुचिर चाप सायक दुहु हाथा।१।२०९।५२।' (विश्वामित्रके साथ ताड़का-वध-प्रसंगमें) तरकश है। पर मारीचवधप्रसंगमें भी तर्कशका बाँधना नहीं कहा है, यथा—'मृग बिलोकि कटि परिकर बाँधा। करतल चाप रुचिर सर साँधा'। इसके संबंधमें मा० त० प्र० कार संभवतः यह उत्तर देते हैं कि यहाँ आखेट है संग्रम नहीं, इससे यह प्रमाण नहीं माना जा सकता। दूसरे, 'कटि परिकर बाँधा' से कटिमें तर्कशका बाँधना ले सकते हैं। तीसरे वहाँ भी एक ही बाणसे काम लिया है इससे वहाँ भी तर्कश न लिया। यथा—'तब तकि राम कठिन सर मारा'। वही कठिन सर हाथमें लेकर पीछा किया। और भी प्रसंग मिलते हैं जहाँ तर्कशका कसना नहीं कहा है। जैसे—'लछिमन चले क्रुद्ध होइ बान सरासन हाथ।६।५१।' यहाँ भी मेघनादसे लड़नेको जाते समय केवल बाण और धनुष हाथमें लिए जाना कहते हैं, यद्यपि यहाँ बारंबार बाणोंका प्रहार किया गया है—'नाना विधि प्रहार कर सेषा।....'। हाँ, दूसरी बार जब मेघनादसे युद्ध करने गए तब 'कटि निषंग कसि साजि सरासन।६।७४।११।' पद दिया है। इससे यह भी कहा जा सकता है कि 'तर्कश' भी साथ रहना संभव है; क्योंकि वालिवधपर भी 'सर चाप चढ़ाये' बालिके पास प्रभु गए हैं; यह दूसरा सर कहाँ से आया?

**तब रघुपति सुग्रीव पठावा। गर्जेसि जाइ निकट बल पावा ॥२६॥**
**सुनत बालि क्रोधातुर धावा। गहि कर चरन नारि समुझावा ॥२७॥**

अर्थ—तब श्रीरघुनाथजीने सुग्रीवको भेजा। वह बल पाकर पास जाकर गर्जा।२६। वालि सुनते ही क्रोधमें भरकर तुरत दौड़ा। उसकी स्त्री (तारा) ने हाथसे चरण पकड़कर समझाया।२७।

वि०त्रि०—'तब रघुपति सुग्रीव....' इति। 'असाधना वित्तहीना बुद्धिमंतः सुहृत्तमाः। साधयन्त्याशु कार्य्याणि'। 'साधन-विहीन, धनविहीन, परन्तु बुद्धिमान् सच्चे मित्र कार्य्यका साधन करही डालते हैं' ऐसा नीति शास्त्रने कहा है। कहना नहीं होगा कि इस परिस्थितिमें सरकार तथा सुग्रीव दोनोंही साधन-विहीन तथा वित्त-विहीन हैं, और कार्य्य इतना कठिन है कि अपने नगर तथा दुर्गमें बैठे हुए वाली ऐसे योद्धाको दण्ड देना, तथा किष्किन्धाका राज्य, ज्योंका त्यों तथा उनकी स्त्री रूमाको सुग्रीवके हस्तगत करा देना है।

सीधे सीधे संग्राम प्रारम्भ करदेनेसे, सुग्रीवको उजड़ी हुई किष्किन्धा मिलेगी, बड़े-बड़े वानर वीर मारे जायँगे, जिनसे बहुत कुछ काम लेना है। पिताके वचनसे नगरमें सरकारका पादार्पण हो नहीं सकता। वाली यदि किष्किन्धाके बाहर आवे तभी दण्डपात संभव है, अतः सुग्रीवको भेजा कि वह जाकर ललकारे। जिसका पीछा करता हुआ वाली सम्पूर्ण भुवनमें फिरा, और जिसे मारनेके लिये वह सदा सचेष्ट रहता है, उसे हाथमें आया हुआ जानकर वह तुरन्त स्वयं पुरके बाहर चला आवेगा।

टिप्पणी १—'तब रघुपति सुग्रीव पठावा।०' इति। (क) 'तब' अर्थात् जब पहाड़से उतरकर किष्किन्धाके पास आए तब। [श्रीमहाराजजी साथ क्यों न गए? यदि साथ जाते तो संभव था कि वालिके

अतिरिक्त अन्य योद्धा भी उसके साथ जाते। ऐसा होनेमें रामजीके लिए कोई कठिनता न होती। परन्तु सुग्रीव ऐसे युद्धमें युद्धप्रवर्तक न समझे जाते। महाराजके साथ न जानेसे सुग्रीवका प्रभाव लोगोंपर पड़ा कि उसने स्वेच्छासे वालिको घेरकर युद्ध माँगा। ऐसा करनेसे सुग्रीव योद्धाओंके बीच आदर दृष्टिसे देखे गए। (पं० शिवरत्नशुक्ल) ] (ख) 'गर्जेसि जाइ निकट' इति। निकट जाकर तब गर्जा, क्योंकि किष्किंधा नगर भारी है, दूरसे वालि तक शब्द न पहुँचता, पाससे गर्जन करनेसे शब्द वालिके महलतक पहुँचेगा और वह सुनकर लड़नेके लिए सुग्रीवके पास आवेगा। (ग) 'बल पावा' से सूचित करते हैं कि इस लड़ाईमें वालि सुग्रीवको मारेगा, क्योंकि सुग्रीवने रामजीसे बल पाया है और वालिमें महाबल है, यथा—'बालि महाबल अति रनधीरा'। दूसरी लड़ाईमें सुग्रीवको विशाल बल देंगे तब नाना विधिकी लड़ाई होगी, यथा—'पुनि पठवा बल देइ बिसाला' और 'पुनि नाना बिधि भई लराई।'

मा० त० प्र०—'बल-पावा' अर्थात् वचन बल पाकर, यथा—'मारिहौं बालिहि एकहि बान' और 'सखा बचन मम मृषा न होई'; वा, प्रभुके निकट होनेका बल पाकर। सुग्रीवने इतनी दूरपर जाकर पुकारा कि जहाँसे प्रभु निकट ही हों।

टिप्पणी—२ (क) 'सुनत बालि धावा' क्योंकि वह शत्रुके बलको नहीं सह सकता, यथा—'बाली रिपुबल सहै न पारा।', अतएव सुग्रीवकी ललकार सुनकर दौड़ा। (ख) 'क्रोधातुर' है। क्रोधमें समझ नहीं रहती, इसीसे स्त्री समझाने लगी।‡

[ताराने पूर्व ही क्यों न वालिसे यह कह दिया? अनुमानसे मालूम होता है कि वह वालि और सुग्रीवके बीचमें युद्ध नहीं चाहती थी। जब उसने देखा कि अब ये युद्ध करने ही जाता है तब मैत्रीका समाचार दिया और अवतार और बल भी बताया। पुनः, अनुमान होता है कि जिन लोगोंने मित्रताका हाल जाना था उनने वालिके उग्र प्रतापके भीतर ही अपनी बुद्धिको रक्खा और इस विचारको ध्यानमें न लानेकी भूल की कि ऐसे दैवी-विभूति-संपन्न व्यक्तिके साथ नरबलसंपन्न वालि कैसे विजय पा सकता है। दूसरी ओर यह अनुमान हो सकता है कि वालि इस विचारका वीर था कि वह शत्रुके भावों और चालोंका पता लगाना और छलसे शत्रुको पराजय करना तुच्छ बलवानोंका काम समझता था। इसीलिए वह सुग्रीवके मित्र-शत्रुकी ओर कम ध्यान देता था। तारा वालिके स्वभावसे परिचित थी उसने सुग्रीवके भेदभावोंको प्रकट करना निरर्थक समझा क्योंकि वालि उसपर किंचित् ध्यान न देता। तो भी जब जान लिया कि यह होनेको ही है तब सब वृत्तान्त कह दिया। (शि० र० शु०)]

नोट—१ यहाँ ताराका प्रथम ही बार समझाना कहते हैं और वाल्मीकीयमें दूसरी बार युद्धके लिए जाते समय समझाना लिखा है। ताराको कैसे मालूम हुआ यह स० १५ में दिया है। वह कहती है कि—'जिस कारण मैं तुम्हें रोकती हूँ वह सुनो।....अहंकार, उसका घोर युद्धके लिए उद्योग, और उसके गर्जनमें भयानकता इन सबका कोई बड़ा कारण अवश्य है। विना किसीके सहायताके वह यहाँ आकर न गरजता। वह स्वभावसे ही निपुण और बुद्धिमान है, विना बलकी परीक्षा लिए उसने किसीसे मित्रता न की होगी। कुमार अंगदसे मैंने पहिले ही यह बात सुनी है। वह एक दिन वनमें गया था। वहीं दूतोंने उससे यह बात कही थी। अयोध्यापतिके दो पुत्र जो दुर्जय हैं, वे सुग्रीवका हित करने वनमें आए हैं, वे ही रामलक्ष्मण

‡ मा० त० प्र०—'गहि कर चरन' का भाव कि—(क) पहले 'कर' (हाथ) पकड़कर समझाया, न माना तब चरण पकड़कर समझाया। स्त्रियोंका हाथ पकड़कर समझाना स्वभावसिद्ध है, यथा—'कर गहि पतिहि भवन निज आनी। बोली परम मनोहर बानी।६।६।३।' वा, (ख) हाथ पकड़कर समझानेमें यह भाव है कि वालि क्रोधान्ध है और अंधेको हाथ पकड़कर समझाना होता है। वा, (ग) हाथ पकड़ा कि वह खड़ा हो जाय तब मैं समझाऊँ।

सुग्रीवके सहायक हैं। रामचन्द्र शत्रुसेनाके विनाशमें प्रलयाग्निके समान हैं, संतों और आर्त वा शरणागतके आश्रयस्थान हैं, अजेय हैं, इत्यादि,—(श्लोक ९ से २२ तक)।

२—किसी किसीका मत है कि तारा पंचकन्यामेंसे एक है अतः उसे दिव्य ज्ञान है इससे वह जान गई।

**सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवाँ। ते दोउ † बंधु तेज बल सीवाँ ॥२८॥**
**कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा ॥२९॥**

अर्थ—हे पति! सुनिए, जिनसे सुग्रीव मिले हैं (मित्रता की है) वे दोनों भाई तेज और बल-की सीमा हैं। अर्थात् परम तेजस्वी और बलिष्ठ हैं।२८। वे कोसलपति दशरथजीके पुत्र राम और लक्ष्मण हैं जो संग्राममें कालको भी जीत सकते हैं।२९।

टिप्पणी—१ (क) 'सुनु पति'। आप मेरे पति अर्थात् रक्षक हैं—'पु' 'रक्षणे', 'प' धातु रक्षाके अर्थमें है। तात्पर्य कि सुग्रीवसे वैर छोड़कर मेरी और अंगदकी, राज्यकी और कुलकी, इत्यादि, सबकी रक्षा कीजिए। यथा—'पाहि मामङ्गदं राज्यं कुलं च हरिपुङ्गव' अर्थात् हे वानरश्रेष्ठ! मेरी, अंगदकी, राज्यकी और कुलकी रक्षा कीजिए। (अध्यात्म ४।२।३२)। यह भी कहा है कि सुग्रीवसे वैर छोड़कर उसे युवराज बनाइये और श्रीरामजीकी शरण जाइए। 'अतस्त्वं सर्वथा वैरं त्यक्त्वा सुग्रीवमानय। यौवराज्येऽभिषिच्याशु रामं त्वं शरणं व्रज।३१।' (ख) 'तेज बल सीवाँ' इति। तेजकी सीमा अर्थात् तेजस्वी कहकर जनाया कि तेजस्वीको लघु न गिनना चाहिए, यथा—'तेजवंत लघु गनिय न रानी।' तात्पर्य कि ये देखनेहीमें छोटे हैं; परन्तु उन्हें छोटा न जानो। जहाँ तेज है वहाँ बल है; अतः बलके सीवँ हैं। यथा—'सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ। जानकी मंगल।३६।'

२ (क) 'कोसलेस सुत' से सूचित किया कि श्रीरामलक्ष्मण साक्षात् भगवान्‌के अवतार हैं। कोसलेशके यहाँ भगवान्‌ने अवतार लेनेको कहा है, यथा—'ते दसरथ कौसल्यारूपा। कोसलपुरी प्रगट नरभूपा। तिन्हके गृह अवतरिहौं जाई। रघुकुलतिलक सो चारिउ भाई।१।१८७।' (ख) यहाँ प्रथम लक्ष्मणजीका नाम दिया तब रामजीका। मुख्य कारण छन्दकी सुगमता है। पुनः, संग्राममें आगे सेवक चाहिये पीछे स्वामी; इसीसे ('कालहु जीति सकहिं संग्रामा' कहनेमें) पहिले लक्ष्मणजीका नाम कहते हैं। (ग) 'कालहु जीति०' इति। 'कालहु' कहकर कालकी बड़ाई करती है कि काल सबको जीतता है और उस कालको ये दोनों जीत सकते हैं, यथा—'भुवनेश्वर कालहु कर काला', 'तुम्ह कृतांत भच्छक सुरत्राता'। 'संग्रामा' का भाव कि योगी योगसे कालको जीतते हैं, रामलक्ष्मण संग्राममें उसे जीत सकते हैं; तब तुम उनके सामने क्या हो?

नोट—१ वाल्मी० ४।१५ में जो 'अयोध्याधिपतेः पुत्रौ शूरौ समरदुर्जयौ।....रामः परबलामर्दी युगान्ताग्निरिवोत्थितः। १७, १९।', यह कहा है, वही यहाँ 'तेज बल सीवाँ' और 'कालहु जीति सकहिं संग्रामा' से कहा है। श्रीरामजीने परशुरामजीसे कहा ही है—'जौं रन हमहिं पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ॥....कहौं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी।१।२८४।' और आगे भी कहा है—'एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं। कालहु जीति निमिष महँ आनौं।१८।२।', 'क्षमो हि ते कोशलराजसूनुना न विग्रहः शक्रसमान तेजसा।४।१५।२०।'

**दोहा—कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।**
**जौं कदाचि मोहि मारहिं* तौ पुनि होउँ सनाथ ॥७॥**

---

† दोउ—(का०), द्वौ—(भा० दा०)।
* भा० दा० और का० का यही पाठ है। 'मारिहैं तौ पुनि होव' पाठांतर है।

अर्थ—वालिने कहा—हे भयशीले (स्वभावसे डरपोक)! हे प्रिये! श्रीरघुनाथजी समदर्शी हैं। जो कदाचित् वे मुझे मारेंगे तो मैं सनाथ हो जाऊँगा।७।*

नोट—१ मिलान कीजिये—'तामालिङ्गय तदा वाली सस्नेहमिदमब्रवीत्।अ० रा० २।३३। स्त्री-स्वभावाद्बिभेषि त्वं प्रिये नास्ति भयं मम।....३४। रामो नारायणः साक्षादवतीर्णोऽखिलप्रभुः।३५। भूभारहरणार्थाय श्रुतं पूर्वं मयानघे। स्वपक्षः परपक्षो वा नास्ति तस्य परात्मनः।३६। तस्माच्छोकं परित्यज्य तिष्ठ सुन्दरि वेश्मनि।४०।' अर्थात् तब वालीने उसका प्रेमपूर्वक आलिंगनकर यह कहा। प्रिये! तुम अपने स्त्री-स्वभावके कारण डरती हो, मुझे तो किंचित् भी भय नहीं है। राम तो सबके स्वामी साक्षात् नारायण हैं जिनने भूभारहरणके लिये अवतार लिया है, यह मैं पूर्व ही सुन चुका हूँ। वे परमात्मा हैं। उनका कोई अपना वा पराया पक्ष नहीं है। अतएव, हे सुन्दरि! तुम शोक छोड़कर निश्चिन्त होकर घर बैठो—यह सब दोहेके पूर्वार्धसे यहाँ कविने कह दिया है। 'भीरु' में 'स्त्रीस्वभावात् बिभेषि त्वं' तथा 'नास्ति भयं मम' का सब भाव आ गया। 'प्रिय' संबोधन दोनोंमें है। साथ ही इन दोनों विशेषणोंको देकर यह भी जना दिया कि डरी हुई देखकर 'तमालिङ्गय' उसको हृदयसे लगा लिया और प्यार करके 'प्रिय' स्नेहमय संबोधन देकर उससे बोला। 'समदरसी' और 'रघुनाथ' इन दो शब्दोंसे 'रामो नारायणः' से 'परात्मनः' तकका सब अर्थ कह दिया गया। 'रघुनाथ' शब्दसे जनाया कि उन्हींने ब्रह्मादिकी प्रार्थनापर रघुकुलमें भूभारहरणार्थ अवतार लेनेको कहा था। यथा—'तिन्ह के गृह अवतरिहौं जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई। हरिहौं सकल भूमि गरुआई। १।१८७।' वे समदर्शी हैं, यथा—'अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया।७।८७।७।', 'सब मम प्रिय सब मम उपजाए।७।८६।' इसीको अ० रा० में 'स्वपक्षः परपक्षो वा नास्ति तस्य' कहा है। दोहेके उत्तरार्धका जोड़ अ० रा० में नहीं है।

'जौं कदाचि' में भाव यह है कि 'वे धर्मज्ञ हैं, कृतज्ञ हैं, क्योंकि रघुनाथ हैं, रघुकुलके सभी राजकुमार धर्मात्मा होते हैं, मैंने उनका कोई अपकार नहीं किया, अतः वे मुझे मारनेका पाप क्यों करेंगे? यथा 'धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च कथं पापं करिष्यति'। वाल्मी० ४।१६।५।' पुनः समदर्शी हैं, उनके लिये जैसे सुग्रीव वैसा ही मैं, अतः वे मुझे क्यों मारने लगे? पुनः 'जौं कदाचि' में अ० रा० के बालिके ये भी भाव आ जाते हैं कि यदि वे सुग्रीवके साथ आये होंगे तो मेरा उनमें प्रेम हो जायगा, मैं उनको प्रणाम करके घर ले आऊँगा। यथा 'रामो यदि समायातो लक्ष्मणेन समं प्रभुः।२।३४। तदा रामेण मे स्नेहो भविष्यति न संशयः।....३५। आनेष्यामि गृहं साध्वि नत्वा तच्चरणाम्बुजम्।३७।', तब वे मुझे क्यों मारेंगे?

'तौ पुनि होउँ सनाथ' इति। इस वचनसे सिद्ध होता है कि वह जानता है कि इनके हाथसे मारे जानेपर सद्गति प्राप्त होती है, अथवा मेरी मृत्यु इनके हाथ होगी और मैं परमपदको प्राप्त हूँगा। यह बात वालिके 'शक्यं दिवं चार्जयितुं वसुधां चापि शासितुम्। त्वत्तोऽहं वधमाकाङ्क्षन्वार्यमाणोऽपि तारया। वाल्मी० ४।१८।५७। सुग्रीवेण सह भ्रात्रा द्वन्द्वयुद्धमुपागतः।५८।' (अर्थात् आपकी अनुकूलतासे स्वर्ग और पृथ्वीका राज्य प्राप्त हो सकता है। आपके द्वारा अपने वधकी इच्छासे ही तारा द्वारा रोके जानेपर भी मैं सुग्रीवसे युद्ध करनेके लिया आया), इन वचनोंमें ध्वनित है। और उसका मनोरथ सफल भी हुआ। यथा—'राम बालि निज धाम पठावा।४।११।१।'

---

* दीनजी 'तौ पुनि होव सनाथ' का अर्थ करते हैं कि 'तो तू पुनः पतियुक्त हो जायगी। (अर्थात् तुझे तो यही डर है कि यदि मैं मारा गया तो तू विधवा हो जायगी; पर तू पंचकन्यामेंसे है अतएव मेरे मर जाने पर भी तू विवाह करके सधवाही रहेगी। तू शोक मत कर।' और कहते हैं कि यदि ऐसा अर्थ न करें तो 'पुनि' शब्द व्यर्थ हो जाता है। नोट—पूर्व बताया जा चुका है कि बुँदेलखण्डमें 'पुनि' शब्द साधारण ही बिना अर्थके बोला जाता है। तौ पुनि = तौ, यथा—'मैं पुनि पुत्र बधू प्रिय पाई।'

टिप्पणी—१ ताराके हृदयमें डर है, इसीसे उसे 'भीरु' कहा। और, उसकी खातिरी प्रसन्नता और आश्वासन के लिए 'प्रिय' सम्बोधन किया। २—'जौं कदाचि' का भाव कि प्रथम तो वे मुझे मारेंगे ही नहीं और यदि कदाचित् वे मारें क्योंकि वे अपने भक्तोंके वास्ते विषमदर्शी भी हो जाते हैं, यथा—'जद्यपि सम नहि राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥ तदपि करहिं सम विषम विहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा।२।२१६।३-५।', तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।

नोट—२ 'तौ पुनि होउँ सनाथ' अर्थात् कपियोनिसे छूटकर परमगतिको पाऊँगा।

३—ताराने समझाया पर इसने न माना; क्योंकि एक तो वह क्रोधावेशमें है, दूसरे उसे बलका गर्व है—'क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा', 'अस कहि चला महाअभिमानी'। अभिमान है, अतः मृत्यु निकट जान पड़ती है।

४—जैसे यहाँ महा अभिमानी वालिने स्त्रीके उपदेशपर उसे 'भीरु प्रिय' कहा है वैसे ही 'जगत विदित अभिमानी' रावणने मंदोदरीके हित वचन सुनकर उससे कहा है 'सभय सुभाउ नारि कर साचा। मंगल महुँ भय मन अति काचा॥ कंपहि लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा॥' और 'अस कहि बिहँसि ताहि उर लाई।५।३७।' दूसरी बार समझानेपर भी जब रावणने न माना तब मन्दोदरीके विचार कविने इस प्रकार दिये हैं—'मंदोदरी हृदय अस जाना। काल बस्य उपजा अभिमाना।६।८।६।' अर्थात् अभिमान उत्पन्न होनेसे ज्ञात होता है कि काल आ गया। वाल्मीकिजी भी लिखते हैं—'तदाहि तारा हितमेव वाक्यं तं बालिनं पथ्यमिदं बभाषे। न रोचते तद्वचनं हि तस्य कालाभिपन्नस्य विनाशकाले।४।१५।३१।' अर्थात् ताराने ये हितकारी वचन बालिसे कहे, पर उसे वे अच्छे न लगे। क्योंकि उसका विनाशकाल उपस्थित था। उसपर मृत्युकी छाया पड़ चुकी थी।—यह भाव आगे 'अस कहि चला महा अभिमानी' कहकर कविने यहाँ हित वचन न माननेपर जना दिये। प्रहस्तने रावणसे यही कहा है। यथा—'हित मत तोहि न लागत कैसे। काल बिबस कहँ भेषज जैसे।६।१०।५।'

शि० र० शु०—जिन जीवोंमें किसी कारणवश किसी अलौकिक शक्तिका प्रादुर्भाव होता है तो उनमें ऐसी आश्चर्य्यमयी शक्ति बुद्धि अथवा विद्याकी पूर्ण सिद्धता होती है कि उनके सम्मुख संसारमण्डलमें कोई खड़ा नहीं हो सकता; जितनी बलशक्ति संसारमें रहती है वह अधिकांशरूपमें उस व्यक्ति विशेषमें एकत्र हो जाती है। जैसे न बहनेवाले पानीमें काई और मलिनता उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार सकल संसारमें घूमनेवाली शक्ति किसी एक विशेष शरीरमें स्थित हो जाती है तो स्थान विशेष उसमें भी विकार उत्पन्न कर देता है, जिससे संसारके कामोंमें अड़चन पड़ने लगती है तब इसकी आवश्यकता होती है कि वह एकत्रित शक्ति पूर्वकी भाँति छितर जावे।....संभव है कि बालिकी अति बलवानताने संसारके नियमोंमें विघ्न पहुँचाया हो, इसलिए बालिकी उस एकत्रित शक्तिको जिसे सारे संसारमें कार्य करना चाहिए, छितरा देना अनिवार्य था। अस्तु जगत्पतिने ऐसा करना उस समय उचित समझा था। जब किसीमें बलकी शक्ति 'अमितता' के निकट पहुँचती है तब उसी रूपसे गर्व, मदान्धता, अनुचित क्रोध, तथा अनुचित विलासपन आ जाता है। संसारमें मनुष्य शरीरबलके अधीन रखे जाते हैं। वालि ऐसे बलवानके अवलंबित मार्गपर आगे चलकर जनता चलनेको बद्ध थी। जब ऐसा होता तब कामक्रोधादिकी इतनी विशेषता हो जाती कि शान्ति, शम, मर्यादा आदि उत्तम गुणोंका नाम तक न रह जाता, और ऐसा होनेसे संसार अस्तव्यस्तताको प्राप्त होता। अतः जब ऐसे अलौकिक व्यक्ति विशेषसे अलौकिक एकत्रित शक्ति संपूर्ण जगत्में छितरानेके लिए निकाली जाती है, तब उसीके साथ बुराइयाँ भी, जो अपनी उच्चताको पहुँच चुकी हैं, साथ ही घसीट ली जाती हैं। जब उस व्यक्तिसे बुराइयाँ भी अलग हो गईं तब वह निर्मल हो जाता है। अस्तु, इसी आधारपर वालि कहता है कि यदि मुझे वे मार डालेंगे तो मैं निर्मल होकर उनके समान हो जाऊँगा, वालिने श्रीरामचन्द्रको नीच तथा

शत्रुदृष्टिसे न देख बहुत बड़ी ऊँची और पूज्य दृष्टिसे देखा था।—(नोट—सहस्रार्जुनका उदाहरण इस विषयमें लिया जा सकता है।)

अस कहि चला महा अभिमानी। तृन-समान सुग्रीवहि जानी॥ १॥
भिरे उभौ बाली अति तर्जा। मुठिका मारि महाधुनि गर्जा॥ २॥

अर्थ—महा अभिमानी वालि ऐसा कहकर और सुग्रीवको तिनकेके समान समझकर चला।१। दोनों भिड़गए (लड़ गए)। वालिने बहुत डाँटडपट और तिरस्कार करते हुए सुग्रीवको धमकाया। और घूँसा मारकर बड़े जोरसे गर्जा।२।

वि० त्रि०—अभिमानी नीति पालनमें सर्वथा असमर्थ होते हैं। वालिको समझना था कि सुग्रीवको इतना साहस कैसे हुआ कि स्वयं आकर गर्जन कर रहा है। तारा समझाती है कि 'सुनु पति जिन्हहिं मिलेउ सुग्रीवा। ते दोउ बंधु तेज बल सींवा। कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीत सकहिं संग्रामा।' इसपर कहता है कि मारेंगे तो मर जाऊँगा, पर सुग्रीवको तो ले बढ़ूँगा। सरकारपर विश्वास रखते हुए भी, उनके आश्रितको, उनकी आँखोंके सामने मार डालनेका दुःसाहस महा अभिमान है।

'रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि' यह नीति है। सरकारके भुजबलसे रक्षित शत्रुको तृण समझना, नीतिकी बड़ी भारी अवहेलना है।

टिप्पणी—१ (क) 'अस कहि चला' इति। तात्पर्य कि वालिको मृत्यु अङ्गीकार है, पर शत्रुकी ललकार अंगीकार नहीं है। पहले कहा है कि 'सुनत बालि क्रोधातुर धावा' और यहाँ कहते हैं कि 'अस कहि चला'। अब 'चला' कहनेका भाव यह है कि पहिले जब क्रोधसे दौड़ा था तब ताराने चरण पकड़कर विनती की। स्त्रीके समझानेसे क्रोधका वेग निकल गया अतएव अब दौड़ा नहीं, वरन् चला। वैसा ही कविने लिखा। (ख)—'महाअभिमानी' का सम्बंध पूर्व और पर दोनों चौपाइयोंसे है। पूर्व नारिका सिखावन है, उसे उसने नहीं माना, इसीसे कहा कि वह महाअभिमानी है—यही बात श्रीरामजी वालिसे आगे कहेंगे, यथा—'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना।' पुनः, इस चौपाईमें कहते हैं कि उसने सुग्रीवको तृणसमान जाना, इसीसे कहा कि वह महाअभिमानी है—इस बातको भी श्रीरामजी आगे कहेंगे, यथा—'मम भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी'। तृणसमान जानकर चलनेसे 'अभिमानी' और रामाश्रित सुग्रीवको तृणसमान माननेसे 'महा अभिमानी' कहा। (मा० म०, प्र०)

२ (क) 'भिरे उभौ' का भाव कि श्रीरामजीके बलसे सुग्रीवने वालिका भय नहीं माना (जैसे विभीषणजी श्रीरामजीका बल पाकर रावणसे लड़े थे, यथा—'उमा बिभीषण रावनहिं सनमुख चितव किं काउ। सो अब भिरत काल ज्यों श्रीरघुबीर प्रभाउ।६।६३।'; नहीं तो कहाँ सुग्रीव कहाँ वालि, कहाँ विभीषण और कहाँ रावण।) वालि लड़ा, सुग्रीव भी लड़ा, सुग्रीव तर्जा वालि अति तर्जा। सुग्रीव गर्जा था, यथा—'गर्जेसि जाइ निकट बल पावा', वालि महाध्वनिसे गर्जा। वालि सुग्रीवको मारकर गर्जा—यह वालिकी जीत हुई, जैसे हनुमान्‌जी अक्षकुमारको मारकर गर्जे थे, यथा—'आवत देखि बिटप गहि तर्जा। ताहि निपाति महाधुनि गर्जा'।*

तब सुग्रीव बिकल होइ भागा। मुष्टिप्रहार बज्र सम लागा॥ ३॥
मैं जो कहा रघुबीर कृपाला। बंधु न होइ मोर यह काला॥ ४॥

अर्थ—तब सुग्रीव व्याकुल होकर भागे। घूँसेकी चोट उन्हें बज्रके समान लगी। (वे आकर

* संभव है कि ऐसे गर्जनसे वालिने गर्वके साथ सुग्रीव तथा उनके सहायकोंको यह जनाया कि हमारा बल सामर्थ्य साधारण नहीं है। अर्थात् गर्जनद्वारा सुग्रीव और उसके सहायकका तिरस्कार किया।—(शि० र०)।

श्रीरघुनाथजीसे बोले) हे कृपालु! हे रघुवीर! मैंने जो आपसे कहा था कि यह मेरा भाई नहीं है, यह मेरा काल है, (वह सत्य है) ।३-४।

टिप्पणी १—'मुष्टिप्रहार वज्रसम लागा' इति। वज्र पड़नेका रूपक कहते हैं—

| आकाश | यहाँ |
|---|---|
| वज्रपात होता है | वालिने मुष्टि प्रहार किया |
| वज्रपातके पीछे गर्जन होती है | मुष्टिप्रहार करके वालि गर्जा |
| वज्रपातसे लोग व्याकुल होते हैं | सुग्रीव व्याकुल होकर भागे |
| इन्द्र वज्रपात करता है | इन्द्रके अंश वालिने मुष्टिप्रहार किया |

इन्द्रका आयुध वज्र है, वालि इन्द्रसे उत्पन्न है, अतः उसका घूँसा वज्रवत् है।

२ (क)—'मैं जो कहा' इति। पूर्व जो सुग्रीवने कहा था कि 'रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी हरि लीन्हेसि सरबस अरु नारी ।४।६।११', उसी कथनका यहाँ संकेत है। वहाँ 'रिपु सम' कहा और यहाँ 'काल'; दोनोंही एकसे हैं, रिपु भी मारनाही चाहता है। 'ताके भय रघुवीर कृपाला।····६।१२।' देखिए। यहाँ तात्पर्य यह है कि मैं उससे युद्ध करने योग्य नहीं हूँ, आपही कृपा करके उसे मारें।

३—'बंधु न होइ मोर यह काला', यही बात उससे कहलानेके लिए श्रीरामजीने उसे इस लड़ाई-में विशाल बल नहीं दिया था। सुग्रीवने ज्ञान होनेपर वालिको 'परमहित' कहा, परमहितको कैसे मार सकते हैं; अतएव जबतक वह उसको शत्रु न कहे तब तक मारना अनुचित ही था। जब वालि सुग्रीवको मारे और सुग्रीव उसको शत्रु कहे तब उसको मारें। यहाँ 'शुद्धापह्नुति अलंकार' है। यहाँ कालके आरोप-से भाईका धर्म छिप गया।

नोट—१ 'बंधु न होइ मोर यह काला' में अ० रा० के 'किं मां घातयसे राम शत्रुणा भ्रातृरू-पिणा।····एवं मे प्रत्ययं कृत्वा सत्यवादिन् रघूत्तम। उपेक्षसे किमर्थं मां शरणागतवत्सल ।२।११,१२।' तथा वाल्मी० के 'आह्वयस्वेति मामुक्त्वा दर्शयित्वा च विक्रमम्। वैरिणा घातयित्वा च किमिदानीं त्वयाकृतम् ।१२।२६।....' इन श्लोकोंका भाव भी आजाता है कि क्या आप मुझे इस भ्राताहृपी शत्रुसे मरवाना चाहते हैं? हे शरणागतवत्सल रघुनाथजी! मुझे विश्वास दिलाकर आप मेरी उपेक्षा क्यों करते हैं? आपने वालिको बुलानेको कहा, अपना सामर्थ्य मुझे दिखाया कि आप वालिको मार सकते हैं फिर भी आपने मुझे शत्रुसे पिटवाया····। 'रघुवीर कृपाला' से सत्यप्रतिज्ञ, शरणागतवत्सल और रघुवंशियोंमें श्रेष्ठ जनाया—'सत्यवादिन् रघूत्तम शरणागतवत्सल' (अ० रा० २।१२)।

नोट—२ यहाँ वीरका सामना है; अतः रघुवीर पद दिया, नहीं तो रघुनाथ पदमें भी छंद बैठ सकता था। पुनः, सुग्रीव वालिको काल कहते हैं और 'कालहु डरहिं न रन रघुबंसी'। अतः रघुकुलसंबंधी नाम दिया। रघुवीर=पंचवीरतायुक्त। ३—शत्रुसे मार खानेपर भी सुग्रीवने कटु वचन न कहकर 'रघु-बीर कृपाला' ही सम्बोधन किया, इससे उपदेश ग्रहण करना चाहिए कि मित्रद्वारा कोई बात ऐसी देखकर जो अपनेको उचित न जँचे मित्रताकी अवहेलना न करना मित्रका धर्म है। पाँड़ेजीका मत है कि यहाँ 'रघुबीर' और 'कृपाला' शब्दमें व्यङ्ग है कि आपकी वीरता और कृपालुता रहते हुए भी मेरी यह दुर्दशा की गई। वीर होकर भी आपने रक्षा न की, कृपालु होकर भी मेरी दशापर आपका धैर्य्य बनाही रहा।

**एकरूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम ते नहिं मारेउँ सोऊ ॥५॥**

अर्थ—तुम दोनों भाई एकरूप हो, इसी भ्रमसे उसको मैंने नहीं मारा (कि कहीं बाण तुम्हारे न लग जाय)।५।

मा० त० भा०—श्रीरामजी मनुष्यलीला करते हैं, इसीसे अपनेमें भ्रम कहते हैं।

नोट—१ 'अन्योन्यसदृशौ वीरावुभौ देवाविवाश्विनौ ॥१९॥ अलंकारेण वेषेण प्रमाणेन गतेन च। त्वं च सुग्रीव वाली च सदृशौ स्थः परस्परम् ॥३०॥ स्वरेण वर्चसा चैव प्रेक्षितेन च वानर। विक्रमेण च वाक्यैश्च व्यक्तिं वां नोपलक्षये ॥३१॥ ततोऽहं रूपसादृश्यान्मोहितो वानरोत्तम। नोत्सृजामि महावेगं शरं शत्रुनिबर्हणम् ॥३२॥"'त्वयि वीरे विपन्ने हि अज्ञानाल्लाघवान्मया। मौढ्यं च मम बाल्यं च ख्यापितं स्यात्कपीश्वर ॥३४॥ वाल्मी० १२।' अर्थात् दोनों वीर समान थे। अश्विनीकुमारोंके समान उनमें कुछ भी भेद न जान पड़ता था।१९। (ये वाल्मीकिजीके वचन हैं)। अलंकार, वेष, शरीरकी ऊँचाई लम्बाई चौड़ाई इत्यादि और चालसे तुम दोनों समान हो। स्वर, तेज, दृष्टि, पराक्रम और वाक्योंसे दोनोंमें भेद न जान पड़ा। इसी रूप-सादृश्यसे मोहित होकर मैंने शत्रुनिहंता बाण नहीं छोड़ा। यदि मेरे अज्ञान या आतुरतासे कहीं तुम मारे जाते तो मेरी मूर्खता एवं लड़कपन ही समझा जाता।—वाल्मीकीयके इस उद्धरणसे यही सिद्ध होता है कि दोनों भाइयोंमें किंचित् भेद न था। अध्यात्म २।१३, १४ में भी कहा है कि 'आलिंग्य मा स्म भैर्यास्त्वं दृष्ट्वा वामेकरूपिणौ ॥१३॥ मित्रघातित्वमाशंक्य मुक्तवान् सायकं नहि। इदानीमेव ते चिह्नं करिष्ये भ्रमशांतये ॥१४॥' अर्थात् सुग्रीवको छातीसे लगाकर कहा कि डरो मत, तुम दोनोंका एकसा रूप देखकर मित्रकाही घात कहीं न हो जाय इस शंकासे मैंने बाण नहीं चलाया। अब उस भ्रमको मिटानेके लिए मैं तुममें चिह्न किए देता हूँ। इनसे भी एकरूपता स्पष्ट है।

भगवान् नरनाट्य कर रहे हैं, माधुर्य्यमें भ्रम, रोदन, आदि सब शोभनीय हैं और सर्वज्ञ प्रभुका ऐसा कहना अयोग्य नहीं है। यह संभव हो सकता है कि इस कथनमें कुछ गूढ़भाव भी हो पर साधारणतया 'एकरूप' का भाव प्रमाणोंसे यही सिद्ध है जो ऊपर कहा गया।

पं० शिवलाल पाठक आदिने प्रभुमें भ्रम होना न स्वीकार करके 'एकरूप' के अनेक भाव कहे हैं। उनसे सहमत न होनेमें उनसे हम क्षमाप्रार्थी हैं। गुप्तभाव ये भले ही हों यह संभव है पर प्रमाण-सिद्ध नहीं हैं। वे भाव आगे दिये जाते हैं। वीरकविजी लिखते हैं कि यहाँ 'व्याजोक्ति अलंकार' है। वालिको परमहित कहा था, इसीसे न मारा, पर इस बातको न कहकर ऐसा कहा।

मा० म०—'दोऊ रूप मिले फिरे लगिबे मो भ्रम कौन। जो लखिबे मों भ्रम कहे ते आपे दृग-हीन।१। भ्रम करुणाको कहत हैं अनुरागी को रूप। होइ दूसरो तो बचे जो बध देहि अनूप।२।' अर्थात् जब वालि और सुग्रीव युद्ध करने लगे तब दोनोंका शरीर एकत्र मिल गया अतएव रामचन्द्रजीको यह शंका हुई कि बाण चलानेसे कदाचित् सुग्रीवको लग जाय तो विश्वासघात होगा। अतएव बाण नहीं चलाया। तात्पर्य यह कि लगनेमें भ्रम हुआ, पहिचाननेमें कदापि नहीं हुआ।—(पर भगवान्को तो मिले हुए होनेपर भी बाणसे केवल वालिका ही वध करना कैसे असंभव मान लिया जाय? जब असंभव नहीं तो उसमें भी भ्रम कैसे कहेंगे?)—पुनः, भ्रम करुणाको भी कहते हैं इससे यह अर्थ हुआ कि श्रीरामचन्द्र-जीने विचारा कि यदि वालि भी सुग्रीव ऐसा अनुरागी हो जाता तो बच जाता।

श्री० मिश्र०— एकरूप (= एक स्वभाव) देखकर मुझे यह भ्रम हुआ कि इन दोनोंको तो मेरी ही गति है, तब एकको कैसे मारूँ। भाव यह कि तुमको तो मेरा मुख्य विश्वास सप्ततालवेधनसे प्राप्त हो गया है और उधर वालिने भी मुझे समदर्शी कहा है। अतएव शरणागतके भ्रमसे नहीं मारा। (नोट—पर इसी परम्पराके पंडित महादेवदत्तजी, मा० म० और मिश्रजीके भावोंको न देकर, नरनाट्यको प्रमाण मानते हैं)।

वै०—(क) 'एकरूप हो इस भ्रमसे नहीं मारा', ये वचन संदिग्ध हैं। प्रभुके बाण संकल्पानुकूल कार्य करनेवाले हैं तब ये वचन वाचकार्थ कैसे सिद्ध हों? पुनः, रघुनाथजी सत्यसंकल्प हैं वे असत्य नहीं कहेंगे। दूसरे, वालिवधका संकल्प करके उन्होंने सुग्रीवको भेजा, इससे नरनाट्यका भी अभाव होता है। अतएव इन शब्दोंका अभिप्राय यह है कि प्रभु तो शत्रुमित्रभावरहित सबसे एकरस हैं पर 'दर्पणे मुखवत्' न्यायानुसार जो जैसा भाव रखता है प्रभु उसको वैसा ही दिखते हैं। यथा गीतायाम्—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते

तांस्तथैव भजाम्यहम् ।' पुनः, श्रुति 'तद्यथायथोपासते तथा तथा तद्भवति'। इस रीतिसे प्रभुने विचार किया कि सुग्रीवका मित्रभाव है और वालिका कोई भाव प्रसिद्ध नहीं है और जो वधकी प्रतिज्ञा है वह सुग्रीवके दुःख-निवारणार्थ है। अतएव समझकर कार्य करना चाहिए क्योंकि वैर तो केवल वालिकी ओरसे है सुग्रीवकी ओरसे नहीं है। यदि सुग्रीवके जानेपर वालि उससे मिल जाय तो मेरे लिए एकसे हैं। इस भावसे 'एकरूप' कहा। (ख) वालिने समदर्शी कहा और सुग्रीवने भी उसे परमहित कहा। (अतएव यदि वालिको मारते तो संभव था कि सुग्रीव कहता कि उसको व्यर्थ मारा, उससे तो मेरा वैरभाव नहीं रह गया था।) इस विचारसे दोनोंको एकरूप कहा। दूसरे, कोई शरणागतिका चिह्न भी सुग्रीवको न दिया था जिससे वालि जान लेता कि सुग्रीव रामाश्रित हो चुका है, अब भागवतापराध प्रभु न क्षमा करेंगे। अब सुग्रीवने उसे काल कहा है, अतः अब मारेंगे—(करु०)।

करु०—यहाँ प्रभुका सौशील्यगुण दिखाते हैं। सुग्रीव सखा है और रघुराई 'प्रनतकुटुम्बपाल' हैं। अतएव उसके सब भाई बंधु सखा हुए। अतएव एकरूप कहा। यहाँ यह भ्रम हुआ कि ऐसी दशामें वालिको कैसे मारें।

शि० र० शु०—यहाँ इस कथनका अभिप्राय यह है कि तुम्हारे वाहरी रूप और आकारके अतिरिक्त हृदयोंको नहीं पहिचाना था। इसमें एक प्रकारसे व्यंग है कि कहाँ तो तुम परम हितैषी कहते थे और कहाँ एक ही मूकेमें वह भाव दूर हो गया। उधर वालि भी अपनेको ज्ञानी समझता था। अतः आशय यह है कि तुम दोनोंको हम पहिचान न पाए क्योंकि प्रथम एक रूपमें और पीछे दूसरे रूपमें देखे गए। पहले यह समझा गया कि तुम दोनों विवेक-बुद्धि-संपन्न हो और क्षणिक सुख संबंधी राज्यके लिए युद्ध न करोगे। परन्तु यह सत्य ठहरा कि दोनोंने द्वेषबुद्धिमें प्रवृत्त हो शत्रुके समान युद्ध किया। अतः ऐसी दशामें आंतरिक रूपसे कैसे पहचाने जा सकते थे।

श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'दोनों भाइयोंके एक रूप होनेसे भ्रम होनेका योग था। भ्रम = विपरीत निश्चय। वालिमें सुग्रीवका निश्चय हो जाना और सुग्रीवमें वालिका निश्चय हो जाना भ्रम कहलाता है। श्रीरामजीको भ्रम नहीं हुआ, भ्रम होनेका संयोग था इसीसे उन्होंने वालिको नहीं मारा। यदि भ्रम हो जाता कि यह सुग्रीव है और यह वालि है तब तो मारते ही। अतः अभी तो श्रीरामजी एकरूप होनेसे भ्रमका संयोग सूचित कर रहे हैं। श्रीरामजी यहाँपर नीति दिखला रहे हैं कि जहाँपर भ्रमका संयोग हो वहाँपर प्रथम भ्रमके संयोगको हटाकर तब कार्य करना उचित है। श्रीरामजी मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, वे नीतिका पालन न करेंगे तो कौन करेगा? श्रीरामजीको भ्रम हो गया यह कहना अयोग्य है क्योंकि जिसको भ्रम होता है वह नहीं कहता कि हमको भ्रम हो गया है। जैसे जिसको दिशाका भ्रम होता है वह नहीं कहता कि हमको दिशाका भ्रम है, जिसको रज्जुमें सर्पका भ्रम हो जाता है वह नहीं कहता कि हमको भ्रम है, वह तो यही कहता है कि सर्प है और भयभीत होकर लाठी मारता है। उसी तरह यदि श्रीरामजीको सुग्रीवमें वालिका भ्रम होता तो वे न कहते कि हमको भ्रम हुआ, क्योंकि जिसको भ्रम होता है उसको मालूम नहीं होता कि हमको भ्रम है।' (नोट—श० सा० में 'भ्रम' का अर्थ 'संशय, सन्देह' भी है)।

पं०—रामजीको भ्रम कैसा? उत्तर—वालिकी अभी इतनी आयु शेष थी, देश भी मरणका न था, अतएव मर्यादापुरुषोत्तमने मर्यादा-पालनहेतु यह मनुष्य स्वांग (नरनाट्य) किया। दूसरे युद्धमें देश और काल दोनों प्राप्त होंगे तब मारेंगे।

नोट—२ स्वामी प्रज्ञानानंदजी भी मुझसे सहमत हैं और लिखते हैं कि—'पूँछत चले लता तरु पाती', 'प्रभु प्रलाप सुनि कान' इत्यादि अनेक माधुर्य लीलाएँ हैं जिनको देखकर 'पावहिं मोह विमूढ़' और 'पंडित मुनि पावहिं विरति।' इस लीलासे यह उपदेश दे रहे हैं कि मित्रका उपकार कार्य भी उतावलीमें अथवा भ्रममें करना अधर्म है। सुविचारपूर्वक ही करना चाहिये। अन्यथा हितके बदले अहित, अपयश और अधर्म ही होगा।

**कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पीरा॥ ६॥**
**मेली कंठ सुमन कै माला। पठवा पुनि बल देइ बिसाला॥ ७॥**

अर्थ—सुग्रीवजीके शरीरपर श्रीरामजीने हाथ फेरा। उनका शरीर वज्र (के समान दृढ़) हो गया, सब पीड़ा जाती रही।६। गलेमें फूलोंकी माला पहिना दी और भारी बल देकर फिर (लड़नेको) भेजा।७।

टिप्पणी—१ (क) 'कर परसा सुग्रीव सरीरा' इति। जब सुग्रीवको ज्ञान उत्पन्न हुआ और उसका मन लड़नेसे फिर गया, तब उरमें प्रेरणा करके उसके मनको सम्मुख किया गया। इसीपर कहा कि 'नट मरकट इव सबहि नचावत। राम० ।७।२४।' और, जब लड़नेसे तन थका तब हाथ फेरकर तनको वज्रवत् कर दिया। (ख) यहाँ सारे शरीरपर हाथ फेरा है। इससे सूचित हुआ कि वालिके मुष्टिप्रहारसे सुग्रीवके सब अंगोंमें पीड़ा हुई। (ग) वालिने सुग्रीवको तृण सम गिना, यथा—'तृन समान सुग्रीवहिं जानी'। इसीसे श्रीरामजीने सुग्रीवका तन वज्रके समान कर दिया, यथा—'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।६।३४।८।' (घ) ऊपर देखनेमें तो श्रीरामजीने सुग्रीवकी ख़ातिरी की, देहपर हाथ फेरा कि हे मित्र! तुम्हारे बड़ी चोट आई; पर वस्तुतः सब शरीरको वज्रवत् करनेके लिए सर्वांगपर हाथ फेरा है।

२—'बल देइ बिसाला' इति। श्रीरामजीने सुग्रीवके तनमें बल दिया जैसे वे सबको देते हैं, यथा—'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥ जो बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥२१।५-६।' श्रीरामजीने सुग्रीवको विशाल बल दिया जिससे वह वालिसे लड़ सके। वालिसे अधिक बल उसे नहीं दिया; क्योंकि अधिक बल पाकर यदि सुग्रीवने ही वालिको मार डाला तो जो प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि 'मारिहौं वालिहि एकहि बान' वह भंग हो जायगी।

नोट—१ 'सुमन की माला'। यह माला गजपुष्पीलता लेकर लक्ष्मणजीने बनादी, वही माला पहनायी गई जिससे चिह्न होजाय। यथा—'गजपुष्पीमिमां फुल्लामुत्पाट्य शुभलक्षणाम्। कुरु लक्ष्मण कण्ठेऽस्य सुग्रीवस्य महात्मनः॥३९॥ ततो गिरितटे जातामुत्पाट्य कुसुमायुताम्। लक्ष्मणो गजपुष्पीं तां तस्य कण्ठे व्यसर्जयत्॥४०॥वाल्मी०१२।' अर्थात् हे लक्ष्मण! महात्मा सुग्रीवके गलेमें वह खिली हुई गजपुष्पीलता पहना दो। गिरितटपर उत्पन्न पुष्पयुक्तलता लक्ष्मणजीने पहिना दी। वाल्मी० और अ० रा० दोनोंहीमें लक्ष्मणजीने माला पहनाई है। अ० रा० में 'पुष्पमाला' शब्द हैं, यथा—'सुग्रीवस्य गले पुष्पमालामामुच्य पुष्पिताम्। अ० रा० २।१६।' और 'मेली' की जगह 'बद्ध्वा' शब्द है। अर्थात् गलेमें फूले हुये पुष्पोंकी माला बाँध दी। पर मानसमें श्रीरामजीका स्वयंही माला पहनाना और विशाल बल देकर भेजना कहा है। मेली और पठवा दोनोंका कर्त्ता एक ही है।

२—'मेली कंठ'से जनाया कि यह माला कंठसे लगी हुई पहनाई है जिसमें लड़ाईमें टूट न जावे। वालिने प्रभुको समदर्शी कहा था; अतएव माला पहिनाकर वालीको जनाते हैं कि हम समदर्शी हैं, पर सुग्रीव मेरा आश्रित है; अब यदि तुम उससे शत्रुता छोड़ दो तो मैं न मारूँगा, नहीं तो 'जो अपराध भगत कर करई। रामरोप पावक सो जरई'। उपासक लोग कहते हैं कि माला पहिनाया मानों उसका वैष्णव संस्कार कर दिया है। कुछका मत है कि फूलमाला मंगल कामनाके लिए प्रस्थान समय पहिनाया जाता है जिससे मनुष्यके चित्तमें उत्साह और साहस सदा बना रहता है। उसी विचारसे पुष्पमाला पहनायी गयी है। पर रामायणोंमें जो कारण दिया है वह यही है कि चिह्नके लिए माला पहनाई। यथा—'कृताभिज्ञानचिह्नस्त्वमनया गजसाह्वया। वाल्मी० १४।८।' (इस गजपुष्पीद्वारा तुम चिह्नित कर दिये गये हो, अतएव तुम पहिचान लिये जाओगे), 'अभिज्ञानं कुरुष्व त्वमात्मनो वानरेश्वर। येन त्वामभिजानीयां द्वन्द्वयुद्धमुपागतम्।१२।३८।' अर्थात् कोई ऐसा चिह्न बना लो जिससे वालिसे युद्ध करते समय मैं तुम्हें पहिचान सकूँ। शेष भाव गौण हैं।

**पुनि नाना बिधि भई लराई। बिटप ओट देखहिं रघुराई॥८॥**

दोहा—बहु छल बल सुग्रीव करि हिय हारा भय मानि।
मारा बालि*राम तब हृदय माँझ सर तानि ॥८॥

अर्थ—फिर अनेक प्रकारसे लड़ाई हुई। श्रीरघुनाथजी वृक्षकी आड़से देख रहे हैं।८। जब सुग्रीव बहुत छल और बल करके भय मानकर हृदयसे हार गया तब श्रीरामचन्द्रजीने (धनुपपर) बाण (चढ़ाकर) और उसे तानकर (ज़ोरसे खींचकर) बालिके हृदयमें बाण मारा।८।

नोट—१ नाना विधि, यथा—'वृक्षैः सशाखैः शिखरैर्वज्रकोटिनिभैर्नखैः ॥२८॥ मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिर्बाहुभिश्च पुनः पुनः। तयोर्युद्धमभूद्घोरं वृत्रवासवयोरिव ॥२९॥ वाल्मी० कि० १६।' अर्थात् शाखायुक्त वृक्षों, पर्वतके शिखरों, वज्रसमूहकेसे चमकीले नखों, मुष्टिकों, घुटनों, चरणों और बाहुओंसे बारंबार दोनोंमें ऐसा घोर युद्ध हुआ जैसा वृत्रासुर और इन्द्रका हुआ था।

टिप्पणी १—'बिटप ओट देखहिं रघुराई' इति। (क) बिटपओटसे देखते हैं क्योंकि—यदि वे प्रकट खड़े होकर दोनोंकी लड़ाई देखते तो सुग्रीवका धैर्य्य छूट जाता कि हमको लड़ाकर आप तमाशा देखते हैं। (ख) कौतुक देखनेके सम्बन्धसे 'रघुराई' पद दिया अर्थात् ये रघुवंशके राजा हैं और राजा कौतुकी होते ही हैं, यथा—'अस कौतुक बिलोकि दोउ भाई। बिहँसि चले कृपालु रघुराई'। वहाँ भी कौतुकके संबंधसे रघुराई-पद दिया गया है। (प० प० प्र० का मत है कि 'रघुराई' शब्दसे चक्रवर्त्ति राजसत्ताकी सूचना दी गई। जहाँ जहाँ रघुराई, रघुराऊ, रघुराया, कोसलपति, कोसलाधीस और कोसलराज शब्दोंका प्रयोग है वहाँ चक्रवर्त्ति राजसत्ताका संबंध सूचित है, 'आगे चले बहुरि रघुराया। ४।१।१', 'सीतहि सभय देखि रघुराई। ३।१७।२०', 'पंपा सरहि जाहु रघुराई।३।३६।११।' देखिए)।

शि० र० शु०—युद्धमें छलको काममें लाना दो बातें सिद्ध करता है। एक यह कि छल करनेवालेके पास शारीरिक बल कम है, दूसरे यह कि वह रक्तपातको पसन्द नहीं करता, चातुर्यताद्वारा काम निकालना चाहता है। राजनीतिमें इसीको कूटनीति भी कहते हैं। अपनी चालोंको इस प्रकार प्रगट करना कि वह शत्रुकी दृष्टिमें विपरीत देख पड़े, दूसरे पक्षको अपने पक्षके कार्यकी वास्तविक दशा न प्रगट हो, इसीको छल कहते हैं। युद्धमें छल अनुचित नहीं है क्योंकि दोनों पक्ष सावधान हैं। श्रीकृष्णमहाराजका युद्ध प्रायः छल-संयुक्त होता था। जरासिंध आदिके मारनेमें छलका प्रयोग किया गया।

नोट—२ 'हिय हारा भय मानि।....' इति। 'हीयमानमथापश्यत्सुग्रीवं वानरेश्वरम्। प्रेक्षमाणं दिशश्चैव राघवः स मुहुर्मुहुः।३१। ततो रामो महातेजा आर्त्तं दृष्ट्वा हरीश्वरम्।....राघवेण महाबाणो वालिवक्षसि पातितः।३५।'—(वाल्मी० कि० सर्ग १६)। अर्थात् 'कपीश सुग्रीवको जब हारा हुआ इधर उधर (घबराहट) से देखता हुआ, और पीड़ित देखा....तब राघवने वालिकी छातीमें महाबाण मारा।'

वि० त्रि०—'पुनि नाना........रघुराई....।' इति। बालि मुष्टिप्रहार करके बड़े ध्वनिसे गर्जन करता है कि कहाँ हैं सहायता करनेवाले। पीछा नहीं किया, क्योंकि सुग्रीव दूर नहीं भागा, वहीं पेड़के झुरमुटमें गया, जहाँसे सहायता मिलनेवाली थी, और फिर माला पहनकर लड़नेके लिये आया। यद्यपि सरकार बिटपके ओटमें थे, पर बात छिपी नहीं रह गई। बालिने स्वयं देख लिया कि सुग्रीवको कहाँसे सहायता मिलेगी। जो सुग्रीव एक मुष्टि-प्रहार सहनेमें असमर्थ था उसमें एकाएक इतना बल कहाँसे आ गया कि नाना विधिसे युद्ध कर सके। इन सब बातोंपर उस महा अभिमानीने ध्यान ही न दिया, और जब उसे मालूम हो गया कि उसके सहायक सरकार हैं, और उसी पेड़की आड़में हैं, तो शरणमें जानेके लिये भी उसे यथेष्ट अवसर था, पर उस महाअभिमानीने उस अवसरको भी हाथसे गँवा दिया। समझता था कि मँगनी

* पाठान्तर—'बालि' (गौड़जी),—'बालिहि'—(मा० त० भा०)।

का बल कहाँतक काम देगा, और अन्तमें उसने सुग्रीवको ऐसे दाँवसे बाँध लिया, जिससे सुग्रीव एकदम बेदम हो गये। आजकल भी पहलवान लोग उस दाँवसे परिचित हैं और उसे वालिबन्ध कहते हैं। उस दाँवसे अपने प्रतिद्वन्द्वीको बाँधना मल्लविद्याके नियमके विरुद्ध है। सुग्रीव उसी दाँवमें बँध जानेसे सभीत होकर हृदयसे हार गये। यह सब घटना सरकार पेड़की ओटसे देख रहे थे। जान लिया कि अब वालि सुग्रीवको मार डालेगा। अब सुग्रीवका किया कुछ नहीं हो सकता।

टिप्पणी—२ (क) 'बहु छल बल करि हिय हारा'। ☞ इससे जनाया कि जबतक जीवके हृदयमें छलबल रहता है तब तक भगवान् उसकी सहायता नहीं करते। जब वह पुरुषार्थ और सब आशा-भरोसा छोड़ प्रभुकी ओर ताकता है तभी वे तुरंत सहायक होते हैं। (पां०)। (ख) 'हृदय माँझ सर तानि' इति। वालि भारी बलवान है और उसको एक ही बाणसे मारनेकी प्रतिज्ञा है; इसीसे धनुष खूब खींचकर बाण मारा। (ग) ओटसे मारनेका भाव यह है कि वालिके हृदयमें भक्ति है, यथा—'जेहि जोनि जनमौं कर्मबस तहँ रामपद अनुरागऊँ'। यदि सामने होते तो और वह प्रणाम करता वा शरण होता तब उसे मारते न बनता और न मारनेसे प्रतिज्ञा भ्रष्ट होती।

नोट—३ पंजाबीजी दूसरा भाव यह भी लिखते हैं कि मल्लयुद्ध देर तक हुआ और ग्रीष्मके दिन थे इससे प्रभु वृक्षकी छायामें खड़े रहे; पर यह भाव कुछ विशेष संगत नहीं जान पड़ता। प्र०-कारने भी इस भावको लिया है। प० प० प्र० का भी यही मत है।

४ वालिका सिर क्यों न काटा? क्योंकि सर्वज्ञ प्रभु जानते हैं कि अंत समय उसे कुछ कहना है। दूसरे, हृदयमें ही बाण मारा क्योंकि उसके हृदयमें अहंकार भरा हुआ है; उसके अहंकारको नष्ट करके तब उसको मुक्ति देंगे, अहंकार रहते हुए मुक्ति न होगी। बाण लगते ही हृदयका अहंकार दूर हो गया और उसमें प्रीति समा गई। इसीसे आगे कहा है कि 'हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितइ रामकी ओरा'। (पं०)। प्रथम बार समदर्शी कहकर आया था इससे न मारा, दूसरी बार समदर्शीका भाव न रहा तब मारा (मा० शं०)।

**परा बिकल महि सर के लागे। पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगे ॥१॥**

अर्थ—बाणके लगनेसे वालि व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। प्रभुको आगे देखकर फिर उठ बैठा।१।

टिप्पणी—१ प्रथम चरणमें रामबाणका सामर्थ्य दिखाया कि ऐसा वीर एक ही बाण लगनेसे विकल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। यथा 'सो नर क्यों दसकंध वालि बधेउ जेहि एक सर।६।३२।' 'वालि एक सर मार्‍यो तेहि जानहु दसकंध।६।३५।' और, दूसरे चरणमें रामदर्शनका प्रभाव दिखाया कि ऐसे कठिन बाणके लगनेपरभी उठकर बैठ गया। २—'देखि प्रभु आगे', यहाँ प्रभुको आगे देखना कहकर जनाया कि रामचन्द्रजी चलकर वालिके सम्मुख आ गए यह उनकी दया सूचित करता है कि उसपर कृपा करके दर्शन देनेके लिए पास आए नहीं तो मारकर चले जाते, सन्मुख प्रकट होनेका कोई प्रयोजन न था। यथा—'बहुमान्य च तं वीरं वीक्षमाणं शनैरिव। उपयातौ महावीर्यौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।'—(वाल्मी० १७।१३)। अर्थात् महावीर दोनों भाइयोंने वालिका सम्मान किया और उसके पास गए। (आगे भी देखिए)।

मा० त० प्र०—वालि भक्त है इसीसे वह उठ बैठा, जिसमें रघुनाथजीकी लोकमें निन्दा न हो, उनके इस चरित्रको लोग दूषित वा अनीति न समझें। यही कारण प्रथम कठोर वचन बोलनेका भी है, क्योंकि बिना कठोर वाक्य सुने प्रभु नीति द्वारा उसका समाधान क्यों करने लगे और बिना नीतिके ज्ञानके लोग आक्षेप करेंगे ही। यह प्रकरण लोगोंको अनीति जान पड़ा। इसके उदाहरण राजाशिवप्रसाद आदि अनेक समालोचक हैं। राजाशिवप्रसाद एवं और भी कुछ समालोचक तो ऐसे हैं कि जिन्होंने जन्मभरमें एकबार भी वाल्मीकीय रामायण नहीं देखी और उसपर समालोचना कर बैठे।—[नोट—पर राजाशिवप्रसादके

'इतिहासतिमिर-नाशक-तीसरेखंड' में एक समाधान भी उनका निकल आता है जो पं० रामचन्द्रशुक्लजीने भी दिया है। वे शब्द ये हैं—'शायद साबित करना था कि मनुष्य वे चूके नहीं रहना']

मा० म०—प्रभु उसके पास इसलिए गए कि वह मर जायगा तो पछतावा रहेगा। इसलिए उससे संवाद करने गए। वा, वालि अंगदको सौंपेगा इसलिए निकट गए।

शीला—जब एक बाणसे मारनेकी प्रतिज्ञा है तब वालि कैसे उठ बैठा ? इसमें कारण यह है कि विटप ओटसे मारे जानेपर वालिके हृदयमें रामजीकी निन्दा बस गई, और हरिनिंदकको रामधामकी प्राप्ति हो नहीं सकती। इस विचारसे यह लीला हुई। रामजी उसे न्याय द्वारा माकूल (निरुत्तर) करके निन्दा उसके हृदयसे मिटाकर भक्ति दे उसे निजधाम देनेके लिए सामने आए।

शि० र० शु०—वालिके उठ बैठनेसे सिद्ध होता है कि वह बड़ा साहसी है। शक्तिको तो बाण-प्रहारने चीण किया, परन्तु उसकी साहसी शक्ति ज्योंकी-त्यों बनी रही। बिना साहसके कोई व्यक्ति वीर नहीं हो सकता। वह उठकर बैठा तो, परन्तु देखता सम्मुख क्या है कि 'प्रभु' आगे खड़े हैं। यदि तुलसी-दासजीने यहाँ 'प्रभु' शब्दका प्रयोग किया हो तो कथानुकूल ही है। परन्तु यदि उनका तात्पर्य इस शब्दके व्यवहारसे वालिके इष्टदेवसे हो, तो वालिमें रही रहाई शक्ति तथा साहस जहाँका तहाँ सुप्त हो जाता है और वालि 'प्रभु' का रूप बारंबार देखता है।

प० प० प्र०—वालि यद्यपि अभी नहीं जानता कि ये प्रभु हैं तथापि उनका प्रभाव ही ऐसा पड़ता है कि देखनेवालेके हृदयमें स्वाभाविक ही उठकर सम्मान करनेकी प्रवृत्ति होती है। यथा 'उठे सकल जब रघुपति आए। विश्वामित्र निकट बैठाए।' (१।२१५।६)। उठनेकी शक्ति इन्द्रकी दी हुई मालाके प्रभावसे थी। 'शक्रदत्ता वरा माला काञ्चनी रत्नभूषिता। दधार हरिमुख्यस्य प्राणांस्तेजः श्रियं च सा। वाल्मी० ४।१७।५।' (अर्थात् वह माला वालिके प्राण, तेज, शोभाकी रक्षक थी)। 'प्रभु' से जनाया कि अब ऐश्वर्य लीला करेंगे।

नोट—१ 'परा बिकल....पुनि उठि बैठ' इति। इन शब्दोंसे सूचित होता है कि बाण लगनेसे वह मूर्छित हो गया, छटपटा रहा था, इसीसे उसने प्रभुको विटपके नीचेसे चलकर पासतक आते नहीं देखा। जब चेत हुआ तब प्रभुको पास खड़े पाया। यथा 'तदा मुहूर्त्तं निःसंज्ञो भूत्वा चेतनमाप सः। ततो वाली ददर्शाग्रे रामं राजीवलोचनम्। अ० रा० २।४८।' पुनः प्रभुका चलना न कहकर यह भी दिखाया कि वे भक्तके लिये इतनी शीघ्रतासे आए (कि उसकी सब लालसायें 'मैं पुनि होव सनाथ' इत्यादिकी पूरी कर दें) कि वह लख न सका।

**स्याम गात सिर जटा बनाए। अरुन नयन सर चाप चढ़ाए॥२॥**

**पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा। सुफल जनम माना प्रभु चीन्हा॥३॥**

अर्थ—श्रीरामजीका श्यामशरीर है, सिरपर जटा बनाए अर्थात् जटाओंका मुकुट धारण किये हैं, लाल नेत्र हैं, बाण लिये हैं, और धनुष चढ़ाए हैं।२। वालिने बारंबार दर्शन करके चरणोंमें चित्तको लगा दिया, प्रभुको पहिचानकर अपना जन्म सुफल (कृतकृत्य) माना।३।

नोट—१ 'स्यामगात सिर जटा....' इति। (क) अ० रा० में भी रूपका वर्णन यहाँ दो ढाई श्लोकोंमें किया गया है। मिलता-जुलता हुआ अंश यह है—'ततो वाली ददर्शाग्रे रामं राजीवलोचनम्। धनुरालम्ब्य वामेन हस्तेनान्येन सायकम्।४८। बिभ्राणं चीरवसनं जटामुकुटधारिणम्।....।४९। पीनवक्षायतभुजं नव-दूर्वादलच्छविम्।' 'श्यामगात्' में 'नवदूर्वादलच्छवि' (अर्थात् नवीन दूर्वादलके समान श्यामवर्ण) का, 'सिर जटा बनाए' में 'जटामुकुटधारिणम्' का, 'अरुन नयन' में 'राजीवलोचन' और 'सर चाप चढ़ाए' में 'धनुरालम्ब्य वामेन हस्तेनान्येन सायकम्' का भाव कहा गया है। (ख) 'स्याम गात'—ग्रन्थकारका श्यामरूपका ध्यान 'नील सरोरुह स्याम', 'नील मणि स्याम', 'नील नीरधर स्याम', 'केकिकंठ दुति स्यामल अंगा', 'केकी-कण्ठाभनीलं' इस प्रकारका है। प्राचीन ग्रन्थोंमें अतसी कुसुम, दूर्वादल, गगन आदिका सा वर्ण कहा गया

हैं। यहाँ कोई नाम न देकर केवल 'श्याम' विशेषण रखकर कविने अ० रा० आदिके मतोंकी भी रक्षा कर दी है। (ग) 'बनाए' से जनाया कि मुकुटाकार सजाये हुये हैं। यथा 'जटा मुकुट परिधन मुनि चीरं। ३।११।३।', 'धृत जटाजूटेन संशोभितं। अ० मं०।' इससे जनाया कि जटायें भी शोभा दे रही हैं।

नोट—२ ☞ जहाँ कहीं आर्त्तिहरण गुण, शत्रु (अन्तर वा बाह्य)-दलन-सामर्थ्य, वा सुरनर-मुनिके शत्रुओंके दलनमें तत्परता इत्यादि वीररसकी भावना अभिप्रेत है वहाँ वहाँ दिखाया जा चुका है कि अरुणकमलकी उपमा नेत्रोंको दी गई है या नेत्र अरुण कहे गए हैं। लाल डोरे पड़े हुए होना वीरता-का द्योतक है। यहाँ उदाहरणोंका सिंहावलोकन कराया जाता है—

(१) 'नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन वारिज नयन' (बा० मं०) में हृदयके कामादि शत्रुओंसे रक्षा करनेवाला स्वरूप अभिप्रेत है। (२) 'अरुन नयन उर बाहु बिसाला' यह विश्वामित्रजीकी यज्ञरक्षाका स्वरूप है। साथ जा रहे हैं, ताड़काका वध करके फिर सुबाहु मारीचसे यज्ञकी रक्षा करेंगे। (३) 'राजीव' कमल विशेषको कहते हैं और अरुणकमलके लिए भी राजीव शब्दका प्रयोग होता है। अरण्यकाण्डमें मुनियोंपर दया करके उनके लिए 'निसिचरहीन करौं महि' यह प्रतिज्ञा की है, इसीसे मङ्गलाचरण भी 'राजीवायत लोचन' से किया और फिर प्रतिज्ञा करनेके बाद मुनिद्रोहीके वधमें तत्पर जब रामजी अग-स्त्यजीसे मुनिद्रोहीके मारनेका मंत्र पूछनेको जाते हुए रास्तेमें सुतीक्ष्णजीसे मिलते हैं तब 'अरुन नयन राजीव सुवेष' ऐसा स्वरूप मुनिने वर्णन किया है। दूसरे इस ठौर भी रक्षाकी प्रार्थना मुनि कर रहे हैं, यथा—'त्रातु सदा नो भव खग बाजः' अतएव 'अरुण नेत्र' कहे गए। (४) यहाँ सुग्रीवकी रक्षामें तत्पर रामजीका स्वरूप वालिवधके समय भी 'अरुन नयन सर चाप चढ़ाये' है। (५) सुन्दरकाण्डमें रावणसे भयभीत होकर विभीषणजी प्रभुकी शरण आते हैं और रक्षा चाहते हैं—'त्राहि त्राहि आरतिहरन सरनसुखद रघुबीर' तब वे प्रभुके स्वरूपको कैसा पाते हैं—'भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामलगात प्रनत भय मोचन', जिसके भाव सुन्दरकांडमें दिए गए हैं। (६) इसी प्रकार लंकामें रावणवधके समय 'अरुन नयन बारिद तनु स्यामा' और 'जलजारुन लोचन भूप बरं' ऐसा स्वरूप देख पड़ा है।

इसमें भी अभिप्राय भरा है कि कुछ स्थलोंपर कमलवाची शब्दके साथ अरुण पद दिया है और कुछ स्थलोंपर 'अरुण' मात्र कहा है, कमलवाची शब्द नहीं दिया गया। प्रायः वस्तुतः वधके समय कमलकी उपमा नहीं है क्योंकि कमल कोमल होता है और वधके समय कोमलता कहाँ? वहाँ तो कठो-रता आ जाती है। धन्य गोस्वामीजी और उनके सूक्ष्म विचार!! उदाहरण ऊपर आचुके हैं।

❧ 'सर चाप चढ़ाए' इति ❧

करु०—अर्थात् धनुष चढ़ाए हैं, बाण हाथमें लिए हैं।

पं० रामकुमारजी—बाण दाहिने हाथमें है, चाप चढ़ाए हुए हैं सो बाएँ हाथमें है। धनुषपर बाण नहीं चढ़ाए हैं केवल धनुष चढ़ाए हैं। धनुषपर बाणका लगाना संधानना कहा गया है, यथा 'संधान्यो प्रभु बिसिष कराला', 'अस कहि कठिन बान संधाने', 'खैंचि धनुष सत सर संधाने' और 'सर संधान कीन्ह करि दापा', इत्यादि। और, धनुषपर रोदा लगानेके लिए 'चढ़ाना' शब्दका प्रयोग कविने किया है, यथा—'कोदंड कठिन चढ़ाइ सिर जटजूट बाँधत सोह क्यों', 'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े', 'धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना' और 'धनुष चढ़ाइ कहा तब जारि करौं पुर छार', इत्यादि। यह बात अध्यात्मरामायणसे भी प्रमाणित होती है, यथा—'धनुरा-लंब्य वामेन हस्तेनान्येन सायकम्'—(२।४८) अर्थात् बाएँ हाथमें धनुष लिए हैं और दूसरे हाथमें बाण।

नं० प०—'चढ़ाए' शब्द चापका साथी है तब शरका संबंध चापसे कैसे हो सकता है? यदि कहिये कि 'सरकी क्रिया कैसे होगी?' तो उत्तर यह है कि यहाँ कर्मका लोप है, जब अध्याहार किया जायगा तब धनुषबाणकी क्रिया बनेगी। अर्थात् धनुषका आधार हाथ है, जब हाथका अध्याहार होगा तब धनुषकी क्रिया बनेगी कि हाथमें चढ़ाया हुआ धनुष लिये हैं और उसी तरह बाणका भी आधार हाथ ही है। जब हाथको

कर्म वनाइए तो वाणकी भी क्रिया वनेगी कि दूसरे हाथमें शर लिये हैं। यहाँ श्रीग्रन्थकारजीने श्रीरामजीकी छबिको जैसी कि उस समय थी वैसी ही वर्णन किया है। चढ़ाया हुआ धनुष भी अपनी सुडौरता अर्थात् तने हुए रोदेसे श्रीसरकारकी शोभाका अधिक वोधक हो रहा है। रोदा उतरा हुआ धनुष उतनी शोभा नहीं रखता जितनी चढ़े हुएमें होती है। चाप उतारा नहीं गया है इसीसे 'चाप चढ़ाए' लिखा है।

नोट—३ वालिको मारनेके लिये जो धनुष चढ़ाया गया था वह अभी उतारा नहीं गया है, क्योंकि वाण छोड़ते ही तुरत श्रीरामजी वालिके पास चल दिये, उनको वालिके पास पहुँचनेकी जल्दी थी। रह गया अब प्रश्न यह उठता है कि 'सर हाथमें कहाँसे आया ? इसका उत्तर मानसके अनुसार तो यह है कि वालीको मारकर वह वाण लौटकर श्रीरामजीके हाथमें आ गया। जैसे "छत्र मुकुट ताटंक सत्र हते एकही वान। सबके देखत महि परे मरम न कोऊ जान। अस कौतुक करि रामसर प्रविसेउ आइ निषंग।६।१३।", 'मंदोदरि आगें भुज सीसा। धरि सर चले जहाँ जगदीसा॥ प्रविसे सत्र निषंग महुँ जाई।६।१०२।७-८।', 'छन महुँ प्रभुके सायकन्हि काटे बिकट पिसाच। पुनि रघुवीर निषंग महुँ प्रविसे सब नाराच।६।६७।' इत्यादि। यद्यपि अ० रा० और वाल्मीकीयके मतसे तो यह वाण वह नहीं है जिससे वालि मारा गया, क्योंकि अ० रा० में तो वालिकी प्रार्थनापर स्वयं श्रीरामजीने उस वाणको मरनेके पूर्व ही निकाला है. यथा—'विशल्यं कुरु मे राम हृदयं पाणिना स्पृशन्। तथेति वाणमुद्धृत्य रामः पस्पर्श पाणिना।२।७०।' और वाल्मी० में उसके मर जानेपर नील वानरने वालिके शरीरसे वह वाण निकाला है. यथा—'उद्ववर्ह शरं नीलस्तस्य गात्रगतं तदा।२३।१७।' तथापि मानसमें निकालनेका यह प्रसंग न होनेसे और श्रीरामजीके वाण दिव्य हैं यह सर्वमान्य होनेसे मानस-कल्पकी कथामें यह वही वाण हो सकता है।

वाल्मी० में तो श्रीरामजीके हाथमें वाण लिये हुए वालिके पास आनेकी चर्चा ही नहीं है। हाँ, अ० रा० में यह ध्यान अवश्य है। अतः मानसका उससे समन्वय करते हुए समाधान यह होगा कि श्रीरामजीका ध्यान 'सर चाप धर' ही करनेकी रीति है, वे भक्तवत्सलताके कारण सदा धनुष वाण हाथमें लिये रहते हैं, यथा—'राजिवनयन धरें धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक।१।१८।१०।', 'कटि निषंग कर सर कोदंडा।१।१४७।८।', 'जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चापधर।१।१७।', 'पाणौ महासायकचारु चापं नमामि रामं रघुवंशनाथम्। अ० मं०।', 'पाणौ वाणशरासनं'। आ० मं०।' इत्यादि। अतएव उनके हाथमें वाण इस समय भी हैं, वे वालीको दर्शन देनेके लिये जा रहे हैं। भगवान्‌के सब आयुध दिव्य हैं। उन्हें तर्कशसे वाण निकालना नहीं पड़ता, हाथ वाणसे खाली हुआ नहीं कि दूसरा वाण तर्कशसे निकलकर उनके हाथमें आ जाता है। वैसे ही यहाँ हुआ। देखिए, रावणका वध होनेपर भी प्रभुके हाथमें वाण है। यथा—'भुजदंड सरकोदंड फेरत....।६।१०२।'

मा० म०—शोभाके लिए धनुष वाण धारण करके वालिके निकट गए, वालिको पुनर्वार मारनेके लिए कदापि वाण धारण नहीं किया क्योंकि एक वाणसे ही मारनेकी प्रतिज्ञा थी। अथवा दूसरी प्रकार अर्थ कर सकते हैं कि 'लालनेत्ररूपी सर भौंहरूपी चापपर चढ़ाए हैं।' वा, 'धनुषको नैन ढिग करके खड़े हैं'।—(प्र० और विनायकी टीकाने भी इनके इस अर्थको लिया है। पर ये अर्थ अत्यन्त क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं)।

वैजनाथजी, वावा हरीदासजी और दीनजी आदिने अर्थ किया है कि 'धनुषपर वाण चढ़ाए हैं।' और, कहते हैं कि 'वालि राजा है उसकी सेना और सहायक हैं; पुनः यह भी संभव है कि अभी वालि उठकर कोई वार न करे, इसलिए युद्धनीतिके अनुसार अपनी रक्षाके लिए वाण चढ़ाए हुए सचेत हैं। उनकी प्रतिज्ञा तव खण्डित होती जव वे वालिपर दूसरा वाण चलाते।' किसीका कहना है कि यदि वाण धनुषपर चढ़ाए होते तो दोनों हाथ फँसे होते, तव वालिके सिरपर हाथ कैसे फेरते, वीचमें कहीं वाण का धनुषसे हटाना लिखा नहीं गया।

पं०—'पुनि पुनि' देखनेका कारण यह है कि—(क) श्रीरामचन्द्रजीका स्वरूप परम मनोहर है विना देखे रहा नहीं जाता। देखनेसे तृप्ति नहीं होती। यथा—'चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु

सकुचात ।१।१४८।६।', 'पुनि पुनि रामहि चितव सिय सकुचति मन सकुचैन ।१।३२६।' वा, (ख)—अनेक विचार मनमें उठते हैं, जैसे-जैसे विचार उठते हैं तैसे-तैसे वार-वार देखता है। जैसे—कभी देखकर विचारता है कि ऐसे होकर इन्होंने विषमता क्यों की? फिर देखकर सोचने लगता है कि मुझे निरपराध क्यों मारा, मुझसे 'नीतिबुद्धिसे' पूछ क्यों न लिया? फिर देखकर मनमें कहता है कि सुग्रीव डरपाक है, वह इनका क्या कार्य करेगा; भला उसके किस गुणपर ये रीझे हैं; इत्यादि विचार करनेपर यही निश्चय किया कि इन्होंने जो कुछ किया वह सब शुभ हुआ (यथार्थ ही किया) अब मुझे इनके चरण ही ध्येय हैं। अथवा, (ग) वारवार देखकर यह निश्चय कर रहा है कि इस समय इनके किस अंगका ध्यान करना मुझे कर्तव्य है। जब निश्चय कर चुका तब चरणोंमें चित्तको लगा दिया। वार-वार देखना तब बंद हो गया।—(नोट—'पुनि पुनि' पद जनाता है कि वह एक वार देखता था फिर नेत्र नीचे कर लेता था वा बन्द कर लेता था, वा मुखारविन्दसे नेत्रोंको हटाकर दूसरे अंगोंको देखने लगता फिर मुखारविन्दको देखता। वा, एक वार 'श्याम गात सिर जटा बनाए' का दर्शन करता फिर चरणोंको देखने लगता, इसी प्रकार वार-वार देखता था। अथवा अनेक विचार उठते जाते हैं, प्रत्येक विचारके साथ पुनः देखता है जैसे 'कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहि। चितवति कृपासिंधु रनधीरहि॥ हृदय बिचारति वारहिं वारा। कवन भाँति लंकापति मारा।...'। 'पुनि पुनि' से एकटक देखनेका निराकरण हो जाता है)।

प० प० प्र०—१ भगवान्‌की मूर्तिको चित्तरूपी भीतिपर प्रेमरूपी मसिसे लिखनेका प्रयत्न करता है। सुफल न होनेपर 'पुनि पुनि चितव', इस भावकी पुष्टि 'हृदय प्रीति' से होती है।

२ समग्रमूर्तिको हृदयमें बैठाना अपनी शक्तिसे असंभव देखा तब चरणोंमें ही चित्त लगाया, उन्हींका ध्यान करने लगा।

टिप्पणी—१ (क) चरणमें चित्त दिया। यह दास्यभावसे किया; आगे यही वर माँगेगा, यथा—'जेहि जोनि जन्मौं कर्मबस तहँ राम पद अनुरागऊँ'। (ख) जन्म सुफल माना इस तरह कि ईश्वरकी प्राप्तिसे जीवका जन्म सुफल होता है सो ये अन्त समय हमारे सामने खड़े हैं और इनकी कृपासे इनके चरणोंमें मेरा मरणकालमें प्रेम भी है अतः मेरा जन्म सफल है। यथा—'पावन प्रेम रामचरन जनम लाहु परम। वि० १३१।' (ग) 'प्रभु चीन्हा' इति। स्वरूपके श्रीवत्स आदि चिह्नोंको देखकर पहिचान लिया। अथवा, इस प्रकार पहिचाना कि बिना प्रभुके मुझे एक ही बाणसे कौन मार सकता है, यही बात अंगदने रावणसे कही है, यथा—'सो नर क्यों दसकंध बालि हत्यो जेहि एक सर'।

**हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितइ राम की ओरा॥ ४॥**
**धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥ ५॥**

अर्थ—हृदयमें प्रीति है, पर मुखमें कठोर वचन थे। श्रीरामजीकी ओर देखकर वह बोला।४। हे गोसाईं! आपने धर्मके लिए अवतार लिया और मुझको व्याधकी तरह (छिपकर) मारा? तात्पर्य्य कि इस कार्य्यसे आपको किस धर्मका लाभ हुआ।५।

नोट—१ वाल्मी० स० १७ श्लो० १६-५४ तक और अध्यात्म स० २ श्लो० ५१-५९ तक वालिके कठोर वचन वर्णित हैं। कुछ यहाँ दिए जाते हैं—'अर्थसंहितया वाचा गर्वितं रणगर्वितम्॥१५॥ पराङ्मुखवधं कृत्वा कोऽत्र प्राप्तस्त्वया गुणः। यदहं युद्धसंरब्धस्त्वत्कृते निधनं गतः॥१६॥....मामिहाप्रतियुध्यन्तमन्येन च समागतम्॥२५॥ त्वं नराधिपतेः पुत्रः प्रतीतः प्रियदर्शनः। लिङ्गमप्यस्ति ते राजन् दृश्यते धर्मसंहितम्॥२६॥ कः क्षत्रियकुले जातः श्रुतवान्नष्टसंशयः। धर्मलिङ्गप्रतिच्छन्नः क्रूरं कर्म समाचरेत्॥२७॥ त्वं राघवकुले जातो धर्मवानिति विश्रुतः। अभव्यो भव्यरूपेण किमर्थं परिधावसि॥२८॥....हत्वा बाणेन काकुत्स्थ मामिहानपराधिनम्। किं वक्ष्यसि सतां मध्ये कर्म कृत्वा जुगुप्सितम्॥३५॥....त्वया नाथेन काकुत्स्थ न सनाथा

वसुन्धरा। प्रमदा शीलसंपूर्णा पत्येव च विधर्मणा ॥४३॥....छिन्नचारित्र्यकक्ष्येण सतां धर्मातिवर्तिना। त्यक्तधर्माङ्कुशेनाहं निहतो रामहस्तिना ॥४४॥ अशुभं चाप्ययुक्तं च सतां चैव विगर्हितम्। वक्ष्यसे चेदृशं कृत्वा सद्भिः सह समागतः ॥४५॥....अयुक्तं यदधर्मेण त्वयाहं निहतो रणे ॥५२॥' पुनः यथा अध्यात्मे—'किं मयापकृतं राम तव येन हतोऽस्म्यहम् ।५१। राजधर्ममविज्ञाय गर्हितं कर्म ते कृतम् ॥ वृक्षखंडे तिरोभूत्वा त्यजता मयि सायकम् ।५२। यशः किं लप्स्यसे राम चोरवत्कृतसङ्गरः ॥५३॥ सुग्रीवेण कृतं किं ते मया वा न कृतं किमु ॥५४॥ धर्मिष्ठ इति लोकेऽस्मिन् कथ्यसे रघुनन्दन ।५७। वानरं व्याधवद्धत्वा धर्मं कं लप्स्यसे वद ॥५८॥' अर्थात् वाली रणगर्वित श्रीरामचन्द्रजीसे अर्थयुक्त वचन बोला। दूसरेसे युद्ध करनेमें लगे हुए को छिपकर मारनेमें आपने कौन गुण देखा जो इस तरह मारा? आप राजाके पुत्र हैं, प्रियदर्शन हैं, धर्मके चिह्न भी आपमें वर्तमान हैं। कौन क्षत्रियकुलोद्भव, श्रुतवान्, संशयरहित, धर्मचिह्नयुक्त ऐसा क्रूर कर्म कर सकता है? तुम रघुवंशमें उत्पन्न हुये हो, धर्मात्मा प्रसिद्ध हो, पृथ्वीपर सौम्यरूप धारण किये घूम रहे हो, पर क्रूर हो। मुझ अनपराधीको मारकर सज्जनोंके बीचमें इस निन्दित कर्मका समर्थन कैसे करोगे? तुमको स्वामी पाकर यह पृथ्वी सनाथ नहीं हुई, जैसे विधर्मी पतिको पाकर शीलवती स्त्री सनाथ नहीं होती। चरित्रकी मर्यादाको तोड़ने, सत्पुरुषोंके धर्मका उल्लंघन करने धर्मके अंकुशको हरानेवाले रामनामक हाथीसे मैं मारा गया। अमंगल, अनुचित सज्जनों द्वारा निंदित कर्म करके सज्जनोंसे मिलनेपर आप क्या कहेंगे? अधर्मसे मेरा वध किया यह अनुचित किया। (वाल्मी०)। पुनः, (अध्यात्म रा०) अर्थात् मैंने आपका क्या अपकार किया जो आपने राजधर्मको न जानकर यह निन्दित कर्म किया। वृक्षसमूहमें छिपकर आपने मुझपर बाण छोड़ा, चोरकी तरह संग्राम किया, इससे आपको क्या यश प्राप्त होगा? सुग्रीवने आपका क्या (उपकार) किया और मैंने क्या नहीं किया (जो आपने उसका साथ दिया और मुझको मारा)। हे रघुनन्दन! आप इस लोकमें धर्मिष्ठ कहलाते हैं, व्याधाकी तरह मुझ बानरको मारकर आपने क्या धर्म प्राप्त किया, सो कहिए।

टिप्पणी—१ (क) 'मुख बचन कठोरा' इति। वालिको अपने बलका बड़ा अभिमान था। वह अभिमान (एक ही बाणसे मृतप्राय होनेके कारण) जाता रहा। अब उसको अपनी बुद्धिका अभिमान है। वह समझता है कि मेरे प्रश्नका उत्तर रघुनाथजी न दे सकेंगे। यथा—'क्षमं चेद्भवता प्राप्तमुत्तरं साधु चिन्त्यताम्' (वाल्मी० १७।५३)। अर्थात् छिपकर मारना यदि आपके लिए उचित हो तो आप इसका उत्तर सोचें। 'चिन्त्यताम्' शब्द साफ़ सूचित कर रहा है कि उसको अपनी बुद्धिका बड़ा अहंकार है, वह समझता है कि मैं इनका मुँह इस प्रश्नसे बंद कर दूँगा। रामचन्द्रजीने उसे जवाब देकर निरुत्तर किया। यथा—'बंधुबधूरत कहि कियो बचन निरुत्तर बालि'—(दो०)। अतः यह भी अभिमान उसका चूर्ण हुआ। (ख) 'बोला चितइ' का भाव कि उनके सन्मुख होकर अभिमानपूर्वक निर्भय वचन कहे। [पं०—हृदयमें अहंकार था। वह बाण लगनेसे दूर हुआ और अहंकारकी जगह प्रीति उत्पन्न हुई, चरणोंमें चित्त लगा और 'सुरमत्व धर्म' के कारण कुछ कोपका अंश शेष है। इससे कठोर वचन बोला। अथवा, सुग्रीव निकट खड़ा है, उसको सुनानेके लिए कठोर वचन कहे। इसपर शंका होती है कि अहंकार निवृत्त होनेपर कोप कैसे बना रहा? उत्तर यह है कि तनका स्वभाव तन पर्य्यन्त रहता है, जैसे खड्ग पारसके स्पर्शसे स्वर्णका हो जायगा पर धार उसकी वैसी ही रहेगी।]

मा० म०—बालिके हृदयमें रामप्रेम परिपूर्ण है। परन्तु मुखसे कठोर वचन बोला। कारण कि हृदयस्थ प्रेम न निबाहनेसे कृतघ्नता होती और यदि ऊपरसे कठोर वाणी बालि न कहता तो श्रीरामचन्द्रजीकी श्रेष्ठ वाणीका सुख न मिलता!

वि० त्रि०—'धर्म हेतु........साई' इति। वाली उपालम्भ करता है कि 'धर्मसंस्थापनार्थ' आपने अवतार ग्रहण किया और आपने स्वयम् अपने हाथोंसे धर्मका हनन किया। मुझ निरपराधको आपने छिपकर मारा, जिस भाँति व्याधा छिपकर निरपराध जन्तुओंका वध करता है। मुझे मरनेका उतना कष्ट नहीं है, क्योंकि वीरोंकी तो यही गति है, कष्ट भारी यह हुआ कि मैं अकस्मात् मारा गया, और कुछ न कर सका। यह

पीड़ा मृत्युकी पीड़ासे कहीं अधिक है। किसी धार्मिकको ऐसा नहीं करना चाहिये कि पुनः जिसने धर्मके लिये अवतार ग्रहण किया हो।

टिप्पणी—२ (क) 'गोसाईं' में यह कटाक्ष है कि आप गो (पृथ्वी) के स्वामी हैं। इसीसे पृथ्वीका भार उतारनेके लिए अवतार लिया है; पर यह अधर्म करके आप स्वयं ही पृथ्वीके भार हुए। अथवा, पृथ्वीके स्वामी क्षत्रिय होकर भी आपने मुझे व्याधकी तरह मारा—यह क्षत्रियका धर्म नहीं है। अथवा, आप पृथ्वीके स्वामी हैं तथापि पृथ्वी अनाथ है क्योंकि अधर्मी राजाके रहते पृथ्वी सनाथ नहीं होती। (वाल्मी० १७।४२)

## वालि-वधका औचित्य

वालिवधके विषयमें उपर्युक्त चौपाईको लेकर कुछ समालोचकोंने इसे आलोचनाका विषय बना लिया है और परब्रह्म परमात्मा मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रमें इसको एक धब्बा माना है। इस विषयमें तीन प्रकारसे विचार किया जाना आवश्यक है।

१—भगवान् रामचन्द्रजीको निर्गुण निराकार आदि विशेषणयुक्त परब्रह्म परमात्मा मर्यादापुरुषोत्तम मानकर, क्योंकि रामायणके सभी रचयिताओंने उनको अवतार मानकर ही चरित्र-चित्रण किया है।

२—राजनीतिकी दृष्टिसे, जिसमें अवतारसे कोई सम्बन्ध नहीं भी रख सकते हैं।

३—शरणागतवत्सलता एवं सत्यसंधताकी दृष्टिसे। उपासक लोग तो श्रीभगवान्‌के 'विटप ओट' होनेमें शरणागत-वत्सलताको ही मुख्य कारण मानते हैं और यह दास भी उन्हींके विचारोंसे सहानुभूति रखता है। इसीसे इसको सबके अंतमें रखा है।

अब प्रथम दृष्टिसे विचार प्रकट किया जाता है। जो लोग भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको अवतार मानते हैं (उनकी उपासना करते हों या नहीं, इससे हमें सरोकार नहीं), उनसे मेरा यह प्रश्न है कि 'क्या आप भगवान्‌के सारे कार्य्योंमें दखल (प्रवेश) रखते हैं, क्या भगवान्‌के जितने चमत्कार क्षण-क्षणपर प्रकट होते हैं और जो पूर्वसे ही दिखाई दे रहे हैं, आपने उन सबको समझ लिया है? क्या पञ्चतत्त्वसे बनी हुई यह क्षुद्र बुद्धि उस सर्वशक्तिमान्‌के कार्य्योंके कारण समझने सोचनेमें समर्थ हुई है? गर्भमें बच्चा क्यों उलटा रहता है? यह संसार क्यों रचा गया? अमुक वृक्षके पत्तोंमें क्यों ऐसे चिह्न हैं और अमुकमें दूसरे आकार क्यों हैं? तारागण कितने हैं, कहाँ तक हैं? पहले वृक्ष हुआ या बीज? इत्यादि इत्यादि जिसकी अद्भुत करनी है, जो—'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। बिनु कर करम करइ बिधि नाना॥ अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥', क्या उसको समझनेमें आप अपनेको समर्थ पाते हैं? क्या आपने पूर्वोक्त प्रश्नोंके उत्तर कभी सोचे और कुछ निश्चय किया है? आज जो एक Theory निकलती है, कुछ वर्ष बाद वह पलट जाती है। जिसे लोग आज एक बातका ठीक उत्तर समझते हैं उसीको कुछ दिन बाद वे ही लोग गलत मानते हैं। क्या यह बात ठीक नहीं है? ऐसी हालतमें दासकी क्षुद्रबुद्धिमें तो यही आता है कि भगवान्‌के कार्य्यमें संदेह करना उचित नहीं। उनके कार्य समयानुकूल और बहुत ही ठीक होते हैं, वे सदा अच्छा ही करते हैं। उनके सब कार्य यदि हमारी समझमें आ जायँ तो उनका सर्वशक्तिमत्ता-गुण ही कहाँ रह गया? अन्य मतावलंबियोंने भी यही मत प्रकट किया है—

'हरकि आमद इमारते नौ साख्त। रफ़्तो मंज़िल बदीगरे परदाख्त॥'

अर्थात् जो आया उसने एक नई इमारत खड़ी की, पर चला गया और मंजिल दूसरोंके लिए खाली कर गया। तात्पर्य कि जो आता है अपनी अक़्ल लड़ाता है और चला जाता है, कोई भी पार न पा सका। वही ईसामसीहका शूलीपर चढ़ना, जिसको ईसाई कुछ वर्ष पूर्व कमजोरी और अपने मतपर एक धब्बा समझते थे, आज अपने लिए एक बड़े भारी गौरव और बल यानी मुक्ति (Salvation) का कारण समझते हैं।

जब भगवान् श्रीरामचंद्रजी साक्षात् परमेश्वर हैं और यह उनका मर्यादापुरुषोत्तम अवतार है तब उनके चरितपर सन्देह कैसा? उनका कोई भी चरित ऐसा नहीं हो सकता जो मर्यादापुरुषोत्तमत्वपर धब्बा डाल सके।

☞ रामायणके पाठकोंके लिए महात्मा गान्धीका संदेश बहुत उपयुक्त समझकर यहाँ उद्धृत किया जाता है। वे लिखते हैं कि 'जिसके दिलमें इस सम्बन्धकी शंकाएँ शुद्ध भावसे उठें उन्हें मेरी सलाह है कि वे मेरे या किसी औरके अर्थको मंत्रवत् स्वीकार न करें। जिस विषयमें हृदय शंकित हो उसे छोड़ दें। सत्य, अहिंसादिकी विरोधिनी किसी वस्तुको स्वीकार न करें। रामचंद्रने छल किया इसलिए हम भी छल करें, यह सोचना औंधा पाठ पढ़ना है। यह विश्वास रखकर कि रामचंद्रजी कभी छल कर ही नहीं सकते, हम पूर्ण पुरुषका ही ध्यान करें और पूर्ण ग्रंथका ही पठन-पाठन करें। परन्तु 'सर्वारंभाहि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता' न्यायानुसार सब ग्रन्थ दोषपूर्ण हैं, यह समझकर हंसवत् दोषरूपी नीरको निकाल फेंकें और गुणरूपी क्षीर ही ग्रहण करें। इस तरह अपूर्णपूर्णकी प्रतिष्ठा करना, गुणदोषका पृथक्करण करना, हमेशा व्यक्तियों और युगोंकी परिस्थितिपर निर्भर रहेगा। स्वतंत्र सम्पूर्णता केवल ईश्वरमें ही है और वह अकथनीय है।

अब यहाँ कुछ महानुभावोंके विचार उद्धृत किए जाते हैं जिन्होंने इस चरितको धब्बा मानकर उसकी यथार्थता बतायी है अथवा लोगोंकी इस शंकाका समाधान किया है।

पं० रा० चं० शुक्ल—रामके चरित्रकी इस उज्ज्वलताके बीच एक धब्बा भी दिखाई देता है। वह है बालिको छिपकर मारना। वाल्मीकि और तुलसीदासजी दोनोंने इस धब्बेपर कुछ सफेद रंग पोतनेका प्रयत्न किया है। पर हमारे देखनेमें तो यह धब्बा ही सम्पूर्ण रामचरितको उच्च आदर्शके अनुरूप एक कल्पना मात्र समझे जानेसे बचाता है। यदि एक यह धब्बा न होता तो रामकी कोई बात मनुष्यकीसी न लगती और वे मनुष्योंके बीच अवतार लेकर भी मनुष्योंके कामके न होते। उनका चरित भी उपदेशक महात्माओंकी केवल महत्वसूचक फुटकर बातोंका संग्रह होता, मानवजीवनकी विषद अभिव्यक्ति सूचित करनेवाले संबद्ध काव्यका विषय न होता। यह धब्बा ही सूचित करता है कि ईश्वरावतार राम हमारे बीच हमारे भाईबंधु बनकर आए थे और हमारे ही समान सुखदुःख भोगकर चले गए। वे ईश्वरता दिखाने नहीं आए थे। भूलचूक या त्रुटिसे सर्वथा रहित मनुष्यता कहाँ होती है? इसी एक धब्बेके कारण हम उन्हें मानव जीवनसे तटस्थ नहीं समझते—तटस्थ क्या कुछ भी हटे हुए नहीं समझते।

जामदारजी—बालिवध इस काण्डकी एक और विशेषता है। विशेषता कहनेका कारण यह है कि बालिवधके संबंधमें श्रीरामजीपर कपटका दोष लगाया जाता है। आजकल तो विचारकी यह एक परिपाटीसी हो गई है। उसके मूलमेंके 'बिटप ओट' और 'व्याधकी नाईं' ये पद आधारभूत दिखलाये जाते हैं। आक्षेप ठीक है या नहीं, इसका अब थोड़ा विचार करें।

कपटका दोष सबसे प्रथम बालिने ही लगाया था और वह उस समय लगाया था जब वह पूरा परास्त और मरणोन्मुख होनेके कारण बिल्कुल ही क्रोधसे भरा था। यहाँ मुख्य देखना यह है कि बालि मरता जाता था तो भी उसका अहंकार ज्योंका त्यों जीता ही जागता था। इसका प्रमाण हम बालि-निधन-वर्णनके पहिले छंदमेंके 'मोहि जानि अति अभिमान बस' इन बालिके ही शब्दोंसे लेते हैं। इस अभिमानके वश होकर 'धर्म हेतु अवतरेउ गुसाईं। मारेउ मोहि व्याध की नाईं' इस तरह बालिने प्रश्न किया।

अभिमानी प्रकृतिकी 'गुणाः पदं न कुर्वन्ति ततो निंदा प्रवर्तते' यह स्वभावसिद्ध प्रवृत्ति रहती है। क्या बालिकी दृष्टिसे देखना हमारे लिए भी ठीक होगा? आक्षेपार्ह दो पदोंमेंसे एक 'तरु ओट' है। सभी संहिताएँ एकमतसे यही प्रतिपादन करती हैं। इसलिये इसके संबंधमें किसीको भी फरक करनेका हक नहीं, पर केवल एक इसी बातपर बिल्कुल निर्भर रहकर कपटका दोष आरोपित करना सुविचारका लक्षण नहीं कहा जा सकता।

दूसरा पद 'व्याधकी नाईं' है। यथार्थमें यह पद निर्घृणताका दर्शक है, क्योंकि व्याधजन अवश्य ही निर्दयत का होता है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह सदा कपट ही भरा रहता है। इसलिये व्याध शब्दसे दयाशून्यत्व लेना होगा।

आक्षेप करनेवाले पक्षके लोग व्याध शब्दसे कपटभाव लिया करते हैं। हमारे मतसे जिस व्यवहारके संबंधमें जिस विषयका प्रकाशन करना अत्यावश्यक रहता है, उस व्यवहारके संबंधमें, उस विषयका आच्छादन जब किसीसे जानबूझकर किया जाता है, तभी वह क्रिया 'कपट' कहलाती है।

इस व्याख्यानुसार, अपनेको जानबूझकर छिपाकर यदि रामजीने वालिपर बाण चलाया होता, तो उनपर कपटका अपराध अवश्य ही प्रमाणित हो सकता। परन्तु मूल-ग्रन्थ ही स्पष्ट कहता है कि यद्यपि वालि मैदानमें डटा हुआ प्रत्यक्ष सामने खड़ा था तो भी, रामजीने एकरूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम तें नहिं मारेउँ सोऊ', ऐसा कहकर तुरंत ही 'कर परसा सुग्रीव सरीरा' और 'मेली कंठ सुमनकी माला। पठवा पुनि बल देइ बिसाला' इस प्रकारसे सुग्रीवको फिर भेजा। इस वर्णनसे यह सोपपत्तिक सिद्ध हुआ कि अपनेको छिपाना तो दूरही रहा, उलटे और वालिकी ही दृष्टि अपनी ओर खींचनेका खास और निःशंक प्रयत्न रामजीने जानबूझकर किया। स्मरण रहे कि 'मैं चीन्हि नहीं सका', यह केवल औपचारिक निमित्त बतलाते हुए प्रत्यक्ष पक्षपात बतलानेके लिए और वालिकी दृष्टि उस तरफ खींचनेके लिये श्रीरामजीने सुग्रीवको पुष्पमाला पहिनाई थी।

आक्षेप करनेवालोंका अब ऐसा भी दर्शानेका प्रयत्न होगा कि वालिने रामजीके किसी भी कार्य्यकी ओर—सुग्रीवके गलेमेंकी मालाकी ओर भी,—दृष्टिक्षेप न किया। पर एक तो यह कहना ही सयुक्तिक नहीं है, क्योंकि वालि कुछ आँखें मूँदकर नींदमें अथवा समाधिमें नहीं लड़ रहा था। और दूसरे यदि वालिने देखा ही नहीं या देखनेकी परवा न की, तो यह किसका दोष है? यह साफ़ साफ़ उसका ही दोष है।

इन सब बातोंका इस प्रकार विचार करनेपर रामजीके ऊपर लगाया गया कपटका आक्षेप हमारे मतसे अनुपपत्तिक है।

पांडेजी—गोस्वामीजीने इस काण्डका प्रारंभ 'आगे चले बहुरि रघुराई' इस चरणसे किया है। प्रारंभमें ही 'रघुराई' नाम देनेका भाव यह है कि इस काण्डमें राजधर्मको प्रधान करेंगे। जब सुग्रीवने अपनी विपत्ति और वालिके अन्यायका वर्णन किया तब रघुनाथजीने दोनोंमें न्यायपूर्वक निर्णय न करके जानकीजीके पता लगानेमें अपना अर्थ विचार सुग्रीवका पक्ष लेकर वालिका वध किया, यही राजधर्म है, अपने धर्मकेलिए न्यायको नहीं देखते इसीसे 'रघुराई' पद दिया। फिर आगे चलकर 'सुनि सेवक दुख दीनदयाला। फरकि उठीं दोउ भुजा बिसाला' में 'दीनदयाल' शब्द देकर गोस्वामीजी वालिवधदोषको रघुनाथजी परसे दूर करते हैं। पुनः रघुनाथजी मानुषी चरित्र कर रहे हैं। मनुष्यको आपत्तिसे उबारनेका उपाय करना उचित है और समयानुकूल बरतना परम राजधर्म है। इसीसे गोस्वामीजीने कांडके प्रारंभमें 'रघुराई' शब्द लिखा है।

## राजनीतिकी दृष्टिसे विचार

किसी बातकी ठीक समालोचना और जाँच तभी हो सकती है जब समालोचक अपनेको उस समयमें पहुँचा दे जिस समयकी वह घटना है, जो समालोचनाका विषय है। वही समाजसुधार-सम्बन्धी बातें जो एक शताब्दिके पूर्व घृणासे देखी जाती थीं, आज उचित समझी जाती हैं, वही मनुष्योंका बेचना, गुलाम बनाना, बालविवाह आदि जो पहले अच्छे समझे जाते थे आज बुरे समझे जाते हैं। ऐसे ही आज संसारमें आपके सामने अनेक उदाहरण हैं, समझ लीजिए। जो बात पहले किसी समयमें नीतियुक्त समझी जाती थी उसीको आज अनीति कहा जाता है। ऐसी स्थितिमें क्या हम अपनेको सच्चे समालोचक कह सकते हैं यदि हम उस समय की घटनाकी यथार्थता वर्तमानकालकी नीतिसे जाँचें? मेरी समझमें तो कदापि नहीं।

हमको वालिवधपर आलोचना करनेके लिए त्रेतायुगकी नीतिका अवलंबन करना पड़ेगा। उस समयकी नीति अध्यात्म, वाल्मीकि आदिमें भी इस समयके प्रसंगपर दी हुई है और मनुस्मृतिका प्रमाण भी दिया गया है। यथा वाल्मी० सर्ग १८।

'तदेतत्कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः। भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम्॥१८॥
अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः। रुमायां वर्तसे कामात्स्नुषायां पापकर्मकृत॥१९॥

न च ते मर्षये पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्गतः। औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः॥२२॥
प्रचरेत नरः कामात्तस्य दण्डो वधः स्मृतः। भरतस्तु महीपालो वयं त्वादेशवर्तिनः॥२३॥'

अर्थात् तुमने धर्मका त्याग किया। छोटे भाईके जीतेजी उसकी स्त्रीको अपनी स्त्री बना लिया। इसके लिए प्राणदण्ड ही विधेय है....। वही बात गोस्वामीजीने भी कही है—

अनुजबधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकहि जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥

यह भी स्मरण रखने योग्य है कि श्रीरामचन्द्रजीने कुछ वालिको उत्तर देते समय ही यह बात नहीं कही है वरन् उसके बहुत पूर्व ही जब उनको सुग्रीवसे मालूम हुआ कि वालि उसका बड़ा भाई है और उसने मेरी स्त्री भी छीन ली, उसी समय इस दुष्चरित्रको सुनकर उनकी त्योरी बदल गई और उन्होंने तुरंत यही कहा कि—'यावत्तं नहि पश्येयं तव भार्यापहारिणाम्। तावत्स जीवेत्पापात्मा वाली चारित्रदूषकः। वाल्मी० १०।३३।' दूषित चरित्रवाले अर्थात् मर्यादा नष्ट करनेवाले वालिको तभीतक जीवित समझो जबतक मैं उसे नहीं देखता। वे मर्यादाका उल्लंघन, हिन्दू संस्कृतिकी अवहेलना कैसे सह सकते? वह अवतार ही 'श्रुतिसेतु' की रक्षाके लिए हुआ था।

वालिको श्रीरामचन्द्रजीका ईश्वरावतार होना अवगत है। वह जानता है कि सुग्रीवसे उनकी मित्रता हो गई है और वे उसकी रक्षामें तत्पर हैं। ताराने वालिको समझाया और प्रार्थना की कि सुग्रीवसे मेल कर लो, वैर छोड़कर उसे युवराज बना दो, अन्यथा तुम्हारी रक्षाका दूसरा उपाय नहीं है—'नान्या गतिरिहास्ति ते' (वाल्मी० १५।२८।); पर उसने अभिमान वश उसका कहा न माना और यही कहकर टाल दिया कि वे धर्मज्ञ हैं, पाप क्यों करेंगे, वा (मानसके कथनानुसार) वे समदर्शी हैं, एवं 'जौं कदाचि मोहि मारिहिं तौ पुनि होउँ सनाथ'। प्रभुने वालिको पहिली बार नहीं मारा। उसको बहुत मौक़ा दिया कि वह सँभल जाय, सुग्रीवसे शत्रुभाव छोड़ दे और उससे मेल कर ले, पर वह नहीं मानता। दूसरी बार अपना चिह्न देकर फिर भी करुणावरुणालय अकारणकृपालु भगवान्ने उसे होशियार किया कि सुग्रीव मेरे आश्रित हो चुका है; यह जानकर भी—'मम भुजबलआश्रित तेहि जानी'—उसने श्रीरामचन्द्रजीके पुरुषार्थकी अवहेलना की, उनका अत्यन्त अपमान किया, उनके मित्रके प्राण लेनेपर तुल गया तब उन्होंने मित्रको मृत्युपाशसे बचानेके लिए उसे मारा। इसमें 'बिटप ओट' से मारनेमें क्या दोष हुआ?

यदि इसमें अन्याय होता तो रामजी कदापि यह न कह सकते कि छिपकर मारनेके विषयमें न मुझे पश्चात्ताप है न किसी प्रकारका दुःख—'न मे तत्र मनस्तापो न मन्युर्हरिपुङ्गव॥ वाल्मी० ४।१८।३७।' देखिए कि जो रामजीसे इसका उत्तर माँग रहा है कि 'धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं', वह उत्तर पाकर स्वयं कहता है कि मैं निरुत्तर हो गया, आपने अधर्म नहीं किया। यथा—'न दोषं राघवे दध्यौ धर्मेऽधिगतनिश्चयः॥४४॥ प्रत्युवाच ततो रामं प्राञ्जलिर्वानरेश्वरः। यत्त्वमात्थ नरश्रेष्ठ तत्तथैव न संशयः॥४५॥' अर्थात् उत्तर सुनकर उसने धर्मको निश्चय जानकर राघवको दोष नहीं दिया और हाथ जोड़कर बोला कि आपने जो कहा वह ठीक है, इसमें संदेह नहीं।

जब स्वयं वालि ही यों कह रहा है तब हमको आज श्रीरामजीके चरितपर दोषारोपण करनेका क्या हक है?

अच्छा अब आजकलकी नीति भी लीजिए। उसके अनुसार भी देखिए। क्या जो राजा किसी राजासे मिलता है वह उसकी सहायता छोड़ देता है? क्या आज खाईं (trenches) आदिमें जानबूझकर एवं रात-बिरात छिपकर यकायक धोखा देकर, शत्रुपर छलकपटके व्यवहार लड़ाईमें जायज नहीं माने जा रहे हैं? शत्रुको जिस तरह हो सके मारना वा पराजय करना यही आजकलकी एकमात्र नीति है। इस नीतिके सामने

तो रामजी उत्तरदायित्वसे सर्वथा मुक्त हैं। आजकल तो लड़ाईमें धर्म अधर्मका कहीं विचार ही नहीं है। क्या आजकलकी छलकपटव्यवहारपूर्ण नीतिको देख सुनकर भी आपको वालिवधमें अनौचित्य दिखाई देगा?

बाबा रामप्रसादशरणजीने लिखा है कि वाली रावणका मित्र था जैसा कि रावण प्रति अंगदवाक्यसे स्पष्ट है-'मम जनकहि तोहि रही मिताई'। वैरीका मित्र वैरी ही है। यही बात पं० श्रीराजेन्द्रनाथजी विद्याभूषणने लिखी है। वे लिखते हैं कि—'दण्डकारण्यमें शूर्पणखाको भेजकर रावण निश्चिन्त था। क्योंकि उसके समुद्र पार लंकामें रहनेपर भी उसका अभिन्नहृदय मित्र वीरश्रेष्ठ वालि तो दंडकके समीप ही राज्य करता था। वालिकी जानकारीमें रावणको और रावणकी जानकारीमें वालिकी कोई क्षति नहीं हो सकती थी या उनपर कोई आपत्ति नहीं आ सकती थी। वे दोनों अग्निको साक्षी देकर संधिसूत्रमें बँध चुके थे। इस पार वालिका साम्राज्य था और उस पार रावणका, बीचमें था विराट् समुद्र। इस पारसे रावणके राज्यपर आक्रमण करनेवालेको सबसे पहले वालिके साथ युद्ध करना होगा और उस पारसे वालिके राज्यपर आक्रमण करनेवालेके साथ सर्वप्रथम रावणका युद्ध होना अनिवार्य था....(वाल्मी० ७।३४।४०-४३)।....शूर्पणखाने रामके पूछनेपर साफ कह दिया था कि रावण कुंभकरण विभीषण खरदूषण आदि मेरे भाई हैं। ऐसी अवस्थामें रावणकी बहनके नाक-कान काटनेका कितना भयंकर परिणाम हो सकता है, राजनीतिविशारद श्रीरामके लिए इस बातको समझना बाकी नहीं था।....अब यह भी मालूम होता है कि सीताहरणके बाद सहायताके लिए श्रीराम सुग्रीवके साथ मैत्री करनेके लिए तैयार न भी होते और वालिको मारकर सुग्रीवको फिरसे राजगद्दीपर बैठानेका प्रतिज्ञा न करते, तो भी उन्हें वालिको तो मारना ही पड़ता। समुद्रके उस पार लंकापतिपर आक्रमण करनेके लिए सारा उद्योग इस पार वालिके राज्यमें ही करना था। रावणबन्धु महावीर वालि मित्रके विरुद्ध रणसज्जाको कभी सहन नहीं कर सकता। संधिसूत्रके अनुसार रावणका शत्रु वालिका भी शत्रु था।....अतएव रामका सर्वप्रथम कर्त्तव्य हो गया था—वालिको पराजित करना। इसीलिए श्रीरामचन्द्रने एक दक्ष राजनीतिज्ञकी भाँति आगे पीछेकी सारी बातोंको सोच समझकर सुग्रीवके साथ मैत्री और वालिवधकी प्रतिज्ञा करके करोड़ों बानर सेनाकी सहायतासे कर्तव्यसंपादनका निश्चय किया था।....जीवनके प्रारंभमें राजपुत्र राम अपनी प्यारी जन्मभूमिको छोड़कर जानेको बाध्य हुए थे। प्रकृतिके लीलानिकेतन निविड़ दण्डकारण्यमें नवीन और विशाल साम्राज्य स्थापनके लिए ही कृतसंकल्प होकर श्रीरामने दण्डकमें प्रवेश किया था। वे वीर थे। उनके लिए कोई भी कार्य दुष्कर नहीं था। वे प्रसन्न चित्तसे आनन्दके साथ दिन बिता रहे थे। इसी बीचमें सीताका अपहरण होनेसे रावणके साथ युद्धका उद्योग करना पड़ा और उसीके अंगीभूत आवश्यक कर्तव्योंमें वालिवध भी एक कर्तव्य था। अतएव रामपर किसी प्रकार भी दोषारोपण नहीं किया जा सकता।....सीताके उद्धारके लिए सबसे पहले वालिका वध अत्यन्त आवश्यक था। प्रसंगवश इस वालिवधके उपलक्ष्यमें सुग्रीवके साथ मैत्री हो गयी जिससे समुद्रबन्धन आदि कठिन कार्य बहुत कुछ सहज साध्य हो गये।

नोट—इस विचारको प्रथम अपने लेखमें देना इससे उचित न समझा था कि यह बात वालिवध प्रकरणभरमें कहीं भी (वाल्मीकीय, अध्यात्म, हनुमन्नाटक या मानसमें) किसी ओरसे गुप्त या प्रकट किसी प्रकारसे नहीं दरसाई गई। शूर्पणखा वालिके पास क्यों न गई? जनस्थान राक्षसोंसे खाली हो गया, पर वालिने कोई मित्रकी सहायता न की। मानस और अध्यात्मसे विरोध भी होता है। और यहाँ रामचरितमानसका ही अधिक आधार लेना है। वाल्मीकीयमें वालिने कहा है कि मुझसे मिलते तो मैं क्षणमात्रमें रावणको पकड़कर सीतासहित आपके सामने उपस्थित कर देता। फिर वालिको उत्तर देते समय यह उत्तर तो बहुत अच्छा था कि तू रावणका मित्र है, तुझे मारना हमारा कर्तव्य था, पर इस उत्तरकी गंध भी यहाँ नहीं पाई जाती। और मानससे तो वालिका रामभक्त होना भी पाया जाता है। इत्यादि कई विचारोंसे इस राजनीतिक विचारको प्रकट न किया था यद्यपि बाबा रामप्रसादशरणजीने इसको लिखा भी था। कल्याणमें यह लेख पढ़कर उसको भी दे दिया है। पर इसमें 'विटप ओट' पर कुछ नहीं है।

यद्यपि मेरी समझमें तो जब वालि स्वयं अपनेको निरुत्तर मानता है तब हम को उसके उत्तरके अनुसंधानकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती. तथापि लोगोंकी शङ्काओंके समाधान और तरह भी हो सकते हैं—

१—श्रीरामजी सत्य-प्रतिज्ञ हैं। यह त्रैलोक्य जानता है कि राम दो वचन कभी नहीं कहते. जो वचन उनके मुखसे एकबार निकला, वह कदापि असत्य नहीं किया जा सकता। वे मित्र सुग्रीवका दुःख सुनकर प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि 'सुनु सुग्रीव मारिहौं बालिहि एकहि बान।' और यह भी कि 'सखा वचन मम मृषा न होई'। वाल्मी० में भी उन्होंने यही कहा—'अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन। एतत्ते प्रतिजानामि सत्येनैव शपाम्यहम् ।७।२२।' अर्थात् मैं झूठ कभी नहीं बोला और न आजही बोलता हूँ। मैं सत्यको साक्षी देकर तुम्हारे सामने शपथ करता हूँ। व्याधा भयसे नहीं छिपता। मुख्य कारण यह होता है कि कहीं शिकार उसे देखकर हाथसे जाता न रहे। यहाँ 'बिटपओट' से इसलिए मारा कि—यदि कहीं बालि हमको देखकर भाग गया अथवा छिप गया, (अथवा, शरणमें आ पड़ा—यह बात आगे लिखी गई है) तो प्रतिज्ञा भंग हो जायगी (एकही बाणसे मारनेकी प्रतिज्ञा है)। सुग्रीवको स्त्री और राज्य कैसे मिलेगा? पुनः, यदि सामने आकर खड़े होते तो बहुत सम्भव था कि वह सेना आदिको सहायताके लिए लाता। यह आपत्ति आती कि मारना तो एक बालिको ही था, पर, उसके साथ मारी जाती सारी सेना भी। स्मरण रहे कि यहाँ छिपनेमें कपटका लेश भी नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो प्रतिज्ञा पूर्ण होनेके बाद बालिके शरणागत होनेपर श्रीरामजी यह कैसे कहते कि 'अचल करौं तन राखहु प्राना'।

२—बालि जीसे चाहता था कि मेरा वध भगवान्‌के हाथोंसे हो, यथा—'त्वत्तोऽहं वधमाकाङ्क्षन्वार्यमाणोऽपि तारया ।वाल्मी० १८।५७।' अर्थात् आपके द्वारा अपने वधकी इच्छासेही तारा द्वारा रोके जानेपर भी सुग्रीवसे युद्ध करनेके लिए मैं आया था। यही बात मानसमेंके 'जौं कदाचि मोहि मारिहिं तौ पुनि होउँ सनाथ' से भी लक्षित होती है। सामने आनेपर भला उसकी यह अभिलाषा कैसे पूर्ण होती? भगवान् अन्तर्यामी हैं, उन्होंने उसकी हार्दिक अभिलाषा (जिसका बालिको छोड़ और किसीको पता भी न था) इस प्रकार पूर्ण की।

३—यद्यपि भगवान सब कुछ करनेमें समर्थ हैं, उनकी इच्छामें कोई वर या शाप बाधक नहीं हो सकता, तथापि यह उनका मर्यादापुरुषोत्तम अवतार है। मानसमयङ्ककार एवं और भी कुछ सज्जनोंका मत है कि बालिको किसीका वरदान था कि जो तेरे सम्मुख लड़नेको आवेगा उसका आधा बल तुमको मिल जायेगा। प्रभु सबकी मर्यादा रखते हैं इसीसे रावणवधके लिए नरशरीर धारण किया; नहीं तो जो कालका भी काल है क्या वह बिना अवतार लिए ही रावणको मार न सकता था? जिसके एक सींकसे देवराजके पुत्रको त्रैलोक्यमें शरण देनेवाला कोई न मिला क्या वह सीताके उद्धारके लिए वानरकटक एकत्र करता? सुग्रीवसे मित्रता करता? नागपाशमें अपनेको बँधवाता? इत्यादि। वह रावणको अवश्य साकेत वा वैकुण्ठमें बैठेही मार सकता था—पर देवताओंकी मर्यादा, उनकी प्रतिष्ठा, जाती रहती। उनके वर और शाप कोई काज न रह जाते। इसीलिए तो श्रीरामदूतने भी ब्रह्माका मान रक्खा और अपनेको नागपाशसे बँधवा लिया—'जौं न ब्रह्मसर मानिहौं महिमा मिटै अपार'। अतएव ओटसे मारकर वरकी मर्यादा रक्खी। ☞ अब पाठक निष्पक्ष हृदयसे विचार करें कि भगवान्‌का धर्मयुक्तकार्य्य इसमें हुआ कि उन्होंने देवताओंके वरदानकी मर्यादा रक्खी और गाली सहकर भी उसे ओटसे ही मारा, या कि, उनको प्रशंसा देवमर्यादा मिटा देनेमें होता?

४ पं० शिवरत्नशुक्लजी लिखते हैं कि 'वृक्षकी आड़से मारनेका कारण बालिको अकेला पाना था। अर्थात् नियत स्थलके उस अंशमें बालि सुग्रीवसे युद्ध करके लौटता और फिर वेगके साथ सुग्रीवकी ओर दौड़ता था। अतएव उसी स्थानका लक्ष्य वृक्षकी ओटसे किया गया था कि जिसमें भूलसे भी सुग्रीवको बाण न लगे; क्योंकि उस स्थानपर बालि अकेला था। यही कारण वृक्षकी ओटमें खड़े होनेका है। लोग कहते हैं कि बालि सम्मुख युद्ध करनेवाले वीर योद्धाका आधा बल हर लेता था; पर रामजीके साथ वह ऐसा नहीं कर सकता था। क्योंकि समुद्रका खारा जल जैसे एक घड़ेमें भरा नहीं जा सकता वैसेही बालि-

की शक्तिरूपी पात्रमें भुवनेश्वरका अर्द्धबल भी नहीं समा सकता था। अस्तु, यह शंका निर्मूल है।

## शरणागत-वत्सलता एवं सत्यसन्धता

श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रमें उनका पूर्ण ऐश्वर्य और परब्रह्मत्व सबसे अधिक उनके शरणागत-वत्सलता गुणसे प्रकट होता है। इसी गुणने भक्तोंको रिझा रक्खा है। प्रायः सर्वत्र श्रीरामचन्द्रजीने अपने ऐश्वर्यको छिपाया है। पर विभीषणजीकी शरणागतिके समय जब एक श्रीहनुमान्‌जीको छोड़ सुग्रीव, जाम्बवान्, अंगद आदि सभीने उनको शरणमें न लेनेका मंत्र दिया; तब सुग्रीवको प्रभुने अनेक प्रकारसे समझाया और अन्ततागत्वा उन्हें यह कहना ही पड़ा कि 'तुम मेरे प्रभावको नहीं जानते, मैं अँगुलीके अग्रभागके इशारेसे त्रैलोक्यका नाश कर सकता हूँ, थोड़ेसे राक्षस तो चीज ही क्या हैं? पर मैं शरणागतको नहीं छोड़ सकता, चाहे मेरा सर्वस्व नाश क्यों न हो जाय।' वाल्मीकि आदि रामायणोंमें शरणागतिपर प्रभुके बहुत कुछ वचन हैं। प्रभुने यहाँतक कह दिया कि 'यह क्या, यदि वह रावण भी हो और वह मेरी शरण (कपटवेषसे ही) आया हो, तो भी मैं उसे अभय देता हूँ, तुम उसे लिवा लाओ।' देखिए, श्रीलक्ष्मणजीको शक्ति लगी, पर ऐसे दारुण शोकके समय भी उन्हें सीताजी या और किसीकी चिन्ता नहीं है; लक्ष्मणजीका भी शोक है, तो इसी कारण कि विभीषण हमारी शरण आया हुआ है, अब हम उसका मनोरथ कैसे पूरा करेंगे। गीतावलीमें श्रीरामजी कहते हैं।

'मेरो सब पुरुषारथ थाको। बिपति बँटावन बंधु बाहु बिन करौं भरोसो काको।१।
सुनु सुग्रीव साँचहू मोसन फेर्‌यो बदन बिधाता। ऐसे समय समर संकट हौं तज्यो लषन सो भ्राता।२।
गिरि कानन जैहहि शाखामृग हौं पुनि अनुज सँघाती। ह्वै है कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती।३।'

यहाँपर शरणागतिपर जैसा प्रबल और दृढ़ भगवद्वचनामृत है, वैसा शायद ही और कहीं मिले—

'कोटि-बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं।
जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रानकी नाई॥'

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।'
'मित्रभावेनसंप्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्।'

इसी तरह भगवान्‌ने अपने श्रीकृष्णावतारमें भी कहा है—

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'
'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव समन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।'

यही वाक्य आज भगवद्भक्तोंकी, अनेक समाजों, पन्थों, मतवादियोंसे, रक्षा कर रहे हैं। इसी जगह आकर अन्य मतवादी हिन्दू भाई दाँत तले उँगली दबा लेते हैं, नहीं तो अवतारखण्डन तो वे करते ही रहे और करते भी हैं।

सुग्रीव वालिसे बहुत कमजोर है। वह स्वयं कहता है कि 'ताके भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला।', यही कारण है कि श्रीसीताजीकी खोजमें जब उसने वानरोंको भेजा तब चारों दिशाओंका अन्तिम सीमातकके नाम उसने वानरोंसे बताए। वालिसे संसारभरमें उसका कोई रक्षक न हुआ।—'बालित्रास ब्याकुल दिन राती। तन बहु ब्रन चिंता जर छाती।', ऐसा सुग्रीव जब प्रभुकी शरण हुआ, उससे प्रभुने मित्रता की और उसका दुःख सुनकर एवं यह जानकर कि वालिने उसका सर्वस्व हर लिया, उनसे रहा न गया। वालिके अधर्मको वे सह न सके। यद्यपि वालिने उनका कोई निजी अपराध नहीं किया था तो भी 'सेवक बैर बैर अधिकाई'। मित्रका शत्रु अपना ही शत्रु है, यह सोचकर उन्होंने तुरंत प्रतिज्ञा की कि 'सुनु सुग्रीव मैं मारिहौं बालिहि एकहि बान।' यही तो मित्रधर्मकी पराकाष्ठा है।

प्रभुका बाना है गरीबनिवाज, दीनदयालु, प्रणतपाल ! इसीसे उन्होंने दीन, गरीब और शरणागत सुग्रीवकी रक्षा उसके अति प्रबल शत्रुसे की। हनुमानजीने कहा ही है कि 'दीन जानि तेहि अभय करीजे।'

भगवान्‌ने 'बिटप-ओट' से बालिको मारनेका चरित वस्तुतः क्यों किया, इसमें क्या रहस्य है—यह तो श्रीरामही जानें, या वे जानें जिन्हें वे जना दें। पर श्रीअवधमें महात्माओंसे जो सुना है वह यह है—

बालि जानता है कि रावणवधके लिए प्रभुने अवतार लिया है, ताराने भी जब उससे कहा कि—

'सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा। ते दोउ बंधु तेज बल सींवा॥
कोसलेससुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥'

तब उसने यही कहा कि 'समदरसी रघुनाथ। जौं कदाचि मोहि मारिहिं तौं पुनि होउँ सनाथ॥' और मारे जानेपर जब प्रभु समीप आये तब वह एकबारगी उठ बैठा और कहने लगा कि धर्महेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥' इससे स्पष्ट है कि वह जानता था कि ये परब्रह्म परमात्मा हैं। आनंदरामायणमें भी कहा जाता है कि ताराके वचन सुनकर बालिने कहा था कि 'जानाम्यहं राघवं तं नररूपधरं हरिम्। तस्य हस्तान्मृतिर्मेऽस्तु गच्छामि परमं पदम्।' अर्थात् मैं उन नररूपधारी भगवान् राघवको जानता हूँ, उन्हींके हाथसे मेरी मृत्यु हो, मैं परमपदको पाऊँगा।

यदि प्रभु सामने आते तो किंचित् सन्देह नहीं कि वह दर्शन पाते ही अवश्य चरणोंपर गिर पड़ता। इसका प्रमाण है—

'परा बिकल महि सर के लागे। पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगे॥

और, 'सुफल जनम माना प्रभु चीन्हा॥'

तब श्रीरामजी बालिको कैसे मारते ? और न मारते तो मित्रका काम कैसे होता ? एवं सत्यसंधता कहाँ रह जाती ? तथा ऋषियोंके वाक्य कैसे सत्य होते* ? शरणमें आए हुए सुग्रीवको छोड़ देते तो ब्रह्माण्ड भरमें आज उनकी शरणमें कौन विश्वास करता ? जीव उनकी शरणमात्र लेनेसे अपने कल्याणका विश्वास और निश्चय कब कर सकता ? सामने आनेपर वे शील कैसे छोड़ देते ? इसलिए उसे 'बिटप ओट' से मारा। इसपर यह कहा जा सकता है कि बालि भक्त था तो पहले ही शरणमें क्यों न आया, जब ताराने उसको समझाया था ? इसका कारण यह ज्ञात होता है कि सुग्रीवने जाकर उसे ललकारा था। भला ऐसा कौन बलवान पराक्रमी वीर योद्धा होगा जो शत्रुकी ललकारपर उलटे उसके सामने हाथ जोड़े ? यथा—'रिपूणां धर्षितं श्रुत्वा मर्षयन्ति न संयुगे। वाल्मी० १४।१८। जानन्तस्तु स्वकं वीर्यं स्त्रीसमक्षं विशेषतः।', 'बाली रिपुबल सहै न पारा'।

छिपकर भी मित्रके शत्रुको मारनेमें कुछ दोष नहीं है। मान भी लिया जाय, तो भी वह क़ानून ही और है और शरणागतवत्सलताका कानून उन सारे सांसारिक क़ानूनोंसे निराला है। यह तो नियमका अपवाद है, यह तो भगवान्‌का निज क़ानून है। अपने भक्तोंकी रक्षाके लिए प्रभु ब्रह्मण्यदेवत्व आदि गुणोंको भी ताक़ पर रख देते हैं, उनको यह भी परवा नहीं कि हमको कोई बुरा कहेगा। अपने स्वार्थकी हानि हो तो हो पर मित्रको हानि न पहुँचे, उसका कार्य अवश्य सिद्ध करना होगा, जो प्रतिज्ञा हो गई सो हो गई, अब उससे नहीं टलनेके। विरदमें धब्बा न आवे। इसी पर गोस्वामीजीने विनय और दोहावलीमें कहा है—

---

* सप्ततालके प्रसंगमें कहीं ऐसा उल्लेख है कि किसी ऋषिने बालिको शाप दिया था, अथवा तक्षक या उसके पुत्रने ही बालिको शाप दिया था कि जो कोई इन सप्ततालोंको एक बाणसे वेधे उसीके हाथ तेरी मृत्यु होगी। इसीसे सप्ततालके गिरते ही सुग्रीवको अपने कार्यसिद्धिका विश्वास हो गया था। यदि इस समय भगवान् उसे न मारते तो संसारमें दूसरा कौन बलवान् था जो उसको मार सकता ? दिग्विजयी रावण भी उससे हार चुका था। प्रभाव इसका यह पड़ता कि बालिका अभिमान और भी बढ़ता और वह दूसरा रावण हो जाता, तब उसके लिए फिर अवतार लेना पड़ता।

'ऐसे राम दीन हितकारी।....तियविरही सुग्रीव सखा लखि हत्यो बालि सहि गारी।'
'का सेवा सुग्रीवकी प्रीति रीति निरबाहु। जासु बंधु बध ब्याध ज्यों सो सुनत सुहाइ न काहु॥
भजन विभीषनको कहा फल कहा दियो रघुराज। राम गरीबनिवाज के बड़ी बाँह बोल की लाज।' (विनय)
'कहा विभीषण लै मिलेउ कहा बिगारी बालि। तुलसी प्रभु सरनागतहि सब दिन आए पालि॥
बालि बली बलसालि दलि सखा कीन्ह कपिराज। तुलसी राम कृपालु को बिरद गरीबनिवाज॥
बंधुबधूरत कहि कियो बचन निरुत्तर बालि। तुलसी प्रभु सुग्रीवको चितई न कछू कुचालि॥'

पुनः, यथा—'बालि दसानन बंधु कथा सुनि सत्रु सुसाहिब सील सराहैं। ऐसी अनूप कहैं तुलसी रघुनायक की अगुनी-गुन-गाहैं। आरत दीन अनाथन को रघुनाथ करैं निज हाथन छाहैं। (क० उ० ११)

इसी विषयमें वाल्मी० आ० स० १० भी प्रमाणमें दिया जा सकता है। वहाँ जब महारानीजीनें आपसे प्रार्थना की कि आपने राक्षसोंके वधकी प्रतिज्ञा की है पर मेरी प्रार्थना है कि आप विना अपराधके उनका वध न करें, उस समय प्रभुने यह उत्तर दिया कि 'दण्डकारण्यके ऋषि मेरी शरण आकर मुझसे बोले कि आपही हमारे नाथ हैं, आपही हमारे एकमात्र रक्षक हैं। यह सुनकर मैंने राक्षसवधकी प्रतिज्ञा की। अब उस प्रतिज्ञाको मैं नहीं छोड़ सकता, सत्य मुझे सदा प्रिय है। मैं प्राण छोड़ सकता हूँ, तुमको एवं लक्ष्मणको छोड़ सकता हूँ, पर प्रतिज्ञा नहीं छोड़ सकता*'। ऐसा ही प्रभुने सुंदरकांडमें कहा है—'मम पन सरनागत भय हारी'। और भी प्रमाण लीजिए। जब रामचन्द्रजीने भागते हुए माल्वान्, माली और शुमालीपर बाण चलाया तब उन्होंने यही कहा कि आप अधर्मयुद्ध करते हैं कि भागते हुएका भी पीछा कर रहे हैं तब भगवान्ने यही उत्तर दिया था कि इस समय हम धर्माधर्म नहीं देखते, हम देव-मुनि-रक्षामें तत्पर हैं उनके लिए जैसे बने हम उनका कार्य करेंगे।

आधुनिक समालोचकोंको चाहिए कि सहृदयता और सद्भावनासे ही ईश्वरावतारचरित्रोंपर विचार करनेका कष्ट उठाया करें, तभी उसके रहस्य उनकी समझमें आ सकते हैं।

## सुग्रीव-मिताई एवं वालिवधके कुछ और कारण

१ शबरीजीने सुग्रीवका पता बताया और कहा कि 'पंपासरहि जाहु रघुराई। तहँ होइहि सुग्रीव मिताई। सो सब कहिहि देव रघुबीरा।' अर्थात् वह सीताजीका पता बताएगा, उससे मित्रता कीजिए, वह बहुत दीन है। एक परम भक्तकी यह सलाह है, फिर उसे भगवान् क्यों न मानते?

२ वाल्मीकीयमें कबन्धने दिव्यरूप धारण करनेपर यही बात कही कि सुग्रीवके पास जाइए, उससे मित्रता कीजिए। वह धर्मात्मा है। वालिसे मिलनेको किसीने न कहा। इससे यह भी अनुमान होता है कि वालिका अभिमान अतिशय बढ़ चुका था और उससे ऋषियों, भागवतों इत्यादिको भी कष्ट पहुँचने लगा था, वे सब वालिको अधर्मी समझने लगे थे। संभव था कि वह कुछ कालमें दूसरा सहस्रार्जुन हो जाता जिसने महर्षि जमदग्निका सिर ही काट लिया था।

३ श्रीसीताजीने भी सुग्रीवपर कृपा की। वा, यही समझ लीजिए कि दैवसंयोगसे सीताजीने 'पट-भूषण' जो फेंके वे सुग्रीवको मिले थे। प्राणप्रियकी कोई वस्तु जिससे मिले वह भी प्यारा ही हो जाता है।

४ सुग्रीव सीताशोधमें सहायता करेगा, उसके बदलेमें रघुनाथजीका उपकार उसपर हुआ है। उसके उपकारसे प्रभु उऋण हो गए। पर वालिसे मित्रता करनेमें उसके उपकारके बदलेमें आप क्या करते? उसका

* 'रक्षकस्त्वं सह भ्रात्रा त्वन्नाथा हि वयं वने। मया चैतद्वचः श्रुत्वा कार्त्स्न्येन परिपालनम्।१६। ऋषीणां दण्डकारण्ये संश्रुतं जनकात्मजे। संश्रुत्य च न शक्ष्यामि जीवमानः प्रतिश्रवम्।१७। मुनीनामन्यथा-कर्तुं सत्यमिष्टं हि मे सदा। अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।१८। न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः। तदवश्यं मया कार्यमृषीणां परिपालनम्।१९।'

साथ देनेसें उसके साथ आपको भी अपराधी बनना पड़ता; क्योंकि वह बेचारे सुग्रीवको निरपराध माननेको कहता। दूसरे, बालिसे मित्रता करनेमें प्रभुके यशकी हानि होती। उनके ऐश्वर्यको लोग न जान पाते। सब यही कहते कि बालि तो रावणसे बली था, उसकी सहायतासे रामचन्द्रजीने सीताको पाया। तीसरे, रावण-मेघनाद आदिकी मृत्यु बालि द्वारा हो नहीं सकती थी, बालिके रहते हुए भी तो देवता और ऋषि रावणसे पीड़ित ही रहे। यदि उसमें रावणादिके वधका सामर्थ्य होता तो वह अपने पिता इन्द्रको कबका रावणसे स्वतंत्र कर चुका होता और जैसा हनुमन्नाटकमें उसने कहा है वह कदापि न कहता कि—'हा! मैं अपने पिता इन्द्रके शत्रु रावणको बिना ही मारे मर गया, यही मुझे दुःख है'—(अंक ५ श्लो० ५७)। बालि द्वारा सीता भले ही प्राप्त हो जातीं पर निशिचरकुलसहित रावणवध तो किसी तरह न होता। जिसके लिए अवतार और वनवास हुआ वह कार्य ज्योंका त्यों ही रह जाता। और चौथे, सम्राट् चक्रवर्ती पद भी कहाँ रह जाता? पाँचवें, बालि अभिमानी प्रकृतिका है और बस्तीमें रहता है। उससे मित्रतामें चक्रवर्तीराजकुमारका गौरव कब बना रह जाता? इत्यादि। उधर सुग्रीव महान् आर्त्त है. बालिसे ऐसा भयभीत रहता है कि श्रीरामलक्ष्मणजीको भी देखते ही भागा कि कहीं बालिने न भेजा हो। फिर मित्रताकी बात भी प्रथम उधरसे ही हुई. परमभक्त हनुमान्‌जी उसकी सिफ़ारिश करते हैं—'दीन जानि तेहि अभय करीजै'। उससे जब मित्रता हो गई तब 'मित्रके दुख रज मेरु समाना', इस न्यायानुसार उसका दुःख दूर करना कर्त्तव्य और धर्म था। फिर, सुग्रीवसे मित्रता करनेमें रघुकुलका गौरव भी बना रहा और अवतारका कार्य भी सब हुआ। ☞ और भी भाव यत्र तत्र चौपाइयोंमें आ चुके हैं। बालिके प्रश्न और उनके उत्तर दोहा ९ (९-१०) में मानसके अनुसार दिए गए हैं, वहाँ देखिए।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—गुरु वसिष्ठजीने कहा है कि 'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ।' भाव यह कि किसी भी कार्यके संपन्न करनेमें इन चार बातोंपर ध्यान रखना चाहिए और इनका यथार्थ जानकार श्रीरामजीको छोड़कर दूसरा कोई नहीं है। अतः श्रीरामचन्द्रजीके चरित हिन्दू जगत्‌में आदर्श माने जाते हैं। यदि हमें उपर्युक्त प्रकरणको समझना है, तो उसे नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थकी दृष्टिसे परखना चाहिए। तभी हमारी गति उसके मर्मतक हो सकती है।

बालिबधके औचित्यमें लोग बड़ी-बड़ी शंकायें उपस्थित करते हैं। श्रीरामजीके उत्तरसे बालीका समाधान तो हो गया, पर उनका समाधान नहीं होता है। यदि नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थकी दृष्टिसे परीक्षा की जाय, तो बहुत संभव है कि उनकी शंकाओंका समाधान हो जाय।

(१) नीति दृष्टिसे यदि देखें तो प्रजापालन ही राजाका कर्तव्य ठहरता है. और वह बिना दुष्टोंके शासनके हो नहीं सकता। महाराज दशरथने रामजीको राज्य देनेके लिये कहकर नारिवश होकर वन दिया, पर धर्म-धुरंधर रामजीने बन देनेपर भी पिताके वाक्यको सत्य माना। माँसे कहते हैं 'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू।' कथा प्रख्यात है, रामजीने वनमें जाकर ऐसा दमन किया कि शूर्पणखा कहती है कि 'जिन्ह कर भुजबल पाइ दसानन। अभय भये बिचरत मुनि कानन', राक्षसोंसे वैर बँध गया। रावणने सीता-हरण किया। सीताजीको खोजते खोजते रामजी ऋष्यमूक पहुँचे। वहाँ सुग्रीवसे मैत्री हुई। उसके भाई बालीसे रावणकी अग्नि साक्षिक मैत्री थी। शत्रुका मित्र भी शत्रु होता है, अतः बाली भी एक बलवान शत्रु था, उसके रहते रावणके वधमें बड़ी बाधा थी। बालीने सुग्रीवका सर्वस्व हरण तथा स्त्रीका भी हरण किया था, अतः दोनोंमें शत्रुता थी। नीतिनिपुण रामजीने सुग्रीवसे अग्निसाक्षिक मैत्री की।

अब सुग्रीव यदि निष्कण्टक समृद्ध राज्य पा जाय तो सीताकी भी खोज हो, और रावणवधमें भी सहायता मिले। बालिसे यदि प्रत्यक्ष होकर युद्ध किया जाय, तो बहुतसे वानर वीरोंका संहार होगा, जिनसे कि रावणकी लड़ाईमें काम लेना है, और सुग्रीवको उजड़ी हुई पुरी मिलेगी। अतः रामजी अकेले सुग्रीवके साथ किष्किन्धा गये। जीमें ठान लिया कि मैं छिपा रहूँगा, और सुग्रीव जाकर बालीको ललकारे,

जब वाली बाहर आयेगा तो मैं मार दूँगा। वाली स्त्रीहरण करनेवाला आततायी है, इसके वधमें विचारकी आवश्यकता भी नहीं, और वही हुआ। नीतिके अनुसार वालीको छिपकर मारना ही प्राप्त था।

(२) प्रीति—रामजीकी सुग्रीवसे मैत्री हुई। शरणागतवत्सल रामजी उसकी दुःखकथा सुनकर द्रवीभूत हो गये, प्रतिज्ञा कर दी 'सुनु सुग्रीव मैं मारिहौं वालिहि एकहि वान', अतः सुग्रीवकी प्रीतिसे जो प्रतिज्ञा की उसीसे वालिवध हुआ। इधर वाली यद्यपि शत्रु था, आततायी था, धर्मतः वध्य था, फिर भी ईश्वरका प्रेमी था। वह अपनी वीरगति चाहता था, और उस समय ईश्वरके दर्शनका बड़ा अभिलाषी था। बाण खाकर गिरनेपर, उसकी कोमल वाणीसे प्रसन्न होकर उसे प्रभुने जिलाना चाहा, तो वह कहता है।

'जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं, अंत राम कहि आवत नाहीं।
मम लोचन गोचर सोइ आवा, बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा।'

ऐसे वालीका वध रामचन्द्रजी सन्मुख जाकर नहीं कर सकते थे। अतः प्रीतिकी दृष्टिसे भी छिपकर मारना ही प्राप्त था।

(३) परमार्थ—इस विषयमें जो स्वयम् वाली और रामचन्द्रमें प्रश्नोत्तर हुआ उसने उसमें व्याधाकी भाँति वध करनेसे रामजीपर आक्षेप किया। रामजीने 'बन्धु बधूरत' कहकर उसे निरुत्तर कर दिया। वालीने प्रश्न करनेमें चालाकी की; उसे रामजीने पकड़ लिया। रामजीने वालीको उसके अन्यायके लिये दण्ड दिया और वाली उसे युद्धका रूप देकर प्रश्न करता है। वस्तुतः युद्ध दूसरी वस्तु है और दण्ड देना दूसरी वस्तु है। छिपकर मारना दण्डकी तीव्रता है। वध-दण्ड तो अनुज-वधूको कुदृष्टिसे देखनेवालेके लिये है, पर 'बन्धु बधूरत' को उससे तीव्र दण्ड देना चाहिये, और वधसे कोई बड़ा दण्ड नहीं है, अतः वधकी विधिमें तीव्रता लानेके लिये व्याधाकी भाँति वध किया। जिस समय वाली अपनेको विजयी समझकर सुग्रीवका वध कर रहा था, उसी समय अकस्मात् बाणका कलेजेमें घुस जाना वध दण्डकी तीव्रता है। राजा यदि यथार्थ दण्ड न दे, दण्डमें न्यूनाधिक्यको स्थान दे, तो उस दोषका राजा भागी होता है। इस उत्तरका प्रत्युत्तर वालीके पास नहीं था। अतः परमार्थ दृष्टिसे इसी प्रकारसे बालिवध उचित था—

(४) स्वार्थ—यदि वालिवध करके सुग्रीवको निष्कण्टक समृद्ध राज्य रामजीने न दिया होता, तो सीताजीका पता लगना ही कठिन था, समुद्रपर पुल बाँधना और वानरी सेनाके साथ लंकापर चढ़ाई करना तो दूरकी बात थी। अतः वैदेहीकी प्राप्तिके लिये भी वालि-वध परमावश्यक था। स्वयम् भगवान् मारुतीने जब सीताजीको अशोक वाटिकामें देखा तो मनमें कहा। 'अस्या हेतोर्विशालाक्ष्या हतो बाली महाबलः।' (वाल्मी० १६।७)। अतः स्वार्थकी सिद्धि भी वालीके छिपकर मारनेमें ही थी।

जो बात नीति प्रीति परमार्थ और स्वार्थसे सिद्ध है, उसपर शंका उठना गम्भीर विषयके मर्म न समझनेका ही फल है।

नोट—रामनिष्ठ पं० वजरंगदासका मत है कि श्रीरामजीने छिपकर नहीं मारा। (बालिवध दर्पण)।

**मैं बैरी सुग्रीवँ पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥६॥**

अर्थ—मैं वैरी हूँ, सुग्रीव प्यारा है! हे नाथ! किस अवगुणसे मुझे आपने मारा।६।

नोट—१ 'मैं बैरी सुग्रीव पिआरा' में अ० रा० के 'सुग्रीवेण कृतं किं ते मया वा न कृतं किमु।२।५४।' का भाव है। अर्थात् सुग्रीवने आपके साथ क्या उपकार किया और मैंने क्या नहीं किया। भाव कि मैं तो आपको समदर्शी सुनता और जानता था पर आपमें यह गुण नहीं है, लोग झूठा ही ऐसा कहते हैं और मैं भी इसी धोखेमें मारा गया।

२ 'अवगुन कवन नाथ मोहि मारा' कहकर जनाया कि मैं निरपराध मारा गया। मैंने आपके देश या नगरमें कोई उपद्रव नहीं किया, आपका तिरस्कार नहीं किया, मैं आपसे युद्ध नहीं करता था किंतु दूसरेसे युद्ध करता था, तब आपने मुझ निरपराधीको क्यों मारा?—यथा—'विषये वा पुरे वा ते यदा पापं

करोम्यहम्। न च त्वामवजानेऽहं कस्मात्त्वं हंस्यकिल्बिषम्।....वाल्मी० १७।२४।', 'किं मयापकृतं राम तव येन हतोऽस्म्यहम्। अ० रा० २।५१।' का प्रतिरूप ही यह चरण है। केवल भेद इतना है कि अ० रा० में 'राम' है और यहाँ 'नाथ'।

३ 'नाथ' में भाव यह है कि आप कुलीन, बलवान्, तेजस्वी, चरित्रवान्, कारुणीक, प्रजाका हित करनेवाले, दयालु, उत्साही, दृढ़संकल्प, दम, शम, क्षमा, धर्म, धृति, सत्व और पराक्रम आदि सर्वगुण संपन्न सुने जाते हैं जो 'नाथ' में होने चाहिएँ; पर आपने मुझे निरपराध मारा, इस निन्दित कर्मके कारण पृथ्वी आपको स्वामी पाकर सनाथ नहीं हुई—'त्वया नाथेन काकुत्स्थ न सनाथा वसुंधरा। वाल्मी० १७।४२।'

टिप्पणी—१ ये सब बातें कहकर बालिने रामजीको अधर्मी बनाया—(१) धर्म हेतु आपने अवतार लिया और मुझको छिपकर मारा। यह अधर्म है। (२) आपने समदर्शी होकर मुझको वैरी और सुग्रीवको प्यारा समझा, यह अधर्म है। (३) बिना अवगुण मारा; यह अधर्म है। भाव यह कि भाइयोंमें वैर प्रीति समयानुसार परस्पर होती ही रहती है परन्तु, हे नाथ! आपने क्यों बिना विचारे ऐसी अनीति की और इस नियमको तोड़ दिया। (मा० म०)। (४) अन्यके वैरसे अन्यको मारना अधर्म है।

**अनुजबधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥७॥**
**इन्हहि कुदृष्टि बिलोकै जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥८॥**

अर्थ—अरे शठ! सुन। छोटे भाईकी स्त्री, बहिन, पुत्रकी स्त्री और कन्या ये चारों समान हैं।७। इनको जो कोई बुरी दृष्टिसे देखे उसका वध करनेसे कुछ पाप नहीं होता।८।

टिप्पणी—१ यहाँ प्रथम 'अनुजबधू' कहा, क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग यही है। इसे प्रथम कहकर बालिको जनाते हैं कि तू छोटे भाईकी स्त्रीमें रत है। २—'कुदृष्टि बिलोकै०' इति। भाव कि छोटे भाईकी स्त्रीपर कुदृष्टि देखनेसे ही वधका दंड होता है और तूने तो उसे ग्रहण करके स्त्री बना लिया है। तेरे वधसे हमको पाप नहीं लग सकता, पर यदि तेरा वध न करते तो पाप होता। पापीको मारना हमारा धर्म है, इसीसे तुझे मारा। यथा—'अदण्डयान् दण्डयन् राजा दण्डयांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति। इति मनुः।' अर्थात् जो राजा निरपराधियोंको दंड दे और अपराधियोंको दंड न दे वह बड़े अपयशको प्राप्त होता है और नरकको जाता है। 'धर्मस्य गोप्ता लोकेऽस्मिंश्चरामि स शरासनः।५९। अधर्मकारिणं हत्वा सद्धर्मं पालयाम्यहम्' (अध्यात्म स० २)। अर्थात् इस लोकमें हम धर्मके पालन करनेवाले धनुर्धारी होकर विचरते और अधर्मीको मारकर सद्धर्मकी रक्षा करते हैं।

शिवपुराण २।३।४० में इससे मिलता हुआ यह श्लोक है वह भी प्रमाणमें लिया जा सकता है—'यथा माता च भगिनी भ्रातृपत्नी तथा सुता। एताः कुदृष्ट्या द्रष्टव्यः न कदापि विपश्चिता॥'

नं० प०—ऐसा करनेवालेकी गिनती आततायीमें है, इसीसे उसके वधमें पाप नहीं लगता। बालिके 'मारेहु मोहि ब्याध की नाईं' का (अर्थात् व्याधाकी तरह मारनेमें उसने पापका आरोपण किया था उसीका) उत्तर है कि जो अनुजवधूको कुदृष्टिसे देखे उसके वधमें पाप नहीं होगा। 'अवगुन कवन नाथ मोहि मारा' का भी यही उत्तर है; 'मैं बैरी सुग्रीव पिआरा' का उत्तर है कि सुग्रीव अमानी है इसलिये वह प्रिय है और तुम अभिमानी हो इसलिये अप्रिय हो।

नोट—१ मा० म० में 'सुन सठ ए कन्या सम चारी' पाठ है और अर्थ किया है कि 'छोटे भाईकी स्त्री, बहिन, भगिनी-सुतनारी अर्थात् बहिनकी पतोहू और सुतनारी (पतोहू) ये चारों अपनी कन्याके तुल्य हैं'। इस अर्थमें 'सुतनारी' को दो बार लिया है, एकबार भगिनीके साथ मिलाकर दूसरी बार अकेले। परन्तु अधिक उत्तम अर्थ वही है जो ऊपर दिया गया है। यदि पाठ यही हो तो भी अन्वयमें 'ए' शब्द चारी-के साथ लिया जा सकता है। दूसरे, अध्यात्ममें इसकी जोड़का श्लोक भी ऊपर दिए हुए अर्थकाही प्रमाणित करता है। वाल्मी० १८।१४, २२ से भी यही अर्थ सिद्ध होता है। वहाँ प्रभु कहते हैं—'यवीयाना-

त्मनः पुत्रः शिष्यश्चापि गुणोदितः। पुत्रवत्ते त्रयश्चिन्त्या धर्मश्चैवात्र कारणम् ।१४। औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः ।।२२।। प्रचरेत नरः कामात्तस्य दण्डो वधः स्मृतः ।।२३।।' अर्थात् छोटा भाई, पुत्र, गुणवान शिष्य ये पुत्रके समान हैं। कन्या, बहिन और छोटे भाईकी स्त्रीके साथ जो कामका व्यवहार करता है उसका दण्ड वध है। इसमें भी कन्याको चारमेंसे एक गिनाया है। अध्यात्ममें तो चौपाईकाही प्रतिरूप मिलता है, यथा—'दुहिता भगिनी भ्रातुर्भार्या चैव तथा स्नुषा ।६०। समा यो रमते तासामेकामपि विमूढधीः। पातकी स तु विज्ञेयः स वध्यो राजभिः सदा ।६१।' (सर्ग २)। अर्थात् अपनी लड़की, बहिन, भाईकी स्त्री और पुत्रवधू ये समान हैं। जो मूढ़बुद्धि इनमें रमण करता है, उसे पापी जानना चाहिए। वह सदा राजा द्वारा वध-योग्य है। काशिराज और भा० दा० की प्रतिमें 'सम ए चारी' पाठ है।

वि० त्रि०—'अनुज वधू....न होई' इति। यही उत्तर भगवान्‌ने दिया, जिसका प्रत्युत्तर वाली नहीं दे सका, परन्तु आजकल वालीके समर्थकोंको यह उत्तर जँचता नहीं, उन्हें 'अनुज वधू भगिनी सुत-नारी', तथा कन्याको कुदृष्टिसे देखना, उतना बड़ा अपराध नहीं मालूम होता जिसका इस भाँति दण्ड दिया जाय। परन्तु धर्माधर्मके निर्णयमें अपनी प्रतिभा प्रमाण नहीं है, धर्मशास्त्र प्रमाण है।

अब देखना चाहिये कि सरकारने अपने संक्षिप्त उत्तरमें ऐसी कौन बात कही कि जिससे वालीका समाधान हो गया। उनके उत्तरसे स्पष्ट मालूम होता है कि उन्होंने अपराधका दण्ड दिया। युद्ध करना और दण्ड देना दो पृथक् वस्तु हैं। युद्ध शत्रुसे किया जाता है। और दण्ड अपराधीको दिया जाता है। युद्धके नियम दण्ड देनेमें लागू नहीं हैं। अपराधी न्यायाधीशसे नहीं कह सकता कि तुम मुझ बँधे हुएको फाँसीकी आज्ञा देकर अधर्म कर रहे हो। मेरे हाथमें तलवार दो, और स्वयम् तलवार लेकर आओ, और मुझे मार सको तो धर्म है। नहीं तो फाँसी दिलवाना पाप है। न्यायाधीश कहेगा कि मैं लड़ने नहीं आया हूँ, तुमने अपराध किया है, उसीका यह दण्ड है, नहीं तो मैं तुम्हारा शत्रु नहीं हूँ।

सरकारका भी यही कहना है कि तुम हमारे शत्रु नहीं हो। यदि तुमसे शत्रुता होती, और मैं लड़ने आया होता, तो तुम्हारी बात ठीक थी, पर मैं तो दण्ड देने आया हूँ। तुम अपराधी हो। बन्धु-वधूको कुदृष्टिसे देखनेवाला वध्य है, पर तुम्हारा अपराध तो और भी बढ़ा चढ़ा है, तुम 'बन्धु वधू रत' हो, अतः वधसे भी बड़े दण्डके योग्य हो, और वह दण्ड व्याधकी भाँति वध करना है। वधके दण्डमें तीव्रता लानेके लिये ही तुम्हारा वध व्याधकी भाँति करना पड़ा। वालीने सरकारके उत्तरको ठीक तरहसे समझा, अतः निरुत्तर हो गया, यथा—'बंधु बधूरत कहि कियो बचन निरुत्तर बालि।'

**मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना ।।९।।**
**मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी ।।१०।।**

अर्थ—अरे मूर्ख! तुझे अत्यन्त अभिमान है, तूने स्त्रीकी शिक्षापर कान भी न दिया अर्थात् न मानी।९। अरे अधम (अधर्मी) और अभिमानी† ! सुग्रीवको मेरे बाहुबलके सहारे जानकर भी तूने उसे

† प० प० प्र० स्वामीका मत है कि 'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना' पिछली अर्धालीमें कहा ही है अतः यहाँ 'अभिमानी' शब्दको पृथक् लेनेसे कोई अर्थ ही नहीं रहता। 'शते पंचाशत' न्यायसे 'अतिशय अभिमान' में 'अभिमान' तो है ही, अतः 'अधम' और 'अभिमान' को पृथक् पृथक् न लेकर एक सामासिक पद मानना ही उचित है जिसका अर्थ होगा 'देहाभिमानी'। अधम=स्थूल देह, जड़ देह।'; पर दासकी क्षुद्रबुद्धिमें अधम=अधर्मी, पापी। अनुजवधूरत होनेसे 'अधम' है ही। उत्तरकांडमें 'परदाररत' को पापी अधम कहा भी है। यथा—'परद्रोही परदाररत पर धन पर अपवाद। ते नर पावँर पापमय देह धरे मनुजाद ।३९। ऐसे अधम मनुज खल।' स्त्रीकी शिक्षा न मानने और आश्रित जानकर भी सुग्रीवको मार डालनेकी इच्छा करनेसे 'अभिमानी' (अतिशय अभिमानयुक्त) कहा।

मारना चाहा ।१०।

टिप्पणी—१ 'नारि सिखावन करसि न काना' इति। इससे श्रीरामजीकी सर्वज्ञता सूचित हुई। स्त्रीने तो घरमें शिक्षा दी पर उसे श्रीरामजीने यहीं जान लिया। यहाँ 'करसि' वर्तमानकालकी क्रिया दी यद्यपि शिक्षा तो भूतकालमें हुई। इसका समाधान यह है कि वर्तमानके समीप भूत और भविष्य वर्तमान ही के तुल्य हैं, यथा—'वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति कौमुदीग्रंथे।

२ 'मम भुजबल आश्रित तेहि जानी....' इति। (क) कैसे जाना? तारासे, यथा—'सुनु पति जिन्हहि मिला सुग्रींवा। ते दोउ बंधु तेज बल सींवा'। तारासे यह जानकर भी न माना, अतः कहा कि 'मारा चहसि'। (ख) स्त्रीशिक्षा न माननेसे 'मूढ़ अभिमानी' कहा और आश्रित भक्तको मारनेकी इच्छा की इससे यहाँ 'अधम अभिमानी' कहा। (ग) 'अधमअभिमानी' कहनेका भाव कि हमारा अवतार इन्हींके मारने और धर्मकी रक्षाके लिए है, यथा—'जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥ तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥' तू अधम और अभिमानी है, तुझे मारकर हमने धर्मकी रक्षा और भक्तकी पीड़ा हरण की। तात्पर्य्य कि उत्तमका उपदेश न मानना मूढ़ता है और भक्तको मारना अधमता है। [☞ देखिए कविने बालकाण्डमें कहेहुए वचनोंका कैसा निर्वाह यहाँ किया है]

| बालिके प्रश्न | श्रीरामजीके उत्तर |
|---|---|
| 'धर्महेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि व्याध की नाईं॥' | १ 'अनुज वधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ कन्या सम ये चारी। २ इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकै जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥' |
| छिपकर मारना अधर्म है, आपने यह अधर्म किया। | अधर्मीको मारना धर्म है। यह दंड है, युद्ध नहीं। |
| मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। | ३ 'मम-भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥ तूने हमारे भक्तको मारना चाहा, इससे तू हमारा भी बैरी है, यथा—'सेवक बैर बैर अधिकाई'। वह सेवक है इससे प्यारा है—'मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं'। |
| अवगुन कवन नाथ मोहि मारा | ४ अनुज वधूमें रत; दूसरे, आश्रितको मारना यह अपराध है। |

नोट—१ व्याधकी तरह मारनेका उत्तर ध्वनिसे यह भी निकलता है कि तू पापरत था, पातकी अधर्मीका मुख देखना शास्त्रमें निषेध है। जब बाणद्वारा तेरा वह पाप नष्ट कर दिया गया, (यथा 'राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः। निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा। वाल्मी० १८।३१' अर्थात राजाके द्वारा दण्ड पाकर मनुष्य पापसे निर्मल हो जाता है और पुण्यात्माओंकी तरह स्वर्गको जाता है। पुनः यथा 'तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्।....१७।८'), तब मैं तेरे पास आया। २—'अतिशय' विशेषण देकर यह भी जनाया कि यह भी एक कारण मृत्युका हुआ। किसी बातका अतिशय कोटिको पहुँचना हानिकारक ही हो जाता है। जैसा भर्तृहरिजीने कहा है कि अतिशय सौंदर्य्यके कारण सीताहरण हुआ, अतिशय गर्व होनेसे रावण मारा गया, इत्यादि। ३—'नारि सिखावन करसि न काना', ऐसा ही वाल्मी० सर्ग १५में कहा है—'तदा हि तारा हितमेव वाक्यं तं वालिनं पथ्यमिदं बभाषे। न रोचते तद्वचनं हि तस्य कालाभिपन्नस्य विनाशकाले ॥३१॥' अर्थात् ताराके ये हितकारी वचन वालिको अच्छे न लगे क्योंकि उसका विनाशकाल उपस्थित था, उसपर मृत्युकी छाया पड़ चुकी थी। ४—'मम भुजबल आश्रित तेहि जानी....' इति। वाल्मी० १८ में कहा है कि 'सुग्रीवेण च मे सख्यं लक्ष्मणेन यथा तथा। दारराज्यनिमित्तं च निःश्रेयसकरः स मे ॥२६॥ प्रतिज्ञा च मया दत्ता तदा वानरसंनिधौ॥ प्रतिज्ञा च कथं शक्या मद्विधेनानवेक्षितुम् ॥२७॥' अर्थात् जैसे मेरे सखा लक्ष्मण हैं वैसे ही सुग्रीवके साथ भी मेरा सख्यत्व है। स्त्री और राज्य पानेपर वे मेरे कल्याणके लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं, मैंने भी वानरोंके सामने प्रतिज्ञा की है, हमारे समान मनुष्य प्रतिज्ञाकी उपेक्षा कैसे कर सकते हैं?

प्र०—अपनी जानपनीके गुमानसे स्त्रीका कहा न माना, इससे मूढ़ कहा, यथा—'मूढ़ हृदय न चेत०'। पुनः, भाव यह कि अभिमानसे तू अपनेको पुरुष मानता है और बुद्धि स्त्रियोंके समान भी नहीं है।

☞ 'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना' ☜

भगवान्‌को अभिमानसे चिढ़ है। भक्तोंमें भी वे अभिमान नहीं सह सकते। अभिमान आते ही वे तुरंत भक्तकी उससे रक्षा करते हैं। अर्जुनका गर्व हरा, भीमका गर्व दूर किया। नारद जो उनको परम-प्रिय हैं उनके सम्बन्धमें भी आपने पढ़ा ही है कि क्या किया।—

'करुनानिधि मन दीख विचारी। उर अंकुरेउ गर्व तरु भारी॥
बेगि सो मैं डारिहौं उपारी। पन हमार सेवक हितकारी॥
मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करवि मैं सोई॥'

बस उनका शाप भी ग्रहण किया, अवतीर्ण हुए, नरनाट्य विलापादि भी किए—यह सब हुआ पर भक्तका अभिमान दूर किया। जब जो उपाय वे उचित समझते हैं तब उसीको काममें लाते हैं—

'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि'

वालिको अपने बलका बड़ा गर्व था, यथा—'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना....'। वह सुग्रीवको तृणसमान गिनता था।

उसको एक ही बाणसे मारकर उसका गर्व दूर किया। अंगदके वचनसे भी सिद्ध है कि एक ही बाणसे वालिका मारा जाना असंभव सा था, यथा—'सो नर क्यों दसकंध बालि वधेउ जेहि एक सर'। मंदोदरीने भी ऐसा ही कहा है—'बालि एक सर मारेउ तेहि जानहु दसकंध'।

पर गर्व हरण होते ही फिर उसपर दयालु हो जाते हैं। अपराधका दंड देकर उसका प्रायश्चित हो जानेपर वह उनको वैसा ही प्रिय हो जाता है जैसा सुग्रीव। यदि छिपकर मारनेमें कपट छल होता तो क्या वे उसके सम्मुख होनेपर कहते कि—'अचल करौं तन राखहु प्राना'?

वेदान्त भूषणजी—इस विषयमें लोगोंने बहुत कुछ समाधान किया है पर वह सार्वजनिक वैदिक शास्त्रीय समाधान नहीं है।

मुण्डकोपनिषद् २।२ की आठवीं श्रुति कहती है—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।' अर्थात् (सात्विक-संस्कार-विशिष्ट जीवोंको) ब्रह्मसाक्षात्कार होते ही उस जीवके हृदयकी अविद्यारूपी गाँठ खुल जाती है (जिसके कारण उस जड़ शरीरको ही अपना स्वरूप मान रक्खा है), उसके संपूर्ण संशय सर्वथा कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। मानसमें भी श्रीवचनामृत है कि 'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाप निज सहज सरूपा।' ईश्वर बुद्धिसे (ब्रह्म जानकर) परमात्माका दर्शन करने मात्रसे जीवको स्व-सहज-स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

वालिकी दृष्टिमें श्रीरघुनाथजी परब्रह्म ही थे, यह उसके 'समदरसी रघुनाथ' और 'धर्महेतु अवतरेहु गोसाईं' इन वाक्योंसे स्पष्ट है। इन्द्रांश होनेसे वह बहुत कुछ सात्विक संस्कारोपपन्न था ही (तमोगुण अहंकारादि तो उसमें तमोगुणी रावणकी मैत्रीके कारण संसर्गदोषसे आ गया था), अतः श्रीरामजीके दर्शनमात्रसे उसे ज्ञान प्राप्त हो जाना निश्चित-प्राय था। दर्शनके साथ ही उसके पाप भी नष्ट हो जाते, यथा 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्य पापे विधूय निरंजनः परमं साम्युपैति। इति श्रुतिः।', 'प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि'।

प्रभुका अवतार अधम अभिमानियोंके वधार्थ होता है। यथा—'जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥ तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा॥ हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।१।१२१।' अधम अभिमानी होनेसे ही इन्होंने वालिको वध्य माना; यह 'मूढ़ ताहि अतिसय अभिमाना' 'मारा चहसि अधम अभिमानी' शब्दोंसे स्पष्ट है। और प्रतिज्ञा की कि 'मारिहौं वालिहि....'।

अब विचारिये कि यदि भगवान् मारनेके पूर्व उसके सामने जाते और वह उनका दर्शन कर पाता तो सर्वथा निष्पाप हो जानेपर उसको मारना कब उचित माना जाता। और न मारनेसे अनेक प्रकारकी

हानि होती। एक तो प्रतिज्ञा असत्य हो जाती। दूसरे, वह श्रीसीताजीको लाकर श्रीरामजीको देदेता, इतनाही नहीं किंतु संभवतः रावणका लाकर उससे माफ़ी मँगवा देता। तव निशाचरोंका नाश कैसे होता. लोकपालादि रावणके वंदीखानेसे कैसे छूटते, जिस लिये अवतार हुआ वह कार्य ही न होता और 'निसिचर हीन करउँ महि' यह प्रतिज्ञा भी असत्य हो जाती। अतएव 'वधेउ व्याध इव वालि'। 'व्याधकी नाईं' का अर्थ है 'व्याधाकी तरह निर्दय होकर।'

## दोहा—सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि। प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि ॥९॥

अर्थ—हे राम! सुनिए, स्वामीसे मेरी चतुराई चल नहीं सकती। हे प्रभो! मुझे अन्त समय आपकी गति (=शरण) प्राप्त हुई तो क्या मैं अव भी पापी ही हूँ? (अर्थात् आपकी शरण प्राप्त होते ही समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं. यथा—'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं'। तव मुझमें पाप कहाँ रह गया। इससे यह भी जनाया कि मैं शरणागत हूँ।) ।९।

नोट—१ (क) 'सुनहु राम'—'राम' संबोधन देकर जनाया कि आप आनंदनिधान हैं, सवको आनंद देनेवाले हैं, उर अन्तर्यामी हैं, तत्त्वोंके यथार्थ ज्ञाता हैं, कार्यकारणके जाननेमें आपकी वुद्धि निर्मल है। अतः आपके वचनोंसे मेरा संदेह जाता रहा. मुझे संतोष और शान्ति तथा सुख प्राप्त हो गया। (ख) 'स्वामी' कहकर दास्यभाव दृढ़ किया जो ऊपर 'पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा' में ग्रहण किया था। इस सम्बोधनका भाव यह है कि मैं आपका सेवक हूँ. मुझपर आप सेवकपर जैसी कृपा की जाती है वैसी कृपा कीजिए। यथा—'कृपा कोप वधु बँधव गोसाईं। मो पर करिय दास की नाईं ।१।१७९।', 'जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें। सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें ।४।३।१।' (ग) 'चल न चातुरी मोरि' से जनाया कि वालिने श्रीरामजी-से जो कठोर वचनोंमें प्रश्न किये थे वे बड़ी चालाकीके थे। चालाकी यह थी कि उसने युद्धमें शत्रुको छिपकर मारनेका अपराध लगाया था। पर श्रीरामजीसे वह चालाकी न चली। उन्होंने कहा कि यदि मैं तुमको शत्रु समझता और तुमसे युद्ध करता तव तो सन्मुख ही युद्धमें मारता, पर मैंने तो तुम्हें महान् पापका दण्ड दिया जो शास्त्रविहित है। पुनः, इसमें वाल्मी० सर्ग १८ के—'प्रतिवक्तुं प्रकृष्टे हि नापकृष्टस्तु शक्नुयात् ॥४६॥ मामप्यवगतं धर्माद्व्यतिक्रान्त पुरस्कृतम्। धर्मसंहितया वाचा धर्मज्ञ परिपालय ॥४८॥', इन श्लोकोंका भाव भी है। अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषोंको उत्तर देनेमें छोटा मनुष्य निश्चय ही समर्थ नहीं हो सकता। अव वड़ा धर्मत्यागी मैं भी आपके समीप आया हूँ, हे धर्मज्ञ! आप धर्मयुक्त वचनसे मेरी रक्षा करें। (घ) 'प्रभु'—भाव कि आप सर्वसमर्थ हैं; मुझ ऐसे पापीका भी उद्धार कर सकते हैं। (ङ) 'अजहूँ मैं पातकी....' इति। तात्पर्य यह है कि सुग्रीव तो मित्रता करके पापसे रहित हुआ और मैं पहले अघी था पर शर लगनेसे महापुनीत हो गया (मा० म०)। पुनः भाव कि अव अधम न कहिए क्योंकि अव तो आपकी प्राप्ति मुझे हो चुकी है। (पं०)। वाल्मी० १८।३१ में भी कहा है कि पापी मनुष्य पापका दंड भोगकर निर्मल हो जाता है और स्वर्गको प्राप्त होता है। यथा—'राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः। निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ।३१। शासनाद्वापि मोक्षाद्वा स्तेनः पापात्प्रमुच्यते।' अतः कहा कि क्या मैं अव भी पापी हूँ? अन्तमें श्रीरामजीने उससे कहा है—'तद्भवान्दण्डसंयोगादस्माद्विगतकल्मषः। गतः स्वां प्रकृतिं धर्म्यां दण्ड-दिष्टेन वर्त्मना ।१८।६२। त्यज शोकं च मोहं च भयं च हृदये स्थितम्।', दण्ड पानेसे पाप दूर हो गया और दण्डके वताये मार्गके द्वारा आपने गति पाई। अतः शोक मोह और भयका त्याग करो।

२ आधुनिक प्रतियोंमें जहाँ तहाँ 'सन' और 'पापी' के वदले 'सुभग' और 'पातकी' पाठ आया है। पर प्राचीन सभी प्रतियोंका पाठ वही है जो ऊपर दिया गया।

प० प० प्र०—इस दोहेके प्रथम और तृतीय चरणोंमें १२-१२ मात्रायें हैं। यह साहित्यिकोंको

वृत्त-दोष समझ पड़ेगा। पर वस्तुतः यहाँ यह दोष नहीं है अपितु स्वभावोक्ति है। मात्रा कम करके कवि बता रहे हैं कि वालिका कण्ठ प्रेमसे गद्गद हो गया है। एक तो वाणके आघातसे वह व्याकुल है, उसकी शक्ति क्षीण हो रही है, दूसरे इस समय वह सात्विकभावापन्न हो गया है। अतएव 'पापी' का उच्चार पाऽऽपी ऐसा करना उचित होगा।

**सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पानी ॥१॥**

अर्थ—वालिकी अत्यन्त कोमल वाणी सुनते ही श्रीरामचन्द्रजीने बालिके सिरपर अपना हाथ फेरा। १।

टिप्पणी—१ (क) वालिने अन्तमें दीन होकर कहा कि 'प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि', यह वाणी अति कोमल है। [यद्यपि वालि वाणसे अत्यन्त पीड़ित था तो भी उसने श्रीरामजीको 'स्वामी' संबोधन किया; इसीसे कविने उसकी वाणीको 'अति कोमल बानी' लिखा। (मा० म०)। पंजाबीजी लिखते हैं कि दोहेमेंके वचन कोमल हैं, अक्षर भी कोमल और भाव भी सुन्दर। बड़ोंकी रीति है कि जो विनम्र होता है उसका आश्वासन करते हैं। सिरपर हाथ इसीलिए फेरा। प० प० प्र० स्वामीका मत है कि दोहेके शब्दोंमें कोमल वर्ण अति अल्प हैं, अतः 'अति कोमल राम कोमल (दीन) बानी सुनत' ऐसा अन्वय सुसंगत होगा] (ख) वालिके माथेपर हाथ फेरा और कृपा की। ☞जब जब प्रभु अपने भक्तके माथेपर हाथ फेरते हैं तब तब हाथका विशेषण कमल रहता है; वह अति कृपाका सूचक है। मानसमें केवल पाँच व्यक्तियोंके सिरपर हाथ फेरनेका उल्लेख है, जिनमेंसे चारमें 'कर' के साथ सरोज या उसका पर्याय शब्द भी है। यथा—'सिर परसे प्रभु निज कर कंजा।१।१४८।८', 'कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुवीर। ३।३०।', 'परसा सीस सरोरुह पानी।४।२३।१०।', 'कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ।७।८३।४।' और विनय पद १३८—

> कबहूँ सो कर सरोज रघुनायक धरिहौ नाथ सीस मेरे।
> जेहि कर अभय किए जन आरत बारक बिबस नाम टेरे॥ १॥
> जेहि कर कमल कठोर संभुधनु भंजि जनकसंसय मेट्यो।
> जेहि कर कमल उठाइ बंधु ज्यों परम प्रीति केवट भेंट्यो॥ २॥
> जेहि कर कमल कृपालु गीध कहँ उदक देइ निज धाम दियो।
> जेहि कर बालि बिदारि दासहित कपिकुलपति सुग्रीव कियो॥ ३॥
> आयो सरन सभीत बिभीसन जेहि कर कमल तिलक कीन्हो।
> जेहि कर गहि सर चाप असुर हति अभय दान देवन्ह दीन्हो॥ ४॥
> सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति ताप पाप माया।
> निसिवासर तेहि कर सरोज की चाहत तुलसिदास छाया॥ ५॥"

वालिपर सामान्य कृपा हुई है, इसीसे 'कर' के लिए 'कमल' विशेषण नहीं दिया गया। इसी प्रकार जब सुग्रीवके शरीरपर पीड़ा दूर करने और उसे वज्रवत् कर देनेके लिए हाथ फेरा तब 'कर परसेउ' ही कहा।

नोट—विनयके भजनसे यह भी भेद निकलता है कि जहाँ वध आदि द्वारा सद्गति दी गई है वहाँ भी 'कमल' विशेषण नहीं दिया गया है; क्योंकि दण्डमें कठोरता पाई जाती है और कमलमें कोमलता।

प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'मनु आदि चारों परम भक्त थे, अतः वालीके प्रसंगमें 'कमल' का प्रयोग न करनेमें भाव यह है कि—(क) भक्त न होनेपर भी वालीके मस्तकपर हाथ फेरा। (ख) जटायु और भुशुंडीजीके प्रसंगोंसे मिलान करनेपर यह भाव निकलता है कि वालीकी पीड़ाका परिहार और दुःखहरण नहीं किया। आगेके 'कृपानिधाना' संबोधनसे भी सूचित होता है कि अबतक पूर्ण कृपा नहीं की गई।'

मानसमें श्रीरामजीके करका उल्लेख ५८ बार आया है जिनमेंसे कमल या तदर्थी शब्द केवल दस बार मिलता है।

**अचल करौं तन राखहु प्राना । बालि कहा सुनु कृपानिधाना ॥२॥**

अर्थ—(और बोले कि) मैं तुम्हारी देहको अचल करता हूँ, तुम प्राण रखो। अर्थात् जीनेकी इच्छा करो । बालिने कहा—'हे दयासागर ! सुनिए' ।२।

टिप्पणी—१ बालिने बारंबार यह कहा कि आपने मुझे मारा। यथा—'मारेहु मोहि व्याध की नाईं', 'अवगुन कवन नाथ मोहि मारा ।' इसीपर श्रीरामजीने कहा कि हमने तुम्हारे शरीरको मारा है सो उसे हम अचल किए देते हैं । पर प्राणके सम्बन्धमें प्रभु प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि 'ब्रह्म रुद्र सरनागत गए न उबरिहिं प्रान', उस प्रतिज्ञाको नहीं छोड़ सकते । इसीसे तनको अचल करनेको कहते हैं और प्राणके लिए कहते हैं कि तुम इनको रखना चाहो तो ये रह सकते हैं. इनका रहना तुम्हारे अधीन है । तुम शरणागत हो, तुम्हारी इच्छाकी पूर्तिके लिए शरणागतके निहोरे मैं प्रतिज्ञा छोड़ दूँगा ।

२—'कृपानिधान' संबोधनका भाव कि मुझ ऐसे अपराधीपर आपने कृपा की कि दर्शन दिया, सिरपर हाथ फेरा और मेरे लिए अपनी प्रतिज्ञा छोड़नेपर तत्पर हो गए ।

वि० त्रि०—सरकार कहते हैं कि मैंने शरीर भंग किया है, सो उसे मैं अचल किये देता हूँ, पर तुम मरना न चाहो । भाव यह कि जन्म भर तो तुम यह उपासना करते रहे कि मेरी वीरगति हो और उस समय सरकार मेरे आँखोंके सामने रहें और आज वह परिस्थिति आ गई, तब उपालम्भ करते हो कि 'नाथ मोहि मारा' । अच्छा तो मैं तुम्हारे शरीरको ठीक किये देता हूँ, तुम प्राण रखो, मरना न चाहो; इस अवसरको हाथसे खोना भी नहीं चाहते और मारनेका उपालम्भ भी करते हो ।

नोट—१ प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि भक्तके लिये प्रतिज्ञाभंग करना यह भूषण श्रीकृष्णावतारमें है । श्रीरामावतारमें तो 'रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्रान जाहु बरु बचन न जाई ।' श्रीरामजीने तो जो प्रतिज्ञा की थी कि 'मारिहउँ बालिहि एकहि बान' वह पूरी की, छोड़ा कहाँ । दासकी अल्पबुद्धिमें तो ऐसा आता है कि श्रीरामावतारमें तो भक्तके लिये प्रतिज्ञा छोड़नेको उद्यत हो जाते अवश्य हैं; जैसे श्रीभरतजीसे सारी सभाके बीच प्रतिज्ञा कर दी—'भरत कहहिं सोइ किए भलाई ।२।२५९।८।', 'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउँ सोइ आजु । सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाज । २।२६४।'; इसीपर श्रीभरतजी कहते हैं कि 'निज पन तजि राखेउ पन मोरा । छोहु सनेहु कीन्ह नहिं थोरा ॥ कीन्ह अनुग्रह अमित अति सब बिधि सीतानाथ ।२।२६६।'; पर भक्त प्रतिज्ञा सुनकर गद्गद हो जाता है, उसे पूर्ण विश्वास है कि मैं जो कहूँगा प्रभु अवश्य करेंगे, क्योंकि वे सत्यसंध हैं और प्रभु अवश्य करते इसमें किंचित् संदेह नहीं । रामभक्त इतनेहीसे कृतकृत्य हो जाता है और वह अपना धर्म विचारकर स्वयं ही प्रभुकी पूर्व-प्रतिज्ञाको छुड़ानेका विचार त्याग देता है ।

बालि भक्त नहीं था । मारे जानेपर श्रीरामकी प्रतिज्ञा तो पूरी हो गई । तथापि पीछे प्रभुकी शरणमें होनेपर प्रभुने उसमें देहाभिमान विशेष देखकर उससे कहा 'अचल करउँ तन राखहु प्राना ।' यदि तुम्हारी इच्छा जीवित रहने और राज्य करनेकी है तो मैं तुम्हें वैसा ही अचल शरीर दे दूँ । पर बालिको इस समय परम भक्ति प्राप्त हो गई है, अतः वह स्वयं ही नहीं चाहता कि जो प्रतिज्ञा वे सुग्रीव-से कर चुके हैं वह असत्य ही जाय ।

२ बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि उपर्युक्त अर्थ और भाव ठीक नहीं हैं; क्योंकि इसका खंडन स्वयं बालिके वचनसे होता है । उसने कहा है कि 'प्रभु कहेउ राखु सरीरही' अर्थात् प्रभुने मुझसे कहा कि शरीर रक्खो; तब प्रभुका यह कथन कहाँ हो सकता है कि मैं तुम्हारे शरीरको अचल करता हूँ, तुम प्राण रक्खो । पुनः, प्रभुने यह कहा कि ब्रह्मरुद्रकी शरण जानेसे प्राण न बचेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा है, कुछ अपनी शरणमें आनेपरभी प्राण न बचेंगे ऐसा नहीं कहा है ।

रा० प्र० श०—भगवत्कृपासे अब वालिको तनका अभिमान नहीं रह गया, इससे वह तन-त्यागको ही उत्तम समझता है। अपने ऊपर उत्तरोत्तर कृपा देखकर 'कृपानिधान' कहा।

**जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं ॥३॥**
**जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अबिनासी ॥४॥**
**मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा ॥५॥**

अर्थ—मुनि जन्म जन्म अभ्यास करते हैं (तो भी) अंत समय राम नहीं कह आता (रामनाम ऐसा दुर्लभ है)।३। जिसके नामके बलसे शंकरजी काशीमें सबको समान अविनाशिनी गति देते हैं, वही प्रभु मेरे नेत्रोंके विषय आकर हुए। हे प्रभो! क्या फिर ऐसा संयोग बन पड़ेगा? अर्थात् ऐसी मृत्यु फिर बनाये नहीं बन सकेगी।४-५।

नोट—१ 'जन्म जन्म....' का अर्थ श्रीनंगे परमहंसजीने इस प्रकार किया है—"आपकी प्राप्तिके लिये मुनि लोग जन्म जन्म अर्थात् अनेक जन्मोंमें बराबर यत्न करते हैं तब कहीं आप प्राप्त होते हैं। पुनः, आपका राम ऐसा नाम मृत्यु समयमें कहकर फिर संसारमें जीव नहीं आता। भाव यह कि जब मुनियों-को अनेक जन्मोंके यत्नके बाद आप प्राप्त होते हैं तब हमको तो आपकी प्राप्ति असंभव है। पुनः, अंत समयमें राम कहनेसे मुक्ति होती है पर उस समय राम कहना दुर्लभ है। सो आप हमारे नेत्रोंके सामने प्राप्त हैं इससे इस समय हमारी मुक्ति हो जायगी, नहीं तो फिर अंत समय यह संयोग कहाँ होनेका, फिर हमारी मुक्ति भी दुर्लभ हो जायगी। 'काशीमें समगति' कहनेका भाव कि हमारे मरण समय हमारे सामने होनेसे हमारी भी समगति हो जायगी, नहीं तो फिर कर्मानुसार गति होगी।' इस तरह बालिने मुनियोंका उदाहरण देकर प्रथम अपने लिये श्रीरामजीकी प्राप्तिकी दुर्लभता दिखाई है। दूसरे, अन्त समयमें राम कहनेका उदाहरण देकर अपनी मृत्युके समय श्रीरामजीकी प्राप्तिसे अपनेको मुक्त होना सूचित किया। तीसरे उदाहरणसे श्रीरामजीकी प्राप्तिसे अपना समगतिका संयोग दिखाया। और इसी मुक्तिको छोड़ देनेपर आगे कल्पवृक्ष और बबूरका उदाहरण दिया है।"

२ मयंककार लिखते हैं कि 'अंत राम कहि आवत नाहीं' के भाव अनेक हैं। 'तुम्हरो अन्त लहे नहीं, तू न अन्त मो जात। नास अन्त वा अन्त मो, कहे जात नहिं आत।' अर्थात् आपको अन्तमें नहीं पाते, न आप अन्तमें मिलते हैं। वा, अन्तमें रामनाम स्मरण नहीं होता है। वा, अन्तमें आपके नामका स्मरण करके फिर संसारमें नहीं आते, परमगति प्राप्त करते हैं। गणपति उपाध्यायजी केवल अन्तिम भाव देते हैं। यथा—'जन्म जन्म मुनि यतन करि अंतकाल कहि राम। आवत नहिं संसार महँ जात तुम्हारे धाम।' कोई कोई यह अर्थ करते हैं कि राम अन्तमें कहते हैं पर वे इस तरह नहीं आ खड़े होते जैसे आप खड़े हैं।

टिप्पणी—१ मुनि लोग अन्तमें रूपकी प्राप्तिके लिए यत्न नहीं करते क्योंकि जब जन्मभर यत्न करनेपर भी अन्तमें नाम ही मुखसे नहीं निकल पाता तब रूपकी प्राप्ति भला कैसे हो सकती है? अन्तमें 'राम' कहनेसे मुक्ति होती है, यथा—'जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा।३।३१।६।'

२—'जासु नामबल संकर कासी।०' इति। (क) 'शंकर' नाम दिया क्योंकि सबको अविना-शिनी गति देकर सबका कल्याण करते हैं। शं=कल्याण। (ख) 'अविनाशी गति' का भाव कि जो मुक्ति केवल ज्ञानसे प्राप्त होती है, यथा—'जे ज्ञानमानविमत्त तव भवहरनि-भक्ति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।७।१३।'; वैसी मुक्ति शिवजी नहीं देते क्योंकि वह मुक्ति अविनाशिनी नहीं है, वरन् अवि-नाशिनी मुक्ति देते हैं—'जहँ ते नहिं फिरे'। ['समगति' अर्थात् कीट पतंग सबको एक सी मुक्ति देते हैं, यथा—'आकर चारि जीव जग अहहीं। कासीं मरत परमपद लहहीं १।४६।', 'जो गति अधम महामुनि दुर्लभ कहतसंत

श्रुति सकल पुरान। सोइ गति मरनकाल अपने पुर देत सदासिव सबहि समान।' तथा 'वेदविदित तेहि पद पुरारिपुर कीट पतंग समाहीं। (विनय ३, ४)]

☞३—मुनि लोग अंतमें 'राम' कहकर मुक्तिकी प्राप्ति चाहते हैं और महादेवजी अंतमें राम-नाम सुनाकर मुक्त करते हैं। यह कहकर जनाया कि अन्तमें रामनाम कहनेसे, या सुननेसे. दोनोंही प्रकारसे, मुक्ति होती है। [यह भाव बालिश है, केवल काशीमें, दाहिने कानमें, स्वयं शिवजी महामंत्रका उपदेश करेंगे तो ही मुक्ति मिलती है, अन्य स्थानमें शिवजी सुनावें तो भी न मिलेगी। 'मुक्ति जन्म महि जानि' और 'रा० उ० ता० उपनिषत्' देखियेगा। (प्रज्ञानानन्द)]

४—'मम लोचन गोचर सोइ आवा' इति। भाव कि मुनियों और काशी-निवासियोंसे मेरा भाग्य विशेष उत्तम है, मुझे उनकी अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त है। मुनियोंको अन्तमें रामनामकी प्राप्ति नहीं है और काशीवासियोंको केवल नामकी प्राप्ति होती है, रूपकी नहीं; और मुझको नाम और रूप दोनों प्राप्त हैं। यह सुनकर श्रीरामजी निरुत्तर हो गए; अतः न बोले।

मा० म०—भाव कि आपका यह रूप जो जटाओंकी छटासे परिपूर्ण है और जिसके करकमल-में बाण कंपायमान हो रहा है और जो इस समय विरह, सख्य और वात्सल्य रसोंसे परिपूर्ण हैं ऐसे समाजसंयुक्त यदि आपको मैं देखता रहूँ तो देह रखना उत्तम ही है, पर ऐसा कहाँ संभव है?

नोट—३ इन चौपाइयोंसे मिलते जुलते श्लोक अ० रा० में ये हैं—'साक्षात्त्वच्छरघातेन विशेषेण तवाग्रतः। त्यजाम्यसून्महायोगिदुर्लभं तव दर्शनम्।२।६६। यन्नाम विवशो गृह्णन् म्रियमाणः परं पदम्। याति साक्षात्स एवाद्य मुमूर्षोर्मे पुरः स्थितः।६७।' अर्थात् हे प्रभो! आपका दर्शन तो बड़े-बड़े योगियोंको भी अत्यंत दुर्लभ है, बड़े भाग्यकी बात है कि मैं आपहीके बाणसे विद्ध होकर फिर आपहीके सामने प्राण छोड़ रहा हूँ। मरते समय विवश होकर भी जिनका नाम लेनेसे पुरुष परमपद प्राप्त कर लेता है, वही आप आज इस अंतिम घड़ीपर साक्षात् मेरे सामने विराजमान हैं। 'मम लोचन गोचर सोइ आवा' की जोड़में 'साक्षात्स एवाद्य मुमूर्षोर्मे पुरःस्थितः।' यह स्पष्ट है। शेषमें भावसाम्य है।

**छंद—सो नयन-गोचर जासु गुन नित नेति कहि श्रुति गावहीं।**
**जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं॥**
**मोहि जानि अति अभिमान बस प्रभु कहेउ राखु सरीरहीं।**
**अस कवँन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरहीं॥ १॥**

अर्थ—जिसका गुण 'नेति' (=इतनाही नहीं है, यही नहीं है जो हमने कहा, इसकी इति नहीं) कहकर श्रुतियाँ निरंतर गाती हैं और जिसे पवन और मनको जीतकर एवं मन और इन्द्रियोंको निरस (रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श पंचविषयोंसे विरक्त) करनेपर मुनिलोग कभी कहीं ध्यानमें पाते हैं, वही मेरे नेत्रोंका विषय हुआ। अर्थात् मुझे प्रत्यक्ष देखनेको मिला। मुझे अति अभिमानके वश जानकर, हे प्रभो! आपने शरीर रखनेको कहा। ऐसा कौन शठ होगा जो हठपूर्वक कल्पवृक्षको काटकर उससे बबूर-की बारी बनावेगा अर्थात् उससे बबूलको रूँधेगा।१।

नोट—१ प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान ये पंच प्राण वा पंच पवन कहलाते हैं। प्राण=वायु। पाँचों पवनोंको ब्रह्माण्डपर चढ़ा लेना पवनको जीतना कहलाता है। मनको एकाग्र कर लेना मनको जीतना कहा जाता है। मन 'जिति' और 'निरस करि', दोनोंके साथ लगता है। विषयोंसे विरक्त होना मनका निरस होना है, यथा—'रे मन जग सों निरस है सरस राम सों होहि। भलो सिखावन देतु है निसिदिन तुलसी तोहि।दो० ५१।'

टिप्पणी—१ 'जिति पवन मन०' इति। पवन, मन, गो और ध्यानको क्रमसे कहा; क्योंकि प्रथम

जब पवनको जीतते हैं तब मनको जीता जाता है और मनको जीत लेते हैं तब इन्द्रियाँ विषयरससे रहित होती हैं। जब पवन, मन और इन्द्रियाँ जीत ली जाती हैं तब ध्यान लगता है। तात्पर्य कि जिस प्रभुका नाम मुनियोंको दुर्लभ है, जिसके गुण वेदोंको दुर्लभ हैं और जिसका ध्यान योगियोंको दुर्लभ है, वही मुझको साक्षात् प्राप्त है। ['मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं, यथा—'जे हर हियनयननि्ह कबहुँ निरखे नहीं अघाइ'। जब शंकर-जीका यह हाल है तब मुनियोंकी क्या कही जाय !] पवन मन दोनों एकसाथ जीते जाते हैं, अतः इन दोनोंको संग रखा, यथा—'पवनो बध्यते येन मनस्ते नैव बध्यते। मनस्तु बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते।' अर्थात् जिससे पवन बाँधा जाता है उसीसे मन बाँधा जाता है और जिससे मन बाँधा जाता है उसीसे पवन बाँधा जाता है। पुनः, यथा 'दुग्धांबुवत्सम्मिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि। यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः यतो मरुत्तत्र मनः प्रवृत्तिः। इति हठप्रदीपे।' अर्थात् मन और पवन दोनों दूध और पानीकी तरह मिले हुए हैं, दोनोंका कार्य एक ही है, क्योंकि जहाँ मन है वहाँ पवनकी पहुँच है और जहाँ पवन है वहाँ मनकी पहुँच है।

प० प० प्र०—इसमें पवनका उल्लेख प्रथम किया है, अतः हठयोग ही सूचित किया है। मनके जयसे निर्विकल्प समाधि सूचित की गई। 'पवन मन' का जीतना कहकर भी 'निरस करि गो' कहनेमें भाव यह है कि 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः। गीता २।६०।', 'इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना। आवत देखहिं विषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी।' अतः जबतक 'वशेऽहि यस्येन्द्रियाणि' सिद्ध न होगा तब तक पवनमनोजय किया हुआ भी न किया हुआ सा ही है।

टिप्पणी—२ 'मोहि जानि अति अभिमान बस०' इति। (क) प्रथम प्रभुने बालिको अति अभि-मानी कहा, यथा—'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना'। इसीपर बालि यह कह रहा है कि 'मोहि जानि अति००'। (ख) 'प्रभु' सम्बोधनका भाव कि आप समर्थ हैं, मेरे शरीरको अचल कर रख सकते हैं।

पं० रामकुमारजी—'काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरहीं' इति। अन्त समय भगवद्प्राप्ति होना कल्प-वृक्षके समान है; क्योंकि भगवान् चारों फलोंके दाता हैं। उनसे तनकी अचलता लेना यही कल्पवृक्षसे बबूर-का रूँधना है। तनको बबूर कहा, क्योंकि यह बबूरके समान दुःखदाता है, कर्मरूपी काँटोंसे भरा हुआ है। कल्पवृक्षसे बबूर रूँधना शठता है। अतः कहा कि कौन शठ ऐसा करेगा ? यहाँ यह शंका होती है कि बालि तो मुक्ति चाहता नहीं, वह तो जन्म जन्ममें रामपदानुराग चाहता है, तब वह यह तन क्यों नहीं रखता ? इसी तनमें अनुराग करे ?', इसका समाधान यह है कि प्रभुने बालि-वधकी प्रतिज्ञा की थी, इसीसे वह इस तनको रखना नहीं चाहता। (भक्त प्रभुकी प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हैं, जैसे प्रभु भक्तकी प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हैं)।

श्रीनंगे परमहंसजी—श्रीरामजीने बालिसे कहा कि तुम प्राणको रक्खो, मैं तुम्हारे शरीरको अचल करता हूँ। विषय सुख भोगनेके लिये प्राण रखना बबूरका पेड़ है। इस समय मुक्ति न ले लेना सुरतरुका काटना है। और मुक्तिके बदले शरीरको अचल करना बबूरकी रूँधानि करना है। भाव कि मैं मुक्तिको छोड़कर विषयभोगके लिये शरीर अचल करना नहीं चाहता। [☞ मिलान कीजिए—'अपनेहि धाम नाम सुरतरु तजि विषय बबूर बाग मन लायो। वि० २४४।']

मा० म०—संदर्भ यह कि आप सुरतरुरूप परधाम देनेमें डरते हैं और बबूरवत् इस शरीरको रखनेको कहते हैं, तो अब मैं यही माँगता हूँ कि वह मत दीजिए।

**छंद—अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर माँगऊँ।**
**जेहि जोनि जन्मौं कर्मबस तहँ रामपद अनुरागऊँ॥**
**यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिए।**
**गहि बाँह सुर-नर-नाह आपन दास अंगद कीजिए॥ २॥**

अर्थ—हे नाथ ! अब मुझपर करुणा करके देखिए और जो वर माँगता हूँ उसे दीजिए। हे श्रीराम !

कर्मके वश जिस योनिमें मेरा जन्म हो वहाँ रामपदमें प्रेम करूँ। हे प्रभो! हे कल्याणदाता! यह मेरा पुत्र विनय और बलमें मेरे ही समान है, इसकी बाँह पकड़ लीजिए, (अर्थात् मैं इसे आपको सौंपता हूँ) और, हे सुरनरनाह! अंगदका हाथ पकड़कर इसे अपना दास बनाइए।२।

टिप्पणी—१ 'अब करि करुना बिलोकहु' के भाव—(क) आपने मुझसे शरीर रखनेको कहा; इससे पाया गया कि मुझपर आपकी कृपादृष्टि नहीं है; अब कृपादृष्टि कीजिए। (ख) मैं आपके आश्रितसे लड़ा, आपको दुर्वचन कहे; ये अपराध क्षमा कीजिए। वाल्मी० में भी कहा है—'यद्युक्तं मया पूर्वं प्रमादाद्वाक्यमप्रियम्। तत्रापि खलु मां दोषं कर्तुं नार्हसि राघव।१८।४६-४७।' (ग) वालिने श्रीरामजीके नेत्र अरुण देखे, यथा—'अरुन नयन सर चाप चढ़ाए।' इससे जाना कि मुझपर रामजी क्रुद्ध हैं। अतएव कहा कि अब करुणावलोकन कीजिए अर्थात् मुझपर क्रोध न कीजिए।

२ 'देहु जो बर माँगऊँ'। अर्थात् जो आपने देनेको कहा—'अचल करौं तन'—वह मुझे नहीं चाहिए। उसके बदलेमें जो वर मैं माँगता हूँ वह दीजिए।

३ कृपादृष्टि कराके तब रामपदानुराग माँगा क्योंकि विना रामकृपाके रामपदमें अनुराग नहीं होता।

नोट—१ 'यह तनय....' इति। (क) 'यह' अंगुल्यानिर्देश है। इससे जनाया कि वालिके पृथ्वीपर गिरनेपर अंगद वहाँ पहुँच गया था। श्रीरामजीका उत्तर समाप्त न होने पाया था कि वह वहाँ आ गया था। (ख) 'तनय' से जनाया कि यह मेरा ही पुत्र है। 'तनय मम' कहकर जनाया कि इसमें मेरा ममत्व है। ममत्वका कारण है कि यह 'मम सम....' है। पुनः, (ग) 'मम सम बिनय बल' अंगदकी यह बड़ाई करनेका भाव यह है कि यह आपका कार्य करने योग्य है। 'कल्यानप्रद प्रभु' का भाव कि आप कल्याण करनेको समर्थ हैं, आप इसका कल्याण करें। (पं० रा० कु०)। (घ) 'लीजिए गहि बाँह', और 'दास आपन कीजिए' शब्दोंमें वाल्मीकीयके 'न चात्मानमहं शोचे न तारां नापि बान्धवान्। यथा पुत्रं गुणज्येष्ठमङ्गदं कनकाङ्गदम्।४।१८।५०। न ममादर्शनाद्दीनो बाल्यात्प्रभृति लालितः। तटाक इव पीताम्बुरुपशोषं गमिष्यति।५१।....राम भवता रक्षणीयो महाबलः।५२। सुग्रीवे चाङ्गदे चैव विधत्स्व मतिमुत्तमाम्।५३।' इन श्लोकोंका भाव झलक रहा है। वह कहता है कि 'मुझे अपने वा तारा अथवा बाँधवोंके लिये शोक नहीं है, शोक है स्वर्णका अंगद पहननेवाले अङ्गदका। इसे मैंने बाल्यावस्थासे ही पाला पोसा है। मुझे न देखकर यह अवश्य दुःखित होगा। जैसे जलके निकल जानेसे तालाब सूख जाता है वैसे ही यह सूख जायगा। अतएव आप इसकी रक्षा कीजियेगा। सुग्रीव और अंगदके विषयमें आप समान भाव रक्खें क्योंकि आप रक्षक हैं।'—यह शंका वालिके हृदयमें थी, यह 'बाँह गहि लीजिए' 'दास आपन कीजिये' से जनाया। सुग्रीव दास हैं, यथा—'सो सुग्रीव दास तव अहई।' ।४।४।२।', अतः अंगदको अपना दास बनाइये कहकर वाल्मी० का भाव जनाया कि इन दोनोंमें समान भाव रखियेगा। दोनों दास होनेसे समान हो जायँगे।

टिप्पणी—४ (क) 'सुरनरनाह' अर्थात् आप देवता और मनुष्य सबके रक्षक हैं, इसकी भी रक्षा कीजिए। 'सुर नर' को कहा, असुरको न कहा, क्योंकि असुरोंको मारकर सुरनरकी रक्षा करते हैं। पुनः भाव यह कि सुरनर आपकी सेवा करते हैं तब बेचारा अंगद क्या है जो सेवा करेगा; पर मेरे वर माँगनेसे इसे अपना दास बनाकर अपने साथ सेवामें रखिए। अभिप्राय यह कि सुग्रीवके साथ (अर्थात् उसकी सेवामें) यह न रहे।

५—इस प्रसंगमें वालिके अनेक गुण कहे हैं—

१ शूरता—सुनत बालि क्रोधातुर धावा।

२ युद्धमें निपुणता—भिरे उभौ बाली अति तर्जा। मुठिका मारि महाधुनि गर्जा।

३ बल—मुष्टि प्रहार बज्र सम लागा।

४ धैर्य—पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगे।

५ भक्ति—पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा।
६ ज्ञान—सुफल जनम माना प्रभु चीन्हा।
७ वचन चातुरी—'धर्महेतु अवतरेउ गोसाईं' से 'सुनत राम अति कोमल बानी' तक
८ पाण्डित्य—'जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं' से 'अस कवन सठ०' तक।
९ बुद्धि—'अब नाथ करि करुना०' से 'गहि बाँह सुरनरनाह००' तक।
१० सावधानता—'राम चरन दृढ़ प्रीति करि००'
११ भाग्य—राम बालि निज धाम पठावा।
१२ प्रजापालकता—'नगर लोग सब व्याकुल धावा'।

नोट—२ 'गहि बाँह' में भाव यह है कि बाँह गहेकी लाज सबको होती है। 'बाँह गहेकी लाज' मुहावरा है। जैसा दोहावलीमें भी कहा है—'तुलसी तृन जलकूल को निरबल निपट निकाज। कै राखै कै सँग चलै बाँह गहेकी लाज।५४४।' बाँह पकड़ लेनेसे फिर इसकी बराबर रक्षा करना उनका कर्त्तव्य हो जायगा। बाँह पकड़ना ही शरणमें लेना है। पुनः, इसमें यह भी भाव है कि सुग्रीवके बाद इसीको राज्य मिले।

प० प० प्र०—वालि और सुग्रीव दोनों भाई रूपमें तो समान ही थे, 'एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ'; पर साथ ही साथ वे अनेक गुणोंमें भी समान थे। तथापि शौर्य, धैर्य आदि अनेक गुणोंमें बालिकी श्रेष्ठता स्पष्ट देखनेमें आती है।

| | |
|---|---|
| सुग्रीवका प्रेम स्वार्थसाधनसे हुआ | १ बालिमें प्रेम बंधुविरोधसे हुआ |
| सुग्रीवने राज्य अपने लिये पाया | २ बालिने अपना राज्य गँवाया पर पुत्र-पौत्रादिके लिये व्यवस्था कर दी। |
| सुग्रीवका रामप्रेम दृढ़ न रहा | ३ बालिने दृढ़ प्रीति प्राप्त की |
| यह विषयोंमें आसक्त हुआ | ४ इसने परम धाम प्राप्त किया |
| सुग्रीवको सुयश मिला | ५ बालिको अपकीर्ति मिली |

## दोहा—राम-चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
## सुमनमाल जिमि कंठ ते गिरत न जानै नाग॥१०॥

अर्थ—श्रीरामजीके चरणोंमें दृढ़ प्रीति करके बालिने (इस प्रकार) देह त्याग दिया जैसे हाथी अपने गलेसे फूलकी मालाका गिरना न जाने। अर्थात् बालिको तनत्याग समय दुःख न हुआ।१०।

टिप्पणी—१ 'दृढ़ प्रीति' इति। जब सबकी ममता त्यागकर श्रीरामपदारविन्दमें चित्त लगे तब प्रीति दृढ़ कही जाती है। बालिने प्रथम रामचरणमें अनुराग माँगा, पीछे पुत्रको सौंपा। पुत्रके स्नेहमें चित्तकी वृत्ति चली गई थी। उसे वहाँसे खींचकर पुनः रामचरणमें लगाया, यही दृढ़ प्रीति करना है। यथा—'जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा। सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँधि बरि डोरी।'

२—रामपदमें प्रेम करनेसे जन्म मरणका क्लेश नहीं व्यापता; इसीसे बालिको मरणकालका दुःख न हुआ। देह सुमनमाला और जीव हाथी है।

गोस्वामीजी श्रीरामजीके साथ वालि और सुग्रीवका व्यवहार समान वर्णन करते हैं—

| सुग्रीव | वालि |
|---|---|
| १ जब सुग्रीव राम कहँ देखा | पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगे |
| २ अतिसय जन्म धन्य करि लेखा | सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा |
| ३ जोरी प्रीति दृढ़ाइ | चरन दृढ़ प्रीति करि |
| ४ बारबार नावै पद सीसा | पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा |

| | |
|---|---|
| ५ प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा | सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा |
| ६ अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती । सब तजि भजन करौं दिनराती | अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु यह वर मागऊँ। जेहि जोनि जन्मौं कर्म वस तहँ रामपद अनुरागऊँ |
| ७ सब प्रकार करिहौं सेवकाई | आपन दास अंगद कीजिए |
| ८ सुग्रीव रामजीके शरण हुआ | वालि शरण हुआ—'अंतकाल गति' |

[ ९ वहाँ 'जोरी प्रीति दृढ़ाइ' में दोहा है, वैसे ही यहाँ 'राम चरन दृढ़ प्रीति करि' में दोहा है। वहाँ 'मेली कंठ सुमनकी माला', वैसे ही यहाँ इन्द्रदत्त माला। वहाँ सुग्रीवके शरीरकी पीड़ा गई और यहाँ मन राम चरणमें है इससे शरीरका दुःख कहाँ? (प्र०)]

इसीसे श्रीरामजीने भी दोनोंके साथ समान व्यवहार किये—

| | |
|---|---|
| परसा सुग्रीव सरीरा | १ वालि सीस परसेउ निज पानी |
| सुनि सेवक दुख दीनदयाला | २ सुनत राम अति कोमल बानी |
| जेहि सायक मारा मैं बाली, तेहि सर हतौं मूढ़ कहँ काली। | ३ 'सुनु सुग्रीव मैं मारिहौं वालिहि एकहि बान' |

४ दोनोंके अर्थ रामजीने प्रतिज्ञा छोड़ी, यथा—

| | |
|---|---|
| 'भय दिखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव'। | ४ अचल करउँ तन राखहु प्राना |
| दोनोंको राज्य दिया—'राज दीन्ह सुग्रीव कहँ' | ५ 'अंगद कहँ जुवराज।' |
| सुग्रीवको किष्किधा-धाम दिया | ६ वालिको निज धाम दिया |

इस प्रकार 'समदरशी रघुनाथ' यह वचन चरितार्थ हुआ।

प्र०—वाल्मी० में इन्द्रदत्त स्वर्णमाला सुग्रीवको देकर वालि मरा है। (यथा—'इमां च मालामाधत्स्व दिव्यां सुग्रीव काञ्चनीम्। उदारा श्रीः स्थिता ह्यस्यां संप्रजह्यान्मृते मयि।२२।१६।' अर्थात् सुग्रीव! यह दिव्य सोनेकी माला लो। इसमें प्रशस्त विजयलक्ष्मी वर्तमान है। मेरे मरनेपर इसकी श्री नष्ट हो जायगी। अतएव इसे तुम धारण करो)।—इस बातको गुप्त रीतिसे गोस्वामीजीने, 'सुमनमाल जिमि कंठते गिरत' इन शब्दोंसे जना दिया है।

पं० श्रीकान्तशरणजी—किष्किन्धाकाण्ड रामायणका हृदय है। 'इससे ग्रन्थकारने इसमें अपना (वैष्णवोंका) परम रहस्यरूप पंचसंस्कार गुप्तरूपसे सजा रक्खा है। नाम, कंठी, ऊर्ध्वपुण्ड्र, मुद्रा (धनुपबाण) और मंत्र यही पञ्च संस्कार हैं।

नाम संस्कार—बालिके कहनेपर कि 'आपन दास अंगद कीजिए', श्रीरामजीने अंगदकी बाँह पकड़ी और अपना दास माना।

कंठी संस्कार,—'मेली कंठ सुमनकी माला' में 'सुमन की' पद श्लिष्ट है। 'मनकी' मालाके छोटे-छोटे दानेको कहते हैं जिनकी कंठी बनती है। 'सु' उपसर्ग यहाँ उत्तम काष्ठके अर्थसे तुलसीकी मनकीका बोधक है। उसकी माला जब कण्ठमें मेली जायगी तो दोहरी होनेपरही कंठसे संलग्न रहेगी; अन्यथा हृदयपर लटक जायगी।

ऊर्ध्वपुण्ड्र संस्कार,—ऊर्ध्वपुण्ड्र 'हरिपदाकृति' ही है। बालिने जो 'पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा' उसमें यही भाव है। ऊर्ध्वपुण्ड्रसे वैष्णवलोग अपने जन्मकी सफलता मानते हैं, वैसेही बालिने 'सुफल जनम माना'। इसेही 'प्रभु चीन्हा' अर्थात् प्रभुका चिह्न भी मानते हैं।

मुद्रा संस्कार—बाणसे प्रभुने बालिके समस्त पापोंका नाश किया और उसे परम पद भी दिया। बाणके माहात्म्यके साथ-साथ धनुषका भी माहात्म्य है।

मंत्र संस्कार,—'जन्म जन्म....अबिनासी' में एक अर्धालीमें मंत्रका जपना और दूसरीमें श्रीशिवजीके

द्वारा कानमें मंत्रका सुनाया जाना कहा गया है। मंत्र और नाम अभेद हैं। 'जन्म जन्म' अर्थात् नित्य प्रातःकाल, क्योंकि सोकर जागना जन्मके समान माना जाता है, इसीसे प्रातःकाल प्राणप्रतिष्ठा और भूत-शुद्धि आदि, विधियाँ की जाती हैं। 'मुनि' अर्थात् मन्त्रका अर्थ मनन करते हुए। 'जतनं कराहीं' अर्थात् गुप्त रूपसे जप करते हैं, 'अंत राम कहि' अर्थात् अंतकाल तक नित्य ऐसे 'राम' कहते (जपते) हुए आवत नाहीं अर्थात् फिर संसारमें नहीं आते। मन्त्रोद्धार सर्वत्र गुप्त ही रहता है, वैसे यहाँ भी है।

राम बालि निज धाम पठावा। नगर लोग सब ब्याकुल धावा॥ १॥
नाना बिधि बिलाप कर तारा। छूटे केस न देह सँभारा॥ २॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने वालिको 'निजधाम' को भेज दिया। नगरके सब लोग व्याकुल होकर दौड़े।१। तारा अनेक प्रकारसे विलाप कर रही है, बाल छूटे हुए हैं, देहकी सँभाल नहीं है।२।

टिप्पणी १—'निज धाम' इति। वालिने रामदर्शन पाया, रामबाणसे मृत्यु पाई और रामचरणमें दृढ़ प्रीति करके तन त्याग किया; अतः प्रभुके 'निजधाम' को गया। अध्यात्म २।७१ में लिखते हैं कि वालि रघुकुलश्रेष्ठ रामजीके बाणसे मरा और उनके शीतल और सुखद करकमलसे उसका स्पर्श हुआ, इससे वह तुरंत वानर देह छोड़कर परमहंसोंको भी दुर्लभ परम-पदको प्राप्त हुआ। और उसके पहले, श्लोक ७०में, लिखा है कि वानरदेह छोड़कर तुरंत इन्द्रकी देहत्वको प्राप्त हुआ, यथा—'त्यक्त्वा तद्वानरं देहममरेन्द्रोऽभवत्क्षणात्॥७०॥ वाली रघूत्तमशराभिहतो विमृष्टो रामेण शीतलकरेण सुखाकरेण। सद्यो विमुच्य कपि देहमनन्यलभ्यं प्राप्तं परं परमहंसगणैर्दुरापम्॥७१॥'—[पर वालिके वचन हैं कि मैं आपके उत्तम पदको जाता हूँ इससे 'निजपद' भगवान्‌का ही लोक हुआ। वाल्मीकिमें प्रभुने तारासे कहा है कि उसे स्वर्ग मिला। यहाँ प्रभु सामने खड़े हैं इससे 'निजधाम' से हमें साकेत वा वैकुण्ठ लोक ही जाना अधिक ठीक जान पड़ता है। श्रीरामका 'निजधाम' तो 'रामधाम' साकेत (अयोध्या) ही है। अतः मानसके अनुसार उसको साकेत लोककी प्राप्ति हुई। इसीको भगवान् रामने 'मम धाम' कहा है। यथा 'तनु तजि तात जाहु मम धामा।३।३१।१०', 'पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं।६।११५।', 'अति प्रिय मोहि इहाँ के वासी। मम धामदा पुरी सुखरासी।७।४।७' जो धाम जटायु, और विभीषणको देनेको कहा वही 'निज धाम' वालीको दिया। 'निजधाम' दूसरा होही नहीं सकता। भगवान्‌के पूजक भगवान्‌कोही, उनके ही धामको प्राप्त होते हैं, यह तो साधारण बात है। भगवद्वचन ही है 'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्। गीता ९।२५।', 'मद्भक्ता यान्ति मामपि। गीता ७।२३।', 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते। गीता ८।१६।', पर यहाँ तो कवि स्पष्ट कहते हैं कि 'निज धाम पठावा'; अध्यात्मका मत लेना आवश्यक नहीं है।]—मतभेदके कारण 'निज धाम' पद दिया गया जिसमें सर्वमतकी समाई है।

नोट—१ 'नगर लोग सब व्याकुल धावा' इति। इन शब्दोंसे वाल्मी० और अ० रा० दोनोंके भाव कह दिये गए। श्रीरामजीको धनुष लिये देख नगरवासी वानर डर गए। अपने राजाको मारा गया देख वे व्याकुल हो गए, डरे कि अब हम भी मारे जायँगे। अतः वे किष्किंधामें भागकर गए, यथा—'दुद्रुवुर्वानराः सर्वे किष्किन्धां भयविह्वलाः।अ० रा० ३।१।', 'ये त्वङ्गदपरीवारा वानरा हि महाबलाः। ते सकार्मुकमालोक्य रामं त्रस्ताः प्रदुद्रुवुः। वाल्मी०।१९।५।', वे इतने डरे हुए थे कि ताराको उन्हें समझाना पड़ा कि सुग्रीवने राज्यके लोभसे मेरे पतिको मरवा डाला तो तुम क्यों डरते हो। उन्होंने कहा कि हम लोगोंने सदा सुग्रीवको इस राज्यकी प्राप्तिमें सफल होनेसे वंचित किया है, अतः हमें भय है। वे अपने पक्षके वानरोंके साथ अब इस किलेमें प्रवेश करेंगे। इत्यादि। अ० रा० के अनुसार इन्हीं वानरोंने ताराको बालीके मारे जानेका समाचार दिया—'तारामूचुर्महाभागे हतो वाली रणाजिरे।' वाल्मी० से अनुमान होता है कि अंगदने माँको खबर दी, अतः वह अंगदसहित वहाँसे चली। यथा 'सा सपुत्राऽप्रियं श्रुत्वा वधं भर्तुः सुदारुणम्। निष्पपात भृशं तस्माद्वुद्विग्ना गिरिकन्दरात्।१९।४।' दोनों मतोंकी रक्षा मानसमें कर दी गई।

नोट—२ 'नाना बिधि बिलाप कर....' इति। (क) यहाँ ताराका चलना और पतिके शवके पास पहुँचना न कहकर क्रमसे जनाया कि पहले नगरके सब लोग व्याकुल होकर दौड़े, उनके पश्चात् साथ ही तारा समाचार सुनकर वहींसे विलाप करती चली (ये दोनों बातें वालिके मरते ही तुरत हुईं)। यथा 'एव-मुक्त्वा प्रदुद्राव रुदती शोकमूर्छिता। शिरश्चोरश्च बाहुभ्यां दुःखेन समभिघ्नती। वाल्मी० १९।२०।' (ख) 'तारा' का विलाप सर्ग २० श्लोक ४-२५; सर्ग २३ श्लोक २-१७, २२-३०; और सर्ग २४ श्लोक ३३-४० में जो दिया गया है वह सब यहाँ 'नाना विधि' से कविने सूचित कर दिया है। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वह कुररी पक्षीकी तरह विलाप कर रही थी—'क्रोशन्तीं कुररीमिव ।१९।२८।'

विलापः—क्या आज मुझे अपराधिनी समझकर नहीं बोल रहे हो? उठो, अच्छे बिछौनेपर सोओ। राजा पृथ्वीपर नहीं सोते। वसुन्धराधिप होनेसे आज आपको पृथ्वी बहुत प्रिय है जिससे मुझे छोड़कर उसपर पड़े हो। आज मैं बहुत दुःखी हूँ। अंगदका क्या हाल होगा, उसे आश्वासन दो, उसका सिर सूँघो। आप अपनी इन अनेक सुंदरियोंको देखिए।००। इत्यादि।

'तारा'—सुषेण वानरकी कन्या है। वालिकी स्त्री है। वालिने इसके विषयमें (वाल्मीकीयमें) सुग्रीवसे कहा है कि 'वह सूक्ष्म विषयोंके निर्णय करने तथा नाना प्रकारके उत्पातसूचक चिह्नोंको जाननेमें अत्यन्त निपुण है। वह सर्वज्ञा है। जिस कामके लिए वह अच्छा कह दे वह अवश्य ही सिद्ध होता है, उसकी सम्मति कभी विपरीत नहीं होती'। वालिने पश्चात्ताप किया कि मैंने उसका कहा न माना, इसीसे मारा गया।

यह पंचप्रातस्मरणीय स्त्रियोंमेंसे एक है, जिनका प्रातःकाल स्मरण माङ्गलिक और बड़े माहात्म्यका माना जाता है। वे ये हैं—'अहल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मंदोदरी तथा। पंचकं ना स्मरेन्नित्यं महापातकनाशिनीम्।' (आचारमयूख)। पुराणोंके अनुसार ये पाँचों स्त्रियाँ परमपवित्र मानी जाती हैं। पंचकन्या पाठ प्राचीन नहीं है।

३—'छूटे केस न देह सँभारा' यह शोककी दशा है। शोकमें ज्ञान, धीरज और लज्जा ये तीनों नहीं रह जाते, यथा—'सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा।' ताराके ज्ञान न रह गया। इसीसे नाना बिधिसे विलाप करती थी। धीरज न रहा इसीसे देहका सँभाल नहीं; और, लाज न रही इसीसे केश छूटे हुए हैं।

**तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ज्ञान हरि लीन्ही माया॥ ३॥**

अर्थ—ताराको व्याकुल देखकर श्रीरघुनाथजीने उसे ज्ञान दिया और माया हर ली।३।

टिप्पणी—१ 'बिकल देखि' का भाव कि श्रीरामजी कृपालु हैं, स्त्रीकी व्याकुलता देख दया आई। अतः उसपर कृपा की। ज्ञानसे शोक दूर होता है, इसीसे ज्ञान दिया। यथा—'सोक निवारेउ सबहि कर निज बिज्ञान प्रकास।२।१५६।' जैसे वशिष्ठजीने राजाके मरनेपर रानियोंकी व्याकुलता विज्ञान द्वारा दूर की थी।

२ प्रथम जब ज्ञान हो जाता है तब माया दूर होती है और मायाके हटनेपर भक्ति होती है, यथा 'होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुबीर चरन अनुरागा।' श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग होना भक्ति है, मोहभ्रमका भागना मायाका दूर होना है और विवेक होना ज्ञान है। श्रीरामजीने ताराको ज्ञान दिया तब माया गई और तत्पश्चात् उसने भक्ति माँगी।

पं०—प्रभु दीनदयाल हैं, उन्होंने सोचा कि मेरे सन्मुख भी इसे अज्ञान बना रहे तो योग्य नहीं, इसीसे ज्ञान देकर उसका अज्ञान हरण किया।

प० प० प्र०—(क) 'दीन्ह ज्ञान....' इति। 'ज्ञान दिया' इस कथनसे स्पष्ट है कि ज्ञान दूसरेके देनेसे ही मिलता है, अपने यत्नसे साध्य नहीं है। यथा—'दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवन जठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः' (शतश्लोकी वेदान्तकेसरी), 'चितइ पितहि दीन्हेउ दृढ़ ज्ञाना।६।१११।५।' (ख) श्रीदशरथजीको दृढ़ ज्ञान दिया है। ताराको दृढ़ ज्ञान नहीं दिया, केवल 'ज्ञान' देना कहा, क्योंकि दृढ़ ज्ञान दिया होता तो वह सुग्रीवकी स्त्री क्यों

बन जाती? ताराको शब्द शक्तिसे ज्ञान दिया, यह आगेकी अर्धालियोंसे स्पष्ट है और दशरथजीको 'चितइ दीन्हेउ' अर्थात् दृष्टिशक्तिसे ज्ञान दिया। (ग) सुग्रीवजीके संबंधमें 'उपजा ज्ञान बचन तब बोला' कहा था। बोये बिना उपज नहीं होती। वहाँ बोनेवाले भगवान् ही हैं। उन्होंने संकल्पमात्रसे उन्हें ज्ञान दिया, ऐसा समझना चाहिए। अथवा, स्पर्शसे। कारण कि ज्ञान इन चार प्रकारोंसे ही दिया जाता है। यथा—'गुरोरालोक्यमात्रेण स्पर्शात् सम्भाषणादपि। मनसा यस्तु संस्कारः क्रियते योगवर्त्मना।' इस संस्कारको शाम्भवी दीक्षा कहते हैं जिससे शम्भुत्व (शिवता, स्वरूपस्थिति) प्राप्त होती है—'देशिकानुग्रहेणैव शिवताव्यक्तकारिणी। सेयं तु शाम्भवी दीक्षा शिवादेशस्य कारिणी।'

**छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥ ४॥**
**प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥ ५॥**

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और पवन इन पंच तत्त्वोंसे यह अत्यन्त अधम शरीर रचा गया है।४। वह शरीर प्रत्यक्ष तेरे सामने सोया हुआ है और जीव नित्य है; सो तुम किसके लिए रो रही हो।५।

टिप्पणी १—'छिति जल पावक....' इति। शरीरकी रचना इसी क्रमसे होती है जैसा यहाँ लिखा है। प्रथम माताका रज पृथ्वी तत्व है, पिताका वीर्य जलतत्व है। इनसे पिण्ड बनना अग्नि तत्व है, पोल होना आकाश है और प्राण आना वायु है—भागवतके तृतीय स्कंधमें इसका उल्लेख है। यथा—'कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये। स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतः कणाश्रयः।१। कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम्। दशाहेन तु कर्कन्धूः पेश्यण्डं वा ततः परम्।२। मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्घ्र्याद्यङ्गविग्रहः। नखलोमास्थिचर्माणि लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः।३। चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः। षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे।४।' (अध्याय ३१)। अर्थात् जीवके पूर्वकृत कर्मोंका प्रवर्त्तक ईश्वर ही हैं। जीव उन्हीं कर्मोंके कारण शरीर-धारणके लिए पुरुषके बीजकणके आश्रयसे स्त्रीके गर्भमें प्रवेश करता है। पुरुषका वीर्य स्त्रीके गर्भमें जाकर एक रात्रिमें स्त्रीके रजमें मिल एकरूप हो जाता है। वीर्य और रजके मिले हुए रूपको 'कलल' कहते हैं। फिर पाँच रात्रिमें पानीके बुल्लेके समान गोल हो जाता है, दश दिनमें बेरके फलके समान बड़ा और कठिन हो जाता है, फिर एक महीनेमें अण्डेके सदृश मांसपिण्ड बन जाता है। महीने भरके बाद उसमें सिर निकलता है। दो मासमें बाहु, चरण आदि अंगोंका विभाग हो जाता है तथा तीन मासमें नख, लोम, अस्थि और स्त्रीत्व अथवा पुरुषत्वके प्रदर्शक छिद्र उत्पन्न हो जाते हैं। चार मासमें सात धातुएँ प्रकट होती हैं। पाँचवेंमें भूख-प्यासकी उत्पत्ति, छठेमें जरायु (झिल्ली) से आवृत्त होकर माताकी कोखमें दक्षिण ओर घूमने लगता है]।

नोट—१ यहाँ 'छिति जल पावक गगन समीर' यह क्रम है और सुन्दरकांड ५९ (२) में 'गगन समीर अनल जल धरनी' यह क्रम दिया है। भेदका कारण यह है कि सुन्दरकांडमें इन पाँचोंतत्वोंकी उत्पत्तिके विचारसे जैसा उत्पत्तिका क्रम है वैसा ही कहा गया और यहाँ तत्वोंकी उत्पत्ति नहीं कहना है वरंच जिस क्रमसे शरीरकी रचनामें ये तत्व काममें आए वह क्रम रक्खा गया है, क्योंकि यहाँ रचना कह रहे हैं—'पंच रचित....'। तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्दवल्ली प्रथम अनुवाकमें पंचतत्त्वोंकी उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार कहा गया है—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।' अर्थात् सबके आत्मा सर्वप्रसिद्ध उस परमात्मासे पहले आकाशतत्व उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई।

नोट—२ 'अति अधम सरीरा' इति। इस संबंधमें पद्मपुराण भूमिखण्डके ययाति और मातलिका संवाद पढ़ने योग्य है। उसमें मातलिने बताया है कि 'आत्मा परमशुद्ध है। पर यह देह जो कर्मोंके बंधनसे

तैयार किया गया है नितान्त अशुद्ध है। वीर्य और रजका संयोग होनेपर ही किसी भी योनियोंमें देहकी उत्पत्ति होती है तथा यह सर्वदा मलमूत्रसे भरा रहता है। यह देह ऊपरसे पंचभूतों द्वारा शुद्ध किया जानेपर भी भीतरकी गंदगीके कारण अपवित्र ही माना गया है। जिसमें पहुँचकर पञ्चगव्य और हविष्य आदि अत्यंत पवित्र पदार्थ भी तत्काल अपवित्र हो जाते हैं, उससे बढ़कर अशुद्ध दूसरा क्या हो सकता है?—'यं प्राप्यातिपवित्राणि पञ्चगव्यं हवींषि च। अशुचित्वं क्षणाद्यान्ति कोऽन्योऽस्मादशुचिस्ततः।६६।६६।' जिसके द्वारा निरन्तर क्षणक्षणमें कफ मूत्र आदि अपवित्र वस्तुयें वहती रहती हैं, जिसके छिद्रोंका स्पर्शमात्र कर लेनेसे हाथको जलसे शुद्ध किया जाता है तथापि मनुष्य अशुद्ध ही बने रहते हैं, वह शुद्ध कैसे हो सकता है? मनुष्य अपने शरीरके मलको अपनी आँखों देखता है, उसकी दुर्गन्धका अनुभव करता है और उससे बचनेके लिये नाक भी दबाता है। किन्तु मोहका कैसा माहात्म्य है कि शरीरके दोषोंको देखकर और सूँघकर भी उसको उससे वैराग्य नहीं होता। यह शरीर अत्यन्त अपवित्र है क्योंकि जन्मकालमें इसके अवयवोंको स्पर्श करनेसे शुद्ध मनुष्य भी अशुद्ध हो जाता है।

संभवतः उपर्युक्त दोषोंके कारण ही शरीर अधम कहा गया है। अन्यत्र भी इसे अधम कहा है, यथा—'रहिहि न अंतहु अधम सरीरू।२।१४४', 'अधम सरीर राम जिन्ह पाये।'

नोट—३ 'अति अधम' कहकर चार कोटियाँ जनाईं। उत्तम, मध्यम, अधम और अति अधम। महाकारण देह उत्तम है जिसमें स्वरूपानुभवकी स्थिति होती है। यह शुद्ध सत्वगुणात्मक होनेसे उत्तम है। (प० प० प्र०)। (रा० प्र० और पं० रा० कु० जी 'सहज स्वरूप' को उत्तममें लेते हैं)। कारण शरीर मध्यम है। इसमें केवल अज्ञानावृत आनन्दमय स्थिति होती है जिसमें विपरीत ज्ञानका अभाव होता है। सूक्ष्म वा लिङ्ग शरीर अधम है। यह सत्वरजोयुक्त होता है। और, पाँचभौतिक स्थूल शरीर केवल तमोगुणी होनेसे अति अधम है। (प० प० प्र०); अथवा अस्थि मांस आदिसे युक्त होनेसे अति अधम है। (पं० रा० कु०)।

४ 'सरीरा' इति। शरीर शब्द भी यहाँ उपयुक्त है। शरीरका अर्थ है 'जिसका नाश होता है (शीर्यते)।' अथवा जो दूसरोंका नाश करता है (शृणाति) वह स्थूल देह। (प० प० प्र०)।

टिप्पणी—२ 'प्रगट सो तन तव आगे सोवा।' 'प्रगट' कहनेका भाव कि तन और जीव दो पृथक्-पृथक् वस्तुयें हैं। इनमेंसे जीव प्रकट नहीं है, तन प्रगट है। इसके वास्ते क्यों रोती हो, यह तो सामने ही है। रहा जीव, सो नित्य है, उसका नाश नहीं। जिसका नाश नहीं उसके लिए रोना कैसे उचित है?

प० प० प्र०—'प्रगट सो तन तव आगे सोवा' इति। यहाँ यह न कहकर कि वह तन तेरे आगे प्रगट है, 'तव आगे' सोवा कहा। 'सोवा' कहकर यहाँ वाल्मी० सर्ग २० व २३ के तारा-विलापोंको सूचित किया है। [ताराके 'रणे दारुणविक्रान्त प्रवीर प्लीवतां वर। किमिदानीं पुरोभागामद्य त्वं नाभिभाषसे।२०।४। उत्तिष्ठ हरिशार्दूल भजस्व शयनोत्तमम्। नैवंविधाः शेरते हि भूमौ नृपतिसत्तमाः।५।' अर्थात् रणमें घोर पराक्रम करनेवाले वानरश्रेष्ठ वीर! क्या मुझे अपराधिनी जानकर आज मुझसे नहीं बोल रहे हो। उठिये, उत्तम बिछौनोंपर सोइये। राजा पृथ्वीपर नहीं सोते। तथा 'भुजाभ्यां पीनवृत्ताभ्यामङ्गदोऽहमिति ब्रुवन्। अभिवादयमानं त्वामङ्गदं त्वं यथा पुरा। दीर्घायुर्भव पुत्रेति किमर्थं नाभिभाषसे।२०।२५-२६।' अर्थात् अंगद आपके चरणोंको पकड़कर प्रणाम करता है, आप उसको पहलेकी तरह आशीर्वाद क्यों नहीं देते कि 'आर्यपुत्र! दीर्घायु हो।' इत्यादि वाक्योंको लेकर 'सोवा' शब्दका प्रयोग किया गया है]। भाव यह कि जैसे नित्य प्रति सो जानेपर वालि तुमसे बातचीत नहीं करता था वैसे ही इस समय भी बात नहीं करता है। उन उन समयोंमें तुमने कभी शोक नहीं किया तब इस समय सोतेमें क्यों शोक करती हो? यदि वह कहे कि यह श्वासोच्छ्वास नहीं करता है इससे मैं रोती हूँ तो उत्तर है कि श्वासोच्छ्वास करना इसका स्वभाव ही नहीं है। वह तो सूक्ष्म देहका धर्म है जो नित्य है; विदेह कैवल्य प्राप्ति तक रहता है। यदि कहे 'जीव' चला गया इससे रोती हूँ तो उत्तर देते हैं कि जीव नित्य है, उसमें तो स्त्री पुरुष, पति

पत्नी आदि भेद नहीं हैं। जीव अप्रकट है। जिसे कभी तूने देखा भी नहीं उसके लिये शोक कैसा ? उससे तूने वियोग कैसे मान लिया ?

नोट—५ तनको 'प्रगट' कहकर तनकी पूर्व और पर अवस्थाओं तथा जीवको अप्रकट जनाया। इस तरह इस शब्दसे गीता २ 'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ।२८। आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ।२९।' का भाव प्रकट कर दिया है। अर्थात् मनुष्यके शरीरकी आदि (अर्थात् पूर्व) अवस्था प्रत्यक्ष नहीं है और न मरणके बादकी अवस्था प्रत्यक्ष है; तब इनके विषयमें शोक कैसा ? कोई एक ही इस आत्माको आश्चर्यकी भाँति देखता है, कोई एक ही इसका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करता है और कोई एक ही इसे आश्चर्यकी भाँति सुनता है। पर सुनकर भी इसके यथार्थ स्वरूपको कोई नहीं जानता।—भाव कि जब कोई इसे यथार्थ जानता ही नहीं तब इसके लिये शोक कैसा ?

६—अर्जुनको उपदेश करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायमें ऐसा ही कहा है।—

'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः ।११।'

'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥'

अर्थात् जिनका शोक न करना चाहिए तू उन्हींका शोक कर रहा है और पंडितोंकी-सी बातें करता है ! किसीके प्राण रहें चाहे जायँ, पंडित लोग मरणशील शरीर और अविनाशी आत्माके लिये शोक नहीं किया करते। यह (आत्मा, जीव) न तो कभी जन्मता है न मरता ही है। ऐसा भी नहीं है कि यह एकबार होकर फिर होनेका नहीं; यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, एवं शरीरका वध हो जाय तो भी यह मारा नहीं जाता। इत्यादि। श्लोक ३० तक जीव और शरीरके विषयमें उपदेश है जो पढ़ने योग्य है।

७—अ० रा० में श्रीरामजीके वचन ये हैं—'किं भीरु शोचसि व्यर्थं शोकस्याविषयं पतिम्। पतिस्तवायं देहो वा जीवो वा वद तत्त्वतः ।१३। पंचात्मको जडो देहस्त्वङ्मांसरुधिरास्थिमान्। कालकर्मगुणोत्पन्नः सोऽप्यास्तेऽद्यापि ते पुरः ।१४। मन्यसे जीवमात्मानं जीवस्तर्हि निरामयः। न जायते न म्रियते न तिष्ठति न गच्छति ।१५। न स्त्री पुमान् वा षंढो वा जीवः सर्वगतोऽव्ययः। एकएवा द्वितीयोऽयमाकाशवदलेपकः। नित्यो ज्ञानमयः शुद्धः सकथं शोकमर्हति ।१६।'—(अध्यात्म ३)। अर्थात् हे भयशीले ! व्यर्थ क्यों शोच करती है ? तेरा पति शोक करने योग्य नहीं। बताओ कि तुम्हारा पति कौन है, यह देह या जीव ? जड़ देह तो पंचतत्त्वात्मक है। त्वचा, मांस, रुधिर, अस्थिवाला, काल कर्म और गुणसे उत्पन्न यह शरीर तेरे आगे है। यदि जीवात्माको पति मानती है तो जीव तो निर्विकार है, न पैदा होता है न मरता है, न खड़ा होता है न चलता है, न स्त्री है न पुरुष न नपुंसक। वह तो सर्वगत है, अविनाशी है, एक ही है, अद्वितीय और आकाशकी तरह निर्लेप है, वह नित्य ज्ञानमय और शुद्ध है। तब उसके लिए कैसे शोक करना योग्य है ?

वाल्मीकि रा० में प्रथम हनुमान्‌जीका समझाना लिखा है। फिर वालि-प्राणभंग होनेपर श्रीरामचन्द्रजीने समझाया है। सर्ग २४ में श्रीरामजीका उपदेश इस प्रकार है।—

'मा वीरभार्ये विमतिं कुरुष्व लोको हि सर्वो विहितो विधात्रा।
तं चैव सर्वं सुखदुःखयोगं लोकोऽब्रवीत्तेन कृतं विधात्रा ॥४२॥
त्रयोऽपि लोका विहितं विधानं नातिक्रमन्ते वशगा हि तस्य।
प्रीतिं परां प्राप्स्यसि तां तथैव पुत्रश्च ते प्राप्स्यति यौवराज्यम् ॥४३॥
धात्रा विधानं विहितं तथैव न शूरपत्न्यः परिदेवयन्ति।
आश्वासिता तेन महात्मना तु प्रभावयुक्तेन परंतपेन ॥....४४॥'

अर्थात् 'हे वीरपत्नी ! तुम मरनेकी इच्छा न करो। लोकको और सभीको विधाताने बनाया है। उसी विधाताने सबके साथ सुख दुःखका संयोग कर दिया है। ऐसा वेदोंका उपदेश है। त्रैलोक्यवासी निश्चित विधानका अतिक्रमण नहीं कर सकते क्योंकि सभी उसके अधीन हैं। तुम्हारा पुत्र युवराज होगा और तुम पहलेके ही समान अत्यन्त प्रसन्न होगी। विधाताका ऐसा ही विधान है। वीरोंकी स्त्रियाँ रोती नहीं। प्रभावशाली परन्तप महात्मा रामचन्द्रके समझाने पर वीर पत्नी ताराने विलाप करना छोड़ दिया।' ☞मानस-कथित उपदेश अध्यात्मके उपर्युक्त उपदेशसे मिलता जुलता है।

**उपजा ज्ञान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर मागी॥ ६॥**
**उमा दारु-जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं॥ ७॥**

अर्थ—जब ज्ञान उत्पन्न हुआ तब चरणोंसे लगी और वर माँगकर परमभक्ति ले ली।६। (श्री-शिवजी कहते हैं—) उमा ! राम गोसाईं सबको कठपुतलीकी तरह नचाते हैं अर्थात् सब प्राणी श्रीराम-जीकी इच्छाके अनुकूल कार्य करते हैं।७।

नोट—१ 'उपजा ज्ञान' से जनाया कि श्रीरामचन्द्रजीके समझानेसे इतनेसे ही उसका मोह दूर हो गया, उसने विलाप करना छोड़ दिया। प्रभावशाली महात्माओंके अल्प वाक्यसे ही लोगोंका अज्ञान दूर हो जाता है। प्रभुकी कृपासे उसे ज्ञान हुआ, वह कृतकृत्य हुई। अतः चरणोंमें अब उसने प्रणाम किया। यथा—'आश्वासिता तेन महात्मना तु प्रभावयुक्तेन परंतपेन। सा वीरपत्नी ध्वनता मुखेन सुवेषरूपा विरराम तारा। वाल्मी० २४।४४', 'देहाभिमानजं शोकं त्यक्त्वा नत्वा रघूत्तमम्। अ० रा० ३।३६।' अर्थात् 'प्रभावशाली परन्तप महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके समझानेपर वीरपत्नी ताराने विलाप करना छोड़ दिया। उसके हृदयमें शान्ति हुई जो मुखकी सुन्दरताके रूपसे प्रकाशित हुई। देहाभिमानजनित शोकको त्यागकर उसने श्रीरघुनाथजी-को प्रणाम किया।'—यह सब 'उपजा ज्ञान' से सूचित कर दिया गया।

टिप्पणी—१ ताराको उसी क्षण ज्ञान उत्पन्न हो गया, यह श्रीरामजीकी वाणीका प्रभाव है। ज्ञान होनेपर उसने सहगमनके विचारको त्याग भक्तिकी प्राप्तिका उपाय श्रेयस्कर जाना।—'जहँ लगि साधन बेद बखानी। सबकर फल हरिभगति भवानी।७।१२६।७।' भक्तिके बिना ज्ञानकी शोभा नहीं, यथा—'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू।' श्रीरामजीने ताराको ज्ञान अपनी ओरसे दिया और भक्ति उपाय करनेसे मिली। इससे सूचित हुआ कि ज्ञानसे भक्ति दुर्लभ है, यथा—'प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही।७।८४।४।'

गौड़जी—तारा पहले अत्यंत विकल होगई। शोकसे ऐसी संतप्त हो गई कि वह पतिके शवके साथ चितामें जल जानेको तैयार थी। उसे भी वैसाही कच्चा वैराग्य होगया जैसा कि श्मशान वैराग्य हुआ करता है तथा जैसा सुग्रीवको वालिसे भिड़नेके पहले हो गया था। उस प्रसंगमें वालिको परमहित मानकर वह उसका वध नहीं चाहता था। परन्तु 'नट मर्कट इव नचानेवाले' भगवान्‌ने उसे प्रवृत्त किया और यथोचित ज्ञान दिया। यहाँ भी तारा महापतिव्रता होगई, परन्तु वस्तुतः उसे अनाथ विधवा रहनेमें भय था। इसीलिये जब ज्ञान हुआ तब 'तैं पुनि होव सनाथ' वा 'तौ पुनि होव सनाथ' का स्मरण करके चरणोंपर गिरी और पहले उसने 'बर' (पति) माँगा। अर्थात् सुग्रीवको वरण करनेकी आज्ञा माँगी। इससे, परम भागवत राम-सखा, पार्षद, पारिवारिकको वरण करके सहजही उसने 'परम भक्ति ले ली।' अर्थात् उसकी अधिका-रिणी हो गयी। अन्वय यों है—'बर माँगि (कै), परम भक्ति लीन्हेसि।' रामसखाको वरण करना ही उसे अधिकारिणी बनाता है, जैसे राजाको वरतेही भिखारिणी भी रानी हो जाती है। भगवत्प्रेरणानुकूलही सब काम हुआ। इस प्रसंगमें भी ठीक वही बात कही है कि रामजी 'दारुयोषितकी नाईं' सबको नचाते हैं।

मा० म०—१ 'जब ताराको ज्ञान प्राप्त हुआ तब वह श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंपर गिरी और

पहिले भक्ति तदनन्तर 'वर' (पति)ॐ माँगा। यदि कोई कहे कि यह अर्थ असंगत है तो इसीकी पुष्टताके लिए आगे कहते हैं कि 'उमा दारु जोषित की नाई।....।' यदि तारा केवल भक्तिही माँगती तो इस चौपाई-के कहनेकी आवश्यकता न थी, परन्तु उसने पति भी माँगा, अतएव शिवजी कहते हैं कि—हे उमा! देखो। इन्द्रियपति श्रीरामचन्द्र इन्द्रियोंको स्थिर वा चंचल जैसा चाहें करनेवाले हैं क्योंकि पहिले ताराने भक्ति माँगी थी परन्तु इन्द्रियोंके वश होकर पति भी माँगना पड़ा। २—(मयूख)—श्रीरामचन्द्रजीने शापके डरसे ताराको ज्ञान देकर मोह छुड़ाया और पतिके बदले पति दिया अर्थात् सुग्रीवको ताराका पति बना दिया; वालिका कहना भी पूरा हो गया।—'तौ पुनि होब सनाथ' में देखिए।†

वि० त्रि०—१ 'उपजा ज्ञान........वर मागी' इति। सरकारके उपदेशसे ज्ञान उपजा कि यह शरीर पाञ्चभौतिक पदार्थ है। यह कार्य्य हैं, अतः अनित्य है, अधम है (यथा—'रहिहि न अंतहु अधम सरीरू') और जीव नित्य है, अतः अशोच्य है, उसे सम्पूर्ण संसार नश्वर दिखाई देने लगा, कोई स्पृहा उसे नहीं रह गई, अतः उसने परम भक्ति वर माँग लिया। यहाँ वरका अर्थ वरदान है, भर्ता नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें जब कि मारे हुए पतिका शव पड़ा हो, कोई अधमसे अधम स्त्री भी दूसरा पति करनेकी बात नहीं सोच सकती।

२ 'उमा दारु जोषित........गोसाईं' इति। जो तारा अभी इतनी विकल थी कि उसके बाल छुट गये थे, देहका सँभाल नहीं था, वही प्रभुका उपदेश पातेही कृतकृत्य होगई, और उसने भक्तिका वरदान माँग लिया। इसमें ताराकी कोई प्रशंसा नहीं। सरकारने उसे विकल देखा, उन्होंने चाहा कि इसके हृदय-में शान्ति आजाय, उसे उपदेश दिया और उसने शान्ति लाभ की। इसपर शिवजी कहते हैं कि सब लोग राम गोसाईं के हाथकी कठपुतली हैं, जब जैसा कर देते हैं तब वह तैसा हो जाता है, यथा—'बोले बिहँसि महेस तब ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ।१।१२४।'

टिप्पणी—२ यहाँ 'दारु जोषित' का उदाहरण दिया और पूर्व कहा था कि 'नट मर्कट इव सबहि नचावत'। मर्कटके दृष्टान्तसे जगत्‌को चैतन्य कहा और दारुयोषितके दृष्टान्तसे जगत्‌को जड़ कहा। एकही (जगत्) को जड़ और चैतन्य दोनों कहना विरुद्ध है। पर तनिक ध्यान देनेसे इसका समाधान हो जाता है।

---

ॐ 'जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली। सोइ करतूति बिभी-षन केरी।' (१।२९), यह मानसका वचन इस भावका विरोधी है। अतः यह भाव भ्रम है। (प० प० प्र०)

† ऐसाही अर्थ दोहामें दीनजीने किया है। संभवतः मयङ्कके आधारपरही। पर यहाँ वे 'भगत वर' पाठ देते हैं। यह पाठ संपादकको किसी प्राचीन पोथीमें अबतक नहीं मिला। दीनजी जो भाव लिखते हैं वह मयङ्क और मयूखमें हो चुका है पर वहाँ भी पाठ 'भगति' है। दीनजी लिखते हैं कि—"कुछ लोग प्रथम अर्द्धालीके दूसरे पदमें 'भगति बर' पाठ करके 'भक्तिका वरदान माँग लिया' ऐसा अर्थ करते हैं, पर हमें वह पाठ नहीं जँचता क्योंकि तारा पंचकन्या है। उसका किसी समय विधवा रहना हमारे शास्त्रानुकूल विहित नहीं है। अतएव उसे तुरत सुग्रीवको वरण करना ही पड़ा। 'भगत-वर' ही पाठ माननेसे पार्वतीजीकी शंका भी उचित जान पड़ती है, नहीं तो वह व्यर्थसी हो जायगी क्योंकि भक्तिका वरदान माँग लेना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं है। 'भगत—वर' माँगनाही आश्चर्य्यमें डालनेवाली बात है—कि जो तारा अभी वालिके लिये रो रही थी वही एकदम भूलकर सुग्रीवको वरण करनेके लिए तैयार हो गई। इस स्थानपर वालिका वह कथन स्मरण करना चाहिए जो उसने युद्धके लिए प्रस्थान करते समय तारासे कहा था।—'जौं कदाचि मोहिं मारहिं तैं पुनि होब सनाथ'—(नोट—'तैं'—पाठ भी हमें कहीं नहीं मिला है)—इस दोहेके चौथे चरणका पाठ 'तौ पुनि होउँ सनाथ' करके इसका अर्थ 'तो फिर मैं सनाथ हो जाऊँगा' लोग करते हैं; पर वह संगत नहीं है क्योंकि 'पुनि' का यहाँपर कोई अर्थही नहीं लगता। यदि वालि एक बार कहीं 'अनाथ' से 'सनाथ' हो चुका होता तो उसका यह कहना संगत होता; अतएव यह पाठ माननेसे पद्य अशुद्ध ठहरता है।"

'उमा दारु जोतिष की नाईं' यह शिववाक्य है। शिवजीका ज्ञानघाट है, वे ज्ञानी हैं और ज्ञानीके मतानुसार जगत् जड़ है; अतएव शिवजीने जड़का दृष्टान्त दिया। और, 'नर मरकट इव सबहिं नचावत। राम खगेस वेद अस गावत' यह भुशुण्डिवाक्य है। इनका उपासनाघाट है। ये उपासक हैं और उपासकोंके मतसे जगत् चैतन्य है; इसीसे भुशुण्डिजीने चैतन्यका दृष्टान्त दिया है†। सबको नचाते हैं, यह क्रीड़ा है; इसीसे दोनों जगह 'राम' नाम दिया—रमु क्रीड़ायाम्।—[नोट—सुग्रीव पुरुष हैं। उनके विषयमें पुल्लिंग 'नट मर्कट' का दृष्टान्त दिया था और तारा स्त्री है; इसके विषयमें स्त्रीलिंग 'योषित' का दृष्टान्त दिया। पां०—यहाँ अद्वैतका प्रतिपादन है कि एक ईश्वर ही सत्य है और सब मिथ्या।] ३—'गोसाईं' इति। कठपुतलीका नचानेवाला छिपकर नचाता है। रामजी 'गोसाईं' अर्थात् समस्त इन्द्रियोंके स्वामी हैं और अन्तर्यामीरूपसे सब इन्द्रियोंके प्रेरक हैं। प्रेरणा करके सबको कठपुतलीकी तरह नचाते हैं, यथा—'सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी १।१०५।५।'

पं० रा० व० श०—कठपुतलीमें कुछ सामर्थ्य नाचनेकी नहीं है; पर उसका नचानेवाला जो पर्देकी आड़में छिपा बैठा है उसे तार पकड़े हुए नचाता है। वह तार भी दूसरेको दिखाई नहीं देता। नचानेवाला अपनी इच्छानुसार नचाता है। वैसे ही कर्मरूपी तार पकड़े हुए आप नचाते हैं। जीव परतंत्र है। श्रीरामजी स्वतंत्र हैं। चेतन होते हुए भी जीव प्रभुकी इच्छा बिना कुछ कर नहीं सकता, न अपनेसे यत्न करके कुछ पा सकता है, प्रभु ही कृपा करें तो ज्ञान, भक्ति सब कुछ मिल सकता है।

नोट—२ मिलान कीजिए—'ईशस्य हि वशे लोको योषा दारुमयी यथा। भा० १।६।७' कठपुतलीके समान यह संपूर्ण लोक ईश्वरके वशीभूत है।-ये नारदजीने व्यासजीसे कहा है। इसीका भाव गीताके—'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। १०।८।' (जड़ चेतन समस्त प्रपंचका कारण मैं ही हूँ। ये सब मुझसे ही प्रवृत्त किये जाते हैं। अर्थात् उन-उनके कर्मानुसार मैं ही उनका सञ्चालन करता हूँ), 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च। १५।१५।' (मैं सबके हृदयमें प्रविष्ट हूँ। मुझसेही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है। अर्थात् संपूर्ण प्रवृत्ति और निवृत्ति के कारणरूप ज्ञानके उत्पत्तिस्थानमें मैं अपने संकल्पके द्वारा सबका शासन करता हुआ आत्मरूपसे प्रविष्ट हो रहा हूँ) और 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। १८।६१।' इन श्लोकोंमें है। ईश्वर सभी प्राणियोंके हृदय-देशमें स्थित है और यन्त्रारूढ़ सभी प्राणियोंको अपनी मायासे घुमा रहा है। श्रुतियाँ भी यही कहती हैं—'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां। सर्वात्मा।' 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमयति। बृह० ?'

श्रीरुक्मिणीजीका हरण होने पर जरासंधादि परास्त होकर भाग आए; तब उन्होंने शिशुपालको समझाते हुए कि जीवोंके सुख या दुःख सदैव स्थिर नहीं रहते यही दृष्टान्त दिया है। 'न प्रियाप्रिययो राजन् निष्ठा देहिषु दृश्यते। भा० १०।५४।११। यथा दारुमयी योषिन्नृत्यते कुहकेच्छया। एवमीश्वरतन्त्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः। १२।' अर्थात् सर्वदा अपने मनके अनुकूलही हो या प्रतिकूल ही हो, इस सम्बंधमें कुछ स्थिरता किसी भी प्राणीके जीवनमें नहीं देखी जाती। जैसे कठपुतली बाजीगरकी इच्छाके अनुसार नाचती है, वैसे ही यह जीव भी भगवदिच्छाके अधीन रहकर सुख और दुःखके संबंधमें यथाशक्ति चेष्टा करता रहता है।

---

† उपासनाकी दृष्टिसे प्राकृत चेष्टाएँ जीवोंकी अपनी हैं; इसमें सदसद्विवेकिनी बुद्धि और उसके कार्य श्रीरामजीकी कृपासे प्राप्त होते हैं। अतएव सब जीव मर्कटकी तरह हैं; यथा 'गुन तुम्हार समुझै निज दोषा। २।१३०', 'निज अवगुन गुन राम रावरे लखि सुनि मति मन रूझै। वि० २३९।' ज्ञानदृष्टिसे उभय प्रकारकी चेष्टाएँ परमात्माकी ही सत्तासे होती हैं। यथा—'बोले बिहँसि महेस तब ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ। १।१२४।' अतः सब जीव कठपुतलीकी तरह हैं। यथा—'सतरंज को सो राज काठको सबै समाज महाराज बाजी रची प्रथम न हती। तुलसी प्रभुके हाथ हारिबो जीतिबो नाथ.... वि० २४६।' (श्रीकान्तशरणजी)

तब सुग्रीवहि आयसु दीन्हा। मृतक कर्म विधिवत सब कीन्हा॥ ८॥

अर्थ—तब (जब ताराका शोक दूर हुआ और पतिके साथ सहगमनका प्रश्न नहीं रहा) श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवको आज्ञा दी और उसने विधिपूर्वक वालिका सब मृतक-कर्म किया।८।

नोट—१ 'आयसु दीन्हा' इति। आयसु देनेकी आवश्यकता यह कि वालिवधपर तारा आदिका विलाप देखकर सुग्रीव भी शोकनिमग्न हो गए थे और उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ। यहाँ तक कि उन्होंने आत्महत्या कर लेनेकी इच्छा प्रकट की। यथा 'सोऽहं प्रवेक्ष्याम्यतिदीप्तमग्निं भ्राता च पुत्रेण च सख्यमिच्छन्।....२४।२२। कुलस्य हन्तारमजीवनार्हं रामानुजानीहि कृतागसं माम्।२३।' अर्थात् अब मैं भाई और पुत्रके सदृश होनेके लिये जलती हुई आगमें प्रवेश करूँगा। कुलके नाश करनेवाले, जीनेके अयोग्य, अपराधी मुझको मरनेकी आज्ञा दीजिए। वाल्मी० स० २४के प्रथम २३ श्लोकोंमें इनका शोक दिखाया गया है।

टिप्पणी–१ जब श्रीरामजीने आज्ञा दी तब सुग्रीवने मृतक कर्म किए। 'विधिवत्'से सूचित किया कि वालिकी क्रिया अंगद द्वारा कराई [ पिताकी क्रिया पुत्र करे, यही विधि है। 'ततः सुग्रीवमादेहं रामो वानरपुंगवम्।३९। भ्रातुर्ज्येष्ठस्य पुत्रेण यद्युक्त सांपरायिकम्॥ कुरु सर्वं यथान्यायं संस्कारादि ममाज्ञया।४०। गत्वा चकार तत्सर्वं यथाशास्त्रं प्रयत्नतः।४३।' (अध्यात्म सर्ग ३)। अर्थात् बड़े भाईके पुत्रके द्वारा शास्त्रोक्त संस्कारादिकर्मको मेरी आज्ञासे करो, ऐसा श्रीरामचंद्रजीने वानरश्रेष्ठ सुग्रीवसे कहा। तब सुग्रीवने जाकर सब कर्म शास्त्रविधिसे किया।

नोट—२ 'विधिवत्' शब्दमें सब मृतकसंस्कारकी शास्त्रोक्त विधि जना दी। पुनः, जैसा राजाका संस्कार होना चाहिए उसे भी सूचित कर दिया। वाल्मी० स० २५ में इसका कुछ उल्लेख है। शवको रत्नजटित पालकीपर नदीके तीर ले गये। रास्तेमें वानर रत्न लुटाते जाते थे। सब परिजन, स्त्रियाँ और प्रजा रोती हुई साथ थीं।.... अंगदने सुग्रीवके साथ पिताको चिता पर रक्खा, विधिपूर्वक अग्नि लगाई, चिताकी प्रदक्षिणा की। विधिपूर्वक संस्कार करके नदीके तटपर प्रेतको जल दिया गया। श्रीरामजीने सब प्रेत-कर्म करवाए। यह सब 'विधिवत्' शब्दसे सूचित कर दिया है। यथा 'ततोऽग्निं विधिवद्दत्त्वा सोऽपसव्यं चकार ह। पितरं दीर्घमध्वानं प्रस्थितं व्याकुलेन्द्रियः।५०। संस्कृत्य वालिनं तं तु विधिवत्प्लवगर्षभाः। आजग्मुरुदकं कर्तुं नदीं शुभजलां शिवाम्।५१।'

मा० म०—रामचन्द्रजीने सुग्रीवको मृतकर्म विधिवत् करनेकी आज्ञा दी, यद्यपि यह अंगदको करना उचित था। कारण यह कि सुग्रीवको राज्य देना है अतएव इनको कृतपुत्र करके राज्य दिया और अंगदको यौवराज्य देकर राजप्रबंधका सब भार दिया। इस अनुमतिमें राजनीति प्रच्छन्न है।

**'सुनि सेवक दुख दीनदयाला' से यहाँ तक 'वालि प्रान कर भंग' यह प्रसंग है।**

## 'सुग्रीव-राज्याभिषेक'—प्रकरण

राम कहा अनुजहि समुझाई। राज देहु सुग्रीवहि जाई॥९॥
रघुपति-चरन नाइ करि माथा। चले सकल प्रेरित रघुनाथा॥१०॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने भाई लक्ष्मणको समझाकर कहा कि जाकर सुग्रीवको राज्य दो।९। श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें माथा नवाकर सब श्रीरघुनाथजीकी प्रेरणा (आज्ञा) से चले।१०।

टिप्पणी—१ 'समुझाई' से सूचित किया कि अंगदको युवराज करनेको कहा जैसा आगे स्पष्ट है—'राज दीन्ह सुग्रीव कहँ अंगद कहँ जुवराज'। युवराज बनानेमें यह समझाकर कहा कि—यदि अंगदको युवराज न करेंगे तो हमारी निन्दा होगी, लोग कहेंगे कि वालि अपना पुत्र इनको सौंप गया, पर इन्होंने अंगदके साथ कुछ उसका उपकार न किया। दूसरे, यदि उसे युवराज न बनायेंगे तो सुग्रीव उसका निरादर करेंगे, उसे त्रास

देंगे और युवराज कर देनेसे इसको हमारा कृपापात्र समझकर वे इसे सुखपूर्वक रक्खेंगे।

वि० त्रि०—'सौंपि गयउ निज सुत हमहिं, मरन समय कपिराज। कीजिय नृप सुग्रीव कहँ अंगद कहँ युवराज॥ राम काज सब कछु करिहि जब अंगद मतिमान। प्रजावर्ग में होयगो तब सन्तोष महान। बहुत दिननसे सहि रह्यौ, दुख दुखिया सुग्रीव। सुख बिलसै निश्चिन्त है. पाइहि शान्ति अतीव॥ किये नीति अनुसरण यह सबही को सुख होय। विजयानन्द सोइ कीजिअ अनुचित कहै न कोय।'

पां०, शिला—यहाँ रामजीका शीलनिधान गुण दरसाया। सुग्रीव से, वा उसके सम्मुख, न कहा कि अंगद युवराज होगा। सुग्रीवके बाद वही राजा होगा, सुग्रीवका पुत्र राजा न होगा। (यहाँ 'सनु-भाई' पदसे अंगदके युवराज्यकाही लक्ष्य है। यहाँ गुप्त कहा; इसीसे कविने भी उस बातको गोलमोल लिखा। आगे युवराज्य होनेपर स्पष्ट किया—मा० सं०)। श्रीरामजीका बड़ा संकोची स्वभाव है, यथा—'प्रभु गति देखि सभा सब सोची। कोउ न राम सम स्वामि सकोची'।

नोट—१ वाल्मी० में श्रीरामजीने स्वयं सुग्रीवसे कहा है कि तुम लोक व्यवहार जानते हो। अंगद तुम्हारे बड़े भाईका पुत्र है, चरित्रवान्, बली और पराक्रमी है, इसकी आत्मा श्रेष्ठ है। इसका यौवराज्यके पदपर अभिषेक करो (सर्ग २६।१२-१३)। अ० रा० में भी ऐसा ही है। पर मानसकल्पके श्रीराम परम संकोची हैं।

टिप्पणी—२ (क) 'रघुपति' का भाव कि रघुवंशी धर्मात्मा और नीतिपर चलनेवाले हैं, ये उनके पति हैं। अतः इन्होंने वही किया जो धर्म है और नीति है—यह समझकर और प्रसन्न होकर सबने प्रणाम किया। (वा, रघुवंशके पति अर्थात् रक्षक हैं; सुग्रीवको राज्य देकर अपने वंशकी तरह हम सबके वंशकी भी रक्षा की—यह समझकर प्रणाम किया)। 'नाइ करि माथा'—चरणोंमें प्रणाम करके चलनेका भाव कि सबके मनकी बात हुई, सबकी इच्छा थी कि अंगद युवराज हों। वह इच्छा पूर्ण होते देख सब वानर प्रसन्न हुए; अतः प्रणाम करके चले। [इस भावमें दोष यह आता है कि अंगदको युवराज बनानेका भाव तो गुप्त था। अभी वह प्रगट नहीं हुआ तब वानर कैसे समझे कि हमारे मनकी हुई? मेरी समझमें बड़ोंको आने और जानेपर दोनोंही अवसरोंपर प्रणाम करना शिष्टाचार है, उसी भावसे प्रणाम करके चले। हाँ, आगे 'चले सकल प्रेरित रघुनाथा' से यदि ऐसा मान लें कि श्रीरघुनाथजीने उन सबोंको संकेत कर दिया कि तुम सब लोग जाओ, तुम्हारे मनकी होगी, इत्यादि, तो पं० रामकुमारजीका भाव भी ठीक हो सकता है। 'प्रेरित' से ऐसा भाव ले सकते हैं। रघु (जीवों) के नाथ हैं ही]। (ग) 'चले सकल प्रेरित' इति। बालिके मारे जानेसे सब वानर व्याकुल हैं। वे डरते हैं कि सुग्रीवके पक्षके वानर हमको मार डालेंगे, इत्यादि। यथा 'आविशन्ति च दुर्गाणि क्षिप्रमद्यैव वानराः। वाल्मी० १९।१५।...तेभ्यो नः सुमहद्भयम्।१६।'—यह उन्होंने तारासे कहा था। अतः श्रीरामजीने जब उनको आज्ञा दी तब वे गए।

## दोहा—लछिमन तुरत बोलाए पुरजन बिप्र समाज।
## राज दीन्ह सुग्रीव कहँ अंगद कहँ जुबराज॥ ११॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीने पुरजन और विप्रसमाजको तुरत बुलाया। सुग्रीवको राज्य दिया और अंगदको युवराज पद दिया।११।

नोट—१ 'विप्र समाज' अर्थात् ऋषियोंको बुलाया। इनको इसलिये बुलाया कि अभिषेकके समय वेदीपर पवित्र हविका हवन मंत्रवेत्ता ब्राह्मणों द्वारा होता है, राजाका स्नान शास्त्रविधिके अनुसार महर्षियोंके आज्ञानुकूल कराया जाता है। 'पुरजन' इसलिये बुलाये जाते हैं कि उनको आश्वासन दिया जाता है, उनके सामने घोषणा की जाती है कि आजसे ये राजा हैं, अभिषेक होनेपर सब राजाको प्रणाम करते, भेंट देते हैं। दूसरे, अंगदको यौवराज्यपदपर सब देखेंगे तो सबको संतोष होगा और ऐसा हुआ भी। यथा—'अङ्गदे चाभिषिक्ते तु सानुक्रोशाः प्लवंगमाः। साधु साध्विति सुग्रीवं महात्मानो ह्यपूजयन्।' वाल्मी० २६।३६।

रामं नैव महात्मानं लक्ष्मणं च पुनः पुनः । प्रीताश्च तुष्टुवुः सर्वे तादृशे तत्र वर्तिनि ।४०।'—'राम कहा अनुजहि समुझाई' का भाव यहाँ स्पष्ट हुआ । यदि श्रीरामजीने सुग्रीवसे कहा होता कि अंगदको युवराज बनाना तो प्रजा-वर्ग उनकी बड़ाई न करता । सब समझते कि श्रीरामजीने युवराज बनाया, सुग्रीव उसे कभी यौवराज्य न देते। बात गुप्त रहनेसे प्रजाने सुग्रीवकी प्रशंसा की । उनको यश मिले, इसलिये यह बात गुप्त रक्खी गई ।

२ श्रीलक्ष्मणजीको श्रीरामजीके पास सेवाके लिए जल्दी आना है, इसीसे वहाँका काम उन्होंने जल्दी किया । पुनः, तिलककी साअत भी जल्दीकी थी । अतएव 'तुरत बुलाए' । (पु० रा० कु०) । पंजाबी-जीका मत है कि तुरत बुलानेका भाव यह है कि जिसमें रात्रि न होने पावे, दिनही दिन सब कार्य करके लौट जायँ । किसीका मत है कि सबको इससे बुलाया कि सब जान लें कि सुग्रीवके बाद अंगद ही राज्य-का उत्तराधिकारी है । यह भी हो सकता है, पर विशेषतः यह रीति ही है कि राज्याभिषेकके समय सब बुलाए जाते हैं जो इस योग्य होते हैं । पुनः, 'तुरत बुलाया' क्योंकि प्रभुकी आज्ञापालनमें विलंब करना सेवकको उचित नहीं । इससे आज्ञामें तत्परता दिखाई ।

**उमा राम सम हित जग माहीं । गुर पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं ॥ १ ॥**
**सुर नर मुनि सब के यह रीती । स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती ॥ २ ॥**

अर्थ—(शिवजी कहते हैं—) हे उमा ! संसारमें श्रीरामजीके समान हित करनेवाला गुरु, पिता, माता, भाई और स्वामी कोई नहीं है ।१। सुर नर मुनि सबकी यह रीति है कि स्वार्थके लिए (ही) ये सब प्रीति करते हैं ।२।

☞प्रथम चौपाईमें दो ही अक्षरके पद हैं, यह काव्य वैदर्भी रीतिका कहा जाता है कि जिसमें बड़े पद और बहुत समास न पड़ें ।

टिप्पणी—१ श्रीरामजीको सबसे अधिक हितकारी कहा । फिर उसका कारण बताते हैं कि सुर नर मुनि सभी स्वार्थवश प्रीति करते हैं । 'जे सुर सिद्ध मुनीस जोगविद वेद पुरान बखाने । पूजा लेत देत पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने । वि० २३६।', यह देवताओंकी रीति है । मुनियोंकी यह रीति है कि सेवा कराके पढ़ाते हैं । सुर मुनिकी यह बात है तब नर बेचारे किस गिनतीमें हैं ? पर श्रीरामचन्द्रजी बिना कारण कृपा करते हैं—'कारन बिनु रघुनाथ कृपाला' । यह बात आगे कहते हैं ।—[सुग्रीवका हित करनेमें वस्तुतः कोई स्वार्थ श्रीरामजीका न था जैसा पूर्व लिखा जा चुका है, पर श्रीसबरी आदिने उसे महात्मा और दीन कहा था, इसीसे उसका हित किया, क्योंकि आप तो दीनदयाल हैं । यही बात विनयके इन पदोंसे स्पष्ट है—

'अजहुँ आपने रामके करतब समुझत हित होइ । कहँ तू कहँ कोसलधनी तोकों कहा कहत सब कोइ ॥
रीझि निवाज्यो कबहिं तूँ कब खीझि दई तोहि गारि। दर्पन बदन निहारि कै सुबिचार मान हिय हारि ॥
बिगरी जनम अनेककी सुधरत पल लगै न आधु । पाहि कृपानिधि प्रेम सों कहे को न राम कियो साधु ॥
बालमीकि केवट कथा कपि-भील-भालु-सनमान । सुनि सनमुख जो न राम सों तेहि को उपदेसै ज्ञान ॥
का सेवा सुग्रीव की का प्रीति रीति निरबाहु । जासु बंधु बध्यो ब्याध ज्यों सो सुनत सोहात न काहु ॥
भजन बिभीषन को कहा फल कहा दियो रघुराज । राम गरीबनिवाज के बड़ी बाँह बोल की लाज ॥
जपहि नाम रघुनाथको चरचा दूसरी न चालु । सुमुख सुखद साहिब सुधी समरथ कृपाल नतपालु ॥
सजल नयन गदगद गिरा गहबर मन पुलक सरीर । गावत गुनगन राम के केहि की न मिटी भव भीर ॥
प्रभु कृतज्ञ सर्वज्ञ हैं परिहरु पाछिली गलानि । तुलसी तोसों रामसों कछु नई न जान पहिचानि ॥९॥ (१९३)

ऐसाही 'ऐसे राम दीन हितकारी' इस १६६ पदमें भी कहा है—'कपि सुग्रीव बंधुभय ब्याकुल आयो सरन पुकारी । सहि न सके जन के दारुन दुख हत्यो बालि सहि गारी' । जहाँ किसीका अपना ही अपयश हो जायगा वहाँ भला वह कब दूसरेका हित करेगा; पर प्रभुने उसके पीछे अपयश सहा पर उसका हित किया ।]

करु०—यहाँ संभव है कि कोई-कोई संदेह करें कि 'गुरु भी नहीं है' यह कैसे? गुरुको तो शास्त्र ईश्वर कहते हैं। यथा—'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुरेव महेश्वरः। गुरुरेव परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥१॥ 'अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्। तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥२॥' गुरु परमेश्वरके समान है, यह सत्य है। पर गुरु अपने शिष्यका ईश्वर है और ईश्वर सबका ईश्वर है; पुनः, ईश्वर चराचर मात्रका हितकारी है और गुरु अपने शिष्यका ही। पुनः, गुरु जीव ही हैं, अपने शिष्यके माननेके लिए ईश्वर हैं; अतएव गुरु श्रीरामजीके समान हितकारी कैसे हो सकते हैं? प्रमाणं श्रीमद्भागवते पंचमस्कंधे, यथा—'गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्। दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद्यः समुपेत मृत्युम् ॥' (भा० ५।५।१८)

देखिए, श्रीरामचन्द्रजीने करोड़ों निज विरोधी कोलभिल्ल कीट पतंगोंको परमपद दिया है और गुरु वशिष्ठ ऐसे समर्थ होकर भी एक राजा त्रिशंकुको परमपद न दे सके। पुनः गुरु श्रीरामचन्द्रकी प्राप्ति हेतु शिष्यको उपदेश करते हैं; आगे शिष्यका कर्तव्य है। इन कारणोंसे गुरु श्रीरामचन्द्रके समान हितकारी नहीं हैं।

करु०—इस संदेहके निवारणार्थ दूसरी प्रकार अर्थ कर सकते हैं कि (१) 'श्रीरामचन्द्रजीके समान जगत्में हितकारी एक गुरु है और पिता माता बंधु कोई नहीं हैं'। (२) गुरु=श्रेष्ठ। अर्थात् जितने श्रेष्ठ जन हैं, पिता माता भाई बन्धु वे कोई भी रामसमान हितकारी नही हैं। (३) सम=एकरस। अर्थात् एकरस हितकारी (आदि अन्त निबाहनेवाले) एक श्रीरामचन्द्र हैं। गुरु, पिता माता और भाई कोई किसीके सदा रह नहीं जाते (अतः वे एकरस हितकारी नहीं हो सकते)।

बाबा हरीदासजी यह अर्थ करते हैं कि 'रामजी सम-हित हैं और गुरु आदि सम-विषम-हित हैं। अर्थात् जब समता भाव बनता है तब समताका फल देते हैं और जब विषम भाव बना तब विषमताका फल देते हैं; यथा—'जो नर गुर सन इरिषा करहीं। रौरवनरक कलपसत परहीं'। जैसे गुरु वसिष्ठने त्रिशंकुको विषम फल दिया। और श्रीरामजी विषमतामें भी समताका फल देते हैं जैसे विरोधी निशाचरोंको भी गति दी, शिशुपालको भी गति दी जो नित्य गाली दिया करता था, इत्यादि।

☞ पर हमारी समझमें खींचतानसे यहाँ तात्पर्य नहीं। यहाँ वस्तुतः स्वतंत्र ईश्वरपनका निरूपण है, गुरुकी श्रेष्ठता भी ईश्वरतत्व बतलानेके कारण ही है, नहीं तो न होती। गोस्वामीजीने विनयमें भी कहा है—'नाम सों न मातु पितु मीत हित बंधु गुरु साहिब सुधी सुसील सुधाकर हैं'। पुनः, यथा कवित्तरामायणे—'राम हैं मातु पिता सुत बंधु औ संगी सखा गुर स्वामि सनेही। ७।३६।' पुनः, यथा विनये—'जनक जननि गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी। वि० ११३।' भाव यह कि गुरु केवल परमार्थदर्शानेवाले हैं, माताका काम वे नहीं कर सकते न पिताका न सखा इत्यादिका। इसी प्रकार प्रत्येक नातेदार अपने नातेके अनुकूल ही हित कर सकता है; पर श्रीरामजी अकेले ही सब नातेदारोंका सुख देते हैं, जैसा कहा है—'करि बीत्यो अब करतु है करिबे हित मीत अपार। कबहुँ न कोउ रघुबीर सों नेह निबाहनिहार॥ जासों सब नातो फुरै तासों न करी पहिचान। तातें कछु समझेउ नहीं कहा लाभ कहा हानि। वि० १९०।' ७७ वें पदमें गोस्वामीजीने श्रीरामजीको 'सुस्वामि सुगुरु, सुपिता, सुमातु, सुबन्धु' कहा है। इसका भी यही भाव है कि और सब स्वामी, गुरु, पिता, माता, बन्धु हैं पर श्रीरामजी सबसे श्रेष्ठ और सब कुछ हैं।

प० प० प्र०—१ 'हित' का अर्थ यहाँ 'मित्र, सखा' लेना उचित है। 'मित्रं सुहृदि न द्वयोः' (अमरव्याख्या सुधा), 'हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा'।

२ यहाँ 'गुरु' से पुरोहित, कुलगुरु, विद्यागुरु इत्यादिका ग्रहण करना चाहिए; नहीं तो 'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी', 'मोतें अधिक संत करि लेखा', 'संत चरन पंकज अति प्रीती' (गुरु संत होते ही हैं), इत्यादि वाक्योंसे विरोध होगा। उपर्युक्त भागवत पंचमस्कंधका प्रमाण असम्बद्ध है; कारण कि वह वाक्य 'न मोचयेत् यः' के विषयमें है। जो गुरु मृत्युसे न उबारे वह गुरु नहीं है। अतः वह सापेक्ष वचन है सामन्य सिद्धान्त नहीं।

मा० म०—इस कथनमें भाव यह है कि सुग्रीवके गुरु इत्यादि सहायक-समूह बहुत रहे, परन्तु किसीसे कणमात्र भी स्वार्थ नहीं साधन हो सका और न किसीका किंचित् भी मुँह मिला। अन्ततः श्रीरामचन्द्रजीने ही सुग्रीवका हित किया।

यहाँ 'चतुर्थ प्रतीप' अलंकार है।

**बालि-त्रास ब्याकुल दिनराती। तन बहु ब्रन चिंता जर छाती॥ ३॥**
**सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ। अति कृपाल रघुबीर सुभाऊ॥ ४॥**
**जानतहूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे न बिपति जाल नर परहीं॥ ५॥**

अर्थ—जो रातदिन वालिके भयसे व्याकुल रहता था, जिसके तन पर बहुतसे घाव हो गए थे और जिसकी छाती चिन्ताके मारे जला करती थी।३। उसी सुग्रीवको वानरोंका राजा बना दिया। श्रीरघुवीरजीका अत्यन्त कृपालु स्वभाव है।४। जो मनुष्य जानते हुए भी ऐसे प्रभुको छोड़ देते हैं वे क्यों न विपत्तिके जालमें फँसें?।५।

नोट—१ 'वालित्रास व्याकुल०', यथा—'तदपि सभीत रहउँ मन माहीं', 'सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला'। 'तन बहु ब्रन' क्योंकि वालिने बहुत मार मारी थी, यथा—'रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी'। 'तन बहु ब्रन' से बाहरसे दुःखी और 'चिंता जर' से भीतरसे भी दुःखी जनाया। 'अति कृपाल' का भाव कि सुग्रीवको किसी स्वार्थसे नहीं राजा बनाया बल्कि अपनी कृपालुतासे, उसको दीन दुःखी जानकर उसको राज्य दिलाया। नहीं तो यदि स्वार्थ चाहते तो वालिसे मित्रता करते। पर ऐसा न करके वालिका त्याग और सुग्रीवसे मित्रता की।

वालिने स्वयं कहा है कि यदि आप मुझसे कहते तो मैं एक ही दिनमें दुष्टात्मा रावणका गला बाँधकर उसे आपके सामने उपस्थित कर देता और जहाँ भी जानकीजी होतीं मैं उन्हें ला देता, यथा—'मैथिली महमेकाह्ना तव चानीतवान्भवेः॥ राक्षसं च दुरात्मानं तवभार्यापहारिणम्। कण्ठे बद्ध्वा प्रदद्यां तेऽनिहतं रावणं रणे॥ न्यस्तां सागरेतोये वा पाताले वापि मैथिलीम्। आनयेयं तवादेशाच्छ्वेतामश्वतरीमिव।' वाल्मी० १७।४९-५१।'; पर वस्तुतः सुग्रीवकी इस कार्यसिद्धिमें स्वार्थ स्वप्नमें भी हेतु न था। सोचिए, तो भला उनकी सहायता कौन कर सकता है? यह बात तो रावण, मेघनाद और कुम्भकर्णके युद्धमें स्पष्ट देख पड़ती है! सभी त्राहि-त्राहि करने लगते थे। जाम्बवंतने भी कहा है—'तव निज भुज बल राजिवनयना। कौतुक लागि संग कपि सैना....। कि० ३०।१२।'

वाल्मी० २९ में स्वयं हनुमान्‌जीका वचन सुग्रीवसे है कि—'कामं खलुः शरैः शक्तः सुरासुरमहोरगान्। वशे दाशरथिः कर्तुं त्वत्प्रतिज्ञामवेक्षते॥२२॥' अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी बाणों द्वारा देवता, दैत्य और महानागोंका अपने वशमें कर सकते हैं तो भी वे तुम्हारी प्रतिज्ञाको देख रहे हैं। इन सब बातोंके उपस्थित रहते हुए भी स्वार्थारोपण करना अपनी बुद्धिको ही कलंकित करना है। इससे सिद्ध हुआ कि उन्होंने दीन सुग्रीवपर कृपा की, यथा—'नतः ग्रीव सुग्रीव दुःखैक बंधुः....' इति विनये। पुनः यथा—'वालि बली बलसालि दलि सखा कीन्ह कपिराज। तुलसी राम कृपाल को बिरद गरीबनिवाज॥ दो० १५८।'

'रघुबीर' पदका भी यही भाव है कि वे तो पंचवीरतायुक्त हैं, उनका उपकार कोई क्या करेगा। 'प्रभु'का भाव कि वे इस जालको काटनेमें समर्थ हैं। (मा० त० भा०)।

वि० त्रि०—सुग्रीव वालीके त्राससे चौदहो भुवनोंमें भागते फिरे कहीं त्राण न मिला। तब ऋष्यमूक पर्वतपर आकर रहने लगे। शापके कारण वाली वहाँ नहीं आ सकता था, पर वह बराबर वीरोंको सुग्रीवजीके वधके लिये भेजता था, जो सबके सब सुग्रीव द्वारा मारे गये, पर उसने वीरोंका भेजना बन्द नहीं किया। बराबर एकके बाद दूसरेको भेजता ही रहा। एक लड़ाईकी चोट (व्रण) अच्छा होनेके पहले ही, दूसरी लड़ाई लड़नी पड़ती थी, और कब किससे लड़ना पड़ेगा, इसका ठीक नहीं। अतः सुग्रीवजी सदा ही घायल रहते थे, और चिन्तासे कलेजा जला करता था कि इसी भाँति लड़ते-लड़ते मुझे मर जाना

है। ऐसा दुःखमय समस्त जीवन सुग्रीवजी विताते थे, उनका भय दूर कर देना ही उनके लिये बड़ा उपकार था और इतने ही की सरकारने प्रतिज्ञा की थी (यथा—'सुनु सुग्रीव मैं मारिहौं वालिहि एकहिं बान'); परन्तु उनकी दीनता देखकर उन्हें बन्दरोंका राजा बना दिया। सरकार स्वभावसे ही अति कृपाल हैं।

नोट—२ सुग्रीवपर अत्यन्त कृपा दिखाकर कवि यहाँ सबको उपदेश देते हैं कि प्रभुका ऐसा स्वभाव जानकर उनको भूलना नहीं चाहिए, वरन् उनको अपना लेना चाहिए, वे सब विपत्तिजालके काटनेवाले हैं। मयूखकार कहते हैं कि इस अर्द्धालीमें भाव यह है कि सुग्रीवने प्रभुको जानकर भी भुला दिया, इसी कारण वह विषय-विपत्तिमें पड़ गया, स्मरण भजन सब छूट गया। 'जाल' शब्दसे दोनों अर्थ यहाँ लेंगे। एक तो जाल (फाँसनेवाला), दूसरे समूह।

**पुनि सुग्रीवहि लीन्ह बोलाई। बहु प्रकार नृपनीति सिखाई ॥६॥**
**कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा। पुर न जाउँ दस चारि बरीसा ॥७॥**

अर्थ—फिर सुग्रीवको बुला लिया और बहुत प्रकारसे राजनीति सिखाई।६। फिर बोले—हे कपीश सुग्रीव! सुनो, मैं चौदह वर्ष तक पुरमें नहीं जाऊँगा।७।

नोट—१ 'तब सुग्रीवहि लीन्ह बोलाई।....' इति। (क) इससे जनाया कि सुग्रीव राजा होते ही विषयवश हो गए, श्रीरामचन्द्रजीके निकट नहीं गए। उचित तो यही था कि राज्य पानेके बाद विभीषणजीकी भाँति वे भी स्वयं हाजिर होते और कहते कि 'अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजे।....सब विधि नाथ मोहि अपनाइए' इत्यादि, पर सुग्रीवजी घर ही रह गए, आये नहीं। प्रभुने विचारा कि अनेक वर्षोंके बाद उन्होंने अपनी स्त्री और कोष पाया है, इससे भूल गए हैं। अतः मित्रधर्मका स्मरण करके प्रभुने उन्हें स्वयं बुला भेजा। समझ लिया कि ये राजनीतिमें कच्चे हैं। अतः राजनीति सिखानेके लिये बुलाया। (वि० त्रि०)। अथवा, बुलाया कि सुग्रीवको राज्यका योग तो हुआ पर क्षेमका योग अभी नहीं हुआ। अतः उसका उपाय कर दें। 'योग क्षेमं वहाम्यहम्' उनका विरद ही है।

२ निषादराज और विभीषणजीके प्रसंगसे मिलान करनेसे इस प्रसंगके भाव स्पष्ट हो जाते हैं—

| श्रीनिषादराजजी | श्रीविभीषणजी | श्रीसुग्रीवजी |
|---|---|---|
| १ देव धरनि धन धाम तुम्हारा। मैं जन नीच सहित परिवारा॥ कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ। थापिअ जन सब लोगु सिहाऊ॥ | सहित विभीषन प्रभु पहिं आए। अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजै॥ ....देखि कोस मंदिर संपदा। देहु कृपाल कपिन्ह कहँ मुदा॥ सब विधि नाथ मोहि अपनाइय। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइय॥ | 'पुनि सुग्रीवहि लीन्ह बोलाई।' सुग्रीव बुलाने पर आए। तब भी ऐसे कोई वाक्य (मानस मतसे) नहीं कहे गए। |
| २ कहेहु सत्य सबु सखा सुजाना। | तोर कोस गृह मोर सब सत्य वचन सुनु भ्रात। | कुछ कहा नहीं, अतः उत्तर भी नहीं है। |
| ३ मोहि दीन्ह पितु आयसु आना। बरष चारिदस बास बन मुनिब्रत०। ग्रामबास नहिं उचित०।' | भरत दसा०—(लं० ११५)। १४ वर्ष आज बीतेंगे। 'पिता वचन मैं नगर न आवउँ' | कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा। पुर न जाउँ दसचारि बरीसा। |
| ४ सुनि गुहहि भयेउ दुख भारु॥— | | सुनकर दुःख न हुआ |

☞ सुग्रीवको राज्य मिला, वे स्वयं न आए, बुलाए गए, आनेपर भी नीति उपदेशके पश्चात् सम्भवतः उन्होंने कहा कि नगर चलिए जैसा कि अध्यात्मसे सिद्ध होता है। उत्तरमें प्रभु कहते हैं कि १४ वर्ष तक नगरमें नहीं जा सकता। विभीषणजी स्वयं आए, यथा—'करि विनती जब संभु सिधाए। तब

प्रभु निकट बिभीषन आये ॥ नाइ चरन सिर कह मृदु बानी । बिनय सुनहु प्रभु सारँगपानी ।....' और, आते ही विनती की कि अब अपने जनके घरको पवित्र कीजिए, इत्यादि । इससे शब्दों द्वारा कवि सुग्रीवसे विभीषणका प्रेम अधिक दिखा रहे हैं । निषादराजका प्रेम विभीषणजीसे भी बढ़ा चढ़ा है यद्यपि वह केवटोंका ही राजा है । वह अपने राज्य, घर, आदिको अपना नहीं कहता वरन् प्रभुकाही मानता है और ऐसा सच्चे हृदयसे समझकर वचनसे वही बात कह रहा है कि यह सब आपका है, आप कृपा करके नगरमें चलें और मैं तो आपका नीच टहलुवा हूँ । प्रभुके वचन सुनकर उसे भारी दुःख हुआ । ये सब बातें निषादराजको उन दोनोंसे अधिक प्रेमी प्रकट कर रही हैं । और भी देखिए, प्रभुने उत्तरमें संबोधनमें भी भेद किया है—सुग्रीवको 'हरीसा', विभीषणको 'भ्राता' और निषादराजको 'सखा सुजान' कहा है । उत्तरकांडमें बिदाईके समय भी निषादराजमें श्रीरामजीका विशेष प्रियत्व पुनः देखिए । वहाँ प्रभुने किसीसे यह न कहा कि यहाँ बराबर आते रहना, निषादराजजीसे कहा कि 'तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता । सदा रहेहु पुर आवत जाता' ।

नोट—३ 'बहु प्रकार नृपनीति सिखाई' इति । राजनीत सिखाई, क्योंकि राजाका कल्याण नीतिसे होता है । यथा—'राजु कि रहइ नीति बिनु जाने ।७।११२।६।' नीतिके बिना राज्य नहीं रह सकता । यही भाव अंगदके वचनोंमें है जो उन्होंने श्रीरामजीसे कहे हैं—'साम दाम अरु दंड बिभेदा । नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा । नीति धर्मके चरन सुहाये । अस जिअ जानि नाथ पहिं आये । धर्महीन प्रभु पद बिमुख कालबिबस दससीस । तेहि परिहरि गुन आये सुनहु कोसलाधीस । लं० ३७।'

राजनीति बहुत प्रकारकी है, यथा दोहावल्याम्—'माली भानु किसान सम नीति निपुन नरपाल । प्रजा-भाग-बस होहिंगे कबहुँ कबहुँ कलिकाल ।५०६।'

☞ चाणक्य नीति दर्पण, भोजप्रबन्धसार, शुक्रनीति, कामंदकीयनीतिसार, और भर्तृहरि नीतिशतक इत्यादिमें नीतिका सविस्तर वर्णन है । अरण्यकाण्डमें मारीचका उपदेश रावणको नीतिपूर्ण है । अयोध्याकाण्डमें भरतजीको थोड़े हीमें राजनीतिका सार समझा दिया है । यथा—'मुखिआ मुख सो चाहिए खान पान कहुँ एक । पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित बिबेक ।२।३१५। राजधरम सरबसु एतनोई । जिमि मन माहँ मनोरथ गोई ।'

पुनः, बहु प्रकार यह कि शिक्षा दी कि अंगद और वालिके सचिवों सखाओंसे प्रीति करके उन्हें अपना लेना, पूर्वपक्ष विचारकर बैर किसीसे न करना और सुभटोंसे कहना कि बालिके साथ तुम्हारी दृढ़ता देखकर तुमपर हमें भी अत्यन्त विश्वास है कि अब हम राजा हैं तो हमारा भी साथ प्राणोंके रहते न छोड़ोगे । (पं०) । राज्यपर एकाधिपत्य न रखना, अंगदको साझीदार समझना । (वि० त्रि०) ।

नोट—४ 'कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा' इति । (क) 'सुनु' से सूचित करते हैं कि राजनीति सिखानेके बाद फिर उन्हें सावधान करते हैं । (ख) 'हरीसा' का भाव कि तुम राजा हो, तुम्हारे यहाँ मेरा जाना उचित है; पर पुरमें जानेसे मेरा व्रत भंग हो जायगा । (पं० रा० कु०) । सुग्रीव अब राजा हुए अतएव प्रभुने भी उनको सम्मान हेतु हरीश संबोधन किया । हरि = कपि । ईश = स्वामी । हरीश = कपिराज । इस प्रयोगसे प्रभुकी राजनीतिमें निपुणता दर्शित होती है । (प्र० सं०) ।

विभीषणजी जब राज्याभिषेकके पश्चात् आए तब प्रभुने उनको 'निशाचरपति' वा 'लंकेश' न कहकर 'भ्राता' कहा और सुग्रीवको 'हरीसा' (कपीश) कहा । इसमें भाव यह है कि सुग्रीव बड़ाई चाहते हैं, उनमें राजसत्ताका मद अंकुरित हो गया है, यह प्रभुने जान लिया । प्रभु तो भक्तकल्पतरु हैं ही, अतः उन्होंने 'हरीश' संबोधित करके उनको बड़ाई दी । यदि निषादराजको 'निषादराज' कहते तो वह 'त्राहि त्राहि' करने लगता । 'राम सदा सेवक रुचि राखी' यही इसका सार है (प० प० प्र०) ।

टिप्पणी—१ 'पुर न जाउँ दस चारि बरीसा', इस कथनसे ज्ञात होता है कि सुग्रीवने प्रभुसे नगरमें चलनेकी प्रार्थना की । यथा अध्यात्मे—'राज्यं प्रशाधि राजेन्द्र वानराणां समृद्धिमत् ।। दासोऽहं ते पादपद्मं

सेवे लक्ष्मणवच्चिरम्। इत्युक्तो राघवः प्राह सुग्रीवं सस्मितं वचः।४४,४५।' (स० ३)। अर्थात् हे राजेन्द्र! आप इस सम्पूर्ण ऋद्धि-संपन्न वानरराज्यका शासन करें। मैं आपका दास हूँ. लक्ष्मणकी तरह चिरकाल तक आपके चरण-कमलकी सेवा करूँगा। सुग्रीवके ऐसा कहनेपर रघुनाथजी मुस्कुराकर बोले। [पुनः भाव कि मैं किष्किन्धा नगरीमें ही चलकर ठहरता पर चौदह वर्षतक पुरमें प्रवेशकी आज्ञा नहीं है। वर्षा आ गई है, उद्यमका समय नहीं है, मैं यहीं निकट पर्वतपर रहूँगा, जब चाहो तब मिल सकते हो। (वि०त्रि०)]।

नोट—५ 'पुर न जाउँ दसचारि बरीसा'। 'पुर' और 'दस चारि बरीसा' के भाव अ० ५३ और ८८ में दिए गए हैं। पाठकोंके सुविधार्थ यहाँ केवल पं० रामकुमारजीके भाव दिए जाते हैं। (क) निषादराजसे 'ग्राम बास नहिं उचित....' ऐसा कहा, विभीषणजीसे 'पितावचन मैं नगर न आवउँ' ऐसा कहा और यहाँ 'पुर न जाउँ' कहा—तीन जगह तीन पृथक्-पृथक् शब्द कहकर जनाया कि मैं ग्राम, नगर, पुर किसी (आबादी) में नहीं जाता। (ख) यहाँ 'दसचारि बरीसा' कहते हैं, परन्तु कौसल्याजी और निषादराजसे 'बरष चारिदस' कहा था। अर्थात् वहाँ पहले 'चारि' कहकर 'दस' कहा था और यहाँ प्रथम 'दस' कहकर तब 'चारि' कहा। यह व्यतिक्रम सहेतुक है। कौसल्याजीसे एवं निषादराजसे जब ये वचन कहे थे तब वनवासका प्रारंभ था। कौसल्याजीसे जब कहा तब वनवास प्रारम्भ भी न हुआ था, पूरी अवधि बाक़ी थी और निषादसे जब कहा तब पूरे दो दिन भी न बीते थे। इसीसे अल्पकालवाचक 'चारि' शब्द प्रथम कहा और 'दस' पीछे कहकर जनाया कि अभी व्रतके बहुत दिन बाक़ी हैं। सुग्रीवसे जब कह रहे हैं उस समय वनवासके लगभग १३ वर्ष बीत चुके। बहुत काल बीत गया अल्प रह गया। इसीसे दीर्घकालवाची 'दस' शब्द प्रथम दिया। विभीषण-जीके यहाँ व्रतका अंतिम दिन बीत रहा है, इसीसे वहाँ कालका नाम न लिया। वहाँ 'दस चार' कुछ भी न कहकर इतना ही कहा कि 'पिता बचन मैं नगर न आवउँ।' विशेष भाव अयोध्याकांडमें देखिए।

नोट—६ यहाँ एक बात और देखनेयोग्य है। तीन कांडों (अ०, कि०, लं०) में यह वार्ता आई है और तीनोंमें राजधानीके ही स्थलोंपर ऐसा कहा है। निषादराज शृङ्गवेरपुरके राजा हैं, इनकी राजधानी छोटी है, अतः यहाँ 'ग्रामवास' कहा। सुग्रीवसे कहा जब उन्हें किष्किन्धाका राज्य मिला। किष्किन्धा राजधानी भी बड़ी सुंदर है। वाल्मीकिजीने इसका वर्णन किया है पर वह लंकाराज्यके सामने छोटी ही है और सिंगौरसे बहुत बड़ी है। अतः यहाँ 'पुर न जाउँ' कहा और लंकाराज्य जब विभीषणको मिल गया तब उनसे कहा कि 'पिताबचन मैं नगर न आवउँ।' इस प्रकार अपने राज्यसे निकलनेपर तीन स्थानोंमें जहाँ जहाँ कहा वहाँ राजाओंसे ही कहा। अयोध्यामें कहा, फिर अरण्य छोड़कर किष्किन्धामें कहा, फिर सुंदर छोड़ लंकामें कहा गया। बाबा रामप्रसादशरणजीका मत है कि नगर, पुर और ग्राममें इससे न जाते थे कि इनमें राक्षस अनीति करते थे; यथा—'जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाँव पुर आगि लगावहिं।' हो सकता है कि ऐसा हो, पर मुख्य कारण 'विशेष उदासी', 'वनवासी', का वरदान है और यही रामजीने सर्वत्र कहा है।

पं०—यदि सुग्रीव कहें कि आप मुझे अभी शिक्षा क्यों देते हैं, आप भी तो नगरमें मेरे साथ रहेंगे, जब जो बात होगी, उसमें सलाह लेता ही रहूँगा। इसीपर प्रभु कहते हैं कि मैं साथ नहीं रह सकता।

**गत ग्रीषम बरषा रितु आई। रहिहौं निकट सैल पर छाई॥ ८॥**
**अंगद सहित करहु तुम्ह राजू। संतत हृदय धरेहु मम काजू॥ ९॥**

शब्दार्थ—'छा रहना, छाना' = निवास करना, बसना, टिकना, यथा—'राम प्रवर्षन गिरिपर छाए', 'कहा भयो जो लोग कहत हैं कान्ह द्वारका छायो'—(सूर); 'चित्रकूट रघुनंदन छाये'।

अर्थ—ग्रीष्मऋतु (= गर्मीके महीने) बीत गई, वर्षाऋतु आ गई, मैं (आपके) पासही पर्वतपर निवास करूँगा।८। तुम अंगदसहित राज करो, मेरे कार्यका सदा हृदयमें ध्यान रखना। अर्थात् राज्य-सुखमें पड़कर कार्य भूल न जाना।९।

टिप्पणी—१ 'गत ग्रीपम०' इति। (क) भाव कि ग्रीष्मऋतुमें सीता-शोधका उपाय हो सकता था सो वह ऋतु बीत गई, वर्षाऋतु आ गई। अर्थात् अब खोजनेका समय नहीं रहा।—[नोट—यह श्रावणका महीना है। चतुर्मासमें जो जहाँ होते हैं वहीं रह जाते हैं। यह ऋतु उद्योगका समय नहीं समझा जाता। इसमें बाहर दुर्गम स्थानोंमें जानेवाले काम प्रायः बंद रहते हैं। यही भाव 'वर्षाऋतु आई' का है। यथा—'पूर्वोयं वार्षिको मासः श्रावणः सलिलागमः। प्रवृत्ताः सौम्य चत्वारो मासा वार्षिकसंज्ञिताः ।१४। नायमुद्योगसमयः प्रविश त्वं पुरीं शुभाम्।' (वाल्मी० स० २६)। पुनः; चतुर्मासामें यात्रा न करना धर्म माना जाता है। अतः यद्यपि श्रीरामजी सब समय शत्रुका वध करनेको समर्थ हैं तथापि मर्यादाका पालन करनेके लिये ऐसा कहा है। यह 'नियम्य कोपं परिपाल्यतां शरत्क्षमस्व मासांश्चतुरा मया सह। वसाचलेऽस्मिन्मृगराजसेविते संवर्तयञ्शत्रुवधे समर्थः। वाल्मी० २७।४८।' लक्ष्मणजीके इन वाक्योंसे स्पष्ट है।] समयपर सब काम करना चाहिए, यथा—'समरथ कोउ न राम सों तीयहरन अपराधु। समय हि साधे काज सब समय सराहहिं साधु। दो० ४४८।' श्रीरामजीने विचार किया कि वर्षाऋतुमें हमारा काम करनेमें सुग्रीवको कष्ट होगा, इसीसे वे स्वयं ही कहने लगे कि ग्रीष्म ऋतु गत हो गई, वर्षा आ गई, जिसका तात्पर्य यह है कि वर्षा बाद काम करना। [वाल्मी० सर्ग २८ में जो लक्ष्मणजीसे प्रभुने कहा है कि 'अयात्रां चैव दृष्ट्वेमां मार्गांश्च भृशदुर्गमान्। प्रणते चैव सुग्रीवे न मया किंचिदीरितम् ॥६०॥ अपि चातिपरिक्लिष्टं चिराद्दारैः समागतम्। आत्मकार्यं गरीयस्त्वाद्वक्तुं नेच्छामि वानरम् ।६१। तस्मात्काल प्रतीक्षोऽहं स्थितोऽस्मि शुभलक्षण ।६३। वाल्मी० २८।' यात्राका योग न देखकर और मार्गको दुर्गम समझकर शरणागत सुग्रीवसे मैंने कुछ न कहा। बहुत दिनोंपर उसे स्त्री मिली है और हमारा काम देरमें सिद्ध होनेवाला है, इसलिए सुग्रीवसे इस समय कुछ कहना नहीं चाहा। इसी कारण कालकी प्रतीक्षा करता हुआ मैं ठहरा हूँ।—यह सब भाव भी इसमें आ जाता है। यद्यपि सुग्रीवसे कहा नहीं गया।]

२ 'रहिहौं निकट'। भाव कि तुम मुझे अपने घर ले चलनेको कहते हो, मैं तुम्हारे समीप ही टिकूँगा, दूर नहीं।—['गत ग्रीषम....छाई' प्रभुके इतना कहनेपर भी सुग्रीवने इतना भी न कहा कि आप पर्वतपर क्यों रहेंगे, नगरके निकट ही मैं पर्णकुटी बनवाये देता हूँ। पर्वतपर वर्षा असह्य होगी, आपको बहुत क्लेश होंगे और मुझको इससे बहुत दुःख होगा। कृपा करके पर्वतपर रहनेका विचार छोड़ दीजिये। इससे स्पष्ट है कि सुग्रीवके मनमें अब रामप्रेम नहीं रह गया। क्यों रहे! वह अब तो कपीश है और श्रीरामजी वनवासी हैं। इसीसे प्रभुको आगे कहना पड़ा कि 'संतत हृदय धरेहु मम काजू'। 'स्वारथ मीत सकल जग माहीं' यहाँ चरितार्थ हुआ। (प० प० प्र०)। 'निकट रहूँगा' यह कहना राजनीति है क्योंकि समीप रहनेसे सुग्रीवको भय रहेगा, स्त्री आदिकी ममतामें न फँसेगा। (मा० म०)। पुनः भाव कि वियोगका भय न करो। (प्र०)]

३ 'अंगद सहित०' में ध्वनि यह है कि उसका निरादर न करना। 'संतत हृदय धरेहु' कहा क्योंकि निरंतर हृदयमें कामका ध्यान रहनेसे उसे भूल न सकेंगे। ['अंगदसहित' कहनेका भाव कि जो राजकाज करो वह अङ्गदका संमत लेकर करो। निरंतर हमारे कार्यको हृदयमें रखना (जिसमें विस्मरण न हो जाय) जब तक प्रकट करनेका समय न आवे। (पां०)। पुनः भाव कि कार्यपर ध्यान बनाये रहोगे तो संभव है कि घर बैठे ही सीताजीका पता लग जाय। (वि० त्रि०)

प० प० प्र०—'सरिता बन गिरि अवघट घाटा। पति पहिचानि देहिं बर बाटा।' जब ऐसी ही स्थिति है तब वर्षाकालमें शोधके कार्यमें सुग्रीवजीको न लगानेमें अनेक हेतु हैं—(१) मुख्य तो नरलीला करनी है। (२) यह भी प्रत्यक्ष दिखा देना है कि राज्य, स्त्री, कोष आदि प्राप्त होनेपर अपने उपकारी परम मित्रको भी लोग भूल जाते हैं। (३) यदि तुरत ही सीताशोधकार्यमें लगा दिये जाते तो उनको दुःख होता कि राजा होनेपर भी मेरी वही दुर्दशा बनी रही। (४) मित्रको सुखोपभोग करने और विश्राम लेनेका अवसर दे दिया, यह श्रीरामजीकी दीनबंधुता है!

☞ सुग्रीव-तिलक प्रकरण 'राम कहा अनुजहि समुझाई' से यहाँ तक है।

## 'प्रवर्षण-वास'-प्रकरण

जब सुग्रीव भवन फिरि आए। राम प्रवरषन गिरि पर छाए ॥ १० ॥

**दोहा—प्रथमहि देवन्ह गिरि गुहा राखेउ रुचिर बनाइ।**
**रामकृपानिधि कछुक* दिन बास करहिंगे आइ ॥१२॥**

अर्थ—जब सुग्रीव घर लौट आए तब श्रीरामचन्द्रजी प्रवर्षणपर्वतपर जा टिके।१०। देवताओंने पहलेसे ही पर्वतमें सुंदर गुफ़ा बना (सजा) रक्खी थी कि दयासागर श्रीरामजी आकर कुछ दिन यहाँ निवास करेंगे।१२।

नोट—१ पूर्व कहा था कि 'रहिहौं निकट सैल पर छाई', यहाँ उसका नाम खोला। अध्यात्ममें भी प्रवर्षण नाम दिया है—'ततो रामो जगामाशु लक्ष्मणेन समन्वितः। प्रवर्षणगिरेरूर्ध्वं शिखरं भूरिविस्तरम् ॥५३॥'—(सर्ग ३)। वाल्मी० २७१ में इसे 'प्रस्रवण' कहा है—'आजगाम सह भ्रात्रा रामः प्रस्रवणं गिरिम्'। अर्थ दोनोंका एकही है। अर्थात् जहाँ बहुत वर्षा होती है। इससे दोनों एकही जान पड़ते हैं। यह पर्वत माल्यवान् पर्वतकाही एक भाग है। यथा—'वसन्माल्यवतः पृष्ठे रामो लक्ष्मणमब्रवीत्। वाल्मी० २८।१। (अर्थात् माल्यवान पर्वतपर निवास करते हुए श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणजीसे बोले)। और यह किष्किंधाके समीपही मतङ्ग ऋषिके आश्रमकी सीमामें है।

टिप्पणी १—'प्रथमहि देवन्ह०' इति। चित्रकूटमें श्रीरामजीके पहुँचनेपर देवताओंने कुटी बनाई और यहाँ प्रथमसेही गुहा बना रक्खी। देवताओं द्वारा बनाई गई; इसीसे 'गुहा' कहते हैं, यथा—'देवखात बिले गुहा इत्यमरः'। २—कृपानिधिका भाव कि हमपर कृपा करके गुहामें रहकर हमारा परिश्रम सफल करेंगे। [पुनः भाव कि हमारे दुःखको हरनेके लिये ही 'सहत राम नाना दुख भारा' ऐसे कृपासागर हैं, अतः हमारा कर्तव्य है कि उनके चतुर्मासनिवासके लिये उनके योग्य 'रुचिर' गुहा बना दें। (प० प० प्र०)]

### प्रथमसेही गुहा बनानेका भाव

१—मा० म०—जब श्रीजानकीजीके साथ रहना था तब पर्णकुटीकी आवश्यकता थी। इसीसे चित्रकूट और गोदावरीतटपर पर्णकुटीमें रहते रहे, यथा—'रचे परन-तृन सदन सुहाये।२।१३३।', 'गोदावरी निकट प्रभु रहे परन-गृह छाइ।३।१३।' अब प्रियारहित हैं, इससे कंदराकोही प्रभु उचित समझते हैं; वैसीही प्रेरणा उन्होंने देवताओंको कर दी।

२—रा० प्र० श०—यहाँ प्रथमसे बनाया, क्योंकि वर्षामें पहाड़को शीघ्र खोदना कठिन है।

३—पूर्व देवताओंको संदेह था कि लौट न जायँ, इससे पहुँचनेपर बनाया और अब विश्वास है कि हमारा कार्य अवश्य करेंगे, लौटेंगे नहीं।

पं०—देवता जानते हैं कि यहाँ वास करेंगे, इससे बना रखा था। सुग्रीव न जानते थे कि गिरिपर वास करेंगे, इससे उनका बनाना न कहा। सुग्रीव अब बनवाते पर वहाँ प्रथमसेही तैयार थी।

नोट—२ श्रीरामजीको इस गुहाका पता कैसे लगा? अ० रा० में लिखा है कि प्रवर्षणगिरिपर चलते हुए उन्होंने स्फटिकमणिकी एक स्वच्छ और प्रकाशमान गुफा देखी, जिसमें वर्षा, वायु और घामसे बचनेका सुभीता था तथा पास ही कंद, मूल, फल भी लगे हुए थे। पर्वत गुहा बड़ी रमणीय थी। सभी प्रकारका यहाँ सुपास था। अतः वहाँ रह गए। यथा—'तत्रैकं गह्वरं दृष्ट्वा स्फाटिकं दीप्तिमच्छुभम्। वर्षवाततपसहं फलमूलसमीपगम्।३।५४।'

सुंदर बन कुसुमित अति सोभा। गुंजत मधुप-निकर मधु लोभा ॥ १ ॥
कंद मूल फल पत्र सुहाए। भए बहुत जब ते प्रभु आए ॥ २ ॥

---

* कछु—(भा० दा०), कछुक—(का०)।

शब्दार्थ—मधुप=मधु पीनेवाले=भ्रमर, भौंरा। मधु=मकरंद, फूलका रस।

अर्थ—सुन्दर वन फूला हुआ अत्यन्त शोभित है। मधुके लोभसे भ्रमरसमूह गुंजार कर रहे हैं।१। जबसे प्रभु आए तबसे सुन्दर कन्द-मूल-फल-पत्ते बहुत हुए (क्योंकि ये उनके कामके हैं)।२।

टिप्पणी—१ (क)—वनकी शोभाका विस्तृत वर्णन वाल्मी० सर्ग २७, २८ में है। उसीको यहाँ 'सुन्दर' विशेषणसे जनाया है। (ख)—वनमें साधारण ही शोभा रहती है पर इस समय वह कुसुमित है, इससे 'अति शोभा' है। यथा—'मालतीकुन्दगुल्मैश्च सिन्दुवारैः शिरीषकैः। कदम्बार्जुनसर्जैश्च पुष्पितैरुपशोभितम्। वाल्मी० २७।१०।' (ग)—मधुके लोभसे गुंजार कर रहे हैं, इसीसे 'मधुप' (=मधु पीनेवाले) नाम दिया। २—'भए बहुत००' अर्थात् थे तो पहिले भी पर अब बहुत हुए। ☞यहाँ तक स्थावरकी सेवा कही, आगे जंगमकी सेवा कहते हैं, यथा—'मधुकर खग मृग तनु धरि देवा' इत्यादि।

**देखि मनोहर सैल अनूपा। रहे तहँ अनुज सहित सुरभूपा॥ ३॥**
**मधुकर खग मृग तनु धरि देवा। करहिं सिद्ध मुनि प्रभु कै सेवा॥ ४॥**

अर्थ—मनको हरनेवाला 'अनूप' पर्वत देखकर देवताओंके राजा राम भाई सहित वहाँ रहे।३। देवता, सिद्ध, मुनि, भ्रमर, पक्षी, पशु (वा, हिरन) के शरीर धारण कर-करके प्रभुकी सेवा कर रहे हैं।४।

टिप्पणी—१ (क) अनूप=उपमारहित। अथवा, उस पर्वतमें बहुत जल होनेसे अनूप कहा। अनूप=जलप्राय, वह स्थान जहाँ जल अधिक हो, यथा—'अनुगता आपो यस्मिंस्तदनूपम्। जलप्रायमनूपं स्यात् इत्यमरः॥' इसीसे इसका नाम प्रवर्षण है। (ख) प्रथम वनकी शोभा कहकर तब मनोहर शैलका देखना कहकर जनाया कि यह वन पर्वतके ऊपर है। (ग)—'सुरभूपा'का भाव कि देवताओंके अंश वानर हैं, वेही यहाँ श्रीरामजीकी प्रजा हैं जिनकी वे रक्षा करते हैं। पुनः, देवता, पक्षी, पशु आदि रूपसे, सेवा कर रहे हैं, और पूर्व अपने रूपसे गुहा बनानेकी सेवा कर चुके हैं; अतएव यहाँ प्रभुको 'सुरभूप' कहा। [वा, देवताओंके हितार्थ नरराज पदवीको छोड़कर शैलपर आकर बसे, अतः सुरभूप कहा। (पां०)। सुररूपी प्रजाका पालन रक्षण करनेके लिये यहाँ आकर बसे हैं, अतः सुरभूप कहा। प० प० प्र० स्वामीका मत है कि 'सुरभूप=सुरभू (सुरलोक)+प। देवताओंको उनके लोकोंमें बसानेके लिये यहाँ आकर रहे, अतः 'सुरभूप' कहा]

२—'मधुकर खग मृग तनु धरि देवा।०' इति। (क)—ये रूपान्तरसे क्यों आए? उत्तर—क्योंकि मर्यादापुरुषोत्तम इनसे साक्षात् रूपसे सेवा न कराते। (ख) मधुकरकी सेवा गुंजार, पक्षीकी सेवा मधुर सुरीली बोली और मृगोंकी सेवा नेत्रोंकी शोभा दिखाना है। यथा—'मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल राम प्रिय जानी।२।३११।८।' (ग)—चित्रकूटमें देवता कुटी बनानेके लिए कोल किरातके वेषसे आए, यथा—'कोल किरात बेष सब आए। रचे परन तृन सदन सुहाए।२।१३३।७।' और यहाँ भ्रमरादि रूपसे आए। वहाँ कुटी बनानी थी जो काम कोल किरात किया करते थे और यहाँ राम विरही हैं, उनका मन रमाना है, इससे यहाँ भ्रमर आदि रूपसे आए। ये मधुकर दिव्य मधुप हैं और पूर्वकथित, 'गुंजत मधुप निकर मधु लोभा' वाले मधुप प्राकृत हैं। प्राकृत मधुप मधुके लोभी हैं और ये सेवाके।

☞मिलान कीजिये—'रामं मानुषरूपेण गिरिकाननभूमिषु॥४॥ चरन्तं परमात्मानं ज्ञात्वा सिद्धगणा भुवि। मृगपक्षिगणा भूत्वा राममेवानुसेविरे॥५॥'—(अध्यात्म सर्ग ४)। अर्थात् यह जानकर कि परमात्मा राम नररूपसे पर्वत और वन भूमिपर विचर रहे हैं, सिद्धगण मृग पक्षि-रूप होकर सेवा करने लगे। ☞यहाँ 'देवा' कहकर 'सिद्ध मुनि' को भी देवकोटिवाले सिद्ध और मुनि जनाये। 'सिद्ध' देवताओंकी एक जाति भी है।

रा० प्र० श०—यहाँ मुनि भ्रमर हैं क्योंकि भ्रमर जब उड़ता है तब गुंजारता है और पुष्पपर बैठनेसे मौन हो जाता है। मौन होकर मनन करता है। सिद्ध पक्षी हैं क्योंकि पक्षी एक जगहसे उड़कर दूसरी जगह जाता है; ऐसेही सिद्ध लोग सिद्धिके बलसे स्थानान्तरमें जा सकते हैं। देवता मृग हैं क्योंकि विषयी होनेसे वे चंचल होते हैं वैसाही स्वभाव मृगोंका है।

वै०—देवता भ्रमर हो गान सुनाते, सिद्ध पक्षी हो बोली बोलते और मुनि मृग होकर सदा समीप रहते हैं।

**मंगलरूप भएउ बन तब ते। कीन्ह निवास रमापति जब ते ॥ ५ ॥**
**फटिकसिला अति सुभ्र सुहाई। सुख आसीन तहाँ द्वौ भाई ॥ ६ ॥**

अर्थ—जबसे रमापति श्रीरामजीने यहाँ निवास किया तबसे वन मंगलरूप हो गया।५। स्फटिक मणिकी एक अत्यन्त उज्ज्वल शिला शोभित है, उसीपर दोनों भाई सुखपूर्वक बैठे हैं।६।

नोट—१ 'मंगलरूप भएउ....' इति। इससे जनाया कि इसके पूर्व निशाचरोंके अत्याचारसे, तथा अधम अभिमानी वालिका राज्य-प्रदेश होनेसे यह अमंगलरूप था। वालीका नाश करके यहाँ निवास करनेपर वह मंगलरूप हो गया।

प० प० प्र०—जब श्रीसीतारामलक्ष्मणजी चित्रकूटपर आकर रहे तब उस पर्वत और वनका मंगलमय होना कहा गया। यथा 'जब तें आइ रहे रघुनायक। तब तें भयउ बन मंगल दायक।२।१३७। ५।', 'सो बन सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति पावन पावन।२।१३९।३।' पर यद्यपि वे ही तीनों जब पंचवटीपर आकर रहे तब पंचवटीवनका मंगलमय बनना न कहा। अरण्यकाण्ड और लंकाकांडमें भी मंगल शब्दका प्रयोग नहीं है। बीचमें यहाँ किष्किंधाकांडमें प्रवर्षणपर्वतपर निवास करनेपर इसका मंगलमय होना कहा है। यह भेद भी साभिप्राय है।

श्रीरामजी मंगलभवन अमंगलहारी हैं। अमंगलका विनाश किये बिना मंगल नहीं होता। पंचवटीके निकट ही जनस्थानमें खर-दूषणादि चौदह हजार दुर्जय राक्षसोंका निवास था जो मुनियोंको खाया करते थे। उनके रहते हुए पंचवटीवनको मंगलमय कैसे कह सकते थे? [दूसरे, यहीं सीता-हरण, परम-भक्त जटायुका रावण द्वारा वध इत्यादि अमंगल कार्य होंगे, अतः इसका मंगलमय बनना कैसे कह सकते थे? इसी स्थानसे तो शोक, विलाप, विरहका प्रारंभ होगा।] किष्किंधामें अधम अभिमानी आततायी बालि जो रावणका मित्र था राज्य करता था, जबतक वह जीता रहा तब तक वहाँके पर्वत और वन अमंगलमय ही थे, जब वह मारा गया, भक्त सुग्रीवका राज्य हुआ, तब पर्वत और वनका मंगलरूप होना कहा गया। लंकामें विभीषणका राज्य होनेपर भी राक्षस तो बने ही रहे, अतः उस कांडमें मंगल शब्दका प्रयोग नहीं है। [लंकामें सुवेलपर्वतपर निवास करनेपर उसका मंगलरूप होना न कहा; क्योंकि यहाँ तो घोर युद्ध होगा, कितनेही वानर भालु मरेंगे, लक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर विलाप आदि सब देखनेमें अमंगल लीलाएँ होंगी। रावणवध होते ही श्रीरामजी वहाँ से चल दिये। आगे वहाँ निवास हुआ ही नहीं। निवास होता तो मंगल-रूप कहते।] बालकांडमें 'मंगल' शब्द सौ बारसे कम नहीं आया है। अयोध्याकांडमें ६७ बार आया है।

नोट—२ 'रमापति' इति। (क) लक्ष्मीसे मंगल होता है। वन मंगलरूप हो गया, इसीसे यहाँ 'रमापति' कहा। (पं० रा० कु०)। 'रमापति' संज्ञा साभिप्राय है क्योंकि लक्ष्मीकान्तही अनैश्वर्यवानको ऐश्वर्यवान और मंगलरूप कर सकते हैं। यह 'परिकरांकुर अलंकार' है। रमापतिके निवाससे वनके मंगल रूप होनेमें 'प्रथम उल्लास' की ध्वनि है। (ख) पंजाबीजी लिखते हैं कि यहाँ 'रमापति' विशेषण इससे दिया कि कोई यह न कहे कि अब रघुनाथजीका विपत्तिकाल है। भाव यह कि जिनके निवाससे गिरि और वनकी आपदा नष्ट हो जाती है उनको विपत्ति कहाँ? वा, यह जनाया कि जहाँ प्रभु होंगे वहाँ श्री भी साथही रहती है। यहाँ सीतातनका वियोग था, इससे प्रभुके मनको रमानेके लिए रमा मानो वनको शोभित कर रही हैं। (पं०)। मानों रमा ही वन-श्रीके रूपमें अवतरित हुई हैं—(प० प० प्र०)। (ग) प० प० प्र० स्वामीका मत है कि यहाँ 'रमापति' शब्दसे काकभुशुण्डि-नारद-शाप संबंधित कथा सूचित की गई है।

☞'जब सुग्रीव भवन फिरि आए' से यहाँ तक 'प्रभुकृत सैल प्रवर्षन वास' प्रसंग है।

# 'वर्षा-वर्णन'—प्रकरण

**कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नृपनीति बिबेका ॥ ७ ॥**
**बरषाकाल मेघ नभ छाए। गरजत लागत परम सुहाए ॥ ८ ॥**

अर्थ—भाईसे भक्ति, वैराग्य, राजनीति और ज्ञानकी अनेक कथाएँ कहते हैं।७। वर्षाकालमें मेघ आकाशमें छाए (घिरे, फैले) हुए हैं, वे गरजते हुए बड़ेही सुहावने लगते हैं।८।

टिप्पणी—१ ☞अध्यात्म रामायणमें इस स्थानपर पूजनका प्रकरण वर्णन किया गया है। वाल्मीकीयमें वन वर्णन किया है और उसीमें अपने विरहकी और सांसारिक व्यवहारकी उपमा दी है। अन्य रामायणोंमें और तरह मुनियोंने वर्णन किया है। इसीसे गोस्वामीजी सबका मत ग्रहण करनेके वास्ते, अनेक कथाओंका कहना लिखते हैं। भागवत और विष्णुपुराणमें वर्षा वर्णन की है, ज्ञान वैराग्य भक्ति और राजनीतिकी उपमा दी है; इसी मतको गोस्वामीजी विस्तारसे वर्णन करते हैं।

२—भक्ति शाडिल्यसूत्रमें, वैराग्य सांख्यशास्त्रमें, नीति धर्मशास्त्रमें और ज्ञान वेदान्त शास्त्रमें है।

३—यहाँ प्रथम 'भक्ति' कही। क्योंकि अरण्यकाण्डमें लक्ष्मणजी भक्तियोग सुनकर अत्यन्त सुखी हुए थे, यथा—'भगति जोग सुनि अति सुख पावा'। अरण्यकाण्डमें ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और नीति समझाकर कह चुके हैं, अब यहाँ उनके समझानेका प्रयोजन नहीं है; इसीसे यहाँ कथा कहते हैं। कथा कहना सुनना श्रीरामजीको प्रिय है।

४—'गरजत लागत परम सुहाए' इति। 'परम सुहाए' का भाव कि आकाशमें छाए हुए सुहावने लगते हैं और जब गरजते हैं तब 'परम सुहाए' लगते हैं।—(अपने अपने समयपर सब बातें सुहावनी लगती ही हैं)। श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणजीको मेघ और मोर दिखाते हैं। दोहेका 'लछिमन देखु' देहलीदीपक है। यहाँ आकाशमें मेघोंकी सुंदरता दिखाकर आगे पृथ्वीपर मोरोंका नृत्य दिखाते हैं। अन्वय यों है—'वर्षाकाल मेघ नभ छाए गरजत लागत परम सुहाए लछिमन देखु' और 'लछिमन देखु मोरगन नाचत०।'

☞यहाँ अपने आचरण द्वारा उपदेश देते हैं कि समय सदैव भक्ति वैराग्य ज्ञान और नीति ही में व्यतीत करे, व्यर्थ न खोवे। (श्रीरामावतार लोगोंको शिक्षा देनेके लिये हुआ—'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं'।)

नोट—१ मिलान कीजिये—'अयं स कालः संप्राप्तः समयोऽद्य जलागमः। संपश्य त्वं नभो मेघैः संवृतं गिरिसन्निभैः। वाल्मी० २८।२। नवमासधृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः। पीत्वा रसं समुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम्।३।' अर्थात् यह जल बरसनेका समय आ गया। पर्वतके समान मेघोंने आकाशको घेर लिया, तुम देखो। सूर्यकी किरणोंसे समुद्रका जल पीकर आकाश नौ महीने गर्भ धारण करता है और पुनः रसायन स्वरूप जल बरसाता है। भा० १० अ० २० में श्रीशुकदेवजीके 'सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः।....अष्टौ मासान् निपीतं यद् भूम्याश्चोदमयं वसु। स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते।४,५।' इन श्लोकोंमें भी वही भाव है। अर्थात् नीले सघन मेघ आकाशमें छा गये....जैसे राजा प्रजासे धन लेकर पीछे प्रजाको ही दे देता है, वैसे ही सूर्य पृथ्वीरूपी प्रजासे आठ महीने तक जलरूपी कर अपने किरणोंरूपी सेवकों द्वारा ग्रहण करता रहा और अब समय आनेपर फिर उसीको बाँटने लगा।

इन श्लोकोंमें मेघोंके छाये हुए होने द्वारा राजनीति कही गई है। अतः 'बरषाकाल मेघ नभछाए।०' में नीतिका वर्णन हुआ।

२ मा० म० कारका मत है कि 'मेघोंका गरजना मानों देनेको कहना है। इसीसे सुहावने लगते हैं।'

**दोहा—लछिमन देखु मोरगन नाचत बारिद पेखि।**
**गृही बिरति रत हरष जस बिष्नु-भगत कहुँ देखि ॥१३॥**

अर्थ—लक्ष्मण ! देखो, मोरोंके समूह मेघोंको देखकर नाच रहे हैं, जैसे वैराग्यवान् गृहस्थ विष्णुभक्तको देखकर हर्षित होते हैं। १३।

नोट—१ यह दोहा भा० १०। २० में श्रीशुकदेवजीके 'मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दन् शिखण्डिनः। गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाऽच्युतजनाऽगमे। २०।' इस श्लोकका प्रतिरूप ही है। अर्थ यह है—मेघोंके आगमनरूपी उत्सवसे प्रसन्न मोरगण ऐसे आनंदित हुए जैसे गृहजंजालसे तप्त वैराग्यको प्राप्त गृहस्थ भगवद्भक्तके आगमनसे प्रसन्न होता है। मानसके 'नाचत बारिद पेखि' में 'मेघागमोत्सवा हृष्टा प्रत्यनन्दन्' क भाव है। अर्थात् मेघोंको देखकर मोरोंका रोमरोम खिल उठा, वे अपनी कुहुक और नृत्यके द्वारा आनन्दोत्सव मनाना जना रहे हैं। 'गृही बिरति रत' में 'गृहेषु तप्ता निर्विण्णा' का भाव है। 'गृह-कारज नाना जंजाला। तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला' तथा 'गृहासक्त दुखरूप' और 'मन करि विषय अनल बन जरई', इत्यादि कहा ही है। इनसे तथा त्रितापसे जीव जलता रहता है तब भी वैराग्य नहीं होता, यथा—'होइ न विषय बिराग भवन बसत भा चौथ पन' (मनुवाक्य)। जो त्रितापसे जले, गृहजंजालसे घबड़ाकर विषयोंसे वैराग्यवान् हो रहे हैं उन्हींको यहाँ कह रहे हैं; वे ही भगवद्भक्तको देखकर खिल उठते हैं, वे अपनी प्रेममय वाणीसे उनका स्वागत करते हैं। विशेष टिप्पणी ३ में देखिए।

टिप्पणी—१ (क) सजल मेघोंका शब्द सुनकर मोर नाचते हैं, इसीसे प्रथम मेघोंका गरजना—'गरजत लागत परम सुहाए' कहकर तब मोरोंका नाचना कहा। (ख) 'बारिद पेखि' इति। मेघ जल देते हैं इसीसे बारिद कहलाते हैं। मोर यह जानकर नाचते हैं कि हमको ये 'बारि' देंगे। (ग) 'गृही बिरतिरत०' इति। मोर नाचते हैं कि हमें जल मिलेगा और विरक्त गृहस्थ हर्षित हैं कि हमें रामयश संतसे प्राप्त होगा।—[ 'गृही बिरतिरत' से गृहस्थीमें रहकर अपने धर्मको निबाहनेवाले विरक्त लोगोंसे तात्पर्य है। जैसे जनकमहाराज, मनुमहाराज। 'भवन बसत भा चौथपन', 'बरबस राज सुतहि नृप दीन्हा', इत्यादि विष्णुभक्तिके साधन हैं। अपने-अपने धर्ममें वेदाज्ञानुसार लगे रहनेसे विषयोंसे वैराग्य होता है, तब भागवत धर्ममें प्रीति उत्पन्न होती है। यथा 'निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥ एहि कर फल पुनि विषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा। ३। १६। ६-७।' पुनः, 'गृही और वैराग्यवान दोनों' ऐसा भी अर्थ कर सकते हैं। दोनों आनंदित होते हैं। गृहस्थ यह समझकर आनंदित होता है कि जो मैंने धन बटोरा है वह आज इनकी सेवासे सुफल हो जायगा। वैराग्यमें अनुरक्त जो साधनमें तत्पर है वह आनंदित होता है कि आज इनके सत्संगसे आगेकी भूमिकाका लाभ उठानेको मिलेगा। (प्र०)]

२ वर्षा-वर्णनमें मयूरका आनंद वर्णन करना, यह कवियोंका नियम है। प्रमाण यथा—'कोकिल को कल बोलिबो बरनत हैं मधुमास। वर्षाहीं हरषित कहहिं केकी केशवदास।' इति कविप्रिया ग्रंथे। इसीसे गोसाईंजी वर्षा-वर्णनके प्रारम्भमें मयूरका नाचना लिखते हैं।

☞ ३ यहाँ भक्ति और वैराग्य कहे। यहाँ उदाहरण अलंकार है।

(समता)

१ बिरतिरत गृही मोरगण हैं    २ विष्णुभक्त बारिद हैं।

३ रामयश जल है, यथा—'सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥ बरषहिं राम-सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी। १। ३६। ३-४।'

४ गृही विषय-भोग गृहजालसे संतप्त; मोर ग्रीष्म-तापसे तपे रहते हैं।

५ संत गरज-गरजकर रामयश कहते हैं जिससे गृही हर्षित होता है, मेघ गरज-गरजकर बरसते हैं जिससे मोर आनंदित हो नाचते हैं।

६ संतदर्शनसे गृहस्थ अत्यन्त सुखी होते हैं, यथा—'संत मिलन सम सुख जग नाहीं। ७। १२१। १३।', क्योंकि सत्संगसुखसे बढ़कर कोई सुख नहीं है—'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला एक अंग। तूल न

ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग । ५ । ४ ।', मेघको देखकर मोर अत्यन्त सुखी होते हैं। अब उनके पक्ष जमेंगे।

७—जैसे वर्षाकालके सजलमेघ सुहाए लगते हैं वैसेही संत सब अच्छे लगते हैं। बादल गरजनेपर परम सुहावने लगते हैं। वैसेही संत जो रामयश गरजते हैं वे विशेष अच्छे लगते हैं।

मा० म०—'सुत वित लोक ईषना' ये तीनों सबकी बुद्धिको मलिन कर देते हैं। गृहस्थ जो इन तीनोंके दुःखसे संतप्त होकर मनकर्मवचनसे परमात्मामें रत होकर विरक्त हो गए, उनको हरिभक्तोंके सत्संगसे श्रेष्ठ-सुखका मूल प्राप्त होनेसे आनन्द होता है। मोर ग्रीष्म-तापसे क्षीण हो गए थे, वर्षागमनसे मयूरनीके साथ आनंद अनुभव करने लगे, जैसे गृहस्थ भक्त भक्तिरससे पुष्ट होकर कर्मादिकके दुःसह तापसे मुक्त होकर प्रगट सुखमें मग्न हो विह्वल हो रहे हैं।

प० प० प्र०—इस दोहेमें पूर्णोपमा नहीं है। केवल दर्शनसे आनंदित होना यही साम्य लेना उचित है अन्यथा बहुत अनर्थ होगा और विरतिरत गृहस्थपर दंभ, कठोरता और प्रेमपथकी अयोग्यता आरोपित होगी। क्योंकि मोरमें ये सब अवगुण कहे गए हैं। यथा—'मधुर बचन बोलहिं जिमि मोरा। खाहिं महा अहि हृदय कठोरा।', 'भले ते सुक पिक मोर ज्यों कोउ न प्रेम पथ जोग। दो० ३३१।'

मा० म० ( मयूख )—'लछिमन देखु०' इस पूर्वार्द्धसे दिनका बोध होता है, क्योंकि मेघको देखकर मोर दिनहीमें नाचता है। पुनः, 'गृही बिरतिरत०' इस उत्तरार्द्धसे आर्द्रा नक्षत्रकी अँधियाली रात्रिका बोध होता है क्योंकि रातको न चलनेके कारण विष्णुभक्त गृहस्थोंके घर विश्राम करते हैं। इस दोहेमें राजनीति, विरति और भक्ति तीनोंका कथन है।—( पां० )

☞ करु०—इस वचनका अभिप्राय यह है कि गृहस्थ वैरागीकी रामभक्तमें प्रीति हो तभी वह कृतार्थ है। यदि उनके दर्शनसे आह्लाद न हुआ तो समझना चाहिए कि उसका वैराग्य कच्चा है।

☞ यहाँ से वर्षा और शरद्वर्णनमें 'उदाहरण अलंकार' है।

**घन घमंड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥ १॥**

**दामिनि दमक रह न घन माहीं। खल कै प्रीति जथा थिरु नाहीं॥ २॥**

शब्दार्थ—घमण्ड = गर्व सहित। = समूह—( मा० म०, मा० त० भा० )। = घुमड़-घुमड़कर।

अर्थ—मेघोंके समूह गर्वपूर्वक घुमड़-घुमड़कर आकाशमें घोर गर्जन कर रहे हैं†, प्रियाहीन होनेसे मेरा मन डर रहा है। १। बिजलीकी चमक बादलमें नहीं रहती ( ठहरती नहीं ), जैसे खलकी प्रीति स्थिर नहीं रहती। २।

टिप्पणी—१ ( क ) ऊपर 'मोरगन नाचत बारिद पेखि' कहा, उस संबंधसे यहाँ 'प्रियाहीन' का भाव यह है कि हम प्रियाहीन हैं और सब मयूर प्रियायुक्त हैं। इनकी मयूरीका हरण राक्षसने नहीं किया, इसीसे ये नाचते हैं। (ख)—'प्रियाहीन डरपत मन मोरा' इति। मेघका गरजना, बिजलीका चमकना और मोरका नाचना ये सब शृङ्गार-रसके उद्दीपक विभाव हैं, इसीसे विरहीको दुःखदायी होते हैं। इसी भावसे प्रभु कहते हैं कि 'प्रियाहीन डरपत०'। [यहाँ श्रीरघुनाथजी विरह दिखाते हैं। शृङ्गार दो प्रकारका होता है—एक संयोग, दूसरा वियोग। यहाँ वियोग है, इसीसे वर्षाकालके मेघोंका गर्जन दुःखद हो रहा है। ( करु० )। पावसमें 'घन घमंड नभ गर्जन' बड़ा भारी उद्दीपन है। संभोग शृङ्गारमें जो हित हैं वेही विप्रलम्भमें पीड़ाके कारण हो जाते हैं। यथा 'जे हित रहे करत तेइ पीरा'। ( वि० त्रि० )। ( ग ) अब प्रश्न होता है कि प्रियाहीन होनेके कारण

---

† प० प० प्र०—ऊपर 'गरजत लागत परम सुहाए' कहा है, अतः यहाँ गर्जनको 'घोर' कहना असंगत है। एक ही समय मधुर और भयंकर होना असंभव है। यथा—'मधुर मधुर गर्जइ घन घोरा। होइ वृष्टि जनि उपल कठोरा।' अतः 'घोरा' को 'घन' का विशेषण मानकर 'विशाल, बड़े-बड़े' अर्थ करना चाहिये।

तीव्र उद्दीपनसे विरह पीड़ा अवश्य बढ़ जायगी, पर डरनेकी बात यहाँ क्या आई ? उत्तरमें कहा जा सकता है कि गर्जनके बाद बरसनेका बड़ा भारी भय है। यथा 'बारिद तप्त तेल जनु बरिसा'। वर्षा तप्त तेलके समान दुःखद होगी। इसीलिये सरकार कहते हैं कि 'प्रियाहीन डरपत मन मोरा'। (वि० त्रि०)। यहाँ ध्वनिसे श्रीरघुनाथजी श्रीजानकीजीमें अपना प्रेम दिखा रहे हैं। (करु०)।—आगे सुंदरकांडमें हनुमान्‌जी द्वारा कहे हुए संदेशसे यही भाव स्पष्ट होंगे। यथा—'मो कहँ भए सकल विपरीता'। वाल्मी० में भी श्रीरामजीने लक्ष्मण-जीसे कहा है कि शोकसे पीड़ित और सीतासे विरहित मुझे वर्षाके ये चार महीने सौ वर्षोंके समान जान पड़ते हैं। सीता विषम दण्डकारण्यको उद्यान समझकर मेरे साथ आई थी। यथा 'चत्वारो वार्षिका मासा गता वर्षशतोपमाः। मम शोकाभितप्तस्य सौम्य सीतामपश्यतः ॥ ३०।६४। चक्रवाकीव भर्तारं पृष्ठतोऽनुगता वनम्। विषमं दण्डकारण्यमुद्यानमिव चाङ्गना ॥६५।'] ☞ (ग) यहाँ नीति और वैराग्य है।

सा० म०—श्रीरामचंद्रजीके वचनमें यह भी ध्वनि है कि मेरी प्रिया मेरे साथ रही, परन्तु न जाने कहाँ चली गई, इसी दुःखसे मैं दुःखित हूँ, मैं उनको नहीं कहता जो स्त्रीके सन्निकट नहीं जाते वरन दूर रहते हैं। पुनः, वह अन्यत्र चली गई जहाँ दुःखका समूह है और यहाँ सुखका समूह है; अतः मेरा मन डरता है।

शीला—इस प्रकरणमें 'उपाख्यान विवेक रीति' का है। चौपाई-चौपाई प्रति दो-दो बातें कही हैं। श्रीरामजी वक्ता हैं, इस कारण इसमें यह अर्थ करनेसे कि 'सीताके बिना मेरा मन डरता है' विरोध होगा। इस प्रकरण भरमें ४६ चौपाइयोंमें दो-दो बातें कही हैं तब यहाँ भी दो ही बातें होना ठीक है (एक दृष्टान्त दूसरा दार्ष्टान्त)। (अर्थात् रामजीने छः दोहों और ४० चौपाइयोंमें कहीं अपने ऊपर कोई बात नहीं कही, तब यहाँ कैसे कहेंगे)। अतएव इसका निर्वाह करनेके लिए 'मोरा' का अर्थ 'मोड़े हुए, मुड़े हुए' करना होगा। भावार्थ यह है कि 'जो प्रियाहीन हैं, सांसारिक विषयोंसे मन मोड़े अर्थात् फेरे हुए हैं ऐसे उदासी लोग वनमें बादलोंका गर्जन सुनकर डरते हैं। बादल कामदेवका समाज है, गर्जन कामदेवकी ललकार है।

पं०—यहाँ वैराग्य है। प्रियाके संयोगसे वियोग होनेपर प्रभुको दुःख हुआ, अतः इससे उपदेश देते हैं कि उसका त्यागही शुभ है।

वीरकवि—मेघोंके भीषण गर्जनसे मनमें भयका संचार कथन दूसरा उल्लास अलंकार है।

प० प० प्र०—१ यहाँ श्रीसीताजीके स्मरणका कारण तो पिछले दोहेके दृष्टान्तमें है। 'गृही बिरति रत' और 'विष्णुभक्त' इन वचनोंने उनकी स्मृति कराई। श्रीरामजी गृही हैं, विरतिरत हैं—'मुनिब्रत बेष अहार'। रमापतिसे विष्णु अवतारीकी सूचना दी गई। सीताजी विष्णुभक्त हैं। भाव यह कि श्रीसीता-जीरूपी विष्णुभक्तका दर्शन न होनेसे मैं विरतिरत गृही होनेपर भी दुःखी हूँ।

२ वर्षावर्णनके प्रारंभ और शरद्‌वर्णनके अंतमें सीतावियोग दुःख स्पष्ट कर दिया है। बीचमें स्पष्ट नहीं कहा है पर दृष्टान्तोंमें ध्वनित है। यह ध्यान रखकर ही अर्धालियोंका अर्थ करना उचित है।

टिप्पणी—२ 'दामिनि दमक....' इति। (क) मेघ आकाशमें हैं, मोर पृथ्वीपर हैं। दोनोंके बीचमें इतना अन्तर है तो भी मोरोंकी प्रीति मेघोंमें है, उसे देखकर मोर नाचते हैं। और, बिजली मेघोंके समीप ही है ( उसीसे उत्पन्न होती है ) पर मेघोंमें उसकी प्रीति स्थिर नहीं रहती। ☞ खलकी प्रीति स्थिर नहीं रहती। यह नीति है—[ अच्छे लोग ( सज्जन ) दूर भी रहकर प्रीतिका निर्वाह करते हैं, अतएव खलसे प्रीति न करे, सज्जनसे करे; यह उपदेश है ]।

नोट—१ 'दामिनि दमक रह न' इति। (क) विष्णु पुराण अंश ५ अ० ६ में श्रीपराशरजीने वर्षा-वर्णनमें ऐसा ही कहा है। यथा—'न बबन्धाम्बरे स्थैर्यं विद्युदत्यन्तचञ्चला। मैत्रीव प्रवरे पुंसि दुर्जनेन प्रयोजिता ॥४३॥' अर्थात् अत्यन्त चंचला बिजली आकाशमें स्थिर न रह सकी, जैसे श्रेष्ठ पुरुषके साथ दुर्जनकी मित्रता स्थिर नहीं रहती। ☞ इस श्लोकसे यह स्पष्ट हो गया कि खलकी प्रीति किसीके साथ स्थिर नहीं रहती। चौपाईमें इसे न कहनेका कारण यह भी हो सकता है कि कविके मतानुसार खलकी प्रीति किसीके भी साथ स्थिर नहीं

रहती। श्लोकमें बिजलीका आकाशमें स्थिर न होना कहा और मानसमें मेघोंमें स्थिर न रहना कहा। पाठक देखें कि कौन उत्तम है। मेघोंमें विशेषता यह है कि बिजली मेघोंसेही उत्पन्न होती है तब भी उनमें स्थिर नहीं रहती। इसी तरह खलोंकी प्रीति अपने माता पिता सगे संबंधियोंमें भी स्थिर नहीं रहती तब दूसरोंमें कब स्थिर रहेगी।

भा० १०।२० में मेघोंमें बिजलीके स्थिर न रहनेका वर्णन इस प्रकार है—'लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः। स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव ।१७।' अर्थात् लोकोपकारी मेघोंमें भी बिजलियाँ स्थिर नहीं रहतीं, जैसे चंचल प्रेमवाली कुलटायें गुणी पुरुषोंके पास भी नहीं टिकतीं।

मा० म०—(क) भाव यह है कि बिजली सब गुणसिंधु मेघको पाकर भी खलताहीको सेवती है अर्थात् अस्थिरता नहीं त्यागती, चमककर अन्यत्र चली जाती है, वहाँसे दूसरी दूसरी जगह चमकने लगती है, केवल एक सुखकी टेक नहीं रखती। (ख) यहाँ यह रूपक भी मिलता है कि पुरुषरूपी मेघ स्त्रीरूपी दामिनी अपने गुण और रंगकी उतंगतावश चंचल होकर आधी चमक एक जगह और आधी चमक दूसरी जगह दिखलाती फिरती है और स्थान स्थान प्रति किंचित् थिर हो होकर अभंग चमक प्रकाश करती है। यहाँ स्त्रीकी उतंगता गुण और मेघकी उतंगता श्याम रंग जानो।—(मेघ पुल्लिंग, दामिनि स्त्रीलिंग; खल पुल्लिंग, प्रीति स्त्रीलिंग। संभवतः इसीसे यह भाव निकाला गया है। पर प्रत्यक्ष तो यहाँ दुष्टोंकी प्रीति ही का दिखाना अभिप्रेत है—मा० सं०)।

☞वर्षा-वर्णनमें मेघ, मोर, दामिनी आदिका वर्णन करना चाहिए, यथा—'वर्षा हंस पयान बक दादुर चातक मोर। केतक पुंज कदंब जल क्यों दामिनि घन जोर॥' इति कविप्रियायाम्।

**बरषहिं जलद भूमि नियराए। जथा नवहिं बुध बिद्या पाए॥ ३॥**
**बूंद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे॥ ४॥**

अर्थ—बादल पृथ्वीके निकट आकर (अर्थात् इतना नीचे झुककर) बरसते हैं जैसे पंडित लोग विद्या पाकर नवते (नम्र हो जाते) हैं।३।† बूँदोंकी चोट पर्वत कैसे सहते हैं, जैसे खलके वचन संत सहते हैं।४।

टिप्पणी—१ 'बरषहिं जलद....। जथा नवहिं....' इति। उदाहरणमें समता—(क) मेघ आकाशसे उतरकर नीचे आते हैं। विद्या-संपन्न होना आकाशमें स्थिर होना है, उसे पाकर विनम्र होना मेघोंका भूमिपर आना है। [जबतक मेघ छूछे थे तबतक ऊँचे पर थे, जब जलसे लदकर बरसनेवाले हुए तब नीचे झुक आए। (पं०)] (ख) मेघ जल बरसाते हैं, इसीसे जलद (जल देनेवाला) नाम है, पंडित लोग विद्यादान देते हैं। [(ग) मेघ समुद्रसे जल कर्षण करके घूमघूमकर पृथ्वीपर बरसाता है, वैसेही पंडितलोग महापंडितोंसे विद्या प्राप्त करके घूमघूमकर शब्दवृष्टिकर विद्यार्थियोंकी बुद्धिरूपी भूमिपर विद्यारूपी जलको बरसाते हैं। (मा० म०)]

'बुध' का भाव कि विद्या पाकर 'बुध' ही नवते हैं, अबुध नहीं। यथा—'अधम जाति मैं बिद्या पाए। भयउँ जथा अहि दूध पिआए। ७। १०६। ६।' मेघोंका आकाशमें छाना, गरजना, बिजलीका चमकना, मेघोंका पृथ्वीके निकट आना और बरसना ये सब क्रमसे वर्णन किए।

☞[विद्या पाकर बुद्धिमान विनम्र होते हैं। यथा—'विद्या ददाति विनयं।' यह नीति है। विद्यावान्को विनयसंपन्न होना चाहिए।]

२ 'बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे।०' इति। संत और पर्वतमें समानता इस प्रकार है—(१) संत पर्वत हैं। (२) खलके वचन बूँदें हैं। (३) वचन अनेक, वैसेही बूँदें अनेक। (४) खलके वचन सहनेमें

† हमने प्रथम संस्करणमें मिलानका यह श्लोक दिया था—'ज्यालम्बमाना जलदा वर्षन्ति स्फूर्जितास्वराः। यथा विद्यामुपालभ्य नमन्ति गुणिनो जनाः। विष्णुपुराण।' पर इस बार हमने खोज करने पर यह श्लोक वि० पु० में नहीं पाया। परन्तु पं० श्रीकान्तशरणजीने भी इसे दिया है अतः मैं उसे दे रहा हूँ।

संत गिरिके समान जड़ हैं। (५) इनके हृदयमें वचन प्रवेश नहीं करते जैसे पाषाणमें पानी प्रवेश नहीं करता।—[पर इस समतामें दोष यह आता है कि गिरिका अर्थ पाषाण नहीं है, गिरिमें पाषाण होते हैं। वर्षाका जल पर्वतोंमें प्रवेश करता है; इसीसे तो उसमेंसे ग्रीष्ममें भी झरने बहते हैं। अतएव केवल सहन करनेका सादृश्य लेना चाहिए। (प० प० प्र०)। संत शरणागतिरूपी वृक्षके नीचे होकर चोटको सहन कर लेते हैं। (मा० म०)]। (५) खलके वचन औरोंको वज्रसमान हैं, यथा—'बचन बज्र जेहि सदा पिआरा।१।४।११।' वही सन्तोंके निकट पानीके बूँदके समान हैं, कुछ बाधा नहीं कर सकते। [संभव है कि कोई कहे कि 'वृक्ष, पशु, मनुष्य आदि सभी बूँदोंकी चोट सह लेते हैं जिनपर वे पड़ती हैं तब 'गिरि' का सहना कहनेमें क्या विशेषता है?', तो उसका उत्तर यह है कि वे भी सह लेते अवश्य हैं पर 'अघात' से वेधित होकर वे दुःखित हो जाते हैं, किन्तु पर्वतको कुछ पीड़ा नहीं होती। वैसे ही खलोंके वचनोंसे सबका मन व्यथित हो जाता है, पर सन्तोंका अन्तःकरण इतना निर्मल है कि वह उनके वचनोंसे भी नहीं बिगड़ता। (पाँ०)। अतः पर्वतकी उपमा दी]

[नोट—'सहहिं' पदसें ध्वनि है कि उन्हें बदला देनेका सामर्थ्य है, पर वे जड़की तरह सह लेते हैं, अपने मनमें किंचित् विक्षेप नहीं होने देते। यहाँ उपदेश है कि संतको क्षमा चाहिए।]

☞ मिलान कीजिए—

'दुर्जन बदन कमान सम बचन बिमुंचत तीर। सज्जन उर बेधत नहीं छमा सनाह सरीर॥'

'सील गहनि सबकी सहनि कहनि हिये मुख राम। तुलसी रहिए यह रहनि संत जननको काम। वै.सं.१७।'

'बचन तून जिह्वा धनुष बचन पवन गम तीर। साधुनके लागै नहीं छमा सनाह सरीर॥'

मयूख—यदि बूँद-अघात पर्वत न सह सके तो उसकी निन्दा हो, वैसेही संत यदि खलकी वाणी सुनकर न सह सकें तो उनके नामको लज्जा है।

टिप्पणी—३ 'सहहिं गिरि' में ध्वनि यह है कि वर्षाके बूँद हमसे नहीं सहे जाते, पर्वत सहते हैं—(वा, हे लक्ष्मण! वे कैसे सह लेते हैं? हमसे तो नहीं सहे जाते)। तात्पर्य कि विरहीको वर्षा दुःख-दायी है, यथा—'बारिद तपत तेल जनु बरिसा।'

मेघ प्रथम पहाड़पर बरसते हैं, इसीसे प्रथम पहाड़पर बरसना लिखा। यहाँ नीति कही है।

नोट—श्रीशुकदेवजीने भी कुछ ऐसा ही कहा है। यथा 'गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः। अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाऽधोक्षजचेतसः। भा० १०।२०।१५।' अर्थात् मूसलधार वर्षाकी चोट खाते रहनेपर भी पर्वतोंको कोई व्यथा नहीं होती थी, जैसे दुःखोंकी भरमार होनेपर भी उन पुरुषोंको कभी व्यथा नहीं होती जिन्होंने अपना चित्त भगवान्‌को समर्पित कर रक्खा है।

'बूँद अघात' का भाव 'वर्षधाराभिर्हन्यमाना' में, 'सहहिं' का 'न विव्यथुः' में और 'संत' का 'अधोक्षजचेतसः' में आ जाता है पर भागवतके 'अभिभूयमाना व्यसनैः' की जगह मानसमें 'खलके बचन' हैं। यह विशेषता है क्योंकि दुःखका भार सहना उतना कठिन नहीं है जितना 'खलोंके वचनोंका सहना'।

प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि श्लोकमें 'व्यसन' शब्द होते हुए भी यहाँ 'खल' शब्दका प्रयोग बताता है कि श्रीरामजीके मनमें इस समय यह बात आई कि 'खल' रावणने न जाने कितने कठोर कुवचन कहे होंगे और सीताजीने (उसको भस्म कर देनेका सामर्थ्य होते हुए भी) उन वचनोंको सहन किया होगा। उस खलका विनाश कब और कैसे होगा?

**छुद्र नदीं भरि चलीं तोराई। जस थोरेहु धन खल इतराई॥ ५॥**

शब्दार्थ—'तोराई'=वेगसे। इतराना=घमंड करना।

अर्थ—छोटी नदी भरकर वेगसे चलने लगी, जैसे थोड़ा भी धन पाकर खल गर्व करने लगता है।५।

टिप्पणी—१ क्षुद्र नदी गंभीर नहीं है और न पेटकी भारी है, इसीसे थोड़ेही जलसे उमड़कर

बेमर्याद चली, और घरों और वृक्षोंको ढाती, कृषीको डुबाती, मार्ग रोकती, इत्यादि भारी उपद्रव करके सूख जाती है। यही दशा खलकी है। थोड़ा भी धन हुआ कि उसे गर्व हुआ, फिर वह अपनेमें नहीं समाता। उसका धन भी क्षुद्र नदीकी तरह शीघ्र बह जाता है पर जबतक रहता है तबतक वह उपद्रव करता ही रहता है।

२ क्षुद्र नदीकी उपमा देनेके भाव-(क) क्षुद्रनदी मूलरहित है और खल भगवद्भक्तिरहित है, इसीसे उसका धन जल्दी नष्ट हो जाता है। यथा—'रामविमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥ सरितमूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरषि गए पुनि तबहिं सुखाहीं॥ ५।२३।५,६।' [इस नदीमें न तो पहिले ही जल था न पीछे रहेगा, इधरसे आया उधर गया, अन्ततः कणमात्र भी नहीं रह जाता। वैसेही खलका आदि अन्तमें पेट जलता ही रहता है, किंचित् धन बीचमें हाथ लग गया तो विषय, युद्ध और खेलमें व्यय करता है; इस प्रकार तत्काल ही धनका नाश हो जाता है। (मा०म०)] (ख) खलके मन वचन कर्म तीनों नष्ट हैं। मन चंचल है; यथा—'खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं।' प्रीति करना मनका धर्म है। वचन कठोर है, यथा—'वचन वज्र जेहि सदा पिआरा', 'खल के वचन संत सह जैसे'। और कर्म दूषित है, यथा—'जस थोरेहु धन खल इतराई'। इतराना कर्म है।

नोट—१ (क) यहाँ क्षुद्रनदी और खल, धन और जल, नदीका शीघ्रतासे (त्वराके साथ) बहने और खलके इतराने एवं धन व्यय कर डालनेसे रूपक है। (ख)—खलके पास अन्यायसेही उपार्जन किया हुआ धन रहता है, इसीसे वह बुरे कर्मोंमेंही लगता है।

२ भा० १०।२० में इससे मिलता-जुलता श्लोक यह है–'आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः। पुंसो यथाऽस्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः।१०।' अर्थात् छोटी-छोटी नदियाँ जो जेठ-आषाढ़में बिलकुल सूखनेपर आ गई थीं, वे उमड़ उमड़कर अपने घेरे (मर्यादा) से बाहर बहने लगीं, जैसे परतन्त्र अथवा उच्छृङ्खल पुरुषके शरीर और धनसंपत्तियोंका कुमार्गमें संयोग होने लगता है। मानसके 'क्षुद्र नदी' की व्याख्या 'क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः' में है, अर्थात् जो सूखनेवाली थीं और आगे फिर शीघ्र सूख जायँगी। 'भरि चली तोराई' ही 'आसन्नुत्पथवाहिन्यः' है। 'खल' की जगह यहाँ 'अस्वतन्त्र पुंसो' और 'थोरेहु धन' के बदले 'देहद्रविणसम्पदः।' है।

वि० पु० में श्रीपराशरजीने वर्षावर्णनमें ऐसा ही कहा है—'ऊहुरुन्मार्गवाहीनि निम्नगाम्भांसि सर्वतः। मनांसि दुर्विनीतानां प्राप्य लक्ष्मीं नवामिव।५।६।३८।' अर्थात् नदियोंका जल अपना निर्दिष्ट मार्ग, अपनी मर्यादा, छोड़कर सब ओर बहने लगा, जैसे दुर्विनीत पुरुषोंका चित्त नया धन पाकर (उच्छृङ्खल हो जाता है)। 'चली तोराई' में 'ऊहुरुन्मार्गवाहीनि सर्वतः' का भाव है। 'क्षुद्र' विशेषण मानसमें अधिक है। 'थोरेहि धन' में 'प्राप्य लक्ष्मीं 'नवामिव' का भाव है अर्थात् पहले तो उसके पास कुछ था नहीं, नया धन कहींसे पा गया जैसे नदीमें जल था नहीं या नहींके बराबर था, वर्षाजल उसको मिल गया। वर्षा थोड़े ही दिन रहती है इसीसे थोड़ा धन कहा। श्लोकके 'मनांसि दुर्विनीतानां' के बदले यहाँ 'खल' है। वहाँ केवल मनका दूषित होना कहा और उनके मन, कर्म, वचन सभीमें गर्व कहा।

३ प०प०प्र० स्वामीका मत है कि 'यहाँ सुग्रीवकी उदासीनतापर लक्ष्य है कि उसे राज्य पाकर मद हो गया है'। पर मेरी समझमें ऐसा विचार उठना संगत नहीं; ऐसा भाव चतुर्मासा भर मनमें नहीं आ सकता।

☞ पहाड़का पानी नदीद्वारा चलाकर अब आगे भूमिके जलका वर्णन करते हैं। यहाँ नीति है।

**भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी॥ ६॥**

अर्थ—पृथ्वीपर पानी पड़ते ही गँदला हो गया। मानों जीवको माया लपट गई है।६।

टिप्पणी—१ (क) 'भूमि परत' का यह भाव कि पर्वतपर गिरनेसे कम मैला हुआ, जब भूमिपर पड़ा तब बहुत मलिन हो गया। (ख) गिरिकी उपमा साधुसे दी—'बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे। खलके बचन संत सह जैसे'—और भूमिकी उपमा मायासे दी। इसका तात्पर्य यह है कि जब जीव साधु-कुलमें अवतार लेता है तब माया कम लपटती है, [यथा—'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ अथवा योगिनामेव कुले भवति धीम-

ताम्।....पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः। जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते। गीता० ६।४१-४४।' अर्थात् योगभ्रष्ट पुरुष फिर शुद्ध और श्रीमानोंके घरमें अथवा बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें जन्म लेता है। पूर्वकृत अभ्यासके द्वारा निस्संदेह वह (उसी योगकी ओर) खींचा जाता है। वह शब्दब्रह्म (प्रकृति) को लाँघ जाता है।)], और जब मायिक जीवोंके यहाँ अवतार लेता है तब माया खूब लपटती है। (ग) 'भूमि परत' का संबंध जल और जीव दोनोंमें है। जबतक जल आकाशमें रहा तब तक निर्मल रहा, भूमिपर पड़ते ही रज लपट गई और वह मलिन हो गया। ऐसेही जब जीव गर्भमें रहा तब उसको अपने स्वरूपका ज्ञान रहा और वह निर्मल रहा; पर भूमिपर पड़ते ही माया लपट गई, और वह मलिन हो गया। यहाँ ज्ञान है।

नोट—१ विनय पत्रिका पद १३६ से 'माया लपटानी' का भाव स्पष्ट हो जाता है। वह यह है—

"जिव जब ते हरि ते बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो।
माया बस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो॥

.... .... .... ....

तैं निज कर्मडोरि दृढ़ कीन्ही। अपने करन गाँठि गहि दीन्ही।
तेहिते परबस परेउ अभागे। ता फल गर्भबास दुख आगे॥

छंद—आगे अनेक समूह संसृत उदरगति जान्यो सोऊ। सिर हेठ ऊपर चरन संकट बात नहिं पूछै कोऊ।
सोनित पुरीष जो मूत्र मल कृमि कर्दमावृत सोवही। कोमल सरीर गँभीर बेदन सीस धुनि धुनि रोवही॥

तू निज कर्मजाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो॥
बहु बिधि प्रतिपालन प्रभु कीन्हो। परम कृपालु ज्ञान तोहि दीन्हो॥

छंद—तोहि दियो ज्ञान बिवेक जन्म अनेक की तब सुधि भई। तेहि ईसकी हौं सरन जाकी बिषम माया गुनमई।
जेहि किये जीव निकाय बस रसहीन दिन-दिन अति नई। सो करौ बेगि सँभार श्रीपति बिपति महँ जेहि मति दई।

पुनि बहु बिधि गलानि जिय मानी। अब जग जाइ भजौं चक्रपानी॥
ऐसेहि करि बिचारि चुप साधी। प्रसव पवन प्रेरेउ अपराधी॥

छंद—प्रेरेउ जो परम प्रचंड मारुत कष्ट नाना तैं सह्यो। सो ज्ञान ध्यान बिराग अनुभव जातना पावक दह्यो।"

यही बात भगवान् कपिलदेवने मातासे (भागवतमें) कही है।—२ यहाँ उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

मा० म०—भाव कि यद्यपि रज और जल दोनोंमें वास्तविक भेद है, दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं तथापि रजमें जल इस प्रकार मिला हुआ है कि देखनेमें दोनों समान मालूम होते हैं; दोनोंका पृथक् करना दुस्तर प्रतीत होता है, इसी तरह जीवमें माया ऐसी लपट गई कि दोनों एकरूपसे हो गए। मायाकी जड़तासे जीव जड़सा हो गया, वह अपनेको देह ही मानने लगा। इस मलिनताका छूटना बहुत दुस्तर है। यथा— 'जदपि मृषा छूटत कठिनाई॥ श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥७।११७।' जब कभी हरिकृपासे संत मिलते हैं और जीवपर कृपा करते हैं तब पुनः अपने स्वरूपका उसे ज्ञान होता है और वह शुद्ध हो जाता है।

मयूख—जल पृथ्वीमें गिरनेसे डाबर हो जाता है, वैसे ही जीव लघुयोनिमें पड़कर भ्रष्ट हो जाता है, जलका तालावमें गिरना मानों अच्छी योनिमें प्राप्त होकर सत्संगमें रहना है और जो जल गंगामें पड़ा वह मानों महा श्रेष्ठ योनि है जैसे जीव उत्तम कुलमें जन्म लेकर मानसमें रत रहे।

अ० दी० च०—पृथ्वी, तालाब और नदीके समान क्रमसे कर्म, ज्ञान और भक्ति हैं। क्योंकि पश्चात् शरद् आते ही तीनों शुद्ध हो जाते हैं। जबतक जल समुद्रसे किरणों द्वारा आकर्षित होकर आकाशमें रहा तब तक शुद्ध रहा। इसी तरह जीव समुद्ररूपी हरिसे भिन्न होकर जबतक 'ब्यापि आकाशवत्' में रहा तबतक शुद्ध रहा। शरीर धरते ही माया लपट गई।

जल पृथ्वीमें गिरनेपर रजसे मिलकर गँदला हुआ। वैसे ही कर्म करनेमें मायाका अधिक संसर्ग रहता है। शरद् आनेपर इधर उधरके जलका आना जाना बन्द हो जानेसे रज नीचे बैठ जाती है, जल शुद्ध हो जाता है। उसी प्रकार कर्मका अंत होने पर माया दब जाती है तब जीव शुद्ध सा देख पड़ता है। पृथ्वीसे तालाबका जल कम गँदला रहता है, वह भी वर्षाके बाद शुद्ध हो जाता है। उसी प्रकार कर्मकी अपेक्षा ज्ञानमें मायाका प्रभाव कम रहता है, वह भी ज्ञानकी अंतिम दशा सातवीं भूमिकामें जीव शुद्ध देख पड़ता है। तालाबकी अपेक्षा नदीका जल कम गँदला रहता है, बहते जलके कारण रजका प्रभाव कम रहता है। उसी प्रकार भक्तिरूपी नदीमें मायाका प्रभाव कर्म और ज्ञानसे भी कम रहता है। भगवत-संबंधी कार्योंमें इन्द्रियोंको भोग मिलना जलका बहना है, इससे मायाका प्रभाव कम पड़ता है। फिर जैसे नदी वर्षाके अन्तमें एकदम निर्मल हो जाती है, उसी प्रकार अंतिम भक्ति प्रेमा-परामें तो जीव ब्रह्मवत् प्रतीत होता है, वह दशा ही अकथनीय है।

प० प० प्र०—सुग्रीवजीको भी 'उपजा ज्ञान' तब उन्होंने कहा था कि 'मन भयो अलोला' इत्यादि। वे निर्मल हो गये थे। पर यहाँसे नीचे नगरमें जानेपर फिर मलिन हो गए। 'विषय मोर हरि लीन्हेउ ज्ञाना' यह उन्होंने स्वयं कहा है।

**समिटि समिटि जल भरहिं तलावा। जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा॥७॥**

शब्दार्थ—समिटना, सिमटना=दूरतक फैली हुई वस्तुका थोड़े स्थानमें आ जाना, बटुरना, इकट्ठा वा एकत्र होना।

अर्थ—जल सिमिट सिमिटकर तालावमें भर रहा है जैसे सद्गुण सज्जनके पास आते हैं।७।

टिप्पणी—१ (क) पहाड़का जल सिमटकर नदीमें गया और पृथ्वीका जल बटुरकर तालावमें भर रहा है। (ख) 'समिटि समिटि' का भाव कि उत्तम गुण सज्जनके हृदयमें क्रमसे आते हैं, एक ही बार सब शास्त्र हृदयमें नहीं भर जाते। (ग) 'आवा' अर्थात् अनायास आपसे ही आ प्राप्त होते हैं, जैसे जल चारों ओरसे सिमिटकर स्वयं तालावमें आआकर भरता है। तालाबको कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यथा—'पुन्य पुरुष कहुँ महि सुख छाई॥ जिमि सरिता सागर महुँ जाई। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥ १।१९४।१-२।'

☞सज्जन अपने गुणोंसे शत्रु, मित्र, उदासीन, पशु, पक्षी, मनुष्य इत्यादि सबको तालावकी नाईं सुख देते हैं और खल अपने क्षुद्र धनसे क्षुद्रनदियोंकी तरह सबको दुःख ही देते हैं।

पां०—जल कहीं बरसे पर सब जगहसे बटुरकर तालावमें जाता है जो उसका पात्र है। वैसेही सद्गुणको कोई कहे सुने पर वह सज्जनके ही पास जाता है।

करु०—देव बूँद बूँद वर्षते हैं। उससे तालाब भरते हैं। वैसेही एक-एक दो-दो गुण जो दूसरोंमें मिलते हैं उनसे सज्जन सद्गुणसिंधु हो जाते हैं; जैसे दत्तात्रेयभगवान् २४ प्राणियोंसे गुण प्राप्त करके परमहंस हो गए।—(कथा भागवतमें है)।

मा० म०—ऊँची जमीनपर पानी टिकता नहीं, इसीसे वह बहकर तालावको भर देता है। सद्गुण कहीं एक कहीं दो रह जाता है। पर अवगुण समाजमें नहीं ठहरता। इसीसे सन्तसमाजमें जाकर सब सद्गुण शोभा पाते हैं।

नोट—१ ऋग्वेदमण्डल ६ सूक्त २४ मंत्र ६ इस चौपाईसे मिलता जुलता है। वह यह है—'वित्विदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरिन्द्रानयन्त यज्ञैः। तं त्वाभिः सुष्टुतिभिर्वाजयन्त आजिं न जग्मुर्गिर्वाहो अश्वाः॥"

वेदान्तभूषण पं० रामकुमारदासजी बताते हैं कि सामवेदमें भी यह मंत्र कुछ पाठफेरसे है। वह यह है—'वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरग्ने जनयन्त देवाः। तं त्वा गिरः सुष्टुतयो वाजयन्त्याजिं न गिर्व वाहो जिग्युरश्वाः॥ सामवेद पूर्वार्चिक आग्नेय काण्ड अध्याय १ खण्ड ७ मंत्र ६।' अर्थ—(अग्ने!) हे

परमैश्वर्य सम्पन्न परमात्मन् ! (त्वत्) आपके (उक्थेभिः) स्तोत्रोंसे (पर्वतस्य पृष्ठतः) पहाड़ परसे (आपः) जल (न) के समान (देवाः) ज्ञानीभक्त लोग (वि) विशेष रूपसे मोक्ष किंवा अन्य फल (जनयन्त) प्राप्त करते हैं, और (गिर्वाह !) हे स्तुतिमात्रसे प्रसन्न होनेवाले परमेश्वर ! (त्वम् त्वा) ऐसे आपको आपके भक्तगण (सुष्टुतयः) परमोत्तम सुन्दर (गिरः) स्तुतियोंके द्वारा ही आपको (वाजयन्ति) बलयुक्त करते अर्थात् जीतते हैं। (न) जैसे (अश्वाः) घोड़ा (आजिम्) युद्धको (जिग्युः।) जीत लेता है अर्थात् वीर उत्तम घोड़ेसे जैसे युद्ध जीतता है ऐसे भक्तगण उत्तम स्तुतियोंसे परमात्माको वशमें कर लेते हैं। साम और ऋग्वेदमें पाठभेदका कारण मंत्रद्रष्टा ऋषियोंकी विभिन्नता है। भावार्थ दोनोंका एक है।

प० प० प्र०—इस अर्धालीमें 'मुकुति निरादर भगति लुभाने' वाले भगद्भक्तोंको ध्वनित किया। वे वैकुंठ साकेत आदि शाश्वत प्रेमरसपूर्ण तालावोंमें जाकर रहते हैं।

**सरिता-जल जलनिधि महुँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई ॥ ८ ॥**

अर्थ—नदीका जल समुद्रमें जाकर अचल (स्थिर) हो जाता है, जैसे जीव हरिको पाकर अचल हो जाता है।८।

टिप्पणी—१ (क) जो जल तालावमें नहीं गया वह आकर नदीमें मिला। तब समुद्रमें नदीका मिलान कहा। (ख) सरिताका प्रसंग—'छुद्र नदी भरि चली तोराई' पर छोड़कर बीचमें भूमि और तालाबके जलका वर्णन करने लगे थे, अब पुनः नदीके जलका प्रसंग उठाते हैं—'सरिताजल....'। (ग) 'सरिता' नाम दिया क्योंकि उसका अर्थ है 'बहा हुआ, बहता हुआ अर्थात् चल'।—'सरति गच्छति इति सरित्'। आगे उसका अचल होना कहनेके सम्बन्धसे यहाँ 'चल' अर्थसूचक नाम दिया। सरिता-जलकी तरह जीव भी चल है, यथा—'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी ॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा।७।४४।४-५।' (घ) 'जलनिधि' का भाव कि जलका अधिष्ठान समुद्र है, इसी तरह समस्त जीवोंका अधिष्ठान ईश्वर है।

२ 'होइ अचल जिमि जिव हरि पाई' इति। (क) यहाँ 'हरि' नाम जीवके क्लेश हरण करनेके संबंध-से दिया। भगवत्प्राप्ति होनेसे जीवका क्लेश दूर होता है। (ख) बड़ी नदीमें बहुतसे नदी-नद आकर बीचमें मिले, पर उसका जल अचल न हुआ; क्योंकि वे सब तो आप ही बह रहे हैं तब दूसरेको अचल कैसे कर सकते हैं ? इसी तरह अनेक देवी-देवताओंकी उपासना करनेसे जीवका भवप्रवाह नहीं मिटता; क्योंकि देवता तो आपही भवप्रवाहमें पड़े हुए हैं। यथा—'भवप्रवाह संतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे।६।१०९।१२।' (देवविनती)। (ग) जल समुद्रसे सूर्यकिरणों द्वारा पृथक् होकर मेघरूप धारणकर वर्षा द्वारा नदीमें आया और उसके द्वारा पुनः समुद्रमें मिलकर स्थिर हुआ। इसी प्रकार जीव (मायाके योगसे) हरिसे पृथक् हुआ और सत्संग द्वारा पुनः हरिको पाकर जन्ममरणसे रहित होता है। [मा० म०—जो जल नदीमें नहीं पड़ा वह जहाँतहाँ रह गया, वैसे ही जो जीव हरिके भेजे हुए महात्माओंकी शरण नहीं गए वे भवप्रवाहमें पड़े रहे। जो गए वे उनके द्वारा हरिको प्राप्तकर दुःखसे छूट गए।—'रामसरूपसिंधु समुहानी।'] (घ)—'हरि पाई' का भाव कि उसको कहीं जाना नहीं पड़ता, ईश्वर अपने हृदयमें विराजमान है। (ङ) यहाँ ज्ञान है।

नोट—१ मुण्डकोपनिषद्में ब्रह्मप्राप्तिमें इसी प्रकारकी श्रुति यह है—'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नाम रूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्। मुण्डक ३ खण्ड २ श्रुति ८।' अर्थात् जिस प्रकार निरंतर बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूपको त्यागकर समुद्रमें अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् लोग नाम-रूपादिसे मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाता है।

परात्पर ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर फिर जीवका आवागमन नहीं होता, उसका अनेक योनियोंमें भ्रमण करना बंद हो जाता है। 'यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः। गीता १५।४।' (जहाँ पहुँचे हुए फिर वापस नहीं लौटते)। यही भाव 'होइ अचल' का है।

सरिताजल समुद्रमें जाकर अचल होता है, इसकी विशेष बातसे समता देना कि जैसे हरिको पाकर जीव अचल हो जाता है, 'उदाहरण अलंकार' है।

प० प० प्र०—इसमें अपरोक्ष साक्षात्कार होनेपर विदेह कैवल्यमुक्ति पानेवाले ज्ञानी महात्माओंको ध्वनित किया है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'।

श्रीनंगे परमहंसजी—बहुधा महाशय लोग इस चौपाईको जीव-ब्रह्मकी तद्रूपतामें उदाहरण दिया करते हैं और कहते हैं कि जैसे सरिताओंका जल समुद्रमें जाकर समुद्रजलवत् हो जाता है वैसेही जीव ब्रह्मको प्राप्त होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। किन्तु इस चौपाईका उदाहरण जीव ब्रह्मकी तद्रूपतामें देना अयोग्य है। क्योंकि मूलमें 'अचल' शब्द है जिसका भाव यह है कि जीव चलसे अचल हो जाता है अर्थात् उसका जन्म मरण छूट जाता है। वैसेही नदीका जल जो चला था अर्थात् बहता था वह स्थिर हो जाता है।

## दोहा—हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहिं नहिं पंथ। जिमि पाषंड बाद तें गुप्त होहिं सदग्रन्थ ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—संकुल = संकीर्ण, भरी हुई, परिपूर्ण। = समूह। वाद (बाद) = तर्कवितर्क, अन्यार्थिकायुक्तियाँ।

अर्थ—घाससे परिपूर्ण पृथ्वी हरी हो गई है (इसीसे) मार्ग नहीं समझ पड़ता। जैसे पाखण्ड विवादसे उत्तम ग्रन्थ गुप्त हो जाते हैं।१४।

टिप्पणी—१ (क) भूमिपर वर्षाका होना कहा, यथा—'भूमि परत भा ढाबर पानी'; अब भूमिके जलका कार्य कहते हैं कि 'हरित भूमि तृन संकुल....'। (ख) 'पाषंड बाद', यथा—'साखी सब्दी दोहरा कहि कहनी उपखान। भगति निरूपहिं कलिभगत निंदहिं बेद पुरान। दो० ५५४।' पाखंडवाद कोई मार्ग नहीं है, किन्तु तृण समान मार्गका भ्रम करनेवाला है। घासके काटनेसे मार्ग खुल जाता है, इसी प्रकार पाखण्डवादके खंडनसे वेदमार्ग खुल जाता है।

☞गोस्वामीजीने वर्षा और शरद् दो ऋतुओंका वर्णन किया है। प्रत्येक ऋतुमें दो मास होते हैं। श्रावण और भाद्रपद वर्षाके महीने हैं, आश्विन और कार्तिक शरद्के दोनों मास हैं। गोस्वामीजीने एक एक दोहेमें एक एक मासका वर्णन किया है। इस दोहेमें यहाँतक श्रावणका वर्णन करके अगले दोहेमें भादोंका वर्णन करते हैं। यहाँ नीति और ज्ञान है।

नोट—१ इस दोहेके भाव निम्न श्लोकोंसे मिलते हैं। श्लोकोंका भावार्थ यह है कि मार्ग तृणसे आच्छादित हो जानेसे संदिग्ध हो गए हैं, यह नहीं जान पड़ता कि किस मार्गसे किधरको जायँ, कौन मार्ग किस स्थानका है एवं मार्ग कहाँपर है, संदेह होनेसे किसी ओर जा नहीं सकते, चलना बंद हो गया। जैसे बहुत काल हो जानेसे वा कलिकालके प्रभावसे ब्राह्मणोंसे न अभ्यस्तकी हुई श्रुतियाँ नष्टभ्रष्ट हो जाती हैं अर्थात् अभ्यास न होनेसे विस्मृत होगईं वा पाखण्ड-विवाद बढ़ गया है इससे संदेह उत्पन्न हो जाता है कि कौन मानी जायँ कौन न मानी जायँ। ठीक वेदमार्ग क्या है यह समझ नहीं पड़ता। गोस्वामीजी 'गुप्त होहिं' लिखते हैं। भाव कि वैराग्य ज्ञान सद्मार्गवाले ग्रन्थोंका ही पता न रह गया, पाखंडी लोग ग्रन्थ रचरचकर उन्हींको सद्ग्रन्थ बताने लगे जिससे भ्रम हो गया कि वस्तुतः कौन सद्ग्रन्थ है कौन नहीं।

मिलानके श्लोक—'मार्गा बभूवुः संदिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः। नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव ॥ भा० १०।२०।१६।', ('जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे।) पाखण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा ॥१०।२०-२३॥' अर्थात् सारे मार्ग वर्षाकालके कारण पहिचाने नहीं जाते, लम्बी-लम्बी घास रास्तोंमें खड़ी होगई, जिस तरह कालक्रमके कारण श्रुतियाँ द्विजोंसे अभ्यास न किये जानेके कारण संदिग्ध हो गई हैं।१६। इन्द्रदेवकी प्रेरणासे मूसलधार वर्षा होनेके कारण सेतु बाँध आदि टूट गए, जैसे कलियुगमें पाखंडियोंके तरह-तरहके मतवादोंसे वैदिक मर्यादा टूट जाती है।

वि० पु० में श्रीपराशरजीने इसका उल्लेख इस प्रकार किया है—'मार्गा बभूवुरस्पष्टास्तृणशष्पचयावृताः। अर्थान्तरमनुप्राप्ताः प्रजडानामिवोक्तयः ।५।६।४३।' अर्थात् महामूर्ख मनुष्योंकी अन्यार्थिका उक्तियोंके समान मार्ग तृण और दूबसमूहसे आच्छादित होकर अस्पष्ट हो गए।—इसके अनुसार 'पाखण्डवाद' से पाखण्डियोंकी 'अन्यार्थिका उक्तियाँ' अभिप्रेत हैं।

प० प० प्र०—पाषंड वाद = पाषण्डयुक्त वाद। 'पालनाच्चत्रयी धर्मः पा शब्देन निगद्यते। तं खण्डयन्ति ते यस्मात्पाखण्डास्तेन हेतुना।' (अमरव्याख्या सुधा)। पा (= सबका पालन करनेवाला त्रयी (वेद) धर्म)+खंड (खण्डन करनेवाले) = पाखंड। अतः वेदधर्मके खण्डन करनेवालोंके वचन ही 'पाषंडवाद' हैं।

प० प० प्र०—'होइ अचल जिमि जिव हरि पाई' के पश्चात् 'जिमि पाखंड वाद....' यह सिद्धान्त कहनेमें भाव यह है कि प्रेमलक्षणा भक्तिकी प्राप्तिसे वैकुण्ठादि लोकोंकी अथवा कैवल्य मोक्षकी प्राप्ति वेदधर्म विरुद्ध व्यवहार करनेसे नहीं होगी। कारण कि पाखण्डवादसे समझ ही न पड़ेगा कि क्या हितकर है और क्या अहितकर। वेदधर्मका यथार्थ पालन करनेसे ही परमार्थ और परमपरमार्थका लाभ होगा, अन्यथा नहीं।

**दादुर धुनि चहुँ दिसा सुहाई। बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई॥ १॥**

**नव पल्लव भये बिटप अनेका। साधक मन जस मिले बिबेका॥ २॥**

अर्थ—चारों ओर मेंढकोंकी सुहावनी ध्वनि भली लगती है मानों ब्रह्मचारियोंके समुदाय (समूह, वृन्द, झुण्ड) वेद पढ़ रहे हैं।१। अनेक (प्रकारके) वृक्ष नवीन पत्तोंसे युक्त हो गए, जैसे साधन करनेवालेके मनमें विवेक प्राप्त हो जाय।२।

### दादुर-ध्वनि और वेद ध्वनि की समता

पं० रामकुमारजी—१ (क) दादुरध्वनिको वेदध्वनिकी उपमा दी; क्योंकि दोनोंकी ध्वनि समान होती है। (ख)—दादुरकी ध्वनिको वेदध्वनिकी उपमा दी, वेदध्वनि सुहावनी होती है इसीसे उसको भी 'सुहाई' विशेषण दिया। (ग)—जहाँ रघुनाथजी बैठे हैं वहाँ चारों ओरसे दादुर ध्वनि सुन पड़ती है, दादुर चारों ओर जलाशयोंके निकट बोल रहे हैं। और, ब्राह्मणभी ग्रामके चारों ओर जलाशयोंके निकट बैठकर श्रावणी किया करते हैं अर्थात् वेद पढ़ते हैं। (घ) दादुरकी बोली सुहावनी लगती है पर समझमें नहीं आती और वेदपाठ सबको सुहावन लगता है पर सर्वसाधारणके समझमें नहीं आता।

मा० म०—मेघके गर्जनको सुनकर दादुर बोलते हैं वैसेही पूर्णवैदिक (वेदज्ञाता) के वाक्य (आह्वान) सुनकर वटुगण जोरसे वेद घोषने लगते हैं।—(यह भाव आगे दिए हुए मिलानके श्लोक ६ के अनुसार कहा गया है)। यहाँ घन और वैदिक, वटुगण और दादुरवृन्द, नभ और ऊँचा स्थान, गरजना और पढ़ाना, शब्द करना और पढ़ना, और, ध्वन्यात्मक और स्वरहीन शब्दके उच्चारणसे एक रूपक है। यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है।

टिप्पणी—१ 'वेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई' इति। (क) सामवेदियोंकी श्रावणी भादोंमें होती है,—'मासि प्रौष्ठपदे ब्रह्म ब्राह्मणानां विवक्षताम्। अयमध्यायसमयः सामगानामुपस्थितः'॥ (वाल्मी० ४।२८।५४) अर्थात् भादोंके महीनेमें वेद पढ़नेवाले सामवेदी ब्राह्मणोंके लिए यह अध्यायका समय है, अर्थात् उपाकरणकाल है। सामवेदका प्रारंभ भादों मासमें होता है।—इसीसे भादोंवाले दोहेमें वेदका पढ़ना लिखते हैं। दोहा १५ की प्रथम चौपाईमें इसे लिखकर इस दोहेभरमें भादोंका वर्णन जनाया। ☞ यहाँ भक्ति ज्ञान है।

वि० त्रि०—यहाँ पावसका वर्णन दो दोहेमें है। पहिलेमें सावनका वर्णन और दूसरेमें भाद्रपदका वर्णन है। अतः 'दादुर धुनि चहुँ दिसा सोहाई' वर्णन सावनमें ही होना चाहिये, उसका वर्णन भाद्रपदके दोहेमें क्यों हो रहा है? ऐसी शंका की जा सकती है—उत्तर यह कि 'दादुर धुनि' तो दोनों महीनोंमें होती है, पर वटु समुदाय सामवेदकी ध्वनि सावनकी तोजको करते हैं, क्योंकि सामवेदियोंकी

श्रावणी उसी दिन पड़ती है। जिस भाँति दादुरगण तालावके किनारे वैठे वैठे ध्वनि करते हैं, उसी भाँति तालावके किनारे तीजके दिन बटु समुदाय श्रावणी करते हुए सामध्वनि करते हैं, स्वरगानका अर्थ नहीं होता, इसीसे उसकी उपमा दादुर ध्वनिसे दी, क्योंकि उसका भी कोई अर्थ नहीं होता।

प० प० प्र०—इस चौपाईमें बताया है कि—(१) ब्रह्मचर्याश्रममें वेदपठन करना चाहिए और उपलक्षणासे सूचित किया कि वेदोक्त वर्णाश्रम धर्मोंका पालन बालपनेसे ही यथाधिकार करना चाहिए। (२) वेदोंका अर्थ न जाननेपर भी केवल पठनसे ही लाभ होगा। (३) इस प्रकार वर्णाश्रम धर्मका पालन करनेसे अन्तमें पूर्ण प्रसन्नता प्राप्त होगी। यथा—'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते। गीता २।६५।'

विटप और साधकमें समता

| | |
|---|---|
| १ वृक्ष ग्रीष्म-तापसे तपे तव वर्षामें नवपल्लवयुक्त हुए।........ | साधक अष्टाङ्गयोगसाधनमें प्रथम क्लेश सहते हैं तव उनको विवेक मिलता है। |
| २ वृक्ष जड़ और अचल........ | साधक क्लेश सहनेमें वृक्षवत् जड़ और अचल। |
| ३ वृक्षमें पल्लव फूट आए.... | साधकके मनमें विवेक आ गया, किसीको सिखाना न पड़ा |
| ४ नवपल्लवका कारण वर्षा | ज्ञानका कारण साधन |

५ मा० म०—साधकका तन वृक्ष; साधन ग्रीष्मऋतु; साधकका श्रम ग्रीष्मका तीक्ष्णघाम; मोहराज-समाज (कामक्रोधादि) पत्ते; साधनसे कामादिका अंतःकरणसे दूर होना पत्तोंका झड़ वा सूख जाना; साधनफलरूपी विवेक (इसीके लिए साधन किया था) पावसजल; साधक दुर्वलसे हृष्टपुष्ट और वृक्षके पत्ते हरे भरे-इस प्रकार इनका एक रूपक है।

अ० दी० (प्रश्न)—'साधकके तनरूपी वृक्षसे पत्तोंका झड़ना कहा और अव पत्तोंका भरना मनमें कहते हैं, यह क्यों?'

उत्तर—'पत्ता ऊपरसे गिर गया पर उसकी जड़ भीतर बनी हुई थी उसीसे फिर पत्ता निकला। इसी प्रकार अष्टाङ्गयोग साधनसे मोहसमाजरूपी ऊपरके पत्ते गिर गए। परंतु उसकी जड़ भीतर बनी हुई है। अर्थात् मनहीमें विवेक और अविवेक दोनों प्रकट होते हैं, अविवेकके स्थान मनमें विवेक प्राप्त होनेसे ऊपर हरे हरे नये पत्तेके सदृश साधकके तनसे सव उत्तम साधन होने लगे।'

नोट—१ ☞ यहाँ ज्ञान कथन हुआ। समानार्थक श्लोक ये हैं—"श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः। तूष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद्ब्राह्मणा नियमात्यये ॥९॥ पीत्वापः पादपाः पद्भिरासन्नानात्ममूर्तयः। प्राक्क्षामाः तपसा श्रान्ता यथा कामानुसेवया ॥२१॥"—(भा० स्कं० १० अ० २०) ॥ अर्थात् प्रथम मौन वैठे हुए मेंढक मेघोंका शब्द सुनकर वोलने लगे जैसे प्रथम चुपचाप बैठे हुए ब्राह्मण विद्यार्थी नित्य नियम समाप्त होनेपर गुरुका आह्वान सुनकर वाणी उच्चारण करने लगते हैं। ग्रीष्मसे तप्त होकर वृक्ष सूख गए थे, वे जड़ों द्वारा जल पानकर नए पत्र पुष्पादिसे अनेक देहरूपवाले हो गए, जैसे तपस्या करनेसे पूर्व दुर्वल इन्द्रियोंसे शिथिल हुए साधक मनोकामनाकी प्राप्तिसे स्थूल देहवाले हो जाते हैं।

वेदान्तभूषणजी—वेदध्वनिको वालकाण्डमें पक्षियोंके कलरवकी उपमा दी गई है—'भवन वेद धुनि अति मृदु बानी। जनु खग मुखर समय जनु सानी ।१।१९५।७।' और यहाँ उसीकी तुलना 'दादुर धुनि' के साथ की गई है। ऐसी विषमता क्यों?

समाधान—ऋग्वेदके परिशिष्टान्तमें वेदपाठकी आठ विकृतियाँ वताई गई हैं—'जटा मालाशिखा रेखा ध्वजो दण्डोरथोघनः। अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः।' इनके और भी सात अवान्तर भेद हैं। पंडितगण जव अपने आश्रयदाताके यहाँ मङ्गल अवसरोंपर वेदध्वनि करते हैं उस समयके लिए ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है कि 'सव उपस्थित विद्वान एक स्वरमें स्वर मिलाकर वेदध्वनि करें। जो जिस शाखाका

पंडित तथा जिस विकृतिका पूर्ण अभ्यस्त होता है वह उस शाखाके तात्कालिक माङ्गलिक मंत्रोंको यथावसर स्व-अभ्यस्त ध्वनि में उच्चारण करता है। उस समय सभी विद्वानोंका विभिन्न शब्द इस तरह एकमें सन उठता है कि अलगसे सुननेवालोंको शब्द कलरवके अतिरिक्त और कुछ नहीं मालूम पड़ता। न तो उस समय शब्दविन्यास अलग किया जा सकता है और न स्वर प्रभेद ही। अतएव श्रीरामजन्मोत्सवके आनंदमें श्रीदशरथजी महाराजके अजिरमें अनेक विद्वानोंकी जो अलग-अलग १५ प्रकारसे एक साथ ही वेदध्वनि हो रही है उसको प्रातः सायंकालमें एक स्थानमें एकत्रित हुए अनेकानेक पक्षियोंके फुदुक-फुदुककर कलरव करनेके समान कहा गया।

वटु=विद्यार्थी। जब अध्यापक वटु-समुदायको वेदाध्ययन कराता है तब प्रत्येक श्रेणीके विद्यार्थीको अलग-अलग पाठ दिया जाता है। उस समय प्रथम तो अध्यापक स्वयं उच्चारण करके बताता है, पश्चात् सभी छात्र वटु एक स्वरसे उसी ध्वनिमें उसकी असकृदावृत्ति करते हैं। वेदोंमें इसी कारण अध्ययन कालीन वेदके विद्यार्थियों एवं उनके अध्यापकोंकी ध्वनि एवं शैली आदिकी बरसाती मण्डूकोंकी ध्वनिसे तुलना की गई है। दो एक मंत्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

(क) 'सम्वत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वाचं पर्जन्य जिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः। ऋग्वेद ७।१०३।१, अथर्व ४।१५।१३, नि० ९।६।' भावार्थ यह है कि व्रताचरण करनेवाले ब्राह्मण एक वर्षतक चलनेवाले सत्रमें व्रतस्थ होकर मौन धारण करके सोये हुये-के समान चुपचाप रहते हैं। वर्ष-समाप्तिके पश्चात् वैदिक स्तोत्र वैष्णवी सूक्तोंका पाठ करने लगते हैं। इसी प्रकार मेंढक अपने-अपने स्थानोंमें वर्षभर चुपचाप रहते हैं और वृष्टिके प्रारंभ होते ही मेघोंको प्रसन्न करनेवाली वाणी बोलने लगते हैं।

(ख) 'दिव्या आपो अभिपदेनमापन् दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम् गवामह न मायुर्वत्सिनी नां मण्डूकानां वाग्नुरत्रा समेति। ऋग् ७।१०३।२।'

(ग) 'यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः। सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत् सुवाचो वदथनाध्यप्सु। ऋग् ७।१०३।५।—' भावार्थ यह है कि वर्षा होनेपर मेंढक आनन्दमग्न होकर एक दूसरेके साथ मिलकर शब्द करते हुए ऐसे जान पड़ते हैं कि गुरु वेदमंत्र कहता है और शिष्यगण गुरुकथित उस ऋचाको बारंबार रट रहे हैं।

(घ) 'गोमायुरेको अजमायुरेकः पृश्निरेको हरित एक एषाम्। समानं नाम बिभ्रतो विरूपाः पुरुत्रा वाचं पिपिशुर्वदन्तः। ऋग् ७।१०३।६।'—इस मंत्रमें बताया है कि मेंढक विभिन्न रंगोंके और भिन्न भिन्न शब्द करनेवाले होते हैं पर नाम सबका एक है (वेदपाठकी अष्ट विकृतियाँ ऐसेही मेंढकोंके विभिन्न स्वर प्रतीत होते हैं)।

मध्य प्रावृटकालमें श्रावणी उपाकर्मके समय वटुओंकी वेदवेदाङ्ग ध्वनियाँ होती हैं। दादुर और वटु दोनोंकी तुलना उपर्युक्त वेदमंत्रोंमें देखी जा चुकी है। और 'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी', 'यस्य निःश्वसिता वेदाः।', साक्षात् वही ब्रह्म श्रीरामजी किष्किन्धामें अपनी वेद वाणीको दुहरा रहे हैं (श्रीरामचरितमानसकार तो उनके कथनका अनुवाद मात्र कर रहे हैं), इसीलिये यह कथन ब्रह्मवाक्य वेदमें विस्तारसे मिलता है। जिन्होंने वेदार्थ नहीं पढ़ा है वे ही ध्वनिको निरर्थक कहनेका दुःसाहस करते हैं।

'मण्डूककी उपमा क्यों दी गई?' मण्डयति भूषयति जलाशयमिति मण्डि (शलि मण्डिभ्यामूकण्। उणादि।४।४२)। 'सुन्दररूपसे भूषित करना' अर्थवाली धातु 'मण्ड' से ऊकण् प्रत्यय लगकर 'मण्डूक' शब्द बनता है। मण्डूक=सुभूषित करनेवाला। मण्डूकसे तालाबोंकी शोभा है। और, वेदज्ञ ब्राह्मण सभाको भूषित करता है। इसीसे श्रुतिने मण्डूकके लिये ब्राह्मणकी उपमा दी।

अर्क जवास पात बिनु भयऊ। जस सुराज खल उद्यम गयऊ॥३॥
खोजत कतहुँ मिलइ नहिं धूरी। करइ क्रोध जिमि धरमहि दूरी॥४॥

अर्थ—मदार और जवासा बिना पत्तेके हो गए जैसे सुन्दर राज्य एवं स्वराज्यमें खलका उद्यम (व्यापार, धंधा) जाता रहा।३। धूल कहीं ढूँढ़नेसे नहीं मिलती, जैसे क्रोध धर्मको दूर कर देता है (क्रोध करनेसे धर्मका पता भी नहीं रह जाता)।४।†

'जस सुराज खल उद्यम गयऊ' इति।

१—(क) ग्रीष्म ऋतुमें जब कि अन्य पौधे बिना पत्तेके हो गए तब अर्क और जवासमें पत्ते बने रहे और वर्षा ऋतुमें जब सब वृक्ष पल्लवयुक्त हुए तब ये दोनों पल्लवहीन हुए। इसी तरह कुराज्य (वा, परतंत्रराज्य) में जब सब लोग दुःखी होते हैं तब खल सुखी होते हैं और सुराज वा स्वराज्यमें जब सब सुखी रहते हैं तब खल दुःखी होते हैं। यहाँ ग्रीष्म कुराज और वर्षा सुराज है। [पर 'पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥' के अनुसार यहाँ ग्रीष्मकी जगह शिशिर चाहिए। (प०प०प्र०)। मेरी समझमें ग्रीष्मभी ठीक है। ग्रीष्ममें उसके पत्ते झड़ते नहीं; वर्षामें नहीं रह जाते, फिर शिशिरमें वह पुनः पल्लवयुक्त हो जाते हैं] (ख) मदारके पत्ते बड़े होते हैं और जवासके छोटे। यहाँ दोनोंको एक खलकी उपमा देकर जनाया कि खलके छोटे बड़े सभी उद्यम नष्ट हो जाते हैं। पुनः, (ग)—'पात बिनु भयऊ' पद देकर यह समता दिखायी कि जैसे मदार और जवास वर्षामें बने रहते हैं केवल पत्रहीन हो जाते हैं, वैसेही सुराज्यमें खल बने रहते हैं पर उनका उद्यम नहीं रह जाता। पुनः, (घ)—सब वृक्ष साधु हैं, अर्क और जवास खल हैं। अर्क और जवासके नाम दिए पर अन्य वृक्षोंके नाम नहीं दिए। कारण यह कि पल्लवयुक्त वृक्ष बहुत हैं उनको कहाँ तक गिनाते, इससे इनको 'अनेक' कह दिया, यथा—'नव पल्लव भए बिटप अनेका'। और जो पल्लवरहित हुए वे दोही हैं, जो प्रसिद्ध हैं, अतः इनके नाम दे दिए। (यहाँ 'तृतीय उल्लास' है)।※

२—सुराज्यमें प्रायः सब सज्जनही होते हैं। 'यथा राजा तथा प्रजा' प्रसिद्धही है। वहाँ जो दो एक दुष्टात्मा होते हैं उन्हें सब जान लेते हैं; वे नक्कू हो जाते हैं, इसीसे उनका पुरुषार्थ नहीं चल सकता। सब उनको जानते हैं, अतः कविने उनका नाम दिया।

टिप्पणी—१ 'करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी' इति।—भाव कि वेद पुराणमें ढूँढो कि क्रोध करनेसे धर्म रहता है तो कहीं न मिलेगा। २—धर्मको धूरि कहनेका भाव कि—(क) जैसे धूरि सूक्ष्म वैसेही धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म होती है। (ख) धूरि बहुत वैसेही धर्म बहुत। (ग) वर्षा होनेसे धूरिका नाश और क्रोध होनेसे धर्मका नाश है। (घ) जहाँ पानी नहीं पड़ता वहाँ धूलि है, जहाँ क्रोध नहीं वहाँ धर्म है। ३—'धर्महि दूरी' का भाव यह है कि क्रोधी धर्म करता है, पर धर्म ही उसके निकट नहीं आता। तात्पर्य कि क्रोध करके जो धर्म किया जाता है उसमें धर्म नहीं होता। वे सब व्यर्थ हो जाते हैं। यथा 'तामस धर्म करहिं नर जप तप व्रत मख दान। देव न बरषहिं धरनी बए न जामहिं धान।७।१०१।' क्रोध पापका मूल है, इसीसे धर्म पापसे दूर भागता है। ☞यहाँ नीति और ज्ञान है। 'जस सुराज खल उद्यम गयऊ' में नीति है।

प० प० प्र०—१ 'पाखंडी हरिपद बिमुख जानहिं झूठ न साँच' ऐसे खलोंका उद्यम जबतक चलता है तबतक वेदधर्मका पालन और प्रसार असंभव सा है। अतः कहते हैं कि राजा धर्मशील हो तब

---

† मा० म०—१ अर्क अर्थात् सूर्यके आठवें नक्षत्र पुष्यगत होनेसे जवासा जल गया। खल उद्यम पत्ते हैं जो जल गए। पुनः, शिशिररूपी कुराज्यमें प्रकट होते हैं। अथवा अकवन और हिन्गुआ दोनों पावसमें नाश हो गए जैसे भूपरूपी मेघके नीतिरूपी जलसे खलरूपी जवास पत्रहीन हो जाते हैं।

※ यथा विष्णुपुराणे—'बभूवुर्निश्छदा वृक्षा अर्कयावासकास्तथा। सुराज्ये तु यथा राजन् न चलन्ति खलोद्यमाः॥' अर्थात्—सब वृक्ष, आकड़ा और जवासा वगैरह पत्तोंसे रहित हो गए। जिस प्रकार सुराज्यमें खल पुरुष उद्यम रहित हो जाते हैं। ☞यह श्लोक प्र० सं० में दिया गया था पर यह वि० पु० में नहीं है, पं० श्रीकान्तशरणने इसे भी नकल कर दिया है। इसीसे इस संस्करणमें बना रहने दिया गया।

यह शक्य है अन्यथा नहीं। सुराजका लक्षण देते हैं कि राजा कामक्रोधादि-विकार-रहित हो। २—धर्मको धूलकी उपमा देनेमें केवल एक गुणकी ही समानता दर्शित की है। धूल नीच है और अधर्मी कृतघ्न है, यथा—'लातहु मारे चढ़ति सिर नीच को धूरि समान। २।२२६।', 'रज मग परी निरादर रहई। सब कर पद प्रहार नित सहई। मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई। पुनि नृप नयन किरीटन्हि परई॥ सुनु खगपति अस समुझि प्रसंगा। बुध नहिं करहिं अधम कर संगा।'—तब धर्मको ऐसे नीचकी उपमा, ऐसी विषमोपमा, क्यों दी गई ? उत्तर—इसमें श्रीरामजीके विचारोंका प्रतिबिंब निहित है। श्रीजानकीजीके विरहसे श्रीरामजीका मन व्याप्त है। रावणका विनाश किस तरह होगा इसका चिन्तन चल रहा है। 'काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धरम बल बुद्धि बिचारा।' क्रोधानलसे जब रावणका धर्म दूर हो जायगा तभी उसका नाश होगा। यह विचार प्रभारी था और हुआ भी ऐसा ही। यथा 'रावन क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड।' विभीषणका त्याग करते ही रावण 'भयउ बिभव बिनु तबहिं अभागा।' इस प्रकार रावणके धर्म (पुण्य) का विनाश होनेपर ही सेतुबंधनादि रावण-विनाश-कार्यका आरंभ हुआ। ३—खल रावणका कुराज्य नष्ट होनेपर साधु विभीषणका राज्य होनेपर निशाचररूपी खलोंका उद्यम न चलेगा, यह भाव भी है।

मा० म०—'मिलइ नहिं धूरी।....' में भाव यह है कि धूलि कीचड़ हो गई, वैसे ही क्रोधसे धर्म सूख (?) जाता है और क्रोध धर्म अर्थात् तामस धर्म बढ़ जाता है। तात्पर्य कि हृदयरूप तामस भूमिपर मनरूपी आकाशसे जब क्रोधरूपी नीर पड़ा तो धर्मरूपी धूलि अब (अनीति अविवेक) रूपी पंक हो गया।

प्र०—धूलि कहीं नहीं मिलती क्योंकि वर्षा होनेसे कुपथ (अधर्म) रूपी पंक बढ़ा। जैसे क्रोध धर्मको दूर कर देता है अर्थात् क्रोधसे अविवेक और अनीतिकी बाढ़ होती है।

**ससि संपन्न सोह महि कैसी। उपकारी कै संपति जैसी॥ ५॥**
**निसि तम घन खद्योत बिराजा। जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा॥ ६॥**

शब्दार्थ—ससि (सं० शस्य)=अनाज, अन्न, खेती। संपन्न=परिपूर्ण=भरेपूरे। विराजना=विशेष शोभित होना।

अर्थ—अन्नसे सम्पन्न पृथ्वी कैसी शोभित हो रही है जैसी परोपकारीकी संपत्ति (सोहती है)।५। रात्रिमें अंधकार और बादल होनेसे जुगुनू प्रकाशित एवं शोभित हैं मानों दंभियों (पाखण्डियों) का समाज आ जुटा है।६।

नोट—१ इन चौपाइयोंसे मिलते हुए श्लोक ये हैं—'क्षेत्राणि सस्यसंपद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः। धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम्।१२। निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः। यथा पापेन पाखण्डा नहि वेदाः कलौ युगे।८। भा० १०।२०।' अर्थात् सब खेत धान्योंसे भरे पूरे लहलहा रहे थे। हरे-भरे खेत किसानोंको आनन्दित करते थे—और (धान्यके संग्रह करनेवाले व्यापारी) धनियोंको दुःख देते थे—जो धनी बेवकूफ थे, यह न जानते थे कि सब कुछ दैवाधीन होता है, सब दिन एकसे नहीं होते, न जाने कब भाग्य पलटा खा जाय। निशाके प्रारम्भके घोर अन्धकारमें अँधेरेके कारण ग्रह (तारागण) नहीं चमकते थे। जुगुनू चमकते हैं। जैसे पापके कारण पाखण्ड मत कलिमें चमकते हैं, प्रतिष्ठा पाते हैं, पर वेद या वेदज्ञ वा वैदिक संप्रदाय (प्रकाश नहीं करते। लुप्त हो जाते हैं)।

नोट—२ खेतीसे पृथ्वी शोभित है। इसमें खेती पृथ्वीकी संपत्ति है। इस प्रकार 'ससि संपन्न सोह महि' में संपत्तिकी उपकारीसे शोभा कही गई। अन्य प्रसंगोंमें पृथ्वी 'उपकारी' है, यथा—'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी।' परन्तु प्रस्तुत उदाहरणमें 'उपकारीकी संपत्ति जैसी शोभित हो' ऐसा कहते हैं अर्थात् इसमें उपकारीसे संपत्तिकी शोभा कही। ऐसा कहकर कवि जनाते हैं कि संपत्तिसे

उपकारीकी शोभा है और उपकारीसे संपत्तिकी। संपत्ति हो और उपकारमें न लगे तो अशोभित है और उपकारी हो, पर पास संपत्ति न हो तो उपकारी होनेसे ही क्या लाभ? इससे अन्योन्य शोभा दिखाई। यथा—'मणिनावलयं वलयेन मणि मणिना वलयेन विभाति करः, पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः। शशिना च निशा निशया च शशिः शशिना निशया च विभाति नभः, भवता च सभा सभया च भवान् भवता सभया च विभाम वयम्॥' (वैवाहिक पद्य पंचाशिका वरपक्षे श्लोक ८)। परन्तु प्रस्तुत प्रकरणमें पृथ्वी और सम्पत्ति समान लिंगमें होनेसे दोनोंमें दार्ष्टान्त और दृष्टान्तका भाव है।

टिप्पणी—१ 'उपकारी' कहनेका भाव कि—खेतीसे अनेक जीवोंका उपकार होता है। ऐसे ही उपकारीकी संपत्तिसे बहुत जीवोंका उपकार है। २—खेतीसे पृथ्वीका कुछ उपकार नहीं, केवल शोभा है; ऐसे ही उपकारीकी संपत्तिसे सबका उपकार होता है पर उपकारी अपने उपकारमें नहीं लाता।

प० प० प्र०—धर्मशील राजाके राज्यमें कैसी स्थिति होती है यह यहाँ कहते हैं। 'सुजलां सुफलां सस्य स्यामलां' महि ही सु-राजा (उपकारी) की संपत्ति है। जिस राजाकी महि शशिसंपन्न नहीं है, उसे समझना चाहिए कि वह धर्मशील नहीं है। 'ससि संपन्न सदा रह धरनी' ऐसा रामराज्यका वर्णन है। 'भूप प्रतापभानु बल पाई। कामधेनु भइ भूमि सुहाई।' यह धर्मशील भानुप्रताप राजाके समयका वर्णन है। कुराज्यके लक्षण हैं—'द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन।' जब ऐसी स्थिति हो जाती है, तब 'देव न बरषहिं धरनी, बए न जामहिं धान। ७।१०१।'

टिप्पणी—३ (क) 'निसि तम' का भाव कि रात्रिके अंधकारमें जुगुनू सोहते हैं, दिनके अंधकारमें नहीं सोहते, यद्यपि दिनमें भी अँधेरा होता है, यथा—'कबहुँ दिवस महँ निबिड तम'। (ख) 'बिराजा' का भाव कि रात्रिके अँधेरेमें जुगुनू 'राजते' हैं और मेघोंके होनेसे विशेष राजते हैं। (ग) 'घन' कहकर जनाया कि आकाशमें जब चन्द्रमा वा तारागण कोई नहीं प्रकाश करते तब खद्योत प्रकाश करते हैं। ऐसे ही जहाँ कोई विद्वान् वेदपुराण शास्त्रका प्रकाश करनेवाला नहीं है वहाँ दंभी दंभकी बातें कहकर अपना-अपना प्रकाश अँधेरेमें दिखाते हैं।—(प्र०—परन्तु जैसे खद्योत-समाजसे अंधकार दूर नहीं होता, वैसे ही दंभी अपने चमत्कारसे अज्ञानतमको दूर नहीं कर सकते।)

नोट—३ इसका भाव भागवतके श्लोकसे यह निकलता है कि बादल और वर्षाके अंधकारसे आकाश छाया हुआ है, कोई ग्रह नक्षत्र नहीं देख पड़ते तब जुगुनू चमकते हैं। ऐसे ही कलिमें पापके छाजानेसे वेदादिका प्रकाश नहीं देख पड़ता, दंभी पाखंडी और उनका दंभ सर्वत्र चमचम होता है।

प० प० प्र०—'निसि तम....' इति। सुराजाके अभावमें क्या होता है यह यहाँ बताते हैं। 'निशि' से सूचित किया कि राजाका प्रतापरूपी भानु नहीं है। 'निशितम' से जनाया कि राजाके अधिकारी, न्यायाधीश, संरक्षक दल (पुलीस) रूपो चन्द्र और तारागण भी धर्मशीलतारूपी प्रकाशसे रहित हैं। जब राजा और उसके अधिकारी दोनों ही धर्महीन प्रभुपदविमुख होते हैं तब राष्ट्रमें, समाजमें दंभी पाखण्डी लोगोंका समाज बढ़ता है और उनके विचाररूपी प्रकाशपर ही बहुजन समाज चलता है। राजाका प्रतापरूपी भानु तथा राजसत्ताका सुधाकर प्रकाशहीन हो गए; अतः संतरूपी सरोज विकसित नहीं होते।

**महावृष्टि चलि फूटि किआरी। जिमि सुतंत्र भये बिगरहिं नारी॥ ७॥**
**कृषी निरावहिं चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिं मोह मद माना॥ ८॥**

शब्दार्थ—कियारी—खेतोंमें थोड़े-थोड़े अंतरपर दो पतले मेड़ोंके बीचकी भूमि जिसमें बीज बोये जाते हैं (मेंड़ सहित) उस भूमिको क्यारी कहते हैं। निराना=फसलके पौधोंके आसपास उगी हुई घास आदिको खोदकर दूर करना जिसमें पौधोंकी बाढ़ न रुके।=निकालना।

अर्थ—महावृष्टि (वर्षाकी बहुत बड़ी झड़ी) से क्यारियाँ फूट चलीं, जैसे स्वतंत्र होनेसे स्त्रियाँ

बिगड जाती हैं।७। चतुर किसान खेतीको निराते हैं (घास तृण निकाल फेंकते हैं); जैसे पंडित लोग मोह-मद-मानका त्याग करते हैं।८।

नोट—१ 'चलि फूटि' अर्थात् फूटकर बह जाती है, ठिकाने नहीं रहती। ऐसेही स्त्री स्वतंत्र होनेसे बिगड़कर बह जाती है। नारी कियारीके समान है, स्वतंत्रता महावृष्टिके समान है।—यहाँ नीति है। (पं० रा० कु०)। मानस प्रचारक श्रीरामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि 'यहाँ क्यारियाँ मर्यादा हैं और स्वतन्त्रता जल है। अधिक स्वतंत्रता होनेसे स्वेच्छाचारिणी होकर स्त्रियाँ मर्यादा छोड़ देती हैं जैसे अधिक वृष्टिसे क्यारियोंका जल दूसरे खेतोंमें चला जाता है।' (पर मानसमें 'स्वतंत्रता' को ही महावृष्टि कहा है न कि अधिक स्वतंत्रताको)। अतः स्त्रियोंके लिये उपदेश है कि वे अपने पति, पुत्र, भाई या इनके न होनेपर अपने कुलके किसी उत्तम पुरुषके आज्ञानुकूल अपना जीवन व्यतीत करें। (रा० प्र० श०)। हितोपदेशमें भी कहा है—'पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति।' अर्थात् बचपनमें पिता, जवानीमें पति, बुढ़ापेमें पुत्र, इस प्रकार प्रत्येक अवस्थामें स्त्रीकी रक्षा देखरेख होनी चाहिए। स्त्रियाँ स्वतन्त्रता, उच्छृङ्खलताके योग्य नहीं हैं। मयङ्ककारका मत है कि स्त्रीका पातिव्रत्य धर्मही मानों पुल है जिसके दृढ़ होनेकी सम्भावनासे पति घरमें निःसोच सोता है। वह समझता है कि यह धर्म नहीं खोवेगी, इसलिये कहीं आने जानेसे नहीं रोकता। परन्तु युवारूपी पापीके बलसे प्रीति करके स्त्री बिगड़ जाती है। कामी परदाराको ताकनेवाले पतिकी असावधानताका लाभ उठाकर उसका पातिव्रत्य नष्ट कर देते हैं।

भा० १०।२० में 'महावृष्टि चलि फूटि कियारी' की जोड़में 'जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे ।२३।' यह अर्धश्लोक है। और 'जिमि सुतंत्र भये बिगरहिं नारी' की जोड़का 'स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव ।।१७।' यह अर्धश्लोक है। मदन पारिजातमें यह श्लोक कहा जाता है—'अस्वतंत्राःस्त्रियः कार्याः पुरुषैश्च दिवानिशम्। नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः।। सुरूपं वा कुरूपं वा पुमानित्येव भुंजते' ।। अर्थात्—स्त्रियोंको स्वतन्त्र नहीं छोड़ना चाहिए—रातदिन इनपर निगाह रखनी चाहिए। मनुष्य सुरूप है या कुरूप यह इनमें विवेक नहीं होता, न अवस्थाका ही ख्याल होता है, किन्तु 'यह मनुष्य स्त्री नहीं' बस उतने मात्रसे धर्मच्युत हो जाती है—स्वयं पतित हो जाती हैं। इसीसे हितोपदेशमें उपर्युक्त उपदेश कहा है—

टिप्पणी—२ 'कृषी निरावहिं चतुर....' इति। (क) 'चतुर' विशेषण दिया क्योंकि तृणको निकालकर खेतीकी रक्षा करते हैं, यही किसानकी चतुरता है। (ख) मोह मद मान-तृण हैं। इनको हृदयसे निकालकर भक्तिरूपी कृषिकी रक्षा करना बुद्धिमानकी चतुरता है। मोहमदमानको त्यागकर भजन करना चाहिए, यथा—'परिहरि मान मोह मद भजहु कोसलाधीस ।५।४०।' (ग) 'बुध' का भाव कि मोह मद मानका त्याग बुधही कर सकते हैं अबुध नहीं; यथा—'पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी। मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी ।।' ☞यहाँ ज्ञान है।*

रा० प्र० श०—तृण बोया नहीं जाता, स्वयं उत्पन्न हो जाता है। वैसेही पाठशालाओंमें तो अनेक प्रकारकी लोकपरलोकहितकारी विद्याही पढ़ाई जाती है, चोरीचमारी नहीं; पर प्रकृत-शरीरमें उनके न सिखाए जानेपर भी अनेक दुर्गुण स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। पंडितलोग इन्हें धीरे-धीरे त्याग कर देते हैं, नहीं तो वे उत्तम गुणोंको दबा दें जैसे तृण गेहूँ आदि अन्नको दबा देता है।

मा० म०—चतुर किसान इस कारण खेती निराते हैं कि उपज अच्छी होगी तो धनीका ऋण

* प्रथम संस्करणमें हमने 'कृषिं संस्कृत्य शुन्धन्ति पटीयांसः कृषीवलाः। यथा कामादिकं त्यक्त्वा बुधाश्चित्तं पुनन्ति च।' यह श्लोक विष्णुपुराणका कहकर दिया था। परन्तु यह श्लोक वि० पु० में नहीं मिला। पं० श्रीकान्तशरणजीने इस श्लोकको सि० ति० में उतार दिया है। अतः हमें इस संस्करण में इस आलोचनाके साथ देना पड़ा।

और पोन दिया जायगा, भूषणादि बनेंगे, पेट भी भरेगा और व्याह इत्यादि भी भली भाँति होंगे। यहाँ बुध किसान, हृदय खेत, और मोहादि तृण हैं; गुरु धनी है, गुरुका उपदेश पोत है और अन्नका विक्रय रामपंचांगका बोध है।

प० प० प्र०—सुराज्यमें राजाको धर्मरक्षणमें कैसा सावधान रहना चाहिए यह यहाँ बताते हैं। जब नारिवर्गेही बिगड़कर अधर्मप्रवाहमें बहता है तब राष्ट्रमें धर्मका नाश होता है। 'अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः' ये छः खेतीके तथा राष्ट्रके विप्लव होते हैं, (इनको ईति कहते हैं)। यथा—'ईति भीति जस पाकत साली।', 'ईति भीति जनु प्रजा दुखारी।२।२३५।३।' 'चतुर किसान' का उल्लेख ध्वनित करता है कि धर्मशील राजाको भी नीतिमें निपुण होना चाहिए। यथा—'माली भानु किसान सम नीति निपुन नरपाल। दो० ४०७।' और मोह-मद-मान-विहीन बुद्धिमान भी होना चाहिए, नहीं तो खलोंके उद्यम न टलेंगे।

**देखिअत चक्रबाक खग नाहीं। कलिहि पाइ जिमि धर्म पराहीं ॥ ९ ॥**

**ऊसर बरषै तृन नहिं जामा। जिमि हरिजन हिय उपज न कामा ॥१०॥**

अर्थ—चक्रवाक पक्षी नहीं देख पड़ते जैसे कलिको पाकर धर्म भाग जाते हैं।९। ऊसरमें वर्षा होती है पर तृण नहीं जमता, जैसे भगवद्भक्तके हृदयमें काम नहीं उत्पन्न होता।१०।

टिप्पणी—१ 'देखियत चक्रवाक खग नाहीं।०' इति। अर्थात् वे कहीं रहते हैं पर दिखाई नहीं देते। वे भागकर मानसरोवरपर चले गए, यथा—'संप्रस्थिता मानसवासलुब्धाः प्रियान्विताः संप्रति चक्रवाकाः।' वाल्मी० २८।१६।' अर्थात् मानस-सरमें रहनेके लोभी चक्रवाकोंने अपनी स्त्रियों सहित प्रस्थान किया। इसी प्रकार कलिको पाकर लोगोंमें धर्म दिखाई नहीं देता, पुस्तकोंमें लिखा रहता है, यथा—'सकल धर्म बिपरीत कलि कलपित कोटि कुपंथ। पुन्य पराइ पहार नग दुरे पुरान सदग्रंथ। दो० ५५६।' 'धर्म पराहीं' इति। धर्म वृषभरूप है, कलियुग कसाई है। इसीसे कलिको देखकर धर्मका भागना कहा। यथा—'कासी कामधेनु कलि कुहत कसाई है। क० ७।१८१।' यहाँ नीति है।

नोट १—१५ (४) में कहा था कि 'करै क्रोध जिमि धर्महि दूरी' और यहाँ कहते हैं कि 'धर्म पराहीं।' भाव यह है कि क्रोध धर्मको भगाता है और कलिको देखकर धर्म स्वयं भागते हैं, इसीसे वहाँ 'करै दूरी' कहा और यहाँ 'पराहीं'। क्रोधमें मनुष्य अपने सामने दूसरेको रहने नहीं देना चाहता जैसे परशुरामने कहा है—'बेगि करहु किन आँखिन्ह ओटा'।

प० प० प्र०—कलि अधर्ममूल है। अधर्मीराज्यमें धर्म रहता ही नहीं, इसीसे 'सुख संतोष बिराग बिबेका।....ए कोक अनेका।' शोकके भयसे भाग जाते हैं। इस अर्धालीमें कलिप्रतापका वर्णन है।

नोट—२ मयंककार 'चक्रवाक' और 'खग' ऐसा अर्थ करते हैं। उन्होंने खगसे खंजन पक्षीका अर्थ किया है। परन्तु 'खग' से केवल खंजनका अर्थ मानसमें कहीं नहीं आया। 'खग' शब्दको अलग लेनेसे विरोध भी होता है, क्योंकि वर्षाकालमें सब पक्षी भाग नहीं जाते। चक्रवाकका मानसमें जाना वाल्मीकि एवं हिंदी कवियोंने भी लिखा है। (दोहा)—'प्यारी जुत चकवा गए लोभी मानस वास। वर्षा-सलिल बिलोकि कै हिय विश्राम न आस॥' पुनः, कवित्त यथा—'जैसे फल झरेको विहंग छाँड़ि देत रूख सुवा देखि सुवा छोड़ै सेमरकी डार को। सुमन सुगंध बिनु जैसे अलि छाँड़ि देत मोती नर छाँड़ि देत जैसे आबदार को॥ जैसे सूखे तालको कुरंग छाँड़ि देत मग शिवदास चित्त फाटे छाँड़ि देत यार को। जैसे चक्रवाक देस छाँड़ि देत पावसमें तैसे कवि छाँड़ि देत ठाकुर लबार को॥'—(प्र०)। परन्तु कुछ लोगोंका अनुभव है कि चकवा-चकवीका कहीं कहीं पावसमें होना पाया जाता है, इसलिए वे यों अर्थ करते हैं कि 'चक्रवाक दिखाई देता है, खग अर्थात् हंस नहीं दिखाई देता।' किन्तु मानसका यह मत नहीं है। उसका मत वाल्मी० के अनु-सार है। यह वर्षाका वर्णन प्रवर्षणपर्वतपरका है यह भी ध्यान रहे और त्रेतायुगका है।

टिप्पणी—२ 'ऊसर बरषै तृन नहिं जामा ।०' इति । (क) तृणकी उत्पत्तिका हेतु वर्षा है, अतः हरिजनके हृदयमें काम होनेका भी हेतु होना चाहिए । वह हेतु है-'अनेक उत्तम उत्तम पदार्थके भोजन' । पर तो भी इनके हृदयमें काम उत्पन्न नहीं हो पाता । (ख) सब पृथ्वीपर तृण जमता है पर ऊसरपर नहीं जमता । ऐसे ही सबके हृदयमें काम उत्पन्न होता है, पर हरिभक्तके हृदयमें नहीं उत्पन्न होना । इसका क्या कारण है, यह 'हरिजन' पदमें जना दिया है । अर्थात् ये तो हरिके जन हैं, इनकी रक्षा 'हरि' करते हैं । हरिसे काम डरता है । हरि सिंह हैं, काम हाथी है, यथा-'कंदर्प नाग मृगपति मुरारि । वि० ६४ ।' यहाँ हरि शब्द श्लेष है, सिंह और भगवान् दोनोंका वाचक है । ☞यहाँ ज्ञान है ।

प्र०—'हरिजन' पदसे जनाया कि इनके हृदयमें हरि हैं, इससे कामादि वहाँ नहीं जा सकते; यथा-'तब लगि हृदय बसत खल नाना । लोभ मोह मत्सर मद माना । जब लगि उर न बसत रघुनाथा । धरे चाप सायक कटि भाथा ॥' वे हरि हैं, अतएव उनके सब दुःखोंको हरण करनेवाले हैं । और प्रभुकी प्रतिज्ञा ही है कि-'बालकसुत सम दास अमानी॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी । जिमि बालक राखै महतारी ३।४३।८,५।'

रा० प्र० श०—भक्तोंके उत्तम भोजन पानेपर किसीने आक्षेप किया हैं । यथा—'साग पात जे खात हैं तिन्हें सतावत काम । हलवा पूरी जो चखैं तिन की जानै राम ।' गोस्वामीजीने उसका उत्तर भी यहाँ दे दिया है । भगवत्जन भगवत्प्रसाद ही पाते हैं, अनर्पित नहीं पाते । इसीसे उनमें विकार नहीं होता (और जो हलुवापूरी समझकर पाते हैं, उनमें विकार उत्पन्न हो जाता है) । भगवान् और भगवत् चरित्र दोनों अभेद हैं । 'कंदर्पनाग मृगपतिमुरारि' यह भगवान्के प्रति कहा है और 'काम कोह कलिमल करिगन के । केहरिसावक जनमन वन के' यह चरितके विषयमें कहा गया है । भाव यह कि वे भगवान् या भगवत्-चरितका ही मनन किया करते हैं, इससे उनके हृदयमें कामादिसे विघ्न नहीं होता ।

अ० दी० च०—ऊसर पृथ्वी बहुत अधिक रेहमयी होती है, इसीसे वर्षाजल उसपर निष्फल जाता है, उसपर घास आदि नहीं जमती । उसी प्रकार भगवद्भक्तोंके हृदय श्रीरामपंचाङ्ग (नाम, रूप, लीला, धाम और धारणा) रूपी रेहमय होते हैं, भोगरूपी वर्षाजलसे उनमें कामादि तृण नहीं उत्पन्न हो पाते । भगवतप्रसाद भोजन, भगवतप्रसाद माला अतर आदि धारण, भगवतोत्सवोंमें भगवतसंबंधी गीत श्रवण करने तथा नृत्यादि देखनेसे हृदयमें काम उत्पन्न नहीं होता ।

नोट—३ 'हरिजन' शब्दसे जनाया कि ये 'जन' हैं, इन्हें सदा भगवान्का बल-भरोसा है; यथा—'जनहिं मोर बल' । ये अमानी दास हैं । ये प्रभुकी कृपासे विषयोंको छोड़कर उनमें निःस्पृह होकर भगवान्में लवलीन रहते हैं । सारे भोग बिना विकार उत्पन्न किये उनमें समा जाते हैं ।

**बिबिधि जंतु संकुल महि भ्राजा । प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा ॥११॥**

**जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना । जिमि इंद्रियगन उपजे ज्ञाना ॥१२॥**

अर्थ—अनेक प्रकारके छोटे-छोटे जीवोंसे भरी हुई पृथ्वी शोभायमान है, जैसे सुराज्य ☞वा स्वराज्य पाकर प्रजा बढ़ती है अर्थात् प्रजाकी बढ़तीसे राजा एवं राज्यकी शोभा है ।११। जहाँ तहाँ अनेक पथिक (बटोही) ठहर गए हैं । जैसे ज्ञान उत्पन्न होनेसे इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं ॥१२॥

गौड़जी—'जिमि सुराज खल उद्यम गयेऊ' 'प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा' आदि चौपाइयोंमें 'सुराज' पद 'स्वराज्य' और 'सुराज्य' दोनोंके लिये आया है, क्योंकि भारतीय आदर्श दोनोंका एक ही है । साधु राजा शुक्रनीतिके अनुसार अपनेको प्रजाका दास मानता है, और एक धोबीकी खातिर अपनी पटरानी तकका परित्याग कर देता है । उसका राज्य तो वस्तुतः प्रजाका राज्य है । उसका शासन प्रजाकी धरोहर है । इसी दृष्टिसे भारतीय सुराज्य वस्तुतः प्रजाका स्वराज्य है । इसी लिये महात्मा गांधी स्वराज्य और रामराज्यमें कोई भेद नहीं मानते । 'सुराजमें' तुलसीदासजीके और श्रीरामचन्द्रजीके मतसे भी

खलोंका उद्यम नष्ट हो जाता है और प्रजा बढ़ती है। इस कसौटीपर वर्त्तमान पर-राज्यको कसें तो बात खरी उतरती है। इस समय तो सरकारी कर्मचारियोंका ही खल-उद्यम हो रहा है, और देशकी आबादी उस वेगसे नहीं बढ़ने पाती जिस वेगसे स्वतंत्र देशोंकी बढ़ती है। और देशकी आबादी जहाँ १० प्रतिशत बढ़ती है तो भारतकी एक प्रतिशत बढ़ती है। 'सुराज' में खलोंका नाश होता है, साधु प्रजा बढ़ती है। (यह लेख ब्रिटिशराज्यके समयका है)।

प०प०प्र०—'प्रजा बाढ़' को विविध जन्तुओंकी उपमा देनेमें भाव यह है कि कलियुगमें कदाचित् सुराज्य या स्वराज्य हो जाय तो प्रजाकी संख्या बहुत बढ़ेगी अवश्य, पर वह प्रजा केवल वर्षाकालमें बढ़नेवाले जन्तुओंके समान दुर्बल, क्षुद्र, मशकदंशोंके समान परपीड़क और अल्पायु होगी जैसा आगे दोहासे स्पष्ट है।

टिप्पणी—१ इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयकी ओर दौड़ती हैं, इसीसे पथिकसे उपमा दी। २-ज्ञान होनेसे सब इन्द्रियाँ जहाँ तहाँ रह जाती हैं, यथा—'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं।' जब सबमें समान ब्रह्म देख पड़ा तब इन्द्रियाँ किसके साथ रमण करें।☞यहाँ नीति और ज्ञान है।

—कबीरजीका पद यहाँ पढ़ने योग्य है—'बालमके संग सोय गईं पाँचो जनीं।' आदि।

**दोहा—कबहुँ प्रबल बह मारुत जहँ तहँ मेघ बिलाहिं।**
**जिमि कुपूत के उपजे कुल सद्धर्म नसाहिं।**
**कबहुँ दिवस महुँ निबिड़ तम कबहुँक प्रगट पतंग।**
**बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि पाइ कुसंग सुसंग॥ १५॥**

अर्थ—कभी पवन बड़े जोरसे चलता है (जिससे) मेघ जहाँ तहाँ गायब हो जाते हैं जैसे कुपुत्रके पैदा होनेसे अच्छे धर्म नष्ट हो जाते हैं। कभी दिनमें घोर अंधकार हो जाता है, कभी सूर्य प्रगट हो जाते हैं, जैसे कुसंग पाकर ज्ञानका नाश होता है और अच्छे संगसे ज्ञान उत्पन्न होता है।१५।

टिप्पणी १—एक पवनके चलनेसे अनेकों मेघ छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वैसे ही एक ही कुपूतसे अनेक सद्धर्म नष्ट हो जाते हैं। वर्षाऋतुमें मेघ मुख्य हैं, इसीसे वर्षाके आरंभमें मेघका आगमन कहा, यथा—'बरषाकाल मेघ नभ छाए', और वर्षाके अन्तमें उनका नाश कहा—'मेघ बिलाहिं।'

२—सत्संगसे ज्ञानकी उत्पत्तिमें विलंब नहीं होता और कुसंगसे ज्ञानके नष्ट होनेमें देर नहीं लगती। जैसे क्षणमें सूर्य छिप जाते हैं और क्षणमें प्रकट हो जाते हैं।

३—वर्षाके प्रारंभमें विष्णुभक्तका दर्शन कहा, यथा—'गृही बिरतिरत हरष जस बिष्नु-भगत कहँ देखि।१३।' और अन्तमें सुसंगसे ज्ञानकी प्राप्ति कही—'बिनसइ उपजइ ज्ञान....'। यहाँ पहले विनाश कहकर पीछे 'उपजइ' कहकर ज्ञानकी उपज (उदय) पर प्रसंगकी समाप्ति की, विनाशपर समाप्ति नहीं की——यहाँ ज्ञान और नीति है।

मा० म०—कपूत लोक, वेद और कुल तीनोंके प्रतिकूल कर्म करता है, इससे कुलके सद्धर्मका नाश हो जाता है। यहाँ रूपक यों है कि—धर्मरूपी मेघ कुलरूपी नभमें पापकर्मरूपी वायुकी प्रचण्डतासे नष्ट हो जाते हैं।

मयूख—चौदहवें दोहेके ऊपर दो नक्षत्र वर्णन किए हैं और तेरहवेंके ऊपर चार नक्षत्रोंका वर्णन है। अर्थात् 'दादुरधुनि चहुँ दिसा सोहाई' से आगे दो नक्षत्र कहे हैं और 'लछिमन देखहु....' के बाद चारका वर्णन है और 'खोजत कतहुँ मिलै नहिं धूरी' यहाँ अश्लेषा-नक्षत्र जानो और 'महावृष्टि चलि फूटि कियारी' इसको मघा नक्षत्र जानो जिसमें बहुत वर्षा होनेसे पुल टूट गए। वर्षाऋतुके तीन महीने बीत गए, इसमें छः नक्षत्र भली भाँति बरसे, अब केवल एक महीना रह गया जिसमें दो नक्षत्र बाक़ी रह गए परन्तु उनमें वर्षा थोड़ी होती है।

प० प० प्र०—१ इस दोहेमें भी श्रीरामजीके विचारोंका प्रतिबिंब है। "वर्षा बीत गई; सीताजीकी सुध न मिली; अतः विचारते हैं कि यदि मैं सीताजीको प्राप्त न कर सकूँ तो मेरे कुलकी अपकीर्ति होगी और स्वर्गस्थ मेरे पिता मुझे कुपुत्र कहेंगे। पुलस्त्यकुलमें रावण कुलकलंक पैदा हुआ है। उसको दंड देना आवश्यक है। पर सुग्रीवकी सहायता विना सीताजीकी खबर कैसे मिलेगी? मित्रकार्य सुग्रीव न करेगा तो वह कुलकलंक ही होगा", पर वह मेरा मित्र है उसे सुपन्थपर लाना मेरा भी कर्त्तव्य है।

२ सुग्रीवको सुसंगसे ज्ञान हुआ था, पर विषय और विषयी लोगोंके कुसंगसे वह नष्ट हो गया। जब उसे पुनः सुसंग होगा तब ज्ञान-भानु-प्रकाश-विरोधक विषय मोहरूपी मेघपटलका नाश सद्गुरुवचन-रूपी (स्वः संभवं) वायुसे होगा जब पवनसुतके उपदेशसे मोह नष्ट होगा तब वह कार्यमें तत्पर होगा।

३ यह दोहा प्रौलपदी पौर्णिमा है। वर्षाऋतुकी समाप्ति 'बरषा बिगत सरद रितु आई।' आगेके इस चरणपर होती है। 'बरषाकाल मेघ नभ छाए।१३।८।' से 'बरषा बिगत....' तक ५९ चरण हैं और दो चन्द्रमास मिलकर भी ५९ ही दिन होते हैं। आगे भी 'लछिमन देखहु परम सुहाई।१६।१।' से लेकर 'धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना।१८।१।' तक जहाँपर कार्तिकी पूर्णिमा होती है फिर ५९ ही चरण हैं। दोहा १६ 'चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि' में विजय दशमी है। कारण कि 'लछिमन देखहु परम सुहाई' से 'आश्रमी चार' तक २३ चरण हैं जिसमेंसे १४ दिन आश्विन कृष्णके और ९ दिन आश्विन शुक्ल के हैं। विजयदशमीसे दीवाली बीस दीनपर होती है। अतः दोहा १७ के अंततक बीस चरण हैं। १७ वें दोहेमें दीवाली है। फिर 'धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना' तक १६ चरण हैं। एक दिन कार्तिक अमावस्याका और १५ दिन कार्तिक शुक्लपक्षके। तिथियोंके वृद्धिक्षयानुसार एकाध दिनका हेरफेर देखनेमें आता है।

☞ 'कहत अनुज सन कथा अनेका' से यहाँतक 'वर्षावर्णन' प्रसंग है।

## 'शरद-वर्णन'-प्रकरण

**बरषा बिगत सरद रितु आई। लछिमन देखहु परम सुहाई॥ १॥**
**फूले कास सकल महि छाई। जनु बरषा कृत प्रगट बुढ़ाई॥ २॥**

शब्दार्थ—कृत = किया। 'कपिहि तिलक करि प्रभु कृत सयलप्रवर्षन वास।' (लं० ६६) ]

अर्थ—हे लक्ष्मण! देखो, वर्षा बीत गई और परम सुहावनी शरद ऋतु आ गई।१। फूले हुए काँससे सब पृथ्वी छा गई (ऐसी दिखती है) मानों वर्षाऋतुने अपना बुढ़ापा प्रकट किया है।२।

टिप्पणी—१ (क) 'बरषा बिगत' कहकर वर्षावर्णन-प्रसंगकी समाप्ति की। और, 'सरद रितु आई' कहकर शरदऋतुवर्णन-प्रसंग प्रारंभ किया। (ख)—वर्षावर्णनके प्रारंभमें लक्ष्मणजीको संबोधन किया, यथा—लछिमन देखु मोर गन....।', वैसेही अब शरदवर्णनमें 'लछिमन देखहु' कहा। (ग) वर्षाको 'परम सुहाई' कहा। वैसे ही यहाँ शरदको कहते हैं। यथा पूर्व 'बरषा काल मेघ नभ छाए। गरजत लागत परम सुहाए' तथा यहाँ 'लछिमन देखहु परम सुहाई'। [पुनः, वर्षाकालभी सुहावना है जब कि मेघमण्डल आकाशमें छाया हुआ हो। अन्य ऋतुओंमें मेघका छा जाना सुहावना नहीं लगता। अपने समयपर सबकी शोभा होती है। वर्षाकालमें आकाशमंडलमें मेघोंके छा जानेसे शोभा होती है और जब वे गर्जन करते हैं तब परम शोभायमान होते हैं; पर शरद्ऋतु तो स्वभावसे ही परम सुहावनी है। "पावसके आरंभमें श्रीलक्ष्मणजीको संबोधित किया वैसे ही यहाँ शरदके आरंभमें ही पुनः 'लछिमन देखहु' कहनेमें भाव यह है कि इन दोनों ऋतुओंका वर्णन सरकार लक्ष्मणजीसे ही कर रहे हैं, विरहके दिनोंका बीतना कठिन हो रहा है।" (वि० त्रि०)। वि० पु० में इसकी जोड़का यह अर्धश्लोक है—'प्रावृड् व्यतीता विकसत्सरोजा चाभवच्छरत्।५।१०।१।' अर्थात् वर्षाकाल बीत गया, प्रफुल्लित कमलोंसे युक्त शरद्ऋतु आ गया ] ☞ यहाँ नीति है।

☞ शरद्-वर्णनमें जिन वस्तुओंका वर्णन करना चाहिए उनको गोसाईंजी आगे वर्णन करते

हैं। कविप्रियामें वस्तुओंके नाम ये हैं—'अमल अकास प्रकास ससि मुदित कमल कुल कास। पंथी पितर पयान नृप सरद सुकेशवदास।'

नोट—१ 'लछिमन देखहु....' इति। पंजाबीजी लिखते हैं कि प्रभुके वचनामृत सुननेमें सौमित्रजी का ध्यान रंचक शिथिल देखा,....इससे यहाँ द्वितीय बार 'लक्ष्मण' पद उनको सावधान करनेके लिए दिया। पर हमारी समझमें लक्ष्मणजीके विषयमें ऐसा कहना यथार्थ नहीं वरन् अनुचितसा है; विशेषतः इस समय कि जब प्रभु 'कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नृपनीति बिबेका', क्या वे कभी असावधान रह सकते हैं? कदापि नहीं। अरण्यकांडमें प्रभु-नारद-संवादमें भी प्रभुने 'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। ३।४३।४।', 'सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता।३।४४।१।', 'सुनु मुनि संतन्हके गुन. कहऊँ।३।४५।६।', 'मुनि सुनु साधुन्हके गुन जेते।३।४६।८।' इत्यादि कई बार 'सुनु मुनि' कहा है, वह भी सावधान करनेके लिए नहीं, वरन् जब एक बात समाप्त हुई दूसरी प्रारंभ हुई तब फिर संबोधित किया। वही बात यहाँ है।

श्री प्र० स्वामीजीका भी मत है कि वर्षा और शरद्का वर्णन एक दिनमें बैठकर नहीं हुआ है, यह 'हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहिं नहिं पंथ।१४।' से स्पष्ट है, कारण कि वर्षाके आरंभके २०-२१ दिनोंके बाद ही भूमि तृण-संकुल होती है न कि उसी दिन। अतः सावधान करनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

२—पंजाबीजी 'परम सुहाई' विशेषणके भाव यह लिखते हैं—(क) वर्षाऋतु सुंदर तो थी पर उसमें कभी 'महावृष्टि' और कभी उष्णताका भय, एवं कहीं कहीं कीचादिका खेद होता था। पुनः नदी स्पर्शयोग्य न थी।—(गंगा, सरयू आदि पुण्य नदियोंका जल वर्षामें भी पवित्र माना गया है। इनके लिए वह नियम नहीं है जो अन्य नदियोंके लिए है। इससे स्पर्शयोग्यके बदले यह कहना कुछ अच्छा होगा कि जल निर्मल नहीं रहता जैसा कवि स्वयं आगे कहते हैं—'सरिता सर निर्मल जल सोहा'। अर्थात् पूर्व 'समल' था, अब स्वच्छ है)। शरद्में ये दोष नहीं रहे। पुनः, (ख) शरद् समऋतु है। वा, (ग) भविष्य सूचित करते हुए ऐसा कहते हैं, क्योंकि यह ऋतु श्रीसीताजीकी प्राप्तिके उद्योगके योग्य है। (पां०)। अतएव 'परम सुहाई' कहा।

टिप्पणी—२ (क) 'फूले काँस....' इति। काँसके फूल श्वेत होते हैं, ये ही मानों वर्षाके श्वेत केश हैं। तात्पर्य कि काँसके फूलनेसे वर्षाका अन्त समझा जाता है। (ख) 'प्रगट बुढ़ाई'—प्रगटका भाव कि शरीरका बुढ़ापा अनुमानसे जाना जाता है। कासने फूलकर वर्षाका बुढ़ापा प्रगट दिखा दिया।—(नोट—पं० रामकुमारजीने 'कृत' की जगह 'रितु' पाठ रखा है और रामायणपरिचर्यामें भी 'रितु' पाठ है।)

३ वर्षामें मेघ मुख्य हैं, इसीसे उसके प्रारंभमें मेघोंका आगमन कहा था, जो श्यामताके प्रगट करनेवाले हैं, यथा—'बरषा काल मेघ नभ छाए।' शरद्में उज्वलता मुख्य है, इस लिए इसके आरंभमें कासका फूलना कहा। ☞ यहाँ नीति है। यहाँ सिद्धविषयाहेतूत्प्रेक्षा है।

**उदित अगस्ति पंथ जल सोखा। जिमि लोभहि सोषइ संतोषा॥३॥**

शब्दार्थ—'अगस्ति' (अगस्त्य)—यह एक तारा है जो भादोंमें सिंहके सूर्य्यके १७ अंशपर उदय होता है। रंग इसका कुछ पीलापन लिए हुए सफ़ेद होता है। इसका उदय दक्षिणकी ओर होता है, इसीसे बहुत उत्तरके निवासियोंको यह नहीं दिखाई देता। आकाशके स्थिर तारोंमें लुब्धकको छोड़कर दूसरा कोई इस जैसा नहीं चमचमाता। यह लुब्धकसे ३५° दक्षिण है।

अर्थ—अगस्त्य उदय हुआ और मार्गका जल सोख लिया गया, जैसे संतोष लोभको सोख लेता है*।३।

* प्र० स्वामीजी यह अर्थ करते हैं—'लोभ ही संतोषका नाश कर देता है'। और लिखते हैं कि जबतक ज्ञान दृढ़ होकर रामकृपासे पराभक्ति न प्राप्त होगी तबतक ज्ञान होनेपर भी जरा-सा लोभ संतोषका विनाश कर देता है। सुग्रीवको 'उपजा ज्ञान' तब संतोष हो गया था, पर कुसंगसे विषयलोभ पैदा हो गया।

टिप्पणी—१ अगस्त्यने पंथजलको सोख लिया, दूषित पंथको साफ़ कर दिया। इस कथनमें तात्पर्य यह है कि महात्माओंका उदय पंथके साफ़ करनेके लिए है, यह अभिप्राय दिखानेके लिए ही 'पंथका जल' कहा और जलाशयोंको न कहा। पुनः, २—अगस्त्यके उदयसे नदी, तालाब, आदि सबका ही जल सूखता है पर सब जल नहीं सूखता, बहुत कुछ बना रहता है; इसीसे इन जलाशयोंका सूखना न कहा। पंथका सब जल सूख जाता है इससे उसीको कहा। पुनः, [३—पंथका जल सूखनेसे श्रीरामजीके कार्य्यकी सिद्धि होनी है, इससे प्रथम पंथके जलका ही सूखना कहा।]—यहाँ ज्ञान है।

समता

| 'अगस्ति पंथजल सोषा' | 'संतोष लोभहि सोषइ' |
|---|---|
| १ पंथका जल सदा मलिन रहता है और पंथको भी दूषित किए रहता है | लोभसे हृदय सदा मलिन रहता है, यथा—'सदा मलिन पंथके जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने। वि० २३५।' |
| २ जबतक जल रहता है, मार्गमें लोग नहीं जाते, जल सूखनेपर सब जाते हैं | लोभके रहते लोभीके पास कोई नहीं जाता, लोभ न रहनेपर सब जाते हैं |
| ३ अगस्त्यके उदयपर पंथका सब जल सूख जाता है | संतोषसे समस्त लोभका नाश हो जाता है |
| ४ अगस्त्य आकाशमें, पंथका जल पृथ्वीपर। दोनोंमें बड़ा अन्तर है। | संतोषका उदय हृदयाकाशमें होनेपर लोभ उसके समीप नहीं आता, दूर हीसे उसका नाश हो जाता है। |
| ५ समुद्रके सोखनेवाले अगस्त्यके लिए पंथजलके सोखनेमें परिश्रम नहीं। | संतोष होनेसे बिना परिश्रम लोभका नाश है। |

नोट—१ मार्गका जल सूखनेसे पथिकोंको सुख होगा। अगस्त्य नामका तारा महर्षि अगस्त्यके नामसे है। अगस्त्यजीका यह महत्व था कि उन्होंने समुद्रको तीन आचमनमें सोख लिया था और इस ताराका यह प्रभाव है कि इसके उदयसे वर्षाऋतुका अंत और जलका सोषण होता है। इसी प्रकार संतोष होनेपर लोभादि नष्ट हो जाते हैं जिससे जीव सुखी होता है। यथा—'बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।७।९०।१।' संतोष होनेसे कामना ही नहीं रह जाती, तब लोभ कहाँसे होगा? कामनारहित होनेसे भगवान्‌में मन लगेगा जहाँ आनंद ही आनंद है।

**सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा॥ ४॥**
**रस रस सूख सरित सर पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी॥ ५॥**

शब्दार्थ—रस रस = रसे रसे, धीरे धीरे, शनैः शनैः।

अर्थ—नदी और तालाबोंमें निर्मल (मलिनता रहित) जल शोभित है जैसे सन्तोंका मद और मोह रहित हृदय शोभित होता है।४। नदियों और तालाबोंका पानी धीरे-धीरे सूख रहा है जैसे ज्ञानी (धीरे-धीरे) ममताका त्याग करते हैं।५।

टिप्पणी—१ वर्षाका जल पृथ्वीपर गिरकर गँदला हो गया था, यथा—'भूमि परत भा ढाबर पानी'। वह नदी और तालावोंमें पहुँचा इससे उनका जल भी मलिन हो गया था। अब शरद्‌ऋतु पाकर वह निर्मल हुआ, तब उसकी शोभा कही। (शरद्‌ने जलको निर्मल बना दिया, सद्गुरुने रामपंचाङ्गका बोध कराके संतके हृदयको निर्मल कर दिया। अ० दी० च०)। संत 'सरिता सर' हैं, हृदय जल है, मद

---

भानुप्रतापको संतोष था पर कपटी मुनिके कुसंगसे लोभ हो जानेसे संतोष नष्ट होकर सर्वनाश हुआ। इत्यादि। 'हि' का उपयोग अवधारणार्थक हुआ है, जैसे 'तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा।७।९८।५।', 'तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं' इत्यादि में।

मोह मल है। (प० प० प्र० का मत है कि जीवनमुक्त ज्ञानी संत सरिताके समान हैं और जो 'मुकुति निरादर भगति लोभाने' वे संत सरके समान हैं। और कोई सदा विचरते रहनेवाले संतोंका नदी और एक ही स्थानपर रहनेवाले संतको सर कहते हैं; वा, बहुतोंका उपकार करनेवाले नदी और कुछका उपकार करनेवाले सर हैं। वा, जो जन्मसे ही संत हैं वे सरिता हैं और जो कुछ कालके पश्चात् साधु हुये वे सर हैं। इत्यादि।)

२—'ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी' इति। ममत्वका त्याग ज्ञानसे होता है, इसीसे ज्ञानीको ममताका त्याग करना कहा; यथा—'जासु ज्ञान रवि भव-निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥ तेहि कि मोह ममता नियराई'। ☞यहाँ ज्ञान है।

नोट—१ 'ज्ञानी' से श्रीजनकजी आदि दृढ़ ज्ञानी अभिप्रेत नहीं हैं। उनके पास तो मोह ममत्व आ ही नहीं सकता और न उनमें ममता है जिसे वे दूर करेंगे। जो ज्ञानमार्गपर आरूढ़ हो रहे हैं, नये ज्ञानी हैं, अभी जिनमें ममत्वका अंश है वे अभिप्रेत हैं। प्र० स्वामीजीका भी यही मत है। वि० पु० में 'ज्ञानी' के बदले 'बुधाः' और श्रीमद्भागवतमें 'धीराः' शब्द आया है। वही यहाँ 'ज्ञानी' का भाव जानना चाहिए। गीतामें जहाँ आत्मज्ञानके उपयोगी 'अमानित्व' आदि गुणसमुदाय बतलाये गए हैं वहाँ 'असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।१३।८।' भी एक गुण कहा गया है। अर्थात् आत्माके अतिरिक्त अन्य विषयोंमें आसक्तिका अभाव तथा पुत्र, स्त्री और घर आदिमें अभिष्वङ्गका अभाव—उनमें शास्त्रीय कर्मोंकी उपयोगिताके सिवा सम्बन्धका अभाव। यही 'ममता त्याग' का भाव है।

२ समानार्थक श्लोक ये हैं—'सर्वत्रातिप्रसन्नानि सलिलानि तथाभवन्। ज्ञाते सर्वगते विष्णौ मनांसीव सुमेधसाम्।' वि० पु० ५।१०।११।' अर्थात् जल सर्व स्थानों (जलाशयों) में वैसा ही निर्मल हो गया है जैसा सद्बुद्धि लोगोंका मन सर्वव्यापी विष्णुके जाननेसे हो जाता है। पुनश्च—'शनकैः शनकैस्तीरं तत्यजुश्च जलाशयाः। ममत्वं क्षेत्रपुत्रादिरूढमुच्चैर्यथा बुधाः॥श्लोक ८॥' अर्थात् जलाशयोंने धीरे-धीरे तीरको छोड़ दिया जैसे पंडित लोग घर पुत्रादिमें चिरकालकी बढ़ी हुई ममताको छोड़ देते हैं। भा० १०।२०।३९ वाला श्लोक भी इसी भावका है यद्यपि रूपमें भिन्न है। यथा—'शनैः शनैर्जहु पङ्कं स्थलान्यामं च वीरुधः। यथाहंममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु॥' अर्थात् स्थलोंने कीचड़ और वृक्षोंने अपक्कपनको धीरे-धीरे दूर कर दिया जैसे धीर पुरुष शरीरादिकी अहंता एवं ममता त्याग कर देते हैं।

उपर्युक्त श्लोकोंसे मिलान करनेसे 'संत हृदय जस गत मद मोहा' में यह भाव है कि जिन मेधावी पुरुषोंने भगवान्‌को जान लिया है वे ही 'संत' शब्दसे कहे गए हैं, क्योंकि प्रभुको जान लेनेपर ही हृदय निर्मल होता है, अन्यथा नहीं।

प० प० प्र०—'ममता त्याग....' का भाव यह है कि ज्ञान प्राप्त होनेपर ममत्वका त्याग करना चाहिए। ममत्व मल है, ज्ञानसे उसको जला डाला जाता है; यथा 'बुद्धि सिरावै ज्ञान घृत ममता मल जरि जाइ।७।११७।' तात्पर्य यह है कि ममतासे ज्ञान मलिन हो जाता है, अतः ममताजनक विषयोंके संसर्गसे ही दूर रहना चाहिए।

२ इन अर्धालियोंमें भी सुग्रीवका स्मरण है। उनका हृदय निर्मल जलके समान हो गया था पर अब तो मदमोहादिसे मलिन हो गया है। सुग्रीवने आगे स्वयं इसे स्वीकार किया है। यथा—'नाथ विषय सम मद कछु नाहीं। मुनिमन मोह करै छन माहीं।' इसमें उपदेश यह है कि हृदय जलके समान है, कुसंगसे मलिन और सुसंगसे निर्मल होता है; यथा 'ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुजोग सुजोग। होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग....।'; अतः विषय और विषयी दोनोंका ही संग कदापि न करना।

सुग्रीवको ज्ञान उत्पन्न हुआ पर उन्होंने ममताका त्याग न किया, अतः वे पुनः मलिन हो गए। कुसंग दोष दूर करनेके लिये सत्संग चाहिए, पर 'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।', अतः अगली अर्धालीमें पुण्यका दृष्टान्त देते हैं।

जानि सरद रितु खंजन आए। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए ॥६॥
पंक न रेनु सोह असि धरनी। नीति निपुन नृप कै जसि करनी ॥७॥

शब्दार्थ—खंजन—यह पक्षी कई रंग और आकारका होता है। भारतमें यह हिमालयकी तराई, आसाम और बरमामें अधिकतासे होता है। इसका रंग बीच-बीचमें कहीं सफ़ेद कहीं काला होता है। यह प्रायः एक बालिश्त लंबा होता है और इसकी चोंच लाल और दुम हलकी काली झाईं लिए सफ़ेद और बहुत सुंदर होती है। यह प्रायः निर्जन स्थानोंमें और अकेला ही रहता है और जाड़ेके आरंभमें पहाड़ोंसे नीचे उतर आता है। लोगोंका विश्वास है कि यह पाला नहीं जा सकता और जब इसके सिरपर चोटी निकलती है तब यह छिप जाता है किसीको दिखाई नहीं देता। यह पक्षी बहुत चंचल होता है, इसी लिए कविलोग नेत्रोंकी उपमा इससे देते हैं। पंक=कीचड़। रेनु (रेणु)=धूल।

अर्थ—शरद् ऋतु जानकर खंजन पक्षी आये, जैसे समय पाकर सुंदर सुकृत आते हैं।६। न कीचड़ है न धूलि; इससे पृथ्वी ऐसी शोभित हो रही है जैसी नीति-निपुण राजाकी करनी शोभित होती है।७।

टिप्पणी—१ धर्मका चला जाना दो प्रकारसे कह आए हैं, एक तो क्रोधसे दूसरे कलिसे। यथा—'करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी' और 'कलिहि पाइ जिमि धर्म पराहीं।' जो धर्म कलिको पाकर भाग गया था वह समय पाकर फिर आ गया; उसीका आना यहा कहते हैं और जो धर्म क्रोध करनेसे गया वह तो दूर गया; वह फिर नहीं आया।

२—यहाँ खंजनकी सुकृत 'सुहाए' से उपमा दी। (क)—जो पक्षी बहुत देख पड़ते हैं उनको उपमा नहीं दी और न उनको दी जो देख नहीं पड़ते जैसे हंस इत्यादि; क्योंकि सुहाए सुकृत न तो बहुत ही हैं और न उनका बिल्कुल लोप ही हो गया है। और, खंजन हैं तो परन्तु बहुत नहीं हैं इससे खंजन-को ही कहा। पुनः, (ख) खंजनके आनेका समय निश्चित है, अन्य पक्षियोंके आनेका समय निश्चित नहीं। अतः खंजनकी उपमा दी। ये शरद्में आते हैं, वैसे ही सुकृत समय पाकर ही आते हैं।

करु०—समय आनेपर पुण्योंका फल दिखाई पड़ता है। जैसे राजा रंतिदेवको ४८ दिन बीतने-पर भोजन मिला, वह भी अभ्यागतके आनेपर उन्होंने उसे उठा दिया और आप भूखे रह गए, तब तुरंत भगवान्‌ने प्रकट हो दर्शन दिए। (इसी तरह 'दसरथ सुकृत रामु धरें देही' और 'जनकसुकृत मूरति बैदेही' थे, पर दोनों समय आनेपर ही प्राप्त हुए, पहलेसे नहीं आए। श्रीभरद्वाजजी, श्रीसुतीक्ष्णजी और श्रीशबरीजी आदिने बहुत दिन तप किया, पर दर्शनरूपी सुकृतफल समयपर ही मिला। समय विधाता ही जानते हैं। यथा—'लोचन गोचर सुकृत फल मनहु किए बिधि आनि।२।१०६।')

मा० म०—पूर्व कहा था कि 'देखियत चक्रवाक खग नाहीं। कलिहि पाइ जिमि धर्म पराहीं' पर यहाँ सुकृतरूपी खंजनका आना तो कहा पर धर्मरूपी चक्रवाकका आना नहीं कहते हैं। अतएव भाव यह है कि वर्षारूपी कलिसे दुःखित होकर चक्रवाकरूपी धर्म दूर भाग गया था, सो सुकृतरूपी खंजनके आनेपर वह भी आ मिला। संदर्भ यह कि जब सुकृत उदय होता है तभी धर्म धारण होता है, इससे खंजनको आया देख चक्रवाक भी सुसमय जानकर आ गया। [चक्रवाकका आगमन अभीतक नहीं हुआ। आगे दोहेमें उसे कहा है। यथा 'चक्रवाक खग दुख निसि पेखी।' (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—३ (क) 'पंक न रेनु०' इति। भाव कि ग्रीष्ममें पृथ्वी धूलिसे अशोभित रही और वर्षामें कीचसे; अब दोनोंसे रहित होनेसे शोभित है। इसके उदाहरणमें 'नीतिनिपुण राजाकी करनी' को देकर जनाया कि राजाको न किसी पर गर्म होना चाहिए न किसीपर शीतल, जैसा नीतिमें लिखा है वैसा ही करना चाहिए। गर्म होना ग्रीष्मका धर्म है और शीतल होना वर्षाका। (ख) नृपकरनीको धरणीकी उपमा दी; क्योंकि जैसे धरणी सबको धारण करती है, वैसे ही नीति-निपुण राजाकी करनी सबको धारण करती है; यदि वह राजनीतिसे न चले तो सब प्रजा नष्ट हो जाय। ☞ इन चौपाइयोंमें नीति है।

प० प० प्र०—यहाँ भी सुग्रीव विषयक विचार ही श्रीरामजीके मनमें प्रमुख है। शरदृऋतु आनेपर भी उसने सीताशोधकार्य प्रारंभ न किया, न मिलने आया। अतः कहते हैं कि जब उसके सुंदर सुकृत फलोन्मुख होंगे तभी उसको सत्संग लाभ होगा। विचार करते हैं कि सुग्रीवको किस प्रकार कार्यमें तत्पर करना चाहिए। अतः अगली अर्धालीमें विचार करते हैं कि यह कार्य नीतिनिपुणता से करना होगा, नहीं तो सीताशोधकार्य कीचड़में पड़ेगा। मेरे कार्यका विचार छोड़ देनेपर भी सुग्रीव ऐसा ही विषयमग्न रहेगा तो उसका विनाश ही होगा, अतः आगे कहते हैं—'अबुध'।

**जल संकोच बिकल भइ मीना। अबुध कुटुंबी जिमि धन हीना ॥८॥**

शब्दार्थ—संकोच=खिचाव, कमी। कुटुम्बी=परिवारवाला।

अर्थ—जलके कम हो जानेसे मछलियाँ व्याकुल हुईं जैसे धनरहित होनेसे अज्ञानी वा मूर्ख कुटुम्बी व्याकुल हो।८।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम जलका धीरे धीरे सूखना कहा,—'रस रस सूख सरित सर पानी'। अब सूखकर जलका इतना संकोच हो गया कि मछलियाँ विकल हो गईं। (ख) 'अबुध' के भाव—(१) जो बुध नहीं हैं वेही विकल होते हैं, यथा—'सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं। २।१५०।७' पुनः, (२) अबुध अर्थात् जो गुणहीन हैं, धनकी प्राप्ति नहीं कर सकते और कुटुम्बवाले हैं वे विकल होते हैं। विद्या आदि कोई गुण होता तो धन अधिक कमाकर कुटुम्ब पाल सकते।

मीन और अबुध कुटुम्बी की समता

| | |
|---|---|
| १ मछलियाँ बहुत; जल कम रह गया | कुटुम्बीके परिवारमें बहुत; धन थोड़ा रह गया |
| २ जो जल है वह भी सूखता जाता है | धन चुकता जाता है |
| ३ मेघ चले गए, अतः आगे जलकी आशा नहीं है | रोजगार बंद है, अतः आगे धन मिलनेकी आशा नहीं |
| ४ आकाश निर्मल होनेसे धूप कड़ी है जिससे मीन विकल है | मान्य एवं अभ्यागत आदिका सम्मान होना चाहिए सो नहीं बनता, यही शरद्का ताप है |
| ५ मछली जल छोड़कर कहीं जा नहीं सकती | यह घर छोड़ कहीं जा नहीं सकता, क्योंकि अबुध है। |
| ६ मछली जल बढ़ा नहीं सकती (मा० म०) | यह बुद्धिहीन है; अतः धन उपार्जन कर नहीं सकता |
| ७ भानुरूपी महाजनने रहा सहा जलरूपी धन खींच लिया अतः दुःखी हुए। उसपर भी अपने ही में प्राण-वियोग अर्थात् कलह होने लगा—(मा० म०)। | |
| ८ अगस्त्यके उदयके पूर्व विपुल जल था | पूर्व विपुल धन था (प० प० प्र०) |
| ९ वर्षा बंद हो गई | कोई कमानेवाला नहीं (प० प० प्र०) आयका कोई और वसीला नहीं |
| १० अगस्त्यका उदय हुआ | कुटुंबी निर्बुद्धि निकला (प० प० प्र०) |

नोट—☞१ 'अबुध' ही पाठ सब प्राचीन पोथियोंमें है। पर कुछ आधुनिक टीकाकारोंने 'त्रिविध' पाठ रख लिया है। बहुत बड़ा परिवार होनेपर भी बुद्धिमान् वा गुणवान् मनुष्य घबड़ाते नहीं, उद्योग करके सबका पालन-पोषण करते हैं। दूसरे, 'कुटुम्बी' पदमें परिवारका बड़ा होना भी अभिप्रेत है। धनहीन हो जाना गृहस्थको दुःखदायी होता ही है; यथा—'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।७।१२१।१३।'

२ समानार्थक श्लोक,—'गाधवारिचरास्तापमविन्दञ्छरदर्कजम्। यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्य-विजितेन्द्रियः॥ भा० स्क० १० अ० २०।३८।' (अर्थात् थोड़े जलवाले मछली आदि जलचर शरदृऋतुके सूर्य-जनित तापको कैसे प्राप्त हुए जैसे इन्द्रियोंके वशवाला दरिद्र कृपण (दीन वा सूम) कुटुम्बी पुरुष संतापको प्राप्त होता है), 'नैवाविदन् क्षीयमाणं जलं गाधजलेचराः। यथाऽऽयुरन्वहं क्षय्यं नरा मूढाः कुटुम्बिनः।'

भा० १०।२०।३७।' (अर्थात् गड्ढोंमें भरे हुए जलचर यह नहीं जानते कि जल दिन-दिन सूखता जा रहा है जैसे कुटुम्बमें भूले हुए मूढ़ यह नहीं जानते कि हमारी आयु क्षण-क्षण क्षयको प्राप्त होती जाती है)।

इन श्लोकोंसे मिलान करनेसे 'अबुध' में 'मूढ़, अविजितेन्द्रिय' का भाव भी आता है। 'जल संकोच बिकल' में दोनों भाव आ जाते हैं। एक यह कि जलका धीरे-धीरे सूखना उसने न जाना, जब थोड़ा रह गया तब व्याकुल हुई कि अब तो शीघ्र ही प्राण जायँगे। यथा 'नीच कीच बिच मगन जस मीनहि सलिल सँकोच। २।२५२।' दूसरे जलका संकोच हो जानेसे शरत्कालीन सूर्यकी प्रखर किरणोंसे बड़ी पीड़ा होने लगी। इसी तरह निर्बुद्धि कुटुम्बी कुटुम्बके पालन-पोषणमें धन लगाता गया, यह न सोचा कि आयु क्षणक्षण बीती जा रही है, मैं कुछ धर्म कर लूँ, परमार्थ बना लूँ। अब जब धन न रह गया तब घरके भरण-पोषण-संबंधी चिंतारूपी ताप पीड़ित करते हैं और उधर आयु-समाप्तिका भय और सुकृत बिना कमाए मर जानेका संताप व्याकुल कर रहा है—'अब पछताये का होत है जब चिड़ियाँ चुनि गईं खेत।'

वि० पु० का 'अवापुस्तापमत्यर्थं शफर्यः पल्वलोदके। पुत्रक्षेत्रादिसक्तेन ममत्वेन यथा गृही।५।१०।२।' (अर्थात् जैसे गृहस्थ पुत्रक्षेत्रादिमें लगी हुई ममतासे संताप पाते हैं, उसी प्रकार मछलियाँ गड्ढों-के जलमें संताप पाने लगीं) यह श्लोक भी मिलान योग्य है। इसके अनुसार 'अबुध' से 'पुत्रादिमें आसक्त' अर्थ भी ले सकते हैं।

प० प० प्र०—भाव यह है कि सुग्रीव मूढ़ हो गया है। वह नहीं सोचता कि यह राज्य, धन, संपत्ति कितने दिन रहेगी। वह शीघ्र धनहीन हो जायगा और वह तथा उसकी प्रजा परिवार दीन दुःखी हो जायँगे। श्रीरामजी विचार करते हैं कि क्या सुग्रीव अबुध है? नहीं-नहीं। वह तो हरिजन है; सब भरोसा छोड़कर प्रारब्धका भोग करता है। उसका हृदयाकाश मोहरूपी छत्र-पटलसे छा गया है। जब सद्गुरुरूपी पवन अथवा 'सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो' उस मोह पटलको छिन्नभिन्न कर देगा, तब वह पुनः निर्मल हो जायगा। और फिर मेरी कृपासे उसको भक्तिका लाभ होगा। सुग्रीवका दोष ही क्या? उसने तो यही कृपा चाही थी कि 'सब तजि भजन करौं दिन राती', मैं ही ने तो अपनी प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिये बालिका वध किया और राज्य करनेको कहा। अतः आगे कहते हैं—

**बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥ ९॥**
**कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी॥१०॥**

अर्थ—बिना बादलके आकाश निर्मल सोह रहा है। जैसे सब आशाओंको छोड़कर भगवद्भक्त शोभित होते हैं।९। शरद्ऋतुकी वर्षा कहीं कहीं और थोड़ी होती है जैसे कोई एक मेरी भक्ति पाते हैं।१०।

☞मिलान कीजिये—१ 'खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम्। सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम्। भा० १०।२०।४३।' (अर्थात् शरद्के निर्मल तारोंवाला मेघरहित आकाश शोभित हो रहा है जैसे सत्वगुण प्रधान शब्दब्रह्मार्थदर्शी चित्त शोभित होता है। चौपाईमें 'हरिजन' है, उसकी जगह श्लोकमें 'सत्वयुक्त शब्दब्रह्मार्थदर्शीचित्त' है, भाव एकही है, क्योंकि भक्तिके लिए सत्वगुणयुक्त होना जरूरी है और बिना भक्तिके चित्त शब्दब्रह्मार्थदर्शी नहीं हो सकता। पुनश्च—'गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः शिवम्। यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा। भा० १०।२०।३६।' (अर्थात् पर्वत कहीं कहीं जल बहाते हैं, कहीं नहीं, जैसे ज्ञानी लोग मोक्षसाधक तत्वज्ञान किसी एक कालमें किसी एक अधिकारीको देते हैं, सबको नहीं)। श्लोक ३६ के 'ज्ञानिनो ददते न वा' की अपेक्षा 'कोउ एक पाव' शब्द अधिक व्यापक है। इसमें श्लोकके 'ज्ञानी' के अतिरिक्त संत, गुरु एवं स्वयं भगवान् आदि भी आ जाते हैं। २—उत्तरकांडमें श्रीपार्वतीजीके वचनोंसे इसका भाव स्पष्ट हो जाता है—'नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म-व्रतधारी॥ धरमसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिरागरत होई॥ कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई।

सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई ॥ ज्ञानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ ॥ तिन्ह सहस्र महुँ सब सुखखानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी। धरमसील बिरक्त अरु ज्ञानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥ सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगतिरत गत मद माया॥ ७।५४।'

टिप्पणी—१ हरिभक्तकी शोभा आशाके त्यागमेंही है, आशा रहनेमें उनकी शोभा नहीं है। यथा—'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा।७।४६।३।' 'हरिजन' हैं, अतः हरिकीही आशा रखते हैं और सबकी आशा छोड़ देते हैं। यहाँ घन आशा है, हरिजन आकाश हैं। घनसे आकाश मलिन, आशासे हरिजन मलिन।—['आशा परमं दुःखं'। आशा शोककी जड़ है। यथा—'तुलसी अद्भुत देवता आसादेवी नाम। सेए सोक समरपई बिमुख भए अभिराम। दो० २५८।']—यहाँ वैराग्य है।

२—'कहुँ कहुँ वृष्टि सारदी थोरी....' इति। (क) कहीं कहीं और वह भी थोड़ीही होती है। इसके उदाहरणमें कहते हैं कि कोई एक मेरी भक्ति पाते हैं। इससे यह भी जना दिया कि कोई एक पाते हैं और वह भी थोड़ी ही, पूर्ण नहीं। भक्ति पानेवालोंके नाम आगे गिनाते हैं, यथा—'जिमि हरिभगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि।' अर्थात् गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी, इनमेंसे कोई एक पाते हैं, सब नहीं पाते। एक आश्रममें हजारों मनुष्य होते हैं, सब भक्ति नहीं पाते, कोई एक पाते हैं। (ख) 'कोउ एक' कहकर जनाया कि ज्ञानसे भक्ति दुर्लभ है। ज्ञानकी प्राप्ति अनेकको कही है, यथा—'नवपल्लव भए बिटप अनेका। साधक मन जस मिले बिबेका' और भक्तिकी प्राप्ति 'कोउ' 'एक' को। (ग) शारदीवृष्टि दुर्लभ, वैसेही भक्ति दुर्लभ, यथा—'सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगतिरत गत मद माया।' (घ) शारदी वृष्टिसे मुक्ता आदि अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वैसे ही भक्तिसे मुक्ति आदि सब पदार्थ सिद्ध होते हैं। ☞यहाँ भक्ति है।

नोट—१ महारामायणमें 'कोउ एक पाव भगति....' के भावके श्लोक ये हैं—'ये कल्पकोटि सततं जपहोमयोगैर्ध्यानैः समाधिभिरहोरत ब्रह्मज्ञाने। ते देवि धन्या मनुजा हृदिवाह्यशुद्धा भक्तिस्तदा भवति तेषु च रामपादौ॥ सर्ग ४९।४।' एवं 'मुग्धे शृणुष्व मनुजोऽपि सहस्रमध्ये धर्म्मव्रती भवति सर्व समानशीलः। तेष्वेव कोटिपुभवेद्विषये विरक्तः सद्ज्ञानको भवति कोटिविरक्तमध्ये।४९।३।', 'ज्ञानीषु कोटिपु नृजीवनकोपि मुक्तः कश्चित्सहस्रनर जीवनमुक्तमध्ये। विज्ञानरूप विमलोप्यथ ब्रह्मलीनस्तेष्वेव कोटिपु सकृत् खलु रामभक्तः॥२॥' अर्थ उपर्युक्त उद्धृत चौपाइयोंसे मिलता है। अतः पुनः नहीं लिखा।

प० प० प्र०—(क) भाव यह है कि शारदीवृष्टिके समान अब सुग्रीवपर कृपा करनी चाहिए। (ख) ☞अबतक श्रीरामजी 'हरि जन', 'जिव हरि पाई' इस तरह 'हरि' शब्दका ही प्रयोग करते आए, किन्तु जब भक्तिकी बात कहनेका अवसर आया तब माधुर्य-भाव भूल गये, ऐश्वर्य भाव जागृत हो गया और उनके मुखसे 'भगति जिमि मोरी' ये वचन निकल पड़े। अरण्यकांड मा० पी० पृ० १९९ देखिए। यहाँ यह ऐश्वर्यभाव क्षणमात्र ही रहा, श्रीरामगीता और पुरजनगीतामें बहुत देरतक रहा है। (ग) ऐश्वर्यभावमें यहाँ जो सुग्रीवपर कृपा करनेका संकल्प किया है वह दोहा १९ (१) में कार्य करने लगेगा?

## दोहा—चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि। जिमि हरिभगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि॥१६॥

अर्थ—राजा (विजयके लिये), तपस्वी (तपके लिये), व्यापारी बनिए (वाणिज्यके लिए) और भिखारी (भिक्षाटनके लिये) प्रसन्न होकर नगर छोड़कर चले। जैसे हरिभक्ति पाकर चारों आश्रमवाले (गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी) श्रमको छोड़ देते हैं।१६।

☞मिलान कीजिये—'वणिङ्मुनिनृपस्नाता निर्गम्यार्थान् प्रपेदिरे। वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान् काल आगते।' (भा० १०।२०।४९)। अर्थात् वर्षाके कारण एक स्थानपर रुके हुए वणिक्, मुनि, राजा और स्नातक (कृतसमावर्त्तन ब्रह्मचारी) अपने-अपने उत्तरोत्तर व्यापार—वाणिज्य, तप,

स्वाच्छन्द्य, दिग्विजय, विवाहोद्यम आदि कामों—के लिये चले। जैसे साधना करके सिद्ध हुए पुरुष जो बँधे (रुके) हुए थे समय आनेपर अपने योग्य देव आदि देहको प्राप्त करते हैं।

टिप्पणी—१ प्रथम वर्षामें कह आये हैं कि जहाँ तहाँ पथिक रुक रहे हैं, यथा—'जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना।'; इसीसे सम्पूर्ण वर्षाकी निवृत्ति कही, यथा—'बर्षा बिगत सरद रितु आई।' वर्षा बीत जानेपर भी जबतक मार्गमें जल भरा रहता है तबतक मार्ग चलना कठिन होता है; इससे जलका सूखना कहा, यथा—'उदित अगस्ति पंथ जल सोखा।' जल सूखनेपर कीचड़ रहता है, उसके रहते भी चलना कठिन होता है, अतः उसका भी न रहना कहा, यथा—'पंक न रेनु सोह असि धरनी'। पथिकोंको जो कठिनाइयाँ मार्गके चलनेमें होती हैं उन सबका दूर होना और पंथका साफ़ होना कहकर तब पथिकोंका चलना कहते हैं।

२—चलनेवालोंमें प्रथम 'नृप' को गिनाया, क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग यहाँ यही है। श्रीरामजीका मुख्य प्रयोजन इन्हींके कहनेका है, उनका अभिप्राय इस कथनसे यह है कि सब राजा अपना-अपना कार्य करनेके लिये चल दिये। पर नृप सुग्रीव हमारे कार्यके लिये न चले। यथा वाल्मीकीये—'अन्योन्यबद्धवैराणां जिगीषूणां नृपात्मज। उद्योगसमयः सौम्य पार्थिवानामुपस्थितः।६०। इयं सा प्रथमा यात्रा पार्थिवानां नृपात्मज। न च पश्यामि सुग्रीवमुद्योगं च तथाविधम्॥६१॥' अर्थात् हे राजकुमार! परस्पर वैर रखनेवाले, अपना विजय चाहनेवाले राजाओंके उद्योगका यही समय है। राजाओंकी प्रथम यात्राका यही प्रधान समय है; पर मैं न तो सुग्रीवको देखता हूँ और न उनके किसी उस प्रकारके उद्योग देख पड़ते हैं॥ (सर्ग ३०) (पं० रा० कु०)। [भाव यह कि विजयदशमी यात्राके लिये शुभ दिन है। सुग्रीवको कमसे कम आज तो शास्त्राज्ञापालनके लिये कुछ दूरतक दक्षिणयात्राके लिये नगरसे बाहर निकलना चाहिए। चार महीने हो गए, मुझसे भेंट भी न की। (वि० त्रि०)]

नोट—१ पूर्वार्द्धमें नृप, तपस्वी, वणिक् और भिक्षुक चारको गिनाया और आश्रम भी चार होते हैं। इसीसे यहाँ 'आश्रमी चार' की उपमा दी। पूर्वार्द्धमें 'चले हरषि' कहा है। अतः उत्तरार्द्धमें भी 'हरषि तजहिं' का भाव समझ लेना चाहिए। वहाँ 'नगर तजि' यहाँ 'आश्रमके अनेक साधनोंका कष्ट तजि।'

'हरि भगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि'

गौड़जी—जैसे चारों पंथी मार्गके सब सुभीते पाकर हर्षसे चल पड़े, उसी तरह चारों आश्रमवालोंने भी जब भक्तिमार्गको (जिसमें मायाका पंक नहीं है, विकारोंका रज नहीं है) निर्मल देखा तब अपने आश्रमोंके श्रम फल मार्गको खुशीसे छोड़ दिया, क्योंकि वह ठीक और सुगम मार्ग पागए। इसी मार्गसे वे भगवान्‌के पदको सहजमें पहुँच जायँगे। 'तद्विष्णोः परमं पदम्। सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवि वचक्षुरततं।'

पं० रामकुमारजी—सब धर्मोंका फल भक्ति है। यथा—जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरिभगति भवानी।७।१२६।' जब साधनोंका फल 'भक्ति' प्राप्त हो गयी, तब (साधनरूपी) श्रम करनेका प्रयोजन क्या रह गया? भाव यह कि जिस आश्रममें जब भक्ति मिले तब वहींसे आश्रमके श्रमका त्याग कर दे। पूर्वार्द्धमें 'हरषि चले' से यह जनाया कि भक्ति प्राप्त होनेपर आश्रमके श्रमको त्याग करनेमें किंचित् सन्देह न करे। (भगवान्‌ने उद्धवजीसे भक्ति, ज्ञान और कर्मयोगका वर्णन करते हुए कहा है—'यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्। न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।भा० ११।२०।८। तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।९।' (अर्थात्) जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त है और न अत्यंत आसक्त ही है तथा किसी पूर्व जन्मके शुभ कर्मसे सौभाग्यवश मेरी लीला कथा आदिमें उसकी श्रद्धा हो गई है, वह भक्ति योगका अधिकारी है। उसे भक्तियोग द्वारा ही सिद्धि मिल सकती है। कर्मके संबंधमें जितने भी विधि निषेध हैं, उनके अनुसार तभी तक कर्म करना चाहिए जब तक कर्ममय जगत और उससे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि सुखोंसे वैराग्य न हो जाय। अथवा, जबतक मेरी लीला कथाके श्रवण कीर्तन आदिमें श्रद्धा न हो जाय।)

पं० रा० व० श०—जबतक भक्ति न प्राप्त थी तबतक आश्रमोंमें रहकर धर्मसेवनमें जो क्लेश होते हैं उनको सहते हुए धर्म करते थे, छोड़ते न थे; क्योंकि दूसरा अवलंब न था। जब भक्ति प्राप्त हुई तब निर्भय होकर आश्रमधर्म छोड़ दिए क्योंकि यहाँ उनको भगवान्‌के 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।०', 'सकृदेवप्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।' इत्यादि वाक्योंका अवलम्ब मिल गया। भगवद्धर्मपरायण हो जानेसे अन्य धर्म्मोंके न करनेका दोष नहीं लगता; क्योंकि जो भगवद्भजन करते हैं उनके कर्म जो छूटे हैं उनके करनेके लिए ३० कोटि देवता रख दिए गए हैं। भगवत्‌शरण होनेपर ऋषि, पितृ और देव तीनोंके ऋणसे भक्त मुक्त हो जाता है। यथा—'देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्। भा० ११।५।४१।' (अर्थात् जो मनुष्य 'यह करना बाक़ी है, वह कार्य करना आवश्यक है'—इत्यादि कर्मवासनाओंका त्याग करके सर्वात्मभावसे शरणागतवत्सल प्रेमके वरदानी भगवान् मुकुन्दकी शरणमें आ गया है, वह देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों और कुटुम्बियोंके ऋणसे उऋण हो जाता है। वह किसीके अधीन, किसीका सेवक, नहीं रहता)।

वि० त्रि०—उपमा देते हैं। ज्ञान होनेसे इन्द्रियगण विश्राम करने लगते हैं, यथा 'जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना। जिमि इंद्रियगन उपजे ज्ञाना।'; पर उन्हींको जब भक्ति उपजती है, तब वे चुप बैठे नहीं रह सकते। वे भजनमें यत्नशील होते हैं। यथा 'अस बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहि तजहीं।'

नोट—श्रीकरुणासिन्धुजी नृप, तापस, वणिक् और भिक्षुकके स्थानमें क्रमशः गृहस्थ, वाणप्रस्थ, ब्रह्मचारी (क्योंकि ये विद्याका व्यापार करते हैं) और संन्यासीको रखते हैं।

प० प० प्र०—इस दोहेमें विजयदशमीके सीमोल्लंघनका वर्णन है। इसमें पहले 'नृप' को कहनेमें भाव यह है कि सुग्रीव राजा है पर घरमें ही बैठ रहा है। मैं राजा हूँ तो भी दिग्विजयकी बात तो दूर ही रही, सीतापहारक खलका बध करनेके लिये भी मैं सीमोल्लंघन नहीं कर सकता। कैसी बेबसी है! 'तापस' में ध्वनि यह है कि मैं भी तपस्वी हूँ। अन्य यात्री लोग तीर्थयात्रारूपी तपस्या करनेके लिये नगरोंको छोड़कर चलने लगे, पर मैं इधर ही हूँ। बिना सीताकी सुधि पाये कहाँ जाऊँ, क्या करूँ? सीताशोधका कार्य तो सुग्रीवके आश्रित है। मैंने इस कार्यके लिये सुग्रीवसे वणिक्‌के समान सौदा किया, उसको राज्य, कोष, पुर और स्त्री सब कुछ दिया। सीता-शोधरूपी मूल्य उसने सुसमय आनेपर चुकानेको कहा था, पर वह तो मुँह भी नहीं दिखाता। अब तकाजा (उगाही) करनेको निकलना चाहिए। पर वह मित्र है। रघुवंशी होकर वैश्यके समान तकाजा करनेको जाना तो भिखारीके समान होगा और धनुषबाण धारण करते हुये वैसा करना लज्जास्पद है। फिर मित्रसे तकाजा करना भी अनुचित है। उसपर भी वह मेरा भक्त है, सेवक है, शरणागत है। अतः आगे कहते हैं—

नं० प०—आश्रमियोंको आश्रममें सुख तभी तक रहता है जब तक कि हरि-भक्तिकी प्राप्ति नहीं है। हरिभक्ति प्राप्त हो जानेपर आश्रम दुःख प्रतीत होने लगता है। अतः वे हर्षपूर्वक आश्रमको त्याग देते हैं। उसी तरह जो नृप, तापस आदि नगरमें निवास करते थे उनको नगरमें तभी तक सुख था जब तक वर्षा ऋतु थी, जब शरद् ऋतुकी प्राप्ति हो गई तब नगरमें रहना दुःख प्रतीत होने लगा। अतः वे बड़ी प्रसन्नतासे नगरको त्याग कर चले।

श्रीनंगे परमहंसजी 'श्रम' का अर्थ 'आश्रम' करते हैं और लिखते हैं कि "'श्रम' का अर्थ 'खेद' है—'श्रमु तपसि खेदे च'। 'खेद' से 'खेदाश्रय' ब्रह्मचर्यादि आश्रमका ग्रहण हुआ। रामेश्वर भट्टने भी 'आश्रम' अर्थ लिया है। जब मूलमें आश्रमी शब्द लिखते हैं तब बिना आश्रमके आश्रमी कैसे सिद्ध हो सकता है। यदि कहिये कि श्रम तजहिं तो श्रम कार्य्य है। जिससे श्रम होता है वह कारण कहलाता है, कारणके रहते कार्य कैसे छूटेगा? अतः परिश्रम अर्थ करनेसे प्रसंग विरोध होगा। 'आश्रमका श्रम तजहिं' अर्थ ठीक नहीं है

क्योंकि आश्रम कोई चीज नहीं है। वह तो कर्मानुसार है। जैसे जब यह जीव कुमार अवस्थामें ब्रह्मचर्य धारण कर विद्याध्ययन और गुरु सेवा करता है तब ब्रह्मचर्याश्रममें कहलाता है। वही जब विवाह करके सन्तान उत्पन्न करता है, इत्यादि तब गृहस्थाश्रमी कहलाता है। गृही होनेपर ब्रह्मचर्य आश्रम छूट गया। जब मैथुन आदि छोड़कर तप करने लगा तब गृहस्थाश्रम छूट गया। वह वानप्रस्थ कहलाने लगा। इसी तरह संन्यास लेनेपर वानप्रस्थाश्रम छूट जाता है। इस परम्परासे जब कर्मही आश्रम हुआ तब आश्रम कोई चीज नहीं ठहरा। जब कर्म आश्रम हुआ तब कर्ममें श्रम कहा जा सकता है। पर कर्म करते श्रम कैसे तजेगा? कर्म करनेमें तो श्रम अवश्य होगा। अतः जब कर्म छूटेगा तब श्रम छूटेगा और जब कर्म छूटा तब आश्रम छूटा। भक्ति प्राप्त होनेपर कर्म होता ही नहीं, यथा—'कर्म कि होंहिं सरूपहि चीन्हें'। कोई महात्मा कहते हैं कि हरिभक्ति पानेपर चारों आश्रमोंका त्याग नहीं होता। उसका उत्तर यह है कि जो नृपादि नगरमें स्थित थे उन्होंने नगरको त्याग दिया। चारों आश्रमी किसमें स्थित हैं? यदि आश्रममें स्थित हैं तो उन सबोंके लिये आश्रमका त्याग करना अर्थ किया जा सकता है। क्योंकि स्थिति तजनेकी उपमा है। जैसे ब्रह्मचर्यको गार्हस्थ, गार्हस्थको वानप्रस्थ और इनको सन्यस्थ लुप्त कर देता है तब हरिभक्तसे आश्रमके छूटनेमें क्या संशय है?....यह वचन भक्तिके प्रारंभके समयके लिये नहीं है किन्तु भक्ति प्राप्त होनेपर है जो सोलह आने पूर्ण भक्ति प्राप्त कर चुका है। जब तक भक्ति चार आना या आठ आना कर रहा है तबतक आश्रम कैसे छूटेगा।"

**सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरिसरन न एकौ बाधा॥ १॥**

अर्थ—जो मीन अथाह जलमें हैं वे सुखी हैं जैसे भगवान्‌की शरणमें एक भी बाधा नहीं†।१।

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा कि 'संकोच जल' के मीन विकल हैं, यथा—'जल संकोच बिकल भइँ मीना'; उसीकी जोड़में यहाँ कहते हैं कि जो अगाध जलमें हैं वे सुखी हैं। (ख) संकोच जलवाले मीनकी उपमा कुटुम्बीकी दी थी और यहाँ अगाध जलवाले मीनको हरिभक्तकी। यह भेद करके जनाया कि जो हरिशरण छोड़कर कुटुम्ब सेते हैं वे दुःखी हैं और जो हरिशरण हैं वे सुखी हैं। हरिके शरणमें प्रथम तो एक भी बाधा नहीं होती और कदाचित् कोई बाधा आ पड़ती है तो बाधा दूर करनेके लिए हरि अवतार लेते हैं—(वा, 'हरि' की शरण हैं, अतः हरि उस बाधाका निवारण करते हैं) यही आगे कहते हैं, यथा—'फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसा'। (ग) हरिभक्तको मीनकी उपमा दी; क्योंकि जैसे मीन जलका अत्यन्त स्नेही है वैसेही हरिभक्त हरिके अत्यन्त स्नेही हैं। मीनका 'जल जीवन जल गेह', वैसेही हरिभक्तके हरिही जीवन और सर्वस्व हैं। उपाय और उपेय दोनों हैं। ☞यहाँ भक्ति है।

नोट—१ हरिशरणरूपी जलकी गंभीरता समुद्रसी है। 'न एकौ बाधा', क्योंकि प्रभुका वचन है कि 'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी'। पुनः शिववाक्य, यथा—'सीम कि चापि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू' इत्यादि। (प्र०)। 'अबुध कुटुंबी' दुःखित रहता है, क्योंकि उसमें बुद्धि नहीं है, जिससे वह समझे कि जो संसारका पालन करनेवाला है वह हम सबका पालन भी करेगा, हमें उसकी शरण होकर उसका भजन करना और उसीका आशाभरोसा रखना चाहिए। किसीने कहा है—'जब दाँत न थे तब दूध दियो जब दाँत दिए कहा अन्न न देहै?'। (पं० रा० व० श०)।

श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडियाने गीतांक (कल्याण) में यथार्थ ही लिखा है कि सच्चे अनन्यशरण भक्तको अपने लिए अपना कर्तव्य अथवा उसे अपने उद्धारकी चिन्ता कुछ भी नहीं रह जाती। वह तो एक बाजेके समान है, बजानेवाला जिस प्रकार चाहे वैसेही बजा सकता है, जिस रागको वह निकालना चाहता

---

† यथा भागवते—'जलस्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया। अबिभ्रद् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया॥ १०।२०।१३।' अर्थात् जल और स्थलवासी सबने नवीन जलके व्यवहारसे रुचिर रूपको धारण कर लिया जिस प्रकार भक्त हरिभक्तिके व्यवहारसे रुचिररूपको धारण कर लेते हैं।

है वही निकलता है। अपने हानिलाभ, जीवन-मरण, मान-अपमानकी उसे चिन्ता नहीं रहती। महात्मा मंगलनाथजी स्वामी कहा करते थे कि "कल्याणके अनेक मार्ग हैं और सबही ठीक हैं किन्तु उन सबमें शरणागतिका मार्ग अलौकिक है। अलौकिकका भाव यह है कि अन्य मार्गोंमें साधनका भार और कर्त्तव्य साधकके सिरपर रहता है। यहाँ शरणागतिमें सब भार अपने प्रभुके सिरपर रहता है। वहाँ अपनी चिन्ता स्वयं करनी पड़ती है किंतु यहाँ शरणागतभक्तकी चिन्ता भगवान्‌को रहती है, भक्त तो निश्चिन्त रहता है। गोस्वामीजीने भी क्या खूब कहा है—'जागै भोगी भोगही वियोगी रोगी सोगवस, सोवै तुलसी भरोसे एक राम के।' (क० उ० १०९।)' एवं 'भरोसे रामनामके पसारि पाय सूत हौं।' इसके अतिरिक्त वहाँ साधक अज्ञानजन्य ममतामें आसक्ति रहनेसे गिर भी जाता है; पर यहाँ शरणागतभक्तके रक्षक स्वयं त्रिभुवनपति भगवान् रहते हैं, फिर गिरनेका भय कैसे हो सकता है? यहाँ तो शुकदेव स्वामीके ये वचन चरितार्थ होते हैं, 'त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भयाः। भा० १०।२।३३।' अर्थात् आपद्वारा रक्षित हुए निर्भय विचरते हैं। शरणागतभक्तका रक्षण प्रभु उसी प्रकार करते हैं जैसे एक छोटे स्तनपायी बालककी रक्षा और देखभाल जननी करती है। माता भी परिमित शक्तिवाली होनेके कारण सर्वथा रक्षा नहीं कर सकती और यहाँ तो अपरिमित शक्तिवाले रक्षक हैं। अतएव शरणागति कल्याणका अलौकिक मार्ग है। भगवान्‌की शरण नीचा-तिनीच भी ले सकता है। सच्चे हृदयसे शरण लेनेके बाद कोई दुराचारी नहीं रह सकता।" वैष्णवरत्न श्री १०८ रूपकलाजीने भी खूब कहा है 'प्राण तोर मैं तोर मन चित बुधि यश तोर सब। एक तुही तो मोर काह निवेदौं तोहि पिय'। इस दोहेमें शरणागतका अर्थ मानों कूज्जे (घट) में समुद्रको भर दिया है। "इधर भगवान् भी नीचातिनीचको शरण देनेसे मुख नहीं मोड़ते। अतएव निर्भय होकर अपने पापोंके समूहको आगे करके विभीषणजीकी भाँति प्रभुके चरणोंमें अपनेको समर्पण कर देना चाहिए, जैसे विभीषणजीने कहा है—'श्रवन सुजस सुनि आयउँ प्रभु भंजन भवभीर। त्राहि त्राहि आरतिहरन सरन सुखद रघुबीर।" ☞यह घोषणा श्रीरामजीने यहाँ इस एक चरणमें कर दी है। देखिए, सारी भागवत और गीता एवं विभीषण शरणागतिमें जो कुछ भी वाल्मीकीय एवं रामचरितमानस आदि रामायणोंमें भगवान्‌ने शरणागतिके विषयमें बड़े ज़ोरके वाक्य कहे हैं, उन सबका सार श्रीरामजीने यहाँ एक चरण-मेंही कैसा भर दिया है।—भक्तवत्सल श्रीरामचन्द्रजीकी जय! जय!! जय!!!

प० प० प्र०—भगवान् सोचते हैं कि सुग्रीव मेरी शरणमें आया है। उसको बाधा होगी तो सन्त मुझे दोष देंगे। वह तो 'सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे'—न्यायसे निश्चिन्त है। उसकी कीर्ति और शोभा बढ़ाना मेरा ही कर्तव्य है। 'करउँ सदा तिन्हकै रखवारी' यह मेरा विरद है।

**फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसा॥ २॥**
**गुंजत मधुकर मुखर अनूपा। सुंदर खग रव नाना रूपा॥ ३॥**

अर्थ—कमलके फूलनेसे तालाब कैसा शोभित है जैसे सगुण होनेसे निर्गुण ब्रह्म शोभित होता है।२। भौंरे गूँजते हैं उनका शब्द अनुपम है, अनेक रूपके सुंदर पक्षी सुंदर शब्द कर रहे हैं।३।

टिप्पणी—१ 'फूले कमल....' इति। (क) यहाँ जल निर्गुण और कमल सगुण ब्रह्म है। जलका गुण कमल प्रगट हुआ अर्थात् जल सगुण हुआ। इसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म सगुण हुआ। [यहाँ सगुण ब्रह्मकी उपमा कमलसे नहीं है, गुणकी उपमा कमलसे है। सर पहले भी था, और अब भी है। पहिले कमलसे रहित था, अतः उसकी वैसी शोभा नहीं थी, जैसी कि अब कमल सहित होनेसे हो रही है। कमल सहित होनेसे तालाब दूसरा नहीं हो गया। उस तालाबमें ही दो अवस्थाएँ हैं, एक कमल सहित और एक कमल रहित, इस भाँति उस ब्रह्मकी भी दो अवस्थाएँ हैं एक सगुण एक निर्गुण। सगुण अवस्थामें भी ब्रह्म तो जैसाका तैसा ही रहता है, कमलोंसे युक्त होनेसे शोभा तथा उपयोगिता बढ़ जाती है। (वि० त्रि०)]

(ख) 'फूले कमल', यह ईश्वरके आकारकी शोभा कही, आगे गुणकी शोभा कहते हैं, यथा—'गुंजत मधुकर मुखर अनूपा ।०' । (ग) कमल अनेक और भगवान्के अवतार अनेक । (घ) कमल चार रंगके (श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण) और सगुणब्रह्म भी चार रंगके हैं, यथा—'शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ।' इति भागवतेगर्गाचार्यवचनम् ।१०।८।१३। अर्थात् भगवान् श्वेत, लाल, पीत और काला रूप धारण करते हैं, इस समय श्यामताको प्राप्त हैं ।

रा० प्र० श०—कमल चार रंगका और सगुण ब्रह्म भी चतुर्व्यूह होता है—श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न, संकर्षण और अनिरुद्ध । ऐसे ही निरक्षर ब्रह्म भी चार ही रूपमें ऋग्, यजुः, साम और अथर्व कहा जाता है । इन्हींके आधारपर चार ही उपवेद, ४ वानी, ४ धाम, ४ मुक्ति, ४ प्रकारके भक्त, ४ अवस्थायें, ४ खानि, ४ वर्ण, ४ आश्रम आदि हुए । कमलको सगुण ब्रह्म कहा । इसीसे कवि जब सगुण ब्रह्मके अंगोंकी उपमा देते हैं तब कमल हीसे, यथा—नेत्रकमलवत्, करकमल, इत्यादि ।

वै०—निर्गुण सगुण होकर शोभित होता है क्योंकि उससे सर्वव्यापकताका बोध होता है जैसे कमल खिलनेसे सरमें जलका बोध होता है ।

मा० म०—भाव यह कि जैसे कमलका मूल पृथ्वीपर पंकमें रहता है और जब तक जलके भीतर रहता है कोई नहीं जानता; जब जलके ऊपर दल सहित फूलता है तभी शोभता है । वैसे ही जबतक एक-रस (साकेत) लोकमें श्रीरामचन्द्र निर्गुणरूपसे निवास करते हैं तबतक नहीं शोभते, ध्यानमें नहीं आते, परंतु जब प्रगट होते हैं तभी सुशोभित होते हैं । तात्पर्य कि साकेतरूपी पृथ्वीपर रामरूपी कमलका मूल है; वहाँसे कल्याणगुणरूपी दल फूलके साथ सुखसमाजरूपी पंकके साथ प्रकट होते हैं तब अनेक आनन्द प्रकट होते हैं । पुनः, निर्गुण ब्रह्म श्रीरामचन्द्ररूपी कमल अवधरूपी सरमें परमप्रेमरूपी पंकमें कल्याणगुण-सहित प्रकटे और संतरूपी भ्रमर अशंक होकर मकरंदरस पान करते हैं ।

☞ प्र० सं० में समानार्थक श्लोक, विष्णुपुराणके नामसे 'सरो शोभते राजीवैः कथं विकसितैर्नृप । सत्त्वादिभिरथाच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ ॥' (अर्थात् हे राजन् ! खिले हुए कमलोंसे सर कैसा शोभित है जैसे सत्त्वादिगुणोंसे आच्छादित सगुण ब्रह्म शोभित हो), यह दिया था पर यह वि० पु० में नहीं मिला । पं० श्रीकान्तशरणजीने इसे भी उतार दिया है । अतः इसमें भी दिया गया ।

टिप्पणी—२ ☞ आश्रमधर्मसे भक्ति प्राप्त हुई, यथा—'जिमि हरिभगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि'; तब भक्त हरिकी भक्ति करते हैं, यथा—'सुखी मीन जे नीर अगाधा । जिमि हरिसरन न एकौ बाधा' । मछलीकी तरह हरिके आश्रय रहते हैं, तब भक्तोंकी भक्तिसे भगवान् अवतार लेते हैं, वही यहाँ कहा । अवतार लेनेपर भक्त उनका गुणगान करते हैं । यह 'गुंजत मधुकर....' से सूचित किया । यह भगवान् और भक्तकी परस्पर प्रीति कही । आश्विनके आरंभमें काँसका फूलना कहा था । कार्तिकके प्रारम्भमें कमलका विकसित होना कहा । यहाँ ज्ञान कहा ।

प० प० प्र०—१ निर्गुणब्रह्म तो सभी जीवोंके हृदयमें, जलमें आकाशके समान व्याप्त है, पर वही निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्यामी प्रभु सगुण साकाररूप होकर कमलके समान कोमल, प्रसन्न, रूपमकरंदसंयुक्त मानस सरमें प्रकट होंगे, तब उस सरकी शोभा, प्रसन्नता बढ़ेगी । २—मोह ममतारूपी मलको धो देनेका कार्य हृदयस्थ निर्गुण ब्रह्म या अन्तर्यामी भी नहीं कर पाते । वह कार्य तो सगुण साकार धनुर्धारी श्री-रामजी ही कर सकते हैं । अतः सगुण रूपको हृदयमें धारण किये बिना कामादिकी बाधा न मिटेगी ।

टिप्पणी—३ 'गुंजत मधुकर००' इति । (क) कमल फूलनेके बाद भ्रमरका गुंजार करना कहा, क्योंकि यह कमलका विशेष स्नेही है । इसके बाद सुंदर पक्षियोंका बोलना कहते हैं; जलकुक्कुट, कलहंस आदि भी कमलके स्नेही हैं । (ख) भ्रमर और पक्षियोंको दासों और मुनियोंकी वाणीकी उपमा देते हैं, इसीसे इनके गुंजार और रवको अनुपम और सुंदर कहा । (ग) जब कमल फूलते हैं तब पक्षी बोलते हैं और

भ्रमर गुंजते हैं; इसी तरह जब निर्गुणब्रह्म सगुण होता है तब दास और मुनिजन गुणगान करते हैं। (घ) दासकी उपमा मधुकरकी है, यथा—'विकसित कमलावली चले प्रपुंज चंचरीक गुंजत कल कोमल धुनि त्यागि कंज न्यारे। जनु बिराग पाइ सकल सोक कूप गृह बिहाइ भृत्य प्रेम मत्त फिरत गुनत गुन तिहारे। गी० १।३६।' और मुनिकी उपमा पक्षीकी है, यथा—'बोलत खग निकर मुखर करि प्रतीति सुनहु श्रवन प्रानजीवनधन मेरे तुम बारे। मनहु बेद बंदी मुनिबृन्द सूतमागधादि बिरद बदत जय जय जयति कैटभारे। इति गीतावल्याम् ।१।३६।'† (ङ) निर्गुणमें गुण गाना नहीं बनता अर्थात् नहीं कहा जा सकता। प्रमाण यथा—'ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः। कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात्सदसतः।' इति भागवते दशमस्कंधे। अर्थात् हे ब्रह्मन्! अनिर्देश्य (जिसको कोई दिखा नहीं सकता), गुणरहित और भले और निकम्मेसे परे ऐसे ब्रह्मके विषयमें सगुण वेद साक्षात् कैसे कह सकें? यहाँ ज्ञान और भक्ति है।

दीनजी—बड़े ही मार्मिक ढंगसे निर्गुण उपासनापर कटाक्ष किया है। बड़ा ही सुंदर व्यंग है।

प० प० प्र०—हृदय-सरमें राम-सरोजके प्रकट होनेपर उस दासके लोचनभृंग रूप-मकरंद पान करने लगते हैं, मकरंदपानसे मत्त होकर भगवान्‌के गुणगणका गानरूपी गुंजार करते रहते हैं। 'कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई। अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।' यह दशा प्राप्त हो जाती है। भक्त रघुपति गुणगान करता है तो ज्ञानी भक्त और साधकरूपी विहग कथा सुनने आते हैं, फिर परस्पर अनुकथन करते हैं यही पक्षियोंका कूजना है। यथा 'सुकृतपुंज मंजुल अलि माला। ज्ञान बिराग बिचार मराला।', 'सुकृती साधु नाम गुन गाना। ते बिचित्र जल बिहग समाना।', 'औरउ कथा अनेक प्रसंगा। ते सुक पिक बहु बरन बिहंगा।'; इस प्रकार 'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ गीता १०।९।' (भगवान् कहते हैं कि मनको निरन्तर मुझमें प्रविष्ट किये रहनेवाले तथा मेरे बिना जीवन धारण न कर सकनेवाले मेरे भक्त अपने-अपने अनुभवमें आये हुये मेरे गुणोंको परस्पर समझाते हुए और मेरे दिव्य कर्मोंका वर्णन करते हुए सन्तुष्ट होते हैं और रमण करते हैं)। इस प्रकार प्रपन्न साधनहीन भक्त सर्व बाधाओंसे विमुक्त होकर 'फिरत सनेह मगन सुख अपने। राम प्रसाद सोच नहिं सपने।'—ऐसी स्थितिका परिणाम क्या होता है, यह आगे देखिए।

**चक्रवाक मन दुख निसि पेखी। जिमि दुर्जन पर संपति देखी॥ ४॥**

अर्थ—रात्रि देखकर चकवेके मनमें दुःख होता है जैसे परायी संपत्ति देखकर दुष्टको (दुःख होता है)।४।

रात्रि और संपत्ति की समता

| रात्रि | | संपत्ति |
|---|---|---|
| रात्रिसे सबको विश्राम और सुख | १ | संपत्तिसे सबको सुख और विश्राम |
| रात्रि चक्रवाकको दुःखदायी | २ | परसंपत्ति दुर्जनको दुःखदायी |
| रात्रिके नाशसे चक्रवाक सुखी | ३ | परसंपत्तिके नाशसे दुर्जन सुखी |

वि० त्रि०—शरद्‌की रात्रि सबको सुखदायिनी होती है, यथा—'सरदातप निसि ससि अपहरई। संत दरस जिमि पातक टरई।' उसके आगमनसे सबको सुख होता है, पर चक्रवाको नहीं, यथा 'सरद चंद चंदिनि लगत जिमि चकई अकुलानि।' उसे चन्द्रिका दाहक हो जाती है, यथा 'सीतल सिख दाहक भइ कैसे। चकइहि

---

†इस प्रसंगमें बराबर एक चरणमें एक बात कहकर दूसरेमें उसका उदाहरण देते आए, पर इस अर्धालीमें वह क्रम भंग हुआ है। बाबा हरीदासजी कहते हैं कि यहाँ मन और मधुकरकी एकता है, यथा—'मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं।' मधुकर मनको मानो उपदेश करता है कि हम ऊपरसे श्याम हैं भीतरसे मुखर अर्थात् मुखसे रकार शब्द कहते हैं। मनमधुकरका उपदेश मानकर सुंदर 'ख' (हृदयाकाश) में 'ग' अर्थात् गमन और रव अर्थात् मनन करता है। मनके नाना रूप हैं, यथा—'मन महँ तथा लीन नाना तन प्रगटत अवसर पाएं।' यह मन ईश्वरके नाना अवतारोंमें रमणकर सुखी होता है।—(पर यह बहुत क्लिष्ट कल्पना है)।

सरद चंद निसि जैसे।' इसीलिये उसकी उपमा दुर्जनसे दी; यथा—'खलन हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी।'

**चातक रटत तृषा अति ओही। जिमि सुख लहइ न संकरद्रोही ॥५॥**

अर्थ—पपीहा रट लगाए है, उसको अत्यन्त प्यास है। जैसे शंकरजीका द्रोही सुख नहीं पाता। अर्थात् जैसे वर्षाके रहते भी चातकको सुख नहीं ऐसे ही सब सुखका साज-समाज रहते हुए भी शंकर-द्रोहीको सुख नहीं, उसको सुख कैसे हो वह तो शंकर अर्थात् कल्याण करनेवाले ही का वैरी है।५।

टिप्पणी १—☞अब हरिकी प्राप्तिका उपाय यहाँसे बताते हैं। शंकर, संत, ब्राह्मण और सद्-गुरु इन चारोंके बीचमें हरिकी प्राप्ति कहते हैं। अर्थात् 'जिमि सुख लहइ न संकरद्रोही', 'संतदरस जिमि पातक टरई', 'जिमि द्विजद्रोह किए कुलनासा', और 'सदगुर मिले जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ' इन चारोंके बीचमें 'देखि इंदु चकोर समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई', यह चौपाई है जिसमें हरिकी प्राप्ति कहते हैं। इस चौपाईको चारोंके बीचमें रखकर जनाया कि इन चारोंकी सेवासे हरि मिलते हैं। यथा—

शिवसेवासे—'जनकसुकृतमूरति बैदेही। दसरथसुकृत राम धरे देही॥
इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन्ह समान फल लाधे॥१।३१०।१-२।'

संतसेवासे—'भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्ह के चरन।
तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन॥ वि० २०३।'

द्विजसेवासे—'मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव।
मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताके सब देव॥ ३।३३।'

सद्गुरुसेवासे—'श्रीहरिगुरुपदकमल भजहु मन तजि अभिमान।
जेहि सेवत पाइय हरि सुखनिधान भगवान॥ वि० २०३।'

☞शंकर, संत, द्विज, गुरु और हरि इन पाँचोंकी सेवा बिना जीव संसारसमुद्रसे पार नहीं होता। यथा—'द्विज देव गुरु हरि संत बिनु संसार पार न पाइये' इति विनये पद १३६। इसीसे पाँचोंकी सेवा करनेको कहते हैं। २—इस चौपाईमें विवेक और भक्ति कही।

नोट—१ प० प० प्र० स्वामीका मत है कि यहाँ व्याजस्तुति अलंकार है, क्योंकि गोस्वामीजीने उसे अनन्य एकांगी भक्तिका श्रेष्ठ उदाहरण माना है और कहा है कि उसे केवल प्रेमकी प्यास है। यथा—'सुनु रे तुलसीदास प्यास पपीहहि प्रेमकी। परिहरि चारिउ मास जो अँचवै जल स्वातिको। दो० ३०६।', 'तुलसीके मत चातकहि केवल प्रेम पिआस। दो० ३०८।'; अतः यह स्पष्ट है कि गोस्वामीजी उसे शिवद्रोहीकी पंक्तिमें नहीं बिठायेंगे। अर्धालीका भाव यह है कि 'चातककी प्रेमप्यास इतनी अपार है कि उसकी प्रेमतृप्ति कभी होती ही नहीं। उसको कभी ऐसा नहीं लगता कि मेरी प्रीति मेघोंपर है। इसी तरह प्रेमी भक्त सदा प्रेमकी याचना करते ही रहते हैं। जैसे शिवद्रोही सुखकी आशा करता है पर वह उसको मिलता नहीं, वैसे ही चातक प्रेमी होनेपर भी प्रेममें सदा अतृप्त और दीन ही रहता है। वैसे ही दीन दासकी प्रेम-प्यास सदा बढ़ती ही रहती है। और श्रीभरतजीने कहा है कि प्रेमतृषा और प्रेमका रटन बढ़नेमें ही भलाई है, 'इस अर्धालीमें प्रेमीभक्तोंकी प्रेमतृष्णाके वर्णनकी पराकाष्ठा है।'

मेरी समझमें उदाहरणमें उपमाका एक अंग लिया गया है। गोस्वामीजीने ही 'कमल' को 'खल' की उपमा और श्रीरामजीको 'राहु' कहा है। यथा—'बिस्व सुखद खल कमल तुसार।१।१६।४।', 'जागे जहाँ रावन ससि राहू।३।२८।६।' और अर्धाली तो श्रीरामवाक्य है न कि मानस-कविका वाक्य।

**सरदातप निसि ससि अपहरई। संतदरस जिमि पातक टरई ॥६॥**

अर्थ—शरद्ऋतुकी धूप (की तपन) को रातमें चन्द्रमा (का प्रकाश) हर लेता है, जैसे संत-दर्शनसे पाप दूर होता है।६।

☞ मिलान कीजिए—'शरदर्कांशुजांस्तापान् भूतानामुडुपोऽहरत। देहाभिमानजं बोधो मुकुन्दो व्रजयोषिताम्। भा० १०।२०।४२।' अर्थात् शरद्के सूर्यकिरणोंसे उत्पन्न जीवोंके तापको चन्द्रमाने हर लिया जैसे देहाभिमान-त्रितापको ज्ञान हर लेता है और जैसे मुकुंद भगवान् कृष्णने व्रजवनिताओंका स्ववियोग जनित ताप हर लिया। चौपाईमें संतदर्शनसे पाप दूर होना कहते हैं। बिना पाप दूर हुए न ज्ञान हो सकता है न तापत्रय मिट सकता है। संतभगवंतमें अंतर नहीं; अतः संतकी जगह मुकुंद भी ठीक जम जाता है।

टिप्पणी—१ 'निसि ससि०' का भाव कि चन्द्रमा दिनमें भी रहता है, पर गर्मी (ताप) रात्रिमें हरता है। संत अपना दर्शन देकर जगत्को सुखी करते हैं और हरिदर्शन करके स्वयं सुखी होते हैं।

२ ☞ यहाँ संत (दर्शन) को शशि चन्द्रमाका प्रकाश और अगली चौपाईमें हरिको चन्द्रमा-सम कहकर जनाया कि (१) दोनोंमें अभेद है। यथा 'संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि। वि० ५७।' (२) जो सुख भगवान्के दर्शनसे संतोंको है वही सुख संतोंके दर्शनसे जगत् निवासियोंको है। (३) भगवान् संतरूपसे जगत्के लोगोंको दर्शन देकर पाप ताप हरण करते हैं। सांसारिक जीवोंमें पाप होता है, इससे उनका पाप दूर करना कहा और हरिजनमें पाप नहीं होता, इसलिए उनका केवल हरिदर्शन करना कहते हैं, पाप हरण करना नहीं कहते। ३—यहाँ ज्ञान है।

पं० रा० व० श०—'टरई' में भाव यह है कि यदि संतोंके आचरणपर चलोगे तो फिर वे पाप न सतावेंगे, नहीं तो फिर पाप लौट आयँगे; जैसे प्रतिदिन सूर्यके तापके लिये प्रतिनिशि चन्द्रका ताप हरण करना लगाही रहता है।

प० प० प्र०—भक्तिरूपी राकारजनीकी प्राप्ति बिना पापोंके विनाश हुये नहीं होती। अतः प्रथम संतदर्शनसे त्रितापोंका नाश कहकर तब आगे 'देखि इंदु....हरि पाई' कहते हैं। श्रीरामजी निश्चय करते हैं कि लक्ष्मणरूपी संतका दर्शन सुग्रीवको होगा तब उसके पापोंका नाश होगा और वह मेरे दर्शनके लिये आवेगा।

**देखि इंदु चकोर समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई ॥७॥**

अर्थ—समूह चकोर चन्द्रमाको देखते हैं जैसे हरिजन हरिको पाकर दर्शन करते हैं।७।

टिप्पणी—१ वर्षामें मेघोंके समूहके कारण चकोर चंद्रमाको नहीं देख सकते थे, अब शरद्में देखते हैं। २—'चितवहिं' का भाव कि निर्गुण ब्रह्म देखते नहीं बनता था, जब सगुण हुआ तब देखते हैं। ३—'हरि पाई' का भाव कि हरिकी प्राप्ति दुर्लभ है, हरि सब काल नहीं मिलते।—विशेष ऊपरकी चौपाईमें देखिये। ४ ☞ चंद्रचकोरके दृष्टान्तसे भक्तोंकी अनन्यता दिखाई। अर्थात् जैसे आकाशमें अगणित तारा-गण हैं पर चकोर चन्द्रमाकोही देखता है, वैसे ही अनन्यभक्त हरिको छोड़कर दूसरेकी ओर नहीं देखते।

☞ ५ वर्षाऋतुके वर्णनमें ज्ञानरीतिसे हरिकी प्राप्ति कही थी और यहाँ शरद्में उपासना-रीतिसे कही। यथा—'सरिता जल जलनिधि महँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई'; अर्थात् जलमें जल मिल गया और जीवमें हरि (हरिमें जीव ?) मिल गया। और 'चितवहिं हरिजन हरि पाई' यह उपासना है कि भक्त भगवान्को पाकर उनका दर्शन करते हैं।—[नोट मिलान कीजिए—'मुनिसमूह महँ बैठे सन्मुख सबकी ओर। सरद इंदु तन चितवत मानहु निकर चकोर॥' (आ० १२)]

करु०—शरदइन्दु (पूर्णिमाका) एक है और चकोर समुदाय उसे देखते हैं। जैसे हरिजन अनेक हैं वे हरिको पाकर बाह्यान्तर नेत्रोंसे अहर्निशि मूर्तिमान सिंहासनपर विराजमान और चराचरमें व्याप्त अन्तर्यामीरूप एक हरिको देखते हैं।

प० प० प्र०—चकोरका चन्द्रपर सहज प्रेम रहता है पर आकाशके मेघाच्छन्न होनेसे वह दर्शन नहीं

कर सकता। वैसेही प्रपन्न दीन दासोंके हृदयाकाशमें सद्मोहादिका आवरण है। मेघोंके हटानेका कार्य तो पवनका है। सद्गुरुमुखके वचनरूपी पवनसे जब सद्मोह पटल हटेगा तब वह संतदर्शनसे निष्पाप होकर सगुण साक्षात्कार कर सकता है। इसी तरह प्रथम शिवावतार पवनसुत प्रथम सुग्रीवको निर्मोह करेंगे, तब लक्ष्मणसंतका दर्शन होगा और तब रामदर्शन होगा। अतः दोहेमें सद्गुरुका ही उल्लेख करते हैं।

**मसक दंस बीते हिम त्रासा। जिमि द्विजद्रोह किए कुल नासा ॥८॥**

शब्दार्थ—दंश=डाँस, बड़े मच्छड़ जो प्रायः वन प्रदेशमें होते हैं। =एक प्रकारकी बड़ी मक्खी जो जोरसे काटती और बहुत दुःख देती है। इसके डंक बहुत विषैले होते हैं। बगदर, वनमक्षिका।

अर्थ—मच्छड़ और डाँस हिमके डरसे नष्ट हो गए, जैसे ब्राह्मणसे वैर करनेसे कुलका नाश हो जाता है।८।

नोट—१ मशक छोटे और दंश बड़े दोनों प्रकारके मच्छड़ोंको कहकर जनाया कि ब्रह्मद्रोहीके कुलके छोटेबड़े जितने हैं सभी नाशको प्राप्त होते हैं। मिलान कीजिए—'दहइ कोटि कुल भूसुररोषू। २।१२६।४।', 'बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हें'। यहाँ विवेक कहा।

प० प० प्र०—हरिप्राप्तिके अनन्तर इस अर्धालीको रखनेमें भाव यह है कि हरिप्राप्ति होनेपर यदि कोई द्विजद्रोह करेगा तो उसके कुलका विनाश होगा।

## दोहा—भूमि जीव संकुल रहे गए सरद रितु पाइ। सदगुर मिले जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ ॥१७॥

अर्थ—पृथ्वीमें जो जीव व्याप्त थे वे शरद्ऋतुको पाकर नाशको प्राप्त हो गए जैसे सद्गुरुके मिलनेसे संशय और भ्रमके समूह चले जाते हैं।१७।

टिप्पणी १—'भूमि जीव' का भाव कि यहाँतक जलचर और नभचरका वर्णन हुआ, अब थल-चरका हाल कहते हैं। यथा—'सुखी मीन जे नीर अगाधा' (यह जलचर है), 'गुंजत मधुकर मुखर अनूपा। सुंदर खगरव नाना रूपा' से 'मसक दंस बीते०' तक (नभचर कहे) और यहाँ 'भूमि जीव' (थलचर कहे)।

२—सुसंगका मिलना शरद्ऋतुके वर्णनका उपक्रम अर्थात् प्रारंभ है। यथा—'बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसंग'। और, सद्गुरुका मिलना इस प्रसंगका उपसंहार है अर्थात् समाप्ति है। ☞ यहाँ विवेक है।

(वर्षा और शरद्का मिलान)

| वर्षा | शरद |
|---|---|
| गत ग्रीषम बरषा रितु आई | १ बरषा बिगत सरद रितु आई |
| बरषाकाल मेघ नभ छाए | २ बिनु घन निर्मल सोह अकासा |
| भूमि परत भा ढाबर पानी | ३ सरिता सर निर्मल जल सोहा |
| छुद्र नदी भरि चली तोराई<br>समिटि समिटि जल भरहिं तलवा | ४ रस रस सूख सरित सर पानी |
| महा बृष्टि चलि फूटि किआरी | ५ कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी |
| हरित भूमि तृन संकुल समुझि परै नहिं पंथ | ६ उदित अगस्ति पंथ जल सोषा |
| बिबिध जंतु संकुल महि भ्राजा | ७ भूमि जीव संकुल रहे गए सरदरितु पाइ |
| देखियत चक्रवाक खग नाहीं | ८ चक्रवाक मन दुख निसि पेखी |
| जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना | ९ चले हरषि तजि नगर नृप तापस० |

३-☞ वर्षा और शरद्के वर्णनमें श्रीरामजीने बहुतसे पदार्थ कहे हैं। अर्थात् १ वर्णाश्रम धर्म, २ संत और खलके लक्षण, ३ कर्म, ज्ञान और उपासनाकी विधि, ४ पंचतत्वोंके कार्य्य, ५ बुध और अबुधके लक्षण, ६ माया जीव ब्रह्मके लक्षण, और ७ कर्म ज्ञान उपासना तीनोंके फल कहे हैं जो नीचे क्रमसे दिखाए जाते हैं—

१ वर्णाश्रम धर्म

ब्राह्मणधर्म, यथा— बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई।
क्षत्रियधर्म, यथा—प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा।
वैश्यधर्म, यथा—उपकारी कै संपति जैसी।
शूद्रधर्म,—'शूद्रस्तु द्विजसेवया'—जिमि द्विजद्रोह किए कुल नासा।
नारीधर्म, यथा—जिमि सुतंत्र भए बिगरहिं नारीं।
ब्रह्मचारी—यथा—सदगुरु मिले जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ।
गृहस्थ—यथा—गृही बिरतिरत हरष जस बिष्नुभगत कहँ देखि।
वाणप्रस्थ, यथा—साधक मन जस मिले बिबेका।
संन्यासी, यथा—जिमि इंद्रियगन उपजे ज्ञाना।

२ (क) संतलक्षण। (ख) खललक्षण

संत—'खल के बचन संत सह जैसे'—(१)। 'जिमि हरिजन हिय उपज न कामा'—(२)।
'संतहृदय जस गत मद मोहा'—(३)। 'हरिजन इव परिहरि सब आसा'—(४)।
खल—'खल कै प्रीति जथा थिरु नाहीं—(१)। 'जस थोरेउ धन खल इतराई'—(२)।
और 'जिमि दुर्जन परसंपति देखी'—(३)।

३ कर्म, ज्ञान और उपासनाकी विधि

(१) क्रोधरहित कर्म करे, यथा—'करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी'
(२) साधनसहित विवेक प्राप्त करे, यथा—'साधक मन जस मिले बिबेका'
(३) कामरहित भक्ति करे, यथा—'जिमि हरिजन हिय उपज न कामा।'

४—पाँचों तत्वोंके कार्य

पृथ्वीतत्वका कार्य, यथा—'ससि संपन्न सोह महि कैसी'
जलतत्वका कार्य्य, यथा—'महावृष्टि चलि फूटि किआरी'
अग्नि तत्वका कार्य्य प्रकाश है, यथा—'कबहुँक प्रगट पतंग'—
वायुतत्वका कार्य्य, यथा—'प्रबल बह मारुत जहँ तहँ मेघ बिलाहिं'
आकाशतत्वका कार्य्य, यथा—'बिनु घन निर्मल सोह अकासा'

५—बुध और अबुधके लक्षण

बुध—(१) 'बर्षहिं जलद भूमि नियराए। जथा नवहिं बुध बिद्या पाए।'
(२) 'कृषी निरावहिं चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिं मोह मद माना॥'
अबुध—'जल संकोच बिकल भइँ मीना। अबुध कुटुंबी जिमि धन हीना॥'

६ माया, जीव और ब्रह्मके लक्षण और स्वरूप

माया—'भूमि परत भा ढाबर पानी। जनु जीवहिं माया लपटानी॥'
जीव—'सरिताजल जलनिधि महँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥'
अर्थात् जीवके स्वरूपपर आवरण करना मायाका लक्षण है, हरिसे अलग होना और हरिमें मिलना यह जीवधर्म है।
ब्रह्म—'फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसा॥'

७—कर्म, ज्ञान और उपासना के फल

कर्मका फल } 'चातक रटत तृषा अति ओही। जिमि सुख लहै न संकरद्रोही॥'
दुःख सुख } 'मसक दंस बीते हिम त्रासा। जिमि द्विजद्रोह किए कुलनासा॥'

ज्ञानका फल—'सरिताजल जलनिधि महँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई'
उपासनाका फल—'देखि इंदु चकोर समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई'

टिप्पणी—☞ ४ श्रीरामजीने वर्षा और शरद्के सब अंग लक्ष्मणजीको दिखाए, पर इन्द्रधनुष नहीं दिखाया। कारण यह है कि इन्द्रधनुषके दिखानेका धर्मशास्त्रमें निषेध किया गया है। यथा—'न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः' इति मनुः। अर्थात् पंडितलोगोंको उचित है कि आकाशमें इन्द्रधनुष देखकर किसी औरको न दिखावें।

प० प० प्र०—हरिप्राप्तिका वर्णन करके पश्चात् सद्गुरुका वर्णन करना ऊपर-ऊपर देखनेसे विचित्रसा लगता है; पर भाव यह है कि हरिप्राप्ति होनेपर भी संशय, भ्रम, मोह पीछा नहीं छोड़ते। हरि-प्राप्ति आदिके अहंकारसे अथवा कुसंगसे लोग मोहग्रस्त हो जाते हैं जैसे नारदजी, गरुड़जी और भुशु-ण्डीजी इत्यादिको हो गया था। उसका निरास गुरुकृपासे ही होगा।

☞ 'बरषा बिगत सरद रितु आई' से यहाँ तक शरद्वर्णन है।

मयूख—राजा इत्यादिका नगरसे विजयादशमीके दिन कूच करना जानो। यथा—'चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि'। और पूर्णिमाके नीचे हिम कहा है, यथा—'देखि इंदु चकोर समुदाई'। यह पूर्णिमा जानो और तदनन्तर 'मसक दंस बीते हिमत्रासा' यह कार्तिक समझो। १५ और १३ इन दो दोहोंके अन्तर्गत ज्ञान विवेक कहा और १७ और १५ दोहोंके अंतर्गत वैराग्य और भक्तिका नियम कहा है।

नोट—१ एक बात यह भी दृष्टिगोचर योग्य है कि वर्षा-वर्णनमें एक अर्धाली, एक दोहा, ८ अर्धाली फिर दोहा और उसपर १२ अर्धालियाँ तब दो दोहे आए। फिर शरद्वर्णनमें १० अर्धालियोंपर प्रथम दोहा है। उसके उपरान्त आठ अर्धालियोंपर दोहा है। इस भेदपर भी पाठक विचार करें।—देखिए पहिलेमें वर्षाका आरंभ है, दूसरे मासमें महावृष्टि है, अतः पहलेसे दूसरेमासमें ड्योढ़ी अर्धालियाँ आईं।

२—पं० रा० व० श०—संशय=संदेह अर्थात् किसी पदार्थके विषयमें विविध प्रकारका ज्ञान उत्पन्न होना जिससे यह न समझ पड़े कि उनमेंसे कौन उत्तम वा ठीक है। भ्रम=कोई पदार्थ है कुछ और हमारी बुद्धिमें कुछ और ही उसका आना। जैसे देहेन्द्रियके धर्मको आत्मामें मान लेना, नावपर बैठे चलें आप और समझें कि जलके तटकी भूमि वृक्षादि चलते हैं। सद्गुरुसे ब्रह्मनिष्ठ गुरुसे तात्पर्य है। (गुरु कैसा होना चाहिए यह बालकांड मंगलाचरण एवं गुरुवंदनामें विस्तारसे लिखा गया है)।

## 'रामरोष कपित्रास'-प्रकरण

**बरषा गत निर्मल रितु आई। सुधि न तात सीता कै पाई॥ १॥**
**एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं। कालहु जीति निमिष महुँ आनौं॥ २॥**

अर्थ—वर्षा बीत गई, निर्मल ऋतु आई। हे तात (भाई)! सीताकी खबर न मिली† ।१। एक-बार किसी तरह एवं कैसी ही खबर मालूम हो तो कालको भी जीतकर पलभरमें ले आऊँ।*।२।

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कह चुके हैं कि 'वर्षा बिगत सरद रितु आई' और अब कहते हैं कि 'बरषा गत निर्मल रितु आई' ये दोनों बातें एक ही हैं, अतएव पुनरुक्तिका समाधान यह है कि प्रथम जो कहा था

---

† विनोदार्थ—'न तात सुधि पाई न शीतल ही।' (पां०)

* यथा अध्यात्मे (सर्ग ५)—'यदि जानामि तां साध्वीं जीवन्तीं यत्र कुत्र वा।३। हठादाहरि-ष्यामि सुधामिव पयोनिधेः।४।' अर्थात् यदि उस साध्वीको मैं कहीं भी जीती हुई जान लूँ तो उसे जबर-दस्ती ले आऊँगा, जैसे समुद्रसे अमृत लाया गया था। चौपाईके 'कालहु जीति' के बदले अध्यात्ममें 'हठाद्' शब्द है। भाव एक ही है। कालसे कोई लौटा नहीं सकता, अतः उससे लौटा लेना बलात् लौटा लाना है।

कि 'शरद ऋतु आई' यह लक्ष्मणजीको दिखानेके निमित्त कहा था और यहाँ जो कहा है कि 'निर्मल' ऋतु आई, यह सीताकी सुध न पानेपर कहा है जैसा दूसरे चरणमें कहा है—'सुधि न तात सीता कै पाई'; इससे पुनरुक्ति नहीं है।† (ख) 'वर्षा गत' का भाव कि वर्षा तक सीताशोधमें अटक (रुकावट) रही अब निर्मल ऋतु आई, सीताशोधके योग्य समय आ गया तब भी समाचार न मिला। (ग) 'सुधि न तात सीता कै पाई' अर्थात् न जान पड़ा कि वह जीती है या मर गई, है तो कहाँ है, किस दशामें है, इत्यादि। यथा अध्यात्मरामायणे पंचमसर्गे—'मृतामृता वा निश्चेतुं न जानेऽद्यापि भामिनीम्।' यहाँ स्मृतिभाव है।

प० प० प्र०—यहाँ पुनरुक्तिवदाभास अलंकार है। 'विगत' (सम्पूर्ण गई) और 'गत' (गई) के भेदपर ध्यान न देनेसे जैसा तैसा समाधान मानना पड़ता है। इस चरणका अन्वय यह है—'वर्षा गत (और) आई निर्मल ऋतु (भी) गत।'

श्र० दी० च०—'वर्षा गत' अर्थात् शरत्कालका पूर्वार्धकाल जलवृष्टिका समय बीत गया। 'निर्मल रितु आई' अर्थात् उसका उत्तरार्ध बीत रहा है।

नोट—१ स्मरण रहे कि यहाँ 'शरद रितु' न कहकर 'निर्मल ऋतु' कहा। निर्मल ऋतुसे जनाया कि अब आकाश नितान्त निर्मल है। मेघका कहीं पता नहीं रह गया। 'वर्षा विगत' में वर्षाऋतु (श्रावण भादों) की वर्षाकी समाप्ति कही थी और 'बरषा गत' में जो 'कहुँ कहुँ वृष्टि सारदी थोरी' होती थी उसका भी अन्त हो जाना कहा। इस प्रकार यहाँ 'वर्षागत' चतुर्मासा वर्षाका बीतना कहा। यथा—'पूर्वोयं वार्षिको मासः श्रावणः सलिलागमः। प्रवृत्ताः सौम्य चत्वारो मासा वार्षिकसंज्ञिताः। वाल्मी० २६।१४' अर्थात् वर्षाका चौमासा आ गया जिसका श्रावण प्रथम मास है। 'निर्मल' शब्द देकर वाल्मीकीयके 'समीक्ष्य विमलं व्योम गतविद्युद्बलाहकम्। सारसाकुलसंघुष्टं रम्यज्योत्स्नानुलेपनम्।-३०।१।' तथा 'फुल्लसप्तच्छदश्यामा प्रवृत्ता तु शरच्छुभा।३२।१३। निर्मलग्रहनक्षत्रा द्यौः प्रनष्टबलाहका। प्रसन्नाश्च दिशः सर्वाः सरितश्च सरांसि च।१४।' इन श्लोकोंका भाव जना दिया गया है। अर्थात् आकाश बादल और बिजलीसे रहित हो गया। सप्तच्छद और तमाल विकसित हो गए। आकाशमें ग्रह और नक्षत्र निर्मल हो गए। दिशायें तालाब और नदियाँ प्रसन्न हो गईं। प्रकाश फैला हुआ है। इत्यादि।

मा० म०—वर्षा चार महीनेकी होती है। चारोंका बीतना यहाँ जानकर निर्मल ऋतुका आगमन कहा। 'सुध न पाई' में भाव यह है कि आशा थी कि मैथिलीजी येनकेन प्रकारेण खबर देंगी सो आशा भी गई।

टिप्पणी—२ (क)-'कैसेहुँ' अर्थात् मृतक वा जीवित होनेकी। [कैसेहुँ = किसी प्रकारसे, अपने पुरुषार्थसे वा किसी मित्र आदिके द्वारा।] (ख)—'कालहु जीति आनौं' अर्थात् यदि मर गई होगी तो कालके यहाँ होगी क्योंकि जीव मरनेपर कालके यहाँ रहता है, तब मैं कालको जीतकर ले आऊँगा। (ग)—सुधि मिलनेमें वर्षाकी अटक रही, पर सुधि मिल जानेपर पलभरकी अटक न होगी। 'निमिष' अल्पकालवाचक है। (घ) श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'इस चौपाईमें श्रीरामजी लक्ष्मणजीसे अपना बल सूचित

† प्र०—कोई कोई शंका करते हैं कि 'बरषा विगत सरद रितु आई' कहकर पूर्व ही वर्षाकी समाप्ति कह चुके हैं। अब यहाँ फिर 'बरषा गत निर्मल रितु आई' क्यों कहा? समाधान यह है कि गोस्वामीजी जब कोई प्रकरण छोड़कर कोई दूसरी कथा लिखते हैं तब फिर वे पूर्वसे कथाका संबंध मिलाया करते हैं। पहले शरदागमन कहकर शरद्का वर्णन करने लगे (नहीं तो वहीं यह बात कहते जो अब कह रहे हैं)। जब उसका वर्णन समाप्त किया तब फिर वहींसे उठाया (क्योंकि अपने कार्यका प्रारंभ भी शरद्में ही करना है)। इसी तरह सुन्दरकांडमें 'करौं विचार करौं का भाई' पर प्रसंग छोड़कर रावणका आगमन कहने लगे-'तेहि अवसर रावन तहँ आवा....'। इस प्रसङ्गकी पूर्ति 'देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलप सम बीता' पर करके, तब पुनः पूर्व प्रसङ्ग मिलाया है, यथा—'कपि करि हृदय विचार....'। ऐसे ही अनेक प्रसङ्ग ग्रन्थमें हैं।

करते हैं जिसमें वे अधीर न होवें और यह न समझें कि सुग्रीवही जानकीजीको लावेंगे]।

पं०—'कालहु जीति' में काल-पदसे लक्षणाद्वारा कालसमान महाबली योधा समझना चाहिए।

पं० रा० व० श०—गोस्वामीजी उपासक हैं, उपासनामें त्रुटि नहीं आने दे सकते। इसीसे उन्होंने अन्य रामायण-कर्त्ताओंकी तरह मरण शब्दका प्रयोग न करके उसी बातको 'कालहु जीति' से सूचित कर दिया है।

**कतहुँ रहौ जौं जीवति होई। तात जतन करि आनौं* सोई॥ ३॥**

**सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी॥ ४॥**

अर्थ—कहीं भी रहे (हो) पर यदि जीती होगी तो, हे तात! यत्न करके उसे ले आऊँगा।३। सुग्रीवने भी मेरी सुध भुला दी, (क्योंकि अब) वह राज्य, कोश, नगर और स्त्री पा गया। (अर्थात् राज्यादिमेंसे यदि एक भी बाक़ी रहता तो सुध न भुलाता। पुनः, मदमस्त करनेके लिए एकही अलं है और यहाँ तो चार हैं फिर भला वह क्यों न भूल जाता।)।४।

टिप्पणी १—कालके वश होना प्रथम कहा और जीवित रहना पीछे। क्योंकि मरनेमें संदेह नहीं है, जीवित रहनेमें सन्देह है। इसीसे 'जीवति होई' में संदिग्ध वचन 'जौं' दिया। मृत्युमें सन्देह इससे नहीं है कि वे सहज ही भीरु स्वभाव हैं; शूर्पणखासे डर गई थीं—'मृगलोचनि तुम्ह 'भीरु सुभाये', 'चित्रलिखित कपि देखि डेराती।' राक्षसको देखकर उसके भयसे प्राण निकल गए होंगे। अथवा, राक्षसोंने खा लिया होगा क्योंकि यह निशिचरस्वभाव है, यथा—'नर अहार रजनीचर चरहीं।' अथवा, हमारे वियोगमें प्राण अवश्य छोड़ दिये होंगे, क्योंकि वनयात्रा समय यही उन्होंने कहा भी था कि 'राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जानियहि प्रान'।' वाल्मी० स० १।५१ से भी इसकी पुष्टि होती है। वहाँ रामचन्द्रजी कहते हैं कि मेरा दृढ़ निश्चय है कि मेरे विरहमें साध्वी सीता रह नहीं सकती, यथा—'दृढं हि हृदये बुद्धिर्मम संपरिवर्तते। नालं वर्तयितुं सीता साध्वीमद्विरहं गता'।

२—'कतहुँ रहौ' का भाव कि मरनेपर तो ठिकाना है कि कालके यहाँ होगी, पर जीती रहनेपर ठिकाना नहीं कि कहाँ हो; इसलिए कहते हैं कि 'कहीं भी हो', जहाँ होगी वहाँसे, जान लेनेपर ले आवेंगे। मरी होगी तो पल भरमें ले आवेंगे क्योंकि तब खोजनेमें विलंब न लगेगा और जीवित है तो पता लगानेमें समय लगेगा, इसके लिए यत्न करना होगा, दूत भेजने पड़ेंगे, इत्यादि। [पाँड़ेजी अर्थ करते हैं कि 'यदि मरी होगी तो मैं कालके यहाँसे निमिषमें ले आऊँगा और अब लक्ष्मणजीसे कहते हैं कि जो कहीं जीती हो तो तुम उसे यत्न करके ले आना।' पर यह अर्थ ठीक नहीं जान पड़ता। 'आनौ' ऐसा प्रयोग अन्यत्र भी दिखाया जा चुका है। पांडेजी 'आनो' पाठ देते हैं। महादेवदत्तजी लिखते हैं कि 'यहाँ दो संकल्प हैं, एक मृतका दूसरा जीवितका।'—(ऐसा ही टिप्पणी में भी कहा है)। 'हनुमान्‌जी जीवित होनेकी खबर लाए। अतएव प्रभु जीवितवाले संकल्पके अनुकूल कटक बटोरना, सेतु बाँधना, युद्ध करना यह सब प्रयत्न करके सीताजीको लाए'।

श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि 'इस चौपाईमें श्रीरामजी अपनी बुद्धिको सूचित करते हैं, क्योंकि जिसमें बुद्धि और बल दोनों होते हैं वह सब कार्य करनेको समर्थ है। यथा 'मोहि सुरन्ह जेहि लागि पठावा। बुधि बल मरम तोर मैं पावा। रामकाज सब करिहहु तुम्ह बल बुद्धि निधान।' ]

३—'सुग्रीवहु' का भाव कि काल तो हमारे विपरीत है ही कि हमें ऐसी विपत्तिमें डाला, (यथा—'कीन्ह मातु मिस काल कुचाली' इति भरतवाक्यं), पर अब सुग्रीवने भी हमारी सुध भुला दी। अतएव हम कालको भी जीतेंगे और कृतघ्न सुग्रीवको भी मारेंगे। 'पावा राज०' कहकर सुग्रीवको कृतघ्न सूचित किया। 'बिसारी' अर्थात् जानबूझकर भुला दी, सुधि 'बिसर' नहीं गई।

* आनौ—भा० दा०।

मा० म०—पहिले कहा है कि कालको भी निमिषमें जीतकर लाऊँगा। पर जान लेनेपर निशिचरवधमें तो बड़ा समय लगा? इस वचनका तात्पर्य यह है कि जब निशिचर युद्धार्थ सम्मुख आते थे तब प्रभु उन्हें एकही निमिषमें मार डालते थे।—(पर रावणसे कई दिन लड़ाई रही? कारण कि वरके अनुसार उससे नरलीला कर रहे थे और जब मारना निश्चय किया तब तो जरामेंही वध कर डाला।)

☞समानार्थक श्लोक—'सुग्रीवोऽपि दयाहीनो दुःखितं मां न पश्यति ॥७॥ राज्यं निष्कण्टकं प्राप्य स्त्रीभिः परिवृतोरहः।....॥८॥ पूर्वोपकारिणं दुष्टः कृतघ्नो विस्मृतो हि माम्।९।' (अध्यात्म ५)। अर्थात सुग्रीव भी निर्दयी हो गया कि हमारा दुःख नहीं देखता। निष्कण्टक राज्य पाकर एकान्तमें स्त्रियोंमें आसक्त है। दुष्ट और कृतघ्नी सुग्रीवने प्रथमही उपकार करनेवालेको भुला दिया।

**जेहि सायक मारा मैं बाली। तेहि सर हतहुँ मूढ़ कहँ* काली ॥ ५ ॥**
**जासु कृपा छूटहिं मद मोहा। ता कहुँ उमा कि सपनेहु कोहा ॥ ६ ॥**

*अर्थ*—जिस बाणसे मैंने बालिको मारा है, उसी बाणसे मूढ़को कल मारूँगा (वा, मारूँ? मारूँ तो सारी विलासिता मिट्टीमें मिल जाय)।५। (शिवजी कहते हैं) हे उमा! जिसकी कृपासे मद और मोह छूट जाते हैं, उसको क्या स्वप्नमें भी क्रोध हो सकता है? (अर्थात् कदापि नहीं। यह तो नरलीला है, विरहातुरका अभिनय है)।६।

☞'हतहुँ मूढ़ कहँ काली' इति।☜

मा० त० भा०—ये वचन केवल भय दिखलानेके लिए कहे गए हैं; जैसा कि आगे श्रीरामचन्द्रजीके ही वचनसे स्पष्ट है, यथा—'भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव'। 'मूढ़' कहनेका भाव कि उसने हमारा कार्य भुला दिया, हमारा उपकार भुला दिया, यथा—'सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोष पुर नारी॥' और हमारा बल भी भुला दिया। 'जेहि सायक मारा मैं बाली', उस बाणकी उसको खबर नहीं है।

करु०, मा० म०—प्रभु प्रतिज्ञा करते हैं कि कल मारूँगा। संदर्भ यह कि यदि वह आजही मेरे समीप आ जाय तो उसके प्राण बच जायँगे; नहीं तो कल अवश्य मारूँगा।

वै०—यह माधुर्यमें राजनीति है कि राजा जिसके शत्रुको मारकर राज्य दिलाते हैं यदि वह भी बदक़ौल हुआ तो उसको भी दंड देते हैं, विरोधी होनेपर उसे भी मारते हैं। मित्रताकी हानि हुई। इसका दंड उसे अग्नि देता, क्योंकि वह साक्षी है। प्रभुने यह वचन कहकर उसको मित्र-द्रोहके पाप और दण्डसे बचा दिया; नहीं तो अग्निदेव उसे भस्म कर डालते। 'कल मारूँगा' इसीसे कहा कि वह तो आजही आ जायगा।

पं०—बालि-वधकी प्रतिज्ञा की सो सत्य और वैसीही प्रतिज्ञा अब की सो असत्य, यह कैसा? इसमें क्या अभिप्राय है? उत्तर—भगवान् भक्तोंके लिए अपनी प्रतिज्ञा अन्यथा कर देते हैं। सुग्रीव भक्त है, अतः आश्चर्य क्या? यही बात भीष्म-पितामहजीने भगवान् कृष्णसे कही है। भगवान्ने अपनी प्रतिज्ञा छोड़ भीष्मकी प्रतिज्ञा रक्खी। 'आज न आया तो कल मारूँगा और वह आजही आ गया, इससे प्रतिज्ञा पूर्ण रही', ऐसा अर्थ करनेसे अर्थ तो बनता है पर इससे रघुनाथजीमें कोपका निश्चय होता है; और भक्तोंपर प्रभुका दृढ़ कोप करना उचित नहीं। इसी बातकी पुष्टता शंकरजी करते हैं।

मयूख—कार्तिकके पाँच दिन बीत गए तब श्रीरामचन्द्रजीने कोपकी ओटसे सुग्रीवपर करुणा की।

शीला—सुग्रीवद्वारा शिक्षाहेतु रामजी यह चरित्र कर रहे हैं—(१) दिखाते हैं कि विषय कैसा प्रबल है कि वही सुग्रीव जो बालिभयसे अहर्निशि चिंतित और व्याकुल रहता था, अब बालिवध होनेपर राज्य, स्त्री आदि पानेपर अपना वचन भूल गया कि 'सब परिहरि करिहौं सेवकाई'। पासही रहता है, तो भी तनकी कौन कहे, वचनसे भी सहायता उसने न की। ☞मुझमें और भक्तोंमें बीच डालनेमें विषय ऐसा प्रबल है।

* कह—भा० दा०।

अतएव जो मुझे चाहे उसे उचित है कि विषयभोगका त्याग करे। पुनः, (२) प्रभु अपनी भक्तवत्सलताका एवं भक्तोंके अपराधका स्वरूप एकत्र करके सुग्रीवद्वारा दिखाते हैं। सुग्रीवका ऐसा अपराध कि अपना उपकार करनेवालेके कार्यको भूल गया; ऐसा कृतघ्न। उस अपराधके लिए उसे झूठही मारनेको और वह भी कल और झूठ ही क्रोध उसपर किया—ऐसा कृपालु कौन है? पुनः, (३) यहाँ यह भी दिखाया कि भगवान् अपने भक्तकी प्रतिष्ठा अपनेसे अधिक करते हैं। आपने सुग्रीवको मित्र बनाकर अभय दिया। पर परमभक्त लक्ष्मणजी द्वारा उसे अभय दिलानेपर फिर क्रोध आदि दिखावमात्रवाला भी न करेंगे। लक्ष्मणजीने सुग्रीवको आगे अभयदान दिया है, यथा—'तब सुग्रीव चरन सिरु नावा। गहि भुज लछिमन कंठ लगावा'।

पां०—आशय यह है कि रघुनाथजी मानुषी लीला करत रहे हैं। अतः उसी आचरणके अनुकूल रघुनाथजीका यह कथन है, इसीसे शंकरजी कहते हैं कि इस लीला (चरित) को वही जाने जिसने रघुबीर-चरणमें प्रीति की।

दीनजी—अर्थ यह है कि—"जिस बाणसे मैंने बालिको मारा है यदि मैं उसी बाणसे इसे भी मारूँ तो लोग कल ही मुझे मूढ़ कहने लगेंगे (कि मित्रता तो की पर तनकसी बातपर चिढ़ गए और मित्रताका निर्वाह न कर सके)।' यहाँ पर 'तेहि सर हतउँ मूढ़ कह काली' को रामजीने उसी भावमें प्रयुक्त किया है जो ऊपर लिखा जा चुका है पर लक्ष्मणजीने इसका दूसरा अर्थ लगाया कि रामजी प्रतिज्ञा करते हैं कि उसी बाणसे मैं इस मूढ़को कल मारूँगा। यहाँपर श्रीरामजीमें कुछ कोपसा दर्शाया गया है। पार्वतीजी चकित हो गईं, उन्होंने पूछा यह क्या? ईश्वरको कोप कैसा? तब महादेवजी कहते हैं। और आगे कवि कहते हैं कि 'लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना'। इसमें स्पष्ट भाव यही है कि वस्तुतः रामजीमें क्रोध नहीं, लक्ष्मणजीको भ्रम हुआ कि उन्हें क्रोध आ गया है। 'जाना' शब्द इसीलिए प्रयुक्त हुआ है।"

नोट—१ भागवतदासजीका पाठ 'कह काली' है। इस पाठसे दीनजीका अर्थ खूब बैठ जाता है। यह भाव शेषदत्तजीने दिया है। काशीकी प्रतिमें 'कहु' पाठ है। उससे लोग एक अर्थ यह भी निकालते हैं कि 'हे काली (शेषावतार)! उससे जाकर कहो कि बालिको जिस बाणसे मारा है उसी बाणसे, अरे मूढ़, तुझे भी मारूँगा'। 'काली' का अर्थ 'कल' भी करतेहुए ऐसा अर्थ कर सकते हैं कि उससे तुम जाकर कहो।—यह अर्थ और भाव बाल्मीकीयसे पूर्ण संगत है। यथा वाल्मी० ३०—'उच्यतां गच्छ सुग्रीवस्त्वया वीर महाबल। मम रोषस्य यद्रूपं ब्रूयाश्चैनमिदं वचः ॥८०॥ न स संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः। समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपथमन्वगाः ॥८१॥ एक एव रणे वाली शरेण निहतो मया। त्वां तु सत्यादतिक्रान्तं हनिष्यामि सबान्धवम् ॥८२॥' अर्थात् हे महाबली वीर! सुग्रीवसे जाकर कहो, और मेरे रोपका स्वरूप भी उसे बताओ, कि जिस मार्गसे बाली गया है वह मार्ग बंद नहीं हो गया है; प्रतिज्ञाका पालन करो, बालिके रास्तेपर मत चलो। मैंने बालिको अकेला ही मारा था पर तुमको सत्यके त्यागके कारण बन्धुवर्गसहित मारूँगा।—पर प्रधान अर्थ मेरी समझमें वही है जो अर्थमें दिया गया है। क्योंकि यदि ये अर्थ लें तो फिर 'लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना', यह अर्धाली व्यर्थसी हो जाती है अथवा कमसे कम इसकी कुछ विशेषता रह ही नहीं जाती। पाठकोंका जिस अर्थमें मन भरे वे उसीको ग्रहण करें। अध्यात्ममें इसी प्रकारका कथन है जैसा कि मानसमें, भेद केवल इतना है कि उसमें 'काली' वाली बात नहीं है। यथा 'नायाति शरदं पश्यन्नपि मार्गयितुं प्रियाम्। पूर्वोपकारिणं दुष्टः कृतघ्नो विस्मृतो हि माम् ॥९॥ हन्मि सुग्रीवमप्येवं सपुरं सहबान्धवम्। वाली यथा हतो मेऽद्य सुग्रीवोऽपि तथा भवेत् ॥१०॥ इति रुष्टं समालोक्य राघवं लक्ष्मणोऽब्रवीत् ॥११॥ सर्ग ५।' अर्थात् शरद् ऋतु आ गयी पर वह अबतक प्रियाके शोधमें चला हुआ नहीं दीखता। वह दुष्ट और कृतघ्न है कि पूर्वही उपकार करनेवाले मुझको उसने भुला दिया। मैं उसे पुर और बान्धवों सहित मारूँगा, जैसे पूर्व बालिको मारा था। इस प्रकार क्रोधयुक्त राघवको देखकर लक्ष्मणजी बोले।

गौड़जी—यहाँ 'हतहुँ' पूर्ण क्रिया नहीं है। 'हतहुँ'=मारूँ। 'मारूँगा' के लिए 'हतिहौं' लिखते।

यहाँ 'अगर मारूँ' या 'क्या मारूँ' यह अर्थ होगा। यहाँ भगवान् शुद्ध मायामनुष्यरूपका अभिनय कर रहे हैं। विरहसे पीड़ित मनुष्य जो कहता है, वही कह रहे हैं। वस्तुतः सुग्रीवकी रक्षा करके उसे राजा कर देना किसी स्वार्थभावसे तो था नहीं। स्वार्थ साधना होता तो वालिसे मित्रता करनेमें अधिक सौकर्य्य था। सुग्रीव आर्त और अर्थार्थी भक्त था। उसकी रक्षाही वास्तविक बात थी। परन्तु यहाँ विरहातुरका अभिनय हो रहा है। 'सुग्रीवका मतलब तो निकल गया न! देश, कोश, राज, रानी, सब कुछ पाकर अब मजेसे ऐश कर रहा है और मेरे कामको स्वार्थीने भुला दिया। जिस बाणसे वालीको मारा था उसीसे मूढ़को कलही खतम करदूँ तो सारी ऐशोइशरत खाकमें मिल जाय।' यह विरहातुरका वाक्य है। यह राम-सत्य-संकल्प-प्रभुका संकल्प नहीं है। रोष मात्र है। सोभी अभिनय है। माया है। इस मायाको लक्ष्मणजी क्या जानें? 'लछिमनहू यह मरम न जाना'। यह विरहातुरका रोष भी तो उसी मायाके सिलसिलेमें है।

श्री नंगे परमहंसजी—श्रीरामजीने सुग्रीवको मारनेके लिये सत्य संकल्प नहीं किया था। बाह्य संकल्प था। क्योंकि जब लक्ष्मणजी सुग्रीवका वध करनेके लिये तैयार हुए तो श्रीरामजीने उनसे यही कहा कि सुग्रीवको भय दिखाकर ले आओ। जैसे धनुषपर बाण चढ़ाकर समुद्रको सोखनेको कहा और नहीं सुखाया, यह सत्य संकल्प नहीं कहलाता। सुग्रीव विषयसुखमें ऐसे आसक्त थे कि ज्ञान सिखानेसे नहीं निकलते और सुग्रीवका निकलना जरूरी था क्योंकि नारदजीका वचन भगवान्‌को सत्य करना है कि 'करिहैं कीस सहाय तुम्हारी', इसलिये सुग्रीवको साथ लेना है। अतः भय दिखाकर सुग्रीव निकाले गए; न तो सुग्रीवपर नाराजी थी, न क्रोध था, केवल लीला थी।

टिप्पणी—१ (क) 'जासु कृपा छूटहिं मद मोहा'। यथा—'क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम की दाया।१३।३६।३।' यहाँ मद और मोह दोका ही छूटना कहा, क्योंकि ये दोनों क्रोधके मूल हैं। अतएव जब मूलका ही रामकृपासे नाश हो जाता है तब उनको स्वयं क्रोध (जो मूल मद मोहका कार्य मात्र है) कैसे होगा? (ख) उमाको संदेह हुआ कि ईश्वरको क्रोध कैसे हुआ, इसीसे महादेवजीने समाधान किया और 'उमा' संबोधन दिया गया। (ग) ईश्वरको स्वप्न नहीं होता। स्वप्न अज्ञानता है। जो यहाँ स्वप्न कहा वह माधुर्य्य लीलाके अनुकूल कहा है।—[नोट—यहाँ यह ध्वनि है कि भगवान् नरलीलामें क्रोधका नाट्य कर रहे हैं। स्वप्नमें क्रोध न होना मुहावरा है, जिसका भाव यह है कि किसी अवस्थामें भी भगवान्‌को क्रोध नहीं हो सकता। यथा—'मायया मोहितास्सर्वेजना अज्ञानसंयुताः।१९। कथमेषां भवेन्मोक्ष इति विष्णुर्विचिन्तयन्॥ कथां प्रथयितुं लोके सर्वलोकमलापहाम्।२०। रामायणाभिधां रामो भूत्वा मानुषचेष्टकः॥ क्रोधं मोहं च कामं च व्यवहारार्थसिद्धये॥२१॥' (अध्यात्म ५)। अर्थात् मायामोहित होकर लोग अज्ञानी हो गए। उनके मोक्षके लिए भगवान्‌ने लोकमें पापनाशिनी रामायण नामकी कथाके विस्तारके लिए नररूप धारण किया और मनुष्य व्यवहार निबाहनेके लिए काम, क्रोध और मोहको भी ग्रहण किया।]

चि० त्रि० का मत आगे १८ (७) में है।

**जानहिं यह चरित्र मुनि ज्ञानी। जिन्ह रघुबीर चरन रति मानी॥ ७॥**
**लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना। धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना॥ ८॥**

अर्थ—मुनि, ज्ञानी और जिन लोगोंने रघुवीर रामजीके चरणोंमें प्रीति मान ली है वे ही इस चरित्र (रहस्य) को जानते हैं† (कि सबको कृतार्थ करनेके लिए प्रभु यह नरनाट्य कर रहे हैं, उनमें काम क्रोध आदि कहाँ?)।७। लक्ष्मणजीने प्रभुको क्रोधवंत जाना तब उन्होंने धनुष चढ़ाकर बाणको हाथमें लिया। अर्थात् सुग्रीवको मारनेको तैयार हुए।८।

---

† यथा—'विदंति मुनयः केचिज्जानन्ति जनकादयः। तद्भक्ता निर्मलात्मानः सम्यग्जानन्ति नित्यदा'॥ (अध्यात्मे ५।२४)। अर्थात् इसे कोई मुनि जानते हैं या जनकादि और निर्मल हृदयवाले भक्त अच्छी तरह नित्य प्रत्यक्ष करते रहते हैं।

वि० त्रि०—'जानहिं यह चरित्र....' इस अर्धालीसे स्पष्ट है कि रघुनाथजीने कहा कि 'इसी बाणसे कल मूढ़को मारूँगा जिससे वालीको मारा था।' श्रीरामजीको प्रतिज्ञाभ्रंशादि दोषसे विनिर्मुक्त करनेके लिये शब्दोंके तोड़ने-मरोड़नेका यत्न पण्डश्रम है। श्रीगोस्वामीजी यहाँ स्पष्ट कह रहे हैं कि इस चरितको ज्ञानी मुनि जानते हैं जो कि अभेददृष्टि रखनेपर भी लोकसंग्रहके लिये क्रोध करते-से, शाप देते हुए देखे जाते हैं, पर वस्तुतः उन्हें क्रोधका लेश भी नहीं है। यथा 'मुनि साप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।' वे ज्ञानी भक्त जानते हैं कि सरकारको क्रोधका लेश भी नहीं हो सकता और न ऐसा कहना प्रतिज्ञाकी दृष्टिसे देखा जाता है। दिन रात डराने धमकानेके लिये लोग वचोंसे ऐसी बातें कहा करते हैं; वे प्रतिज्ञायें नहीं हैं।

शंका—भगवान्‌को तो किसीपर क्रोध नहीं होता और विशेषकर भक्तोंपर तो कभी क्रोध नहीं होता। यथा 'जेहि जन पर ममता अरु छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू।', 'जासु कृपा छूटे मद मोहा। ता कहँ उमा कि सपनेहु कोहा।'; पर यहाँ श्रीरामजी और श्रीलक्ष्मणजी दोनोंका क्रोध करना देखा जाता है? दोनोंका समन्वय कैसे होगा?

समाधान (वे० भू०)—जिस तरह भगवान्‌का दिव्य विग्रह सदैव एक साथ ही माधुर्यैश्वर्यसे परिपूर्ण रहता है, इसी प्रकार उनके दिव्य गुण भी एक साथ ही सदैव माधुर्यैश्वर्यरससे संपन्न रहते हैं और तदनुसार भगवान् वर्तते भी हैं। जो जीव भगवच्छरणशून्य हैं, जिन्हें अपने वलका भरोसा है, उनके साथ भगवान् अपने ईशित्वगुणका प्रदर्शन करते हैं; अर्थात् नीतिशास्त्रका पालन करते हुए 'सुभ अरु असुभ कर्म अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी।'; उन्हीं लोगोंके लिये कहा है कि 'सब पर मोरि बराबरि दाया'। जो भगवत्प्रपन्न हैं, उनकी प्रपत्ति स्वीकार करते हुए भगवान् अपने कृपादि माधुर्य गुणोंके पालन करनेका उद्घोष करते हैं—'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।', 'जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना।' इत्यादि। सारांश यह कि भगवद्विमुखके लिये नीतिशास्त्र है और प्रपन्नके लिये कृपा आदि गुणोंका अनुवर्तन है। यथा शास्त्रं 'विमुख विषयं कृत्वा कृपादिकमभिमुखविषयं कुर्यात्।' (श्रीवचनभूषणसूत्र १४ का वरवरभाष्य)।

वालि भगवद्विमुख था, इसीसे उसे श्रीरामजीने अपराधका दंड दिया; पर ज्योंही उसने 'सुनहु राम स्वामी....अंतकाल गति तोरि' वचनों द्वारा प्रपत्ति स्वीकार की त्योंही 'बालिसीस परसा निज पानी' और अमर करनेको कहा पर उसके स्वीकार न करनेपर 'राम बालि निज धाम पठावा'। सुग्रीव और विभीषण तो पूर्णरूपेण भगवत्प्रपन्न हैं।

इस तरह प्रपत्तिशास्त्रके रहस्योंको अच्छी तरह अनुशीलनपूर्वक इस प्रसंगपर विचार करनेपर भक्तपक्षपालित्व दूषणावह नहीं ठहरता।

स्मरण रहे कि जैसे श्रीरामजी तथा श्रीजानकीजीमें तात्त्विक अभेद है; केवल विग्रहभेद नर-नाट्यार्थ है, उसी तरह श्रीराम चारों भाइयोंमें विग्रहभेद ही है, वह भी केवल लीलार्थ, वास्तवमें तात्त्विक भेद नहीं है। अतएव जैसे श्रीरामजीका सभी कार्य नरनाट्यार्थ है, वैसेही श्रीलक्ष्मणजीका भी है। इसीसे सुग्रीवने श्रीलक्ष्मणजीको नाथ कहा है—'नाथ विषय सम मद कछु नाहीं।' जैसे श्रीरामजीने सुग्रीवके लिये अपूर्ण क्रियार्थक शब्द कहा - 'तेहि सर हतउँ मूढ़ कहँ काली'; वैसेही लक्ष्मणजीने भी धनुषकी प्रत्यंचा मात्र चढ़ाई थी, धनुषपर बाणका संधान नहीं किया था, क्योंकि बाण अमोघ है और किसीको मारना है नहीं, केवल नक़ली क्रोधका प्रदर्शनमात्र है। तात्पर्य कि लक्ष्मणजीका यह नाट्य भी लीलाके लिये ही है।

टिप्पणी—१ मुनिसे अधिक ज्ञानी जानते हैं और ज्ञानीसे अधिक उपासक जानते हैं। इसीसे क्रमसे प्रथम मुनिको, फिर ज्ञानीको और अंतमें उपासकको कहा। [पं० रामकुमारजीका अर्थ अ० रा० के आधारपर जान पड़ता है। साधारणतया इसका अर्थ यह होता है कि 'ज्ञानी मुनि जिन्होंने श्रीरघुवीर चरणोंमें प्रेम किया है वे ही यह चरित्र जानते हैं'। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि जो मुनि दृढ़ ज्ञानी और रघुवीरचरण

रत नहीं हैं वे इस रहस्यको नहीं जानते, उनके मनमें तो भ्रम हो जाता है। यथा—'सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम मोह।' विशेष 'उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति। आ० मं० सो०।' में देखिए। भाव यह है कि हे उमा! तुम ज्ञानी हो पर तुममें अभी रामचरणानुराग नहीं है, इसीसे तुमको सुनकर आश्चर्य हुआ, इसका रहस्य हमारे कहनेपर भी तुमको ज्ञात न होगा। अतः शिवजीने रहस्य कहा भी नहीं। (प० प० प्र०)]

२—'लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना' इति। (क) 'क्रोधवंत जाना' का भाव कि प्रभु क्रुद्ध नहीं हैं, ऊपरसे क्रोध दिखाते हैं; पर लक्ष्मणजीने जाना कि वे क्रुद्ध हैं। इससे यह शंका होती है कि मुनि, ज्ञानी और उपासक जानते हैं कि क्रोध नहीं है और लक्ष्मणजीने जाना कि क्रोधित हैं, तो क्या लक्ष्मणजी ज्ञानी या रामचरणरत नहीं हैं? इसका समाधान यह है कि लक्ष्मणजीमें ये दोनों गुण हैं, यथा—'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी।१।१९८।३।', पर श्रीरामजी उनको यह चरित्र जनाया नहीं चाहते। क्रोधका मूल विरह है और विरहका मूल सीताहरण है, सो सीताहरणका मर्म भी तो उनको नहीं जनाया था। क्योंकि यदि लक्ष्मणजी जान जाते तो रामजीसे विरह आदि लीला न करते बनती।

पां०—रघुबीरचरणका भाव यह कि माधुर्यके उपासकही जानेंगे और शंकर महाराज इसलिए नहीं कहते कि वे ऐश्वर्यके उपासक हैं। वाल्मीकिजीने चरितके विषयमें कहा ही है कि 'तुम्ह जो कहहु करहु सब साँचा। जस काछिय तस चाहिय नाचा'। आशय यह कि नरतनमें क्रोध प्रमादि सब लगते हैं, इससे वैसाही चरित्र करना आवश्यक हुआ। प्रभुने कहा भी है—'मैं कछु करब ललित नर लीला'। उसीका निर्वाह सर्वत्र करते जायँगे।

## दोहा—तब अनुजहिं समुझावा रघुपति करुनासींव। भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव ॥१८॥

अर्थ—करुणाकी सीमा श्रीरघुनाथजीने तब भाईको समझाया कि 'हे तात! सुग्रीव सखा है, उसे भय दिखाकर ले आओ। [अर्थात् समझाया कि सखाको मारना अनुचित है। वह अपनाही बनाया हुआ है, अपना बनाया आपही न बिगाड़ना चाहिए। यथा—'पालि कै कृपाल व्याल-बाल को न मारिये औ काटिये न नाथ बिषहू को रुख लाइ कै। (क० उ० ६१)।]

टिप्पणी—१ 'अनुजहि समुझावा'। 'अनुज'-पद देकर जनाया कि यह भी समुझाया कि सुग्रीव हमारे सखा हैं, अतः हमारे समान हैं और तुम्हारे द्वारा मान करने योग्य (मान्य) हैं, क्योंकि तुम हमारे छोटे भाई हो।

गौड़जी—भगवान् लक्ष्मणजीकी आतुरताका हाल जानते हैं कि नासमझीसे भरतको ही मार डालने को तैयार थे। यहाँ भी नासमझीसे उठ खड़े हुए हैं। अतः समझाया।

नोट—१ वाल्मीकीय स० ३१ में लक्ष्मणजीका क्रोध और उनको श्रीरामजीका समझाना दश श्लोकोंमें है। उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि मैं असत्यवादी सुग्रीवका वध अभी करता हूँ। अंगद श्रीसीताजीको ढूँढें, धनुषबाणको लिए वेगसे चलते देख श्रीरामजीने समझाया कि—तुम्हारे ऐसे मनुष्यको ऐसा पाप न करना चाहिए, कोपको विवेकसे वीरपुरुषोत्तम लोग शान्त करते हैं। तुम साधुचरित हो, सुग्रीवके प्रति मारनेकी बात तुमको न सोचनी चाहिए। स्मरण तो करो कि तुमने पहिले मैत्री की है। काल बीत गया, इसके संबंधमें कोमल वचनोंसे रुखाई दूरकर सुग्रीवसे कहना। यथा—'नेदमत्र त्वया ग्राह्यं साधुवृत्तेन लक्ष्मण। तां प्रीतिमनुवर्तस्व पूर्ववृत्तं च संगतम्।७। सामोपहितया वाचा रूक्षाणि परिवर्जयन्।'—यह सब भाव 'तात सखा सुग्रीव' तीन शब्दोंमें ही जना दिया है। और अध्यात्ममें समझाना यह लिखा है कि वह हमारा प्रिय सखा है, उसे मारना नहीं, किंतु उसे भय दिखाना कि वालिकी तरह तुम्हारा भी वध होगा। यथा—'न हन्तव्यस्त्वया वत्स सुग्रीवो मे प्रियः सखा।१३। किन्तु भीषय सुग्रीवं वालिवत्त्वं हनिष्यसे।'—(सर्ग० ५)।

शीला—श्रीरामजीको कुपित जान लक्ष्मणजीने धनुष चढ़ाकर हाथमें बाण लिया। भाव यह कि उन्होंने सोचा कि ऐसे कृतघ्नको कल क्यों, आज ही मार डालेंगे और नगर भी जानेकी जरूरत नहीं यहींसे वध कर देंगे। यह जानकर श्रीरामजीने समझाया कि ऐसा न करो; क्योंकि—(क) हमारे ऐसा करनेसे हमारी सनातन रीतिमें विरोध पड़ेगा। पुनः, (ख) वह सूर्यपुत्र है, सूर्य हमारे पुरखा हैं। उनके वधसे गोत्रवध-दोष होगा। पुनः, (ग) रावणवधमें नर वानर दोनों कारण हैं, ऐसा वर रावणने माँगा है—'बानर मनुज जाति दुइ बारे'। सुग्रीव वानरराज है। बिना उसके बुलाए वानर कैसे आवेंगे। पुनः, (घ) हमें सुर नर मुनि किसीने सीताका हाल न दिया, सुग्रीवने ही दिया, वह विपत्तिका साथी हुआ और सीताजीने भी उसपर कृपा की, इसीसे उसे पटभूषण दिए। सब लोग एवं सीताजी हमें क्या कहेंगी? पुनः, (ङ) हनुमान्जीसे सूर्यने गुरुदक्षिणामें सुग्रीवकी रक्षा माँगी और हनुमान्जीने वही वचन हमसे लिया। हनुमान्जी क्या कहेंगे? हनुमान्जीसे आगे सब कार्य लेना है।

पं० विजयानंद त्रिपाठीजी समझाना इस प्रकार कहते हैं:–'मीत को दोष सहै बिनु मीतको, मीत बिना दुःख कौन मिटावै। मीत अनेक उपाय करै, अरु मीत को लाइ सुपंथ लगावै। मीत अनीत पै पाँव धरै, तब मीतहिं कोपित ह्वै डरपावै। पै कतहूँ कबहूँ बिजयानंद मीत को हानि हिए नहिं लावै॥ भारी होत सुमति कविन्द और मुनिन्दहू की, विषय समीर की चपेटें जब चलतीं। भूलि जाते जोग जज्ञ संजम समाधि, नित्य नूतन अनंग की उमंगें चित चढ़ती॥ कौन हैं कहाँ हैं हम बिसरि सुरति जाते, माते मद सदियाँ निमेष की सी लगतीं। दुखिया दिनोंका आज सुखिया हुआ है ऐसे, विषय विधानमें सुकंठकी क्या गिनती।'

टिप्पणी—२ 'रघुपति करुनासीव' का भाव कि सभी रघुवंशी कारुणीक होते हैं और ये तो रघु-वंशियोंके स्वामी हैं, अतएव ये करुणागुणमें सबसे श्रेष्ठ हैं। इस विशेषणसे जनाया कि सुग्रीवपर तो श्रीरामजीकी करुणा है, क्रोध नहीं है; इसीसे अनुजको समझाया।

प० प० प्र०—'रघुपति करुनासीव' का भाव उत्तरकाण्डके 'अंगद बचन बिनीत सुनि रघुपति करुनासीव। प्रभु उठाइ उर लायउ सजल नयन राजीव।१८।' इस दोहेसे स्पष्ट हो जाता है। भाव कि सुग्रीव सखा है, 'उठाइ उर लाने' योग्य है, भला उसको मारना कैसा? ऐसा कहतेही 'सजल नयन राजीव' हो गए।

## 'कपि-त्रास'–प्रकरण

**इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा। रामकाजु सुग्रीव बिसारा॥ १॥**
**निकट जाइ चरनन्हि सिरु नावा। चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा॥ २॥**

अर्थ—यहाँ (किष्किंधा नगरमें) पवनसुत हनुमान्जीने मनमें विचार किया कि सुग्रीवने राम-कार्य भुला दिया।१। पास जाकर उन्होंने सुग्रीवके चरणोंमें माथा नवाया (प्रणाम किया) और साम, दाम, भेद और दण्ड चारों प्रकारसे कहकर उनको समझाया।२।

नोट—१ 'इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा।....' इति। (क) श्रीहनुमान्जी गोस्वामीजीके सर्वस्व हैं। इसीसे 'इहाँ' (इधर) शब्द देकर इस समय कवि अपनी स्थिति उन्हींके साथ सूचित कर रहे हैं। नहीं तो 'उहाँ' शब्द देते। प्र० स्वामीजी तथा वि० त्रि० जी कहते हैं कि जब श्रीरामजीने लक्ष्मणजीसे कहा कि सुग्री-वहु सुधि मोरि बिसारी', उसी समय 'इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा।' (ख) 'पवनसुत' का भाव कि पवनदेव भक्त हैं और ये उनके पुत्र हैं। अथवा, पवन प्राणरूपसे सबमें व्याप्त है और ये पवनात्मज हैं, अतः इनकी बुद्धिमें विचार उठा। (पं०)। पवनसुत होनेसे ये बल बुद्धि आदिमें उनके समान हैं, यथा—'पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना।३०।४।', अतः स्वतः इनकी बुद्धिमें यह विचार उठा। (ग) 'राम-काज सुग्रीव बिसारा' यह विचार सुग्रीवजी और श्रीरामजीके वचनोंके स्मरणसे हुआ। सुग्रीवजीने कहा था कि 'तजहु सोच मन आनहु धीरा', 'सब प्रकार करिहौं सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई।'

और श्रीरामजीने सुग्रीवसे कहा था कि 'गत ग्रीषम वर्षारितु आई। रहिहउँ निकट सैल पर छाई॥ अंगद सहित करहु तुम्ह राजू। संतत हृदय धरेहु मम काजू।१२।८-९।' श्रीहनुमान्जी सोचते हैं कि प्रभुकी यह आज्ञा थी, पर सुग्रीवने 'हृदय धरने' के बदले 'हृदयसे बिसार दिया'।

वि० त्रि०—विजय दशमी बीत जानेपर जबसे शरद्ऋतु लगा है, तबसे हनुमान्जी सरकारकी भाँति प्रतीक्षा कर रहे हैं कि अब सुग्रीव सीताजीके खोजके लिये प्रयत्न आरम्भ करते हैं, पर जब विजय-दशमीको भी कुछ न हुआ तो स्वामी और सेवकके हृदयमें एक ही समय यह भाव उदय हुआ कि 'रामकाज सुग्रीव बिसारा'। हनुमान्जी मन्त्री हैं, और सरकारसे कह चुके हैं कि 'सो सीता कर खोज कराइहि। जहँ तहँ मरकट कोटि पठाइहि'। अतः सुग्रीवको याद दिलाना और सीताजीके खोजके लिये सचेष्ट करना इनका कर्तव्य हो पड़ा। अतः एकादशीको सुग्रीवके पास गये। यहींसे आगामी घटनाओंकी तिथियोंका पता चलेगा।

टिप्पणी—१ (क) सुग्रीवने रामकार्य भुला दिया यह विचार मनमें इससे उत्पन्न हुआ कि शरद्-ऋतु आ गई और वे सुखभोगमें आसक्त हैं, यदि उनको कामकी सुध होती तो वे हमसे कार्य्यके लिए अवश्य कहते, पर उन्होंने उसकी चर्चा भी नहीं चलाई। (पंजाबीजी लिखते हैं कि 'राम' का भाव यह है कि जो सबको रमानेवाले हैं उनका काम न भूलना चाहिए था। और 'सुग्रीव' का भाव है कि यह सुष्ठु अर्थात् नम्र ग्रीववाला है, इसमें यह भूल उचित न थी)। (ख) सुग्रीव भूलगए पर ये न भूले; क्योंकि रामकार्यके लिए तो इनका अवतार ही हुआ है, यथा—'रामकाज लगि तव अवतारा'।—[पुनः, १-ये तो सदा 'रामकाज करिबेको आतुर' रहते हैं, इनके हृदयमें धनुषबाण धारण किए सदा ही श्रीरामजी बसते हैं, अतः ये कब भूलनेवाले हैं। दूसरे, इन्हींने सुग्रीवकी रक्षा (बालिवध कराके) श्रीरामजीके द्वारा कराई, इन्हींने मित्रता कराई और वचन दिया था कि आप उसे अभय करें वह श्रीसीताजीकी खबर मँगायेगा। पुनः श्रीरामजी हनुमान्जीको परम सम्मान देना चाहते हैं, अतः उरप्रेरक रघुवंश-विभूषणने इनको प्रेरणा की। वाल्मी० २९ में लिखा है कि हनुमान्जी विषयको ठीक-ठीक समझनेवाले, कर्त्तव्य-विषयमें संदेहरहित और समयको खूब जाननेवाले हैं। उन्होंने हितकारी, सत्य और उपकारी, साम, धर्म और नीतिसे युक्त, नम्रता और प्रेम सहित, शास्त्रोंमें विश्वास करनेवालोंके निश्चित वचन जाकर कहे।† पुनः, २—यहाँ हनुमान्जीको मन, कर्म और वचन तीनोंसे सुग्रीवका हितैषी दिखाया है।—'पवनसुत हृदय बिचारा' यह मन, 'जाइ चरनन्हि सिर नावा' यह कर्म और 'कहि समुझावा' यह वचनसे हित हुआ।]

२—'निकट जाइ००' इति। (क) बात समाजमें कहने योग्य नहीं है; अतः पास जाकर कहा जिसमें दूसरा न सुन सके। दूसरेके सुननेसे राजाकी लघुता होती है। (ख) श्रीरामकार्यके लिए सिखावन देना है और राजाके पास जानेपर प्रथम प्रणाम करके तब बोलनेकी रीति है, अतः प्रणाम करके बोले।

३—'चारिहु बिधि समुझावा' इति। यथा—(क) श्रीरामजीने आपसे मित्रता वा प्रीति की, यह साम है। (ख) आपको राज्य दिया यह दाम है।–[पंजाबीजी लिखते हैं कि साम-विधि यह है कि ये रघुवंशी महानुभाव हैं, उस पर भी ईश्वर हैं कि जिनकी सेवाकी लालसा समग्र देवता किया करते हैं, सो तुम्हारे घर आए। ऐसे पूज्यकी सेवा कर्त्तव्य है, जिसमें वे प्रसन्न रहें। दाम यह कि तुम्हें राज्यादि दिलाया, उसका बदला शीघ्र देना उचित है। (पं०)। वाल्मी० स० २९ में हनुमान्जीका समझाना इस प्रकार है—आपने राज्य और

---

† 'निश्चितार्थोऽर्थतत्त्वज्ञः कालधर्मविशेषवित्।६। प्रसाद्य वाक्यैर्विविधैर्हेतुमद्भिर्मनोरमैः वाक्यविद्वाक्यतत्त्वज्ञं हरीशं मारुतात्मजः॥७॥ हितं तथ्यं च पथ्यं च सामधर्मार्थनीतिमत्। प्रणयप्रीतिसंयुक्तं विश्वासकृतनिश्चयम्॥८॥' अर्थात् वक्तव्य अर्थका निश्चय करके काल और स्वधर्मके मर्मको जाननेवाले, मनोरम तरह तरहके वाक्योंसे खुश करके, वाक्यवित् हनुमान्जी हित, तथ्य, पथ्य, साम, धर्म, अर्थ, नीति, प्रेम और विश्वास भरे वचन बोले।

यश पाया....पर मित्रोंका कार्य अभी बाक़ी है, उसे आप करें। अवसर जाननेवाले मित्रके कार्यमें सदा तत्पर रहते हैं।....अतएव सन्मार्गमें स्थित, चरित्रवान्, आपको मित्रकार्यको भलीभाँति सम्पन्न करना चाहिए। मित्रकार्यमें आदरपूर्वक उद्योग न करनेवालेका उत्साह नष्ट हो जाता है और वह अनर्थ पाता है; समय बीत जानेपर कार्य करना नहीं समझा जाता। समय बीत रहा है। (९ से १८ तक)। श्रीरामचंद्रजी काल जानते हैं पर बुद्धिमान् हैं, इसीसे उन्होंने समय बीतनेकी बात तुमसे नहीं कही। वे तुम्हारे कुलकी वृद्धिके हेतु हैं, बहुत दिनोंके लिए मित्र हैं। उनका प्रभाव अनुपम है। तुम्हारा काम पहले कर दिया है। आप उनका काम अब कीजिए। जब तक वे कुछ नहीं कहते तब तक यदि हम कार्य प्रारंभ कर दें तो समय बीता न कहा जायगा। पर उनके कहनेपर समय बीता समझा जायगा।....आप शक्तिमान् हैं, पराक्रमी हैं, तब उनको प्रसन्न करनेके लिए वानरोंको शीघ्र आज्ञा क्यों नहीं देते ?....वे आपकी प्रतिज्ञा देख रहे हैं, नहीं तो वे सुरासुर सभीको बाणोंसे अनायास वश कर सकते हैं। उन्होंने वालिवधके विषयमें किंचित् भी शंका न करके हम सबका बड़ा उपकार प्रथम ही किया है; अतएव उनका प्रिय आपको सब प्रकारसे करना चाहिए] (ग) बाली अंगदको श्रीरामचन्द्रजीको सौंप गया है। यदि श्रीरामजी उसे राज्य दे दें तो आप क्या कर सकते हैं ? यह भेद है। (घ) जिन्होंने बालिका वध किया, उनके सामने आप क्या चीज़ हैं ? यह दंड है।

४—हनुमान्‌जीने रामकार्यमें मन, तन और बचन तीनों लगाए। मनसे स्वामीका हित बिचारा, तनसे नम्र हुए और वचनसे हित कहा। यथा—'पवनसुत हृदय विचारा', 'चरननि्ह सिरु नावा' और 'कहि समुझावा'।

नोट—२ वाल्मी० २९ के विशेष भागमें हनुमान्‌जीका समझाना है। इसमें एवं अध्यात्ममें यह भी कहा है कि वे समस्त सुरासुरको मार सकते हैं, केवल तुम्हारी प्रतिज्ञा देख रहे हैं कि तुम कृतघ्न तो नहीं हो। कृतघ्न होनेपर वे बालीकी तरह तुम्हें भी मार सकते हैं।—'न करोषि कृतघ्नस्त्वं हन्यसे वालिवद्द्रुतम्' (अ० रा० ४।४८)

**सुनि सुग्रीव परम भय माना। बिषय मोर हर लीन्हेउ ज्ञाना ॥ ३ ॥**

**अब मारुतसुत दूत समूहा। पठवहु जहँ तहँ बानरजूहा ॥ ४ ॥**

**कहेहु पाख महुँ आव न जोई। मोरे कर ताकर बध होई ॥ ५ ॥**

अर्थ—सुग्रीवने हनुमान्‌जीके वचन सुनकर अत्यन्त भय माना (अर्थात् अभीतक उनको किंचित् भय न था, अब बहुत भयभीत हो गए)। (और कहा—) विषयने मेरा ज्ञान हर लिया।३। हे पवनपुत्र ! अब जहाँ जहाँ वानरोंके यूथ हैं वहाँ वहाँ बहुतसे दूतोंको भेजो।४। (दूतों एवं वानरयूथोंको यह) कहला दो कि जो कोई एक पक्ष अर्थात् १५ दिनमें न आ जायँगे उनका वध मेरे हाथों होगा।५।

नोट—१ 'हर लीन्हेउ ज्ञाना' से जनाया कि पूर्व ज्ञान था। यहाँ लक्ष्य है सुग्रीवके इन वचनोंपर कि—'उपजा ज्ञान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला।। सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई।। ये सब रामभगतिके बाधक।००' इत्यादि, जो दोहा ७ में कहे हैं। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि जब चेत हुआ तब परम भयभीत हुआ कि उफ़ ओह ! मुझसे बड़ा अपराध हुआ, विषयने मुझे ऐसा वशमें कर लिया ! विषयने ज्ञान हर लिया, यही भय हुआ। विषयोंमें मनके लग जानेसे बुद्धिका उसी प्रकार हरण हो जाता है जैसे जलमें नौकाको वायु हर लेती है ऐसा गीतामें भगवान्‌ने कहा है। यथा—'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।२।६७।'

नोट—२ 'मारुतसुत' वा 'पवनसुत' का प्रयोग वहाँ वहाँ हुआ है जहाँ जहाँ कार्य करनेमें शीघ्रता दरसाना होती है। सुंदरकांडमें इसका प्रयोग प्रारंभमें ही बहुत हुआ है, यथा—'जात पवनसुत देवन्ह देखा', 'अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा', 'तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ' इत्यादि। वहाँ इसके भाव लिखे जा चुके हैं। बैजनाथजी इस सम्बोधनसे सुग्रीवका तात्पर्य है कि तुम शीघ्र काम करनेवाले हो; अतः तुम शीघ्र यह काम करो, शीघ्र

शीघ्रगामी वानरोंको बुलाओ, शीघ्रगामी दूतोंको भेजो। यथा—'शीघ्रं कुरु ममाज्ञां त्वं वानराणां तरस्विनाम्'—(अध्यात्म ४।५०)।

प० प० प्र०—मानसमें जैसे श्रीरामजीके प्रत्येक नामका उपयोग कोई विशिष्ट भाव प्रकट करनेके अभिप्रायसे ही हुआ है, वैसे ही श्रीहनुमान्जीके नामोंका प्रयोग भी शब्द व्युत्पत्तिकी ओर ध्यान रखकर ही किया गया है। जैसे,—(१) जहाँ पावन करनेका कार्य सूचित करना होता है वहाँ 'पवनसुत' इत्यादि। (२) बल, सामर्थ्य, बुद्धिबल और अद्भुत कृत्य सूचित करनेके लिये 'हनुमान'। (३) प्रबल प्रभंजनके समान जहाँ अतिवेग और विनाश आदि सूचित करना होता है वहाँ 'प्रभंजनसुत'। (४) वायुके समान सामान्य गतिके लिये 'वायुसुत'। (५) 'प्राणोंके समान' भाव दरसानेके लिये 'अनिल सुत'। (६) मारुत, मरुत शब्दोंका अर्थ 'म्रियन्ते अनेन वृद्धेन विना वा' ऐसा है अर्थात् जिसके बढ़ जानेसे अथवा जिसके विना (लोग) मरते हैं वह। देखिए 'ताहि मारि मारुतसुत वीरा। वारिधि पार गयउ मति धीरा।५।३।५।' इसकी प्रतीति अगली अर्धालीमें मिलती है कि अवधिके भीतर न आनेवाले मारे जायँगे।

टिप्पणी—१ दूतोंकी संख्याके विषयमें अनेक मत हैं। अध्यात्ममें 'सहस्राणि दशेदानीं'—(४।५०), अर्थात् दशहजार और वाल्मी० ३७ में 'प्रेषिताः प्रथमं ये च मयाज्ञाता महाजवाः। त्वरणार्थं तु भूयस्त्वं संप्रेषय हरीश्वरान् ।३७।१०।....शतान्यथ सहस्राणि कोट्यश्च मम शासनात्। प्रयान्तु कपिसिंहानां निदेशे मम ये स्थिताः।१३।' अर्थात् प्रथम वेगवान् बहुतसे दूत भेजे गए थे, फिर हनुमान्जीसे यह आज्ञा की कि मेरी आज्ञा माननेवाले श्रेष्ठ वानर सैकड़ों हजारों करोड़ों शीघ्र कार्य होनेके लिए और भी भेजो। इत्यादि। इसीसे सर्वमतरक्षक पूज्य कविने 'समूह' पद देकर सबके मतका निर्वाह कर दिया।

२—'पठवहु जहँ तहँ' कहकर गोस्वामीजीने स्थानकाभी नियम नहीं रक्खा; क्योंकि इसमें भी अनेक मत हैं। अध्यात्ममें 'सप्तद्वीपगतान् सर्वान्वानरानानयन्तु ते' (४।५१) अर्थात् सप्तद्वीपनिवासी सब वानरोंको ले आवें, ऐसा लिखा है। और, वाल्मी० ३७ में महेन्द्र हिमवान, विन्ध्याचल इत्यादि अनेक पर्वतोंके नाम गिनाए हैं। यथा—'महेन्द्रहिमवद्विन्ध्यकैलासशिखरेषु च। मन्दरे पाण्डुशिखरे पञ्चशैलेषु ये स्थिताः।३७। तरुणादित्यवर्णेषु भ्राजमानेषु नित्यशः। पर्वतेषु समुद्रान्ते पश्चिमस्यां तु ये दिशि ।३।...तांस्तांस्त्वमानय क्षिप्रं पृथिव्यां सर्ववानरान्।६।...ते गतिज्ञा गतिं गत्वा पृथिव्यां सर्ववानराः। आनयन्तु हरीन्सर्वांस्त्वरिताः शासनान्मम ।१५।' अतः गोस्वामीजीने 'जहँ तहँ' पद दिया जिसमें सब मतोंका समावेश हो जाय। ['जूह' यूथका अपभ्रंश है]।

मा० म०—वानरोंको भेजा रीछोंको नहीं, क्योंकि वानर हलके होते हैं, शीघ्रतासे जायँगे। रीछ भारी होते हैं, उन्हें देर लगेगी।

**तब हनुमंत बोलाए दूता। सब कर करि सनमान बहूता॥ ६॥**
**भय अरु प्रीति नीति देखराई। चले सकल चरनन्हि सिरु नाई॥ ७॥**
**एहि अवँसर लछिमन पुर आए। क्रोध देखि जहँ तहँ कपि धाए॥ ८॥**

अर्थ—(जब सुग्रीवकी आज्ञा पाई) तब हनुमान्जीने दूतोंको बुलाया और सबका बहुत सम्मान करके।६। सबको भय, प्रीति और नीति दिखाई। सब वानर चरणोंमें मस्तक नवाकर चले।७। इसी समय (जब हनुमान्जी दूतोंको भेज चुके तत्पश्चात्) लक्ष्मणजी नगरमें आए। उनका क्रोध देखकर वानर जहाँ तहाँसे दौड़े।८।

टिप्पणी—१ 'तब हनुमंत बोलाए' से सूचित किया कि वे विना राजाज्ञाके कुछ न कर सकते थे। ['करि सनमान बहूता' इति। अर्थात् कहा कि तुम सदाके विश्वासी सेवक और मित्र हो, सदा अवसर पड़नेपर तुमही काम आए हो। (पं०)। अध्यात्ममें दान मानसे तृप्त करना कहा है। यथा—'पवनहितकुमारः प्रेषयामास दूता नतिरभसतरात्मा दानमानादितृप्तान्।' (४।५४) अर्थात् पवनके प्रियपुत्र हनुमान्जीने दानमानसे तृप्तकर

दूतोंको भेजा। पुनः, सबका नाम आदरसे लेना भी सम्मान है, यथा—'लै लै नाम सकल सनमाने। २। १९१।८।' उचित आसन देना, आदरसे कुशल प्रश्न करना इत्यादि सब सम्मान हैं]

२—भय, प्रीति और नीति दिखाई। यथा—(क) पक्ष भरमें जो न लौटकर आ जायगा उसका वध राजा स्वयं करेंगे, यह भय दिखाया। शीघ्र आनेवालेपर राजा प्रसन्न होंगे, यह प्रीति दिखायी और सेवकका धर्म है 'स्वामि-सेवकाई', यह नीति दिखाई—[पुनः, नीति यह भी कि वालिके बाद सुग्रीवका राज्य होनेपर इनका प्रथम कार्य्य, जो तुमको सौंपा गया, यही है; इससे तुम्हारी परीक्षा भी हो रही है कि तुम विरोधी पक्ष तो नहीं रखते। बाबा हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि भय और प्रीति ये ही दोनों नीतियाँ दिखाईं—] (ख) सुग्रीवकी आज्ञा भय दिखानेकी है। अतः प्रथम भय दिखाया; प्रीति और नीति अपनी ओरसे दिखाई। [दीनजी—सम्मान करके प्रेम दर्शाया, और फिर उन्हें दूतोंकी नीति बतलाई।]

वि० त्रि०—'एहि अवसर....कपि धाए' इति। एहि अवसरका अर्थ यह नहीं है कि जिस समय हनुमानजी दूत भेज रहे थे उस समय। इसका अर्थ यह है कि हनुमान्‌जीके दूत भेजनेके बाद और दूतोंके वापस आनेके पहिले। यथा—'एहि विधि भए सोच बस ईसा। तेही समय जाइ दससीसा। लीन्ह नीच मारीचहि संगा। भयउ तुरत सो कपट कुरंगा। करि छल मूढ़ हरी बैदेही।' इसका अर्थ यह नहीं है कि यह सब घटनाएँ उसी समय हुईं जब महादेवजी सोचके वश हो रहे थे, बल्कि इन घटनाओंके बाद जब कि सरकार सीताजीको खोजने चले, महादेवजी सोचवश हो रहे थे। इसी भाँति लछिमनजीका आना दूतोंके भेजनेके चौदह दिन बाद हुआ, क्योंकि आगे चलकर कहेंगे कि 'एहि विधि होत बतकही आए बानर जूथ' उन लोगोंके आनेकी अवधि सुग्रीवजीने एकपक्ष दिया। वह उसी दिन पूरा हो रहा था। सरकार इस निश्चयके बाद भी कि मेरे कामको सुग्रीवने भुला दिया, कुछ दिन और प्रतीक्षा करते रहे। ( आगे दोहा २१ भी देखिए)।

टिप्पणी—२ 'क्रोध देखि'। 'देखि' से जनाया कि लक्ष्मणजी भय प्रदर्शनके लिए क्रोधकी चेष्टा किए हैं, नेत्र लाल हैं, त्योरी चढ़ाए हैं, कठोर रोदाका शब्द कर रहे हैं। यथा—'ज्याघोषमकरोत्तीव्रं भीषयन् सर्ववानरान्। अ० रा० ।४।५।२५।' (संपूर्ण वानरोंको भयभीत करते हुए धनुषकी प्रत्यंचाका भयंकर टंकार किया)।

नोट—'जहँ तहँ कपि धाए'। अध्यात्मके 'चक्रुः किलकिलाशब्दं धृतपाषाणपादपाः। तान्दृष्ट्वा क्रोधताम्राक्षो वानरान्लक्ष्मणस्तदा ॥५।२७॥', (अर्थात् शहरपनाहके वानर उनको देखकर शिलाएँ और वृक्ष ले लेकर किलकिला शब्द करने लगे, यह देखकर लक्ष्मणजीके नेत्र क्रोधसे लाल होगए।), इस श्लोकसे 'धाए' का भाव लड़नेके लिए दौड़े, यही सिद्ध होता है। कोई महानुभाव ऐसा कहते हैं कि वे सुग्रीवकी रक्षाके लिए मोरचाबंदी करने लगे कि कहीं उनको जाकर मारें नहीं। वाल्मी० स० ३१ में लिखा है कि लक्ष्मणजीने देखा कि महाबली वानर हाथोंमें वृक्ष लिए हुए शहरपनाहके बाहर खड़े हैं, इससे उनका क्रोध बढ़गया। यथा—'ततस्तैः कपिभिर्व्याप्तां द्रुमहस्तैर्महाबलैः। अपश्यल्लक्ष्मणः क्रुद्धः किष्किन्धां तां दुरासदाम् ॥२६॥ ततस्ते हरयः सर्वे प्राकारपरिखान्तरात्। निष्क्रम्योदग्रसत्त्वास्तु तस्थुराविष्कृतं तदा ॥२७॥ दद्र्श वानरान्भीमान् किष्किंधायां बहिश्चरान् ॥१७॥' अर्थात् हाथसे उखाड़े हुए पेड़ लिए हुए बन्दरोंसे व्याप्त, दुर्गम किष्किंधाको लक्ष्मणजीने देखा। फिर वे सब वानर परकोटेकी खाईसे बाहर निकल स्पष्ट रूपसे खड़े होगए और उन्होंने वहाँ भयंकर-भयंकर बन्दरोंको देखा।

**दोहा—धनुष चढ़ाइ कहा तब जारि करौं पुर छार।**
**ब्याकुल नगर देखि तब आएउ बालिकुमार ॥ १९ ॥**

अर्थ—तब (अर्थात जब वानरोंको लड़नेकी तैयारी करके दौड़ते किलकिला शब्द करते देखा) लक्ष्मणजी धनुष चढ़ाकर बोले कि (अग्निबाणसे) नगरको जलाकर राख कर दूँगा। नगर-वासियोंको व्याकुल देखकर बलिपुत्र अंगद उनके पास आए।१९।

नोट—१ (क) 'धनुष चढ़ाइ' से जनाया कि पूर्व धनुष जो चढ़ाया था, (यथा 'लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना। धनुष चढ़ाइ गहे कर बाना'). वह श्रीरामजीके समझानेपर उतार लिया था। यद्यपि रोदाका उतारना कहा नहीं गया तथापि यहाँ पुनः प्रत्यंचाका चढ़ाना बिना प्रथम उतारनेके नहीं हो सकता था। रा० प्र० कार लिखते हैं कि सुग्रीवको केवल भय दिखानेके लिये आये थे, इससे प्रत्यंचा उतार दी थी। पर यहाँ देखा कि सब लड़नेके लिये तैयार हैं, यह दुष्टता देख धनुष चढ़ाकर उन्होंने नगरभरको भस्म कर देनेको कहा। अ० रा० सर्ग ५ में भी ऐसा ही कहा है—'तान्दृष्ट्वा क्रोधताम्राक्षो वानरान् लक्ष्मणस्तदा। निर्मूलान् कर्तुमुद्युक्तो धनुरानम्य वीर्यवान् ।२७। ततः शीघ्रं समाप्लुत्य ज्ञात्वा लक्ष्मणमागतम् ।।२८।। निवार्य वानरान् सर्वानङ्गदो मंत्रिसत्तमः।' (अध्याय ५)—अर्थात् उन वानरोंको देखकर लक्ष्मणजीके नेत्र लाल हो गए। वे बलवान् धनुपको चढ़ाकर वानरोंको निर्मूल करनेको तैयार हुए, तब उनका आगमन जानकर मंत्रिश्रेष्ठ अंगदने शीघ्र आकर सब वानरोंको हटा दिया। २—'व्याकुल नगर' में लक्षित लक्षणा है।

३—वाल्मीकीय में श्रीलक्ष्मणजीके क्रोधका अच्छा रूपक यहाँपर है। 'स दीर्घोष्णमहोच्छ्वासः कोपसंरक्तलोचनः। बभूव नरशार्दूलः सधूम इव पावकः।३१।२९। बाणशल्यस्फुरज्जिह्वः सायकासनभोगवान्। स्वतेजो विषसम्भूतः पञ्चास्य इव पन्नगः।३०। तं दीप्तमिव कालाग्निं नागेन्द्रमिव कोपितम्।' अर्थात् वे बहुत गर्म और लंबी साँस लेने लगे। क्रोधसे उनकी आँखें लाल हो गईं। वे धूमयुक्त अग्निके समान मालूम पड़े। लक्ष्मण बड़े मुँहवाले सर्पके समान मालूम पड़े। बाणका अग्रभाग लपलपाती जीभके समान था औ धनुष सर्पके शरीरके समान। श्रीलक्ष्मणजीका तेजही विषके समान था। कालाग्निके समान ज्वलित, हाथीके समान क्रोधित थे।

टिप्पणी—१ 'जारि करौं पुर छार' इस कथनसे ज्ञात होता है कि नगरभरके वानर युद्ध करने आए, इसीसे नगरभरको जलानेको कहते हैं। पुनः, 'कहा' पद देकर जनाया कि भयदर्शनके लिए ऐसा मुखसे कहकर डरवा रहे हैं और इस कथन-मात्रका प्रभाव भी वैसाही पड़ा; ये शब्द सुनतेही सारा नगर व्याकुल हो गया। श्रीरामजीका आदेश कि 'भय देखाइ....' यहाँ चरितार्थ किया। २—'बालिकुमार' का भाव कि—यह बालिके समान बुद्धिमान् हैं—जैसे बालिके वचनसे प्रसन्न होकर श्रीरामजीने उसके सिरपर हाथ फेरा था वैसेही अंगदके वचनसे प्रसन्न होकर लक्ष्मणजीने इसको अभय बाँह दी अर्थात् निर्भय किया। बालि नगरका रक्षक था, इस समय अंगदने भी नगरको लक्ष्मणजीके क्रोधसे बचाया।

पं०—'बालिकुमार' का भाव कि—(क) लक्ष्मणजीको कुपित तो जाना पर यह विचार किया कि मुझे श्रीरामजीको सौंपा हुआ शिशु जानकर सबपर कृपाही करेंगे। अतः आया। वा, (ख) यह सोचा कि यद्यपि क्रोध बहुत है तथापि मेरे पिताने शरणागत होकर मेरी बाँह इनको पकड़ाई है, अतः मेरे जानेसे दया ही करेंगे। वा, (ग)—सोचा कि यद्यपि पुरीका स्वामी इस समय सुग्रीव है, फिर भी इसे सुखपूर्वक मेरे पितानेही बसाया था, इससे इनका दुःख मुझसे कैसे देखा जा सकता है; उनकी रक्षा मेरा कर्त्तव्य है, अतः आया। पुनः, (घ) इस पदसे जनाया कि लक्ष्मणजीका कोप और नगरकी व्याकुलता देख इसका भी अधीर हो जाना संभव था, पर यह बालिका पुत्र है, अतः अधीर न हुआ। यह धैर्य, विनय आदि गुणोंमें पिताके समान ही है।

दीनजी—यहाँ पहले अंगदका आना राजनीतिसे परिपूर्ण है। पहली बात यह है कि श्रीरामजीने अंगदको युवराज बनाया, अतएव अपने किए हुए युवराजपर दया अवश्य करेंगे। दूसरे, इस समय सुग्रीव राजा हैं, अतएव वे स्वयं स्वागतार्थ नहीं जा सकते। राजकुमार लक्ष्मणके स्वागतके लिए युवराजको भेजना ही राजनीतिकी दृष्टिसे उचित और उपयुक्त था।—(पर वह स्वयं आया है, सुग्रीवने नहीं भेजा। यह बात 'आयउ' और 'व्याकुल देखि' से स्पष्ट है।)

चरन नाइ सिरु बिनती कीन्ही । लछिमन अभय बाँह तेहि दीन्ही ॥ १ ॥
क्रोधवंत लछिमन सुनि काना । कह कपीस अति भय अकुलाना ॥ २ ॥
सुनु हनुमंत संग लै तारा । करि बिनती समुझाउ कुमारा ॥ ३ ॥

अर्थ—अंगदने चरणोंमें मस्तक नवाकर विनती की (अर्थात् अपराध क्षमा कराया)। श्रीलक्ष्मणजीने उसे अभय बाँह दी। (अर्थात् भयसे बचानेका वचन दिया, उसे अपने क्रोधसे निर्भय कर दिया; कहा कि तुमको कोई भय नहीं, तुम तो अपने ही हो, तुम्हें तो तुम्हारे पिता ही हमें सौंप गए थे, हम वचन देते हैं कि नगर न जलायँगे) ।१। अपने कानोंसे लक्ष्मणजीको क्रोधवंत सुनकर कपिपति सुग्रीव अत्यन्त भयसे व्याकुल होकर (हनुमान्‌जीसे) बोले—हे हनुमन्त ! सुनो। ताराको साथ लेजाकर विनती करके राजकुमारको समझाओ (शान्त करो)। २-३।

नोट—१ 'अभय बाँह देना' मुहावरा है। पर पंजाबीजी कहते हैं कि 'मुखसे क्यों न कहा ? भुजासे अभय क्यों जनाया ?' और उत्तर देते हैं कि 'वचनसे इसमें विशेषता मानी जाती है। दूसरा भाव यह है कि लक्ष्मणजीने विचारा कि यह सुग्रीवका भेजा हुआ नहीं है, इससे सब कोप अभी निवृत्त करना उचित नहीं। अतः हाथसे उसका आश्वासन किया और मुखका कोप बनाये रक्खा क्योंकि अभी सुग्रीवको भय दिखाना है।'

२—मिलान कीजिए—'गत्वा लक्ष्मणसामीप्यं प्रणनाम स दंडवत् ।२९। ततोऽङ्गदं परिष्वज्य लक्ष्मणः प्रियवर्धनः। उवाच वत्स गच्छ त्वं पितृव्याय निवेदय ।३०। समागतं राघवेण चोदितं रौद्रमूर्त्तिना। तथेति त्वरितं गत्वा सुग्रीवाय न्यवेदयत् ।३१। लक्ष्मणः क्रोधताम्राक्षः पुरद्वारि बहिःस्थितः। तच्छ्रुत्वातीव संत्रस्तः सुग्रीवो वानरेश्वरः ।३२। प्रेषयित्वा हनूमंतं तारामाह कपीश्वरः ।३४। त्वं गच्छ सांत्वयंती तं लक्ष्मणं मृदुभाषितैः ।....३५। अ० रा० स० ५।' अर्थात् अंगदने लक्ष्मणजीके समीप जाकर दण्डवत् प्रणाम किया, तब प्रिय जनकी वृद्धि करनेवाले लक्ष्मणजी उन्हें हृदयसे लगाकर बोले—हे वत्स ! जाकर अपने चाचासे कहो कि रघुनाथजीने क्रोधयुक्त होकर लक्ष्मणजीको भेजा है। बहुत ठीक, ऐसा कहकर अंगदने शीघ्र जाकर सब वृत्तान्त सुग्रीवसे निवेदन किया कि लक्ष्मणजी क्रोधसे लाल आँखें किए पुरद्वारके बाहर खड़े हैं। यह सुनकर वानरराज सुग्रीव अत्यन्त भयभीत हुए।....हनुमान्‌जीको भेजकर तारासे बोले कि लक्ष्मणके समीप जाकर कोमल वाणीसे उनको समझाओ।

अ० रा० में 'विनती कीन्ही' की जोड़के शब्द नहीं हैं। 'अभय बाँह तेहि दीन्ही' में 'ततोऽङ्गदं परिष्वज्य लक्ष्मणः प्रियवर्धनः' का भी भाव आ जाता है। 'सुनि काना' से 'उवाच' 'वत्स गच्छ त्वं' से लेकर 'तच्छ्रुत्वा' तकका सब वृत्तान्त सूचित कर दिया गया। 'कपीस अति भय अकुलाना' ही 'अतीव सन्त्रस्तः सुग्रीवो वानरेश्वरः' है। 'सुनु' का भाव 'प्रेषयित्वा' में आ जाता है। 'हनुमंत' शब्द दोनोंमें है।

वाल्मी० में लिखा है कि लक्ष्मणका क्रुद्ध होना सुनकर सुग्रीवका मुख सूख गया, भयसे उनका मन व्याकुल हो गया। यथा—'बुबुधे लक्ष्मणं प्राप्तं मुखं चास्यापशुष्यत ।३२।३०।', 'चालसंभ्रान्तमानसः ।३२।३१।' वे क्रोधका कारण न समझ सके। समझे कि मेरे शत्रुओं, मेरे अपकारियोंने, मेरी त्रुटियाँ देखकर मेरे दोष लक्ष्मणको सुनाये हैं। बिना कारण मित्रका कुपित हो जाना घबड़ाहट पैदा करना है। मित्र बनाना सरल है, उसका निबाहना कठिन है, क्योंकि चित्तका कोई ठिकाना नहीं। थोड़े कारणपर भी वह प्रीति टूट जाती है। इसलिये मैं डर रहा हूँ। (सर्ग ३२ श्लोक ३-८)।

टिप्पणी—१ 'सुनि काना' का भाव कि वानरोंने उनका क्रोध देखा, यथा—'देखि क्रोध जहँ तहँ कपि धाए'; पर सुग्रीव महलके भीतर हैं इससे उन्होंने देखा नहीं, वरन् औरोंसे सुना। किससे सुना ? पहले अंगदका आगमन और अभयदान कहकर तब उसके आगेकेही चरणमें सुग्रीवका सुनना कहा; ऐसा करके कवि जनाते

हैं कि अंगदने जाकर सुग्रीवको खबर दी। अध्यात्मरामायणसे यह भाव प्रमाणित होता है। वाल्मी० में भी अंगदकोही लक्ष्मणजीने भेजा है। उसने ही समाचार कहा पर सुग्रीव निद्रित था। प्लक्ष और प्रभाव इन मंत्रियोंने समाचार सुग्रीवसे कहा और यह भी कहा कि लक्ष्मणजीने अंगदको तुम्हारे पास भेजा है।

२—'अति भय अकुलाना'। भाव, कि हनुमान्‌जीकेही समझाने पर वे परम भयको प्राप्त हुए थे, यथा—'सुनि सुग्रीव परम भय माना'; और अब लक्ष्मणजीका क्रोध सुना इससे 'अति भय' से अकुला उठे।—(नोट—२ देखिए)।—[पं०—अकुलानेका कारण कि रामजी होते तो वे मित्र थे, उन्हें हम समझा भी लेते; पर ये भाईके नातेको मानें या न मानें, इनसे मेरा वश नहीं]

'संग लै तारा०'

मा० त० भा०—१ स्त्रीपर महात्मा क्रोध नहीं करते। यथा—'नहि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित् कुर्वन्ति दारुणम्। वाल्मी० ३३।३६।' अर्थात् महात्मा लोग स्त्रीपर कठोरता नहीं करते। वा, २—ताराको बड़ी बुद्धिमान् समझकर भेजा कि वह लक्ष्मणजीको समझाकर प्रसन्न कर देगी।—(पूर्व लिखा जा चुका है कि इसकी प्रशंसा वालीने सुग्रीवसे करते हुए कहा था कि इसकी रायसे चलना।—११ (१-२) देखिए। और हनुमान्‌जीको बुद्धिविवेक-विज्ञानके निधान समझकर भेजा।

वि० त्रि०—क्रोधके वेगमें लक्ष्मणजीके सामने सुग्रीवजी नहीं जाना चाहते। जब वेग कुछ शान्त हो तो सामने जायँ। सब बातें हनुमान्‌जीके बीचमें तय हुई हैं, अतः समझानेके लिये हनुमान्‌जीका भेजना प्राप्त है, पर कोई अपना अत्यन्त निकट सम्बन्धी भी साथ चाहिये। अंगदको भेजते, सो वह सबसे पहिले जा मिले, और अपने लिये अभय दान भी प्राप्त कर लिया। अतः अब तो हनुमान्‌जीके साथ या तारा जाय या रूमा जाय। तारापर सरकारकी कृपा है, भक्तिका वरदान भी दे चुके हैं, अतः लक्ष्मणजी ताराका अनादर नहीं कर सकते। अतः ताराके साथ हनुमान्‌जीको भेजा, और आदेश दिया कि विनती करके राजकुमार (लक्ष्मण) को समझाओ, तर्क वितर्कसे नहीं। (यही बात वाल्मी० में उन्होंने तारासे कही है। यथा 'त्वया सान्त्वैरुपक्रान्तं प्रसन्नेन्द्रियमानसम्। ततः कमलपत्राक्षं द्रक्ष्याम्यहमरिन्दमम्। ३३।३७।' अर्थात् कोमल वचनों द्वारा तुम्हारे शान्त करा देनेपर और उनके प्रसन्न हो जानेपर, कमलपत्राक्षि लक्ष्मणको मैं देखूँगा।)

दीनजी—ताराको लक्ष्मणजीके पास समझाने भेजना भी रहस्यमय है। क्योंकि रामजीने ताराको राजमहिषी बनाया था। अब यदि लक्ष्मणजी कोप करके नगर जला दें या कुछ और अनिष्ट उत्पात करें तो उन्हें रामजी द्वारा निर्धारित कार्यका खण्डन करना पड़ेगा, जो वे कर नहीं सकते। साथ ही ताराको भेजकर सुग्रीवकी गंभीर राजनीतिसे अनभिज्ञताका भी कुछ परिचय दिया गया है। (इसपर प्र० स्वामी कहते हैं कि ताराके भेजनेमें सुग्रीवकी नीतिनिपुणता सूचित होती है। देखिए, जब भीष्माचार्यने पृथ्वीको निःपाण्डव करनेकी प्रतिज्ञा की तब भगवान् कृष्ण स्वयं सेवकका रूप धरकर द्रौपदीको उनके दर्शन कराने ले गये थे। तारा स्त्री है और लक्ष्मणजी ब्रह्मचर्यव्रत धारण किये हुए हैं, अतः ये उसपर क्रोध न करेंगे। और भी जो कारण महानुभावोंने ताराको साथ भेजनेके दिये हैं, वे सब सुग्रीवके सुविचार ही सिद्ध करते हैं।)

गौड़जी—हनुमान्‌जीने मैत्री स्थापित करायी और तारा सनाथा की गई। सुग्रीवके मारे जानेसे दोनों बातें नष्ट हो जायँगी, यह भाव है।

पां०—१ स्त्रीकी विनतीसे दया शीघ्र और अधिक होती है। श्रीकृष्णजीने नागपत्नीकी विनतीसे नागका वध न किया। २—ताराका रूप देखकर समझ जायँगे कि इसपर सुग्रीव आसक्त होकर भूल गया।

वै०—उसको सौभाग्यवती करके अब सौभाग्यहीना न करेंगे।

पं०, प्र०—मुझे उन्मत्त जानकर मुझपर कृपा न करेंगे, यह समझकर इन्हें भेजा। हनुमान्‌जी प्रभुके कृपापात्र हैं।

श्री० मि०—हनुमान्‌जीने चारों प्रकारसे समझाया ही था, उसपर यह सुना कि अंगद जाकर

मिला है और वे उसको अभय बाँह दे चुके हैं। अतएव घबड़ाकर ताराको साथ ले जानेको कहा; इस विचारसे कि अंगदकी माता जानकर क्रोध त्याग देंगे और इसकी विनय सुनकर मुझे उसका पति जानकर मेरा अपराध भी क्षमा करेंगे। (मा० शं०)

टिप्पणी—४ (क) 'करि बिनती समुझाउ' अर्थात् जब विनयसे शीतल हो जायँ तब समझाना। (ख) 'कुमार' अर्थात् राजकुमार हैं। इनको नीतिशास्त्रसे समझाना, यों कि नीति यह है कि अपने बनाएको आप ही न बिगाड़े, विचारिये तो कि आपने अपने हाथसे सुग्रीवका तिलक किया है। पुनः, ['कुमार' पद देकर जनाया कि इस प्रकार समझाना कि सुग्रीवकी मैत्री रामजीसे है, तुम रामजीके छोटे भाई हो, अतएव तुम्हें सुग्रीवका सम्मान बड़े भाईके तुल्य करना चाहिए। (पं०)]

**तारा सहित जाइ हनुमाना। चरन बंदि प्रभु सुजस बखाना॥ ४॥**
**करि बिनती मंदिर लै आए। चरन पखारि पलँग बैठाए॥ ५॥**

अर्थ—तारासहित जाकर हनुमान्‌जीने चरणोंकी वन्दना करके प्रभुका सुयश वर्णन किया।४। बिन्ती करके महलमें ले आए; चरणोंको धोकर पलंगपर बिठाया।५।

नोट—१ मिलान कीजिये—'गत्वा ननाम शिरसा भक्त्या स्वागतमब्रवीत्। एहि वीर महाभाग भवद्‌गृहमशंकितम्॥ अ० रा० ५।३७॥ प्रविश्य राजदारादीन्दृष्ट्वा सुग्रीवमेव च।३८।' अर्थात् शिर नवाकर भक्तिपूर्वक स्वागत करते हुए बोले—'हे महाभाग! वीरवर! निःशङ्क होकर आइए, यह घर आपहीका है। इसमें पधारकर राजमहिषियोंसे और सुग्रीवजीसे मिलिये। 'संग लै तारा' और 'तारा सहित'से हनुमान्‌जीको प्रधान रक्खा, वाल्मी० में तारा प्रधान है। उसने लक्ष्मणजीसे बहुत कुछ कहकर अंतमें यह कहा कि 'सुग्रीव बहुत दिनोंसे बिछुड़ी हुई स्त्रीको और मुझको पाकर आसक्त हो गया, उसे क्षमा कीजिए। आइए, मित्रको समझाना चाहिए। आपने मर्यादाकी रक्षा की कि किसीके घरमें जहाँ स्त्रियाँ हों न जाय; पर मित्रके यहाँ जानेमें दोष नहीं और न सद्भावसे देखनेमें दोष है', यथा—'तदागच्छ महाबाहो चरित्रं रक्षितं त्वया। अच्छलं मित्रभावेन सतां दारावलोकनम्॥ वाल्मी० ३३।६१॥'; यह आज्ञा पाकर लक्ष्मणजी भीतर गए।

टिप्पणी—१ (क) 'जाइ हनुमाना' इति। लक्ष्मणजी दरवाजेके बाहर हैं और ये भीतर अन्तःपुरमें थे, अतः चलकर लक्ष्मणजीके पास आकर मिले। इसीसे 'जाइ' कहा। (ख) 'प्रभु सुजस', यथा—"जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ', 'न घटै जन जो रघुबीर बढ़ायो। क० ७।६०।' जिसको एकबार अपना लिया फिर उसके दोषपर दृष्टि नहीं डालते। यथा 'अपने देखे दोष सपनेहु राम न उर धरेउ। दो० ४७।' इत्यादि। पुनः, यह कि प्रभुके समान कोई दीनहितकारी नहीं है। दीन गृद्ध्र, शबरी और सुग्रीवका उन्होंने कैसा हित किया। इत्यादि।

नोट—२ रामभक्तको प्रसन्न करनेका यह सहज नुसखा है कि उसे भगवद्‌यश सुनावे। देखिए, विभीषणजीको हनुमान्‌जीने प्रभुका यश सुनाया, कालनेमिने हनुमान्‌जीको रोकनेके लिए प्रभुका यश सुनाया, इत्यादि। कारण यह है कि रामगुणग्राम रामभक्तका जीवनधन है, यथा—'राम भगत जन जीवनधन से।१।३२।१२।', 'सेवक-मन-मानस मराल से।१।३२।१४।', 'सेवक सालि पाल जलधर से। १।३२।१०।' और 'संतसमाज पयोधि रमासी।१।३१।१०।' इत्यादि।

३—'मंदिर लै आए', इस कथनसे जनाया कि सुग्रीवकी आज्ञा थी कि उन्हें महलमें ले आना। यथा अध्यात्मे–'सांत्वयन् कोपितं वीरं शनैरानय मन्दिरम् (सादरम्)।'–(५।३४)। अर्थात् सुग्रीवने हनुमान्‌जीसे कहा कि कुपित वीरको शान्त करते हुए धीरे-धीरे मन्दिरमें ले आओ। ("विषयासक्त कृतघ्न सुग्रीवके राजभवनको 'मंदिर' कहना कहाँ तक उचित है जब कि भवानीके देवालयको भी मंदिर नहीं कहा गया।" यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर प्र० स्वामीजी यह देते हैं कि यहाँ 'मंदिर' शब्दसे 'श्रीरामजीको मूर्ति जिनके

लक्ष्मणमें ही, जिसे लक्ष्मण-संज्ञा ही ग्रहण करना उचित है। इसी भावनासे हनुमान्‌जीने उनका पाद प्रक्षालन किया। जैसे यहाँ चरण प्रक्षालन करना कहा है, वैसे ही अ० रा० में सुग्रीवका अर्घ्य और पाद्य आदिसे लक्ष्मणजीकी भली प्रकार पूजा करना लिखा है। यथा—'सुग्रीवोऽप्यर्घ्यपाद्याद्यैर्लक्ष्मणं समपूजयत्।५।५७।' मानसमें श्रीहनुमान्‌जीने चरणप्रक्षालन किया है, उसके पश्चात् सुग्रीव आकर मिले हैं। मन्दिरमें ले आनेसे लक्ष्मणजीका अधिक सम्मान हुआ और सेवा बनी कि चरण धोए और पलंगपर विठाया। स्मरण रहे कि विपिन उदासी वेष और नगरमें न जानेका वर केवल श्रीरामजीके लिये माँगा गया था। इसीसे राज्यतिलक करनेके लिये किष्किन्धा और लंकामें श्रीलक्ष्मणजी ही भेजे गए। इसी तरह लक्ष्मणजीके लिये भक्तकी रुचि रखनेके लिये पलंगपर बैठनेमें भी कोई अनौचित्य नहीं है। प्र० स्वामीका मत है कि यहाँ 'पलंग' से व्रतीका आसन अर्थ करना चाहिए। 'पर्यङ्कासञ्ज पल्यङ्क बृषी पर्यस्तिकासु च। इति मेदिनी कोषे।' व्रतीके आसनको वृषी कहते हैं जिसका पर्याय पलंग है। लक्ष्मणजी व्रती, तपस्वी हैं। तपस्वीका शय्या पलंग आदिपर बैठना मना है।

श्री नंगे परमहंसजी—'लक्ष्मणजी तो ब्रह्मचर्यमें रहे। पलंगपर कैसे बैठे?' समाधान यह है कि 'यदि वे ब्रह्मचर्य व्रतको धारण किये होते तो श्रीरामजी शूर्पणखाको उनके पास न भेजते। यदि कहिये कि शूर्पणखाको तो हँसी होती थी तो उत्तर यह है कि ब्रह्मचर्य व्रतमें हँसी नहीं होती है। अतः लक्ष्मण-जीको पलंगपर बैठना निषेध नहीं हो सकता। फिर सुग्रीव तो राजा थे। राजाओंके यहाँ अनेक पलंग रहते हैं जैसे कि बेंतके, नेवाड़के, इत्यादि। अतः लक्ष्मणजीका पलंगपर बैठना निर्दोष है।

**तब कपीस चरनन्हि सिरु नावा। गहि भुज लछिमन कंठ लगावा॥ ६॥**

अर्थ—(जब समझाने, रामयश सुनाने और सेवासे लक्ष्मणजी शान्त हुए) तब सुग्रीवने चरणोंमें मस्तक नवाया। लक्ष्मणजीने हाथ पकड़कर उनको गले लगाया।६।

टिप्पणी—१ (क) 'कपीश' का भाव कि ये राजा हैं, नीति जानते हैं, नीतिके अनुकूल ऐसा ही करना चाहिए जैसा इन्होंने किया। इन्होंने क्रमसे लक्ष्मणजीका क्रोध शान्त किया—प्रथम अंगद आए और विनती की, फिर हनुमान्‌जी और ताराने आकर चरणोंपर पड़कर विनती की, तब सुग्रीव उनके चरणोंपर पड़े। 'कंठ लगावा' से प्रेम दरसाते हुए सूचित किया कि वस्तुतः मैं तुमपर रुष्ट नहीं हूँ, तुम तो हमारे प्रिय मित्र हो।

पं०—सुग्रीव महलसे बाहर ही मिलने क्यों न गए? कारण कि यदि बाहर प्रजाके सामने कहीं लक्ष्मणजी उनका निरादर कर देते तो प्रजामें उनका मान घट जाता और एकान्तमें निरादर करें वा जो कुछ भी कह डालें तो उचित ही है। बाहरवाले तो न जान पायँगे, घरकी घर हीमें रहेगी। यह समझकर घरमें और वह भी कोपनिवृत्ति होनेपर मिले।

**नाथ बिषय सम मद कछु नाहीं। मुनि मन मोह करै छन माहीं॥ ७॥**
**सुनत बिनीत बचन सुख पावा। लछिमन तेहि बहु बिधि समुझावा॥ ८॥**

अर्थ—(सुग्रीवने कहा—) हे नाथ! विषयके समान और कोई मद नहीं है, यह मुनियों (मनन-शीलों) के मनको क्षणभरमें मोहित कर लेता है।७। नम्र वचन सुनकर लक्ष्मणजीने सुख पाया और उनको बहुत प्रकार समझाया।८।

टिप्पणी १—(क) 'नाथ' संबोधनमें भाव कि मैं तो अनाथ था, आप दोनों भाइयोंने वालिको मारकर मुझे सनाथ किया। पर विषयने मुझे फिर अनाथ करना चाहा था, अब आपकी कृपासे मैं पुनः सनाथ हुआ। (ख) 'विषय सम मद कछु नाहीं।'—विषय समान दूसरा मद नहीं है। तात्पर्य कि और मद तो अज्ञानियोंको मोह लेते हैं पर विषयरूपी मद ज्ञानियोंके भी मनको मोहित कर लेता है। विषय मनको मलिन करता है, यथा—'काई विषय मुकुर मन लागी'; इसीसे 'मन मोह करै' कहा।

नोट—१ इस स्थानपर वाल्मी० ३५ में ताराके वचन लक्ष्मणजीसे इसी विषयके बोधक हैं। वही

भाव यहाँ सुग्रीवके वचनोंका है। ताराने कहा था कि - सुग्रीवने बहुत दुःखके बाद सुख पाया. इससे उन्हें समयका अंत न जान पड़ा। विश्वामित्र ऐसे महामुनि भी घृताचीपर आसक्त हो गए थे तो उनको दश वर्ष एक दिन प्रतीत हुआ। जब ऐसे महामुनियोंको विषयासक्तिमें कालका ज्ञान न रहा तब साधारण मनुष्य क्या चीज हैं। यथा—'सुदुःखशयितः पूर्वं प्राप्येदं सुखमुत्तमम्। प्राप्तकालं न जानीते विश्वामित्रो यथा मुनिः॥ घृताच्यां किल संसक्तो दशवर्षाणि लक्ष्मण। अहो मन्यत धर्मात्मा विश्वामित्रो महामुनिः॥६,७॥' (सर्ग ३५)।

नोट—२ 'बहु बिधि'। कि तुम भय न मानो, हमने तुमपर क्रोध नहीं किया, तुम तो श्रीरामजीके सखा हो और तुमपर उनकी कृपा है। अब तुम उनके पास चलो।

३ 'सुनत बिनीत बचन''''बहु बिधि समुझावा' इति। इसमें वाल्मी० का एक पूरा सर्ग आगया। वाल्मी० ३६ में सुग्रीव और लक्ष्मणजीकी बातचीत यों दी हुई है।—'सुग्रीव लक्ष्मणजीका प्रसन्न करनेवाले नम्र वचन बोले। यह श्री, कीर्ति और सनातन राज्य सभी मैंने रामचंद्रजीकी कृपासे पुनः पाया। उनका थोड़ा भी बदला चुकानेको कौन समर्थ है? वे तो अपने तेज, बलसे रावणवध कर सीताको पायेंगे। सप्त-तालोंके वेधनेवालेको सहायककी आवश्यकता कहाँ? मैं तो दासकी तरह उनके पीछे-पीछे चलूँगा। विश्वास-के वा स्नेहके कारण यदि कुछ अपराध दाससे हुआ तो उसे क्षमा करो; दासोंसे अपराध हुआ ही करते हैं।' वस्तुतः ये 'विनीत वचन' हैं। इनसे लक्ष्मणजी प्रसन्न भी हुए और यह कहा कि—सुग्रीव! मेरे भाई तुमको पाकर सनाथ हुए। उत्तम लक्ष्मीका भोग करने योग्य तुममें प्रताप और शुद्ध हृदय है; तुम्हारी सहायतासे रामजी शीघ्रही सीताको पावेंगे। धर्मज्ञ. कृतज्ञ, रणमें पीठ न देनेवालोंके ऐसेही वचन होते हैं। आप विक्रम और बलमें रामजीके समान हैं. इसीसे देवताओंने आपको सदाके लिए उनका सहायक बनाया है। अब आप शीघ्र मेरे साथ चलें और सीतावियोगसे दुःखी अपने मित्रको समझावें। शोकसे पीड़ित रामजीके वचनोंको सुनकर जो कठोर वचन मैंने कहे हैं, हे मित्र! आप उन्हें क्षमा करें।

अध्यात्ममें लक्ष्मणजीका वचन है कि मैंने जो कुछ कहा वह प्रेमके कोपसे कहा, उसे क्षमा करो। यथा—'सौमित्रिरपि सुग्रीवं प्राह किंचिन्मयोदितम्। तत्क्षमस्व महाभाग प्रणयाद्भाषितं मया॥' (५।६०)। श्रीरामचन्द्रजी सीता-विरहसे अत्यन्त दुःखी हैं। अतः इसी समय उनके पास चलना चाहिए। (५।६१)।

वि० त्रि० जी समझाना इस प्रकार लिखते हैं—

'तुम ते मीत पुनीत लहि भे सनाथ रघुनाथ। ऐसइ भव्य स्वभाव को होन चहिय कपिनाथ॥
अवसि जीतिहहिं रावनहिं तव प्रताप बल राम। धर्म धुरंधर धीर सम बचन कहेउ अभिराम॥
ह्वै समर्थ निज दोष गुनि कौन सकै अस भाखि। कै रघुपति कै कोसपति और न शंकर साखि॥
बल बिक्रम में रामके सरिस तुहीं कपिराय। समुझि सुरन्ह दीन्ह्यो हमहि तुम सन सबल सहाय॥
करिय वीर अब बेर नहिं चलिय हमारे साथ। धीरज दै समुझाइये तिय बिरही रघुनाथ॥'

**पवनतनय सब कथा सुनाई। जेहि बिधि गए दूत समुदाई॥९॥**

अर्थ—हनुमानजीने सब कथा सुनाई जिस प्रकार समूह दूत गए। अर्थात् चारों दिशाओंमें वानरोंके जानेकी कथा और संख्या कही।९।

टिप्पणी—१ श्रीहनुमान्जीने लक्ष्मणजीको कुपित जानकर यह सब कथा प्रथम नहीं सुनाई थी; अब सुअवसर समझकर सुनाई। सुग्रीवने स्वयं इससे न कहा कि लक्ष्मणजीको विश्वास न होगा; वे समझेंगे कि हमारे भयसे ये बात बनाकर कह रहे हैं, अभी दूत भेजे नहीं गए। इसीसे हनुमान्जीसे कहलाया।—(पं०, प्र०—हनुमान्जी वाक्य-विशारद हैं, परम वाग्मी हैं, मंत्री हैं और इन्होंने दूत भेजे हैं, अतः येही ठीक समाचार उसका कह सकते थे।)

पांडेजी—यहाँ 'पवनतनय' इससे कहा कि इनके वचन सुनकर लक्ष्मणजी शीतल हो गए। (प्र०

स्वामीका मन है कि कुछ पवित्र कार्यकी कथा सुनायेंगे, अतः पवनतनय कहा। सीताशोध संबंधी कार्य यह पवित्र कार्य है।)

## दोहा—हरषि चले सुग्रीव तब अंगदादि कपि साथ। रामानुज आगे करि आए जहँ रघुनाथ ॥२०॥

अर्थ—तब अङ्गद आदि वानरोंको साथ लिए श्रीरामजीके भाई श्रीलक्ष्मणजीको आगे करके हर्षित होकर सुग्रीव चले और जहाँ श्रीरघुनाथजी हैं वहाँ आए।२०।

नोट—१ (क) अध्यात्मके 'भेरीमृदंगैर्बहुऋक्षवानरैः, श्वेतातपत्रैर्व्यजनैश्च शोभितः। नीलांगदा-यैर्हनुमत्प्रधानैः समावृतो राघवमभ्यगाद्धरिः।' (५।६३), इस श्लोकके भाव 'हरषि' आदि पदसे जना दिए गए हैं। अर्थ यह है कि 'भेरी मृदंग, बहुतसे रीछ और वानर, श्वेत छत्र और चमरसे शोभित तथा अंगद, नील और हनुमानादि प्रधान वानरोंसे घिरे हुए वे श्रीरामजीके समीप आए। (ख) 'अंगदादि कपि साथ' इति। अंगद राजकुमार एवं युवराज हैं और श्रीरामजीने सुग्रीवसे कहा था कि 'अंगद सहित करहु तुम्ह राजू', अतएव अंगदको सादर साथ लेना योग्यही था। इसीसे उसको स्पष्ट लिखा। (पं०)। (ग) अ० रा० में हनुमान्‌जी प्रधान हैं और मानसमें अंगद। वाल्मी० में किसीके नाम नहीं आए हैं। (घ) 'रामानुज आगे करि' इति। रामभक्त लक्ष्मणका पीछा पकड़ा, अतएव उनके बलसे निर्भय चले। रामभक्तका अनुचर होनेसे मनुष्य सबसे अभय हो जाता है। (प्र०)।

टिप्पणी—१ रामकार्य प्रारंभ हुआ, दूत भेज दिये गए; इसीसे सुग्रीव हर्षित होकर चले। लक्ष्मणजी रामानुज हैं, अतः श्रीरामजीके समान समझकर उनको आगे किया, उनके पीछे सुग्रीव हैं और सुग्रीवके पीछे अङ्गद फिर और सब वानर हैं; यह चलनेका प्रकार दिखाया।

**नाइ चरन सिर कह कर जोरी। नाथ मोहि कछु नाहिंन खोरी ॥१॥**

अर्थ—श्रीरामजीके चरणोंमें सिर नवाकर हाथ जोड़कर सुग्रीव बोले—हे नाथ! मेरा कुछ दोष नहीं है।१।

टिप्पणी—१ (क) हाथ जोड़ना और प्रणाम करना यह मुद्रा श्रीरामजीको प्रसन्न करनेकी है, यथा—'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। ततकाल तुलसीदास जीवन जन्म को फल पाइहै। वि०१३५।' ☞ क्षमा करानेका भी उपाय यही है; इसीसे अङ्गद, तारा, हनुमान्‌जी और सुग्रीव चरणोंपर पड़े और विनती की थी, यथा—'चरन नाइ सिर बिनती कीन्ही' (अङ्गद), 'चरन बंदि प्रभु सुजस बखाना।' (तारा और हनुमान्‌जी), 'चरन पखारि पलँग बैठाए' (तारा); 'तब कपीस चरनन्हि सिरु नावा'। तथा यहाँ 'नाइ चरन सिर कह कर जोरी'। (ख) सुग्रीवसे अपराध हुआ, उसे सुग्रीव माया आदिके सिर डालकर आप निरपराध होते हैं—'मोहि कछु नाहिंन खोरी'। यह कहकर आगे उनका नाम लेते हैं जिनका दोष है।

नोट—१ मेरा कुछ दोष नहीं। भाव कि आपकी मायाका दोष है। कारण कि माया आपकी है, आपकी प्रेरणासेही वह सब कुछ करती है। भाव यह है कि आप ही फँसानेवाले हैं, आपही छुड़ा सकते हैं यथा—'तुलसिदास यहि जीव मोहरजु जेहि बाँध्यो सोइ छोरै। वि० १०२।' मैंने प्रथमही प्रार्थना की थी कि 'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करउँ दिन राती'; पर आपने कृपा ही न की; उलटे माया डाल दी। अब कृपा कीजिए कि आगे मोहमें न फँसूं।—'काल करम गति अगति जीव कै सब हरि हाथ तुम्हारे। सो कछु करहु हरहु ममता मम फिरउँ न तुम्हहिं बिसारे। वि० ११२।'

**अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया ॥२॥**
**बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पावँर पसु कपि अति कामी ॥३॥**

अर्थ—हे देव ! आपकी माया अत्यन्त प्रबल है। हे श्रीराम ! जो आप कृपा करें तो छूटे ।२। हे स्वामी ! सुर, नर, मुनि, सभी विषयके वश हैं, (तब) मैं पामर (=नीच, तुच्छ, निर्बुद्धि) अत्यन्त कामी कपि पशु किस गिनतीमें हूँ ? ।३।

नोट—१ 'अतिसय प्रबल', यथा—'सिव बिरंचि कहुँ मोहइ को है बपुरा आन ।७।६२।', 'जाकी माया बस बिरंचि सिव नाचत पार न पायो। बि० ९८।', 'यन्मायावशवर्ति-विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुरा'। यहाँ 'शुद्धापह्नुति अलंकार है। २—'करहु जौं दाया' अर्थात् आपकी कृपाके सिवा और किसी देवतादिकी कृपासे नहीं छूट सकती और न किसी साधनसे छूटे। साधनसे छूटती तो 'मुनि बिज्ञानधाम' के मनमें क्षोभ न पैदा कर सकती। यथा—'सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि। छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहौं पद रोपि। उ० ७१।' प्रभुकी कृपासे छूटती है क्योंकि प्रभुकी दासी है, यथा - 'मायापति सेवक सन माया', 'माधव असि तुम्हारि यह माया। करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया ॥१॥ सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै। जेहि अनुभव बिनु मोह जनित भव दारुन बिपति सतावै ॥२॥ जेहि के भवन बिमल चिंतामनि सो कत काँच बटोरै। सपने परबस परयो जागि देखत केहि जाय निहोरै ॥३॥ ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै। तौ कत मृगजलरूप बिषय कारन निसिबासर धावै ॥४॥ ज्ञान भक्ति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं। तुलसीदास हरिकृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं ॥५॥' (विनय ११६)

पुनश्च यथा—'अस कछु समुझि परत रघुराया। बिनु तव कृपा दयालु दासहित मोह न छूटै माया ।१। बाक ज्ञान अत्यंत निपुन भवपार न पावै कोई। निसि गृहमध्य दीपकी बातन्ह तम निवृत्त नहि होई ।२। जैसे कोउ एक दीन दुखी अति असनहीन दुख पावै। चित्र कलपतरु कामधेनु गृह लिखे न बिपति नसावै ।३। षटरस बहु प्रकार भोजन कोउ दिन अरु रैनि बखानै। बिनु बोले संतोषजनित सुख खाइ सोई पै जानै ।४। जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास अरु बिषय आस मन माहीं। तुलसिदास तब लगि जग जोनि भ्रमत सपनेहु सुख नाहीं ।५। वि० १२३।' यहाँ 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है।

टिप्पणी—१ 'विषयवस्य सुर नर मुनि' इति। (क) यथा—इन्द्रने अहल्यासे संग किया, मनुष्योंमें आदिपुरुष मनुजी अपने ही लिए कहते हैं कि 'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन', और मुनियोंमें देवर्षि नारद और विश्वामित्रजी ही हैं; नारदजीकी कथा मानसमें आ ही चुकी, विश्वामित्रजी घृताची और उर्वशीके जालमें पड़ गए थे। पुनः, (ख) सुर-नर-मुनिको कहकर जनाया कि देवता जो सत्वगुणसे उत्पन्न एवं ज्ञानके स्वरूप हैं; मनुष्य जिनका शरीर गुणज्ञानका निधान है और मुनि जो मननशील हैं, जब ये ही सब विषयके वश हैं तब तुच्छ पशु किस गिनतीमें हैं, वानर जाति अति कामी होती ही है। (वाल्मी० सर्ग ३३ में ऐसा ही ताराने लक्ष्मणजीसे कहा है। यथा—'महर्षयो धर्मतपोभिरागाः कामानुकामाः प्रतिबद्धमोहाः। अयं प्रकृत्या चपलः कपिस्तु कथं न सज्जेत सुखेषु राजा ॥५७॥' अर्थात् धर्म और तपस्यासे शोभित महर्षि जिन्होंने मोहको दूर कर दिया है वे भी कामकी अभिलाषा करने लगते हैं तब कपि जो स्वभावसे ही चंचल है वह वानरराज सुखमें कैसे न आसक्त हो जाता? इसमें आश्चर्य ही क्या ? मानसमें स्वयं सुग्रीवने यह कहा है)। यहाँ 'सार अलंकार एवं काव्यार्थापत्ति' है।

२—सुग्रीवने जैसे लक्ष्मणजीसे निष्कपट बात कही थी वैसे ही श्रीरामजीसे कही; इसीसे दोनों भाई उनपर प्रसन्न हुए क्योंकि श्रीमुखवचन है कि 'मोहि कपट छल छिद्र न भावा'।

(श्रीलक्ष्मणजीसे)—'नाथ विषय सम मद कछु नाहीं। मुनि मन मोह करै छन माहीं।'

(श्रीरामजीसे)—'विषयबस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पावँर पसु कपि अति कामी'

३—रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श ये पाँच विषय हैं, वाह्येन्द्रियाँ इनके वश होती हैं और अन्तःकरण काम क्रोध लोभके वश होता है, यही आगे कहते हैं।

नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा ॥४॥
लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया ॥५॥

अर्थ—स्त्रीका नयन-बाण (नेत्रकटाक्षरूपी बाण) जिसके नहीं लगा, जो भयंकर क्रोधरूपी अँधेरी रातमें जागता रहता है (अर्थात् क्रोधका मौका होनेपर भी सावधान बना रहता है)।४। लोभरूपी पाश (फाँसी, फंदा, बंधन) से जिसने अपना गला न बँधाया अर्थात् जो लोभमें नहीं फँसा, हे रघुनाथजी! वह मनुष्य आप ही के समान है।५।

☞ मिलान कीजिए—'कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः। कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशैर्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः॥' इति भर्तृहरिशतके। अर्थात् स्त्रियोंके कटाक्षरूपी बाण जिसको नहीं बेधते, कोपाग्निका ताप जिसके चित्तको नहीं जलाता, सम्पूर्ण विषय जिसे लोभपाशसे नहीं खींचते, वह धीर पुरुष त्रैलोक्यमें जय पाता है।

पुनश्च—'विश्वामित्र पराशर प्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशनास्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः। शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुंजते मानवास्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विंध्यस्तरेत्सागरम।' भर्तृहरि।

अर्थात् विश्वामित्र पराशरादि बड़े बड़े ऋषि जो वायु जल और पत्ते खा पीके रह जाते थे वे भी स्त्रीके मुखकमलको देखकर मोहित हो गए तब जो लोग अन्न दूध घी आदि उत्तम व्यंजन भोजन करते हैं उनकी इन्द्रियाँ यदि वशमें हो जायँ तो समुद्रपर विन्ध्याचलके तैरनेमें क्या आश्चर्य है? अर्थात् वे इन्द्रियोंको कठिनाईसे वशमें कर सकते हैं।

पुनश्च—'को न क्रोध निरदह्यो काम बस केहि नहि कीन्हों। को न लोभ दृढ़ फंद बाँधि त्रासन करि दीन्हों॥ कवन हृदय नहि लाग कठिन अति नारिनयनसर। लोचनजुत नहिं अंध भयो श्री पाइ कवन नर॥ सुर नागलोक महिमंडलहु को जु मोह कीन्हों जयन। कह तुलसिदास सो ऊबरै जेहि राख राम राजिवनयन। क० ७।११७', '*भौंह कमान सँधान सुठान जे नारि बिलोकनि बान ते बाचे। कोप-कृसानु गुमान अवाँ घट ज्यों जिनके मन आँच न आँचे॥* लोभ सबै नट के बस ह्वै कपि ज्यों जगमें बहु नाच न नाचे। नीके हैं साधु सबै तुलसी पै तेई रघुबीरके सेवक साँचे।११८।'

टिप्पणी—१ (क) नारिनयनका बाणसे रूपक बाँधा; क्योंकि स्त्रीके नेत्रोंके कटाक्ष बाणकी तरह हृदयको बेधते हैं। कामदेव भौंहरूपी कमान चढ़ाकर नेत्ररूपी बाणसे लोगोंको मारता है। (पं०—बाण शरीरको बेधते हैं, नारिनयनसर हृदयको बेधते हैं। विशिखपर भी विष चढ़ता है और यहाँ अंजन विष है)। सुग्रीव कामके वश हुए, इसीसे उन्होंने प्रथम 'नारिनयनसर' कहकर कामकी प्रबलता कही। (ख)—क्रोधको अँधेरी रात्रि कहा, क्योंकि दोनोंमें कुछ नहीं सूझता। क्रोधके आवेशमें लोग अनुचित कर्म कर बैठते हैं, यथा—'लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोध पाप कर मूल। जेहि बस जन अनुचित करहिं चरहिं बिस्व प्रतिकूल।१।२७७।'

२ 'लोभ पास०' इति। (क) लोभ नट है, आशा पाश है, यथा—'लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि। विनय ११८।' पुनः, यथा—'लोभ सबै नटके बस ह्वै कपि ज्यों जगमें बहु नाच न नाचे। क० ७।११८।' (ख) 'गर न बँधाया' का भाव कि वानर अपना गला आपही बँधाता है। वैसेही जीव आशामें आपही बँधता है। (ग) यहाँ काम क्रोध और लोभ तीनको कहा, क्योंकि ये तीन अत्यन्त प्रबल हैं, यथा—'तात तीन अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ।३।३८।'

## ☙ सो नर तुम्ह समान रघुराया ❧

पां०—यह बात सुग्रीवकी व्यंग्यभरी सख्यभावसे समझ पड़ती है, क्योंकि रघुनाथजीने जानकीजीके विरहसे विकल हो उनकी प्राप्तिके लिए क्रोध कर लक्ष्मणजीको उनके पास भेजा, उससे ये तीनों बातें पाई जाती हैं। और, लक्ष्मणजी उसे बाँह देकर लाए सो उनकी स्तुति इसी बातसे प्रकट होती है; क्योंकि वे तीनों

बाधाओंसे रहित हैं। आगे रघुनाथजीके हँसनेसे भी व्यङ्ग भाव सिद्ध होता है। सखाका व्यंग्यपूर्ण वचन था, इसीसे प्रभु हँस दिए। यथा—'तव बोले रघुपति मुसुकाई'।

प्र०—'सो नर' अर्थात् वह पराक्रमी है, अबला वा नपुंसक नहीं है।

दीनजी—भाव यह कि ईश्वरके सिवा कोई दूसरा ऐसा है ही नहीं जिसके शरीरमें काम क्रोध लोभ न हों। यहाँ इन अर्धालियोंमें सार, काव्यर्थापत्ति और रूपककी संसृष्टि है।

करु०—जीवको परमेश्वरके समान क्यों कहा? यहाँ ध्वनि यह है कि काम क्रोध लोभमेंसे कामका सहायक मद है और वनिता स्थायी है, क्रोधका सहायक मोह है और अहंकार स्थायी है, और लोभका सहायक ईर्ष्या है और दंभ स्थायी है; इनको जो जीतें और श्रीरामजीका भजन करें वे सारूप्यको प्राप्त होते हैं। अतः जीवको रामके समान कहा। यहाँ 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है।

**यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई ॥६॥**
**तब रघुपति बोले मुसुकाई। तुम्ह प्रिय मोहिं भरत जिमि भाई ॥७॥**

अर्थ—यह गुण साधनसे नहीं हो सकता, आपकी कृपासे ही कोई कोई पाता है।६। तब रघुनाथजी हँसकर बोले—हे भाई! तुम मुझे भाई भरत जैसे (सदृश) प्रिय हो।७।

टिप्पणी—१ (क) 'यह गुन' अर्थात् अन्य गुण क्रिया-साध्य हैं, यथा—'धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना००।'; परन्तु यह गुण क्रियासाध्य नहीं है, कृपासाध्य है। काम, क्रोध और लोभको जो अपने पुरुषार्थसे जीत ले वह आपके ही समान है, यह कहकर अब पुरुषार्थका तिरस्कार करते हैं कि यह गुण साधनसे नहीं होते अर्थात् साधन करनेवाले तुम्हारे समान नहीं हैं। 'तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई' अर्थात् तुम्हारे कृपापात्र ही तुम्हारे समान हैं। [जैसे लक्ष्मणजी, हनुमान्‌जी आदिने पाया—(पां०)]

☞ (ख) 'क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम की दाया।३।३९।३।' में जिन पाँच विकारोंका छूटना श्रीरामकृपासे बताया गया है, वही सब यहाँ सुग्रीव भी गिनाकर सबको कृपासाध्य कह रहे हैं। यथा क्रमसे—

१ 'घोर क्रोध तम निसि जो जागा।', २ 'नारिनयनसर जाहि न लागा।', ३ 'लोभ पास जेहि गर न बँधाया'। ४ 'बिषयबस्य सुरनर मुनि स्वामी' ('नाथ बिषय सम मद कछु नाहीं।२०।७।'), ५ 'अतिसय प्रबल देव तव माया।', ६ 'छूटहिं सकल करहु जौं दाया'।

२-'तब रघुपति बोले मुसुकाई०' इति। तब=जब सुग्रीवने कहा कि कामादि विकार आपकी कृपासे छूटते हैं और मैं कामके वश हो गया था। इन वचनोंसे सुग्रीवने सूचित किया कि मुझपर आपकी कृपा नहीं है। यह सुनकर रघुनाथजीने हँसकर जनाया कि मेरी कृपा तुमपर है। हँसी यहाँ कृपाका द्योतक है, यथा—'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा।१।१९८।७।' इस समय हँसकर प्रसन्नता जनानेका कारण यह है कि सुग्रीव यह न समझें कि हमसे अपराध हुआ है इससे रघुनाथजी हमपर अप्रसन्न होंगे।

नोट—१ मुस्कानेका कारण यह भी कहा जाता है कि जीव जब भूलता है तब युक्तिसे हमपर ही दोष रखता है। यथा 'लोभ मोह मद काम क्रोध रिपु फिरत रैनि दिन घेरे। तिन्हहिं मिले मन भयो कुपथ रत फिरै तिहारेहि फेरे।२। दोषनिलय यह बिषय सोकप्रद कहत संत श्रुति टेरे। जानत हैं अनुराग तहाँ अति सो हरि तुम्हरेहि प्रेरे।३। (वि० १८७)।' अपने गुरु श्रीमुरारिदासजीसे राजाने भी ऐसा ही कहा है—('भक्तिरसबोधिनी' टीका कवित्त ५०६) यथा—'ठाढ़ो हाथ जोरि मति दीनतामें बोरि कीजै दंड मेरो ओरियो निहारि मुख भाषिए। घटती न मेरी आप कृपा ही की घटती है बढ़ती सी करी ताते न्यूनताई राखिए।'

**'भरत जिमि भाई'**

मा० त० भा०—(क) भरतसदृश कहनेका भाव कि हनुमान्‌जी सुग्रीवके मंत्री हैं, यथा—'मंत्रिन्ह

[illegible] । [illegible] मैं कत विचारा ।४।५।३।' हनुमान्‌जीको प्रभुने लक्ष्मणजीके समान कहा है, यथा—'सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना । तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।४।३।७।' मंत्रीको लक्ष्मणसमान कहा। अतएव राजाको भरत समान कहा। भरतजी लक्ष्मणजीसे बड़े हैं। (पं०)। (ख) 'प्रिय भरत जिमि भाई' अर्थात् जैसे भरतजी हमको प्रिय हैं वैसे ही तुम प्रिय हो, जैसे वे भाई वैसे ही तुमको मैं भाई समझता हूँ, यथा—'सुग्रीवः [illegible] भ्राता', 'त्वमस्माकं चतुर्णां तु भ्राता सुग्रीव पंचमः।' वाल्मी० ६।१३०।४५।'—यहाँ उदाहरण अलंकार है।

पाँड़ेजी—'भरत जिमि भाई' कहनेका दूसरा भाव यह है कि जैसे भरतजी दूर होते हुए भी अतिप्रिय हैं, वैसे ही तुम भी हो चाहे पास रहो चाहे दूर।

प्र०—'भरत जिमि भाई' कहा क्योंकि दोनोंको राज्याधिकार दिया। पुनः, वे दूर हैं तौ भी मर्मस्पर्शी-से हैं। लक्ष्मणजी अनन्य प्रेमांध हैं और भरतजी ज्ञानरूप रामपरछाईं हैं।

वि० त्रि०—सरकारने देखा कि अपने दोषको स्मरण करके सुग्रीवजी लज्जित हैं, अपनेको पामर, पशु, कामी कह रहे हैं, और समझ रहे हैं कि मैं अप्रसन्न हूँ, अतः अपनी कृपाको द्योतित करते हुए मुसकराकर बोले। यथा—'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरिन मनोहर हासा।' मुसकुराना ही मनोहर हास है। सरकारका स्वभाव है 'निज करतूति न समझिय सपने। सेवक सकुच सोच उर अपने।', अतः उनके संकोचको मिटानेके लिये कहते हैं कि तुम मुझे भाई भरतके समान प्रिय हो। जिस भाँति मैंने भरतके गले राज बाँध दिया, उसी भाँति तुम्हारे गले बाँध दिया। भरत भी राज नहीं चाहते थे, तुम भी नहीं चाहते थे, अतः तुम भरत भाईके समान प्रिय हो। समानका अर्थ ही 'इषत्-न्यून' है।

श्रीनंगे परमहंसजी—भरत समान प्रिय कहनेका भाव यह है कि 'भरतजी विषयासक्त नहीं हैं और न इन्द्रियोंके वशमें बद्ध हैं। यथा—'अवध राज सुरराज सिहाहीं। दसरथ धन लखि धनद लजाहीं। तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा।' इसलिये रघुनाथजीने सुग्रीवको भरतजीकी बराबरी देकर विषयबद्ध (दोष) से रहित सूचित किया।'

दीनजी—रामचन्द्रजीका 'भरत जिमि भाई' और 'लखन जिमि भाई' आदि कहना भी रहस्यमय है। प्रेमभक्तिके भावोंमें जिसकी उत्कृष्टता दिखानी होती है, उसे 'भरतके बंधुत्वके' सदृश स्वीकार करते हैं, पर जिसमें सेवाभावकी उत्कृष्टता दर्शानी होती है उसे 'लक्ष्मणके बंधुत्व' से मिलाते हैं। इसी कांडमें हनुमान्‌जीके लिए श्रीरामजी कह आए हैं—'तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना'। वही नियम सर्वत्र जानना चाहिए।

☞ 'लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना' से यहाँ तक 'कपि त्रासा' प्रसंग है, क्योंकि जब श्रीरामजीने हँसकर उनको भरतसमान कहा तब सुग्रीवका भय जाता रहा। अब आगे 'जेहि बिधि कपिपति कीस पठाए' की भूमिका है।

'रामरोष कपित्रास प्रकरण' समाप्त हुआ।

## 'जेहि बिधि कपिपति कीस पठाये'—प्रकरण

**अब सोइ जतनु करहु मन लाई। जेहि बिधि सीता कै सुधि पाई ॥ ८ ॥**

अर्थ—अब मन लगाकर वही उपाय करो जिस प्रकार सीताजीकी खबर मिले।८।

पं०—रघुनाथजीको तो कहना चाहिए था कि मैंने तुम्हें सुख दिया है, तुम यत्न करके अब सीताको ले आओ (जैसा सुग्रीवने वचन दिया था कि 'जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई'), पर यह न कहकर केवल सुध मँगानेको कहा। इसमें आशय यह है कि उत्तम पुरुषोंको कार्यसाधनके लिए ऐसा कहना योग्य नहीं कि मैं तुम्हारे आश्रित हूँ, तुम्हारे ही रक्खे रहता और मारे मरता हूँ। अथवा, सर्वज्ञ प्रभुने विचारा कि इन्हें तो केवल सुधि ही लाना है और सीताका लाना तो मेरे गए बिना हो ही नहीं सकता; इसलिए उन्होंने यथार्थ बात कही।

प्र०—'जतन करहु मन लाई' अर्थात् जो मन विषयमें लगाए हुए थे उसे अब सीताशोधमें लगाओ। अब विषयमें न फँसना।

नोट—१ 'अब सोइ जतन करहु मन लाई' में भाव यह है कि खैर हुआ सो हुआ, अब विषय छोड़ कार्यमें लगो। वाल्मी० ४।३८।२०।२४ में इस स्थानपर सुग्रीवको श्रीरामजीने राजधर्मका उपदेश किया है। वह यह कि—'जो अर्थ-धर्म-कामका समयपर अनुष्ठान करता है, इनके लिए जो समयका विभाग करता है, वही राजा है। जो अर्थ-धर्मको छोड़ केवल कामकी सेवा करता है वह वृक्षकी शाखापर सोए हुएके समान गिरनेपरही समझता है। जो शत्रुओंका वध और मित्रोंका संग्रह करता है, वही अर्थ-धर्म-कामका फल भोगता है। हम लोगोंके उद्योगका यही समय है।' यथा—'धर्ममर्थं च कामं च काले यस्तु निषेवते ।२०। विभज्य सततं वीर स राजा हरिसत्तम। हित्वा धर्मं तथार्थं च कामं यस्तु निषेवते ।२१। स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते। अमित्राणां वधे युक्तो मित्राणां संग्रहे रतः ।२२। त्रिवर्गफलभोक्ता च राजा धर्मेण युज्यते।'—मानसके 'अब' 'मन लाई' में इस उपदेशका ग्रहण कर सकते हैं।

## दोहा—एहि बिधि होत बतकही आए बानर जूथ।
## नाना बरन सकल दिसि देखिअ कीस बरूथ ॥२१॥

अर्थ—इस प्रकार बातचीत हो रही थी कि वानरोंके यूथ आगए। सब दिशाओंमें अनेक रंग और जातिके वानरोंके झुण्डकेझुण्ड दिखाई पड़ते हैं ॥२१॥

नोट—१ 'बतकही' शब्दका प्रयोग मानसमें सात स्थानोंपर किया गया है और विलक्षणता यह है कि प्रत्येक काण्ड या उस काण्डका प्रसंग दूसरे किसी काण्डमें आनेपर यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, इस तरह प्रत्येक काण्डके प्रसंगमें एक बार आया है। परमार्थ-वार्ताके ही प्रसंगमें यह शब्द लिखा गया है। भाव पूर्व बालकाण्डमें भी दिए जा चुके हैं। उदाहरण ये हैं—

बालकाण्ड—'हंसहि बक दादुर चातकही। हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही ।१।९।२',
'करत बतकही अनुज सन मन सियरूप लुभान ।१।२३१।'

अरण्यका प्रसंग—'दसकंधर मारीच बतकही। जेहि बिधि भई सो सब तेहि कही ।७।६६।५।'

किष्किंधा—'एहि बिधि होत बतकही आए बानर जूथ'।

सुन्दरका प्रसंग—'तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भयमोचनि ।।६।१६।७।'

लंका—'काज हमार तासु हित होई। रिपुसन करेहु बतकही सोई ।६।१७।८।'

उत्तर—'निज निज गृह गए आयसु पाई। बरनत प्रभु बतकही सुहाई ।७।४७।८।'

टिप्पणी—१ हनुमान्‌जीने दूत भेजे उसी अवसरमें लक्ष्मणजी किष्किंधानगरमें पहुँचे और उसी दिन सुग्रीवको रामजीके पास ले आए, यथा—'तब हनुमंत बोलाए दूता।...चले सकल चरनन्हि सिर नाई। तेहि अवसर लछिमन पुर आए।' इससे संदेह होता है कि क्या उसी दिन, दिनके दिनहीमें चारों दिशाओंसे वानर आगए? सुग्रीवकी आज्ञासे स्पष्ट जान पड़ता है कि १५ दिनके भीतर लौटना कठिन था। (वाल्मीकीयमें ताराके वचनोंसे जो उसने लक्ष्मणजीसे कहे हैं, यह स्पष्ट जान पड़ता है कि) दूतोंके भेजे जानेके कई दिन पीछे लक्ष्मणजी सुग्रीवके पास भेजे गए थे, यथा—'उद्योगस्तु चिराज्ञप्तः सुग्रीवेण नरोत्तम। कामस्यापि विधेयेन तवार्थ प्रतिसाधने ।३३।५६।' अर्थात् हे पुरुषोत्तम! कामके वश होनेपर भी आपके कार्य साधनके लिए पहिलेही सुग्रीव उद्योग करनेकी आज्ञा दे चुके हैं। पुनः, यथा 'त्वत्सहायनिमित्तं हि प्रेषिता हरिपुङ्गवाः। आनेतुं वानरान्युद्धे सुबहून्हरिपुङ्गवान् ।१९। तांश्च प्रतीक्षमाणोऽयं विक्रान्तान्सुमहाबलान्। राघवस्यार्थसिद्ध्यर्थं न निर्याति हरीश्वरः ।२०। कृता सुसंस्था सौमित्रे सुग्रीवेण पुरा यथा। अद्य तैर्वानरैः सर्वैरागन्तव्यं महाबलैः ।२१। सर्ग ३५।' अर्थात् आपकी सहायताके लिए प्रधान प्रधान वानरोंको बुलानेके लिए बहुतसे

वानर भेजे गए हैं और उन पराक्रमी महाबली वानरोंकी सुग्रीव प्रतीक्षा कर रहे हैं, इसीसे ये अभी वाहर नहीं निकले थे। जैसी सुग्रीवने व्यवस्था की है उसके अनुसार वानर आज ही आ जायँगे।

(पं० वि० त्रिपाठीजीका भी यही मत है। वे लिखते हैं कि विजयदशमी बीतनेपर आश्विन शुक्ल ११ को हनुमानजीने सुग्रीवजीको समुझाया, और उनकी आज्ञा पाकर जहाँतहाँ वानरसमाजमें दूत भेजे, और सबको एक पक्षकी अवधि दी कि इसके भीतर चले आवें, यथा—'कहेउ पाख महँ आव न जोई। मोरे कर ताकर बध होई।' सो आज पन्द्रह दिन पूरे हुए कार्त्तिक कृष्ण एकादशीको चारों दिशाओंसे वानरी सेना आई। क्योंकि यही अवधिका अन्तिम दिन था।)

२-'नाना वरन' इति। इनका उल्लेख वाल्मीकीयमें ३७ से ४० तक चार सर्गोंमें है। अध्यात्म ६।९-१० में लिखते हैं कि कोई तो अंजनके पर्वतके समान नील वा काले, कोई स्वर्ण-पर्वतके समान, कोई अत्यन्त लाल मुखवाले, कोई बड़े बड़े बालवाले, कोई श्वेतमणिके-से और कोई राक्षसोंके समान भयङ्कर युद्धके इच्छुक इत्यादि अनेक वानर आये। यथा 'केचिदञ्जनकूटाभाः केचित्कनकसन्निभाः। केचिद्रक्तांतवदना दीर्घवालास्तथापरे।९। शुद्धस्फटिकसंकाशाः केचिद्राक्षससन्निभाः। गर्जन्तः परितो यांति वानरा युद्धकांक्षिणः।१०।' 'सकल दिसि' में देख पड़ते हैं, यह कहकर सूचित किया कि सब दिशाके वानर बुलाए गए थे, वे सब आए हैं।

प्र०—'नाना वरन सकल दिसि देखिय०' का भाव कि वतकही छोड़कर दृष्टि देखनेमें लग गई। वानर यूथोंका आना हुआ मानों वतकही फलित हुई।

> वानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरुख जो करन † चह लेखा ॥१॥
> आइ रामपद नावहिं माथा। निरखि वदनु सब होहिं सनाथा ॥२॥
> अस कपि एक न सेना माहीं। राम कुसल जेहि पूछी नाहीं ॥३॥
> यह कछु नहिं प्रभु कइ अधिकाई। बिस्व रूप व्यापक रघुराई ॥४॥

अर्थ—हे उमा! मैंने वानरी सेना देखी है, जो उसकी गिनती किया चाहे वह मूर्ख है (अर्थात् असंख्यकी कोई संख्या करना चाहे तो मूर्खताही तो है, वह तो असंख्य थी, अपार थी)।१। सब आ आकर श्रीरामजीके चरणोंमें माथा नवाते हैं और मुखका दर्शन करके कृतार्थ होते हैं।२। सेना में एक भी बंदर ऐसा न था जिससे श्रीरामजीने कुशल न पूछी हो।३। यह प्रभुकी कुछ बड़ी वात नहीं है, (क्योंकि) रघुराई श्रीरामजी विश्वरूप और व्यापक हैं।४। ❀

टिप्पणी—१ (क) 'मैं देखा' अर्थात् सुनी या लिखी देखी नहीं कहता वरन् अपने आँखों देखी कहता हूँ। प्रवर्षण-गिरिपर सब देवता मुनि सिद्ध आए हैं, यथा—'मधुकर खग मृग तनु धरि देवा। करहिं सिद्ध मुनि प्रभुकी सेवा।'; इन्हींमें शिवजीभी आए हैं, इसीसे कहते हैं कि हमने देखा है। [मानसाचार्य यहाँ लेखा करनेवालेको मूर्ख कहते हैं और आगे इसी कांडमें लेखा है। यथा 'अस मैं श्रवन सुना दसकंधर। पदुम अठारह जूथप बंदर'। इसका समाधान यह है कि यह कोई सिद्धान्त नहीं है, सुना हुई वात है, निश्चय नहीं; दूसरे यह निशिचरकी कही हुई है।—(१८ पद्म यूथप वताया है। वह पूरी सेनाकी संख्या नहीं देता। सेना न जाने कितनी है।(प्र०)] (ख) सब श्रीरामजीके चरणोंमें आकर मस्तक नवाते हैं और मुखारविंदका दर्शन करके कृतार्थ होते हैं। [ब्रह्माकी आज्ञा थी कि 'वानरतन धरि धरि महि हरिपद सेवहु जाइ।' सब देवता वानरतन

† 'करन'— भा० दा०, छ०)। कर (ना० प्र०)।

❀ १ यथा—श्वेताश्वतर उपनिषद्—'यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश। य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमोनमः ॥२।१७' अर्थात् उन आप रामजीको मैं वारंवार नमस्कार करता हूँ जो अग्निमें, जलमें, ओषधिमें, वनस्पतियोंमें, समस्तलोकोंमें विश्वव्यापक रूपसे उपस्थित हैं।

धरकर प्रभुकी राह देखते रहे कि जिनके सेवक होकर सेवा करना है वे प्रभु कब आवें —'हरिमारग चितवहिं मतिधीरा ॥ गिरि कानन जहँ तहँ भरि पूरी । रहे निज निज अनीक रचि रूरी ।१।१८८।', वे ही सब आकर अब अपने स्वामीके मुखारविंदका दर्शन पा रहे हैं । अतः कृतार्थ हुए । अभीतक नाथका दर्शन न होनेसे अनाथ थे । अब नाथको पा गए, अतः 'सनाथ' होना कहा । (प्र०) । मिलान कीजिये—'अब हम नाथ सनाथ सब भए देखि प्रभु पाय । भाग हमारे आगमनु राउर कोसलराय ।२।१३५।....हम सब धन्य सहित परिवारा । दीख दरसु भरि नयन तुम्हारा ।३।' सब वानर देवताओंके अंशसे हैं, अतः 'होंहि सनाथा' से यह भी सूचित किया कि अब सब देव रावणके भयसे मुक्त होकर सनाथ होंगे । (प० प० प्र०)] यह भी 'रामरहस्य' है । पार्वतीजीने प्रश्नमें 'रामरहस्य' भी पूछा है, इसीसे शिवजीने यहाँका भी रहस्य बताया । रहस्य = प्रभुत्व । सब आकर मस्तक नवाते हैं और श्रीरामजी प्रत्येकसे कुशल पूछते हैं । जिस सेनाकी लेखाकी इच्छा भी शिवजीने नहीं की उस सेनामें श्रीरामजीने सबकी कुशल पूछी । सेवकका धर्म है स्वामीके चरणकी वन्दना करना और स्वामीका धर्म है सेवकका सम्मान करना, कुशल पूछना सम्मान है । [इससे श्रीरामजीका स्वभाव और उनकी प्रभुतामें सावधानता दिखाई । यथा 'बड़ी साहिबीमें नाथ बड़े सावधान हो' (प्र०)] (ग) सबसे कुशल पूछना यह माधुर्यमें श्रीरामजीकी अधिक महिमा है । इसीसे आगे ऐश्वर्यमें घटाते हैं, इस प्रकार कि 'यह कछु नहि प्रभु कै अधिकाई....' । ऐश्वर्यमें यह महिमा कुछ नहीं है ।

२—विश्वरूप और व्यापक हैं । विराटरूपसे विश्वरूप हैं और परमात्मा-रूपसे सबमें व्याप्त हैं; तब उनका सबसे कुशल पूछना यह कुछ अधिक बड़ाई नहीं है । यहाँ दिखाया कि व्यापक व्याप्य दोनों-रूप रघुनाथजीकेही है ।—[विश्वरूप = विश्व जिनका रूप है एवं जो परमात्मा-विश्वरूपमें भासते हैं ।]

नोट—१ 'आरत लोग राम सब जाना । करुनाकर सुजान भगवाना ॥
जो जेहि भाय रहा अभिलाषी । तेहि तेहि कै तसि तसि रुचि राखी ॥
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू । कीन्ह दूर दुख दारुन दाहू ॥
येहि बड़ि बात राम कै नाहीं । जिमि घट कोटि एक रवि छाहीं ॥ अ० २४४।१-४।'
'प्रेमातुर सब लोग निहारी । कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी ॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला । जथा जोग मिले सबहि कृपाला ॥ उ० ६।४-५।'

और यहाँ 'बिस्वरूप व्यापक रघुराई' । इन तीनोंका मिलान कीजिए और शब्दोंके भेदको विचारिए ।

गौड़जी—'पदुम अठारह जूथप बंदर' यह तो केवल यूथपतियोंकी संख्या थी । सिपाहियोंकी संख्याका अन्दाजा तो यूथकी संख्यासे हो सकेगा । परन्तु यूथ कितने-कितने वानरोंका था, कौन कह सकता है ? यदि सौ सौका माने तो १८०० और दसदसका भी मानें तो १८० पद्म वानर होते हैं । ऋक्षोंकी तो गिनती अलग थी । 'बनचर देह धरी छिति माहीं', यदि देवताओंने वनचर देह धरी तो वह तो ३३ करोड़ही माने जाते हैं । बहुतोंके मतसे कोटिका अर्थ जाति है, अर्थात् ३३ जातिके हैं, उनकी आबादीका तो पता नहीं है । फिर युद्धमें देवता लोग विमानपर चढ़े तमाशा देखते हैं, वह कहाँसे आये, जब कि सबके सब वनचररूपसे फौजमें दाखिल हो चुके हैं ? इनका जो हिसाब करनेका प्रयत्न करे वह मूढ़ है क्योंकि जब देवताओंको भी एकसे अनेक होनेकी शक्ति है और वृद्धिही प्रवृत्ति मार्ग है तो संख्याकी मर्यादा कहाँ मिल सकती है । भगवान्के सगुण विग्रहके बनानेवाले सायुज्यमुक्ति-प्राप्त जीव वा वह देवता जो शाश्वत रूपसे भगवद् विग्रहमें रहते हैं, कौन कह सकता है कि कितने हैं । वह सभी पूर्ण भगवत्‌रूप भागवन हैं । परात्परकी लीलोन्मुख प्रवृत्ति देखकर उनके साथ आवश्यकतानुसार एक वा अनेक, सूक्ष्म वा स्थूल, अणु वा महान्, सभी रूपोंमें अवतार लेते हैं । रामावतारकी लीलामें भी युद्धका अभिनय करनेको वही विग्रही देवता, एकएक असंख्यरूप धारण करके वनचररूपमें पहलेसे मौजूद हैं । यह तो भगवदंश हैं । इसीलिए सेनामें एक भी ऐसा कपि न था जिससे भगवान्‌ने कुशल न पूछी हो । साधारण सुननेवालेको शंका होती है कि क्या हर एक वानर भगवान्‌को जानता था ?

इसका समाधान यह है कि जिसके यशका विस्तार जितनाही बड़ा होगा उतनेही अधिक उसके जाननेवाले होंगे ? आज महात्मा गांधीको भारतका बच्चा-बच्चा जानता है। परन्तु वास्तविक समाधान तो यह है कि यह सब वानर तो भगवानकी बाट देख रहे थे, लीलामें अपना-अपना अभिनय करनेको तैयार बैठे थे कि कब सूत्र-धारकी आज्ञा हो और हम रंगमंचपर आ जायँ। इस स्थलपर मानसकारने अगलीही चौपाईमें समाधान कर दिया है कि यह कोई प्रभुताकी बात नहीं है, लोकमें यशस्वियोंका जो प्रभुत्व ऐसा कराता है, सो बात यहाँ नहीं है। यह जो रघुकुलके राजा हैं वह वस्तुतः विश्वरूपसे व्याप रहे हैं, अर्थात् विश्वमें यहाँ जो संख्यातीत अपार वानरसेना है उसके एकएक शरीरके प्रेरक आत्मा प्राणोंके प्राण जीवोंके जीव वही हैं, व्याप रहे हैं, उनकी यह सहज लीला है। विग्रहसंबंधी देवोंके 'निज-निजधाम' पर पहुँचनेके प्रसंगमें भी इसी तरहका समाधान मानसकारने 'जगनिवास' 'अखिललोक विश्राम' कहकर किया है। अन्यत्र भी 'अखिल लोक दायक विश्रामा' और पुरुष सूक्तमें तो सारे सूक्तमें विराटकाही वर्णन है, जिसमें 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' और श्रीमद्भगवद्गीतामें 'नत्वहं तेषु, ते मयि' से विराट् विभुकी व्यापकताके प्रकारका निदर्शन किया है।

आजकलके विज्ञानलवदुर्विदग्ध शिक्षितलोग वानरोंका मनुष्योंकासा आचरण वर्णित देखकर बड़े पेचोताबमें पड़ जाते हैं और हनुमान् सुग्रीवादि वानरोंको जंगली जातियाँ क़रार देते हैं, और इतनी भारी संख्याको अत्युक्ति मानकर आसानीसे सब शंकाओंका निवारण कर देते हैं। वे समझते हैं कि विज्ञानसे तो यह बातें ठीक नहीं उतरतीं, अतः सत्य नहीं हो सकतीं। इस तरहकी तर्कशैलीमें भारी भ्रम है, उससे सावधान रहनेकी आवश्यकता है। बाहुल्य भयसे यहाँ यह विषय संक्षेपसे दिया जाता है।

विज्ञान सतत वर्धमान, नास्तिक और आसुरी विद्या है। हमारे विचार उसको सत्य और निश्चल मानकर न तो बनने चाहिये और न अपने यहाँके वर्णनोंको पाश्चात्य विज्ञानकी कसौटीपर कसना चाहिये। हाँ, यदि विज्ञानसे हमारी किसी बातका समर्थन होता हो तो उसे हम केवल कुतूहल-शान्तिके लिये काममें ला सकते हैं। प्रस्तुत प्रसंगमें मनुष्योंकी तरह बोलने-चालने रहन-सहन आचार विचारवाले वनचर और पक्षी आदि का वर्णन देखकर कई विद्वानोंकी धारणा यह हो गयी है कि यह प्राणी वस्तुतः किसी और देशके, जैसे द्राविड़ी, मनुष्य थे जिन्हें आर्य कवियोंने तिरस्कारतः वानर, ऋक्ष, गृध्रादि कहा है। परन्तु यह बात उलटीसी लगती है क्योंकि तिरस्कारके बदले इनका तो बहुत भारी सम्मान है। राक्षस शत्रु हैं, परन्तु उनके सम्राट् रावणको बराबर वाल्मीकि ने 'महात्मा' रावण कहा है। यह भिन्न भिन्न योनियाँ हैं सही, परन्तु मनुष्यके समकक्ष हैं। शारीरिक बलमें, तामसी छलमें और मायामें मनुष्यसे बढ़े-चढ़े हैं, परन्तु मस्तिष्क और सात्विक बुद्धिकी दृष्टिसे मनुष्य ही बढ़ा हुआ है। इसपर आधुनिक सन्देहकर्ता पूछता है कि 'आजकल तो राक्षस कहीं मिलते नहीं और वानरों-मेंसे कोई जाति मनुष्योंसे बातचीत नहीं कर सकती ?' यह प्रश्न इसी भ्रमपर उठता है कि एक तो आधुनिक विज्ञानलवदुर्विदग्ध यह माने बैठा है कि संसारमें जैसी सृष्टि आज है, जो परिस्थिति अब है वैसीही सृष्टि, वही परिस्थिति, पूर्वयुगोंमें भी थी, और वर्त्तमान सृष्टि और परिस्थितिको तो विज्ञानीने हस्तामलकवत् अनुशीलन कर लिया है। यह दोनों महाभयंकर भ्रम हैं। विज्ञानी तो बारंबार यही एक़रार करता है कि वर्त्तमान जगत्का हम अत्यन्त थोड़ा अनुशीलन कर पाये हैं। उसके आधारपर जो निष्कर्ष निकालते हैं उसमें सभी विज्ञानी एकमत नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि सभी विज्ञानी इस बातमें एकमत हैं कि बहुत पूर्वकालकी सृष्टि वर्त्तमानकालकी सृष्टिसे बहुत भिन्न थी, भिन्न योनियोंके प्राणी पूर्वकालमें हो चुके हैं, पूर्वकालकी परिस्थितियाँ भी भिन्न थीं और इन भिन्नताओंका पता लगा लेना आज असंभव है। चट्टानोंके स्तरोंसे परिशीलित इतिहाससे जो कुछ पता लगता है उसकी रचना अनुमानके आधारपर की जाती है। अनेक भिन्न योनियों और जातियोंके लोगोंका लोप हो चुका है। इस विषयको कुछ अधिक विस्तारसे भूमिका भागमें देनेका प्रयत्न किया गया है। इस स्थलपर हम नीचेकाही अंश पर्याप्त समझते हैं।

जिस त्रेतायुगमें भगवान्का सबसे पिछला रामावतार हुआ है, वह इसी श्वेत वाराह कल्पके किसी

मन्वंतरका त्रेतायुग था। यह आवश्यक नहीं है कि यह वैवस्वत मन्वन्तरके सत्ताईसवें ही त्रेतायुगकी घटना हो। भगवान्‌का रामावतार प्रत्येक कल्पमें होता है परन्तु प्रत्येक त्रेतायुगमें नहीं होता। होता है तो त्रेतायुगमें ही। वैवस्वत मन्वन्तरमें ही यदि मानें तो वर्त्तमान चतुर्युगी तक सत्ताईस त्रेतायुग बीत चुके हैं। हिसाबसे पिछले सत्ताईसवें त्रेतायुगके बाद मन्वन्तरका अट्ठाईसवाँ द्वापर लगा। अब अट्ठाईसवाँ कलियुग है। परन्तु वर्त्तमान श्वेत वाराह कल्पके अब तकके बीते चारसौ छप्पन त्रेतायुगोंमेंसे किस युगमें हुआ, यह निश्चित रूपसे कहना अत्यन्त कठिन है। हाँ, इतनी अवधि अवश्य बँध जाती है कि पहली चतुर्युगीके त्रेतासे लेकर पिछली चतुर्युगीके त्रेतातकमें कोई भी हो सकता है। अतः रामावतार हुए कमसे-कम सोलह लाख और अधिकसे अधिक एक अरब अट्ठानवे करोड़ वर्ष हुए। सबसे पिछले विकास विज्ञानियोंकी धारणा है कि इस धरती पर जीवनका आरंभ हुए एक अरब वर्ष हो गये होंगे। उसका विकास होते होते बड़े जन्तुओंकी उत्पत्तिको अबसे पचास करोड़ बरस हो चुके होंगे। आदिम मनुष्यकी उत्पत्ति तो अबसे ३-४ करोड़ वर्षके लगभगसे लेकर अब से ३८ लाख वर्ष पहले तकके समय भिन्न भिन्न मतोंके समन्वयके साथ समझी जाती है। अर्थात् विज्ञानके अनुसार छठें मन्वन्तरकी छाछठवीं चतुर्युगीसे लेकर वर्त्तमान चतुर्युगीके सतयुगके आरंभ तककी अवधिमें कभी आदिम मनुष्यकी उत्पत्ति मानी जाती है। आजकलका मनुष्य उसी आदिम मनुष्यकी एक शाखामें है। आदिम मनुष्यका मूलवंश और उसकी कई शाखाओंका तो उद्भव विकास ह्रास और लोप कबका हो चुका है जिसकी स्मृति इतिहासको नहीं है और जिसका प्रमाण पत्थरकी चट्टानोंपर प्रकृतिके क़लमसे लिखे इतिहाससे ही विज्ञानियोंको मिलता है।

वर्त्तमान मनुष्यजातिकी शाखा आजसे ५ लाख वर्षोंसे लेकर बीस लाख वर्षोंके बीचमें आरंभ हुई मानी जाती है। इससे पहलेकी मनुष्यकी शाखाएँ कबकी नष्ट हो चुकी हैं। आदिम मनुष्यके विकास-कालमें ही मानववृक्ष वा महाशाखासेही कुछ अर्धमानव शाखाएँ निकलीं जिनके चिबुक था और सभी अंग वर्त्तमान मनुष्योंकेसे थे, केवल मस्तिष्क मनुष्यके मस्तिष्ककी अपेक्षा छोटा था। आजकल वानर, लंगूर, गोरिल्ला आदि जातिके प्राणी मौजूद हैं वह चिबुक-हीन हैं, 'हनुमान' नहीं हैं। ऐसी कमसेकम दो शाखाएँ आदिम मनुष्यके पूर्ण विकासके कालमें निकलीं, उनका पूर्ण विकास हुआ और फिर काल पाकर उनका लोप भी हो गया। इनके लिये अनुमान किया जाता है कि इनका रहन-सहन सभ्यता सब कुछ आदिम मनुष्योंकी तरह होगी। मनुष्योंकी अपेक्षा इनमें अधिक जंगलीपन होगा।

रामावतारके कुछ काल पूर्व राक्षस-योनिका आरंभ जान पड़ता है। इनके उपद्रवसे तंग आकर ही देवोंने भगवान्‌से इनके नाशके लिये प्रार्थना की। ब्रह्माने आकाशवाणीके अनन्तर वनचरके रूपमें समस्त देवताओंको अवतार लेनेका आदेश दिया। तदनुसार भालू और वानरकी नयी योनियाँ उत्पन्न हुईं। राक्षस और वानर ऋक्ष तथा उस समयके गीध आदि दानवाकार पक्षी सभी एक दूसरेकी भाषा बोलते समझते थे। राक्षस और वानर भी शिक्षा पाते थे। विद्वान होते थे। राक्षस मनुष्य तकको भोजन कर जाते थे। वानर फल शाकाहारी थे। राक्षस योनिवालोंको चिबुक नहीं होते थे या नाममात्रको थे। वानरोंको चिबुक होते थे। चिबुकके टेढ़े हो जानेसे पवनपुत्रका नाम हनुमान् पड़ा था। राक्षस तथा वानर आदि प्राणियोंका रामावतारकालमें पूर्ण विकास हुआ और प्रायः श्रीरामचन्द्रजीके साकेतप्रयाण तक ही उस विशेष वानर योनिका लोप हो गया। फिर द्वापरके अन्तमें महाभारतके समयमें उस प्रकारके वानरोंकी कहीं चर्चा भी नहीं आयी है। राक्षस तो श्रीरामजीके साकेत-गमनके बाद भी बचे-खुचे मौजूद थे और महाभारतकालमें इक्के दुक्कोंकी चर्चा जरूर आती है।

वे वानर तो श्रीरामावतारके समयमें ही अपने पूर्ण विकासको पहुँच चुके थे। उनका जन्म विशेष प्रयोजनसे ही था। अतः उनकी आबादीका संख्यातीत हो जाना भी स्वाभाविक था क्योंकि यह उनके विकास की पराकाष्ठा थी। किसी प्राणीकी आबादी उसी उसी समय अत्यधिक बढ़ जाती है जब

क्रमसे ऊँचे विकास तक पहुँच जाता है। इसीके बाद उसके विनाशका भी समय आता है। जिस प्राणीका अभ्युदय होता है, वृद्धि होती है, उसका एक दिन नाश भी होना अनिवार्य है। उन वानरोंका नाश लगभग भगवानके साकेतप्रयाणके समय हुआ। कारण तो स्पष्ट ही है कि उन्हें भी साकेतलोकको जाना था, क्योंकि 'मोच-सब त्यागि' संग रहने के लिये आये थे। सबके देखनेमें वह दूर रहते थे, परन्तु उनका तो विराट विभुमें सतत निवास रहता था। वानर शरीर तो निमित्तमात्र था। इति।

ठाढ़े जहँ तहँ आयसु पाई। कह सुग्रीव सबहि समुझाई ॥५॥
रामकाजु अरु मोर निहोरा। बानरजूथ जाहु चहुँ ओरा ॥६॥
जनकसुता कहुँ खोजहु जाई। मास दिवस महुँ आएहु भाई ॥७॥
अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाए। आवइ बनिहि सो मोहि मराए ॥८॥

अर्थ—आज्ञा पाकर सब जहाँके तहाँ खड़े हुए, तब सुग्रीवने सबको समझाकर कहा।५। यह श्रीरामजीका काम है और मुझपर तुम्हारा उपकार (एहसान) है एवं तुमसे मेरा अनुरोध है। हे वानर-यूथो! तुम चारों ओर जाओ।६। हे भाई! जाकर जनकसुताका पता लगाओ और महीनेभरमें आ जाना।७। जो कोई बिना पता लगाए (महीनाभरकी) अवधि बिताकर आएगा उसको हमसे वध कराए ही बनेगा, मुझे उसको मरवाते ही बनेगा अर्थात् हमें उसका वध करवाना पड़ेगा। ८।

टिप्पणी १—(क) चलनेका सावकाश नहीं था, इसीसे आज्ञा दी कि जो जहाँ हैं वहीं खड़े रहें। (ख) 'आयसु पाई' देहलीदीपक है। श्रीरामजीकी आज्ञा पाकर वानरयूथ जहाँके तहाँ खड़े हो गए और श्रीरामजी को आज्ञा पाकर सुग्रीवने सबको आज्ञा दी। [यथा—'यन्मन्यसे नरव्याघ्र प्राप्तकालं तदुच्यताम्। त्वत्सैन्यं त्वद्वशे युक्तमाज्ञापयितुमर्हसि ॥८॥....तथा ब्रुवाणं सुग्रीवं रामो दशरथात्मजः। बाहुभ्यां संपरिष्वज्य इदं वचनमब्रवीत ॥१०॥ ज्ञायतां सौम्य वैदेही यदि जीवति वा न वा। स च देशो महाप्राज्ञ यस्मिन्वसति रावणः ॥११॥ त्वमस्य हेतुः कार्यस्य प्रभुश्च प्लवगेश्वर ॥१३॥ त्वमेवाज्ञापय विभो मम कार्यविनिश्चयम्। त्वं हि जानासि मे कार्यं मम वीर न संशयः ॥१४॥' अर्थात् सुग्रीवने कहा कि ये सब वानर आ गए हैं, हे नरश्रेष्ठ! जो इस कालके लिए आप उचित समझते हों उसकी आज्ञा दीजिए, यह सब सेना आपकी है और आपके अधीन है। यह सुनकर उनका आलिंगन करके श्रीरामजी बोले—सौम्य! पता लगाना चाहिए कि वैदेही कहाँ हैं, जीवित हैं या नहीं, वह देश कहाँ है जहाँ रावण बसता है....इस कार्यके कारण (कर्त्ता) और स्वामी तुम्हीं हो। कार्यका निश्चय करके और यह विचारकर कि क्या करना है आपही आज्ञा दें। आप मेरे कार्यको जानते हैं इसमें संदेह नहीं। वाल्मी० सर्ग ४०।] वाल्मी० स० ४० में लिखा है कि सुग्रीवने पृथ्वीका हाल वानरोंसे समझाकर कहा, यह बात गोस्वामीजीने 'समुझाई' पदसे सूचित कर दिया और भी जो समझाया वह आगे कहते हैं—'रामकाज००' इत्यादि।

२—'रामकाज अरु मोर निहोरा'। रामकार्य मुख्य है, अतः उसे प्रथम कहा और 'मोर निहोरा' पीछे। 'रामकाज' का भाव कि इसके करनेसे परलोक बनेगा और हमारा उपकार करनेसे लोक बनेगा, जो माँगोगे वही हम देंगे।

नोट—१ वाल्मी० सर्ग ४३ में जो कहा है कि 'अस्मिन्कार्ये विनिर्वृत्ते कृते दाशरथेः प्रिये। ऋणान्मुक्ता भविष्यामः कृतार्थार्थविदां वर ॥५॥ कृतं हि प्रियमस्माकं राघवेण महात्मना। तस्यचेत्प्रतिकारोऽस्ति सफलं जीवितं भवेत्।६। अर्थिनः कार्यनिर्वृत्तिमकर्तुरपि यश्चरेत्। तस्य स्यात्सफलं जन्म किं पुनः पूर्वकारिणः॥७॥ एतां बुद्धिं समास्थाय दृश्यते जानकी यथा। तथा भवद्भिः कर्त्तव्यमस्मत्प्रियहितैषिभिः ॥८॥' अर्थात् रामकार्य होनेपर हम सब ऋणमुक्त और कृतार्थ हो जायँगे। उन्होंने हमारा प्रिय कार्य किया है, उसका बदला हम दे दें तो हमारा जीवन सफल हो। जिसने अपने साथ कुछ उपकार न किया हो उसके साथ भी उपकार करनेसे जन्म सफल होता है; फिर उपकार करनेवालेका तो बातही क्या है? इस विचारानुसार हमारा हित चाहनेवाले आप

लोग जानकीजीको ढूँढ़ें। पुनश्च 'ततः कृतार्थाः सहिताः सबान्धवा मयार्चिताः सर्वगुणैर्मनोरमैः। चरिष्यथोर्वीं प्रति शान्तशात्रवाः सहप्रिया भूतधराः प्लवंगमाः ॥६१॥' अर्थात् यह प्रिय कार्य करनेपर बड़े उत्तम और मनोरम पदार्थोंसे मैं सबको संतुष्ट करूँगा, आपका कोई शत्रु न रह जायगा, आप स्त्रियों सहित मुझसे जीविका पावेंगे और प्रसन्नतापूर्वक पृथ्वीपर विहार करेंगे।—यह सब 'रामकाज अरु मोर निहोरा' का भाव है।

टिप्पणी—३ 'जनकसुता कहुँ खोजहु....' इति। यह रामकार्य है जो करना है। 'जनकसुता' का भाव कि जनकमहाराजने श्रीरामजीको जनकसुता दी और यशके भागी हुए। इसी तरह इनका पता लगानेसे तुम भी वैसेही यशके भागी होगे मानो तुमने ही जनकसुता श्रीरामजीको दी। श्रीजनकजीको सुयश प्राप्त हुआ, यह उन्होंने स्वयं श्रीविश्वामित्रजीसे कहा है। यथा—'जो सुख सुजसु लोकपति चहहीं। करत मनोरथ सकुचत अहहीं॥ सो सुखु सुजसु सुलभ मोहि स्वामी।१।३४३।'

[दीनजी—यहाँ 'जनकसुता' शब्द बड़े मार्केका है। भाव यह है कि श्रीसीताजीको अपने जनक (पिता) की सुता अर्थात् अपनी सगी बहिन समझकर खोजना। जैसे तुम अपनी सगी बहिनको खोजते, उसी व्याकुलता और तत्परतासे खोजना। आगेका 'भाई' शब्द भी इसी ओर इशारा करता है।]

नोट—२ 'जनकसुता कहुँ....आयेहु' से मिलता हुआ श्लोक अ० रा० में यह है—'विचिन्वन्तु प्रयत्नेन भवन्तो जानकीं शुभाम्। मासादर्वाङ्निवर्तध्वं मच्छासनपुरःसराः।६।२५।' 'खोजहु' में 'विचिन्वन्तु प्रयत्नेन' का भाव है। अर्थात् बड़े प्रयत्नसे ढूँढ़ो, पता लगाओ। 'मास दिवस महँ आयेहु' ही 'मासादर्वाङ्निवर्तध्वं' है। अर्थात् मासके भीतर।

टिप्पणी—४ 'मास दिवस महँ आएहु भाई'। यहाँ सबको 'भाई' सम्बोधन देकर मित्ररूपसे उपदेश जनाया। आगे अवधि 'मेटि' यह प्रभुरूपसे उपदेश है। भय और प्रीति दोनों दिखाना चाहिए। इससे दोनों दिखाए। पुनः, 'मास दिवस महुँ आयेहु' के साथ 'भाई' सम्बोधनका भाव कि जो श्रीसीताजीका पता लगाकर महीनेभरमें आ जायगा वह हमारा भाई है, हम उसे अपने समान सुख देंगे। [वाल्मी० सर्ग ४१ में जो कहा है—'यश्च मासान्निवृत्तोऽग्रे दृष्टा सीतेति वक्ष्यति। मत्तुल्यविभवो भोगैः सुखं स विहरिष्यति ॥४७॥ ततः प्रियतरो नास्ति मम प्राणाद्विशेषतः। कृतापराधो बहुशो मम बन्धुर्भविष्यति ॥४८॥' (अर्थात्) जो मास बीतनेके पूर्व लौट आकर कहेगा कि मैंने सीता देखी वह मेरे समान ऐश्वर्य और भोगोंका सुख प्राप्त करेगा। उससे बढ़कर हमारा कोई प्रिय न होगा, वह हमको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय होगा। बहुतसे अपराधभी किए हों तो भी वह हमारा 'भाई' ही होगा।—यह सब भाव इस चरणसे कह दिये गए हैं।]

५—'अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाए' अर्थात् पता लगनेपर यदि एक मासकी अवधि बीत जाय तो भय नहीं है और पता न लगे और एक मासके भीतर आ जाय कि पता नहीं लगा तो भी भय नहीं; वध तभी होगा जब पता भी न लगा और अवधि भी बिता दी। यही बात समझकर तीन दिशाओंके वानर अवधिके भीतरही आगए। [यथा—'तदहः प्रथमं कृत्वा मासे प्रस्रवणं गताः। कपिराजेन संगम्य निराशाः कपिकुञ्जराः ॥६॥ विचिन्त्य तु दिशं पूर्वां यथोक्तां सचिवैः सह। अदृष्ट्वा विनतः सीतामाजगाम महाबलः ॥७॥ दिशमप्युत्तरां सर्वां विविच्य स महाकपिः। आगतः सह सैन्येन भीतः शतबलिस्तदा ॥८॥ सुषेणः पश्चिमामाशां विविच्य सह वानरैः। समेत्य मासे पूर्णे तु सुग्रीवमुपचक्रमे ॥९॥'—(वाल्मी० ४७)। अर्थात् प्रस्थानके दिनसे मास पूर्ण होतेही वानरसेनापति निराश होकर प्रस्रवणपर्वतपर कपिराजके पास आ गए। सुग्रीवके आदेशानुसार समस्त पूर्वदिशाको ढूँढ़कर विनत नामक महाबली वानर मंत्रियों सहित सीताजीको न देखकर लौट आया। समस्त उत्तर दिशाको ढूँढ़कर महाबली शतबलि डरता हुआ सेना सहित आ गया। सुषेण पश्चिम दिशाको ढूँढ़कर महीना पूरा होनेपर सुग्रीवके पास वानरोंके साथ लौट आया। अ० रा० में इन अर्धालीसे मिलता हुआ श्लोक यह है—'सीतामदृष्ट्वा यदि वो मासादूर्ध्वं दिनं भवेत्। तदा प्राणान्तिकं दंडं मत्तः प्राप्स्यथ वानराः'—(अध्यात्म ६।२६) अर्थात् बिना देखे जो माससे एक दिन भी अधिक बीतनेपर

आवेगा वह मुझसे प्राणान्तक दंड पावेगा।]

शीला—'कह सुग्रीव सबहि समुझाई' इति। समझाया कि भक्त चार प्रकारके हैं—उत्तम, मध्यम, नीच, लघु। मास दिवस श्लेषार्थी है। चारोंमें यों घटता है कि—जो सीताजीकी सुधि लेकर मास (=१२) दिनमें आवे वह उत्तम; जो मास (=१२)+दिवस (=७)=१९ दिनमें खबर लेकर आवे वह मध्यम; जो मास (=३०) दिनमें खबर लेकर आवे वह नीच भक्त है, पर है यह भी तीसमार; क्योंकि क़रारके भीतर आ गया, और जो मास बिताकर सुरति लेकर आवे वह लघु है क्योंकि क़रारके बाहर चलना लघुका काम है। एवं जो वादा बिताकर बिना सुधलिए आया वह तो मेरा शत्रु है, बध होनेकोही आवेगा।

नोट—३ यह तो जटायु और सुग्रीवसे मालूमही हो गया था कि रावण ले गया और दक्षिण दिशामें गया एवं उधरही वह रहता भी है; तब चारों दिशाओंमें वानरोंको क्यों भेजा ? इसका समाधान अरण्यकाण्डमें आचुका है। तथापि यहाँ पुनःसंक्षिप्तरूपसे लिखा जाता है। रावण चोरीसे ले गया है। यथा—'इत उत चितइ चला भड़िहाईं'। चोर वस्तु छिपाकरही रखता है; इससे न जाने सीताजीको कहाँ रक्खा हो; यही कारण है कि श्रीरामलक्ष्मणजी जटायुजीसे यह समाचार पानेपर भी वनकी प्रत्येक झाड़ी इत्यादिमें ढूँढ़ते फिरे।

**दोहा—बचन सुनत सब बानर जहँ तहँ चले तुरंत।**
**तब सुग्रीव बोलाए अंगद नल हनुमंत ॥२२॥**

**सुनहु नील अंगद हनुमाना। जामवंत मतिधीर सुजाना ॥१॥**
**सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू। सीता सुधि पूँछेहु सब काहू ॥२॥**

अर्थ—वचन सुनतेही सब वानर तुरंत जहाँ तहाँ चले। तब सुग्रीवने अंगद, नल और हनुमान्‌जीको बुलाया।२२। (और उनसे बोले—) हे नील, अंगद, हनुमान् और जाम्बवान्! सुनिए। आप सब धीरबुद्धि और चतुर हैं।१। आप सब सुभट मिलकर दक्षिण दिशाको जायें और सब किसी (सभी) से श्रीसीताजीका पता पूछें।२।

नोट—१ 'सब बानर' से पूर्व, उत्तर और पश्चिम तीन दिशाओंमें जो यूथपति अपने यूथोंके सहित भेजे गये, उन्हें जनाया। वह ये हैं—'उत्तरांतु दिशं रम्यां गिरिराज समावृताम् ॥४॥ प्रतस्थे सहसा वीरो हरिः शतवलिस्तदा। पूर्वां दिशं प्रतिययौ विनतो हरियूथपः॥५॥ पश्चिमां च दिशं घोरां सुषेणः प्लवगेश्वरः। प्रतस्थे हरिशार्दूलो दिशं वरुणपालितम् ॥७॥' (वाल्मी० ४५)। अर्थात् हिमालय वा बड़े-बड़े पर्वतोंसे युक्त रमणीय उत्तरदिशामें शतवलि नामक वीर वानरोंने प्रस्थान किया। वानरयूथपति विनत पूर्व दिशाको गया और वानरोंमें सिंहरूप (श्रेष्ठ) सुषेण वानरपति वरुणसे पालित भयानक पश्चिम दिशाको गया। चौथी दिशावाला समाज यह है जिसे अब नाम लेकर संबोधन कर रहे हैं, यथा—'तारांगदादिसहितः प्लवगः पवनात्मजः। अगस्त्याचरितामाशां दक्षिणां हरियूथपः ॥६॥' अर्थात् तार, अंगद, आदि सहित पवनपुत्र हनुमान्‌जी अगस्त्यजीकी दक्षिण दिशाको गए।

अंगदके साथके मुख्य वानर ये हैं—गज, गवाक्ष, गवय, शरभ, गन्धमादन, मैन्द, द्विविद, हनुमान्, जाम्बवान्, और तार इत्यादि। यथा—'परस्परेण रहिता अन्योन्यस्याविदूरतः। गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः ॥५॥ मैन्दश्च द्विविदश्चैव हनूमाञ्जाम्बवानपि। अंगदो युवराजश्च तारश्च वनगोचरः॥६॥' (वाल्मी० ५०)। मानसानुसार नल नील कुमुद गद आदि भी मुख्य हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'जहँ तहँ चले' अर्थात् जिनको जिस दिशामें जानेकी आज्ञा हुई थी वे उस दिशामें गए। 'तुरंत' शब्दसे जनाया कि सबको रामकार्य करनेमें उत्साह है और अपने स्वामीका निहोरा भी है। ☞ जो वानर तीन दिशाओंमें गए वे चलते समय प्रणाम करना भूल गए, क्योंकि इनके द्वारा 'सीतासुधि' नहीं मिलनी है और, जो वानर दक्षिणदिशाको चले वे प्रणाम करके चले, यथा—'आयसु मागि चरन सिरु नाई।

चले हरषि सुमिरत रघुराई'; क्योंकि इनके द्वारा श्रीसीताजीकी खबर मिलनी है। रामाज्ञामें कहा है—'तुलसी करतल सिद्धि सब सगुन सुमंगल साज। करि प्रनाम रामहि चलहु साहस सिद्धि सुकाज।३।४२।' 'अंगद नील नल कुमुद गद जामवंत जुवराजु। चले रामपद नाइ सिर सगुन सुमंगल साजु।३।४४।' (ख) सब वानरोंके नाम लेनेका भाव यह है कि नीतिकी आज्ञा है कि कार्यके समयमें वीरोंका सम्मान करे, सबका नाम लेना सम्मान है, यथा—'देखि सुभट सब लायक जाने। लै लै नाम सकल सनमाने॥' (पं०)।

नोट—२ 'सुनहु नील अंगद....' इति। (क) बुलानेमें अंगदको प्रथम कहा था। यथा 'तब सुग्रीव बोलाए अंगद नल हनुमंत'। और संबोधन करनेमें नीलको प्रथम कहते हैं तब अंगद आदिको, नलका नाम ही नहीं लिया। बुलानेमें अंगदको प्रथम कहा, क्योंकि वह युवराज है, अपना प्रिय पुत्र है, इसके नेतृत्वमें सब सुभटोंको भेजेंगे जिसमें सबका उत्साह बढ़े। ये ही सबके नायक बनाकर भेजे गए थे, यह जाम्बवान्‌जीके 'जामवंत कह तुम्ह सब लायक। पठइअ किमि सब ही कर नायक।३०।२।' इन वचनोंसे स्पष्ट है। वाल्मी० ५३ में अंगदने भी यही कहा है—'मां पुरस्कृत्य निर्याताः पिङ्गाक्षप्रतिचोदिताः।११।' अर्थात् पीली आँखवाले सुग्रीवकी आज्ञासे मेरी अधिनायकतामें आप लोग आये हैं। अतः बुलानेमें इनको प्रधान रक्खा। (ख) संबोधन करनेमें नीलका नाम प्रथम कहा, इसमें मुख्य कारण तो छन्दानुरोध ही है। दूसरे यह भी हो सकता है कि वह अग्निका अवतार और बड़ा भारी यूथप एवं मुख्य सेनापति है। आगे सेतु बंधनमें भी यह मुख्य होगा और लंकाके संग्राममें चतुर्थ होगा। इससे इसका नाम यहाँ प्रथम लिया। (पं०)। अंगद युवराज हैं। श्रीहनुमान्‌जी महान् वीर हैं। जाम्बवंत वृद्ध मंत्री हैं, यथा 'जामवंत मंत्री अति बूढ़ा।६।२३।४।' प्रजापति (ब्रह्मा) का अवतार जानकर इनको 'मति धीर सुजान' विशेषण दिया। इन्होंने संपातीसे भयभीत होनेपर सबको सावधान किया और हनुमान्‌जीको बलका स्मरण कराके उनका उत्साह बढ़ाकर उनसे रामकार्य कराया। (प्र०)। ☞स्मरण रहे कि श्रीजाम्बवान्‌जीका घबड़ाना कहीं नहीं पाया जाता। श्रीलक्ष्मणजीको शक्ति लगी तब इन्होंने सुषेण वैद्यका पता बताया था, यथा 'जामवंत कह बैद सुषेना। लंका रहइ....।६।५४।' जब मेघनादने सबको नागपाशमें बाँध दिया, तब भी 'जामवंत कह खल रहु ठाढ़ा।....मारिसि मेघनाद कै छाती। परा भूमि घुर्मित सुरघाती॥ पुनि रिसान गहि चरन फिरायो। महि पछारि निज बल देखरायो।....६।७३।', इत्यादि। इसीसे 'मतिधीर सुजान' विशेषण यथार्थ ही है। (ग) 'नल' का नाम एक बार दे चुके, उसका नाम पुनः न देकर 'सकल सुभट' में ही उसे भी कह दिया। प्रथम उसका नाम दिया था, यहाँ उसके भाई नीलका नाम भी दे दिया।

टिप्पणी—२ 'सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू....' इति। (क) दक्षिणकी खबर जटायुसे मिली है; यथा—'लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं'। यह दिशा विशेष निश्चित है। स्वयं भी दक्षिणकी ओर ले जाते देखा था, इसीसे सब सुभटोंको उधर भेज रहे हैं, क्योंकि वहाँ रावणसे युद्धकी संभावना है। (ख) 'मिलि' का भाव कि शत्रुसे युद्ध करनेके वास्ते सब इकट्ठे रहना। मिले रहनेसे भारी कार्य भी साधारण ही साध लिया जा सकता है। (प्र०)। (ग) 'सकल सुभट' का भाव कि एक-एक दिशामें एक-एक सुभट गया है। पूर्व दिशामें विनत नामका वानर गया, पश्चिममें सुषेण, उत्तरमें शतबलि गया। दक्षिणमें सब सुभट ही सुभट जाओ (साधारण भट कोई न जाय। तथा जितने भी सुभट हैं वे सब जायँ)। (घ) सबसे पूछनेको कहा, क्योंकि न जाने किससे पता मिल जाय। छोटे-बड़े ऊँच-नीच कोई भी हो।

**मन क्रम बचन सो जतन बिचारेहु। रामचंद्र कर काज सवाँरेहु॥ ३॥**

अर्थ—मन, कर्म और वचनसे वह उपाय विचारना, (जिससे उनका काम हो और विचारकर) श्रीरामचन्द्रजीका काम भली प्रकार करना।३।

टिप्पणी १—यत्न विचारना मनका काम है, कार्य 'सँवारना' कर्म है और सबसे सीताजीकी सुध पूछना 'वचन' है। जैसी आज्ञा सुग्रीवने दी वैसा ही वानरोंने किया भी। यथा-(क) 'इहाँ बिचारहिं कपि मन

माहीं। बीती अवधि काज कछु नाहीं।२६.१।' (ख) 'चले सकल बन खोजत सरिता सर गिरि खोह।२३।' यह कर्म है और, (ग) 'सब मिलि कहहिं परस्पर बाता। बिनु सुधि लएँ करब का भ्राता।२६।१।' यह वचन है।

[पुनः, मन, यथा—'कह अंगद बिचारि मन माहीं'। कर्म, यथा—'रामकाज कीन्हे बिना मोहि कहाँ बिश्राम'। वचन, यथा—'रामकाज करि फिरि मैं आवउँ। सीता०' इत्यादि। (पं०)]

२ 'रामचंद्र कर काज सवाँरेहु', यहाँ चन्द्रमा कहा; 'भानु पीठि सेइअ उर आगी', यहाँ सूर्य और अग्निका नाम दिया और 'मन क्रम बचन सो जतन बिचारेहु' यहाँ मन, कर्म और वचन कहे। इन शब्दोंके देनेका तात्पर्य यह है कि मन, कर्म और वचनके साक्षी क्रमसे चन्द्रमा, भानु और अग्नि हैं। रामचन्द्रका कार्य सवाँरनेमें तुम्हारे मनका साक्षी चन्द्रमा है, कर्मका साक्षी सूर्य हैं और वचनका साक्षी अग्नि है; इसीसे स्वामीको सब भावसे छल कपट त्यागकर भजो; मन, कर्म वचनसे छल न रहे। नहीं तो चन्द्र, भानु और अग्नि तुम्हें दंड देंगे। ['रामचन्द्रका काज' कहनेका भाव कि ये श्रेष्ठ हैं, श्रेष्ठके कार्य करनेका श्रेष्ठ फल भी मिलता है, यथा—'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं'। (प्र०)]

**भानु पीठि सेइअ उर आगी। स्वामिहि सर्बभाव छल त्यागी॥ ४॥**

अर्थ—सूर्यको पीठसे और अग्निका उर (छातीसे) सेवन करना चाहिए (अर्थात् धूप खाना, घाम तापना, हो तो सूर्यकी ओर पीठ करके बैठे, सामने छातीपर धूप न पड़े और अग्नि तापना हो तो अग्निके सन्मुख बैठकर अग्नि तापे; अग्निकी ओर पीठ न देकर बैठे, यह वैद्यकका नियम है। इसके विपरीत करनेसे हानि होती है)। (परन्तु) स्वामीकी सेवा सब भावसे छल छोड़कर करनी चाहिए।४।

टिप्पणी १—(क) सूर्य पीठसे सेवन करनेसे सुखदाता है, अग्नि उरसे सेवन करनेसे सुखदाता है और स्वामी सब भावसे (माता, पिता, गुरु, स्वामी, भाई इत्यादि सभी भावोंसे) छल त्यागकर सेवन करनेसे सुखदाता हैं। (ख) 'छल त्यागी' का भाव कि सूर्यको पीठसे और अग्निको छातीसे सेनेमें छल है; वह यह कि सूर्यका सेवन पीठसे इसलिए करते हैं कि उससे शीत और वायु नहीं रहते, सूर्य सेवनमें यह स्वार्थ होता है। सम्मुखसे उसका सेवन करनेसे दृष्टिकी हानि होती है। इसी प्रकार अग्निको उरसे सेवन करनेसे जठराग्नि बढ़ती है और पीठसे सेवन करनेसे 'काम' की हानि होती है। यही समझकर लोग अपने हितके अनुकूल सेवन करते हैं—यही छल है। इसीसे कहते हैं कि स्वामीकी सेवा छलरहित करे। अर्थात् स्वामिसेवामें दुःख सुख न विचारे, निःस्वार्थ और निश्छल भावसे करे।

२—सूर्य और अग्नि इन दोनोंके दृष्टान्त देनेका भाव यह है कि सूर्यका सेवन लोग पीठसे ही अर्थात् पीछेसे करते हैं और अग्निका आगे हीसे, यह बात स्वामिसेवामें न होनी चाहिए। उनकी सेवा आगे पीछे एक ही तरह करनी चाहिए, जैसी सेवा उनके सामने करे वैसी ही उनके पीछे भी करे। यह न करे कि आगे तो कोमल वचन बनाकर कहे और पीछे अनहित करे, यथा—'आगे कह मृदु बचन बनाई। पीछे अनहित मन कुटिलाई।'

३—इस चौपाईकी जोड़का श्लोक वृद्ध चाणक्ययमें है। मिलान यथा—

| | |
|---|---|
| भानु पीठि सेइअ उर आगी | पृष्टेन सेवयेदर्कं जठरेण हुताशनम् |
| स्वामिहि सर्बभाव छल त्यागी | स्वामिनं सर्वभावेन |
| तजि माया सेइअ परलोका | परलोक हितेच्छया |

दीनजी—भाव यह कि स्वामीकी सेवा पीठ और उर किसी विशेष अंगसे नहीं वल्कि मन-वचन कर्म सब प्रकारसे करनी चाहिए। अग्निको उरसे सेवनमें यह स्वार्थ है कि पीठसे सेवनमें जल जानेका भी भय रहता है। (करु०, पां)।

पं० रा० व० श०—सूर्य्य और अग्निका एक विशेष अंगसे सेवन देहकी ममता एवं स्वार्थसे लोग करते हैं कि जठराग्नि बढ़े, रोग दूर हों। सुग्रीवजी कहते हैं कि स्वामीके कार्य्यमें देहका भी ममत्व न करो, स्वार्थ उसमें छू भी न जाय, मन-तन-वचन उसमें लगा दो, शरीरका भान भी न रहे। और ऐसा ही

इन महात्माओंने किया भी। यथा—'राम काज लयलीन मन बिसरा तन कर छोह।२३।' यही भाव यहाँ है।

यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

नोट १—उ० ८७ में भुशुण्डिजीके प्रति यह श्रीमुखवचन है कि—'पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ। सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥' वही 'सर्बभाव' और 'छल (कपट) त्यागी' यहाँ भी है। बैजनाथजी लिखते हैं कि ज्योतिषके मतसे यात्रा एवं युद्धमें रविका सम्मुख होना अमंगल है और वैद्यकमतसे रुजवर्द्धक है। इसलिए सूर्यको पीठसे सेवन किया जाता है और अग्निकी आँच वायु कफ चोट आदिको हरती है और जठराग्निको उदरमें शुद्ध रखती है; इसलिए उसका सेवन उरसे करना चाहिए।

पां०—मुख्य अर्थ यही है (जो ऊपर दिया गया है)। सूर्य्यके साथ आगेका और अग्निके साथ पीछेका कपट लगा हुआ है। दूसरा अर्थ और सुनिए—'बाहरका छलकपट रघुनाथजी सूर्य रूपसे देखते हैं और अन्तष्करणका अग्निरूपसे। इसलिए छलकपट, वाह्यान्तर दोनोंका, छोड़कर रामचन्द्रका काम करो।' पुनः तीसरा अर्थ यह है कि—'सूर्य कपटछलको छोड़ पीठ अर्थात् रास्तेको सेवते हैं—क्योंकि यदि सूर्य सावधानी न रक्खें तो रात दिनमें अंतर पड़े और जो अग्नि छलकपट करे तो अन्न न पचे वा देह जल जाय—ऐसेही सावधान होकर रघुनाथजीकी सेवा करो।

नोट—२ यह चौपाई 'वज्र तेरही' वालीमेंसे एक है। भाव तो इसका स्पष्ट है और प्रमाणसिद्ध है, फिर भी लोगोंने अनेक क्लिष्ट कल्पनाएँ की हैं। पाठकोंकी जानकारी एवं विनोदार्थ उनमेंसे कुछ यहाँ उद्धृत किए जाते हैं, पाठक स्वयं भी विचार देखें—

१ मा० म०—भानुपीठ=सूर्य्यमुखी पत्थर। इसको टकटोरकर देखो तो उसके भीतर कुछ न दिखाई देगा परन्तु वह अग्निको धारण किए हुये है। वह भानुपीठ केवल उदरमें अग्निको सेवता है।

२ महादेवदत्तजी, वै०—भानुपीठ=चकोर। यह अपने स्वामी चन्द्रमाके वियोगमें दुःखसे उरमें अग्नि सेवता है, अग्निको खा लेता है कि मैं भस्म हो जाऊँ तो मेरी चिताकी भस्म यदि शिवजी लगालें तो मेरी चार चंद्रढिगतक पहुँच जायगी। इसी प्रकार स्नेहसे छल कपट छोड़कर स्वामीकी सेवा करनी चाहिए। यह शरीर क्षणभंगुर है, कभी न कभी नष्ट होगा ही, यदि स्वामिकार्यमें छूट जाय तो रामजीकी प्राप्ति हो जायगी।

३ शीला—भानुपीठ अर्थात् सूर्य्यमुखीका इष्ट भानु है, उसे जलमें रख दो तो भी वह हृदयमें अग्नि बनाए रखता है। जैसेही जलसे निकाला गया और सूर्यके सम्मुख हुआ कि उसमेंसे अग्नि प्रकट हुई, जल अग्निका नाशक है। ऐसेही सेवकको अनेक कष्ट पड़ें तो भी स्वामीके कार्यको न भुलावे।

४ शीला०, मा० शं०—भानुपीठ=भानुका सिंहासन=पूर्व दिशा। उरआगी=माताकी जठराग्निमें। अर्थात् जिस स्वामीने पूर्वही माताकी जठराग्निमें तुम्हारी रक्षा की उनका काम छल कपट छोड़कर करना चाहिए। इत्यादि।

५ करुणासिंधुजीने भानपीठका अर्थ सूर्य्यमुखी, और सूर्य्यमंडलमध्यस्थराम इत्यादि किए हैं। इसी तरह और भी कई तरहसे लोगोंने इस अर्धालीको क्लिष्ट बना दिया है।

**तजि माया सेइअ परलोका। मिटहिं सकल भवसंभव सोका॥५॥**
**देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥६॥**
**सोइ गुनज्ञ सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥७॥**

अर्थ—माया (अर्थात् तन, धन, स्त्री, पुत्र, घर इत्यादिकी ममता) का त्याग करके परलोक सेवन करे (तो) भव (=संसार, जन्ममरण) से उत्पन्न जितने शोक हैं वे सब मिट जायँ।५। हे भाई! देह धरनेका यही फल है कि सब काम एवं कामनाएँ छोड़कर श्रीरामजीका भजन करे।६। जो श्रीरघुबीरचरणोंका प्रेमी है वही गुणवान् है और वही बड़भागी है। (भाव यह कि आप सब तो रामकार्य्यमेंही लगने जा रहे हैं,

सब जगमें बढ़कर भाग्यवान् कौन हो सकता है) ।७।

नोट—१ भवसंभव शोक मायाकृत हैं, मायाजनित विकार हैं; यथा—'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव कूपा ३।१५।५।'; इससे कहते हैं कि उसका त्याग करनेसे भवसे छुटकारा होगा। माया, यथा—'मैं अरु मोर तोर तैं माया'। संसारमें ममत्वही माया है, इसीको त्याग करनेको कहते हैं, यथा—'सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महा-कुसमाजहि रे। सब की ममता तजि कै समता सजि संत सभा न बिराजहि रे॥' (क॰ उ॰ ३०)।

२ 'सेइअ परलोका।....' इति। अर्थात् परलोक बना लो, मोक्ष प्राप्त करनेका उपाय कर लो। यहाँ श्रीरामजीने 'पुरजन गीता' में कहा है। 'बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥ साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥ सो परत्र दुख पावइ....।७।४३।'

टिप्पणी—१ 'देह धरे कर यह फल भाई....' इति। (क) 'यह फल', कहनेका भाव कि रामसेवा इस समय जो प्राप्त हुई है वही इस देह धारण करनेका फल है। यहाँपर 'देह धरनेका फल' बताते हैं कि निष्काम होकर एवं सब काम छोड़कर रामभजन (रामसेवा) करे और पुरजनगीतामें भगवान्‌ने स्वयं ही यह भी बताया है कि देह धारण करनेका फल क्या नहीं है। यथा 'एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥ नर तन पाइ विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं॥ ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई।७।४४। १-३।' (ख) 'भाई' नम्रता, प्रियत्व और सम्मानका सूचक है। बड़े लोग नम्रतापूर्वक उपदेश देते ही हैं। दूसरे इस वानरयूथमें 'सकल सुभट' अर्थात् सब प्रधान हैं, इसमें मंत्री और युवराजभी हैं, ब्रह्मा और शिवही जाम्बवान् और हनुमान्‌रूपसे यहाँ हैं, अतः इनको प्रीतिसूचक 'भाई' पद देकर सम्बोधन किया। (ग) ☞प्रधान वानरोंको प्रीति दिखाते हैं—(देह धरे कर यह फलु भाई)। सामान्य वानरोंको भय और प्रीति दोनों दिखाते हैं—('जनकसुता कहुँ खोजहु जाई। मास दिवस महँ आयेहु भाई', यह प्रीति है। और 'अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये। आवइ बनिहि सो मोहि मराए', यह भय है)। प्रधान वानरोंको प्रत्यक्ष भय नहीं दिखाया, पर उनके सामनेही सामान्य वानरोंको भय दिखाया है, इस प्रकार उनके द्वारा इनकोभी वही भय सूचित कर दिया है।—यह बड़ोंकी रीति है। [इसी प्रकार शिवजीने सामान्य देववृन्दके उपदेश द्वारा ब्रह्माकोभी श्रीसियरघुबीर-विवाह-समय उपदेश दिया था, यथा—'बिधिहि भयउ आचरजु बिसेषी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी॥ सिव समुझाये देव सब जनि आचरज भुलाहु। हृदय बिचारहु धीर धरि सियरघुबीर बिआहु॥१।३१४।' २—इन सुभटोंके लिए भी वह दंड है, यह बात कांडके अंतमें अङ्गदके वचनोंसे सिद्ध है, यथा—'इहाँ न सुधि सीता कै पाई। उहाँ गए मारिहि कपिराई।२६।४।']

प॰ प॰ प्र॰—'भानु पीठि सेइअ....' से लेकर 'भजिअ राम....' तक चार साधन कहे गए हैं। उनमेंसे दो तो ऐहिक सुख (ऐश्वर्य आदि) की प्राप्ति करानेवाले हैं और दो परमार्थ एवं परम परमार्थकी प्राप्ति कराते हैं। 'भानु पीठि सेइअ उर आगी' का केवल वाच्यार्थ लेनेसे इसमें सूर्य या अग्निकी सेवा (भजन) नहीं है। अतः लक्षणार्थ ही लेना चाहिए। यथा 'अग्रे वह्निः पृष्ठे भानू रात्रौ चुबुक समर्पित जानुः। करतल भिक्षा तरुतलवासस्तदपि न मुञ्चत्याशापाशः।' (द्वादशपंजरिका)। अतः इससे पंचाग्नि साधनादि तपश्चर्या ध्वनित है।—'बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।' और तपोबलसे सिद्धियाँ प्राप्त होनेपर ऐहिक सुख प्राप्त होता है। यह सबसे कनिष्ठ साधन है। इससे श्रेष्ठ साधन द्वितीयार्धमें बताते हैं—'स्वामिहि सर्वभाव छल त्यागी'। सर्वभावसे और निष्कपट बुद्धिसे सेवा करना भी एक बड़ी तपश्चर्या है। ऐसी विनम्र सेवासे स्वामी (राजा) के प्रसन्न होनेपर ऐहिक सुखका लाभ होता है। इन दो साधनोंसे भवभयहरण नहीं होता। अतः आगे मोक्षका साधन कहते हैं।—'तजि माया सेइअ परलोका....'। परलोक=मोक्ष। मायाका त्याग कहनेसे मोहादि मायाजनित समस्त विकारोंका त्याग कह दिया गया। मोह नाशसे ज्ञान और ज्ञानसे मोक्ष होता है; पर मोक्ष सुख बिना रामभक्तिके स्थिर नहीं रह सकता। यथा 'तथा मोच्छसुख सुनु खगराई। रह न

सकइ हरि भगति विहाई।' अतः सर्वोत्तम और सबसे सुलभ साधन रामसेवा, रामभजन आगे बताते हैं।

☞ बालकांड २३ (४) में 'सम यम नियम फूल' का वर्णन किया। यदि फूलका उपयोग न किया जाय तो 'फल ज्ञाना' की प्राप्ति [२३ (५) में] होती है। और जब तक फलमें रस नहीं पैदा होगा तब तक स्वाद और तोष नहीं मिलेगा। अतः 'हरि पद रति रस' का वर्णन 'देह धरे कर फल....' इस अर्धालीमें है। रामसेवासाधन ऐसा उत्कृष्ट है कि शम-दमादि फूल न होने पर भी इसमें 'फल ज्ञाना' लग जाता है और श्रीरामकृपासे ही 'रतिरस' भी पैदा होता है। रामसेवासे 'मिटहिं सकल भव संभव सोका' और ऐहिक सुखकी भी प्राप्ति होती है, यह विशेष है।

श्री नंगे परमहंसजी—इन चौपाइयोंमें चार वस्तुओं, सूर्य, अग्नि, स्वामी और परलोकका सेवन करना बता रहे हैं। ये चारों अपने स्वार्थके लिये सेवनकी जाती हैं। उसीमें नीति दिखला रहे हैं कि सूर्य पीठकी तरफ़से, अग्निका छातीकी तरफ़से सेवन किया जाता है और स्वामीकी सेवा सर्वाङ्गसे सर्व भावोंसे करना चाहिए, यही नीति है। परलोकका सेवन माया तजकर करना चाहिए तब उससे भवजनित समस्त शोक मिट जायँगे। सुग्रीवजी वानरोंको बाहर भेज रहे हैं, इसीसे उन्हें नीति सिखा रहे हैं, जिसमें उन्हें किसी बातका डर न हो, वे सावधान रहें।

टिप्पणी—२ 'सोइ गुनज्ञ सोई बड़भागी।०' इति। (क)—'जो' पदसे जनाया कि रामचरणानुरागी होनेमें जाति, योनि, वर्ण, आश्रम, स्त्री, पुरुष, नपुंसक इत्यादि किसीका नियम नहीं है। कोई भी हो यदि वह रामचरणानुरागी है तो वही गुणज्ञ और बड़भागी है। (ख) 'सोइ' का भाव कि रामचरणानुराग न हुआ और समस्त गुण हुए एवं और सारे संसारमें उसकी प्रीति हो तो अन्य समस्त गुणोंसे संपन्न होनेसे वह गुणज्ञ नहीं माना जा सकता और संसार भरके पदार्थोंमें प्रेम होनेपर भी वह बड़भागी नहीं हो सकता।—यहाँ 'तृतीय तुल्ययोगिता' अलंकार है।

नोट ३—वही बड़ा भाग्यवान् है जिसका श्रीरामचरणारविन्दमें अनुराग है। इस बातको रामचरितमानसके प्रत्येक काण्डमें दिखाया जा चुका है। रामचरणानुरागियोंको सर्वत्र बड़भागी कहा है। यथा—बालकांडमें श्रीअहल्याजी—'अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही'; श्रीजनकजी—'ते पद पखारत भागभाजन जनक जय जय सब कहहिं।' अयोध्याकांडमें श्रीलक्ष्मणजी—'भूरिभागभाजन भयउ मोहि समेत बलि जाउँ। जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छल कीन्ह रामपद ठाउ।' (तथा उत्तरकांडमें भी 'अहह धन्य लछिमन बड़भागी। रामपदारविंद अनुरागी॥'); श्रीनिषादराज—'नाथ कुसल पदपंकज देखे। भयउँ भागभाजन जन लेखे।' अरण्यमें श्रीसुतीक्ष्णजी—'परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेममगन मुनिवर बड़भागी'। लंकामें श्रीअंगद हनुमान्जी—'बड़भागी अंगद हनुमाना। चरनकमल चाँपत विधि नाना॥', इत्यादि।

☞ जो रामपद-विमुख हैं वे 'अभागी हैं, यथा—'ते नर नरक रूप जीवत जग भवभंजन पद बिमुख अभागी। वि० १४०।'

४ मिलान कीजिए—'जो अनुराग न राम सनेही सों। तो लह्यो लाहु कहा नर देही सों॥.... ज्ञान बिराग जोग जप तप मख जग मुद मग नहि थोरे। राम-प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृग जल जलधि हिलोरे॥ लोक बिलोकि पुरान वेद सुनि समुझि बूझि गुरु ज्ञानी। प्रीति प्रतीति रामपद पंकज सकल सुमंगल खानी॥ वि० १६५', 'सूर सुजान सुपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुआई। बिनु हरि भजन इँदारुन के फल तजत नहीं करुआई॥ कीरति कुल करतूति भूति भलि सील सरूप सलोने। तुलसी प्रभु अनुराग रहित जस सालन साग अलोने। वि० १७५।' इन पद्योंमें श्रीरामचरणानुरागरहित कीर्ति कुल ज्ञान वैराग्य आदि कैसे हैं यह बताया है।

**आयसु मागि चरन सिरु† नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई॥ ८॥**

† सिर—भा० दा०।

पाछें पवनतनय सिरु नावा। जानि काजु प्रभु निकट बोलावा॥ ९॥

अर्थ—आज्ञा माँगकर चरणोंमें सिर नवाकर सब प्रसन्न होकर श्रीरघुनाथजीका स्मरण करते हुए चले।८। (सबके) पीछे श्रीहनुमान्‌जीने प्रणाम किया। (इनके द्वारा) कार्यका होना जानकर प्रभुने उनको पास बुलाया।९।

टिप्पणी—१ 'आयसु मागि....' इति। (क) सुग्रीवजी तो आज्ञा दे ही रहे हैं कि 'सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू', उनसे आज्ञा नहीं माँगी। यहाँ 'जो आयसु माँगि' कहते हैं उससे श्रीरामजीकी आज्ञा अभिप्रेत है। उन्हींसे अब चलने की आज्ञा माँग रहे हैं। उन्हींको प्रणाम कर रहे हैं और उन्हींका स्मरण करते चले; यह बात 'सुमिरत रघुराई' और 'पाछें पवनतनय सिरु नावा। जानि काजु०' से स्पष्ट हो जाती है। (ख) 'हर्ष' दो बातें जनाता है। एक तो रामकार्य करनेको मिला, अतः अपनेको बड़ा भाग्यवान् समझकर हर्षित हुए, दूसरे प्रस्थानके समयका हर्ष कार्यकी सफलता सिद्ध करता है, यह शकुन है। (ग) यहाँ दिखाते हैं कि सबके मन, कर्म और वचन तीनों श्रीरामजीमें लगे हैं। 'हरषि सुमिरत रघुराई' (मनका धर्म), 'चरन सिरु नाई चले' (कर्म वा तन) और 'आयसु मागि' वचन है। (घ) राम-स्मरणसे कार्य सिद्ध होते हैं, अतः 'सुमिरत चले'।

२—सुग्रीवने जो तीन बातें कहीं उनको यहाँ घटाते हैं—

| तीन उपदेश | चरितार्थ |
|---|---|
| सेवा—'तजि माया सेइअ परलोका' | आयसु मागा। 'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।' |
| भजन—'भजिय राम सब काम बिहाई' | 'सुमिरत रघुराई' (स्मरण भजन है) |
| पदप्रेम—'जो रघुबीर चरन अनुरागी' | 'चरन सिरु नाई' (पदप्रेम हुआ)। |

३—'पाछें पवनतनय सिरु नावा।०' इति। (क) पीछे प्रणाम करनेका कारण यह है कि सब वानरोंको समझाकर फिर सुग्रीव हनुमान्‌जीसे और भी बातें करते रहे थे, इसीसे ये सबके पीछे श्रीरामजीके पास गए, यथा—'विशेषेण तु सुग्रीवो हनूमत्यर्थमुक्तवान्। स हि तस्मिन्हरिश्रेष्ठे निश्चितार्थोऽर्थ साधने।१। अब्रवीच्च हनूमन्तं विक्रान्तमनिलात्मजम्। सुग्रीवः परमप्रीतः प्रभुः सर्व वनौकसाम्।२। न भूमौ नान्तरिक्षे वा नाम्बरे नामरालये। नाप्सु वा गतिसङ्गं ते पश्यामि हरिपुंगव।३। सासुराः सहगन्धर्वाः सनागनरदेवताः। विदिताः सर्वलोकास्ते ससागरधराधराः।४। गतिर्वेगश्च तेजश्च लाघवं च महाकपे। पितुस्ते सदृशं वीर मारुतस्य महौजसः।५। तेजसा वापि ते भूतं न समं भुवि विद्यते। तद्यथा लभ्यते सीता तत्त्वमेवानुचिन्तय।६। त्वय्येव हनुमन्नस्ति बलं बुद्धिः पराक्रमः। देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डित।७।' (वाल्मी० ४४) अर्थात् सुग्रीवको निश्चय था कि हनुमान्‌जीसे कार्य सिद्ध होगा, इससे वे पवनसुत पराक्रमी हनुमान्‌से प्रसन्नतापूर्वक बोले—हे हरिपुंगव! पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश, अमर देवताओंके लोकों एवं जलमें भी आपकी गतिको रुकावट नहीं है। असुर, गन्धर्व, नाग, देवता, सागर और पर्वतसहित सब लोकोंको आप जानते हैं। आपमें आपके पिता मरुतके समान गति, वेग, तेज और हलकापन है। आपसा तेजस्वी पृथ्वीमें नहीं है। अतएव जिस प्रकार श्रीसीताजी मिलें वह आप ही सोचें। हे हनुमान्! आपमें बल, बुद्धि, पराक्रम, देशकालका अनुवर्तन और नीतिका ज्ञान वर्तमान है। [(ख) पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सब सुभट सुग्रीवजीके सामने खड़े हैं, यथा—'सुग्रीव बोलाए अंगद नल हनुमंत'। वहींसे आज्ञा माँगकर और सिर नवाकर सब हर्षित होकर चले। श्रीहनुमान्‌जी 'सबहि मानप्रद आपु अमानी' हैं, इसलिये इन्होंने सबके पीछे विदा होनेके लिये सिर नवाया। (ग) प० प० प्र०का मत है कि 'उरप्रेरक रघुबंसबिभूषन' की प्रेरणासे ऐसा हुआ। अथवा, धीरोंकी यह रीति है कि सबका मर्म लेकर पीछे काम करते हैं। अथवा, ये अपनेको सबसे लघु मानते हैं, इससे सबके पीछे प्रणाम किया। (मा० म०)। (घ) पंजाबीजी लिखते हैं कि अत्यन्त प्रेमी सबसे पीछे विदा होते हैं, जितनी देर साथ रहे उत्तम

है। अथवा, परम सेवकने स्वामीका रुख लखा कि कुछ देंगे, अतः पीछे मिले। अथवा, प्रभु इन्हींको मुद्रिका देना चाहते हैं। सबके बीचमें इनको मुद्रिका देनेसे औरोंका अपमान होगा, यह विचारकर प्रभुने ऐसी प्रेरणा कर दी। (ङ) हनुमान्‌जी सदा परमविनीत रहते हैं, इसीसे वे दीनबंधुको परमप्रिय हैं। शुक-सारनने भी यही देखकर रावणसे कहा था कि 'सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा।']

श्रीरामजीने जान लिया कि हनुमान्‌जीसे हमारा कार्य सिद्ध होगा, यथा—'जानसिरोमनि जानि जिय कपि बल-बुद्धि-निधानु। दीन्ह मुद्रिका मुदित प्रभु पाइ मुदित हनुमानु। रामाज्ञा।३।४१।'

नोट—१ 'जानि काज' इति। यथा—'अस्मिन् कार्ये प्रमाणं हि त्वमेव कपिसत्तम। जानामि सत्वं ते सर्वं गच्छ पंथाः शुभस्तव। अध्यात्म ६।२६।' अर्थात् इस कार्यमें तुम्हीं प्रधान हो, तुम्हारे सब सामर्थ्यको मैं जानता हूँ, जाओ, मार्ग तुम्हें सब प्रकार मंगलकारी हो! वाल्मीकिजी लिखते हैं कि सुग्रीवका इनपर अधिक विश्वास और हनुमान्‌जीका स्वयं अपने ऊपर दृढ़ विश्वास देखकर श्रीरामजीने जान लिया कि इनसे अवश्य कार्य सिद्ध होगा। यथा—'सर्वथानिश्चितार्थोऽयं हनूमति हरीश्वरः। निश्चितार्थतरश्चापि हनूमान्कार्यसाधने।९। तदेव प्रस्थितस्यास्य परिज्ञातस्य कर्मभिः। भर्त्रा परिगृहीतस्य ध्रुवः कार्यफलोदयः।१०।' (सर्ग ४४)। सर्ग ३ में हनुमान्‌जी (वटरूप) के प्रश्न कर चुकनेपर श्रीरामजीने लक्ष्मणजीसे इनकी प्रशंसा की है और अंतमें कहा है कि जिस राजाके पास ऐसा गुणसम्पन्न दूत हो उसके कार्य दूतके वचनसे ही सिद्ध हो सकते हैं, शत्रु भी उसके वचन सुनकर प्रसन्न हो जाय—(श्लो० ३३-३५)। वह भी 'जानि काज' का कारण है। यथा—'कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि।३३। एवं विधो यस्य दूतो न भवेत्पार्थिवस्य तु। सिद्धयन्ति हि कथं तस्य कार्याणां गतयोऽनघ।३४। एवं गुणगणैर्युक्ता यस्य स्युः कार्यसाधकाः। तस्य सिद्धयन्ति सर्वेऽर्था दूतवाक्यप्रचोदिताः।३५।'

२ जान लिया कि कार्यसिद्धि इन्हींके द्वारा होगी। अतः 'प्रभु' शब्द दिया। पं० वि० त्रि० जी लिखते हैं कि जितने बंदर भेजे गए हैं वे सब राजनीतिकी रक्षाके लिए भेजे गए, काम करनेके लिये हनुमान्‌जी ही भेजे जा रहे हैं—यह 'जानि काज....' का भाव है।

३ 'प्रभु निकट बोलावा'। (क) जब चरणोंमें सिर नवाया तब निकट तो थे ही फिर निकट बुलाना कैसा? निकट बुलाना लिखकर कविने आशयसे सूचित किया कि मस्तक नवाकर हनुमान्‌जी चल दिए थे, तब रघुनाथजीने बुलाया, यथा—'गच्छन्तं मारुतिं दृष्ट्वा रामो वचनमब्रवीत्'—(अध्यात्म २८) अर्थात् पवननंदनको जाते देख श्रीरामजी ये वचन बोले। (ख) निकट बुलाया—कानसे लगकर गुप्त बात कहनेके लिए। यथा—'कहँ हम पसु साखामृग चंचल बात कहौं मैं विद्यमान की। कहँ हरि सिव अज पूज्य ज्ञानघन नहिं बिसरति वह लगनि कान की। गी० ५।११।'

**परसा सीस सरोरुह पानी। करमुद्रिका दीन्हि† जन जानी॥ १०॥**
**बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु॥ ११॥**

अर्थ—अपना करकमल हनुमान्‌जीके सिरपर फेरा। अपना जन (सेवक) जानकर हाथकी अँगूठी दी।१०। (और कहा—) बहुत तरहसे सीताजीको समझाना, हमारा विरह और बल कहकर तुम शीघ्र लौट आना।११।

टिप्पणी—१ 'परसा सीस सरोरुह पानी' इति। (क) जिस करकमलके स्मरणमात्रसे भवसागर पार करना सुगम हो जाता है वही करकमल श्रीहनुमान्‌जीके सिरपर फेरा। इससे समुद्र पार करना अत्यन्त सुगम कर दिया। यथा—'सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहैं। होत सुगम भव उदधि अगम अति कोउ लाँघत कोउ उतरत थाहैं। गी० उ० १३।' पुनः, विनयपत्रिकामें लिखा है कि 'सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति ताप पाप माया। पद १३८।'; इससे यह सूचित करते हैं कि हनुमान्‌जीको अग्निकी ताप, लंकापुरी जलानेका पाप

† दीन्ह—(भा० दा०)

और सुरसा, सिंहिका, मेघनाद आदिकी माया कुछ न व्यापेगी। (ख) 'जन जानी' का भाव कि सिरपर हाथ फेरना, मुद्रिका देना और कानमें लगकर बात कहना, ऐसी कृपा 'निज जन' पर ही करते हैं।

प्र०—मुद्रिका मुखमें रख ली, यथा 'गाल मेलि मुद्रिका मुदित मन पवनपूत सिर नायउ। गी० ५।२९', जिसमें जो इस मुखसे वचन निकलें वे मानों रामजीकी मुहरछापसरीखे प्रमाण हों। कोई कोई कहते हैं कि 'परसा सीस सरोरुह पानी' उपक्रम है और इसका उपसंहार सुन्दरमें, 'सिर परसेउ प्रभु निज करकंजा' यह है। इसीसे 'मेटति पाप' (लंकादहन और बालवृद्धवधका)। [यह मुद्रिका वही है जो केवट-को उतराई देनेके लिए सीताजीने रामजीको दी थी अथवा यह स्वयं श्रीरामजीकी है इसमें मतभेद है। इसपर विशेष सुन्दरकांडकी 'चकित चितव मुद्रिक पहिचानी।१३।२।' इस चौपाईमें देखिए।]

नोट—१ यह मुद्रिका निशानीके लिए दी। इससे सीताजी विश्वास करेंगी। यथा—'अनेन त्वां हरिश्रेष्ठ चिह्नेन जनकात्मजा। मत्सकाशादनुप्राप्तमनुद्विग्नानुपश्यति। वाल्मी ।४४।१३।' अर्थात् इस चिह्नसे जनका-त्मजा तुमको मेरे यहाँसे आया हुआ जानेंगी, देखकर घबड़ायँगी नहीं। हनुमान्‌जीने कहा भी है कि 'दीन्हि राम तुम्ह कहँ सहिदानी'।

टिप्पणी—२ 'बहु प्रकार सीतहि समुझायहु' इति। (क) बहुत प्रकारका समझाना सुंदरकांडमें लिखा गया है। यहाँ श्रीरामजीने कानसे लगकर गुप्त बात कही है, इसीसे ग्रंथकारने भी यहाँ बात गुप्त रक्खी। सुन्दरकांडमें जब हनुमान्‌जी उसे खोलकर कहेंगे तब ग्रन्थकार भी स्पष्ट लिखेंगे। [(ख) 'सीता' शब्द देकर जनाया कि बहुत प्रकार समझाने एवं बल और बिरह सुननेसे उन्हें शीतलता प्राप्त होगी। (पां०)]

मा० म०, पं०, प्र०—बल तो महारानीजी जानती ही हैं, वे स्वयं हनुमान्‌जीसे कहेंगी कि 'तात सक्रसुत कथा सुनायेहु। बान प्रताप प्रभुहि समुझायहु'; अतः यहाँ बलसे सेनाका अर्थ है। अर्थात् बताना कि कैसी सेना है, कैसा दलका बल है, इत्यादि, जिससे विश्वास हो कि सेना निशाचरोंको जीत लेगी। और बताना कि वियोग-दुःखसे हम बहुत दुःखी हैं, अतएव वहाँ पहुँचनेमें हम किंचित् विलंब न करेंगे यह विश्वास उनको होगा।

पं० रा० व० श०—बल और बिरह दोनों कहनेको कहा। क्योंकि यदि बिरह-दुःख ही कहेंगे तो वे ये न समझें कि दुःखसे निर्बल हो गए हैं अब हमको छुड़ाने क्योंकर आ सकेंगे। यथा—'तव प्रभु नारिबिरह बल हीना। अनुज तासु दुख दुखी मलीना।६।२३।२।' केवल बल कहें तो संभव था कि समझतीं कि हमारे लिए क्यों परिश्रम करेंगे।

टिप्पणी—३ 'बेगि आयेहु' जिसमें हम उनकी प्राप्तिका शीघ्र उपाय करें। [नोट—ये शब्द मानों हनुमान्‌जीके लिए आशीर्वाद हैं कि तुम्हींसे यह कार्य सिद्ध होगा, इसका यश तुम्हींको प्राप्त होगा। अध्यात्ममें आशीर्वादके वचन भी हैं, यथा—'जानामि सत्वं ते सर्वं गच्छ पंथाः शुभस्तव।६।२६।' अर्थात् तुम्हारे बुद्धिबलादि सत्वको मैं जानता हूँ, जाओ, तुमको मार्ग मंगलकारी होगा।] 'तुम्ह आएहु' अर्थात् तुमही आना, सीताजीको साथ न लाना। इसी भावसे हनुमान्‌जीने सुन्दरकाण्डमें सीताजीसे कहा है कि 'अबहिं मातु मैं जाउँ लेवाई। प्रभु आयसु नहिं राम-दोहाई'।

हनुमत जन्म सुफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना ॥ १२ ॥
जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता ॥ १३ ॥

अर्थ—हनुमान्‌जीने अपना जन्म सफल समझा और कृपानिधान श्रीरामजीको हृदयमें धरकर चले।१२। यद्यपि देवताओंके रक्षक प्रभु सब बात जानते हैं तो भी वे राजनीतिकी रक्षा करते हैं (नीतिकी मर्यादाका पालन करते हैं)।१३।

टिप्पणी—१ (क) 'जन्म सुफल करि माना'। भाव कि हनुमान्‌जीका जन्म रामकार्य्यके निमित्त है, यथा-'रामकाज लगि तव अवतारा'; जब वह कार्य्य मिला तब अपना जन्म सफल माना। (ख) जन्मकी सफ-

लता तो कार्य्य हो जानेपर माननी चाहिए, अभीसे सफल कैसे मान लिया ? उत्तर—जब प्रभुने मस्तकपर हाथ फेरा, मुद्रिका दी और सीताजीको समझाकर शीघ्र लौट आनेको कहा, तब कार्य्य हो चुका, उसके पूरा होनेमें किंचित् संदेह नहीं है। (नोट—प्रभु सत्यसंध हैं, उनका वचन झूठ नहीं हो सकता। जो मुखसे निकल गया, वह अवश्य होकर रहेगा। सीताजीको समझाकर लौटना तभी हो सकता है जब कार्य्य सफल हो। अध्यात्ममें यहभी लिखा है कि मङ्गलका आशीर्वादभी हनुमान्‌जीको दिया। तब हनुमान्‌जी सरीखे भक्त कैसे न कार्य्यको सिद्ध समझते। वे तो जानते हैं कि 'स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदर दियेउ'; अतः तुरत जन्म सुफल मान लिया)। (ग) ['कृपानिधाना' को हृदयमें बसा लिया, ऐसा कहकर जनाया कि इस समय उनके चित्तमें प्रभुकी कृपाका चिन्तवन समा गया है। कृपाकाही स्मरण करते चले जा रहे हैं कि प्रभु सदा दासोंको बड़ाई देते आए हैं, वैसेही यह बड़ाई मुझे देना चाहते हैं, इत्यादि। इसीसे कविने 'कृपानिधान को सुमिरत चले' ऐसा लिखा]। हनुमानजीने जाना कि मुझपर प्रभुने बड़ी कृपा की कि हाथ फेरा और कार्य करनेकी आज्ञा दी, यथा—'कहँ हरि सिव पूज्य ज्ञानघन नहिं बिसरति वह लगनि कान की। गी० ५। ११।'

२ (क)-'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, अतः सब जानते हैं। 'राजनीति राखत' अर्थात् सोचते हैं कि यदि ईश्वरत्वसे काम लेंगे तो राजनीतिकी मर्यादा न रह जायगी। राजनीति है कि दूत भेजकर शत्रुका समाचार पाकर तब चढ़ाई करे, इसीसे प्रथम दूत भेजते हैं। (मर्यादा-पुरुषोत्तम इस अवतारका नामही है, अतः सबकी मर्यादा रखते हैं)। (ख) 'सुरत्राता' का भाव कि देवताओंकी रक्षाके लिए रामावतार है, देवरक्षा माधुर्य्यसे होगी, ऐश्वर्य्यसे नहीं, क्योंकि रावणकी मृत्यु मनुष्यके हाथसे है; इसीसे माधुर्य्यके अनुकूल लीला करते हैं, ऐश्वर्य्यके अनुकूल नहीं। ऐसाही अरण्यकांडमें कहा है, यथा—'जद्यपि प्रभु जानत सब कारन। उठे हरषि सुरकाजसँवारन' इत्यादि।

पं०—अथवा, देवताओंको रावणने बहुत दुःख दिए थे, इसीसे प्रभु देवतोंके वानरतनद्वाराही रावणका अपमान करायेंगे। अतएव 'सुरत्राता' कहा। वा, वानर दूतको भेजा कि इसका बल पराक्रम देख रावणको हमारे बलपराक्रमका बोध होगा कि कैसा अतुल होगा। वा, सब कार्य काल पाकर होते हैं, दूत भेजनेसे कुछ समय बीतेगा तब रावणादिके मरणका समय भी आ जायगा। यह भी नीति है।

☞ 'अब सोइ जतन करहु मन लाई' से यहाँतक 'जेहि बिधि कपिपति कीस पठाए' यह प्रसंग है।

## 'सीताखोज सकल दिसि धाए'—प्रकरण

**दोहा—चले सकल बन खोजत सरिता सर गिरि खोह।**
**रामकाज लयलीन मन बिसरा तन कर छोह॥ २३॥**

अर्थ—सब वानर सभी वन, नदी, तालाब, पर्वत और पर्वतकी कंदरायें गुफाएँ ढूँढ़ते चले जाते हैं। रामकार्यमें मन लवलीन (तन्मय, तल्लीन, मग्न) है, देहका मोह-ममत्व भूल गया। २३।

टिप्पणी—१ 'चले हरषि सुमिरत रघुराई' में एक बार चलना कह चुके, अब यहाँ फिर चलना कहते हैं। पहिली बारका चलना विदा होनेके अर्थमें है और यहाँ रास्ता चलनेका प्रकार कहते हैं कि वन, सरिसा आदि खोजते चले। अतः पुनरुक्ति नहीं है।

**कतहुँ होइ निसिचर सैं* भेंटा। प्रान लेहिं एक एक चपेटा॥ १॥**
**बहु प्रकार गिरि कानन हेरहिं। कोउ मुनि मिलइ ताहि सब घेरहिं॥ २॥**

अर्थ—जो कहीं निशचारसे भेंट होती है तो सब एक-एक चपेट (थप्पड़, तमाचा, झाँपड़) लगा-

* 'सों'—(का०), सें—(छ०)।

तब उसके प्राण ले लेते हैं। १। बहुत तरहसे पर्वत और वनमें देखते हैं। कोई मुनि मिल जाता है तो सब उसे घेर लेते हैं। ( इस विचारसे कि मुनि सब जगहकी बात जानते हैं। ) †। २।

टिप्पणी—१ ( क ) 'कतहुँ होइ निसिचर सैं भेंटा' का भाव कि खरदूषणके मारे जानेपर निशिचर भाग गए, अब इधर बहुत नहीं हैं, इसीसे कभी कहीं भूले भटके कोई निशिचर मिलता है। उसे रावण जानकर मारते हैं। [ यथा 'रावणोऽयमिति ज्ञात्वा केचिद्वानरपुङ्गवाः। जघ्नुः किलकिलाशब्दं मुञ्चंतो मुष्टिभिः क्षणात् ॥ अध्यात्म ६। ३२।' अर्थात् यह समझकर कि यही रावण है वानरोंने किलकिला शब्द करके उसको मुष्टियोंसे मारा। वाल्मी० सर्ग ४८। १७-२० में लिखा है कि जब ये उस स्थानमें पहुँचे जिसे कण्डुऋषिने शापसे भस्मकर वन कर दिया था तब एक भयानक असुरको बैठे देखा जो मुट्ठी बाँधकर इनकी ओर दौड़ा। यथा—'अभ्यधावत संक्रुद्धो मुष्टिमुद्यम्य संगतम्। ४८। १९।' 'रावणोऽयमिति ज्ञात्वा तलेना-भिजघान ह। स वालिपुत्राभिहतो वक्त्राच्छोणितमुद्वमन् ॥ २० ॥ असुरो न्यपतद्भूमौ पर्यस्त इव पर्वतः।' अंगदने उसे रावण समझ एक चपेटा दिया जिससे वह रुधिर उगलता हुआ गिर पड़ा और मर गया। पांड़ेजी अर्थ करते हैं कि एक ही वानर एक ही चपेटसे उसका प्राण हर लेता है। राक्षसोंको शत्रुपक्षका जानकर थप्पड़ मारना और मुनियोंको मित्रपक्षका अनुमान करके घेरना 'प्रत्यनीक' अलंकार है।—( वीरकवि )]

( ख ) 'कोउ मुनि' का भाव कि निशाचरोंके भयसे बहुत मुनि नहीं रहते, इसीसे कभी कोई मिलता है। [ (ग) निशिचरको मारते हैं क्योंकि प्रभुने कहा था—'इहाँ हरी निसिचर बैदेही' (दीनजी) ]

वि० त्रि०—पर्वत और वनको बहुत प्रकारसे खोजते हैं कि कोई अंश उसका बिना देखा न रह जाय और कोई प्राणी ढूँढ़ते समय बिना जानकारीके दूसरे वनमें न चला जाय। ऊपर कह आये हैं कि यदि राक्षस मिले, तब तो उसका प्राण ही हरण करते थे, यदि कोई मुनि मिल जाय, तो उन्हें सब घेरते थे कि आप महात्मा हैं, आप बता सकते हैं कि सीताजी कहाँ हैं कैसे मिलेंगी, अथवा आपने इस विषयमें कुछ देखा सुना है। यह 'सीतासुधि पूछेहु सब काहू' का साफल्य है।

**'सीताखोज सकल दिशि धाए'—प्रकरण समाप्त हुआ।**

## 'विवर-प्रवेश'—प्रकरण

**लागि तृषा अतिसय अकुलाने। मिलै न जल घन गहन भुलाने ॥ ३ ॥**
**मन हनुमान कीन्ह अनुमाना। मरन चहत सब बिनु जल पाना ॥ ४ ॥**

अर्थ—अत्यन्त प्यास लगनेसे सब अत्यन्त व्याकुल हो गए ( अर्थात् मरणावस्थाको पहुँच गए )। जल नहीं मिलता और सघन वनमें भूल गए हैं ( भटक रहे हैं )। ३। हनुमान्‌जीने मनमें अनुमान किया कि सब वानर बिना जलपानके मरा चाहते हैं। ४।

टिप्पणी—१ पर्वतों और जंगलोंमें ढूँढ़नेमें बड़ा श्रम हुआ, इसीसे अत्यन्त प्यास लगी। 'भुलाने' अर्थात् उनको दिशाका ज्ञान न रह गया। यथा—'तृषार्ताः सलिलं तत्र नाऽविंदन् हरिपुङ्गवाः। ३३। विभ्रमन्तो महारण्ये शुष्क कण्ठोष्ठतालुकाः। ३४।' ( अध्यात्म ६ )। अर्थात् श्रेष्ठ वानर प्यासके आर्त्त हैं, वहाँ जल न मिला। कण्ठ, ओष्ठ और तालू सूख गए हैं, इस दशामें वे उस महावनमें फिर रहे हैं।

नोट—१ हनुमान्‌जीको प्यास न लगी। इसका कारण यह है कि श्रीरामजीकी इनपर विशेष कृपा है; प्रभुने इनके मस्तकपर करकमल फेरा था, फिर 'रामनामांकित' मुद्रिका इनको दी थी जो इन्होंने मुखमें रख ली थी। रामनाम अमृतरूप है, यथा—'धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्' जो

† किसीका यह मत भी है कि मुनिको सब घेर लेते हैं कि यह निशाचर ही न हो मुनिवेषमें है; यदि ऐसा होगा तो सबसे एकबारगी घिरजानेसे घबड़ा जायगा जिससे वह पहिचान लिया जायगा।

मंगलाचरण में कह आए हैं। अँगूठी रामनामयुक्त है और ये स्वयं परमानन्य विलक्षण नामजापक हैं कि जिनके रोमरोमसे नामकी ध्वनि होती है और जिनका रोमरोम रामनामांकित है एवं जिनके हृदयमें सदा धनुर्धर श्रीरामजी विराजमान रहते हैं। यह भी स्मरण रहे कि रामकार्यके लिये ही इनका अवतार हुआ है। इन्द्रके वज्रप्रहारसे जब इनकी 'हनु' में कुछ चोट आई और पवनदेव कुपित हुए थे तब उसी मिष ब्रह्मादि समस्त देवताओंने इन्हें अपने समस्त अस्त्र-शस्त्रादिसे अभय कर दिया था। और इस समय तो उनपर श्रीरामकृपा पूर्णरूपेण है तब इनको प्यास, थकावट, आदि कैसे सता सकते? वे तो निकट भी आते डरते होंगे। २ 'अनुमान'—सबके मुखकी चेष्टा देखकर किया।

**चढ़ि गिरि सिखर चहूँ दिसि देखा। भूमि बिबर एक कौतुक पेखा ॥५॥**
**चक्रबाक बक हंस उड़ाहीं। बहुतक† खग प्रबिसहिं तेहि माहीं ॥६॥**
**गिरि ते उतरि पवनसुत आवा। सब कहुँ लै सोइ बिबर देखावा ॥७॥**
**आगे कै‡ हनुमंतहि लीन्हा। पैठे बिबर बिलंब न कीन्हा ॥८॥**

अर्थ—(उन्होंने) पर्वतशिखरपर चढ़कर चारों ओर देखा (तो) पृथ्वीके एक बिलमें एक कौतुक देखा।५। चक्रवाक, बगले और हंस उड़ते हैं ❀ और बहुतसे पक्षी उसमें प्रवेश करते हैं (घुसते हैं)।६। पर्वतपरसे पवनसुत उतरकर आए और सबको लेजाकर वह बिल दिखाया।७। सबने हनुमान्‌जीको आगे कर लिया और बिलमें घुसे, देर न की।८।

टिप्पणी—१ (क) 'चढ़ि गिरि सिखर०' इति। (श्रीहनुमान्‌जी ही गिरिशिखरपर क्यों चढ़े, इसका कारण एक तो यही है कि सब अचेत हो रहे हैं, 'मरन चहत सब बिनु जल पाना'; और ये सावधान हैं। दूसरे दुर्गमवनोंका मर्म हनुमान्‌जी ही जानते थे। यथा—'अब्रवीद्वानरान्घोरान्कान्तार वनकोविदः। वाल्मी० ५०।१४'। अतः इन्होंने ही उपाय सोचा और किया)। वन सघन है, यथा—'घन गहन भुलाने', कुछ देख नहीं पड़ता था, अतएव पर्वतपर चढ़े। और, पर्वतपर भी वन था, अतएव उसके शिखरपर चढ़े। (ख) 'कौतुक' इति। रंग बिरंगके जाति जातिके पक्षियोंका उड़ना और बिलमें घुसना या उससे निकलना कौतुक ही है।

२—चक्रवाक, बक और हंस ये जलपक्षी हैं, इसीसे इनके पखने भीगे हैं। ये जलपक्षी उड़कर बाहर आते हैं और बाहरके पक्षी जलके निमित्त भीतर जाते हैं। अतएव यहाँ जल अवश्य है, यह अनुमान प्रमाण अलंकार है।

३—पहाड़परसे शीघ्रतासे उतरे और शीघ्र सबको ले जाकर दिखाया, इसीसे 'पवनसुत' नाम दिया। सबको दिखाया क्योंकि सब व्याकुल हैं, विवर देखकर सबकी व्याकुलता कम होगी। दूसरे, यह कौतुक है, सबको देखनेकी चाह होगी।—[पं०—तीसरे, बुद्धिमानोंकी रीति है कि अपना अनुमान दूसरोंके सामने उनकीभी सम्मति लेनेके लिए पेश करते हैं। सर्वसंमतसे पास होनेपर अनुमानित कार्यपर आरूढ़ होते हैं। नोट—कौतुक इससे कि बक और हंस दोनों एक ठौर नहीं होते, जहाँ बगले होते हैं उस सरके निकट भी हंस नहीं जाते। और भीतर जाते समय तो पखने सूखे होते हैं पर बाहर आनेपर भीगे दिखाते हैं;

---

† बहुतेक ‡ कर—(ना० प्र०), कै—(भा० दा०, छ०, का०)।

❀ महादेवदत्तजी—"हंस और बक एकसाथ नहीं रहते अतः यहाँ अर्थ है कि 'चक्रवाक बकते (बोलते) हैं और हंस उड़ते हैं। वा, दोनों बोलते और उड़ते हैं। बक=बकना, यथा—'भृगुपति बकहिं कुठार उठाए'। यहाँ यदि कहा जाय कि अरण्यकांडमें भी तो हंस और बकको साथ कहा है तो उसका उत्तर यह है कि वहाँ हंस-वाले चरणसे 'बक'-वाले चरणतक तीन चरणोंका अन्तर देकर तब बकका निवास लिखा है, इसलिए वह प्रमाण असंगत है।"

इसमें जलाशयका अनुमान करते हैं।]

नोट—१ वाल्मीकीय और अध्यात्ममें भी प्रायः ऐसाही कहा है। यथा 'अस्माच्चापिविलाद्धंसाः क्रौञ्चाश्च सह सारसैः। वाल्मी० ५०।१५। जलार्द्राश्चक्रवाकाश्च निष्पतन्तिस्म सर्वशः। नूनं सलिलवानत्र कूपो वा यदि वा ह्रदः।१६।' अर्थात् हनुमान्‌जीने सबसे कहा कि इस विलसे सारसोंके साथ हंस क्रौंच चक्रवाक आदि जलसे भीगे हुए निकले हैं। अतः निश्चय ही यहाँ जलाशय है, चाहे कुआँ हो चाहे तालाव। पुनः यथा अध्यात्मे—'आर्द्रपक्षान् क्रौंचहंसान् निःसृतान् ददृशुस्ततः। अत्रास्ते सलिलं नूनं प्रविशामो महागुहाम् ।६।३५।' अर्थात् तब हनुमान्‌जीने भीगे हुए पक्षोंवाले क्रौंच और हंसोंको निकलते हुए देख अनुमान किया कि यहाँ निश्चय ही जल है, इस महागुहामें हम सब प्रवेश करें।

२—कौतुक, यथा—'जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत' इति विनये। स्मरण रहे कि पंपासरमें भी यह अद्‌भुतता दिखायी गई है, वहाँ भी 'चक्रवाक बक खग समुदाई' कहा है।

३ 'आगे कै हनुमंतहि....' इति।—अ० रा० में भी हनुमान्‌जीका ही आगे होना कहा है। प्रवेशका प्रकार वाल्मीकीय अध्यात्म दोनोंमें है। यथा—'इत्युक्त्वा हनुमानग्रे प्रविवेश तमन्वयुः। सर्वे परस्परं धृत्वा बाहून्बाहुभिरुत्सुकाः।' (अध्यात्म ६।३६)। अर्थात् ऐसा कह एक दूसरेकी बाहु पकड़े हुए जलके लिए उत्सुक वे सब हनुमान्‌जीको आगे करके विलमें प्रविष्ट हुए। 'अन्योन्यं संपरिष्वज्य जग्मुर्योजनमन्तरम्। ते नष्टसंज्ञास्तृपिताः संभ्रान्ताः सलिलार्थिनः।२२....आलोकं ददृशुर्वीरा निराशा जीविते यदा....।२४।' (वाल्मी० ५०)। अर्थात् जलकी इच्छा करनेवाले प्यासे, चेष्टारहित और अत्यन्त भ्रान्त वे सब वानर एक दूसरेको पकड़े हुए एक योजन तक उसमें चले गये....जीवनसे जब निराश होने लगे तब उन्हें प्रकाश देख पड़ा।

टिप्पणी—४ (क) हनुमान्‌जीको आगे करनेका भाव यह है कि विवरमें अँधेरा है, वानरोंको उसमें जाते भय लगता है, उनको साहस न हुआ कि उसमें प्रवेश करते और हनुमान्‌जी भारी पराक्रमी हैं, अतः उन्हें आगे किया। (आगे इससे भी किया कि ये व्याकुल नहीं हैं, उन्होंने विल भी दिखाया था, इत्यादि। वा, हनुमान्‌जीके पास मुद्रिका होनेसे इनके शरीरसे अँधेरेमें प्रकाश हो जाता था; अतः प्रकाशके लिए इनको आगे किया—ऐसा भी कोई कोई कहते हैं)। (ख) 'पैठे विवर' अर्थात् सब उसमें घुसे। इससे जनाया कि वह विवर बड़ा विस्तृत है। विलम्ब न किया, क्योंकि अत्यन्त प्यासे हैं। (ग) हनुमान्‌जीको आगे करके सबने विवरमें प्रवेश किया, इस कथनसे प्रधानता वानरोंकी ही हुई; क्योंकि हनुमान्‌जीको कोई प्रयोजन विवरमें प्रवेश करनेका न था। इन्हें तो प्यास लगी न थी, प्रयोजन तो अन्य सब वानरोंका ही था जो प्यासे थे। इसीसे कविने विवरप्रवेशमें वानरोंकी प्रधानता कही। यदि कहते कि वानरोंको लेकर हनुमान् 'पैठे' तो हनुमान्‌जीकी प्रधानता होती। (घ) 'हनुमंत' अर्थात् जिनकी हनु (ठोढ़ी) ने इन्द्रके वज्रका अभिमान चूर्ण कर डाला था, ऐसे बलवान्‌को सबने आगे कर लिया, यथा—'जाकी चिबुक चोट चूर्न कियो रदमद कुलिस कठोर को।—(विनय)। इनके अगुआ होनेसे किसी बाधाका भय न होगा।

नोट—४ मा० म० का मत है कि "यहाँ 'बिलंब न कीन्हा' का 'देर न की' यह अर्थ नहीं है; क्योंकि उस विवरमें जानेके लिए शाप था कि जो विना एक दूसरेको पकड़े उसमें जायगा वह मृत्युको प्राप्त होगा। अतएव एक दूसरेका 'विलंबन' अर्थात् अवलंब लेकर गए, यह अर्थ है।" परन्तु हमें कई कोषोंमें खोजनेपर भी 'विलंबन' का अर्थ 'अवलंब' नहीं मिला। शापका प्रमाण भी हमें ज्ञात नहीं और न मा० म० के अनुयायियोंने लिखा है।

**दोहा—दीख जाइ उपवन बर * सर बिगसित बहु कंज।**
**मंदिर एक रुचिर तहँ बैठि नारि तपपुंज॥ २४॥**

*'सर बर बिकसित'—(छ०, का०)। 'बिकसित'—(ना० प्र०)।

अर्थ—जाकर देखा कि वहाँ उत्तम उपवन और सुन्दर तालाब है जिसमें बहुतसे कमल खिले हुए हैं और वहीं एक सुन्दर मन्दिर है जिसमें एक बड़ी तपस्विनी स्त्री बैठी है।२४।

टिप्पणी-१ (क) 'दीख जाइ' से जनाया कि पहले बहुत दूर तक अन्धकार था, जब बहुत दूर गए तब प्रकाशमें पहुँचे। यथा अध्यात्मे-'अन्धकारे महद्दूरं गत्वापश्यन्कपीश्वराः' (६।३७)। (ख) 'बर' और 'रुचिर' विशेषण देकर वाल्मीकि आदि रामायणोंमें दिए हुए वर्णनको सूचित किया है। [यथा वाल्मी० ५०—'ततस्तं देशमागम्य सौम्या वितिमिरं वनम्।२४। ददृशुः काञ्चनान्वृक्षान्दीप्तवैश्वानरप्रभाम्। सालांस्तालांस्तमालांश्च पुंनागान्वञ्जुलान्धवान्।२५। चम्पकान्नागवृक्षांश्चकर्णिकारांश्च पुष्पितान्। स्तवकैः काञ्चनैश्चित्रै रक्तैः किसलयैस्तथा।२६। आपीडैश्च लताभिश्च हेमाभरणभूषितान्। तरुणादित्यसंकाशान्वैदूर्यमय वेदिकान्।२७। विभ्राजमानान्वपुषा पादपांश्च हिरण्मयान्। नीलवैदूर्यवर्णाश्च पद्मिनीः पतगैर्वृताः।२८। महद्भिः काञ्चनैर्वृक्षैर्वृतं बालार्कसंनिभैः। जातरूपमयैर्मत्स्यैर्महद्भिश्चाथ पङ्कजैः।२९। नलिनीस्तत्र ददृशुः प्रसन्नसलिलायुताः....पुष्पितान्फलिनोवृक्षान्प्रवालमणिसंनिभान्।३२।' अर्थात् प्रज्वलित अग्निके समान सोनेके ताल, शाल, तमालादि वृक्ष देखे जिनमें सुवर्णमय गुच्छे लगे थे। गुच्छों और लताओंसे युक्त स्वर्णाभूषणयुक्त वैदूर्यकी वेदीवाले सुन्दर चमकीले वृक्ष देखे। नीलवैदूर्यसदृश तालाब, बालसूर्यसदृश स्वर्णके वृक्षों और स्वर्णकी मछलियों और कमलोंसे युक्त स्वच्छ तालाब देखे। मूँगेके समान फलफूलवाले वृक्ष देखे। इत्यादि। (ग) 'रुचिर मंदिर'—सोनेकी खिड़कियाँ, मोतीकी जाली, सोनेचाँदीके वैदूर्यमणियुक्त, घंट, ऐसे उत्तम घर देखे। सोनेके भ्रमर, मणि, सुवर्णसे चित्रित अनेक शयन और आसन देखे। इत्यादि—(श्लोक ३१-३६)] (घ) तपपुंज=तेजकी राशि। यथा—'बिनु तप तेज कि कर बिसतारा'। 'नारि तपपुंज', यथा—'ददृशुर्वानराः शूराः स्त्रियं कांचिददूरतः। तां च ते ददृशुस्तत्र चीरकृष्णाजिनाम्बराम्। तापसीं नियताहारां ज्वलन्तीमिव तेजसा।'—(५०।३८, ३९)। अर्थात् शूरवीर वानरोंने कुछ दूरपर एक स्त्री देखी। वह काले मृगछालाके सुन्दर वस्त्र पहने थी, नियमसे आहार करनेवाली और अपने तेजसे प्रकाशित थी। उपवन= वह बाग जो घरके निकट जी बहलानेके लिए बनाया जाता है।

वि० त्रि०—इस गुहाका अद्भुत वर्णन है। इस जोड़का वर्णन रामचरित मानसमें कहीं नहीं पाया जाता। विचार करिये तो यह गुहा राजा युधिष्ठिरकी सभासे भी अति विचित्र थी। अलौकिक और अस्वाभाविक सामग्रीसे भरी थी। यह पर्वतकी गुहा नहीं थी कि कुछ रास्ता चलकर मैदानमें पहुँच जाँय इसे बिल कहा गया है, जिसमेंसे जलपक्षी बाहर आकर उड़ते थे। उस अन्धकारमय बिलमें जहाँ सूर्य के रश्मिका प्रवेश नहीं, उपवन कहाँसे आ गया? बिना सूर्य के तालाबमें कमल कैसे खिले? फल फूल कैसे उत्पन्न हुए? उसके भीतर जानेवाला किसी उपायसे बाहर नहीं निकल सकता था, वह तपस्विनी चाहे तभी निकल सकता। सो भी अपने पुरुषार्थसे नहीं। अपना कर्तव्य इतना ही था कि आँख बन्द करके खोल दें। बस इतने हीमें गुफाके बाहर; बाहर ही नहीं समुद्रके किनारे खड़े हैं। इससे मालूम होता है कि यह कोई मायामय गुफा थी। उस समयकी कुहक विद्या ऐसी बढ़ी थी कि आज कलके कुहक विद्यावाले (वैज्ञानिक) इसका स्वप्न भी नहीं देख सकते।

प० प० प्र०—१ यह मंदिर किस देवताका था इसका उल्लेख अ० रा० में भी नहीं है। पहले कई बार बताया गया है कि मानसमें मंदिर शब्द शिवजी, हनुमान्‌जी या हरिके संबंधसे ही प्रयुक्त हुआ है। यह विवर यक्षों और राक्षसोंका है। वे शिवोपासक हैं। अतः इसे शिवमंदिर ही समझना चाहिए।

('मंदिर' का पर्याय 'भवन' है। यह अर्थ लेनेसे शंका नहीं रहती। इस दिव्य भवनमें वह तपस्विनी रहती थी। यथा 'विस्मितास्तत्र भवने दिव्ये कनकविष्टरे।३९। प्रभया दीप्यमानां तु ददृशुः स्त्रियमेककाम्। अ० रा० ६।४०।' अर्थात् एक दिव्य भवनमें उन्होंने अति आश्चर्यचकित हो एक रमणीको अकेली स्वर्णसिंहासनपर विराजमान देखा)।

२ इस दोहेमें तुकान्तमें विषमता है। घने वनमें मुक्तद्वारयुत एक बड़े विवरमें 'उपवन बर बिकसित

यह दृश्य देखकर कोई भी व्यक्ति यही आशा करेगा कि यहाँ कोई महान् तपोमूर्ति ऋषि मुनि ही रहते होंगे; पर इसके विरुद्ध वहाँ देख पड़ी 'बैठि नारि तपपुंज'। इस आश्चर्यमय विषमताको दरसानेके लिए ही यह वृत्तान्तकी विषमता है।

दूरि ते ताहि सबन्हि सिरु नावा। पूछें निज बृत्तांत सुनावा॥ १॥
तेहि तब कहा करहु जल पाना। खाहु सुरस सुंदर फल नाना॥ २॥
मज्जन कीन्ह मधुर फल खाए। तासु निकट पुनि सब चलि आए॥ ३॥

अर्थ—सबोंने उसे दूरसे प्रणाम किया और उसके पूछनेपर, अपना समाचार (सब हाल हनुमान्‌जीने) सुनाया। १। (जब सब हाल कहकर कि किष्किन्धासे यहाँ क्योंकर आना हुआ और यह कि सब प्याससे अत्यन्त व्याकुल हैं, इस विवरणका कौतुक देख यहाँ आए) तब उसने (सबसे पहले यही) कहा कि जलपान करो (पियो) और अनेक रसीले सुन्दर फल खाओ। २। (आज्ञा पाकर) सबने स्नान किया, मीठे फल खाए और फिर उसके पास सब चले आए। ३।

टिप्पणी—१ 'दूरसे प्रणाम किया', इस कथनसे भय और भक्ति दोनों दिखाए। [यथा—'विस्मिता सहसा सम्भ्रान्तास्तिष्ठन्ति सर्वशः। वाल्मी० ५.० । २६ ।' अर्थात् सब वानर देखकर विस्मित होकर खड़े हो गए। पुनः, यथा—'प्रणेमुस्तां महाभागां भक्त्या भीत्या च वानराः'। अर्थात् वानरोंने कुछ भक्तिसे और कुछ भयसे उस महाभाग्यवती स्त्रीको प्रणाम किया—(अध्यात्म ६। ४१)। भय यह था कि तपस्विनी हैं, स्त्री हैं, पास जानेसे शाप न दे दें, वा, कोई छलसे इस वेषमें न बैठा हो। वा, पर-स्त्रीको माता या बहिनकी नाईं सम्मान करके प्रणाम किया। (पं०)। वा, तेजसे निकट न जा सके। (पाँ०)]। भयसे उसके पास न गए कि कहीं पास जानेसे अपना अनादर समझकर शाप न दे दे और तपस्विनी जानकर प्रणाम किया। २—यहाँ वानर बहुत हैं, अतः 'सिरनाए' और 'सुनाए' बहुवचन पद देना चाहिए था; पर यहाँ एक-वचन पद दिए हैं। कारण यह है कि यहाँ वानर-समुदायका प्रणाम एक साथ कहा है। जहाँ समूह होता है वहाँ बहु-वचन और एकवचन दोनों प्रकारका प्रयोग होता है। यथा—'नगर लोग सब व्याकुल धावा'। पुनः, दूसरे चरणमें यदि (सुनाए) क्रिया देते तो समझा जाता कि सबने सुनाया पर ऐसा है नहीं। केवल हनुमान्‌जीने सुनाया और सब तो व्याकुल हैं, और हनुमान्‌जी ही अगुआ हैं। अतएव दोनों जगह एकवचनका प्रयोग हुआ।

नोट—१ 'पूछें निज बृत्तान्त सुनावा'। अध्यात्ममें ऐसा ही क्रम है। आते ही तपस्विनीने पूछा कि तुम कौन हो, किसके दूत हो, क्यों मेरे स्थानमें आए? यथा—'दृष्ट्वा तान्वानरान्देवी प्राह यूयं किमागताः ॥४१॥ कुतो वा कस्य दूता वा मत्स्थानं किं प्रधर्षथ।' यह सुनकर हनुमान्‌जीने उत्तरमें 'दशरथजी महाराजके पुत्र श्रीरामका पिताकी आज्ञासे स्त्री और भाई सहित वनमें आगमन और वनवाससे लेकर यहाँ तकका सब वृत्तान्त कह सुनाया—'तच्छ्रुत्वा हनुमानाह शृणु वक्ष्यामि देवि ते ॥४२॥ इत्यादि ॥' वाल्मीकिमें क्रम उलटा है। वहाँ पहले हनुमान्‌जीने उससे उसका वृत्तान्त पूछा है और जलपानादिके पश्चात् उसने इनसे।

टिप्पणी—३ 'तेहि तब कहा करहु जल पाना।....' इति। (क) पहिले जल पीनेको कहा, क्योंकि हनुमान्‌जीसे सुना है कि सब विना जलके मरणप्राय हैं। यदि कहा होता कि भूखे हैं तो पहिले फल खानेको कहती। पर अगली चौपाईमें 'मज्जन कीन्ह मधुर फल खाए' ऐसा लिखते हैं, इसमें जल पीना नहीं कहा। इससे जान पड़ता है कि स्नान करते समय जल भी पी लिया; इसीसे जल पीना अलग न लिखा। धूपसे सब तपे हुए और श्रमित थे; स्नान करनेसे श्रम दूर होता ही है, यथा—'मज्जन कीन्ह पंथ श्रम गएउ'। इसीसे प्रथम स्नान किया; और प्यासे थे इसीसे पहले जलाशयपर आए; नहीं तो पहिले फल खाते।—[पं०—कपिकी रुचि स्नानकी विशेष होती ही है। वा, भक्त हैं, स्नान विना भोजन कैसे करें?]

(ख)—'तासु निकट पुनि सब चलि आए' इति। प्रथम विना जाने भयसे दूरसे ही प्रणाम किया था, अब उसका शान्त स्वभाव जानकर निकट आए। (ग)—'चलि आए' से जनाया कि धीरे-धीरे चलकर

आए, दौड़कर नहीं, जिसमें उसको बुरा न लगे, वह क्रोध न करे।

नोट—२ 'निकट सब चलि आए' क्योंकि अब भय नहीं है। दूसरे हनुमान्‌जीने अपना वृत्तान्त कह चुकनेपर उससे उसका वृत्तान्त पूछा था। पर उसने सबको भूखप्याससे व्याकुल सुनकर कहा कि पहिले फल खाकर जलपान करके श्रम दूर करके आओ तब अपनी कथा कहूँ। यही कारण है कि, और इसी लालसासे, वे निकट आए। यथा—त्वं वा किमर्थमत्रासि का वा त्वं वद नः शुभे ।४७। योगिनी च तथा दृष्ट्वा वानरान् प्राह हृष्टधीः। यथेष्टं फलमूलानि जग्ध्वा पीत्वामृतं पयः ।४८। आगच्छत ततो वक्ष्ये मम वृत्तान्तमादितः। तथेति भुक्त्वा पीत्वा च हृष्टास्ते सर्ववानराः ।४९। देव्याः समीपं गत्वा ते बद्धांजलिपुटाः स्थिताः। ततः प्राह हनूमन्तं योगिनी दिव्यदर्शना ।५०। अ० रा० सर्ग ६।'

तेहिं सब आपनि कथा सुनाई। मैं अब जाब जहाँ रघुराई॥ ४॥
मूँदहु नयन बिबर तजि जाहू। पैहहु सीतहि जनि पछिताहू॥ ५॥

अर्थ—उसने अपनी सब कथा सुनाई और कहा कि अब मैं वहाँ जाऊँगी जहाँ रघुराई श्रीरामचन्द्रजी हैं।४। (इस बिलमें जो आ जाता है वह बाहर नहीं निकल सकता। मैं अपने तपोबलसे निकल सकती हूँ और तुम्हें निकाल सकती हूँ। तुम बिना आँख मूँदे नहीं निकल सकते; अतएव) तुम आँखें बन्द करो और बिलको छोड़कर बाहर जाओ, तुम श्रीसीताजीको पाओगे, पछताओ नहीं।५।

टिप्पणी—१ (क) 'मैं अब जाब' अर्थात् मेरे यहाँ रहनेकी अवधि इतनी ही थी। मेरी सखी हेमाने मुझे आज्ञा दी थी कि त्रेतामें श्रीरामजी वनमें आयँगे, उनकी स्त्रीको खोजनेके लिए वानर तुम्हारे यहाँ आयेंगे। तुम उनकी पूजा करके श्रीरामजीके पास जाना। (ख) 'आपनि कथा सुनाई', इससे अनुमान होता है कि वानरोंने उससे पूछा था कि आप यहाँ कैसे रहती हैं और कौन हैं, यथा—'त्वं वा किमर्थमत्रासि का वा त्वं वद नः शुभे'—(अध्यात्म ६।४७); 'ततो हनूमान्गिरिसन्निकाशः कृताञ्जलिस्तामभिवाद्य वृद्धाम्। पप्रच्छ का त्वं भवनं बिलं च रत्नानि चेमानि वदस्व कस्य।'—(वाल्मी० ५०।४०)। इत्यादि। अर्थात् हाथ जोड़कर हनुमान्‌जीने पूछा कि आप कौन हैं, यह बिल और घर किसके हैं, ये रत्न किसके हैं? यह सब आप कहें। तब उसने कहा कि तुम जल पी लो फल खा लो तब स्वस्थ होनेपर मैं सब कहूँगी। इसीसे फल खाकर जब सब आए तब कथा कह सुनाई।

२ 'मूँदहु नयन....' इति। जिस दिन विवरमें वानर गए उसी दिन वानरोंको लौटनेके लिए मिली हुई एक मासकी अवधि पूरी हुई; तब सब वानर शोचवश हुए और स्वयंप्रभासे उन्होंने प्रार्थना की कि हमें बिलके बाहर कर दो, श्रीसीताजीकी सुध भी न मिली और अवधि पूरी बीत गई। इसीपर उसने कहा कि 'मूँदहु नयन बिबर तजि जाहू।०'—यह कथा वाल्मी० ५२ में है। यथा—'शरणं त्वां प्रपन्नाः स्मः सर्वे वै धर्मचारिणीम् ।२१। यः कृतः समयोऽस्मासु सुग्रीवेण महात्मना। स तु कालो व्यतिक्रान्तो बिले च परिवर्तताम् ।२२। सा त्वमस्माद्बिलादस्मानुत्तारयितुमर्हसि।....त्रातुमर्हसि नः सर्वान् सुग्रीवभयशङ्कितान्। महच्च कार्यमस्माभिः कर्तव्यं धर्मचारिणि ।२४।.... जीवता दुष्करं मन्ये प्रविष्टेन निवर्तितुम्। तपसः सुप्रभावेण नियमोपार्जितेन च ।२६। सर्वानेव बिलादस्मात्तारयिष्यामि वानरान्। निमीलयत चक्षूंषि सर्वे वानरपुङ्गवाः ।२७। नहि निष्क्रमितुं शक्यमनिमीलितलोचनैः। ततो निमीलिताः सर्वे सुकुमाराङ्गुलैः करैः ।२८' अर्थात् हम सब तुम्हारी शरण हैं, सुग्रीवकी दी हुई अवधि भी इस बिलमें बीत गई। आप हमें इसके बाहर करके हम लोगोंके प्राणोंकी रक्षा करें। उसने कहा कि जीतेजी यहाँसे निकलना कठिन है पर धर्मपालन और तपस्याके प्रभावसे मैं तुम्हें बाहर कर दूँगी। बिना आँखें बन्द किए बाहर निकलना कठिन है। अतएव नेत्र बन्द करो। वानरोंका चिन्तित होना, पश्चात्ताप करना, इत्यादि 'जनि पछिताहू' पदसे जना दिया है।

३ 'पैहहु सीतहि', यह तपस्विनीका आशीर्वाद है। इतनाही कहा, पता न बताया। क्योंकि उसे भविष्यका ज्ञान है, वह जानती है कि मेरे पहुँचानेसे ये सब समुद्रतीर पहुँच जायँगे, वहाँ संपाती द्वारा इनको श्रीसीताजीका पता लगेगा और उसके पंख जमेंगे।—(यहाँ पता बता देनेसे संपातीके कार्यमें विघ्न

होना सम्भव है। पुनः, चन्द्रमा ऋषिका वचन सत्य करना है।)

तपस्विनी का वृत्तान्त

पूर्वकालमें हेमा नामकी एक कन्या विश्वकर्माकी थी जो दिव्य रूप और नादकलामें प्रवीण थी। अपने नृत्य और गानसे उसने महादेवजीको प्रसन्न कर लिया था। महेशजीने प्रसन्न होकर उसे यह बड़ा दिव्य पुर प्रसादमें दिया जिसमें वह १० करोड़ वर्ष रही। उस हेमाकी मैं सखी हूँ, मोक्षकी इच्छासे विष्णु भगवानके आराधनमें तत्पर हूँ। मेरा स्वयंप्रभा नाम है, मैं दिव्य नासक गंधर्वकी कन्या हूँ। हेमा जब ब्रह्मलोकको जाने लगी तब मुझसे उसने कहा कि तू अकेली रहकर यहाँ तपस्या कर, त्रेतायुगमें नारायण दशरथपुत्र होंगे, भूभार हरणके लिए वनमें विचरेंगे। उनकी भार्याको ढूँढ़ते हुए वानर यहाँ आयेंगे। तब तुम उनका पूजन करके श्रीरघुनाथजीके पास जाकर उनकी स्तुति करना, तब तुम योगियोंको गम्य विष्णु-लोकको जाओगी। 'त्रेतायुगे दाशरथिर्भूत्वा नारायणोऽव्ययः।....५५। मार्गन्तो वानरास्तस्य भार्यामायान्ति ते गुहाम्। पूजयित्वाथ तान् नत्वा रामं स्तुत्वा प्रयत्नतः।' अध्यात्म सर्ग ६।५१-५७ तक)

वाल्मीकीयमें और इसमें भेद है। वाल्मी० ५१ में यह कथा इस प्रकार है—महा तेजस्वी मय नामक एक मायावी असुर था। उसने इस सारे सुवर्णमय वनको अपनी मायासे निर्माण किया। विश्वकर्मा नामके एक दानवश्रेष्ठ हुए; उन्होंने यह दिव्य सोनेका उत्तम भवन बनाया। बड़े घोर वनमें उन्होंने हजार वर्ष तप करके ब्रह्मासे वरदानमें शुक्राचार्यकी समस्त शिल्पविद्यारूपी संपदा प्राप्त कर ली। इस महावनमें कुछ काल (मय) सुखपूर्वक रहा फिर हेमा नामक अप्सरापर आसक्त होनेपर इन्द्रने उसे मार डाला। तब ब्रह्माने यह घर और उत्तम वन हेमाको दे दिया। मैं मेरुसावर्णकी कन्या स्वयंप्रभा हूँ। हेमा मेरी सखी है, नृत्यगानमें निपुण है, मैंने उसको वर दिया है, अतः मैं उसके घरकी रक्षा करती हूँ। (श्लो० १० से १८ तक)।

करुणासिंधुजी एवं बाबा हरीदासजीका मत है कि 'यह वही विश्वमोहिनी है जिसने नारदको मोहित किया था। नारद भक्त हैं। भागवतापराधका उसे भी फल मिला। भगवान्ने उससे प्रायश्चित्तके लिए तप करनेको कहा। इत्यादि।'—पर हमें इसका कोई प्रमाण नहीं मालूम।

नयन मूँदि पुनि देखहिं बीरा। ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा ॥ ६ ॥
सो पुनि गई जहाँ रघुनाथा। जाइ कमल पद नाएसि माथा ॥ ७ ॥
नाना भाँति बिनय तेहिं कीन्ही। अनपायनी भगति प्रभु दीन्ही ॥ ८ ॥

**दोहा—बदरीबन कहुँ सो गई प्रभु अग्या धरि सीस।**
**उर धरि रामचरन जुग जे बंदत अज ईस ॥२५॥**

अर्थ—आँखें बन्द करके फिर सब वीर आँखें खोलकर क्या देखते हैं कि सब समुद्रके तीर खड़े हैं।६। (जब सब सिंधुतीर पहुँच गए) तब स्वयंप्रभा वहाँ गई जहाँ रघुनाथजी हैं। जाकर उसने चरण-कमलोंमें माथा नवाया।७। उसने बहुत प्रकारसे विनती की। प्रभुने उसे अनपायिनी (अचल, अविना-शिनी) भक्ति दी।८। प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य करके (मानकर) और श्रीरामजीके युगल चरणोंको, जिनकी वंदना ब्रह्मा और महेश करते हैं, हृदयमें धारण करके वह (स्वयंप्रभा) बदरिकाश्रमको गई।२५।

टिप्पणी—१ (क) 'नयन मूँदि पुनि देखहिं' से जनाया कि पलमात्रमें उसने सबको समुद्रतटपर पहुँचा दिया। (ख) 'देखहिं बीरा' का भाव कि जो अपनी वीरतासे विवरके बाहर न हो सकते थे वेही वीर नेत्र बन्द करते ही बिना परिश्रम बाहरही नहीं किन्तु समुद्रतीरपर पहुँच गए। इससे वीरोंकी वीरता-से तपस्विनीके तपका प्रभाव अधिक जनाया। (ग) 'ठाढ़े सकल' से सूचित किया कि आँख बंद करते समय सब खड़े ही थे वैसेही समुद्रपर पहुँचे।—यहाँ प्रथम विशेष अलंकार है।

२ नाना भाँति विनय करनेपर प्रभुने अनपायिनी भक्ति दी। इससे जनाया कि इसी भक्तिकी प्राप्तिके लिए उसने अनेक प्रकारसे विनती की थी।

नोट—१ अ० रा० में उसकी विनय इस प्रकार है—'प्रदक्षिणा करके बहुत बार प्रणाम किया और प्रेमपूर्वक गद्‌गद कंठसे स्तुति की। हे राजराजेन्द्र! मैं आपकी दासी हूँ, दर्शनार्थ आई हूँ। बहुत हजारों वर्षों दुःख सहकर कठिन तप जो मैंने किया वह सफल हुआ कि मायासे परे आपका दर्शन मैं कर रही हूँ। आप मायासे परे, अलक्ष्य, चराचरमें एकरस व्याप्त, अपनी योगमायासे मनुष्यरूपधारी हैं। आप नटकी तरह अनेक रूप धारण करते हैं और स्वतंत्र हैं, अज्ञानियोंको अदृश्य हैं। महाभागवतोंको भक्तियोगका विधान करनेके लिये अवतीर्ण हुए हैं। भला मैं आपके यथार्थ रूपको कैसे जान सकती हूँ। संसारमें जो कोई आपका परमतत्व जानते हों वह उसे भले ही जाना करें, पर हे राम! मेरे हृदयसदनमें तो आपका यह दिव्यरूप सदा प्रकाश करता रहे; मोक्षके देनेवाले युगलचरणकमलोंके दर्शन मुझे आपने दिए। जो स्त्री पुत्र धन इत्यादि लोक-ऐश्वर्यके अभिमानी हैं वे आपका नाम लेने योग्य नहीं, वे आपकी स्तुति नहीं कर सकते। क्योंकि आप तो निष्किंचनके ही सर्वस्व हैं। आप निर्गुण और दिव्यगुणोंके आयतन हैं, आपका आदि मध्य अन्त नहीं। आप कालरूप हैं, जीवमात्रमें एकरस विचरते हैं, आप परमपुरुष हैं, आपके चरित्रका मर्म कोई नहीं जानता, आप शत्रु-मित्र-उदासीन-रहित हैं पर जिसका जैसा भाव है आप उसको वैसा ही देख पड़ते हैं। आप अकर्ता, अजन्मा, ईश्वर हैं। लोग आपके अवतारके अनेक कारण कहते हैं। जो आपका चरित गाते हैं वे आपके पदकमलको देखते हैं। आपकी प्रभुता मैं कैसे जान सकती हूँ।....'—( अध्यात्म ६। ६०-७७ ),—यह स्तुति सुनकर श्रीरामजी प्रसन्न होकर बोले कि क्या चाहती हो, माँग लो। तब उसने माँगा—"....भक्तिं ते भक्तवत्सल। यत्र कुत्रापि जाताया निश्चलां देहि मे प्रभो। ७९। त्वद्भक्तेषु सदा संगो भूयान्मे प्राकृतेषु न। जिह्वा मे रामरामेति भक्त्या वदतु सर्वदा। ८०। मानसं श्यामलं रूपं सीतालक्ष्मणसंयुतम्। धनुर्बाणधरं पीतवाससं मुकुटोज्ज्वलम्। ८१। अंगदैर्नूपुरैर्मुक्ताहारैः कौस्तुभकुंडलैः। भांतं स्मरतु मे राम वरं नान्यं वृणे प्रभो। ८२।' अर्थात् हे प्रभो! जहाँ भी मेरा जन्म हो वहाँ आपकी निश्चल भक्ति मुझे प्राप्त रहे, आपके भक्तोंका सदा संग रहे और प्राकृतोंका संग न हो, मेरी जिह्वा रामराम भक्तिपूर्वक निरंतर कहा करे। श्रीसीतालक्ष्मण सहित यह आपका श्यामल स्वरूप मेरे हृदयमें सदा वास करे। धनुषबाण धारण किए हुए, अंगमें पीतवस्त्र, सिरपर परमोज्वल मुकुट, बाजूमें अङ्गद, चरणोंमें नूपुर, उरमें कौस्तुभमुक्ताहार, कानोंमें कुण्डल इत्यादि आभरण धारण किए हुए रूपका हृदयमें सदा ध्यान करूँ।

टिप्पणी—३ (क) तपस्विनीने बड़ा तप किया था। उसका फल रामभक्तदर्शन मिला, इनके दर्शनसे श्रीरामजीका दर्शन हुआ और रामदर्शनसे अनपायिनी भक्तिकी प्राप्ति हुई। (ख) 'प्रभु आज्ञा' इति। [प्रभुने आज्ञा दी कि 'भवत्वेवं महाभागे गच्छ त्वं बदरीवनम्। तत्रैव मां स्मरंती त्वं त्यक्त्वेदं भूतपंचकम्। मामेव परमात्मानमचिरात्प्रतिपद्यसे। ८३।' अर्थात् ऐसा ही हो। अब तू बदरीवनको जा, वहाँ मेरा स्मरण करती हुई इस पञ्चभूत शरीरको त्यागकर मुझ परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त होगी। ( अ० रा० सर्ग ६ )। पांडेजी बदरीवनका अर्थ प्रयाग लिखते हैं]। (ग) 'प्रभु अज्ञा धरि सीस'। आज्ञा शिरोधार्य करनेका कारण 'प्रभु' शब्दसे जनाया। अर्थात् ये 'प्रभु' हैं, इससे इनकी आज्ञा उल्लंघन करने योग्य नहीं है, अवश्य शिरोधार्य करनी चाहिए। शिरोधार्य करना आदर है, यथा—'नाथ वचन पुनि मेटि न जाहीं। सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा। मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिय सुभ जानी। १। ७७। २-३।' (घ) 'जे बंदत अज ईस।'—भाव कि ब्रह्मा और महेश सबसे बड़े देवता हैं, ये जिन चरणोंकी वन्दना करते हैं उन्हींका साक्षात् दर्शन इसने किया और उन्हें हृदयमें धारण किया। (कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि 'अज ईश' में कुल संसार आ गया। इस तरह कि ब्रह्मा आदि सृष्टिके करनेवाले और शिवजी संहार करनेवाले हैं; सभी प्राणी जन्ममरणके फंदेमें हैं। वा 'अज'से प्रवृत्ति मार्गवालों और 'ईश'से निवृत्तिमार्गवालोंको सूचित किया)।

प० प० प्र०—स्वयंप्रभाके चरित्रसे ये सिद्धान्त निकलते हैं—(१) श्रीरामकार्य स्वयंसिद्ध है। (२) भगवान् जहाँ, जिस समय, जिसको बड़ाई, सुयश, सफलता देना चाहते हैं, वहाँ उस समय उसको निमित्त करके बड़ाई इत्यादि देते हैं। रामसेवकोंकी शक्ति एवं प्रयत्न केवल निमित्तमात्र बनाये जाते हैं; अन्यथा जाम्बवान् और हनुमान्जी ऐसे रामभक्तोंको एक स्त्रीके सहायसे संकटमुक्त होनेका प्रसंग क्यों उपस्थित होता। यह सिद्धान्त संपाती प्रसंगमें तथा सुन्दरकांडमें भी जगह-जगह प्रतीत होता है।

विवर-प्रवेश-प्रकरण समाप्त हुआ

## 'संपाती-मिलाप'-प्रकरण

इहाँ बिचारहिं कपि मन माहीं। बीती अवधि काज कछु नाहीं॥ १॥
सब मिलि कहहिं परसपर बाता। बिनु सुधि लिए करब का भ्राता॥ २॥

अर्थ—यहाँ वानर मनमें विचारते हैं कि अवधि बीत गई (विवरप्रवेश अंतिम दिन हुआ था, अब दूसरा मास प्रारम्भ हुआ) और काम कुछ न हुआ। १। सब मिलकर आपसमें एक दूसरेसे यह बात कहते हैं कि—भाई! सुध लिए बिना क्या करेंगे? (अर्थात् कोई बचनेका उपाय नहीं समझ पड़ता। अवधि बीत गई अब तो सुध मिले तभी प्राण बच सकेंगे)। २।

नोट—'इहाँ बिचारहिं', यथा—'द्रुमान्वासन्तिकान्दृष्ट्वा बभूवुर्भयशङ्किताः। ४। ते वसन्तमनुप्राप्तं प्रतिवेद्य परस्परम्। नष्टसन्देशकालार्था निपेतुर्धरणीतले।५।....मासः पूर्णो बिलस्थानां हरयः किं न बुध्यत।८। वयमाश्वयुजे मासि कालसंख्याव्यवस्थिताः। प्रस्थिताः सोऽपि चातीतः किमतः कार्यमुत्तरम्।९।' (वाल्मी० ५३)। अर्थात् बिलसे निकलनेपर वसन्तके फूले हुए वृक्षोंको देखकर वे शंकित हुए। परस्पर यह कहकर कि वसन्त आ गया, सुग्रीवकी आज्ञाका समय बीत जानेसे वे पृथ्वीपर गिर पड़े....महाप्राज्ञ युवराज बोले कि बिलहीमें हमलोगोंका मास पूरा हो गया, क्या यह आपको मालूम नहीं है। हमलोग कार्तिकमें अवधि करके चले, वह अवधि बीत गई। अब क्या करना चाहिए?

कह अंगद लोचन भरि बारी। दुहु प्रकार भइ मृत्यु हमारी॥ ३॥
इहाँ न सुधि सीता कै पाई। उहाँ गए मारिहि कपिराई॥ ४॥
पिता बधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही॥ ५॥

अर्थ—नेत्रोंमें जल भरकर अंगदने कहा कि दोनों प्रकारसे हमारी मृत्यु हुई। ३। यहाँ श्रीसीताजीकी सुध नहीं मिली और वहाँ जानेसे कपिराज मारेगा। ४। वह तो मुझे पिताका वध होनेपर ही मार डालता, पर श्रीरामजीने मुझे रख लिया (मेरी रक्षा की)। इसमें उनका (सुग्रीवका) कुछ उपकार वा एहसान नहीं है।५।

टिप्पणी—१ अवधि बीत जानेसे वानरोंके मन, वचन और कर्ममें शोच दिख रहा है। मनमें सोच उत्पन्न हुआ, यथा—'इहाँ बिचारहिं कपि मन माहीं। बीती अवधि काज कछु नाहीं।' फिर मनसे वचनमें शोच आया; यथा—'सब मिलि कहहिं परसपर बाता'; और वचनसे फिर कर्ममें आया, यथा—'बिनु सुधि लिए करब का भ्राता'।

२ 'इहाँ न सुधि सीता कै पाई।०' अर्थात् जो काम हमें दिया गया था, वह हमसे न बन पड़ा तो अब अवश्य वध होगा। इससे यहीं प्रायोवेशन करके मर जायँगे, नहीं तो वहाँ जानेपर सुग्रीव वध करेंगे। यथा—'सीता नाधिगतास्माभिर्न कृतं राजशासनम्। यदि गच्छाम किष्किन्धां सुग्रीवोऽस्मान्हनिष्यति।' अर्थात् हम लोगों ने श्रीसीताजीको ढूँढ न पाया, राजाज्ञाका निर्वाह भी न किया। यदि किष्किन्धाको लौट जायँ तो सुग्रीव हमको अवश्य मार डालेगा। (अध्यात्म ७। ३)।

३ 'पिता बधे पर....' इति। वधपर मारते, क्योंकि नीति है कि 'रिपु रिन रंच न राखब काऊ' अर्थात् शत्रुका वंश ही निर्मूल कर देना उचित है। [यथा 'विशेषतः शत्रुसुतं मां मिषान्निहनिष्यति।

मयि तस्य कुतः प्रीतिरहं रामेण रक्षितः। ४। इदानीं रामकार्यं मे न कृतं तन्मिषं भवेत्। तस्य मद्धनने नूनं सुग्रीवस्यदुरात्मनः। ५। अध्यात्म ७।' अर्थात् विशेष करके मुझे तो अपने शत्रुका पुत्र जानकर बहानेसे मारेहीगा। मेरे ऊपर उसकी प्रीति कहाँ? अब तक श्रीरामचन्द्रजीसे मैं रक्षित रहा, अब जो हमने रामकार्य नहीं किया, इसी बहानेसे दुष्टात्मा सुग्रीव निश्चय हमें मारेगा। पुनः यथा—'न चाहं यौवराज्येन सुग्रीवेणाभिषेचितः। १७। नरेन्द्रेणाभिषिक्तोऽस्मि रामेणाक्लिष्टकर्मणा। स पूर्वं बद्धवैरो मां राजा दृष्ट्वा व्यतिक्रमम्। १८। घातयिष्यति दण्डेन तीक्ष्णेन कृतनिश्चयः। किं मे सुहृद्भिर्व्यसनं पश्यद्भिर्जीवितान्तरे। इहैव प्रायमासिष्ये पुण्ये सागररोधसि। १९। वाल्मी० ५३।' अर्थात् सुग्रीवने मेरा अभिषेक नहीं किया, वह तो पहलेसे ही मुझसे वैर रखता है, धर्मात्मा रामचन्द्रजीने मेरा अभिषेक किया। अपराध देखकर वह निश्चय कठोर दण्ड देगा, उस समय मेरा दुःख देखकर मित्र भी क्या कर सकेंगे, अतएव यहीं समुद्र तीर पुण्यक्षेत्रमें मैं प्रायोवेशन करूँगा।

नोट—१ यहाँ एकही कारण मृत्युके लिए पर्याप्त था तो भी दूसरा भी कारण दिखाना 'दूसरा समुच्चय अलंकार' है।

२ 'कपिराई' में वाल्मी० के 'तीक्ष्णः प्रकृत्या सुग्रीवः स्वामिभावे व्यवस्थितः। न क्षमिष्यति नः सर्वानपराधकृतो गतान्। ५३।१४।' इस श्लोकका भाव है। अर्थात् सुग्रीव स्वभावसे ही तीक्ष्ण है और इस समय वह राजा है। अपराध करके जानेपर वह क्षमा न करेगा। 'ध्रुवं नो हिंसते राजा। १६।' अवश्य वध करेगा।

दीनजी—यदि अवधि बीत जानेपर भी श्रीसीताजीका समाचार मिल जाता तो वहाँ जाकर सुग्रीवके हाथों मरना सार्थक होता, पर श्रीसीताजीका समाचार भी न मिला और अवधि भी बीत गई; अतएव दोनों प्रकारसे हमारी मृत्यु हुई, क्योंकि सुग्रीवने कहा था—'अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाये। आवइ बनइ सो मोहि मराये।' इसमें दो शर्तें हैं—एक समय बिताकर आवे, दूसरे बिना समाचार पाये आवे, वे दोनों मारे जायँगे—( अन्य महानुभाव तथा यह दास भी इस विचारसे सहमत नहीं हैं। मा० सं० )—इस शर्तके अनुसार यदि अवधि न बीतती तो 'बिना सुधि पाये' जानेके कारण दूत मारा जाता, पर अब तो दोनों प्रकारसे मृत्यु निश्चित हो गई, क्योंकि श्रीसीताजीकी सुधि नहीं मिली इस कारणसे और दूसरे अवधि बीत गई इस कारणसे, यही 'दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी' का भाव है।

**पुनि पुनि अंगद कह सब पाहीं। मरन भएउ कछु संसय नाहीं॥ ६॥**
**अंगद बचन सुनत कपि बीरा। बोलि न सकहिं नयन बह नीरा॥ ७॥**
**छन एक सोच मगन होइ रहे †। पुनि अस बचन कहत सब भए॥ ८॥**
**हम सीता कै सुधि लीन्हे बिना। नहिं जैहैं जुबराज प्रबीना॥ ९॥**
**अस कहि लवनसिंधुतट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई॥ १०॥**

अर्थ—अंगद बारंबार ( अत्यंत व्याकुलतावश ) सबसे कह रहे हैं कि मरण हुआ इसमें कुछ संदेह नहीं। ६। वीर वानर अंगदके वचन सुनते हैं, कुछ बोल नहीं सकते, नेत्रोंसे जल बह रहा है। ७। सब एक क्षणभर सोचमें डूब गए। फिर सब ऐसा वचन कहने लगे। ८। हे चतुर युवराज! हम श्रीसीताजीकी सुध लिए विना नहीं लौटेंगे। ९। ऐसा कहकर खारे समुद्रके तटपर जाकर सब वानर कुशासन बिछाकर बैठ गए। १०।

टिप्पणी—१ 'पुनि पुनि कह सब पाहीं' इति। अत्यन्त व्याकुलतावश बार बार कहते हैं कि श्रीरामजीने हमें बचाया अब उन्हींका काम हमसे न बन पड़ा तब वे भी हमारी रक्षा क्यों करेंगे, अतएव मरण

† गयऊ, भयऊ—(ना० प्र०), 'रहेउ, भयऊ'—(का०), 'गए, भए'—(रा० प०)। 'सोध बिहीना'—(ना० प्र०)। छक्कनलालजीकी प्रतिमें 'सुधि लीन्हें बिना' पर हरताल देकर 'सोध बिहीना' बनाया गया है। काशी और भा० दा० में 'सुधि लीन्हें बिना' पाठ है। काशीकी पोथीमें 'किमि जैहैं' पाठ है।

हुआ इसमें संदेह नहीं। सबसे कहनेका भाव कि तुम सब बुद्धिमान हो, जीनेका उपाय बताओ, यथा–'यथा न म्रियेम तथा विधानमसक्तमेव विधीयतां नः । ५३ । २७ ।' अर्थात् जिस प्रकार हम लोग न मारे जायँ वह उपाय शीघ्र करना चाहिए। पुनः यथा—'भवन्तः प्रत्ययं प्राप्ता नीतिमार्गविशारदाः । हितेष्वभिरता भर्तुर्निसृष्टाः सर्वकर्मसु । १० । कर्मस्वप्रतिमाः सर्वे दिक्षु विश्रुतपौरुषाः । मां पुरस्कृत्य निर्याताः पिङ्गाक्षप्रतिचोदिताः । ११ । इदानीमकृतार्थानां मर्तव्यं नात्र संशयः ।' (वाल्मी० ५३)। अर्थात् आप लोग नीतिमार्गमें चतुर हैं, स्वामीके विश्वास-पात्र हैं, उनके द्वारा सभी कर्मोंमें अधिकारके साथ नियुक्त होते हैं, कार्य करनेमें आपके समान कोई नहीं, सब दिशाओंमें आप पराक्रमी प्रसिद्ध हैं। पिङ्गाक्ष सुग्रीवकी आज्ञासे आप मेरी अधिनायकतामें आए हैं, काम सिद्ध न होनेसे हम सबका मरण हुआ इसमें संदेह नहीं; क्योंकि विना आज्ञापालन कौन सुग्रीवसे सुखी रह सकता है? वाल्मी० में अंगदजीने तीन चार बार मरणकी बात कही है। यथा—'मर्तव्यं नात्र संशयः । ५३। १३ ।', 'न क्षमिष्यति नः सर्वानपराधकृतो गतान् । १४ । अप्रवृत्तौ च सीतायाः पापमेव करिष्यति ।', 'ध्रुवं नो हिंसते राजा । १६ ।' इत्यादि। अतः 'पुनि पुनि अंगद कह' कहा। दुःख बार बार कहनेसे कुछ घट जाता है।

२ 'बोलि न सकहिं नयन बह नीरा' इति। यद्यपि सब वानर बड़े वीर हैं तो भी वचन सुनकर सब असमर्थकी तरह रोने लगे। पहले तो सब सोच ही करते थे पर अब वचन सुनकर कि अंगदने अपना मरण निश्चय किया है सब सोचमें व्याकुल हो गए कि जब सुग्रीव अंगदका ही वध करेंगे तब हम कैसे बच सकेंगे। प्रथम सोचमें आँसू नहीं थे, अब आँसू बहने लगे अर्थात् अंगदकी दशाको प्राप्त हुए। वचनोंका उत्तर न दे सके। 'कपि बीरा' का भाव कि राजाका दुःख सुनकर पुरुषार्थ नहीं चलता और चुप होगए, पराक्रमका काम होता तो पराक्रम करते क्योंकि वीर हैं।

नोट १—'हम सीताकै सुधि लीन्हें बिना। नहिं जैहैं....' इस वचनसे वाल्मीकि सर्ग ५३ में दिए हुए वानरोंके विचार भी जना दिए। न जायँगे तो कहाँ रहैंगे? तार वानरकी सलाह थी कि सबकी यदि सम्मति हो तो हेमा वा स्वयंप्रभावाले मायिक बिलहीमें रहें, वहाँ सब सुपास है, और किसीका भय नहीं, यथा 'प्लवंगमानां तु भयार्दितानां श्रुत्वा वचस्तार इदं बभाषे । अलं विषादेन बिलं प्रविश्य वसाम सर्वे यदि रोचते वः । २५ । इदं हि मायाविहितं सुदुर्गमं प्रभूतपुष्पोदकभोज्यपेयम् । इहास्ति नो नैव भयं पुरन्दरान्न राघवाद्वानरराजतोऽपि वा । २६ ।' सर्ग ५४ में हनुमान्‌जीने इस मतिका खंडन किया है और अंगदको समझाया है कि लक्ष्मण उस मायाको तुरत तोड़ देंगे, इत्यादि। 'यां चेमां मन्यसे धात्रीमेतद्बिलमिति श्रुतम् । एतल्लक्ष्मणबाणानामीषत्कार्यं विदारणम् । १३ ।' तब अङ्गदने प्रायोपवेशनका विचार ठाना। पुनः, अध्यात्म (सर्ग ७) में भी हनुमान्‌जीका समझाना लिखा है। उन्होंने सोचा कि सुग्रीव और अङ्गदके बीचमें इन वानरोंकी सम्मतिसे विरोध उत्पन्न हो जायगा; यह अनुचित है। अतः समझाया कि किसीसे भय नहीं है, तुम ताराके पुत्र हो, सुग्रीवके प्रिय हो, इत्यादि।

टिप्पणी—३ (क) 'छन एक सोच मगन होइ रहे ।०' इति। सोचमें वाणी रुकी रही, फिर धीरज धरकर सब वानरोंने उत्तर दिया। (ख) 'हम सीता कै सुधि लीन्हें बिना' इति। वानरोंके प्रथम वचनमें कोई सिद्धान्त निश्चय न हुआ, यथा–'सब मिलि कहहिं परस्पर बाता। बिनु सुधि लिए करब का भ्राता'। अब यहाँ दूसरे वचनमें सिद्धान्त हुआ कि बिना सुध लिए लौटकर न जायँगे। (ग) 'जुबराज प्रबीना' का भाव कि आप सब जानते हैं। नीतिमें उपदेश है कि जब राजा इस प्रकारकी आज्ञा दे तब उसके पास जाय तो कार्य करके जाय, नहीं तो न जाय। [यथा—'न क्षमं चापराद्धानां गमनं स्वामिपार्श्वतः' (वाल्मी० ५३ । २३)। अर्थात् अपराधियोंको स्वामीके पास जाना उचित नहीं है। अङ्गदजीके विषयमें सर्ग ५४ में हनुमान्‌जीके विचार कवि कहते हैं कि वे तेज, बल और पराक्रमसे पूर्ण हैं। बुद्धिमें बृहस्पतिके समान, और पराक्रममें वालिके समान हैं। यथा–'आपूर्यमाणं शश्वच्च तेजोबलपराक्रमैः । शशिनं शुक्लपक्षादौ वर्धमानमिव श्रिया । ३ । बृहस्पति समं बुद्ध्या विक्रमे सदृशं पितुः ।'—ये भाव 'प्रबीण' शब्दसे सूचित कर दिए हैं] (घ) दो प्रकारसे मृत्यु है।

एक प्रकारकी मृत्युका समाधान वानरोंने किया कि वहाँ हम न जायँगे तब वे कैसे मारेंगे। दूसरी प्रकारकी मृत्युका समाधान वे न कर सके। इसीसे समुद्रतीरपर कुश बिछाकर मरनेके लिए बैठे।

टिप्पणी—४ (क) 'बैठे कपि सब०' इति। 'सब' का भाव कि इस बातमें सबका सम्मत है। 'सिन्धुतट' का भाव कि सिन्धु तीर्थपति है, इसके तीरपर मरना उत्तम है। (यथा—'इहैव प्रायमासिष्ये पुण्ये सागररोधसि। वाल्मी० ५३।१९।' अर्थात् पवित्र सागर तटपर ही मैं प्रायोपवेशन करूँगा)। कुश बिछाकर बैठे क्योंकि कुशासनपर बैठकर मरना उत्तम है। यथा—'सुग्रीववधतोऽस्माकं श्रेयः प्रायोपवेशनम्॥ इति निश्चित्य तत्रैव दर्भानास्तीर्य सर्वतः। उपाविविशुस्ते सर्वे मरणे कृतनिश्चयाः। अध्यात्मे ७।२७,२८।' अर्थात् हमलोगों का सुग्रीवके हाथसे वध होनेकी अपेक्षा प्रायोपवेशन (एक जगहपर बैठकर उपवास करके मर जाना) कल्याण-कारक है। ऐसा निश्चयकर वहींपर कुश बिछाके वे सब मरनेका निश्चय करके बैठे। (ख) ☞यहाँ वानरोंके मन, कर्म, वचन तीनों दिखाए। यथा—'सोच मगन होइ रहे' (मन), 'दर्भ डसाई' (कर्म) और 'पुनि अस बचन कहत सब भए' (वचन)।

नोट—२ (क) 'बैठे कपि सब दर्भ डसाई' इति। प्रायोपवेशनकी विधि वाल्मीकिजीने यों लिखी है—'अंगदको घेरकर वे सब वानर प्रायोपवेशन करने लगे। जलका आचमन करके पूर्व मुँह बैठे'। यथा—'परिवार्याङ्गदं सर्वे व्यवसन्प्रायमासितुम्। तद्वाक्यं बालिपुत्रस्य विज्ञाय प्लवगर्षभाः॥१९॥ उपस्पृश्योदकं सर्वे प्राङ्मुखाःसमुपाविशन्। दक्षिणाग्रेषुदर्भेषु उदक्तीरं समाश्रिताः॥२०॥'—(सर्ग ५५)। प्रमाणसिद्ध भाव 'दर्भ डसाने' का यही मिला है, पर बाबाहरिदासजी कहते हैं कि—"सीता मिलन हेतु व्रत कर रहे हैं। शरद्-ऋतुकी रेत ठण्ढी है, अतः कुशासन बिछाए। वा, शोच समयमें रामस्मरण हेतु कुशासनपर बैठे"। पंजाबीजी लिखते हैं कि सिंधुकी सेवा करते हैं (धन्ना देते हैं) कि इससे कार्य सिद्ध न हुआ तो कुशासन-पर प्राण त्याग करेंगे। (ख) कुछ लोग तट और तीरमें यह भेद कहते हैं कि 'तट=वह स्थान जहाँ जल है, जलाशयका किनारा' और 'तीर=वह स्थान जहाँ तक पानीकी हद है'।

प० प० प्र०—अंगदकी ऐसी दीन दयनीय दशा क्यों हुई? राममित्र, रामभक्तकी निंदा, अपने स्वामीकी निंदा और श्रीरामजीके प्रतापका विस्मरण ही इसका कारण है। लंकामें वे ही जब दूत बनाकर भेजे गए तब 'बंदि चरन उर धरि प्रभुताई' चले और 'राम प्रताप सुमिरि कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा।'; इस समय उस प्रभुत्वको, प्रतापको भूले हुए हैं, नहीं तो यह दशा न होती।

पं० विजयानंद त्रिपाठी—'पुनि पुनि अंगद....सुधि लीन्हे बिना' इति। मेरे मतसे ये तीनों चौपाइयाँ क्षेपक हैं, और श्रीकोदवरामजीकी प्रतिमें नहीं हैं। कोई भी श्रीरामचरितमानसका छात्र जिसने अंगदके चरित्रके चित्रणपर ध्यान दिया हो कह सकता है कि वीर अंगद इस प्रकारसे कापुरुषोंकी भाँति नहीं बोल सकते, और ये चौपाइयाँ ऐसी शिथिल हैं कि उनके श्रीगोस्वामीजीरचित होनेमें सोलह आने सन्देह है, और कोदवरामजीके प्रतिमें इनका न होना इस सन्देहको निश्चय रूपमें परिणत किये देता है।

**जामवंत अंगद दुख देखी। कही कथा उपदेस बिसेषी॥११॥**
**तात राम कहुँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु॥१२॥**
**हम सब सेवक अति बड़ भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥१३॥**

अर्थ—जाम्ववान्जीने अंगदका दुःख देखकर विशेष उपदेशकी कथा कही।११। हे तात! रामको मनुष्य मत मानो, उन्हें निर्गुण ब्रह्म अजित और अजन्मा समझो।१२। हम सब सेवक अत्यन्त बड़भागी हैं कि सगुण ब्रह्मके निरंतर अनुरागी हैं।१३।

टिप्पणी—१ 'कही कथा०' इति। कथासे दुःख दूर होता है, यथा—'रामचंद्र गुन बरनइ लागा

सुनहि सीता कर दुख भागा ।५।१३।५।' (ख) 'उपदेस बिसेपी' का भाव कि दुःख दूर करनेके लिए इससे अधिक और कोई उपदेश नहीं है। अथवा, व्यवहारको लिए हुए जो उपदेश होता है वह सामान्य है और जो परमार्थको लिए हुए होता है वह विशेष है।

प० प० प्र०—१ 'कथा बिसेषी' इति। जिस कथासे सामान्य प्रकारका अज्ञान नष्ट होकर विशेष ज्ञानकी प्राप्ति हो वह 'विशेष कथा' है। श्रीरामचरितमेंसे कुछ विशेष चरित कहे। जैसे विश्वामित्रयज्ञरक्षण, शिवचापभङ्ग, खरदूषणादिका वध, जयन्तकथा (कि 'ब्रह्मधाम सिवपुर सब लोका। फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका॥ काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकइ राम कर द्रोही।') इत्यादि कहकर कहा होगा कि क्या कोई मनुष्य ये कार्य कर सकता है?

२ रामकथा कहनेमें जाम्बवन्तका यह भी अभिप्राय होगा कि इसने रामभक्त सुग्रीवकी निंदा की और सब वानरोंने सुनी, रामकथा सुनानेसे निंदाजनित पाप दूर हो जायगा।

३ जाम्बवान्‌के इन वचनोंमें विशिष्टाद्वैत सिद्धांतको भरपूर अवकाश दिया है।

टिप्पणी—२ (क) 'नर जनि मानहु' का भाव कि तुम नर मानते हो इसीसे ऐसे व्याकुल हो रहे हो और ऐसा कहते हो कि मरनेमें संशय नहीं। हम ईश्वरके दूत हैं, ईश्वरके कार्य्यको आए हैं; तब हमारा मरण कैसे होगा? हमको श्रीसीताजी की सुध क्यों न मिलेगी? (ख) 'निर्गुन ब्रह्म०' का भाव कि निर्गुण ब्रह्म सगुण हुआ है, हम सब सेवक वानर हुए हैं। (ग) 'अजित' का भाव कि वे काल, कर्म, गुण, स्वभाव और मायासे नहीं जीते जा सकते। (घ) 'अज' का भाव कि जैसे कर्मवश सब जीवोंका जन्म होता है, वैसे ईश्वरका जन्म नहीं होता, वे अपनी इच्छासे अवतार लेते हैं। ऐश्वर्य कहकर उपदेश करनेका भाव यह है कि ऐश्वर्य समझनेसे संदेह और दुःख दूर होता है।—यहाँ भ्रान्त्यापह्नुति अलंकार है।

३—'अति बड़ भागी' कहनेका भाव कि वैराग्य होनेसे भाग्यवान् हैं, विवेक होनेसे बड़भागी हैं और सेवक होनेसे अति बड़भागी हैं। क्योंकि वैरागी वैराग्य करते हैं, ज्ञानी ज्ञान करते हैं जिससे मोक्ष मिले और सेवक मोक्षका त्याग करके सगुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं। वैराग्यसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे उपासना। यथा—'जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥२।९३।४-५।'

प्र०—नर अर्थात् सामान्य मनुष्य। किसीका मत है कि इसी उपदेशानुसार अङ्गदने रावणकी बातका खंडन किया जब उसने रघुनाथजीको 'नर' कहा था।—यथा—'तेहि रावन कहँ लघु कहसि नर कर करसि बखान।६।२५।' अंगदका उत्तर—'बोलु सँभारि अधम अभिमानी॥ सहसबाहु भुज गहन अपारा। दहन अनल सम जासु कुठारा॥ जासु परसु सागर खर धारा। बूड़े नृप अगनित बहु बारा॥ तासु गर्ब जेहि देखत भागा। सो नर क्यों दससीस अभागा॥ राम मनुज कस रे सठ बंगा। धन्वी कामु नदी पुनि गंगा॥....६।२६।' पुनः, 'राम मनुज बोलत असि बानी गिरहिं न तब रसना अभिमानी॥ सो नर क्यों दसकंध बालि बध्यो जेहि एक सर। बीसहु लोचन अंध धिग तव जन्म कुजाति जड़ ।।६।३२।'

नोट—१ वाल्मीकीयमें यह प्रसंग नहीं है। अध्यात्ममें हनुमान्‌जीहीके इस प्रकारके वाक्य हैं, यथा—'अन्यद्‌गुह्यतमं वक्ष्ये रहस्यं शृणु मे सुत। रामो न मानुषोदेवः साक्षान्नारायणोऽव्ययः ।....वयं च पार्षदाः सर्वे विष्णोर्वैकुण्ठवासिनः।'—(७।१६, १६। अर्थात् हे पुत्र! कुछ परमगुप्त रहस्य मैं कहता हूँ, सुनो। श्रीरघुनाथजी मनुष्य नहीं हैं किन्तु साक्षात् अविनाशी नारायण भगवान् हैं....हम वैकुण्ठवासी पार्षद हैं।); पर सिंधुतीर पर नहीं किंतु रास्तेहीमें बिलसे निकलनेके बाद। भट्टिकाव्य-रामायणमें जाम्बवान् का नाम आया है, यथा—'जाम्बवान् दुःखितान् दृष्ट्वा समस्तान् कपिसत्तमान्....'।

**दोहा—निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।**
**सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब* त्यागि ॥ २६ ॥**

अर्थ—प्रभु अपनी इच्छासे देवता, पृथ्वी, गौ और ब्राह्मणोंके लिए ( जहाँ ) अवतार लेते हैं वहाँ सब मोक्षोंको छोड़कर सगुण उपासक उनके साथ रहते हैं। २६।

यथा अध्यात्मे—'मनुष्यभावमापन्ने स्वेच्छया परमात्मनि। वयं वानररूपेण जातास्तस्यैव मायया।'—(७।१६)। अर्थात् परमात्मा अपनी इच्छासे मनुष्यभावको प्राप्त होते हैं और उन्हींकी मायाके योगसे हम सब ( पार्षद ) वानररूपसे उत्पन्न हुए।

टिप्पणी—१ प्रथम कहा कि भगवान् 'अज' हैं। जो अजन्मा है उसका जन्म कैसे हो सकता है ? इसको यहाँ कहा कि निज इच्छासे प्रभु अवतार लेते हैं; जैसा कि मनुजीसे प्रभुने स्वयं कहा है—'इच्छामय नरबेष सँवारें। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे। १। १५२। १'; यह कहकर अवतारका कारण कहा कि 'सुर महि गो द्विज लागि' अवतरित होते हैं। २—'सब मोक्ष'। मोक्ष कई प्रकारका कहा गया है—सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य, कैवल्य, ऐक्य, सामीप्य। इनमेंसे सामीप्यको ग्रहण करते हैं, शेष सबको त्याग देते हैं। [ 'सालोक्य सार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥ भा० ३। २९। १३।', 'न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत्। भा० ११। १४। १४।' अर्थात् मेरे देनेपर भी मेरे भक्त सालोक्यादि पाँचों मुक्तियोंको, ब्रह्मपद, महेन्द्रपद, सार्वभौमराज्य, पातालराज्य, योगसिद्धि और मोक्षको भी नहीं चाहते, एकमात्र मुझीको, मेरी सेवाको चाहते हैं। ]

पांड़ेजी—सगुण ब्रह्मके उपासक इन चारोंको त्यागकर केवल भक्तिके अनुरागी होते हैं। यथा—'जन्म जन्म रति रामपद यह बरदान न आन'।

गौड़जी—इस दोहेसे भी वानरसेनाके प्रच्छन्न रहस्यका उद्घाटन होता है। भगवान्के विग्रहमें मोक्षसुख, भोगनेवाले उपासक भक्त, जब जब जहाँ जहाँ अपनी इच्छासे प्रभु अवतार लेते हैं, तब तब मोक्षको त्यागकर किसी न किसी रूपमें वहाँ वहाँ उनके संग रहते हैं। जब भगवान् स्वयं लीलाके लिये अपनी मायाके बन्धनमें—अपनेको बाँधकर अवतार लेते हैं, तब तो जिसे मोक्ष कहते हैं वह अवस्था तो भगवान्के बन्धनमें आनेसे शवकी तरह हो गयी। इसीलिये मोक्ष-अवस्थारूपी शवका विग्रह-निर्माता सुर वा उपासक भक्त त्याग कर देते हैं। यहाँ 'मोक्ष-सब' 'मोक्षशव' है। 'मोक्ष-सब' ही समीचीन पाठ है। यहाँ 'सगुन उपासक'से साधारण उपासक अभिप्रेत नहीं हैं। यहाँ वही देवगण पार्षदादि अभिप्रेत हैं जिनका संग छूट नहीं सकता। उसी ओर 'हम सब सेवक अति बड़भागी' का इशारा है; क्योंकि जिसकी बाट जोह रहे थे कि रंगमंचपर कब आवेंगे उसे पा गये। अपने अभिनय द्वारा सेवाका अवसर भी आ गया।

**एहि बिधि कथा कहहिं बहु भाँती। गिरि कंदरा सुनी संपाती ॥ १ ॥**
**बाहेर होइ देखि‡ बहु कीसा। मोहि अहार दीन्ह जगदीसा ॥ २ ॥**
**आजु सबहि कहँ भच्छन करऊँ। दिन बहु चलेउ† अहार बिनु मरऊँ ॥ ३ ॥**
**कबहुँ न मिल§ भरि उदर अहारा। आजु दीन्ह बिधि एकहि बारा ॥ ४ ॥**

अर्थ—इस प्रकार बहुत तरहसे कथा कह रहे हैं। ( इनकी वाणी ) पर्वतकी कंदरामें संपातीने सुनी

* सुख—( ना० प्र०, का० )। ‡ देखे—( ना० प्र० ) † चल—( ना० प्र० ), चलेउ—( भा० दा० )।
§ मिल—( ना० प्र०, का०, मा० त० भा० ), मिलै—( भा० दा०, पं० रा० गु० द्वि० )।

। १ । आहार निरखकर बहुतसे वानरोंको देखकर वह बोला कि जगदीशने मुझे भोजन दिया । २ । आज सभीको खाऊँगा, बहुत दिन बीत गए बिना भोजनके मर रहा था । ३ । कभी पेट भर भोजन नहीं मिलता था, आज विधाताने एक ही बार दे दिया । ४ ।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम जाम्बवंतका कहना लिखते हैं, यथा—'जामवंत अंगद दुख देखी । कही कथा उपदेस विसेषी ।' और उसकी समाप्तिपर यहाँ सब वानरोंका कहना लिखते हैं—'एहि बिधि कथा कहहिं बहु भाँती'। यह कैसा ? उत्तर—वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वानरोंने प्रथम रामवनवाससे लेकर वालि-वध और रामरोष कपित्रासतककी कथा कही। उसके पश्चात् जाम्बवान्‌ने कथा कही। ग्रंथकारने जाम्बवान्‌की कथाकी समाप्तिपर उन सबका कथन भी इस चौपाईमें इकट्ठा कर दिया। (ख) 'बहु भाँती' पद दिया, क्योंकि भिन्न-भिन्न रामायणोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी कथाएँ ऋषियोंने वर्णन की हैं। इस पदसे सबका समावेश यहाँ हो गया । [ वाल्मी० ५५ । २१, २२ में लिखा है कि अंगदजीके वचन सुनकर 'वानरोंने प्रायोपवेशन करना उचित समझा। (दर्भपर बैठकर) वे श्रीरामचन्द्रके वनवास, दशरथमहाराजका मरण, जनस्थानका एवं जटायुका वध, सीताहरण, वालिवध और रामचन्द्रजीका कोप कहते हुए, सब भयभीत हुए, पर्वतशिखरके समान बड़े बड़े वानरोंके बैठनेसे वह पर्वत गर्जनेवाले मेघोंसे आकाशके समान शब्दायमान झरनावाला मालूम पड़ा।' यथा—'रामस्य वनवासं च क्षयं दशरथस्य च । २१ । जनस्थानवधं चैव वधं चैव जटायुषः। हरणं चैव वैदेह्या वालिनश्च वधं तथा ॥ रामकोपं च वदतां हरीणां भयमागतम् । २२ । स संविशद्भिर्बहुभिर्महीधरो महाद्रिकूटप्रतिमैः प्लवंगमैः। बभूव संनादितनिर्झरान्तरो भृशं नदद्भिर्जलदैरिवाम्बरम् । २३ ।' अर्थात् पुरानी वनवासकी कथा कहते हुए वानरोंको डर लग गया—इनमें आगे पीछे अथवा किसीका नाम नहीं दिया गया है और न जाम्बवन्तका समझाना ही है ] । (ग) ☞ गृद्ध्रका कंदरामें बैठे हुए कथा सुनना कहते हैं। कथा-श्रवणसे रामभक्तोंका दर्शन हुआ। भक्तोंके दर्शनसे एवम् स्पर्शसे पक्ष जमे और सब दुःख दूर हुए। वानर श्रीसीताजीको खोजते-खोजते व्याकुल हुए, सुध न मिली; कथा कहनेसे बैठे ही बैठे संपातीसे सुध मिल गई । यह रामकथाका प्रभाव है ।

२ (क) 'अहार दीन्ह जगदीसा' । जगत्‌के ईश अर्थात् पालनकर्ता हैं, अतः मेरे लिए सब वानर यहाँ इकट्ठे आ प्राप्त हुए, नहीं तो इतने वानर पराक्रमसे एकत्र किए न होते । [ (ख) 'आजु सबहि कहुँ....' इति । अर्थात् ये सब प्रायोपवेशन करके मरनेको बैठे हैं। जैसे-जैसे एक-एक मरता जायगा तैसे-तैसे मैं खाता जाऊँगा । इस तरह प्रतिदिन खाते-खाते सबको खा लूँगा । यथा—'परम्पराणां भक्षिष्ये वानराणां मृतं मृतम् । वाल्मी० ५६ । ५ ।', 'एकैकशः क्रमात्सर्वान्भक्षयामि दिने दिने । अ० रा० ७ । ३१ ।' जीवित वानरोंको खानेको नहीं कहता । (ग) 'दिन बहु....' इति । इससे जनाया कि इधर बहुत दिनोंसे भोजन न मिला था । आगे 'कबहुँ न मिल०' भी देखिए ] ।

टिप्पणी—३ 'कबहुँ न मिल भरि उदर....' इति । कुछ-कुछ मिलता रहा, भरपेट न मिलता था। 'आजु दीन्ह विधि०' अर्थात् विधि हैं, वे सबका विधान करते हैं, विधानसे सबको आहार देते हैं; हमारे कर्मानुसार आज उन्होंने हमको भी दिया; यथा वाल्मीकीये—'विधिः किल नरं लोके विधानेनानुवर्तते । यथायं विहितो भक्ष्यश्चिरान्मह्यमुपागतः । ५६ । ४ ।' अर्थात् जिस प्रकार कर्मानुसार लोकमें मनुष्यको फल मिलता है, उसी प्रकार पूर्वार्जित कर्मसे प्राप्त यह भोजन मेरे लिये आया है । [ यहाँ 'प्रहर्षण अलंकार' और 'समाधि'का सन्देहसङ्कर है—( वीर ) ]

नोट—१ 'कबहुँ न मिल भरि उदर अहारा' का कारण था कि स्वयं पक्षहीन था। उसका पुत्र उसे ला देता था। संभव है कि इसने डाँटा हो तबसे वह और भी कम खबर लेने लगा हो। अथवा, वह पिताके लिए भोजन लाता है पर नित्य नहीं, समय समयपर लाता रहा है, इसीसे पेट कभी न भरा। संपातीने कहा भी है कि हमलोग बड़े भूखे होते हैं। यथा ( वाल्मी० ५९ )—'अहमास्मिन्गिरौ दुर्गे बहुयोजनमायते। चिरान्निपतितो वृद्धः क्षीणप्राणपराक्रमः । ७ । तं मामेवं गतं पुत्रः सुपार्श्वो नाम नामतः । आहारेण यथाकालं बिभर्ति

पततां वरः ।८। तीक्ष्णकामास्तु गन्धर्वास्तीक्ष्णकोपा भुजंगमाः । मृगाणां तु भयं तीक्ष्णं ततस्तीक्ष्णक्षुधा वयम् ।९। स कदाचित्क्षुधार्तस्य ममाहाराभिकाङ्क्षिणः । गतः सूर्येऽहनि प्राप्तो मम पुत्रो ह्यनामिषः ।१०। स मयाहारसंरोधात्पीडितः प्रीतिवर्धनः । अनुमान्य यथातत्त्वमिदं वचनमब्रवीत् ।११।' अर्थात् संपातीने वानरोंसे कहा था कि 'मैं बहुत दिनोंसे इस विशाल पर्वतपर बलहीन होकर पड़ा हूँ । मेरी ऐसी अवस्था होनेपर सुपार्श्वनामक मेरा पुत्र समय समयपर मेरा आहार देता है । गंधर्व बड़े कामी, सर्प बड़े क्रोधी, पशु बड़े भीरु और हम लोग बड़े भूखे होते हैं । मैं एक समय भूखा था । मेरा पुत्र भोजन लानेको गया पर संध्या समय बिना भोजनके लौटा । मैंने उसे डाँटा तब उसने क्षमा माँगकर यथार्थ बात कही ।

वि० त्रि०—'बाहेर होइ....जगदीसा' इति । गिरि-कन्दरासे सम्पाती बाहर आये तो देखा बहुतसे बन्दर हैं । यहाँ पराक्रमी सम्पातीने पक्षहीन होनेपर भी बन्दरोंको कुछ समझा नहीं, बोल उठे कि आज जगदीशने अहार दिया । जिस भाँति सुरसाने हनुमानजीसे कहा कि "आज सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा ।" ऐसा सुनकर जिस भाँति हनुमान्‌जी धर्मपाशसे बँध गये उसी भाँति सम्पातीके वचनसे वन्दरोंने अपनेको धर्म-पाशसे बँधा हुआ माना, अतः डर गये, यथा—'डरपे गीध वचन सुनि काना । अब भा मरन सत्य हम जाना ।'

इन दोनोंके बीचमें जो दो चौपाइयाँ 'आजु सबहि कर भच्छन करऊँ ।....एकहि बारा' मिलती हैं, वे भी बेतुकी हैं । सबको खा जानेवाली बात किसी भाँति मनमें नहीं बैठती, और कोदवरामजीकी प्रतिमें वे दोनों चौपाइयाँ भी नहीं हैं, अतः तर्कानुगृहीत होनेसे यहाँ कोदवरामजीके पाठको ही मैं प्रमाण मानता हूँ । मेरा कोई आग्रह नहीं है अपना विचार लिख दिया, उचित समझें तो महात्मा लोग अपनावें ।

**डरपे गीधबचन सुनि काना । अब भा मरन सत्य हम जाना ॥ ५ ॥**
**कपि सब उठे गीध कहँ देखी । जामवंत मन सोच बिसेषी ॥ ६ ॥**

अर्थ—गृद्ध्र संपातीके वचन कानोंसे सुनकर सब डरकर बोले कि हमने जान लिया अब सत्यही हमारा मरण हुआ ।५। गृद्ध्रको देखकर सब कपि उठ खड़े हुए । जाम्बवान्‌के मनमें विशेष सोच हुआ ।६।

☞मिलान कीजिये—'श्रुत्वा तद्गृध्रवचनं वानरा भीतमानसाः । अध्यात्म ।७।३१। भक्षयिष्यति नः सर्वानसौ गृद्ध्रो न संशयः । रामकार्यं च नास्माभिः कृतं किंचिद्धरीश्वराः ।।३२।। सुग्रीवस्यापि च हितं न कृतं स्वात्मनामपि वृथानेन वधं प्राप्ता गच्छामो यमसादनम् ।३३।' अर्थात् गृद्ध्रके वचन सुनकर वानर भयभीत होगए । सबको यह खा लेगा, संदेह नहीं । हमने न तो कुछ रामकार्य ही किया, न कुछ सुग्रीवका हित किया (कि वह श्रीरामजीसे उऋण हो जाता) और न कुछ अपना ही हित किया; अब इस गृद्ध्रद्वारा मृत्युको प्राप्त हैं ।

टिप्पणी—१ 'डरपे' गृध्रका स्वरूप देखकर और उसके वचन सुनकर जाना कि ऐसे स्वरूपसे यह सबको खा सकता है । 'ते प्रायमुपविष्टास्तु दृष्ट्वा गृध्रं प्लवंगमाः । चक्रुर्बुद्धिं तदा रौद्रां सर्वान्नो भक्षयिष्यति । वाल्मी० ५७।२।' अर्थात् उस गृध्रको देखकर वानरोंने ऐसा भयंकर विचार किया कि वह सबको खालेगा । पुनः, यथा 'पश्य सीतापदेशेन साक्षाद्वैवस्वतो यमः । इमं देशमनुप्राप्तो वानराणां विपत्तये ।' (५६।७) । अर्थात् अंगदने हनुमान्‌जीसे कहा कि देखो सीताके व्याजसे साक्षात् यमराज इस वेषमें वानरोंपर विपत्ति डालने आए हैं । अतएव कहा कि 'अब भा मरन सत्य०' । अर्थात् श्रीसीताजीकी खबर न मिलनेसे चाहे सुग्रीव न भी मारते, प्रायोपवेशनसे चाहे मृत्यु न होती, श्रीसीताजीकी सुध मिल जाती; पर अब तो मरण सत्यही होगा, संदेह नहीं । इस कथनसे शंका होती है कि 'हनुमान् जाम्बवान् आदि अनेक बड़े बड़े योद्धा यहाँ थे, क्या ये सब मिलकर भी उससे न लड़ सकते थे; जो भयभीत होकर ऐसा कह रहे हैं ?' समाधान यह है कि इस समय श्रीसीताजीकी खबर न मिलनेके शोच और दोनों प्रकारकी मृत्युके भयसे सब वीर व्याकुल हो रहे हैं, इसीसे संपातीके वचन सुनकर डर गए, उनको अपने पराक्रमकी सुधबुध न रह गई

थी। भयभीतकी गणना निर्बलोंमें होती है। यथा—'पंगु गुंग रोगी वनिक भीति भूखजुत जानि। अंध अनाथ नारी तिय अबला कहत बखानि।' इति कविप्रियाग्रंथे। [उसने कहा है कि 'मोहि अहारु दीन्ह जगदीसा', यह सुनकर सब अपनेको धर्मपाशमें बँधे हुए जानकर डरे। (वि० त्रि०)]

मा० म०—'वानरोंने जाना कि सत्य ही मरण हुआ। भाव कि संपातीने देखा कि सब बंदर नियम करके बैठे हैं, इस अवस्थामें वे लड़ेंगे नहीं; अतएव कहा कि मुझको आहार मिला। यही विचार करके कपि भी डरगए कि इस अवस्थामें लड़ सकते नहीं, अवश्य मरना होगा, प्रथम मरनेके लिए प्रायोपवेशन करते ही थे पर जाम्बवंतके कहनेसे संदेह आ पड़ा। परन्तु इस गीध द्वारा अपमृत्यु विचारकर डरे।'—(वै०—गृध्रके खा लेनेसे कुमृत्यु होकर यमलोकको जायँगे यह समझकर डरे)।

टिप्पणी—२ (क) 'कपि सब उठे' अर्थात् कुशासन बिछाकर सिंधुतीर बैठे हुए थे, अब भयभीत होकर उठ खड़े हुए। सुग्रीवका भय था ही, उसपर इसके वचन सुने; इससे डरपर डर व्याप्त हो गया; क्योंकि 'रहत न आरतके चित चेतू'। (ख) 'जामवंत मन सोच बिसेषी' इति। 'विशेषी' से जनाया कि सोच तो सबको है पर इनको सबसे अधिक है। विशेष सोच इससे कि उनने अंगदका दुःख देखकर कथा कहकर उनका दुःख दूर किया था, अब इस दुःखके दूर करनेका कुछ उपाय नहीं सूझता। अथवा, जाम्बवंत सबका सँभाल करनेवाले हैं; इसीसे इनको विशेष सोच हुआ कि हमारे देखते ही क्या सब वानर खा लिए जायँगे। [विशेष सोच यह कि एक गृध्रको देख यह दशा है, रावणके संग्राममें क्या करेंगे। (प्र०)। कहाँ तो हम सगुण ब्रह्मकी कथा कह रहे थे, कहाँ यह आफत बीचमें आ पड़ी। पुनः शोच यह कि हमने इनको अवतार बताया और समझाया, फिर भी ये सब ऐसे कायर बने रहे, ऐसे पोच-विचार इनमें बने हुए हैं। (प्र० सं०)। वा, धर्मपाशमें बँधे होनेका शोच। (वि० त्रि०)]

**कह अंगद बिचारि मन माहीं। धन्य जटायू सम कोउ नाहीं॥ ७॥**
**रामकाज कारन तनु त्यागी। हरिपुर गएउ परम बड़भागी॥ ८॥**

अर्थ—अंगदने मनमें विचारकर कहा कि जटायुके समान कोई धन्य नहीं है।७। रामकार्यके लिए शरीर छोड़कर वह परम बड़भागी हरिपुरको गया।८।

टिप्पणी—१ 'कह अंगद०' इति। (क)☞देखिए, अंगदका दुःख देखकर जाम्बवान् बोले थे, और, अब जाम्बवंतका दुःख देखकर अंगद बोले। इस प्रकार सूचित करते हैं कि दोनों बड़े बुद्धिमान् हैं। (ख) अङ्गदकी बुद्धिमानी दिखाते हैं। उन्होंने विचार किया कि यह गृध्र है, इसको गृध्रका समाचार सुनावें; उससे यह अवश्य प्रसन्न होगा। (ग) 'धन्य जटायू सम कोउ नाहीं'। भाव यह कि उधर जाम्बवन्तने जो कहा था कि हम सब अत्यंत बड़भागी सेवक हैं, उसपर ये कहते हैं कि जटायुके समान कोई भाग्यवान् नहीं है। क्योंकि वह रामकार्यके लिए तन त्यागकर हरिपुरको गया। वह हम सबसे अधिक बड़भागी है, वह परम बड़भागी है। गीतावलीमें बड़भागी होनेका हेतु विस्तारसे दिया है।—आ० ३१ (९-१०) और ३।३२ देखिए।

२ 'हरिपुर गयउ परम बड़भागी' इति। पराये कार्यके लिए शरीर त्याग करे वह भाग्यवान् है और जटायुने रामकार्यके लिए तन त्याग किया, अतः वह बड़भागी है। पुनः, भगवान्की गोदमें बैठकर तन त्याग किया, भगवान्के हाथसे दाह पाया, और हरिपुरको गया। अतएव परम बड़भागी है। यथा अध्यात्मे—'अहो जटायुर्धर्मात्मा रामस्यार्थे मृतः सुधीः। मोक्षं प्राप दुरावापं योगिनामप्यरिन्दमः॥' (सर्ग ७।३४) अर्थात् बड़े आश्चर्यकी बात है कि धर्मात्मा, बुद्धिमान और शत्रुनाशक जटायुने श्रीरामचन्द्रजीके कार्यके लिए प्राणत्याग किये और उस मोक्षको प्राप्त हुए जो योगियोंको भी दुर्लभ है।

नोट—१ वाल्मी० ५६ में अङ्गदने कहा है कि—देखो, पक्षियोनिमें भी उत्पन्न प्राणी श्रीरामजीका प्रिय कार्य करते हैं। धर्मज्ञ जटायुने उनका प्रिय किया। हमको भी उचित है कि श्रीरामचन्द्रके लिए

थककर हम लोग भी अब अपने प्राणोंका त्याग करें।—यह भाव भी इन अर्धालियोंमें लिया जा सकता है। यथा—'प्रियं कृतं हि रामस्य धर्मज्ञेन जटायुषा। राघवार्थे परिश्रान्तावयं संत्यक्तजीविताः। १२।'

दीनजी—तात्पर्य यह कि एक गृद्ध जटायु था, जिसने रामकार्य में अपने प्राण तक दे दिए और एक गीध यह है कि रामदूतोंको भक्षण करने को कहता है। ☞यह युवराज अङ्गदकी नीतिकुशलता है। एक जाति भाईकी प्रशंसा करके उसी जाति के अन्य एक व्यक्तिकी सहानुभूति प्राप्त की जा सकती है। अङ्गद की यह चतुर नीति काम कर गई। (पां०)। यह गूढ़ोत्तर अलंकार है—( वीर )।

प० प० प्र०—१ मुख्य कारण तो 'उर प्रेरक रघुबंसबिभूषण' हैं। जब जब रामदूत संकटमें पड़े या किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए हैं तब तब ऐसी कुछ अनपेक्षित घटना उपस्थित हो जाती है, यह सुन्दरकांडमें पद-पदपर देखनेमें आता है।

२ यहाँ मानवी मानसशास्त्रका एक उदाहरण सामने खड़ा किया है। जब कोई अद्भुत बात देखने सुननेमें आती है तब भूतकालमें अनुभूत उसके समान बातकी स्मृति सहज ही होती है। घरमें जब कोई बड़ा सर्प मारा जाता है तब प्रत्येक व्यक्ति साँपोंहीकी बातें सुनाने लगता है।

वि० त्रि०—उस भीषणाकार गीधको देखकर, और उसीकी बात सुनकर सब बन्दर खड़े हो गये, न तो वे भागते हैं, और न सब मिलकर उसपर आक्रमण ही कर रहे हैं, सब जाम्बवान् और अङ्गदपर दृष्टि लगाये हुए हैं कि इनकी क्या आज्ञा है। जाम्बवान्‌जी सोचमें पड़ गये कि इस धर्मपाशसे निकलनेका कोई मार्ग समझमें नहीं आ रहा है, पर अङ्गदजी विचार करके ऐसी बात बोले जो कि प्रसंग प्राप्त विषयसे सम्बद्ध भी हो, और सम्पातीके लिये उपदेशरूप भी हो। भाव यह कि यह बात सत्य है कि हम लोग जगदीशके सेवक होनेमें अत्यन्त बड़भागी अवश्य हैं, पर सरकारकी सेवामें शरीर छोड़नेका अवसर हम लोगोंको नहीं मिला, ऐसा अवसर तो गाधराज जटायुको मिला, जिसने रामकाजके लिये शरीर छोड़कर विष्णुलोक प्राप्त किया। ( यह भाव लिखकर वि० त्रि० जी ने काट दिया था पर मैंने उसे दे दिया है )।

**सुनि खग हरष सोक जुत बानी। आवा निकट कपिन्ह भय मानी॥ ९॥**
**तिन्हहि अभय करि पूछेसि जाई। कथा सकल तिन्ह ताहि सुनाई॥ १०॥**
**सुनि संपाति बंधु कै करनी। रघुपति महिमा बहुबिधि बरनी॥ ११॥**

अर्थ—हर्ष-शोक-युत वाणी सुनकर पक्षी ( संपाती ) वानरोंके पास आया। वानर डरे। ९। उसने उन्हें निर्भय करके ( पास ) जाकर सब ( जटायुकी ) कथा पूछी। उन्होंने सब कथा उसे सुनाई। १०। भाईकी करनी सुनकर संपातीने बहुत तरहसे रघुनाथजीकी महिमा वर्णन की। ११।

टिप्पणी—१ ( क ) 'हरष शोक जुत बानी'। वाणीमें हर्ष और शोक दोनों हैं। उसका पुरुषार्थ और हरिधामकी प्राप्ति हर्षके कारण हैं और मृत्युका समाचार शोकका कारण है † ( ख ) 'आवा निकट' इति। पूर्व कंदरामें बैठे बानरोंकी बातें सुनीं, फिर निकलकर उनको देखा—'बाहर होइ देखे बहु कीसा'; अब जटायुका वृत्तान्त पूछनेके लिए निकट आया। वानरोंने समझा कि खाने आता है, अतः डरे।

२ ( क ) 'तिन्हहि अभय करि पूछेसि जाई' इति। प्रथम दूरसे अभय किया, तब पास जाकर पूछा (इस बातको जनानेके लिए 'जाइ' क्रिया पीछे दी), जिसमें वानर भाग न जायँ। [ नोट—'तिन्हहिं अभय करि' से जनाया कि उसके वचनपर उनको विश्वास न था। वे यही समझते थे कि इस बहानेसे आकर खा लेगा। यथा—'शोकाद्भ्रष्टस्वरमपि श्रुत्वा वानरयूथपाः। श्रद्दधुर्नैव तद्वाक्यं कर्मणा तस्य शङ्किताः। ....' ( वाल्मी० ५७। १ ) अर्थात् शोकके कारण संपातीका टूटा हुआ स्वर सुनकर भी वानरोंने विश्वास न किया, क्योंकि उसके कर्मोंसे वे शंकित हो गए थे। तब अङ्गदने सब कथा कही। यथा—'उच्यतां वो भयं मा भूत्मत्तः प्लवगसत्तमाः। ३६। तमु-

† 'प्रथम समुच्चय अलंकार' है।

[illegible] । गतो दाशरथिः श्रीमान् लक्ष्मणेन समन्वितः ॥ ३७ ॥ सीतया भार्यया सार्द्धं [illegible] ।...॥ ४५ ॥ अ० रा० ७ ।' अर्थात्—हे वानरो! कहो, आप न डरें, तब अङ्गद उठे और कहने लगे कि भगवान् रामचन्द्र लक्ष्मण और सीताके साथ वनमें रहा करते थे। जन्मसे यहाँ तककी कथा है ] ( ख ) 'कथा सकल' सुनानेका भाव कि पूर्व जो वचन अङ्गदने कहे, उसमें जटायुकी कथा संक्षेपसे थी, अब विस्तारपूर्वक कही। अध्यात्म सर्ग ७ में पूरी कथा दी है।

३ 'बंधुकै करनी' में 'करनी' शब्द पुरुपार्थवाचक है; यथा—'जूझे सकल सुभट करि करनी। १।१७५।६।' और रघुनाथजीने अपने हाथसे उसकी क्रिया की यह करनी सुनकर रघुनाथजीकी महिमा वर्णन की कि उन्होंने ऐसे अधमको मुक्ति दी। यथा—'गीध अधम खग आमिषभोगी। गति दीन्हीं जो जाँचत जोगी।३।३३।२।' यहाँ 'करनी' पद मृतक-क्रियाका वाचक है, यथा—'पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी। २।१७१।१।'—( तात्पर्य कि 'करनी' पद श्लेपार्थी है, दीपदेहरी न्यायसे उसे दोनों ओर लेना चाहिए )। महिमा यह कि रावण ऐसे वीरको उसने विरथ और मूर्छित कर दिया। ( इत्यादि जो अरण्यकांडमें लिखा जा चुका है। )

## दोहा—मोहि लै जाहु सिंधुतट देउँ तिलांजलि ताहि।
## वचन सहाइ* करवि मइँ पैहहु खोजहु जाहि ॥ २७ ॥

अर्थ—मुझे सिंधुके किनारे ले चलो। मैं उसे तिलाञ्जलि दूँ। ( फिर) मैं तुम्हारी वचनसे सहायता करूँगा ( अर्थात् बताऊँगा कि श्रीसीताजी कहाँ हैं ), जिसे ढूँढ़ते हो उसे पाओगे। २७।

टिप्पणी—१ ( क ) संपातीने यह बात ज्ञानके बलसे कही। शंका—'जब गृध्र वानरोंके पास आया तब उसे कहना चाहिए था कि 'मोहि लै चलहु', पर उसने 'लै जाहु' कहा, यह क्यों ? समाधान—वानर पहाड़के नीचे बैठे हैं और वह कन्दरासे निकलकर इनके ऊपर पहाड़पर आया, यही निकट आना है। अब वह पहाड़परसे कह रहा है कि तुम लोग आओ और मुझको ले जाओ, मैं पहाड़परसे उतर नहीं सकता। वाल्मी० ५६। २८, यथा—'सूर्यांशुदग्धपक्षत्वान्न शक्नोमि विसर्पितुम्। इच्छेयं पर्वतादस्मादवतर्तुमरिन्दमाः'। अर्थात् सूर्य किरणसे पक्ष जल जानेके कारण मैं चल नहीं सकता, पर्वतसे उतरनेकी इच्छा है, आप मुझे उतारें। ( ख ) धर्मशास्त्रमें लिखा है कि जब मृतककी बात सुने तभी सूतक लगता है, इसीसे भाईका मरण सुनकर क्रिया करनेको है।

२ वचनसे सहायता करूँगा, इस कथनका तात्पर्य यह है कि शरीरसे सहायता नहीं कर सकता, क्योंकि मैं वृद्ध हूँ। यथा—'वाक्साहाय्यं करिष्येऽहं भवतां प्लवगेश्वराः। भ्रातुः सलिलदानायऽनयध्वं मां जलान्तिकम्॥ पश्चात् सर्वं शुभं वक्ष्ये भवतां कार्यसिद्धये। अध्यात्म ७।४८।' अर्थात् हे श्रेष्ठ वानरो ! आपकी सहायता मैं वाणीसे करूँगा; मुझे भाईको जलाञ्जलि देनेके लिए जलके तीर ले चलो। पश्चात् आपके कार्यके लिए शुभ वचन कहूँगा। वाल्मी० ५८।१२ में भी ऐसाही है। यथा—'निर्दग्धपक्षो गृध्रोऽहं गतवीर्यः प्लवंगमाः। वाङ्मात्रेणापि रामस्य करिष्ये साह्यमुत्तमम्।' अर्थात् मैं जले पक्षोंका गृध्र हूँ, बलहीन हूँ, अतएव केवल वचन द्वारा श्रीरामजीकी सहायता कर सकता हूँ। यहाँ शंका हो सकती है कि जब उसे समुद्रतट तक आनेका सामर्थ्य न था तब वह सबको भक्षण करनेको कैसे कहता था ? समाधान यह है कि वानर लोग अपनी मृत्यु कह रहे थे, यही बात सुनकर उसने कहा था कि इनकी मृत्यु होगी तब मैं सबको भक्षण करूँगा। यथा—'परंपराणां भक्षिष्ये वानराणां मृतं मृतम्'(वाल्मी०५६।५)।

प्र०—तीन तट कहे हैं। १ 'नयन मूँदि पुनि देखहिं बीरा। ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा।२०।६।', 'अस कहि लवनसिंधु तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई।२६।१०।', 'मोहि लै जाहु सिंधु तट देउँ तिलांजलि ताहि'। एवं 'अनुज क्रिया करि सागर तीरा'।—भाव यह है कि कपि लोग मध्य तट ( बीच ) में रहे; क्योंकि अन-

*सहाय—( ना० प्र० ) सहाइ—( भा० दा० )

शनव्रत करनेके लिए प्रथम तटपर रहते तो फूल फल खाते, देखकर रहा न जाता। सुंदर काण्डमें लिखा है कि 'एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागरतीर। जहँ तहँ लागे खान फल भालु बिपुल कपि बीर॥', 'सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुंदर फल रूखा॥', 'खाएउँ फल प्रभु लागी भूखा'। दूसरे तटमें बालू थी और तीसरेमें जल। अतएव मध्यमें रहे।

नोट—१ पहले जटायुका समाचार पूछनेको पर्वतसे उतारे गए, यथा—'अवतार्य गिरेः शृङ्गाद् गृध्रमाहाङ्गदस्तदा। वाल्मी० ५७।४।'; फिर तिलांजलिके लिए यहाँसे समुद्र तटपर ले जानेको कहा जहाँ जल है, यथा—'समुद्रं नेतुमिच्छामि भवद्भिर्वरुणालयम्। प्रदास्याम्युदकं भ्रातुः स्वर्गतस्य महात्मनः॥ वाल्मी० ५८।३३।' अर्थात् मैं महात्मा भाईको जल देना चाहता हूँ, मेरी इच्छा है कि आप मुझे समुद्रके तीर ले चलें।

प्र०—१ गृध्र तिलाञ्जलिका अधिकारी कैसे? उत्तर—गीतावलीमें वचन सहाय तकका ही अधिकार अपना कहा है, आगे नहीं। वह दिव्य और कामरूप है, इससे जलांजलि दी। (भगवान्‌ने उसके भाईकी दाह क्रिया की, तब यह जलांजलिका भी अधिकारी न होगा तो क्या? वह तो जीवन्मुक्त है।—मा० सं०)। २—कंदरासे वानरों तक पहुँचनेकी सामर्थ्य थी और तट तक जानेकी न थी? इसमें कारण है। परीक्षार्थ ऐसा किया। यदि ये रामदूत हैं तो मेरे पक्ष स्पर्शसे जम आयँगे और यदि राम-दूत नहीं हैं तो 'मोहि अहार दीन्ह जगदीसा'।

गौड़जी—गीधके तिलांजलिके अधिकारी होने न होनेका प्रश्न यहाँ व्यर्थ है। स्मृतियाँ मनुष्यको रीति बताती हैं कि तिलांजलि देनेका कौन पात्र है, कौन नहीं। गीध गीधमें तिलांजलिका आदान-प्रदान हो सकता है या नहीं, यह प्रश्न गीधोंकी स्मृतिका है। मानव स्मृतियोंका नहीं। यह प्रश्न तो जटायुके प्रेत कर्म्म करनेपर भगवान्‌के सम्बन्धमें हो सकता है। वहाँ भी भगवान्‌ने पिताके सखाके नाते प्रेत कर्म्म किया। तर्प्पणमें तो आब्रह्मस्तंभ पर्य्यन्त अखिल सृष्टिका तर्पण किया जाता है और पिण्डदानके अन्तमें बलिवैश्वदेव सभी तरहके प्राणियोंके तृप्त्यर्थ करते हैं। ऐसी शंका व्यर्थ है। अच्छे कामोंमें यह शंका तो चाहिये नहीं; फिर भगवान् तो मर्यादापुरुषोत्तम हैं। वह तो अपने आचरणसे नीति और शीलका आदर्श दिखाते हैं। यथा—'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते।' (गीता)—

**अनुज क्रिया करि सागर तीरा। कहि निज कथा सुनहु कपि बीरा॥१॥**
**हम द्वौ बंधु प्रथम तरुनाई। गगन गए रबि निकट उड़ाई॥२॥**
**तेज न सहि सक सो फिरि आवा। मैं अभिमानी रबि नियरावा॥३॥**
**जरे पंख अति तेज अपारा। परेउँ भूमि करि घोर चिकारा॥४॥**

अर्थ—समुद्रके तीर भाईकी क्रिया करके अपनी कथा कही—हे वीर वानरो! सुनो।१। हम दोनों भाई थे, प्रथम (उठती वा चढ़ती) जवानीमें हम दोनों सूर्यके निकट जानेके लिये आकाशमें उड़े।२। वह तेज सह न सका, इससे लौट आया। मैं अभिमानी था, इससे सूर्य्यके (कुछ) निकट गया।३। अत्यन्त अपार तेजसे मेरे पखने जल गए, तब मैं घोर चिक्कार करके पृथ्वीपर गिर पड़ा।४।

टिप्पणी—१ (क) क्रिया मुख्य है, इससे प्रथम क्रिया की तब कथा कही। 'वीर' सम्बोधनका भाव कि तुम सब वीर हो, मेरी वीरता सुनो। [सम्पाती अपनी कथा वन्दरोंके उत्साह-वर्धनके लिए सुनाने लगे। समुद्र पार भेजना है, इसलिये अपने जवानीकी कथा सुनाई कि सूर्य्यके निकट जानेका उत्साह मुझे कौतुकके लिये था, फिर चन्द्रमा मुनिकी कथा सुनाई इस बातके द्योतित करनेके लिये कि त्रिकालज्ञ मुनिने भविष्यको वर्तमानकी भाँति देख लिया था। उन्होंने कहा था कि श्रीसीताजीको खोजते वन्दर यहाँ आवेंगे, उन्हें तुम सीताजीको दिखा देना, अतः मैं तुम्हें सीताजीको दिखा दूँगा, सोच न करो। (वि० त्रि०)] (ख) 'मैं अभिमानी' का भाव कि यदि मैं भी लौट पड़ता तो दोनों भाइयोंका बल बराबर

समझा जाता और मुझे अपने बलका बड़ा अभिमान था, अपनेको उससे अधिक बलवान् समझता था। अतएव सोचा कि मैं यहाँसे क्यों लौट पड़ूँ। इस अभिमानसे सूर्यके निकट गया। अभिमानका फल दुःख है, वह मुझे मिला। 'हम द्वौ बंधु....उड़ाई' में अ० रा० के 'अहं पुरा जटायुश्च भ्रातरौ रूढयौवनौ ।८।२। बलेन दर्पितावावां बलजिज्ञासया खगौ।' इन श्लोकोंका भाव है। अर्थात् हम दोनोंमें कितना बल है यह जाननेके लिये सूर्यमंडलपर्यन्त जानेको उड़े। (ग)—'अति तेज अपारा' का भाव कि जिनका तेज पृथ्वीपर नहीं सहा जाता उनके निकटके तेजकी क्या कहिए। जिस तेजको भाई न सह सका, उसे मैंने सहा, इसीसे मेरे पंख जलगए और मैं भूमिपर गिर पड़ा अर्थात् इधर भूमिकी भी ठोकर लगी।

नोट—१ जटायुकी कथा अरण्यकांडमें दी गई है कि अरुणका पुत्र था, इत्यादि ।३।१६ में देखिए। वही यहाँ संपातीने कही है। २—संपातीको कौन पर्वतसे उतारकर लाया? यह बात विनय-पत्रिकासे स्पष्ट होती है। वहाँ हनुमान्‌जीकी स्तुतिमें इनको संपातीका दिव्यदेहदाता कहा है, यथा—'जयति पर्मानु-संदग्ध-संपाति नवपक्ष-लोचन-दिव्यदेह-दाता'—(पद २८)। इससे ज्ञात होता है कि हनुमान्‌जी उसे गोदमें उठा लाए। ३ (उपदेश भागमें) देखिए अभिमानका फल मिला; प्रभुकी कृपा हुई कि शरीर टुकड़े टुकड़े न हो गया। आगे इससे कार्य होगा इसीसे यह लीला हुई। रामभक्तोंकी वचनसे ही सहायता करेगा, उसका फल भी देखिए क्या हुआ।

गौड़जी—(१) सूर्यका पिण्ड पृथ्वीसे साढ़े नव करोड़ मीलके लगभग है। प्रकाशकी गति प्रति-सेकंड १, ८६,००० मील है। प्रकाशको सूर्यसे पृथ्वी तक पहुँचनेमें आठ मिनट लगते हैं। जटायु और संपाती इतिहासके पूर्व युगके हैं। कमसे कम बीस लाख और अधिकसे अधिक पचास करोड़ बरस पहलेके दानवाकार पक्षी हैं। जिनसे उसी समयके भारी भारी योद्धा भीमकाय वानर अत्यन्त भयभीत थे। आजकल साधारण शरीरवाले तेज पक्षी एक घंटेमें डेढ़ सौ मील तक उड़ते हैं। संभवतः उस समय इन पक्षि-दानवोंका वेग उनके बलके अनुरूप अत्यधिक रहा होगा। यदि हम मान लें कि संपाती और जटायुका वेग एक मिनटमें केवल सौ मीलका था तो सवा बरसमें यह लोग छः करोड़ मील तय कर सके। छः करोड़ मील तय करनेके पहले ही आँच अत्यन्त भयंकर हो जानी चाहिये। यह आँच जटायु न सह सका, लौट आया। सम्पाती बढ़ा तो कुछ आगे जाकर उसके पर झुलस गये।

(२) यदि हम यह मानें कि इन पक्षियोंका वेग ऐसा असाधारण न रहा होगा, तो साधारण वेगसे भी पृथ्वीके वायुमंडलकी अत्यन्त क्षीण दशामें दस बीस मील ऊपर पहुँचनेपर इतना अधिक शीतका मुकाबला होता है कि उससे वही अनुभव होता है जो प्रचंड तापसे। शरीर जल जाता है। तापकी अत्यन्त कमीसे शरीरकी रक्तवाहिनियाँ फट जाती हैं, रक्त निकल जाता है और शरीर सूख जाता है। नाड़ीमंडल एक बार स्तब्ध वा मृत हो गया तो फिर प्राणीका पृथ्वीपर गिरकर मर जानेके सिवा और गति नहीं है। सम्पातीकी भी यही दशा हुई और वह धरतीपर जीवशेष होकर गिरा। इन रामदासों वानरोंको देखकर उसका नाड़ीमंडल पुनरुज्जीवित हो गया और बाजू फिरसे कामके हो गये।

**मुनि एक नाम चंद्रमा ओही। लागी दया देखि करि मोही ॥५॥**
**बहु प्रकार तेहिं ज्ञान सुनावा। देह जनित अभिमान छुड़ावा ॥६॥**

अर्थ—वहाँ एक मुनि थे जिनका चन्द्रमा नाम था। मुझको देखकर उनको दया लगी। (संत कोमलचित और दयालु होते ही हैं; यथा—'नारद देखा बिकल जयंता। दया लागि कोमल चित संता' ।५। उन्होंने बहुत प्रकारसे ज्ञान सुनाया और देहजनित (देहसे उत्पन्न) अभिमानको छुड़ाया ।६।

नोट—१ चन्द्रमा ऋषि अत्रिजीके पुत्र हैं; आत्रेय और निशाकर भी इनका नाम है। अध्यात्ममें चन्द्रमा नाम दिया है, यथा—'बोधयामास मां चन्द्रनामा मुनिकुलेश्वरः ।८।५३।' और वाल्मीकीयमें 'निशाकर'

नाम है। अर्थ दोनोंका एकही है, जैसे सुग्रीव और सुकण्ठ, कुंभज और घटयोनी, इत्यादि। चन्द्रमा ऋषिका हाल नोट ३ में है।

नोट—२ 'लागी दया देखकर मोही' से अ० रा० के 'चन्द्रमा नाम मुनिराड्दृष्ट्वा मां विस्मितोऽवदत्। सम्पाते किमिदं तेऽद्य विरूपं केन वा कृतम् ।८। जानामि त्वामहं पूर्वमत्यन्तं बलवानसि। दग्धौ किमर्थं ते पक्षौ कथ्यतां यदि मन्यसे ।९। सर्ग ८।....इत्युक्तोऽथ मुनिर्वीक्ष्य मां दयार्द्रविलोचनः ।११।' इन श्लोकोंका भाव जना दिया है। अर्थात् वहाँ चन्द्रमा नामके ऋषि रहते थे। उन्होंने मुझे देखकर विस्मय पूर्वक कहा—सम्पाते! तुम्हें इस प्रकार विरूप किसने कर दिया? मैं तुम्हें जानता हूँ, तुम तो बलवान् हो, फिर तुम्हारे पंख कैसे जल गए? यदि ठीक समझो तो अपना वृत्तान्त कहो। मेरे सब वृत्तान्त कहनेपर मुनिवर दयावश नेत्रोंमें जल भरकर मेरी ओर देखते हुए बोले।

टिप्पणी १—दया लगी तब ज्ञान सुनाया। तात्पर्य यह कि गृध्र ज्ञानका अधिकारी नहीं था, मुनिने दयाके कारण इसे ज्ञान सुनाया। [वाल्मीकिजी लिखते हैं कि मुनिने रामजन्मसे लेकर यहाँ तककी भविष्य कथा कही और अध्यात्ममें शरीरकी उत्पत्तिकी कथाका कहना लिखा है। अन्य ऋषियोंने अन्य प्रकारका ज्ञान सुनाना लिखा है। अतएव 'बहु प्रकार' पद देकर कविने यहाँ सबका मत कह दिया। २—देहका अभिमान छुड़ाया। अर्थात् कहा कि देहसे आत्मा भिन्न है, इसीसे आत्माको दुःख नहीं है। देह जड़ है, इससे इसको दुःख नहीं है। दुःख है देहाभिमानी होनेसे।

नोट—३ मिलान कीजिए—'देहमूलमिदं दुःखं देहः कर्मसमुद्भवः ।१२। कर्म प्रवर्तते देहेऽहंबुद्ध्या पुरुषस्य हि। अहंकारस्त्वनादिःस्यादविद्यासंभवो जडः ।१३। चिच्छायया सदा युक्तस्तप्तायः पिण्डवत्सदा। तेन देहस्य तादात्म्याद्देहश्चेतनवान्भवेत् ।१४। देहोऽहमिति बुद्धिः स्यादात्मनोऽहंकृतेर्बलात्। तन्मूल एष संसारः सुखदुःखादिसाधकः ।१५। आत्मनो निर्विकारस्य मिथ्या तादात्म्यतः सदा। देहोऽहं कर्मकर्ताहमिति संकल्प्य सर्वदा ।१६। जीवः करोति कर्माणि तत्फलैर्बद्ध्यतेऽवशः। ऊर्ध्वाधो भ्रमते नित्यं पापपुण्यात्मकः स्वयम् ।१७। कृतं मायाधिकं पुण्यं यज्ञदानादि निश्चितम्। स्वर्गं गत्वा सुखं भोक्ष्ये इति संकल्पवान् भवेत् ।१८। तथैवाध्यासतस्तत्र चिरं भुक्त्वा सुखं महत्। क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कर्मचोदितः ।१९। पतित्वा मण्डले चेंदोस्ततो नीहारसंयुतः। भूमौ पतित्वा व्रीह्यादौ तत्र स्थित्वा चिरं पुनः ।२०।....(इसके बाद श्लोक ४१ तक वही गर्भाधान, पिंड, जन्मादिकी कथा है जो विनयपद १३६ 'राम सनेही सों तैं न सनेह कियो' एवं भागवतमें कपिलदेवजीने मातासे कही है और पूर्व लिखी जा चुकी है)....एवं देहोऽहमित्यस्मादभ्यासान्निरयादिकम्। गर्भवासादिदुःखानि भवंत्यभिनिवेशतः ।४२। तस्माद्देहद्वयादन्यमात्मानं प्रकृते परम्। ज्ञात्वा देहादि ममतां त्यक्त्वात्मज्ञानवान् भवेत् ।४३। जाग्रदादि विनिर्मुक्तं सत्यज्ञानादिलक्षणम्। शुद्धं बुद्धं सदा शांतमात्मानमवधारयेत् ।४४। चिदात्मनि परिज्ञाते नष्टे मोहेऽज्ञसंभवे। देहः पततु प्रारब्धकर्मवेगेन तिष्ठतु ।४५। योगिनो न हि दुःखं वा सुखं वाज्ञानसंभवम्। तस्माद्देहेन सहितो यावत् प्रारब्धसंचयः ।४६। तावत्तिष्ठ सुखेन त्वं धृतकंचुकसर्पवत्।' (अध्यात्म ८)। अर्थात् यह देह दुःखकी जड़ है, देहकी जड़ कर्म है। कर्मकी जड़ अहंकार है। अहंकारकी जड़ अविद्या है। अहंकार चित्के साथ तप्तलोहपिण्डके समान संयुक्त है। इन दोनोंका तादात्म्य होनेसे देहमें चैतन्य भासता है, यही संसार है जो कि अविद्यामूलक है, पाप और पुण्यके फेरमें जीवात्मा मारा-मारा फिरता है। मैं सुख तथा दुःखवाला हूँ, यह प्रतीति भी अध्यासकृत है। सुख भोगनेके लिए धर्मके कारण जीव स्वर्गलोकमें जाता है, पुण्यक्षय हो जानेपर चन्द्रमंडलमें आ पड़ता है, फिर व्रीह्यादि द्वारा वीर्य और रजमें आकर चतुर्विध भौतिक शरीरोंमेंसे कोई एक शरीर ग्रहण करता है। इत्यादि ॥ (१२-२०)।

'मैं देह हूँ' इस अभ्याससे निरय (नरक) की प्राप्ति और गर्भवासदि दुःख होते हैं। इसलिए देहादिकी ममता छोड़कर आत्मज्ञान-सम्पादन करना चाहिए। शुद्ध, बुद्ध, शान्तस्वरूप आत्माकी भावना

किया करे, चिदात्माके ज्ञान होनेपर मोह नष्ट हो जाता है, फिर देह चाहे रहे, या न रहे ज्ञानीको सुख या दुःख नहीं होता, अतः केंचुलीवाले साँपकी तरह उससे (देहसे) दुःख या सुख न मानता हुआ रहा कर।

नोट—४ वाल्मी० ६०, ६३ में कथा इस प्रकार है—संपातीने वानरोंसे कहा कि मैं इस विन्ध्यपर्वतपर आकर गिरा जो दक्षिणसमुद्रके तीरपर है। यहाँ देवताओंसे भी पूजित एक पवित्र आश्रम था जिसमें निशाकर नामक उग्र तपस्वी ऋषि रहते थे। शिखरसे कष्टके साथ मैं उतरकर उस आश्रममें जाकर वृक्षके नीचे बैठ गया और मुनिकी प्रतीक्षा करने लगा....स्नान किए हुए वे आते देख पड़े; भालु, बाघ, सिंह और रेंगकर चलनेवाले जन्तु उनके साथ साथ आते थे जैसे दाताके साथ याचक। आश्रमपर पहुँचनेपर वे जन्तु लौट गए। उन्होंने मुझे देखा तो दया आई और बोले कि तुमको मैं पहचानता हूँ, तुम दो भाई हो, संपाती और जटायू। गृध्रोंके राजा हो और कामरूप हो। तुमने मनुष्यरूप धरकर मेरी चरणसेवा की थी।—'गृध्राणां चैव राजानौ भ्रातरौ कामरूपिणौ।१९।...मानुषं रूपमास्थाय गृहीतौ चरणौ मम।२०।' (सर्ग ६०)। तुम्हें क्या रोग हो गया, पंख कैसे गिर वा जल गए सो कहो। मैंने उनसे हाल कहा कि गर्वसे मोहित होकर मैं और जटायु परस्पर जीतनेकी इच्छा रखते थे। पराक्रमका पता लगानेके लिए आकाशमें बहुत दूर तक उड़े, कैलाशपर मुनियोंके सामने हमलोग पण करके उड़े थे कि अस्ताचलतक सूर्यका पीछा करेंगे....बहुत ऊँचेपर पहुँचा कि जहाँसे पृथ्वी तालाबमें हाथीके समान देख पड़ती थी....तब मूर्छा आने लगी, बड़े प्रयत्नसे मैंने सूर्यमें अपना मन और नेत्र लगाकर देखा तो वे पृथ्वीके समान विशाल देख पड़े....असावधानीसे मैं जल गया, मेरे पंख जल गए, मैं विन्ध्यपर गिरा। राज्य, भाई, पक्ष और पराक्रमसे हीन अब मैं पर्वतसे गिरकर मरना चाहता हूँ। (सर्ग ६१)। यह सुनकर ऋषिने ध्यान किया और मुझसे कहा कि तुम्हारे पंख जमेंगे, इत्यादि (रामजन्मसे यहाँतक की कथा कही)। यह भी बताया कि इन्द्रने दुःखिनी सीताको जाकर पायस खिलाया। और मुझे यह आज्ञा दी कि यहाँसे कहीं मत जाना, समयकी प्रतीक्षा करो। तुमको आजही मैं सपक्ष कर दूँ, यह इच्छा होती है तो भी इसलिए मैं ऐसा नहीं करता कि तुम यहाँ रहकर अधिक लोक-कल्याण कर सकोगे।—'उत्सहेयमहं कर्तुमद्यैव त्वां सपक्षकम्। इहस्थस्त्वं हि लोकानां हितं कार्यं करिष्यसि'—(६२।१३)। यहाँ रहकर दोनों राजपुत्रोंका कार्य करना, ब्राह्मण, गुरुओं, मुनियों और इन्द्रका भी कार्य करना। इस तथा अनेक वाक्योंसे मुझे समझाया। मेरे मनमें आत्मघात करनेकी इच्छा हुई थी, वह मुनिकी आज्ञासे मैंने छोड़ दी। प्राणोंकी रक्षाके लिए जो बुद्धि मुनिने दी थी, उसीसे मेरे सब दुःख दूर होते हैं। (सर्ग ६३)।

**त्रेता ब्रह्म मनुज तनु धरिही। तासु नारि निसिचरपति हरिही॥ ७॥**
**तासु खोज पठइहि प्रभु दूता। तिन्हहिं मिले तैं होब पुनीता॥ ८॥**
**जमिहहिं पंख करसि जनि चिंता। तिन्हहिं देखाइ देहेसु तैं सीता॥ ९॥**
**मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू। सुनि मम बचन करहु प्रभु काजू॥१०॥**

अर्थ—(ऋषिने कहा था कि) 'त्रेतायुगमें ब्रह्म मनुष्य-शरीर धारण करेंगे। उनकी स्त्रीको निशिचरराज हरण करेगा।७। उसकी खोजमें प्रभु दूत भेजेंगे। उनके मिलनेपर तू पवित्र हो जायगा।८। तेरे पक्ष जमेंगे। चिंता न कर। तू उनको सीता दिखा देना'।९। मुनिकी वाणी आज सत्य हुई; मेरा वचन सुनकर प्रभुका कार्य करो।१०।

नोट—१ 'त्रेता ब्रह्म मनुज तनु धरिही।....' इति। अ० रा०में भी ऐसा ही कहा है। यथा—'त्रेतायुगे दाशरथिर्भूत्वा नारायणोऽव्ययः।८।४८।' आगेकी बातें वाल्मी० और अ० रा० दोनोंमें हैं। भेद इतना अवश्य है कि मानसमें समागम होनेपर पंखोंका जम आना प्रथम कहा है और सीताजीको दिखा देना, पीछे। और अ० रा० तथा वाल्मी० में प्रथम सीताजीका पता बतानेकी बात कही है, तब पंख जमनेकी। यथा—'तदा सीतास्थितिं तेभ्यः कथयस्व यथार्थतः। तदैव तव पक्षौ द्वावुत्पत्स्येते पुनर्नवौ। अ० रा० ८।५२।'

टिप्पणी—१ (क) 'त्रेता' पदसे पाया गया कि यह वृत्तान्त (उस) सत्ययुगका है (जिसके आगेके त्रेतायुगमें श्रीरामवतार हुआ)। (ख) मुनिने बाल, अरण्य और किष्किंधाकी कथा कही। 'ब्रह्म त्रेतामें मनुज तन धरेंगे', यह बालकांड हुआ, अयोध्यामें भरत-चरित है इससे उसे न कहा। 'नारि निसिचरपति हरेगा' यह अरण्य और 'खोजके लिए दूत भेजेंगे' यहाँसे 'तू पुनीत होगा००' तक जो मुनिने कहा यह किष्किंधाकांड है। वही कथा संपातीने वानरोंसे कही।

२ 'पठइहि प्रभु दूता'। प्रभुका भाव कि वे समर्थ हैं, सब जानते हैं पर राजनीतिकी मर्यादा रखनेके लिए दूत भेजेंगे। [प्र०—भाव कि तुमने सूर्यापराध किया और वे सूर्यवंशभूषणके दूत हैं, अतः उनके मिलनेसे पवित्र होगे।]

३ 'करसि जनि चिंता' से जनाया कि वह चिन्तित था कि बिना पक्षके निर्वाह कैसे होगा। ('इच्छन्पतिष्ये शिखराद्गिरेः। वाल्मी० ६१।१७।', 'दह्येहं दाववह्निना। अ० रा० ८।१०। कथं धारयितुं शक्तो विपक्षो जीवितं प्रभो।११।' से उसकी चिन्ता स्पष्ट है। उसने मुनिसे कहा था कि मैं पर्वतपरसे गिरकर मरनेकी इच्छा करता हूँ। मैं दावाग्निमें जलकर भस्म हो जाऊँगा। बिना पक्षोंके जीवन कैसे धारण कर सकता हूँ?) मुनिने उससे प्रथम कहा कि चिन्ता न कर, तब श्रीसीताजीको दिखानेको कहा। भाव यह है कि प्रथम तेरा कार्य होगा, तेरे पक्ष जमेंगे तब तू दिखाना। इसीलिए मुनिने उसको वहीं रक्खा, नहीं तो मुनिमें सामर्थ्य थी कि उसी समय पखने जमा देते। २८ (५-६) का नोट ४ देखिए। (प्र०—चिंता यह कि इतना काल कैसे बीतेगा।)

प० प० प्र०—यहाँ तुकान्तमें विषमता दिखाकर बताते हैं कि जो 'कपि चंचल सब ही बिधि हीना' इत्यादि हैं वे रामसेवासे कैसे हो गए। तुम भी यह रामसेवा करोगे तो 'गीध अधम खग आमिष भोगी' होनेपर भी तुम भी पुनीत हो जाओगे। इस आश्चर्यमें संदेह नहीं है। भाव यह कि देह किसी भी उच्च या नीच योनिकी क्यों न हो, रामसेवक बन जानेसे वह संत ही है।

टिप्पणी—४ (क) गिरा सत्य हुई अर्थात् तुम मिले, मेरे पंख जमे। 'आजु' अर्थात् मैं आशा करता रहा हूँ कि कब मुनिवाक्य सत्य होगा. आज वह सत्य हुआ। मुनिगिरा मुझको सत्य हुई तो तुमको भी अवश्य होगी, तुमको सीता मिलेंगी, तुम प्रभुका कार्य करो। (ख) 'सुनि मम बचन'-भाव कि मेरा वाक्य सत्य है, मुझे ज्ञानके द्वारा देख पड़ता है कि तुम सीताजीको देखकर लौटोगे। अतः वचनपर विश्वास करो। पुनः, वे 'प्रभु' हैं वे तुमको अपने कार्यके लिए सामर्थ्य देंगे। (ग) पूर्व जो कहा था कि वचनसे सहायता करूँगा वह अब आगे कहते हैं।

नोट—२ वाल्मीकिजी लिखते हैं कि ये बातें वानरोंको सुनाते-सुनाते उसके पंख जम आए। यह देख गृध्र प्रसन्न होकर बोला कि राजर्षि निशाकरकी कृपासे सूर्यसे दग्ध भी पंख फिर प्राप्त हो गए। अतः संसारमें अप्राप्य कुछ नहीं है। तुम यत्न करो, अनुमित है कि तुम्हारे कार्यकी सिद्धि अवश्य होगी। यथा 'निशाकरस्य राजर्षेः प्रसादादमितौजसः। १०। आदित्यरश्मिनिर्दग्धौ पक्षौ पुनरुपस्थितौ।....सर्वथा क्रियतां यत्नः सीतामधिगमिष्यथ। १२। पक्षलाभो ममायं वः सिद्धिप्रत्ययकारकः। इत्युक्त्वा तान्हरीन्सर्वान्संपातिः पतगोत्तमः। १३।' (वाल्मी० ६३)।

गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका। तहँ रह रावन सहज असंका॥ ११॥
तहँ असोक उपवन जहँ रहई। सीता बैठि सोचरत अहई॥ १२॥

दोहा—मैं देखउँ तुम्ह नाहीं गीधहि दृष्टि अपार।
बूढ़ भएउँ न त करतेउँ कछुक सहाय तुम्हार॥ २८॥

अर्थ—त्रिकूटाचलपर† लंका वसी है। (स्वाभाविक ही निडर) रावण वहाँ सहजही निःशंक रहता है। (वहाँका राजा है)।११। वहाँ अशोकका उपवन है जहाँ श्रीसीताजी शोचमें डूबी बैठी रहती हैं [ वा, सीताजी रहती हैं। वे सोचमें (इस समय भी) निमग्न बैठी हैं ।]।१२। मैं देख रहा हूँ, तुम नहीं देख सकते; क्योंकि गृध्रकी दृष्टि बहुत बड़ी होती है। मैं बुड्ढा हो गया, नहीं तो कुछ तुम्हारी सहायता करता। २८।

टिप्पणी—१ (क) पर्वतपर लंका वसी है। इस कथनसे गिरिदुर्गकी श्रेष्ठता दिखाई। (ख) 'सहज असंक' है अर्थात् किलेके भरोसे अशंक नहीं है, किन्तु अपने पुरुषार्थके भरोसे निश्शंक है। [वाल्मीकीयमें लिखा है कि जाम्बवंतने संपातीसे पूछा था कि रावण कहाँ रहता है और श्रीजानकीजी कहाँ हैं। इसीसे उसने दोनोंका ठिकाना बताया। यथा—'जाम्बवान्वानरश्रेष्ठः सह सर्वैः प्लवंगमैः। भूतलात्सहसोत्थाय गृध्रराजानमब्रवीत् । २ । क्व सीता केन वा दृष्टा को वा हरति मैथिलीम्। तदाख्यातु भवान्सर्वं गतिर्भव वनौकसाम्। ३।' (सर्ग ५६)। अर्थात् वानरश्रेष्ठ जाम्बवान सारे वानरोंके साथ पृथ्वीपरसे सहसा उठकर गृध्रराजसे बोले—कृपया आप सब स्पष्ट कहिए कि सीता किसने देखी, कौन हर ले गया, इत्यादि। गोस्वामीजीने यहाँ जाम्बवंतका प्रश्न नहीं लिखा; गृध्रका उत्तर लिखकर प्रश्न भी जना दिया है। 'सहज असंका', यथा—'सहज असंक सुलंकपति सभा गयउ मति अंध', 'सुनासीर सत सरिस सोइ संतत करै बिलास। परम प्रबल रिपु सीस पर तद्यपि सोच न त्रास।' (लं० १०)]

२ (क) 'तहँ असोक उपवन....' से जनाया कि अशोकवन भी उन्हें अशोक न कर सका। [इसमें यह भी ध्वनित है कि रावणके प्रलोभन एवं दंड भय आदि सब निष्फल हुए। यथा—'सा च कामैः प्रलोभ्यन्ती भक्ष्यैर्भोज्यैश्च मैथिली। न भोक्ष्यति महाभागा दुःखमग्ना यशस्विनी। वाल्मी० ६२।७।']। (ख) रावणको लंकापुरीमें बताया और श्रीसीताजीको अशोकके उपवनमें, इस भेदसे जना दिया कि जहाँ रावण है वहाँ श्रीजानकीजी नहीं हैं। 'बैठि अहई' से जनाया कि सदा बैठीही रहती हैं, यथा—'देखि मनहि महुँ कीन्ह प्रनामा। बैठेहिं बीति जात निसि जामा। ५। ८। ७।' (ग)—'कछुक सहाय' अर्थात् वृद्धावस्था न होती तो ४०० कोस जाकर खबर ले आता, कुछ बड़ी बात न थी।

नोट—१ वाल्मी० ५८ में संपातीने 'मैं देखउँ तुम्ह नाहीं गीधहिं दृष्टि अपार' को यों कहा है कि—आकाशका पहला मार्ग कुलिंग पक्षियोंका है और अन्न खानेवाले कबूतरोंका, उससे ऊपरका मार्ग वृक्ष-फल खानेवालों एवं काकादि पक्षियोंका है। इसके ऊपरवाला मार्ग क्रौंच, कुररी, भास आदि पक्षियोंका है। उसके ऊपर चौथे मार्गसे बाज, और पाँचवें मार्गसे गृध्र जाते हैं; उसके ऊपर हंसोंका मार्ग है फिर गरुड़का। हम लोगोंका जन्म वैनतेयसे है। इसलिए हमको भी गरुड़के समान देखनेकी शक्ति है। भोजनके बल तथा स्वभावसे ४०० कोश और उससे आगे तक देख सकते हैं। हम लोगोंकी वृत्ति दूरसे देखी वस्तुसे ही होती है ऐसा ही विधान है। अतएव मैं यहींसे जानकीजीको देख रहा हूँ। यथा—'वैनतेयाच्च नो जन्म सर्वेषां वानरर्षभाः।२७। इहस्थोऽहं प्रपश्यामि रावणं जानकीं तथा। अस्माकमपि सौपर्णं दिव्यं चक्षुर्बलं तथा। २६। तस्मादाहारवीर्येण निसर्गेण च वानराः। आयोजनशतात्साग्राद्वयं पश्याम नित्यशः।३०।' पुनः, यथा अध्यात्मे—'समुद्रमध्ये सा लंका शतयोजनदूरतः। दृश्यते मे न संदेहः सीता च परिदृश्यते। ५२। गृध्रत्वाद्दूरदृष्टिर्मे नात्र संशयितुं क्षमम्'—(सर्ग ७।५२, ५३)। 'कछुक सहाय' का भाव कि वृद्ध हो गया हूँ नहीं तो जाकर खबर ले आता, तुम्हें वहाँ पहुँचा देता, इत्यादि।

---

† हिन्दी शब्द सागरमें त्रिकूटके विषयमें यह अर्थ लिखे हैं—१ तीन शृङ्गवाला पर्वत। २—वह पर्वत जिसपर प्राचीन लंका वसी हुई मानी जाती है। देवी-भागवतके अनुसार यह एक पीठ स्थान है और यहाँ रूपसुन्दरीके रूपमें भगवती निवास करती हैं,—'गिरि त्रिकूट एक सिंधु मँझारी। बिधिनिरमित दुर्गम अति भारी।' ३—एक कल्पित पर्वत जो सुमेरुका पुत्र माना जाता है, वामनपुराणके अनुसार यह क्षीरोद-समुद्रमें है जहाँ देवर्षि रहते हैं और विद्याधर, किन्नर गंधर्वादि क्रीड़ार्थ आते हैं। नास्तिकों और पापियोंको यह नहीं दिखाई देता'।—(इस तीसरेसे यहाँ तात्पर्य नहीं है)।

जो नाँघै सत जोजन सागर। करै सो रामकाज मति आगर ॥१॥
मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा। राम कृपा कस भएउ सरीरा ॥२॥
पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं। अति अपार भवसागर तरहीं ॥३॥
तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। रामु हृदय धरि करहु उपाई ॥४॥

अर्थ—जो चारसौ कोशका समुद्र लाँघे और बुद्धिका स्थान (बुद्धिमान्) हो वह रामकार्यको करे। (अर्थात् जो बल और बुद्धि दोनोंमें पूरा हो वही कर सकता है) ।१। मुझे देखकर मनमें धीरज धरो (अर्थात् यह प्रत्यक्ष प्रमाण रामकृपाके प्रभावका है। अपनी आँखों देख रहे हो कि तुम्हारे देखते देखते मैं कैसाका कैसा हो गया देखो) श्रीरामजीकी कृपासे मेरा शरीर कैसा हो गया ।२। पापी भी जिसका नाम स्मरण करके अत्यन्त अपार भवसागरके पार हो जाते हैं, तुम उनके दूत हो, कादरपन छोड़कर श्रीरामजीको हृदयमें रखकर उपाय करो ।३-४।

टिप्पणी—१ 'जो नाघै सतजोजन....' इति। (क) प्रथम संपातीने सबसे रामकार्य करनेको कहा, यथा—'सुनि मम वचन करहु प्रभु काजू'। अब कहते हैं कि इतने वानरोंमेंसे जो ४०० कोशका समुद्र लाँघे वही रामकार्य करे· अर्थात् अब एकहीको करनेको कहते हैं। अर्थात् बताया कि प्रभुकार्य करनेका पात्र कौन हो सकता है। (ख) प्रथम कहा कि त्रिकूटाचलपर लंका है, अब उसका ठिकाना बताते हैं कि सौ-योजन समुद्रपार है। (ग) 'सतजोजन' का भाव कि यदि यह न बताते तो संदेह रहता कि किस समुद्रके पार है क्योंकि सागर तो सभी समुद्रोंको कहते हैं।

नोट—१ 'सागर' पदमें यह भी ध्वनि है, कि जिसे रघुवंशी राजा सगरके पुत्रोंने खोदा है वह लाँघनेमें अवश्य सहायता करेगा। और हुआ भी ऐसा ही, यथा—'जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रमहारी'। 'करै सो रामकाज' से जनाया कि 'राम' का काम है, वे स्वयं सहायक होंगे और बुद्धि देंगे, तुम क्यों घबड़ाते हो, करनेको उद्यतभर हो जाओ। (पं०)। २—'धरहु मन धीरा' से जनाया कि सबका हर्ष जाता रहा था। यथा हनुमानबाहुके—'राम को सनेह राम, साहस लषन, सिय रामकी भगति सोच संकट निवारिये। मुद मरकट रोग बारिनिधि हेरि हारे जीव जामवंतको भरोसो तेरो भारिये।'

टिप्पणी—२ (क) 'मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा' इस कथनसे सिद्ध होता है कि शतयोजन सागर सुनकर वानरोंके हृदयमें कादरपन आ गया, उनका कलेजा काँप उठा और धैर्य जाता रहा था। यह लखकर उसने ये वचन कहे कि धीरज धरो, कायरता छोड़ो। (ख) 'रामकृपा कस भएउ सरीरा' इति। इससे जनाया कि ये बातें करते-करते उसके दोनों पक्ष जम आए। यथा 'तस्य त्वेवं ब्रुवाणस्य संहतैर्वानरैः सह। वाल्मी० ६३।८। उत्पेततुस्तदा पक्षौ समक्षं वनचारिणाम्।....'। तब उसने वानरोंका उत्साह बढ़ानेके लिये कहा कि मेरे पक्षोंका पुनः जम आना तुम लोगोंकी कार्यसिद्धिका विश्वास दिलानेवाला है। तुम लोग प्रयत्न करो अवश्य सीताजीको पाओगे। यथा—'सर्वथा क्रियतां यत्नः सीतामधिगमिष्यथ। पक्षलाभो ममायं वः सिद्धिप्रत्ययकारकः। (६३।१२-१३)

३ 'पापिउ जाकर नाम....' इति। (क) अपना प्रत्यक्ष प्रमाण देकर फिर शब्दप्रमाण दिया कि 'पापिउ जाकर नाम०'। पापी नामस्मरण करके भवपार होते हैं, यह बात प्रत्यक्ष नहीं है पर वेदपुराणादिमें है, वे ही प्रमाण हैं। 'पापिउ'=पापीभी, ऐसा कथनका भाव कि वे भवपार होनेमें अत्यन्त असमर्थ हैं। 'अति अपार भवसागर' का भाव कि ऐसे अपारको पापीभी पार कर जाते हैं तब तुमको सौ योजन समुद्र पार करना क्या है? [मिलान कीजिये—(अध्यात्म सर्ग ८)—'स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि सीतान्द्रक्ष्यथ-निश्चयम्। यत्नं कुरुध्वं दुर्लङ्घ्य समुद्रस्य विलंघने ।५४। यन्नामस्मृतिमात्रतोऽपरिमितं संसारवारान्निधिं, तीर्त्वा गच्छति दुर्जनोऽपि परमं विष्णोः पदं शाश्वतम्। तस्यैव स्थितिकारिणस्त्रिजगतां रामस्य भक्ताः प्रिया, यूयं किं न समुद्रमात्रतरणे शक्ताः कथं वानराः ।५५।' अर्थात्—तुम्हारा कल्याण हो, तुम निश्चित ही

श्रीसीताजीको प्राप्त कर लोगे। समुद्रके उल्लंघनका यत्न करो। जिस भगवान्‌की कृपासे दुर्जन भी संसार-सागरको पार कर लेता है, क्या उसके ही सेवक तुम (वानर) समुद्रको पार न कर लोगे? अवश्य करोगे]

४ (क) 'तासु दूत तुम्ह तजि कदराई'। भाव कि पापीसे और प्रभुसे कुछ सम्बन्ध नहीं है तो भी प्रभुका नाम लेकर वह भवपार होता है और तुम तो उनके दूत हो। कादरपनके रहनेसे कार्य सिद्ध नहीं होता, अतः उसका त्याग कहा। (ख) 'राम हृदय धरि' का भाव कि जिनके प्रतापसे मेरे पक्ष जमे, जिनके स्मरणसे पापी तरते हैं, उनका स्मरण करके उपाय करनेसे कार्य सिद्ध होगा [यहाँ 'काव्यार्थापत्ति'की ध्वनि है-(वीर)]

☞ 'इहाँ विचारहिं कपि मन माहीं' से यहाँतक 'संपाती मिलन प्रसंग' है।

## 'सुनि सब कथा समीर कुमारा'—प्रकरण

असि कहि गरुड़ * गीध जब गयऊ। तिन्ह के मन अति बिसमय भयऊ ॥५॥
निज निज बल सब काहू भाषा। पार जाइ कै † संसय राखा ॥६॥
जरठ भयउँ अब ‡ कहै रिछेसा। नहिं तन रहा प्रथम बललेसा ॥७॥
जबहिं त्रिबिक्रम भए खरारी। तब मैं तरुन रहेउँ + बल भारी ॥८॥

**दोहा—बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ सो तनु बरनि न जाइ।**
**उभय घरी महँ दीन्ही सात प्रदच्छिन धाइ ॥२९॥**

अर्थ—हे गरुड़! इस प्रकार कहकर जब गृध्र चला गया, तब उन सब वानरोंके मनमें अत्यन्त विस्मय प्राप्त हुआ (भाव कि सीताजीके न मिलनेसे विस्मय था ही, अब समुद्र-उल्लंघन कैसे होगा यह अति विस्मयदायक हुआ)।५। अपना अपना बल सबने कहा, (पर) सबने समुद्र पार कर जानेमें संदेह ही प्रकट किया।६। ऋक्षराज जाम्बवंतने कहा कि अब मैं बुड्ढा हो गया, शरीरमें पहलेवाले बलका लेश भी नहीं रह गया (अर्थात् यह कार्य कुछ न था, हमारे युवावस्थाके बलके लेशमात्रसे ही हो जाता। पर अब उतना भी बल नहीं रह गया)।७। जब खरारी (खरके शत्रु) भगवान् वामनरूप हुए, तब हमारी तरुण अवस्था (युवावस्था) थी, और भारी बल था।८। बलिके बाँधनेके समय प्रभु जो बढ़े उस शरीरका वर्णन नहीं हो सकता। मैंने दो घड़ीमें (उस शरीरकी) सात परिक्रमाएँ दौड़कर कर लीं (ऐसा मेरा बल था)।२९।

नोट—१ (क) 'गरुड़' संबोधनसे यहाँ भुशुंडिगरुड़ संवाद जनाया। गरुड़ पाठ सहेतुक है। गृध्र संपाती और गरुड़ एक वंशके हैं। अरुण और गरुड़ भाई हैं। संपाती और जटायु अरुणके पुत्र हैं। 'उमा' पाठ किसी-किसीने दिया है। (ख) 'अति बिसमय भयऊ' यथा—'संकुलं दानवेन्द्रैश्च पातालतलवासिभिः। रोमहर्षकरं दृष्ट्वा विषेदुः कपिकुञ्जराः। वाल्मी० ६४।६। आकाशमिव दुष्पारं सागरं प्रेक्ष्य वानराः। विषेदुः सहिताः सर्वे कथं कार्यमिति ब्रुवन्।७।' अर्थात् दानवेन्द्रों और पातालवासियोंसे भरे हुए भयावने और आकाशके समान पार करनेके अयोग्य समुद्रको देखकर वानरश्रेष्ठ बहुत दुःखी हुए और विचार करने लगे कि क्या किया जाय। यथा-'बनचर बिकल बिषाद बस देखि उदधि अवगाह। (श्रीरामाज्ञा प्रश्न)।

पंजाबीजीका मत है कि विस्मय हुआ कि इसे सीताजी यहींसे देख पड़ती हैं, हम भी विशाल हैं पर हमें नहीं देख पड़तीं। (पर यहाँ प्रसंग उल्लंघनका है)।

२ 'निज निज बल सब काहू भाषा।....' इति। (क) सबके मन अत्यन्त विस्मित हो गए; यह कहकर सबका अपना अपना बल कहनेका उल्लेख होनेसे यह शंका उठती है कि क्या सब अपने आप अपना अपना बल कहने लगे? ऐसा होना तो अस्वाभाविक सा जान पड़ता है? समाधान यह है कि अन्य रामा-

* उमा—(ना० प्र०)। † कर-(ना० प्र०), गी० प्रे०। ‡ अस-(भा० दा०)। + रहेउँ (भा० दा०)।

यणोंमें जो इसके बीचमें कहा है उसको मानस-कविने संक्षेपसे 'निज निज बल....' इतने शब्दोंसे ही सूचित कर दिया है। सेनाको विषादयुक्त देखकर अङ्गदजीने सबको धैर्य दिलाते हुए कहा—'आप लोगोंको विषाद नहीं करना चाहिए। विषादमें बड़े बड़े दोष हैं। यह पुरुषोंको वैसे ही मार डालता है जैसे क्रुद्ध सर्प बालक को। उद्योगके समय जो विषाद करता है उसका तेज नहीं रह जाता और उससे मनोरथ सिद्ध नहीं होते। तत्पश्चात् ( दूसरे दिन सवेरे ) उन्होंने वानरोंसे कहा—'कौन महातेजस्वी इस महासमुद्रको पार करेगा ? कौन सुग्रीवको सत्यप्रतिज्ञ करेगा ? कौन समुद्रको लाँघकर यूथपोंको भयसे छुड़ावेगा ? किसकी कृपासे श्रीसीताजीका पता लगाकर और सुखी होकर हम लोग लौटकर स्त्री पुत्र घर देखेंगे ? जो समर्थ हो वह शीघ्र हम लोगोंको अभयदान दे। ( जब कोई न बोला, सब चुप रहे तब फिर अङ्गदने कहा ) आप सब दृढ़-पराक्रमी हैं, आपमेंसे किसीको पार जानेमें बाधा न होगी। अतएव इस कार्यको सिद्ध करनेके लिए आप सब अपनी अपनी शक्तिका वर्णन करें। ( वाल्मी० ६४।७-२२ ) तब सबने अपना अपना बल कहा।

टिप्पणी—१ (क) 'सब काहू भाषा', इस कथनसे प्रमाण न रहा कि कितने वानरोंने अपना बल कहा और क्या क्या बल कहा। 'पार जाइ कै संसय राखा' से प्रमाण हो गया कि सौ योजन समुद्र है, इसीके पार करनेका संशय है। प्रथम सब वानरोंने अपना अपना बल कहा, तब जाम्बवंतने अपना बल कहा, फिर अङ्गदने कहा; इससे यह निश्चय हुआ कि जब अङ्गदने अंतमें सौ योजन जानेको कहा तब जाम्बवंतने ९० और अन्य वानरोंने ८० योजन तक जानेका सामर्थ्य कहा होगा। वाल्मी० सर्ग ६५ में सबका अपना अपना बल कहनेका प्रमाण है। यथा 'गजो गवाक्षो गवयः शरभो गन्धमादनः। मैन्दश्च द्विविदश्चैव अङ्गदो जाम्बवांस्तथा। २। आबभाषे गजस्तत्र प्लवेयं दशयोजनम्। गवाक्षो योजनान्याह गमिष्यामीति विंशतिम्। ३। शरभोवानरस्तत्र वानरांस्तानुवाच ह। त्रिंशतं तु गमिष्यामि योजनानां प्लवङ्गमाः। ४। ऋषभो वानरस्तत्र वानरांस्तानुवाच ह। चत्वारिंशद्गमिष्यामि योजनानां न संशयः। ५।....ततो वृद्धतमस्तेषां जाम्बवान्प्रत्यभाषत। १०। पूर्वमस्माकमप्यासीत्कश्चिद्गतिपराक्रमः। ते वयं वयसः पारमनुप्राप्ताः स्म सांप्रतम्। ११।.... सांप्रतं कालमस्माकं या गतिस्तां निबोधत। नवतिं योजनानां तु गमिष्यामि न संशयः। १३।....मया वैरोचने यज्ञे प्रभविष्णुः सनातनः। प्रदक्षिणीकृतः पूर्वं क्रममाणस्त्रिविक्रमः। १५।' अर्थात् सब वानर अपनी अपनी गति बतलाने लगे कि मैं इतने योजन जा सकता हूँ और मैं इतने योजन जा सकता हूँ। गजने १० योजन, गवाक्षने २०, शरभने ३०, ऋषभने ४०, गंधमादनने ५०, मयन्दने ६०, द्विविदने ७०, सुषेणने ८० और जाम्बवान्ने ९० योजन जानेकी शक्ति कही। अन्तमें जाम्बवान् बोले कि मैं ९० योजन जा सकता हूँ यद्यपि मैं बहुत वृद्ध हो गया हूँ।

वि० त्रि०—'स्पष्ट है कि सबने अपना बल कहा, पर अपना पूरा बल किसीने न कहा। उतना ही बल कहा, जिसमें पार जानेमें सन्देह रह जाय। भाव यह कि सबकी देखी हुई बात है कि सरकारने चलते समय हनुमानजीको बुलाकर कुछ कहा, और मुद्रिका भी दी। अतः हनुमान्जीका ही जाना ठीक है। सभ्यताके अनुरोधसे यह कोई नहीं कह रहा है कि मुद्रिका तो मिली है हनुमान्जीको, मैं क्यों जाऊँ ? सब लोग अपना बल छिपाकर बोलते हैं।

टिप्पणी २—'त्रिविक्रम भए खरारी'। खर = दुष्ट। भगवान् खरारी हैं, अर्थात् दुष्ट राक्षसोंके शत्रु हैं। उनके परास्त करनेके लिए वामनरूप हुए। पुनः, खरारि = खर राक्षसके शत्रु रामजी।—[ जितने अवतार हुए वे सब भगवान्केही कहे जाते हैं, चाहे वह साकेतविहारी द्विभुज श्रीरामजीके हों, चाहे श्रीमन्नारायण क्षीरशायी भगवान्के, चाहे विष्णु भगवान् वैकुण्ठ-निवासीके। वैष्णव सबमें अभेद भाव रखते हैं। दूसरे, जिसका जो स्वरूप निष्ठ होता है वह अपने ही इष्टके सब अवतार मानता है और ठीक भी यही है ]। बलिसे भगवान्ने तीन पग पृथ्वी माँगी थी। एकमें उन्होंने सातों पाताल और मर्त्य लोक नाप लिए, एकमें सातो स्वर्ग नाप लिए और एकके लिए बलिको बाँधा।—अ० ३० ( ७ ) देखिए।

३ (क) 'बलि बाँधत प्रभु बाढ़ेउ', यहाँ बाँधने और बढ़ने में 'प्रभु' पद प्रयुक्त करके जनाया कि बलिबंधनकी सामर्थ्य इन्हींमें थी और किसीमें नहीं; इन्द्रादि सब देवता हार चुके थे। (ख) 'सो तनु बरनि न जाइ' कहनेका आशय यह है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता कि कितना बड़ा था ऐसे उस विशाल शरीरकी सात प्रदक्षिणायें दो घड़ी मात्रमें कर लीं; ऐसा भारी बल मुझमें था। 'उभय घड़ी' कहनेका भाव कि वह रूप दो ही घड़ी रहा। इसीसे हमने दौड़कर प्रदक्षिणा की, नहीं तो प्रदक्षिणा दौड़कर नहीं की जाती।—( यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' है, क्योंकि प्रथम कहा कि अब पहलेका बल शरीरमें नहीं है; और फिर उस बलको विशेष प्रमाणद्वारा समर्थन किया है। )

नोट—वाल्मी० तथा अ० रा० में भी वामनजीके बढ़े हुए रूपकी परिक्रमाका उल्लेख है। २१ बार फिरना कहा है—'त्रिःसप्तकृत्वोऽहमगां प्रदक्षिणविधानतः।९।११। अ० रा०।', 'त्रिविक्रमे मया तात सशैलवनकानना। त्रिः सप्तकृत्वः पृथिवी परिक्रान्ता प्रदक्षिणम्। वाल्मी० ६६। ३२।'

**अंगद कहै जाउँ मैं पारा। जिय संसय कछु फिरती बारा॥ १॥**
**जामवंत कह तुम्ह सब लायक। पठइअ किमि सबही कर नायक॥ २॥**

अर्थ—अङ्गदने कहा कि मैं पार (तो) चला जाऊँगा, पर जीमें कुछ संशय फिरती (लौटती) बारका है। १। जाम्बवंत बोले कि तुम सब लायक हो, पर तुम सबके नायक (सरदार) हो, हम तुमको कैसे भेज दें। २।

### जिय संसय कछु फिरती बारा

मा० त० भा०—चार सौ कोश समुद्र कूदनेसे बड़ा श्रम होगा, इसीसे लौटनेमें संशय है। यथा अध्यात्मे—'अङ्गदोऽप्याह मे गन्तुं शक्यं पारं महोदधेः। पुनर्लङ्घनसामर्थ्यं न जानाम्यस्ति वा न वा। सर्ग ९।१२' अर्थात् अङ्गदने कहा कि समुद्र पार करनेकी शक्ति मुझमें है पर उधरसे फिर समुद्र उल्लंघनका सामर्थ्य है या नहीं यह मैं नहीं जानता। वाल्मी० में भी ऐसी ही कहा है। यथा—'निवर्तने तु मे शक्तिः स्यान्नवेति न निश्चितम्।६५।१९।'

पांड़ेजी—अङ्गद फिरती बार जो अपनेजीमें संशय करते हैं उसका कई प्रकारसे अर्थ किया जाता है। (१) लंका रूपवती स्त्रियोंसे भरी हुई है और मेरी वानर जाति है एवं युवावस्था है, ऐसा न हो कि वहीं मोहित होकर रह जाऊँ। (२) रावण और वालि मित्र थे; उस मित्रताके कारण प्रीतिरूपी फाँसी डालकर कहीं रावण मुझे फँसा न ले। (३) कोई कहते हैं कि कोई ब्राह्मण वालिका टिकाया हुआ नदीके किनारे रहता था। अङ्गद बाल्यावस्थामें वानरोंके बच्चोंको साथ लेकर वहाँ कूदा करते थे जिससे ब्राह्मणपर छींटे पड़ते थे। एक दिन विप्रने कुपित होकर शाप दे दिया कि जिस जलको तुम 'डाँकोगे' (लाँघोगे) फिर लौट न सकोगे। उस शापका स्मरण करके अङ्गद लौटनेका संशय करते हैं—पर इसका कोई प्रमाण नहीं मिला, यदि मिले तो अर्थ पुष्ट है, नहीं तो किसीका गढ़ा हुआ किस्सा है। दूसरे, यदि ऐसा शाप होता तो 'संशय' पदका प्रयोग न करते वरन् उनको निश्चय होता; क्योंकि ये देवांश हैं, इनको विप्रशापका निश्चय होता है।—यह तो इस अर्थके विषयमें हुआ। रहे प्रथम दो, वे भी लचर हैं क्योंकि उनमें अङ्गदकी कायरता और रघुनाथजीमें उनकी प्रीतिकी न्यूनता सूचित होती है।—[ इन बातोंका निषेध रावण-अङ्गद-संवादसे स्पष्ट हो जाता है। यथा—'सुन सठ भेद होइ मन ताके। श्रीरघुवीर हृदय नहिं जाके। ६। २१। १० ]—अतएव अर्थ यह जान पड़ता है कि अङ्गद कहते हैं कि जानेके समयमें शक्तिके सम्मुख जाऊँगा, जो शक्तिके सम्मुख जाता है वह असमर्थ भी हो तो समर्थ हो जाता है और जो शक्तिसे पराङ्मुख होता है वह शक्तिमान् भी तो अशक्त कहा जाता है, 'असक्ताः शक्तिसम्पन्नाः येच शक्ति पराङ्मुखाः। असमर्थाःसमर्थास्युः शक्तिसम्मुखगामिनः।' [ नोट—पर यह बात तो हनुमान्‌जीके लिए भी हो सकता है ]।

प्र०—प्रायः नदी आदिमें करारके दूसरे भागमें पृथ्वी नीची होती है जहाँसे उलटकर लाँघना कठिन

है। पंजाबीजी कहते हैं कि अङ्गदने सोचा कि कभी निशाचरोंसे मैंने युद्ध नहीं किया और वे बड़े बली सुने जाते हैं; उनसे समर करके फिर समुद्र कूदनेमें न जाने समर्थ हूँ या न हूँ।

मा० म०--क्रमसे वानर १०, १० योजन बढ़ते गए। जाम्बवन्तने ९० कहा, तब अङ्गदने सोचा कि यदि मैं कम कहूँगा तो हँसी होगी। इससे उसने सौ योजन लांघ जानेको कहा और सबने तो जानेमें संशय रक्खा था इससे इन्होंने लौटनेमें संशय रक्खा। अथवा, दुर्वासाके शापवश वे नहीं लौट सकते थे--(पर इसका प्रमाण कोई नहीं दिया है। मा० सं०)। अथवा, 'सहिदानी' नहीं है, जानकीजी क्योंकर पहचानेंगी, इससे दीनतावश जाना अस्वीकार किया।

किसीका मत है कि अङ्गद और अक्षयकुमार साथ पढ़ते थे। अङ्गदने एक दिन उसे बहुत पीटा। गुरुने सुना तब शाप दिया कि अक्षयकुमारके एकही घूँसेसे तेरी मृत्यु हो जायगी। तबसे अङ्गद लंकामें नहीं गए।—पर इसका प्रमाण हमें अबतक नहीं मिला है।

श्री० मिश्र—मानस-मयंकका दोहा यह है—'दश दश दश सब बढ़ गए नब्बेपर रह बूढ़। ताते अङ्गद दश बढ़े फिरबो राखे गूढ़'। यहाँ 'गूढ़' शब्दका अभिप्राय यह है कि अङ्गदजीके सामने रघुनाथजीने हनुमान्‌जीको मुद्रिका दी और संदेश दिया—'बहु प्रकार सीतहि समुझायेहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आयहु।' अतएव अङ्गदने यह विचारकर कि आज्ञा तो हनुमान्‌जीको है और वे कुछ बोले नहीं, यह कहा कि 'फिरती बार' का संशय है। वह 'कुछ संशय' यही है कि कदाचित् श्रीरघुनाथजी कहें कि आज्ञा तो हमने सहिदानीके संयुक्त हनुमान्‌जीको दी थी, तुम किसके कहनेसे गए और क्या निशानी श्रीजानकीजीकी प्रतीतिके लिए ले गए थे, तब मैं क्या उत्तर दूँगा। यहाँ केवल हनुमानजीके कुछ न बोलनेसे अङ्गदने ऐसा कहा, नहीं तो उन्हें जाने-आनेमें संशय कदापि नहीं हो सकता था और न था।

शीला—सब वानर यहाँ हिचकिचाते हैं और सेतुबन्ध होनेपर तो न जाने कितने आकाशसे गए हैं। यहाँ अङ्गदके वचनमें भाव यही है कि कार्य तो हनुमान्‌जीको प्रभुने सौंपा है, मैं कैसे जाकर करूँ? इसी भावसे जाम्बवन्तने और इन्होंने भी संशय प्रकट किया।

और भी अनेक भाव लोगोंने कहे हैं। जैसे कि—१ मन्दोदरी मौसी है वह रोक न ले। २—'फिर ती बार।'=तीन बार मैं जाऊँ-आऊँ। 'जिय संशय कछु'=क्या आपको इसमें सन्देह है? ३—संशय है कि हनुमान्‌जीसे प्रभु प्रश्न करेंगे कि तुमको मुद्रिका दी थी, इत्यादि, तुम क्यों न गए? तब वे क्या उत्तर देंगे। इत्यादि।

वे० भू० जी का मत है कि 'गुप्तचरोंकी तरह बेषपरिवर्तन-विद्या राजकुमार अंगदको नहीं मालूम है। कपि सम्राट् बालीके पुत्र और सुग्रीवके उत्तराधिकारी होकर, वे छिपकर तो जायँगे नहीं, जायँगे तो राजकुमारकी अकड़से ही। उस दशामें कार्य होनेके पूर्व ही रावण-मेघनादादि वीरोंसे मुठभेड़ हो जाना बहुत संभव है। युद्धमें विजय सर्वथा अनिश्चित ही रहती है। और युद्धमें क्षतविक्षत होनेसे सर्वथा बचा रहना जीवके लिये अनिवार्य-सा ही है। अतः इन सब संभवित समस्याओंपर विचार करते हुए सकुशल लौट आना संशयास्पद तो है ही। ऐसी दशामें तो संशयका न होना ही संशयका स्थान है।'

श्रीनंगे परमहंसजी कहते हैं कि "यदि अक्षयकुमारसे अंगदको मृत्युका भय होता तो इसे छिपानेकी क्या बात थी? वह साफ़ कह देते कि ऐसा शाप है। मंदोदरीके रोकनेकी बात भी स्पष्ट कह सकते थे, छिपाते क्यों? जो यह कहते हैं कि अंगदने अपनी शक्तिको छिपाकर नहीं लौटानेके बहानेसे संदेह प्रगट किया है। संदेहका अर्थ बहाना करना और अंगदको अपनी शक्ति छिपानेका अर्थ करना गलत है, क्योंकि वहाँ किसीको अपना बल छिपानेकी आज्ञा नहीं है। मुद्रिकाके संदेहसे न लौटनेका बहाना क्यों करते? क्या इन्होंने मुद्रिका हनुमान्‌जीको देते हुए देखी थी, जाम्बवानादिने नहीं देखा था? यदि अंगदने ही देखा था तो वे साफ़ कह सकते थे कि हम जा आ सकते हैं पर मुद्रिका सहिदानी तो हनुमान्‌जीके पास है, हम कैसे

जाने ? तब इनमें सब बात खतम थी। अतः अंगदके लिये बलका छिपाना और बहानेसे संदेह करना दोनों बातें गलत हैं। अंगदने संदेह अपने परिश्रमके कारण ही यथार्थतः किया है। क्योंकि आकाशमें केवल उछाल मारकर चलना नहीं होता है। प्रथम उछलते हैं, फिर हाथ पैर चलाते हुए आकाशमार्गमें चलते हैं। हाथ पैर चलाकर चलनेमें आगे पीछे आना जाना हो सकता है जिससे परिश्रम होगा। इसीसे तो सिंधुने मैनाकसे हनुमान्जीके श्रमको हरनेको कहा था—'तैं मैनाक होहि श्रमहारी।' इसी परिश्रमके कारण आनेमें संदेह कहा।

टिप्पणी—१ (क) जब सब वानर बोले तब अंगद नहीं बोले, क्योंकि सिपाहीकी पंक्तिमें राजाके बोलनेमें शोभा नहीं है। राजाओंकी पंक्तिमें राजाके बोलनेकी शोभा है। जाम्बवन्त ऋक्षराज हैं। जब वे बोले तब ये बोले। (ख) 'जाउँ मैं पारा'। औरोंने जानेमें संशय रक्खा तब अङ्गदने लौटनेका संशय प्रकट किया। (ग) 'जिय संसय कछु फिरती बारा' अर्थात् जानेमें कुछ भी संशय नहीं है, लौटनेमें कुछ है।

२—'तुम्ह सब लायक' अर्थात् तुम जाकर कार्य करके लौट सकते हो, इस सबकी योग्यता तुममें है। पर सिपाह सब बैठी रहे और राजा स्वयं काम करे यह अयोग्य है। 'तमाह जाम्बवान् वीरस्त्वं राजा नो नियामकः। न युक्तं त्वां नियोक्तुं मे त्वं समर्थोऽसि यद्यपि।'—(अध्यात्म ६।१३)।

वि० त्रि०—सब लोग अपना बल बोल चुके तो जाम्बवान्जीकी पारी आई। अब ये क्या कहें। इनका पौरुष प्रख्यात है। अतः इन्होंने वृद्धावस्थाकी ओट ली। तब पारी अङ्गदजीकी आई। अङ्गदजीका बल सब कोई जानता है कि बालीके समान हैं। इनको स्वीकार करना पड़ा कि मैं पार जा सकता हूँ, लौट भी सकता हूँ, पर लौटनेमें कुछ सन्देह है। जामवन्तजीने देखा कि इन्होंने तो स्वीकार ही कर लिया। 'कुछ सन्देह' का यहाँ कुछ अर्थ नहीं होता। लौटनेके समय दो एक दिन विश्राम करके लौटते, अतः जाम्बवान्जी तुरत बोल बैठे—'तुम सब लायक। पठइय किमि सबही कर नायक'।

नोट—वाल्मी० ६५। २०—३० में जामवंतके वचन हैं कि 'आपकी शक्ति हम जानते हैं, आप हजार योजन तक जा सकते हैं, पर यह उचित नहीं। आप प्रेषणकर्ता स्वामी हैं, हम सब प्रेष्य हैं, आप हम सबके रक्षणीय हैं, स्वामीकी रक्षा परम्पराकी रीति है। आप इस कार्यके मूल हैं, सब भार आपपर है। मूलके रहनेपर सभी कार्य सिद्ध होते हैं। आप हमारे गुरु एवं गुरुपुत्र हैं। आपके आश्रयसे हम लोग कार्य सिद्ध कर सकते हैं।' इत्यादि। ऐसा कहकर फिर उन्होंने अंगदको समझाया कि 'चिन्ता न करो, मैं उसे प्रेरित करता हूँ जो इस कार्यको सिद्ध करेगा।'

**कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेउ बलवाना ॥३॥**
**पवनतनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना ॥४॥**
**कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं ॥५॥**
**रामकाज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भएउ पर्बताकारा ॥६॥**

अर्थ—ऋक्षराज जाम्बवान्जी हनुमान्जीसे कहते हैं—अरे बलवान् हनुमान्! सुनो! तुम क्या चुप (मौन) साधे हुए हो।३। तुम पवनपुत्र हो, (अतः तुम्हारा) बल पवनदेवके बलके समान है, और तुम बुद्धि, विवेक और विज्ञानके खजाना वा समुद्र हो।४। संसारमें कौनसा काम है जो, हे तात! तुमसे न हो सके।५। श्रीरामजीके कार्यके लिए ही तुम्हारा अवतार है—यह सुनते ही हनुमान्जी पर्वतके समान विशालकाय हो गए।६।

टिप्पणी—१ (क) 'कहइ रीछपति' इति। यहाँ 'रीछपति' पद देकर इनके बोलनेका कारण कह दिया। सबसे बड़े बूढ़े हैं, फिर ऋक्षराज हैं; अतएव येही हनुमान्जीको प्रेरित कर सकते थे। इसीसे इन्होंने प्रेरणा की। (ख) 'हनुमान' और 'बलवान' सम्बोधनका भाव कि जन्म लेतेही तुमने इन्द्रके वज्रके गर्वको चूर्ण कर दिया था, वज्र तुम्हारा कुछ कर न सका, तुम ऐसे बलवान हो। उसपर भी अब तो तुम्हारी

तरुणावस्था है। (ग) 'का चुप साधि रहेउ' अर्थात् सबने अपना अपना बल कहा और तुम बलवान् होकर भी चुपही बैठे हो, यह क्या बात है? क्यों नहीं बोलते?

नोट—१ मिलान कीजिये—'इत्युक्त्वा जाम्बवान् प्राह हनूमन्तमवस्थितम्। हनूमन् किं रहस्तूष्णीं स्थीयते कार्यगौरवे।१६।....त्वं साक्षाद्वायुतनयो वायुतुल्यपराक्रमः।१७। रामकार्यार्थमेव त्वं जनितोऽसि महात्मना।१८। श्रुत्वा जाम्बवतो वाक्यं हनूमानतिहर्षितः।२१। बभूवपर्वताकारस्त्रिविक्रम इवापरः।२२। अ० रा० सर्ग ९।'

२—'सुनु हनुमाना का चुप साधि रहेहु' में वाल्मी० के 'तूष्णीमेकान्तमाश्रित्य' और अ० रा० के 'रहस्तूष्णीं स्थीयते कार्यगौरवे' का भाव भी जना दिया है। अर्थात् जब सब वानर अपना अपना बल कह रहे थे तब ये एकान्तमें चुप बैठे भगवान्के स्मरणमें लीन थे। इनका ध्यान वानरोंकी ओर न था और न इनको खयाल हुआ कि वानरगण पुनः विषादयुक्त हो गए हैं। पं० विजयानंद त्रिपाठीजीका मत है कि हनुमान्जी यह सोचकर चुप बैठे हैं कि 'यह रामदूत' होनेकी यशप्राप्तिका अवसर है। अतः यदि कोई लेना चाहे तो मैं बोलकर बाधक क्यों होऊँ? मैं तो आज्ञाकारी हूँ। जब सब लोग आज्ञा देंगे तब जाऊँगा। जाम्बवान्जी इस बात को समझते थे। अतः सबके अस्वीकार करनेपर उन्होंने हनुमान्जीसे कहा कि वस्तुतः बलवान् तो तुम हो, तुम सब कुछ कर सकते हो। तुम भी अपना बल कहो।' वाल्मी० उत्तर० सर्ग ३६ में इनके शापकी कथा है जिसके कारण हनुमान्जीको अपना बल विस्मृत हो जाता है, स्मरण करानेसे याद आता है। अतएव जाम्बवान्ने इस तरह इनको बलका स्मरण कराया।—'बलं बुद्धिश्च तेजश्च सत्वं च हरिपुंगव। विशिष्टं सर्वभूतेषु किमात्मानं न सज्जसे। वाल्मी० ६६।७।'

प्र० स्वामीका मत है कि हनुमान्जीके चुप बैठनेमें श्रीरामजीकी प्रेरणा ही मुख्य कारण है। यदि वे प्रथमही कह देते कि 'जाऊँ मैं पारा' इत्यादि, तो इससे उनकी कोई विशेषता न रह जाती। दूसरोंको कहनेका अवसर मिल जाता कि वे ही प्रथम तैयार हो गए, नहीं तो हम भी यह कार्य कर सकते थे। जनकपुरमें 'बीर बिहीन मही मैं जानी' इत्यादि सुनकर भी जैसे श्रीरामजी धनुर्भङ्ग करनेको न उठे, दूसरोंको उठनेका अवसर दिया, वैसाही यहाँ रामदूतने किया। सच्चे काम करनेवालेको यह अभिमान नहीं रहता कि मैं ही यह कार्य करूँगा, दूसरेको न करने दूँगा।❀

३ 'पवनतनय' का भाव वाल्मी० सर्ग ६६ व ६७ के 'मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत्समः। त्वं हि वायुसुतो वत्स प्लवने चापि तत्समः।३०। वयमद्य गतप्राणा भवानस्मासु सांप्रतम्।' (श्रीजाम्बवान्वाक्य), 'आरुजन्पर्वताग्राणि हुताशनसखोऽनिलः। बलवानप्रमेयश्च वायुराकाशगोचरः।६७।९। तस्याहं शीघ्रवेगस्य शीघ्रगस्य महात्मनः। मारुतस्यौरसः पुत्रः प्लवनेनास्मि तत्समः।१०।' इन श्लोकोंमें है। अर्थात् तुम पवनके पुत्र हो, उनके समान तुम्हारा तेज और वेग है। बलवान और सीमारहित आकाशमें चलनेवाले शीघ्रवेग एवं शीघ्रगामी महात्मा वायुके पुत्र और उन्हींके समान शीघ्रवेगगामी हो। वायु ही प्राण

---

❀ रा० च०—अंगिरा स्मृतिकार लिखते हैं कि गुरुजनोंके सन्निधानमें मौन रहना चाहिए। जाम्बवान् एक तो सबमें वृद्ध दूसरे बलवान भी हैं, जैसा उनके बलकथनसेही स्पष्ट है। फिर अंगद भी गुरुतुल्य हैं; क्योंकि युवराज हैं, सबका नायक हैं। उसपर भी श्रीरामजीकी दी हुई मुद्रिका, जो रामजीके ही तुल्य है उनके पास है, मानों एक गुरु ये भी वहाँ विराजमान हैं। तब बोलनेकी आवश्यकता कहाँ रह गई। फिर रामजीने उन्हें 'सुत' कहा है—'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं'। (पर यह आगे कहेंगे अभी तक नहीं कहा है। हाँ, वे अपनेको सेवक सुत समझते हैं, यथा 'सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनै प्रभु पोसे')— इस तरह रामजी पिताके समान हुए। पितृकार्यमें मौन रहनाही चाहिए। अतएव हनुमान्जी मौन रहे। प्रमाण यथा—'संध्ययोरुभयोर्जाप्ये भोजने दन्तधावने। पितृकार्येच दैवे च तथा मूत्रपुरीषयोः ॥१॥ गुरूणांसन्निधौ दाने योगे चैव विशेषतः। एतेषु मौनमातिष्ठन् स्वर्गं प्राप्नोति मानवः ॥२॥'

हैं। हम सबोंके प्राण जा रहे हैं; तुम इस महासमुद्रको कूदकर सबके प्राणोंकी रक्षा करो। सब वानर दुःखी हैं, तुम उपेक्षा क्यों कर रहे हो? (सर्ग ६६ श्लोक ३६, ३७)। यह सारी सेना आज तुम्हारा वह पराक्रम देखना चाहती है। रामकार्यके लिये ही पवनदेवने तुम्हें उत्पन्न किया। यथा—'रामकार्यार्थमेव त्वं जनितोऽसि महात्मना। अ० रा० ६।१८।' अतः जिस लिये पैदा किये गए वह कार्य करो।

प० प० प्र०—यहाँ से सुरसा प्रकरण तक प्रायः पवनतनय और हनुमान शब्दोंका ही प्रयोग मिलता है। पवनतनय प्रथम मैनाक पर्वतको पावन करेंगे, फिर सुरसा और लंकिनीको। पश्चात् लंकाके प्रत्येक घरको इतना पवित्र कर देंगे कि वे सब मंदिर ही बन जायँगे। अतः 'पवन' (पावन करनेवाले) तनय कहा।

टिप्पणी—२ 'पवनतनय बल पवन समाना।०' इति। (क) इस कथनसे सूचित किया कि जाम्बवंतने इनके जन्मकी कथा कही, फिर इनके बलकी प्रशंसा की। यथा—'जयति बालार्ककपिकेलि कौतुक उदित चंडकर मंडल ग्रासकर्ता। राहु रवि-शक्र-पवि-गर्व-खर्वीकरन सरन भयहरन जय भुवनभर्ता। विनय।२५।', 'जाको बाल बिनोद समुझि दिन डरत दिवाकर भोर को। जाकी चिबुक चोट चूरन कियो रद मद कुलिस कठोर को। विनय।३१।' (ख) बुद्धि-विवेक-विज्ञानके निधान कहनेका तात्पर्य कि जिनमें ये हैं वे सब काम कर सकते हैं। बुद्धिसे कार्यको समझकर बलसे उसे सिद्ध करे। कार्यमें विवेक रक्खे जिसमें अनुचित न होने पावे और विज्ञानसे कार्यका अनुभव करे कि अनुचित न होने पावे। [केवल सिंधुही लाँघना नहीं है, आगे और भी कुछ कार्य करना है—महाबलवान् छलकारी प्राणियोंसे काम पड़ेगा—जिसमें बुद्धि, विवेक और विज्ञानसे काम लेना पड़ेगा, अतः कहते हैं कि तुम बुद्धि-विवेक-विज्ञानके निधानही हो। तुम सबमें पार पाओगे। जहाँ जिसका काम होगा वहाँ उसे काममें लाओगे। बुद्धिसे व्यवहार समझोगे, विवेकसे ऊँच-नीचका निर्णय कर सकोगे और विज्ञाननिधान होनेसे तुमको अनेक शास्त्रोंका ज्ञान है, इससे तुम शास्त्रानुसार मिलोगे और भविष्यका विचार भी कर लोगे। (पं०, प्र०)]

३—'सुनतहि भएउ पर्वताकारा' इति। (क) इससे जनाया कि रामकार्यके लिए अपना अवतार सुनकर इनके हृदयमें बड़ा हर्ष हुआ, यथा—'रामकाज लगि जनम जग सुनि हरषे हनुमान। रामाज्ञा। ५।१।' (ख) यहाँपर मुख्य दो बातें जाम्बवन्तने कहीं—एक तो यह कि तुम ऐसे-ऐसे बलवान् हो और तुम्हारा जन्म रामकार्यहीके निमित्त हुआ है और दूसरे कि तुम क्या चुप साधे बैठे हो। पहलेके उत्तरमें वे पर्वताकार विशाल शरीर हुए और दूसरेके उत्तरमें उन्होंने सिंहनाद किया जैसा आगे कवि लिखते हैं।

☞ शीला—१ जबतक जाम्बवान् हनुमान्‌जीकी प्रशंसा करते रहे और श्रीरामजीका नाम न लिया तबतक वे कुछ न बोले। जब 'राम' नाम लिया—'रामकाज लगि तव अवतारा', तब वे गरज उठे।

२ जाम्बवन्तने कहा था कि—(१) 'का चुप साधि रहेउ बलवाना', (२) 'पवनतनय बल पवन समाना', (३) 'बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना', (४) 'कवन सो काज कठिन जग माहीं०' और (५) 'रामकाज लगि तव अवतारा'। इनके उत्तर क्रमसे हनुमान्‌जीमें ये हैं—(१) 'सिंहनाद करि बारहिं बारा', (२) 'लीलहि नाँघौं जलनिधि खारा', (३) 'सहित सहाय रावनहि मारी', (४) 'आनौं इहाँ त्रिकूट उपारी' और (५) 'सुनतहि भएउ पर्वताकारा'।

कनक बरन तन तेज बिराजा। मानहु अपर गिरिन्ह कर राजा॥ ७॥
सिंहनाद करि बारहिं बारा। लीलहि नाघउँ जलनिधि* खारा॥ ८॥
सहित सहाय रावनहि मारी। आनौं इहाँ त्रिकूट उपारी॥ ९॥
जामवंत मैं पूँछउँ तोही। उचित सिखावनु दीजहु मोही॥१०॥

---

* जलधि अपारा—(ना० प्र०)

शब्दार्थ—उपारी (सं० उत्पाटन से) = उखाड़कर।

अर्थ—(कैसे पर्वताकार हुए सो कहते हैं—) उनके तनका रंग सोनेका सा है, तनमें तेज विराजमान है, (ऐसा मालूम होता है) मानों यह दूसरा पर्वतोंका राजा (सुमेरु) है।७। बारंबार सिंहकी तरह गरज-गरजकर [वे (श्रीहनुमान्‌जी) बोले] इस खारी समुद्रको मैं खेलहीमें लाँघ जाऊँगा (अर्थात् एक क्या मैं सारे समुद्रोंको लाँघ सकता हूँ और यह जो खारी समुद्र है यह तो सबसे छोटा है, इसका लाँघना क्या ? यह तो मेरे लिए खेल है)।८। रावणको उसके सहायक (सेना आदि) सहित मारकर त्रिकूटाचलको यहाँ उखाड़कर ले आऊँ ? (अभिप्राय यह कि संपातीकी समझमें लंका दुर्ग बड़ा दुर्गम और रावण बड़ा भारी वीर भलेही क्यों न हो, पर मैं तो उसको और उसकी सेनाको मार डालनेको समर्थ हूँ और दुर्गकी क्या, मैं पर्वतका पर्वत उखाड़कर ला सकता हूँ।९। हे जाम्बवान् ! (बल तो हमने तुम्हारे प्रेरणा करनेसे अपना बता दिया जैसे औरोंने पूर्व अपना अपना बताया है। पर मेरे लिए उचित कर्त्तव्य क्या है ?) मैं आपसे पूछता हूँ, आप मुझे उचित सलाह दीजिए।१०।

टिप्पणी—१ 'कनकबरन तन' इति। यहाँ हनूमान्‌जीको सुमेरुसे उपमा दी। हनुमान्‌जी कनकवर्ण, वैसे ही सुमेरु सुवर्णमय; हनुमान्‌जीका स्वरूप भारी और सुमेरु भी भारी; सुमेरु पर्वतोंका राजा, हनुमान् कपिराज, यथा—'सकल गुणनिधानं वानराणामधीशम्'—(सुं० मं०), 'जयति मर्कटाधीश मृगराज विक्रम महादेव मुदमंगलालय कपाली'—(विनय), और 'वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वर कपीश्वरौ'—(बा० मं०)। यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है।

२ 'उचित सिखावन दीजहु मोही' इति। भाव यह कि जो हमने अपना बल रावणवध इत्यादि कहा वह अनुचित तो नहीं है, क्योंकि इसमें रामजीका यश नहीं है किंतु अपमान है। यही बात अंगदने कही है, यथा—'जौं न राम अपमानहि डरऊँ। तोहि देखत अस कौतुक करऊँ॥ तोहि पटकि महि सेन हति चौपट करि तव गाँउ। तव जुवतिन्ह समेत सठ जनकसुतहिं लै जाउँ॥ लं० ३०।' अपनी बातको अनुचित समझते हैं, इसीसे उचित उपदेश माँगते हैं।

मा० म०—जब हनुमान्‌जी उपदेशकोंके सींव श्रीरामचन्द्रजीके निकटसे चले तब उन्होंने शिक्षाके सींव दो उपदेश दिए।—'कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु'। तथापि यहाँ हनुमान्‌जीने जाम्बवन्तसे पूछा; इसका कारण यह है कि वे वीररसमें मग्न हो गए, अतएव वह (प्रभुके उपदेशकी) सुधि जाती रही। अतः जाम्बवन्तसे पूछा तो उन्होंने वही उपदेश दिया और उनको लड़ैतीपीव श्रीरामचन्द्रजीमें दृढ़ किया।

दीनजी—आगे सुन्दरकाण्डमें कहा है—'जामवंतके बचन सोहाये', वे सोहाए वचन यही हैं जो आगे जाम्बवन्तजी कह रहे हैं, जिनको सुनकर हनुमान्‌जीका अभिमान दब गया और हनुमान्‌जी अनुचितकथनके दोष तथा दंडसे बच गए, नहीं तो झूठे ठहरते, क्योंकि रावण उनके हाथसे न मरता। हनुमान्‌जी आवेशमें ऐसी बातें कह गए—जिनका पूर्ण करना उनकी सामर्थ्यसे बाहर था; क्योंकि रावणकी मृत्यु श्रीरामजीसे होनी थी। अतएव अपनी भूलपर विचार करके उन्होंने कहा कि हे जाम्बवन्त ! मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या करूँ। मुझे उचित शिक्षा दीजिए; क्योंकि मैं जो कुछ कह गया उसमें अनौचित्य और औचित्य दोनों हैं, आप मुझे औचित्य बतलाइये। [यहाँ वीररस है। रामकार्य करनेका उत्साह स्थायी भाव है, जाम्बवन्तके वचन उद्दीपन विभाव, और प्रसन्न होना, बल संभाषणादि अनुभाव हैं, उग्रता आदि संचारी हैं।—(वीरकवि)]

शीला—'लीलहि नाघौं जलनिधि खारा' के 'खारा' का भाव यह कि मैं सातो समुद्र लाँघ जाऊँ यह क्या है। पुनः यह भी कि यह कुछ मीठा नहीं है कि इसमें स्नान, जलपान, विहार आदिमें देर लगा दूँ।

प० प० प्र०—१ हनुमान्‌जी विवेकप्रधान वैराग्यादि गुणसंपन्न उत्तम साधकके प्रतीक हैं। यद्यपि जितने भी पंचभूतमय शरीरधारी हैं वे सभी 'ईश्वर अंशजीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।' हैं, तथापि किसीको विना सद्गुरु द्वारा अपने स्वरूपका बोध कराये निज स्वरूपका स्मरण नहीं होता।

२ मानव शरीरमें भी हनुमान्‌जी शक्तिरूपमें, प्राणशक्तिरूपमें निवास करते ही हैं। यह है कुण्डलिनीशक्ति, जिसको मुख्य-प्राण भी कहते हैं। यह शक्ति भी सुप्त ही रहती है। जब कोई विज्ञ गुरु उसे जागृत कर देते हैं तब उस जीवको वैराग्यादिकी प्राप्ति होती है और उसमें भी महदन्तर पड़ता है। तत्पश्चात् यह शक्ति मोहरूपी सागर लाँघकर देहरूपी लंकापुरीमें अशोकवनमें स्थित श्रीभक्ति-शान्ति सीताजीको शोध करनेमें सफल होता है।—इत्यादि आध्यात्मिक और यौगिक अर्थ भी यहाँ से लेकर संपूर्ण हनुमच्चरित्रमें हैं।

एतना करहु तात तुम्ह जाई। सीतहि देखि कहहु सुधि आई॥ ११॥

तब निज भुजबल राजिवनयना। कउतुक लागि संग कपि सयना॥ १२॥

अर्थ—हे तात! तुम जाकर इतना भर करो (अर्थात् अधिक पुरुपार्थका अभी काम नहीं है) कि श्रीसीताजीको देख आकर खबर कहो।११। तब राजीवनयन श्रीरामजी अपने बाहुबलसे, कौतुकके लिए वानरी सेना संग लेंगे।१२।

टिप्पणी—१ 'निज भुजबल' का भाव कि अपने बाहुबलसे निशाचरोंका संहार करेंगे, सेना तो केवल कौतुकके निमित्त है। ☞'राजिवनयन' पदका प्रयोग प्रायः तब तब कविने किया है, जबजब कृपादृष्टिका होना सूचित किया है। यथा—'देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिवनयना', 'राजिवनयन धरें धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक।१।१८।१०', 'सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिवनयना।५।३२।१' इत्यादि। यहाँ इस पदके प्रयोगका तात्पर्य यह कि निशाचरोंपर श्रीरामजीकी कृपा है, उनको मारकर मुक्ति देंगे। यथा—'उमा राम मृदु चित करुनाकर। बैरभाव सुमिरत मोहि निसिचर। देहिं परमगति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी।६।४४।४-५।', 'रामाकार भए तिन्हके मन। मुकुत भए छूटे भवबंधन। रघुबीर सर तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहहिं सही।'

रा० प्र० श०—यह लीला-विभूति प्रभुका कौतुकागार है, यथा—'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे'। जब जीवोंपर कृपादृष्टि होती है तभी वे इस लीला-विभूतिमें आते हैं। सामुद्रिकमें कहा है कि जिसके कमलवत् नेत्र होते हैं वह दयावान् और दूसरोंका कष्ट निवारण करनेवाला होता है। विविध भावोंके अनुकूल जहाँ कविने नखशिख कहा है वहाँ सामुद्रिकके मतसे भगवत्‌के गुणही कहनेका तात्पर्य है।

पं०—दुष्टवध-प्रसंगमें 'राजिवनयन' महासौम्य विशेषण देनेका भाव यह है कि—१ हृदयका कोप आँखोंमें प्रकट होता है। प्रभुके हृदयमें कोप नहीं है, क्योंकि यदि होता तो दुष्टोंको मुक्ति कैसे देते? [पर 'जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई।', 'राम रोष पावक अति घोरा', 'निर्वानदायक क्रोध जाकर' इन उद्धरणोंसे इसका विरोध होता है। (प० प० प्र०)] २—कोप तो परायेपर होता है और ये तो अपने पुराने दास हैं, अब कृपादृष्टिसे उनको पुनः पार्षद बनाना है। अतएव 'राजिवनयन' कहा।

प० प० प्र०—'राजिव नयना' इति। (क) राजीव अथवा अरुणनयन वीर या शृंगाररसके निदर्शक हैं। मानसमें श्रीरामजीके नेत्रोंका उल्लेख एकसठ बारसे कम नहीं आया है। इसमेंसे बाईस बार राजीव विशेषण और सोलहबार कमल, सरोज आदि अन्य कमलवाची विशेषण साथमें हैं। २३ बार कमलादि शब्द नहीं हैं। (ख) यह कहना कि 'राजिव' विशेषण यहाँ वधादि क्रोधजनित कार्य सूचित नहीं करता अव्याप्ति दोषयुक्त है और मानसावलोकनकी अपूर्णताका निदर्शक है। यथा 'मैं देखौं खल बल दलहि बोले राजिवनैन।६।६६।' कुंभकर्ण और उसकी सेनाका संहार करनेको निकलते समय यह कहा गया है।

पं०, प्र०—'कौतुक लागि' का भाव कि राक्षसोंने जो देवताओंको बहुत दुःख दिया है उसका बदला वानरों द्वारा सूत्रधार यहाँ लक्षित करते हैं। इनके द्वारा राक्षसोंका गर्व भी हरण करायँगे। पुनः, भाव कि यह सारा ब्रह्माण्ड जिसकी मायाका कौतुक है वह बंदरोंको साथ लेकर केवल वानरों और निशाचरोंका कौतुक देखना चाहता है।

छंद—कपि सेन संग सँघारि निसिचर रामु सीतहि आनिहैं।
त्रैलोक पावन सुजसु सुर मुनि नारदादि बखानिहैं॥
जो सुनत गावत कहत समुझत परमपद नर पावई।
रघुबीर-पद-पाथोज मधुकर दासतुलसी गावई॥

अर्थ—कपिसेना संग लिए हुए निशाचरोंका नाश करके श्रीरामजी श्रीसीताजीको लायेंगे। इस त्रैलोक्य-पावनकर्त्ता सुन्दर यशको सुर, मुनि और नारद आदि बखान करेंगे; जिसे मनुष्य सुनते, गाते, कहते, समझते परमपद पाते हैं और पावेंगे और जिसे रघुवीरपद-कमलका मधुकर (भ्रमर) तुलसीदास गाता है।

टिप्पणी १—'नारदादि बखानिहैं' इति। श्रीरामचरितके बखान करनेमें नारदजी सबके आदिमें हैं, सबमें प्रधान ये ही हैं, इनकी प्रथम गिनती की गई है। यथा अध्यात्मे—'यस्यावतार चरितानि विरंचि लोके गायन्ति नारद मुखाभव पद्मजाद्याः।'

२—(क) संपातीने वानरोंसे किष्किंधाकांड तक का चरित कहा था—२८ (७-९) देखिए। अब जाम्बवंतजी आगेका अर्थात् सुंदरसे उत्तरकांड तक का चरित कह रहे हैं। (ख) 'कपिसेन संग सँहारि निसिचर राम सीतहि आनि हैं', यह लंकाकांड है। और (ग) 'त्रैलोक्यपावन सुजसु सुर मुनि नारदादि बखानिहैं।', यथा 'राजाराम अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि बरबानी।१।२५।६।', 'बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत रामके गावहिं॥ नित नवचरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं।७।४२।' यह यश-बखान उत्तरकांडका है जब श्रीरामजी राजा हुए।

३ किष्किन्धाकाण्डकी समाप्तिमें सातों काण्ड समाप्त किये। इससे यह दरसाया कि इस काण्डके पाठसे सातों काण्डोंके पाठका फल प्राप्त होता है।

४ 'जो सुनत गावत कहत....' इति। यहाँ सुयशका माहात्म्य कहते हैं। 'जो सुनत' अर्थात् श्रोता होकर सुननेवाले, 'गावत' अर्थात् रागसे गानेवाले, 'कहत' अर्थात् वक्ता या व्यास होकर कहनेवाले और 'जो समुझत' अर्थात् अर्थ और भावको समझनेवाले, ये चारों परमपद पाते हैं। वैष्णवसिद्धान्तसे मुक्ति चार प्रकारकी है—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। और, यहाँ चार क्रियायें दी हैं—'सुनत, गावत, कहत और समुझत। क्रमशः, सुननेवाले सालोक्य पाते हैं, गानेवाले सामीप्य (क्योंकि भगवान्का श्रीमुखवचन है कि मैं वहीं रहता हूँ जहाँ मेरे भक्त यशोगान करते हैं—'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।'), वक्ता सारूप्य (क्योंकि व्यास भगवान्का स्वरूप है) और समझनेवाले सायुज्य-मुक्ति पाते हैं, यथा 'जानत तुम्हइँ तुम्हहिं होइ जाई। २।१२७।३।'

यहाँ प्रथम 'सुनत' पद दिया क्योंकि नवधाभक्तिमें 'श्रवण' भक्ति प्रथम भक्ति है। 'सुनत' से श्रवण और 'गावत' से कीर्तन भक्ति जनाई। कीर्तन दो रीतिसे होता है, एक तो गानरीतिसे, दूसरा कथा-रीतिसे। इसीसे गाना और कहना दोनों भेद कहे। 'समुझत' से स्मरण भक्ति और 'रघुवीर पदपाथोज मधुकर' से पादसेवन भक्ति कही।

नोट—१ मयंककारका मत है कि 'जो सुनत गावत....' का भाव यह है कि इस काण्डके तत्व कथन करनेवालेके समीप 'उत्तम समझनेवाला' चाहिए और इसके गानेवालेके निकट प्रेमपूर्वक सुनने-वाला चाहिए। तात्पर्य कि जो इस प्रकार समझेंगे और गायँगे वे अवश्य परमपद पायँगे।

प्र० स्वामीजीका मत है कि 'सुनत, गावत, कहत और समुझत' ये चारों भिन्नभिन्न और परस्पर निरपेक्ष हैं—ऐसा मानना भारी भूल है। यह नीचेके अवतरणोंके मिलानसे स्पष्ट हो जायगा।

श्रवण—'मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत। समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत।१।३०। तदपि कही गुर बारहि बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा।', 'जस कछु बुधि-बिबेक बल मेरे। तस कहिहउँ हिय हरिके प्रेरे।१।३१।३।' इन उद्धरणोंसे यह सिद्ध हुआ कि प्रथम अनेक

बार श्रवण करनेसे जब समझमें आ जाय तब कहना शक्य होता है और वह भी 'हरिके प्रेरे'।

अब रहा 'गावत' का विचार। सुननेपर जब गान (संकीर्तन) किया जाता है तब यह ज्ञात होता है कि कहाँतक समझ पड़ा है। जो समझमें नहीं आया उसे फिर पूछना पड़ता है, तब पुनः पुनः श्रवणसे समझमें आता है। जिसने स्वयं नहीं समझा वह कहेगा क्या? अतः चारोंको सापेक्ष्य मानना पड़ेगा। पुनः, 'जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता। होइहहिं राम चरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमंगल भागी।१।१५।' देखिए।

· टिप्पणी—५ 'परम पद नर पावई' इति। 'नर' पद देकर जनाया कि नारदादिके बखाने हुए चरितोंके अधिकारी 'नर' हैं, नारी नहीं। यथा 'जदपि जोपिता नहिं अधिकारी।१।२१०।१।' इसीसे 'परमपद' का पाना नरको कहा है, नारीको नहीं। और तुलसीदासजी जो रामचरित भाषामें गाते हैं उसके अधिकारी तो नर और नारी सभी हैं। इसीसे आगे 'सुनहिं जे नर अरु नारि' ऐसा कहा। (यह त्रेतायुगकी बात है जब संस्कृत ही देवभाषा थी, यहाँतक कि वानर हनुमान्‌जी भी उस भाषाके पूर्ण पंडित थे)।

नोट—२ पंजाबीजी लिखते हैं कि जाम्बवान्‌जीके मुखसे रामचरितका महात्म्य छन्दमें कहा कि 'परमपद नर पावई' और आगे गोस्वामीजी अपने मुखसे रामसुयश-श्रवणादिका फल कहते हैं जिसमें स्त्री पुरुष वर्णाश्रमादि सर्वोंको अधिकारी कहते हैं।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि "छन्दमें जो 'नर' शब्द है उसका ही अर्थ आगे स्पष्ट किया है। नारदादिने जो यश गाया है उसका श्रवण करनेसे स्त्रियोंको परमगति नहीं मिलेगी ऐसे कुतर्कके लिये स्थान नहीं रक्खा है। अन्यथा भागवतादि पुराणोंके श्रवणादिसे स्त्रियोंको परम गति नहीं मिलेगी ऐसा कहना पड़ेगा। शबरीजीको परमगति प्राप्त हुई है वह तुलसी-मानस-श्रवणसे नहीं। (प० प० प्र०)। ☞मेरी समझमें 'नर' शब्द मनुष्यमात्रके अर्थमें है जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों आजाते हैं। अन्यत्र भी यह शब्द चरित्रश्रवणके संबंधमें आया है। यथा—'रघुबंसभूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलि मल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं। सतपंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरैं। दारुन अबिद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुबर हरैं।७।१३०।'—इनमें भी तो 'नर' ही शब्द है। यह तुलसी-वाक्य है और तुलसी-मानसके ही संबंधमें कहा गया है। संकुचित अर्थ करनेसे दोहा ३० के वाक्यसे विरोध भी होगा। 'नर' शब्द और भी बहुत जगह मनुष्यमात्रके लिये आया है। यथा 'ते नर यह सर तजहिं न काऊ।१।३८।७', 'जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही।५।४८।२।', इत्यादि।

टिप्पणी—६ 'रघुबीर पद पाथोज मधुकर....' इति। (क) भाव कि जैसे भौंरा मकरन्द पान करता है वैसे ही मैं तुलसीदास श्रीरामपदारविन्दमें अनुराग करता हूँ। यही मकरन्दका पान करना है। यथा 'पद पदुम परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करइ पाना।१।२११।' भ्रमर गुंजार करता है, वैसेही मैं श्रीरामसुयशका गान करता हूँ। [भ्रमर बिना पद्मके स्थिर नहीं होता, यथा 'पदुम भँवर बिनु दूबर है पदुम भँवर संबंध सनातन दैवरचित नहि बरबर है।' (श्रीजानकी बिन्दु)। इस कारणसे एवं इससे कि समुद्रोल्लंघन करना है, कमलको हृदयमें रखना कहा। (प्र०)]

प० प० प्र०—'रघुबीर' शब्दसे भावी कथा सूचित की गई है। कृपावीर हैं, अतः 'सीतहि आनिहैं'। युद्धवीर हैं, अतः 'संघारि निसिचर' कहा। दानवीर हैं, अतः विभीषणको राज्य और रावणादिको सद्‌गति देंगे। धर्मवीर हैं, अतः धर्मनीति रक्षण करते हुए ही युद्ध करेंगे। धर्मसंस्थापन होगा, यह 'सुजस....' से सूचित किया। विद्यावीर हैं, दशरथजीको दृढ़ ज्ञान देंगे।

टिप्पणी—७ 'दास तुलसी गावई' इति। सुनने, गाने, कहने और समझनेवाले, इन चारोंमेंसे गोस्वामीजी अपनेको गानेवाला कहते हैं। और लोग सुयश गाकर परम पद पाते हैं, पर तुलसी रामपदप्रीति होनेके लिये गाते हैं। ये दो बातें कहकर जनाया कि श्रीरामचरित श्रीरामपदारविन्दमें रति (प्रेम) और परम-

पद दोनोंके दाता हैं। यथा—'रामचरनरति जो चह अथवा पद निर्वान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान।७।१२८।'

अलंकार—'जो सुनत गावत....पावई' में 'प्रथम निदर्शना' है। श्रीरघुवीरपदमें कमलका आरोप और तुलसीदासपर भ्रमरका आरोपण 'परंपरित रूपक अलंकार' है। जाम्बवन्तजीके मुखसे त्रतामें यह रूपक कहलाना 'भाविक अलंकार' है। (वीर)

प० प० प्र०—बालकांड दोहा २४, २५ तथा मानसरूपकमें समग्र रामचरित संक्षेपमें कहा गया है। यहाँ मानसके मध्यमें दोहा २ में श्रीरामजीके मुखसे ही अरण्यकांड तककी कथा कही गई है, फिर दोहा २४ में संपातीने भी कही है और यहाँ श्रीजाम्बवान्‌जीके मुखसे उत्तरकांड तककी कथा कही है। उत्तरकांडमें भुशुण्डीजीके मुखसे चौरासी प्रसंगों सहित रामचरित कहा है। इस प्रकार 'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।७।६१।६।' यह वचन चरितार्थ हुआ है। अन्य चार काण्डोंमें भी समग्र मानसका सार ग्रथित है।

**दोहा—भव भेषज रघुनाथ जसु सुनहिं जे नर अरु नारि।**
**तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि❀ ॥३०॥**

अर्थ—श्रीरघुनाथजीका यश भव (रोग) की दवा है। जो स्त्री और पुरुष इसे सुनते हैं, उनके सब मनोरथ त्रिशिराके शत्रु श्रीरामजी सिद्ध करते हैं।

वि० त्रि०—'भव भेषज रघुनाथ जस....त्रिसिरारि' इति। यह रामचरितमानस संसृति रोगके लिये चिकित्सा ग्रन्थ है। चिकित्सामें तीन प्रकारसे औषध दिया जाता है। (१) चूर्ण रूपसे (२) अर्क रूपसे (३) गोलीके रूपसे। सो चूर्ण तो पहिले बालकाण्डमें ही कहा, यथा—'अमिय-मूरि-मय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू।' अर्क रूपसे यहाँ कहते हैं, 'भव भेषज रघुनाथ जस, सुनहिं जे नर अरु नारि', अर्थात् रघुनाथयश पेयरूपसे भेषज है, यथा—'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर।' गोलीरूपसे भव-भेषजका वर्णन उत्तरकांडमें किया जायगा।

ऊपर छन्दमें कह आये हैं, 'जो सुनत गावत कहत समुझत परमपद नर पावई।' उसी बातको यहाँ 'भव भेषज' कहकर स्पष्ट किये देते हैं। रघुनाथ-यशमेंसे किष्किन्धाकांडके सेवनसे सकल मनोरथकी सिद्धि होती है। यह काण्ड गृहमेधियोंके लिये अधिक उपयोगी है।

टिप्पणी—१ 'सकल मनोरथ सिद्ध करहिं' इति। सकल मनोरथसे इह लोक और परलोक दोनों-की प्राप्ति कही। इस लोकमें सुख संपत्तिका भोग करते हैं और श्रीरामयश भव-भेषज है, अतः भवसे छूटकर रामधामको जाते हैं। यथा 'जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना बिधि पावहिं। सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंतकाल रघुबरपुर जाहीं।७।१५।३-४।'

२ 'सिद्ध करहिं त्रिसिरारि' इति। त्रिशिरारि सिद्ध करेंगे, इस कथनमें भाव यह है कि देवर्षि नारदादिकी वाणीमें तो स्वतः प्रभाव है, इसमें त्रिशिरारि श्रीरामजीका बल भरोसा है, वे ही सिद्ध करेंगे।

३ 'त्रिसिरारि' पाठ शुद्ध है क्योंकि रामयश सुननेवालेके मनोरथके सिद्धकर्त्ता सब कांडोंके अंतमें श्रीरघुनाथजीको ही लिखा है।

बालकांड—'उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं। बैदेहि रामप्रसाद ते जन सर्बदा सुख पावहीं।'

❀ त्रिसिरारि—पं० रा० गु० द्वि, १७२१, भा० दा०। त्रिपुरारि—पं० शिवलाल पाठक, रा० प्र०। दोनों ही प्राचीन प्रतिलिपियोंके पाठ हैं। कविलिखित पाठ कौन है, निश्चय नहीं किया जा सकता। अतएव हमने दोनों पाठोंके भाव और दोनोंके संबंधके मत दे दिये हैं।

लंका—'समर विजय रघुवीरके चरित जे सुनहिं सुजान। विजय विवेक विभूति नित तिन्हहिं देहिं भगवान।'

उत्तरकांड—'सतपंच चौपाई मनोहर जानि जे नर उर धरे। दारुन अविद्या पंचजनित विकार श्रीरघुबर हरे।'

तथा यहाँ—'तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि।'

नोट—'त्रिपुरारि' पाठके संबंधके भाव और विचार नीचे दिये जाते हैं—

लाला भगवानदीनजी लिखते हैं कि "महादेवजी रामभक्तिके आचार्य हैं, वे ही रामयशगायकोंके मनोरथ सिद्ध करते हैं। इस कांडके आदिमें काशीपुरी और काशीपति दोनोंकी वन्दना दो सोरठोंमें की गई है। तदनुसार अन्तमें महादेवजीके विषयमें लिखना संगत है। आदि अन्त एक सा उत्तम होता है।"

पाँड़ेजी कहते हैं कि 'यह कांड शंकरजीकी प्रसन्नतामें संपुटित है। क्योंकि 'मुक्ति जन्म महि जानि' यह आदि है और 'सिद्ध करहिं त्रिपुरारि' में विश्राम है।

रा० प्र० और पंजाबीजी कहते हैं कि "त्रिपुरारि भक्तराज हैं और रामकथाके प्रवर्तक हैं। 'त्रिपुरारि' शब्दसे मंगलाचरणका सोरठा उपक्रम हुआ और यहाँ उसका उपसंहार हुआ। बालकांडमें जो कहा था कि 'सपनेहु साचेहु मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहउँ सब भाषा भनित प्रभाउ।' उसमें जो हेतु था वही यहाँ है। पुनः त्रिकूटाचलकी कथा कहनी है, इससे त्रिपुरारि नाम दिया।"

पं० शिवलाल पाठकजी लिखते हैं कि 'शिवजी फल देंगे' ऐसा कहनेका कारण यह है कि किष्किंधा कांड काशीरूप है, अतः काशीपति इसका फल देंगे।

प्र० स्वामीजीका मत इसी पक्षमें है। आगे सोरठामें देखिए।

श्रीधर मिश्रजी लिखते हैं कि सप्तकांड रामचरितको सप्तपुरी कहा है। चौथी पुरी काशी है वैसेही यह चौथा कांड है। अतएव इस कांडको काशी निरूपण करके प्रारम्भमें भी शंकरवंदना किष्किन्धा-काशीका अधिष्ठातादेवता जानकर किया और अन्तमें मनोरथका सिद्धकर्त्ता कहा। जैसे वरुणासे अस्सी-तक काशी है वैसे ही यहाँ 'आगे चले बहुरि रघुराया' में 'बहुरि' का 'ब' वरुणाके आदिका 'व' है और अन्तमें जो 'सिद्ध करहि त्रिपुरारि' के 'सिद्ध' शब्दमें 'सि' है वही 'अस्सी के अन्तकी 'सी' है। यही वकार वरुणा और सिकार अस्सीके बीचकी किष्किंधा-काशी है। (इति मानस-मयंके)।

रा० प्र० श०—'विषम गरल जेहि पान किय' और 'को कृपाल संकर सरिस' आदिमें कहकर जनाया कि जिन्होंने देवताओंकी रक्षा की थी; वेही शिव इस कांडमें विरहानलसे दुःखी श्रीरामजी तथा त्रिताप से खेदित समस्त जीवोंकी रक्षा करें। अपने रूपान्तर श्रीहनुमान्‌जी द्वारा मिलकर श्रीयुगलमूर्तिके संतप्त हृदयको उन्होंने शान्त किया।

टिप्पणी—४ सातों काण्डोंकी फलश्रुतियोंके भाव—

बालकांडमें श्रीरामजीके व्रतबंधविवाहादि सुखका वर्णन है। अतएव बालकी समाप्तिमें 'सुख और उत्साह' की प्राप्ति कही।

अयोध्याकांडमें श्रीभरतजीका प्रेम और वैराग्य वर्णित है, अतः उसके अंतमें प्रेम और वैराग्यकी प्राप्ति कही। यथा 'भरत चरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं। सीयरामपद प्रेम अवसि होइ भवरस विरति।'

अरण्यमें श्रीरामजी स्त्रीविरहसे दुःखी हुए, इसीसे वहाँ अंतमें स्त्रीका त्याग कहा है। यथा 'दीपसिखा सम जुवति तन मन जनि होसि पतंग।

किष्किन्धामें श्रीरामजीका मनोरथ सिद्ध हुआ—श्रीहनुमान्‌जी और सुग्रीवजी ऐसे सेवक मिले, सीताशोधका उद्योग हुआ। अतएव इसके अंतमें मनोरथकी सिद्धि कही।

सुन्दरकांडमें श्रीरामजीको बिना जहाज ही समुद्रपार उतरनेका उपाय मिला। अतः उसकी समाप्तिमें

बिना जहाजके समुद्रका तरना कहा। यथा—'सकल सुमंगल-दायक रघुनायक-गुन-गान। सादर सुनहिं ते तरहिं भव-सिंधु बिना जलजान।'

लंकामें श्रीरामजीको विजय प्राप्त हुई। अतः वहाँ विजय विवेक विभूतिकी प्राप्ति कही।

उत्तरमें राज्याभिषेक हुआ। यह दीनोंके लिये याचनाका समय है। अतः वहाँ गोस्वामीजी अपना माँगना लिखते हैं। यथा—'मो सम दीन न दीनहित तुम्ह समान रघुवीर। अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु बिषम भव भीर।'

**सोरठा—नीलोत्पल* तन स्याम काम कोटि सोभा अधिक।**
**सुनिय तासु गुन ग्राम जासु नाम अघ† खग बधिक॥ ३०॥**

**इति श्रीरामचरितमानसे सकल-कलि-कलुषविध्वंसने विशुद्ध संतोष संपादनो नाम चतुर्थः सोपानः समाप्तः ‡।**

शब्दार्थ—उत्पल (सं०)=कमल। नीलोत्पल=नील कमल। नीलोपल=नील उपल=नीलमणि।

अर्थ—जिनका नीलोत्पलके समान श्याम शरीर है जिसमें करोड़ों कामदेवोंसे भी अधिक शोभा है। जिनका नाम पापरूपी पक्षियोंके लिए बहेलिया रूप है उनका यशसमूह (चरित) सुनिए।३०।

कलि के सम्पूर्ण पापोंका नाशक विशुद्ध संतोषका संपादन करनेवाला श्रीरामचरितमानसका चौथा सोपान समाप्त हुआ।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ 'नीलोत्पल तन श्याम कामकोटि सोभा अधिक', 'तासु गुन ग्राम' और 'जासु नाम' अर्थात् रूप, गुण और नाम तीनों कहकर जनाया कि रूप हृदयमें धरे, गुण श्रवण करे, और नाम जपे। यथा—'श्रुति रामकथा मुख रामको नाम हिये पुनि रामहिको थलु है। क० उ० ३७।' (ख) 'नीलोत्पल तन स्याम काम कोटि सोभा अधिक' इससे रूपका नियम किया कि जिस रूपसे मनुमहाराजके सामने प्रकट हुए उसीका ध्यान धरो। मनुको इसी रूपसे दर्शन हुआ, यथा—'नीलसरोरुह नीलमनि नीलनीरधर श्याम। लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम।१।१४६।' (ग) 'सुनिय तासु गुनग्राम', इस कथनसे गुणका नियम किया कि रामचरितमानस सुनो। मनुप्रार्थित मूर्तिका चरित मानसरामायण है। यथा—'लीला कीन्हि जो तेहि अवतारा। सो सब कहिहौं मति अनुसारा।१।१४१।६।' (घ) 'जासु नाम अघखग-बधिक', इससे नामका नियम किया कि रामनाम जपो, अघखगगणबधिक रामनाम ही है, यथा—'राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघखगगन बधिका।३।४२।८।' बधिक की उपमा देनेका भाव कि बधिक स्वाभाविक ही पक्षियोंका वध करता है; इसी प्रकार रामनाम स्वाभाविक ही पापोंका नाश करता है।

☞इस तरह श्रीरामजीके रूप, गुण और नामका महात्म्य कहकर यह कांड समाप्त किया। [मंगलाचरणके श्लोकोंमें भी नाम, रूप और लीला तीनों कहे गए हैं, वैसे ही यहाँ उपसंहारमें तीनों कहे गए]

प० प० प्र०—'जासु नाम अघ खग बधिक' इति। यह उपसंहारका अन्तिम चरण है। इसमें नामका स्पष्ट उल्लेख है। मंगलाचरणमें नामकी वन्दना केवल इसी कांडमें है। यह कांड नामपर है, मंगलाचरण देखिए।

'अघ खग बधिक' इति। खग शब्द श्लिष्ट है। खग=मेघ।=वायु। अघ खग=पातकरूपी मेघ। अघ-खग बधिक खग=पापरूपी मेघोंका विनाशक प्रभंजन। (३।४२ देखिए)। पापरूपी मेघपटलको अन्तःकरण-रूपी आकाशमेंसे भगाकर रामनामरूपी राकेश शीतलता, प्रकाश, अमृत और प्रसन्नतादि भर देता है।

इस प्रकार रामनामके प्रभावसे हृदय पूर्ण निर्मल होनेपर ही दासको प्रेमाभक्तिकी याचना करनेका अधिकार प्राप्त होता है। अतः सुंदरकांडके मंगलाचरणमें ही यह याचना करते हैं।

---

* नीलोपल—(पं० रामकुमार)। † 'खग अघ'—(रा० प्र०, काशी)।
‡ 'संपादनो नाम चतुर्थः'—(ना० प्र०)। 'संपादनी नाम चतुर्थ'—(भा० दा०)।

प० प० प्र०—इस काण्डके मंगलाचरणके श्लोकोंमें नामवन्दना और सोरठोंमें काशी तथा शिवजीकी वंदना की है। यहाँ उपसंहारके दोहेमें प्रथम त्रिपुरारिका उल्लेख, पश्चात् 'अघवधिक' में काशीजीका उल्लेख और अन्तमें नामका उल्लेख है। अघवधिक=अघहानिकर। यह काण्ड काशीपुरी है, अतः उपक्रममें ही नहीं किन्तु मध्यमें भी (वालिवधप्रकरणमें) शिवजी और काशीजीका उल्लेख है। अतः 'त्रिपुरारि' पाठ ही ठीक है।

टिप्पणी—२ 'इति श्रीरामचरितमानसे....विशुद्ध संतोष संपादनो नाम....' इति। प्रत्येककांडके अन्तमें जो फलश्रुति है वही उस सोपानका नाम है। जैसे, (१) बालकाण्डकी फलश्रुतिमें व्रतबंध विवाहका वर्णन है। यह सब कर्म है। कर्मका फल सुख है। इसीसे बालकांड 'सुखसंपादन' नामका सोपान है। (२) अयोध्याकाण्डकी फलश्रुतिमें 'प्रेम और विरति' का वर्णन है, इसीसे वह 'प्रेम वैराग्य संपादन' नामका सोपान है। (३) अरण्यकाण्डकी फलश्रुतिमें वैराग्य है, इसलिए वह 'विमल वैराग्य संपादन' नामका सोपान है। (४) किष्किंधाकाण्डकी फलश्रुतिमें मनोरथसिद्धि है। मनोरथसिद्धिसे संतोष होता है, इसीसे इसका 'विशुद्ध संतोष संपादन' नाम है। (५) सुंदरकांडकी फलश्रुतिमें ज्ञानकी प्राप्ति है, यथा—'सकल सुमंगलदायक रघुनायक गुनगान'। सुमंगल ज्ञानका नाम है, इसीसे वह 'ज्ञान संपादन' नामका सोपान है। (६) लंकाकाण्डकी फलश्रुतिमें विज्ञानका वर्णन है, यथा—'कामादि-हर विज्ञान-कर सुर सिद्ध मुनि गावहिं मुदा'। इसीसे वह 'विज्ञान संपादन' नामक सोपान है। और (७) उत्तरकाण्डकी फलश्रुतिमें 'अविरल हरिभक्ति' का वर्णन है, यथा—'तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम'। इसीसे वह 'अविरल हरिभक्ति संपादन' नामका सोपान है।—सारांश यह कि बालमें धर्म, अयोध्यामें प्रेम और वैराग्य, अरण्यमें विमल वैराग्य, किष्किंधामें संतोष, सुन्दरमें ज्ञान, लंकामें विज्ञान और उत्तरमें अविरल हरिभक्ति कही है।

☞ जैसा क्रम सातो काण्डोंकी फलश्रुतिमें है उसी प्रकार धर्म, वैराग्य, संतोष, ज्ञान, विज्ञान और हरिभक्तिकी प्राप्तिका क्रम है। अर्थात् धर्मका फल वैराग्य है, वैराग्यका संतोष, संतोषका ज्ञान, ज्ञानका विज्ञान और विज्ञानका फल हरिभक्ति है।

नोट—'सुनिय तासु गुनग्राम....वधिक' में परंपरित रूपक है। 'नीलोत्पल तन श्याम' में वाचकलुप्तालंकार है।

पं०—कांडके अंतमें ध्यान और नामका उपदेश देनेका भाव यह है कि शयनके समय नामका जप और प्रभुका ध्यान करता हुआ सोवे तो जाग्रतिकालमें भी शुभ वासना होती है, वैसे ही समाप्तिमें प्रभुका ध्यान करनेसे अगले काण्डका उत्थापन भी आनन्दपूर्वक होगा।

प्र०—कुछ लोगोंका मत है कि 'वन बसि कीन्हे चरित अपारा०' इस प्रश्नका उत्तर अरण्यकाण्ड है। क्योंकि इसका नाम ही वनकांड है। कुछका मत है कि यथार्थ उत्तर इसका अरण्य, किष्किंधा और सुन्दर तीनों काण्ड हैं। इसके उदाहरण भी देते हैं। (अरण्यकांडमें अरण्यके कुछ उदाहरण दिए जा चुके हैं)। किष्किंधाके उदाहरण, यथा—'छत्री रूप फिरहु वन वीरा', 'कवन हेतु वन विचरहु स्वामी', 'सहत दुसह वन आतप बाता', 'कारन कवन बसहु वन मोहि कहहु सुग्रीव', 'सुंदर वन कुसुमित अति सोभा', 'मंगलरूप भएउ वन तब तें', 'चले सकल वन खोजत०' और 'बहु प्रकार गिरि कानन हेरहिं' इत्यादि। इसी प्रकार सुंदरमें भी वन शब्द आया है, यथा—'कुवलय विपिन कुंतवन सरिसा', 'तब मधुवन भीतर सब आए' और 'जाइ पुकारे सकल ते वन उजार जुवराज'।

महादेवदत्तजी—गोस्वामीजीने इस काण्डमें ३० दोहे क्यों रक्खे और इसे सबसे छोटा क्यों बनाया? उत्तर १—'३० दोहेका भाव कि मानों यह तीसामंत्र है। और अपर जो छः काण्ड हैं वे संपुट हैं। जिनमेंसे बाल, अयोध्या, अरण्य ऊपरका ढकना है और सुन्दर, लंका, उत्तर नीचेका पल्ला है। इसके मध्यमें यह काण्ड रत्न-रूप है। इव्वेसे रत्न छोटा होना ही चाहिए, अतः यह छोटा है और इसका मूल्य विशेष है, इसमें बहुत अर्थ भरे हैं। अथवा, २—किष्किंधा रामजीका हृदय है। यथा—'बालकांड प्रभुचरण

अयोध्या कटि मन मोहै। उदर वन्यो अरण्य हृदय किष्किंधा सोहै' इति मानसाचार्येणोक्तम्। तहाँ हृदय शरीरके मध्यमें और छोटा होता है। वा, ३—इसमें श्रीजानकीजीकी प्राप्तिका संबंध किसी पदमें पाया नहीं जाता है। अतएव श्रीजानकीवियोग-विरह विचारकर थोड़ा (३० ही दोहेमें कथा) लिखकर समाप्त किया।

प० प० प्र०—इस काण्डमें केवल ३० ही दोहे रखनेमें गोस्वामीजीने अपनी काव्य प्रतिभाकी पराकाष्ठा की है। यह रहस्य विनयके 'कामधेनु कलि कासी। पद २२।' से स्पष्ट किया। इस पदमें कामधेनुका रूपक काशीजीसे बाँधा है। इस रूपकमें काशीका वर्णन ३० विषयोंमें किया है। वे सब विषय किष्किंधाकाण्डमें हैं। यह काशी और किष्किंधाके मिलानसे स्पष्ट हो जायगा।

| विषय | श्रीकाशीजी | किष्किंधा काण्ड |
|---|---|---|
| उपक्रम | सेइअ सहित सनेह कामधेनु कलि कासी | सो कासी सेइअ कस न |
| | समनि पाप संताप सोक रुज....सुमंगलरासी | मुक्तिजन्ममहि, ज्ञानखानि अघहानिकर |
| १-४ | मरजादा चहुँ ओर चरनबर | चारों दिशाओंको दूत भेजना |
| ५ | रोम सिवलिंग अमित अविनासी | नाना बरन सकल दिसि देखिय कीस |
| ६ | अंतर अयन अयन भल | किष्किंधानगरी और प्रवर्षणगिरि |
| ७-१० | थन फल (चार) | अर्थ धर्म काम मोक्षादिकी प्राप्ति सुग्रीवादिको |
| ११ | बच्छ बेद बिश्वासी | बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई |
| १२ | गल कंबल बरुना बिभाति जनु | सरिता जल जलनिधि महुँ जाई |
| १३ | लूम लसति सरितासी | छुद्र नदी भरि चली तोराई |
| १४ | दंडपानि भैरव बिषान मलरुचि खलगन भयदासी | लक्ष्मणजी ही भय दिखाते हैं। धनुष पाणि |
| १५-१६ | लोल दिनेस तिलोचन लोचन | सुग्रीव लोलार्क, अङ्गद बाम नेत्र |
| १७ | करनघंट घंटासी | 'सुनु सुग्रीव मारिहउँ। ६।' तथा दोहा १९ आदिमें अनेक बार घंटा बज रहा है। |
| १८ | मनिकर्निका बदन ससि सुंदर | चन्द्रमा मुनिका उपदेश |
| १९ | सुरसरिसुख सुषमा | प्रवर्षण गिरि और आसमंतातका सौंदर्य |
| २० | स्वारथ परमारथ पूरन पंचकोस | सुग्रीवका स्वार्थ और परमार्थ पूरा हुआ |
| २१ | विश्नाथ पालक कृपाल | शिवावतार हनुमान्‌जीने, 'राखे सकल कपिन्हके प्राना।' |
| २२ | लालति नित गिरिजा सी | तारा, जिसने अङ्गद सुग्रीवादिका पालन किया |
| २३ | सिद्ध सची सारद पूजहिं | स्वयंप्रभाने सिद्धिसामर्थ्यसे रामदूतोंका पूजन किया |
| २४ | मन जोगवत रहति रमा सी | प्रवर्षणपर मानों रमा निसर्ग लक्ष्मीरूपमें प्रकट होकर श्रीरामजीका चित्तरंजन कर रही हैं। |
| २५ | पंचाच्छरी प्रान | जाम्बवान्‌जी पंचाक्षरी हैं। इन्होंने सबमें जान भर दी, हनुमान्‌जीको प्रेरित किया। मं० सो० में पंचाक्षर—न, म (महि), शि (काशी), वा (भवानि), य (किय) हैं ही। |
| २६ | मुदमाधव | श्रीरामचन्द्रजी |
| २७ | गव्य (पंचगव्य) | पंचगव्यसे पापका नाश, रामदूतोंके स्पर्शसे संपाती पुनीत हुए। |
| २८ | ब्रह्मजीव सम रामनाम | मं० श्लो० में नामकी वन्दना, युग अक्षरोंका वर्णन |
| २९ | चारितु चरति कर्म कुकरम करि मरत जीवगन घासी | वाली मरा, उसके यह कहनेपर भी कि 'जेहि जोनि जनमउँ' उसे प्रभुने 'निजधाम पठावा' यही उसके शुभाशुभकर्मोंका चर लेना है। |
| ३० | लहत परम पद पय पावन | 'वालि निज धाम पठावा' 'परम पद नर पावई' |

(क) विनयपदमें काशीके संबंधमें कहा है—'कहत पुरान रची केसव निज कर करतूति कला सी।' वैसे ही किष्किंधाकाण्डकी रचना अति मानुषी ही प्रतीत होती है, अतः कविका भाव यह है कि इसे श्रीरामचन्द्रजीने ही निर्मित किया है।

(ख) पदमें 'तुलसी बसि हरपुरी राम जपु' यह उपदेश है, वैसेही इस काण्डमें 'जासु नाम अघ खग बधिक' है।

(ग) इस मिलानसे अनुमान होता है कि किष्किंधाकाण्डका रहस्य प्रकट करनेके लिये काशी-स्तुति एक पदमें लिखी गई। काशीको कामधेनु कहा, वैसेही यहाँ 'सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिपुरारि' कहा है।

(घ) कांडमें ३० ही दोहे क्यों और त्रिपुरारि पाठ ही क्यों ठीक है, इसमें संदेह न रहेगा।

नोट—मयंककारने भी इसका रूपक काशीसे मानकर उसको यत्रतत्र चौपाइयोंमें दिया है। पर क्लिष्ट कल्पनायें समझकर उनका पूरा उल्लेख मा० पी० में नहीं किया गया था।

## 'सुनि सब कथा समीर कुमारा'—प्रकरण

## एवं चतुर्थ सोपान समाप्त हुआ

## श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु

श्रीहनुमतेनमः। श्रीरामभक्त-भगवन्त-गुरुचरणकमलेभ्यो नमः॥ श्रीगुरवे नमः।

'सब मिलि कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि प्रभुहि भजौं दिन राती।

मनकी सकल बासना भागै। सीतारामचरन लौ लागै॥

सीयरामपद परम प्रेम सिसु चाहत अचल नेम देहु कृपा करि मोहि प्रभु॥

बार बार माँगउँ कर जोरें। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरे।

श्रीसियावर रामचन्द्रजीकी जय।

# कुछ विशेष कामके मंत्र

| मनोरथ | मंत्र |
|---|---|
| १ सर्वमनोरथोंके लिये | जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥<br>ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपा निर्मल मति पावउँ॥ |
| २ चिन्तासे मुक्त होनेके लिये | त्राहि त्राहि जानकी जानकीवर। क्षमासीव समरथ करुणाकर॥<br>मामवलोकय पंकज लोचन। कृपाविलोकनि शोचविमोचन॥ |
| ३ सन्त दर्शन | राम कृपा करि चितवहु जाही। संत विशुद्ध मिलहिं परि ताही॥ |
| ४ सर्वमनोरथ सिद्धि | बिबुध बिप्र बुध ग्रह चरन बंदि कहौं कर जोरि। है प्रसन्न पुरवहु सकल मंजु मनोरथ मोरि। |
| ५ कार्य साधन | महाबीर बिनवौं हनुमाना। राम जासु जसु आपु बखाना॥<br>कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं तात होइ तुम्ह पाहीं॥ |
| ६ घोर संकट निवारण | जननि जनक सियराम प्रेम के। बीज सकल व्रत धर्म नेम के॥<br>मंत्र महामणि विषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥ |
| ७ सद्गति। जिसमें भगवान् मरण कालमें याद पड़ें | राम चरण दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तन त्याग।<br>सुमनमाल जिमि कंठ ते गिरत न जानै नाग॥ |
| ८ सब तरहके सुधारके लिये | मोर सुधारहु सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती॥ |
| ९ मरण समयकी पीर | जेहि राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महँ। |
| १० कल्याणके लिये | उद्भव स्थिति संहारकारिणीं क्लेशहारिणीं। सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥ |
| ११ भक्ति, शरणागति | तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहिं देहु शरण सुखदाई॥<br>तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहिं करहु शरण सुखदाई॥<br>बार बार बिनवौं कर जोरे। मन परिहरै चरन जनि भोरे॥<br>जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुणासागर कीजिय सोई॥ |
| १२ | दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम-राज काहुहि नहिं व्यापा॥<br>नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥<br>अल्प मृत्यु नहि कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब विरुज सरीरा॥ |
| १३ आपदा निवारण मंत्र | ॐ आपदामपहन्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्। लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्।<br>नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहि कोउ अबुध न लच्छन हीना<br>रामराज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं। काल कर्म स्वभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं।<br>आपदामपहन्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्। लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्। |
| १४ ऋणसे उऋण होनेके लिये | महावीर बिनवों हनुमाना। राम जासु जसु आप बखाना॥<br>कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं तात होत तुम्ह पाहीं॥<br>प्रनवउँ पवन कुमार खल बन पावक ज्ञानघन। जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चापधर॥ |
| १५ श्रीरामजीको प्रसन्न करने के लिये | (क) जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥<br>ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपा निर्मल मति पावउँ॥<br>बिनवउँ लषन सीय रघुनायक। जाके हनूमान अस पायक॥<br>महावीर बिनवों हनुमाना। राम जासु जस आपु बखाना॥ |

(ख) विनवउँ श्रीजानकि रघुनायक। जिनके हनूमान अस पायक ॥
महावीर विनवों हनुमाना। राम जासु जस आपु वखाना ॥

(ग) जय जय श्रीजानकि रघुनायक। जिनके हनूमान अस पायक ॥
नमो नमो जानकी रघुनायक। जिनके हनूमान अस पायक ॥

१६ लौकिक पारलौकिक सुखके लिये

रामराज कर सुख संपदा। वरनि न सकहिं सेप शारदा ॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज काहुहि नहि व्यापा ॥
नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहि कोउ अवुध न लच्छन हीना ॥
अल्प मृत्यु नहि कवनिउ पीरा। सव सुंदर सव विरुज सरीरा ॥
राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परमगतिके अधिकारी ॥
प्रभु मुख कमल विलोकत रहहीं। कवहुँ कृपाल हमहि कछु कहहीं ॥

रामराज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं। काल कर्म स्वभाव गुण कृत दुख काहुहि नाहिं।
वह सोभा समाज सुख कहत न वनै खगेस। वरनहिं सारद सेप श्रुति सो रस जान महेस ॥

# नामानुक्रमणी

श्री अवधविहारीदासजी ( नंगे परहंसजी ),
परमहंस श्री कल्याणराम रामानुजप्रपन्नजी (चित्रकूट),
पं० गंगाधर ब्रह्मचारीजी
महात्मा गांधीजी
पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी
पं० जनार्दनदास व्यास
वावा जयरामदास (जंग वहादुरसिंहजी)
वावा जयरामदास दीनजी रामायणी
श्री देवतीर्थ स्वामी काष्टजिह्वजी
प० प० प्र० स्वामी प्रज्ञानानंद सरस्वतीजी
(मानसी) वंदनपाठकजी
लाला भगवानदीनजी (दीनजी)
श्रीभगवानदास हालना (मिरजापुर)
श्रीभर्तृहरिजी
श्री मन्नालाल अभिमन्यु
श्री महादेव दत्तजी
पं० महावीर प्रसाद मालवीय (वीरकवि) जी
श्री यादवशंकर जामदारजी
श्री रणवहादुरसिंहजी
श्री राजवहादर लमगोड़ा (राजाराम शरण) जी
पं० श्रीरामकुमारजी (साकेतवासी प्रसिद्ध रामायणी)
पं० रामकुमारदास वेदान्तभूषणजी (श्रीअयोध्याजी)
पं० रामचन्द्र शुक्ल प्रोफ़ेसर
वावा श्री १०८ रामचरणदास करुणासिंधुजी
पं० रामदयाल माजूमदारजी
प्रोफे० श्रीरामदास गौड़जी एम० एस-सी०
वावा रामप्रसाद शरणजी मानस-प्रचारक
पं० राम वख्श पाण्डेजी (प्रयाग)
पं० श्री रामवल्लभाशरणजी महाराज व्यास
वावा श्रीराम वालकदासजी रामायणी
श्री रामशंकरशरणजी
श्रीरामसेवक दासजी
पं० विजयानंद त्रिपाठीजी (मानस राजहंस)
श्री वैजनाथजी
पं० शिवरत्न शुक्लजी
पं० शिवलाल पाठकजी
पं० शिव सहायजी
पं० श्रीकान्तशरणजी
पं० श्रीधर मिश्रजी
श्री संतसिंहजी पंजावी ज्ञानी
श्री सरयूदासजी
श्री हनुमानप्रसाद पोद्दारजी
श्री हरिजन लालजी
वावा हरिदासजी (सत्यनामी)
श्रीसीतारामीय हरिहरप्रसादजी